प्रशासनिक सिद्धान्त

(ADMINISTRATIVE THEORIES)

डॉ. प्रभुदत्त शर्मा
पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान एवं लोक प्रशासन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्राक्कथन

त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी
पूर्व कम्पट्रोलर एण्ड आडिटर जनरल ऑफ इण्डिया एवं
पूर्व गृह-सचिव, भारत सरकार, नई दिल्ली

कालेज बुक डिपो
जयपुर • नयी दिल्ली • मुम्बई

प्राक्कथन

लोक प्रशासन आज के कल्याण-राज्य एव समाजवादी सरकारो की सफलता का परीक्षा-स्थल है। भारतीय जनतन्त्र का नया परिवेश उसके सम्मुख नई चुनौतियाँ प्रस्तुत करता है। भारत जैसे विकासशील देश मे जहाँ जन-साधारण प्रशासन से बड़ी-बड़ी अपेक्षा करता है, यह स्वाभाविक है कि लोक प्रशासन के अध्ययन-अध्यापन को प्राथमिकता दी जाए।

सौभाग्य से हमारे विश्वविद्यालयों मे एक अध्ययन-शास्त्र के रूप मे, लोक प्रशासन की शोध द्रुत गति से आगे बढ रही है। प्रशासनिक अनुभव एव गम्भीर चिन्तन के क्षेत्र में भी गत दशको मे जो कुछ हुआ है वह भविष्य के लिए आशान्वित बनाता है।

'प्रशासनिक सिद्धान्त' का प्रकाशन इस सन्दर्भ मे स्वागतव्य है। विद्वान लेखक ने बड़े परिश्रम से नवीनतम उपलब्ध सामग्री को सजोकर बड़ी सरलता एव रोचकता से प्रस्तुत किया है। भाषा एव शैली के प्रयोग विषय को बोधगम्य बनाते हैं। हिन्दी माध्यम के वरिष्ठ विद्यार्थी एव प्रशासक इसके अनुशीलन से प्रशासन जैसे जटिल एव गत्यात्मक विषय के व्यावहारिक ज्ञान के सिद्धान्तो को सहज रूप से समझ सकेंगे।

प्रकाशको द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी के क्षेत्र को समृद्ध बनाने वाली प्रस्तुत पुस्तक मेरी अपनी सम्मति मे एक महत्त्वपूर्ण रचना है। लेखक का परिश्रम अन्य विद्वानो को इस क्षेत्र की ओर उन्मुख करेगा, ऐसी मेरी कामना है।

त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी

पाठकों से

'प्रशासनिक सिद्धान्त' प्रशासन के व्यवहार को प्रभावशालिता देने वाले विचारो का क्षेत्र है। ये विचार चाहे व्यवहार के अनुभव से पहिचाने जाते हो या इन मौलिक विचारो का सहारा लेकर संस्थाये और प्रक्रियाये गढी जाती हो, दोनो ही दृष्टियो से मानव व्यवहार को समझने मे निर्णायक है। जब से प्रशासन एक अध्ययन शास्त्र बना है, शोध के नये आयाम इन प्रशासनिक खोज की यात्रा ने नये-नये विचारो, विचारधाराओ और विचार वर्गों को जोडता हुआ इसे समाजशास्त्र के स्तर पर ला चुका है।

यद्यपि सिद्धान्त की दुनियाँ मे लोक प्रशासन का इतिहास एक शताब्दी पुराना है किन्तु इन सौ वर्षों मे ही दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व और बाद के युगो मे संगठन की सामूहिक कार्यशीलता की दुनियाँ में सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शोध के प्रयोगों ने नई क्रान्ति उपस्थित की है। बीस के दशक का वैज्ञानिक प्रबन्ध आज अवैज्ञानिक माना जाता है और प्रशासनिक सुधारो की बाते करने वाले ओ एण्ड एम की प्रणाली को सुधार ही नहीं मानते। विकास प्रशासन जिसकी पचास के दशक मे धूम रही, शताब्दी के अन्त तक आते-आते सरकारी निर्देशन मे विकास से स्वशासित विकास की ओर मुड चुका है। कहने का तात्पर्य यह है कि सिद्धान्तो की दुनियाँ एक ओर जबकि शाश्वत और स्थायी है, दूसरी ओर ऐसे सिद्धान्त बहुत ही थोडे हैं जो सार्वदेशिक और सार्वकालिक होने के साथ-साथ संस्कृति एव परम्परा निरपेक्ष बन सके या माने जा सके।

लोक प्रशासन का यह सैद्धान्तिक क्षेत्र इसलिए भी दुर्बल रहा है क्योंकि इस पर प्रबन्ध विज्ञान, राजनीति विज्ञान तथा समाजशास्त्र की शोध हावी रही है। अपने अस्तित्व के संघर्ष को लडते हुए प्रशासनिक सिद्धान्त अपना व्यक्तित्व बनाने का प्रयास कर रहे हैं। इस क्षेत्र मे अभूतपूर्व सफलता भी मिली है पर सिद्धान्त निर्माण के जिस स्तर पर लोक प्रशासन के अध्ययन को होना चाहिए वहाँ तक पहुँचने में अभी कुछ दशक लग जाये तो यह आश्चर्य की बात नहीं होगी।

प्रस्तुत रचना प्रशासनिक सिद्धान्त सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री का संकलन और सम्पादन मात्र है। विद्यार्थी के हित और स्तर के घेरे मे फसी ऐसी रचनाये विचार क्षेत्र को मौलिक चुनौती तो नहीं देती पर इन्हें पढने के बाद ही कुछ ऐसे पाठक, लेखक एव विचारक पैदा हो सकेंगे जो प्रशासनिक सिद्धान्त की भावभूमि को सींच कर उपजाऊ बना सके।

प्रस्तुत रचना प्रशासनिक विचार, सिद्धान्त या दर्शन के रचना क्षेत्र से विद्यार्थियों, प्रशासकों तथा प्रशिक्षको की सहायता के लिए लिखी गई है। परीक्षा उपयोगिता इसका उद्देश्य है। अत: बहुत सारे प्रयोग इस रचना की परिधि मे नहीं आते। फिर भी सामग्री संकलन एव अध्ययन अध्यापन की तैयारी मे यह प्रयास लाभदायक होगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

प्रकाशक बन्धुओं ने इस रचना को सुव्यवस्थित करने तथा आकर्षक ढग से छापने में जो श्रम किया है उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

प्रभुदत्त शर्मा

अनुक्रमणिका

लोक प्रशासन : अर्थ, क्षेत्र, प्रकृति एवं महत्त्व

(Public Administration : Meaning, Scope, Nature and Significance)

"लोक प्रशासन को आधुनिक शासन-व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु माना जाता है।"[1] विकसित और विकासशील देशों के लिए सुनियोजित और सुदृढ़ लोक प्रशासन अनिवार्य ही नहीं बल्कि उपयोगी भी है। लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने लोक प्रशासन के महत्त्व को बहुत अधिक बढ़ाया है। आधुनिक लोक प्रशासन मानव-जीवन के लगभग प्रत्येक पहलू पर छाया हुआ है और उसकी अनगिनत आवश्यकताओं को पूरा करता है या उनकी पूर्ति में भरपूर सहयोग देता है। लोक प्रशासन वह यन्त्र है जिसका राज्य द्वारा योजनाओं एवं कार्यक्रमों के निर्माण एवं क्रियान्वयन में प्रयोग किया जाता है।[2] यह राष्ट्रीय एकीकरण का एक सशक्त अभिकरण है। आज के युग में लोक प्रशासन समाज की 'प्रथम आवश्यकता' है और अपने अन्तिम विश्लेषण में "लोक प्रशासन एक नैतिक कार्य है अतः प्रशासक एक नैतिक अभिकर्ता माना जा सकता है।"[3]

लोक प्रशासन की व्याख्या संकुचित और व्यापक दोनों ही अर्थों में की गई है। "प्रशासन एक लम्बा तथा अलंकारपूर्ण शब्द है, किन्तु इसका अर्थ सीधा-सादा है—लोगों की देखभाल करना तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्था करना।"[4] प्रशासन शब्द अंग्रेजी शब्द 'Administer' का हिन्दी रूपान्तर है और यह *अंग्रेजी शब्द लेटिन भाषा के Ad+ministrate शब्दों की सन्धि से बनता है जिसका शब्दार्थ है 'काम करवाना'*। प्रत्येक प्रशासक स्वयं तो कार्य करता ही है, किन्तु उसे प्रशासक इसलिए कहा जाता है कि वह औरों से भी काम करवाता है। इसलिए प्रशासन चलाने के लिए जब काम करवाया जाता है तो स्वाभाविक है कि उन कार्यों के लिए योजनाएँ बनाई जाएँ, योजनाओं की क्रियान्विति के लिए संगठन स्थापित किए जाएँ, उन संगठनों में कर्मचारियों की नियुक्ति की जाए, फिर उन्हें दिशा-निर्देश दिए जाएँ, उनके कार्यों का समायोजन किया जाए और अन्त में प्रतिवेदन व्यवस्था और बजट प्रणाली द्वारा उन्हें नियन्त्रित किया जाए। इस सारे उपक्रम को प्रशासन की तकनीकी भाषा में पोस्डकार्ब (POSDCORB) कहा जाता है। इस प्रकार प्रशासन *एक व्यापक प्रक्रिया है जो निजी अथवा सार्वजनिक, नागरिक अथवा सैनिक, छोटे या बड़े सभी सामूहिक कार्यों* के बारे में, सभी के सम्बन्ध में लागू होती है।

मार्क्स ने स्पष्ट किया कि "प्रशासन चैतन्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक संगठित प्रयत्न और साधनों का निश्चित प्रयोग है, जिसको कि हम कार्यान्वित करना चाहते हैं।"

फिफनर एवं प्रिस्थस के अनुसार, "वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय एवं भौतिक साधनों का संगठन और संचालन ही प्रशासन है।"[5]

जॉन ए. वीग के अनुसार, "प्रशासन एक निश्चित कार्य है जो किसी निर्धारित प्रयोजन की प्राप्ति हेतु किया जाता है। यह कार्यों की एक क्रमबद्ध व्यवस्था और साधनों का सुविचारित प्रयोग है जिसका लक्ष्य वांछित कार्य को सम्पन्न करने के साथ-साथ ऐसे कार्यों को रोकना भी है जो हमारे अभिप्रायों से मेल नहीं खाते। यह उपलब्ध श्रम

---

1. *White, L. D.* : Introduction to the Study of Public Administration, p. XVI.
2. A Handbook of Public Administration, New York, United Nations, 1964, p. 5.
3. "Administration is a moral act and the Administrator is a moral agent."
   —*Tead Ordway* : Administration : Its Purpose and Performance, p. 67.
4. *Gladden, E. N.* : An Introduction to Public Administration, p. 18.
5. *Pfiffner and Presthus* : Public Administration, p. 3.

एवं साधनों की भी क्रमिक व्यवस्था है ताकि कम से कम शक्ति, समय और धन के व्यय से वांछित लक्ष्य की प्राप्ति हो सके ।"[1]

एल. डी. व्हाइट ने स्पष्ट किया है कि "किसी उद्देश्य अथवा लक्ष्य की पूर्ति के लिए बहुमत से व्यक्तियों के निर्देशन, समन्वय तथा नियन्त्रण को ही प्रशासन की कला कहा जाता है ।"[2]

हरबर्ट ए. साइमन ने लिखा कि "सबसे अधिक व्यापक अर्थ में, समान लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वर्गों द्वारा साथ मिलकर की जाने वाली क्रियाओं को प्रशासन कहा जाता है ।"[3]

अतः प्रशासन मनुष्य एवं सामग्री का ऐसा प्रयोग तथा संगठन है जिससे लक्ष्य की प्राप्ति हो सके और इसमें कार्य करना तथा दूसरों से कार्य करवाना सम्मिलित है । डिमोक एवं कोईनिंग ने लिखा है—"अध्ययन के रूप में प्रशासन उन सरकारी प्रयासों के प्रत्येक पहलू का परीक्षण करता है जो कानून और लोकनीति को लागू करने के लिए किए जाते हैं । एक प्रक्रिया के रूप में इसमें वे सभी चरण सम्मिलित हैं जो कोई संस्थान अधिकार-क्षेत्र प्राप्त करने से अपनी अन्तिम ईंट रखी जाने तक निर्धारित करता है (किन्तु इस कार्यक्रम के निर्माण में उस संस्थान का भाग यदि कोई हो तो ही मुख्य रूप से सम्मिलित है) एवं व्यवसाय के रूप में यह किसी सार्वजनिक संस्थान में दूसरों के कार्यों का संगठन और संचालन करता है ।"[4] 'लोक प्रशासन' प्रशासन के ही विस्तृत क्षेत्र का एक विशेष भाग है । 'प्रशासन' के पूर्व 'लोक या पब्लिक' शब्द की व्याख्या तीन अर्थों में की जा सकती है—प्रथम तो वह जो व्यक्तिगत नहीं है; दूसरे, ऐसा विषय जो समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को छूता हो अथवा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता हो, तथा तीसरे, ऐसा कार्य जो चाहे एक ही या कुछ व्यक्तियों को ही प्रभावित करे किन्तु वह प्रभाव इतना गम्भीर हो कि सारा समाज उसकी उपेक्षा न कर सके ।

वास्तव में दोनों शब्द (लोक+प्रशासन) मिलकर सार्वजनिक जीवन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण प्रश्नों के विषय में लोक प्रशासन के नीति-निर्माण और नीति-क्रियान्विति का अर्थ स्पष्ट करते हैं । उदाहरणार्थ, विल्सन की परम्परागत भाषा के अनुसार, "लोक प्रशासन कानून के विस्तृत एवं व्यवस्थित प्रयोग का ही एक नाम है ।"[5] फिफनर भी लोक प्रशासन को निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करने की एक प्रणाली बतलाता है ।[6] एल. डी. व्हाइट की परिभाषा, जो बहुत लम्बे समय से आधारभूत परिभाषा मानी जाती है, लोक प्रशासन को इन शब्दों में प्रस्तुत करती है—"लोक प्रशासन में वे सभी क्रियाएँ सम्मिलित हैं जिनका उद्देश्य वैध सत्ता द्वारा निर्धारित लोकनीति को पूर्ण करना अथवा लागू करना होता है ।"[7] हरबर्ट साइमन तो लोक प्रशासन को राष्ट्रीय, राजकीय तथा स्थानीय सरकारों की कार्यकारिणी शाखाओं की सभी गतिविधियों का पर्यायवाची मानता है ।[8]

पर्सी मैकक्वीन के अनुसार, "लोक प्रशासन वह प्रशासन है जिसका सम्बन्ध केन्द्रीय अथवा स्थानीय शासन की क्रियाओं से होता है ।"[9]

लूथर गुलिक के अनुसार, "प्रशासन का सम्बन्ध कार्य करने से है ।.........लोक प्रशासन प्रशासन-विज्ञान का वह अंश है जिसका सम्बन्ध शासन से है, अतः इसका सम्बन्ध मूलतः कार्यकारिणी से हो जाता है क्योंकि कार्यकारिणी ही शासकीय कार्यों को करने के लिए उत्तरदायी होती है, हालाँकि व्यवस्थापिका और न्यायपालिका से भी सम्बन्धित कुछ समस्याएँ लोक प्रशासन के क्षेत्र में आती हैं ।"[10]

मरसन ने स्पष्ट किया है कि "प्रशासन का ध्येय कार्य करना है और जिस प्रकार राजनीति-विज्ञान नीतियों के निर्माण हेतु जनता की इच्छा को संगठित करने के सर्वोत्तम साधनों की खोज करता है उसी प्रकार लोक प्रशासन का विज्ञान उन नीतियों के कियान्वयन की सर्वोत्तम रीतियों की खोज करता है ।"[11]

1. *F. M. Marx* (Ed) : Elements of Public Administration, p. 3.
2. *L. D. White* : Op. cit., p. 4
3. *Simon, Smithburg and Thomson* : Public Administration, p. 3.
4. *Dimock and Koening* : Public Administration, p. 12.
5. *W. Wilson* : The Study of Administration, Political Science Quarterly, 1941, pp. 481-566. See also Political Science Quarterly, Vol. 2, pp. 197-222, June, 1987.
6. *J. M. Pfiffner and Presthus* : Op. cit., p. 3.
7. *L. D. White* : Op. cit., p. 1
8. *Simon and Others* : Op. cit., p. 7.
9. *Percy Mc Queen* : Journal of Public Administration, Vol. III, p. 281.
10. *L. Gulick and L. Urwick* : Papers on the Science Administration, p. 191.
11. Journal of Public Administration, Vol. I, No. 3.

डिमॉक के अनुसार, "प्रशासन का सम्बन्ध सरकार के 'क्या' तथा 'कैसे' से है। 'क्या' का अर्थ विषय-वस्तु से है अर्थात् एक क्षेत्र का तकनीकी ज्ञान जो प्रशासकों को कार्य करने की सामर्थ्य प्रदान करता है। 'कैसे' प्रबन्ध की तकनीक है अर्थात् वे सिद्धान्त जिनके अनुसार सहकारी योजनाएँ सफल बनाई जाती हैं। दोनों ही अपरिहार्य हैं और दोनों के मिलने से ही प्रशासन की स्थापना होती है।"[1]

ग्लैडन के अनुसार, "लोक प्रशासन बहुरूपीय है और इसकी परिभाषा करना अत्यन्त कठिन है। सरकार के बदलते हुए कार्यों के सन्दर्भ में इसे समझा जा सकता है।"

लोक प्रशासन की उपरोक्त परिभाषाएँ कुछ व्यापक तथा कुछ संकीर्ण दृष्टिकोण लिए हुए हैं। लोक प्रशासन के व्यापक दृष्टिकोण वाली परिभाषाएँ आज ज्यादा मान्य हैं। लोक प्रशासन की इन सभी परिभाषाओं में नीति और उसकी क्रियान्विति पर बल दिया जाने लगा है। नीति सदैव किसी उद्देश्य के परिप्रेक्ष्य में बनाई जाती है तथा नीति के क्रियान्वयन में गतिविधियाँ और कार्यक्रम होने स्वाभाविक हैं। अतः लोक प्रशासन का सम्बन्ध उद्देश्य, नीति और गतिविधि तीनों से है। तीनों में तालमेल बिठाना लोक प्रशासन है। जो लोग लोक प्रशासन को नीति-विज्ञान मानते हैं वे इसे राजनीति (Politics) के समीप ले जाते हैं और उनके मत में मन्त्री और विधायक भी लोक प्रशासक हैं। इस तरह के दृष्टिकोण को प्रशासन का एकीकृत दृष्टिकोण कहा जाता है। इसके विपरीत जो लोक प्रशासन में केवल उच्च प्रकार के निर्णयों को ही महत्व देते हैं, वे प्रशासन को एक प्रबन्ध-कला की दृष्टि से देखते हैं और उन्हीं लोगों को वे प्रशासक कहना चाहेंगे, जो तकनीकी दृष्टि से कार्य करवाने में वैज्ञानिक दक्षता रखते हों। इस प्रकार की विचारधारा को "प्रशासन का प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण की संज्ञा दी गई है।"

लोक प्रशासन सार्वजनिक नीति के निर्माण और कार्यान्वयन में पाँच बातों से सम्बन्धित है। पहली, प्रशासन-यन्त्र या मशीन जिसे लोक प्रशासन के विद्यार्थी संगठन सिद्धान्तों का नाम देते हैं। दूसरी, व्यक्ति या सरकारी कर्मचारी, जिनकी समस्याएँ लोक प्रशासन में 'कर्मचारी वर्ग प्रशासन' के नाम से जानी जाती हैं। तीसरी, वित्त जिसकी व्यवस्था का नियन्त्रण और संचालन वित्त-प्रशासन कहा जाता है। चौथी, प्रशासन में कुछ साधन-सामग्री और स्रोत होते हैं जिन्हें आज के प्रबन्ध-विज्ञान के अन्तर्गत कार्याध्ययन, पद्धति-अध्ययन तथा सामग्री-व्यवस्था कहते हैं। पाँचवीं, प्रशासन में कार्य करने की कुछ और पद्धतियाँ होती हैं, जिन्हें प्रबन्धात्मक तकनीक के नाम पर आज के प्रबन्ध वैज्ञानिक 'मॉडल्स' की संज्ञा देते हैं। समीक्षा के रूप में यह कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन एक नीति-विज्ञान है, एक व्यवसाय है, मानवीय आचरण से सम्बन्धित सामाजिक गतिविधि है और कुल मिलाकर एक ऐसी प्रक्रिया है जो राजनीति का एक अविभाज्य अंग है। यह सरकार का प्रतिनिधित्व करता है और उसका प्रतीक भी माना जाता है। लोक प्रशासन में मानव-आचरण को सामूहिकता के सन्दर्भ में देखा जा सकता है और इस दृष्टि से नेतृत्व, सम्प्रेषण, निर्णय प्रक्रियाएँ, उत्प्रेरक दृष्टिकोण और मनोबल सिद्धान्त प्रशासन की पाठ्यपुस्तकों में स्थान पाते रहे हैं।

प्रशासन, प्रबन्ध तथा संगठन

(Administration, Management and Organization)

संगठन से अन्तर तो स्पष्ट है, पर 'प्रशासन' और 'प्रबन्ध' शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची शब्दों के रूप में किया जाने लगा है और इनमें अन्तर प्राविधिक दृष्टि से ही किया जा सकता है। जहाँ तक 'संगठन' शब्द का सम्बन्ध है इसका अर्थ किसी भी संस्थान अथवा उद्योग की उस संरचना से है जिसके अन्तर्गत दिए हुए उद्देश्यों की पूर्ति हेतु व्यक्तियों, सामान, यन्त्र एवं औजारों के सम्बन्धों को स्थापित किया जाता है। जहाँ तक 'प्रबन्ध' एवं 'प्रशासन' शब्दों के अर्थ में सम्बन्ध है, सरकारी क्षेत्र एवं प्रबन्ध-क्षेत्र दोनों में ही इनका अलग-अलग अर्थ लगाया जाता है। यद्यपि प्रबन्ध विशेषज्ञों ने अपने मतानुसार इसकी अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। सरकारी संस्थानों में प्रशासन को व्यापक माना जाता है जबकि किसी भी व्यवसाय या उद्योग में प्रबन्ध के अन्तर्गत सभी प्रबन्धों अथवा प्रबन्धकीय प्रक्रिया को शामिल किया जाता है तथा प्रशासन के अन्तर्गत उच्चस्तरीय प्रबन्ध की समस्त क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है। प्रबन्ध एवं प्रशासन के सम्बन्ध में संकुचित, व्यापक, मिश्र एवं पर्यायवाची विचार प्रस्तुत किए गए हैं। कुछ विद्वान् प्रबन्ध और प्रशासन को पर्यायवाची मानते हैं जबकि कुछ प्रबन्ध को प्रशासन से व्यापक तथा अन्य प्रशासन को प्रबन्ध से व्यापक मानते हैं।

1. American Political Science Review, Vol. XXXI, pp. 31-32.

प्रबन्ध एवं प्रशासन के सम्बन्ध को अमेरिकी तथा ब्रिटिश दो प्रमुख विचारधाराओं ने वर्गीकृत किया जा सकता है—

अमेरिकी विचारधारा (American School of Thought) के अनुसार, 'प्रशासन' शब्द प्रबन्ध की तुलना में कहीं अधिक व्यापक है तथा 'प्रशासन' में 'प्रबन्ध' सम्मिलित होता है। इस प्रकार प्रशासन एक ओर उच्चस्तरीय कार्य है जिसके अन्तर्गत एक व्यावसायिक उपक्रम की मूल नीतियों का निर्धारण, लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की स्थापना करना तथा उन सीमाओं का निर्धारण किया जाता है, जिनमें प्रबन्ध को कार्य करना होता है। दूसरी ओर प्रबन्ध निम्नस्तरीय कार्य करता है जो कि प्रशासन द्वारा निर्धारित एवं निर्देशित नीतियों के क्रियान्वयन से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार प्रशासन विचारात्मक कार्य है जबकि प्रबन्ध का सम्बन्ध कार्य करने से है। इस विचारधारा के प्रमुख समर्थकों में प्रो. स्प्रीगल, शुल्ज, शेल्डन, मिलवार्ड आदि प्रमुख हैं।

प्रो. स्प्रीगल के अनुसार, "प्रशासन उपक्रम का वह कार्य है जिसका समस्त नीतियों एवं मुख्य उद्देश्यों के निर्धारण से सम्बन्ध है। प्रशासन उद्यम के सामान्य उद्देश्यों को निश्चित करता है, इसकी नीतियों की स्थापना करता है, कार्यविधि की सामान्य योजना तैयार करता है।"[1] प्रो. स्प्रीगल ने प्रबन्ध की परिभाषा देते हुए लिखा है "प्रबन्ध एक उद्यम का वह कार्य है, जिसका सम्बन्ध उद्यम के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु विभिन्न क्रियाओं का निर्देशन एवं नियन्त्रण करना होता है। प्रबन्ध वास्तव में कार्यकारी कार्य है।"[2] इस प्रकार प्रशासन उद्देश्यों एवं मुख्य कार्यक्रमों का निर्धारण करता है जबकि कार्य करने का सम्बन्ध प्रशासन से होता है। प्रशासन के कार्य 'निर्धारणात्मक कार्य' (Determinative Functions) तथा प्रबन्ध का कार्य 'कार्यकारी कार्य' (Executive Functions) से सम्बन्ध रखते हैं।

शुल्ज ने प्रशासन, प्रबन्ध एवं संगठन की परिभाषा देते हुए उल्लेख किया है—"प्रशासन वह शक्ति है जिसके द्वारा संगठन एवं प्रबन्ध के अस्तित्व हेतु उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है तथा जिनके अन्तर्गत इन्हें कार्य करना है। प्रबन्ध वह शक्ति है जिसके माध्यम से संगठन को पूर्व-निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु नेतृत्व, मार्गदर्शन एवं निर्देशन दिए जाते हैं. संगठन वांछनीय उद्देश्यों को पूरा करने हेतु विभिन्न आवश्यक मानवीय साधनों, सामग्री, यन्त्र, औजार, कार्य, स्थान आदि का सुव्यवस्थित संयोजन मात्र है।"[3]

शेल्डन के अनुसार, "प्रशासन उद्योग में वह कार्य है जिसका सम्बन्ध नियम, नीति का निर्धारण, वित्त उत्पादन एवं वितरण का समन्वय, संगठन रूपी कुतुबनुमा लगाना एवं अन्तिम रूप से कार्यकारी नियन्त्रण करने से है जबकि प्रबन्ध का सम्बन्ध नीति के क्रियान्वयन तथा संगठन को निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कार्य में लगाने से है। संगठन एक प्रभावपूर्ण मशीन का निर्माण करता है, प्रभावपूर्ण निर्देशन का प्रशासन करता है। इस प्रकार प्रशासन संगठन को निर्धारित करता है जबकि प्रबन्ध उपयोग करता है।"[4]

ब्रिटिश विचारधारा (British School of Thought)—इस विचारधारा को अमेरिकी विचारधारा के प्रतिकूल माना जाता है। इसके अनुसार 'प्रबन्ध' को 'प्रशासन' से व्यापक माना गया है तथा प्रशासन एवं संगठन को प्रबन्ध का आवश्यक अंग माना गया है। इस विचारधारा के आधार पर आँग्ल प्रबन्ध विशेषज्ञों ने प्रबन्ध-कार्य को दो भागों में विभाजित किया है—(1) प्रशासनिक प्रबन्ध (Administrative Management) जिसे प्रशासन कहा जाता है और जिसका सम्बन्ध दिए हुए कार्य के क्रियान्वयन हेतु नीतियों का निर्धारण करना, नीतियों में समय-समय पर फेर-बदल करना, योजनाएँ तैयार करना तथा निष्पादन के स्तरों का निर्धारण करके वास्तविक कार्य से तुलना करना होता है। (2) क्रियात्मक प्रबन्ध (Operative Management) जिसका सम्बन्ध मानवीय एवं भौतिक साधनों को दिए हुए संगठन के अन्तर्गत उपयोग करना है जिससे कि निर्धारित लक्ष्यों को पूरा किया जा सके। इस प्रकार प्रबन्ध नीति-निर्धारण करने का कार्य करता है जबकि प्रशासन इसके क्रियान्वयन का कार्य करता है। इस विचारधारा के समर्थकों में प्रो. ब्रेच का नाम उल्लेखनीय है। इनके मतानुसार—"प्रबन्ध एक सामाजिक प्रक्रिया है जो कि एक प्रतिष्ठान की क्रियाओं के प्रभावी नियोजन एवं नियमन के उत्तरदायित्व का समावेश करती है।" "प्रशासन उद्योग का वह कार्य है जो कि पद्धतियों के निर्धारण एवं संचालन से सम्बन्ध रखता

1-2. *W. R. Spriegal* : Industrial Management, p. 109.
3-4. *Oliver Sheldon* : Philosophy of Management, p. 32.

है, जिसके द्वारा कार्यक्रमों का निर्धारण किया जाता है, प्रक्रियाओं की प्रगति का नियमन किया जाता है और उनकी प्रगति को योजनाओं के सन्दर्भ में जाँचा जाता है।"[1] उच्च प्रबन्ध नीतियों का निर्माण करता है, क्रियात्मक प्रबन्ध नियोजन, समन्वय एवं नियन्त्रण संबंधी कार्य करता है जबकि निम्न स्तरीय प्रबन्ध का कार्य निरीक्षण करना एवं कार्यविधियों सम्बन्धी निर्णय लेना होता है। इस विचारधारा के अन्य समर्थकों में ए. हाल एवं जे. सी. डेनियल प्रमुख हैं।

इसके विपरीत किम्बाल एवं किम्बाल प्रबन्ध एवं प्रशासन तथा संगठन में विभेद करना उचित नहीं समझते हैं क्योंकि प्रबन्ध एवं प्रशासन दोनों पर्यायवाची हैं। फिर भी इनके द्वारा प्रबन्ध, प्रशासन एवं संगठन की परिभाषाएँ दी गई हैं जो यह स्पष्ट करती हैं कि "प्रबन्ध में वे सभी कर्त्तव्य एवं कार्य सम्मिलित हैं जो कि एक उद्यम की प्रेरणा, वित्त, नीतियों के निर्धारण, समस्त आवश्यक औजारों, सामान्य संगठन की रूपरेखा तैयार करने तथा प्रमुख अधिकारियों का चयन करने से सम्बन्ध रखते हैं।" "प्रशासन अथवा निर्देशन में वे सभी कार्य एवं क्रियाएँ सम्मिलित हैं जिनका सम्बन्ध संस्थान के नीतीय एवं संगठन के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए क्रियान्वयन करना होता है।" "संगठन प्रबन्ध का सहायक है। इसके अन्तर्गत विभिन्न विभागों एवं कर्मचारियों के कर्तव्यों का निर्धारण करना, उनके कार्यों का बँटवारा एवं व्यक्तियों तथा विभागों के बीच सम्बन्ध निर्धारण करना आदि आते हैं। संगठन वास्तव में प्रबन्ध का यन्त्र है।"[2]

प्रो. न्यूमैन (William Newman) ने प्रबन्ध एवं प्रशासन में अन्तर करने से स्पष्ट इन्कार किया है। उनके अनुसार, ये एक-दूसरे के स्थान पर प्रयोग में लाए जाते हैं अत ये एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। प्रशासक, प्रबन्धक एवं अधिशासी (Executive) एक-दूसरे से मिलते-जुलते शब्द हैं। इनके अनुसार सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति की ओर व्यक्तिगत समूहों के प्रयासों का मार्गदर्शन, नेतृत्व एवं नियन्त्रण करना प्रशासन है जो कि प्रबन्ध से मिलता-जुलता है। प्रबन्ध और प्रशासन दोनों को ही प्रशासनिक एवं व्यावसायिक संस्थाओं में अलग-अलग प्रकार से समझा जाता है। सरकारी संस्थाओं में प्रशासन को प्रबन्ध से व्यापक माना जाता है। व्यावसायिक जगत में प्रबन्ध का अर्थ प्रबन्ध प्रक्रिया से लिया जाता है, जिसके अन्तर्गत सामूहिक रूप से प्रबन्ध का कार्य सम्मिलित है। व्यवसाय में सामान्य रूप से प्रशासन का संबंध उच्चस्तरीय प्रबन्ध से लिया जाता है। प्रो. मैक्फारलैण्ड के अनुसार, "प्रशासन में मुख्य उद्देश्यों एवं नीतियों का निर्धारण किया जाता है, जबकि प्रबन्ध में उद्देश्यों को पूरा करने तथा नीतियों को प्रभावपूर्ण बनाने सम्बन्धी क्रियाएँ सम्मिलित हैं।"[3]

प्रबन्ध नीति के क्रियान्वयन हेतु नियोजन एवं पर्यवेक्षण से सम्बन्ध रखता है, जबकि संगठन किसी भी संस्थान या उद्योग में सामूहिक रूप से कार्य करने वालों के कार्यों, उत्तरदायित्वों, अधिकारों का वितरण एवं सुपुर्दगी करने वाली प्रक्रिया है। यह (संगठन) एक धुरी है जिसके चारों ओर प्रबन्धकीय एवं प्रशासनिक क्रियाएँ चक्कर लगाती रहती हैं। प्रशासन निर्देशन देने का कार्य करता है, प्रबन्ध कार्यकारी कार्य करता है जबकि संगठन वह यन्त्र है जिसके माध्यम से प्रशासन एवं प्रबन्ध अपने-अपने कार्य करते रहते हैं। प्रशासन निर्धारणात्मक कार्य से संबंध रखता है जबकि प्रबन्ध कार्यकारी कार्य करता है। संगठन इन दोनों प्रकार के कार्यों को प्रभावपूर्ण ढंग से करने हेतु एक ऐसे यन्त्र या संरचना का निर्माण करता है जिसके अन्तर्गत विभिन्न व्यक्तिगत समूहों के कार्यों, उत्तरदायित्वों एवं अधिकारों का बँटवारा किया जाता है और उन्हें अपने-अपने कार्य-क्षेत्र हेतु जिम्मेदार ठहराया जाता है।

आधुनिक समय में 'प्रबन्ध एवं प्रशासन' दोनों शब्दों में ही मतभेद विद्यमान है। 'संगठन' इस मतभेद से परे निकल गया है क्योंकि इसके अन्तर्गत विभिन्न व्यक्तियों के उत्तरदायित्वों, अधिकारों, कर्तव्यों की सुपुर्दगी, सम्बन्धों की स्थापना एवं प्रयासों का समन्वय आदि क्रियाओं को सम्मिलित किया जाने लगा है। इस पर मतभेद नहीं है। 'प्रबन्ध' शब्द ब्रिटिश विचारधारा के अन्तर्गत 'प्रशासन' शब्द से व्यापक माना जाता है। विभिन्न यूरोपीय देशों में प्रबन्ध को अधिक महत्त्व दिया जाता है तथा प्रशासन एवं संगठन दोनों को इसके अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है जबकि दूसरी ओर अमेरिकी विचारधारा के अनुसार प्रशासन को व्यापक माना जाता है और प्रबन्ध एवं संगठन को इसमें सम्मिलित किया जाता है। व्यावहारिक जीवन में नीति-निर्धारण करने वाले एवं इसका क्रियान्वयन करने वाले अलग-अलग व्यक्ति नहीं होते हैं। उदाहरणार्थ, उच्च-स्तरीय प्रबन्ध द्वारा नीति-निर्धारण का कार्य करना प्रबन्ध है

1. *E. F. L. Breach* : Principles and Practices of Management, p. 17.
2. *Kimball and Kimball* : Principles of Industrial Organisation, p 157-158.
3. *McFarland* : Management, Principles and Practices, p. 10.

लेकिन जब वे मध्यस्तरीय प्रबन्धकों द्वारा इसके क्रियान्वयन का कार्य देखते हैं तो यह प्रशासन होगा। इसी प्रकार निम्नस्तरीय प्रबन्ध क्रियान्वयन का कार्य करते हैं तो प्रशासन का कार्य करते हैं, लेकिन जब वे मध्यम एवं उच्चस्तरीय प्रबन्ध को इसके विषय में सलाह देते हैं अथवा विचार-विमर्श करते हैं तो यह प्रबन्ध का कार्य हुआ। इस स्थिति से प्रबन्ध और प्रशासन में अन्तर करना मुश्किल है। एकाकी अथवा साझेदारी फर्म में प्रबन्धक एवं प्रशासक दोनों एक ही व्यक्ति होता है जबकि बड़े उद्योगों या कम्पनियों में दोनों अलग-अलग होते हैं। इससे दोनों के नामों में भ्रम पैदा हो जाता है। अतः प्रशासन और प्रबन्ध दोनों को पूर्ण रूप से अलग-थलग नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों के कार्य एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। दोनों ही के सिद्धान्त, प्रक्रिया, कार्यक्षेत्र आदि समरूप ही हैं तथा दोनों सार्वभौमिक हैं अतः सूक्ष्म तथा प्राविधिक अन्तर के होते हुए भी दोनों को पर्यायवाची मानना ही उचित होगा।

लोक प्रशासन का क्षेत्र
(Scope of Public Administration)

वर्तमान में लोक प्रशासन के क्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि हुई है। आधुनिक लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा, राष्ट्रों के बीच सहयोग की धारणा और तीव्र औद्योगिक विकास ने इसके क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि की है। आज लोक प्रशासन के क्षेत्र की सीमा-रेखा निर्धारित करना भी अत्यन्त दुष्कर कार्य है क्योंकि— (1) लोक प्रशासन एक नया विषय है तथा एक क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित ज्ञान के रूप में उसका जन्म हाल ही के वर्षों की घटना है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इस विषय का काफी विकास हो चुका है, तथापि भारत जैसे विकासशील देश में अभी यह विषय ज्ञान के एक पृथक् शास्त्र के रूप में विगत दशक में ही स्थान पा सका है। (2) लोक प्रशासन एक विकासशील विषय है तथा लोक-कल्याणकारी राज्य के क्षेत्र-विस्तार के साथ ही लोक प्रशासन का क्षेत्र भी निरन्तर परिवर्तन-परिवर्द्धन की ओर गतिशील है। (3) लोक प्रशासन के अन्तर्गत 'प्रशासन' की परिभाषा पर विद्वानों में अभी तक मतैक्य नहीं हो पाया है। कुछ विचारक प्रशासन के एकीकृत दृष्टिकोण के समर्थक हैं तो अन्य विचारक प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण के। इस प्रकार जहाँ प्रथम मत के अन्तर्गत लोक प्रशासन का क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है, वहाँ दूसरी विचारधारा उसे सीमित रूप में प्रस्तुत करती है। लोक प्रशासन के क्षेत्र के सम्बन्ध में मुख्य रूप से तीन विचारधाराएँ प्रचलित रही हैं—

1. पोस्डकार्ब विचारधारा (POSDCORB Ideology)

लोक प्रशासन के परम्परावादी लेखक, जिन्हें संकीर्ण विचारधारा का पोषक कहा जाता है, पोस्डकार्ब (POSDCORB) को ही लोक प्रशासन का प्रमुख और एकमात्र क्षेत्र मानते हैं। इस विचारधारा के मुख्य प्रतिपादक लूथर गुलिक हैं। पोस्डकार्ब की रचना कतिपय अंग्रेजी शब्दों के प्रथम अक्षर को मिलाने से हुई है और ये अक्षर निम्नलिखित क्रियाओं का बोध कराते हैं—

P = (Planning) : योजनाएँ बनाना या नियोजन करना। इसका आशय है—कार्यों की रूपरेखा तैयार करना एवं निश्चित ध्येय की प्राप्ति के लिए रीतियों को निर्धारित करना।

O = (Organisation) : संगठन अर्थात् अधिकारी वर्ग के एक ऐसे स्थायी ढाँचे का निर्माण करना जिसके द्वारा निश्चित उद्देश्य के लिए काम के उप-विभागों की व्यवस्था की जाए, उन्हें क्रमबद्ध किया जाए, उनकी व्याख्या की जाए और उनमें समन्वय स्थापित किया जाए।

S = (Staffing) : कार्मिक-संगठन या कर्मचारियों की व्यवस्था करना। अर्थात उपयुक्त व्यक्तियों को विभिन्न पदों पर नियुक्त करना, उनको प्रशिक्षण देना तथा उनके लिए कार्य करना, अनुकूल दशाओं का निर्माण करना अर्थात् समूचा कार्मिक प्रबन्ध।

D = (Directing) : निर्देशन करना। इसका अभिप्राय है शासन सम्बन्धी निर्णय लेना, उन्हीं के अनुरूप कर्मचारियों को विशिष्ट एवं सामान्य आदेश तथा सूचनाएँ देना, तथा उनका नेतृत्व करना।

Co = (Co-ordinating) : समन्वय करना अथवा कार्य के विविध अंगों को परस्पर सम्बद्ध करना और उनमें समन्वय स्थापित करना अर्थात् उनमें परस्पर-अतिव्यापन तथा संघर्ष से बचाना।

R = (Reporting) : प्रतिवेदन या रिपोर्ट तैयार करना अर्थात् प्रशासकीय कार्यों की प्रगति के बारे में उन लोगों को सूचनाएँ देना जिनके प्रति कार्यपालिका उत्तरदायी है तथा निरीक्षण, अनुसंधान, अभिलेखन आदि द्वारा इस प्रकार की सूचनाओं का संग्रह करना।

B = (Budgeting) : बजट तैयार करना या वित्तीय प्रशासन। इसके अन्तर्गत शामिल है—वित्तीय योजना तैयार करना, हिसाब-किताब रखना, प्रशासकीय विभागों को वित्तीय साधनों द्वारा अपने नियन्त्रण में रखना आदि। बजेटिंग अपने व्यापक अर्थ में सम्पूर्ण वित्त-प्रशासन को समाहित करता है।

पोस्डकार्ब विचारधारा की मान्यता है कि योजना, संगठन, कर्मचारियों का निर्देशन, कार्यों का समायोजन तथा नियन्त्रण, रिपोर्ट, बजट की तैयारी आदि वे मौलिक बातें हैं जिनका ज्ञान किसी भी प्रशासक के लिए अनिवार्य है और *यदि पोस्डकार्ब की इन प्रक्रियाओं का मौलिक ज्ञान किसी व्यक्ति को है तो वह सभी प्रकार के संगठनों में* किसी भी प्रकार के क्षेत्र का प्रशासन चला सकता है। ये प्रक्रियाएँ अथवा प्रविधियाँ प्रशासन अर्थात् प्रबन्ध के समस्त क्षेत्रों पर समान रूप से लागू होती हैं। यह दृष्टिकोण लोक प्रशासन को एक विशिष्ट तकनीकी ज्ञान मानता है और इस दृष्टि से निजी तथा सार्वजनिक लोक प्रशासन के अन्तर को क्षेत्रीय न मानकर पद्धतीय मानता है। पोस्डकार्ब को ही लोक प्रशासन का क्षेत्र मानने वाले लूथर गुलिक के मतानुसार लोक प्रशासन एक विशेष प्रकार का ज्ञान है जिसे एक विज्ञान की तरह पढ़ा जाना चाहिए। आज इसी विशिष्टीकृत ज्ञान के विचार को लेकर प्रबन्ध-विज्ञान (Management Science) आगे बढ़ रहा है। पोस्डकार्ब क्रियाओं को प्रशासन का अनिवार्य मूलबिन्दु मानता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इस विचारधारा को भारी समर्थन मिला है, और वहाँ यह एक लोकप्रिय विचारधारा रही है।

समय के साथ-साथ पोस्डकार्बवादी दृष्टिकोण आज अनेक दृष्टियों से अमान्य अथवा अपूर्ण समझा जाने लगा है क्योंकि यह दृष्टिकोण इतना संकीर्ण है कि इस पर लोक प्रशासन शब्द से प्रकट होने वाला अर्थ पूरी तरह लागू नहीं किया जा सकता। पोस्डकार्ब की प्रक्रियाएँ तो परिवार, सेना, धर्म, स्थानीय इकाइयों आदि कहीं भी देखी जा सकती हैं अतः संगठन का यह विशेष ज्ञान लोक प्रशासन नहीं हो सकता है। इस संकीर्ण क्षेत्रवादी दृष्टिकोण में यह कमी है कि संदर्भ का ध्यान नहीं रहता। लोक प्रशासन में लोक-हित, लोक-कल्याण एवं लोक-उद्देश्य का ध्यान पोस्डकार्ब गतिविधियों के लिए आवश्यक है। अतः संदर्भ से बाहर मौलिक ज्ञान अपूर्ण एवं हानिकारक हो जाता है। पोस्डकार्ब दृष्टिकोण किसी भी तरह से लोक-उद्देश्य की चर्चा नहीं करता। अतः यह इस तरह लोक प्रशासन का संपूर्ण क्षेत्र नहीं है। मानव-संबंधी विचारकों का कहना है कि पोस्डकार्ब को लोक प्रशासन कहना *प्रशासन का एक अत्यन्त निर्जीव, शुष्क एवं मृत-प्राय चित्र प्रस्तुत करना है।* हाथोर्न-प्रयोग (*Hawthorne* Experiments) के बाद लोक प्रशासन के क्षेत्र में यह सिद्धान्त स्वीकृत होता जा रहा है कि प्रशासन एक मानवीय कला है, एक सामाजिक विज्ञान है, जिसे केवल 'नट' (Nut) और 'बोल्ट' (Bolt) का रूप नहीं दिया जा सकता है। वस्तुतः पोस्डकार्ब की क्रियाएँ प्रशासन नहीं बल्कि यंत्र मात्र हैं।

2. विषय-वस्तु विचारधारा (Subject-Matter Ideology)

जो विद्वान पोस्डकार्ब को बहुत संकुचित क्षेत्र मानते हैं, उनकी यह मान्यता है कि लोक प्रशासन का क्षेत्र विषय की दृष्टि से निर्धारित किया जाना चाहिए, तकनीक की दृष्टि से नहीं। लेविस मेरियम (Lewis Merriam) *एक ऐसे ही लेखक हैं जो एक कैंची की दो फलकों (Blades) की तरह लोक प्रशासन के क्षेत्र में विषय और* तकनीक दोनों को स्थान देते हैं। उसका कहना है कि किसी भी अभिकरण द्वारा प्रभावपूर्ण एवं बुद्धिमत्तापूर्ण प्रशासन केवल तभी सम्भव है जब उसकी विषय-वस्तु का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया जाए। प्रशासन का मुख्य तत्व राजकीय क्रियाएँ हैं जो जनता के लिए व्यापक और विविध सेवाएँ प्रस्तुत करती हैं, जैसे—कानून एवं व्यवस्था, शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, सामाजिक सुरक्षा आदि। इतना महत्वपूर्ण कार्य अथवा ये व्यापक सेवाएँ पोस्डकार्ब प्रक्रियाओं में समाविष्ट नहीं होतीं।

विषय सम्बन्धी विचारधारा अथवा व्यापक-क्षेत्र के समर्थक लोक प्रशासन को नीति-विज्ञान मानते हैं और विषय की दृष्टि से उसे विस्तृत कर सरकार की *कार्यकारिणी के समरूप बना देते हैं। यह दृष्टिकोण लोक प्रशासन* के क्षेत्र को सरकार की सम्पूर्ण गतिविधियों तक व्यापक बना देता है। ये गतिविधियाँ अधिकतर कार्यकारिणी से सम्बन्धित हैं, किन्तु विधायिका, न्यायपालिका और जनता से उनके सम्बन्ध भी लोक प्रशासन की विषय-वस्तु हैं। लोक प्रशासन को इस तरह राजनीति और सरकार के निकट लाने वाले ये विचारक मानते हैं कि नीति-विज्ञान होने के कारण लोक प्रशासन तीन प्रकार के कार्य करता है—पहला, यह नीति-निर्माता राजनीतिज्ञों को सामग्री प्रदान करता है, दूसरे, यह नीति-निर्माण में रिक्तता को भरता है, एवं तीसरे, एक प्रक्रिया के रूप में यह अनवरत रूप से नीति को प्रभावित करता है। इस प्रकार, लोक प्रशासन का क्षेत्र केवल शुष्क तकनीकों के ज्ञान तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसका क्षेत्र *नीति-निर्माण और व्यवहार* से सम्बन्धित सभी गतिविधियों को गहराई से समझना और परखना है।

3. समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक विचारधारा (Social and Psychological Ideology)

इस विचारधारा के प्रतिपादक लोक प्रशासन का अध्ययन समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक ढंग से करते हैं। आज का लोक प्रशासन तकनीक तथा विषय का ज्ञान मात्र न रहकर उन समग्र परिस्थितियों और वातावरण को भी अपने में सम्मिलित करता है जिनके अन्तर्गत शासन-प्रक्रिया चलती है। फ्रेड्रिक रिग्स जो परिस्थिति विज्ञान (Ecological) सम्बन्धी अध्ययन के प्रवर्तक है, कहते है कि लोक प्रशासन का अर्थ-व्यवस्था, संचार-व्यवस्था, राजनीति, संस्कृति तथा प्रतीक आदि को ध्यान में रखकर अध्ययन किया जाना चाहिए। तुलनात्मक प्रशासन के क्षेत्र में हैडी एवं स्टोक (Heady and Stoke) के प्रयत्न आज लोक प्रशासन की संस्कृति अथवा संस्कृति से आबद्ध लोक प्रशासन की प्रक्रियाओं पर बल देते हैं। भ्रष्टाचार, मनोबल, मानव-संबंध, प्रशासकीय नेतृत्व आदि कुछ ऐसे विषय हैं जिनकी समाजशास्त्रीय स्थितियों के संदर्भ में ठीक प्रकार से विवेचना की जा सकती है।

वास्तव में पोस्डकार्ब और विषय सम्बन्धी दोनों ही विचारधाराएँ एक-दूसरे की विरोधी न होकर पूरक हैं। वर्तमान में लोक प्रशासन का क्षेत्र अपने ज्ञान की वैज्ञानिकता के विस्तार के लिए सम्बन्धों, संदर्भों, अन्तर-सदर्भों, परिणामों और उनसे जन्म लेने वाली प्रक्रियाओं को भी अपने क्षेत्र के अन्तर्गत मानता है। लोक प्रशासन के क्षेत्र का यह विस्तार तीन चरणों में हुआ है—पहला तकनीकी ज्ञान, दूसरा विषय सम्बन्धी ज्ञान तथा तीसरा संदर्भ और अन्तर-सम्बन्ध विषयक ज्ञान। संगठन, नौकरशाही, सेवी-वर्ग की समस्याओं तथा वित्त-प्रशासन का जब लोक प्रशासन के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है तो उनका यह अध्ययन केवल सैद्धान्तिक न होकर इस दृष्टि से किया जाने लगा है कि इन सिद्धान्तों पर राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा क्षेत्रीय विषय के विरोधीकरण का क्या प्रभाव पड़ा है। सारांशतः लोक प्रशासन का क्षेत्र आज इतना विस्तृत हो गया है कि उसमें सरकार की सारी गतिविधियाँ और राजनीति के सारे अन्तरसम्बन्ध समा जाते हैं। क्षेत्र की दृष्टि से आज व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक प्रशासन का अन्तर भी गौण होता जा रहा है। फैलिक्स ए. नीग्रो ने लोक प्रशासन के क्षेत्र में निम्नि पक्षों को इस प्रकार सम्मिलित किया है[1]—

"लोक प्रशासन :

(1) सरकारी ढाँचे में यह एक सहकारी प्रयत्न है;
(2) यह सरकार की तीनों शाखाओं (कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, न्यायपालिका) तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन कराता है;
(3) यह सरकारी नीति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है और इस तरह राजनीतिक प्रक्रिया का एक अंग है,
(4) यह नीति-प्रशासन से अधिक महत्त्वपूर्ण है और बहुत कुछ उससे भिन्न भी;
(5) अध्ययन एवं प्रयोग के क्षेत्र में हाल ही के वर्षों में यह 'मानवीय तत्त्व सम्बन्धी दृष्टिकोण' से बहुत प्रभावित हुआ है, तथा
(6) समाज को सेवाएँ प्रदान करने में यह अनेक निजी व्यक्तियों और वर्गों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।"

वस्तुत: लोक प्रशासन का क्षेत्र दिन-प्रतिदिन व्यापक होता जा रहा है। इसमें व्यक्तिगत या सार्वजनिक, सैनिक अथवा असैनिक प्रशासन भी शामिल है। साथ ही, इसमें प्रबन्ध तथा नीति-निर्माण की प्रक्रिया को भी शामिल किया जाता है। राजनीतिक क्षेत्र के विस्तार की प्रक्रिया ने ही इसे एक स्वतन्त्र विषय तथा एक विकसित सामाजिक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

लोक प्रशासन की प्रकृति : कला या विज्ञान
(Nature of Public Administration : Art or Science)

लोक प्रशासन एक विकासशील अध्ययन है। अत इसकी प्रकृति या स्वरूप के बारे में अभी भी एकरूपता या सर्वसम्मत धारणा नहीं बन पाई है। लोक प्रशासन कला है अथवा विज्ञान, इस विषय पर आज भी विवाद बना हुआ है।

लोक प्रशासन कला के रूप में

डॉ. फाइनर, मोरिस, कोहन आदि के विचारानुसार लोक प्रशासन को एक विज्ञान नहीं माना जा सकता। एल. उर्विक ने प्रशासन को एक कला माना है और उनका कहना है कि अन्य कलाओं की भाँति प्रशासन की

1. *Felix A Nigro*: Modern Public Administration, p. 25.

कलाओं को भी खरीदा नहीं जा सकता। वस्तु-स्थिति यह है कि लोक प्रशासन सदैव से ही एक कला विशेष के रूप में माना जाता रहा है। इसलिए लोक प्रशासन को उच्चतम कला की संज्ञा दी जा सकती है और उसके लिए वही तर्क दिए जा सकते हैं जो राजनीति को सर्वोच्च विज्ञान अथवा सिद्ध-विज्ञान मानने के सम्बन्ध में अरस्तु ने दिए थे। प्रशासन को कुशल बनाने के लिए अनिवार्य है कि विशेष कौशल का विकास किया जाए। धनुर्विद्या, चित्रकारी, मूर्तिकला तथा ऐसी ही अन्य कलाओं की भाँति प्रशासन को भी सीखा जा सकता है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र', मेकियावली का 'दि प्रिंस', अबुलफजल का 'आइने-अकबरी' आदि रचनाएँ प्रशासन के मार्ग की उलझनों को दूर करने में सहायक होकर प्रशासकीय कुशलता का विकास करती हैं। आर्डवे टीड ने भी माना है कि "संक्षेप में प्रशासन एक सुन्दर कला है।"

लोक प्रशासन को जब कला कहा जाता है तो उसमें पाँच बातें निहित मानी जाती हैं—

(1) कला एक व्यक्तिगत, वैयक्तिक, असामान्य और अनूठा अनुभव है। कलाकार जन्मजात होता है, उस जैसा दूसरा नहीं होता और जिसकी प्रतिभा प्राकृतिक रूप से दिशा-विशेष में मुड़ती है। इसी प्रकार लोक प्रशासक जन्मजात होते हैं। प्रशासन के कितने ही नियम बना दिए जाएँ, प्रशासन एक ऐसी कला है जिसे कुछ लोग औरों की तुलना में अधिक श्रेष्ठता से सम्पादन करेंगे।

(2) कला में 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की अभिव्यक्ति होती है और यह विवाद चलता है कि 'कला कला के लिए है अथवा समाज के लिए' है। लोक प्रशासन की दुनिया सत्य है, उसके उद्देश्य शिव (कल्याणकारी) हैं और उसकी तकनीक का सौन्दर्य उसे कलात्मकता प्रदान करता है। 'प्रशासन प्रशासन के लिए है या जनता के लिए है' यह विवाद प्रशासन को एक ऐसी कला के रूप में प्रतिष्ठित करता है जो यथार्थोन्मुख आदर्शवाद की ओर संकेत करता है।

(3) प्रत्येक कला में एक सृजनात्मक अभिव्यक्ति होती है (Art is a creative activity.) कला-निर्माण है, सृजन है और सृजन द्वारा उदात्त वृत्तियों का परितोष कही जा सकती है। लोक प्रशासन चाहे कितना ही भौतिक एवं समाज की जड़ बातों से सम्बन्धित हो उसका मुख्य उद्देश्य एक नए समाज की रचना करना या उसके निर्माण में अपना योगदान देना है। प्रशासक का सुख एक कलाकार का सुख है और उसे अपने कार्य से वैसा ही सन्तोष मिलता है जैसा एक कलाकार को अपनी कला को देखकर मिलता है। यदि प्रशासक द्वारा बनाए गए *नियम अथवा सिद्धान्त व्यवहार में उपयोगी और सफल सिद्ध होते हैं तो यह उसके लिए गौरव की बात होती है* और इससे उसे परम शान्ति तथा सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

(4) कला सिद्धान्त और व्यवहार के अन्तर्सम्बन्ध का बोध कराती है। कला में अमूर्त में मूर्त रूप की अभिव्यक्ति होती है। लोक प्रशासन भी अमूर्त सिद्धान्त और व्यवहार की सामाजिक दुनिया के बीच पाई जाने वाली स्थिति का अध्ययन है। वह व्यवहार के सिद्धान्त बनाता है और सिद्धान्त को व्यवहार में लागू करता है। यह मानव-जगत लोक प्रशासकों के लिए एक प्रयोगशाला है जहाँ मानव-व्यवहार और स्वभाव का अध्ययन करते हुए आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुकूल लोक प्रशासन द्वारा नियम अथवा सिद्धान्त बनाए जाते हैं और तब फिर उन नियमों अथवा सिद्धान्तों को सम्बन्धित मानव-समाज पर व्यवहार में लागू करने का प्रयत्न किया जाता है।

(5) प्रत्येक कला का अपना एक माध्यम अथवा एक साधन होता है। उदाहरणार्थ, चित्रकला का साधन रंग, संगीत का साधन स्वर, साहित्य के साधन शब्द तथा भाव हैं। प्रशासन रूपी कला के भी तीन मुख्य साधन हैं—सर्वप्रथम वह स्वयं को संगठन द्वारा व्यक्त करता है, तत्पश्चात् वह स्वयं को संगठन के उद्देश्यों द्वारा प्रकट करता है और फिर स्वयं को इन्हीं लोगों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश द्वारा स्वरूप प्रदान करता है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी-अपनी दृष्टि से संगीत, चित्रकला, शिल्पकला आदि की शैलियों और स्वरूपों में परस्पर भिन्नता होती है अथवा ये सब एक दूसरे से कम या अधिक पृथक् होते हैं, उसी प्रकार प्रशासन की शैलियों और स्वरूपों में भी सर्वत्र एकरूपता नहीं पाई जाती है। भिन्न-भिन्न मत-मतान्तर तथा विचारधाराएँ इस तथ्य को स्पष्ट करती हैं।

अतः प्रशासन को एक कला कहना न तो असंगति है और न ही अतिशयोक्ति। जब तक यह मानव-जीवन का एक क्षेत्र है, तब तक उसकी कलात्मकता किसी न किसी रूप में विद्यमान रहेगी। इस सम्बन्ध में विवाद यह हो सकता है कि यह कितने अंशों में कला है या कौनसी कला है, किन्तु उसके कला होने से नकारा नहीं जा सकता। अतः *आर्डवे टीड के अनुसार, "यदि मिट्टी अथवा रंगों से बनी कृति कलाकृति है, यदि स्वरों के आपसी*

संगुफन के उतार-चढ़ाव को संगीत कहते हैं, यदि शब्दों और भावों के संचयन का नाम साहित्य है— और ये सभी ललित कलाएँ हैं तो हमें उस श्रम को भी ललित कला की संज्ञा देने का पूर्ण अधिकार है जो व्यवस्था सम्बन्धी क्षेत्र को, सार्थक ढंग से, व्यक्तियों और अलग-अलग समूहों के निकट लाता है।"[1] इस प्रकार जो इस विषय को कला मानते हैं, उनका यह तर्क है कि प्रशासन का संचालन करना भी एक असामान्य गुण है। अतः सभी दृष्टियों से लोक प्रशासन को कला की संज्ञा दी जा सकती है।

लोक प्रशासन एक समाज विज्ञान के रूप में (Public Administration of A Social Science)

लोक प्रशासन एक कला होते हुए भी एक विज्ञान है। विज्ञान एक विशेष प्रकार का ज्ञान है जिसकी तकनीक भी विशेष हो सकती है। सभी ज्ञानों को तीन समूहों में बाँटा जा सकता है। पहला, पदार्थ का ज्ञान, जिसे पदार्थ विज्ञान (Natural Science) कहा जाता है। दूसरा, मानव जीवन का ज्ञान, जिसे मानविकी विज्ञान (Humanity Science) कहते हैं। तीसरा, सामाजिक ज्ञान जिसे समाज विज्ञान (Social Science) की संज्ञा दी जाती है। विज्ञान में मुख्य रूप से तीन विशेषताएँ होती हैं—(1) यह ज्ञान का एक व्यवस्थित भण्डार होता है, (2) उसके परिणाम अथवा निष्कर्ष सार्वदेशिक, सार्वकालिक एवं शाश्वत होते हैं, तथा (3) उसकी अध्ययन-विधि परिणामात्मक एवं निश्चयात्मक होती है। यह उल्लेखनीय है कि कोई भी विज्ञान अपनी पूर्णता में शत-प्रतिशत विज्ञान नहीं होता, किन्तु वह अपनी वैज्ञानिकता को निरन्तर प्रयोग द्वारा बढ़ा सकता है। सामान्यतः वैज्ञानिक निष्कर्षों में कुछ विशेषताएँ आवश्यक मानी जाती हैं, जैसे—सार्वभौमिकता, सार्वकालिकता, भविष्यवाणी करने की क्षमता, निश्चितता, प्रदर्शनशीलता, मूल-तटस्थता, सृजनशीलता और परिणामात्मकता। इस प्रकार के निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए विज्ञान जिस विश्लेषण-पद्धति का अनुसरण करता है उसे वैज्ञानिक पद्धति कहते हैं और इस वैज्ञानिक पद्धति में मुख्य चरण होते हैं—अवधारणा, निरीक्षण, वर्गीकरण, प्रयोग, सत्यापन, पुष्टिकरण, संग्रहीकरण आदि। इस तरह विज्ञान सार रूप में नवीनता की निरन्तरता के साथ तटस्थतापूर्वक की गई खोज है।

भौतिक विज्ञानों में शत-प्रतिशत वैज्ञानिक तथ्य प्राप्त किये जा सकते हैं, लेकिन समाज विज्ञानों में यह संभव नहीं है अतः कोई भी समाज विज्ञान उतना सुनिश्चित नहीं हो सकता जितना भौतिक विज्ञान। यथार्थता और पूर्वानुमान की क्षमता जितनी भौतिक विज्ञान में पाई जाती है उतनी समाज विज्ञान में नहीं। समाज विज्ञान को अपने तत्त्वों पर इतना अधिक नियन्त्रण प्राप्त नहीं होता कि वह उन्हें जिस प्रकार चाहे प्रयोग कर सके। राजनीति-विज्ञान में ऐसा कोई सुनिश्चित सिद्धान्त नहीं है जिसका अनुसरण कर निर्विवाद रूप से क्रान्तियों को टाला जा सके अथवा निर्वाचनों में बहुमत प्राप्त किया जा सके। लोक प्रशासन के पास भी ऐसे कोई पूर्ण निश्चित सिद्धान्त नहीं हैं जिनके द्वारा सदैव इच्छानुसार परिणाम निकाला जा सके। यही कारण है कि प्रकृतिक विज्ञानवेत्ता और उसके समर्थक लोक प्रशासन को अथवा अन्य सामाजिक अध्ययन को विज्ञान नहीं मानते हैं। इसके विपरीत सामाजिक अध्ययन को विज्ञान मानने वालों का तर्क है कि पूर्ण निश्चितता और यथार्थता विज्ञान की सही कसौटी नहीं है, बल्कि किसी भी अध्ययन की वैज्ञानिकता मूलतः इस बात पर निर्भर है कि वह अध्ययन में किस सीमा तक वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग कर सकता है। जिस किसी भी अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग सम्भव है, उसे विज्ञान कहा जाएगा। निश्चय ही वह भौतिक विज्ञान की भाँति सुनिश्चित विज्ञान न होकर समाज विज्ञान अथवा बहुत-कुछ अनिश्चित विज्ञान की श्रेणी में आएगा। समाज विज्ञानों की विषय-वस्तु मानव है और यद्यपि मानव-स्वभाव का विश्लेषण करना उतना सरल नहीं है जितना भौतिक पदार्थों का, तथापि मानव-स्वभाव के बारे में भी सामान्य रूप से कुछ सार्वजनिक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। यदि ऐसा न होता तो सामाजिक व्यवहार का वर्तमान समूचा आधार ही समाप्त हो जाता। आशय यह है कि मानव-स्वभाव का और इसी कारण प्रशासकीय व्यवहार का भी वैज्ञानिक रूप में वर्गीकरण तथा अध्ययन सम्भव है और उसके बारे में सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, चाहे वे भौतिक विज्ञान के सूत्रों की भाँति शत-प्रतिशत सही न हों, तथापि संभावनाओं के रूप में उनकी उपयोगिता से इंकार नहीं किया जा सकता है।

लोक प्रशासन को समाज-विज्ञान मानते समय यह प्रश्न उठता है कि निष्कर्ष एवं पद्धति की दृष्टि से यह कितने अंश तक विज्ञान है अथवा किस सीमा तक इसका स्वरूप वैज्ञानिक हो सकता है? एक समाज-विज्ञान होने के कारण यह तो मानकर चलना होगा कि यह भौतिकशास्त्र या रसायनशास्त्र नहीं बन सकता, किन्तु यह कहना भी सही नहीं है कि उसके निष्कर्ष और नियम उतने ही अराजकतावादी हैं जैसे—इतिहास की विफलता। लोक

1. *Ordway Tead*: Art of Public Administration.

प्रशासन के सभी विज्ञान इस दृष्टि से तीन विचार-वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। प्रथम, कुछ लोग यह मानते हैं कि लोक प्रशासन ठीक ऐसा ही विज्ञान है जैसे बहुत से प्राकृतिक विज्ञान हैं। मरसन, बर्नार्ड तथा बेयर्ड इस दृष्टिकोण के समर्थक हैं। द्वितीय, कुछ विद्वान जिनमें वाल्डो और दालास प्रमुख हैं, ये मानते हैं कि लोक प्रशासन कभी विज्ञान नहीं बन सकता, इस बारे में सारे प्रयास निरर्थक हैं। तृतीय, विचार-वर्ग में आज के अधिकतर लेखक आते हैं जिनकी मान्यता है कि हम विज्ञान नहीं हैं, लेकिन होकर रहेंगे और यह सम्भव है। उर्विक, टेलर, साइमन, पिफनर, रिग्स आदि लेखकों ने अपनी इस मान्यता के लिए केवल तर्क ही नहीं दिए हैं, अपितु अपनी वैज्ञानिक शोधों में लोक प्रशासन को पहले से अधिक वैज्ञानिक बनाते हुए अनेक सिद्धान्त, अवधारणाएँ तथा प्रस्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क दिये हैं—

(1) लोक प्रशासन प्राकृतिक विज्ञान के रूप में—पहला विचार-वर्ग यह मानता है कि विज्ञान एक सापेक्ष स्थिति है। जन्तु-विज्ञान और वनस्पति-विज्ञान रसायनशास्त्र कभी नहीं बन सकते, किन्तु तुलना के आधार पर वनस्पति-विज्ञान को नकारना न उचित है और न ही सम्भव है। लोक प्रशासन की भी ऐसी ही सापेक्ष स्थिति है। इसके अपने सिद्धान्त हैं, सैद्धान्तिक वैज्ञानिक प्रणाली है। विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग हो रहे हैं। यह एक निरीक्षणात्मक सामाजिक विज्ञान है। प्रसिद्ध विद्वान बेयर्ड के अनुसार, यह इस प्रकार के अनुभूत नियमों को संग्रहीत कर चुका है जो व्यवहार में सही हैं और भविष्यवाणी की क्षमता रखते हैं। इस विचार-वर्ग का तर्क है कि हम एक अर्द्धविकसित विज्ञान हैं। वैज्ञानिक अवधारणा लोक प्रशासन में तेजी से प्रविष्ट हो रही है। 'है' और 'चाहिए' दोनों की ही दृष्टि से लोक प्रशासन में आशातीत प्रगति हुई है। परिणामस्वरूप यह वैज्ञानिक स्वरूप प्राप्त करता जा रहा है।

(2) लोक प्रशासन विज्ञान नहीं—लोक प्रशासन को विज्ञान न मानने वाला दूसरा विचार-वर्ग अधिकतर वही तर्क देता है जो कभी समाज-विज्ञानों के विरुद्ध दिए जाते रहे हैं। इन लेखकों का कहना है कि—(1) लोक प्रशासन का क्षेत्र इतनी विविधताएँ लिए हुए है कि वैज्ञानिक पद्धतियाँ इसमें प्रयुक्त ही नहीं हो सकतीं। (2) यदि लोक प्रशासन ने कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रतिपादित कर भी लिए हों तो न उन पर सहमति हो सकेगी और न ही वे प्रयोग में आ सकेंगे। (3) लोक प्रशासन अपने आपको मूल्यों से कभी स्वतन्त्र नहीं कर सकेगा और 'चाहिए विज्ञान' अपने आप में अन्तर्विरोध है। (4) जैसे-जैसे लोक प्रशासन विकसित होगा सामाजिकता के अबौद्धिक आवरण उसे वैज्ञानिकता की दुनिया से उतनी ही दूर ले जाएँगे। कुल मिलाकर इन लोगों का तर्क है कि लोक प्रशासन के निष्कर्ष अवैज्ञानिक हैं और इसकी पद्धति में भी वैज्ञानिकता नहीं है।

(3) लोक प्रशासन में विज्ञान बनने की क्षमता—जो लोग तीसरे-वर्ग में आते हैं वे आशावादी, कर्मठ एवं उद्यमशील समाज-वैज्ञानिक हैं। इन लोगों का कहना है कि हम निकट भविष्य में विज्ञान इसलिए बनने जा रहे हैं कि लोक प्रशासन के पास आज अध्ययन के नए यन्त्र आते जा रहे हैं जिससे हमारी परीक्षण विधियाँ अधिक प्रभावी बन सकेंगी। लोक प्रशासन में पिछले वर्षों में जो शोधकार्य हुआ है उसने इसे अध्ययन के नए यन्त्र प्रदान किए हैं। यदि आज के उपलब्ध लोक प्रशासन के साहित्य की तुलना उन शोध-निष्कर्षों से करें जो ड्वाइट वाल्डो और विलोबी के आरम्भिक ग्रन्थों में प्रतिपादित किए गए हैं तो मालूम होगा कि वैज्ञानिकता की दिशा में हम काफी बढ़ चुके हैं। हरबर्ट साइमन की पुस्तक 'Administration Behaviour और Models of Men' ऐसे शोध ग्रन्थ हैं जिनमें लोक प्रशासन की वैज्ञानिक अध्ययन-विधि और वैज्ञानिक निष्कर्ष स्पष्टता एवं निश्चितता से निखरे हैं। प्राकृतिक विज्ञानों की दुनिया में ज्ञान और शोध की जो अन्तर्निर्भरता बहुत पहले से चली आ रही है आज सामाजिक विज्ञानों में भी पैदा होने लगी है। समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त आज लोक प्रशासन के परिणामों और प्रयोगों में सहायक सिद्ध हो रहे हैं। जैसे-जैसे यह बहुअनुशासनिक दृष्टिकोण (Multi-disciplinary Approach) विकसित होता है, लोक प्रशासन के ज्ञान की गहनता, विश्वसनीयता एवं मौलिकता बढ़ती है। यह मान्यता तर्कसंगत प्रतीत होती है कि समाजशास्त्र से अपनी वैज्ञानिक प्रणाली उधार लेकर लोक प्रशासन अधिक शीघ्र अपनी वैज्ञानिकता का विकास कर सकेगा।

सभी विज्ञान विकास की प्रणाली से ज्ञान-संचय करते हुए अपनी आज की वैज्ञानिकता के स्तर पर आए हैं। अभी हाल के प्रयोग, परीक्षण एवं नवीनताओं ने लोक प्रशासन के अध्ययन को अभूतपूर्व ढंग से प्रगतिशील बनाया है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक सिद्धान्तशास्त्रियों की भाँति आज लोक प्रशासन-शास्त्रियों का दल आगे आ रहा है। शोध के लिए नए-नए मॉडल आविष्कृत किए जा रहे हैं और गणितीय पद्धति से परिमाणात्मक अध्ययन बहुत आगे बढ़े हैं। Field Research के क्षेत्र में 'माइक्रो' और 'मैक्रो' अध्ययन विकसित हुए हैं और प्रबन्ध तकनीक (Management Technique) की दिशा में *Work Study, Methods Study, PERT, Systems*

Analysis, Linear Programming आदि विस्मयकारी वैज्ञानिक तकनीक प्रकाश में आई हैं जिनके कम्प्यूटरी प्रयोग से अंकगणित और बीज-गणित जैसे समीकरण बनने लगे हैं। आज का लोक प्रशासन विशेषज्ञ डॉक्टर अथवा इन्जीनियर की तरह एक सलाहकार बन चुका है। गत कुछ दशाब्दियों की लोक प्रशासन की प्रगति और उसके अध्ययन की दिशा इतनी उत्साहवर्धक है कि तकनीक और अध्ययन-विधियों की दृष्टि से लोक प्रशासन अन्य सामाजिक विज्ञानों के समकक्ष आ चुका है और शायद शीघ्र ही आगे निकल जाएगा। अध्ययन-विधि की वैज्ञानिकता निष्कर्षों को अपने पास ही अधिक वैज्ञानिक बनाती है और इस तरह भविष्य में वह दिन समीप लगता है जब लोक प्रशासन के क्षेत्र में साइमन, रिग्स, वीडनर, ला पम्बोर, सायर्स आदि के अनुयायी अपनी इन खोजों को आगे बढ़ाते हुए लोक प्रशासन को एक अविकृत विज्ञान का स्तर दिला सकें और सामाजिक ज्ञान होते हुए भी लोक प्रशासन प्राकृतिक विज्ञानों जैसा लगने लगे। लोक प्रशासन की वैज्ञानिकता ने इस विषय के अध्ययन के प्रति जन-साधारण में आकर्षण भी उत्पन्न किया है। अब यह विषय अधिक लोकप्रिय बनता जा रहा है।

लोक प्रशासन की प्रकृति पर दो दृष्टिकोण : एकीकृत तथा प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण
(The Two Views on the Nature of Public Administration : Integral View and Managerial View)

लोक प्रशासन की प्रकृति के बारे में मुख्यतः आज दो दृष्टिकोण उभर कर सामने आये हैं—

(1) एकीकृत दृष्टिकोण (Integral View)— इस दृष्टिकोण के अनुसार लोक प्रशासन, निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सम्पादित की जाने वाली क्रियाओं का योग है। इन क्रियाओं अथवा कार्यकलापों में न केवल प्रबन्धकीय और तकनीकी वरन् शारीरिक एवं लिपिकीय कार्य भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार एक उद्यम विशेष में कार्यरत सन्देशवाहक, चौकीदार, फोरमैन, सफाई कर्मचारी से लेकर सचालकों और प्रबन्धकों तक के कार्य मिलकर प्रशासन का रूप धारण करते हैं। यदि प्रशासन के एकीकृत दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं तो स्पष्ट है कि किसी भी उद्यम में लगे हुए छोटे से लेकर उच्च अधिकारी तक के कार्यों को प्रशासन का ही एक भाग मानना होगा। एल. डी. व्हाइट प्रशासन के इस दृष्टिकोण के प्रमुख समर्थक हैं। उनके मतानुसार, "लोक प्रशासन का सम्बन्ध उन सभी कार्यों से है जिनका प्रयोजन सार्वजनिक नीति को पूरा करना अथवा उसे लागू करना होता है। इस परिभाषा में बहुत से क्षेत्रों की विशेष क्रियाएँ समाविष्ट हो जाती हैं, जैसे—पत्र वितरण, सार्वजनिक भूमि का विक्रय, कोई सन्धि-वार्ता, घायल कर्मचारी को क्षतिपूर्ति देना, संक्रामक रोग से बीमार बच्चे को अन्य लोगों के सम्पर्क से बचाना, जनोद्यान से कूड़ा-करकट हटाना, प्लूटोनियम का निर्माण तथा अणुशक्ति के प्रयोग का अनुज्ञापन।"[1] इसी प्रकार डिमॉक का मत है कि प्रशासन सरकार के 'क्या' तथा 'कैसे' से सम्बन्धित है। 'क्या' विषय-सामग्री है अर्थात् क्षेत्र का वह तकनीकी ज्ञान है जिससे कोई प्रशासन स्व-कार्य को करने योग्य बनता है। 'कैसे' प्रबन्ध-तकनीक है, जिसमें वे सिद्धान्त सम्मिलित हैं जिनके अनुसार सरकारी कार्यक्रम सफल होते हैं।

(2) प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण (Managerial View)—साइमन, स्मिथबर्ग तथा थॉम्पसन इस दृष्टिकोण के समर्थक या मुख्य प्रतिपादक रहे हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार केवल उन्हीं व्यक्तियों के कार्य को प्रशासन माना जाता है जो संगठन में प्रबन्धकीय कार्य करने तथा प्रशासन को कुशलतापूर्वक चलाने का उत्तरदायित्व होता है। प्रबन्धात्मक कार्य का लक्ष्य उद्यम की सभी सक्रियाओं का एकीकरण, नियन्त्रण और समन्वय करना होता है जिससे सभी क्रियाकलाप एक समन्वित प्रयत्न जैसे दिखाई पड़ते हैं। साइमन और उनके सहयोगियों के अनुसार, "प्रशासन शब्द संकुचित अर्थों में आचरण के उन आदर्शों को प्रकट करने के लिए प्रयोग किया जाता है जो विभिन्न प्रकार के सहयोगी समूहों में समान रूप से पाए जाते हैं और जो न तो उस लक्ष्य विशेष पर ही आधारित होते हैं जिसकी प्राप्ति के लिए वे सहयोग कर रहे हैं और न ही उन विशेष औद्योगिक रीतियों पर ही आश्रित हैं जो उन लक्ष्यों के लिए प्रयोग की जाती हैं।"[2] लूथर गुलिक के अनुसार "प्रशासन का काम कार्य करवाना है और निर्धारित उद्देश्यों को पूरा करवाना है।"[3]

प्रशासन के सम्बन्ध में दोनों दृष्टिकोणों को एकांगी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि दोनों में पर्याप्त अन्तर है। इस अन्तर को इस रूप में रखा जा सकता है—(1) एकीकृत दृष्टिकोण में उन सभी

1. *White* : Op. cit., p. 1.
2. *Simon and Others* : Op. cit., p. 4
3. *Gulick, Luther* : Papers on the Science of Public Administration, New York, Institute of Public Administration, p. 191.

लोगों के कार्यकलाप सम्मिलित हैं जो प्रशासन में लगे हुए हैं जबकि प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण शीर्ष पर चन्द व्यक्तियों के कार्यकलापों तक सीमित है। (2) इसी प्रकार जहाँ एकीकृत दृष्टिकोण के अनुसार प्रशासन में शारीरिक कार्यकलापों से लेकर प्रबन्धकीय कार्यकलाप और गैर-तकनीकी कार्यकलापों से लेकर तकनीकी कार्यकलाप सम्मिलित हैं वहाँ प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण संगठन के प्रबन्धकीय कार्यों को ही दृष्टि में रखता है। (3) एकीकृत दृष्टिकोण के अनुसार प्रशासन एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न होता है और विषय-सामग्री पर निर्भर करता है जबकि प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण के अनुसार ऐसा नहीं है क्योंकि यह दृष्टिकोण प्रशासन के सभी क्षेत्रों की सामूहिक प्रबन्धकीय तकनीकों को ध्यान में रखता है। लूथर गुलिक ने इन तकनीकों को 'POSDCORB' के रूप में परिभाषित किया है।

वास्तव में दोनों ही दृष्टिकोण अपने एकांगी रूप में सही नहीं हैं। उदाहरणार्थ, यदि प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि उच्च पदाधिकारी ही प्रशासन के यन्त्र रह सकेंगे और प्रशासन में निचले स्तर के कर्मचारियों, जैसे—अध्यापकों, लिपिकों, चपरासियों आदि का स्थान नहीं होगा। यह दृष्टिकोण उचित नहीं है क्योंकि प्रशासन में सभी के कार्यों का समावेश होना चाहिए और व्यवहार में भी प्रत्येक प्रशासकीय संगठन में दोनों ही प्रकार के व्यक्ति होते हैं—वे जिनका सम्बन्ध व्यवस्था से है तथा वे जिनका सम्बन्ध कार्यों को सम्पन्न करने से है। हम लोक प्रशासन को निश्चित सीमाओं में बाँधकर नहीं चल सकते-विशेषकर उस स्थिति में जबकि आज सामान्य प्रशासकों और विशेषज्ञों के बीच तनाव का वातावरण विद्यमान है। डिमॉक एवं डिमॉक तथा कोइनिंग का यह निष्कर्ष सर्वथा उचित है कि "अध्ययन-विषय के रूप में प्रशासन उन सरकारी प्रयत्नों के प्रत्येक पहलू की परीक्षा करता है जो कानून एवं लोक-नीति को लागू करने के लिए किए जाते हैं। एक प्रक्रिया के रूप में इसमें वे सभी प्रयत्न सम्मिलित हैं जो किसी संस्थान में अधिकार-क्षेत्र प्राप्त करने से लेकर अपनी अन्तिम ईंट रखने तक उठाए जाते हैं। एक व्यवसाय के रूप में प्रशासन किसी भी सार्वजनिक संस्थान के क्रियाकलापों का संगठन एवं संचालन करता है।"[1] इस प्रकार लोक प्रशासन की प्रकृति के उपर्युक्त दोनों ही दृष्टिकोणों का एकाकी अध्ययन संभव नहीं है। ये एक दूसरे के पूरक हैं और इन्हें ऐसा मानकर ही इनका उपयोग करते हुए लोक प्रशासन का सटीक अध्ययन किया जाना चाहिए।

लोक प्रशासन का महत्त्व
(Importance of Public Administration)

वर्तमान में लोक प्रशासन व्यावहारिक रूप से हमारे समस्त जीवन और कार्यों पर छा चुका है। यह हमारी सभ्यता का मूल आधार बन गया है। लोक प्रशासन आधुनिक सभ्य समाज का एक अनिवार्य अंग है। इसमें राज्य के उस स्वरूप ने जन्म लिया है जिसको हम 'प्रशासकीय राज्य' की संज्ञा देते हैं। यह ठीक ही कहा गया है कि "आधुनिक औद्योगिक एवं नगरीय सभ्यता की जटिलताओं ने राज्य के कार्यों में कल्पनातीत वृद्धि कर दी है एवं आज हम एक ऐसी अवस्था में पहुँच गए हैं जहाँ समाज के लगभग सम्पूर्ण जीवन का प्रबन्ध राज्य के हाथों में आ गया है। समाज का हित अधिकाधिक मात्रा में शासन-प्रबन्ध की कुशलता पर निर्भर होता जा रहा है और अब वह व्यक्तियों के अलग-अलग कार्यों पर निर्भर नहीं रहा है। यह शासन-प्रबन्ध ही लोक प्रशासन है। यदि लोक प्रशासन असफल हो जाए तो आधुनिक समाज और सभ्यता का समूचा महल बालू की भाँति ढह जाएगा।" चार्ल्स ए. बेयर्ड ने ठीक ही लिखा है—*"प्रशासन के विषय से अधिक महत्वपूर्ण अन्य कोई विषय नहीं होता।* सभ्य शासन तथा मेरे विचार से स्वयं सभ्यता का भविष्य भी, हमारी इस क्षमता पर निर्भर करता है कि हम एक सभ्य समाज के कार्यों की पूर्ति के लिए एक कुशल प्रशासकीय दर्शन, विज्ञान और व्यवहार का विकास कर सकें।" प्रो. डानहम ने तो यहाँ तक कहा है—"यदि हमारी सभ्यता असफल हुई तो उसके लिए प्रशासन की असफलता प्रमुख रूप से उत्तरदायी ठहराई जायेगी।" अतः इस विषय का अध्ययन करना सभी पक्षों के लिए अनिवार्य आवश्यकता बन गयी है। अर्थात लोक प्रशासन के बिना किसी सभ्य आधुनिक राज्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। यह राज्य की सभी गतिविधियों का प्रमुख 'केन्द्र' बन गया है।

राज्य के कार्यों की जटिलता ने ही प्रशासकीय विज्ञान को जन्म दिया है। राज्य के कार्य-क्षेत्र के अनुरूप प्रशासकीय विज्ञान ने राज्य को समाज सेवा का उचित मार्ग दिखलाया है। समय-समय पर राज्य अपनी

1. *Dimock & Dimock and Koening : Op. cit., p. 12.*

समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्न में विभिन्न प्रयोग करता रहा. ये प्रयोग प्रायः अनजाने में ही प्रशासकीय विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्त बन गए और जब जिस तरह से राज्य के विभिन्न अंग—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका आदि की विवेचना होती है उसी तरह से प्रशासकीय भाग की भी विवेचना होती है। प्रशासन भी राज्य के स्वरूप के विशिष्ट भाग के रूप में स्वीकृत है। यह प्रशासकीय विज्ञान की मान्यता का ही परिणाम है कि प्रशासन के कार्य में संलग्न व्यक्तियों को योग्यता के अनुसार चुना जाता है।

आज लोक प्रशासन ने व्यक्ति और समाज के सम्पूर्ण जीवन को आच्छादित कर लिया है। एक विद्वान लेखक के अनुसार, आधुनिक समाज में पालने से लेकर चिता तक जीवन के प्रत्येक मोड़ पर व्यक्ति लोक प्रशासन से संबंधित रहता है। सत्य तो यह है कि गर्भवती महिलाओं की सुश्रुषा की व्यवस्था करके लोक प्रशासन व्यक्ति के जन्म से पहले से ही उसमें रुचि लेने लगता है तथा उसकी मृत्यु के बाद तक उसमें रुचि लेता रहता है—जैसे, वह उसकी मृत्यु का सरकारी अभिलेख में उल्लेख करता है, उसके इच्छा-पत्र को प्रमाणित करता है तथा विशेष परिस्थितियों में उसकी सम्पत्ति और उसके अवयस्क बच्चों की देख-रेख भी करता है। जन्म होते ही उसका उल्लेख सरकारी अभिलेख में कर दिया जाता है, प्रसव तथा बाल कल्याण केन्द्र में बच्चे के जीवन के प्रारम्भिक कुछ सप्ताहों तक उसकी माँ तथा उसके स्वयं के जीवन की देख-भाल रखी जाती है तथा उसके बाद टीका लगाने वाला सरकारी कर्मचारी उसके टीका लगाता है। जब बालक कुछ वर्ष का होता है तो वह शिक्षा प्राप्त करने के लिए राज्य द्वारा संचालित विद्यालय में जाता है। शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् वह अपना जीवन-व्यवसाय आरम्भ करता है। बहुत से लोगों को लोक सेवाओं में रोजगार प्राप्त होने की सम्भावना रहती है तथा अन्य लोग व्यापार, उद्योग अथवा अन्य किसी व्यवसाय का आश्रय लेते हैं, इन सब व्यवसायों पर राज्य किसी न किसी रूप में नियन्त्रण करता है। हमारे भोजन और जल की शुद्धता, हमारे चारों ओर की स्वच्छता, हमारी सड़कों की अच्छी दशा, गैस व बिजली आदि की व्यवस्था का दायित्व स्थानीय अधिकारियों पर रहता है। करदाता की हैसियत से तथा लोक प्रशासन द्वारा जुटाई जाने वाली अनेक वस्तुओं और सेवाओं के उपभोक्ता के रूप में हम में से प्रत्येक व्यक्ति उससे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। जब हमारे ऊपर बेरोजगारी, अभाव, प्राकृतिक संकट, महामारी तथा युद्ध आदि का प्रकोप होता है तो हम लोक प्रशासन से सहायता की अपेक्षा करते हैं। वास्तव में यह कल्पना नहीं की जा सकती कि यदि लोक प्रशासन से प्राप्त सुविधाएँ और संरक्षण समाप्त हो जाएँ तो हमारी और हमारे जीवन की क्या स्थिति हो ? इतना तो निश्चित है कि वह सभ्य जीवन की अवस्था कभी नहीं होगी। वस्तुतः मानव जीवन के सफल संचालन के लिए लोक प्रशासन एक महती आवश्यकता बन गया है।

राज्य के कार्यों को चलाने का भार प्रशासकों पर है। प्रशासक राज्य के विविध कार्यों को तभी सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकते हैं जबकि उन्हें प्रशासन का समुचित ज्ञान हो। लोक प्रशासन उन्हें यह ज्ञान प्रदान करता है। लोक प्रशासन के गम्भीर अध्ययन से वह सीख पाते हैं कि प्रशासनिक कठिनाइयों का सामना कैसे किया जाए, प्रशासनिक नीतियों में समन्वय कैसे बैठाया जाए, कर्मचारियों को अनुशासन में कैसे रखा जाए, संचार-साधनों को प्रभावशाली कैसे बनाया जाए आदि। लोक प्रशासन प्रशासकों को नेतृत्व करना सिखाता है। यह प्रशासकों और कर्मचारियों के बीच मानवीय सम्बन्धों की स्थापना का पाठ पढ़ाता है। यह प्रशासकों को प्रशासनिक सिद्धान्तों का ज्ञान देता है अतः वे कुशल प्रशासक बन पाते हैं। लोक-कल्याणकारी राज्य में प्रशासकों का योग्य और कुशल होना अत्यावश्यक है। प्रशासकों को लोक प्रशासन का ज्ञान प्रदान करने के लिए उन्हें उनकी सेवा-काल में सतत रूप से प्रशिक्षण दिये जाने की व्यवस्था की जाती है। उनके लिए समय-समय पर अभिनवन या 'रिफ्रेशर कोर्स' भी आयोजित किये जाते हैं।

यह मानकर कि प्रशासन नीति का अनुगामी होता है, इसके वर्तमान महत्त्व का हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। नीति केवल साधारण नियमों की रूप-रेखा प्रस्तुत करती है, किन्तु लोक प्रशासन सामाजिक आवश्यकता और आर्थिक बदल की दृष्टि से ऐसे निर्णय लेता है जिससे नीति को व्यावहारिकता प्राप्त होती है, उसमें बदलती हुई परिस्थितियों, उपकरणों आदि के अन्तरों को प्रशासन अपने कौशल से सम्भालता चलता है, यदि वे ऐसा न करें तब या तो नीतियाँ असफल होंगी अथवा प्रत्येक समस्या के लिए नीति निर्धारण के स्तर पर लौटकर पुनः विवेचना करना आवश्यक होगा—ऐसा करने से समय, धन तथा श्रम का अपव्यय ही अधिक होगा। अपने इस स्वरूप के लिए प्रशासन में योग्य निर्देशन को महत्वपूर्ण माना गया है। प्रशासन समाज से सीधा संबंध रखता है। समाज परिवर्तनशील है, इसलिए प्रशासन में भी इतना लचीलापन होना चाहिए कि वह समय के अनुरूप चल सके, समय के अनुरूप सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की दृष्टि से लोक प्रशासन को ढालते रहना चाहिए, क्योंकि

राज्य के अन्य अंगों से जनता से इस प्रकार का दैनिक संबंध नहीं है । व्यवस्थापिका में जनता के प्रतिनिधियों के रहने के बाद भी यह कार्य इसके लिए आसान नहीं रहता है क्योंकि उन्हें प्रशासकीय तकनीक की जानकारी उचित रूप से नहीं रहती, इसलिए प्रशासन स्वयं जनता की अभिरुचि और उसके होने वाले परिवर्तनों और आवश्यकताओं का मूल्यांकन करता है । अपने कार्यों के प्रति जनता की क्या प्रतिक्रिया है इसे जानने के लिए वे विशेष प्रयत्नशील रहते हैं ।[1] जनतान्त्रिक उद्देश्यों को जनता तक पहुँचाने का उत्तरदायित्व प्रमुख रूप से प्रशासन का ही होता है । राज्य का जनतान्त्रिक स्वरूप राज्य की नीतियों में परिलक्षित अवश्य होता है, किन्तु वास्तविक जनतान्त्रिक उपलब्धि प्रशासन के द्वारा होती है । प्रशासक राजनीतिक नेतृत्व द्वारा बनाई जाने वाली नीतियों को सफलतापूर्वक क्रियान्वित करके ही जन-विश्वास अर्जित कर सकते हैं ।

लोक प्रशासन सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक स्थिरता बनाए रखने में भारी योग देता है । आज के युग में भोजन, जल, प्रकाश, वस्त्र, निवास जैसी प्राथमिक आवश्यकताओं की व्यवस्था कुशलतापूर्वक तभी सम्भव है जबकि लोक प्रशासन सचेत और दायित्वपूर्ण रहे । लोग आज जीवन के सभी क्षेत्रों में लोक प्रशासन की सहायता के प्रबल आकांक्षी हैं । इस प्रकार यह आज के युग की सामाजिक व्यवस्था का अंतरंग भाग बन चुका है । समाज को स्थिरता और दृढ़ता प्रदान करने वाली यह एक प्रमुख शक्ति है । सामाजिक जीवन में परिवर्तनों और उथल-पुथल का चक्र चलता रहता है । क्रान्तियों आदि के कारण सामाजिक व्यवस्था में उथल-पुथल होती रहती है । सरकारें आए दिन बदलती रहती हैं, लेकिन इन सब परिस्थितियों में शासन का ढाँचा समाज को स्थिरता प्रदान करता है । लोक प्रशासन पुरातन और नवीन के बीच समुचित समन्वय स्थापित करता है । इस प्रकार यह समाज को बिखरने से बचाता है । लोक प्रशासन सामाजिक व्यवस्था और स्थिरता लाकर सामाजिक प्रगति के लिए सुदृढ़ आधारभूमि तैयार करता है । यह सामाजिक प्रगति के स्वस्थ कारकों को प्रोत्साहन देता है । लोक प्रशासन की कुशलता के फलस्वरूप आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में उन्नति के नित्य नए द्वार खुलते रहते हैं, बाधाओं का निराकरण होता रहता है । इसमें संदेह नहीं है कि एक कुशल और स्वस्थ लोक प्रशासन सामाजिक प्रगति का मापदण्ड है ।

लोक प्रशासन स्वस्थ सामाजिक परिवर्तनों को प्रेरणा देता है । सर जोशिया स्टेम्प के अनुसार, प्रशासकीय कर्मचारी समाज को प्रेरणा देने वाले स्रोत हैं । वे हर स्तर पर उसका मार्गदर्शन करते हैं, उसे प्रोत्साहन और परामर्श देते हैं । किसी भी सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन की गति और दिशा इस बात पर निर्भर करती है कि लोक सेवा का स्तर कैसा है और लोक सेवक किस तत्परता से अपना दायित्व निर्वाह करते हैं । लोक प्रशासन का सम्बन्ध विभिन्न कार्यों और समस्याओं को हल करने से है ताकि निर्धारित लक्ष्य पूरे हो सकें । समस्याओं के समाधान में जागरुक रहने के फलस्वरूप ही लोक प्रशासन अपने महत्त्व को बनाए रखता है । क्या हम इस दृष्टि से लोक प्रशासन के ऋणी नहीं हैं कि यह बेरोजगारी के निदान और न्यायिक समस्याओं के समाधान के प्रति सदैव उत्सुक रहता है । राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान की अहम भूमिका का निर्वाह लोक सेवक तत्परता से अपना दायित्व निर्वाह करते हुए करते हैं । सरकार, चाहे उसका राजनीतिक स्वरूप कुछ भी हो, सदैव परिवर्तनशील है । इसके विपरीत लोक सेवक अर्थात् लोक प्रशासन के कर्मचारी स्थायी संगठन के अंग होते हैं अत: सरकार की परिवर्तनशीलता से उत्पन्न कु-प्रभावों से वे प्रशासन में अव्यवस्था नहीं आने देते । वे न केवल सेवा के लक्ष्य को पूरा करते हैं बल्कि वास्तविक सेवा कार्यों को सम्पन्न करते हैं । लोक प्रशासन का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि यह अधिकारों और प्रभुता के बीच समन्वयकारी शक्ति है । राज्य की प्रकृति अपनी सत्ता को अधिकाधिक बढ़ाने की ओर उन्मुख होती है । लोकतान्त्रिक मान्यताओं ने राज्य की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है, लेकिन राज्य की असीमित शक्ति नागरिकों के लिए जबरदस्त संकट भी बन सकती है । लोक प्रशासन प्रभुसत्ता के निरंकुश सिद्धान्त और नागरिक अधिकारों के बीच उचित समायोजन करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है । वह पारस्परिक विरोधों को कम करके सहयोग के तत्त्वों को प्रोत्साहित करता है । लोक प्रशासन का अध्ययन छात्रों के लिए तो बहुत ही उपयोगी है । छात्र ही देश के भावी नागरिक एवं प्रशासक हैं । लोक प्रशासन का अध्ययन उन्हें सैद्धान्तिक ज्ञान प्रदान करता है जिसका व्यवहार में उपयोग वे भविष्य में कर सकते हैं । इसके अध्ययन से छात्रों में उन गुणों को सीखने की प्रेरणा जाग्रत होती है जो प्रशासकों द्वारा समाज सेवा के लिए आवश्यकताएँ हैं । आधुनिक युग 'समग्र युद्ध' का युग भी है । अत: देश की प्रतिरक्षा के लिए देश की सम्पूर्ण जनशक्ति और उसके समस्त साधनों का

1. *F M Marx* (Ed), Elements of Public Administration, p 72.

संगठन-नियमन आवश्यक होता है। इस गुरुतर कार्य का दायित्व भी लोक प्रशासन के कंधों पर है। शान्तिकाल में जो कार्यक्षेत्र निजी उपक्रम और प्रबन्ध के लिए छोड़ दिए जाते हैं, युद्धकाल में उन्हीं में से अनेक को लोक-प्रशासन के अधीन कर दिया जाता है। द्वितीय महायुद्ध के समय यह भार प्रशासन पर छोड़ दिया गया था कि वह वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन, वितरण और उपभोग तथा व्यापार एवं विनियोग के सामान्य कार्यों पर विभिन्न प्रकार के आवश्यक नियन्त्रण तथा परमिट व कोटा के नियम लागू करे। यह सर्व विदित है कि भारत-पाक और भारत-चीन युद्ध के समय लोक प्रशासन ने अपनी महती भूमिका का निर्वाह किया था।

संस्कृति एवं प्रशासन के पारस्परिक सम्बन्ध को मान्यता देते हुए वाल्डो ने लिखा है—"प्रशासन को एक ऐसे महत्त्वपूर्ण आविष्कार अथवा उपाय के रूप में निर्धारित किया जा सकता है जिसके माध्यम से विषम समाजों में सभ्य मनुष्य अपनी संस्कृति को नियन्त्रित करने का प्रयास करता है।" कुछ अमेरिकी विद्वानों के मतानुसार, उनका समाज आज प्रबन्धकीय क्रान्ति के दौर से गुजर रहा है। जेम्स बर्नहम के मतानुसार, उदीयमान समाज का मुख्य गुण उसका प्रबन्धकीय स्वभाव है और प्रबन्धकों ने आधुनिक समाज पर एक प्रकार से अपना अधिकार अथवा नियन्त्रण स्थापित कर लिया है। एक अमेरिकी सीनेटर राल्फ फ्लैण्डर्स ने तो यहाँ तक कह दिया है कि आधुनिक आर्थिक प्रणाली को 'पूँजीवाद' के स्थान पर 'प्रबन्धवाद' (Managerism) कहना अधिक उपयुक्त होगा। आज यह लगभग सर्वमान्य मत है कि आधुनिक समाज में लोक प्रशासन की भूमिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। हेनरी फेयोल का मत है कि प्रशासकीय प्रक्रिया सर्वत्र पाई जाती है और सभी व्यवसायों में उसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है, अतः प्रशासन के वैज्ञानिक अध्ययन की अत्यधिक आवश्यकता है। पाल पिगोरस के मतानुसार, प्रशासन का मुख्य काम समाज में यथास्थिति बनाए रखना है जबकि इससे सर्वथा भिन्न ब्रुक्स एडम्स का विश्वास है कि प्रशासन का महत्त्व इसलिए है क्योंकि उसके माध्यम से सामाजिक परिवर्तन को सुगम बनाया जा सकता है। जहाँ जेम्स बर्नहम का मत है कि प्रशासकों अथवा प्रबन्धकों के हाथों में आज इतनी अधिक शक्ति आ गई है कि हमें उसके लिए 'प्रबन्धकीय क्रान्ति' की संज्ञा देना उपयुक्त लगता है वहाँ चार्ल्स ई. मेरियम ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि प्रशासन को मानवीय प्रविधि के विकास की अभिव्यक्ति माना जाना चाहिए जिसके द्वारा मनुष्य ने जटिल वातावरण के साथ अपना स्वस्थ अनुकूलन स्थापित किया है।

लोक प्रशासन केवल वर्तमान सभ्य जीवन का संरक्षक ही नहीं है बल्कि वह भावी सामाजिक परिवर्तन और सुधार-संशोधन का एक शक्तिशाली अस्त्र भी है। लोक प्रशासन एक ऐसी गत्यात्मक शक्ति है जो जन-इच्छा का अनुसरण करने के साथ ही साथ उसका मार्गदर्शन भी करती है। इससे राजनीतिक व्यवस्था को नई ऊर्जा प्राप्त होती है। लोक प्रशासन को आधुनिक सभ्यता का 'हृदयस्थल' माना जाता है। इसे आधुनिक सभ्यता की स्थायी शक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है। अगर लोक प्रशासन असफल रहे तो आधुनिक सभ्यता का ढाँचा ही बिखर जायेगा। अस्तु, सभी प्रकार की समाज-व्यवस्थाओं में लोक प्रशासन का महत्त्व निर्विवाद है। विश्व के प्रायः सभी देशों को आतंकवाद की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। फलतः इस दुर्दान्त समस्या का सामना एक सशक्त और सुदृढ़ लोक प्रशासन के द्वारा ही किया जा सकता है। साथ ही इस समस्या का सामना करने के लिए दृढ़ इच्छा-शक्ति की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार लोक प्रशासन आज सभ्य जीवन का रक्षक है, सामाजिक परिवर्तन और सुधार का महान् साधन है। यह सांस्कृतिक संयोग का एक भाग है और यह एक गत्यात्मक शक्ति है जो जीवन के आधुनिकीकरण, श्रेष्ठतर जीवनयापन और अधिक समृद्धिपूर्ण समाज की ओर ले जाने वाली है। लोक प्रशासन समाज की वह स्थायी शक्ति है जो प्राचीन और आधुनिक युग के बीच कड़ी का काम करते हुए व्यक्ति और समाज को भौतिक तथा वैज्ञानिक प्रगति की ओर उन्मुख करने का दायित्व सम्भाले हुई है। एक विकासशील देश में यह स्थायित्व, सामाजिक परिवर्तन और आर्थिक विकास का महान् साधन है। लोक प्रशासन की कार्यकुशलता पर आर्थिक नियोजन और इसके फलस्वरूप देश की भौतिक सुख-समृद्धि की सार्थकता निर्भर है। हर प्रकार की योजनाओं की सफलता के लिए एक स्वच्छ, कुशल और निष्पक्ष प्रशासन अत्यावश्यक है। किसी भी आधुनिक राज्य में लोक प्रशासन के महान् दायित्व हैं। वह बाह्य आक्रमणों से राज्य की रक्षा करता है। आन्तरिक अशान्ति और उपद्रवों को रोकता है तथा राज्य में शान्ति स्थापित करने के लिए न्यायिक व्यवस्था की स्थापना करता है। औद्योगीकरण और पुनर्जागृति के समुचित लाभ जनता को तभी मिल सकते हैं जब लोक प्रशासन सक्रिय, प्रभावी, अनुशासित, स्वच्छ, पारदर्शी और गतिशील हो।

आधुनिक राज्यों में लोक प्रशासन की भूमिका
(Role of Public Administration in a Modern State)

लोक प्रशासन अति प्राचीन काल से ही मानव-समाज में शान्ति व्यवस्था और न्याय की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहा है तथापि आधुनिक लोक-कल्याणकारी राज्य के सन्दर्भ में इसकी भूमिका बहुत व्यापक हो गई है। लोक-कल्याणकारी राज्य के अभ्युदय के कारण वर्तमान में लोक प्रशासन अन्य किसी भी समय की अपेक्षा आज अधिक सक्रिय, प्रभावशाली और विस्तृत हो गया है। लोकतन्त्रवादी, समाजवादी, साम्यवादी—सभी राज्यों में लोक प्रशासन का महत्व बढ़ता जा रहा है, क्योंकि राज्य की प्रकृति चाहे जो हो, उसके कार्य और उत्तरदायित्व बढ़ गए हैं। आधुनिक प्रजातान्त्रिक समाजवादी राज्यों में लोक-प्रशासन की महान् भूमिका है। नवोदित प्रजातान्त्रिक समाजवादी राष्ट्र राजनीतिक अस्थिरता, सामाजिक तथा आर्थिक विषमता के शिकार हैं और जब तक लोक प्रशासन इन व्याधियों का सफलतापूर्वक मुकाबला नहीं करता, ये राष्ट्र समृद्धि और जागरण के लक्ष्यों को सुगमतापूर्वक प्राप्त नहीं कर सकते। प्रजातन्त्र जनमत का शासन है और लोक प्रशासन का यह गुरुतर दायित्व है कि वह समाज में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखे तथा जनता में असन्तोष को उमड़ने न दे। भारत जैसे नवोदित लोकतंत्र को भी अनेक गहन समस्याओं—आतंकवाद, अलगाववाद, साम्प्रदायिकता, बेरोजगारी और आर्थिक विषमता का सामना करना पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में लोक प्रशासन का यह विशेष दायित्व हो जाता है कि वह अराजक तत्वों को दबाए रखे, देश की सुरक्षा के साधनों को हर प्रकार से गतिशील रखे और जनता में यह मनोबल जाग्रत करे कि वह संकटकाल का मुकाबला करने में एकजुट है। नवोदित प्रजातांत्रिक समाजवादी राज्यों में लोक प्रशासन को पुरातन और नवीन मूल्यों में सामंजस्य स्थापित करते, और विकास की गति को आगे बढ़ाना है। इन राष्ट्रों में स्वतन्त्रता, समानता और न्याय के अभिनव उद्देश्यों की पूर्ति में लोक प्रशासन की सफलता और सार्थकता निहित है। लोक प्रशासकों का दायित्व है कि वह जनभावना के साथ तादात्म्य स्थापित करें, स्वयं को जनता का मालिक नहीं वरन् सेवक समझें, राजनीतिज्ञों को नीति-निर्माण में कुशल और संयमित सहयोग दें, अनुचित राजनीतिक दबाव के आगे झुककर जनता का अहित न करें तथा जनता को एक स्वच्छ, कार्यकुशल, अनुशासित और लोक कल्याणकारी पारदर्शी प्रशासन दें।

फ्रेंच विचारक पुजेट लॉ का विचार है कि प्रजातान्त्रिक प्रशासन को तीन मापदण्डों पर खरा उतरना चाहिए। प्रथम, वह लोगों के साथ अधिकाधिक सम्पर्क स्थापित करे और प्रशासन का संचालन प्रशासकों या निर्देशक वर्ग के हितों में न हो एवं लोक प्रशासन स्वेच्छाचारितापूर्ण न बने। द्वितीय, प्रशासन केवल अधिकारी वर्ग के पदसोपान द्वारा ही नहीं, बल्कि लोक-स्वतन्त्रताओं द्वारा भी नियन्त्रित हो। जनता के प्रतिनिधियों को पूर्ण स्वतन्त्रता हो कि वे प्रशासन पर विचार और उसकी समीक्षा कर सकें। प्रशासन जन-आयोजनों और जन-इच्छा के प्रति उत्तरदायी रहे। तृतीय, प्रशासकीय शक्ति राजनीतिक सत्ता के नियन्त्रण और निर्देशन के अधीन रहे। यह अपेक्षित है कि लोक सेवक शक्तिसम्पन्न राजनीतिक दल की अपेक्षा सरकारी सत्ता के अधीन रहे। सत्तारूढ़ दल उत्तरदायी लोक सेवकों पर अनुचित प्रभाव न डाले और न ही शक्ति का अपने हितों में केन्द्रीकरण करने का प्रयास करे। प्रो. आर. ऐरन और फ्रेंच विचारकों के अनुसार, प्रजातन्त्रात्मक लोक प्रशासन में विकेन्द्रीकरण का होना अनिवार्य आवश्यकता है।

प्रजातांत्रिक समाजवादी राष्ट्रों में लोक प्रशासन क्या भूमिका निभाए इसके लिए आवश्यक है कि वह अधिक स्वतन्त्रता की दृष्टि से निम्नांकित रूप में प्रकट किया जा सकता है—

स्वयं को जनमत के प्रति उत्तरदायी मानकर चले। एक लोकतान्त्रिक राज्य में जनता ही सरकार की समस्त कार्यवाहियों की केन्द्र-स्थल होती है, अतः लोक प्रशासन को इस बात के प्रति सदैव जागरुक रहना चाहिए कि व्यक्ति के महत्व और सम्मान की रक्षा हो, लोक-सम्पर्क संस्थाओं की अधिकाधिक स्थापना की जाए ताकि वे प्रशासन की आँख और कान का काम कर सकें, जन-कल्याणकारी कार्यों का अधिकाधिक विकास किया जाए आदि। लोक प्रशासन न केवल जनता की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को पूरा करे बल्कि ऐसे अवसर भी प्रस्तुत करे कि जिससे लोगों को प्रशासन में सक्रिय रूप से भाग लेने की प्रेरणा प्राप्त हो। लोक प्रशासन जन-प्रतिनिधियों को, परामर्शदात्री समितियों और मण्डलों में स्थान दे, विभिन्न हित-समूहों को प्रशासकीय नीतियों पर स्वस्थ प्रभाव डालने के अवसर प्रदान करे और प्रभावित व्यक्तियों का प्रशासकीय कार्यक्रमों में व्यावहारिक सहयोग अर्जित करे। परामर्शदात्री निकायों के माध्यम से प्रशासन जनता के दृष्टिकोण को अधिक अच्छी तरह

अब राज्य के सकारात्मक कार्य अधिक हैं। एक लोक-कल्याणकारी राज्य समाज के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं अन्य विविध क्षेत्रों में व्यक्ति के जीवन को नियन्त्रित कर समानता, स्वतन्त्रता एवं न्याय की स्थापना का प्रयास करता है। भारतीय संविधान तथा कुछ अन्य देशों के संविधानों में राज्य के कल्याणकारी रूप की संकल्पना की गई है। युद्ध के पश्चात् बनाये गए लगभग पचास संविधानों का उल्लेख करने के बाद एक समालोचक ने यह बताया है कि ये संविधान 'स्वातन्त्र्य' प्रदान करने की प्रतिज्ञा तो करते हैं, किन्तु वे रोटी एवं आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था नहीं कर सके जिसके लिए बेचारा मानव हमेशा से कामना करता आया है। इन संविधानों में उन राजनीतिक निर्णयों को कोई स्थान प्रदान नहीं किया गया है जो सार्वजनिक कल्याण के लिए आवश्यक हैं। सामाजिक शक्तियाँ संविधान के बाहर ही इनका समाधान ढूँढती हैं क्योंकि संविधानों में उनकी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न तक नहीं किया गया है। इस तरह से वे संविधान आलोचना के पात्र बने हैं, जहाँ लोक-कल्याणकारी राज्य के आदर्श को नहीं अपनाया गया है।

लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना के पीछे अनेक सहायक तत्त्वों का हाथ रहा है। सर्वप्रथम समाजवाद की विचारधारा का उल्लेख किया जा सकता है। दूसरे, प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था में जहाँ राज्य की सम्प्रभुता जनता में निहित होती है तथा जनता के प्रतिनिधि शासन-व्यवस्था का संचालन करते हैं, यह आवश्यक है कि सरकार जनहित के लक्ष्य को ध्यान में रखकर अधिक से अधिक कार्य करे। तीसरे, यह समझा गया है कि शासन की निरंकुश सत्ता की भाँति निजी क्षेत्र में निरपेक्ष एवं निर्बाध सत्ता का विकास भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। निजी क्षेत्र में कुछ ही लोगों के हाथों में शक्ति का संग्रह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिए उतना ही घातक है जितनी कि तानाशाही व्यवस्था। ऐसे समाज में सामन्तशाही की सभी विशेषताएँ एकत्र हो जाती हैं। लोक-कल्याणकारी प्रशासन इन संभावनाओं को समाप्त करता हुआ अधिकाधिक लोकतांत्रिक आचरण करता है। भारत में राजनीतिक प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए संविधान द्वारा समस्त नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किये गए हैं। इनके अतिरिक्त संविधान में राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों का उल्लेख है। इन सिद्धान्तों द्वारा यह निश्चित कर दिया गया है कि राज्य अपनी नीतियों का इस प्रकार संचालन करेगा जिससे कुछ विशेष लोक-कल्याणकारी लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके। उदाहरणार्थ, सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त हो सकें, समाज की भौतिक सम्पत्ति को इस प्रकार विभाजित किया जाए ताकि सामूहिक हित की प्राप्ति हो, अर्थव्यवस्था का संचालन इस प्रकार किया जाए कि धन का केन्द्रीकरण न होकर अधिकाधिक समान वितरण की स्थिति पैदा हो, समान कार्य के लिए स्त्री एवं पुरुषों को समान वेतन प्रदान किया जाए, श्रमिक वर्ग के स्त्री, पुरुष एवं बच्चों के स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए उनका शोषण न किया जाए, आदि। एम. वी. पायली का कहना है कि ये निर्देशक सिद्धान्त भारत के विशेषाधिकार विहीन (Under Privileged) साधारण जनता के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता का महाधिकार-पत्र (Magna Carta) है। इन नीति-निर्देशक सिद्धान्तों का लक्ष्य सामाजिक और आर्थिक न्याय की भावना को साकार करना है।

राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों की उक्त पृष्ठभूमि में भारतीय लोक प्रशासन के कार्यों का क्षेत्र कितना विस्तृत हो गया है इस बात से हम सभी भली-भाँति परिचित हैं। एक कल्याणकारी राज्य के रूप में भारतीय प्रशासन पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से देश का चहुँमुखी विकास करने में संलग्न है। इन योजनाओं की क्रियान्विति के नवीन उत्तरदायित्वों ने भारतीय लोक प्रशासन के कार्यक्षेत्र का अभूतपूर्व विस्तार कर दिया है। गाँवों के विकास के लिए सामुदायिक विकास योजनाएँ प्रारम्भ की गई हैं जो ग्रामीण क्षेत्रों की कायापलट करने में संलग्न हैं। कुछ विचारकों ने ग्राम-विकास के लिये किए जाने वाले विभिन्न कार्यों को रक्तहीन मौन क्रान्ति की संज्ञा प्रदान की है। सिंचाई व्यवस्था का विस्तार, गाँवों में बिजली, संचार-साधन एवं आवागमन के साधनों का विकास, डाक, शिक्षा, चिकित्सा एवं अन्य ऐसी दैनिक जीवन की आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था आदि राज्य के बढ़ते हुए उत्तरदायित्व हैं। ग्रामीण क्षेत्रों की भाँति भारतीय प्रशासन नगरीय बस्तियों एवं नागरिक जीवन की विभिन्न समस्याओं को सुलझाने में सहयोग प्रदान करता है। यह देश के औद्योगिक विकास के लिए बड़े-बड़े कल-कारखानों एवं फैक्ट्रियों का नियन्त्रण करता है। देश में चारों ओर बाढ़ पर नियन्त्रण रखने तथा सिंचाई की उचित व्यवस्था करने के लिए विशाल बाँध बनाए जा रहे हैं। बाँधों से जल-विद्युत का उत्पादन कर देश के कल-कारखाने को एक नवीन गतिशीलता प्रदान की गई है।

अपने इन विभिन्न प्रयासों द्वारा भारतीय प्रशासन देश में लोकतांत्रिक समाजवादी समाज की स्थापना में लगा हुआ है। यहाँ समाजवाद की स्थापना प्रजातन्त्रात्मक साधनों एवं तरीकों से करने का लक्ष्य अपनाया गया है। यही कारण है कि संविधान द्वारा देश के समस्त नागरिकों को राजनीतिक अधिकार एवं स्वतन्त्रताएँ प्रदान की गई हैं तथा यह सोचा गया है कि इनको देने के पश्चात् नागरिकों को आर्थिक स्वतन्त्रता एवं समानता से अधिक दिनों तक वंचित नहीं रखा जा सकता। प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद (Democratic Socialism) को अपनी नीतियों का आधार मानने वाले राज्यों में भारत अग्रणी है। ये राज्य आधुनिक राज्यों के दूसरे वर्ग में आते हैं तथा इन राज्यों का लोक प्रशासन प्रथम वर्ग वाले राज्यों, अर्थात् केवल प्रजातन्त्रात्मक राज्यों की अपेक्षा अधिक सक्रिय एवं नागरिकों के जीवन से अधिक सम्बद्ध होता है। आधुनिक राज्यों का एक तीसरा वर्ग और भी है जिसे साम्यवादी राज्य (Communist State) का नाम दिया जाता है। साम्यवादी राज्यों में प्रशासन के उत्तरदायित्वों एवं अधिकारों का क्षेत्र आधुनिक राज्यों की दो श्रेणियों की तुलना में पर्याप्त विस्तृत होता है।

साम्यवादी राज्यों में लोक प्रशासन
(Public Administration in Communist States)

साम्यवादी विचारधारा मार्क्स तथा एंजिल्स की रचनाओं पर आधारित है। राज्य के स्वरूप, उत्तरदायित्व एवं कार्यक्षेत्र के बारे में उनकी अपनी अलग मान्यताएँ हैं। साम्यवादी देश राज्य को बुर्जुआ वर्ग की संस्था मानते हैं। उनका कहना है कि राज्य की संस्था के माध्यम से यह वर्ग जो आर्थिक शक्ति का स्वामी है 'निर्धन' लोगों का अमानुषिक शोषण करता है। एक साम्यवादी समाज में अन्ततोगत्वा राज्य नाम की संस्था की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी क्योंकि इसमें वर्गभेद ही समाप्त हो जाएगा और शोषित तथा शोषणकर्त्ता का अन्तर न रहेगा, किन्तु ऐसा समाज स्थापित करने से पूर्व राज्य की आवश्यकता रहेगी और इससे वर्गों को समाप्त करने में सहायता प्राप्त की जाएगी।

साम्यवादी राज्य का प्रमुख लक्ष्य पूँजीपति एवं प्रतिक्रियावादी शक्तियों का उन्मूलन करना है और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि राज्य के जीवन के लिए न केवल राजनीतिक वरन् आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं अन्य समस्त पहलुओं पर पूरी निगरानी रखे तथा जहाँ कहीं भी साम्यवादी सिद्धान्तों का विरोध होता हो, उसको फौरन ही कुचल दिया जाए। साम्यवादी देशों में प्रतिक्रियावादी विचारों, विश्वासों एवं क्रियाओं का दमन इस नृशंसता से किया जाता है कि वे भविष्य में सिर न उठा सकें। साम्यवादी राज्य व्यक्ति के जीवन के सभी पहलुओं पर कड़ा नियन्त्रण रखता है। नागरिक को कैसी शिक्षा दी जाएगी, कैसा उसका पहनावा होगा, वह क्या खाएगा, किन लोगों से बातें करेगा, शादी किस प्रकार तथा किससे और कब की जाएगी, उसकी सांस्कृतिक मान्यताएँ, धार्मिक विश्वास एवं सभ्यता के व्यवहार का क्या रूप होगा आदि विषयों का निर्धारण राज्य अथवा उसके अभिकरणों द्वारा निर्धारित किया जाता है। यही कारण है कि साम्यवादी राज्यों को प्राय: सर्वाधिकारवादी राज्य (Totalitarian State) कहा जाता है। हृदय की धड़कन एवं श्वास लेने की प्राकृतिक क्रियाओं को छोड़कर व्यक्ति की इच्छा-शक्ति से संचालित होने वाली प्रत्येक प्रक्रिया राज्य द्वारा नियन्त्रित रहती है। इस प्रकार के सर्वाधिकारवादी राज्यों में लोक प्रशासन का दायित्व कई गुना अधिक हो जाता है। विगत वर्षों में साम्यवादी राज्यों में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए हैं। साम्यवाद के प्रणेता सोवियत संघ का विघटन और विश्व मानचित्र से ओझल होना बीसवीं शताब्दी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक है। चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, पोलैण्ड, अलबानिया, रोमानिया, बल्गेरिया में साम्यवादी शासन व्यवस्थाएँ समाप्त हो गई हैं। पूर्वी जर्मनी का पश्चिमी जर्मनी में विलय हो गया है। वर्तमान में चीन, वियतनाम, उत्तरी कोरिया तथा क्यूबा में साम्यवादी व्यवस्थाएँ मात्र कार्यरत हैं।

विकसित राष्ट्रों में लोक प्रशासन
(Public Administration in Developed Nations)

विकास, आधुनिकीकरण या आधुनिकता शब्द सापेक्षिक हैं जिनका प्रयोग जटिल सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के लिए किया जाता है। ब्रेबाती एवं स्पेंगलर के अनुसार, "सामान्यत: विकास तब माना जाता है जबकि वाञ्छनीय एवं प्राथमिक मानी जाने वाली चीजों का सूचकांक बढ़ जाए।"[1] किसी समाज के

1. *Ralph Braibanti and Joseph J. Spengler* (eds): Tradition, Values and Socio-economic Development, 1960, p. 8.

आर्थिक, राजनीतिक, संचार एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में परिवर्तन की एक व्यवस्थित प्रक्रिया को आधुनिकीकरण कहा जाता है। आमण्ड ने परिवर्तन शब्द का प्रयोग विकास के समानार्थक के रूप में किया है। उनका मत है कि जब राजनीतिक व्यवस्थाएँ उनके सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के अनुकूल नई क्षमताएँ प्राप्त कर लेती हैं तो उनमें परिवर्तन आ जाता है। राजनीतिक परिवर्तन का मापदण्ड यह है कि राजनीतिक व्यवस्था नवीन समस्याओं के प्रति कार्यकुशल एवं स्वायत्त रूप से प्रतिक्रिया कर सके। विकास, आधुनिकता एवं आधुनिक शब्दों का जिस अर्थ में प्रयोग किया जाता है उस दृष्टि से पश्चिमी योरोप के देश तथा अमेरिका आदि को विकसित राज्य माना जाता है। इन देशों का वर्तमान प्रशासन एक सुदीर्घ विकास का परिणाम है।

वर्तमान में विकसित राष्ट्रों की राजनीतिक-प्रशासनिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से यह स्पष्ट है कि पश्चिमी योरोपीय प्रशासन को ही आधुनिक माना जा सकता है। विकासशील देशों में भी इनमें से कुछ विशेषताएँ मिल सकती हैं, किन्तु सभी का एक साथ मिलना सम्भव नहीं है। प्रशासन के रूप तथा कार्यों से सम्बन्धित निम्नांकित विशेषताएँ आधुनिक राजनीति में प्राय देखी जा सकती हैं—

1. आधुनिकीकृत राजनीति की नौकरशाही में उच्च श्रेणी का आन्तरिक विशेषीकरण रहता है। नौकरशाही की भर्ती करते समय उनकी योग्यता, क्षमता एवं विशेषज्ञता पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

2 राजनीतिक निर्णय लेने की प्रक्रिया बुद्धिपूर्ण, तर्क-संगत एवं धर्म-निरपेक्ष होती है। परम्परावादी श्रेष्ठवर्ग की शक्तियाँ घट जाती हैं तथा परम्परागत मूल्यों का प्रभाव भी *काफी कम हो जाता है। फलत* धर्म-निरपेक्ष तथा निर्वैयक्तिक कानून व्यवस्था जन्म लेती है।

3. राजनीति एवं प्रशासन के कार्यों का क्षेत्र बढ़ जाता है। इसमें सामाजिक जीवन के सभी पहलू समाविष्ट हो जाते हैं। परिणामस्वरूप यह क्षेत्र निरन्तर बढ़ता ही रहता है।

4. राजनीतिक शक्ति तथा औचित्य के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। राष्ट्र राज्य व्यापक एवं प्रभावशाली बन जाता है।

5. राजनीतिक व्यवस्था में जनता की अभिरुचि तथा जन-सहयोग की मात्रा बढ़ जाती है, किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि जनसाधारण इस कार्य में आवश्यक रूप से सक्रिय योगदान करे।

6. आधुनिकीकरण की धारणा किसी विशेष शासन-प्रणाली अथवा विचारधारा से जुड़ी नहीं है। इसका अर्थ प्रजातन्त्र या प्रतिनिधि सरकार नहीं है। इसके विपरीत तथ्य यह है कि आधुनिकीकरण स्वेच्छाचारी प्रशासन या कुलीनतन्त्र में प्रारम्भ होता है तथा प्रजातान्त्रिक या सर्वसत्तावादी जन समाज (Mass Society) की ओर अग्रसर होता है। इस व्यवस्था के निर्णय लेने की प्रक्रिया में सामान्य जनता भाग ले सकती है अथवा यह कार्य केवल योग्य जनों के प्रभाव में ही सम्पन्न हो सकता है।

प्रशासन की उक्त विशेषताओं से नौकरशाही भी प्रभावित होती है। वैसे प्रत्येक देश में नौकरशाही की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं, किन्तु आधुनिकीकृत राजनीति में इसकी सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार पायी जाती हैं—

(i) यहाँ लोक सेवा बड़े स्तर की एवं जटिल प्रकृति की होती है। इसका मुख्य कार्य राजनीतिज्ञों द्वारा लिए गए निर्णयों को कार्यान्वित करना है।

(ii) यहाँ की नौकरशाही में काफी विशेषीकरण रहता है। यह समाज के प्राय सभी व्यावसायिक वर्गों का *प्रतिनिधित्व करती है। यह एक और तो सरकारी कार्यों* के क्षेत्र की अभिव्यक्ति है तथा दूसरी ओर सरकारी कार्यक्रमों की सफलता के लिए आवश्यक तकनीकी योग्यता की माँग को पूरा करती है।

(iii) यहाँ की नौकरशाही में व्यावसायिकता रहती है क्योंकि (क) लोक सेवाएँ धीरे-धीरे व्यवसाय बन जाती हैं तथा (ख) सेना के अन्तर्गत तकनीकी विशेषीकरण विकसित हो जाता है। अनेक कारणों से आधुनिकीकृत राज्य की नौकरशाही में यह व्यावसायिक दृष्टिकोण बढ़ता जाता है। इसमें भर्ती के समय समान योग्यताएँ देखी जाती हैं, समान शैक्षणिक पृष्ठभूमि पर जोर दिया जाता है, प्रशिक्षण में एकरूपता रहती है तथा अपनी विलक्षणताओं के कारण यह निजी प्रशासन से भिन्न एक व्यवसाय बन जाती है।

(iv) राजनीतिक व्यवस्था के स्थायी एवं परिपक्व होने तथा नौकरशाही अधिक विकसित होने के कारण राजनीतिक प्रक्रिया में इसका योगदान काफी स्पष्ट हो जाता है। नौकरशाही तथा अन्य राजनीतिक संस्थाओं के बीच विभाजन रेखा सामान्यत निश्चित एवं स्वीकृत बन जाती है। नौकरशाही का मुख्य कार्य कानूनों की कार्यान्विति में सहयोग देना है। कानून की रचना में भी यह एक सीमित अर्थ में सहयोग देती है।

(v) आधुनिकीकृत राजनीति में नौकरशाही पर अन्य राजनीतिक संस्थाओं का नीति सम्बन्धी प्रभावशाली नियन्त्रण रहता है। कारण यह है कि नौकरशाही आजकल अधिकाधिक विशेषीकृत बन गई है। यह सार्वजनिक नीति के सामान्य विषयों पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाती। प्रशासनिक विशेषज्ञ अपने क्षेत्र-विशेष में ही दक्षता या अधिकार रखते हैं। फलतः सामान्य रुचि के विषयों पर राजनीतिज्ञों का नियन्त्रण बढ़ जाता है।

लोक प्रशासन—भारत के विशेष सन्दर्भ में
(Public Administration with Special Reference to India)

विकासशील समाजों के सन्दर्भ में लोक प्रशासन की भूमिका को यदि 'क्रान्तिकारी' की संज्ञा दें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। यदि लोक प्रशासन चुस्त, दृढ़, उत्तरदायित्वपूर्ण, जन-समस्याओं के प्रति जागरूक और प्रबल रूप से जन-हित-आकांक्षी है तो विकासशील देशों की समृद्धि और प्रगति के द्वार खुलते जाएँगे और वे तेजी से विकसित समाजों की श्रेणी में आ खड़े होंगे। इन समाजों में लोक प्रशासन जितना ढीला होगा, प्रगति की रफ्तार भी उतनी ही ढीली होगी और विकसित समाजों की श्रेणी में आ खड़े होने का मार्ग भी उतना ही लम्बा होगा। विकासशील देशों में गम्भीर आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और प्रशासनिक समस्याएँ विद्यमान हैं। इनमें प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय का बहुत कम होना, बेरोजगारी की समस्या तथा आर्थिक विकास का अभाव जैसी समस्याओं को गिनाया जा सकता है। ये देश विभिन्न सामाजिक समस्याओं से भी ग्रसित रहते हैं, जैसे—जनसंख्या में वृद्धि और जनसंख्या का निम्न गुणस्तर होना, सामाजिक तथा संस्थागत बाधाएँ एवं रूढ़ियाँ, कुशल साहसियों का अभाव आदि। विकासशील देशों की प्रमुख राजनीतिक समस्याओं में हम राजनीतिक अस्थिरता, नियोजन के प्रति उदासीनता, श्रमिकों के शोषण व दमन आदि को ले सकते हैं। राजनीतिक अस्थिरता एक ओर तो आर्थिक-सामाजिक विकास के लिए दृढ़ और स्थायी नीतियों को अवरुद्ध करती है, दूसरी ओर राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को निर्बल बनाती है। विकासशील देश प्रशासनिक दृष्टि से प्रायः बहुत अकुशल, अवैज्ञानिक और पिछड़े हुए होते हैं। देश की गरीबी और अशिक्षा जनता में चारित्रिक स्तर को ऊँचा नहीं उठने देती, फलस्वरूप कुशल और ईमानदार प्रशासनिक अधिकारियों की सदा कमी बनी रहती है और राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा निजी हितों को अधिक महत्त्व दिया जाता है, भ्रष्टाचार की भयावह समस्या उठ खड़ी होती है। इसके अतिरिक्त प्राथमिकता की समस्या भी बनी रहती है। देश के सन्तुलित विकास के लिए विकास-कार्यक्रमों को 'प्राथमिकता का क्रम' देने की समस्या विद्यमान रहती है। इन विभिन्न समस्याओं के अतिरिक्त विकासशील देश अन्य अनेक समस्याओं से ग्रस्त रहते हैं।

इन समस्याओं के संदर्भ में विकासशील समाजों में लोक प्रशासन का महत्त्व और दायित्व स्वतः स्पष्ट है। एक कुशल, सक्रिय और दृढ़-निश्चयी लोक प्रशासन इन समस्याओं के निदान में बहुत कुछ सहायक हो सकता है। लोक प्रशासन का काम नीतियों का क्रियान्वयन करना है। सरकार नीति-निर्धारण कर देती है, लेकिन इन नीतियों को क्रियान्वित करने का भार अन्ततोगत्वा लोक प्रशासकों पर होता है। यदि नीतियाँ कोरी कागजी रह जाएँ तो उनका कोई महत्त्व नहीं है, यदि नीतियों का क्रियान्वयन ढीला-ढाला होगा तो वाञ्छित परिणाम प्राप्त नहीं हो सकेंगे, हम लक्ष्य-प्राप्ति से दूर रहेंगे और यदि नीतियों का क्रियान्वयन गलत ढंग से किया गया तो हम निश्चित रूप से पथभ्रष्ट हो जाएँगे। दूसरी ओर, यदि लोक प्रशासन नीतियों को सही रूप में प्रभावी ढंग से लागू करता है और जनता को नीतियों के प्रति विश्वास में लेकर आगे बढ़ता है तो सभी चुनौतियों और समस्याओं का मुकाबला करते हुए देश और समाज तेजी से आगे बढ़ता जाता है। इस प्रकार, विकासशील समाजों में समृद्धि और प्रगति की वास्तविक कुञ्जी लोक प्रशासन के सुयोग्य हाथों में होती है।

विकासशील देशों में लोक प्रशासन की भूमिका को हम अधिक स्पष्टता के साथ निम्नलिखित बिन्दुओं में विश्लेषित कर सकते हैं—

(1) आर्थिक जीवन का नियमन तथा नियन्त्रण—विकासशील देशों में प्रशासन का मुख्य कार्य आर्थिक जीवन को नियमित और नियन्त्रित करना है। वह श्रमिकों और मालिकों के सम्बन्धों को इस प्रकार नियमित करता है कि मालिक श्रमिकों का शोषण नहीं कर सकेगा। सरकार नीति बना देती है, किन्तु प्रशासन उस नीति को लागू करता है। उपभोक्ताओं के हित में एकाधिकारियों के कार्यों पर अंकुश रखा जाता है। हानिकारक तथा अस्वास्थ्यकर वस्तुओं के उपभोग को नियन्त्रित किया जाता है तथा आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति की समुचित व्यवस्था की जाती है।

(2) सार्वजनिक उपक्रमों का प्रशासन—भारत जैसे विकासशील देश में मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया गया है, अतः सार्वजनिक उपक्रमों का प्रभावी प्रशासन लोक प्रशासन का एक गुरुत्तर दायित्व है। सार्वजनिक उपक्रमों से आशय उन औद्योगिक संस्थाओं से है जिन पर राज्य का स्वामित्व होता है और जिनका प्रबन्ध व संचालन राजकीय प्रशासन द्वारा किया जाता है। लोक प्रशासन को सार्वजनिक उपक्रमों सम्बन्धी नीति का ध्यान रखते हुए यह देखना होता है कि *अर्थव्यवस्था के सर्वोत्तम शिखरों पर प्रभावी नियन्त्रण रह सके एवं वाणिज्यिक* अधिशेष उपलब्ध हो सके जिससे आगे आर्थिक विकास के लिए धन मिल सके। सार्वजनिक उपक्रमों के मुख्यत चार रूप प्रचलित हैं—विभागीय उपक्रम, सार्वजनिक निगम, सार्वजनिक कम्पनियाँ एवं बोर्ड द्वारा प्रबन्ध। इन विभिन्न प्रकार की संस्थाओं में नीति और ढाँचे के अनुरूप लोक प्रशासन अपनी भूमिका निभाता है।

(3) लोक प्रशासन की सक्रियता—विकासशील देशों में यह अत्यधिक आवश्यक है कि लोक प्रशासन चुस्त, कर्तव्यपरायण और सक्रिय बना रहे। विकासशील देशों की अपनी अलग समस्याएँ हैं अतः विकसित देशों की तुलना में लोक प्रशासन का दायित्व इन देशों में अधिक है।

(4) *आर्थिक नियोजन—विकासशील देशों में आर्थिक नियोजन का सर्वोपरि महत्त्व है जिसका मूल उद्देश्य* लोकतान्त्रिक और कल्याणकारी कार्यविधियों द्वारा तीव्र गति से प्रगति करना है और इस चुनौती का मुकाबला लोक प्रशासन को ही करना है। इसके लिए प्रायः योजना आयोग और सम्बन्धित मशीनरी का गठन किया जाता है जो लोक प्रशासन का ही एक भाग है। आर्थिक नियोजन सम्बन्धी सभी नीतियों को प्रभावकारी ढंग से लागू करना लोक प्रशासन का ही काम है।

(5) जन-विश्वास अर्जित करना—विकासशील देशों में लोक प्रशासन को भावनात्मक रूप से जनता के निकट आकर जनता का विश्वास अर्जित करना चाहिए। प्रशासक वास्तव में एक जनसेवक है इस भावना में व्यावहारिकता की आवश्यकता है, ऐसे प्रयत्नों की आवश्यकता है जिससे जनता निर्विघ्न होकर प्रशासन से लाभ उठा सके, यह सब क्रान्तिकारी परिवर्तन की अपेक्षा रखते हैं।

(6) स्थानीय स्वशासन में भूमिका—भारत विकासशील देशों में अग्रणी है जहाँ पंचायत राज की स्थापना स्थानीय शासन के विस्तार के कारण लोक प्रशासन के प्रभाव और उत्तरदायित्वों में काफी विस्तार हुआ है। *पंचायती राज संस्थाओं की सफलता में लोक प्रशासन महती भूमिका का निर्वाह कर सकता है।*

(7) समग्र विकास का उत्तरदायित्व—भारत जैसे विकासशील देश में लोक प्रशासन को यह समझ कर चलना चाहिए कि आर्थिक विकास किसी भी व्यवस्था में समग्र विकास की दृष्टि से केवल साधन हो सकता है, साध्य नहीं। विकास की समग्रता सामाजिक परिवर्तन की सार्थकता की अपेक्षा रखती है। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि योजनाबद्ध आर्थिक विकास से निर्योजित किया जाए कि पूरा का पूरा समाज राजनीतिक आधुनिकीकरण के माध्यम से वांछित सामाजिक परिवर्तन की ओर अग्रसर हो सके। इन लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु लोक प्रशासन को नया दृष्टिकोण अपनाना होगा।

(8) प्रशासकीय तटस्थता और दक्षता—भारत जैसे विकासशील देश में प्रशासन में शासक मन्त्री और प्रशासकीय लोक सेवकों के मध्य सम्बन्धों को इस प्रकार से विकसित करना होगा कि शासक दल के बदलते रहने से प्रशासकीय दक्षता एवं तटस्थता में कोई गम्भीर व्यवधान न पड़े। लोक प्रशासन को किसी दल विशेष के प्रति प्रतिबद्ध नहीं रहकर, संविधान के प्रति अपनी प्रतिबद्धता सिद्ध करनी चाहिए।

(9) सामाजिक कल्याण एवं आर्थिक विकास—भारत जैसे *विकासशील देश में समाजवाद* एवं कल्याणकारी राज्य का नारा बहुत अधिक लोकप्रिय बन गया है। सामाजिक कल्याण तथा आर्थिक विकास के नए क्षेत्र विकास प्रशासन के नाम से उभर कर सामने आए हैं। इन क्षेत्रों के प्रशासन के लिए भारतीय लोक प्रशासन को व्यक्तिगत प्रशासन की कार्य-कुशलता एवं उत्पादकता के साथ प्रतियोगी बनना पड़ेगा। पुरानी विभागीय पद्धति एवं नौकरशाही का तन्त्र चरमरा कर टूट रहा है और सार्वजनिक उद्यम के क्षेत्र में नए-नए प्रशासनिक प्रयोग किए जा रहे हैं। जनतन्त्र का यह समाजवादी दबाव भारतीय प्रशासन की रीति-नीतियों एवं कार्मिक वर्ग आदि के सम्बन्ध प्रशासन में नई चुनौतियाँ उपस्थित करता है। जनतन्त्र की माँग है कि इस क्षेत्र का प्रशासन सार्वजनिक हित में सामाजिक एवं आर्थिक न्याय के सिद्धान्तों के अनुरूप संचालित किया जाए।

(10) नवीन भूमिका—विकासशील देशों में लोक प्रशासन को अपनी औपनिवेशिक कार्य-प्रकृतियों से बाहर निकल कर जनतन्त्रात्मक चुनौतियों के बीच में कार्य करने के लिए अपने को तैयार करना पड़ेगा। इसके लिए

उसे बदलते समाज की बदलती आकांक्षाओं के साथ समझौता करना होगा। चुने हुए प्रतिनिधियों, राजनीतिक विरोधियों एवं उदासीन जनसाधारण के बीच रहते हुए उसे ऐसी भूमिका निभानी होगी, जो सभी को सन्तुष्ट भी रख सके और साथ ही व्यवस्था एवं विकास प्रशासन में तालमेल भी बिठा सके।

(11) जन सेवा—विकासशील देश संक्रमण के दौर से गुजर रहे हैं। लोक प्रशासन संक्रमण की चुनौती को तभी स्वीकार कर सकता है जबकि उसकी सार्वजनिक लोक-छवि साफ-सुथरी हो, जनता के साथ उसके वर्तमान शत्रुता अथवा कटुता के सम्बन्धों को यदि भारतीय प्रशासन ठीक करना चाहता है तो उसे अपनी कार्यकुशलता एवं जन सेवा का स्तर ऊँचा करना होगा। जनसाधारण प्रशासन को अपना मित्र केवल उसी स्थिति में स्वीकार कर सकता है जबकि उसका स्वरूप एवं कार्य-प्रणाली जनतान्त्रिक उद्देश्यों की अनुरूपता में बदले।

(12) विकास प्रशासन की भूमिका—भारत जैसे विकासशील देश में विकास और आयोजना ने प्रशासन को आर्थिक-प्रशासन और विकास-प्रशासन के नए-नए आयाम प्रदान किए हैं। इन क्षेत्रों का प्रशासन एक ओर जबकि समाजवाद और संघवाद की चुनौतियों के साथ जुड़ा है तो दूसरी ओर उसका राजनीतिक प्रशासन जनतन्त्रात्मकता के कारण काफी जटिल बनता जा रहा है। लोक प्रशासन को देश के राजनीतिक ढाँचे में रहते हुए नए क्षेत्रों की चुनौतियों का सामना करना होगा। सदियों से पिछड़े और रूढ़ियों से ग्रस्त विकासशील समाज में लोक प्रशासन को सीमित एवं निष्क्रिय अवस्था से निकल कर विशाल, सक्रिय और विकासोन्मुख प्रशासन का रूप लेना होगा। लोक प्रशासन को ऐसा आकार और स्वरूप ग्रहण करने में सर्वाधिक शक्तियों को सहयोग देना होगा। यह बात ध्यान में रखनी होगी कि नए परिवेश के अनुसार लोक प्रशासन को अग्रसर किया जाए। जहाँ राजनेताओं को लोक प्रशासन को अनुप्रेरित करना है वहाँ यह भी आवश्यक है कि लोक प्रशासन राजनेताओं का सहयोगी एवं अनुगामी बने। जन-प्रतिनिधियों को परामर्श देने के साथ-साथ वह उनका आज्ञाकारी भी हो और जनतंत्र के सभी उपायों के उत्तर में अनुशासित आचरण करे।

(13) नवीन चुनौतियों का सामना—विकासशील समाजों में बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ-साथ नई-नई समस्याएँ जन्म ले रही हैं और जब तक लोक प्रशासन सजग और प्रगतिशील नहीं होता तब तक इन समस्याओं का सामना नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, यदि पुलिस प्रशासन शिथिल और उदासीन है तो चोरियों, डाकेजनी, हत्याओं, अपहरण और विभिन्न प्रकार के अपराधों का बढ़ना स्वाभाविक है। यदि पुलिस प्रशासन सजग, कर्त्तव्यपरायण और चुस्त है तो अपराधों पर प्रभावी रोक लग सकेगी और जनता में असुरक्षा की भावना नहीं पनपेगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आधुनिक राज्य-व्यवस्थाओं में लोक प्रशासन के दायित्व गुरुत्तर हैं, उसकी भूमिका अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। भारतीय प्रशासन भी नई चुनौतियों के परिप्रेक्ष्य में नया स्वरूप और कार्य शैली अपनाने की दिशा में उन्मुख है।

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन

(Public Administration and Private Administration)

लोक प्रशासन में निजी और सार्वजनिक लोक प्रशासनों को दो पृथक्-पृथक् इकाइयों में देखा जाता था। वास्तव में लोक प्रशासन और व्यक्तिगत प्रशासन का अन्तर आज भी एक विवादास्पद विषय है और जहाँ विद्वानों का एक पक्ष दोनों को एक-दूसरे से भिन्न मानता है वहाँ दूसरा विचार-वर्ग दोनों को एक ही सिक्के के दो पहलू समझता है। इन समानताओं और असमानताओं की चर्चा वर्तमान संदर्भ में अब उतनी प्रासंगिक भी नहीं रही जितनी पहले थी।

समानताएँ (Similarities)

हेनरी फेयोल, एम. पी. फालेट, एल. उर्विक जैसे विचारकों का तर्क है कि सभी प्रकार के प्रशासन एक ही वस्तु हैं और उनके मौलिक लक्षण एक जैसे ही हैं, अतः अध्ययन की दृष्टि से लोक प्रशासन तथा व्यक्तिगत प्रशासन में विभेद करना अतार्किक तथा अवांछनीय है। प्रशासकीय विज्ञान की द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में भाषण करते हुए हेनरी फेयोल ने कहा था—"*मैंने 'प्रशासन' शब्द को जो अर्थ दिया है और जिसे व्यापक रूप में स्वीकार* कर लिया गया है, वह प्रशासकीय विज्ञान के क्षेत्र को पर्याप्त विस्तृत कर देता है। प्रशासन के अन्तर्गत केवल लोक प्रशासन का ही नहीं, बल्कि प्रत्येक आकार-प्रकार के तथा प्रत्येक नाम अथवा उद्देश्य से संचालित संस्थानों के प्रशासन का भी समावेश होता है। सभी संस्थानों में नियोजन, संगठन, आदेश, समन्वय और नियन्त्रण आवश्यक हैं तथा सफलतापूर्वक कार्य-संचालन के लिए सभी को एक से सामान्य सिद्धान्तों का परिपालन करना होता है। हमारे समक्ष बहुत से प्रशासकीय विज्ञान न होकर केवल मात्र एक ही प्रशासकीय विज्ञान है और उसे हम लोक प्रशासन तथा व्यक्तिगत-प्रशासन दोनों पर समान रूप से लागू कर सकते हैं।"[1] फेयोल के विचार से सहमत होते हुए और उस विचार को अधिक स्पष्ट करते हुए एल. उर्विक ने लिखा है—"हम गम्भीरतापूर्वक यह सोच सकते हैं कि महाजनों का जीव-रसायन, प्राध्यापकों का शरीर-क्रिया-विज्ञान अथवा राजनीतिज्ञों का मनोचिकित्सा-विज्ञान पृथक्-पृथक् हैं। इसी तरह किसी संगठन के विशेष स्वरूप के प्रयोजनों के आधार पर प्रबन्ध-प्रशासन का *उपविभाजन करना अनेक विचारकों के अनुसार सत्य से परे है।*" अतः दोनों में निम्नांकित समानताएँ हैं—

1. कार्य कौशल—व्यक्तिगत और लोक प्रशासनों में जिस कौशल की आवश्यकता है वह बहुत कुछ समान होता है। इसीलिए लोक प्रशासन के पदाधिकारियों की नियुक्ति व्यक्तिगत-प्रशासन में होती है और *व्यक्तिगत-प्रशासन के पदाधिकारियों की नियुक्ति लोक प्रशासन में। भारत में अवकाश प्राप्त* सरकारी अधिकारियों को व्यावसायिक और औद्योगिक संस्थाओं में ले लिया जाता है। एडमिनिस्ट्रेटिव स्टाफ-कालेज, हैदराबाद में प्रशिक्षण पा रहे विद्यार्थियों को एक जैसी शिक्षा दी जाती है चाहे वे सरकारी संस्थाओं से आए हों अथवा गैर-सरकारी वाणिज्यिक एवं औद्योगिक संस्थाओं से। ब्रिटेन में गैस, कोयला और विद्युत एवं यातायात उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करते समय लगभग सभी गैर-सरकारी *कर्मचारियों को राजकीय सेवा में ले लिया गया था।* यदि व्यक्तिगत प्रशासन और लोक प्रशासन के बीच कोई मौलिक या आधारभूत अन्तर होता तो ऐसा करना कठिन हो जाता।

2. प्रगति और विकास—प्रगति और विकास के सिद्धान्त दोनों ही प्रशासनों की आन्तरिक शक्तियों के माध्यम से आगे बढ़ते हैं। प्रशासन, चाहे सरकारी हो अथवा निजी प्रगति तभी कर सकता है जब उसका आन्तरिक संगठन कुशल एवं सुदृढ़ हो। संगठन प्रगति और विकास का मूल मन्त्र है।

1 *Quoted in* L. Urwick's 'General and Industrial Management', p XV

परन्तु उनकी संख्या लोक प्रशासन की परिधि में आने वाले बड़े पैमानों के संगठनों से आकार, पूँजी, प्रबन्ध आदि की दृष्टि से बहुत कम होती है। साम्यवादी राष्ट्रों में लोक प्रशासन का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है।

2. उद्देश्यगत—निजी प्रशासन लाभ के लिए होता है, लोक प्रशासन सेवा के लिए। एक व्यापारी का मुख्य दृष्टिकोण होता है कि व्यापार से उसे क्या मिलेगा? इस पर पूरी तरह विचार करने के बाद ही वह किसी उद्यम को प्रारम्भ करता है। लोक प्रशासन का मापदण्ड लाभ-प्राप्ति नहीं होता है अपितु वह लोक-कल्याण के लक्ष्य से अपनी नीतियाँ निर्धारित करता है। वह लाभ की अपेक्षा अधिकाधिक जनहित की दृष्टि से कार्य करता है। लोक प्रशासन का मुख्य लक्ष्य उन सेवाओं की व्यवस्था करना है जो जनता की सुरक्षा, स्वतन्त्रता, सुविधा आदि के लिए अनिवार्य हैं चाहे उनसे प्रशासन को आर्थिक लाभ हो अथवा न हो। लोक प्रशासन को प्राय उन कार्यों और सेवाओं को भी अपने हाथ में लेना पड़ता है जिससे राजकोष में घाटा होता है, लेकिन घाटा सहकर भी ऐसी सेवाएँ चालू रखी जाती हैं क्योंकि वे समाज के जीवन के लिए आवश्यक हैं। निजी प्रशासन अथवा व्यक्तिगत प्रशासन के अन्तर्गत ऐसा नहीं होता। अगर निजी प्रशासन में घाटे की स्थिति हो तो उसे रुग्ण घोषित करके, यथाशीघ्र बन्द कर दिया जाता है।

3. प्रचार—व्यक्तिगत-प्रशासन में विज्ञापनों द्वारा स्वयं की लोकप्रियता अर्जित की जाती है जबकि लोक प्रशासन में कोई भी सदस्य, चाहे वह कितना ही विशिष्ट क्यों न हो, अपने नाम के प्रचार आदि से प्राय बचने का प्रयत्न करता है। अपनी वस्तुओं के दिखावे का व्यक्तिगत-प्रशासन में जितना ध्यान रखा जाता है उतना लोक प्रशासन में नहीं। लोक प्रशासन में सरकार के अनियंत्रित प्रचार को ठीक नहीं समझा जाता है।

4. प्रक्रिया—लोक प्रशासन कानूनों (नियमों) से जितना अधिक विनियमित होता है, उतना व्यक्तिगत-प्रशासन नहीं होता। व्यक्तिगत-प्रशासन में नियमों और प्रक्रियाओं का निर्धारण 'लाभ की वृद्धि' का ध्यान रखते हुए किया जाता है, अत उनमें पर्याप्त लचीलापन रहता है। लोक प्रशासन के कार्यों का औचित्य केवल परिणामों से नहीं बल्कि उचित प्रक्रिया से प्रमाणित होता है। परिणाम चाहे जो भी हों, यदि गलत अथवा पक्षपातपूर्ण या नियम-विरुद्ध प्रक्रिया अपनाई जाती है तो वह गम्भीर आलोचना का पात्र बन जाती है। इस प्रकार निजी क्षेत्र की तुलना में सार्वजनिक प्रशासन में स्वतन्त्रता पर्याप्त सीमित रहती है जिसमें नियमों और प्रक्रियाओं के उल्लंघन की सुविधा नहीं होती है। व्यक्तिगत-प्रशासन की तुलना में लोक प्रशासन के अनियमित और अवैध कार्यों को न्यायालय में चुनौती दिए जाने की सम्भावना बहुत अधिक रहती है। इस कारण से लोक सेवक अपने दायित्वों का निर्वाह करते समय अत्यन्त चौकन्ने और सजग रहते हैं। दोनों प्रशासनों के व्यवहार के नियमों और आचरण के सूत्रों में स्पष्ट भिन्नता दिखाई देती है। व्यक्तिगत-प्रशासन अपने माल का जिस ढंग से प्रचार करता है, उस ढंग से लोक प्रशासन नहीं करता। निजी-प्रशासन की तुलना में लोक प्रशासन के कर्मचारियों के कार्यों और अधिकारों की सीमाओं का स्पष्ट और विस्तृत वर्णन होता है, अत वह अपने व्यवहार की सीमाओं से बँधा रहता है, चाहे इससे प्रशासन को लाभ होता हो अथवा हानि। निजी-प्रशासन में अपनी सीमा अथवा नियम का उल्लंघन करके भी यदि अधिकारी प्रशासन को अधिक लाभ दिखाता है तो यह उसकी कुशलता है और प्रगति का चिह्न माना जाता है, लेकिन हानि होने पर उस पर कार्यवाहीनता का कलंक लगता है और गलत कार्य के कुपरिणाम उसे भुगतने पड़ते हैं। इतना ही नहीं ऐसी स्थिति में उसकी सेवाओं को भी समाप्त किया जा सकता है।

5. प्रकृति—लोक प्रशासन जनता के साथ समानतापूर्ण व्यवहार करता है। इसमें यह अपेक्षा की जाती है कि लोक प्रशासकों के व्यवहार और निर्णय सभी लोगों के लिए निश्चित नीतियों, नियमों और परम्पराओं के अनुकूल होंगे। व्यक्तिगत-प्रशासन में जनता के साथ समान व्यवहार को अनिवार्य नहीं माना जाता है। 'लाभ' की दृष्टि से समान-असमान कैसा भी व्यवहार किया जा सकता है। लोक प्रशासन में सेवाओं की प्रकृति जनसाधारण की मूल आवश्यकताओं के अनुकूल होती है जबकि व्यक्तिगत-प्रशासन में सेवाओं की प्रकृति अपने ग्राहकों अथवा अपने से सम्बन्धित विशिष्ट क्षेत्रों के लिए ही अनुकूल रखी जाती है। इसीलिए लोक प्रशासन की प्रकृति व्यापक स्तर पर उदार और सेवाभावपूर्ण होती है, व्यक्तिगत-प्रशासन की नहीं। लोक प्रशासन में जनता को दी जाने वाली सेवाओं और उनसे वसूल की जाने वाली धनराशि के बीच अनुपात बना रहता है। जनता से उतना ही धन लिया जाता है जितना सेवाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक होता है। प्राय आय से अधिक व्यय की प्रवृत्ति पाई जाती है।

व्यक्तिगत-प्रशासन में व्यय से अधिक आय की प्रवृत्ति होती है क्योंकि उसका अस्तित्व ही अधिक आय के लक्ष्य की पूर्ति पर निर्भर है।

लोक प्रशासन की अधिकांश क्रियाएँ एकाधिकार से मुक्त होती हैं एवं उनमें प्रतिद्वन्द्विता नहीं पाई जाती। साथ ही वे तात्कालिक प्रकृति की होती हैं, अतः उनकी अवहेलना से जनहित का विरोध सम्भव है। व्यक्तिगत-प्रशासन निजी लाभ के लिए गलाकाट प्रतियोगिता में विश्वास रखता है। यद्यपि विशेष परिस्थितियों में कुछ वस्तुओं के उत्पादन का एकाधिकार निजी अथवा व्यक्तिगत या दलगत-प्रशासन को दिया जा सकता है, लेकिन यह एक सामान्य प्रवृत्ति और प्रकृति नहीं है। जन-सम्पर्क का सिद्धान्त लोक प्रशासन के क्षेत्र में अधिकाधिक प्रवेश करता जा रहा है, तथापि अभी तक उस सीमा तक विकसित नहीं हुआ है जितना व्यक्तिगत-प्रशासन के क्षेत्र में है। व्यक्तिगत-प्रशासन की भाँति लोक प्रशासन जन-सम्पर्क बढ़ाने के लिए अथवा ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए कलैण्डर, डायरी अथवा नकद राशि उपहार में नहीं देता, नाच-गानों, मनमोहक विज्ञापनों आदि का आश्रय नहीं लेता और विविध प्रकार के विज्ञापन साधन नहीं अपनाता है।

6. उत्तरदायित्व—लोक प्रशासन जनता के प्रति विशेष रूप से उत्तरदायी होता है। संसदीय पद्धति में यह उत्तरदायित्व निरन्तर व्यवहार में रहता है। प्रशासन को जनता के छोटे से प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर देना होता है। निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से जनता जिन इच्छाओं को अभिव्यक्त करती है, प्रशासन को यथाशक्ति उनका आदर कर, उनके अनुरूप कार्य करना होता है। प्रशासन जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। व्यक्तिगत-प्रशासन जनता के प्रति इस रूप में उत्तरदायी नहीं होता। वह जनता के बहुत छोटे भाग अथवा ग्राहकों के प्रति भी वहीं तक उत्तरदायित्व के निर्वाह की चेष्टा करता है जहाँ तक उसके लाभ का लक्ष्य पूरा होता रहे। उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण से दोनों में एक अन्य अन्तर और भी है— व्यक्तिगत-प्रशासन को जनता की रुचि और माँग के अनुकूल वस्तुएँ उत्पादित करने की दृष्टि से अधिक उत्तरदायी रहना पड़ता है जबकि लोक प्रशासन में यह सक्रियता प्रायः नहीं पाई जाती है। यह कहना अनुचित न होगा कि इस दृष्टि से व्यक्तिगत-प्रशासन लोक प्रशासन के लिए एक प्रेरक तत्व है। अगर लोक प्रशासन में उत्तरदायित्व के इस गुण का विकास हो जाये तो जनता के कष्टों का निवारण हो सकता है। इतना ही नहीं राजकीय धन का दुरुपयोग भी रोका जा सकता है।

7. जन-दृष्टिकोण की भिन्नता—दोनों प्रशासनों के प्रति जन-दृष्टिकोण की मान्यताएँ प्रायः अलग-अलग हैं। लोक प्रशासन की साधारण त्रुटि की भी जनता द्वारा कटु आलोचना की जाती है जबकि व्यक्तिगत-प्रशासन की कमियों के प्रति जनता प्रायः उदासीन रहती है। सरकारी प्रचार की ओर जनता प्रायः कम आकर्षित होती है, निजी-प्रशासन के प्रचार की ओर अधिक। दूसरी ओर, यह तथ्य भी है कि लोक प्रशासन को भ्रष्ट और अकुशल मानते हुए भी जनता उसकी आलोचना करने से अपेक्षाकृत भय नहीं खाती। लोक प्रशासकों की नाराजगी का भय जनता को उतना नहीं सताता है जितना व्यक्तिगत-प्रशासकों की नाराजगी का भय रहता है।

लोक प्रशासन के अवैध अथवा अनियमित कार्यों को न्यायालय में चुनौती देने की जितनी आकांक्षा जनता में पाई जाती है (चाहे व्यवहार में कुछ ही व्यक्ति ऐसी चुनौतियाँ देते हों) उतनी निजी-प्रशासन के सन्दर्भ में नहीं पाई जाती लेकिन बहुधा यह भी देखा जाता है कि लोक प्रशासन की गलती अथवा अनियमितता को लोग दुलदाम दी जाते हैं, जबकि निजी-प्रशासन में छोटे-से-छोटे अधिकारी अथवा कर्मचारी की अनियमितता के खिलाफ सम्बन्धित संस्थानों में ऊपर तक तुरन्त शिकायत हो जाती है। वास्तव में जन-दृष्टिकोण की मान्यताएँ दोनों प्रशासनों के प्रति बहुत कुछ अस्थिर हैं, तथापि भारत में आमतौर पर लोक प्रशासन के प्रति जनता की मनोवृत्ति उपेक्षापूर्ण और असन्तोषजनक है। लोक प्रशासन जन-विश्वसनीयता प्राप्त करने तथा साधारण जनता का विश्वास अर्जित करने में असफल रहा है।

8. वित्तीय प्रशासन की भिन्नता—लोक प्रशासन पर बाह्य वित्तीय नियन्त्रण रहता है। लोकतन्त्रीय शासन में यह एक मान्य सिद्धान्त है कि करों द्वारा एकत्रित धन जन-कल्याण पर ही व्यय किया जाना चाहिए, व्यक्ति अथवा समुदाय विशेष के लाभ में नहीं। अतः वित्त-प्रशासन की व्यवस्था जनता के प्रतिनिधियों अथवा व्यवस्थापिका के हाथों में रहती है। इस प्रकार की पृथकता व्यक्तिगत-प्रशासन में देखने को नहीं मिलती है। वित्त के सम्बन्ध में दोनों प्रशासनों के प्रति जन-दृष्टिकोण भी भिन्न है। एक पूँजीपति के उद्योग में लाखों के घोटाले पर भी संसद् में कोई प्रतिक्रिया नहीं होती जबकि पाँच रुपये का गबन-काण्ड भी धन लेखा समिति के प्रतिवेदन द्वारा राष्ट्रीय स्तर

तक गूँजता है। निजी प्रशासन में गबन होने की स्थिति में तुरन्त निर्णय लेकर सम्बन्धित अधिकारी के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाती है, लेकिन लोक प्रशासन में ऐसा नहीं किया जाता है। दोषी व्यक्ति के विरुद्ध जाँच आयोग बिठाया जाता है और उसे अपना पक्ष रखने का अवसर प्रदान किया जाता है। सारी कार्यवाही की सम्पन्नता के बाद ही दोषी व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही की जाती है इससे अनावश्यक विलम्ब होता है।

9. अन्य विभिन्नताएँ—व्यक्तिगत और लोक प्रशासन में कुछ और भी अन्तर गिनाए जा सकते हैं। लोक प्रशासन में व्यक्तिगत-प्रशासन की अपेक्षा कर्मचारी की सेवाएँ अधिक सुरक्षित रहती हैं। व्यक्तिगत अथवा दलगत सेवाओं में कर्मचारी मनोवैज्ञानिक रूप से अपने को सुरक्षित नहीं समझते। व्यक्तिगत प्रशासन के कर्मचारी के मस्तिष्क में हड़ताल, असहयोग आदि यन्त्रों के स्वतन्त्र प्रयोग के सम्बन्ध में इतना मनोवैज्ञानिक भय नहीं रहता जितना लोक प्रशासन के कर्मचारियों में रहता है। लोक प्रशासन सीधा जनता के प्रति उत्तरदायी होता है जबकि व्यक्तिगत-प्रशासन बहुत कम सीमा तक और वह भी परोक्ष रूप से जनता के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझता है। लोक प्रशासन में अतिरिक्त अथवा बची हुई धनराशि को पुनः सार्वजनिक हित के कार्यों में लगा दिया जाता है जबकि व्यक्तिगत-प्रशासन में यह लाभ पूँजीपतियों की जेब में जाता है अथवा उपक्रम के नवीन यन्त्रों के उत्पादन में लगाया जाता है ताकि लाभ की मात्रा बढ़े। कानून का हस्तक्षेप भी व्यक्तिगत-प्रशासन की अपेक्षा सार्वजनिक-प्रशासन में अधिक होता है।

समानताओं और अन्तरों से स्पष्ट होता है कि प्रशासन के दोनों रूपों के बीच कोई एकदम स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है। प्रायः देखा जाता है कि विभिन्न क्रियाएँ जो व्यक्तिगत-प्रशासन द्वारा सम्पन्न की जाती हैं, लोक प्रशासन की परिधि में आती हैं और इसी प्रकार सरकारी अभिकरणों द्वारा सम्पन्न की जाने वाली क्रियाएँ व्यक्तिगत-प्रशासन के क्षेत्र में व्यवहृत होती हैं। सरकार द्वारा अनेक ऐसे कार्य किए जाते हैं जो व्यक्तिगत प्रकृति के होते हैं और दूसरी ओर लोक-कल्याण के अनेक ऐसे कार्य ऐच्छिक संगठनों द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं जो लोक प्रशासन के विषय हैं। भारत के सन्दर्भ में लोक प्रशासन में शक्ति, सम्मान और सेवा के अधिक अवसर हैं, किन्तु ये सभी भेद केवल मात्रात्मक हैं। वर्तमान में कार्यविधि की दृष्टि से भी आज व्यक्तिगत-प्रशासन में नियमन का विस्तार हो रहा है और लोक प्रशासन में इसे कम करने की माँग जारी है। लोक प्रशासन पर संसद् और न्यायपालिका का नियन्त्रण अधिक रहता है। दोनों में मात्रात्मक अन्तर अधिक हैं, संगठनात्मक कम तथा संगठनात्मक अन्तर के कारण ही यह भेद उत्पन्न होता है। व्यक्तिगत और लोक प्रशासन के ये अन्तर आज बड़ी तेजी से मिटते जा रहे हैं। लोकतंत्र लोक प्रशासन को सार्वजनिक रूप दे रहा है जबकि समाजवाद इसमें व्यक्तिगत-प्रशासन जैसी दक्षता लाने के लिए उसे व्यक्तिगत-प्रशासन के निकट ला रहा है। इसी तरह कुछ अर्द्ध-व्यक्तिगत और अर्द्ध-लोक प्रशासन के क्षेत्र भी उत्पन्न हो रहे हैं, उदाहरण के लिए, एक राजनीतिक दल का प्रशासन जिसे किस श्रेणी में रखा जाए, यह कहना प्रायः कठिन है।

लोक प्रशासन की पारिस्थितिकी या पर्यावरण

(Ecology of Public Administration)

लोक प्रशासन एक मानवीय क्रिया है इसलिए पर्यावरण का उस पर गम्भीर तथा निर्णायक प्रभाव रहता है। मार्क्स के समय से यह माना जा रहा है कि व्यक्ति और समाज के समस्त क्रिया-कलापों का स्वरूप उसकी बाह्य परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है। चेतना का स्वरूप भी पर्यावरण का ही प्रतिफल होता है। लोक प्रशासन का संगठन और उसकी क्रियाएँ शून्य में जन्म नहीं लेती वरन् एक विशेष समाज-व्यवस्था, सांस्कृतिक परम्परा, आर्थिक प्रणाली, राजनैतिक संस्था और धार्मिक विश्वास की पृष्ठ-भूमि में रूप ग्रहण करती है। लोक प्रशासन ज्यों-ज्यों एक व्यावहारिक विज्ञान बनता जा रहा है, त्यों-त्यों उसके पर्यावरण का अध्ययन महत्वपूर्ण होता जा रहा है। आज लोक प्रशासन के चिन्तकों का यह विश्वास है कि किसी प्रशासनिक समस्या या गतिविधि के समुचित ज्ञान के लिए उससे सम्बद्ध पर्यावरण का अध्ययन करना आवश्यक है।

लोक प्रशासन तथा पर्यावरण का सम्बन्ध द्विपक्षीय है। जैसे लोक प्रशासन अपने पर्यावरण से प्रभावित होता है वैसे ही वह पर्यावरण को प्रभावित करता है। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रो. जॉन गॉस ने अपने भाषण में इस पर समुचित प्रकाश डाला है।[1] फिर भी इस दिशा में बहुत कम काम हुआ है। रिग्स का कहना है कि सभी प्रशासन और पर्यावरण के अन्तर्सम्बन्धों को समझने के लिए कोई समुचित विचारधारा नहीं है।[2]

पर्यावरण के अध्ययन का महत्त्व
(Importance of the Study of Environment)

समाज-विज्ञानों ने वातावरण के अध्ययन की उपयोगिता का ज्ञान वनस्पति विज्ञान से ग्रहण किया है। जैसे एक पौधे के लिए उपयुक्त बाह्य वातावरण अनिवार्य होता है उसी प्रकार एक सामाजिक संस्था के विकास के लिए विशेष वातावरण जरूरी है। एक जैसी संस्थाएँ अलग-अलग वातावरणों में भिन्न प्रकार से कार्य करती हैं। यदि हम किसी संस्था के संगठन और कार्यों का समुचित ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो तत्सम्बन्धी वातावरण का विवेचन करना अभीष्ट होगा। लोक प्रशासन के सम्बन्ध में यह बात पूर्ण सत्य है क्योंकि—

1. जो प्रशासनिक संस्थाएँ एक देश में सफलतापूर्वक कार्य करती हैं उनको दूसरे देश में अपनाने का प्रयास किया जाता है। यहाँ इनकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उपयुक्त पर्यावरण की व्यवस्था की जाए अतः उस देश-विशेष की सभी परिस्थितियों का सूक्ष्म विवेचन किया जाना अपेक्षित है।

2. एक ही देश में वहाँ की प्रशासनिक संस्थाओं के संगठन और कार्य को सही रूप से समझने के लिए आवश्यक है कि उनका देश की सामाजिक व्यवस्था और सरकार के रूप के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाए।[3]

3. तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन में पर्यावरण का विशेष महत्त्व है। प्रशासन की कुछ विशेषताएँ एक विशेष वातावरण में ही उपलब्ध होती हैं अतः तुलनात्मक दृष्टि से यह अध्ययन किया जाना चाहिए कि कौन-सा

---

1. *John Gaus* : The Ecology of Government, Reflections of Public Administration, 1947, pp. 1-19.
2. *F. W. Riggs* : The Ecology of Public Administration, 1961, p. 2.
3. "The point is that bureaucracies, as well as other political and administrative institutions, can be better understood if the surrounding conditions, influences and forces that shape modify them are identified and ranked to the extent possible in order of relative importance."
—*Ferrel Heady* : Public Administration : A Comparative Perspective, 1966, p. 24.

वातावरण किस संस्था के लिए उपयुक्त है ताकि एक देश में नवीन प्रशासनिक संस्थाओं का श्रीगणेश करते समय पहले उपयुक्त परिवेश की व्यवस्था कर ली जाए तथा तत्सम्बन्धी परिवेश को देखकर ही तदनुकूल संस्थाओं का चयन किया जाए।

लोक प्रशासन और पर्यावरण के पारस्परिक सम्बन्ध के विभिन्न पहलू हैं, जैसे—सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक सांविधानिक पहलू। इन विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से विचार करें तो एक ओर लोक प्रशासन के सन्दर्भ में पर्यावरण के अध्ययन के महत्व का स्पष्ट बोध होगा और दूसरी ओर लोक प्रशासन तथा पर्यावरण के सम्बन्धों पर समुचित प्रकाश पड़ सकेगा। ये सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक-सांविधानिक पहलू लोक प्रशासन की संस्थाओं का स्वरूप निर्धारण करते हैं और उसके लक्ष्यों पर विविध रूपों में प्रभाव डालते हैं। लोक प्रशासन की प्रक्रियाओं को प्रभावित करने में इन पहलुओं का विशेष महत्त्वपूर्ण और योगदान है।

लोक प्रशासन और आर्थिक पर्यावरण

(Public Administration and Economic Environment)

आर्थिक पर्यावरण का, किसी राजनीतिक व्यवस्था की आर्थिक स्थिति लोक प्रशासन के स्वरूप, संगठन और कार्यों पर विशेष प्रभाव पड़ता है। लोक प्रशासन की प्रकृति उस राजनीतिक व्यवस्था की आर्थिक स्थिति को प्रभावित करती है। किन्हीं दो देशों में राष्ट्रीय चरित्र, जातिगत श्रेष्ठता, नैतिकता एवं मानव-चरित्र की अन्य विशेषताओं के उपलब्ध होने पर भी उनके उत्पादन की मात्रा और प्रकृति में अन्तर अवश्य रहता है। उदाहरणार्थ, जिस देश में सीमित साधनों का अधिकतम उपयोग कर समुचित संस्थागत प्रबन्ध किए जाते हैं, वहाँ उत्पादन अपेक्षाकृत अधिक होता है। वस्तुतः राज्य के आर्थिक परिवेश और प्रशासनिक संगठन में अन्तर्सम्बन्ध विद्यमान रहते हैं, जिनके अध्ययन की उपेक्षा करना विषय-सामग्री को समझने की दृष्टि से उचित नहीं है। लोक प्रशासन और आर्थिक पर्यावरण के सम्बन्धों आर्थिक पहलू को निम्नांकित बिन्दुओं में किया जा सकता है—

1. प्रशासन का आर्थिक विकास में सहयोग—लोक प्रशासन की अर्वाचीन मान्यता के अनुसार आर्थिक विकास की प्रक्रिया में लोक प्रशासन की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।[1] प्रशासन को आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के अनुकूल ढाला जाता है और समय-समय पर प्रशासनिक सुधार किए जाते हैं। प्रशासन की पुरानी रूप-रचना नये और महत्त्वाकांक्षी आर्थिक लक्ष्यों हेतु सहायक नहीं होती, अतः उसे आवश्यकतानुसार बदला जाता है लेकिन यह परिवर्तन यह ध्यान रखकर किया जाता है कि देश में तीव्र गति से आर्थिक विकास की दशाएँ उत्पन्न की जा सकें। ऐसे परिवर्तनों का क्रम प्रत्येक राज्य में समान या एकसा हो, यह आवश्यक नहीं है। यह सम्भव है कि कुछ राज्यों में आर्थिक विकास से पहले प्रशासनिक सुधार किए जाएँ तो कुछ अन्य राज्यों में आर्थिक विकास के साथ-साथ प्रशासनिक सुधारों की लहर व्यापक बने। यह सत्य है कि प्रशासन दक्ष, कुशल और जागरुक है तो आर्थिक विकास की गति को तीव्र किया जा सकता है।

2. आर्थिक व्यवहार का प्रशासन पर प्रभाव—जब राज्य अपना आर्थिक उत्पादन बढ़ाना चाहता है तो संस्थागत परिवर्तन करने होते हैं। ऐसी व्यवस्था की जाती है कि लोगों को अधिक काम करने का प्रोत्साहन प्राप्त हो सके। प्रो. रिग्स ने इस दृष्टि से अमेरिका में उत्पादन-वृद्धि के कारणों का विवेचन किया है। उनका कहना था कि कीमत-रचना की बाजार व्यवस्था से अमेरिका में उत्पादन बढ़ा है इस व्यवस्था में लोग अपना सामान तथा सेवाएँ उसे उपलब्ध कराते हैं जो इनकी अधिकतम कीमत चुका सके। चयन के समय वे लाभप्रद सौदेबाजी करते हैं। इस उपयोगितावादी एवं बौद्धिक दृष्टिकोण से वस्तुओं तथा सेवाओं की उपलब्धि बढ़ जाती है। यह बाजारीकरण अनेक रूपों में जन-जीवन को प्रभावित करता है जो निम्नलिखित हैं—

(क) इस दृष्टिकोण में नौकरशाही की सेवाओं को वस्तु मान लिया जाता है जिसकी खुले बाजार में नीलामी की जाती है। वेतन के रूप में जो राशि प्रदान की जाती है वह उसके श्रम मूल्य पर निर्भर करती है अन्य विचार और आग्रह पीछे रह जाते हैं।

(ख) बाजार में क्रेता और विक्रेता के समान स्वतन्त्रता का अनुकरण करते हुए लोक प्रशासन में हर कर्मचारी अपनी सेवा बेचने तथा नियुक्तिकर्ता सेवा खरीदने में चयन की स्वतन्त्रता का प्रयोग करता है। किसी

1 *Riggs* "Public Administration A Neglected Factor in Economic Development"—Annals of the American Academy of Political and Social Sciences, No 305 (1960) pp 70-80

कर्मचारी को वर्तमान सेवा से अच्छी सेवा मिले तो वह अपना व्यवसाय बदल लेगा। इसी प्रकार नियुक्तिकर्ता यह अनुभव करे कि उसे पूरा प्रतिफल नहीं मिल रहा है तो वह कर्मचारी बदल लेगा। इस प्रवृति से प्रत्येक स्तर पर श्रेष्ठ व्यक्ति के लगाने की परम्परा का विकास हुआ।

(ग) जैसे बाजार में समझौते और ठेके लिए जाते हैं उसी प्रकार लोक प्रशासन में कर्मचारी तथा नियुक्तिकर्ता के बीच समझौता होता है जो उसके आपसी सम्बन्ध की शर्तों को निर्धारित करता है। एक व्यापारी अपने ग्राहक बदलता रहता है उसी प्रकार कर्मचारी अपने व्यवसाय के साथ अपनी स्वामिनिष्ठा बदलता रहता है।

(घ) बाजारीकरण का वित्तीय प्रशासन पर प्रभाव पड़ता है। राज्य द्वारा जितनी सेवाएँ नागरिकों को प्रदान की जाती हैं उसी अनुपात में उनसे कर एकत्रित किया जाता है। कार्य सम्बद्धता बजट बाजार व्यवस्था का ही परिणाम होता है। व्यक्तिगत आय एवं सम्पत्ति के आधार पर करों की दरें निर्धारित की जाती हैं।

(ङ) बाजारीकरण लोक प्रशासन के दूसरे पहलुओं को भी प्रभावित करता है, जैसे—नियोजन, संचार, जनसम्पर्क, प्रबंध, लाइन तथा स्टाफ, संगठन आदि। विचारकों ने प्रशासन को व्यवसाय का एक रूप माना है। आर्थिक क्षेत्र के स्वीकृत और विकसित नियमों तथा मूल्यों को लोक प्रशासन के क्षेत्र में लागू किया जाता है।

3. प्रशासन-यन्त्र द्वारा आर्थिक जीवन का नियन्त्रण—लोक प्रशासन देश के आर्थिक जीवन को नियन्त्रित करता है। उदाहरण के लिए बाजार व्यवस्था को ले सकते हैं। एक बाजार तभी सुचारु रूप से कार्य कर सकता है जब उस पर विभिन्न नियन्त्रण लगाए जाएँ तथा प्रशासन द्वारा अनेक सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएँ। नियन्त्रण के बिना बाजार में समझौते लागू नहीं कराए जा सकते। प्रशासनिक नियमन द्वारा ऐसी स्थिति उत्पन्न की जाती है ताकि सभी समझौते स्वभावतः लागू होते रहें क्योंकि समझौता भंग होने पर यदि प्रत्यक्ष कार्यवाही की जाए तो बाजार रणस्थल बन जाते हैं। उपचार की अपेक्षा सावधानी अच्छी रहती है अतः प्रशासन द्वारा अनेक महत्वपूर्ण प्रबन्ध पहले ही कर दिए जाते हैं। प्रशासन यह व्यवस्था करता है कि बाजार में सही माप-तौल की व्यवस्था हो, प्रतिभूतियों तथा विनिमय से सम्बन्धित नियम स्पष्ट हों, सरकारी सेवाओं की नीति निर्धारित कर दी जाए, व्यापारियों को लाईसेंस देने की उचित व्यवस्था हो, रेडियो स्टेशनों एवं स्वचालित वाहनों का नियमन किया जाए।

उत्पादन की वृद्धि तथा बाजार व्यवस्था का प्रसार करने में लोक प्रशासन द्वारा केन्द्रीय भूमिका सम्पन्न की जाती है। प्रशासनिक संस्थाओं का रूप आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार ढाला जाता है। प्रशासन में विशेष योग्यता सम्पन्न व्यक्ति यह कार्य करते हैं यदि ऐसे कर्मचारी न मिलें तो प्रशासनिक कार्य अर्थहीन बन जाता है। जिन देशों ने मुक्त आर्थिक प्रणाली को स्वीकार किया है, वहाँ आर्थिक जीवन में प्रशासन का हस्तक्षेप नगण्य होता है। समाजवादी देशों में यह हस्तक्षेप अधिक पाया जाता है।

4. तीव्र आर्थिक विकास में प्रशासन का योगदान—तीव्र आर्थिक विकास के लिए प्रत्येक देश योजनाबद्ध विकास का मार्ग अपनाता है ताकि वह अपने सीमित साधनों से, कम समय में, अधिक लक्ष्यों की प्राप्ति कर सके। ऐसा राज्य लोक-कल्याणकारी राज्य बन जाता है तथा उसका कार्यक्षेत्र व्यापक हो जाता है। राज्य के नए दायित्वों के निर्वाह के लिए प्रशासन व्यवस्था में तदनुसार परिवर्तन किये जाते हैं और विकासवादी प्रशासन का जन्म होता है। इससे प्रशासन के मूल्य बदल जाते हैं तथा उसके संगठन में भारी परिवर्तन हो जाते हैं। नियोजन की सफलता संदेहजनक बन जाती है। लोक प्रशासन ही मुख्यतः नियोजन यंत्र का चालक और प्रेरक है।

5. प्रशासन के आर्थिक अवरोध—वित्त को प्रशासन का जीवन रक्त कहा जाता है। यदि रक्त का प्रवाह शरीर की धमनियों में सुचारु रूप से न हो सके तो शरीर का पतन हो जाएगा। लोक प्रशासन के सुचारु संचालन के लिए पर्याप्त साधन, कर्मचारियों का सन्तोष, कार्य की उपयुक्त दशाएँ आदि अनिवार्य हैं तथा इन सबकी व्यवस्था वित्त द्वारा की जाती है। प्रशासन की अधिकांश समस्या के मूल में अर्थाभाव का प्रमुख स्थान होता है।

6. प्रशासन में भ्रष्टाचार की समस्या—आर्थिक कारणों के कोढ 'भ्रष्टाचार' के पीछे अनेक कारण निहित होते हैं। इसमें आधारभूत कारण अधिक प्रभावक होते हैं। सरकारी कर्मचारियों को कम वेतन प्राप्त होगा तो वे

अपने जीवन स्तर को बनाए रखने के लिए अवैध तरीकों की ओर अग्रसर हो जाते हैं अतः यदि प्रशासन को पवित्र और भ्रष्टाचारहीन बनाना है तो आर्थिक औषधि का प्रयोग करना आवश्यक होगा।

7. अकुशल प्रशासन में निम्न आर्थिक स्तर—*अकुशल प्रशासन तथा निम्न आर्थिक स्तर शासन का एक* दुश्चक्र होता है। जब एक राज्य की आर्थिक स्थिति खराब होती है तब वहाँ योग्य तथा कुशल कर्मचारी उपलब्ध नहीं हो पाते। विकासशील देशों में तकनीकी एवं प्रबन्धात्मक योग्यताएँ कम देखने को मिलती हैं। इस कमी को दूर करने के लिए पर्याप्त प्रशिक्षण की सुविधाएँ नहीं दी जाती। यह अर्थ-व्यवस्था का नासूर बन जाता है। अयोग्य तथा अप्रशिक्षित कर्मचारी प्रशासनिक स्तर को नीचे गिरा देते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लोक प्रशासन की समस्याएँ आर्थिक धरातल पर जन्म लेती हैं तथा सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का एक अंग होती हैं। यदि किसी देश के प्रशासन का समग्र चित्र देखना है तो वहाँ की अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में लोक प्रशासन का अध्ययन करें। लोक प्रशासन का संगठन, कार्य एवं प्रकृति आदि देश की आर्थिक स्थिति से निर्णायक रूप से प्रभावित करते हैं।

लोक प्रशासन और सामाजिक पर्यावरण

(Public Administration and Social Environment)

एक देश की सामाजिक रूप रचना, आदर्श, मूल्य, आकांक्षाएँ, परम्पराएँ, रीति-रिवाज, लोक व्यवहार, विश्वास, सांस्कृतिक स्थिति आदि वहाँ के प्रशासन को प्रभावित करते हैं। लोक प्रशासन का मानवीय तत्त्व अपने समाज विशेष की उपज होता है। विभिन्न सामाजिक संस्थाएँ लोक कर्मचारियों के चरित्र की रचना करती हैं। प्रशासनिक पद पर आने से पहले प्रशासकों का जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण होता है। यह दृष्टिकोण सभी प्रशासनिक निर्णयों तथा व्यवहारों का प्रेरणा स्रोत बन जाता है। अतः यह जरूरी है कि लोक प्रशासन के समुचित अध्ययन के लिए संगठन के कर्मचारियों की पारिवारिक और सामाजिक पृष्ठभूमि का अध्ययन किया जाए तथा संगठन के सकल सामाजिक पर्यावरण पर दृष्टिपात किया जाए। प्रत्येक देश का लोक प्रशासन अपने धार्मिक समुदायों, राजनीतिक दलों, व्यापारिक संस्थाओं, सामाजिक वर्गों आदि से प्रभावित होता है जिनकी पृष्ठभूमि में लोक सेवकों के व्यवहार, क्रिया-प्रतिक्रिया आदि का रूप निर्धारित होता है।

सामाजिक परिषदों का संगठन—लोक प्रशासन तथा समाज की अन्य संस्थाओं के बीच घनिष्ठ अन्तर्सम्बन्ध होते हैं। प्रत्येक समाज में जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित संस्थाएँ पायी जाती हैं, जैसे—मेडिकल परिषद्, बार एसोसिएशन, व्यावसायिक संघ, खेलकूद परिषद्, धार्मिक संस्थाएँ, कॉलेज, परिषदें आदि। इन संस्थाओं में उद्देश्य, संगठन तथा कार्यों की भिन्नताएँ होते हुए भी अनेक बिन्दु समान होते हैं। उदाहरण के लिए—

(i) प्रत्येक परिषद् का विशेष उद्देश्य होता है।

(ii) प्रत्येक परिषद् अपनी सदस्य संख्या बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहती है। प्रत्येक उस नवागन्तुक का स्वागत करता है जो उसके लक्ष्य तथा आदर्शों को स्वीकार करे।

(iii) जो सदस्य आवश्यक योग्यताएँ खो देते हैं, परिषद् के लक्ष्यों से विमुख हो जाते हैं उनको संस्था से हटा दिया जाता है।

(iv) परिषद् की सदस्यता समझौतापूर्ण होती है। सदस्यगण आपस में या प्रतिनिधियों से समझौता करते हैं और विशेष अधिकार तथा कर्त्तव्य स्वीकार कर लेते हैं।

अमेरिका जैसे देशों में ये परिषदें वहाँ के राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन को प्रभावित करती हैं। परिषद के संगठन को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—सदस्य एवं प्रबन्धक। जब परिषद् में प्रबन्धकों की संख्या अधिक होती है तब वे नौकरशाही के समकक्ष बन जाते हैं। इनकी व्यवस्था, कार्यवाही एवं स्थिति लोक प्रशासन के लिए मार्गदर्शक बन जाती है। प्रशासन के अनेक मूल सिद्धान्त परिषदों के संगठन से ग्रहण किए जाते हैं। आजकल वाणिज्य प्रशासन लोक प्रशासन का एक भाग बन गया है। एक अर्थ में पूरा देश एक परिषद् है तथा सरकारी नौकरशाही इसकी नौकरशाही है। यह 'सरकारी परिषद्' संविधान में उल्लिखित समझौते पर आधारित होती है।

सामाजिक परिषद् तथा लोक प्रशासन का अन्तर्सम्बन्ध—लोक प्रशासन की प्रकृति परिषदात्मक है। इसे विभिन्न विशेषीकृत अभिकरणों में बाँट दिया जाता है। इन अभिकरणों को पृथक्-पृथक् काम सौंप दिए जाते हैं। ये काम किसी न किसी सामाजिक परिषद् से निकटवर्ती सम्बन्ध रखते हैं तथा लोक प्रशासन की नौकरशाही से सम्बन्धित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त सरकारी अभिकरण कानून को कार्यरूप प्रदान करते हैं तथा वे परिषदों से निकट सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। परिषदों के अनेक हितों की पूर्ति प्रशासन एवं उसके कानूनों द्वारा की जाती है, बदले में परिषदें प्रशासन को पुरस्कृत करती हैं।

लोक प्रशासन सामाजिक परिषदों का प्रशासनिक उपयोग करता है। वह परिषदों की सहायता से वांछनीय जन-सहयोग प्राप्त कर पाता है। जनसामान्य को इन परिषदों द्वारा सरकारी सेवाएँ उपलब्ध हो जाती हैं तथा वे कानूनों का पालन करने की ओर प्रेरित होते हैं। यदि आप लोक प्रशासन का सही रूप समझना चाहते हैं तो वहाँ की विभिन्न सामाजिक परिषदों तथा लोक प्रशासन के अन्तर्सम्बन्ध को समझना चाहिए। सामाजिक संगठनों द्वारा दबाव समूहों के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जाती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि लोक प्रशासन इन दबाव समूहों के हाथ की कठपुतली बन जाता है बल्कि लोक प्रशासन की नौकरशाही जनहित के लक्ष्यों से निर्देशित और संचालित होती है।

लोक प्रशासन पर सामाजिक परिषदों का प्रभाव—लोक प्रशासन तथा सामाजिक परिषदों में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है जिसके अनेक महत्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं। सामाजिक संस्थाओं का निरन्तर दबाव रहने से लोक प्रशासक सदैव सजग एवं उत्तरदायी बने रहते हैं। वे प्रभावित व्यक्तियों के दृष्टिकोण का ध्यान रखते हैं और प्रशासनिक व्यवहार अधिक सार्थक, प्रभावशाली तथा लोकोपकारी बन जाता है। सामाजिक संस्थाएँ लोक प्रशासकों के हाथ में प्रभावशाली हथियार होती हैं। इनके माध्यम से वे अपनी नीतियों को आसानी से कार्यान्वित कर पाते हैं। केवल एक कदम या टेलीफोन द्वारा प्रशासकों को इन सामाजिक संस्थाओं के लाखों स्वयंसेवकों का सहयोग तुरत मिल जाता है। यह अन्य तरीके से सम्भव नहीं था। प्रो. रिग्स के मतानुसार, "इन परिषदों के कारण प्रशासन की प्रभावशीलता कई गुना बढ़ जाती है।"[1]

वर्ग-व्यवस्था और लोक प्रशासन—प्रत्येक समाज में धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आधारों पर अनेक वर्ग बन जाते हैं। इन वर्गों के आपसी सम्बन्ध लोक प्रशासन को प्रभावित करते हैं। इन वर्गों के प्रतिनिधि उनके संगठन में उनके आपसी सम्बन्धों का रूप निर्धारित करते हैं। जब नौकरशाही किसी वर्ग विशेष से जुड़ जाती है तो वह स्वयं एक वर्ग व्यवस्था का आधार बन जाती है। जब सामन्तवादी कुलीन लोक [illegible] होते हैं तो वे स्वयमेव उच्च वर्ग के बन जाते हैं। नागरिक सेवकों का सम्बन्ध सामान्य जनता के-उच्च, मध्यम और निम्न-सभी वर्गों से होता है।

सामाजिक वर्गभेद द्वारा लोक प्रशासन के अनेक पहलुओं को प्रभावित किया जाता है। उच्च नागरिक सेवा के पदों पर उच्च वर्ग के लोगों की भर्ती और पदोन्नति की जाती है, निम्न वर्ग के लोगों को अवसर अल्प मात्रा में मिलता है जिनकी संख्या नगण्य होती है। उच्च पदों पर नियुक्त होने पर नौकरशाहों का उनके वर्ग से सम्पर्क टूट जाता है तथा उच्च वर्ग के साथ उनके जीवन का तादात्म्य स्थापित हो जाता है। अतः प्रशासन द्वारा सामाजिक वर्ग रचना को गतिशील बनाया जाता है। यह योग्य तथा महत्वाकांक्षी अधिकारी पदोन्नत होते हुए उच्च पद तक पहुँच जाता है तथा लोक सेवा के माध्यम से अपनी सामाजिक स्थिति सुधार लेता है।

सामाजिक विकास एवं लोक प्रशासन—प्रो. रिग्स का विचार है कि उन्नत देशों में जटिल तथा औपचारिक संगठन होते हैं। जिस देश की समाज व्यवस्था कम विकसित होती है वहाँ संगठन बनाना उतना ही कठिन होता है। समाज में संगठनों की अल्पसंख्या से सामाजिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। सामाजिक विकास तथा प्रशासनिक व्यवस्था परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। इसका समुचित विवेचन करने में विचारकों ने विशेष रुचि प्रदर्शित नहीं की है। इस क्षेत्र में बहुत कम अध्ययन हुआ है, किन्तु सभी

---

1. *F. W. Riggs*: "This is the associated pattern, while fundamentally shaping the conduct of administration serves also to mulnply its effectiveness."

विचारकों की मान्यता है कि प्रशासनिक परिवर्तनों को संस्थागत बनाने के लिए सामाजिक तथा सांस्कृतिक तत्वों को ध्यान में रखना अनिवार्य है।

प्रत्येक संस्कृति परिवर्तन या विकास के लिए सहायक और बाधक बन सकती है। इसमें दोनों प्रकार के तत्व रहते हैं। डेविड एप्टर ने विकास में सहायक तत्वों को 'Instrumental' तथा बाधक तत्वों को 'Consumatory' कहा है। उनका कहना है कि आधुनिकीकरण उस समाज में होता है जहाँ संस्कृति के सहायक तत्व पाए जाते हैं।

सामाजिक मूल्य तथा प्रशासनिक व्यवहार

प्रशासनिक व्यवहार उस देश के समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यों से प्रभावित होता है। प्रशासनिक संगठन द्वारा कतिपय मूल्य विकसित किए जाते हैं। इनमें जो प्रभावशाली होता है वही दूसरे मूल्यों को प्रभावित करता है। अनेक बार प्रशासनिक संस्कृति सामाजिक मूल्य संरचना से प्रभावित होती है। यदि नागरिक सेवकों की भर्ती कम उम्र में कर और उन्हें शेष समाज से दूर रखकर, प्रशिक्षित किया जाए तो वे स्वयं मूल्य विकसित कर लेंगे जो समाज से भिन्न होंगे।

लोक प्रशासन एवं सांस्कृतिक पर्यावरण

(Public Administration and the Cultural Environment)

सामाजिक संस्कृति अपने सदस्यों को अनेक आदर्श तथा मूल्य प्रदान करती है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति इन मूल्यों की उपलब्धि के लिए जीवनभर प्रयास करता है। इन मूल्यों से लोक प्रशासन का संगठन और व्यवहार अछूता नहीं रहता। प्रशासनिक संगठन में विभिन्न कर्मचारियों के आपसी सम्बन्ध, महिला तथा पुरुष कर्मचारियों के मध्य औपचारिकताएँ, उच्च अधिकारियों के प्रति निम्न पदाधिकारियों का दृष्टिकोण और उनका आचरण पर समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं की गहरी छाप रहती है। लोक प्रशासन को प्रभावित करने वाले प्रमुख सांस्कृतिक तत्त्व निम्नलिखित हैं—

1. भाषा (Language)—भाषा विचार-अभिव्यक्ति का एक अनिवार्य माध्यम है। यह जीवन की अनेक समस्याओं को सरलता से सुलझा देती है और अनेक सरल स्थितियों को जटिल बना देती है। लोक प्रशासन में भाषा का प्रभाव और योगदान अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यह एक सामूहिक क्रिया है तथा कर्मचारियों के अन्तर्सम्बन्धों की स्थापना के लिए एक स्पष्ट, शिष्ट और मनभावन भाषा का होना अपने आप में एक विशेषता है। उपयुक्त भाषा के अभाव में कई समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। उदाहरणार्थ उच्च अधिकारी कुछ कहना चाहता है, किन्तु अधीनस्थ अधिकारी उसे समझ नहीं पाता। उससे कुछ अलग प्रतिवेदन दे दिया फलतः संगठन में संघर्ष, विवाद, गलतफहमी, दोहराव, भ्रम आदि बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। इन सबका निदान उपयुक्त भाषा द्वारा सम्भव है।

जिन देशों की राष्ट्रभाषा एक होती है तथा नागरिकों में भाषा भिन्नताएँ नहीं होतीं वहाँ प्रशासन कार्य अत्यन्त सुविधाजनक बन जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका एक भाषा-भाषी राज्य है। वहाँ दूसरी भाषा बोलने वाले कुछ अल्पसंख्यक हैं, किन्तु वे अंग्रेजी जानते हैं। इसके विपरीत भारत एक बहुभाषी राज्य है। यहाँ असंख्य बोलियाँ और अनेक क्षेत्रीय भाषाएँ हैं। रिग्स इस स्थिति को विचित्र मानते हैं। उन्हीं के अनुसार, "यह स्थिति विचित्र-सी है कि देश की जनता मिली-जुली भाषाओं का प्रयोग करे और प्रशासन ऐसी भाषा में संचालित की जाए जो वहाँ की जनता के लिए स्वदेशी नहीं है।[1]" एक भाषा के अभाव में प्रशासन को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। भारतीय प्रशासन को आज ऐसी समस्या का सामना करना पड़ रहा है।

2. संचार साधन (Means of Communication)—सांस्कृतिक एकरूपता की स्थापना में संचार साधनों का महत्वपूर्ण स्थान है। ये प्रशासन संचालन में उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं। जब पूरे देश में टेलीफोन का जाल बिछा होता है तो प्रशासनिक आदेश शीघ्रता से प्रसारित हो पाते हैं तथा समुचित नियन्त्रण रखा जा सकता है। रेडियो, टेलीविजन, प्रेस आदि सुविधाओं का उपयोग कर सभी देशवासी पड़ोसीवत निकट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति

1. F W Riggs · Op cit., p 34 35

में जनमत की शक्ति वास्तविक एवं प्रभावशाली बन जाती है। यह किसी नीति पालन के लिए सरकार को बाध्य कर सकती है तथा अवांछनीय नीतियों के मार्ग में बाधक बन सकती है।

संचार-साधनों द्वारा जनता को प्रशासनिक कार्यों में अधिकाधिक भाग लेने की सुविधा दी जाती है। शहरीकरण तथा यातायात के साधनों में वृद्धि के कारण जनता प्रशासनिक कार्यों में अधिक गतिशील बन जाती है। संस्कृति के महत्वपूर्ण प्रशासनिक प्रभाव द्वारा संयुक्तीकरण किया जाता है। सारा समाज एक जैसे प्रतीकों, मूल्यों तथा लक्ष्यों को अपनाने लगता है। प्रशासन तथा प्रशासित अनेक बिन्दुओं पर समान रूप से सोचने लगते हैं।[1] संचार साधनों द्वारा प्रशासन करना सुगम बन जाता है, वहाँ प्रशासन में जन-सहभागिता का विकास हो जाता है।

3. धर्म (Religion)—धर्म सामाजिक संयुक्तीकरण का एक अन्य साधन है। एक ही धर्म में विश्वास करने वाले लोग आसानी से परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं, किन्तु मूल विश्वासों में अन्तर रहने पर एक ही प्रदेश की जनसंख्या विभिन्न समुदायों में बँट जाती है। राजनीतिक सिद्धान्तों की भाँति धर्म लोगों को जोड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। धार्मिक मतभेदों के कारण प्रशासनिक कार्यों में समन्वय, आदेश, नियन्त्रण, नेतृत्व आदि की अनेक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। इसके विपरीत एक धर्म की कड़ी से सम्बद्ध लोगों में लोक प्रशासन की अनेक समस्याएँ स्वतः ही सुलझ जाती हैं।

4. शिक्षा एवं मूल्य (Education and Values)—जब एक समुदाय के लोग अशिक्षित, असंगठित और फूट से ग्रसित रहते हैं तो वहाँ लोक प्रशासन को नियन्त्रण रखने में सुविधा रहती है क्योंकि ऐसे लोग स्वयं की बुद्धि का उपयोग न कर अनुगामी बन जाते हैं। इसके विपरीत शिक्षित एवं संगठित जनसमुदाय स्वयं विचार करने लगता है, वह स्वयं ही आकांक्षाओं को माँग के रूप में प्रस्तुत करता है और सरकार के विचार उसके अनुरूप न हों तो वह उनका विरोध करता है। विभिन्न राज्यों के राष्ट्रवादी आन्दोलन इस तथ्य को स्पष्ट कर देते हैं।

मूल्यों की एकरूपता या असमानता लोक प्रशासन को प्रभावित करती है। जब प्रशासन तथा समाज के मूल्य एक जैसे होते हैं तो प्रशासनिक मशीनरी सुचारु रूप से कार्य करती है अन्यथा उसमें अनेक बाधाएँ दिखाई देने लगती हैं। प्रशासन में सत्ता का होना ही इस बात का प्रमाण नहीं है कि आदेश का पालन किया जाएगा। सत्ता का प्रभाव या आदेश का पालन इस बात पर निर्भर करता है कि प्रभावित लोग उसे कितना यथोचित तथा पालन करने योग्य मानते हैं। लोगों द्वारा सत्ता की स्वीकृति विभिन्न सांस्कृतिक तत्त्वों पर निर्भर करती है। प्रभावशाली प्रशासन विविधता या सांस्कृतिक तत्त्वों की विभिन्नता पर निर्भर करता है। प्रभावशाली प्रशासन के लिए विविधता या अनौचित्य अनिवार्य है। केवल सरकार दण्ड भय से राज्य के कानून लागू नहीं किए जा सकते। कानूनों के पालन के प्रति जनता की सहज स्वीकार्य प्रवृति होनी चाहिए तथा दण्ड का प्रयोग केवल अपवाद रूप में ही होना चाहिए। कुछ उपद्रवी तत्त्वों पर ही कानून बाध्यता के साथ लागू किया जा सकता है।

विकासशील देशों की संस्कृति और लोक प्रशासन

एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के विकासशील देशों में वहाँ की संस्कृति के कारण लोक प्रशासन की अनेक समस्याएँ हैं। विकसित राज्यों द्वारा जब इन देशों के आर्थिक विकास के लिए सहायता दी जाती है तो सांस्कृतिक दृष्टि से दो देशों में आदान-प्रदान होता है। दो संस्कृतियों के मूल्य टकराते हैं तब वे प्रशासन व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। विदेशी विशेषज्ञ अपने देश के सांस्कृतिक मूल्यों को अन्य राज्यों में प्रचारित और प्रसारित करते हैं ताकि उनका कार्य सरल बन सके। विकासशील देशों की समस्या यह है कि यहाँ तीव्र आर्थिक विकास के लिए विकसित देशों की तकनीकी अपनाने की चेष्टा की जाती है, किन्तु सांस्कृतिक परम्पराएँ ऐसा नहीं होने देतीं। वे हर नवीन परिवर्तन के मार्ग में अवरोधक बन जाती हैं। सांस्कृतिक अवरोध सरकारी अधिकारियों तथा जनसामान्य में अनेक समस्याएँ पैदा कर देते हैं। प्रशासन तभी सार्थक, उपयोगी और प्रभावशाली रह सकता है जब वह समाज के सांस्कृतिक मूल्यों को समझ कर तदनुसार व्यवहार करे।

विकासशील देशों में अपनाए गए विकास कार्यक्रमों और योजनाओं की सफलता के लिए सांस्कृतिक समायोजन किए जाने चाहिए। इसके बिना लोक प्रशासन नई चुनौतियों का सामना नहीं कर सकेगा, उसमें आवश्यक कार्यकुशलता नहीं आ सकेगी। नीग्रो ने लिखा है कि लोग कार्यकुशलता के प्रति तभी सजग हो पाते हैं

1. "Through this sharing of ideas of symbols, this mass Conversation, the rulers and the ruled gradually come to think alike on major issues, the structure and goals of government the basis of legitimacy etc."
—*F.W. Riggs* : Op. cit., p. 36.

जब उनका वातावरण और परम्पराएँ ऐसा करने की माँग करें।[1] यह अभिमत व्यावहारिकता के सन्निकट है। पश्चिमी समाज में सभी को कार्य व्यस्त देख कर लोगों में आलस्य नहीं आ पाता फलस्वरूप वहाँ लोक प्रशासन अधिक क्षमता तथा दक्षता के साथ कार्य करता है। इसके विपरीत भारतीय समाज पर भाग्यवाद का गहरा प्रभाव होने से लोगों में अकर्मण्यता और आलस्य की मनोवृत्ति अपनी चरम सीमा पर है। लोक प्रशासन समाज के वातावरण तथा परिस्थितियों से अछूता नहीं रहता है।

एक औद्योगिक समाज में यह जरूरी है कि समय पर काम हो, अपव्यय समाप्त किया जाए तथा कार्यकुशलता में सहायक प्रत्येक तकनीक अपनाई जाए। विकासशील देश अनौद्योगिक होते हैं इसलिए वहाँ ये समस्त तथ्य नहीं पाये जाते। यहाँ के वातावरण अनुसार लोक प्रशासन का जो रूप सामने आता है उसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) **सरकारी पदों के लिए दमतोड़ स्पर्द्धा**—सभी विकासशील देशों में एक सामाजिक मूल्य यह बना हुआ है कि सरकारी नौकरी गैर-सरकारी की अपेक्षा श्रेष्ठ है। यही कारण है कि उच्च शिक्षा प्राप्त हजारों युवक बाबू बनने के लिए प्रतियोगिता करते हैं। वे अपने आपको तकनीकी, विज्ञान तथा यान्त्रिकी का विद्वान नहीं मानते और बेरोजगार बने रहते हैं। जिनको सरकारी क्षेत्र में रोजगार नहीं मिलता वे गैर-सरकारी क्षेत्र में प्रयास करते हैं। लोक प्रशासन में वांछनीय तथा अवांछनीय तत्व प्रवेश पा जाते हैं और प्रशासन दूषित बन जाता है। विकासशील देशों में स्थिति यह है कि यहाँ एक सरकारी पद के लिए अनगिनत प्रार्थनापत्र आते हैं। इनमें से योग्यता के आधार पर चयन करना कदापि सम्भव नहीं है। चयन की प्रक्रिया पर अनेक अनुचित और अवांछनीय दबाव डाले जाते हैं। इस स्थिति में एक मात्र पद प्राप्त करने के बाद कर्मचारी सुरक्षित होना चाहता है और प्रशासन अधिक योग्य व्यक्तियों की सेवाएँ प्राप्त करने से वंचित रह जाता है। स्थानीय परम्पराओं के कारण प्रशासनिक अधिकारियों के बीच उनकी आयु, वरिष्ठता, सामाजिक स्थिति, आर्थिक सम्पन्नता आदि के कारण असमानता बनी रहती है। अतः समान कार्य के लिए समान वेतन का सिद्धान्त, योग्यता, कार्य सम्पन्नता आदि कुशल लोक प्रशासन के सिद्धान्त रखे रह जाते हैं। आवश्यकता से अधिक कर्मचारियों की भर्ती के कारण काम में लाल-फीताशाही आ जाती है क्योंकि छोटा-सा काम भी अनेक कर्मचारियों के हाथों में होकर निकलता है। इससे सार्वजनिक धन का भारी अपव्यय होता है।

(ii) **भाई-भतीजावाद**—विकासशील देशों में अपने सम्बन्धियों की उचित-अनुचित सहायता करना एक धर्म माना जाता है। भाई-भतीजावाद पनपता है और प्रबन्ध एवं कर्मचारी के पारिवारिक विषय प्रशासन की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण बन जाते हैं। रोजगार के अवसर कम होने पर भाई-भतीजावाद को पर्याप्त बढ़ावा मिलता है। यह स्थिति प्रशासन के लिए घातक सिद्ध होती है।

(iii) **मित्रता का प्रभाव**—एक समाज विशेष में मित्रता का अर्थ और दायित्व क्या है तथा मित्र से क्या अपेक्षाएँ की जाती हैं इस तथ्य का लोक प्रशासन की गतिविधियों पर विशेष प्रभाव पड़ता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में मित्रता का अर्थ "और क्या हाल है" पूछने पर मर्यादित है। वहाँ तुरन्त मित्र बनाए और भूले जा सकते हैं। मित्रता के पीछे न कोई स्वार्थ होता है और न कोई दायित्व ही है फलतः मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध लोक प्रशासन को प्रभावित नहीं करते। दूसरी ओर भारत में मित्रता शीघ्र नहीं होती और होती है तो वह दीर्घकाल तक चलती है। मित्रता एक सामाजिक बीमा है तथा मित्र से यह आशा की जाती है कि वह संकट में सहायता करेगा। इससे प्रशासनिक गतिविधियाँ प्रभावित होती हैं। भर्ती, पदोन्नति, कार्य का रिकार्ड, स्थानान्तरण, कार्यालय की कार्यवाही आदि विषय मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों से प्रभावित होते हैं।

निष्कर्ष रूप में, लोक प्रशासन देश के सांस्कृतिक वातावरण से प्रभावित होता है। तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन में इसका विशेष महत्व है। संस्कृति और प्रशासन के उक्त विवेचन से निम्नांकित बिन्दु स्पष्ट होते हैं—

(i) प्रत्येक देश के सांस्कृतिक विश्वास, मूल्य, आकांक्षाएँ, व्यवहार एवं प्राथमिकताएँ विशेष प्रकार की होती हैं और प्रशासन की कार्यकुशलता सार्थक एवं प्रभावशाली बनाने के लिए इनका ध्यान रखा जाना चाहिए।

(ii) एक देश के सांस्कृतिक जीवन की जानकारी से वहाँ कौनसी प्रशासनिक तकनीक सफल हो सकती है तथा उसे कैसे लागू किया जाता है, अनुमान लगाया जा सकता है।

---

1. "People are efficiency-conscious only if their environment and traditions require them to be."

—*Felix, A. Nigro*

(iii) सांस्कृतिक तत्वों की अवहेलना करने पर प्रशासन के मार्ग में अनेक बाधाएँ आती है। इन बाधाओं का निराकरण सुनियोजित कार्यवाही द्वारा किया जा सकता है।

(iv) सांस्कृतिक आचरण के अनुकूल यदि प्रशासनिक संगठन एवं कार्यों को समायोजित कर लिया जाए तो प्रशासन कार्यकुशल एवं सफल बन जाता है।

लोक प्रशासन तथा अन्य समाज विज्ञान
(Public Administration and Other Social Science)

वर्तमान में लोक प्रशासन एक स्वतन्त्र अनुशासन के रूप में अपना स्थान बना चुका है इसके बावजूद अभी भी यह अपनी शैशवावस्था में ही है। वर्तमान में सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन एकाकी या अलगाव के रूप में नहीं किया जा सकता है। इसके लिए अन्तर-अनुशासनात्मक अध्ययन पद्धति (Inter-disciplinary Approach) का सहारा लिया जाता है जिसके अन्तर्गत एक सामाजिक विज्ञान का दूसरे सामाजिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया जाता है। अत: वर्तमान में लोक प्रशासन का राजनीतिविज्ञान, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास, भूगोल तथा नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाना अपरिहार्य और समीचीन माना जाता है।

प्राकृतिक विज्ञान तथा लोक प्रशासन के बीच अन्तर का मुख्य कारण, प्रशासन में मानवीय तत्वों का शामिल होना है। इसलिए लोक प्रशासन को समाज विज्ञान कहना ही उचित है क्योंकि यह व्यक्तियों से सम्बन्धित है जिनकी इच्छाएँ, दिल दिमाग अपना होता है तथा वह कई तरीकों से सोचने तथा करने में सक्षम होते हैं। वैलेस बी. डानहम (Wallace B. Donhem) के अनुसार, प्रशासन अपनी ही तकनीकों वाला एक सामाजिक विज्ञान है इसकी अपनी ही सीमाएँ हैं जो व्यक्तियों के सगठनों द्वारा कार्य की धारणा के चारों तरफ तथा सिद्धान्त की अपनी समस्या के चारों तरफ इकट्ठी हो गई हैं। जहाँ तक कार्य का सम्बन्ध है यह दूसरे समाज विज्ञानों, नैतिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक को आपस में जोड़ने के लिए मुख्य रूप से सम्बन्धित है।

लोक प्रशासन एक समाज विज्ञान है और एक आत्मनिर्भर तथा स्वतन्त्र विधा के रूप में यह तेजी से विकसित हो रहा है। लोक प्रशासन की एक अद्भुत विशेषता यह है कि इस विषय पर जितनी भी पुस्तकें लिखी गई हैं वे सभी राजनीति विज्ञान शास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, अर्थ-शास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों तथा प्रबन्ध वैज्ञानिकों द्वारा लिखी गई हैं। इन सभी रचनाओं में सार्वजनिक विज्ञान को परिभाषित किया गया है परन्तु किन्हीं और अनुशासनिक स्थितियों द्वारा यह कुछ अस्पष्ट ही रहा है कि क्या यह नया सकर सार्वजनिक राजनीति विज्ञान या समाजशास्त्र जैसी संस्थापित विधाओं का ही एक भाग रहेगा। इसी अस्पष्टता में लोक प्रशासन का अस्पष्ट रहस्य जीवन में बड़ा तथा परम्परागत समाज विज्ञानों में एक वास्तविक घर के बिना ही बैठा है।

लोक प्रशासन पहले तथा आज भी कई विधाओं का प्रतिच्छेदन रहा है। परम्परागत रूप में लोक प्रशासन राजनीति विज्ञान तथा कानून पर आधारित है। जब नौकरशाही संगठन अपने बीच के समूह-व्यवहार से अवगत हुए, तो सामाजिक सगठन समाजशास्त्रीय स्पष्टीकरण की दृष्टि से प्रतिच्छेदित हुए। जब सार्वजनिक प्रबन्ध को अपने स्वामियों को प्रेरित करने के आधुनिक साधनों की आवश्यकता पड़ी तो मनोविज्ञान की सहायता ली गई। प्रशासनिक तथा विश्लेषण की तकनीकों के लिए लोक प्रशासन की समस्याएँ प्रबन्ध विज्ञान तथा अर्थशास्त्र द्वारा सुलझाई गई।

लोक प्रशासन तथा राजनीति शास्त्र
(Public Administration and Political Science)

लोक प्रशासन को साधारणतया राजनीतिक प्रक्रिया ही माना जाता है अत: इसका आरम्भ राजनीति विज्ञान से हुआ है। वाल्डो (Waldo) लिखते हैं, "ऐसा कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं कि आत्मचेतन लोक प्रशासन का निर्माण राजनीति विज्ञान के शिक्षकों द्वारा ही हुआ जिसमें वुडरो विल्सन, एल. डी. व्हाइट तथा डब्ल्यू. एफ. विलोबी, जैसे विद्वानों की भूमिका बहुत अधिक थी। राजनीति विज्ञान का एक क्षेत्र या उपक्षेत्र कहना एक परम्परा सी थी तथा शायद राजनीति विज्ञानी या इसके बाहर वाले विचारक आज भी ऐसा ही समझते हैं—राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध राज्य, सरकार तथा सार्वजनिक परिमण्डल से है। इस तरह लोक प्रशासन अपनी परिभाषा से राजनीति विज्ञान का ही एक भाग लगता है। लोक प्रशासन के बहुत से विद्वान अपने आपको पहले राजनीति विज्ञानी ही कहते हैं। अनेकों राजनीति विज्ञान के विभाग अनुकूल क्षेत्र लगे हैं, आज भी बहुत से ऐसा ही कहते हैं।"

राजनीति विज्ञान समाज में शक्ति सम्बन्धों का अध्ययन करता है। इसका सम्बन्ध मूल्यों के अधिकारिक निर्धारण से है। इसमें व्यक्ति के राज्य के साथ सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है तथा राज्य के प्रारम्भ, स्वरूप तथा कार्यों के मूलभूत प्रश्नों से एकतापूर्ण सम्बन्ध है। लोक प्रशासन में राज्य पहले ही विद्यमान है तथा यह राज्य की इच्छा को लागू करने में आने वाली समस्याओं के स्वरूप से सम्बन्धित है।

लोक प्रशासन एक समाज विज्ञान है, अतः स्वाभाविक है कि अन्य समाज विज्ञानों से इसका कुछ न कुछ सम्बन्ध हो। समाज विज्ञानों के क्षेत्र में राजनीति और लोक प्रशासन का सबसे अधिक सम्बन्ध है तथा दोनों एक-दूसरे को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। इस संबंध में दो प्रकार के दृष्टिकोण प्रचलित हैं—

(1) परम्परागत दृष्टिकोण—प्राचीन विचारकों में वुडरो विल्सन ने संकीर्णतावादी दृष्टिकोण अपनाते हुए राजनीति और प्रशासन के बीच मौलिक भेद बतलाया और कहा, "प्रशासन राजनीति से बाहर है। प्रशासनिक प्रश्न राजनीतिक प्रश्न नहीं हैं। यद्यपि राजनीति प्रशासन के लिए कार्य निर्धारित करती है तथापि इसको यह अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए कि वह प्रशासकीय कार्यों में हेर-फेर या हस्तक्षेप कर सके।" ब्लंशली ने भी यह माना है कि प्रशासन एक तकनीकी अधिकारी का क्षेत्र है, एक राजनीतिज्ञ का नहीं। प्रो. गुडनाउ के अनुसार, प्रशासन का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा है जो राजनीति से सम्बन्धित नहीं है। वास्तव में यह विचार-वर्ग राजनीति को सत्ता का विज्ञान मानते हुए मूल रूप से नीति-निर्धारक कला मानता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार लोक प्रशासन केवल सरकारी कर्मचारियों का क्षेत्र है जिनकी अपनी भूमिका इतनी सीमित होती है कि वे नीति-निर्माण में कोई महत्वपूर्ण भाग नहीं लेते हैं। उनकी भूमिका का निर्धारण राजनीति द्वारा होता है, वे राजनीतिज्ञों के प्रति निष्ठावान रहते हैं।

(2) आधुनिक दृष्टिकोण—आज इस प्राचीन अथवा परम्परागत दृष्टिकोण को अव्यावहारिक माना जाता है। यह मान लिया गया है कि राजनीति और प्रशासन प्रकाश तथा छाया की भाँति एक-दूसरे में अदृश्य रूप से समाविष्ट रहते हैं। व्यावहारिक धारणा के रूप में दोनों के मध्य भेद है, लेकिन दोनों एक-दूसरे से पृथक नहीं किए जा सकते। प्रशासन के सहयोग के बिना राजनीति द्वारा निर्मित नीतियों को क्रियान्वित करना दुष्कर है और इसी प्रकार यदि राजनीति द्वारा नीतियों का निर्धारण न हो तो प्रशासन के पथभ्रष्ट हो जाने का भय है। इसीलिए लूथर गुलिक की मान्यता है कि राजनीति को प्रशासन से और प्रशासन को राजनीति से पृथक् नहीं किया जा सकता। यदि प्रशासकों पर से नियन्त्रण हटाकर उन्हें अपनी मनमानी करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया गया तो इसका अर्थ होगा घड़ी को पीछे की ओर घुमा देना और उस बहुमूल्य देन को फेंक देना जो मानव-जाति ने दीर्घकालीन संघर्ष के बाद प्राप्त की है। राजनीतिज्ञ और प्रशासक में अनेक अन्तर बतलाए जा सकते हैं—एक अस्थायी है तो दूसरा स्थायी, एक दलीय राजनीति से सम्बन्धित है तो दूसरा तटस्थ; एक सामान्य व्यवसायी व्यक्ति है तो दूसरा विशेषज्ञ, एक संयोजक है तो दूसरा निष्पादक, एक निर्णयकर्ता है तो दूसरा परामर्शदाता आदि; किन्तु ये सभी अन्तर मात्रात्मक हैं, प्रकारात्मक या गुणात्मक नहीं। ये अन्तर प्रशासन और राजनीति को एक-दूसरे से अलग नहीं करते। दोनों के बीच इतने संधि-स्थल हैं कि उन्हें अलग-अलग खीचों में आबद्ध करना होगा। यदि दोनों को अलग किया भी जाए तो भी दोनों की सीमा-रेखाएँ *अनेक स्थानों पर इतनी मिली हुई होंगी कि एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींचने* का प्रयत्न अव्यावहारिक ही होगा, बाल की खाल निकालना होगा। इस प्रकार से यह दृष्टिकोण राजनीतिज्ञों और प्रशासकों के बीच अन्योन्याश्रित संबंध मानकर चलता है।

'राजनीति' और 'प्रशासन' का यह अन्तर लक्ष्यों और साधनों की दृष्टि से किया जाता रहा है। राजनीति अनिवार्य रूप से राज्य सत्ता के उपभोगों और उनके रूप आकार से सम्बन्धित प्रक्रियाओं से संबंधित है और राज्य सत्ता का मूल्य भाराक्रान्त नीति निर्णयों के रूप में विदित रही है। नीतिगत लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रशासन एक साधन है। यह मूलरूप से नीतिगत निर्णयों को व्यावहारिक रूप में कार्यान्वयन से सम्बन्धित एक गतिविधि है। वुडरो विल्सन ने राजनीति और प्रशासन के मध्य सम्बन्ध सुस्पष्ट करते हुए लिखा है, "प्रशासन का क्षेत्र व्यापार का क्षेत्र है, यह राजनीति के संघर्ष और व्यग्रता से मुक्त है, यह अनेक बिन्दुओं पर संवैधानिक अध्ययन के विचारणीय विषयों के विलग रहता है। जैसे गणना-गृहों की पद्धतियाँ समाज के जीवन के अंग हैं, तन्त्र उत्पादित उत्पादनों का एक अंग है उसी प्रकार यह राजनीतिक जीवन का एक अंग है। प्रशासन राजनीति के निश्चित एवं उपयुक्त

क्षेत्र के बाहर है। प्रशासनिक प्रश्न राजनीतिक प्रश्न नहीं है। यद्यपि राजनीति प्रशासन के लिए कार्य निर्धारित करती है। इसको अपने कार्यालयों के काम लेने में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं डालना चाहिए।"[1]

कालान्तर में अनेक विद्वान लेखकों ने विल्सन की बुद्धिसंगत विचारधारा का अनुसरण किया। उसका वक्तव्य राजनीति और प्रशासन के मध्य दो पृथक् गतिविधियों के रूप में अन्तर स्पष्ट करता है। सांस्थानिक तथा व्यावसायिक दृष्टियों से दोनों को भिन्न माना जाता है। राजनीति का सांस्थानिक स्थान विधान मंडलों, राजनीतिक दलों तथा दबाव समूहों को माना जाता है जबकि प्रशासन को सरकार के औपचारिक रूप से गठित कार्यपालिका शाखा में देखा जा सकता है। व्यवसाय की दृष्टि से राजनीति वह है जो राजनीतिज्ञ करते हैं और प्रशासन वह है जो प्रशासक करता है। लोक प्रशासन के 'विज्ञान' के वायदे (वचन) को राजनीतिक लक्ष्यों की व्यावहारिक वास्तविकता में परिणत करने के यन्त्र अथवा साधन के रूप में प्रशासन के स्वायत्तशासी स्वभाव को आमुख (आधार वाक्य) स्वीकार कर लिया गया है।

एक विशिष्ट कार्य के रूप में प्रशासन की विशुद्धता को वेबर की बुद्धिसंगत अधिकारीतन्त्र की संकल्पना से अत्यधिक बौद्धिक समर्थन मिला।[2] संगठन के अधिकारी तन्त्र स्वरूप में अन्तर्निहित संरचनात्मक विशेषताओं और व्यावहारिक मानकों, जैसा कि वेबर ने विचार व्यक्त किया, ने लोक प्रशासन के कठोर नियमों से बाध्य एवं अविवेकपूर्ण शक्तियों से अप्रभावित पर्याप्त स्वायत्तशासी संस्था के रूप में, विकास में योगदान किया है। ला पलोम्बरा[3] के अनुसार, "अधिकारीतन्त्र की आदर्शरूप में प्रस्तुत संकल्पना, जैसा इसको पाश्चात्य देशों में स्वीकार किया गया है, में अनेक व्यावहारिक तथा अभिवृतिक मानदण्ड हैं, जिनको, वेबर के अधिकारीतन्त्र के विषय में जो कुछ पहले कहा जा चुका है, में जोड़ा जा सकता है।" इनकी पहचान नियम निर्माण में सीमित यन्त्रीय भूमिका, स्वयसेवी संस्थाओं की बहुलता के साथ मुक्त एवं खुले रूप में पारस्परिक क्रिया, संगठित स्वयसेवी संस्थाओं के साथ व्यवहार करते समय पृथक् पहचान और प्रतिष्ठा बनाये रखना, निर्वाचित प्रभुसत्ता की स्वीकृति तथा निर्वाचित नेताओं की इस तथ्य को स्पष्ट करने की कि क्या सार्वजनिक हित में है अथवा क्या सार्वजनिक हित में नहीं है, भूमिकाओं को मान्यता प्रदान करना, लोक प्रशासकों के अपने कार्य निष्पादन में ईमानदारी और निष्ठा, प्रशासनिक एवं राजनीतिक प्रणाली, जिसके प्रशासक एक अभिन्न अंग होते हैं, को स्वीकार करना और उसके प्रति निष्ठा रखना, के रूप में पहचान की जा सकती है। वेबर के प्रतिमान के साथ अनामत्व (गुमनाम) निष्पक्षता और तटस्थता को भी सम्बद्ध कर दिया गया।

नौकरशाही की राजनीतिक स्वामियों के हाथों में एक तटस्थ उपकरण के रूप में सामाजिक भूमिका को निश्चित राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों में स्वीकार कर लिया गया है।

अनामत्व का तात्पर्य था कि सिविल सेवक राजनीतिज्ञों को केवल पीछे से परामर्श देंगे और इनकी राजनीतिक कोलाहल के समक्ष उद्‌घाटित होने से रक्षा की जायेगी। सिविल सेवा के कर्मचारियों द्वारा सामाजिक दबाव तथा मुवक्किलों की भिन्न-भिन्न प्रकृति के उपरान्त भी, बिना किसी पूर्व धारणा के कार्य करने के विशेष गुण को निष्पक्षता की संज्ञा दी गई। तटस्थता का आशय एक प्रकार के राजनीतिक बंध्याकरण से है, जिसमें अधिकारीतन्त्र राजनीति के प्रवाह में परिवर्तनों से अप्रभावित बना रहता है। सिविल सेवक स्वयं सिद्ध राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ माना जाता है। राजनीतिक नेतृत्व में परिवर्तन हो सकते हैं, लेकिन सिविल सेवक स्वयं को तत्कालीन राजनीति से विलग रखते हुए अपने राजनीतिक स्वामियों को निरन्तर विश्वसनीय परामर्श देता रहेगा अतः अधिकारीतन्त्र को राजनीति की दुर्बलताओं तथा चपलताओं से अदूषित एक सार्वभौमिक एवं स्थायी संस्था के रूप में चित्रित किया गया है।

मेरले फेनसाड का कहना है कि अधिकारीतन्त्र के अन्य अनेक प्रकार होते हैं जिनकी भूमिका उनसे बिल्कुल भिन्न हो सकती है जिसकी वेबर के सूत्रीकरण में चर्चा की गई है। फेनसाड ने राजनीतिक सत्ता के प्रवाह से सम्बन्धित पाच भिन्न प्रकार के प्रशासनतन्त्रों का वर्णन किया है जिन्हें प्रतिनिधिक, दलीय, सैनिक, शासकीय तथा औपनिवेशिक नौकरशाही कहा जाता है।

1 *Woodrow Wilson* . The Study of Administration, Political Science Quarterly, June 1987, Vol. 2, pp 197-222.
2 The Weberian Theory of Bureaucracy has been fully discussed in Chapter IV.
3 *Joseph La Palombara*, "Bureaucracy and Political Development : Notes, Quaries and Dilemmas",

नौकरशाही का यह वर्गीकरण एक महत्वपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति करता है क्योंकि यह विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों में अधिकारीतन्त्र की भूमिका को परिभाषित करता है तथा सत्ता के उपभोग को इससे सम्बन्धित करता है। शासन के एक पर्याप्त असम्बद्ध यन्त्र के रूप में एक तटस्थ अधिकारीतन्त्र एक सार्वभौमिक तथ्य नहीं है। यह विशिष्ट राजनीतिक ढाँचे के अन्तर्गत ही देखा जा सकता है जो प्रशासनिक एवं राजनीतिक प्रणाली में निर्वाचित नेताओं की वैधानिक सर्वोच्चता को स्वीकार करता है। आलमण्ड ने विचार व्यक्त किया है, "तटस्थ यन्त्रीय अधिकारीतन्त्र, राजनीतिक सत्ता के प्रति उत्तरदायी, का आदर्श राजनीतिक प्रणालियों में ही प्राप्ति के सर्वाधिक निकट आता है, जहाँ राजनीतिक संस्कृति (राजनीतिक प्रणालियाँ) धर्मनिरपेक्षता तथा विवेकशीलता की ओर अभिमुख होती है और जहाँ राजनीतिक रुचि के कार्यों अर्थात् हितों का सन्नियोजन, समुच्चय और सार्वजनिक नीति का निर्माण होता है—का निष्पादन अभिकरणों द्वारा किया जाता है।"[1]

नौकरशाही की तटस्थता और निष्पक्षता शासक वर्ग, जिसका अधिकारीतन्त्र स्वयं एक भाग है, के मूलभूत वर्गीय चरित्र में भी देखी जा सकती है। डोनाल्ड किंग्सले[2] ने ब्रिटिश अधिकारीतन्त्र के विषय में लिखा, "निष्पक्षता के अभिसमय (परम्परा) को उसी स्थिति में बनाए रखा जा सकता है जब सेवा के निदेशक पदक्रम के सदस्य विशाल उद्देश्यों, जिनको पूर्ण करने का राज्य प्रयास कर रहा है, के प्रति वचनबद्ध हैं। जब उनके विचार समस्त प्रभुत्वशाली वर्ग के सदस्यों के विचारों के अनुरूप हैं। पिछले 75 वर्षों में, केवल कुछ अपवादों को छोड़कर, समस्त राजनीतिक दलों तथा सेवा के नेता मौलिक विषयों के सम्बन्ध में संगठित रहे हैं, उनके दृष्टिकोण तथा उनकी विचारधारायें एक समान मध्य वर्गीय रहे हैं और उनके क्षेत्रों के दृष्टिकोणों की पहचान ने स्थायी सेवा को एक सम्भव साहसिक कार्य बनाया है। मलाया के अधिकारीतन्त्र के शोधपूर्ण अध्ययन ने इस विचार को सुदृढ़ किया है। शान्ति और व्यवस्था में गहन एवं प्रबल रुचि रखने वाली सुदृढ़ सरकार में आस्था और विचार का राजनीतिज्ञों *एवं प्रशासकों ने समान रूप से समर्थन किया है जैसा शोधपूर्ण अध्ययन ने संकेत दिया है*[3], *ऐसा प्रतीत होता है कि* सिविल सेवकों तथा राजनीतिज्ञों दोनों ने ही राजनीतिक तटस्थता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है क्योंकि, राजनीतिक कार्यकारी कर्मियों के लिए कम से कम निष्ठावान और समर्पित सिविल सेवक, जो सत्तारूढ़ राजनीतिक दल को अपना पूर्ण समर्थन देने के लिए प्रतीत होते हैं, प्राप्त करना सम्भव रहा है। इंग्लैण्ड में राज्य की परिवर्तनशील प्रकृति के साथ अधिकारीतन्त्र में भी परिवर्तन हुआ है। जैसे कि पुराने कुलीनतन्त्र ने पूँजीवादी राज्य के लिए मार्ग दिया, सिविल सेवा का चरित्र भी कुलीनतन्त्र प्रधान सिविल सेवा से मध्यवर्गीय प्रधान सिविल सेवा में परिवर्तित हो गया। इस सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि अधिकारीतन्त्र उस समय तक ही उत्तरदायी है जहाँ तक वे राज्य में व्यापक रूप से वर्गों के प्रतिनिधि हैं। सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ और उच्च सिविल सेवा के सदस्यों की भर्ती करने का ढंग एक विशेष वर्ग का पक्ष करता है (जैसे उच्च शैक्षणिक योग्यता, आयु साक्षात्कार तकनीक आदि पर बल देता है) तो उच्च सार्वजनिक सेवाओं में अनुपातहीन ढंग से (असंगत) पदों पर उच्च भाग प्राप्त करता है।[4] ऐसा आरोप लगाया जाता है कि संकीर्ण सामाजिक आधार से भर्ती के परिणामस्वरूप अधिकारीतन्त्र के उच्च सोपानों में एक वर्ग के स्थायीकरण को सम्भव कर दिया है जो अधिकारीतन्त्र में प्रतिबन्धित और रूढ़िवादी सामाजिक दृष्टिकोण के मोर्चाबन्दी के खतरे को साथ ले जाता है।

राजनीति और प्रशासन का परस्पर सम्बन्ध और प्रभाव—राजनीति और प्रशासन के सम्बन्धों पर विचार करते समय वास्तव में किसी भी अतिवादी दृष्टिकोण से बचते हुए दोनों के बीच सन्तुलन की स्थापना की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में डॉ. एम. पी. शर्मा का अभिमत है कि "राजनीति और राजनीतिज्ञों को प्रशासन के व्यापक उद्देश्यों की परिभाषा और राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति की चेष्टा तक ही सीमित रहना चाहिए। यह राजनीतिक सत्ता ही प्रशासन की चालक शक्ति है और प्रशासकों का कार्य-क्षेत्र नीतियों के निर्माण के लिए, तथ्य व सूचनाएँ जुटाने, सुझाव देने, आलोचनाएँ करने तथा उनके निर्माण के पश्चात् उनको क्रियान्वित करने तक ही होना चाहिए।" जब

1. *Gabriel A Almond*, "Research Note : A Comparative Study of Interest Groups and the Political Process", American Political Science Review, Vol 52, March 1958, pp 279 80
2. *J Donald Kingsley*, Representative Bureaucracy : An Interpretation of the British Civil Service, 1944, p 278
3. *Mavis Puthucheary* : The Politics of Administration, The Malaysian Experience, 1978, p 49.
4. This has proved true of the higher echelons of the Civil Service in India. See in this connection, V. Subramaniam, Social Background of India's Administrators, Government of India, Publications Division, 1971, and C P. Bhambhri, Administrators in a Changing Society, 1972

तक यह सिद्धान्त बुनियादी रूप में मान्य है कि "नीतियों के विषय में अन्तिम निर्णय सत्ताधारी राजनीतिज्ञों के हाथों में रहेगा तब तक लोकतन्त्र को किसी प्रकार का कोई खतरा नहीं है; और जब तक राजनीतिज्ञ यह स्वीकार करने के लिए तैयार रहता है कि वह नीतियों के क्रियान्वयन के विषय में विशेषज्ञ नहीं है, तब तक प्रशासन को भी किसी प्रकार के अतिक्रमण का भय नहीं है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि दोनों के बीच कुछ उभयनिष्ठ क्षेत्र भी हैं फलतः राजनीतिज्ञ एवं प्रशासक के कार्यक्षेत्रों के मध्य एक निश्चित विभाजक रेखा खींचना सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, कुछ देशों में विशेष प्रकार के ऐतिहासिक तथ्यों और परम्पराओं के कारण ये उभयनिष्ठ क्षेत्र अधिक विस्तृत हो सकते हैं, परन्तु इस आधार पर राजनीति और प्रशासन के भेद को पूरी तरह समाप्त नहीं किया जा सकता। स्वस्थ परम्पराओं का निर्माण करने के लिए दोनों के मध्य भेद की उपेक्षा करने के स्थान पर उसे ध्यान में रखना अधिक लाभदायक होगा।" डॉ. शर्मा का यह अभिमत इस समस्या के समाधान करने में उचित और एक सन्तुलनकारी भूमिका का निर्वाह कर सकता है।

राजनीति और प्रशासन के बीच व्यावहारिक व्यवस्था के विकास में स्वस्थ परम्पराएँ प्रभावशाली सिद्ध होती हैं। दोनों परस्पर सहयोग करते हुए संघर्ष की सम्भावना को टाल सकते हैं। इंग्लैण्ड की व्यवस्था इसका एक बड़ा अच्छा उदाहरण है। यहाँ मन्त्रिगण अपने अधीनस्थ प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा अपने विचारों की मुक्त अभिव्यक्ति को न केवल सहन करते हैं बल्कि उसे आवश्यक भी मानते हैं। दूसरी ओर प्रशासकीय अधिकारी भी अपने राजनीतिक अध्यक्षों द्वारा निर्धारित नीतियों को पूरी लगन के साथ क्रियान्वित करते हैं, चाहे प्रारम्भिक अवस्थाओं में उन नीतियों से वे असहमत रहे हों। भारत में भी राजनीतिज्ञों और प्रशासकीय अधिकारियों के बीच सहयोग के सूत्र अद्यतन प्रशंसनीय रहे हैं।

फिफनर ने राजनीतिक और प्रशासकीय अधिकारियों के बीच दस भेद गिनाए हैं, जो इस प्रकार है—

राजनीतिक अधिकारी	प्रशासकीय अधिकारी
1. अव्यवसायी (Amateur)	1. व्यवसायी (Professional)
2. अप्राविधिक (Non-technical)	2. प्राविधिक (Technical)
3. दलीय (Partisan)	3. निर्दलीय (Non-Partisan)
4. अस्थायी (Temporary)	4. स्थायी (Permanent)
5. घनिष्ठ सार्वजनिक सम्पर्क	5. विरल सार्वजनिक सम्पर्क
6. घनिष्ठ विधायी सम्पर्क	6. विरल विधायी सम्पर्क
7. मुख्य नीति-निर्माता	7. गौण नीति-निर्माता
8. निर्णय-बहुल (More Decisions)	8. परामर्श-बहुल (More Advisory)
9. अधिक समन्वयकारी	9. अधिक क्रियान्वयन
10. लोकमत से प्रभावित	10. अध्ययन और अनुसंधान के आधार पर एकत्रित प्राविधिक तथ्यों से प्रभावित

फिफनर के विवरण के आधार पर प्रशासकीय और राजनीतिक अधिकारियों के कार्यों की सूचियाँ बनाई जा सकती हैं, परन्तु ये कार्य राजनीति और प्रशासन को एक-दूसरे से अलग नहीं करते क्योंकि दोनों के सहयोग से ही इन कार्यों का सम्पादन सम्भव है। राजनीतिक अधिकारी अथवा मन्त्री चुनावों के दौरान जनता को दिये गए वचनों को पूरा करने के लिए नीतियाँ बनाते हैं और देखते हैं कि उन्हें सही रूप में तेजी से लागू किया जा रहा है अथवा नहीं। अतः नीतियों के क्रियान्वयन के सिलसिले में वे प्रशासकीय कार्यों में अधीक्षण कर सकते हैं, समस्याजनक प्रशासकीय प्रश्नों पर वे निर्णय ले सकते हैं और इसी प्रकार प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति के बारे में भी उनका मत महत्वपूर्ण हो सकता है। उनका यह अधिकार अपेक्षित है कि वे प्रशासकीय विभाग से सम्बन्धित प्रत्येक जानकारी प्राप्त करें और आवश्यक होने पर जाँच भी करा सकें। राजनीतिज्ञों को यह अधिकार भी होना ही चाहिए कि सार्वजनिक और व्यक्तिगत शिकायतों को दूर करने के लिए प्रशासन में हस्तक्षेप कर सकें। पर इन सब के बावजूद उनसे यही आशा की जाती है कि वे प्रशासनिक क्षेत्र में यथासम्भव कम से कम हस्तक्षेप करेंगे, अपने अधीनस्थ प्रशासकीय अधिकारियों पर भरोसा रखेंगे, आवश्यक होने पर उनसे परामर्श लेंगे और उनके परामर्श को सावधानीपूर्वक विचार करने के बाद स्वीकार करने में संकोच नहीं करेंगे। प्रशासन के प्रति व्यवहार में वे चिड़चिड़ेपन और अधैर्य का प्रदर्शन नहीं करेंगे। अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करके वे प्रशासन से गलत काम

नहीं कराएँगे। प्रशासकीय अधिकारियों का भी कर्तव्य है कि वे आवश्यक आँकड़े, सूचनाएँ आदि जुटाकर, प्रस्तावित नीतियों के व्यापक अर्थों, प्रभावों और परिणामों के बारे में विस्तृत विवरण तैयार कर अपने राजनीतिक अध्यक्षों को सहयोग देंगे। वे राजनीतिक अध्यक्षों की नीतियों पर स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार व्यक्त करेंगे, लेकिन एक बार स्वीकृत हो जाने के बाद उन नीतियों को ईमानदारी से दृढ़तापूर्वक लागू करेंगे।

राजनीति और प्रशासन के बीच सम्बन्धों की दृष्टि से यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कुछ प्रशासकीय क्षेत्रों में प्रशासकीय अधिकारियों को स्वविवेक से नीतियों के निर्माण का भी अधिकार होगा, लेकिन यह अपेक्षित है कि ऐसी नीतियों का निर्माण नहीं किया जाएगा जो राजनीतिक अध्यक्षों की नीतियों से टकराते हों, अन्यथा सरकार का सुचारु रूप से संचालन कठिन हो जाएगा। यह भी आवश्यक है कि 'पदसोपान के स्वर्णिम-नियम' का पालन किया जाए अर्थात् राजनीतिक अध्यक्ष और अन्य उच्च अधिकारी अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ सीधे सम्बन्ध स्थापित न करें अपितु 'समुचित माध्यम द्वारा' से ही सम्पर्क स्थापित करें। अस्तु, कोई भी उच्चतर अधिकारी अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ प्रथम उच्च अधिकारी के द्वारा ही सम्पर्क स्थापित करें। यदि इस नियम की अवहेलना की गई तो गन्दी परम्पराएँ विकसित होंगी और इससे प्रशासकीय अधिकारियों की सत्ता तथा प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचने की सम्भावनाएँ भी प्रबल होंगी। ऐसी स्थिति में राजनीतिक व्यवस्था का सन्तुलन गड़बड़ा जायेगा।

चाहे राजनीति और प्रशासन एक-दूसरे से भिन्न लगें तथा इनमें काफी अलग-अलग विभाजन हो, लेकिन उनकी निकटता, अन्तर्निर्भरता और अन्योन्याश्रितता से इन्कार नहीं किया जा सकता है। दोनों की इस प्रकार की घनिष्ठता तीन तथ्यों से स्पष्ट है—

1. राजनीतिक व्यवस्था प्रशासन के लिए कोई बाह्य अथवा असंगत चीज नहीं है। राजनीति समाज का मूल ढाँचा प्रस्तुत करती है और प्रशासन इसी घेरे में उसके द्वारा निर्धारित संगत भूमिका निभाने के लिए उसका एक एजेन्ट मात्र है।

2. जो प्रशासन अपने आप को अराजनीतिक होने का दावा करता है वह कुल मिलाकर एक राजनीति-विरोधी प्रशासन है, जो या तो राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति का विरोध करता है या उसे नौकरशाही के पिंजरे में जकड़ कर प्रभावहीन बनाने की चेष्टा करता है।

3. सभी प्रशासनिक व्यवस्थाएँ राजनीतिक व्यवस्थाओं के अनुरूप होती हैं। उदाहरणार्थ, अमेरिकी जनतन्त्रात्मक व्यवस्था में जिस प्रशासक को केन्द्रीय भूमिका मिली है, उसे रूस की व्यवस्था अपने प्रशासन में प्रविष्ट नहीं होने देगी।

वास्तव में राजनीति लोक प्रशासन को नियन्त्रित करती है, किन्तु बदले में यह भी सही है कि लोक प्रशासन राजनीति को दिशा-निर्देश देता है। दोनों के सम्बन्ध में विवेचन से हमें अतिवादी दृष्टिकोण के स्थान पर सन्तुलित दृष्टिकोण विकसित करना चाहिए। प्रशासन द्वारा राजनीति को सम्मान देना चाहिए और राजनीति द्वारा प्रशासन को। राजनीति को प्रशासन को अपने हाथों का खिलौना मानकर चलने की मनोवृत्ति से बचना चाहिए। डॉ. एम. पी. शर्मा के अनुसार, "जब राजनीति यह चिन्तन करने की भूल करती है कि प्रशासकीय दृष्टि से क्या व्यावहारिक और सम्भव है, तब यह केवल काल्पनिक स्वरूप ग्रहण कर लेती है और लोक प्रशासन अपने राजनीतिक सन्दर्भ से अलग हटकर शून्य बन जाता है।" राजनीति और प्रशासन में सकारात्मक संबंध ही किसी देश के विकास को नई गति और नया स्वरूप प्रदान कर सकते हैं।

लोक प्रशासन और कानून

(Public Administration and Law)

लोक प्रशासन और कानून के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। पुरुषो विल्सन के अनुसार, "लोक प्रशासन सार्वजनिक कानून का व्यापक अधिशासी स्वरूप है।" लोक प्रशासन और कानून के घनिष्ठ सम्बन्ध को निम्नलिखित विवेचन से मैं स्पष्ट कर सकते हैं—

1. लोक प्रशासन देश के कानूनों के अन्तर्गत ही कार्य करता है। प्रशासन ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकता जो कानून के विपरीत हो। डॉ. एम. पी. शर्मा के अनुसार, "लोक प्रशासन को कानून या विधि के दाहिनी ओर रहना होता है, अर्थात् केवल इतना ही नहीं कि वह किसी विधि का उल्लंघन न करे, वरन् उसे कोई कार्य भी

केवल तभी करना चाहिए जबकि विधि उसे ऐसा करने की अनुमति दे।" इस प्रकार लोक प्रशासकों को विधि या कानून की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार करना होता है।

2. यूरोप के अनेक राष्ट्रों में लोक प्रशासन कानून के अधीन माना जाता है। कानून को लोक प्रशासन का लक्ष्य और लोक प्रशासन को उसका माध्यम माना जाता है। लोक प्रशासन देखता है कि राष्ट्रीय कानून का पालन अधिकाधिक सीमा तक हो, इसीलिए यह कानून की एक शाखा के रूप में मान्य है।

3. कानून-निर्माण प्रक्रिया के साथ भी लोक प्रशासन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अधिकांश विधेयक विभिन्न प्रशासकीय विभागों के प्रयास पर आरम्भ किए जाते हैं और उनका प्रारम्भिक प्रारूप प्रायः उन विभागों की इच्छानुसार तैयार किया जाता है। आधुनिक युग में प्रदत्त व्यवस्थापन का प्रचलन अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है जिसके अनुसार प्रशासकीय अधिकारी और विभाग नियमों आदि के रूप में एक बड़ी संख्या में कानूनों का निर्माण करते हैं। समयाभाव के कारण संसद् कतिपय सीमाओं के अन्तर्गत निर्मात्री शक्तियाँ कार्यपालिका को सौंप देती है।

4. प्रशासन के उत्तरदायित्व को वहन करने के क्षेत्र में कानून एक महत्वपूर्ण साधन है। यदि प्रशासन कोई अनधिकृत कार्य करता है और वैधानिक सत्ता का उल्लंघन करता है तो न्यायालय प्रदत्त कानून के अनुसार उसे ठीक कर देते हैं। कानून प्रशासन को नागरिकों की स्वतन्त्रता का हनन करने से रोकता है।

5. प्रशासन केवल एक कानून अथवा वैधानिक विषय ही नहीं है जैसा कि डॉ. एम. पी. शर्मा ने लिखा है, "विधि के व्यापक क्षेत्र के अन्तर्गत प्रशासक को स्वविवेक की शक्ति दी जानी चाहिए ताकि वह तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार कार्य कर सके और प्रसंग एवं परिस्थिति के अनुसार साधनों का चयन कर सके।"

6. सामाजिक और आर्थिक कानूनों के निर्माण में प्रशासन का काफी प्रभाव पड़ता है। कानून के मौलिक विचारों में परिवर्तन लाने में भी प्रशासन की प्रमुख भूमिका होती है।

7. लोक प्रशासन और संविधानिक कानून में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। वुडरो विल्सन ने लिखा है, "प्रशासन का अध्ययन संविधानिक सत्ता के समुचित वितरण के अध्ययन के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।"

लोक प्रशासन और अर्थशास्त्र

(Public Administration and Economics)

लोक प्रशासन के कुछ क्षेत्रों में अर्थशास्त्र को कठिन माना जाता है। उदाहरण के लिए बजट बनाने तथा वित्त के सम्बन्ध में *सारा अर्थशास्त्र, सिद्धान्त, उपकरण तथा यहाँ तक कि इसकी विशिष्ट शब्दावली प्रक्रिया का* आधार है। इसका मुख्य कारण एक अर्थशास्त्री की सफलता बड़े पैमाने पर आकड़ों का विश्लेषण करने की कला में दक्ष होना है। संक्षेप में इस तरह के विश्लेषण में समय-समय पर, सारे समाज की आय सम्बन्धी सूचना एकत्रित करना, उपभोग, बचत, निवेश, बेकारी तथा एक या दूसरी आर्थिक नीतियों के प्रभावों को जाँचना राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के प्रबन्धकर्ता के लिए सूक्ष्म अर्थशास्त्र का महत्व सार्वजनिक प्रोग्राम के निर्माण में मार्गदर्शन के रूप में होता है। तथा इस योजना के आशातीत परिणाम निकलते हैं या नहीं इसका निर्णय करने में दोनों ही तरह से इसकी उपयोगिता है। विज्ञान तथा तकनीक के प्रभाव के परिणामस्वरूप, वर्तमान सरकारों ने बहुत से कार्य अपने हाथों में ले लिए हैं जो पहले निजी व्यापारियों तथा व्यावसायिकों के हाथों में थे। बहुत से विकासशील राष्ट्रों में आर्थिक नियोजन सरकार की सामाजिक एवं आर्थिक नीतियों का आधार बन गया है। सार्वजनिक उद्यम या राज्य अधिकृत अथवा राज्य द्वारा प्रारम्भ प्रबन्धकीय उद्योग तेजी से विकसित हो रहे हैं जो सामान्य बात हो गई है। लोक प्रशासन के आर्थिक कार्य प्रतिदिन बढ़ रहे हैं। आज प्रशासन को ही फैक्ट्रियाँ चलाने, कृषि का प्रबन्ध करने, बैंकों का काम देखने तथा बीमा करने का काम दिया जा रहा है। एक प्रशासक के महत्वपूर्ण कार्यों में से एक कार्य देश की आर्थिक समस्याओं को पूरी तरह समझना है।

अर्थशास्त्रियों ने नियोजन और निर्णय-निर्माण तथा पूर्व घोषणा में अपने कार्यों द्वारा अपना योगदान दिया है। साधनों के विभाजन में अराजकता स्थिति पैदा करने के उनके प्रयासों ने बाह्य परिस्थितियों के साथ-साथ आन्तरिक निर्णय निर्माण में अपने आपको समन्वित करने के प्रभावशाली तरीकों के बारे में प्रशासक को परामर्श देने में काफी सहायता की है। स्थिर तथा परिवर्तनशील मूल्य की धारणा, अवसरवादी मूल्य, सीमांत मूल्य सापेक्षता कटौती किया मुद्रा प्रवाह, विश्लेषण—नियोजन, प्रोग्राम बनाना, बजट बनाने की व्यवस्था, निवेश पर आय तथा व्यय

सम्बन्धी पूर्व घोषणा जैसी समस्त धारणाएँ प्रशासकों द्वारा सामान्यतया प्रयोग की जाती हैं जो मुख्य रूप से अर्थशास्त्रियों द्वारा ही विकसित की गई थीं।

राज्य के लोक-कल्याणकारी स्वरूप के विस्तार के साथ-साथ लोक प्रशासन और अर्थशास्त्र के सम्बन्धों की घनिष्ठता में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। वर्तमान युग में लोक प्रशासन पर आर्थिक समस्याएँ छाई हुई हैं, दोनों अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए एक-दूसरे के लिए उपयोगी हैं। यदि लोक प्रशासन अर्थशास्त्र को संगठन प्रदान करता है तो अर्थशास्त्र लोक प्रशासन के संगठन के लिए वित्तीय स्रोत और साधन जुटाता है। लोक प्रशासन और अर्थशास्त्र के सम्बन्ध को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है—

1. प्रत्येक आर्थिक क्रिया का स्वरूप प्रशासकीय भी होता है। आर्थिक क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि समाज में व्यवस्था कायम रहे और यह व्यवस्था प्रशासन का मूलमन्त्र है। यदि प्रशासन शिथिल और गतिहीन होगा तो समाज में न्याय, शान्ति और व्यवस्था की स्थापना नहीं हो सकेगी जिसके फलस्वरूप आर्थिक क्रियाएँ समुचित रूप से सम्पन्न नहीं होंगी। अव्यवस्था की स्थिति में आर्थिक योजनाएँ पूरी नहीं हो सकती हैं।

2 अनेक आर्थिक प्रश्न लोक प्रशासन की परिधि में आते हैं। उदाहरणार्थ, कर एक आर्थिक प्रश्न भी है और लोक प्रशासन का विषय भी है। इसी प्रकार बजट का सम्बन्ध लोक प्रशासन और अर्थव्यवस्था दोनों से होता है। राष्ट्रीयकरण को हम केवल आर्थिक प्रश्न ही नहीं कहेंगे बल्कि यह लोक प्रशासन का भी, एक गम्भीर विषय है। इसी तरह से उदारीकरण की प्रक्रिया अर्थशास्त्र का विषय होने के साथ-साथ लोक प्रशासन का भी विषय है।

3 वर्तमान युग आर्थिक राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता का युग है, अत राज्य के लिए आवश्यक है कि वह राष्ट्रीय उद्योगों को संरक्षण प्रदान करे, उन्हें आर्थिक सहायता दे और विदेशी व्यापार का संवर्द्धन करे। सामाजिक न्याय की दृष्टि से यह आवश्यक हो गया है कि राज्य अथवा लोक प्रशासन व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्र में प्रवेश करे। भारत में सार्वजनिक उद्योगों का विस्तार आर्थिक क्षेत्र में लोक प्रशासन के बढ़ते हुए प्रवेश का सूचक है। वर्तमान युग की प्रवृत्ति है कि राज्य को आर्थिक विषयों में अधिकाधिक प्रवृत्त किया जाए। इन्हीं बातों ने यह आवश्यक बना दिया है कि लोक प्रशासक आर्थिक समस्याओं के बारे में पर्याप्त ज्ञान रखें। वर्तमान में प्रत्येक प्रशासकीय नीति को उसके आर्थिक परिणामों के सन्दर्भ में देखा जाता है। जो विभिन्न दबाव-समूह प्रशासन को प्रभावित करते हैं, वे अधिकांशत अपने-अपने हितों के संरक्षण के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। आज के लोक प्रशासन का यह प्रथम दायित्व है कि वह राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि और शक्ति के लिए कार्य करे। डॉ. एम. पी. शर्मा के अनुसार, "उसे (लोक प्रशासन को) प्रतिकूल वाणिज्यिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष करना चाहिए, बेरोजगारों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी चाहिए, यथासम्भव अनुकूल व्यापारिक सन्तुलन बनाए रखना चाहिए और राष्ट्र की वित्तीय साख तथा स्थिरता को कायम रखने के लिए शक्तिभर चेष्टा करनी चाहिए। यदि लोक प्रशासन देश की वित्तीय समस्याओं को सन्तोषजनक रूप से हल नहीं कर पाता तो साख समाप्त हो जाती है, फलतः उसमें जनता को विश्वास नहीं रहता।"

4 समाजवाद का आधार आर्थिक है। शासन-व्यवस्था को समाजवादी विचारों ने प्रभावित कर रखा है और प्रशासन का लक्ष्य समाजवादी सिद्धान्तों या आदर्शों का व्यापक और सफल क्रियान्वयन हो गया है।

5. वर्तमान आधुनिक युग में एक व्यक्ति की आर्थिक क्रियाएँ पूरे समाज को प्रभावित करती हैं और आज का आर्थिक ढाँचा व्यक्ति तथा उसके जीवन-स्तर को प्रभावित करता है। समाज में कृत्रिम आर्थिक प्रतियोगिताएँ हावी न हों, आर्थिक शोषण की प्रवृत्तियाँ न पनपें, एकाधिकारपूर्ण स्थितियाँ पैदा न हों, आर्थिक विषमताओं का विस्तार न हो, इन सब बातों के लिए यह आवश्यक है कि लोक प्रशासन अनुचित आर्थिक क्रियाओं को प्रतिबन्धित करे, और आर्थिक क्षेत्र में प्रशासकीय नियन्त्रण स्थापित करे।

6. वर्तमान युग नवीन विचारों के साथ-साथ अधिकाधिक नवीन प्रयोगों का युग है। नवीन आर्थिक विचार प्रशासन के संगठन और प्रशासनिक रीतियों को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित कर रहे हैं। व्यावसायिक क्षेत्र में राज्य के प्रवेश के फलस्वरूप नए प्रकार के प्रशासकीय संगठनों अर्थात् सार्वजनिक निगमों का उदय हुआ है और वैयक्तिक सम्पत्ति का नियमन आदि करने की दृष्टि से प्रशासकीय विधि तथा प्रशासकीय न्यायाधिकरण-पद्धति विकसित हुई है। लोक प्रशासन की प्रक्रियाओं में व्यापारिक रीतियों को अधिकाधिक मात्रा में लागू करने की प्रवृत्ति पनप रही है और इस दिशा में नए-नए प्रयोग हो रहे हैं।

लोक प्रशासन एक अनुशासन के रूप में : नव लोक प्रशासन

(Public Administration as an Discipline : New Public Administration)

लोक प्रशासन एक विकासशील विज्ञान है जिसका समय, स्थान और स्थितियों के अनुसार इसका विकास होता रहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा पाश्चात्य देशों में इसके विकास की प्रक्रिया तीव्र रही है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अस्तित्व में आये तृतीय विश्व के देशों में भी लोक प्रशासन के अध्ययन के नूतन आयाम उजागर हुए हैं, फलतः इसका एक स्वतंत्र विषय के रूप में विकास हुआ है। लोक प्रशासन एक नवीनतम समाज विज्ञान है जिसने अभी अपने एक सौ वर्ष पूरे किए हैं। एक विकासशील समाज विज्ञान होने के बावजूद इसका जीवन उतार-चढ़ावों और उथल-पुथल से परिपूर्ण रहा है। लोक-प्रशासन का इतिहास निम्नलिखित 5 चरणों में विभाजित किया जा सकता है–

प्रथम चरण (1887-1926) : एक विषय के रूप में लोक प्रशासन का जन्म 1887 में अमेरिका में हुआ। प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी में राजनीतिशास्त्र के तत्कालीन प्राध्यापक वुडरो विल्सन को इस शास्त्र का जनक माना जाता है। उन्होंने 1887 में प्रकाशित अपने लेख 'The Study of Administration' में राजनीति और प्रशासन को अलग-अलग बताते हुए कहा था कि "एक संविधान का निर्माण सरल है पर इसे चलाना बड़ा कठिन है।" उन्होंने इसे "चलाने" के क्षेत्र के अध्ययन पर बल दिया जो स्पष्टतः "प्रशासन" ही है तथा राजनीति और प्रशासन में अन्तर स्पष्ट किया। इस लेख के प्रकाशन के साथ ही वास्तव में एक ऐसे नए युग का सूत्रपात हुआ जिसमें धीरे-धीरे लोक प्रशासन अध्ययन के एक नए क्षेत्र के रूप में विकसित हुआ।

इस विषय के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रणेता फ्रैंक जे. गुडनाउ (Frank J. Goodnow) हैं जिन्होंने 1900 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'Politics and Administration' में यह तर्क प्रस्तुत किया कि राजनीति और प्रशासन अलग-अलग हैं क्योंकि जहाँ राजनीति राज्य-इच्छा को प्रतिपादित करती है वहाँ प्रशासन का सम्बन्ध इस इच्छा या राज्य की नीतियों के क्रियान्वयन से है। वास्तव में यह वह समय था जब अमेरिका में सरकारी क्षेत्र में शिथिलता और भ्रष्टाचार का बोलबाला था और फलस्वरूप सरकार-सुधार के आन्दोलन चल रहे थे। इस सुधार-आकांक्षी वातावरण में अनेक विद्यालयों में लोक प्रशासन का अध्ययन-अध्यापन प्रारंभ हुआ। 1914 ई. में अमेरिकी राजनीति विज्ञान संघ ने अपनी एक रिपोर्ट में कहा कि सरकार में काम करने के लिए कुशल व्यक्तियों की पूर्ति करना राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का एक लक्ष्य है। फलस्वरूप लोक प्रशासन राजनीति विज्ञान का एक प्रमुख अंग बन गया और इसके साथ ही अध्ययन-अध्यापन को भारी प्रोत्साहन मिला। सन् 1926 में एल. डी. व्हाइट (L.D. White) की पुस्तक 'Introduction to the Study of Public Administration' प्रकाशित हुई। यह लोक प्रशासन की प्रथम पाठ्य-पुस्तक थी जिसमें राजनीति और प्रशासन को अलग-अलग रूप में चित्रित किया गया और यह मान्यता प्रकट की कि लोक प्रशासन का मुख्य लक्ष्य दक्षता और मितव्ययिता की भावना है। व्हाइट की पुस्तक को लोक प्रशासन की महत्त्वपूर्ण कृति माना जाता है और वर्तमान में भी इसका अनुसरण किया जाता है। लोक प्रशासन के विकास के इस प्रथम चरण की दो प्रमुख विशेषताएँ रही हैं—लोक प्रशासन का उदय और राजनीतिक एवं

प्रशासन के अलगाव में विश्वास। इनके अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका में इस विषय की लोकप्रियता में अत्यधिक वृद्धि हुई। इसने इस विषय के विकास की आधारभूमि तय की।

द्वितीय चरण (1927-1937) : लोक प्रशासन के इतिहास में द्वितीय चरण का प्रारम्भ हम डब्ल्यू. एफ. विलोबी (W.F. Willoughby) की पुस्तक 'Principles of Public Administration' से मान सकते हैं। इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि लोक प्रशासन में अनेक सिद्धान्त हैं जिनको क्रियान्वित करने से इसको सुधारा जा सकता है। व्हाइट और विलोबी के दोनों ग्रन्थों ने लोक प्रशासन सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तकों के प्रणयन और उसके अध्ययन की पद्धति का निर्धारण किया। इन दोनों ही ग्रन्थों का रूप तकनीकी है जिनमें उन सभी प्रकार की सामान्य समस्याओं का अध्ययन किया गया है, जिन्हें 'पोस्डकार्ब' शब्द से समाहित किया जा सकता है, लेकिन इन पुस्तकों में प्रशासकीय अध्ययन के विशिष्ट क्षेत्र में उठने वाली विषय-वस्तु सम्बन्धी समस्याओं का वर्णन नहीं मिलता है। *ये दोनों ही प्रवर्तक ग्रन्थ इस मान्यता पर आधारित हैं कि लोक प्रशासन को राजनीति से पृथक् और स्वतन्त्र होना चाहिए।* साथ ही इनमें यह अवधारणा भी निहित है कि लोक प्रशासन के सिद्धान्तों को सहज ही पहचान और परिभाषित किया जा सकता है।

विलोबी की उपर्युक्त पुस्तक के बाद अनेक विद्वानों यथा मेरी पार्कर फोलेट (Marry Parker Follet), हेनरी फेयोल (Henry Fayol), मूने (Mooney), रिले (Reiley) आदि के प्रकाशन सामने आये। 1937 में लूथर गुलिक (Luther Gulick) तथा उर्विक (Urwick) ने मिलकर लोक प्रशासन पर एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'Papers on the Science of Administration' का सम्पादन किया। इन सभी विद्वानों की यह मान्यता रही है *कि प्रशासन में सिद्धान्त होने के कारण यह एक विज्ञान है और इसीलिए इसके आगे 'लोक' शब्द लगाना उचित नहीं है।* सिद्धान्त तो सभी जगह लागू होते हैं, चाहे वह 'लोक-क्षेत्र' हो या निजी-क्षेत्र'।

द्वितीय चरण की प्रमुख विशेषता यही रही कि अब लोक प्रशासन के अध्ययन में इस बात पर बल दिया गया कि प्रशासन के कुछ सिद्धान्त हैं। इससे इस विषय का सैद्धान्तिक स्वरूप उभरा। यह स्थिति किसी भी विषय की विषय-वस्तु को समृद्ध करने के लिए आवश्यक मानी जाती है।

तृतीय चरण (1938-1947) : अब प्रशासन में सिद्धान्तों को चुनौती देने का युग प्रारम्भ हुआ। सन् 1938 से 1947 तक का यह चरण लोक प्रशासन के क्षेत्र में विध्वंसकारी अधिक रहा। सन् 1938 में चेस्टर बर्नार्ड (Chester Bernard) की 'The Functions of the Executive' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें प्रशासन के किसी भी सिद्धान्त का वर्णन नहीं किया गया। सन् 1946 में हरबर्ट ए. साइमन (Herbert A. Simon) ने अपने एक लेख में लोक प्रशासन के तथाकथित सिद्धान्तों को नकारते हुए इन्हें 'किंवदंतियों' की संज्ञा दी। लगभग एक साल बाद ही उनकी पुस्तक 'Administrative Behaviour' प्रकाशित हुई जिसमें यह सिद्ध किया गया कि प्रशासन में सिद्धान्त नाम की कोई चीज नहीं है। सन् 1947 में राबर्ट डहाल (Robert Dahal) ने अपने एक लेख में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि लोक प्रशासन विज्ञान नहीं है और इसको सिद्धान्त की खोज में मुख्यतः तीन बाधाओं का सामना करना पड़ता है—प्रथम, विज्ञान 'मूल्य-शून्य' होता है जबकि प्रशासन *'मूल्य-बहुल' है, द्वितीय, मनुष्यों के व्यक्तित्व समान नहीं होते और फलस्वरूप प्रशासन के कार्यों में विभिन्नता आ जाती है एवं तृतीय, यह सामाजिक ढाँचा भी एक बाधा है जिसके अन्तर्गत लोक प्रशासन पनपता है।* इस तृतीय चरण की प्रधानता यही रही कि लोक प्रशासन का अध्ययन चुनौतियों और आलोचनाओं का शिकार बना, जिससे इस विषय के विकास की नई संभावनाएँ उजागर हुईं।

चतुर्थ चरण (1948-1970) : यह चरण इस रूप में 'संकट का काल' रहा कि लोक प्रशासन जिन-जिन उपलब्धियों का उल्लेख कर रहा था, उन्हें नकार दिया गया फलतः इसे 'क्रान्तिकारी युग' की संज्ञा भी दी जाती है। हरबर्ट ए. साइमन की युक्तिसगत आलोचना के फलस्वरूप 'सिद्धान्तवादी' विचारधारा अविश्वसनीय प्रतीत होने लगी। लोक प्रशासन के स्वरूप के सम्बन्ध में जो अनेक सन्देह उठ खड़े हुए थे, वह विवाद का विषय बन गये। इसीलिए 1948 से 1970 के चरण को लोक प्रशासन के 'स्वरूप की संकटावस्था' (Crisis of Identity) कहा गया है। इस युग में लोक प्रशासन ने दो विकल्प अपनाए—प्रथम, कुछ विद्वान राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत आ गए, द्वितीय, लोक प्रशासन के विकल्प की खोज हुई। जो विद्वान राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत आए उनका तर्क था कि लोक प्रशासन राजनीति से निकला है और उसका अंग है। इस समय राजनीतिशास्त्र भी कुछ परिवर्तनों के दौर से

गुजर रहा था और उसमें लोक प्रशासन को पहले वाला महत्त्व नहीं दिया जा रहा था। स्वाभाविक था कि इस स्थिति में लोक प्रशासन सौतेलेपन और अकेलेपन का अनुभव करने लगा। लोक प्रशासन के जिस विकल्प की खोज हुई, वह था—'प्रशासनिक विज्ञान' (Administrative Science)। लोक प्रशासन, व्यापार प्रबन्ध (Business Administration) आदि ने मिलकर 'प्रशासनिक विज्ञान' की नींव डाली। यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि प्रशासन तो प्रशासन ही है, चाहे वह निजी क्षेत्र में हो या सार्वजनिक क्षेत्र में। 1956 में 'Administrative Science Quarterly' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। वास्तव में यह बहुत अखरने वाली बात थी कि लोक प्रशासन के अपने 'निजी स्वरूप' को आघात पहुँचे।

पंचम चरण (1971 से अब तक) : चतुर्थ चरण की आलोचनाओं, प्रत्यालोचनाओं और चुनौतियों ने कुल मिलाकर लोक प्रशासन का हित ही किया। लोक प्रशासन का अध्ययन बहुचर्चित हो गया तथा नए-नए दृष्टिकोण विकसित हुए फलतः लोक प्रशासन चहुँमुखी प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हुआ। अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विभिन्न शास्त्रों के विद्वान और अध्येता लोक प्रशासन में रुचि लेने लगे। इन विभिन्न अध्ययनों और प्रयत्नों के फलस्वरूप लोक प्रशासन 'अन्तर्विषयी' (Inter-disciplinary) बन गया और आज यह एक तथ्य है कि समाजशास्त्रों में यदि कोई विषय सबसे अधिक 'अन्तर्विषयी' है तो वह लोक प्रशासन ही है। इससे अन्तर-अनुशासनात्मक लोक प्रशासन के वैज्ञानिक स्वरूप का विकास हुआ। इतना ही नहीं इससे लोक प्रशासन के क्षेत्र का विस्तार होता चला गया और तुलनात्मक लोक प्रशासन (Comparative Public Administration) तथा विकास प्रशासन (Development Administration) इत्यादि का आविर्भाव हुआ। परम्परागत दृष्टिकोण की अपर्याप्तता, अनुसन्धान के नए उपकरणों और नवीन धारणाओं के उदय, नवीन सामाजिक सन्दर्भ, अन्तर्राष्ट्रीय निर्भरता आदि ने तुलनात्मक लोक प्रशासन को जन्म देकर उसे आगे बढ़ाया। लोक प्रशासन के तुलनात्मक अध्ययन के परिणामों और प्रविधियों का समग्र लोक-प्रशासन के स्वरूप पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। वर्तमान में लोक प्रशासन में मात्र पश्चिमी देशों का ही अध्ययन नहीं होता है, वरन् साम्यवादी तथा तृतीय विश्व के देश भी इसकी परिधि में आ गए हैं। लोक प्रशासन एक संस्कृति विशेष के घेरे से निकल कर अन्य संस्कृतियों की ओर भी उन्मुख हुआ है जिसने इसे अधिक गौरवशाली बनाया है और इसकी क्रान्तिकारी प्रगति के द्वार खोल दिए हैं। वर्तमान में विश्व के अनेक महत्वपूर्ण और ख्यातिप्राप्त विश्वविद्यालयों में इस विषय का सुचारू रूप से अध्ययन किया जा रहा है। इस विषय पर अनेक शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं। अनेक महत्वपूर्ण शोध-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। अनुसंधान के क्षेत्र में भी नवीनतम तकनीकों को अपनाया जा रहा है। क्षेत्रीय अध्ययनों की परम्परा का विकास हो रहा है। शोध और अनुसंधान के कारण लोक प्रशासन की नवीनतम अवधारणाओं का विकास हो रहा है। लोक प्रशासन से जुड़े विविध पक्षों पर सेमीनारों और सम्मेलनों की आयोजना से भी जहाँ इसके सैद्धान्तिक कलेवर को पुष्ट किया जा रहा है, वहाँ दूसरी ओर नूतन सिद्धान्तों और अवधारणाओं का विकास हो रहा है। विश्वविद्यालयों में इस विषय के अध्ययन की लोकप्रियता में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। विगत दशक में विश्व के सभी देशों में भारी संख्या में छात्र इस विषय का अध्ययन कर रहे हैं। विभिन्न देशों में प्रशासनिक सेवाओं में भर्ती करने के लिए जिन प्रतियोगी परीक्षाओं का आयोजन किया जाता है उनमें लोक प्रशासन भी एक प्रमुख विषय के रूप में शामिल कर लिया गया है। प्रशासकों को प्रशिक्षण देते समय उन्हें लोक प्रशासन का गहन अध्ययन कराया जाता है। जन-साधारण में भी यह विषय लोकप्रियता प्राप्त करता जा रहा है। लोक प्रशासन की विषय-वस्तु भी समृद्ध होती जा रही है। इसमें 'तुलनात्मक लोक प्रशासन', 'विकास प्रशासन', 'कार्मिक प्रशासन', 'पुलिस प्रशासन', 'प्रशासनिक चिन्तन', 'नगरीय स्वायत्त शासन, 'ग्रामीण स्वशासन अथवा पंचायती राज' का प्रमुखता से अध्ययन किया जा रहा है साथ ही इन विषयों पर उच्च-कोटि के प्रकाशन सामने आ रहे हैं।

नवीन लोक प्रशासन

(New Public Administration)

लोक प्रशासन एक विकासशील विषय है। इसमें सतत् रूप से नवीन सिद्धान्तों और प्रविधियों का विकास होता रहा है। लोक प्रशासन के क्षेत्र में 1968 के बाद कुछ इतने महत्त्वपूर्ण नवीन विचारों का सूत्रपात हुआ है कि

इन विचारों को 'नव लोक प्रशासन' (New Public Administration) कहा गया है। 1971 में फ्रैंक मैरीनी (Frank Marini) द्वारा सम्पादित पुस्तक 'Towards a New Public Administration–Minnowbrook Perspective' के प्रकाशन के साथ ही 'नव लोक प्रशासन' को मान्यता प्राप्त हुई है। यह पुस्तक मुख्यतः 1968 में आयोजित मिन्नोब्रुक सम्मेलन के निष्कर्षों पर आधारित है। यह सम्मेलन लोक प्रशासन की युवा पीढ़ी का सम्मेलन था जिसके परिणामों तथा निष्कर्षों ने यथार्थ रूप में नवीन लोक प्रशासन को जन्म दिया। लोक प्रशासन की अनुशासनिक रूढ़िवादिता ने लोक प्रशासन विशेषज्ञों के अहम में वृद्धि की है, लेकिन विषय के राजनीति शास्त्र से हस्तान्तरण ने राजनीति शास्त्र और लोक प्रशासन दोनों ही के विद्वानों को चिन्तित कर दिया है। विचार व्यक्त किया गया है कि जब तक दोनों विषयों का बिना अपनी-अपनी पहचानें विलुप्त किये, मुक्त रूप से विलय नहीं हो जाता है, तब तक सरकार को समझना असन्तुलित एवं अपर्याप्त होगा। लोक प्रशासन का मूल उद्देश्य एवं सम्बद्धता राजनीति शास्त्र के साथ निकट सम्पर्क से बहुत बढ़ जायेगी। एक शक्तिशाली दृष्टिकोण यह रहा है कि "प्रशासन का अध्ययन, राजनीति के अध्ययन की अन्य अभिव्यक्ति है।" 1960 के दशक के अन्तिम वर्षों में अमेरिका के विद्वानों की युवा पीढ़ी के कुछ सर्वोत्कृष्ट विद्वानों ने अमेरिका के लोक प्रशासन में एक नये आन्दोलन का पथ प्रदर्शन किया। यह आन्दोलन नव लोक प्रशासन के नाम से विख्यात हुआ। रूढ़िवादी लोक प्रशासन की स्वीकृत मान्यताओं तथा अनेकतावादी राजनीति शास्त्र को चुनौती दी। राजनीतिक सिद्धान्त की दिशा में लोक प्रशासनोन्मुख नवीन विचारधारा का सूत्रपात करने के लिए रचनायें आईं। वालेस सायरे (Wallace Sayre) ने इन विचारों एवं भावनाओं का सार व्यक्त करते हुए कहा है "लोक प्रशासन, राजनीतिक सिद्धान्त की ही अन्ततोगत्वा एक समस्या है।" इस नवीन प्रति संस्कृति ने प्रशासन में राजनीतिक सिद्धान्त की प्राथमिकता का आग्रह किया है। यहाँ एक सैद्धान्तिक दृढ़ विश्वास है कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में राजनीतिक संस्थान सत्ता के अधिकारीतन्त्रीय यन्त्रों का प्रयोग किया जाता रहा है और बुद्धिजीवी संस्थानों द्वारा शैक्षणिक शिलता के साथ अध्ययन किया जाता था जो अमेरिका के समाज के सर्वाधिक कठोर एवं दमनात्मक संस्थान माने जाते हैं। यद्यपि 'नवीन लोक प्रशासन' के वास्तविक जनक के रूप में श्रेय 1968 के मिन्नो ब्रुक सम्मेलन को ही जाता है तथापि नव लोक प्रशासन का बीजारोपण बहुत पहले ही हो चुका था। नव लोक प्रशासन के उदय और विकास में जो घटनाएँ "नींव के पत्थर के रूप में" मानी जाती हैं, वे निम्नांकित हैं—

1. सार्वजनिक सेवाओं सम्बन्धी उच्च शिक्षा पर हनी प्रतिवेदन, 1967
2. लोक प्रशासन के सिद्धान्त एवं व्यवहार सम्बन्धी सम्मेलन, 1967
3. मिन्नोब्रुक सम्मेलन, 1968
4. फ्रैंक मैरीनी द्वारा सम्पादित पुस्तक 'नव लोक प्रशासन की दिशाएँ—मिन्नो ब्रुक परिप्रेक्ष्य में' का प्रकाशन, 1971
5. ड्वाइट वाल्डो द्वारा सम्पादित पुस्तक 'Public Administration in a time of Turbulance' का प्रकाशन, 1971

1. उच्च शिक्षा पर हनी प्रतिवेदन, 1967[1]

लोक प्रशासन की अमेरिकी सोसाइटी से सम्बद्ध एक संस्था के आग्रह पर सिराकुज विश्वविद्यालय के जॉन सी. हनी ने अमेरिका के विश्वविद्यालयों में लोक प्रशासन के स्वतन्त्र विषय के रूप में अध्ययन की सम्भावनाओं पर 1967 में अपना एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। प्रतिवेदन में लोक प्रशासन की वास्तविक स्थिति को उजागर करते हुए इसके क्षेत्र को विस्तृत और व्यापक बनाने पर बल दिया और यह सिफारिश की गई कि लोक प्रशासन को समस्त प्रशासकीय प्रक्रिया—कार्यपालक, व्यवस्थापन एवं न्यायिक—तक विस्तृत कर दिया जाए। हनी प्रतिवेदन में लोक प्रशासन के क्षेत्र को व्यापक बनाने से सम्बन्धित चार मुख्य समस्याओं का उल्लेख किया गया—धन की अपर्याप्तता, विषय या अनुशासन के सम्बन्ध में बौद्धिक विभेद अर्थात् लोक प्रशासन एक विषय/अनुशासन है या एक विज्ञान है अथवा एक व्यवसाय है, संस्थागत दुर्बलता अर्थात् लोक प्रशासन के विभागों में व्याप्त कमजोरियाँ एवं लोक प्रशासन के विद्वानों तथा सेवारत प्रशासकों में अन्तराल। हनी प्रतिवेदन में इन समस्याओं के निवारण के लिए कुछ महत्वपूर्ण सिफारिशें दी गईं—

1. See 'Public Administration Review' Vol XXVII, No 4, Nov, 1967.

(1) लोक सेवा शिक्षा सम्बन्धी राष्ट्रीय आयोग स्थापित किया जाए जिस पर शासन के लिए आवश्यक शिक्षित व्यक्तियों की उपलब्धि कराने का दायित्व हो। स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले छात्रों के लिए छात्रवृत्ति की व्यापक व्यवस्था हो और ये छात्रवृत्तियाँ उन्हीं को दी जाएँ जो लोक सेवा जीविका के रूप में अपनाने को तैयार हों। इस प्रकार के छात्रों अथवा प्रत्याशियों के लिए संघीय, राज्य एवं स्थानीय शासन-स्तरों पर प्रशिक्षण कार्यक्रम चालू किए जाएँ। विश्वविद्यालयों में जो अध्यापक सार्वजनिक मामलों के शिक्षण-कार्य में संलग्न हैं, उन्हें शासन-कार्य का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करने के अवसर सुलभ किए जाएँ।

(2) सार्वजनिक मामलों सम्बन्धी शिक्षण एवं शोध पाठ्यक्रमों तथा कार्यक्रमों के लिए विश्वविद्यालयों को अनुदान दिया जाए। सार्वजनिक मामलों और प्रशासन सम्बन्धी शोध-कार्य में लगे व्यक्तियों को आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता दी जाए।

(3) नव लोक प्रशासन कार्यक्रम के लिए नवीन परामर्शदात्री सेवा प्रारम्भ की जाए और ऐसी व्यवस्था की जाए कि छात्रों को नवीन सूचनाएँ सुलभ हो सकें। लोक सेवा सम्बन्धी प्रशिक्षण और शिक्षा की दृष्टि से समय-समय पर विश्वविद्यालयों की समीक्षा की जाए ताकि यह पता चले कि विभिन्न संस्थाएँ किस प्रकार सेवा, शिक्षा तथा अन्य दायित्वों की व्यवस्था करती हैं, किस प्रकार नवीन विकास को प्रोत्साहन दिया जाता है और कौन-कौन सी दुर्बलताएँ हैं।

हनी प्रतिवेदन की सिफारिशें महत्वपूर्ण थीं, क्योंकि इसमें लोक प्रशासन के विकास से सम्बन्धित विविध पक्षों पर गहनता से विश्लेषण करके इसके अध्ययन-अध्यापन तथा अनुसंधान के विकास को महत्व देते हुए महत्वपूर्ण सिफारिशें की गईं। इन सिफारिशों का जहाँ अनेक क्षेत्रों में स्वागत किया गया वहीं कतिपय क्षेत्रों में यह प्रतिवेदन तीव्र विवाद का विषय भी बना। इसकी आलोचना में यह कहा गया कि प्रतिवेदन में अनेक महत्वपूर्ण मुद्दे नहीं उठाए गए यथा—प्रतिवेदन आज के विभाजित और उथल-पुथलपूर्ण समाज में लोक प्रशासन की भूमिका के बारे में कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया था। प्रतिवेदन इस सम्बन्ध में भी मौन था कि लोक प्रशासन का समकालीन सामाजिक समस्याओं से कोई सम्बन्ध है या नहीं? कमियों तथा आलोचनाओं के बावजूद भी, हनी प्रतिवेदन ने नव लोक प्रशासन के उदय और विकास की पृष्ठभूमि तैयार की और आज के समाज में लोक प्रशासन की भूमिका के बारे में गम्भीरतापूर्वक विचार करने के लिए विद्वानों को प्रेरित किया।

2. लोक प्रशासन सम्मेलन, 1967[1]

दिसम्बर 1967 में फिलाडेलफिया में अमेरिकी राजनीतिशास्त्र परिषद् एवं समाजशास्त्र परिषद् द्वारा एक सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसका विचारणीय विषय था—'लोक प्रशासन का सिद्धान्त और व्यवहार—उसका क्षेत्र, उद्देश्य एवं अध्ययन पद्धति (Theory and Practice of Public Administration—Scope, Objectives and Methods)। जेम्स सी. चार्ल्सवर्थ ने सम्मेलन की अध्यक्षता की। सम्मेलन की मूल भावना यह थी कि लोक प्रशासन के सम्बन्ध में दृढ़ और संक्षिप्त उपागम अपनाते हुए व्यापक दार्शनिक सन्दर्भ में इसके महत्त्व का आकलन किया जावे और यह भी विचार किया जावे कि लोक प्रशासन केवल मानसिक सिद्धि है अथवा शासन का व्यावहारिक यन्त्र। सम्मेलन में लोक प्रशासन से सम्बन्धित विभिन्न मुद्दों पर गहनता के साथ विचार किया गया, लेकिन इसमें लोक प्रशासन की कोई सर्वसम्मत या सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत नहीं की जा सकी, तथापि यह सम्मेलन इस दृष्टि से उल्लेखनीय रहा कि इसमें लोक प्रशासन से जुड़े उन अनेक पहलुओं या मुद्दों पर सहमति हुई, जिसने इसके अध्ययन के विकास में उल्लेखनीय योगदान दिया है। ये मुद्दे निम्नांकित थे—

(I) लोक प्रशासन की परिभाषा के समान ही इसके क्षेत्र को स्पष्ट करना भी कठिन है। लोक प्रशासन के विभिन्न अभिकरणों का एक मुख्य काम नीति-निर्माण है, अतः लोक प्रशासन और नीति-निर्माण का विभाजन अनुचित है। एक विषय अथवा अनुशासन के रूप में अमेरिकी लोक प्रशासन का सम्बन्ध केवल अमेरिका के लोक प्रशासन से ही होना चाहिए। लोक प्रशासन और वाणिज्य-प्रशासन में पर्याप्त अन्तर है अतः दोनों का प्रशिक्षण एक-सा नहीं होना चाहिए। लोक प्रशासन को व्यवसाय के रूप में राजनीति विज्ञान के

1. *James C. Charlesworth* (Ed) : Theory and Practice of Public Administration—Scope, Objectives and Methods, Philadelphia, The American Academy of Political and Social Science, 1968, p. IX.

अनुशासन तथा व्यवसाय से पृथक् रखा जाना चाहिए। नौकरशाही विषयक अध्ययन प्रकार्यात्मक और संरचनात्मक दोनों ही प्रकार से किया जाना उचित है।

(2) लोक प्रशासन में प्रबन्ध-कौशल का स्थान नीति और राजनीति सम्बन्धी बातें लेती जा रही हैं। कम्प्यूटर से प्राप्त सूचना को केवल इसीलिए ठीक अथवा श्रेष्ठ नहीं माना जाना चाहिए कि वह कम्प्यूटर से प्राप्त हुई है। पी. पी. बी. एस. (P.P.B S.) ही राजनीतिक प्रश्नों के विश्वसनीय उत्तर प्रस्तुत करता है। किसी भी विषय पर निर्णय लेते समय मात्रात्मक तथा मूल्य-विश्लेषण का, निर्णय के सन्दर्भ में प्रभावित करने वाले तत्त्वों में, प्रमुख स्थान नहीं होता है।

(3) लोक प्रशासन के अध्ययन के लिए समकालीन समाजशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित सभी अध्ययन-पद्धतियों का उपयोग सम्भव नहीं है। लोक प्रशासन के कुछ भाग के सम्बन्ध में जहाँ वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग सम्भव है वहाँ कुछ दूसरे भागों के सन्दर्भ में इस पद्धति का प्रयोग सम्भव नहीं है। जिस भाग में इस अध्ययन पद्धति का प्रयोग सम्भव नहीं है वह भाग काफी महत्वपूर्ण है। लेकिन हम कुछ अंशों के सम्बन्ध में ही वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग कर सकते हैं, अन्यथा लोक प्रशासन का तो मूल्यों और प्रस्तावों से सम्बन्ध है जिन्हें वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता।

(4) लोक प्रशासन वर्तमान समाज से सम्बन्धित समस्याओं का कोई उत्तर नहीं दे सका है। यह श्रमिक संघों और हड़तालों, सार्वजनिक विद्यालयों सम्बन्धी विवादों, वृहद सैनिक औद्योगिक प्रतिष्ठानों, विज्ञान तथा विकासशील देशों सम्बन्धी और इसी प्रकार के अनेक नए समस्यात्मक प्रश्नों के बारे में मौन है। संगठनात्मक सत्ता सम्बन्धी पद-सोपानीय धारणा उचित नहीं है क्योंकि समय की माँग है कि प्रशासकों को कर्मचारियों को सहयोगी मानना चाहिए न कि अधीनस्थ। भावी प्रशासकों को व्यावसायिक शिक्षण संस्थानों में प्रशिक्षित किया जाना उचित है और लोक प्रशासन के पाठ्यक्रम को विस्तृत किया जाना चाहिए। इसमें केवल प्रशासकीय संगठन और पद्धति पर बल नहीं दिया जाना चाहिए वरन् मनोवैज्ञानिक, वित्तीय, समाजशास्त्रीय तथा मानवशास्त्रीय अध्ययनों को भी सन्दर्भानुसार, शामिल किया जाना चाहिए।

इस सम्मेलन में लोक प्रशासन से जुड़े हुए सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रश्नों पर गहराई से विचार हुआ, जिसने इस विषय की परिधि को विकसित करने में महत्वपूर्ण सहायता की।

3. मिन्नोब्रुक सम्मेलन, 1968

फिलाडेलफिया सम्मेलन के निष्कर्षों का 1968 के मिन्नोब्रुक सम्मेलन में पूरा समर्थन किया गया, अत इसे मिन्नोब्रुक सम्मेलन का पथ-प्रदर्शक माना जाता है। मिन्नोब्रुक सम्मेलन को 'युवा पीढ़ी का सम्मेलन' कहा गया क्योंकि इसमें भाग लेने वाले विद्वान अधिकतर युवा थे। मिन्नोब्रुक सम्मेलन के परिणामों ने 'नव लोक प्रशासन' को जन्म दिया। सम्मेलन में लोक प्रशासन के क्षेत्र में जो अभिनव मत और विचार प्रस्तुत किये गए, उन पर खुलकर वाद-विवाद हुआ। इस खुले वाद-विवाद के कारण यह सम्मेलन उपयोगी तथा सार्थक निष्कर्ष निकालने में सफल रहा। सम्मेलन में इस बात पर विचार किया गया कि समाज में प्रशासन की क्या भूमिका होनी चाहिए—वह पूरी तरह मूल्य-निरपेक्ष हो अथवा किसी नीति या विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध हो। इस प्रश्न पर भी विचार किया गया कि यदि प्रशासक किसी नीति, विचार या मूल्य से प्रतिबद्ध है तो वह क्या करता है अथवा करेगा ? यह माना जाता है कि नव प्रशासन के कुछ मुख्य तत्त्व हैं—सन्दर्भ (Relevance), सदाचरण (Morals), नीति-शास्त्र एवं मूल्य (Ethics and Values), नवीनता अथवा मौलिकता (Innovation), सामाजिक समानता (Social Equality), सम्बन्धित व्यक्तियों की चिन्ता आदि। सम्मेलन में वाद-विवाद से यह स्पष्ट हुआ कि जो विद्वान् नव लोक प्रशासन के पक्षधर हैं वे लोक प्रशासन की वर्तमान अवस्था से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे आज के तेजी से परिवर्तनशील और उथल-पुथलपूर्ण युग में लोक प्रशासन से यह अपेक्षा करते हैं कि वह सामाजिक समस्याओं के प्रति संवेदनशील और जागरुक हो। सम्मेलन में यह भी स्पष्ट हो गया कि नव लोक प्रशासन के समर्थक मूल्यहीन और मूल्य-निरपेक्ष (Value Free and Value Neutral) शोध-प्रयासों के पक्ष में नहीं हैं और चाहते हैं कि सामाजिक न्याय के अनुरूप उपागम विकसित किया जाए। सामाजिक न्याय की माँग है कि लोक प्रशासन समाज के पिछड़े और दलित वर्ग के प्रति उदासीन न रहे वरन् इस वर्ग का समर्थन करे। लोक प्रशासकों को परम्परागत मार्ग से हटकर परिवर्तन के सक्रिय अभिकर्ताओं के रूप में सामने आना चाहिए। यदि लोक प्रशासन सामाजिक

समस्याओं के प्रति उदासीन रहता है तो वह अपनी वास्तविक भूमिका नहीं निभा सकता। यह अपेक्षा की गई कि आज के तेजी से बदलते वातावरण के अनुरूप संगठन के नए रूपों का विकास किया जाना चाहिए। इस बात पर बल दिया गया कि नव लोक प्रशासन में जन-कल्याण और कल्याणकारी कार्यक्रमों के प्रति निष्ठा होनी चाहिए। सम्मेलन में यह भी निष्कर्ष निकाला गया कि लोक प्रशासन को सामाजिक समस्याओं के प्रति संवेदनशील होना चाहिए। इस प्रकार सम्मेलन में परम्परागत विचारों की कमजोरियों को सामने लाकर लोक प्रशासन का व्यवस्थित व्याकरण प्रस्तुत किया गया और लोक प्रशासन की वर्तमान शोचनीय अवस्था पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला गया। सम्मेलन ने लोक प्रशासन को एक नई छवि प्रदान की और उसे सुधारवादी प्रवृत्ति की ओर अग्रसर किया। यह सम्मेलन लोक प्रशासन के विकास की दृष्टि से मुख्य सीमा-चिन्ह कहा जा सकता है। इसने लोक प्रशासन में नई सैद्धान्तिक अवधारणाओं को जन्म दिया।

4. मेरीनी तथा वाल्डो के प्रयास

1971 में दो महत्त्वपूर्ण प्रकाशन सामने आए—फ्रैंक मेरीनी (Frank Marini) द्वारा सम्पादित 'Towards a New Public Administration—Minnowbrook Perspective' तथा ड्वाइट वाल्डो (Dwight Waldo) द्वारा सम्पादित 'Public Administration in a time of Turbulance'। इन दोनों पुस्तकों में मिन्नोब्रुक सम्मेलन के विचारों और निष्कर्षों को स्थान दिया गया। मेरीनी की पुस्तक नवीन लोक प्रशासन पर लिखी गई प्रथम पुस्तक है। वाल्डो की पुस्तक में उन सभी लेखों को स्थान दिया गया है जो 1968 में 'अमेरिकी राजनीतिक विज्ञान परिषद्' के वार्षिक सम्मेलन के समय विभिन्न गोष्ठियों में प्रस्तुत किये गए थे। उपर्युक्त पुस्तकों तथा इसके बाद प्रकाशित होने वाले लेखों ने लोक प्रशासन के कलेवर तथा क्षेत्र को व्यापक समृद्धि प्रदान की। नव लोक प्रशासन की इस धारणा ने लोक प्रशासन के क्षेत्र को व्यापक बनाया है और लोक प्रशासन के सन्दर्भ में नए विचारों को जन्म दिया। इसने इस तथ्य को उजागर करके महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है कि लोक प्रशासन को सामाजिक-समस्याओं के प्रति जागरुक बनना चाहिए और लोक प्रशासकों को परिवर्तन के सक्रिय अभिकर्ताओं के रूप में कार्य करना चाहिए। लोक प्रशासन की इस नवीन अवधारणा ने लोक प्रशासन के लोक-हितकारी स्वरूप पर बल दिया है। यद्यपि अभी नवीन लोक प्रशासन विकास की शैशव-अवस्था में है तथापि यह स्पष्ट है कि इस नई धारणा ने लोक प्रशासन की परम्परागत धारणा को आघात पहुँचाया है और लोक प्रशासन के क्षितिज का विस्तार किया है। नव लोक प्रशासन ने इस महत्वपूर्ण बात पर बल दिया है कि लोक प्रशासन को सीधे समाज से जुड़ा होना चाहिए। इस प्रकार नव लोक प्रशासन मूलतः अमेरिकी अवधारणा है। तृतीय विश्व के देशों में अभी तक इस अवधारणा का व्यापक रूप से प्रचार-प्रसार नहीं हुआ है, यद्यपि इस दिशा में प्रयास जारी हैं।

सारांशत. नव लोक प्रशासन पर लिखित साहित्य ने चार महत्त्वपूर्ण विषयों—प्रासंगिकता, मूल्यों, निष्पक्षता और परिवर्तन—पर विशेष बल दिया है। प्रासंगिकता का विषय मौलिक अध्ययन की अपेक्षा पुनर्व्याख्या अधिक है। लोक प्रशासन की पारम्परिक दृष्टि से कुशलता और अर्थव्यवस्था में गहन रुचि रही है। नव लोक प्रशासन आन्दोलन ने जो खोज की थी, उसके अनुसार इस विषय को समकालीन समस्याओं एवं विषयों पर कुछ भी नहीं कहना था। प्रबन्धोन्मुख लोक प्रशासन का पाठ्यक्रम अप्रासंगिक पाया गया और प्रशासनिक गतिविधियों के राजनीतिक एवं प्रशासनिक निहितार्थ की स्पष्ट रूप से चर्चा करने का आग्रह किया गया था। प्रासंगिकता विषय का अन्य पक्ष ज्ञान के चरित्र अथवा स्वरूप से सम्बन्धित है। प्रायः प्रश्न पूछा जाता था कि लोक प्रशासन का ज्ञान किसलिए था ? क्या लोक प्रशासन का उद्देश्य राजनीतिक सत्ता का स्थायीकरण करने के लिए प्रशासनिक ज्ञान के प्रयोग को सुविधाजनक बनाने के लिए है ? मिन्नोब्रुक में ये प्रश्न अनेक प्रकार से पूछे गये।

किन प्रश्नों का अध्ययन करना चाहिए और उनका किस प्रकार अध्ययन करें, प्रश्नों का चयन करने के लिए हम निर्णय के किन मानदण्डों का किस प्रकार प्रयोग कर रहे हैं ? कौन हमारे लिए हमारे प्रश्नों तथा प्राथमिकताओं को परिभाषित करता है ? लोक प्रशासन के ज्ञान के सामाजिक एवं नैतिक निहितार्थ में हम किस सीमा तक अवगत हैं ? एक सामाजिक एवं राजनीतिशास्त्र के रूप में लोक प्रशासन की क्या उपयोगिता है ? क्या लोक प्रशासन वर्तमान में समाज की निश्चित संस्थाओं सामान्यत- प्रभुत्वशाली संस्थाओं के लिए उपयोगी ज्ञान प्रदान करता है एवं अन्य संस्थाओं के लिए उपयोगी ज्ञान नहीं प्रदान करता है ? सभी प्रश्न बहुत विचलित करने वाले थे,

जो लोक प्रशासन में यथा-स्थिति की विचारधारा को चुनौती दे रहे थे। नवीन आन्दोलन ने सार्वजनिक जीवन की वास्तविकताओं की ओर उन्मुख अर्थपूर्ण अध्ययन को सुविधाजनक बनाने के लिए पाठ्यक्रम में बौद्धिक तथा क्रान्तिकारी परिवर्तन का आग्रह किया गया।

नव लोक प्रशासन ने स्पष्ट रूप से प्रशासनिक विश्लेषण में मौलिक आदर्शपरक व्यग्रता की घोषणा की। इसने व्यावहारिक राजनीति शास्त्र तथा प्रबन्धोन्मुख लोक प्रशासन द्वारा ली गई मूल्य तटस्थ स्थिति को स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया। लोक प्रशासन में मूल्य-तटस्थता एक असम्भावना है और इस विषय को समाज में गैर सामप्रद अथवा उपेक्षित वर्गों की समस्याओं एवं कल्याण कार्य का वरण करना चाहिए। नवीन आन्दोलन के प्रबल समर्थक प्रशासनिक कार्यों द्वारा मूल्यों की प्राप्ति अथवा उपलब्धता की स्पष्टता पर विशेष बल देते हैं। वे सोचते थे कि यह वास्तविक प्रशासन की 'तटस्थता' की स्थिति जन सामान्य के सामने लाने में सहायता करेगा तथा प्रशासनिक कार्यों तथा उसके परिणामों के प्रभाव के मूल्यांकन को सुविधाजनक बनायेगा। यह आन्दोलनकर्ता यह मानते हैं कि "नव लोक प्रशासन कम व्यापक अथवा लोकप्रिय है। अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक 'सार्वजनिक', कम वर्णनात्मक और रूढ़िगत अधिक है। यह संस्थानोन्मुखी और मुवक्किल पर प्रभावोन्मुखी कम तटस्थ एवं अधिक आदर्शपरक है और, ऐसी आशा की जाती है कि यह कम वैज्ञानिक प्रवृत्ति का नहीं रहेगा।"[1]

नव लोक प्रशासन के समर्थक अपना स्पष्ट पक्षपात अथवा अन्य भक्ति प्रदर्शित करने में तनिक भी संकोच नहीं करते हैं। उनकी दृष्टि से वितरणात्मक दायित्व और सरकारी संस्थाओं का प्रभाव लोक प्रशासन का मूलभूत विषय होना चाहिए। इस दर्शन की एक स्पष्ट अभिव्यक्ति नवीन बैन्थमवादिता लगती है। "सार्वजनिक संगठन का उद्देश्य आर्थिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पीड़ाओं को कम करना तथा संगठन के अन्दर एवं बाहर लोगों के जीवन के अवसरों में वृद्धि करना है।"[2] फ्रेडरिकसन ने इस दिशा में आगे प्रगति की है और एक साहसिक सामाजिक-निष्पक्षता का दृष्टिकोण ग्रहण किया है। "लोक प्रशासन, जो परिवर्तनों, जो अल्प संख्यकों के वचन अथवा हानि का निराकरण करने के प्रयास करते हैं, को सारे में असफल रहता है, का सम्भवत अल्प संख्यकों का दमन करने के लिए प्रयोग किया जायेगा।"[3] यह एक उत्साही कार्योन्मुख उदाहरण है जो लोक प्रशासनात्मक विश्लेषण को समाज के अवैध, अनुचित तथा अन्यायपूर्ण कार्यों के निराकरण के लिए काम करने हेतु आमन्त्रित करता है और सामाजिक दृष्टि से वंचित समूहों का प्रत्यक्ष रूप से समर्थन करता है।

सामाजिक निष्पक्षता के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सामाजिक परिवर्तन हेतु सक्रिय काम करना है। यह नव लोक प्रशासन का आदर्श वाक्य है। यथा स्थिति तथा स्थायी संस्थाओं में निहित शक्तिशाली स्वार्थों के विरुद्ध आक्रमण किया गया है। नव लोक प्रशासन "स्थायी संस्थाओं की दासता की अनुमति दे देने के लिए" सहमत नहीं है। स्थायी संस्थायें प्रबल स्वार्थों के शक्तिशाली केन्द्र के रूप में स्वयं के स्थायीकरण के लिए निरन्तर प्रगति कर रही हैं। मिन्नोबुक में भाग लेने वाले विद्वानों ने 'संस्थानीकरण परिवर्तन के साधनों को अभिव्यक्त किया और बड़े संगठनों के अधिकारीतन्त्रीय प्रवृत्तियों के निराकरण के लिए आग्रह किया था।

मिन्नोबुक के आरम्भ में आन्दोलन की, धर्मतन्त्रात्मक विरोधी, प्रत्यक्षवाद विरोधी तथा प्रबन्ध कहकर कटु *आलोचना की गई। इसके सकारात्मक मूल्य लोक प्रशासन को राजनीति शास्त्र के निकट लाने में निहित हैं।* यथार्थ में आन्दोलन लोक प्रशासन को राजनीतिक सिद्धान्त के मौलिक विषयों के साथ समाकलित करने (जोड़ने) में सफल हुआ है। मुवक्किल उन्मुख, मानकीय अथवा आदर्श एवं सामाजिक दृष्टि से सजग लोक प्रशासन, जैसा नवीन आन्दोलन प्रतिपादित किया, जो 'तीसरे विश्व' के लिए प्रत्यक्ष रूप से प्रासंगिक है। तीसरे विश्व के देशों में लोक प्रशासन को मुक्त तथा उसमें मौलिक, गुणात्मक रूपान्तर भी निर्विवाद है।

लोक प्रशासन के प्रति लोक इच्छा दृष्टि का उद्‌भव एक युगान्तकारी घटना है। 60 के दशक के प्रारम्भ से अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों ने विभिन्न रूपों में लोक इच्छा समुदाय का विकास किया है। मुख्य रूप से प्रशासन के अधिकारीतन्त्रीय स्वरूप का कटु आलोचक इच्छा समुदाय सार्वजनिक वस्तुओं तथा सेवाओं की समुचित व्यवस्था के

1. *Frederickson* : "Towards a New Public Administration" in Manni (ed), Op cit, p 37
2. *Marini* (ed), Op cit., p 32
3. Ibid, p 311.

लिए संस्थानात्मक बहुलवाद की सम्भावना पर विशेष चर्चा करता है। उपभोक्ताओं की प्राथमिकताओं के आधार पर सरकारों एवं सार्वजनिक माध्यमों अथवा साधनों की बहुलता का प्रबल समर्थन किया जाता है। लोक इच्छा समुदाय के समर्थकों में विन्सेंट ओस्ट्रम, एक अधिकारीतन्त्रीय प्रशासन के पारम्परिक विचार के साथ "लोकतान्त्रिक प्रशासन, की संकल्पना को स्थापित करते हैं। ओस्ट्रम का विचार है कि एक मात्र सत्ता के केन्द्र के प्रति उत्तरदायी सोपानात्मक क्रम में व्यावसायिक दृष्टि से प्रशिक्षित लोक सेवा में पूर्णता एक विशाल प्रशासनिक व्यवस्था की नागरिकों की विभिन्न सार्वजनिक वस्तुओं तथा सेवाओं में भिन्न-भिन्न प्राथमिकताओं के अनुरूप, और भिन्न-भिन्न वातावरणीय परिस्थितियों के अनुकूल काम करने की सामर्थ्य को कम करेगी। विभिन्न सार्वजनिक वस्तुएँ एवं सेवायें प्रदान करने के लिए अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न संगठनात्मक व्यवस्थाओं का प्रयोग किया जा सकता है। ऐसे संगठनों का विभिन्न बहु-संगठनात्मक व्यवस्थाओं के साथ समन्वय किया जा सकता है।

आलोचकों का मानना है कि लोक प्रशासन का वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय पद्धति से अध्ययन प्रायः लोकतान्त्रिक सरकार के आदर्शक अथवा मानवीय विचारों एवं भावनाओं से दूर हट गया है। "लोक इच्छा" दृष्टिकोण उपभोक्ताओं तथा व्यक्तिगत प्राथमिकताओं के अनुरूप लोक संगठनों के सिद्धान्तों के सृजन का एक प्रयास है। आत्म-केन्द्रित सोपानात्मक अधिकारीतन्त्रीय प्रशासन मानवतावादी एवं उदार लोकतन्त्र का कुछ मूलभूत मानदण्डों के अनुकूल प्रतीत नहीं होता।

व्यावहारिक विषय के रूप में इस विकास ने सार्वजनिक संगठन के मानवीकरण की आवश्यकता की पुनरावृत्ति मात्र की है। कुछ प्रतिष्ठित विद्वानों ने आलोचनात्मक दृष्टिकोण को बहुत व्यापक रूप प्रदान किया है। आलोचनात्मक सिद्धान्त के विख्यात प्रवर्तक जर्गेन हैबरमस की कृति जिसकी संगठनों के अध्ययन के लिए विशेष प्रासंगिकता है, लोक प्रशासन के पहलुओं की पहचान कराती है। वेबर के अनुरूप, हैबरमस ने लोक (सार्वजनिक) अधिकारीतन्त्र के कार्यान्वयन के माध्यम से आधुनिक राज्य में तकनीकी कुशलता की प्रबलता का उल्लेख किया है। जैसे-जैसे समाज अधिकारीतन्त्रकृत हो रहा है वैसे-वैसे सामाजिक सत्ता एवं विवेकपूर्ण निर्णय की प्रवृत्ति अधिकारी तन्त्रीय राज्य उपकरण में केन्द्रित होती जा रही है। नौकरशाही की बढ़ती हुई प्रवृत्ति और अधिकारी तन्त्र की सामाजिक भूमिका के विषय में भावी विचारक आज चिन्तित दिखाई देते हैं।

वैज्ञानिक प्रबन्ध
(Scientific Management)

20वीं शताब्दी में स्वचालन (Automation) एवं कम्प्यूटर तकनीकी (Computer Technology) के विकास तथा विज्ञापन जगत् में अनेक अत्याधुनिक और क्रान्तिकारी आविष्कारों के परिणामस्वरूप उत्पादन के पैमाने तथा विधियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। 19वीं शताब्दी में प्रबन्ध के क्षेत्र में परम्परागत विचारधारा पाई जाती थी। इसके अन्तर्गत प्रबन्ध का दायित्व साधनों की सहायता से उत्पादन करके स्वामी के लाभ को अधिकतम करना था। उत्पादन की विधियाँ, तकनीक सभी पुरानी होती थीं, लेकिन 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही इस विचारधारा में परिवर्तन हुआ तथा इसके अन्तर्गत नवीन उत्पादन की विधियाँ, नए प्रबन्ध के सिद्धान्तों एवं व्यवहारों को काम में लाया जाने लगा है। वर्तमान में प्रबन्ध का दायित्व केवल स्वामी के लाभ को अधिकतम करने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि अब कर्मचारियों, अंशधारियों, समाज, सरकार व राष्ट्र के प्रति कई दायित्वों को निभाना पड़ता है। उदाहरणार्थ कर्मचारियों को ऊँचा वेतन तथा अच्छी कार्य की दशाएँ, अंशधारियों को लाभांश का वितरण ऊँची दर पर, समाज को रोजगार प्रदान करना, सरकार की नीतियों का समर्थन तथा लगाए गए करों का भुगतान एवं राष्ट्रीय हित में अधिक उत्पादन करना तथा उपभोक्ताओं को कम कीमत पर अच्छी वस्तु की पूर्ति करना आदि उत्तरदायित्व आधुनिक प्रबन्धकों को निभाने पड़ते हैं। इन्हें 'प्रबन्ध के सामाजिक दायित्व' कहा जाता है। प्रबन्ध के इस सामाजिक दायित्व के सिद्धान्त ने ही प्रबन्ध के क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन किये हैं और वैज्ञानिक प्रबन्ध की अवधारणा को जन्म दिया है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध
(Scientific Management)

वैज्ञानिक प्रबन्ध एक विचारधारा एवं दर्शन है जो कि परम्परागत कार्य कराने व करने के 'अँगूठा के नियम' (Rule of Thumb) का विरोधी है। प्रबन्ध विशेषज्ञों एवं विद्वानों ने वैज्ञानिक प्रबन्ध की अनेकानेक परिभाषाएँ दी हैं। एफ. डब्ल्यू. टेलर ने स्वयं लिखा है, "प्रबन्ध सही रूप में जानने की कला है कि क्या कार्य किया जाना है और उसके करने का सर्वोत्तम तरीका कौनसा है।" उन्होंने लिखा है, "प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य मालिकों हेतु अधिकतम सम्पन्नता के साथ-साथ श्रमिकों हेतु सम्पन्नता प्राप्त करना है।" टेलर आगे वैज्ञानिक प्रबन्ध के विषय में लिखते हैं "वैज्ञानिक प्रबन्ध यह पक्के रूप में मानकर चलता है कि दोनों (श्रमिकों व मालिकों) के वास्तविक हित एक एवं समान हैं क्योंकि मालिकों की सम्पन्नता लम्बे समय तक बिना श्रमिकों की सम्पन्नता के चल नहीं सकती है। इसलिए यह सम्भव है कि श्रमिक को जो वह चाहता है—ऊँची मजदूरी दी जानी चाहिए एवं मालिक को जो वह चाहता है— निम्न श्रम लागत दी जानी चाहिए।"[1] प्रो. मार्शल मानते हैं कि "यह (वैज्ञानिक प्रबन्ध) मुख्य रूप से बड़े व्यवसाय की कर्मचारी व्यवस्था की एक विधि है, जिसका उद्देश्य अपने अधिकांश कर्मचारियों के दायित्वों की सीमा को घटाकर, उनकी कार्यकुशलता बढ़ाना है तथा साधारण शारीरिक क्रियाओं के सम्बन्ध में दिए गए आदेश पर विवेकपूर्ण अध्ययन करना है।" लॉयड डॉड एवं लिंच (Lloyd Dodd & Lynch) के अनुसार, "विस्तृत अर्थ में वैज्ञानिक प्रबन्ध की कार्य-प्रणाली श्रमिकों, कच्चे मालों, मशीनों तथा पूँजी के प्रयोग से अधिकतम लाभ प्राप्त करना है और इसके द्वारा उत्पादन की समस्त क्रियाओं पर कारखाने के स्थानीयकरण एवं संरचना से लेकर वस्तुओं के अंतिम वितरण तक नियन्त्रण करती है।"

प्रबन्ध विज्ञान के आधुनिक अध्येता पी. एफ. ड्रकर (P. F. Drucker) का मानना है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध का कर्म कार्य का संगठित अध्ययन, उसके सरलतम भागों में विश्लेषण और प्रत्येक भाग का श्रमिक द्वारा निष्पादन

1 *F. W. Taylor*: Scientific Management, p. 21.

करने हेतु व्यवस्थित सुधार करना है।" अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि वैज्ञानिक प्रबन्ध, प्रबन्ध समस्याओं के समाधान का मानवीय दृष्टिकोण है जो वैज्ञानिक अनुसन्धान, विश्लेषण, सिद्धान्तों एवं परिमापों पर आधारित है। इसका प्रमुख उद्देश्य न्यूनतम व्यय पर अधिकतम लाभों को प्राप्त करना है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध की विशेषताएँ
(Characteristics of Scientific Management)

1. नियोजित व्यवस्था—वैज्ञानिक प्रबन्ध में नियोजित एवं निश्चित योजना पाई जाती है। इस निश्चित योजना के द्वारा विभिन्न कार्यों को निश्चित तरीकों द्वारा सम्पादित किया जाता है। समस्त कार्य योजनाबद्ध तरीके से किये जाते हैं।

2. वैज्ञानिक विश्लेषण तथा प्रयोग—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत घटनाओं, परिस्थितियों आदि के विषय में तथ्य एकत्रित किए जाते हैं। इन तथ्यों का अवलोकन किया जाता है तथा फिर विश्लेषण करके इनके विषय में प्रयोग किए जाते हैं। इसके पश्चात् नियम व सिद्धान्त बनाकर उनको व्यवहार रूप में परिणत किया जाता है।

3. मानवीय दृष्टिकोण—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत मानवीय सम्बन्धों पर विशेष ज़ोर दिया जाता है क्योंकि बिना अच्छे मानवीय सम्बन्धों के कोई भी संस्थान विभिन्न स्तरों पर कार्य करने वाले कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त नहीं कर सकेगा। अब श्रमिक को व्यापारिक वस्तु न समझकर उसे मानवीय साधन समझा जाता है।

4. साधनों का अधिकतम उपयोग—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत कच्चे माल, मानवीय व भौतिक साधनों का योजनाबद्ध तरीके से कार्य का आवण्टन करके उनकी विभिन्न क्रियाओं का समन्वय, नियमन व नियन्त्रण इस ढंग से किया जाता है कि कार्यकुशलता में वृद्धि हो एवं साधनों का अधिकतम उपयोग हो सके।

5. निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति—वैज्ञानिक प्रबन्ध में किसी भी संस्थान के लिए हुए अथवा पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु समस्त शक्ति को जुटाया जाता है। इस शक्ति को जुटा कर ही निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति की जाती है।

6. श्रमिकों को प्रेरणात्मक मजदूरी की व्यवस्था—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत श्रमिकों को उनकी योग्यतानुसार कार्य दिया जाता है तथा जो श्रमिक कुशलता से कार्य करता है उसे प्रोत्साहन देने हेतु प्रेरणात्मक मजदूरी दी जाती है। इससे कार्यकुशल श्रमिकों को और अधिक कार्य करने की प्रेरणा मिलती है जिससे उत्पादन में वृद्धि होती है।

7. श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत एक ही कार्य को विभिन्न भागों में विभाजित किया जाता है तथा प्रत्येक भाग को विभिन्न श्रमिक समूहों द्वारा पूरा करवाया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक विभाग हेतु विशेषज्ञ नियुक्त करके बड़े पैमाने पर उत्पादन करवाया जाता है फलस्वरूप मितव्ययिताएँ प्राप्त होती हैं।

8. प्रमापीकरण—वैज्ञानिक प्रबन्ध में प्रत्येक कार्य का प्रमाप निश्चित कर दिया जाता है। इसी प्रकार वस्तु का आकार, किस्म, भार आदि भी प्रमापित होता है। इसमें कार्य प्रभावपूर्ण ढंग से पूरा हो जाता है।

9. सहकारिता—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत प्रबन्ध में सफलता लाने हेतु पूँजी व श्रम में संघर्ष के स्थान पर उनमें सहयोग व पारस्परिक स्नेह की भावना उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है। व्यक्तिगत हित के स्थान पर सामूहिक हित को सर्वोपरि माना जाता है। इस प्रकार सामूहिक प्रयत्नों से सामूहिक हितों को पूरा करने का कार्य किया जाता है।

10. अधिकार एवं उत्तरदायित्व—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत संस्थान में कार्य करने वाले कर्मचारियों के अधिकार तथा उत्तरदायित्वों की सीमा भी निर्धारित की जाती है। छोटे पैमाने पर उत्पादन करने पर अधिकार तथा उत्तरदायित्वों का भार एक ही व्यक्ति पर होता है, लेकिन आधुनिक समय में उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाने लगा है। श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण आधुनिक उत्पादन प्रणाली का आधार है। इसके अन्तर्गत विभिन्न कर्मचारियों के अधिकार तथा उत्तरदायित्व निश्चित कर दिए जाते हैं।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के उद्देश्य
(Objectives of Scientific Management)

प्रबन्ध की विभिन्न समस्याओं के निवारण हेतु वैज्ञानिक प्रबन्ध अपनाया जाता है। इसके प्रमुख लक्ष्य एवं उद्देश्य इस प्रकार हैं—

1. अधिकतम समृद्धि लाना—वैज्ञानिक प्रबन्ध भौतिक एवं मानवीय साधनों के बीच समन्वय एवं सहयोग उत्पन्न करके उत्पादन में वृद्धि करता है। इससे विभिन्न साधनों को अधिकतम पारिश्रमिक प्राप्त होगा। श्रम और पूँजी के बीच पारस्परिक विश्वास व सहयोग उत्पन्न करना उनकी समृद्धि में सहायक होता है।

2. कार्यकुशलता में वृद्धि —वैज्ञानिक प्रबन्ध के द्वारा कर्मचारियों के कार्य की दशाओं में सुधार किया जाता है, उनकी शिक्षा व प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था की जाती है तथा कर्मचारियों की भर्ती एवं चयन वैज्ञानिक आधार पर किया जाता है। इससे सभी कर्मचारियों की कार्यकुशलता में वृद्धि होगी और जिसका लाभ संगठन को मिलेगा।

3. मानसिक क्रान्ति का सृजन—टेलर के अनुसार वैज्ञानिक प्रबन्ध का उद्देश्य मानसिक क्रान्ति को उत्पन्न करना है। इसमें श्रम व पूँजी के बीच अच्छे सहयोगी एवं विश्वासपूर्ण सम्बन्धों का विकास हो सकेगा।

4. वैज्ञानिक दृष्टि का विकास—इसका उद्देश्य प्रबन्ध के क्षेत्र में परम्परागत प्रबन्धकीय दृष्टिकोण को त्याग कर वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना होता है। इसमें 'अँगूठा नियम' के स्थान पर वैज्ञानिक रीतियों एवं सिद्धान्तों को लागू किया जाता है जिससे अधिकतम उत्पादन के लक्ष्य को पूरा किया जा सके। उत्पादन, वित्त, कार्मिक, बिक्री आदि विभागों में वैज्ञानिक रीतियों व सिद्धान्तों को लागू करना है।

5. न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन—जब वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत विभिन्न सिद्धान्तों, विधियों एवं नियमों का उपयोग किया जाएगा तो इससे समय, श्रम तथा अन्य उत्पादन के साधनों के अपव्यय पर प्रभावपूर्ण ढंग से रोक लग सकेगी और इससे न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सकेगा।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के अपनाने से अन्य उद्देश्यों की पूर्ति की भी सम्भावना पैदा होती है उदाहरणार्थ—निश्चित योजना को लागू करना, प्रमापित वस्तुओं का उत्पादन करना, प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धतियों के अनुसार श्रमिकों को मजदूरी का भुगतान करना, श्रमिकों की कार्यकुशलता, रुचि, थकान, गति, समय आदि का समय-समय पर अध्ययन करना इत्यादि।

वैज्ञानिक प्रबन्ध का क्षेत्र
(Scope of Scientific Management)

वैज्ञानिक प्रबन्ध एक गतिशील एवं सुव्यवस्थित मानवीय दृष्टिकोण है जिसका प्रयोग प्रत्येक मानवीय क्रिया में किया जा सकता है। *इस बारे में स्वयं टेलर ने लिखा है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध के आधारभूत* सिद्धान्त उन सभी मानवीय क्रियाओं पर लागू होते हैं—हमारे सरलतम व्यक्तिगत कार्यों से लेकर निगमों के गहन कार्यों तक—जिन कार्यों में व्यापक सहयोग की आशा रहती है, लेकिन इस कथन के बावजूद भी प्रारम्भ में यही समझा जाता था कि वैज्ञानिक प्रबन्ध का क्षेत्र केवल इन्जीनियरिंग उद्योगों तक ही सीमित है, लेकिन धीरे-धीरे यह अवधारणा अब कमजोर पड़ गयी है। अब वैज्ञानिक प्रबन्ध के दर्शन, सिद्धान्त एवं नियम तथा विधियाँ न केवल व्यावसायिक, औद्योगिक एवं आर्थिक क्रियाओं पर ही लागू होती हैं, वरन् इनका उपयोग सामाजिक एवं राजनीतिक क्रियाओं में भी सफलतापूर्वक किया जाने लगा है। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रबन्ध एक मानवीय दृष्टिकोण है जो कि वैज्ञानिक रीतियों, सिद्धान्तों, नियमों व विधियों को अपनाकर संस्थान में किए जाने वाले प्रत्येक कार्य को विवेकपूर्ण ढंग से किया जाता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त समान रूप से सभी सामाजिक कार्यों यथा—गृह-प्रबन्ध, छोटे-बड़े व्यवसाय के प्रबन्ध, देवालयों के प्रबन्ध, विश्वविद्यालयों के प्रबन्ध एवं सरकारी विभागों के प्रबन्ध में लागू किये जा सकते हैं। उर्विक के अनुसार, वैज्ञानिक प्रबन्ध, प्रबन्ध *के विभिन्न क्षेत्रों—(i) वित्त, (ii) वितरण, (iii) संगठन, (iv) प्रमापीकरण एवं (v) सरलीकरण* में लागू किया जाता है।

प्रबन्ध के वित्तीय विभागों में बजट नियन्त्रण करने की विधियों का उपयोग किया जाता है। वितरण विभाग में बाजार सर्वेक्षण, समंकों का संग्रहण, वितरण प्रणालियों का चयन, विक्रय क्षेत्रों का विभाजन एवं विक्रेताओं का चुनाव आदि कार्यों में वैज्ञानिक प्रबन्ध लागू किया जा सकता है। *इसी प्रकार कर्मचारी प्रबन्ध में कर्मचारियों की* भर्ती, चयन, प्रशिक्षण, पदोन्नति, स्थानान्तरण, सेवामुक्ति आदि में वैज्ञानिक सिद्धान्तों का उपयोग किया जा सकता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध का क्षेत्र बहुत व्यापक है और आने वाली इक्कीसवीं सदी में इसकी व्यापकता में और भी वृद्धि होगी।

परम्परागत प्रबन्ध
(Traditional Management)

प्रत्येक युग की प्रबन्ध-व्यवस्थाएँ उस युग की सभ्यता, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं जीवन-मूल्यों से प्रभावित होती हैं। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न युगों में विभिन्न प्रबन्ध-व्यवस्थाओं का विकास हुआ है। 19वीं शताब्दी की प्रबन्ध व्यवस्थाएँ परम्परागत प्रबन्ध के नाम से पुकारी जाती हैं। परम्परागत प्रबन्ध-व्यवस्था के लक्षणों के बारे में यह कहा जा सकता है कि यह वह व्यवस्था है जो कि समयातीत हो गई है तथा इसके अन्तर्गत अपनाई जाने वाली विधियाँ, पद्धतियाँ, सिद्धान्त एवं नियम समय बीतने के साथ-साथ बदल नहीं पाए हैं। ये सभी व्यवस्थाएँ वैज्ञानिक सिद्धान्तों एवं विधियों पर आधारित न होकर व्यक्तिगत सिद्धान्तों एवं व्यवहारों पर आधारित होती हैं। इसमें व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा हितों का अधिक ध्यान रखा गया है। इसीलिए इसे 'अंगूठा के नियम' पर आधारित प्रबन्ध व्यवस्था भी कहा जाता है। इसमें प्रबन्ध सम्बन्धी सभी समस्याओं पर परम्परावादी दृष्टिकोण अपनाया जाता है। इसमें सामूहिक हितों के स्थान पर व्यक्तिगत हितों का अधिक ध्यान रखा जाता है। प्रबन्धक लकीर का फकीर रहता है। वह बदलती हुई परिस्थितियों में भी प्रबन्ध के नियमों, विधियों, सिद्धान्तों व व्यवस्थाओं में कोई परिवर्तन नहीं करता है। इस प्रकार इसमें गतिशीलता की भावना का अभाव पाया जाता है।

परम्परागत प्रबन्ध अप्रगतिशील, अमानवीय एवं अवैज्ञानिक होता है। इसमें श्रमिकों के कार्य की दशाएँ असन्तोषजनक होती हैं, उनको पर्याप्त, प्रेरणात्मक तथा सन्तोषजनक मजदूरी नहीं दी जाती है, श्रमिक क्षतिपूर्ति की कोई व्यवस्था नहीं होती है। प्रबन्धक तानाशाह होता है, सभी अधिकारों तथा दायित्वों का केन्द्रीकरण एक ही व्यक्ति के हाथों में होता है। कार्य के घण्टे अधिक होते हैं तथा श्रमिकों को एक व्यापारिक वस्तु मानकर उन्हें बहुत कम मजदूरी दी जाती है। इस प्रकार इस प्रबन्ध व्यवस्था में व्यक्तिगत हित (अधिकतम लाभ प्राप्त करना) को अधिक महत्त्व दिया जाता है। विकासशील देशों में अभी भी परम्परागत प्रबन्ध व्यवस्था पायी जाती है क्योंकि इन देशों में भौतिक साधनों की कमी है। यहाँ के प्रबन्धकों में मानसिक क्रान्ति का सूत्रपात नहीं हुआ है। अब भी प्रबन्ध के क्षेत्र में वे ही पुराने विचार पाए जाते हैं। वैज्ञानिक प्रगति भी इन देशों में पूर्ण रूप से नहीं हो पाई है तथा कर्मचारियों की शिक्षा एवं प्रशिक्षण हेतु उचित व्यवस्था इन देशों में पूर्ण रूप से विकसित नहीं की जा सकती है। इससे उत्पादन के लक्ष्यों पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। अविकसित तथा विकासशील देशों में परम्परागत प्रबन्ध को बदलने के प्रयास किये जा रहे हैं और इस दिशा में अनुकूल परिणाम भी प्राप्त हुए हैं। जैसे-जैसे इस दिशा में कदम आगे बढ़ते जायेंगे, वैसे-वैसे 'प्रबन्धकीय क्रान्ति' के क्षितिज फैलते चले जायेंगे।

वैज्ञानिक एवं परम्परागत प्रबन्ध में अन्तर
(Distinction Between Scientific and Traditional Management)

वैज्ञानिक एवं परम्परागत प्रबन्ध दो भिन्न-भिन्न प्रबन्ध-व्यवस्थाएँ हैं। इनका युग भी अलग-अलग रहा है। 19वीं शताब्दी में परम्परागत प्रबन्ध व्यवस्था विद्यमान थी, लेकिन बीसवीं शताब्दी में इसके स्थान पर एक प्रगतिशील एवं मानवीय दृष्टिकोण वाली प्रबन्ध व्यवस्था का उदय हुआ। इसे वैज्ञानिक प्रबन्ध के नाम से पुकारा जाता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रबन्ध के प्रत्येक क्षेत्र में वैज्ञानिक आधार पर विभिन्न विधियों, सिद्धान्तों एवं पद्धतियों का उपयोग किया जाता है। यहाँ दोनों व्यवस्थाओं के अन्तर का विवेचन प्रासंगिक रहेगा। सुप्रसिद्ध विद्वान टेलर ने परम्परागत प्रबन्ध एवं वैज्ञानिक प्रबन्ध को निम्नांकित दृष्टियों से भिन्न माना है—

1. वैज्ञानिक प्रबन्ध में कई तत्त्वों को सम्मिलित किया जाता है। इसके अन्तर्गत कर्मचारियों का वैज्ञानिक चयन, प्रशिक्षण, कार्य पूरा करने में उनका सहयोग प्राप्त करना, प्रबन्धकों व श्रमिकों के बीच कार्य एवं उत्तरदायित्वों का बँटवारा तथा प्राचीन 'अँगूठा नियम' के स्थान पर वैज्ञानिक विधियों का उपयोग करना आदि सम्मिलित होते हैं। इसके विपरीत परम्परागत प्रबन्ध के अन्तर्गत कर्मचारियों का चयन, प्रशिक्षण, कार्य तथा उत्तरदायित्वों के बँटवारे के सम्बन्ध में कोई वैज्ञानिक आधार नहीं अपनाया जाता है। इसमें श्रमिकों की भर्ती, चयन, प्रशिक्षण, कार्य-विभाजन, उत्तरदायित्व आदि मनमाने ढंग से निश्चित किए जाते हैं एवं प्रबन्धक 'अँगूठे के नियम' का सहारा लेता है।

2. वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत प्रबन्धकों द्वारा संस्थान के कार्य का पूर्वानुमान लगाया जाता है और उसकी योजना तैयार की जाती है। योजनाबद्ध तरीके से संस्थान के कार्यों का निष्पादन करने हेतु कर्मचारियों का सहयोग

प्राप्त किया जाता है, उन्हें निर्देशित किया जाता है तथा विभिन्न क्रियाओं का समन्वय व नियन्त्रण किया जाता है, लेकिन परम्परागत प्रबन्ध के अन्तर्गत योजनाबद्ध तरीके से कार्य नहीं किया जाता है। कार्य को पूरा करने की पूर्ण जिम्मेदारी कर्मचारियों की होती है जबकि प्रबन्धक केवल आदेश मात्र देता है।

3. वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत पूँजी और श्रम के बीच सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध एवं विश्वास स्थापित करने हेतु मानसिक क्रान्ति का सूत्रपात करने का कार्य किया जाता है जबकि परम्परागत प्रबन्ध के अन्तर्गत श्रम व पूँजी के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने के कोई प्रयास नहीं किए जाते हैं। यह प्रबन्ध पूर्णरूपेण 'स्वामी-सेवक धारणा' पर आधारित होता है। इसमें मानसिक क्रान्ति का कोई स्थान नहीं है।

4. वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त करने तथा अधिक रुचि लेकर कार्य करने हेतु उन्हें प्रेरणाएँ दी जाती हैं। प्रेरणा योजना के अन्तर्गत श्रमिकों को प्रेरणात्मक मजदूरियाँ दी जाती हैं, उन्हें कार्य की अच्छी दशाएँ, पदोन्नति, कार्य की अल्पावधि आदि रूपों में प्रेरणा दी जाती है, लेकिन परम्परागत प्रबन्ध के अन्तर्गत इस प्रकार की योजनाओं को कोई स्थान नहीं दिया जाता है। सभी श्रमिकों को समान मजदूरी दी जाती है।

5. वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत प्रबन्ध जगत् की समस्याओं के समाधान हेतु वैज्ञानिक सिद्धान्तों, विधियों, रीतियों एवं नियमों का उपयोग किया जाता है। इससे प्रबन्ध-क्षेत्र की समस्याओं का हल शीघ्र और सही समय पर हो जाता है, लेकिन परम्परागत प्रबन्ध के अन्तर्गत प्रबन्ध समस्याओं का निवारण परम्परागत सिद्धान्तों, व्यवहारों, विधियों एवं नियमों द्वारा किया जाता है।

6. वैज्ञानिक प्रबन्ध का उद्देश्य व्यक्तिगत हितों की पूर्ति न करके सामूहिक प्रयासों द्वारा सामूहिक हितों की पूर्ति करना है। इससे सामूहिक एवं पारस्परिक समृद्धि को प्रोत्साहन मिलेगा और वर्ग संघर्ष के स्थान पर संस्थान में शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। इसके विपरीत परम्परागत प्रबन्ध के अन्तर्गत श्रमिकों को न्यूनतम मजदूरी देकर उनका शोषण करना है। इससे स्वामी या प्रबन्ध का लाभ अधिकतम हो सकेगा। यहाँ व्यक्तिगत हितों की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त

(Principles of Scientific Management)

प्रबन्ध जगत् में टेलर तथा अन्य वैज्ञानिक प्रबन्धकों द्वारा दिए गए जिन तत्वों अथवा सिद्धान्तों पर ही वैज्ञानिक प्रबन्ध की नींव रखी गई, उन्हें मूल सिद्धान्तों के रूप में निम्नांकित प्रकार से विवेचित किया जा सकता है—

1. एक मानसिक क्रान्ति (A Mental Revolution)—वैज्ञानिक प्रबन्ध की पूर्ण सफलता के लिए श्रम तथा प्रबन्धकों में मानसिक क्रान्ति उत्पन्न करना आवश्यक हो जाता है। बिना इस क्रान्ति के श्रम और प्रबन्धक के बीच पूर्ण सहयोग न होने पर संस्थान या कारखाने के उद्देश्यों को पूरा नहीं किया जा सकता है तथा मानसिक क्रांति औद्योगिक क्रान्ति का जीवन रक्त है और इसके अभाव में औद्योगीकरण नहीं किया जा सकता है तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध का उपयोग प्रभावपूर्ण ढंग से नहीं किया जा सकता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध का मूल मन्त्र—श्रम प्रबन्ध की मानसिक क्रान्ति द्वारा उनमें आपसी सौहार्द्रपूर्ण प्रबन्ध स्थापित करना है। दोनों पक्षों के बीच सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के विषय में टेलर ने लिखा है कि "वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत दोनों पक्षों के मानसिक दृष्टिकोण में एक बड़ी क्रान्ति आती है जिसके फलस्वरूप आधिक्य के बँटवारे से अपनी निगाह दूर रखते हुए उसके आकार में वृद्धि करने की ओर अधिक ध्यान देते रहना चाहिए, जब तक कि आधिक्य का आकार विस्तार को न प्राप्त हो जाये।"[1] इस प्रकार श्रम एवं प्रबन्धकों को न केवल उनके विचारों को त्याग कर सौहार्द्रपूर्ण वातावरण तैयार करना होगा बल्कि इन दोनों पक्षों को वैज्ञानिक प्रबन्ध को क्रियान्वित करने हेतु एकमत होना भी आवश्यक है। दोनों पक्षों द्वारा वैज्ञानिक अन्वेषण और ज्ञान के तरीके को बिना किसी पक्षपात के स्वीकार करना होगा। इससे उत्पादकता में वृद्धि होगी और दोनों ही पक्षों की समृद्धि में वृद्धि होगी।

1 *Taylor* Scientific Management, p 29 30

2. प्रमापीकरण (Standardisation)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत वैज्ञानिक कार्य अध्ययन प्रमापित कार्य के आधार पर निर्धारित किया जाता है और यह देखा जाता है कि यह दिया कार्य सब व्यक्तियों द्वारा पूरा किया जाता है अथवा नहीं। श्रमिक उसी समय कार्य पूरा कर सकेंगे जब इस दिशा में प्रबन्ध द्वारा महत्त्वपूर्ण कदम उठाए जाते हैं। औजारों, यन्त्रों, मशीनों आदि का प्रमापीकरण आवश्यक है। श्रमिकों द्वारा कार्य पूरा करने हेतु काम में लाए जाने वाले औजारों, यन्त्रों व मशीनों का प्रमापीकरण किया जाना चाहिए। वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त इस बात पर जोर देते हैं कि उत्पादन में काम में आने वाली मशीनें, औजार, उपकरण, विधियाँ, माल तथा अन्य साधन प्रमापित होने चाहिए। कार्य की दशाएँ, समय, वस्तु की किस्म भी प्रमापित होनी चाहिए। प्रमापीकरण से उत्पादन लागत कम होती है, उत्पादन की विधियों एवं किस्त में सुधार होता है और श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है। ये विभिन्न प्रमाण वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत सामयिक प्रयोगों द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। प्रत्येक मशीन की चाल भी अनुकूलतम होनी चाहिए। अधिक अथवा धीमी गति के परिणामस्वरूप मशीन को नुकसान पहुँचता है। प्रमापित कार्य का निष्पादन करने हेतु रोशनदान, तापक्रम, नमी, सुरक्षा आदि दशाएँ भी अनुकूलित होनी चाहिए। श्रमिकों की कार्यक्षमता अन्य तत्त्वों के अतिरिक्त कच्चे माल की किस्म एवं उसको काम में लेने के तरीकों पर भी निर्भर करती है। कच्चे माल का भी प्रमापीकरण होना चाहिए जिससे कि उत्पादित वस्तु भी प्रमापित हो सके और कच्चे माल का अपव्यय न हो। इसके लिए प्रबन्ध को अनुसंधान एवं वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहिए। इस प्रमापीकरण से संस्थान की कार्यकुशलता बढ़ती है। साथ ही संस्थान की प्रतिष्ठा में भी वृद्धि होती है।

3. कार्य अनुमान (Task Idea)—श्रमिक अपनी योग्यतानुसार कार्य कर रहे हैं अथवा नहीं? इसकी जानकारी हेतु वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत किसी भी कार्य को करने से पूर्व उसका सही अनुमान लगाया जाता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत प्रमापित कार्य निर्धारित किया जाता है। यह कार्य दी हुई प्रमापित दशाओं में एक औसत श्रमिक द्वारा पूरा किया जा सकता है। टेलर ने इसे एक उचित दिन का कार्य कहा है। प्रमापित कार्य वह कार्य है जिसे एक औसत श्रमिक अपने स्वास्थ्य को हानि न पहुँचाते हुए निर्धारित समय में पूरा कर सके। यदि कार्य एक औसत श्रमिक की दक्षता से अधिक निर्धारित किया जाता है तो इससे श्रमिकों में आत्मग्लानि उत्पन्न होगी और यदि औसत कार्य से कम है तो कार्य अनुमान के उद्देश्य पूर्ण नहीं होंगे।

4. प्रयोग (Experimentation)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत परीक्षणों अथवा प्रयोगों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। कार्य अनुमान हेतु तथा श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि करने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयोग किए जा सकते हैं। जैसे—

(i) समय अध्ययन (Time Study)—कार्य के नियोजन तथा कार्य के सही निर्धारण हेतु उस कार्य में लगने वाले समय को ज्ञात किया जाता है। किसी भी कार्य को पूरा करने में लगे समय तथा उसका समय-समय पर रिकार्ड रखना ही समय अध्ययन कहलाता है। एक ही कार्य कई भागों में विभाजित किया जा सकता है। किम्बाल एवं किम्बाल के अनुसार, "एक औद्योगिक कार्य के तत्त्व के रूप में उसमें लगे समय का अवलोकन एवं रिकार्ड करने की कला ही समय अध्ययन के रूप में परिभाषित की जा सकती है।"[1] इस अध्ययन का मूल उद्देश्य किसी कार्य के निष्पादन में लगने वाले उचित समय को जानना है जिससे कि समय पर कार्य पूरा हो सके।

समय अध्ययन के उद्देश्य—

(a) कार्य की एक क्रिया में लगने वाले समय के आधार पर प्रमापित समय निर्धारित करना।

(b) समय निर्धारण के माध्यम से वस्तु की पूर्ति में लगने वाले समय का अनुमान।

(c) मशीनों की कार्यक्षमता का अधिकतम उपयोग करने हेतु।

(d) कार्य की गति-अध्ययन में सहायता करना।

(e) प्रमापित समय के आधार पर समय-आँकड़ों को तैयार करके प्रेरणात्मक मजदूरी योजना तैयार करना।

(f) समय पर कार्य पूरा न करने वाले श्रमिकों की असमर्थता के कारण का पता लगाना तथा यदि उन्हें दूर किया जा सकता है तो इसके लिए कार्य करना।

1. *Kimball & Kimball*: Principles of Industrial Organisation, p. 240

समय अध्ययन के अन्तर्गत दो तरीकों को काम में लिया जाता है—प्रथम, सूक्ष्म गति (Micro Motion) के आधार पर एक कार्य का पूर्ण विवरण ले लिया जाता है और उसी के आधार पर समय अध्ययन किया जाता है। उदाहरणार्थ मकान बनाने हेतु पत्थरों को ट्रक में लादने के समय का अध्ययन करना हो तो उसे निम्न भागों में विभाजित किया जाएगा—(i) पत्थर को जमीन से उठाने में लगा समय, (ii) पत्थर को लेकर ट्रक तक जाने में लगा समय, (iii) पत्थर को ट्रक में फैंकने में लगने वाला समय, (iv) खाली हाथ वापस पत्थर उठाने हेतु आने में लगने वाला समय, लेकिन यह तरीका व्ययपूर्ण है। दूसरा तरीका विराम घड़ी (Stop Watch) की सहायता से अध्ययन करना है। इसके अध्ययन हेतु औसत कुशलता एवं योग्यता वाले श्रमिकों का चयन किया जाता है। इसके अन्तर्गत किसी भी कार्य को अधिकांश श्रमिकों द्वारा पूरा करने में लगे प्रमापित समय को निश्चित कर दिया जाता है। इसके पश्चात् सभी प्रकार के श्रमिकों के लिए समय निश्चित किया जा सकता है।

(ii) गति-अध्ययन (Motion Study)—प्रत्येक कार्य को करते समय श्रमिकों के हाथ व पैरों में गति पाई जाती है। शरीर में जितनी अधिक गति पाई जाती है, उस कार्य को पूरा करने में उतना ही अधिक समय लगेगा और श्रमिक को थकावट का अनुभव भी अधिक होगा। इसलिए वैज्ञानिक आधार पर अनावश्यक एवं अकुशल गतियों को समाप्त करके कार्य को उचित समय में तथा बिना थकावट के पूरा करने हेतु गति-अध्ययन आवश्यक है। गति-अध्ययन का श्रेय श्री एवं श्रीमती गैलब्रेथ को दिया जाता है। उनके अनुसार, "गति-अध्ययन वह विज्ञान है जो अनावश्यक, अनिर्देशित एवं अकुशल गतियों के उपयोग से उत्पन्न होने वाले दुरुपयोगों को समाप्त करता है।" इन गति-अध्ययनों के तीन उद्देश्य हैं—

1. अनावश्यक, अनिर्देशित एवं अकुशल गतियों को समाप्त करके थकान में कमी करना एवं कम समय में कार्य को पूरा करना।
2. कार्य की सर्वोत्तम विधि ज्ञात करके कार्य को शीघ्रता से पूरा करना।
3. लागत को कम करना, कार्यकुशलता में वृद्धि करके उत्पादन में वृद्धि करना।

गति-अध्ययन के तरीके—गति के अध्ययन हेतु किसी भी कार्य को विभिन्न क्रियाओं में विभक्त किया जा सकता है। प्रत्येक क्रिया में लगने वाले समय, गतियों की संख्या आदि का अवलोकन किया जाता है और उनका रिकार्ड तैयार किया जाता है। यदि गतियों का परिवर्तन तेजी से होता है तो कैमरे की सहायता से चित्र ले लिए जाते हैं। इन कैमरों में समय-अंकन भी होता रहता है। इसके पश्चात् इससे पता लगाया जा सकता है कि कौनसी गतियाँ अलग से की जा सकती हैं तथा कौनसी साथ-साथ काम में लाई जाती हैं तथा कौनसी गतियाँ अनावश्यक हैं। इससे गतियों की संख्या कम करके थकान तथा समय की बचत की जा सकती है। गैलब्रेथ ने शारीरिक गतियों को 18 मूलभूत वर्गों में विभाजित किया था जिसे 'थर्बलिग' (Therblig) का नाम दिया गया है। इन्होंने ईंट चुनने वाले कारीगरों को देखकर अपने गति-अध्ययन की विधि का विकास किया था। इन कारीगरों की गतियों को कुछ क्रियाओं में 18 से घटाकर 5 व 2 तक किया था। इस अध्ययन में कुछ यन्त्रों का विकास किया तथा कुछ अनावश्यक गतियों को समाप्त करके श्रमिकों की शक्ति, थकान, समय व लागत पर पड़ने वाले दुष्परिणामों को समाप्त कर दिया था। गति-अध्ययन के लिए विधि चार्ट तैयार किए जाते हैं, सूक्ष्म गति-अध्ययन किया जाता है तथा सुझावों के माध्यम से भी गति अध्ययन किया जाता है। गति-अध्ययन अपने आप में एक साध्य नहीं है। यह उत्पादन बढ़ाने, संयन्त्र संगठन में अधिक कुशलता, कम मानवीय थकावट और उत्पादन लागत कम करने के साधन का कार्य करता है।

(iii) थकान अध्ययन (Fatigue Study)—प्रत्येक कार्य करने में श्रमिक की मांसपेशियों पर जोर पड़ता है और इसके परिणामस्वरूप उसे थकान महसूस होती है। टेलर ने हर क्रिया का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करके यह पता लगाया कि यह थकान कैसी होती है और इसमें किस प्रकार से सुधार किया जाए कि श्रमिक कम से कम थके तथा अधिक से अधिक उत्पादन किया जा सके। थकान से श्रमिकों की कार्यक्षमता प्रभावित होती है। यदि श्रमिक अधिक थकता है तो उसकी कार्यक्षमता में गिरावट आएगी, उत्पादन कम होगा तथा इससे उत्पादन की किस्म में भी गिरावट आएगी। इसलिए वैज्ञानिक प्रबन्ध में इस बात पर जोर दिया गया है कि श्रमिक पर कार्यभार इतना ही हो कि उसे अधिक थकावट महसूस न हो और कार्य करने में कोई कठिनाई नहीं आए। यही कारण है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध के जन्मदाता टेलर कार्य के

उचित वितरण, विशिष्टीकरण तथा श्रम-विभाजन के सिद्धान्तों तथा प्रमापीकरण के सिद्धान्त की पालना पर जोर देते हैं। थकान को विभिन्न रूपों में परिभाषित किया गया है। डॉ. स्टेनले केन्ट (Dr. Stanley Kent) के अनुसार, "थकान शारीरिक अंगों की घटती हुई वह कार्यक्षमता है जो श्रम के पश्चात् उत्पन्न होती है और आंशिक तौर पर उस पर निर्भर करती है।" थकान चाहे शारीरिक हो अथवा मानसिक, श्रमिक के स्वास्थ्य एवं उसकी कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव डालती है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के जनक टेलर तथा अन्य प्रणेताओं ने श्रम की थकान के निम्न कारणों की एक सूची प्रस्तुत की है—

(1) कार्य का अवैज्ञानिक वितरण। (2) कार्य के लम्बे घण्टे। (3) भारी सामान को लादना। (4) अधिक गर्मी में कार्य करना। (5) शारीरिक दुर्बलता एवं असन्तुलित भोजन। (6) कार्य में पुनरावृत्ति का पाया जाना। (7) दूषित वातावरण में कार्य करना। (8) तेज गति से कार्य करना।

श्रमिकों की इस थकान को दूर करने के लिए निम्नांकित सुझाव दिये गये हैं—

(1) कार्य का वैज्ञानिक आधार पर आवन्टन। (2) बीच-बीच में विश्राम की व्यवस्था। (3) सन्तोषप्रद कार्य की दशाओं का होना। (4) अनावश्यक गतियों को गति-अध्ययन के आधार पर कम अथवा समाप्त करना। (5) कार्य की पुनरावृत्ति पर रोक लगाना। (6) मशीनों द्वारा भारी सामान की लदाई करना। (7) प्रेरणात्मक योजनाओं का विकास करना। (8) कार्य की तेज गति को कम करना। (9) श्रमिकों को सन्तुलित भोजन उपलब्ध कराना।

प्रबन्ध वैज्ञानिकों ने समय, गति एवं थकान सम्बन्धी अनेक प्रयोग किए हैं। इन प्रयोगों के माध्यम से किसी भी कार्य को कम समय में पूरा किया जा सकेगा तथा गति एवं थकान से श्रमिक के स्वास्थ्य, उत्पादन लागत, कार्य की किस्म आदि पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों को रोका जा सकता है। साथ ही इससे श्रमिकों की कार्यकुशलता में बढ़ोतरी होगी, उत्पादन में वृद्धि होगी तथा उत्पादन लागत में भी कमी की जा सकेगी।

5. कार्य का नियोजन (Planning of Task)—यह वैज्ञानिक प्रबन्ध का हृदय कहा जाता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक कार्य तथा उसकी क्रियाओं के निष्पादन हेतु योजनाएँ तैयार की जाती हैं। श्रमिक इन्हीं योजनाओं के अनुसार कार्य करते रहते हैं। नियोजन सम्बन्धी विचार, टेलर की वैज्ञानिक प्रबन्ध के क्षेत्र में, एक महत्वपूर्ण देन है। इसके विषय में किम्बाल एण्ड किम्बाल ने ठीक ही लिखा है, "उसके (टेलर) कार्य का दुकान क्रियाओं के वास्तविक निष्पादन के अग्रिम नियोजन की समस्या पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है और समस्त आधुनिक नियोजन विभाग उसी के दिए तरीकों के आधार पर तैयार किए जाते हैं।"[1] किसी भी औद्योगिक क्रिया के नियोजन के अन्तर्गत चार बातों का समावेश किया जाता है— (i) क्या कार्य करना है? (ii) कार्य कैसे किया जाएगा? (iii) कार्य कहाँ किया जाएगा? (iv) कार्य कब किया जाएगा? इस प्रकार नियोजन विभाग द्वारा उपर्युक्त क्रियाओं के बारे में निश्चित योजना कार्यक्रम तथा उचित दिशा निर्देश दिए जाते हैं जिससे कि कार्य समय पर पूरा किया जा सके।

6. श्रमिकों का वैज्ञानिक चयन एवं प्रशिक्षण (Scientific Selection & Training of Workers)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत किसी भी कारखाने हेतु श्रमिकों के चयन एवं प्रशिक्षण का वैज्ञानिक आधार होना आवश्यक समझा गया है। परम्परागत प्रबन्ध के अन्तर्गत श्रमिकों के चयन हेतु कोई सुव्यवस्थित वैज्ञानिक आधार नहीं अपनाया जाता था। वैज्ञानिक चयन न होने पर श्रमिकों की कार्य कुशलता तथा उनके मनोबल (Morale) पर बुरा असर पड़ता है। टेलर ने भी वैज्ञानिक चयन पर जोर देते हुए लिखा है कि "प्रत्येक श्रमिक की उसकी अपनी विशेष योग्यताएँ होती हैं और हम व्यक्तियों को समूह के रूप में नहीं देखते हैं बल्कि प्रत्येक श्रमिक की अधिकतम कार्यकुशलता एवं समृद्धि के विकास का प्रयत्न कर रहे हैं। अतः हमारा प्रथम कदम उचित श्रमिक का पता लगाना है तथा अन्त में बहुत से श्रमिकों में से कुछ को

1. "The influence of his work on the problem of planning shop operations in advance of their actual performance has been very great and all modern planning departments are modelled more or less upon his methods."
—Kimball & Kimball : Principles of Industrial Organisation, p. 211.

चुनना होगा।"[1] तदनन्तर चुने हुए श्रमिकों को उचित स्थान पर लगाना होगा। प्रत्येक श्रमिक को उसकी योग्यता के अनुसार कार्य दिया जाना चाहिए अथवा कार्य के अनुसार श्रमिक को लगाया जाना चाहिए। यदि योग्य श्रमिक को उचित कार्य नहीं दिया जाता है तो इससे उसकी कार्यकुशलता तथा मनोबल पर बुरा प्रभाव पड़ता है तथा कारखाने के उत्पादन पर भी विपरीत प्रभाव पड़ेगा। यह कहावत सही है कि "एक अकुशल श्रमिक अपने औजारों से झगड़ता है।" अतः व्यक्ति के अनुसार कार्य तथा कार्य के अनुसार व्यक्ति का चयन किया जाना चाहिए। कर्मचारियों के चयन के लिए आवेदन प्राप्त करना, मनोवैज्ञानिक टैस्ट, साक्षात्कार तथा लिखित टैस्ट विधियों का उपयोग किया जाना चाहिए। इन विधियों का सहारा लेकर कुशल एवं दक्ष श्रमिकों का चयन किया जा सकता है। अपव्यय को रोकने तथा श्रमिकों की कार्य-कुशलता में वृद्धि करने हेतु विभिन्न संस्थाओं में प्रशिक्षण भी दिया जाता है। प्रशिक्षण भी वैज्ञानिक एवं सुव्यवस्थित ढंग से किया जाना चाहिए। आधुनिक समय में श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण का महत्त्व बढ़ जाने से कर्मचारियों को प्रशिक्षित किया जाना आवश्यक हो गया है। टेलर ने श्रमिकों द्वारा कुशलतापूर्वक कार्य करने हेतु वैज्ञानिक चयन एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता पर बल दिया है। इस सिद्धान्त के आधार पर सबसे अच्छा कार्य करने वाले को प्रथम श्रेणी का कारीगर माना गया है। इसके लिए निम्न दो विशेषताओं का उल्लेख किया गया है—(i) कर्मचारी को दिए गए कार्य के अनुसार योग्य होना। (ii) कर्मचारी में अधिक मजदूरी प्राप्ति के लिए अधिक कार्य करने का उत्साह होना चाहिए।

7. **कार्य का वैज्ञानिक आवण्टन** (Scientific Allocation of Work)—किसी भी औद्योगिक संस्थान में कर्मचारियों के वैज्ञानिक चयन एवं प्रशिक्षण के पश्चात् उन्हें कार्य सौंपने की समस्या उत्पन्न होती है। प्रत्येक कर्मचारी को कितना और कैसा कार्य सौंपा जाए—कार्य सौंपते समय प्रत्येक कर्मचारी की योग्यता, कुशलता तथा कार्य करने की इच्छा का ध्यान रखा जाना चाहिए। कार्य का आवण्टन वैज्ञानिक आधार पर किया जाना चाहिए, अन्यथा श्रमिकों में अनुपस्थिति, अरुचि, अकार्यकुशलता तथा श्रम-आवृति आदि बुराइयाँ उत्पन्न हो जाएँगी। इससे संस्थान की कार्य-कुशलता एवं उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। अतः कर्मचारियों को कार्य का आवण्टन करते समय हमें 'सही कार्य पर सही व्यक्ति' अथवा 'सही व्यक्ति को सही कार्य' प्रदान करने के सिद्धान्त का ध्यान रखना होगा।

8. **प्रेरणात्मक मजदूरी प्रणाली** (Incentive Wage System)—टेलर ने श्रमिकों की कार्य-कुशलता में वृद्धि करने हेतु प्रोत्साहनवर्द्धक मजदूरी अपनाने पर जोर दिया है। यदि श्रमिकों को अधिक मजदूरी प्राप्त होने की आशा होती है, तो वे अधिक लगन, उत्साह, रुचि एवं प्रेरणा से कार्य करते हैं। अतः कार्यकुशलता के अनुसार श्रमिकों को मजदूरी दी जानी चाहिए। इसके लिए टेलर ने विभेदात्मक मजदूरी दरों के महत्त्व पर जोर देते हुए लिखा है—"इसके परिणामस्वरूप कार्य की मात्रा में वृद्धि होती है और इसके साथ ही उच्च किस्म प्राप्त की जाती है।"[2] अतः श्रमिकों को प्रमापित कार्य से अतिरिक्त कार्य करने पर अतिरिक्त भुगतान दिया जाना चाहिए जिससे कि अधिक उत्पादन हो सके। इस पद्धति के परिणामस्वरूप कुशल श्रमिकों को उनकी औसत दैनिक मजदूरी का 30 से 35 प्रतिशत अधिक पारिश्रमिक मिलेगा। इससे अकुशल श्रमिकों के लिए टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध में कोई स्थान नहीं है।

9. **कार्य की अच्छी दशाएँ** (Good Working Conditions)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त के अन्तर्गत किसी भी उद्यम या संगठन में श्रमिकों को प्रदान की गई कार्य की दशाएँ भी श्रमिक के स्वास्थ्य व कार्यकुशलता को प्रभावित करती हैं। कार्य की दशाओं में कार्य के घण्टे, रोशनदान, तापक्रम, कारखाने की सफाई, विश्रामस्थल, कैण्टीन, पीने के पानी, शौचालय, पुस्तकालय, श्रम कल्याणकारी कार्य, बच्चों का पालन आदि शामिल हैं। स्वास्थ्यप्रद तथा सन्तोषजनक कार्य दशाओं के कारण श्रमिकों का स्वास्थ्य ठीक रहता है तथा उनकी कार्यकुशलता बढ़ने के कारण कारखाने का उत्पादन भी बढ़ता है। टेलर ने अच्छी कार्य की दशाओं के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, 'उनके श्रम घण्टों में कमी करने और उन्हें अधिक

1. *F. W. Taylor* The Principles of Scientific Management, p. 43
2. *F. W. Taylor* The Principles of Scientific Management, p. 93

अनुकूल कार्य दशाओं की पूर्ति करने पर उनके कार्य से जी चुराने के स्थान पर निरन्तर कार्य करवाना सम्भव होगा।"[1]

10. क्रियात्मक संगठन (Functional Organisation)—टेलर ने वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत जिस श्रम-संगठन पद्धति के अपनाने पर बल दिया है उसे 'क्रियात्मक संगठन' अथवा 'क्रियात्मक फोरमैनशिप' कहा जाता है। परम्परागत प्रबन्ध के अन्तर्गत फोरमैन को जो कार्य करने पड़ते थे, वे कार्य अब कई फोरमैन करते हैं। इससे कार्य-विभाजन हो जाता है ताकि कार्य समय पर व आसानी से पूरा किया जा सके। यह संगठन श्रम-विभाजन व विशिष्टीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को वही कार्य सौंपा जाता है जिसका कि वह कर्मचारी विशेषज्ञ होता है। इसके विषय में टेलर ने लिखा है, "आवश्यक रूप से ये व्यक्ति (विशेषज्ञ) उनका अधिकांश समय नियोजन विभाग में लगाते हैं, क्योंकि उन्हें रिकार्ड एवं आँकड़ों के अधिक निकट रहना पड़ता है जिनका कि वे अपने कार्य में उपयोग करते हैं ताकि उनका कार्य डैस्क तथा स्वतन्त्रतापूर्वक होता रहना चाहिए।"[2] टेलर ने एक कारखाने में कार्य करने वाले श्रमिकों पर आठ नायकों को नियुक्त करने का सुझाव दिया था। उनके अनुसार ये नायक श्रमिकों का कार्य देखने तथा उन्हें आवश्यक निर्देश देने हेतु हैं। जैसा कि टेलर ने लिखा है, "इसलिए यह आवश्यक है।कि श्रमिकों को समझने तथा निर्देशित करने हेतु अध्यापकों, जिन्हें कि क्रियात्मक फोरमैन कहा जाता है, की नियुक्ति की जाए। क्रियात्मक प्रबन्ध के अन्तर्गत परम्परागत एकाकी फोरमैन के स्थान पर आठ विभिन्न व्यक्ति नियुक्त किए जाते हैं, प्रत्येक का अपना विशेष कर्त्तव्य होता है और वे व्यक्ति नियोजन विभाग के अभिकर्ता के रूप में कार्य करते हैं। ये निपुण अध्यापक होते हैं जो कि कारखाने में पूरे समय तक श्रमिकों की सहायता एवं उनका निर्देशन करते रहते हैं।"[3] टेलर द्वारा दिए गए क्रियात्मक संगठन के अन्तर्गत कारखाना स्तर तथा कार्यालय अथवा नियोजन विभाग में श्रमिकों के ऊपर चार-चार नायक नियुक्त होते हैं, वे हैं—

(i) टोली नायक (Gang Boss)—यह योजनानुसार श्रमिकों से कार्य लेता है। यह श्रमिकों को आवश्यक औजारों एवं मशीनों को बताने की व्यवस्था करता है। कार्य किस प्रकार से करना है तथा कार्य ठीक ढंग से हो रहा है अथवा नहीं, यह भी इस नायक का कार्य है।

(ii) गति नायक (Mechanical Boss)—इसका कार्य यह देखना है कि मशीन ठीक ढंग से चल रही है अथवा नहीं। इसे चलाने हेतु विशिष्ट औजारों की व्यवस्था भी करनी पड़ती है।

(iii) मरम्मत नायक (Repair Boss)—यह श्रमिकों को मशीनों की सफाई, मरम्मत आदि के बारे में बताता है तथा मशीनों के विभिन्न पुर्जों को खोलने व ठीक करने के बारे में श्रमिकों को शिक्षा प्रदान करता है।

(iv) निरीक्षक (Inspector)—यह कारखाने में उत्पादित वस्तु की किस्म की जाँच करता है। वस्तु की किस्म अच्छी है अथवा नहीं है, देखने का कार्य इसी अधिकारी का होता है। वह कार्य को करने के अच्छे ढंग के विषय में भी निर्देश देता है। कार्य अधिक करने की बजाय उसकी किस्म अच्छी होनी चाहिए।

योजना विभाग या कार्यालय में भी चार नायक कार्य कर सकते हैं—

(i) कार्यक्रम लिपिक (Routine Clerk)—यह संस्थान में दिन-प्रतिदिन के कार्य की योजना तैयार करता है। विभिन्न क्रियाओं के क्रम का निर्धारण करता है और कारखाने में लगे श्रमिकों व नायकों को कार्य की योजना तथा निर्देश देने का कार्य करता है।

(ii) निर्देशन-पत्र लिपिक (Instruction-Card Clerk)—यह प्रत्येक कार्य के लिए निर्देश-पत्र तैयार करके विभिन्न नायकों के पास इन्हें भेजने का कार्य करता है। ये कार्ड कार्य को पूरा करने के ढंग व समय के बारे में बताते हैं। इस प्रकार निर्देशन पत्र लिपिक एक ओर योजना-निर्धारण का कार्य करता है जबकि दूसरी ओर कार्यक्रम लिपिक इसके क्रियान्वयन हेतु कार्यक्रमों का निर्धारण करता है।

(iii) समय और लागत लिपिक (Time and Cost Clerk)—यह श्रमिकों द्वारा किए जाने वाले कार्य के समान रिकार्ड प्राप्त करता है और इसके आधार पर वह श्रमिकों की मजदूरी, बोनस भुगतान आदि के निर्धारण का कार्य करता है। इस विषय में वह रिकार्ड रखता है तथा विभिन्न लागत मदों के विषय में लागत लेखांकन विभाग को सूचना भेजता है।

1-2-3 *F. W. Taylor* : The Principles of Scientific Management, p. 93.

(iv) अनुशासक (Disciplinarian)—यह एक रोजगार प्रबन्धक के रूप में कार्य करता है। कारखाने में अनुशासन बनाए रखने, शान्ति स्थापित करने, अच्छे कार्य करने वाले को पुरस्कृत करना, खराब कार्य करने वाले को दण्डित करना, वेतन व मजदूरी में समायोजन स्थापित करना और विवादों को निपटाने का कार्य करता है। अनुशासनहीनता एवं अनुपस्थिति सम्बन्धी मामलों का निपटारा भी यही करता है।

11. आधुनिक उपकरणों का उपयोग (Use of Modern Equipments)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों में किसी भी कारखाने में आधुनिक मशीनों, यन्त्रों एवं उपकरणों के प्रयोग पर जोर दिया गया है। इनसे श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है, उत्पादन में लगने वाले समय की बचत होती है, उत्पादित वस्तु की क़िस्म में सुधार होता है और उत्पादन लागत में कमी होती है। इसके परिणामस्वरूप उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु प्रतिस्पर्द्धी बाजार में आसानी से बिक जाती है। इसके लिए सम्बन्धित कारखाने अथवा उद्योग में आधुनिकतम मशीनों, औजारों, उपकरणों आदि के आविष्कारों एवं उचित मरम्मत करने की व्यवस्था होना आवश्यक है। इस हेतु अनुसन्धान कार्यालय स्थापित किया जाना चाहिए।

12. कुशल लागत लेखा पद्धति (Efficient Cost Accounting System)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त के अन्तर्गत किसी भी संस्था अथवा उद्योग में एक कुशल लागत लेखा पद्धति का होना परमावश्यक है। इसकी सहायता से लागत को कम करने, उत्पादन की लागत को ज्ञात करने तथा वस्तुओं की कीमतों को निर्धारित करने का कार्य किया जाता है। उद्योग की जाँच करने हेतु हमें लागत का पता लगाना, लागत का अनुमान लगाना तथा लागत पर नियन्त्रण करना परमावश्यक है। इससे वस्तु का उत्पादन भी नियन्त्रित किया जाता है। यदि किसी वस्तु की उत्पादन लागत कम है तथा उसकी माँग अधिक है तो उस स्थिति में वस्तु की कीमत में वृद्धि करके उद्योग लाभ प्राप्त कर सकता है। अधिक लागत होने पर इसके कारणों का पता लगाकर इसे कम करने के प्रयास किए जाते हैं।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के मूल आधार

(Fundamentals of Scientific Management)

वैज्ञानिक प्रबन्ध के जन्मदाता टेलर ने अपने विभिन्न लेखों में वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों को बाद में प्रबन्ध के मूल आधार के रूप में निम्नवत् संशोधित किया है। ये आधार देश काल की सीमाओं में प्रबंध विज्ञान की सार्वदेशिकता स्पष्ट करते हैं। ये निम्नलिखित हैं—

1. परम्परागत पद्धतियों के स्थान पर वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग—वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों में प्रबन्ध के क्षेत्र में पाए जाने वाले अँगूठा के नियम (Rule of Thumb) के स्थान पर आधुनिकतम वैज्ञानिक रीतियों को स्थान दिया जाता है। वैज्ञानिक पद्धतियों से परम्परागत विधियों का परीक्षण करके उन्हें सुधारा जाता है अथवा पूर्णरूप से प्रतिस्थापित कर दिया जाता है। टेलर के अनुसार वैज्ञानिक प्रबन्ध में 75% विश्लेषण और 25% सामान्य बुद्धि का समावेश किया जाता है। इस प्रकार प्रबन्ध विज्ञान परम्परा (Tradition), अन्धविश्वास (Superstition) एवं अन्तर्ज्ञान (Intuition) पर आधारित न होकर वैज्ञानिक विश्लेषणों एवं पद्धतियों पर आधारित है। वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत किसी भी समस्या के समाधान हेतु हमें वैज्ञानिक विधियों का उपयोग करना होगा। इसके लिए सर्वप्रथम तथ्य की जानकारी प्राप्त की जाती है। तथ्यों के आधार पर धारणाओं का निर्माण किया जाता है। सिद्धान्तों की जाँच करने हेतु प्रयोग किए जाते हैं। प्रयोग सही होने पर सिद्धान्तों का निर्धारण करके सामान्य नियम बनाया जाता है। सामान्य नियम बनाने के पश्चात् इसका व्यावहारिक उपयोग किया जाता है। इस वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करके प्रबन्ध की समस्याओं का समाधान करने हेतु सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है।

2. टकराहट के स्थान पर समरसता (Harmony, not discord)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत कच्चे माल, मशीनों, कार्य-विभाजन, कार्य-पद्धतियों तथा संगठन आदि में प्रमापीकरण (Standardisation) के सिद्धान्त का उपयोग किया जाता है। इससे भिन्नता के स्थान पर एकरूपता आती है। इसके अन्तर्गत श्रमिक एवं मालिक भी अपने हितों को एक-दूसरे के विरोधी न मानकर एक-दूसरे पर अन्तः-निर्भर मानते हैं। वे एक ही रास्ते पर चलने वाले दो सहयोगी साथी हैं। वे एक दूसरे के पूरक हैं और इससे दोनों के बीच सद्भावना का विकास होता है।

3. व्यक्तिवाद के स्थान पर सहकारिता (Co-operation, not Individualism)—वैज्ञानिक प्रबन्ध में श्रम-विभाजन व विशिष्टीकरण के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। एक ही कार्य को कई उपकार्यों में विभाजित

किया जाता है। प्रत्येक उपविभाग या कार्य व्यक्तियों या श्रमिक समूह द्वारा किया जाता है। उदाहरणार्थ—सूती वस्त्र उद्योग में रूई साफ करना, सूत कातना, कपड़ा बुनना, रंगाई-छपाई एवं पैकिंग के कार्य अलग-अलग श्रमिक समूहों द्वारा किया जाता है। यह उत्पादन विभिन्न विभागों में कार्यरत श्रमिकों के सामूहिक सहयोग का ही परिणाम होता है। व्यक्तिवाद से कार्य पूर्णरूपेण सम्पन्न नहीं किया जा सकता है। अतः इससे श्रमिकों में सहकारिता की भावना उत्पन्न होती है।

4. सीमित उत्पादन के स्थान पर अधिकतम उत्पादन (Maximum output, in place of Restricted output)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत विशिष्टीकरण व श्रम-विभाजन अपनाने के कारण उत्पादन का पैमाना बड़ा होता है। आन्तरिक एवं बाह्य मितव्ययिताओं के कारण कम लागत पर अधिक उत्पादन किया जाता है। अधिक उत्पादन करने से सभी वर्ग समूहों को लाभ प्राप्त होता है। इसके अन्तर्गत परम्परागत प्रबन्ध की भाँति उत्पादन सीमित न होकर अधिक किया जाता है।

5. अधिकतम कुशलता एवं सम्पन्नता का विकास (Development of Greatest Efficiency and Prosperity)—वैज्ञानिक प्रबन्ध में कारखाने में कार्यरत कर्मचारियों की भर्ती एवं चयन वैज्ञानिक आधार पर किया जाता है। इससे योग्य श्रमिकों का चयन होता है। इसके बाद श्रमिकों का प्रशिक्षण, कार्य पर लगाना, पदोन्नति, स्थानान्तरण, कार्य-मुक्ति आदि अवस्थाओं में भी मनमानी के स्थान पर वैज्ञानिक आधारों का उपयोग किया जाता है। श्रमिकों के वैज्ञानिक चयन एवं प्रशिक्षण के परिणामस्वरूप श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है और उन्हें मजदूरी भी अधिक प्राप्त होती है। इसी प्रकार जो श्रमिक कार्य में अधिक कुशल होते हैं उनको प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धति (Incentive Wage System) के अन्तर्गत पुरस्कृत किया जाता है। इससे प्रत्येक श्रमिक को अपना पूर्ण विकास करने एवं आर्थिक स्थिति में सुधार करने का सुअवसर मिलता है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध की उपयोगिता
(Utility of Scientific Management)

वैज्ञानिक प्रबन्ध के लाभों के विषय में टेलर ने लिखा है, "वैज्ञानिक प्रबन्ध का सामान्य अनुकरण औद्योगिक कार्यों में लगे प्रत्येक औसत व्यक्ति की उत्पादकता को भविष्य में दुगुना कर देगा। सोचिए, सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए इसका क्या अर्थ होगा ? इससे देश के व्यक्तियों की आवश्यक एवं विलासिता की वस्तुओं में वृद्धि होगी, श्रमिकों के कार्य के घण्टों में कमी सम्भव होगी और शिक्षा, संस्कृति एवं मनोरंजन के अवसरों में वृद्धि होगी।...... वैज्ञानिक प्रबन्ध का नियोक्ताओं एवं कर्मचारियों के लिए अर्थ होगा उनके आपसी मतभेदों एवं झगड़ों का अन्त।...... जो कम्पनियाँ इस प्रबन्ध को अपनाएँगी उनकी उत्पादन लागत में कमी होगी और उत्पादन दुगुना हो जाएगा।...... इससे न केवल कर्मचारियों की गरीबी हटेगी अपितु समाज की गरीबी हटकर समृद्धि बढ़ेगी।"[1]

टेलर के अनुसार वैज्ञानिक प्रबन्ध उत्पादकों, कर्मचारियों, समाज एवं राष्ट्र सभी के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है। इस व्यवस्था से होने वाले लाभों का विवरण इस प्रकार है—

1. उत्पादकों को लाभ (Advantage to Producers)

(i) श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण के लाभ—बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाता है और इससे श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण अपनाया जाता है जिसके अनेक लाभ प्राप्त होते हैं।

(ii) अधिकतम उत्पादन—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत प्रत्येक कार्य वैज्ञानिक पद्धतियों पर आधारित होने के कारण उत्पादन अधिकतम हो जाता है। इसमें वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति निश्चित समय पर होती है और उद्योगपति अपनी ख्याति बढ़ा कर लाभ प्राप्त कर पाता है।

(iii) वस्तु की अच्छी किस्म—वैज्ञानिक आधार पर उत्पादन होने से वस्तु का प्रमापीकरण, कार्य प्रमापीकरण, कच्चे माल का प्रमापीकरण आदि अपनाने से वस्तु की किस्म अच्छी प्राप्त होती है।

(iv) श्रम-विवादों का अन्त—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत मजदूरों को कार्यानुसार मजदूरी दी जाती है तथा जो अधिक कुशलता से कार्य करते हैं उन्हें प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धतियों के अन्तर्गत पुरस्कृत किया जाता है। कार्य की दशाओं में भी सुधार करके श्रमिकों एवं प्रबन्धकों में मानसिक क्रान्ति उत्पन्न की जाती है। वे एक-दूसरे

1. *F. W. Taylor*: The Principles of Scientific Management, p. 142-143.

के अधिक निकट आते हैं। इससे श्रम-विवादों की समाप्ति हो जाती है। प्रबन्धक तथा मजदूरों में सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों का विकास संभव हो पाता है।

(v) उत्पादन लागत में कमी—*वैज्ञानिक प्रबन्ध के कारण कार्य का आवण्टन इस प्रकार से किया जाता है* कि कार्य समय पर एवं निश्चित ढंग से पूरा किया जा सके। लागत लेखांकन विभाग द्वारा लागत का नियन्त्रण किया जाता है। विभिन्न नायकों (Bosses) द्वारा कार्य का निरीक्षण, निर्देशन किए जाने से उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि होती है। अत: श्रम विभाजन, विशिष्टीकरण, प्रमापीकरण, मशीनीकरण, स्वचालन एवं आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप उत्पादन लागत में कमी होती है।

2. श्रमिकों को लाभ (Advantages to Workers)

(i) सन्तोषप्रद कार्य की दशाएँ—इसके अन्तर्गत श्रमिकों को कार्य की अच्छी दशाएँ प्रदान की जाती हैं। कार्य के घण्टे निश्चित किए जाते हैं तथा उन्हें कार्य के बीच में आराम भी दिया जाता है। इस प्रबन्ध व्यवस्था के अन्तर्गत नियोक्ता एवं प्रबन्धक श्रमिकों के भौतिक एवं मानसिक कल्याण की ओर ध्यान देते हैं। वे श्रम-कल्याण कार्यों पर किए गए व्यय को अनुत्पादक व्यय न समझ कर विनियोग समझते हैं।

(ii) श्रमिकों को कार्य सन्तुष्टि—इस प्रबन्ध व्यवस्था के अन्तर्गत कर्मचारियों एवं श्रमिकों का वैज्ञानिक चयन कर उन्हें प्रशिक्षण दिया जाता है। कार्यानुसार व्यक्ति का चयन अथवा व्यक्ति अनुसार कार्य दिया जाता है। इसी प्रकार योग्यता, कुशलता एवं अनुभव के आधार पर ही कार्य का वैज्ञानिक आवण्टन किया जाता है। इससे श्रमिक रुचि लेकर कार्य करते हैं। परिणामस्वरूप उन्हें सन्तुष्टि मिलती है।

(iii) पारिश्रमिक में वृद्धि—कर्मचारियों को उनके कार्यानुसार मजदूरी दी जाती है। अधिक उत्पादन होने से अधिक मजदूरी दी जाती है। अधिक कार्यकुशल श्रमिकों को प्रेरणात्मक मजदूरी योजना के अन्तर्गत पुरस्कृत किया जाता है। इससे श्रमिकों की मजदूरी में 30% से 100% तक वृद्धि सम्भव होती है परिणामस्वरूप मजदूरों को अधिक स्फूर्ति से कार्य प्राप्त करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

(iv) स्थायी रोजगार—इस प्रबन्ध व्यवस्था के अन्तर्गत कर्मचारियों व श्रमिकों को रोजगार स्थायी रूप से मिलता रहता है। यदि किसी प्रकार का परिवर्तन किया जाता है तो पहले से ही प्रबन्धकों द्वारा वैकल्पिक रोजगार योजना की व्यवस्था कर ली जाती है।

(v) व्यक्तिगत विकास—इस प्रबन्ध विज्ञान के अन्तर्गत प्रत्येक श्रमिक की कुशलता एवं योग्यता का अधिक विकास किया जाता है। इसके लिए वैज्ञानिक चयन एवं प्रशिक्षण प्रणाली द्वारा अवसर प्रदान किए जाते हैं। समय-समय पर श्रमिकों को प्रशिक्षण एवं मार्गदर्शन की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। इससे श्रमिकों के दृष्टिकोण का परिष्कार होकर उनके व्यक्तित्व का विकास होता है।

(vi) उच्च जीवन-स्तर—श्रमिक कम समय में अधिक उत्पादन करने में सफल होते हैं क्योंकि इस प्रबन्ध व्यवस्था में समय अध्ययन, गति अध्ययन एवं थकान अध्ययन आदि विषयों पर प्रयोग किए जाते हैं। इससे श्रमिकों की कार्य-कुशलता एवं निपुणता में वृद्धि होती है। वे कम समय में अधिक उत्पादन करते हैं, पारिश्रमिक भी अधिक मिलता है फलत: श्रमिकों के जीवन-स्तर में वृद्धि होती है।

3. समाज को लाभ (Advantages to Society)

(i) औद्योगिक शान्ति एवं तीव्र आर्थिक विकास—इस प्रबन्ध व्यवस्था के अन्तर्गत दोनों पक्षों (श्रमिकों व मालिकों) में मानसिक क्रान्ति उत्पन्न करके दोनों के हितों को एक-दूसरे का विरोधी न मानकर सहायक एवं समानता के स्तर पर लाया जाता है और श्रमिकों व नियोक्ताओं में संघर्ष के स्थान पर सहयोग की भावना उत्पन्न होती है। इससे देश में औद्योगिक शान्ति का वातावरण बनता है। आर्थिक विकास एवं तीव्र औद्योगीकरण की सुदृढ़ नींव भी औद्योगिक शान्ति पर ही रखी जाती है अत: इससे देश का तीव्र गति से आर्थिक विकास एवं औद्योगीकरण संभव है।

(ii) राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत सीमित साधनों का अधिकतम उपयोग किया जाता है। इसमें विशिष्टीकरण, श्रम-विभाजन, प्रमापीकरण, विवेकीकरण, मशीनीकरण आदि अपनाने से कम उत्पादन लागत पर अधिकतम उत्पादन सम्भव होता है। इससे न केवल राष्ट्रीय उत्पादन में ही वृद्धि होती है, अपितु राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि होती है।

(iii) देशवासियों के जीवन-स्तर में वृद्धि —विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर सम्भव होता है। वस्तुओं की उत्पादन लागत कम होने से वस्तुएँ सस्ती होती हैं तथा उनकी किस्म भी अच्छी होती है। सस्ती और अच्छी किस्म की वस्तुएँ मिलने के कारण देशवासियों का उपभोग स्तर बढ़ता है जिससे उनका जीवन-स्तर उन्नत होता है।

(iv) रोजगार के अवसरों में वृद्धि—इस प्रबन्ध व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादकता में वृद्धि होने से अन्य व्यक्ति बेरोजगार नहीं होंगे इससे बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न नहीं होगी। टेलर के शब्दों में, "जो यह सोचते हैं कि उत्पादकता में वृद्धि हो जाने से अन्य व्यक्तियों को बेरोजगार होना पड़ेगा, गलत है। सभ्य एवं असभ्य तथा धनी एवं निर्धन राष्ट्रों में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि सभ्य एवं धनी देशों के कर्मचारी असभ्य एवं निर्धन राष्ट्रों की तुलना में 5 या 6 गुना अधिक उत्पादन करते हैं। फिर भी वहाँ बेकारी इतनी अधिक नहीं है जितनी कि पिछड़े राष्ट्रों में है।" टेलर ने इंग्लैण्ड में बेरोजगारी का कारण सीमित उत्पादन बताया है।

(v) श्रमिक शांति होने से वर्ग-संघर्ष की भावना को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा जिससे अवांछनीय हिंसा की प्रवृत्ति नहीं बढ़ेगी।

आलोचना (Criticism)

वैज्ञानिक प्रबन्ध ने प्रबन्ध जगत में एक नवीन क्रान्ति उत्पन्न की है जिससे अनेक लाभ हुए हैं फिर भी समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा इसकी निम्नवत् आलोचना की जाती है—

1. श्रमिकों द्वारा आलोचना (Worker's Criticism)—वैज्ञानिक प्रबन्ध व्यवस्था की श्रमिकों ने निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की है—

(i) रोजगार में कमी (Reduction of Employment)—वैज्ञानिक प्रबन्ध से श्रमिकों के रोजगार के अवसरों में कमी हो जाती है क्योंकि वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत कार्य के आवण्टन तथा मशीनरी के रूप में श्रम बचत उपायों का उपयोग किया जाता है। इससे श्रमिक की कार्यकुशलता एवं उत्पादकता में वृद्धि होती है और परिणामस्वरूप श्रमिकों की माँग कम हो जाती है तथा श्रमिकों को बेरोजगारी की समस्या का सामना करना पड़ता है।

(ii) नीरसता की समस्या (Problem of Monotony)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण को उत्पादन का प्रमुख आधार माना जाता है। इससे कर्मचारी को वही कार्य दिया जाता है जिसमें वह दक्ष हो। एक ही कार्य करते-करते व्यक्ति में उस कार्य के प्रति अरुचि एवं नीरसता उत्पन्न होने लगती है। कार्य के नियोजन व निर्णय सम्बन्धी कार्य एक वर्ग द्वारा तथा क्रियान्वयन का कार्य दूसरे वर्ग द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

(iii) श्रमिकों की प्रेरणा शक्ति की हानि (Loss of Workers Initiative)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत विभिन्न प्रक्रियाओं के उप-विभाजन व प्रमापीकरण के कारण श्रमिकों की प्रेरणात्मक शक्ति समाप्त हो जाती है। इससे वह मशीन का एक अंग मात्र बनकर रह जाता है। प्रत्येक कार्य की योजना, निर्देशन एवं क्रियान्वयन की प्रक्रिया भी प्रबन्धकों द्वारा तैयार की जाती है। इस प्रकार अल्पकाल के लिए तो श्रमिकों की उत्पादकता में अवश्य ही वृद्धि होती है, लेकिन दीर्घकाल में श्रमिकों की कार्य में अरुचि हो जाती है और इसमें उनकी उत्पादन क्षमता घट जाती है।

(iv) श्रमिकों का शोषण (Exploitation of Workers)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत श्रमिकों की सहायता से उनकी उत्पादकता बढ़ाकर उत्पादन में वृद्धि की जाती है। उत्पादकता दुगुनी या तिगुनी होने के बावजूद भी श्रमिकों की मजदूरी में ठीक उसी अनुपात में वृद्धि नहीं की जाती है। इसी तरह वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत कार्य करने की गति में श्रमिकों के स्वास्थ्य व कल्याण को ध्यान में रखे बिना ही वृद्धि कर दी जाती है। इससे श्रमिकों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। दूसरी ओर श्रमिकों को दिया जाने वाला पारिश्रमिक उनकी उत्पादकता के योगदान की तुलना में कम होने से उनका शोषण किया जाता है।

(v) श्रम संघों को कमजोर करना (Weakening of Trade Unions)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत श्रमिकों की कार्य की दशाएँ, कार्य का आवण्टन एवं मजदूरी आदि शर्तों का निर्धारण वैज्ञानिक रीति-नीति के आधार पर किया जाता है फलतः श्रम-संघों के संगठन कमजोर हो जाते हैं। इस तरह श्रम-संघ तथा सामूहिक सौदाकारी का कोई महत्त्व नहीं रहता है।

(vi) अप्रजातान्त्रिक व्यवस्था (Undemocratic System)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत क्रियात्मक नायकों के माध्यम से श्रमिकों का नियन्त्रण किया जाता है। इससे श्रमिकों को न्याय, कार्य के निर्धारण, मजदूरी व कार्य की दशाओं के निर्धारण, रोजगार की सामान्य प्रणाली के निर्धारण आदि हेतु नियोक्ताओं पर निर्भर रहना पड़ता है। उनसे नियोक्ता कुछ भी विचार-विमर्श नहीं करते हैं। केवल मालिक ही प्रबन्धकों के साथ मिल-बैठकर इस विषय पर विचार-विमर्श करते हैं। कार्य एवं क्रिया पूर्णरूप से नियन्त्रित रहने के कारण श्रमिकों को उसी व्यवस्था के अनुसार कार्य करना पड़ता है। फिर भी टेलर के नियन्त्रक प्रबन्ध के कारण विभिन्न विभागों द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले कार्यों में सही रूप में तालमेल स्थापित करने में सहायता मिली है। इससे प्रबन्धकीय एवं तकनीकी कार्यकुशलता में वृद्धि अवश्य हुई है, लेकिन श्रमिकों की यह शिकायत कि उन्हें उनके कार्य, कार्य-दशाओं, पदोन्नति अथवा पद से हटाने आदि विषयों पर परामर्श करने सम्बन्धी बात उचित है।

2. नियोक्ताओं द्वारा आलोचना (Employers' Criticism)—उद्योगपति तथा नियोक्ता भी वैज्ञानिक प्रबन्ध की निम्नांकित आधारों पर विरोध करते हैं—

(i) अत्यधिक विनियोग (Heavy Investment)—नियोक्ताओं एवं उद्योगपतियों का यह कथन है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत योजनाओं को तैयार करने, समय, गति एवं थकान अध्ययन करने, मशीनीकरण, श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण, प्रमापीकरण, निरीक्षण एवं पर्यवेक्षणों आदि पर भारी मात्रा में व्यय करना पड़ता है। इस भारी विनियोग करने के पश्चात् भी वैज्ञानिक प्रबन्ध से मिलने वाला लाभ अल्पकाल में ही नहीं मिल पाता है, बल्कि एक लम्बे समय के पश्चात् मिलना शुरू होता है। नियोक्ता व उद्योगपति अपने विनियोग से तुरन्त लाभ प्राप्त करना चाहते हैं।

(ii) पुनर्गठन के कारण हानि (Loss due to Re-organisation)—किसी भी औद्योगिक संस्थान में वैज्ञानिक प्रबन्ध के लागू करने पर उसके समूचे संगठन को फिर से तैयार किया जाता है परिणामस्वरूप कुछ समय के लिए कार्य रुकने से नियोक्ताओं को हानि उठानी पड़ती है। इसलिए इस प्रकार के परिवर्तन का वे विरोध करते हैं।

(iii) लघु संस्थानों के लिए अनुपयुक्त (Unsuitable for Small Scale Units)—वैज्ञानिक प्रबन्ध लघु एवं कुटीर उद्योगों में स्थापित नहीं किया जा सकता है क्योंकि इस प्रकार के संस्थान में कार्मिक विभाग की स्थापना तथा समय, गति एवं थकान का अध्ययन करना एक व्ययपूर्ण प्रणाली होगी। इस प्रकार लघु उद्योग चाहते हुए भी इस प्रबन्ध व्यवस्था को नहीं अपना सकते हैं। इससे देश का बहुत बड़ा औद्योगिक क्षेत्र इसकी परिधि से बाहर रह जाता है।

(iv) द्रुत तकनीकी परिवर्तन के कारण हानि (Loss due to Rapid Technological Changes)—वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्षेत्र में तीव्र प्रगति एवं परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप मशीनों, उपकरणों, औजारों, यन्त्रों एवं विधियों में परिवर्तन होते रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप नियोक्ताओं को भी अपने संस्थानों में इस प्रकार के परिवर्तन करने पड़ेंगे। इससे उनको काफी व्यय करना पड़ेगा।

(v) कार्यशील व्ययों में वृद्धि (Increase in Working Expenses)—वैज्ञानिक प्रबन्ध अपनाने के कारण कार्यशील व्ययों में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। उच्चस्तरीय प्रबन्ध से लेकर निम्नस्तरीय प्रबन्ध तक विभिन्न विशेषज्ञों की नियुक्तियाँ करनी पड़ती हैं। इसी प्रकार कार्य, समय एवं थकान अध्ययनों पर प्रयोग करने पड़ते हैं। इससे संस्थान के कार्यशील व्ययों में निरन्तर वृद्धि होती है और लाभ कम होने लग जाता है।

3. सैद्धान्तिक आधार पर आलोचना (Criticism from the Theoretical Point of View)—वैज्ञानिक प्रबन्ध व्यवस्था की सैद्धान्तिक दृष्टि से भी निम्नांकित आलोचना की गई है—

(i) असन्तुलित दृष्टिकोण (Unbalanced Approach)—यह प्रबन्ध व्यवस्था किसी भी औद्योगिक उपक्रम के प्रबन्ध का आंशिक रूप में अध्ययन करती है। यह उत्पादन प्रबन्ध पर अधिक जोर देता है। व्यावहारिक जीवन में हम देखते हैं कि प्रबन्ध में उत्पादन प्रबन्ध के अतिरिक्त कार्मिक प्रबन्ध, वित्तीय प्रबन्ध, विक्रय प्रबन्ध आदि भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वैज्ञानिक प्रबन्ध विभिन्न विभागों की क्रियाओं के एकीकृत करने का कार्य ही करता है न कि उद्यम से सम्बन्धी अनेकानेक समस्याओं के निवारण का कार्य।

(ii) अत्यधिक विशिष्टीकरण (Too much of Specialisation)—वैज्ञानिक प्रबन्ध में श्रम-विभाजन एव विशिष्टीकरण अपनाया जाता है। इसके अन्तर्गत अधिक अधिकार क्रियात्मक नायकों को सौंपे जाते हैं तथा श्रमिकों को अधिक कार्य करने को कहा जाता है। इससे समन्वय एवं नियन्त्रण सम्बन्धी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं और औद्योगिक संस्थान में निर्देशों एवं आदेशों में भी समरूपता नहीं पाई जाती है। अधिकार एवं उत्तरदायित्व का सही विभाजन न होने के कारण श्रमिकों व कर्मचारियों में कार्य की शिथिलता आती है जो कि संस्थान की प्रगति में बाधक सिद्ध होती है।

(iii) अमानवोचित एवं निराशापूर्ण धारणाएँ (Inhuman and Possemistic Assumptions)—वैज्ञानिक प्रबन्ध सम्बन्धी विचारधारा मानवीय प्रकृति के विषय में निराशापूर्ण धारणाएँ लेकर चलती है जो कदापि मानवोचित नहीं है। इस धारणा का व्यावहारिक वैज्ञानिकों ने अत्यधिक विरोध किया है। वैज्ञानिक प्रबन्ध यह मानकर चलता है कि श्रमिक आलसी एवं कमजोर हैं, उत्तरदायित्व से बचते हैं, महत्वाकांक्षी नहीं होते हैं, परिवर्तन का विरोध करते हैं, इसलिए श्रमिकों का निकट से पर्यवेक्षण एवं कठोर नियन्त्रण करने पर जोर दिया गया है। प्रो. डगलस मेकग्रेगर (Douglas McGregor) ने, जिन्होंने प्रबन्ध के क्षेत्र में एक 'वाई' नामक सिद्धान्त ('Y' Theory) का प्रतिपादन किया है, इस विचारधारा को एक निराशावादी धारणा बताकर विरोध किया जाता है। उनके अनुसार श्रमिकों को एक सक्रिय एवं उत्तरदायी बनाकर उद्देश्यों के द्वारा प्रबन्ध का कार्य सौंप सकते हैं। इससे संस्थान का कार्य ठीक ढंग से चलेगा। श्रमिकों के बारे में यह धारणा और सकल्पना न्यायोचित और तर्कसंगत नहीं कही जा सकती है।

(iv) समन्वित दृष्टिकोण का अभाव (Lack of an Integrated Approach)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत समय अध्ययन, गति अध्ययन, थकान अध्ययन आदि के अलग-अलग प्रयोग किए जाते हैं। प्रत्येक कार्य को अलग से आवण्टित कर दिया जाता है, लेकिन कार्य तथा उसकी प्रत्येक क्रिया अलग-अलग समयों पर की जाती है। इसमें प्रति घटा उत्पादन तो बढ़ता है लेकिन दीर्घकाल में उत्पादन नहीं बढ़ पाता है। अतः इन विभिन्न कार्यों और इनकी क्रियाओं में समन्वय किया जाना अति आवश्यक रहता है।

(v) गलत विभाजन (Faulty Division)—प्रो. ड्रकर ने वैज्ञानिक प्रबन्ध की आलोचना करते हुए लिखा है कि इसके अन्तर्गत कार्य करने वाले को सोचने वालों से पृथक् कर दिया गया है। एक पक्ष कार्य को सोचने का कार्य करता है तथा दूसरी ओर कार्य करने वाले होते हैं। इन दोनों को पृथक् कर देने से कार्य उचित समय पर और सही रूप में पूरा नहीं किया जाता है। इस प्रकार का कृत्रिम विभाजन न तो संभव ही है और न ही व्यावहारिक।

4. औद्योगिक मनोवैज्ञानिकों द्वारा आलोचना (Criticism by Industrial Psychologists)—वैज्ञानिक प्रबन्ध की आलोचना औद्योगिक मनोवैज्ञानिकों द्वारा भी निम्नलिखित आधारों पर की गई है—

(i) सभी श्रमिकों की कार्यकुशलता में भिन्नता का होना—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत प्रत्येक श्रमिक को कार्य एक दिए गए ढंग से करना पड़ता है जो कि सबसे अच्छा तरीका होता है, लेकिन मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि सभी कर्मचारी व श्रमिक सबसे अच्छे तरीके से कार्य नहीं कर सकते हैं क्योंकि प्रत्येक श्रमिक की योग्यता, कार्य करने का ढंग आदि अलग-अलग होते हैं। इससे सभी श्रमिकों की कार्यकुशलता एक-सी नहीं रखी जा सकती है।

(ii) यान्त्रिक दृष्टिकोण (Mechanical Approach)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत प्रत्येक श्रमिक एक मशीन का अंग मात्र बनकर रह जाता है। एक मानवीय साधन के सक्रिय एवं प्रेरित सामूहिक सदस्यों के रूप में वह कार्य नहीं कर पाता है। श्रमिकों को मानवीय साधन बाद में समझा जाता है तथा उत्पादन का साधन पहले। मनोवैज्ञानिक इस बात पर जोर देते हैं कि प्रबन्धकों को श्रमिकों के साथ मानवीय दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। श्रमिकों को अपने उसे और कार्य करने के तरीके पर सोचने का पर्याप्त अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। श्रमिकों को प्रबन्ध में सहभागिता का अवसर दिया जाना चाहिए तथा 'सुझाव योजनाओं' के माध्यम से प्रबन्ध व श्रम के बीच पारस्परिक सहयोग एवं मधुर सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए।

(iii) नीरसता की समस्या (The Problem of Monotony)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत श्रम-विभाजन व विशिष्टीकरण के माध्यम से प्रत्येक कर्मचारी को एक विशिष्ट कार्य दिया जाता है जो उसे प्रबन्ध द्वारा दिए गए तरीके से करना पड़ता है। हमेशा वही कार्य करते रहने से श्रमिक का जीवन नीरस हो जाता है

और कुछ समय बाद उसकी कार्यक्षमता घटने लगती है जो कि वैज्ञानिक प्रबन्ध के मूल उद्देश्य को व्यर्थ सिद्ध कर देता है। नीरसता को दूर करने हेतु मनोवैज्ञानिकों का सुझाव है *कि कार्य के विस्तार द्वारा कार्य से सम्बन्धित* विधियों का ज्ञान भी श्रमिकों को दिया जाना चाहिए। इससे श्रमिक उस कार्य को भी समय पर कर सकेंगे और उनकी नीरसता भी दूर हो सकेगी। नीरसता को दूर करके ही श्रमिकों में कार्य के प्रति रुझान उत्पन्न किया जा सकता है और उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है।

(iv) स्वास्थ्य पर प्रभाव—श्रमिकों के कार्य करने की गति तेज होती है। वैज्ञानिक प्रबन्ध का उद्देश्य *अधिकतम कार्य करना होता है।* इसके लिए *श्रमिकों को कार्य तेजी से करना पड़ता है।* इससे श्रमिकों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। मानसिक तनाव व थकावट आ जाती है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि श्रमिकों को ऐसे वातावरण में इस गति से कार्य लेना चाहिए कि उनके मानसिक व शारीरिक अंगों पर तनाव एवं दबाव नहीं पड़े। अच्छे व्यवहार से श्रमिकों से अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है।

(v) मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का अभाव—परम्परागत प्रबन्ध के अन्तर्गत यह माना जाता था कि श्रमिक से अधिक कार्य लेने हेतु उसे मौद्रिक प्रेरणाएँ दी जानी चाहिए, लेकिन औद्योगिक मनोवैज्ञानिक यह मानकर चलते हैं कि श्रमिक केवल मौद्रिक प्रेरणाओं से ही प्रभावित नहीं होता है। उसे प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्व भी हैं, जैसे—कार्य की सुरक्षा, सामाजिक तत्त्व, मान्यता, स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने एवं विचार करने आदि। अत वैज्ञानिक प्रबन्ध को अपने सिद्धान्तों में संशोधन करके मनोवैज्ञानिक तत्त्वों, जैसे—व्यावसायिक चयन एव मार्गदर्शन, कार्य विस्तार, कार्य बदलाव एवं संयुक्त परामर्श तथा सुझाव योजनाओं का भी समावेश किया जाना चाहिए।

इस प्रकार वैज्ञानिक प्रबन्ध अपनी आलोचनाओं के बावजूद एक सुनियोजित एव सुनिश्चित प्रणाली है जिससे प्रबन्धक एव श्रमिकों में साहचर्य भाव बढ़कर उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि होती है।

फ्रेडरिक डब्ल्यू. टेलर
(F. W. Taylor)

वैज्ञानिक प्रबन्ध के क्षेत्र में फ्रेडरिक डब्ल्यू. टेलर का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। उसे प्रबन्ध जगत् में वैज्ञानिक अवधारणा का प्रतिपादन करने वाले प्रतिनिधि विचारक के रूप में जाना जाता है। अमेरिका निवासी फ्रेडरिक डब्ल्यू. टेलर ने 19 वर्ष की आयु में फिलाडेलफिया में क्रेम्प शिपयार्ड पर एक सामान्य मशीन प्रशिक्षार्थी एवं टर्नर के रूप में कार्य शुरू किया, परन्तु आँखों की खराबी के कारण आगे पढ़ने की उनकी इच्छा पूरी नहीं हो सकी। तीन वर्ष बाद वे मिडवेल स्टील वर्क्स (Midvale Steel Works) में मशीन शॉप श्रमिक के रूप में काम करने लगे। दो वर्ष बाद टोली नायक के रूप में उनकी पदोन्नति हो गई। अपनी योग्यता एवं लगन के कारण चार वर्ष पश्चात् अर्थात् 28 वर्ष की आयु में वे इसी कंपनी में मुख्य अभियंता (Chief Engineer) बन गए। इसी बीच सायंकालीन कक्षाओं में प्रवेश लेकर उन्होंने एम ई की उपाधि प्राप्त की। बाद में वे कई प्रबन्धकों को परामर्श देने का कार्य करने लगे। उन्होंने कई पेपर पढ़े और बाद में जाकर इन पैपरों को पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किया गया। टेलर द्वारा सन् 1911 में प्रकाशित पुस्तक 'Principles of Scientific Management' का वैज्ञानिक प्रबन्ध में महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस पुस्तक में टेलर ने कारखाना प्रबन्ध (Factory Management) अथवा उत्पादन प्रबन्ध *(Production Management)* के सिद्धान्तों की विशद विवेचना की है। एक औद्योगिक संस्थान में कार्यकुशलता किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है, इसके लिए मशीन एवं उनके चालकों पर भी ध्यान दिया गया है। इसके लिए टेलर ने समय अध्ययन (Time Study), गति अध्ययन (Motion Study) एवं थकान अध्ययन (Fatigue Study) आदि पर कई प्रयोग किये। ये प्रयोग वैज्ञानिक प्रबन्ध के मूलाधार हैं। इसके साथ ही संगठन के अन्तर्गत कार्यों को नियोजन एवं क्रियात्मक (Functional) दो भागों में विभाजित किया गया। नियोजन के अन्तर्गत उच्च प्रबन्धकों द्वारा सोचने का कार्य अधिक किया जाता है जबकि क्रियात्मक कार्य के अन्तर्गत श्रमिक के कार्य करने अथवा यन्त्रीकरण संबंधी कार्य से लिया गया है। उनसे कार्य लेना उनके ऊपर नियुक्त नायकों (Bosses) की जिम्मेदारी है। टेलर की अन्य रचनाओं में 'Scientific Management 1912', 'Shop Management, 1910' आदि हैं। उनके मुख्य निबन्ध A Piece Rate System, 1885, Shop Management, 1903; On the Art of Cutting Metals, 1906, Gospel of Efficiency, 1911 हैं।

प्रबन्ध के क्षेत्र में टेलर का महान् योगदान है इसलिए इसे वैज्ञानिक प्रबन्ध का जनक तथा कार्यकुशलता का सृजनकर्ता भी कहा जाता है। अतः टेलर के योगदान की निम्नलिखित आधारों पर विवेचना की जा सकती है—

1. प्रबन्ध को विज्ञान बनाना—टेलर ने इस बात पर जोर दिया कि प्रबन्ध एक विज्ञान है और इस रूप को बनाए रखने हेतु हमें घटनाओं, तथ्यों आदि का अवलोकन करना चाहिए। अवलोकनों पर प्रयोग किए जाने चाहिए। प्रयोगों की सहायता से ही टेलर ने कार्य, समय एवं थकान पर अध्ययन किए हैं और कर्मचारियों के वैज्ञानिक चयन के आधार को प्रस्तुत किया है। इससे प्रबन्ध एक विज्ञान के रूप में कार्य सम्पन्न करता है।

2. प्रबन्ध-संगठन का निर्माण—टेलर ने इस बात पर जोर दिया कि किसी भी संस्थान में एक उचित प्रबन्ध-संगठन का विकास किया जाना चाहिए। यह एक प्रकार से एक यन्त्र का कार्य करता है जिसके माध्यम से प्रबन्ध कार्यों का सम्पादन आसानी से किया जाता है। यह प्रबन्ध यन्त्र कई तत्त्वों के समावेश से तैयार किया जाता है, जैसे—समय अध्ययन, क्रियात्मक फोरमैन-शिप, प्रमापीकरण, नियोजन विभाग, कार्यानुमान, विभेदात्मक मजदूरी योजना आदि।

3. प्रबन्ध के सिद्धान्तों का प्रणेता—टेलर ने दोनों पक्षों को न्याय दिलाने के उद्देश्य से प्रबन्ध के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। ये निम्नलिखित सिद्धान्त सभी हितों एवं सामूहिक विकास हेतु प्रतिपादित किए गए हैं—

(1) कार्यानुमान का सिद्धान्त,
(2) प्रयोगों का सिद्धान्त,
(3) कार्य-नियोजन का सिद्धान्त,
(4) कर्मचारियों के वैज्ञानिक चयन एवं प्रशिक्षण का सिद्धान्त,
(5) कार्य के वैज्ञानिक आवण्टन का सिद्धान्त,
(6) सामान के वैज्ञानिक चयन एवं उपयोग का सिद्धान्त,
(7) आधुनिकतम उपकरणों के उपयोग का सिद्धान्त,
(8) प्रमापीकरण का सिद्धान्त,
(9) कुशल लागत लेखा प्रणाली का सिद्धान्त,
(10) प्रेरणात्मक मजदूरी का सिद्धान्त,
(11) सन्तोषजनक कार्य दशाओं का सिद्धान्त,
(12) प्रबन्ध के अपवाद का सिद्धान्त,
(13) मानसिक क्रान्ति का सिद्धान्त,
(14) क्रियात्मक संगठन का सिद्धान्त।

4. प्रबन्धकों के दायित्व पर बल—टेलर ने प्रबन्धकों के दायित्व के अन्तर्गत उनके निम्नलिखित चार दायित्वों का प्रतिपादन किया है[1]—

(1) कर्मचारियों के कार्य के प्रत्येक तत्त्व के लिए विज्ञान का विकास करें जिससे की परम्परागत 'अंगूठा नियम' (Old Rule of Thumb) को बदला जा सके।
(2) कर्मचारियों के अधिकतम विकास हेतु उनको वैज्ञानिक चयन एवं प्रशिक्षण दिया जाए।
(3) कर्मचारियों के साथ वे पूर्ण हार्दिक सहयोग करें जिससे कि विज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार कार्य किया जा सके।
(4) प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों के मध्य कार्य एवं उत्तरदायित्व का समान विभाजन होना चाहिए।

इस प्रकार प्रबन्धकीय दायित्वों से श्रमिकों और प्रबन्धकों में पारस्परिक सहयोग एवं विश्वास उत्पन्न होता है फलतः संस्थान में शान्ति से कार्य होता है फलस्वरूप संस्थान के कार्यों में वांछित गति आती है।

5. वैज्ञानिक प्रबन्ध की विवेचना—टेलर के अनुसार वैज्ञानिक प्रबन्ध प्रत्येक कार्य के चिन्तन, निष्पादन के तरीके, उसकी योजना के निर्माण व उसके क्रियान्वयन एवं नियंत्रण आदि का अध्ययन करता है तथा इनमें हमेशा

1. *F. W. Taylor* : Scientific Management, p. 36.

सुधार करते रहना चाहिए। इस दर्शन से ही वैज्ञानिक प्रबन्ध को एक गतिशील एवं निरंतर प्रक्रिया सबंधी विज्ञान माना गया है। इस प्रकार इस वैज्ञानिक प्रबन्ध के दर्शन में टेलर के अनुसार निम्नलिखित तत्त्वों को शामिल किया गया है[1]—

(1) विज्ञान, न कि अंगूठा नियम,

(2) शान्ति, न कि संघर्ष,

(3) सहयोग, न कि व्यक्तिवाद;

(4) अधिकतम उत्पादन, न कि सीमित उत्पादन,

(5) प्रत्येक व्यक्ति का उसकी अधिकतम कार्यकुशलता एवं समृद्धि तक विकास।

इस प्रकार वैज्ञानिक प्रबन्ध का दर्शन आपसी सहयोग एवं विश्वास पर आधारित है। यह दर्शन ही किसी संस्थान को शक्तिशाली बना सकता है।

6. प्रबन्ध का उद्देश्य—टेलर के अनुसार वैज्ञानिक प्रबन्ध का उद्देश्य न केवल समृद्धि में वृद्धि करना है बल्कि श्रमिकों एवं समूचे समाज से निर्धनता को समाप्त करना है। इससे श्रमिकों को ऊँची मजदूरी, कार्य की अच्छी दशाएँ तथा उपभोक्ताओं को निम्न लागत पर वस्तुएँ प्राप्त हो सकेंगी। इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रबन्ध जगत् को अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी होंगी, यथा—

(1) श्रमिक को योग्यतानुसार कार्य दिया जाए।

(2) सन्तोषप्रद कार्य की दशाएँ प्रदान की जाएँ।

(3) प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धति अपनाकर अधिक कार्यकुशल कर्मचारी को कम कार्यकुशल श्रमिकों से अधिक मजदूरी दी जाए।

(4) समय, गति एवं थकान अध्ययन द्वारा उच्च मजदूरी एवं निम्न श्रम लागत के उद्देश्यों को प्राप्त किया जाए।

7. क्रियात्मक संगठन पद्धति—टेलर ने वैज्ञानिक प्रबन्ध में इस पद्धति का प्रतिपादन करके एक क्रान्तिकारी कदम उठाया है। फोरमैन के कार्य करने के भार को समाप्त करके उनके स्थान पर विशेषज्ञों की नियुक्तियाँ की हैं। इससे फोरमैन का कार्यभार कम हो जाएगा तथा वह अन्य कार्यों में अपना समय अधिक लगा सकेगा। इसके अन्तर्गत कारखाना स्तर पर टोली नायक (Gang Boss), गति नायक (Speed Boss), मरम्मत नायक (Repair Boss) एवं निरीक्षक (Inspector) नियुक्त किए गए हैं तथा कार्यालय स्तर पर कार्यक्रम लिपिक (Routine Clerk), निर्देशन पत्र लिपिक (Instruction Card Clerk), समय और लागत लिपिक (Time & Cost Clerk) तथा अनुशासक (Disciplinarian) की नियुक्ति की गई है। इन विशेषज्ञों का सीधा सम्बन्ध श्रमिकों से होता है। श्रमिकों को इनके अधीन कार्य करना पड़ता है।

8. मानसिक स्थिति—टेलर ने वैज्ञानिक प्रबन्ध की सफलता हेतु कर्मचारियों एवं प्रबन्धकों में मानसिक क्रान्ति उत्पन्न करने पर जोर दिया है। श्रमिकों व मालिकों को अपने हितों को एक-दूसरे का विरोधी नहीं समझना चाहिए तथा एक-दूसरे को सहयोग देकर विश्वास के साथ कार्य करना होगा। श्रमिकों को कार्य की अच्छी दशाएँ, प्रेरणात्मक मजदूरी तथा योग्यतानुसार कार्य का आवण्टन किया जाना चाहिए। श्रमिकों को भी अपनी माँगों को मनवाने हेतु हड़ताल, धीरे-धीरे कार्य करने की प्रवृत्ति, घेराव आदि आदतों को छोड़ना पड़ेगा। टेलर के अनुसार प्रबन्धकों के निम्नलिखित तीन उत्तरदायित्व हैं—

(1) श्रमिक द्वारा किए जाने वाले कार्य का निर्धारण,

(2) कार्य हेतु उचित श्रमिक का चयन, एवं

(3) कार्य में उच्च-स्तरीय निष्पादन हेतु श्रमिकों को अभिप्रेरित करना।

विश्व के विकसित देशों में टेलर के सिद्धान्तों एवं तरीकों को बड़े पैमाने पर लागू किया गया है। अमेरिकी उद्योगों एवं पश्चिमी यूरोप के देशों के उद्योगों पर वैज्ञानिक प्रबन्ध का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है फलत इनको विस्तृत पैमाने पर अपनाया भी गया है। टेलर की शिक्षाओं से प्रबन्ध के अन्य विभागों, जैसे—वित्त, कार्मिक,

1 *F W Taylor* Scientific Management, p 140

क्रियात्मक संगठन आदि का विकास हुआ है तथा वर्तमान समय, गति, थकान, प्रेरणाओं आदि का आधार बनी है। टेलर के इन विचारों और सिद्धांतों ने प्रबन्ध जगत् में एक अभूतपूर्व क्रान्ति की है।

हेनरी फेयोल
(Henry Fayol)

वैज्ञानिक प्रबन्ध की अवधारणा को सैद्धान्तिक एवं प्रक्रियागत स्वरूप प्रदान करने में जिस विचारक ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, उस फ्रेंच विचारक को हेनरी फेयोल के नाम से जाना जाता है। एफ. डब्ल्यू. टेलर के समकालीन हेनरी फेयोल को ही यह श्रेय जाता है कि उन्होंने सर्वप्रथम प्रबन्ध के सामान्य सिद्धान्त (General Theory of Administration) का प्रतिपादन किया जिसने समस्त यूरोपीय उद्योग को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। हेनरी फेयोल का जन्म 1841 में फ्रांस में हुआ था। उसने 1860 में खनिज अभियंता की उपाधि प्राप्त करके 'Commentary Fourchambault Company' में उसी वर्ष कनिष्ठ अभियन्ता के पद पर कार्य करना शुरू कर दिया। बाद में इसी कम्पनी का प्रबन्ध संचालक बना दिया गया। उसने कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में अपने विचार प्रकट किए जो कि क्रियात्मक विश्लेषण (Functional Analysis) के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। उसने 1916 में 'General and Industrial Administration' नामक पुस्तक लिखी। प्रो. कुन्ट्ज एवं ओ'डोनेल के अनुसार, शायद आधुनिक प्रबन्ध सिद्धान्त का वास्तविक जनक यह फ्रांसीसी उद्योगपति फेयोल ही है।[1] अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में 1920 तथा इसके पश्चात् भी फेयोल के विचारों को कोई नहीं जान सका था क्योंकि इनकी पुस्तक 'General Theory of Administration' 1916 में फ्रांसीसी भाषा में छपी थी। हेनरी फेयोल एक व्यावहारिक एवं अनुभवी व्यवसायी था। उसने जो भी प्रबन्ध के क्षेत्र में योगदान दिया, वह सब उसके प्रबन्धकीय जीवन के अनुभवों पर आधारित था। हेनरी फेयोल द्वारा दिए गए प्रबन्धकीय योगदान को निम्नांकित रूप से विवेचित किया जा सकता है—

(1) औद्योगिक क्रियाएँ (Industrial Activities)

फेयोल के अनुसार सभी औद्योगिक संस्थाओं में निम्नांकित 6 क्रियाएँ देखने को मिलती हैं—

(i) तकनीकी क्रियाएँ (Technical Activities)—इसमें उत्पादन, निर्माणकारी तथा अनुकूलता सम्बन्धी क्रियाओं को शामिल किया जाता है।

(ii) व्यापारिक क्रियाएँ (Commercial Activities)—इनमें क्रय-विक्रय एवं विनिमय का समावेश किया जाता है।

(iii) वित्तीय क्रियाएँ (Financial Activities)—इनमें पूँजी-प्राप्ति तथा उसके श्रेष्ठतम उपयोग को सम्मिलित किया जाता है।

(iv) सुरक्षात्मक क्रियाएँ (Security Activities)—इनमें जान-माल की सुरक्षा सम्बन्धी क्रियाएँ आती हैं।

(v) लेखाकर्म क्रियाएँ (Accounting Activities)—इनमें हिसाब-किताब रखने, लागत नियन्त्रण तथा आँकड़े एकत्रित करने सम्बन्धी क्रियाएँ आती हैं।

(vi) प्रबन्धकीय क्रियाएँ (Managerial Activities)—इनमें नियोजन, संगठन, आदेश, समन्वय एवं नियत्रण आदि का समावेश किया जाता है। ये क्रियाएँ प्रत्येक आकार और प्रत्येक प्रकार के व्यवसाय में पाई जाती हैं।

(2) प्रबन्ध के तत्त्व (Elements of Management)

प्रबन्धकीय क्रिया को पाँच तत्त्वों अथवा कार्यों के रूप में विभाजित किया जाता है—नियोजन, संगठन, आदेश, समन्वय और नियन्त्रण। फेयोल ने प्रशासन को प्रबन्ध से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। यही कारण है कि इन तत्त्वों या कार्यों को प्रशासन के कार्य कहा जाता है। ये तत्त्व इस प्रकार है—

(i) नियोजन (Planning)—नियोजन में पूर्वानुमान एवं निर्णय को शामिल किया जाता है। इसके अन्तर्गत भविष्य के बारे में पूर्वानुमान लगाया जाता है और कार्य की योजना तैयार की जाती है। कार्य की योजना (Plan of Action) उद्यम के साधनों, कार्य की प्रकृति एवं महत्त्व तथा व्यवसाय की भावी प्रवृत्तियों पर निर्भर करती है।

1. *Koontz and O'Donnell* : Principles of Management, p. 21.

एक अच्छी योजना के अन्तर्गत एकता, निरन्तरता, लचकता और निश्चितता आदि विशेषताएँ होनी चाहिए। हेनरी फेयोल ने आगे दैवता को नियोजन में महत्वपूर्ण स्थान दिया है क्योंकि इससे भविष्य का अनुमान लगाकर उसके बारे में नियोजन तैयार किया जा सकता है। प्रबन्ध की योग्यता एवं कुशलता इस बात पर निर्भर करती है कि नियोजन किस ढंग से तैयार किया जाता है।

(ii) संगठन (Organisation)—इसके द्वारा किसी भी उपक्रम को सही ढंग से चलाने हेतु आवश्यक कच्चा माल, उपकरण, पूँजी, कर्मचारी आदि की पूर्ति करना है। यह एक ऐसा ढाँचा है जिसके माध्यम से मानवीय एवं भौतिक साधनों को आवश्यक दशाएँ प्रदान करके उत्पादन का कार्य किया जाता है। इसमें कर्मचारियों के विवेकपूर्ण चयन एवं निरन्तर प्रशिक्षण को भी शामिल किया जाता है।

(iii) आदेश (Command)— इस तत्व के माध्यम से किसी भी उपक्रम में कार्यरत कर्मचारियों से अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। प्रबन्धकों को अपने संस्थान में कार्यरत कर्मचारियों की एकता, शक्ति एवं प्रेरणा को बनाए रखने और उनमें संस्थान के प्रति आस्था उत्पन्न करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। हेनरी फेयोल का कहना है कि आदेश की कला प्रबन्धक के व्यक्तिगत गुणों एवं प्रबन्ध के सामान्य सिद्धान्तों के ज्ञान पर निर्भर करती है। प्रशासकों को कर्मचारियों के बारे में पूर्ण जानकारी रखनी चाहिए तथा अयोग्य कर्मचारियों की छँटनी कर देनी चाहिए।

(iv) समन्वय (Co-ordination)—हेनरी फेयोल के अनुसार यह प्रबन्ध का वह कार्य है जिसके माध्यम से संस्थान की विभिन्न क्रियाओं में इस प्रकार तालमेल स्थापित हो कि कार्य सुगमतापूर्वक चलता रहे और किसी भी प्रकार की बाधा उत्पन्न न हो। विभिन्न प्रबन्धकीय कार्यों, उत्पादन, उपभोग, वित्त, विक्रय आदि में समन्वय करना आवश्यक है। समन्वय सही रूप में प्रबन्ध का हृदय कहा जाता है। समन्वय के कार्य को सुधारने एवं सफल बनाने हेतु विभिन्न विभागाध्यक्षों एवं संपर्क अधिकारियों की समय-समय पर सभाएँ बुलानी चाहिए।

(v) नियन्त्रण (Control)— हेनरी फेयोल के अनुसार नियन्त्रण का कार्य संगठन में पाई जाने वाली दुर्बलताओं एवं गलतियों को सुधारना है। इन गलतियों एवं दुर्बलताओं की पुनरावृत्ति को रोकना भी इसी के अन्तर्गत आता है। नियन्त्रण का क्षेत्र व्यापक है। इसमें प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति एवं क्रिया को सम्मिलित किया जाता है। फेयोल के अनुसार एक प्रभावी नियन्त्रण में दो महत्वपूर्ण बातों पर जोर दिया जाता है—प्रथम, नियन्त्रण सम्बन्धी कार्य समय पर किया जाना चाहिए एवं द्वितीय, नियन्त्रण विभिन्न अनुज्ञाओं द्वारा किया जाना चाहिए।

(3) प्रबन्ध सिद्धान्त (Principles of Management)

हेनरी फेयोल ने अपनी पुस्तक *'General and Industrial Administration', 1916* में प्रबन्ध के सामान्य सिद्धान्तों की विस्तृत रूप में व्याख्या की है। उनके अनुसार किसी भी औद्योगिक संस्थान का प्रबन्ध करने हेतु प्रबन्धकों को कुछ सामान्य आधारभूत सिद्धान्तों का ज्ञान होना आवश्यक है। उसने इस दिशा में निम्नांकित 14 महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है—

1. कार्य विभाजन (Division of Work)—हेनरी फेयोल के अनुसार विशिष्टीकरण एवं प्रमापीकरण से अधिकतम लाभ प्राप्त करने हेतु प्रत्येक उपक्रम या संस्थान में कार्य का निष्पादन श्रम-विभाजन के सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए। इससे उत्पादन के मानवीय एवं भौतिक साधनों की कार्यकुशलता में वृद्धि की जा सकती है और न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। फेयोल ने इस सिद्धान्त को प्रबन्धकीय एवं तकनीकी सभी कार्यों में लागू करने का प्रस्ताव किया है फिर भी कार्य-विभाजन की अपनी सीमाएँ होती हैं। अत इन सीमाओं को ध्यान में रखते हुए कार्य-विभाजन हो अथवा नियोजन, समन्वय एवं नियन्त्रण संबंधी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाएँगी।

2. अधिकार एवं उत्तरदायित्व (Authority and Responsibility)—फेयोल के अनुसार प्रबन्ध में इन दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। बिना अधिकार के उत्तरदायित्व और बिना दायित्व के अधिकार व्यर्थ है। इसीलिए फेयोल ने इन दोनों में समानता लाने पर जोर दिया है क्योंकि ये कार्य के दो पहलू हैं जिनका उपयोग प्रत्येक व्यावसायिक क्रिया में किया जाता है। किसी भी व्यक्ति को कार्य करने के उत्तरदायित्व सौंपने के साथ-साथ उसे अधिकार भी दिए जाने चाहिए। ये दोनों साथ-साथ चलने चाहिए। अधिकारों के अन्तर्गत कई

संयोजन सम्मिलित किए जाते हैं। इनमें प्रबन्धक को प्रबन्धक-मंडल से प्राप्त अधिकार तथा उसके व्यक्तिगत गुणों अर्थात् उसका पद, व्यक्तित्व, बुद्धिमत्ता, अनुभव, नैतिक बल तथा पिछली सेवाओं का समावेश ही उसके अधिकार-क्षेत्र को इंगित करता है।

3. अनुशासन (Discipline)—इसके अन्तर्गत उन सभी समझौतों के हेतु आदर को सम्मिलित किया जाता है जिससे आज्ञाकारिता, व्यावहारिकता, शक्ति एवं आदर प्राप्ति हेतु निर्देश दिए जाते हैं। हेनरी फेयोल के अनुसार, किसी भी संस्थान में अनुशासन प्रबन्धक के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। एक अच्छे अनुशासन हेतु एक सफल नेतृत्व की आवश्यकता है। इसमें तीन बातों का होना आवश्यक है—

(i) सभी स्तरों पर अच्छे एवं सुनियोजित पर्यवेक्षण का होना।

(ii) समझौते स्पष्ट एवं उचित होने चाहिए।

(iii) दण्ड-विधान को दृढ़तापूर्वक एवं विवेक के साथ लागू करने का प्रावधान होना चाहिए।

4. आदेश की एकता (Unity of Command)—इसके अभाव में संस्थान में कार्यरत कर्मचारियों को आदेश देने पर वह भ्रम में पड़ जायेगा। वह अपने दायित्व को सही रूप से निर्वाह नहीं कर सकेगा। अतः कर्मचारी का एक ही अधिकारी हो जिससे कि वह समय पर कार्य को आदेश प्राप्त होते ही कर ले तथा उत्तरदायित्व आदि गुणों में किसी प्रकार की कमी न आए।

5. निर्देश की एकरूपता (Unity of Direction)—इसके अनुसार प्रत्येक एक समान उद्देश्य वाली क्रियाओं की एक ही योजना हो तथा उसका अधिकारी भी एक ही हो और इस अधिकारी द्वारा दिए जाने वाले निर्देशों में एकरूपता का होना आवश्यक है जिससे कि क्रियाओं एवं प्रयासों में समन्वय आसानी से किया जा सके और किसी प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न न हो। फेयोल ने आदेशों की एकता तथा निर्देशों की एकरूपता का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आदेशों की एकता का सम्बन्ध केवल विभिन्न स्तरों पर कार्यरत कर्मचारियों से है जबकि निर्देशों की एकरूपता समूचे निगम-शरीर से सम्बन्धित है। अतः जिस प्रकार शरीर पर एक सिर से अधिक होना राक्षस की निशानी है, उसी प्रकार निगम रूपी शरीर पर भी एक ही सिर (अधिकारी) होना अधिक उचित होगा।

6. व्यक्तिगत हित की तुलना में सामान्य हित को महत्त्व (Subordination of Individual Interest of General Interest)—किसी भी संस्थान में व्यक्तिगत हितों एवं सामान्य हितों में संघर्ष नहीं होना चाहिए। यह सर्वोच्च प्रशासकों एवं प्रबन्धकों का दायित्व है कि वे व्यक्तिगत हितों को त्याग कर संस्थान के सामान्य हितों की ओर सभी कर्मचारियों का ध्यान आकर्षित करें। व्यक्तिगत हितों एवं सामान्य हितों में समन्वय करके संघर्ष की स्थिति को उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि उच्च अधिकारी अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करें। जहाँ तक सम्भव हो उचित समझौते हों एवं निरन्तर रूप से पर्यवेक्षण कार्य होता रहे। आलस्य, महत्वाकाँक्षा, कमजोर एवं अन्य तत्त्व सामान्य हितों के महत्त्व को कम कर देते हैं। इससे संगठन की स्थिति कमजोर हो जाती है।

7. पारिश्रमिक (Remuneration)—उत्पादन के विभिन्न साधनों को उनकी सेवाओं के बदले दिया जाने वाला भुगतान पारिश्रमिक अथवा प्रतिफल होता है। किसी भी संस्थान में कार्यरत कर्मचारियों को दिया गया पारिश्रमिक एवं उसके भुगतान का तरीका उचित एवं न्यायसगत होना चाहिए जिससे कि कर्मचारी एवं नियोक्ता दोनों ही पक्षों को सन्तोष प्राप्त हो। इससे उत्पादकता में वृद्धि होती है और दोनों में अच्छे संबंध बने रहते हैं।

8. केन्द्रीयकरण (Centralisation)—हेनरी फेयोल ने केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त पर जोर देते हुए कहा है कि किसी भी संस्थान में अधिकारों का किस सीमा तक केन्द्रीयकरण तथा किस सीमा तक विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) किया जाए, यह अलग-अलग संस्थाओं की प्रकृति एवं आकार पर निर्भर करता है। एक बड़े उद्योग में अधिकारों का केन्द्रीयकरण अधिक नहीं होगा बल्कि वहाँ उच्चस्तरीय प्रबन्ध से मध्यम व निम्नस्तरीय प्रबन्धकों तक अधिकारों का विकेन्द्रीयकरण होगा। इसके विपरीत एक छोटे उपक्रम में अधिकार-सत्ता का केन्द्रीयकरण बड़े पैमाने पर मिलेगा।

9. स्केलर श्रृंखला (Scalar Chain)—यह पदसोपान के सिद्धान्त पर आधारित है। यह एक प्रकार के उच्चतम अधिकारियों अथवा अधिकार-सत्ता की रेखा है जो उच्चतम स्तर से निम्न स्तर तक सन्देशवाहन के रूप में काम में आती है। इस श्रृंखला के माध्यम से ही उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थों को आदेश, सुझाव

देते हैं तथा निम्न-स्तर से उसकी प्रतिक्रियाएँ आदि मानी जाती हैं। सन्देशवाहन में ऐसी श्रृंखला का उपयोग किया जाना चाहिए, लेकिन यदि किसी कारणवश देरी होने की सम्भावना होने पर इस श्रृंखला में प्रत्येक अधिकारी अपने से ऊपर वाले अधिकारी की अनुमति से अन्य अधिकारी से सम्पर्क करके, कार्य को समय पर करवा सकता है।

10. व्यवस्था (Order)—यह वस्तुओं और व्यक्तियों के संगठन के सिद्धान्त पर आधारित है। यह सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि प्रत्येक वस्तु एवं व्यक्ति के लिए एक उचित स्थान होता है और प्रत्येक स्थान के लिए एक उचित वस्तु और एक उपयुक्त व्यक्ति होता है। अतः व्यक्तियों एवं वस्तुओं को उचित स्थान प्रदान किया जाना चाहिए। प्रबन्ध में निम्न लागत पर अधिकतम उत्पादन करने हेतु उचित वस्तु व व्यक्ति का होना आवश्यक है। इसके लिए प्रबन्धकीय क्रियाओं के दो पहलू—अच्छा संगठन एवं अच्छा चयन होना आवश्यक है।

11. समता (Equity)—इसके लिए दया एवं न्याय का होना आवश्यक है। किसी भी संस्थान के प्रबन्धकों को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ दया एवं न्याय के साथ व्यवहार करना चाहिए। इससे कर्मचारी उसे आदर देंगे तथा उनमें प्रबन्धक के प्रति आज्ञाकारिता एवं स्वामिभक्ति की भावना का विकास होगा। प्रबन्ध के सभी स्तरों पर समता के सिद्धान्त को लागू करना चाहिए। इसके लागू करने हेतु अच्छा विवेक, अनुभव एवं अच्छा स्वभाव होना आवश्यक है।

12. कर्मचारियों के पदों की स्थिरता (Stability of Tenure of Personnel)—किसी भी संस्थान में कार्यरत कर्मचारियों के कार्य व पद की सुरक्षा होनी चाहिए। यदि उन्हें यह पता है कि जो कार्य व पद उन्हें दिया गया है वह भविष्य में भी बना रहेगा, इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जाएगा तो कर्मचारी पूरी रुचि एवं लगन से कार्य करेंगे। इसके विपरीत कार्य व पदों में बार-बार परिवर्तन करने पर उद्योग के कार्य में बाधा उत्पन्न होगी और ऐसा करना अकुशल प्रबन्ध की निशानी कहलायेगा। इससे संस्थान को नुकसान होता है।

13. प्रेरणा (Initiative)—इसके अन्तर्गत किसी योजना पर विचार करने एवं उसका क्रियान्वयन का कार्य आता है। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति में सोचने-विचारने की शक्ति होती है। किसी भी योजना को तैयार करने एवं उसको लागू करने में कर्मचारियों को छूट होनी चाहिए। इससे कर्मचारियों में उत्साह एवं शक्ति में वृद्धि होती है। अतः फेयोल के अनुसार प्रबन्धकों को चाहिए कि वे कर्मचारियों में प्रेरणा की भावना उत्पन्न करने का कार्य करें।

14. सहयोग की भावना (Esprit de Corps)—यह 'संगठन ही शक्ति है' के सिद्धान्त पर आधारित है। यह एकता उत्पन्न करता है। प्रबन्धकों को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए और सभी को एक साथ लेकर एक टीम के रूप में कार्य करना चाहिए। सहयोग की भावना उत्पन्न करने हेतु सन्देशवाहन के महत्व पर जोर दिया गया है। यदि श्रमिकों में एकता नहीं है तो यह संस्थान के हितों के लिए घातक सिद्ध होती है। पूर्ण सहयोग की प्राप्ति हेतु एक ओर आदेशों में एकरूपता रखनी होगी तथा दूसरी ओर 'फूट डालो और शासन करो' वाली ताकतों को समाप्त करना होगा और इसके लिए प्रभावपूर्ण ढंग से सन्देशवाहन का उपयोग करना होगा, जिससे कि तुरन्त किसी भी प्रकार के संदेह को दूर किया जा सके।

(4) प्रबन्धकीय प्रशिक्षण एवं गुण (Managerial Training and Qualities)

हेनरी फेयोल ने प्रबन्धकों में विभिन्न आवश्यक गुणों पर जोर दिया है जो इस प्रकार हैं—

(i) शारीरिक गुण—स्वास्थ्य, मेहनत आदि।

(ii) मानसिक गुण—समझने, सोचने और निर्णय लेने की योग्यता एवं अनुकूलता।

(iii) नैतिक गुण—शक्ति, दृढ़ता, दायित्व स्वीकार करने की इच्छा, प्रेरणा, इज्जत, वफादारी आदि।

(iv) शैक्षणिक गुण—कार्य सम्बन्धी ज्ञान के अतिरिक्त सामान्य ज्ञान की जानकारी।

(v) तकनीकी गुण—कार्य की जानकारी।

(vi) अनुभव—उचित कार्य करने से प्राप्त।

इनके अतिरिक्त फेयोल व्यावसायिक क्रियाओं, जैसे—प्रबन्धकीय, वित्तीय, व्यापारिक, तकनीकी, सुरक्षा एवं लेखाकन सम्बन्धी योग्यताओं को भी प्रबन्धकों के लिए आवश्यक समझते हैं। किसी भी संस्थान में कार्यरत श्रमिक की सबसे महत्त्वपूर्ण योग्यता उसकी तकनीकी जानकारी है तथा जैसे-जैसे उच्चस्तरीय प्रबन्ध की ओर जाते हैं, प्रबन्धकीय योग्यता का तुलनात्मक महत्त्व बढ़ता जाता है। फेयोल ने इस बात पर जोर दिया है कि किसी भी संस्थान में प्रबन्धकीय योग्यता तकनीकी योग्यताओं की भाँति ही प्राप्त करनी चाहिए। यह पहले विद्यालय में प्राप्त की जानी चाहिए और फिर कारखाने में। अत उच्चस्तरीय प्रबन्ध की शिक्षा प्रारम्भिक काल से लेकर महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों तक में प्रदान की जानी चाहिए। हेनरी फेयोल द्वारा प्रतिपादित प्रबन्धकीय प्रशिक्षण के तरीके प्रबन्धकों में वांछित योग्यता का सूत्रपात कर संगठन की कार्यकुशलता में वृद्धि कर सकते हैं।

(5) प्रबन्ध सिद्धान्तों की सार्वभौमिकता (Universality of Management Principles)

हेनरी फेयोल ने अपनी पुस्तक 'General and Industrial Administration' तथा भाषणों में प्रबन्ध के सिद्धान्तों को सार्वभौमिक माना है। प्रत्येक क्षेत्र में इन सिद्धान्तों को लागू किया जा सकता है। उसके अनुसार, "यह (प्रबन्ध) संहिता परमावश्यक है। चाहे वह वाणिज्य हो, उद्योग, राजनीति, धर्म, युद्ध अथवा उदारता हो, प्रत्येक क्षेत्र में प्रबन्ध का कार्य किया जाता है और इसके कुशलता पूर्वक निष्पादन हेतु सिद्धान्त होने चाहिए।" उसने प्रबन्ध के क्षेत्र में व्यापक और विस्तृत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उसके इन विचारों को प्रबन्ध के क्षेत्र में व्यापक मान्यता प्राप्त है। वर्तमान में भी उसके विचारों को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उनके प्रबन्ध के सिद्धान्त इतने व्यापक हैं कि इनमें आवश्यकतानुसार संशोधन करके किसी भी क्षेत्र में लागू किया जा सकता है। अत हेनरी फेयोल को प्रबन्ध के क्षेत्र में एक युग-प्रवर्तक की संज्ञा से विभूषित किया जाता है।

टेलर तथा फेयोल : एक तुलनात्मक दृष्टि
(Taylor & Fayol : A Comparative View)

टेलर एवं फेयोल दोनों समकक्ष एवं समकालीन प्रबन्ध विशेषज्ञ थे। टेलर ने अमेरिका तथा हेनरी फेयोल ने फ्रांस में प्रबन्ध संबंधी विचारों का विकास किया। फिर भी दोनों प्रबन्ध विशेषज्ञों के विचारों में समानताओं और असमानताओं को तुलनात्मक दृष्टि से देखा जा सकता है—

समानताएँ—प्रो. एम. बनर्जी ने फेयोल एवं टेलर के कार्यों तथा रचनाओं में जो समानताएँ पाई हैं, वे निम्नलिखित हैं[1]—

1. **प्रबन्ध का विवेकपूर्ण तथा सुव्यवस्थित आधार**—दोनों ही प्रबन्ध विशेषज्ञों ने तत्कालीन दशाओं में सुधार करने के लक्ष्य को अपने सम्मुख रखते हुए प्रबन्ध को विवेकपूर्ण एवं सुव्यवस्थित आधार प्रदान किया है। टेलर ने प्रबन्ध विचारधारा को 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' तथा हेनरी फेयोल ने प्रशासन का सामान्य सिद्धान्त का नाम दिया है। आधुनिक प्रबन्ध विज्ञान को इन दोनों से प्रेरणा मिलती है।

2. **प्रबन्ध व्यवस्था अनुभव आधारित**—दोनों ही विचारक प्रबंधकों के पेशे में रह चुके थे, अत प्रबन्ध विचारधारा का विकास अपने अनुभवों के आधार पर किया है।

3. **मानवीय साधन को महत्त्व**—दोनों ने ही प्रबंध में मानवीय साधन के महत्त्व को स्वीकार किया है और यह माना है कि उचित मानवीय व्यवहार के माध्यम से उपक्रम के विभिन्न स्तरों पर उत्पन्न विवादों को सरलता से निपटाया जा सकता है। यह औद्योगिक सफलता के लिए एक आवश्यक कुंजी है।

इस प्रकार दोनों विचारकों ने प्रबंध-कुशलता पर जोर दिया तथा प्रबंध की दशाओं को सुधारने की सिफारिश की। किसी भी उद्योग की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि कर्मचारियों एवं उनका प्रबंध किस प्रकार किया जाता है। दोनों ने प्रबंध जगत् में एक वैज्ञानिक आधार तैयार किया जिस पर आगे चलकर आधुनिक प्रबंध की सुदृढ़ नींव रखी जा सकी है।

भिन्नताएँ—टेलर व फेयोल के विचारों में समानताएँ होने के बावजूद भी उनमें कुछ असमानताएँ या भिन्नता पाई जाती हैं। प्रो एम. बनर्जी ने इन असमानताओं को इस प्रकार दर्शाया है—

---
1 *M. Banerjee* : Business Administration–Principles & Techniques, p. 72.

1. उत्पादन के इन्जीनियरिंग पहलू बनाम समस्त कार्यों पर बल—टेलर ने सर्वाधिक ध्यान कारखाना प्रबन्ध पर दिया है और उत्पादन के इंजीनियरिंग पहलू, जैसे—औजारों का प्रमापीकरण, समय एवं गति अध्ययनों पर ध्यान दिया है। इसके विपरीत, हेनरी फेयोल ने प्रबन्धकों के समस्त कार्यों एवं उनमें निहित सिद्धान्तों पर अत्यधिक ध्यान दिया है।

2. निम्नस्तर बनाम उच्चस्तर—टेलर ने प्रबन्ध के निम्नतम स्तर से कार्य शुरू किया है और उच्चस्तरीय अध्ययन की ओर आगे बढ़े हैं। अतः उनके अध्ययन का मुख्य बिन्दु श्रमिक और उसके द्वारा संचालित क्रियाएँ हैं। इसके विपरीत, फेयोल ने अपनी प्रबन्ध प्रणाली का विकास उच्चस्तरीय प्रबन्ध से शुरू किया है और फिर निम्नस्तरीय प्रबन्ध की ओर बढ़ने का कार्य किया है। इसीलिए फेयोल ने 'समन्वय', 'निर्देशन की एकता' तथा 'एकता की भावना' आदि प्रबन्धकीय सिद्धान्तों पर विशेष जोर दिया है।

3. कार्य कुशलता विशेषज्ञ बनाम प्रबन्ध विशेषज्ञ—टेलर का दृष्टिकोण कार्यकुशलता में वृद्धि करने पर आधारित है। इसीलिए कई प्रयोगों, जैसे—समय-अध्ययन, गति-अध्ययन तथा थकान-अध्ययन का समावेश किया गया है जबकि फेयोल का दृष्टिकोण व्यापक था जिसके कारण उन्होंने प्रबन्ध के तत्वों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इन सिद्धान्तों को न केवल प्रबन्ध-क्षेत्र में ही लागू किया जा सकता है बल्कि राजनीति, धर्म, युद्ध, उद्योग आदि सभी क्षेत्रों में समान रूप से लागू किया जा सकता है। टेलर को 'कुशलता विशेषज्ञ' तथा हेनरी फेयोल को 'प्रबन्ध विशेषज्ञ' कहा जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

4. परिवर्तन बनाम अपरिवर्तन—टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों में आधुनिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप परिवर्तन हुए हैं, लेकिन हेनरी फेयोल के प्रबन्ध के सिद्धान्त आज भी ज्यों के त्यों हैं और उन्हें आज भी विभिन्न क्षेत्रों, जैसे—क्लब, चर्च, सरकार और उद्योग में समान रूप से लागू किया जाता है।

टेलर एवं हेनरी फेयोल ने प्रबन्ध जगत् में महत्वपूर्ण योगदान दिया है जिसको प्रबन्ध जगत कभी नहीं भूल सकता। टेलर को वैज्ञानिक प्रबन्ध का जनक कहा जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। प्रबन्ध विज्ञान विशेषज्ञ उर्विक ने टेलर एवं हेनरी फेयोल के योगदान का वर्णन करते हुए लिखा है कि "टेलर एवं हेनरी फेयोल दोनों के ही कार्य एक-दूसरे के पूरक थे। इन दोनों ने ही यह अनुभव किया कि प्रबन्ध के प्रत्येक स्तर पर कर्मचारियों तथा उनके प्रबन्ध की समुचित व्यवस्था औद्योगिक सफलता की कुंजी है। दोनों ने ही प्रबन्ध की समस्या के औद्योगिक प्रबन्ध के क्रम में नीचे से ऊपर की ओर क्रियात्मक स्तर पर कार्य किया तथा फेयोल ने जनरल मैनेजर के पद पर ध्यान केन्द्रित करके ऊपर से नीचे की ओर कार्य पर जोर दिया। यद्यपि यह अन्तर उनके बहुत भिन्न व्यवसाय क्रम का प्रतिबिम्ब मात्र था।" कुल मिलाकर दोनों विचारकों ने 'प्रबन्ध जगत्' के लिए श्रेष्ठ पथ-प्रदर्शक का कार्य किया।

वेबर का नौकरशाही सिद्धान्त, संगठन का परम्परागत सिद्धान्त, स्टाफ एवं सूत्र अभिकरण

(Bureaucracy Theory of Weber's, Traditional Theory of Organisation, Staff & Line Agencies)

सामाजिक विचारकों के इतिहास में जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर (Max Weber) का नाम सुविख्यात है। इनकी रचनाएँ प्रामाणिक और ज्ञान के लिए सुप्रसिद्ध हैं। वे एक बहुमुखी आयामी व्यक्तित्व के धनी थे। वे न केवल एक अच्छे समाजशास्त्री थे, बल्कि एक राजनीति विज्ञानी एवं अर्थशास्त्री भी थे। मैक्स वेबर को तुलनात्मक लोक प्रशासन अध्ययन का मुख्य प्रतिपादक माना जाता है। रोमन श्लुर के अनुसार, संयुक्त राज्य अमेरिका में तुलनात्मक लोक प्रशासन पर तीन तत्त्वों का प्रभाव रहा है—

1. 1933 के पश्चात् जर्मनी से आए अप्रवासियों का प्रभाव.
2. मैक्स वेबर की कृतियों का अंग्रेजी में अनुवाद.
3. द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अमेरिका का विश्व राजनीति में प्रभाव।

हेन्स गर्थ और राइन्हार्ड बैंडिक्स जर्मन समाजशास्त्रियों ने अधिकारीतन्त्रों के तुलनात्मक अध्ययन में उल्लेखनीय योगदान दिया है। ये सभी मैक्स वेबर की कृतियों से प्रभावित थे। प्रशासनिक प्रणालियों के तुलनात्मक अध्ययन पर वेबर का अत्यधिक प्रभाव था। तुलनात्मक लोक प्रशासन के क्षेत्र के विद्वान रबेली ने वेबर के अधिकारीतन्त्र के आदर्श-रूप प्रतिमान = आदर्शवादी नौकरशाही प्रणाली (Ideal Type Bureaucratic Model) को लोक प्रशासन के साहित्य में प्रभावक मॉडल (Model) माना है। इस मॉडल की प्रासंगिकता आज भी निर्विवाद स्वीकार की जाती है। मैक्स वेबर ने अधिकारीतन्त्र अथवा नौकरशाही के आदर्श-रूप प्रतिमान का जो विवरण प्रस्तुत किया है उसका अध्ययन आदर्श-रूप प्रतिमान-निर्माण के रीति विज्ञान और प्राधिकार प्रणालियों (Authority Systems) के वर्गीकरण अनुसार करना उचित है।

आदर्श-रूप निर्मितियों की प्रकृति
(Nature of Ideal Type Constructs)

मैक्स वेबर ने एक महत्त्वपूर्ण निर्मिति या अवधारणा (Concept) 'आदर्श-रूप' (Ideal Type) प्रस्तुत किया था। वेबर की रीतिविज्ञान सम्बन्धी पद्धतिशास्त्रीय अन्तर्दृष्टि का परिणाम है—आदर्श-रूप। इससे पहले डिल्थे (Dilthey) एवं सीमेल (Simmel) ने आदर्श-रूप अवधारणाओं का विवेचन किया था। वेबर ने पहली बार नए ढंग से आदर्श-रूप की अवधारणा को प्रस्तुत किया एवं इस पर जोर दिया कि आदर्श-रूप जैसी अवधारणाओं का विकास करना चाहिए और इन्हीं आदर्श-रूपों के आधार पर सामाजिक एवं प्रशासनिक घटनाओं की विवेचना करनी चाहिए।

उनके अनुसार 'आदर्श-रूप' का आशय कुछ वास्तविक तथ्यों के तर्कसंगत आधार पर यथार्थ अवधारणाओं का निर्माण करना है। आदर्श-रूप वास्तविक (Real) नहीं हैं, बल्कि वास्तविकता के कल्पनात्मक आधार से निर्मित किए जाते हैं। ये अमूर्त (Abstract) नहीं होते। आदर्श-रूप बने-बनाए (Readymade) नहीं होते, उन्हें अनुसन्धानकर्ता को अपनी समस्या से सम्बन्धित उचित अवयवों को मिलाकर बनाना पड़ता है। इन आदर्श-रूपों

का उद्देश्य तुलना करना होता है। अपनी वैचारिक विशुद्धता में यह मानसिक निर्मिति अवधारणा विश्व में अनुभव से कहीं प्राप्त नहीं की जा सकती। ऐतिहासिक अनुसन्धान का कार्य है कि प्रत्येक मामले में किस सीमा तक यह आदर्श निर्मिति वास्तविकता के समीप अथवा दूर है। वेबर के मस्तिष्क में यह स्पष्ट था कि 'आदर्श-रूप', 'वास्तविकता' का स्वयं प्रतिनिधित्व नहीं करता, अपितु यह केवल वास्तविकता के कतिपय तत्वों का तार्किक रूप से सूक्ष्म विचार में एक अतिरन्जन एवं अमूर्तिकरण है। समाज और संस्कृति के अध्ययन में पहला कार्य एक विशिष्ट संरचना में संयुक्त तत्वों को स्पष्ट करना और उनको एक आदर्श-रूप में एकीकृत करना चाहिए। यह आदर्श-रूप सामाजिक अनुसंधान को आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध हो सकेगा।

रेमण्ड एरन के अनुसार मैक्स वेबर ने आदर्श-रूप की निम्नलिखित तीन अवधारणाओं का विवेचन किया है[1]—

1. ऐतिहासिक विशिष्टता के आदर्श-रूप (Ideal Type of Historical Particulars)—इसमें वेबर उन आदर्श-रूपों को रखता है जो एक विशेष ऐतिहासिक स्थिति का विवेचन करने के लिए बनाए जाते हैं, जैसे—पूँजीवाद (Capitalism) एवं पश्चिमी शहर (Western City)। ये दो विशिष्ट आदर्श-रूप के उदाहरण हैं, जो एक सम्पूर्ण (Global) अर्थव्यवस्था एवं विशिष्ट ऐतिहासिक यथार्थ के आधार पर बौद्धिक रूप से निर्मित किए गए हैं। रेमण्ड एरन के अनुसार, 'ऐतिहासिक विशिष्ट' (Historical Particular) केवल आंशिक पुनर्निर्माण है, क्योंकि समाजशास्त्री पूरे ऐतिहासिक सम्पूर्ण से समझ में आने वाले कुछ तत्वों का चयन करता है और इन आदर्श-रूपों को बनाता है। अतः यह आदर्श-रूप सम्पूर्ण के कुछ अंशों को समावेशित करता है, ऐतिहासिक सम्पूर्ण को नहीं, क्योंकि इसका निर्माण सम्पूर्ण में से कुछ तत्वों को लेकर किया गया है।

2. ऐतिहासिक यथार्थ के अमूर्त तत्वों के आदर्श-रूप (Ideal Types which Designate Abstract Elements of the Historical Reality)—वे तत्व अधिकांश मामलों में दिखाई देते हैं जो अत्यन्त जटिल (Complex) एवं अमूर्त (Abstract) होते हैं। इनका स्रोत ऐतिहासिक है, परन्तु ये वे तत्व हैं जो अधिकांश रूप में देखे जा सकते हैं तथा इन्हें वास्तविकता से देखा जा सकता है, जैसे—अधिकारी तन्त्र (Bureaucracy), सामन्तवाद (Feudalism)। ऐसे आदर्श-रूपों में सम्पूर्ण व्यवस्था की वास्तविकता का समावेश न होकर कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक वास्तविकताओं का समावेश होता है। वेबर ने तीनों प्रकार के प्रभुत्व (Domination)—तार्किक (Rational), परम्परागत (Traditional) एवं चमत्कारिक (Charismatic) को आदर्श-रूप बताया है।

3. एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार के तार्किक पुनर्निर्माण के आधार पर निर्मित आदर्श-रूप (Ideal Types includes those that constitute rationalizing reconstructions of a particular kind of behaviour)—एक विशिष्ट व्यवहार की तार्किकता के आधार पर जब कोई आदर्श-रूप बनाया जाता है तो उसे इस श्रेणी में रखा जाता है। उदाहरण के लिए अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों (Economic Theory) के तर्क वाक्य (Prepositions) इस श्रेणी के आदर्श-रूप हैं। मैक्स वेबर ने आदर्श-प्रारूप की वैज्ञानिक अवधारणा को पद्धतिशास्त्रीय विधि से अत्यन्त सशक्त रूप में प्रस्तुत किया है। उनका पद्धतिशास्त्रीय आदर्श-रूप निःसन्देह समाजशास्त्रीय घटनाओं को वैज्ञानिक व यथार्थ पर आधार समझने का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपाय है।

उनके आदर्श रूप प्रतिमान-निर्माण की रीति-विज्ञान तुलनात्मक विश्लेषण के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। ऐसी निर्मितियों में कतिपय लक्षणों के विषय में दो समूह तुलनीय होते हैं। सामान्य लक्षणों से सम्बन्धित शोध में सामान्य प्रत्ययों का उपयोग होता है। वेबर ने स्वीकार किया है कि समाज-व्यवस्था में विधि-संगत नियमितताओं के कारण मूल तत्वों को समझने के लिए तुलनीय स्थितियों का परीक्षण आवश्यक है। उसे ऐतिहासिक मामलों के अध्ययन के लिए प्रेरित किया जाता है। इन ऐतिहासिक मामलों को 'निर्णायक उदाहरण' के रूप में प्रयुक्त कर वह विशिष्ट समस्याओं की व्याख्या के लिए प्रयुक्त अमूर्तीकरण के स्तर को नियन्त्रित कर सका। वास्तविक ऐतिहासिक अनुभव इन दोनों अतिवादी प्रकारों के मध्य में आता है। आदर्श-रूपों के मध्य वेबर 'इडियोग्राफिक' और

1 *Raymond Aron*, Main Currents in Sociological Thought, Vol 2, 1972, p 208

'नोमोथैटिक' विश्लेषण कर सका। इन निर्मितियों की सहायता से वह पूँजीवाद, धर्म, प्राधिकार या सत्ता (Authority) आदि विशिष्ट विषयों पर विचार-विमर्श करने में समर्थ हुआ। विश्व ऐतिहासिक स्तर पर, इस पद्धति द्वारा उसने पितृसत्तात्मक और सामन्तवाद, पश्चिमी तथा पूर्वी नगर और ऐसे अन्य द्विमजनों के लिए उपयोगी भेद किए। लगभग दो दशकों का समाजशास्त्रीय और प्रशासनिक साहित्य आदर्श-रूप के इस रीति विज्ञान के आलोचनात्मक मूल्यांकन से भरा हुआ है।[1]

सत्ता अथवा प्राधिकार प्रणालियाँ
(Authority Systems)

प्रत्येक संगठित समूह एवं प्रशासनिक संस्था में सत्ता के तत्व (Elements of Authority) विद्यमान रहते हैं। संगठित समूह एवं प्रशासनिक संस्था में कुछ साधारण सदस्य होते हैं और कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनके पास उत्तरदायित्व होता है। उनके पास सत्ता (Authority) रहती है और कुछ प्रधान प्रशासक होते हैं। सत्ता अथवा प्राधिकार की दृष्टि से समूह की रचना में उपर्युक्त तत्त्व विद्यमान रहते हैं। वेबर के अनुसार सत्ता की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—"यह सम्भावना कि एक विशिष्ट विषय-युक्त आदेश का व्यक्तियों के एक विशिष्ट समूह द्वारा पालन किया जाएगा।"[2] सत्ता या प्राधिकार (Authority) और 'शक्ति' (Power) में अन्तर होता है। पुनश्च वेबर ने शक्ति को इस प्रकार परिभाषित किया है, "वह सम्भावना जिसमें एक पात्र सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर्गत ऐसी स्थिति में हो कि विरोध या प्रतिरोध के बावजूद वह अपनी इच्छा को क्रियान्वित कर सके।"[3] अत: 'शक्ति' (Power) अधिक व्यापक अर्थ लिए हुए है और परिस्थितियों के उन सभी सयोजनों पर लागू होती है जिसमें व्यक्ति अपनी इच्छा को एक सामाजिक स्थिति में लागू या क्रियान्वित कर सकता है, जबकि सत्ता के प्रयोग में यह आवश्यक है कि व्यक्ति किसी अधीनस्थ समूह को आदेश दे और उस समूह के सदस्य उस आदेश के औचित्य में विश्वास कर, उसका पालन करें। सत्ता संस्थानिकीकृत (Institutionalised) होती है। यह संगठित समूह सम्बद्ध होती है, उन समूहों के साथ जो आदेशों को लागू करने के लिए अपने प्रशासनिक कर्मचारियों का उपयोग करते हैं। मैक्स वेबर ने सत्ता के निम्नलिखित तीन भेद किये हैं—

1. परम्परागत सत्ता (Traditional Authority)

परम्परागत सत्ता (Traditional Authority) वैधता के विश्वास पर आधारित होती है जो हमेशा बनी रहती है। आदेश की शक्ति को कार्यान्वित करने वाले व्यक्ति प्रभु होते हैं जो अपनी आनुवंशिक प्रस्थिति के कारण व्यक्तिगत सत्ता का उपयोग करते हैं और उनके पास स्वतन्त्र व्यक्तिगत निर्णय के विशेषाधिकार भी होते हैं। इसमें प्रथा का अनुसरण तथा व्यक्तिगत निरंकुशता ऐसे नियमों की विशेषताएँ होती हैं। जो व्यक्ति प्रभु के आदेशों के अधीन होते हैं वे शाब्दिक अर्थ में उसके अनुयायी होते हैं। वे प्रभु के व्यक्तिगत भक्त होने के कारण उसकी आज्ञा का स्वाभाविक पालन करते हैं तथा भूतकाल से प्रतिष्ठित पद में उनकी पवित्र श्रद्धा होती है इसलिए वे उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। इस प्रणाली के लिए दो उपकरण प्रयुक्त होते हैं। पैतृक शासन में व्यक्तिगत उपकरण होते हैं जैसे गृह अधिकारी, सम्बन्धी या व्यक्तिगत कृपा पात्र या स्वामिभक्त व्यक्ति। एक सामन्तवादी समाज में इस उपकरण के अन्तर्गत व्यक्तिगत भक्त मित्र होते हैं जैसे अधीन जागीरदार या करदाता सरदार। ऐसे व्यक्तिगत अनुचर अधिकारी की हैसियत में अपने प्रभु के निरंकुश आदेशों अथवा परम्परागत आदेशों के अधीन होते हैं ताकि उनकी क्रियाओं का क्षेत्र एवं आदेश की शक्ति निम्न स्तर पर उस प्रभु का दर्पणीय चित्र (Mirror Image) हो। इसके विपरीत एक सामन्तवादी समाज में पदाधिकारी व्यक्तिगत रूप से निर्भर नहीं होते हैं और सामाजिक रूप से प्रमुख मित्र होते हैं, जिन्होंने स्वामिभक्ति की शपथ ली है तथा अनुदान (Grant) या प्रसंविदा (Contract) के आधार पर जिनका स्वतन्त्र अधिक्षेत्र होता है। सामन्तवादी और पितृनामी शासन का भेद और दोनों प्रणालियों में परम्परागत निरंकुश आदेशों की निकटता प्रभुता में छायी रहती है।[4]

ऐसी सत्ता एक व्यक्ति सत्ता वैधानिक पद पर आसीन होने के कारण नहीं बल्कि परम्परागत पद पर आसीन होने के कारण प्राप्त होती है। इस पद को परम्परागत व्यवस्था अनुसार परिभाषित किया जाता है, अत: ऐसे पद पर आसीन व्यक्ति को कुछ विशिष्ट सत्ता मिल जाती है। सत्ता परम्परागत विश्वासों पर टिकी होने के कारण

1-2-3 *Max Weber* : The Theory of Social and Economic Organisation (Ed. Talcott Parsons), p. 152.
4 *Reinhard Bendix* : Quoted from Max Weber's An Intellectual Portrait, p. 321

परम्परात्मक सत्ता कहलाती है। उदाहरण के लिए कृषि युग में भारतीय गाँवों में पाई जाने वाली पंचायत में पंचों की सत्ता को लीजिए—इन पंचों की सत्ता वैधानिक नियमों के अंतर्गत नहीं होती थी, बल्कि परम्परागत रूप में उन्हें सत्ता प्राप्त हो जाती थी। पंच की सत्ता की तुलना ईश्वरीय सत्ता से की जाती थी, जैसा कि 'पंच परमेश्वर' की धारणा में व्यक्त होता है। उसी प्रकार पितृसत्तात्मक परिवार में पिता को परिवार से सम्बन्धित समस्त विषयों के अधिकार तथा सत्ता प्राप्त होती है, उसका आधार वैधानिक नियम न होकर परम्परा होता है। पिता की आज्ञा का पालन *इसलिए नहीं करते कि उन्हें कोई वैधानिक सत्ता प्राप्त है, बल्कि इसलिए करते हैं कि परम्परागत रूप में* आज्ञा पालन की जाती रही है। वैधानिक सत्ता निश्चित तथा सीमित होती है, क्योंकि वैधानिक नियम निश्चित और परिभाषित होते हैं, परन्तु परम्परा या सामाजिक नियमों में *इतनी स्पष्टता और निश्चितता नहीं होती है।* इस कारण परम्परात्मक सत्ता की कोई निश्चित सीमा नहीं होती है।

2. *करिश्माई या चमत्कारिक सत्ता (Charismatic Authority)*

व्यक्तिगत सत्ता का स्रोत परम्परा से पूर्णरूपेण भिन्न होता है। आदेश की शक्ति एक नेता कार्यान्वित कर सकता है, भले ही वह एक पैगम्बर हो, नायक हो अथवा अवसरवादी नेता हो। ऐसा व्यक्ति तभी चमत्कारी नेता हो सकता है जब वह यह सिद्ध कर दे कि तान्त्रिक शक्तियों, दैवी सन्देश (Revelation), नायकत्व अथवा अन्य अभूतपूर्व गुण के कारण उसके पास चमत्कार है। जो व्यक्ति ऐसे नेता की आज्ञा मानते हैं, वे शिष्य या अनुयायी होते हैं, वे नियत नियमों या परम्परा की गरिमा के बजाय उसके अभूतपूर्व गुणों में एक चमत्कारी नेता के चमत्कार और व्यक्तिगत निर्भरता के आधार पर विश्वास करते हैं। उन शिष्य पदाधिकारियों (Disciple Officials) को *संगठन के रूप में माना जा सकता है। उनकी क्रियाओं का क्षेत्र तथा आदेश की शक्ति दैवी सन्देश, अनुकरणीय* आचरण एवं निर्णय पर निर्भर करती है। पदाधिकारियों का चुनाव इनमें से किसी एक आधार पर हो सकता है, इनमें से कोई पदाधिकारी *न नियमों से बँधा हुआ है और न परम्परा से, अपितु केवल नेता के निर्णय से ही बंधा* हुआ है।[2]

ऐसी सत्ता वैधानिक नियमों पर और परम्परा पर आधारित न होकर चमत्कार पर आधारित होती है। शक्ति उन्हीं व्यक्तियों में निहित होती है जो विलक्षण या चमत्कारिक शक्तियाँ रखते हैं। ऐसी सत्ता प्राप्त करने में समय लगता है और पर्याप्त साधना-प्रयत्न के बाद लोगों द्वारा यह सत्ता स्वीकार की जाती है। करिश्माई नेता अपने प्रति या अपने आदर्श के प्रति निष्ठा के नाम पर दूसरों से आज्ञापालन करने की माँग करता है। जादूगर, पीर, पैगम्बर, अवतार, धार्मिक नेता, सैनिक योद्धा, किसी दल के नेता आदि ऐसे सत्ता-सम्पन्न व्यक्ति होते हैं। इनमें कुछ विलक्षण या अद्वितीय गुण पाए जाते हैं जो साधारण लोगों में देखने को नहीं मिलते हैं अतः प्रत्येक व्यक्ति के दिल में इन विशेष गुणों के प्रति श्रद्धा जाग्रत हो जाती है। इन गुणों को बहुधा दैवीय गुणों के समान उनके अंश के रूप में माना जाता है। *इस कारण सत्ता से सम्पन्न व्यक्ति की आज्ञा का पालन लोग श्रद्धा एवं भक्ति के साथ करते* हैं। इस सत्ता की परम्परात्मक सत्ता के समान कोई सीमा नहीं होती है। इसकी एक विशेषता यह है कि परिस्थिति के अनुसार यह संवैधानिक या परम्परात्मक सत्ता में बदल जाती है।

पारम्परिक और करिश्माई सत्ता के इन लक्षणों को निम्नांकित चार्ट द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—

चार्ट 1–पारम्परिक सत्ता

तर्कसंगत सत्ता की प्रकृति	प्रशासनिक स्टाफ की प्रकृति
1. 'व्यवस्था की पवित्रता' के आधार पर तर्क संगतता की माँग की जाती है और इसे स्वीकार किया जाता है।	1. स्टाफ की भर्ती दो स्रोतों से की जाती है अ आनुवंशिक-परम्परागत स्वामिभक्ति के कारण सरदार से जुड़े व्यक्ति, आ गैर-आनुवंशिक—शुद्ध रूप से व्यक्तिगत *स्वामिभक्ति (प्रिय पात्र) मातहत (निष्ठा से जुड़े* हुए) या वे जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक अधीनता स्वीकार कर ली है।
2. स्थापित कानूनों के स्थान पर उस व्यक्ति की *आज्ञा का पालन किया जाता है* जिसकी व्यवस्था को निम्न आधार पर तर्क-संगत माना गया है— अ कुछ क्षेत्रों में मान्य परम्पराये। आ सरदार के निजी स्वतंत्र निर्णय (अधिकार)।	2. अनेक पदों पर सम्बन्धियों को नियुक्त किया जाता है अतः दास भी उच्चतम पद तक पहुँच सकते हैं।

तर्कसंगत सत्ता की प्रकृति	प्रशासनिक स्टाफ की प्रकृति
3. कानून निर्धारित नहीं किए जाते; नई स्थितियों का समाधान पूर्व निर्णय अर्थात् नियामक के विवेक के आधार पर किया जाता है।	3. गैर-आनुवंशिक व्यक्तियों में से भी स्टाफ का विकास होता है, पर ये बहुधा सरदार के निजी अनुचर होते हैं। 4. परम्परागत प्रशासनिक स्टाफ में निम्नलिखित कमियाँ होती हैं— अ. सक्षमता के स्पष्ट रूप से परिभाषित क्षेत्र। आ. पदानुक्रम में अधिकारियों की तर्कसंगत व्यवस्था। इ. नियमित नियुक्तियाँ या पदोन्नतियाँ। ई. तकनीकी प्रशिक्षण की नियमित अनिवार्यता। 5. पारम्परिक सत्ता के अधीन स्टाफ के प्रकार— अ. 'वृद्धों का शासन' या 'पित्रवत्रवाद' कोई व्यक्तिगत प्रशासनिक स्टाफ नहीं होता। आ. आनुवंशिकवाद-निजी स्टाफ का विकास होता है जो पूरी तरह सरदार के व्यक्तिगत नियंत्रण में होता है। इ. विकेन्द्रीकृत आनुवंशिकवत-प्रशासनिक स्टाफ में कुछ व्यक्ति अथवा समूह अपने लिए कुछ लाभ अथवा पद प्राप्त कर लेते हैं और इस प्रकार सरदार की सत्ता और नियंत्रण सीमित हो जाता है (पट्टे पर पद देना, बटाई, पदों की नीलामी)।

स्रोत : अल्फ्रेड डाईमैन्ट – नौकरशाही प्रतिमान : मैक्स वेबर को अस्वीकार करना, उसकी पुनर्शोध तथा परिष्कार।

चार्ट II–करिश्माई प्रभुत्व एवं इसका नैत्यीकरण

तर्कसंगत सत्ता की प्रकृति	प्रशासनिक स्टाफ की प्रकृति
1. सत्ता प्राप्त व्यक्ति 'अति मानव' और 'अति भौतिक' माना जाता है और सब उसका नेतृत्व स्वीकार कर लेते हैं। 2. नेता के अधिकार को न्यायोचित जानने वाले उसके अनुचर होते हैं, वे उसका चुनाव नहीं करते वरन् उसकी करिश्माई शक्ति को स्वीकार कर लेते हैं, यही उनका कर्तव्य है। 3. करिश्माई शक्ति के बार-बार असफल रहने पर ऐसे नेता को सत्ता से हटा दिया जाता है। 4. करिश्मा को स्थायित्व प्रदान करने के लिए उत्तराधिकारी की खोज की जाती है— अ. विशेष लक्षणों वाले व्यक्ति की तलाश (यथा—दलाईलामा)। आ. देववाणी, लाटरी इत्यादि। इ. करिश्माई व्यक्ति द्वारा नामांकन।	1. शुद्ध रूप से कोई प्रशासनिक स्टाफ नहीं होता, केवल अनुचर या शिष्य ही होते हैं, किसी प्रकार के कानूनी प्रावधान नहीं होते इसमें- अ. शिष्यों का चुनाव करिश्माई गुणों के आधार पर होता है। आ. किसी प्रकार की कोई नियुक्ति या पदोन्नति नहीं होती है। इ. कोई सोपान नहीं, कोई विशिष्ट कार्यक्षेत्र नहीं। ई. कोई वेतन या अन्य लाभ नहीं। उ. परम्परागत सत्ता की भांति पूर्वोदाहरण से मुक्त। 2. नैत्यीकरण प्रशासनिक स्टाफ के चरित्र को भी प्रभावित करता है— अ. भर्ती के लिए मानक निर्धारित करने पड़ेंगे।

तर्कसंगत सत्ता की प्रकृति	प्रशासनिक स्टाफ की प्रकृति
ई करिश्माई स्टाफ द्वारा नामांकन। उ. करिश्मा का आनुवंशिक हस्तांतरण। ऊ अनुष्ठान के द्वारा करिश्मा का हस्तान्तरण (सिर पर हाथ फेरना)। 5. नैत्यीकरण का प्रमुख उद्देश्य सुरक्षा की खोज करना है (सत्ता, सामाजिक प्रतिष्ठा, आर्थिक सबलता)। 6. प्रशासनिक स्टाफ द्वारा आर्थिक सक्षमता प्राप्त करने के तरीके से भी नैत्यीकृत करिश्मा की सत्ता संरचना प्रभावित होती है : विशेष स्थिति सामंतवाद। 7. करिश्मा का नैत्यीकरण गैर-सत्तावाद की दिशा में भी हो सकता है : अ लोकतंत्र और नेतृत्व को समन्वित करने के लिए और नेतृत्व को न्यायसंगत बनाने के लिए जनमत संग्रह प्रमुख साधन है। *आ. करिश्माई सत्ता का यह एक ऐसा स्वरूप है जिसमें सत्तावादी तत्त्व जनमत संग्रह द्वारा आच्छादित कर लिए जाते हैं।* इ. गैर-सत्तावादी नैत्यीकृत करिश्मा के परिणामस्वरूप आर्थिक तर्क- सम्मतता को बल मिल सकता है, पर यदि इससे अनुचरों को कोई लाभ न मिले तो सभी न्याय-संगत प्रक्रियाओं को समाप्त किया जा सकता है।	आ. प्रशासनिक स्टाफ का चुनाव करिश्माई उत्तराधिकारी के चुनाव के तरीके से भी प्रभावित होगा। इ नैत्यीकृत स्टाफ लाभ, जागीर या पद प्राप्त करके अपनी आर्थिक स्थिति मजबूत करेगा। 3. *प्रशासनिक स्टाफ के चरित्र पर करिश्मा के* गैर-सत्तावाद की दिशा में नैत्यीकरण का प्रभाव भी पड़ेगा— अ चुनाव के सिद्धान्त स्टाफ पर भी लागू किए जा सकते हैं। आ. स्टाफ के चुनाव के फलस्वरूप नेता की शक्ति सीमित हो जायेगी। इ *यदि चुनाव जनतांत्रिक ढंग से चुने गए नेता तक ही सीमित रहता है तो स्टाफ का चुनाव व्यक्तिगत स्वामिभक्ति के आधार पर किया जायेगा। (चुनाव के किसी भी प्रकार के न्यायसंगत सिद्धान्त तय नहीं किए जायेंगे, कोई विशिष्ट कार्य क्षेत्र नहीं होगा, किसी प्रकार की तकनीकी क्षमता पर बल नहीं दिया जायेगा।)*

चार्ट III

तर्कसंगत सत्ता की प्रकृति	प्रशासनिक स्टाफ की प्रकृति
1. विधि द्वारा गठित अव्यक्तिगत व्यवस्था की आज्ञाकारिता। 2. विधिक मानक अनेक में से किसी एक आधार पर स्थापित किए जा सकते हैं (समीचीनता, मूल्य आदि)। 3. विशिष्ट मामलों में इरादतन स्थापित अमूर्त नियम लागू किए जाते हैं। 4. सत्तासीन व्यक्ति पदासीन व्यक्ति भी होता है। 5. आदेश का पालन करने वाला व्यक्ति केवल कानून की अनुपालना करता है किसी व्यक्ति की नहीं। 6. पद सोपान में क्रमबद्ध होते हैं और इनके साथ अपील और शिकायत सुनने वाले तंत्र जुड़े रहते हैं।	1. अपने शुद्धतम स्वरूप में कानूनी सत्ता नौकरशाही प्रशासनिक स्टाफ का प्रयोग करती है। 2. नौकरशाहों के निम्न लक्षण होते हैं : *अ. पदासीन होने के कारण ही वे सत्ता के अधीन* होते हैं। आ पद सोपान में क्रमबद्ध होते हैं। इ. प्रत्येक पद की परिभाषित क्षमता होती है। ई. पद मुक्त चुनाव द्वारा भरे जाते हैं। उ अधिकारियों की नियुक्ति तकनीकी क्षमता के आधार पर होती है। ऊ वेतन नकद दिया जाता है, वेतनमान सुनिश्चित एवं क्रमबद्ध होते हैं, पेंशन देते समय उत्तरदायित्व एवं सामाजिक प्रतिष्ठा का ध्यान रखा जाता है।

तर्कसंगत सत्ता की प्रकृति	प्रशासनिक स्टाफ की प्रकृति
7. मानकों को लागू करना तर्कसंगत प्रक्रिया होने के कारण सत्तासीन व्यक्ति को विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। 8. पदाधिकारी उत्पादन के साधनों के स्वामी नहीं होते, उनकी निजी सम्पत्ति सार्वजनिक सम्पत्ति से बिल्कुल अलग होती है। 9. कार्यालय निवास-स्थल से अलग स्थान पर स्थित होता है। 10. पदाधिकारी कार्यालय का अधिग्रहण नहीं कर सकता। 11. पूर्ण प्रक्रिया लिखित दस्तावेजों पर आधारित होती है, सभी निर्णय लिखित रूप में लिए जाते हैं। 12. विधिक न्यायिक प्रणाली में सत्ता का चरम स्रोत किसी अन्य रूप में हो सकता है (करिश्मा)।	ए. पद ही प्राथमिक उपजीविका होता है। ऐ. पेशे की मान्यता होती है, वरिष्ठता और योग्यता अथवा उपलब्धि के आधार पर पदोन्नति। ओ. पदाधिकारी प्रशासन के साधनों से अलग रहता है। औ. कार्यालय संचालन के पदाधिकारी को अनुशासन का पालन करना पड़ता है। 3. नियुक्ति महत्त्वपूर्ण लक्षण है क्योंकि चुनाव से सोपानबद्ध अनुशासन भंग होता है। 4. विशिष्ट ज्ञान अनिवार्य होता है भले ही नौकरशाही के शिखर पर गैर-नौकरशाह हो। 5. अपने शुद्धतम स्वरूप में प्रशासनिक नौकरशाह स्टाफ : 'एकतंत्रीय' प्रशासन अ. मनुष्यों पर आदेशात्मक नियंत्रण रखने का सर्वाधिक तर्कसंगत उपाय होता है। आ. तकनीकी ज्ञान श्रेष्ठता का प्राथमिक स्रोत होता है। इ. दूसरी नौकरशाही सत्ता का गठन करके ही वर्तमान नौकरशाही सत्ता से बचा जा सकता है। ई. पूँजीवाद ने नौकरशाही को अत्यधिक बढ़ावा दिया है। उ. नौकरशाही का विकास सामाजिक समानीकरण को जन्म देता है। सामाजिक समानीकरण नौकरशाही को पुष्ट करता है (योग्यता के आधार पर नियुक्ति)।

स्रोत : हाईनेन्ट नौकरशाही प्रतिमान, पृ. १३.

वेबर ने चमत्कारिक प्राधिकार प्रणाली में प्रशासनिक स्टाफ के अपने विश्लेषण में सामाजिक-सांस्कृतिक आस्थाओं और मूल्यों की प्रणाली वाले प्रभाव पर बल दिया है। राजनीतिक प्रणाली का चमत्कारी रूप (जैसे नेतृत्व), बड़ी सीमा तक, प्रशासनिक कर्मचारी वर्ग (शिष्यों) की प्रकृति को निर्धारित करता है। स्वयं शिष्यों का समर्थन चमत्कारी नेतृत्व के जीवित रहने के लिए निर्णायक है। इसके आगे चमत्कार का नैत्यिकीकरण प्रशासनिक स्टाफ के चुनाव के लिए कार्यविधि के सुधार को प्रभावित करता है। नैत्यिकीकरण प्रशासनिक कर्मचारी वर्ग के लाभों, जागीरों और पदों द्वारा आर्थिक स्थिति को सुरक्षित करने के तरीकों को प्रभावित करता है। वेबर का चमत्कारी प्राधिकार का विचार उन उदीयमान राष्ट्रों की प्रशासनिक प्रणालियों के अध्ययन में सहायक हो सकता है, जहाँ तथाकथित चमत्कारी नेतृत्व का नैत्यिकीकरण हो रहा है। किसी राजनीतिक प्रणाली में चमत्कारी तत्त्व पाये जा सकते हैं। वैयक्तिक निष्ठा 'आधुनिकीकृत' राष्ट्रों के मध्य भी विभिन्न प्रशासनिक प्रणालियों में एक महत्त्वपूर्ण घटक है, वैध विवेकपूर्ण प्राधिकार ऐसे राष्ट्रों की लक्षणीकृत प्राधिकार सम्बन्ध है।

3. वैध-विवेकपूर्ण सत्ता (Legal-Rational Authority)

जहाँ कहीं नियमों एवं निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार न्यायिक और प्रशासकीय कार्यवाही होती है तथा जो एक निर्धारित समूह के सभी सदस्यों के लिए वैध हो वह वैधानिक सत्ता होती है। जो व्यक्ति आदर्श की दृष्टि से

कार्यान्वित करते हैं वे 'श्रेष्ठ' होते हैं। वे कानून द्वारा समस्त प्रविधि के अनुसार नियुक्त होते हैं या चुने जाते हैं। वे वैधानिक व्यवस्था के अनुरक्षण के लिए स्वयं निर्देशित रहते हैं। जो व्यक्ति इन आदेशों के अधीन हैं वे वैधानिक रूप से समान हैं तथा वे विधान का पालन करते हैं।[1] ये नियम उस उपकरण के लिए प्रयुक्त होते हैं जो वैधानिक प्रभुत्व को कार्यान्वित करते हैं। यह संगठन अबाध्य होता है। इसके अधिकारीगण उन नियमों के अधीन होते हैं जो इनकी सत्ता सीमा निर्धारित करते हैं। सत्ता को कार्यान्वित करने पर प्रतिबन्ध लगाते हैं, पदाधिकारी के वैयक्तिक रूप को उसके अधिकारी कार्यों के सम्पादन से अलग करते हैं और यह अपेक्षा रखते हैं कि समस्त कार्यवाही वैध व लिखित होनी चाहिए। राज्य द्वारा प्रतिपादित कुछ सामान्य नियमों के अनुसार उत्पन्न अनेक पद ऐसे हैं जिनके साथ एक विशिष्ट सत्ता जुड़ी होती है। जो व्यक्ति उन पदों पर आसीन होते हैं, उनके हाथों में पदों से सम्बन्धित सत्ता हस्तान्तरित हो जाती है।

सत्ता स्त्रोत व्यक्ति की निजी प्रतिष्ठा में नहीं होता है अपितु नियमों के अन्तर्गत विशिष्ट पद पर आसीन सत्ता में निहित होता है। उसका क्षेत्र वहीं सीमित रहता है जहाँ वैधानिक नियम व्यक्ति को विशिष्ट अधिकार प्रदान करते हैं। एक व्यक्ति को वैधानिक नियमान्तर्गत जितना अधिकार प्राप्त होता है, उसके बाहर या उससे अधिक सत्ता का प्रयोग वह व्यक्ति नहीं कर सकता है। व्यक्ति की वैधानिक सत्ता के क्षेत्र और उसके बाहरी क्षेत्र में बुनियादी भेद है, जैसे—पिता या पति की सत्ता। एक जटिल समाज में वैधानिक सत्ता प्रत्येक व्यक्ति के हाथों में समान नहीं होती है, बल्कि इसमें ऊँच-नीच का संस्तरण होता है अर्थात् वैधानिक आधार पर समाज में उच्च और निम्न सत्ताएँ हैं।

वैध-विवेकपूर्ण प्राधिकारी प्रणाली में वेबर ने अपनी तालिका निम्नवत प्रस्तुत की है—

वैध-विवेकपूर्ण प्राधिकार की प्रकृति	प्रशासनिक स्टाफ वर्ग की प्रगति
1. आज्ञानुवर्तिता वैध रूप से स्थापित निर्वैयक्तिक आदेश के प्रति होती है। 2. कानूनी मापदण्डों की स्थापना विभिन्न आधारों (कार्यसाधकता, मूल्य आदि) पर हो सकती है। 3. विशिष्ट विषयों के लिए सामान्य नियम जो सोद्देश्य रूप से स्थापित किए गए हैं, लागू किए जाते हैं। 4. प्राधिकारी व्यक्ति किसी पद पर आसीन होता है। 5. आदेश का पालन करने वाला व्यक्ति केवल कानून का पालन करता है, किसी व्यक्ति की आज्ञा का नहीं। 6. पद सोपानात्मक तरीके से पद व्यवस्थित किए जाते हैं, अपील और अभियोग निराकरण संयन्त्र सहित। 7. क्योंकि नियमों का उपयोग एक विवेकपूर्ण प्रक्रिया है, प्राधिकारी व्यक्तियों के लिए विशेषीकृत प्रशिक्षण आवश्यक है।	1 वैध प्राधिकार अपने विशुद्ध रूप में अधिकारीतन्त्रीय प्रशासनिक कर्मचारी वर्ग का उपयोग करता है। 2. अधिकारीतन्त्र (ब्यूरोक्रेसी) के लक्षण हैं— (क) एक अधिकारी पर प्राधिकार का उपयोग केवल उसके पद के सम्बन्ध में ही हो सकता है। (ख) पद एक सोपान-क्रम से संगठित होते हैं। (ग) प्रत्येक पद का कार्य-क्षेत्र परिभाषित होता है। (घ) मुक्त चयन द्वारा पदों को भरा जाता है। (ङ) तकनीकी क्षमता के आधार पर अधिकारियों की नियुक्तियाँ की जाती है। (च) नकद वेतन, निश्चित, क्रमबद्ध, वेतनमान, पेन्शन (उत्तरदायित्व और सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए) की प्रणालियाँ होती हैं। (छ) 'पद' ही प्रमुख व्यवसाय होता है। (ज) जीवक (कैरियर) प्रणाली का प्रचलन, पदोन्नयन, वरिष्ठता अथवा उपलब्धि के आधार पर होता है। (झ) अधिकारियों को प्रशासन के साधनों से पृथक् कर दिया जाता है। (ञ) पद के उत्तरदायित्वों को निभाते समय अधिकारी अनुशासन के अधीन होते हैं।

1. *Reinhard Bendix* Op cit., p 319 320

है। वे नौकरशाही को सम्पूर्ण घटना के एक शुद्ध रूप में प्रस्तुत कर इसके बनाने के लिए उनकी विशेषताओं को एक स्थान पर रखा। इन्हीं विशेषताओं को एकत्रित कर अनेक शोध कार्य किए गए तथा इस दृष्टिकोण को जाँचने का प्रयास किया। ये शोधकर्ता वेबर को गलत या सही सिद्ध करने की कोशिश किया करते थे। वे उनके आदर्श प्रारूप को या तो पूरी तरह स्वीकार कर लेते थे अथवा अस्वीकार कर देते थे।

2. तार्किक नियम प्राधिकार के रूप में (Bureaucracy as Rational-legal Authority)

वेबर ने अपनी नौकरशाही को तार्किक नियम प्राधिकार के रूप में भी समझाया है। उन्होंने यह देखा और अनुभव किया कि नौकरशाही का प्रचलन धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। इस बढ़ते प्रशासनिक ढाँचे के स्वरूप का अध्ययन कर यह प्रतिपादित किया कि नौकरशाही कोई ऐतिहासिक नियम व परम्परा नहीं है बल्कि इसके पीछे तार्किक नियमों की एक व्याख्या होती है। सामन्तवादी समाज में राजा या शासक इसीलिए स्वीकार कर लिए जाते थे क्योंकि वे परम्परागत रूप में वैधता प्राप्त करते थे। उनके अनुसार नौकरशाही की कुछ निश्चित विशेषताएँ हैं, जिनके आधार पर नौकरशाही संचालित होती है।

वेबर ने उपर्युक्त दो आधारों पर नौकरशाही की विवेचना की है। उन्होंने अपनी नौकरशाही को कहीं परिभाषित नहीं किया है, लेकिन इसकी विशेषताओं के आधार पर इसकी विस्तृत विवेचना की है।

वेबर का आदर्श-रूप नौकरशाही (अधिकारीतंत्र) प्रतिमान
(Weber's Ideal Type Bureaucratic Model)

वेबर ने नौकरशाही को प्रशासन की तर्कपूर्ण (Rational) व्यवस्था माना है। उनके मतानुसार संस्थागत व्यवहार में तर्कपूर्णता लाने का सर्वोत्तम साधन नौकरशाही है। उन्होंने नौकरशाही के आदर्श रूप की कतिपय विशेषताओं का वर्णन किया। यह धारणा प्रकट की है कि यदि वास्तविक जगत् के किसी संगठन में ये विशेषताएँ उपलब्ध न हों तो यह आदर्श रूप का दोष नहीं है वरन् यह इसका प्रतीक है कि उस संगठन में उतने अंशों तक नौकरशाही नहीं हो सकी है। अपनी आदर्श विशुद्धता में यह आदर्श रूप यथार्थ जगत् में कभी उपलब्ध नहीं होता।[1] मैक्स वेबर वर्णित ये विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

1. स्पष्ट श्रम-विभाजन (Clearcut Division of Labour)—नौकरशाही संगठन के सभी कर्मचारियों में कार्य का स्पष्ट विभाजन किया जाता है तथा प्रत्येक कर्मचारी को अपना कार्य प्रभावशाली रूप से सम्पन्न करने के लिए उत्तरदायी बनाया जाता है।

2. आदेश तथा दायित्वों के मर्यादित क्षेत्रों से युक्त पदसोपानीय सत्ता संरचना (Hierarchial Authority Structure with Limited Areas of Command and Responsibility)—नौकरशाही संगठन पदसोपान के सिद्धान्त का अनुशीलन करता है। प्रत्येक अधीनस्थ कार्यालय एवं कर्मचारी उच्चतर कार्यालय एवं कर्मचारी के नियन्त्रण में रहकर अपना कार्य सम्पादन करता है। अधीनस्थ कर्मचारी के दायित्वों का समुचित निर्वाह कराने हेतु प्रत्येक जाँच अधिकारी को वांछनीय सत्ता प्रदान की जाती है जिसका प्रयोग करते हुए वह अपने अधीनस्थों को आवश्यक निर्देश जारी करता है।

3. अमूर्त नियमों की संगत व्यवस्था (Consistent System of Abstract Rules)—नौकरशाही संगठन में तकनीकी नियमों तथा नोर्म्स के आधार पर कार्यालय की समूची कार्यवाही का नियमन किया जाता है। कार्यालय के सभी कर्मचारियों को इन नियमों तथा नार्म्स का समुचित प्रशिक्षण दिया जाता है। ऐसा प्रशिक्षण नौकरशाही संगठन में प्रवेश की पूर्व-शर्त बना दी जाती है। संगठन में अमूर्त नियमों की एक संगत व्यवस्था होने के कारण कार्यों में एकरूपता बनी रहती है तथा विभिन्न कार्यों के बीच समन्वय करना सरल हो जाता है।

4. प्रत्येक कार्यालय के स्पष्ट परिभाषित कार्य (Clearly Defined Functions of Each Office)—कानूनी रूप से प्रत्येक पद के कार्यों को परिभाषित एवं मर्यादित कर दिया जाता है ताकि कोई किसी के कार्यों में हस्तक्षेप न करे। इससे संघर्ष और तनाव की संभावना बहुत कम हो जाती है।

5. स्वतंत्र संविदा के आधार पर अधिकारियों की नियुक्ति (Officials Appointed on the Basis of Free Contract)—नौकरशाही संगठन में प्रत्येक कर्मचारी के साथ स्वतन्त्र समझौता किया जाता है। कोई व्यक्ति किसी के दबाव या बाध्यता के कारण पद ग्रहण नहीं करता।

1. *Max Weber* On the Methodology of Social Sciences, Glencoe, III, pp 90 93

6. तकनीकी योग्यताओं के आधार पर प्रत्याशियों का चयन (Candidates are Selected on the Basis of Technical Qualifications)—नौकरशाही संगठन के कर्मचारी निर्वाचित नहीं होते वरन् योग्यता परीक्षाओं द्वारा उनकी तकनीकी योग्यता जाँचने तथा आवश्यक प्रशिक्षण सम्बन्धी प्रमाण-पत्र देखने के बाद उनकी नियुक्ति की जाती है।[1] संगठन के कर्मचारियों को मनमाने ढंग से हटाने के विरुद्ध सुरक्षाएँ प्रदान की जाती हैं। नौकरशाही सेवा एक आजीवन व्यवसाय बन जाती है। इसमें वरिष्ठता एवं योग्यता के आधार पर पदोन्नति की व्यवस्था की जाती है तथा कर्मचारीगण संगठन के साथ एकरूपता स्थापित कर उसके लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा मे अधिक प्रयत्नशील रहते हैं।

7. वेतन एवं पेन्शन अधिकार (Monthly Salary and Pension Rights)—नौकरशाही संगठन में संगठन की आय के आधार पर कर्मचारी का वेतन तय नहीं किया जाता वरन् पदसोपान में उसका स्तर, पद के दायित्व, सामाजिक स्थिति आदि तथ्यों का ध्यान रख कर तय किया जाता है।

8. पूर्णकालीन पदाधिकारी (Official Post is the Sole Occupation)—नौकरशाही संगठन का प्रत्येक कर्मचारी अपने कार्यालय को अपना पूरा समय प्रदान करता है। अवैतनिक अथवा आंशिक समय में काम करने वाले कर्मचारी द्वितीय स्तर के माने जाते हैं।

9. आजीवन व्यवसाय (Career Service)—ऐसे संगठन में प्रत्येक कर्मचारी अपने पद को आजीवन बना लेता है। वरिष्ठता या कार्य-सम्पन्नता के आधार पर उसकी पदोन्नति होती रहती है।

10. अधिकारीगण प्रशासन के साधनों का स्वामित्व नहीं करते (Officials are Separated from Ownership of Means of Administration)—नौकरशाही संगठन का प्रत्येक पदाधिकारी प्रशासन के साधनों के स्वामित्व से अलग रहता है। वह अपनी पद स्थिति का विनियोग नहीं कर सकता।

11. औपचारिक निर्वैयक्तिकता की भावना (A Spirit of Formalistic Impersonality)—वेबर के मतानुसार नौकरशाही संगठन का एक आदर्श अधिकारी अपने कार्यालय का संचालन औपचारिक निर्वैयक्तिकता की भावना से करता है तद्नुसार वह न तो किसी के प्रति घृणा या दुर्भाव रखता है और न ही किसी के प्रति लगाव या उत्साह प्रकट करता है। यह दृष्टिकोण अधिकारियों को सभी व्यक्तियों के प्रति समान आचरण करने को प्रोत्साहित करता है। फलत संगठन के कार्य निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण होते हैं।

12. कठोर एव व्यवस्थित अनुशासन तथा नियंत्रण (Strict and Systematic Discipline and Control)—नौकरशाही संगठन के किसी पदाधिकारी को नियंत्रित अथवा स्वच्छन्द नहीं होने दिया जाता। नियंत्रण तथा अनुशासन की उपयुक्त व्यवस्था की जाती है। शक्ति वितरण किया जाता है तथा उत्तरदायित्व एक से अधिक निकायों में बाँट दिये जाते हैं। नौकरशाही पर कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका के समुचित नियंत्रण की व्यवस्था की जाती है।

13. अधिकतम कार्यकुशलता (Highest Degree of Efficiency)—मैक्स वेबर के अनुभव से ज्ञात होता है कि विशुद्ध नौकरशाही प्रकार का संगठन तकनीकी दृष्टि से अधिकतम कुशलता प्राप्त करने में समर्थ है।[2] यह कार्यकुशलता के कारणों का ही परिणाम है, जैसे—प्रत्येक कर्मचारी अपने कार्य का विशेषज्ञ होता है, वह पक्षपात रहित कार्य करता है, उसके कार्यों में उचित समन्वय तथा नियंत्रण रहता है, कार्यों में यान्त्रिकता एवं पहल का अभाव होने के कारण ये द्रुतगामी बन जाते हैं आदि।

तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन में 'नौकरशाही' से सभी समकालीन राष्ट्रों की प्रशासनिक प्रणालियों का बोध होता है चाहे वे किसी भी प्रकार के सामाजिक वातावरण में कार्यशील हों। आवश्यक रूप से इस पद का प्रयोग 'संरचनात्मक' अथवा 'क्रियात्मक' संदर्भों में होता है। संरचनात्मक स्थापना का उद्गम वेबर का आदर्श प्रतिमान है, क्रियात्मक स्थापना प्रशासनिक उप-प्रणाली के उद्देश्यों तथा समग्र रूप से सामाजिक प्रणाली पर पड़ने वाले प्रशासनिक कार्य के परिणामों पर बल देती है। इस प्रकार क्रियात्मक स्थापना संरचनात्मक स्थापना की तुलना में अधिक पारिस्थितिक है, यद्यपि ये दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं, क्योंकि क्रियात्मक स्थापना इस बात का

1. Max Weber in 'Reader in Bureaucracy', ed. by Robert K. Merton and Others, p. 22.
2. *Max Weber*: The Theory of Social and Economic Organisation, translated by H. M. Handerson and Talcott Parsons, 1947, p. 337.

अध्ययन करती है कि नौकरशाही के संरचनात्मक लक्षण अथवा इसकी व्यावहारिक विशेषताएँ सामान्य सामाजिक प्रणाली से 'क्रियात्मक' रूप से किस प्रकार जुड़ी हुई हैं।

वेबर इस बात को स्वीकार करता है कि लोकतंत्र के लिए कार्यकुशल नौकरशाही होना अत्यावश्यक है, पर यह नौकरशाही बहुधा लोकतंत्र के लिए खतरा भी बन जाती है। उसने इस बात पर भी बल दिया है कि सरकार में जनता की भागीदारी का आधार विस्तृत करके, नौकरशाही सामाजिक-राजनीतिक प्रणाली पर समकालीन प्रभाव डालती है। वर्तमान समय में फ्रेड रिग्स ने वेबर के बहुत सारे विचारों को अपने लेखों में शामिल कर लिया है। राजनीतिक प्रणाली और नौकरशाही से इन सम्बन्धों के विषय में रिग्स के विचारों को निम्नलिखित तीन उद्देश्यों के संदर्भ में देखा जा सकता है। समकालीन राजनय के इस सम्बन्ध में रिग्स इन उद्देश्यों को निम्नवत् आवश्यक मानता है—

1. वैधता—कोई भी सरकार तभी कुशलतापूर्वक कार्य कर सकती है जबकि जनता इसे अपना वैध राज्य स्वीकार कर ले।

2. स्थिरता या सन्तुलन—सत्यनिष्ठा तथा आत्मनियंत्रण बनाए रखने के लिए सरकार पर समताकारक शक्तियों का अंकुश होना चाहिए।

3. क्षमता—सरकार में राजनीतिक निर्णय लेने तथा उनकी अनुपालना करने की क्षमता होनी चाहिए। इन निर्णयों के द्वारा वांछित परिवर्तन लाया जा सकता है।

जॉन एम. गौस, रॉबर्ट ए. डॉहल, रॉस्को मार्टिन और फ्रेड डब्ल्यू. रिग्स जैसे अनेक विद्वानों ने लोक प्रशासन के पारिस्थितिक अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया है। उदाहरणार्थ, रिग्स की मान्यता है कि अनुभव आधारित, विधि सम्मत तथा पारिस्थितिक अध्ययन ही वास्तव में तुलनात्मक अध्ययन होते हैं। इस दृष्टि से प्रशासनिक प्रक्रिया को एक प्रणाली माना जा सकता है जिसका एक वातावरण होता है, कार्यशील होने पर इसकी वातावरण के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। यह प्रस्थापना इस दृष्टिकोण का उपप्रमेय है कि समाज एक वृहद प्रणाली है और प्रशासनिक संस्थाएँ इसकी उप-प्रणालियाँ हैं। मूलतः रिग्स की रुचि प्रशासनिक उप-प्रणाली तथा समाज की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक उप-प्रणालियों की क्रिया-प्रतिक्रिया का विश्लेषण करने में है। इससे उसके मूल आमुखीकरण का पता लगता है और इसे ही पारिस्थितिक आमुखीकरण माना जा सकता है। रिग्स के इस विचार का आधार यह विश्वास है कि किसी भी देश के प्रशासन को वहाँ की सामाजिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही समझा एवं जाना जा सकता है।

कृषक समाज के प्रमुख संरचनात्मक लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. आरोपित, विशेषाधिकारवादी तथा असंगठित प्रतिरूपों की प्रमुखता।

2. स्थिर स्थानीय समूह तथा सीमित स्थानान्तर।

3. पेशे की दृष्टि से अत्यन्त सरल एवं अल्प विभेद।

4. विस्तृत प्रभाव वाली सम्मान आधारित स्तरीकरण प्रणाली।

इसके विपरीत आधुनिक औद्योगिक समाज के निम्न संरचनात्मक लक्षण होते हैं—

1. विश्ववादी, विशिष्ट तथा उपलब्धि मूलक मानकों की प्रमुखता।

2. तीव्र सामाजिक गतिशीलता (सामान्य-ऊर्ध्वाकार ही नहीं)।

3. सुविकसित एवं अन्य सामाजिक संरचनाओं से अप्रभावित पेशों की प्रणाली।

4. पेशे सम्बन्धी उपलब्धियों के सामान्यीकृत प्रतिरूपों पर आधारित 'समतावादी' वर्ग प्रणाली।

5. संघों अर्थात् विशिष्ट कार्यों हेतु अनारोपित संरचनाओं की बहुलता।

विधिसम्मत सत्ता प्रणाली और इसकी नौकरशाही वेबर के विश्लेषण का केन्द्र बिन्दु है जबकि रिग्स समपार्श्वीय समाज तथा इसकी प्रशासनिक उप-प्रणाली पर विचार-विमर्श करता है। वेबर की 'नौकरशाही' तथा रिग्स की 'प्रशासनिक उप-प्रणाली' का अन्तर अग्रांकित चार्ट से स्पष्ट हो जाता है—

वेबर की यह नौकरशाही जब एक प्रशासनिक उप-प्रणाली बनती है तो स्थिति इस प्रकार अभिव्यक्त होती है—

नौकरशाही	प्रशासनिक उप-प्रणाली
1. पदों का संगठित सोपान।	1. विषय जातीयता।
2. प्रत्येक पद की पारिभाषित क्षमता।	2. अभिन्नायन।
3. उपलब्धियों के आधार पर अधिकारियों का चुनाव।	3. भर्ती का आधार पहुँच, भाई-भतीजावाद।
4. नियमानुसार प्रशासन।	4. औपचारिकता।
5. 'विश्वदाद' एवं अव्यक्तिगत कार्यकलाप, पदासीन होने की स्थिति में ही अधिकारी सत्ता के अधीन होते हैं।	5. कार्यालयीय व्यवहार में व्यक्तिगत मानक।
6. सार्वजनिक कोष व्यक्तिगत कोष से अलग होता है।	6. सभी स्तरों पर प्रशासनिक भ्रष्टाचार।

इस प्रकार के विभेदीकरण की एक कठिनाई यह है कि रिग्स की आदर्श प्रशासनिक उप-प्रणाली की प्रवृत्ति सश्लिष्टात्मक होने के कारण इसमें नौकरशाही के सभी लक्षणों का प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से इंगित करना कठिन है।

लोक प्रशासन साहित्य में विकास प्रशासन की अवधारणा का प्रचलन बढ़ता जा रहा है, फिर भी आशा की जाती है निकट भविष्य में उन्हीं प्रशासनिक प्रणालियों के अध्ययन तक सीमित रहेगी जो तीव्र गति से सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तन लाने के कार्य में संलग्न हैं। विकास प्रशासन का क्षेत्र ऐसा है जिस पर तुलनात्मक लोक प्रशासन का सारा क्षेत्र तो केन्द्रित है ही, नव (अमेरिकी) लोक प्रशासन के सहायक आधार भी इसी पर केन्द्रित होंगे। इस प्रकार मानक एवं अनुभवात्मक विकास प्रशासन के केन्द्रीय बिन्दुओं के सामंजस्य से लोक प्रशासन के अध्ययन में नीति विज्ञान के अनुशीलन को बल मिलेगा।

अभी तक विकास केन्द्र सम्बन्धी कुछ ही पक्षों का अध्ययन किया गया है। जहाँ तक विकास प्रशासन में पारिस्थितिक सदर्भ का प्रश्न है सारे साहित्य में राजनीतिक आयामों पर ही बल दिया गया है। यहाँ भी कुछ विद्वान संतुलित एवं असन्तुलित राजतंत्रों के निर्माण तक ही सीमित रही है। विभिन्न समाजों की विशिष्ट सामाजिक प्रशासनिक स्थितियों के अध्ययन की आवश्यकता पर बहुत कम बल दिया गया है। इसी प्रकार इन सन्तुलित एवं असन्तुलित राजतंत्रों के कार्य-निष्पादन पर भी अधिक विचार-विमर्श नहीं हुआ है। प्रशासनिक प्रणालियों पर आर्थिक एवं सामाजिक-सांस्कृतिक प्रणालियों के प्रभाव के सम्बन्ध में भी अधिक शोध-कार्य नहीं हुआ है। कोई प्रशासन अपने सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण में कितना परिवर्तन ला सकता है इस पर भी अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। विकास प्रशासन की इन प्रमुख कमियों को दूर करने के लिए तुलनात्मक लोक प्रशासन के विद्यार्थियों को वास्तविक बहु-शास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाना चाहिए और इसमें लोक प्रशासन के साथ-साथ अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र जैसे समाज विज्ञानों का भी सहयोग लेना चाहिए।

मैक्स वेबर के विचारों की आलोचना
(Criticism of the Ideas of Max Weber)

नौकरशाही के अध्ययन तथा विवेचन में मैक्स वेबर को एक आधिकारिक विद्वान माना जाता है। उसका योगदान एक पथ-प्रदर्शक का रहा है। उसके विश्लेषण की प्रतिक्रियास्वरूप समाजशास्त्रियों तथा लोक प्रशासन के विद्वानों द्वारा भारी आलोचनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। आलोचकों के मतानुसार वेबर ने अपनी सैद्धान्तिक अवधारणा में अनेक सामान्यीकरण किए हैं, किन्तु अनुभववादी तथ्यों के आधार पर इनका औचित्य सिद्ध करने के प्रति वह निरन्तर उदासीन तथा अरुचिपूर्ण रहा है। वेबर की मान्यताओं की प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं—

1. वेबर की अवधारणा में अनेक विरोधाभास एवं तनाव दृष्टिगत होते हैं। उदाहरण के लिए, तकनीकी दृष्टि से विशेषज्ञ एक नवागन्तुक कर्मचारी केवल वरिष्ठता के कारण पदसोपान में उच्च पदाधिकारी के आदेश का पालन नहीं कर सकेगा। जो तत्त्व एक दृष्टि से संगठन की कार्यकुशलता बढ़ाते हैं वे ही अन्य दृष्टि से उसकी कार्यकुशलता को चुनौती देते हैं।

2. वेबर के विचार उपकल्पना के रूप में हैं, उनका कोई गवेषणात्मक आधार नहीं है। यह मानव मनोविज्ञान, व्यक्ति के अनौपचारिक सम्बन्ध तथा औपचारिक प्रभावों पर विशेष ध्यान नहीं देता।

3. उसके चिन्तन में ऐसी विश्लेषणात्मक श्रेणियों का अभाव है जो नौकरशाही के विभिन्न संगठनात्मक अंगों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं को प्रदर्शित कर सकें।

4. वेबर द्वारा प्रस्तुत आदर्श रूप शब्द दुर्भाग्यपूर्ण है। नौकरशाही में कुछ भी आदर्श नहीं है।[1]

5. यदि नौकरशाही के 'आदर्श रूप' की समस्त विशेषताएँ किसी संगठन में एक साथ अपना ली जाएँ तो वे अनिवार्यतः अधिकतम कार्यकुशलता पैदा नहीं कर पाती क्योंकि यथार्थ में संगठन की कार्यकुशलता का निर्धारण कुछ विशेष संगठनात्मक स्थितियों द्वारा होता है, जैसे—कार्यकर्ताओं का तकनीकी स्तर, संगठन के लक्ष्य तथा संगठन का सामाजिक वातावरण आदि।[2]

6. जैसा वेबर ने अपने 'आदर्श रूप' का प्रयोग एक अवधारणात्मक उपकरण के रूप में किया है जिसकी सहायता से सामाजिक परिवेश को भली प्रकार समझा जा सकता तथा आदर्श रूप एवं मूर्त स्थिति का विश्लेषण किया जा सकता है। आलोचकों का कहना है कि नौकरशाही के क्षेत्र में वास्तविकता को समझने के लिए आदर्श रूप की आवश्यकता नहीं है वरन् आदर्श मॉडल बनाने के लिए वास्तविकता का ज्ञान आवश्यक है।

7. वेबर ने नौकरशाही के पूर्ण औपचारिक रूप का अध्ययन किया है तथा सामयिक घटनाओं या अनौपचारिक सम्बन्धों को केवल प्रसंग मानकर छोड़ दिया है जबकि तथ्य यह है कि अनौपचारिक कार्य एवं सम्बन्ध औपचारिक संगठन के सुचारु कार्य संचालन के लिए अति आवश्यक हैं।

8. वेबर ने माना है कि उसके द्वारा वर्णित आदर्श रूप या औपचारिक संगठन ही पूर्ण संगठन है। यह मत वास्तविक तथ्यों के आधार पर असत्य साबित होता है।

वेबर द्वारा समस्त नौकरशाही के आदर्श रूप की अवधारणा आलोचकों के तीखे प्रहारों का शिकार बनी है फिर भी नौकरशाही के अध्ययन में वेबर का अद्वितीय स्थान है। इनके कटु आलोचक फ्रेडरिक ने स्पष्टतः इनकी प्रतिभा को स्वीकार करते हुए उनके अध्ययन को महत्वपूर्ण दिशाएँ खोलने वाला बताया है।[3]

संगठन का परम्परागत सिद्धान्त

(Traditional Theories of Organisation)

परम्परावादी या संगठनात्मक दृष्टिकोण को व्हाइट, विलोबी और एण्डरसन के युग का दृष्टिकोण माना जाता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद, जबकि लोक प्रशासन का विज्ञान जन्म ले रहा था, इन लेखकों ने युग की अनुरूपता को स्वीकार करते हुए एक कानूनी दृष्टि से प्रशासन-प्रक्रिया को देखते हुए वर्णनात्मकता, औपचारिकता, ऐतिहासिकता एवं वैधानिकता को प्रधानता दी। परम्परावादियों की यह दृष्टि यह मानकर चलती थी कि लोक प्रशासन की मूल समस्याएँ संगठन के कानूनी ढाँचे में जन्म लेती हैं जो संगठन के अन्तर्सम्बन्धों को उसकी समस्याओं के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में औपचारिकता से प्रस्तुत करता है। इस दृष्टिकोण के लेखक संगठन के सिद्धान्त, संगठनों की विशिष्टताएँ एवं संगठन की आवश्यकताएँ आदि प्रश्नों को केन्द्रीय बनाकर चले हैं। 'इतिहास' और 'कानून' इनके दो प्रमुख स्रोत हैं और उनसे अपनी सामग्री ग्रहण करते हुए वे वर्णन और वैधानिकता को प्रधानता देते हैं।

इस तरह इस परम्परावादी दृष्टिकोण को संगठनात्मक (Structural), वैधानिक (Legal), औपचारिक (Formal), ऐतिहासिक (Historical), विशुद्ध विचारात्मक (Normative) तथा वर्णनात्मक निर्धारित दृष्टिकोण (Descriptive Prescriptive Approach) कहा जाता है। इस स्कूल के लेखकों ने प्रत्यायोजन, पर्यवेक्षण, नियन्त्रण रेखा, नौकरशाही आदि के सिद्धान्तों को इस तरह देखा परखा है जैसे ये ढाँचे के प्रश्न हों और 'यदि ऐसा कर दिया जाए तो ऐसा अपने आप हो जाएगा।' बाइबिल के दस उपदेशों की तरह यह दृष्टि समस्याओं का सरलीकरण करती है और संस्थाओं के बाहर देखने को तैयार नहीं है। लूथर गुलिक, उर्विक, मूने, फेयोल आदि

1. *Carl J Friedrick* : 'Some Observations of Weber's Analysis of Bureaucracy' in Robert K. Merton, *Op cit*, p 33
2. *Nicos P Mouzelis* · Organisation and Bureaucracy . An Analysis of Modern Theory, 1967, p 48
3. *Carl, J Friedrick* Op cit, p 33

लेखकों ने अपने संगठनों के ग्राफ तथा मानचित्र प्रस्तुत किए हैं और कानूनी-ज्ञान को प्रशासनिक ज्ञान का पर्यायवाची समझा है।

इस दृष्टिकोण की पाँच दुर्बलताएँ प्रतिलक्षित होती हैं—

1. प्रथम तो यह लोक प्रशासन के क्षेत्र को इतना संकीर्ण बनाता है कि उसे एक पृथक् अध्ययन-शास्त्र कहना कठिन होगा।

2. दूसरे वर्णन पर केन्द्रित ये अध्ययन इतने सतही (Superficial) लगते हैं कि इनमें विवेचना और विश्लेषण (Analysis) का अभाव खटकता है।

3. इन अध्ययनों में व्यर्थ की अति आदर्शवादिता है जो यह मानकर चलती है कि व्यक्ति एक बहुत ही तर्क एवं विवेक-समस्त आचरण करने वाला प्राणी है।

4. फलस्वरूप इस दृष्टि ने समस्याओं को न चुनकर स्वयं को केवल उपदेशों तक ही केन्द्रित रखा है।

5. लोक-प्रशासन का एक बहुत बड़ा मानवीय एवं सामाजिक पहलू इस दृष्टि के क्षेत्र से इसलिए ओझल रहा है कि यह कानून और वर्णन की सीमा-रेखाओं के बाहर था।

कुल मिलाकर यह दृष्टि जटिल प्रशासनिक समस्याओं को सरल, संकीर्ण एवं विग्रहवादी मानकर देखने का प्रयत्न भर है जो आज की जटिल प्रशासनिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण करने में सक्षम नहीं लगती है।

अध्ययन की पद्धतियाँ

परम्परावादी दृष्टिकोण के अनुसार लोक प्रशासन के अध्ययन के लिए जो पद्धतियाँ अपनाई जाती रही हैं उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(1) वैधानिक पद्धति (Legal Approach)—योरोप के जर्मनी, बेल्जियम,फ्रांस आदि अनेक देशों में लोक प्रशासन का अध्ययन वैधानिक अथवा विधान-शास्त्रीय दृष्टि से किया गया है। इन देशों में लोक-विधि (Public Law) को संवैधानिक (Constitutional) और प्रशासकीय (Administrative) विधि में विभाजित किया गया है तथा लोक-प्रशासन विधि के आधार पर किया जाता है। संवैधानिक विधि का उद्देश्य मौलिक रूप से सरकार के तीनों अंगों का अलग-अलग वर्णन कर, उनके आपसी सम्बन्धों की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करना है जबकि प्रशासकीय विधि का सम्बन्ध राज्य, स्थानीय शासन-संस्थाओं, सार्वजनिक निगमों तथा सरकार के विभिन्न विभागों के संगठनों, कार्यों, उनके सह-सम्बन्धी तत्त्वों आदि की व्याख्या करने से होता है। इस प्रकार फ्रांस, जर्मनी, बेल्जियम आदि राष्ट्रों में प्रशासन सम्बन्धी अध्ययन मुख्यतः प्रशासकीय सत्ता एवं उसकी प्रक्रियाओं के वैधानिक या कानूनी आधारों तक ही सीमित रहा है। फ्रांस में प्रशासकीय कर्मचारियों के प्रशिक्षण के समय वैधानिक ज्ञान पर अधिक बल दिया जाता है। इंग्लैण्ड और अमेरिका में भी लोक प्रशासन के अध्ययन की वैधानिक पद्धति को काफी समर्थन मिला है और इसीलिए प्रशासकीय विधि तथा प्रशासकीय न्याय का अध्ययन आरम्भ हुआ है। संयुक्त राज्य अमेरिका में नियामकीय अभिकरणों (Regulatory Agencies) और उनकी प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में बहुत कुछ वैधानिक दृष्टिकोण अपनाया जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि लोक प्रशासन को वैधानिक ढाँचे में काम करना होता है, अतः उस ढाँचे को समझने के लिए अथवा उस पर प्रकाश डालने के लिए वैधानिक दृष्टिकोण उपयोगी रहता है, तथापि इस पद्धति अथवा दृष्टिकोण का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें सामाजिक, वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टियों की उपेक्षा की गई है। समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि का सर्वदा परित्याग करने के फलस्वरूप प्रशासन का वैधानिक अध्ययन एकदम शुष्क, औपचारिक तथा रूढ़िवादी बन जाता है। प्रशासकीय कार्य-कलापों और व्यवहार के सजीव आधारों की उपेक्षा सर्वथा त्याज्य है।

(2) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Approach)—ऐतिहासिक ज्ञान किसी भी प्रशासन के अध्ययन के लिए मूल्यवान है। जो प्रशासन भूतकालीन प्रशासकीय संस्थाओं के अनुभवों से लाभ उठाता है वह सुगमता से सफलता की ओर अग्रसर होता है। प्रायः हर राष्ट्र का प्रशासन प्राचीन परम्पराओं से बहुत कुछ प्रभावित रहता है और उन परम्पराओं को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि इतिहास का ज्ञान न हो अथवा ऐतिहासिक पद्धति का आश्रय न लिया जाए। बहुत-सी आधुनिक प्रशासकीय समस्याओं का समाधान इतिहास द्वारा संचित प्रशासकीय अनुभवों में अन्तर्निहित रहता है। इतिहास बतलाता है कि अनेक वर्तमानकालीन प्रशासकीय संस्थाओं और व्यवस्थाओं को किस प्रकार आरम्भ किया गया और विकास के किन चरणों को पार करते हुए उन्हें वर्तमान

रूप दिया जा सकता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र से मौर्यकालीन शासन-पद्धति और प्रशासकीय संस्थाओं की विस्तृत सूचना प्राप्त होती है तो प्रो. व्हाइट की 'दि फेडरलिस्ट्स' 1948) तथा 'जेफरसोनियंस' (1951) में अमेरिका के प्रथम चालीस वर्षों के अमेरिकी संघ-प्रशासन का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में ऐतिहासिक ज्ञान की अनुपस्थिति में प्रशासन का अध्ययन अधूरा रहता है।

प्रशासन की ऐतिहासिक पद्धति से मिलती-जुलती कथात्मक अथवा संस्मरणात्मक पद्धति (Biographical Method) है जिसका आशय है विख्यात एवं निपुण प्रशासकों के अनुभवों और कार्यों के अभिलेखों की अध्ययन प्रणाली। ये संस्मरण चाहे स्वयं उन्होंने लिखे हों अथवा दूसरों ने, यह निश्चित है कि उनके अध्ययन से प्रशासकीय समस्याओं तथा निर्णय-प्रक्रियाओं का बहुत कुछ वास्तविक और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है। यद्यपि संस्मरणात्मक पद्धति ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से उपयुक्त है और इंग्लैण्ड में आज भी यह लोकप्रिय है, तथापि इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें राजनीतिक प्रभाव का सर्वथा आधिक्य पाया जाता है। ये संस्मरण प्रशासकीय कार्यों की अपेक्षा राजनीतिक महत्व की बातों पर प्रायः अधिक बल देते हैं। इस दोष से बचने के लिए वर्तमान समय में प्रशासकीय अनुभव-प्राप्त लोग अपने अनुभवों को इस प्रकार लेखबद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं जो लोक प्रशासन विज्ञान की प्रगति में सहायक हो सकें। भारत जैसे स्वतन्त्र विकासशील देश के लिए यह एक बहुत बड़ी सेवा होगी कि देश के प्रशासकीय संगठन के निर्माता अपने प्रशासकीय जीवन के अनुभवों को स्वयं लेखबद्ध करें। डॉ. जायरकर ने अपने अनुभव लिपिबद्ध किए हैं और उनकी पुस्तक हमारे वर्तमान तथा भावी प्रशासकों के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

(3) विषय-वस्तु पद्धति (Subject-matter Approach Context)—इस पद्धति के अन्तर्गत प्रशासन के किन्हीं सामान्य सिद्धान्तों का अध्ययन नहीं किया जाता-वरन् विशिष्ट सेवाओं अथवा कार्यक्रम विशेष के अध्ययन पर बल दिया जाता है। उदाहरणार्थ शिक्षा, प्रतिरक्षा, पुलिस, राजस्व का निर्धारण एवं संग्रह आदि विशिष्ट विभाग पृथक्-पृथक् रूप से अध्ययन की विषय-वस्तु बनते हैं। इंग्लैण्ड, भारत आदि में इस पद्धति का प्रयोग इन विशेष सेवाओं के अध्ययन के लिए काफी समय से किया जा रहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका में लम्बे अर्से से स्थानीय प्रशासन की समस्याओं का अध्ययन इसी पद्धति से होता रहा है और हाल ही के वर्षों में राष्ट्रीय स्तर पर अमेरिकी प्रशासन के अध्ययन-क्षेत्र में भी इस पद्धति का प्रयोग किया जाने लगा है। इस अध्ययन-पद्धति में अन्तर्निहित दर्शन यह है कि संगठन और प्रशासन लक्ष्य प्राप्ति के दो प्रभावशाली साधन हैं तथा प्रयोगों से पृथक् करके उनका अध्ययन उपयोगी नहीं होगा। विशिष्ट सेवाओं अथवा विभागों द्वारा जो अभिलेख एवं सांख्यिकी शोध-आयोगों के प्रतिवेदन आदि रखे जाते हैं, उनसे बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती है जिसके आधार पर प्रशासन के स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डाला जा सकता है। इस क्षेत्र में गौस एवं वाल्कोट की पुस्तक 'Public Administration and the United States Department of Agriculture' एक अच्छी पुस्तक है और उसके प्रकाशन के बाद विभागीय एवं अन्तर्विभागीय प्रशासकीय सेवाओं और कार्यक्रमों के अध्ययन पर और भी बहुत सी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं।

(4) वैज्ञानिक पद्धति एवं व्यवहारवाद (Scientific Approach and Behaviouralism)—लोक प्रशासन के अध्ययन में 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' (Scientific Management) आन्दोलन लोक प्रशासन की समस्याओं का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धतियों और मान्यताओं के अनुसार करना चाहता है। लोक प्रशासन के क्षेत्र में इस पद्धति को लोकप्रिय बनाने का श्रेय फ्रेडरिक टेलर (F. W. Taylor) को जाता है, अतः इसे 'टेलरवाद' (Taylorism) भी कहा जाता है। टेलर के अनुसार निजी उद्योग के क्षेत्र और लोक प्रशासन के क्षेत्र में कार्यकुशलता सम्बन्धी समस्याएँ समान हैं। उनमें कोई मौलिक या आधारभूत भिन्नता नहीं पाई जाती। टेलर महोदय का आग्रह काम करने के "एक ही सर्वोत्तम तरीके" पर है, तदनुसार प्रत्येक प्रकार के कार्य के प्रबन्ध के लिए सर्वोत्तम सिद्धान्त वैज्ञानिक आधार पर खोजे जा सकते हैं।

काफी लम्बे समय से संयुक्त राज्य अमेरिका में लोक प्रशासन के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है। इस विचारधारा को पर्याप्त समर्थन मिला है कि लोक प्रशासकीय कर्मचारियों की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए व्यक्तिगत अथवा निजी प्रशासन की भाँति वैज्ञानिक विचारधारा का प्रयोग किया जा सकता है तथा उसके बारे में बहुत कुछ सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन सम्भव है। वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार उन कार्यों का विश्लेषण किया जाता है जो जनता के सम्मुख रखे गए हों, उनके साथ व्यक्तियों का तालमेल बैठाया जाता है, उनके साथ लक्ष्यों से सम्बन्धित व्यापक अनुभवों का सम्पर्क स्थापित किया जाता है और तत्पश्चात् नेतृत्व, आदर्श आदि के द्वारा

लक्ष्यों के एक समूह से दूसरे समूह में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। यह वैज्ञानिक प्रबन्धवाद कार्यकुशलता को मुख्य लक्ष्य के रूप में ग्रहण करते हुए प्रशासन को ऐसी तकनीकी समस्या मानता है जो मूल रूप में श्रमविभाजन के कार्यों के विशेषीकरण से सम्बन्धित है।[1] लोक प्रशासन में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग का आशय यह है कि पर्यवेक्षण, प्रकार, विश्लेषण आदि को अपनाकर सामान्य सिद्धान्तों का निरुपण किस सीमा तक किया जा सकता है। टेलरवादी दृष्टिकोण का सबसे बडा दोष यह है कि इसमें मानवीय तत्त्व के महत्व की उपेक्षा कर दी गई है। टेलरवाद की कमी को इंगित करते हुए उर्विक ने लिखा है कि "यह बात अधिकाधिक स्पष्ट रूप से अनुभव की जा रही है कि कार्य, कार्य में व्यक्ति को लगाने और कार्यों को व्यवस्थित तथा परस्पर सह-सम्बन्धित करने की समस्याओं के साथ ही एक चौथी समस्या वर्ग के रूप में गतिशील तथा शक्तिशाली बनाने की है। प्रबन्ध का यह चौथा पहलू सम्भवत इन चारों से सर्वाधिक महत्वपूर्ण और जटिल है।"[2]

स्टाफ और सूत्र अभिकरण
(Staff & Line Agencies)

प्रशासनिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए जिस यन्त्र की रचना की जाती है उसके शीर्ष पर मुख्य कार्यपालिका होती है जिसे अपने कार्यों और दायित्वों के निर्वहन के लिए व्यापक शक्तियाँ प्रदान की जाती हैं तथा जिसकी सहायता एक सेवीवर्ग द्वारा की जाती है। उसके अधीन अधिकारियों में से कुछ का सम्बन्ध नीति सम्बन्धी प्रश्नों के निर्धारण से और अन्य का उन नीतियों के क्रियान्वयन में सहायता पहुँचाने से होता है। नीति-निर्माणक अभिकरणों की सहायता के लिए एक मंत्रणा देने वाला वर्ग होता है जिसके कार्य केवल परामर्शात्मक होते हैं, आदेशात्मक नहीं। जिस वर्ग का सम्बन्ध नीति सम्बन्धी कार्यों से होता है उसे हम सूत्र (Line) अभिकरण कहते हैं और इस कार्य में जो केवल मंत्रणा आदि देकर सहायता करता है उसे स्टाफ (Staff) अभिकरण कहा जाता है। प्रशासन-कार्य में सहायता पहुँचाने वाला एक अन्य अभिकरण भी होता है जिसे सहायक (Auxiliary) अभिकरण कहते हैं। यह अभिकरण सभी विभागों में एक जैसा कार्य सम्पन्न करता है। कुछ लेखकों ने इसे स्टाफ अभिकरण का ही एक अंग माना है, तथापि साइमन और अन्य विद्वान् इसे एक पृथक् अभिकरण मानते हैं।

स्टाफ और सूत्र शब्दों को सैनिक प्रशासन की शब्दावली से ग्रहण किया गया है। सेना में दो प्रकार की इकाइयाँ होती है—सूत्र या सूत्र इकाई (Line Units) तथा स्टाफ इकाई (Staff Units)। मुख्य सेनापति के अधीन जनरल, कर्नल, मेजर, कैप्टेन आदि अधिकारी लाइन अधिकारी कहे जाते हैं जिनका कार्य संगठन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए युद्ध के मैदान में सेना को आदेश देना और उसका संचालन तथा नेतृत्व करना है। संगठन की सफलता इन अधिकारियों के कार्यों पर निर्भर करती है। ये अधिकारी पदसोपान की शृंखला से सम्बद्ध रहते हैं। नागरिक प्रशासन में भी उन अभिकरणों को 'सूत्र' की संज्ञा प्रदान की गई है, जिनके हाथ में वास्तविक शक्ति रहती है, जिनका कार्य आज्ञा देना होता है अथवा जो निर्णय ले सकते हैं। सैनिक प्रशासन में लाइन अधिकारियों के अतिरिक्त अन्य अधिकारी और कर्मचारी भी होते हैं जिन्हें युद्धरत सेना के लिए यातायात, रसद, चिकित्सा, डाक आदि का प्रबन्ध करना होता है। इन सब कार्यों की देख-रेख स्टाफ इकाइयाँ करती हैं। स्टाफ की सहायता के बिना सैनिक युद्ध नहीं लडे जा सकते हैं। नागरिक प्रशासन में भी केवल सूत्र अभिकरण समय और शक्ति की सीमा के कारण सम्पूर्ण कार्य स्वयं नहीं कर सकता। उन्हें अनेक तत्वों पर विचार करना पड़ता है और समस्याओं को सुलझाने के लिए विभिन्न प्रकार के ज्ञान तथा योग्यताओं की आवश्यकता होती है, अतः उनकी सहायता के लिए अन्य व्यक्ति नियुक्त किए जाते हैं जिनका कार्य सैनिक प्रशासन के स्टाफ वर्ग के लोगों से बहुत कुछ मिलता-जुलता है और इसलिए उन्हें भी स्टाफ अभिकरण कहा जाता है।

स्टाफ अभिकरण : अर्थ
(Staff Agencies : its Meaning)

स्टाफ अभिकरण का मुख्य कार्य परामर्श और सहायता देना है। जिस प्रकार एक वृद्ध व्यक्ति छड़ी का सहारा लेकर चलता है उसी तरह सूत्र अभिकरण स्टाफ अभिकरण का सहारा लेकर कार्य-संचालन करता है। स्टाफ द्वारा गृह प्रबन्ध सम्बन्धी या प्रबन्ध सम्बन्धी सेवाएँ सम्पन्न की जाती हैं ताकि मुख्य उद्देश्य की पूर्ति हो सके।

1. *Waldo* Op cit, pp. 47-61
2. *L F Urwick* : The Pattern of Management, pp 50-51

मुख्य कार्यपालिका के सामने जो विषय और व्यापक समस्याएँ आती हैं उनके बारे में आवश्यक सूचना एकत्रित करना, तथ्यों का अन्वेषण करना, समुदाय के लिए मार्ग खोजना तथा किस मार्ग को अपनाया जाए इस सम्बन्ध में सलाह देना आदि कार्य स्टाफ अभिकरणों को करने होते हैं। इस दृष्टि से इन्हें प्रशासनिक व्यक्तित्व का ही विस्तार माना जाता है।

विभिन्न लेखकों ने अलग-अलग प्रकार से स्टाफ अभिकरण को परिभाषित किया है। हेनरी फेयोल ने लिखा है कि "यह एक सत्ता है"...."यह प्रबंधक के विचार का एक प्रकार से विस्तार है ताकि अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति में उसे सहायता मिल सके।" व्हाइट के शब्दों में "स्टाफ उच्च श्रेणी के पदाधिकारियों को परामर्श देने वाला अभिकरण है जिसके कोई क्रियात्मक उत्तरदायित्व नहीं होते।" मूने के अनुसार, "स्टाफ अभिकरण कार्यपालिका के व्यक्तित्व का ही विस्तार है जिसका अर्थ है अधिक आँखें, अधिक कान, अधिक हाथ जो उसकी योजना के निर्माण और उसके क्रियान्वयन में उसे सहायता दे सकें।" एक पुरानी ब्रिटिश सैनिक कहावत के अनुसार, "स्टाफ सेवाएँ वे खच्चर हैं जो युद्ध लड़ने वाले खच्चरों के लिए सामग्री ढोते हैं।"

आधुनिक विचारधारा में स्टाफ और सूत्र के भेद को अधिक बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत नहीं किया जाता, क्योंकि दोनों गाड़ी के दो पहियों के समान इस तरह घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं कि उन्हें पूर्णतः पृथक् इकाइयों में विभाजित करना लगभग असम्भव है। भारत में मन्त्रणा अथवा स्टाफ अभिकरण में मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय, मन्त्रिमण्डलीय समितियाँ, योजना आयोग, वित्त मन्त्रालय, बजट और आर्थिक मामलों का संचालन, गृह मन्त्रालय में प्रशासकीय सतर्कता, सम्भाव्य और वित्त मन्त्रालय में विशेष पुनर्गठन इकाई की गणना की जाती है। पाल एच. एपलबी को भारतीय प्रशासन में स्टाफ और सूत्र के भेद को स्पष्ट रूप से समझने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा था। उन्होंने इस सन्दर्भ में कहा था—"यहाँ ऐसी कोई शब्दावली और ऐसा कोई ढाँचा नहीं है जो सूत्र तथा स्टाफ के बीच विभेद कर सके।" भारत में ये शब्द संगठन के ढाँचे में प्रयुक्त नहीं किए जा सकते। उन्होंने पुनः कहा—"प्रतिरक्षा, विदेशी मामलों और केन्द्रीय करों के संग्रह के अतिरिक्त लगभग सम्पूर्ण केन्द्र एक बड़ा स्टाफ-संगठन है। इस प्रकार कतिपय अपवादों को छोड़कर नई दिल्ली में कोई भी सूत्र कार्य नहीं है।-इसलिए कहा जा सकता है कि केन्द्रीय सरकार में कोई वास्तविक एवं पूर्ण प्रशासन नहीं है।"

स्टाफ का वर्गीकरण (Classifications of Staff)

फिफनर तथा प्रिस्थस के अनुसार स्टाफ अभिकरणों को तीन प्रमुख वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) सामान्य स्टाफ (The General Staff)—यह वह स्टाफ है जो सामान्यतया मुख्य कार्यपालिका के प्रशासकीय कठिनाइयों के निराकरण में उसकी सहायता करता है। यह प्रमुख अथवा अन्य उच्च स्तरीय कार्यकारी अधिकारियों की परामर्श-सूचना संग्रह, शोध तथा ऊपर की ओर भेजे जाने वाली सामग्री में से आवश्यक सामग्री की छँटनी द्वारा प्रशासकीय कार्य में सहायक सिद्ध होता है। इस स्टाफ का प्रबन्ध करने वाला व्यक्ति प्रायः ऐसा होता है जिसे पर्याप्त प्रशासकीय प्रशिक्षण और अनुभव प्राप्त होता है। सामान्य स्टाफ का काम प्राविधिक स्टाफ से भिन्न प्रकृति का होता है। प्राविधिक स्टाफ का काम केवल प्राविधिक मामलों में परामर्श देना है जबकि सामान्य स्टाफ के सदस्य किसी प्राविधिक क्षेत्र में विशेषज्ञ होने के बजाय प्रशासन की कला में दक्ष व्यक्ति होते हैं। सामान्य स्टाफ अपना अधिकांश समय उच्च नीति सम्बन्धी मामलों के नियोजन और पर्यावलोकन में लगाता है।

अधिक विकसित स्वरूप में सामान्य स्टाफ विभागीकृत एवं समन्वित स्टाफ सेवा का रूप ले लेता है, और अलग-अलग स्टाफ अधिकारियों के रूप में असमन्वित परामर्श अथवा सहायता मात्र नहीं रह जाता। यदि विभिन्न मामलों में प्रमुख कार्यकारी को परामर्श देने वाले अनेक पृथक्-पृथक् परामर्शदाता हों तो अध्यक्ष के जिम्मे एक यह काम और आ जाता है कि वह उनके पृथक्-पृथक् परामर्शों को सुबद्ध नीति अथवा निर्णय के रूप में समन्वित करे। बड़े संगठनों में यह कार्य बहुत बोझिल बन जाता है अतः अध्यक्ष को कठिनाई और समय के अपव्यय से बचाने के लिए विविध स्टाफ-सेवाओं को एक ऐसे विभाग के रूप में संगठित किया जा सकता है जो भिन्न-भिन्न स्टाफ इकाइयों से प्राप्त परामर्शों को सम्बद्ध और समन्वित करे तथा प्रमुख कार्यकारी के सामने इस बारे में स्पष्ट सिफारिश प्रस्तुत करे कि क्या निर्णय किया जाना चाहिए। किसी संगठन में सामान्य स्टाफ का यह विभागीकरण

आरम्भ में नहीं हो सकता। इसके लिए आवश्यक है कि स्टाफ-कार्य एक निश्चित विकसित अवस्था में पहुँच जाए। इसका सबसे अधिक विकसित स्वरूप हमें सेना में दिखायी पड़ता है। परन्तु यही धीरे-धीरे लोक प्रशासन में भी प्रकट हो रहा है।

भारत में मुख्य कार्यपालिका का सामान्य स्टाफ इस प्रकार है—(1) मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय, (2) प्रधानमन्त्री का सचिवालय, (3) मन्त्रिमण्डलीय समितियाँ, (4) योजना आयोग, (5) वित्त मन्त्रालय में बजट तथा आर्थिक मामलों का विभाग जो कि बजट सम्बन्धी कर्तव्यों के पालन में मुख्य कार्यपालिका को सहायता देता है, एवं (6) गृह मन्त्रालय में प्रशासकीय सतर्कता सम्भाग।

सामान्य स्टाफ अपना कार्य सन्तोषजनक रूप में और कुशलता के साथ सम्पन्न कर सके इसके लिए यह आवश्यक है कि उनमें निम्नलिखित गुण हों—

1. सामान्य स्टाफ कर्मचारियों को प्रत्येक प्रशासनिक पहलू के बारे में यथेष्ठ जानकारी होनी चाहिए, साथ ही उन्हें 'सामान्य प्रक्रिया का जानकार' भी होना चाहिए।

2. जटिल प्रशासनिक विषयों में उन्हें विस्तृत ज्ञान होना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे उन मामलों के विशेषज्ञ हों। इसका अर्थ केवल यही है कि उन्हें जटिल मामलों का सामान्य से अधिक ज्ञान हो।

3. सामान्य स्टाफ में सहयोगी भावना और विचार-विनिमय की क्षमता होनी चाहिए, क्योंकि उसे लाइन-अधिकारियों के साथ सहयोग से काम करना होता है।

4. सामान्य स्टाफ में धैर्य और अध्यवसाय जैसे गुण होने चाहिए क्योंकि उनका मूलभूत कार्य मुख्य कार्यपालिका तथा उच्चस्तरीय अधिकारियों के लिए 'छलनी व कीप' (Filter and Funnel) बनना है।

5. सामान्य स्टाफ के सदस्यों को प्रसिद्धि पाने अथवा प्रकाश में आने की आकाँक्षा से बचना चाहिए तथा इस बात से सन्तोष करना चाहिए कि वे अपने प्रधान के अधीन रहकर अपने कर्तव्यों का निर्वहन कर रहे हैं। उन्हें विनम्र, गम्भीर और समन्वयकारी होना चाहिए। झगड़ालू और सत्ता लोलुप व्यक्ति सामान्य स्टाफ के पद के लिए प्रायः अनुपयुक्त होते हैं।

(2) प्राविधिक स्टाफ (The Technical Staff)—मुख्य कार्यपालिका को प्रशासन में अनेक विशिष्ट और प्राविधिक मसलों से निपटना पड़ता है अतः इस कार्य में सहायता के लिए उसे कुछ प्राविधिक या तकनीकी स्टाफ अधिकारियों की भी व्यवस्था करनी होती है, जैसे इन्जीनियर, वित्तीय निदेशक आदि। तकनीकी क्षेत्र में इन विशेषज्ञों का परामर्श बड़ा मूल्यवान होता है। विशेषज्ञता प्राप्त स्टाफ में दो प्रमुख विशेषताएँ पाई जाती हैं— (क) संगठन के अन्य भागों पर इसे कोई सत्ता प्राप्त नहीं होती अर्थात् यह स्टाफ को परामर्श देता और सेवा करता है, किन्तु निर्देश नहीं देता। (ख) इसका उपयोग संगठन के सभी सूत्र और स्टाफ इकाइयों द्वारा किया जा सकता है। प्राविधिक अधिकारियों की व्यवस्था के फलस्वरूप क्षेत्रीय प्राविधिक कर्मचारियों पर दोहरे निरीक्षण की समस्या उत्पन्न हो जाती है यथा, अपने-अपने विषय के विशेषज्ञों द्वारा कार्यात्मक निरीक्षण (Functional Supervision) तथा उच्च प्रशासकीय अधिकारियों का प्रशासकीय निरीक्षण (Administrative Supervision)। इस दोहरे निरीक्षण के कारण ही आदेश की एकता अथवा ऐकिक निदेशन (Unity of Command) का सिद्धान्त भंग होने की समस्या उत्पन्न होती है।

(3) सहायक स्टाफ (The Auxiliery Staff)—इस स्टाफ में वे अधिकारी अथवा इकाइयाँ निहित होती हैं जिसके सदस्य विभिन्न प्रशासकीय सेवाओं की सामूहिक सेवा करते हैं। सहायक स्टाफ की सेवा प्रधान सेवा न होकर गौण सेवा होती है अर्थात् इसे विभाग के प्रमुख कार्य का प्रत्यक्ष अंग नहीं माना जाता। जब रेलवे विभाग यात्रियों के आवागमन आदि के लिए रेलगाड़ियाँ चलाता है तो यह उसकी प्रधान क्रिया है, लेकिन रेलगाड़ियाँ चलाने के लिए कर्मचारियों की भर्ती करना, रेल की पटरियाँ बिछाने और रेलवे स्टेशनों का निर्माण करने के लिए आवश्यक सामग्री खरीदना आदि गौण क्रियाएँ हैं। इन क्रियाओं को सहायक सेवाओं अथवा गृह-प्रबन्ध सेवाओं (Auxiliery or House-keeping Staff) की संज्ञा दी जाती है। गौण सेवाएँ सदैव उन ध्येयों को प्राप्त करने के लिए सम्पन्न की जाती हैं जिनके लिए विभाग स्थापित किये जाते हैं। इन क्रियाओं को ध्येय की प्राप्ति का साधन कहा जा सकता है। किसी भी विभाग का प्रमुख कार्य चाहे कुछ भी हो, किन्तु वह कुछ-न-कुछ खरीददारी करती है, पत्रों एवं प्रतिवेदनों को छपाता है, कर्मचारियों की भर्ती

करता है, उनके सामने वित्त एवं लेखे आदि की समस्याएँ होती हैं। इस प्रकार की सेवाएँ सहायक सेवाएँ कहलाती हैं और इनमें सहायता करने वाले को सहायक स्टाफ कहते हैं। सहायक सेवाएँ सभी विभागों के लिए प्रायः समान होती हैं। इसीलिए बचत, कार्यकुशलता और सुविधा की दृष्टि से विभागों के लगभग समान कार्यों को सम्पन्न करने के लिए एक केन्द्रीय अभिकरण (Central Agency) की स्थापना कर दी जाती है। भारत सरकार का प्रेस (Govt. of India Press) सरकार के सभी विभागों के लिए समस्त मुद्रण-कार्य कर सकता है। इसी प्रकार एक केन्द्रीय क्रय-अभिकरण (Central Purchasing Agency) सभी विभागों के लिए क्रय-कार्य कर सकता है और एक केन्द्रीय सिविल सेवा आयोग (Central Civil Service Commission) सभी सरकारी विभागों के लिए कर्मचारियों की भर्ती कर सकता है।

कुछ विचारक सहायक सेवाओं को स्टाफ कहना पसन्द नहीं करते, क्योंकि ये स्टाफ इकाइयों की भाँति परामर्श एवं सहायता नहीं देते। इसके अतिरिक्त कभी-कभी इनको उन विभागों की माँगों पर नियन्त्रण एवं छानबीन की शक्ति दी जाती है जिसकी ये सहायता करने जा रही है, किन्तु सिद्धान्त रूप में स्टाफ इकाई को आज्ञा एवं नियन्त्रण कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह तो सूत्र-अभिकरणों का काम है। *सहायक इकाइयों के पास सहायता एवं परामर्श देने के साथ नियन्त्रण की शक्ति भी होती है, अतः इनको* सूत्र तथा स्टाफ दोनों अभिकरणों में उभयवर्ती माना जाना चाहिए। जो विचारक सहायक इकाइयों (Auxiliary Units) को एक अलग तीसरी इकाई मानते हैं उनमें साइमन तथा अन्य लेखकों का नाम उल्लेखनीय है। वे स्टाफ तथा सहायक इकाइयों के बीच स्पष्ट रूप से अन्तर करते हैं। उनके मतानुसार सहायक इकाइयाँ वे होती हैं जो सामान्य कार्यों को पूरा कर लाइन-संगठनों की सहायता करती हैं, जबकि स्टाफ इकाइयाँ *ऐसे कार्य सम्पन्न करके मुख्य कार्यपालिका की सहायता करती हैं जिन्हें वह लाइन-संगठनों* को हस्तान्तरित नहीं कर सकती।[1]

स्टाफ की प्रकृति और कार्य (Nature and Functions of Staff)

स्टाफ अधिकारी अथवा स्टाफ-अभिकरण सूत्र अधिकारियों अथवा अभिकरणों की भाँति हस्तान्तरित कार्यों का पालन नहीं करते। उनका कार्य यह होता है कि प्रमुख अथवा अन्य कार्यकारी अधिकारियों के सामने प्रस्तुत होने से पहले वे *समस्याओं के बारे में समस्त आवश्यक जानकारी का संग्रह, विश्लेषण तथा संक्षेपण करें, सम्भावित* समाधानों की ओर संकेत करें तथा यह परामर्श दें कि उनमें से किसे स्वीकार किया जाए। इस प्रकार कम से कम सैद्धान्तिक दृष्टि से तो स्टाफ को "कार्यकारी के व्यक्तित्व का विस्तार ही माना जाएगा। इसका अर्थ है यह अधिक आँख, अधिक कान तथा योजनाओं के निर्माण तथा उनके संचालन में उसकी सहायता करने वाले अधिक हाथ।" स्टाफ द्वारा दी जाने वाली सहायता अनाम होती है। स्टाफ सदा पृष्ठभूमि में रहता है। वह कार्यकारी के निर्णयों के *लिए भूमिका तैयार करता है, परन्तु निर्णय नहीं करता। निर्णय करने की समूची शक्ति कार्यकारी के हाथों में ही* रहती है।[2]

स्टाफ की प्रकृति और उसके कार्यों को लोक प्रशासन के विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। मूनी (Mooney) के मतानुसार स्टाफ मुख्य रूप से तीन प्रकार के कार्य करता है[3]—

(1) स्टाफ का सूचना सम्बन्धी कार्य यह है कि वह प्रमुख कार्यपालिका अथवा कार्यकारी के लिए उन समस्त सूचनाओं का संग्रह *करता है जिनके आधार पर वह निर्णय करेगा। संग्रहीत सूचना को व्यवस्थित और* संक्षिप्त रूप देकर उसे एक सुविधाजनक स्वरूप में प्रमुख कार्यपालिका के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

(2) स्टाफ का परामर्शकारी कार्य यह है कि वह प्रमुख कार्यकारी को सलाह देता है कि उसकी राय में क्या निर्णय किए जाने चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि प्रमुख कार्यकारी स्टाफ की सिफारिशों को सदा स्वीकार ही करे, तथापि स्टाफ का यह कार्य अवश्य है कि वह अपनी सिफारिशें सदैव उसके सामने रखे।

(3) स्टाफ का निरीक्षणात्मक कार्य यह है कि वह इस बात की ओर ध्यान दे *कि प्रमुख कार्यकारी ने जो* निर्णय लिए है, वे उपयुक्त सूत्र-अभिकरणों तक पहुँचा दिए गए हैं और उन्हें ठीक ढंग से क्रियान्वित किया जा रहा

1 *Simon, Smithburg and Thompson* : Op. cit., p. 281.
2. *एम. पी. शर्मा* : वही पृ. 55
3 *Mooney*, Principles of Organisation, p. 33.

है। यह भी हो सकता है कि सूत्र-अभिकरणों और विभागों के सामने समय-समय पर नीतियों को स्पष्ट करना पड़े तथा क्रियान्वयन के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को दूर करना पड़े।

पिफनर तथा प्रिस्थस (Pfiffner and Presthus) ने स्टाफ कार्य की सूची इस प्रकार प्रस्तुत की है[1]—

(1) परामर्श देना (अध्यक्ष एवं सूत्र-विभाग दोनों को), सिखाना, चर्चा करना।

(2) समन्वय करना, केवल योजनाओं के द्वारा नहीं, वरन् व्यक्ति-सम्पर्क के द्वारा भी। साथ ही कठिनाई-निवारण तथा प्रत्येक स्तर पर निर्णयों के पक्ष में विरोधियों की सहमति का प्रयत्न करना।

(3) तथ्य संग्रह तथा शोध कार्य।

(4) नियोजन करना।

(5) दूसरे संगठनों तथा व्यक्तियों के बारे में जानकारी रखने के लिए उसके साथ सम्पर्क स्थापित करना।

(6) बिना उसकी सत्ता को छीने हुए सूत्र के साथ काम करके उसकी सहायता करना।

(7) कभी-कभी सूत्र अधिकारी की ओर से कुछ स्पष्ट और निश्चित सीमाओं के भीतर विशेष रूप से दी गई सत्ता का प्रयोग करना।

एल. डी. ह्वाइट ने सामान्य स्टाफ के उद्देश्यों के रूप में निम्नलिखित कार्य निर्धारित किए हैं[2]—

(1) यह निश्चित करना कि मुख्य कार्यपालिका को समुचित तथा तात्कालिक सूचनाएँ प्राप्त होती रहें।

(2) समस्याओं का पूर्वानुमान करने तथा भावी कार्यक्रमों की योजना बनाने में उसकी सहायता करना।

(3) यह व्यवस्था करना कि मुख्य कार्यपालिका के समक्ष मामले तुरन्त अर्थात् अविलम्ब पहुँचते रहें जिससे कि वह उन पर विवेकपूर्ण निर्णय ले सके तथा शीघ्रतापूर्ण एवं बिना सोचे समझे निर्णय लेने से उसे बचाना।

(4) ऐसे प्रत्येक मामले को छाँटना जिसका निपटारा शासन के अन्य अधिकारियों द्वारा किया जाना है।

(5) उसके समय की बचत करना।

(6) निर्धारित नीति तथा कार्यपालक निर्देशों के अनुरूप अधीनस्थों द्वारा कार्य सम्पादन के लिए साधन जुटाना।

स्टाफ अभिकरण की सामान्य प्रकृति का प्रशासकीय प्रबन्ध विषयक राष्ट्रपति की समिति ने अपने प्रतिवेदन (1937) में भली-भाँति विश्लेषण किया था जो आज भी सही है। प्रतिवेदन में कहा गया है कि—"इन सहायक अधिकारियों को स्वयं निर्णय करने या आदेश देने का कोई अधिकार नहीं रहेगा। वे राष्ट्रपति तथा उनके विभागाध्यक्षों के बीच का स्थान प्राप्त नहीं कर सकते। वे किसी भी अर्थ में सहायक राष्ट्रपति (Assistant Presidents) नहीं हो सकते। जब शासन के किसी भाग से सम्बन्धित कोई मामला निर्णय के लिए राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाए तो उस समय उनका यह कार्य होगा कि वे किसी भी कार्यपालिका विभाग में उपलब्ध सम्बन्धित सूचना अविलम्ब प्राप्त करने में उसकी सहायता करें जिससे उत्तरदायित्वपूर्ण निर्णय लेने में राष्ट्रपति का मार्ग-दर्शन हो सके और जब निर्णय ले लिया जाए तो प्रभावित होने वाले प्रशासकीय विभागों तथा अभिकरणों को तुरन्त सूचित करना भी उनका ही कार्य है। हमारा यह विचार है कि राष्ट्रपति को सहायता करने में उनका प्रभाव अपने कार्यों को पूरा करने की उनकी योग्यता के अनुपात में ही होगा। वे सदैव पृष्ठभूमि में रहते हैं। वे न तो आदेश देते हैं, न निर्णय लेते हैं और न ही सार्वजनिक वक्तव्य देते हैं। वे ऐसे व्यक्ति होने चाहिए जिनमें राष्ट्रपति का व्यक्तिगत विश्वास हो और जिनका चरित्र व दृष्टिकोण ऐसा हो कि वे स्वयं अधिकार का प्रयोग करने के लिए प्रयत्नशील न हों। उनमें उच्च क्षमता, अधिक शारीरिक शक्ति तथा स्वयं के नाम को गुप्त रखने का उत्साह होना चाहिए।"[3]

स्टाफ का उद्देश्य कार्यपालिका को पूर्णता प्रदान करना है। वास्तव में संगठन की समस्त वैचारिक प्रक्रिया स्टाफ का ही कार्य है। फिफनर तथा शेरवुड ने इसी दृष्टि से विश्लेषण करते हुए स्टाफ के तीन प्रमुख तत्त्व

1. *Pfiffner and Presthus* : Public Administration, p. 86.
2. *L. D. White* : Op. cit., p. 48.
3. *White* : Op. cit., p. 51.

बतलाए हैं. ये हैं—(1) तथ्य निरूपण (Fact finding), (2) नियोजन (Planning), एवं (3) संगठित करना (Organising)। तथ्य निरूपण से तात्पर्य है वस्तुस्थिति का समुचित ज्ञान संचित करना, सांख्यिकीय दृष्टि से तथ्य सहित टिप्पणी द्वारा समस्त तथ्यों को इस प्रकार एकत्रित करना कि इसका अधिकतम उपयोग किया जा सके। प्रशासन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण आँकड़ों को सुनिश्चित करना क्योंकि इन आँकड़ों के द्वारा ही भावी कार्यों के लिए प्रशासन को नियोजित किया जा सकता है। स्टाफ के कार्यों में नियोजन का तत्त्व महत्वपूर्ण है क्योंकि नियोजन द्वारा ही उद्देश्य पूर्ति के लिए किसी भी संगठन के कार्यों की कार्य-शृंखला बनाई जा सकती है। नियोजन एक तरफ कार्य-विशिष्टीकरण का द्योतक है और दूसरी तरफ समस्त संगठन की कार्यवाही को सूत्रबद्ध कर संगठन के प्रयोग में एकता लाने का कार्य करता है। एक बौद्धिक प्रक्रिया के रूप में स्टाफ लक्ष्य प्राप्ति हेतु प्रशासकीय संगठन के लिए भावी कार्यों का खाका प्रस्तुत करता है। नियोजन अनायास ही कार्यों को संगठित करने का भी अधिकार प्रदान कर देता है। वस्तुतः प्रशासन की समस्त कार्यवाही जब नियोजन के प्रति उन्मुख रहेगी तब यह स्वाभाविक है कि नियोजन की दृष्टि से संगठन में आवश्यक परिवर्तन किए जाएँ। प्रशासकीय संगठन में किस प्रकार के आवश्यक परिवर्तन लाए जा सकें जिसके द्वारा प्रशासकीय नियोजन और प्रशासकीय संगठन एक-दूसरे के अनुरूप हो सकें, प्रश्न भी नियोजन के साथ ही सम्मिलित है, अतः प्रत्यक्ष रूप से प्रशासकीय संगठन को परिवर्तन या संशोधन करने का अधिकार न होते हुए भी यह अधिकार स्वतः आ जाता है। तथ्य निरूपण नियोजन तथा संगठित करने के तीनों तत्वों को भारतीय योजना आयोग के सन्दर्भ में रखकर कहा जा सकता है कि देश की आर्थिक स्थिति को जहाँ एक तरफ योजना आयोग के पास आँकड़ों में इतिहास मौजूद है वहीं दूसरी तरफ विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में उन्हीं आँकड़ों को दृष्टि में रखकर प्रशासकीय संगठन के लिए आर्थिक लक्ष्य प्राप्ति के विभिन्न चरण स्थापित किए जाते हैं और इनके अनुरूप प्रशासकीय संगठन में भी यत्र-तत्र आवश्यक परिवर्तन किए जाते हैं—नई सेवाओं को संगठित किया जाता है, पुरानी सेवाओं में महत्वपूर्ण आवश्यक परिवर्तन किए जाते हैं, परन्तु ये सभी कार्य एक-दूसरे से असम्बद्ध रहकर नहीं किए जा सकते हैं।

स्टाफ का संगठन में स्थान : इसका प्रभाव
(The Place of Staff in Organisation : Its Influence)

स्टाफ-अभिकरण सूत्र-अभिकरण के साथ अथवा स्वतन्त्र रहकर कार्य नहीं करते वरन् उनके अनुगामी के रूप में कार्य करते हैं। स्टाफ इकाइयाँ सूत्र इकाइयों के पदसोपान के विभिन्न स्तरों पर सम्बद्ध रहती हैं। इस प्रकार स्टाफ अधिकारी लाइन-अधिकारियों के अधीन रहकर कार्य करते हैं। स्टाफ अभिकरण या अधिकारियों से परामर्श किया जाए या नहीं और प्राप्त परामर्श को माना जाए या नहीं, यह बात सूत्र-अभिकरण की इच्छा पर निर्भर करती है। सूत्र और स्टाफ के सम्बन्धों का स्वरूप व्यवहार में तीन प्रकार का हो सकता है—

(1) यह सम्भव है कि सूत्र-अभिकरण स्टाफ पर इतना अधिक निर्भर हो जाए कि केवल एक कठपुतली बनकर ही रह जाए और शक्ति वास्तव में स्टाफ के ही हाथों में आ जाए।

(2) सूत्र-अधिकारी यदि स्वाभिमानी है तथा उसे अपनी योग्यता एवं कुशलता पर विश्वास है तो शायद वह स्टाफ से परामर्श ही न ले और ले भी तो उसे न माने।

(3) तीसरी स्थिति इन दोनों के बीच की हो सकती है। इन स्थितियों में ही स्टाफ का पूरा उपयोग हो पाता है।

व्यवहार में स्टाफ-अभिकरण की उपेक्षा करना कठिन है। स्टाफ के प्रभावों का उल्लेख करते हुए अर्नेस्ट डेल ने पाँच तरीके सुझाए हैं जिनके द्वारा स्टाफ प्रभावित करता है—

1. अपनी श्रेष्ठ अभिव्यक्ति द्वारा स्टाफ के सदस्य अपने विचारों को दूसरों से मनवाने में सूत्र की अपेक्षा अधिक सफल होते हैं। सूत्र में अभिव्यक्ति की इस श्रेष्ठता का अभाव रहता है।

2. तकनीकी क्षमता के कारण सूत्र की अपेक्षा उनके विचारों को अधिक मान्यता प्राप्त होगी। अपनी तकनीकी क्षमता के ही कारण वे विशिष्ट स्थिति में रहते हैं और यह विशिष्टता ही उनका गुण है, इसलिए यही उनके विचारों में अधिक गम्भीरता भी लाती है। उनकी अपेक्षा सूत्र में इस प्रकार की विशिष्टता अथवा तकनीकी क्षमता नहीं रहती है।

3. पद की गरिमा के द्वारा भी वे आदेश देने की स्थिति प्राप्त करते हैं। प्रायः स्टाफ के लोगों का वेतन, पद सम्मान आदि में बहुत विशिष्ट स्थान होता है, इसलिए भी उनके विचार मात्र-विचार की कोटि में

ही नहीं रखे जा सकते, वे अपने आप ही आदेश का प्रभाव ग्रहण कर लेते हैं। पद की गरिमा तथा तकनीकी क्षमता के कारण भी प्रबन्धकीय श्रृंखला तथा उसके बाहर भी वे महत्वपूर्ण वर्ग में स्वभावतः ही अपना स्थान बना लेते हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनके विचार अधिक परिनिष्ठ रहते हैं तथा लाइन उन्हें मानने में अधिक सम्मानित अनुभव करती है।

4. यदि सूत्र अभिकरण उनके प्रस्ताव से असहमत होता है तो स्टाफ उसकी कार्यकारिणी के श्रेष्ठ अधिकारी से अपील कर सकता है और इस प्रकार उस श्रृंखला के सबसे ऊपर के अधिकारी द्वारा वह सूत्र की कार्यकारिणी को स्टाफ की राय मानने के लिए बाध्य कर सकता है।

5. ऐसे महत्वपूर्ण मसलों में, जिनमें सूत्र द्वारा कोई भी कार्यवाही न की गई हो, सूत्र की निष्क्रियता के कारण ही स्टाफ आदेश देने की स्थिति में स्वतः आ जाता है।

सूत्र अभिकरण
(Line Agency)

लोक प्रशासन के प्रारम्भिक लेखकों में अग्रणी विलोबी का मत था कि प्रशासकीय कार्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(i) प्राथमिक या कार्यात्मक, (ii) संस्थागत या गृहपालक क्रियाएँ। प्राथमिक क्रियाएँ वे हैं जो उस प्रमुख लक्ष्य की प्राप्ति के लिए की जाती हैं जिसे प्राप्त करना उस संगठन का लक्ष्य है। गृहपालन या संस्थागत क्रियाएँ इसीलिए की जाती हैं ताकि वे एक सेवा के रूप में बनी रह कर कार्य करती रहें।[1] विलोबी ने जिन क्रियाओं को प्राथमिक या कार्यात्मक बताया है वे क्रियाएँ सूत्र अभिकरणों द्वारा सम्पन्न की जाती हैं। सूत्र अभिकरणों का सम्बन्ध नीति-निर्माण से होता है। इनके हाथ में शक्ति होती है जिसके आधार पर ये निर्णय ले सकते हैं और आज्ञाएँ दे सकते हैं। सूत्र अभिकरण सरकार के प्रशासनिक उद्देश्यों को पूर्ण करते हुए जनता से सीधा व्यवहार करते हैं। जैसे—जनता को सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं, उसके आचरण का नियमन करते हैं, व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित कार्यक्रम को पूरा करते हैं, कर वसूल करते हैं तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य करते हैं। साधारण नागरिकों का सूत्र अभिकरणों से ही सम्पर्क होता है। ये अभिकरण ही वस्तुतः प्रशासन का केन्द्रीय तत्व होते हैं। किसी भी देश का सरकारी प्रशासन अनेक बड़ी इकाइयों में विभक्त होता है जिन्हें विभाग (Departments) कहते हैं और ये विभाग 'सूत्र' या 'सूत्र' विभाग के नाम से जाने जाते हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध उन मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति से होता है जिसके लिए सरकार अस्तित्व में है। स्वास्थ्य, प्रतिरक्षा, शिक्षा, श्रम, रेल, पथ परिवहन, संचार, सामुदायिक विकास, वाणिज्य, उद्योग आदि भारत सरकार के प्रधान सूत्र-विभाग हैं। विभागों (Departments) के अतिरिक्त नियामक आयोग (Regulatory Commissions) और लोक-निगम (Public Corporations) भी प्रधान सूत्र-अभिकरण हैं।

साइमन ने लिखा है कि सूत्र क्रियाएँ स्टाफ क्रियाएँ (जिन्हें वे Overhead क्रियाएँ कहते हैं) से अधिक महत्वपूर्ण समझी जाती हैं। एक संगठन के सदस्य तथा ग्राहक दोनों ही अनुभव करते हैं कि किसी कार्यक्रम की सफलता अथवा असफलता के लिए सूत्र-संगठन ही उत्तरदायी है, भले ही कार्यक्रम को पूरा करने के लिए आवश्यक निर्णय लेने के बहुत से महत्वपूर्ण क्षेत्र-स्टाफ-इकाइयों द्वारा केन्द्रीकृत हों।[2] कुछ विचारकों का कहना है कि सूत्र तथा स्टाफ इकाइयों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता तथा छोटे संगठनों में इनके कार्य अलग-अलग नहीं किए जा सकते। वहाँ इन दोनों कार्यों को करने के लिए अलग-अलग इकाइयाँ नहीं होतीं। प्रायः एक ही अधिकारी दोनों ही प्रकार के कार्य करता है। इस प्रकार सूत्र तथा स्टाफ के अन्तर पूर्ण नहीं होते वरन् सापेक्ष होते हैं। एक अभिकरण अपने अधीनस्थ कार्यालयों के सम्बन्ध में वह स्टाफ इकाइयों के रूप में कार्य करता है।

स्टाफ तथा सूत्र के सम्बन्धों में विरोध एवं गतिरोध
(Conflicts and Deadlocks between Staff & Line)

स्टाफ तथा सूत्र इकाइयाँ किसी भी संगठन के दो महत्वपूर्ण बाजू हैं जो एक ही साथ उसकी क्रमशः ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का कार्य करते हैं। उस संगठन की सफलता, कार्यदक्षता एवं कुशलता बहुत कुछ

1. Willoughby : Principles of Public Administration, p. 95.
2. *Simon and Others* : Op. cit., p. 282.

इन दोनों इकाइयों के सुचारू संचालन पर निर्भर करती है। दोनों के कार्य परस्पर इतने सम्बन्धित तथा आश्रित हैं कि एक की निष्क्रियता का दूसरे पर निश्चित प्रभाव पड़ता है। इतना होने पर भी प्रायः यह देखा जाता है कि इन दोनों अभिकरणों के कर्मचारियों के बीच उतना सहयोग तथा सद्भाव नहीं पाया जाता जितना पाया जाना चाहिए। मेलविले डाल्टन (Melvile Dalton) ने औद्योगिक संस्थाओं के स्टाफ एवं सूत्र इकाइयों के सम्बन्धों का अध्ययन कर कुछ निष्कर्ष निकाले हैं[1] जो बहुत कुछ सभी संगठनों के स्टाफ एवं सूत्र इकाइयों के सम्बन्धों पर लागू होते हैं।

उद्योग में स्टाफ संगठन का कार्य शोध करना तथा परामर्श देना होता है और सूत्र संगठन का उत्पादन की प्रक्रिया पर पूरा अधिकार होता है। औद्योगिक स्टाफ संगठन अपेक्षाकृत नए हैं। उनके अस्तित्व के लिए अनेक कारण उत्तरदायी हैं, जैसे—आर्थिक प्रतियोगिता, वैज्ञानिक विकास, औद्योगिक विस्तार, मजदूर आन्दोलन का विकास आदि। इन सभी दावों के कारण उद्योगों में 'विशेषज्ञों' का महत्व बढ़ता जा रहा है *जिससे अधिक उत्पादन एवं कार्यकुशलता के लक्ष्य प्राप्त करने के लिए परामर्श प्राप्त हो सके।* विशेषज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं; जैसे—रसायन-शास्त्री, जन एवं औद्योगिक सम्पर्क अधिकारी, इंजीनियर, लेखापाल आदि। उद्योग में इन लोगों को स्टाफ का व्यक्ति माना जाता है। उनका कार्य अपने क्षेत्र विशेष में ज्ञान का उपयोग और विकास करना है तथा उन अधिकारियों को सलाह देना है जो सूत्र-सगठन के सदस्य हैं और उत्पादन पर नियन्त्रण रखते हैं।

एक विशेष स्टाफ संगठन में अपने अधीनस्थ अधिकारियों पर एक स्टाफ अधिकारी की सत्ता हो सकती है, किन्तु उसकी यह सत्ता उत्पादन-कर्मचारी वर्ग पर नहीं होती। स्टाफ के अधिकारियों से यह आशा की जाती है कि वे बिना औपचारिक सत्ता के ही अपना कार्य करेंगे। इसके अतिरिक्त यह भी मानकर चला जाता है कि विशेषज्ञों द्वारा उत्पादन तथा कर्मचारियों पर नियन्त्रण की तकनीकों एवं प्रक्रियाओं में सुधार के लिए जो सुझाव दिए जाएँगे उनको लागू किया जाएगा, ये आशाएँ एवं मान्यताएँ व्यवहार में पूरी नहीं होतीं। व्यवहार में औद्योगिक स्टाफ तथा सूत्र संगठनों के बीच प्राय संघर्ष पाया जाता है और संगठनों के सदस्य अलग-अलग मात्राओं में एक दूसरे का विरोध करते हैं। यदि प्रबन्ध के सदस्यों के आपसी सम्बन्धों पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार किया जाए तो इनके बीच संघर्ष निम्नांकित कारणों से हो सकता है—

(1) यदि संगठन में शक्ति के लिए संघर्ष छिड़ जाए।

(2) यदि अनेक सदस्य पदसोपान में अपने स्तर को बढ़ाने का प्रयत्न करें।

(3) यदि यूनियन तथा प्रबन्ध के बीच संघर्ष छिड़ जाए।

(4) यदि स्टाफ तथा सूत्र के बीच मनमुटाव पैदा हो जाए।

प्रबन्ध के प्राय सभी सदस्य संघर्षपूर्ण व्यवस्था में उलझे रहते हैं विशेषकर मध्य एवं निम्न स्तरों पर काम करने वाले व्यक्ति। स्टाफ तथा सूत्र के बीच संघर्ष के लिए तीन मूल कारण हैं—प्रथम, *स्टाफ अधिकारियों के* बीच स्पष्ट, महत्वाकांक्षापूर्ण तथा व्यक्तिवादी व्यवहार। दूसरे, स्टाफ अपने अस्तित्व को न्यायोचित ठहराने के लिए तथा अपने योगदान के लिए स्वीकृति प्राप्त करने के लिए जो कार्य करता रहता है उससे अनेक उलझनें पैदा होती हैं। तीसरे, उच्चतर स्टाफ अधिकारियों का कार्यकाल सूत्र-अधिकारियों की स्वीकृति पर निर्भर करता है। ये तीनों ही शर्तें अपने-अपने प्रकार से प्रभाव डालती रहती हैं।

डाल्टन ने जिन उद्योगों का अध्ययन किया था उनके कर्मचारी महत्वाकांक्षी, अशान्त और व्यक्तिवादी थे। अधिकतर वे लोग शीघ्र ही पदोन्नति प्राप्त करने के इच्छुक थे तथा चाहते थे कि उन्हें व्यक्तिगत रूप से मान्यता मिले। इनमें समूह की चेतना के भाव इतने प्रयत्नशील थे कि कई बार अन्तर्कलह भी पैदा हो जाते थे।

दोनों में मनमुटाव के कारण (Reasions of Antagonism)

स्टाफ तथा सूत्र संगठनों के बीच अनेक कारणों से असन्तोष, अशान्ति, संघर्ष एवं मनमुटाव पैदा हो जाते हैं। स्टाफ के कर्मचारियों की प्रगति का पथ लम्बा होने के कारण उनमें निश्चयत. निराशा तथा असन्तोष की

1 *Melvile Dalton*. Conflicts between Staff and Line Managerial Officers, American Sociological Ruview 15, p 342 351 (June, 1950)

भावनाएँ पैदा हो जाती हैं। वे समझते थे कि वे उस स्तर तक नहीं पहुँच सकते जिस पर वे पहुँचना चाहते हैं। अन्य तत्त्व ही संघर्ष की वृद्धि में सहायक होते हैं। इनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—

1. उम्र में अन्तर (Difference of Age)—स्टाफ अधिकारी सूत्र अधिकारियों की तुलना में प्रायः कम उम्र के होते हैं, अतः उनमें अशान्ति की मात्रा अधिक होने के कारण स्थिरता नहीं रह पाती। यदि उनकी महत्त्वाकांक्षा बहुत बढ़ी-चढ़ी होती हैं तो वे भौतिक, व्यावसायिक स्तर तथा सुरक्षा की दृष्टि से सुस्थापित नहीं हो पाते। यदि वे चाहें तो अन्य कहीं भी अपना व्यवसाय प्रारम्भ कर सकते हैं। इसके लिए उनके पास शक्ति और पर्याप्त शेष आयु होती है। इसी कारण स्टाफ के सदस्य अधिक स्थायी एवं चलते-फिरते होते हैं।

उम्र के अन्तरों के कारण स्टाफ तथा लाइन के बीच संघर्ष में अधिक वृद्धि हो जाती है।[1] स्टाफ का अधिकारी सूत्र अधिकारी से अपने कार्य को स्वीकृत कराना चाहता है, किन्तु उसे इस कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती, क्योंकि यहाँ उम्र का विरोध पैदा हो जाता है। अधिक उम्र वाले लाइन अधिकारी यह पसन्द नहीं करते कि उनसे कम उम्र वाले स्टाफ अधिकारी उनको निर्देश दें और उसे वे स्वीकार करें। दूसरी ओर स्टाफ के कर्मचारी सूत्र अधिकारियों के इस दृष्टिकोण से परिचित रहते हैं। स्टाफ तथा सूत्र अधिकारियों की मीटिंग में जब कम अनुभवी स्टाफ अधिकारियों द्वारा कोई विचार किया जाता है, तो सूत्र अधिकारियों द्वारा उसकी स्पष्ट रूप से उपेक्षा की जाती है। इस प्रकार के व्यवहार की चाहे निन्दा की जाए अथवा नहीं, किन्तु इससे युवक एवं कम अनुभव वाले स्टाफ अधिकारियों के दिल को ठेस अवश्य पहुँचती है। उद्योग में आते समय इन अधिकारियों को यह आशा रहती है कि वे अपने ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर संगठन को अपनी बहुत कुछ देन दे सकेंगे। वे इस बात को सोचते भी नहीं कि उनके विचारों को यहाँ सुना तक नहीं जाएगा। इस सबका कारण यह है कि ये अधिकारी केवल पढ़े हुए होते हैं, गुने हुए नहीं।

प्राय वे व्यावहारिक जीवन की वास्तविकताओं की ओर से आँखें मूँद कर निश्चय करते हैं कि संगठन के प्रबन्धात्मक पदसोपान के सदस्यों के साथ युक्तियुक्त एव सुव्यवस्थित सम्बन्ध स्थापित करेंगे तथा अपने प्रशिक्षण के अनुसार नियमानुकूल व्यवहार करेंगे। किन्तु उद्योग में प्रवेश पाने के बाद उन्हें ज्ञात हो जाता है कि उनके कार्य की स्वतन्त्रता अनेक अनौपचारिक दावों में दबकर रह जाती है। उन्होंने जो कुछ विद्वता प्राप्त की है वह अधिक महत्त्व नहीं रखती और वे उसके बिना भी अपने कार्यों को पूर्ण कर सकते थे। संगठन में यदि वे उन्नति करना चाहते हैं तो वे यह खोज करें कि अनौपचारिक रूप से कौनसा सूत्र आफीसर अधिक शक्तिशाली है, वह किन विचारों का स्वागत करता है, साथ ही उसके उच्च अधिकारी को वे विचार कैसे लगते हैं।

इन सबकी प्रतिक्रियास्वरूप स्टाफ अधिकारी या तो दूसरी जगह कार्य ढूँढने लगते हैं अथवा स्वयं को समायोजित कर या उद्योग में कोई सुरक्षित स्थान ढूँढ कर अपने रहने की सम्भावनाएँ बढ़ाते हैं। यदि वे उद्योग में रहने का निश्चय करें तो ऐसी स्थिति में वे किसी रचनात्मक कार्य में अपने आपको लगाने की अपेक्षा विस्तृत सामाजिक सम्बन्धों का विकास करेंगे जो उनकी व्यक्तिगत प्रगति में सहायक हो सकें।

2. स्तरों का पदसोपान (*Hierarchy of Statuses*)—संगठन में स्तरों का पदसोपान अथवा उसके औपचारिक ढाँचे के कारण स्टाफ के महत्त्वकाँक्षी अधिकारियों को निराशा हाथ लगती है। स्टाफ संगठनों में शक्ति के स्तर तीन या चार ही होते हैं जबकि सूत्र सगठनों में इनकी संख्या पाँच से दस तक होती है। इसका परिणाम यह होता है कि स्टाफ कर्मचारियों के उन्नति के अवसर बहुत कम हो जाते हैं। वे ऊपर नहीं चढ़ सकते। एक महत्त्वाकाँक्षी स्टाफ-अधिकारी ऐसी स्थिति में अपनी सत्ता के क्षेत्र को तभी बढ़ा सकता है, जब वह अपने अधीनस्थ सेवीवर्ग की संख्या में वृद्धि करले। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि स्टाफ के कर्मचारियों की संख्या बढ़ जाती है। सूत्र की अपेक्षा उनकी संख्या बहुत अधिक हो जाती है। स्टाफ के कर्मचारियों में एक प्रवृत्ति विकसित होती है कि वे सूत्र सगठन में जाना चाहते हैं क्योंकि वहाँ सत्ता के स्थान अधिक हैं तथा सत्ता की मात्रा अधिक है, वहाँ सम्मान अधिक मिलता है और साथ ही आमदनी भी अधिक होती है।

3. विभिन्न सामाजिक स्तर-समूह (Different Social Status Groups)—सूत्र तथा स्टाफ कर्मचारी प्रायः विभिन्न सामाजिक स्तर-समूहों के होते हैं तथा दोनों के बीच विरोध की भावनाओं को उकसाने में ये भिन्नताएँ पर्याप्त महत्वपूर्ण होती हैं। उदाहरण के लिए, स्टाफ के सदस्यों का शिक्षा का स्तर सूत्र के सदस्यों की तुलना में

1. *E. A. Ross* : Principles of Sociology, pp. 238-48.

ऊँचा होता है। इस अन्तर के प्रति स्टाफ के सदस्यों के दिल में रहने वाली जागरुकता उनमें उच्चता की भावना उत्पन्न कर देती है, किन्तु सूत्र अधिकारी अपने अनुभव के आधार पर उच्चता की भावना से पीड़ित रहते हैं। स्टाफ के सदस्य अपनी वस्तु तथा अन्य साज-शृंगार का अधिक ध्यान रखते हैं जबकि सूत्र अधिकारी प्राय: इन विषयों की ओर ध्यान नहीं देते। उत्पादन के कार्यों में रत इन कर्मचारियों के कपड़े गंदे रहते हैं, धूल तथा तेल में बिगड़े कपड़ों के साथ लगे रहते हैं। स्टाफ अधिकारी लिखने तथा बातचीत में अच्छी अंग्रेजी का प्रयोग करते हैं, वे 'नाइट क्लब' एवं 'पार्टीज' आदि में जो भाग लेते हैं उसके कारण भी इन दोनों वर्गों की असमानताएँ बढ़ जाती हैं। स्टाफ के कर्मचारियों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा होता है तथा वे सूत्र संगठनों के अधिकारियों को कभी भी अपने बराबर का मान लेना पसन्द नहीं करते।

4. स्टाफ कर्मचारियों का विशेष व्यवहार (Particular Behaviour of Staff Employees)—अनेक सूत्र अधिकारियों के मतानुसार स्टाफ के अधिकारी प्रबन्ध का एक भाग बनकर कार्य नहीं करते तथा संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने में सूत्र अधिकारियों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना नहीं चाहते। प्राय: इस रूप में व्यवहार करते हैं जिससे वे अपने आपको उच्च प्रबन्ध का एजेंट सिद्ध कर सकें। सूत्र अधिकारी उत्पादन की अपनी शक्ति को अत्यन्त पवित्र मानता है और यह पसन्द नहीं करता कि इतने दिनों तक 'सूत्र' संगठन में कार्य करने के बाद उसे किसी ऐसे व्यक्ति के निर्देशन की आवश्यकता है जो नवागन्तुक तथा अनुभवहीन है। दूसरी ओर स्टाफ अधिकारी अपने कार्य को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानता है। इन कारणों से दोनों वर्गों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

स्टाफ अधिकारी अपने आपको उच्च प्रबन्ध का एजेण्ट मानने लगता है। वह इसे अपना एक कर्त्तव्य मानता है कि अपने विचारों एवं शोध द्वारा प्रबन्ध कार्य में कुछ योग दे। अपनी उच्च शिक्षा तथा उत्पादन के नवीन तरीकों से निकट सम्पर्क रहने के कारण वह स्वयं को प्रबन्ध का परामर्शदाता एवं विशेषज्ञ मानता है। इस दृष्टिकोण के कारण सूत्र आफीसरों के साथ उनका विवाद छिड़ जाता है। कभी-कभी सूत्र संगठन के निम्न स्तर के अधिकारी स्टाफ संगठन के उन निम्न अधिकारियों के साथ मिल जाते हैं जो अपने संगठन के ही उच्च अधिकारियों की नीतियों से सन्तुष्ट नहीं होते।

5. पदोन्नति की समस्या (Problem of Promotion)—स्टाफ के कर्मचारी संगठन में प्रवेश तभी पाते हैं जब सूत्र संगठन के उच्च अधिकारी उन्हें स्वीकार कर लें—इस तथ्य का स्टाफ कर्मचारियों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। स्टाफ का प्रत्येक सदस्य यह जानता है कि यदि वह उच्च पद प्राप्त करना चाहता है तो उसे अपना रिकार्ड अच्छा बनाना होगा तथा सूत्र संगठन के उच्च अधिकारी के दिल पर योग्यता का प्रभाव डालना होगा। उनकी अनौपचारिक समस्याओं को बिना उनके कहे समझने की योग्यता प्रदर्शित करनी होगी। एक प्रभावशाली रिकार्ड बनाने के लिए उसे सूत्र की माँगों के साथ समझौता करना पड़ेगा, साथ ही अपने स्टाफ के सदस्यों की शिकायतें तथा उपालंभ सुनने होंगे कि उसने अपना स्वाभिमान खो दिया है। यदि वह सूत्र संगठन में चला गया तो स्टाफ के ये साथी उससे शत्रुवत् व्यवहार करेंगे। सूत्र अधिकारियों को खुश करने के लिए स्टाफ अधिकारी मुख्य रूप से तीन प्रकार के कदम उठा सकते हैं—प्रथम, स्टाफ के नियमों का पालन करके, द्वितीय, नई तकनीकें प्रारम्भ करके तथा तृतीय, स्टाफ के शोध एवं प्रयोगों पर धन व्यय करके।

स्टाफ तथा सूत्र के मध्य संघर्ष कम करने के उपाय
(Efforts to Minimise the Conflict between Staff & Line)

सूत्र तथा स्टाफ संगठनों के बीच की इस संघर्षपूर्ण स्थिति को कम करने के लिए कोई भी कदम उठाने से पूर्व इसका अस्तित्व स्वीकार करना जरूरी है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि प्रबन्ध यह अनुभव करे कि इस प्रकार का व्यवहार उत्पादन की कीमत एवं परेशानी को बढ़ा देता है, अत: सुधार के उपाय किए जाने चाहिए। दोनों संगठनों के सम्बन्धों को अच्छा तथा सहयोगपूर्ण बनाने के लिए कई सुझाव दिए जाते हैं। इनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—

(i) एक पृथक् निकाय बना दिया जाए जो स्टाफ तथा सूत्र की क्रियाओं के बीच समन्वय स्थापित करे।

(ii) स्टाफ संगठन में पदोन्नति एवं पुरस्कार के स्तरों को बढ़ा दिया जाए। साथ ही सेवीवर्ग की संख्या में भी वृद्धि की जाए।

(iii) स्टाफ सेवीवर्ग को जहाँ तक हो सके समान वेतन दिया जाए। उन्हें अधिक उत्तरदायित्व सौंपे जाएँ तथा सूत्र प्रक्रियाओं अथवा कर्मचारियों पर उनका अधिकार हो।
(iv) स्टाफ संगठन के कर्मचारियों को सूत्र संगठनों में नियुक्त करने से पूर्व उन्हें थोड़ा बहुत निरीक्षण का अनुभव करा दिया जाना चाहिए।
(v) संगठन के दोनों ही प्रकारों के दिलों में स्थित एक-दूसरे के प्रति शंका एवं विरोध के भावों को उच्च प्रबन्धक द्वारा मिटाया जाना चाहिए।
(vi) कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षा देते समय विद्यार्थी को व्यावहारिक जीवन की वास्तविकताओं का ज्ञान कराना चाहिए ताकि व्यवसाय में आने पर वे केवल कल्पनाओं के सहारे ही अपना व्यवहार निर्धारित न करें।

सूत्र-स्टाफ अभिकरणों की वास्तविकता
(Reality of the Line-Staff Agencies)

लोक प्रशासन के अनेक विचारकों ने विभिन्न अवसरों पर इस बात में सन्देह प्रकट किया है कि संगठन में वास्तव में सूत्र तथा स्टाफ जैसे दो संगठन होते हैं, जिनके कार्यों के बीच भिन्नता रहती है तथा एक सीमा-रेखा भी होती है। इन विचारकों के अनुसार नीति से सम्बन्धित प्रत्येक संगठन मंत्रणा सम्बन्धी कार्य अवश्य करता है, इसी प्रकार मंत्रणा देने वाले संगठनों की नीति के निर्माण में जो महत्वपूर्ण भूमिका है उसे भुलाया नहीं जा सकता। साथ ही ऐसा संगठन सत्ता-विहीन माना जा सकता है यद्यपि उसकी सत्ता का रूप अनौपचारिक होता है। इन तथ्यों के प्रकाश में यह तय करना बड़ा कठिन है कि दोनों प्रकार की इकाइयों के बीच क्या सम्बन्ध है। डिमॉक तथा अन्य विद्वानों का कहना है कि सूत्र तथा स्टाफ के बीच उचित समायोजन प्रबन्ध के कठिनतम क्षेत्रों में से एक है।[1] लोक प्रशासन के परम्परावादी विचारक इन दोनों अभिकरणों का कार्यक्रम अलग-अलग मानते हैं। ओलीवर शैल्डन का कहना है कि स्टाफ संगठन को 'विचार' के लिए सोच-विचार कर बनाया जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि सूत्र संगठन क्रियान्वयन के लिए होता है।[2]

दोनों अभेद हैं—बाद के लेखकों का यह मत है कि सूत्र तथा स्टाफ दोनों अभिकरणों के कार्यों तथा अधिकारों के बीच कोई विभाजन रेखा न खींची जा सकती है और न ही खींची जानी चाहिए। इन दोनों में कोई ऊँचा-नीचा नहीं होता वरन् दोनों ही समान स्तर पर कार्य करते हैं। दोनों संगठनों को एक-दूसरे के कार्यों में दखल रखना चाहिए। इस सम्बन्ध में लेपावस्की का कथन है कि एक स्टाफ का व्यक्ति यदि लाइन को आदेश नहीं देता तो वह प्रभावहीन है। इसी प्रकार लाइन का जो व्यक्ति स्टाफ के कार्यों को समझ तथा कर नहीं सकता वह असफल माना जाएगा।

नवीन विकास—आज प्रशासनिक एवं अन्य प्रकार के संगठनों में विशेषज्ञों का सम्मान बढ़ता जा रहा है। उनकी महत्ता एवं आवश्यकता भी बढ़ रही है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि स्टाफ के कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि करनी पड़ेगी और उन्हें कुछ ऐसे कार्य सौंप देने होंगे जिनको अभी तक सूत्र संगठन के कर्मचारी करते थे। लोक प्रशासन में जब से मानव सम्बन्धों के महत्त्व पर जोर दिया जाने लगा है तथा उसके प्रभाव को सही रूप से समझा जाने लगा है, तब से इन दोनों इकाइयों के भेद से सम्बन्धित परम्परावादी विचार हल्के नजर आने लगे हैं। साइमन तथा अन्य लेखकों ने संगठन में अनौपचारिक सम्बन्धों की सामान्य एवं प्रभावशील स्थिति बताने के साथ ही निर्णय लेने की प्रक्रिया जब अधिक स्पष्ट रूप से हमारे सामने रखी तो लोक प्रशासन का एक नया अध्ययन खुल गया। अब यह समझ में आ गया कि औपचारिक रूप से चाहे सत्ता किसी भी अभिकरण के, किसी अधिकारी को सौंप दी जाए, किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वास्तविक व्यवहार में भी उस सत्ता का प्रयोग वही व्यक्ति करेगा। अनौपचारिक सम्बन्धों के बल पर तथा नेतृत्व के व्यक्तिगत गुणों, संचार के सशक्त साधनों एवं अर्थेत्तर प्रेरणाओं के माध्यम से शक्ति का वास्तविक उपभोक्ता कोई अन्य व्यक्ति ही बन सकता है।

स्टाफ की शक्ति—यदि तथ्यों का व्यावहारिक रूप से अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होगा कि यह कहना सर्वथा भ्रामक है कि स्टाफ संगठनों के पास कोई शक्ति नहीं होती अथवा वे आज्ञा देने का अधिकार नहीं रखते। स्टाफ के कार्यकर्ताओं को चाहे आज्ञा देने का अधिकार अनौपचारिक रूप से न दिया गया हो,

1. *Dimock, Dimock and Koeing* : Public Administration, p. 150.
2. *Oliver Sheldon* : The Philosophy of Management, p. 120.

किन्तु वे सम्बन्धित उच्च सत्ता के नाम पर बोलते हैं तथा निम्न स्तर के अधिकारियों के लिए उनके सुझावों में आज्ञा तथा निर्देश की झलक रहती है। इसलिए यह मान्यता कि स्टाफ-इकाइयाँ आज्ञा नहीं देती तथा नियन्त्रण नहीं करती या उनके पास किसी प्रकार की सत्ता नहीं होती, कल्पना मात्र है। स्टाफ संगठन के बारे में मुख्य रूप से दो सामान्य धारणाएँ हैं—प्रथम यह केवल परामर्श देती है और आज्ञा तथा नियन्त्रण की शक्ति उनके पास नहीं होती, एवं द्वितीय मुख्य कार्यपालिका से इसकी निकटता इतनी होती है कि इसे उसके व्यक्तित्व का ही विस्तार मात्र कहा जाना चाहिए। कुछ विचारकों का मत है कि ये दोनों ही मान्यताएँ लोक प्रशासन की दो कपोल-कल्पनाएँ अथवा भ्रम (Myths or Fictions) हैं। इनका महत्त्व केवल इतना है कि इनके द्वारा सिद्धान्त एवं व्यवहार की चौड़ी खाई के बीच पुल बाँधने का कार्य किया जाता है।

एक बार जब सूत्र तथा स्टाफ इकाइयों की स्थापना की जाती है तो हम उनके कार्यों के बीच किसी प्रकार का स्पष्ट अन्तर नहीं कर सकते। सहायक इकाई तथा स्टाफ इकाई के मध्य स्थित अन्तरों का वर्णन करते हुए साइमन तथा अन्य ने कहा है कि अधिकांश मामलों में सहायक तथा स्टाफ इकाइयों के कार्यों के बीच कोई लाइन खींचना सम्भव नहीं होता है। दोनों के बीच अन्तर यथार्थ में यह है कि जब एक विशेष इकाई को स्थापित किया जाता है तो उसके पक्ष में भिन्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं, किन्तु जब ये इकाइयाँ एक बार स्थापित हो जाती हैं तो इनकी क्रियाओं की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं दिखाया जा सकता। सूत्र तथा स्टाफ इकाइयों के बीच प्रारम्भिक संगठनों में अन्तर हो सकता था, किन्तु आज यह अन्तर स्पष्ट नहीं है। साथ ही दोनों के बीच सम्बन्धों की स्थिति भी जटिल बन गई है। आजकल ऐसे संगठन दिखाई नहीं देते जो अपने आप में पूर्ण हों। ऐसी हालत में किसी लाइन इकाई को एक कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि यह उसे करने की पूरी शक्ति नहीं रखती। संगठन का रूप बदल जाने के बाद भी उसके पुराने कर्मचारियों एवं ग्राहकों की स्वामिभक्ति पहले की भाँति उसके साथ जुड़ी रहती है। वे उसे पुराने स्तर एवं प्रकार का ही मानते रहते हैं। उदाहरणार्थ, अमेरिकी की सामाजिक सुरक्षा एजेन्सी को सन् *1936 में जब F.S.A. को स्थानान्तरित कर दिया गया तो उसके निर्णय के अनेक क्षेत्र स्टाफ संगठन को* हस्तान्तरित कर दिए, फिर भी इसे आज तक सामाजिक सुरक्षा के कई कार्यक्रमों के लिए उत्तरदायी समझा जाता है।

सूत्र इकाइयों को महत्त्वपूर्ण मानने के सामान्य विचार के अतिरिक्त सहायक एवं स्टाफ इकाइयों के बारे में अनेक मनोरंजक विश्वास हैं। इन विश्वासों को मनोरंजक इसलिए कहा जाता है क्योंकि यद्यपि इन्हें सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है, किन्तु यदि इनका विश्लेषण किया जाए तो ये पूर्ण रूप से असत्य सिद्ध होते हैं। साइमन तथा अन्य विद्वानों ने सहायक तथा स्टाफ इकाइयों के इस कल्पनात्मक एवं भ्रमात्मक पहलु के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है।

———

संगठन का मानवीय सम्बन्ध सिद्धान्त

(The Human Relations Theory of Organisation)

संगठन में मानवीय व्यवहार का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान रहता है। मानव संस्था होने के नाते यह स्वाभाविक है कि संगठन का औपचारिक रूप एवं कार्य पद्धति मनोवैज्ञानिक एवं मानवीय व्यवहार से प्रभावित होती है। अतः संगठन में सामाजिक-मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Socio-Psychological Theory) अथवा मानवतावादी सिद्धान्त (Humanistic Theory) एक ही बात है। इसीलिए ये सिद्धान्त मानव-व्यवहार का अध्ययन करते हैं।

यान्त्रिक एवं औपचारिक दृष्टिकोण के समर्थक संगठनात्मक इकाइयों की संरचना तथा औपचारिक नियमों का अधिक महत्व मानते हैं और संगठन की सफलता के लिए इन्हीं की सन्तोषजनक स्थिति पर जोर देते हैं, किन्तु आधुनिक विचारक संगठन तथा मानवीय व्यवहार के पारस्परिक सम्बन्धों पर विशेष बल देते हैं। संगठन का औपचारिक रूप, जिसमें कार्य का विशेषीकरण होता है, आज्ञा का क्रम रहता है तथा निर्देशन की एकता एवं नियन्त्रण का निश्चित क्षेत्र होता है, मानवीय व्यवहार से प्रभावित होता है और उसे प्रभावित करता है। सन् 1920 के दशक के अन्तिम वर्षों एवं सन् 1930 के प्रारम्भिक वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका में हार्थोर्न प्रयोग हुए जिनके फलस्वरूप संगठन में स्थानीय या यान्त्रिक विचारधारा को धक्का लगा और उसकी लोकप्रियता कम हो गई। इन प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य कोई एकाकी प्राणी नहीं है। मनुष्य अपने ढंग से पर्यावरण के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। अतः पर्यावरण-पक्ष को उपेक्षित नहीं किया जाना चाहिए। हार्थोर्न अध्ययनों ने सिद्ध किया कि संगठन एक सामाजिक प्रणाली (A Social System) है। यह व्यावहारिक व्यक्तियों का समूह है। हार्थोर्न प्रयोगों से पता चलता है कि संगठन के कर्मचारियों ने अपने सामाजिक स्तर, व्यावहारिक आचरण, विश्वास एवं उद्देश्यों (जो एक दूसरे से भिन्न तथा परस्पर विरोधी हो सकते हैं) के आधार पर लघु सामाजिक समूहों के संगठन की प्रवृत्ति पाई जाती है। हार्थोर्न प्रयोगों के निष्कर्ष मौलिक थे जिनके परिणामस्वरूप संगठन संबंधी नवीन सामाजिक-मनोवैज्ञानिक अथवा मानव-सम्बन्ध दृष्टिकोण का उदय हुआ।

संगठन एवं प्रबन्ध के सामाजिक-मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रतिपादन का श्रेय आस्ट्रेलिया निवासी एल्टन मेयो तथा अमेरिका निवासी रोथलिक बर्जर को है। इन विद्वानों ने हार्थोर्न नामक स्थान पर वैस्टर्न इलेक्ट्रिक कंपनी के हार्थोर्न कारखाने में किए गए प्रयोगों को है। मानव व्यवहार पर उसके चरित्र, आदतों, भावनाओं, मूल्य, समाज-व्यवस्था, आदर्श, परम्परा एवं ऐसे ही अन्य तत्वों का जो प्रभाव पड़ता है, वह संगठन में भी उसकी क्रियाओं को एक नवीन मोड़ देने का कारण बन जाता है। मानवीय सम्बन्धों का संगठन की कार्यवाहियों पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा उसमें अनौपचारिकताओं का निर्वाह किस प्रकार आरम्भ हो जाता है, आदि बातें विचारणीय समस्याएँ हैं। व्यापारिक एवं प्रशासकीय संगठनों के विद्वानों ने अनेक प्रयोगों द्वारा इन समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने का प्रयास किया है। इन प्रयोगों के आधार पर उन्होंने कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। इन निष्कर्षों ने संगठन के स्वरूप एवं प्रक्रिया से संबंधित विचारों तथा धारणाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है।

मानवीय व्यवहार स्कूल को 'मानवीय सम्बन्ध', 'नेतृत्व', 'व्यावहारिक विज्ञान' के नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। मानवीय व्यवहार विचारधारा मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं समाजशास्त्रीय उपलब्धियों को प्रबन्ध के क्षेत्र में लागू करती है। मेयो तथा बर्जर के अनुसार, "भौतिक घरों की अपेक्षा सामाजिक घर अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।" मानवीय व्यवहारवादियों की मान्यता है कि यदि श्रमिक कार्य पर सन्तुष्ट हैं तो उत्पादन स्वतः ही अधिक होने लगेगा। व्यक्तिगत एवं सामूहिक व्यवहार का श्रमिकों एवं कर्मचारियों की कार्य प्रेरणा, उत्पादकता, सम्प्रेषण और नियन्त्रण पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

संगठन की शास्त्रीय विचारधारा (The Classical Theory of Organisation) औपचारिक संगठन *(Formal Organisation) का समर्थन करती है जबकि सामाजिक-मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Socio-Psychological Theory)* अथवा मानव-सम्बन्ध विचारधारा (The Human Relation Theory) अनौपचारिक संगठन (Informal Organisation) पर बल देती है। रोथलिस बर्जर ने लिखा है, "हम मानवीय समस्याओं का समाधान अधिकांशत गैर-मानवीय उपकरणों द्वारा गैर-मानवीय तथ्यों एवं आँकड़ों के सन्दर्भ में करते हैं। मेरा सामान्य मत है कि मानवीय समस्याओं का समाधान भी मानवीय होना चाहिए। सर्वप्रथम, हमें मानवीय समस्या को देखते ही समझ लेना चाहिए और तत्पश्चात् उसे उसी रूप में हल करना सीखना चाहिए न कि किसी अन्य तरीके से। *मानवीय* समस्या के मानवीय समाधान के लिए मानवीय तथ्यों और आँकड़ों तथा मानवीय उपकरणों की आवश्यकता होती है।"[1] सामाजिक-मनोवैज्ञानिक या मानव सम्बन्धी विचारधारा के सार को प्रकट करते हुए डॉ. अवस्थी एवं माहेश्वरी ने लिखा है, "इसके द्वारा मनुष्यों, मानवीय प्रेरणाओं और शास्त्रीय विचारधारा के अनुरूप सिद्धान्तों की अपेक्षा औपचारिक समूह कार्य पद्धति पर विशेष बल दिया जाता है। यह विचारधारा औपचारिक संस्थागत स्वरूप को अस्वीकार करती है और उसके स्थान पर संगठन के दिन-प्रतिदिन की औपचारिक कार्य-प्रणाली को महत्व देती है। इस विचारधारा की मान्यता है कि संगठनात्मक व्यवहार काफी जटिल होता है और उसमें कार्यरत व्यक्तियों पर विभिन्न दिशाओं से व्यापक प्रभाव पड़ता है। अत संगठनात्मक समस्याओं के विश्लेषण और समाधान के लिए मनुष्य की बहुपक्षीय प्रकृति का ज्ञान परमावश्यक है। इस विचारधारा को मानव सम्बन्ध विचारधारा, सामाजिक-आर्थिक विचारधारा या मानववादी विचारधारा की संज्ञा दी जाती है।" मानव सम्बन्धी विचारधारा पर मत व्यक्त करते हुए डॉ एल. डी. व्हाइट ने लिखा है—"यह विचारधारा कार्य सम्बन्धों का समूह है जो दीर्घकाल तक एक साथ कार्य करने के कारण व्यक्तियों में पारस्परिक अंत सम्बन्धों के कारण विकसित हो जाते हैं। औपचारिक संगठन अत्यधिक सूक्ष्म होता है और सामाजिक-आर्थिक स्तर, प्रजाति और भाषायी अन्तर, शैक्षणिक स्तर और वैयक्तिक रुचि और अरुचि जैसे मामलों की अभिव्यक्ति करते हैं। यह परम्परावादी है न कि निर्मित। यह लिखित नहीं है और न इसे स्वच्छ रेखाचित्रों में व्यक्त किया जा सकता है। औपचारिक संगठन, जहाँ विवेकीय और अवैयक्तिक होता है, वहाँ अनौपचारिक संगठन भावनात्मक और वैयक्तिक होता है। दोनों एक-दूसरे का अतिक्रमण कर सकते हैं, पूरी तरह मिल सकते हैं या *एक-दूसरे से पृथक् हो सकते हैं।"*[2]

प्रशासन मानवीय व्यवहार से सम्बन्धित है और मनोविज्ञान उसे समझने में हमारी सहायता करता है। प्रशासन के अध्ययन में मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग कुमारी एम. पी. फॉलेट ने आरम्भ करते हुए यह बताया है कि व्यक्तियों और समूहों की इच्छाएँ, उनके पूर्वाग्रह तथा नैतिक मूल्य प्रशासन के भीतर किस प्रकार उनके व्यवहार को प्रभावित करते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि प्रशासन अनिवार्यत मानवीय सम्बन्धों *का अध्ययन है। प्रशासन के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हुई है कि* व्यक्तियों और समूहों की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के कारण प्रशासन के भीतर एक अनौपचारिक संगठन का निर्माण हो जाता है। यह निर्माण चार्टों में प्रदर्शित औपचारिक संगठन को संशोधित कर देता है, उसका पूरक बन जाता है और इतना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि यदि प्रशासन उसकी अवहेलना करे तो वह शायद स्वयं संकट में पड़ जाए। व्यावसायिक प्रशासन के क्षेत्र में मनोविज्ञान की एक नई शाखा विकसित हो गई है, जिसे औद्योगिक मनोविज्ञान (Industrial Psychology) कहा जाता है।"

मानवीय व्यक्तित्व की विशेषताएँ
(Characteristics of Human Personality)

संगठन पर प्रभाव डालने वाले मानवीय गुणों की दृष्टि से मानव व्यक्तित्व के सम्बन्ध में प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है—

1. यह 'भागों' का संगठन होता है, अर्थात् इसके अनेक पहलू होते हैं। इसके भागों द्वारा 'सम्पूर्ण' की रचना की जाती है और 'सम्पूर्ण' भागों की रचना करते हैं।
2. यह आन्तरिक सन्तुलन अर्थात् व्यवस्था या समायोजन (Adjustment) तथा बाह्य सन्तुलन अर्थात् अनुकूलन (Adaptation) की खोज करता रहता है।

---

1. *Roethlisberger, E.J* : Management and Morale, pp 8 9.
2. *White, L.D* . Op cit., p. 27.

3. यह मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक शक्तियों द्वारा प्रोत्साहित होता है।
4. यह चारों ओर से आवश्यकताओं से घिरा रहता है।
5. यह योग्यताओं के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करता है।
6. व्यक्तित्व के संगठन को 'स्व' (Self) कहा जा सकता है जो—
   (अ) व्यक्तिगत अनुभवों को प्रदर्शित करने के लिए व्यक्तिगत दुनिया में रहता है और (ब) स्वयं को सभी प्रकार की चुनौतियों से बचाए रखने का प्रयास करता है।

'स्व' (Self) किसी भी संस्कृति में उन विशेष सुझावों के साथ विकसित होता है जिन्हें व्यवहारात्मक दृष्टि से परिभाषित और अनुभव के आधार पर जिनका प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है। मानव व्यक्तित्व के विकास में झुकाव आते हैं। बालक के रूप में व्यक्ति निष्क्रिय होता है, किन्तु एक प्रौढ़ के रूप में उसकी क्रियाओं का क्षेत्र बढ़ जाता है। विचारकों ने इसे स्वप्रेरणा अथवा आत्म-निर्णय कहा है। बालक के रूप में व्यक्ति दूसरों पर अधिक निर्भर रहता है, किन्तु बाद में ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, अपेक्षाकृत स्वतन्त्र होता जाता है। सापेक्षिक स्वतन्त्रता एक व्यक्ति की 'स्वयं के पैरों पर खड़े होने की योग्यता' और स्वस्थ पराश्रयता को पहचानना है। इस परिवर्तन के अनुसार व्यक्ति अपने बचपन के व्यवहार के निर्णायकों से स्वयं को स्वतन्त्र कर लेता है तथा वह स्वनिर्णय का विकास करता है। एक व्यक्ति दूसरों के साथ (उदाहरणार्थ अपने बॉस के साथ) ऐसी प्रतिक्रिया नहीं करता जिन्हें करना वह अपनी शिशु-अवस्था में सीखता है। बचपन में व्यक्ति केवल कुछ प्रकार का ही व्यवहार कर सकता है, किन्तु बड़ा होने पर उसके व्यवहार में अनेक रूपता आ जाती है। एक शिशु के रूप में व्यक्ति के हित अस्थिर, आकस्मिक, तुच्छ एवं चंचल होते हैं, किन्तु वयस्क होने पर वे गहन बन जाते हैं। परिपक्वता आने पर उसे अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है और व्यक्ति को प्रतिफल केवल तभी प्राप्त होता है जब वह अपने लिए स्वयं कुछ करे। प्रवृत्ति यह रहती है कि वातावरण को उसकी पूर्णता, जटिलता एवं उसका गहराई के साथ विश्लेषण करके पता लगाए। एक बालक का अधिकांश व्यवहार भविष्य के विचार से कम होता है, अर्थात् वह वर्तमान से अधिक प्रभावित होता है, किन्तु वयस्कता प्राप्त कर लेने पर वह दूर की सम्भावनाओं के अनुमान के आधार पर अग्रसर होता है। वास्तव में बड़ा हो जाने पर व्यक्ति का व्यवहार अतीत एवं भविष्य से बहुत प्रभावित होता है। परिवार तथा समाज के एक शिशु की स्थिति अधीनस्थ की होती है, किन्तु वह बड़ा होने पर समानता अथवा उच्चता की स्थिति प्राप्त करने का प्रयास करता है, अथवा कर लेता है। बचपन में व्यक्ति स्वयं को समझने में असमर्थ रहता है, किन्तु बड़ा होने पर वह स्वयं को समझ कर अपनी भावनाओं, विचारों एवं क्रियाओं पर कुछ नियन्त्रण रखने का प्रयत्न करता है। एक वयस्क जो पर्याप्त अनुभव प्राप्त करता है और अपने स्वयं के व्यवहार पर सफलतापूर्वक नियन्त्रण रख सकता है, पूर्णता का भाव तथा 'स्व' की चेतना आ जाती है।

मानवीय व्यक्तित्व सम्पूर्ण व्यक्तित्व का केवल एक पहलू है। एक व्यक्ति के व्यवहार को समझने के लिए व्यक्तित्व के उक्त सभी गुणों को प्रयुक्त किया जाना चाहिए। यह बहुत कुछ व्यक्ति की स्वयं की मान्यताओं पर, उसकी व्यवस्था एवं अनुकूलता लाने की सामर्थ्य पर तथा इस बात पर भी निर्भर करता है कि वह अपनी व्यक्तिगत दुनिया को किस रूप में पहचानता है। इन सभी मापदण्डों में निरन्तरता पाई जाती है। जिस विकास की बात जा रहा है वह निरन्तर परिवर्तनशील है। एक व्यक्ति निरन्तर ही बाल्यावस्था से वयस्कता की ओर विकास करता है। कोई भी व्यक्ति इन विकास की प्रवृत्तियों की अधिकतम अभिव्यक्ति नहीं कर सकता अतः सभी व्यक्ति हर समय अधिकाधिक स्वतन्त्र एवं सक्रिय रह कर एक संगठित समाज बनाए नहीं रख सकते। यह कार्य संस्कृति का है कि वह अधिकाधिक अभिव्यक्ति को रोके तथा दूसरे लोगों के साथ समायोजन में एक व्यक्ति की सहायता करे। व्यक्ति की स्वयं के व्यक्तित्व की सीमाएँ भी अधिकाधिक अभिव्यक्ति पर रोक लगाती हैं। उदाहरण के लिए कुछ लोग स्वतन्त्रता एवं सक्रियता की उस मात्रा से डरते हैं जिसे प्राप्त करने के लिए दूसरे प्रयत्नशील रहते हैं। कुछ लोगों में कार्यों को सम्पन्न करने की आवश्यक योग्यता ही नहीं होती। कोई भी व्यक्ति समस्त योग्यताओं को उसके पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं कर सकता है। कुछ छिपी हुई विशेषताओं के आधार पर भी इन्हें पहिचाना जा सकता है। यदि कोई यह कहता है कि अमुक व्यक्ति को पराश्रय की आवश्यकता है तो यह निर्णय शय्याग्रस्त रोगी होने के आधार पर भी दिया जा सकता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है और देखने पर हमें प्रतीत हो कि एक व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार कर रहा है, किन्तु यह सम्भव है कि जब हम उस व्यक्ति के व्यवहार को निकट से देखें तो वह पूर्णतः आश्रित दिखाई दे। उदाहरण के लिए एक ऐसे व्यक्ति को लिया जा सकता है जो प्रबन्ध द्वारा वांछित व्यवहार से विपरीत व्यवहार करता है।

संगठन में भावनाएँ (Emotions in Organisation)

संगठन में कार्य करने वाले कर्मचारी भी मनुष्य होते हैं जिनमें बुद्धि एवं विचारों से युक्त मस्तिष्क होने के साथ-साथ सीने में एक दिल भी होता है जो भावनाओं का अजस्र स्रोत है। उनके प्रत्येक व्यवहार पर इन दोनों तत्वों का पूर्ण प्रभाव रहता है तथा किसी भी एक तत्व का अभाव उसके भाव होने के तथ्य को संदिग्ध बना देता है। संगठन के रूप एवं कार्यों से सम्बन्धित औपचारिक नियम तथा सिद्धान्त व्यक्ति के व्यवहार को व्यवस्थित करने तथा सार्थक बनाने में महत्वपूर्ण योगदान करते हैं, तथापि इनके कारण उसका व्यवहार यन्त्र के समान हो जाएगा, यह सोचना निराधार एवं भ्रामक है। औपचारिक नियमों द्वारा व्यक्ति को उच्छृंखल होने से रोका जा सकता है, उसकी क्रियाओं को अनुशासित किया जा सकता है, किन्तु उन्हें हृदयहीन नहीं बनाया जा सकता।

संगठन (Organisation) के नियमों का आधार बौद्धिक माना जाता रहा है। इन्हें पर्याप्त विचार-विमर्श के पश्चात् निर्धारित कर लागू किया जाता है। उनका लक्ष्य भी एक ऐसी व्यवस्था कायम करना होता है जो बौद्धिक दृष्टि से एक सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था हो। इन नियमों का पालन किया जाना आवश्यक एवं उपयोगी है, तथापि यदि इनके पालन में कठोरता बरती जाए तो संगठन के साथ-साथ निर्जीव होने के कुछ समय बाद इनका प्रभाव भी समाप्त हो जाएगा। इनके विरुद्ध संगठन के कोने-कोने से विरोध के गुबार उठेंगे जो इसको अर्थहीन तथा अस्तित्वहीन बना देंगे। वास्तव में आदर्श मानवीय व्यवहार, जैसा कि प्रसिद्ध दार्शनिक एवं राजनीतिज्ञ बर्ट्रेण्ड रसल का कहना है, वह होता है जो 'प्रेम' से प्रेरित होता है और तर्क से निर्देशित होता है। संगठन में भी यदि मानवीय व्यवहार को केवल बौद्धिक ही बना दिया जाए तो अनेक जटिलताएँ पैदा हो जाती हैं, अतः कर्मचारियों की भावनाओं के प्रश्रय, प्रसार एवं अभिव्यक्ति का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए। संगठन में मानवीय व्यवहार का यह भावनात्मक पहलू केवल एक आदर्श ही नहीं वरन् यथार्थ भी है। अनजाने में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कर्मचारियों एवं अधिकारियों की भावनाएँ, संगठन के महत्वपूर्ण निर्णयों के लेने तथा उन्हें क्रियान्वित करने में प्रभावशील योगदान देती रहती हैं। उनकी आदतें, रीति-रिवाज, परम्पराएँ, विश्वास, दृष्टिकोण आदि उनके व्यवहार का रूप निश्चित करते हैं। संगठन के योजनाकार इस तथ्य को भुलाकर अथवा इसकी अवहेलना करके संगठन का जो रेखाचित्र प्रस्तुत करेंगे वह कागज पर चाहे कितना ही सुन्दर एवं आकर्षक क्यों न हो, व्यवहार में वह निष्फल ही रहेगा। वस्तुतः संगठन के स्वरूप की समस्या एक समस्या है जिस पर विचार करने वाले को न केवल राजनीतिक, प्रशासनिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही सोचना चाहिए वरन् उसे किसी भी पहलू पर विचार करते समय अथवा निर्णय लेते समय समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी भली प्रकार सोच लेना चाहिए। संगठन में व्यक्ति की क्रिया एवं प्रतिक्रिया का सही अनुमान केवल तभी लगाया जा सकता है जब इस अनुमान का आधार सामाजिक सम्बन्धों को बनाया जाए। इस तरह से किसी भी संगठन के सफल संचालन में मानव-भावनाओं का अपूर्व महत्व होता है।

व्यवहार और वातावरण (Behaviour and Environment)

जिस प्रकार संगठन व्यक्ति के जीवन का अविभाज्य अंग बन गया है, उसी प्रकार व्यक्ति भी संगठन का एक अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण भाग है। व्यक्ति जिस समाज में रहता है तथा जिन संस्थाओं का वह सदस्य है, उनके मूल्य एवं आदर्श उसके जीवन का अंग बनकर व्यवहार करता है उसका प्रत्येक व्यवहार सामाजिक परिवेश से प्रभावित होता है। प्रो. टी. एन. व्हाइटहैड (T.N. Whitehead) का कथन है कि संगठन का यह सामाजिक ढाँचा एक तथ्य होता है न कि कोई बाधा अथवा सीमा।[1] संगठन में प्रायः यह देखा जाता है कि प्रशासक जिन व्यक्तियों के हेतु कार्य कर रहे हैं या जिनका निरीक्षण एवं निर्देशन कर रहे हैं, वे उनके भावों एवं दृष्टिकोणों से प्रभावित रहते हैं। इस प्रभाव के प्रति कोई स्पष्ट जानकारी नहीं रहती वरन् वह पूर्णतः उस सामाजिक ज्ञान से निर्देशित रहता है जिसका कभी विश्लेषण नहीं किया जाता है। एक प्रशासक प्रायः यह मान लेता है कि उसके कार्य का लक्ष्य धन प्राप्ति है और इस लक्ष्य को केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है जब मानवीय भावनाएँ वांछित क्रियाओं के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने का कार्य न करें। प्रशासक के विचार की यह प्रक्रिया गलत है। यथार्थ में होना यह चाहिए कि सामाजिक भावनाएँ तथा समूहों के कार्य ऐसी बाधाएँ न समझी जाएँ जिन्हें दूर करना उनको उस लक्ष्य का अटूट भाग माना जाए जिसे प्राप्त करने के लिए संगठनकर्ता कार्य कर रहा है। मनुष्य को प्रायः उन क्रियाओं से सन्तोष की प्राप्ति होती है जिन्हें सामान्य रूप से सभी लोग ध्यान से देखते हैं तथा जो भविष्य में कुछ प्राप्ति की ओर निर्देशित रहती हैं। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि एक स्वस्थ समाज

1. *T.N. Whitehead* : Leadership in a Free Society, p. 85-86.

केवल वही हो सकता है जिसमें वर्तमान में पर्याप्त मानवीय सम्पर्क हैं तथा जिसमें इन सम्पर्कों को उनके लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संगठित किया गया है। एक प्रशासक को यदि अपने उत्तरदायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वाह करना है तो इन दोनों लक्ष्यों को उसे ध्यान में रखकर आगे बढ़ना होगा; केवल आर्थिक लक्ष्य न तो पर्याप्त हैं और न ही उपयोगी। यह भी सत्य है कि सामाजिक परिस्थितियों के रूप एवं प्रसार के लिए प्रशासकों को ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि वे स्वयं भी इसके भाग होते हैं तथा इसी की उपज होते हैं, तथापि यदि प्रशासक संगठन को सफल बनाना चाहता है तो उसे सभी सामाजिक स्थितियों ध्यान में रखनी होंगी तथा इनके अनुरूप ही अपने कार्यक्रम को रूप देते हुए आचरण करना होगा।

संगठन में सामाजिक सम्बन्ध (Social Relations in Organisation)

कोई भी संगठन कुछ व्यक्तियों का एक समूह मात्र ही नहीं होता जो कुछ आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए एक साथ रह कर कार्य करते हैं। इन व्यक्तियों के एक-दूसरे के प्रति अपने भावी तथा स्थायी भाव होते हैं। फलतः जब वे मिलते हैं तो परस्पर-क्रिया एवं प्रतिक्रिया करते हैं। यह उनका एक नियमित कार्यक्रम बन जाता है। किसी भी फैक्ट्री में यह देखा जा सकता है कि वहाँ व्यक्ति तथा व्यक्तियों के समूह साथ मिलकर कार्य करते हैं तथा एक-दूसरे के प्रति कुछ निर्धारित एवं स्वीकृत तरीकों के अनुसार व्यवहार करते हैं। व्यक्तियों के व्यवहार में तथा दो समूहों के व्यक्तियों के व्यवहार में पूर्णरूप में एकरूपता नहीं पाई जाती। इतना ही नहीं उनमें व्यवहार सम्बन्धी भिन्नताएँ भी पाई जाती हैं जो उनके सामाजिक संबंधों में भेदों को स्पष्ट करती हैं। संगठन के वे सदस्य जो कुछ समूहों की अपनी सदस्यता के प्रति जागरुक रहते हैं, जब दूसरे समूह-प्रतिनिधियों के साथ प्रतिक्रिया करते हैं तो वे कुछ स्वीकृत तरीकों को अपनाते हैं। संगठन के विभिन्न कर्मचारियों के आपसी संबंध कुछ नियमों के अनुसार निश्चित किए जाते हैं और इस प्रकार उनके बीच भेद स्थापित कर दिया जाता है, किन्तु ये सम्बन्ध धूमिल पड़ जाते हैं तथा कभी-कभी बहुत जटिल बन जाते हैं। एक व्यक्ति जब अपने बॉस के सामने उपस्थित होता है तो दूसरे प्रकार से व्यवहार करता है, जब उसके बॉस का बॉस भी वहाँ हो तो वह भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है। इसी प्रकार उनका बॉस भी उसकी उपस्थिति में एक प्रकार का व्यवहार करता है पर यदि उनका बॉस भी वहाँ उपस्थित हो तो उसका व्यवहार बदल जाएगा। इस प्रकार के व्यवहार हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन के अंग हैं और ये इतने सामान्य हो गए हैं कि इनकी ओर हमारा ध्यान भी नहीं जाता। वास्तविकता यह है कि व्यावहारिक अन्तरों के पीछे व्यक्ति का सम्पूर्ण चरित्र, उसके मूल्य तथा दृष्टिकोण कार्य करते हैं। अनेक सामाजिक परिस्थितियाँ इनका रूप निर्धारित करती हैं। हमारा ध्यान इनकी ओर केवल तब जाता है जब हम एक ऐसी नवीन सामाजिक परिस्थिति में फँस जाते हैं जहाँ हमारा विगत सामाजिक प्रशिक्षण वर्तमान सामाजिक सूचकों की उपयुक्त व्याख्या करने से हमें रोक देता है तथा हमारी प्रतिक्रिया सामाजिक दृष्टि से गलत हो जाती है। किसकी उपस्थिति को हम कितना महत्त्व देते हैं इससे इस बात का निर्णय होगा कि उसके साथ हमें किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। व्यक्ति का दृष्टिकोण इन सम्बन्धों के रूप का निर्धारण करने में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। एक धार्मिक व्यक्ति का व्यवहार धर्मशून्य व्यक्ति की अपेक्षा सर्वथा भिन्न होगा। एक संगठन में भी सामाजिक क्षेत्र की भाँति सामाजिक मूल्यांकन होता रहता है। इस प्रक्रिया द्वारा अच्छे, बुरे, हीनतम, उच्चतम आदि के बीच भेद कर लिए जाते हैं। मूल्यांकन की यह प्रक्रिया सरल तथा तैयार सामान्यीकरणों के साथ भेद करती है और इस प्रकार कुछ मूल्य उन कार्य करने वाले व्यक्तियों तथा समूहों से सम्बद्ध हो जाते हैं। बड़े उद्योगों में कार्यकर्त्ता बहुत होते हैं तथा कार्य भी अनेक प्रकार के होते हैं इसलिए वहाँ न केवल व्यवसाय की वरन् लिंग, आयु, राष्ट्रीयता आदि की भिन्नता एवं समानता भी इस प्रकार के समूहों की रचना का कारण बन जाती है।

संगठन के व्यक्तियों और समूहों के बीच प्रतिक्रियाओं का रूप उनके आपसी सम्बन्धों की घनिष्ठता की मात्रा द्वारा निश्चित किया जाता है। घनिष्ठता एवं जागरुकता को एक स्केल पर प्रतिरूपित किया जा सकता है तथा इनको सामाजिक दूरी के आधार पर अभिव्यक्त किया जा सकता है। सामाजिक दूरियाँ भावनाओं एवं हितों की भिन्नता को मापती हैं जो व्यक्ति अथवा समूहों को एक-दूसरे से पृथक् करते हैं। एक सामाजिक संगठन के सन्दर्भ में सामाजिक अन्तर को ऐसा ही माना जाता है जैसा कि भौतिक आकाश के लिए भौतिक दूरी फिर भी भौतिक और सामाजिक अन्तर आवश्यक रूप के साथ-साथ नहीं चलते। शारीरिक दृष्टि से पास-पास रहते हुए भी दो व्यक्तियों

के बीच सामाजिक रूप से पर्याप्त अन्तर रह सकता है। जिस प्रकार प्रत्येक कर्मचारी की एक शारीरिक स्थिति होती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण सामाजिक संगठन में उसका विशिष्ट सामाजिक स्थान रहता है, किन्तु यह स्थान इतनी कठोरता के साथ निश्चित नहीं होता जैसा कि जाति व्यवस्था में होता है। प्रायः प्रत्येक फैक्ट्री में पर्याप्त सामाजिक गतिशीलता या लोचशीलता रहती है। यह परिवर्तन दो प्रकार से हो सकता है—एक व्यक्ति एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में प्रवेश कर सकता है जो सम्मान के स्तर की दृष्टि से ऊँचा है, अन्यथा स्वयं सम्मान का स्तर ही परिवर्तित हो जाए। यह स्पष्ट है कि मूल्य के इन स्तरों को सामाजिक वातावरण में सभी समूहों द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता है। उदाहरण के लिए, एक कारखाने में कर्मचारी की समझ में यह नहीं आता कि एक कार्यालय के कर्मचारी का कार्यकाल उसकी अपेक्षा कम क्यों होना चाहिए अथवा एक नवागन्तुक को, जिसकी एक विशेष कार्य पर कार्यकुशलता उतनी ही है जितनी बहुत समय पूर्व से कार्य कर रहे व्यक्ति की है, तब आश्चर्य होता है जब उसे वरिष्ठता के सिद्धान्त के आधार पर अपेक्षाकृत कम वेतन प्राप्त होता है। विभिन्न सामाजिक स्तरों के व्यक्ति लगातार यह प्रयास करते रहते हैं कि स्थित सामाजिक सन्तुलन को छिन्न-भिन्न कर, वे स्वयं की सर्वोच्चता स्थापित करें। किसी भी व्यक्ति ने यदि सम्मान के स्तर में कोई पद प्राप्त कर लिया है तो वह प्रत्येक उस चीज को गलत और अन्यायपूर्ण कहेगा जो वास्तविक तथा काल्पनिक रूप में उसके स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव डाल रही हो। संगठन का प्रत्येक व्यवहार, जो उसके कर्मचारियों के स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है या डाल सकता है, उन कर्मचारियों के भावनात्मक विरोध का शिकार बन जाएगा। किसी भी कंपनी अथवा उद्योग के संगठन का जो रूप प्रस्तुत किया जाता है उसमें इन सामाजिक अन्तरों को बहुत कम मान्यता दी जाती है। औपचारिक संगठनों की योजनाओं में कार्य की इकाइयों के बीच के सम्बन्ध का उल्लेख कर दिया जाता है, किन्तु वे इन सामाजिक दूरियों के अन्तरों, परिवर्तनों तथा सन्तुलनों को अभिव्यक्त नहीं करते हैं। इस प्रकार से संगठनों में सामाजिक संबंध भी अहम भूमिका का निर्वाह करते हैं।

मानव-सम्बन्धों की प्रकृति और संगठन

(The Nature & Organisation of Human Relations)

लोक प्रशासन के व्यवहार एवं प्रशासनिक संगठनों की रचना तथा प्रक्रिया में आजकल मानव-संबंधों को अतिशय महत्त्व दिया जाने लगा है। संगठन में मानव-सम्बन्धों की स्थापना के लिए जो कार्यवाहियाँ करने का सुझाव दिया जाता है तथा संगठन के कार्य-संचालन की जो भावनात्मक प्रेरणा विकसित की जाती है उस पर इतना जोर दिया जाता है कि कई बार साधन और साध्य के बीच भेद कर पाना कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए शिक्षा के क्षेत्र में मानव-सम्बन्धों की स्थापना को लिया जा सकता है। यह सच है कि यदि विद्यार्थियों में परस्पर सहयोगपूर्ण सम्बन्ध रहेंगे तथा अध्यापक और विद्यार्थियों के बीच घनिष्ठता होगी तो शिक्षा का स्तर एवं प्रभाव अवश्य ही अधिक तथा ऊँचा रहेगा। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए अनेक शिक्षण-संस्थाएँ सांस्कृतिक एवं सहगामी कार्यक्रम प्रस्तुत करती रहती हैं। किन्तु कई बार इस प्रकार के कार्यक्रमों में समय एवं शक्ति का इतना व्यय किया जाता है कि उसका अध्ययन पर बुरा प्रभाव पड़ता है और यह साधन से साध्य का स्थान ग्रहण कर लेता है। साधन-साध्य का यह भ्रम प्रायः संगठनों में भी हो जाता है। वहाँ हम मानव-सम्बन्धों की स्थापना इसलिए करना चाहते हैं कि संगठन में कार्यकुशलता आए, उसका उत्पादन बढ़े, उसमें संघर्षों एवं गतिरोधों को अवसर न मिले आदि। संगठन में मानव-सम्बन्ध साधन होते हैं, साध्य नहीं। एक अधिकारी अपनी संस्था के अन्य अधिकारियों के साथ सम्बन्ध बढ़ाना इसलिए नहीं चाहता कि वह लोकप्रिय हो जाए वरन् वह लोकप्रिय इसलिए होना चाहता है कि संगठन के कार्यों को सम्पन्न करने में वह अन्य कर्मचारियों का हार्दिक सहयोग प्राप्त कर सके। लोकप्रियता अपने-आप में एक लक्ष्य न होकर संगठन के लक्ष्यों का साधन होती है।

मानव-सम्बन्धों के विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनके माध्यम से संगठन का एक अधिकारी अन्य कर्मचारियों को एक व्यक्ति के रूप में देखना सीखता है अर्थात् वह उनकी शारीरिक सामर्थ्य को ध्यान में रखता है और साथ ही उनकी अन्य मानवीय सीमाओं के प्रति भी मनोवैज्ञानिक रूप में सचेत रहता है। उसके मस्तिष्क में कर्मचारियों की इच्छाओं, महत्त्वाकाँक्षाओं एवं आकाँक्षाओं का स्पष्ट चित्र रहता है। कोई भी कदम उठाने से पूर्व वह उसके प्रति कर्मचारियों की संभावित प्रतिक्रिया का अनुमान लगा लेता है। एक फोरमैन यदि फैक्ट्री में छुट्टी हो जाने के बाद भी किसी मिस्त्री से कार्य लेना चाहता है तो उसे उस व्यक्ति विशेष का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना होगा। सर्वप्रथम उसे यह जानना होगा कि उस व्यक्ति पर पारिवारिक उत्तरदायित्व कितने हैं, कहीं वह घर जाने की जल्दी में तो नहीं है, क्या वह शारीरिक दृष्टि से इतना सबल एवं समर्थ है कि अतिरिक्त समय में भी कार्य कर

सकेगा, इस व्यक्ति की प्राथमिकताएँ क्या हैं। उस पर आर्थिक प्रेरक प्रभावशील होगा अथवा अनार्थिक प्रेरक पर्याप्त रहेगा, क्या वह फोरमैन को आदर व सम्मान की दृष्टि से देखता है, उसके जीवन के मूल्य क्या हैं आदि। इन एवं ऐसे ही अन्य प्रश्नों पर विचार करने के बाद वह फोरमैन यह निर्णय ले सकेगा कि क्या उसे उस व्यक्ति के अतिरिक्त समय में रुकने के लिए कहना चाहिए ? यदि कहना चाहिए तो किस प्रकार कहना चाहिए ? मानव-सम्बन्धों के आधार पर लिए गए उसके निर्णय बहुत कुछ सही होंगे। इस प्रकार के किए गये निर्णय व्यावहारिक दृष्टि से सफल होते हैं।

मानव-व्यवहार व्यक्ति की स्वयं की आदतों, चरित्र, इच्छाओं, भावनाओं एवं मूल्यों से तो प्रभावित होता ही है, वह समाज की परम्पराओं, रीति-रिवाजों, व्यवहारों, प्राथमिकताओं एवं आदर्शों से भी उतना ही प्रभावित होता है। इसलिए यह अनिवार्य एवं उपयोगी होगा कि संगठन में उसकी क्रिया एवं प्रतिक्रिया का अनुमान लगाते समय मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी अध्ययन किया जाए। मनुष्य का व्यवहार एक अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है जिसे समझना टेढ़ी खीर है। कई बार एक व्यक्ति ऐसा व्यवहार करता है जिसके कारणों का स्पष्टीकरण वह स्वयं भी नहीं कर पाता। सामान्यतः मानवीय व्यवहारों की मूल प्रेरणा व्यक्ति के स्वयं के मूल्य होते हैं। इन मूल्यों के आधार पर वह दृष्टिकोण बनाता है और एक विषय से संबंधित उस व्यक्ति का दृष्टिकोण उस विषय में उसके व्यवहार को निश्चित करता है। व्यक्ति के मूल्य सामाजिक नियमों एवं आदर्शों से प्रभावित होते हैं।

सामाजिक नियम या आदर्श ⟶ मूल्य ⟶ दृष्टिकोण ⟶ व्यवहार
(Social Norms) (Values) (Attitudes) (Behaviour)

मानव-व्यवहार की व्याख्या इतनी सुगम तथा सरल नहीं है जितनी दिखाई देती है, क्योंकि मूल्य अनेक प्रकार के होते हैं। किस सामाजिक आदर्श से कौन-सा मूल्य विकसित होगा, किस मूल्य का परिणाम कौन-सा दृष्टिकोण होगा, एक विशेष स्थिति में व्यक्ति अपने किस दृष्टिकोण को प्राथमिकता देगा, एक विशेष दृष्टिकोण को अपनाने पर भी वह कैसा व्यवहार करेगा, आदि बातों के आगे एक बड़ा प्रश्नवाचक चिह्न है जिसे सुलझाना पहेली से कम नहीं है। इसमें हम जितना गहराई पर जाते हैं उतने ही उलझते चले जाते हैं। इन सबके अतिरिक्त व्यवहार पर बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव तथा व्यक्तिगत अन्तरों को भी ध्यान में रखना अनिवार्य हो जाता है।

मानव व्यवहार की जटिलताओं को ध्यान में रखकर भी यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के मूल्यों का इस पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है। जब एक संगठन में कार्य करने वाले अनेक व्यक्तियों के मूल्यों में लगाव स्थापित कर दिया जाता है तो उनके मानव-सम्बन्ध अच्छे बन जाते हैं और जब उनके मूल्यों में विरोध पैदा हो जाता है तो उनके मानवीय सम्बन्ध कटु हो जाते हैं।

हाथोर्न प्रयोग
(Hawthorne Experiments)

संगठन में मानवीय सम्बन्धों का विश्लेषण करने में हाथोर्न प्रयोगों का विशिष्ट स्थान है। इन प्रयोगों ने क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किये हैं। इनका अध्ययन करना समीचीन, प्रासंगिक तथा उपयोगी है। सन् 1927 से लेकर 1932 तक पश्चिमी विद्युत कंपनी के हाथोर्न मजदूरों पर प्रथम बार ऐसे प्रयोग किए गए। इन प्रयोगों द्वारा कई अपूर्व एवं अकल्पनीय बातों का पता चला। रोथलिसबर्जर (Roethlisberger) तथा डिक्सन (Dickson) का कथन है कि बढ़ते हुए प्रकाश का उत्पादन के स्तर पर प्रभाव जानने के लिए जो प्रयोग किए गए उनसे प्रयोगकर्ताओं ने यह ज्ञात किया कि इन दोनों तत्वों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है। बाद के अध्ययनों से यह भी पता लगा कि प्रकाश को मन्द कर देने से उत्पादन की मात्रा बढ़ी। उत्पादन की मात्रा में कमी केवल तभी आई जब रोशनी इतनी कम हो गई की मजदूर अच्छी प्रकार से देख नहीं पाए।

बाद में परम्परावादी लेखकों के कथनों की सच्चाई को प्रयोगों की कसौटी पर कसा जाने लगा। यह कहा जाता है कि कार्य की भौतिक परिस्थितियों एवं उत्पादन की दर के बीच प्रत्यक्ष एवं साधारण सम्बन्ध होता है। अतः रोशनी से सम्बन्धित प्रयोग कर चुकने के बाद इस बात पर प्रयोग किए गए कि विश्राम का उत्पादन पर क्या तथा कितना प्रभाव पड़ता है। पाँच मजदूरों को प्रयोग के लिए चुना गया। उनको क्रमशः पाँच, दस और पन्द्रह मिनट का अवकाश देकर यह देखा गया कि उनसे उत्पादन की मात्रा पर विभिन्न प्रभाव कैसे पड़ते हैं। इन प्रयोगों के परिणामस्वरूप उत्पादन वृद्धि तो हुई, किन्तु इस वृद्धि का श्रेय विश्राम अवकाश को नहीं दिया जा सकता था

क्योंकि इस अवकाश को पूरी तरह ही समाप्त कर दिया गया और सारे दिन काम लिया गया तो भी उत्पादन की मात्रा सामान्य रूप से अधिक ही थी। इस सबका यह निष्कर्ष निकाला गया कि उत्पादन की मात्रा को सामान्य रूप से कैसे बढ़ाया जा सकता है, इसके बारे में प्रयोगकर्त्ताओं को एक परिकल्पना सुझाई गई कि उत्पादन की मात्रा उस समय बढ़ जाती है जब काम करने वालों की सामाजिक परिस्थितियाँ बदल दी जाती हैं, उनके मनोवैज्ञानिक सन्तोष के स्तर में परिवर्तन कर दिए जाते हैं तथा सामाजिक सम्बन्धों को नया रूप दे दिया जाता है। इस परिकल्पना के आधार पर प्रयोग किए गए। इन प्रयोगों का परिणाम आशाजनक था। सामाजिक तथ्यों (Social Facts) की खोज हार्थोर्न-अध्ययनों की सबसे प्रमुख देन मानी जाती है।

प्रसिद्ध बैंक वाइरिंग पर किए गए अध्ययन भी इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रहे हैं। इन प्रयोगों में वैज्ञानिक प्रबन्ध (Scientific Management) की अनेक मान्यताओं को एक-एक करके परखा गया। इस अध्ययन द्वारा जो निष्कर्ष निकाले गए उनको बाद के अध्ययनों द्वारा पुष्ट किया गया। यह सिद्ध हो गया कि एक मजदूर उतना उत्पादन नहीं करता जितना वह कर सकता है, वरन् वह उतना उत्पादन करता है जितना करने का उदाहरण या प्रेरणा उसके साथ काम करने वाले व्यक्ति द्वारा उसे प्रदान की जाती है। इसी आधार पर उत्पादन की मात्रा तय की जाती है। उत्पादन पर कृत्रिम सीमाएँ लग जाती हैं तथा ये प्राकृतिक सीमाएँ, जैसे भौतिक सम्भावना आदि के प्रभाव को कम कर देती हैं।

चौदह कर्मचारियों पर एक अन्य प्रयोग किया गया। उनको कार्य की एक इकाई के रूप में अलग कमरे में रखा गया तथा छः माह तक उनको निकट से देखा गया। उनका कार्य था टेलीफोन के स्विच-बोर्डों में तार लगाना। इस कार्य में कुछ को तो व्यक्तिगत रूप से कार्य करना था और कुछ को दूसरे लोगों के साथ मिलकर। इन कर्मचारियों को वेतन उसी प्रकार दिया गया जैसे कि कम्पनी के अन्य कर्मचारियों को दिया जाता था। मजदूरों को घण्टों के हिसाब से वेतन दिया गया, साथ ही कुछ उत्पादन के अनुसार बोनस भी दिया गया। इसके अतिरिक्त उनको व्यक्तिगत रूप से कार्य रुक जाने के समय का भत्ता दिया गया। *जब कभी कार्य ऐसे कारणों से रुक जाता जिन पर मजदूर का अधिकार न था तो कार्यकुशल मजदूरों को* आलसी मजदूरों की तुलना में प्रोत्साहन देने के लिए इस प्रकार के भत्ते की व्यवस्था की गई। प्रबन्धात्मक मान्यताएँ भी प्रायः वही थीं जो टेलर के प्रेरकों के सिद्धान्त थे अर्थात् एक व्यक्ति को अधिक कठिन कार्य करने के लिए यदि अधिक पैसा दिया जाए तो वह अवश्य ही उतना कठिन कार्य करेगा जितना कर सकता है। यदि कुल उत्पादन के बढ़ जाने से श्रमिकों की आय भी बढ़ जाएगी तो वे सहयोग और समन्वय के हर सम्भव प्रयास करेंगे। मजदूरों के उत्पादन तथा उनकी निष्क्रियता का सही एवं विस्तृत रिकार्ड रखा जाना चाहिए जिसके आधार पर उनके वेतन को तय किया जा सके।

प्रयोग के परिणामस्वरूप यह ज्ञात हुआ है कि प्रत्येक उद्योग के मजदूर उत्पादन का आदर्श निश्चित कर लेते हैं। उस आदर्श से अधिक उत्पादन करने वाले को सर्वाधिक कार्यकुशल माना जाता है और जो उससे कम कार्य करते हैं उनको आलसी तथा मुफ्तखोर कहा जाता है। अनेक प्रयोगों के फलस्वरूप यह स्पष्ट हो गया है कि थोड़े दिनों बाद कुल उत्पादन का औसत उतना ही हो जाता है जितना उस समूह ने उत्पादन का अपना आदर्श *बनाया था। होता यह है कि अनेक दबावों के कारण* कोई मजदूर, फोरमैन अथवा प्रबन्ध के अन्य किसी अधिकारी से यह नहीं कह पाता कि उत्पादन इससे अधिक भी किया जा सकता है, क्योंकि ऐसा करने से कम उत्पादन करने वालों पर कार्यभार बढ़ता है, उनका वेतन कम किया जा सकता है अथवा उनको सेवा-मुक्त भी किया जा सकता है। दूसरी ओर यदि 'मजदूर' समूह के आदर्श (Group's Norm) से कम उत्पादन करेगा तो यह प्रबन्ध के प्रति अन्याय होगा क्योंकि वह समान वेतन के लिए समान कार्य नहीं कर रहा है। इसके अतिरिक्त उसके स्वयं के लिए कठिनाइयाँ पैदा हो सकती है।

हार्थोर्न प्रयोगों के परिणाम
(The Results of Hawthorne Experiments)

पाँच वर्ष के लम्बे काल में किए गए हार्थोर्न प्रयोगों के अनेक परिणाम अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। इन अध्ययनों के बाद जो निष्कर्ष निकाले गए ये सामाजिक आदर्शों को महत्व (Importance of Social Norms) देते हैं। यह देखा गया कि उत्पादन का स्तर सामाजिक आदर्शों द्वारा निश्चित किया जाता है। इसको तय करने में मनोवैज्ञानिक सामर्थ्य का बहुत कम स्थान है। इस निष्कर्ष को प्रकाश एवं ध्वनि के प्रारम्भिक अध्ययनों द्वारा ही

निकाल लिया गया था। गैर-आर्थिक प्रेरणायें (Non-economic Motives) मजदूरों के कार्यों को अर्थेतर प्रेरणाओं द्वारा बहुत अधिक प्रभावित किया जाता है और इस प्रकार योजनाओं की प्रेरणा का प्रभाव बहुत कुछ सीमित हो जाता है। इस सम्बन्ध में पुरस्कार एवं दबाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। इन दोनों का रूप प्रतीकात्मक है, न कि स्थूल। जो मजदूर समूह के आदर्श से कम या अधिक उत्पादन करते हैं, वे शीघ्र ही अपने साथियों का स्नेह एवं आदर खो देते हैं। वायरिंग रूम के मजदूरों में से सभी ने यह प्रयास किया था कि अधिक धन कमाने के साथ-साथ अपने साथियों से भी मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाए रखें।

बाद के अध्ययनों में मेलविले डाल्टन ने यह सिद्ध किया कि यह बात हमेशा नहीं होती।[1] उन्होंने देखा कि समूह के आदर्श से कम कार्य करने वाले वे लोग थे जिन्होंने शिक्षा एवं सामाजिक अनुभवों से यह सीखा था कि प्रेम तथा आदर के साथ भी किस प्रकार कार्य करते रहा जा सकता है। डाल्टन ने यह देखा कि 98 समूहों में कार्य करने वाले कैथोलिकों में से एक भी ऐसा नहीं था जिसे मुफ्तखोर कहा जा सके। इसका कारण यह है कि कैथोलिक लोग अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक तथा दूसरे के आदर एवं प्रेम के प्रति बहुत भावुक, अधिक स्वाभिमानी एवं अधिक अहंकारी होते हैं। मुफ्तखोर प्रायः ऐसी जगहों से आते हैं जहाँ शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति एवं जीवन के अन्य मूल्यों का स्तर अत्यन्त नीचा होता है। वे स्वामिभक्ति, सहयोगपूर्ण सम्बन्ध एवं ईमानदारी जैसे गुणों का पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते। डाल्टन का कहना था कि ये मुफ्तखोर ही प्रायः संगठन के शीर्ष की ओर बढ़ने में प्रयत्नशील रहते हैं। फिर भी डाल्टन के प्रयोग तथा उपलब्धियाँ हाथोर्न प्रयोगों की मूल मान्यताओं का विरोध नहीं करतीं। इनमें भी कर्मचारी वर्ग-समूह आदर्शों को मान्यता देता है और जो लोग इसकी अवहेलना करते हैं उनको संगठन का एकीकृत सदस्य नहीं माना जाता।

उत्पादन की मात्रा पर एक अन्य अर्थेतर तत्त्व का प्रभाव थॉमस (W. I. Thomas) के एक कथन द्वारा स्पष्ट हो जाता है। उनका कहना है कि यदि व्यक्ति स्थिति को वास्तविक रूप में परिभाषित करते हैं तो वे परिणामों में वास्तविक होते हैं। मजदूरों का यह विश्वास बन जाता है कि यदि उन्होंने अधिक काम किया तो उनके वेतन की दर घट जाएगी और यदि उन्होंने एक निश्चित मात्रा में उत्पादन नहीं किया तो यह प्रबन्ध के प्रति उचित नहीं होगा। इस प्रकार परिणामों का अध्ययन करने के बाद ये इस निश्चय पर आते हैं कि उत्पादन की मात्रा समूह के आदर्श के अनुसार ही रखी जाए। स्पष्ट है कि मजदूर एक फैक्ट्री के उत्पादन की मात्रा निश्चित करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं।

प्रायः मजदूरों की क्रिया एवं प्रतिक्रिया एक व्यक्ति के रूप में नहीं वरन् समूह के सदस्य के रूप में होती है। प्रत्येक व्यक्ति में न इतनी सामर्थ्य होती है और न ही वह इतना स्वतन्त्र होता है कि अपने लिए उत्पादन का नियतांश (Quota) निश्चित कर सके। यह सब तो समूह द्वारा तय किया जाता है। जो मजदूर समूह के आदर्श से ऊपर या नीचे जाते हैं, उनको साथ के कर्मचारियों द्वारा दण्डित किया जाता है। एक व्यक्ति दबावों के कारण अपने व्यक्तिगत व्यवहार को बदलने के लिए तैयार हो जाएगा, यदि उसका समूह भी अपना व्यवहार बदल लेता है। इस सम्बन्ध में लेविन (Lewin) का कहना है कि जब तक समूह के मापदण्ड अपरिवर्तित रहते हैं, तब तक *व्यक्ति भी परिवर्तनों का ज़ोरदार विरोध करेगा और वह समूह के मापदण्डों का उल्लंघन भी करेगा, किन्तु यदि* समूह का मापदण्ड ही बदल जाता है तो व्यक्ति और समूह के मापदण्डों के बीच में रहने वाला विरोध भी मिट जाता है।[2]

इन अध्ययनों के बाद वैज्ञानिक प्रबन्ध का एक अन्य प्रमुख तत्त्व यह सामने आया कि समूह के आदर्शों के निर्माण तथा कार्यान्वयन में नेतृत्व का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इसके अतिरिक्त औपचारिक एवं अनौपचारिक नेतृत्व के बीच पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध यह मानकर चलता है कि कम से कम उत्पादन से सम्बन्धित सभी मामलों में मजदूरों का नेतृत्व पूर्ण रूप से सुपरवाइजर अथवा फोरमैन द्वारा किया जाता है, किन्तु वास्तविक व्यवहार का निरीक्षण करने पर यह मान्यता कई बार सही नहीं उतरती। कहा गया है कि एक वायरिंग कमरे का अध्ययन करने पर यह ज्ञात हुआ कि मजदूरों में से ही एक व्यक्ति ऐसा था जो समूह का अनौपचारिक नेता बना हुआ था। उस कमरे में उसे सबसे अधिक पसन्द किया जाता था और उसने संगठन के आदर्शों को पूरी तरह अपना रखा था। उसके सुझावों पर सबसे अधिक ध्यान दिया जाता था। इस प्रकार उसके समूह पर उसका

1. *William F. Whyte* : Money and Motivation, 1955, pp. 39-49.
2. *Kurt Lewin* : Group Decision and Social Change.

सर्वाधिक नियन्त्रण था। वह कार्य को सम्पन्न कराने की सामर्थ्य रखता था तथा एक सीमा तक संगठन के अन्य कर्मचारियों के सामने यह अपने समूह का वक्ता बन जाता था, क्योंकि उसने एक सामाजिक समूह के रूप में कार्य करने में मजदूरों की सहायता की। इस अध्ययन का सार यह है कि एक फोरमैन का अपने समूह पर अधिक प्रभाव नहीं था और उसे समूह के उन आदर्शों को मानकर चलना पड़ता था जिन पर नियन्त्रण रखने की उससे आशा की जाती थी। बाद के प्रयोगों ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि फोरमैन अपने आपको मान्य तथा अपने पद को सार्थक बनाना चाहता है तो उसे अपने नेतृत्व का प्रयोग मानव सम्बन्धों के अनुसार करना होगा।

एक समूह पर नेतृत्व के प्रभाव का विशद् अध्ययन लिपिट तथा व्हाइट द्वारा किया गया था।[1] यह अध्ययन कुर्ट लेविन के निर्देशन में सन् 1930 में प्रारम्भिक अध्ययन श्रृंखला की एक कड़ी थी। इस अध्ययन में नेतृत्व के प्रकारों का अध्ययन किया गया था। तीन प्रकार के नेताओं को बच्चों के कला तथा उद्योग के चार क्लबों के निर्देशन का काम सौंपा गया। इनमें से एक नेता सत्तावादी (Authoritarian) था। उसे समूह की क्रियाओं का निर्देशन करना था। प्रजातान्त्रिक नेता वो निर्देशानुसार सुझाव देते थे, बालकों को प्रोत्साहन देना था तथा समूह में भाग लेना था। तीसरे प्रकार का नेता 'व्यक्तिवादी' विचारों का था। इसका काम था समूह के सदस्यों में ज्ञान का प्रसार करना। उसने समूह के कार्यों में बहुत कम भाग लिया तथा भावनात्मक रूप से बहुत कम सम्बद्ध रहा।

इस प्रयोग का लक्ष्य था कि विभिन्न समूहों के सामान्य वातावरण का परीक्षण किया जाए तथा यह देखा जाए कि नेता के परिवर्तन से समूहों तथा उसके व्यक्तिगत सदस्यों पर क्या प्रभाव पड़ता है। साथ ही यह भी मालूम करना था कि नेतृत्व के विभिन्न प्रकारों ने समूहों के कार्यों को किस प्रकार प्रभावित किया। समूह के सदस्यों में उच्च स्तर की लोकप्रियता, शक्ति एवं बुद्धि प्राप्त करने के लिए प्रतिद्वन्द्विता थी। प्रयोग के समय अनेक बातों का सूक्ष्म अवलोकन किया गया। उदाहरण के लिए यह जानने का प्रयास किया गया कि जब नेता कमरा छोड़कर चला जाता था तो समूह के सदस्य किस प्रकार व्यवहार करते थे। प्रयोग के परिणामस्वरूप भारी अन्तर सामने आए। प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व के अधीन रहने वाले समूह में आपसी संबंध बहुत गहरे और मित्रतापूर्ण हो गए तथा उसके सदस्य समूह के कार्यों में बड़े उत्साह के साथ भाग लेते तथा जब नेता कमरे को छोड़ देता था तो समूह स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी कार्यवाही को यथावत संचालित रखता था। यद्यपि प्रजातन्त्रात्मक समूह का उत्पादन इतना नहीं था जितना सत्तावादी समूह का था तथापि इस समूह के उत्पादन का प्रकार उत्तम एवं श्रेष्ठ था।

व्यक्तिवादी समूह के परिणाम सन्तोषजनक नहीं थे, वे दोनों ही दृष्टियों से असफल रहे अर्थात् उससे न तो समूह को ही सन्तोष प्राप्त हो सका और न कुछ उपलब्धियाँ ही हो सकीं। इसके सदस्यों ने अपने नेता से कम सूचना माँगी तथा स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार भी कम किया। सामूहिक सहयोग का स्तर भी नीचा था। प्रयोगकर्ताओं ने देखा कि इन समूहों के सदस्यों में निराशा की भावना बहुत अधिक थी।

सत्तावादी नेतृत्व के प्रति समूह की दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ थीं। एक ओर तो वे लोग थे जिनकी प्रतिक्रिया आक्रमणकारी एवं क्रान्तिकारी थी तथा जो नेता का ध्यान अपनी ओर खींच रहे थे। ऐसे सदस्य संगठन के दूसरे सदस्यों का ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित करते थे। दूसरी ओर उदासीन लोग थे जो नेता की आलोचना या तो नहीं करते थे या कम करते थे। जब इन लोगों का नेता गैर-सत्तावादी को बना दिया जाता तो ये निरुत्साहित अथवा उदासीन लोग अत्यन्त भावुक बन जाते थे। लिपिट तथा व्हाइट के प्रयोगों के परिणामों से प्रभावित होकर अनेक उद्योगों में औपचारिक नेतृत्व को प्रभावशाली बनाने के लिए अनेक प्रयास किए गए। कोच तथा फ्रेंच (Coch and French) ने यह प्रमाणित किया है कि प्रजातान्त्रात्मक नेतृत्व ने मजदूरों के काम के प्रति दृष्टिकोण को बहुत अधिक प्रभावित किया है। इन विचारकों ने जिस फैक्ट्री का अध्ययन किया उसके मजदूर कार्य की तकनीकी नवीनताओं को सहज ही स्वीकार नहीं करते थे। फैक्ट्री में किसी नवीन परिवर्तन का मजदूरों द्वारा विरोध किए जाने के दो कारण हो सकते थे, प्रथम तो यह कि उसके मजदूर इतने अधिक निराश होंगे कि किसी प्रकार के विकल्प में उनका आकर्षण न रहा होगा अथवा दूसरे, उन पर यह दबाव डाला जा रहा होगा कि परिवर्तन को इतना शीघ्र स्वीकार न किया जाए। इन दोनों ही स्थितियों में मजदूर-वर्ग फैक्ट्री में किए गए हर प्रकार के परिवर्तन का जमकर विरोध करता था। जब समूह ने परिवर्तन का विरोध किया तो व्यक्तिगत कार्यकर्ता पर भी यह प्रभाव डाला गया कि उत्पादन की मात्रा कम करके परिवर्तन को असफल बना दे। अपनी परिकल्पनाओं की जाँच करने के लिए कोच तथा फ्रैंच ने प्रयोग किए। उन्होंने अनेक ऐसे मजदूरों को लिया जिनका कार्य परिवर्तित हो रहा था। इन मजदूरों को तीन गुटों में विभक्त कर दिया

1 *R Lippitt and R K White*, An Expenmental Study of Leadership and Group Life in Swanson

गया। प्रथम ग्रुप को परिवर्तन की कोई जानकारी नहीं दी गई तथा प्रबन्ध ने केवल कुछ समय पूर्व यह सूचना दी कि अमुक परिवर्तन किया जाएगा। दूसरे ग्रुप को प्रबन्ध ने परिवर्तन की आवश्यकता समझाई, उसके प्रभाव समझाए और उनसे यह कहा कि वे कुछ प्रतिनिधि चुन लें जो प्रशिक्षण कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने में सहायता कर सकें। तीसरे ग्रुप को भी दूसरे की भाँति यह बता दिया गया कि परिवर्तन हो रहा है तथा क्यों हो रहा है, किन्तु इस ग्रुप के सभी सदस्यों से यह कहा गया कि नए कार्यों का रूप एवं योजना-निर्माण तथा पुनः प्रशिक्षण कार्य में सहायता देने के लिए योगदान दें।

प्रयोग के परिणामों ने यह स्पष्ट कर दिया कि जिन दो समूहों ने पुनः प्रशिक्षण एवं कार्यक्रम की योजना बनाने जैसे कार्यों में योगदान किया था वे बड़ी जल्दी ही परिवर्तनों के साथ समायोजित हो गए जबकि प्रथम समूह के मजदूर ऐसा नहीं कर सके। दूसरे तथा तीसरे समूहों ने अपने उत्पादन को बढ़ा लिया जबकि पहला ग्रुप ऐसा नहीं कर पाया, उसका उत्पादन घटने लगा। तृतीय समूह ने जिसका पूर्ण योगदान था, द्वितीय की तुलना में अच्छा काम किया। इसके अतिरिक्त प्रथम समूह में अनेक कठिनाइयाँ आईं तथा घटनाएँ घटीं जबकि शेष दो समूहों में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। बाद में प्रथम समूह के साथ एक दूसरा प्रयोग किया गया। अब की बार इस समूह के लोगों को उनका कार्य बदलने के लिए बाध्य किया गया, किन्तु अब उन्होंने पुनः प्रशिक्षण की योजना एवं अन्य कार्यक्रमों में वैसा ही सक्रिय भाग लिया जैसा कि तृतीय ग्रुप के लोगों ने पूर्व प्रयोग में लिया था। परिणाम आशान्वित रहा। उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हो गई तथा समूह के सदस्यों के मन में सन्तोष बढ़ा। इस प्रयोग द्वारा यह सिद्ध हो गया कि पहले उनके द्वारा परिवर्तनों का जो विरोध किया गया था वह इस समूह के सदस्यों के व्यक्तित्व के कारण नहीं हुआ था।

संचार का महत्त्व (Importance of Communication)

अनेक प्रयोगों तथा मेयो और लेविल के लेखों द्वारा मानवीय सम्बन्ध के दृष्टिकोण ने विभिन्न श्रेणियों के बीच संचार पर बहुत जोर दिया। यह कहा गया कि संगठन के निम्न कर्मचारियों को यह बताया जाए कि निर्दिष्ट कार्य क्यों किया जा रहा है। उच्च अधिकारियों द्वारा निर्णय लेने की प्रक्रिया में निम्न अधिकारियों द्वारा भाग लेने के महत्त्व पर विशेषकर उन विषयों में जो उनको प्रभावित करते हैं, जोर दिया गया। नेतृत्व के प्रजातन्त्रात्मक स्वरूप का समर्थन किया गया क्योंकि इसमें संचार-व्यवस्था अधिक सक्रिय होती है, अधिकाधिक लोग भाग ले सकते हैं और साथ ही यह स्वेच्छाचारी न होकर न्यायपूर्ण होती है तथा मजदूरों के केवल कार्य से ही नहीं वरन् उनकी समस्याओं से भी सम्बन्धित रहती है।

सारांशतः इन प्रयोगों ने बहुत समय तक अनेक विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया तथा लोकप्रिय साहित्य में इनका पर्याप्त प्रकाशन किया गया। मानव-सम्बन्धों के विषय में इनसे निष्कर्ष निकाले गए। कई हजार कार्यपालिकाओं ने तथा निम्न श्रेणी के सुपरवाइजरों ने मानव-सम्बन्धों के कारखानों में भाग लिया। मानव-संबंध संस्थान ने प्रबन्ध की प्रकृति को बहुत अधिक प्रभावित किया। मि. बेन्डिक्स (Bendix) के कथनानुसार, इस दृष्टिकोण के कारण अमेरिकी प्रबन्ध ने कुछ और सीमा तक दूसरे औद्योगिक समाजों ने अपने विचारों और आदतों को स्पष्ट रूप से बदल लिया। विभिन्न श्रेणियों पर संचार की स्थिति का विकास करके ही किसी संगठन को शक्तिशाली बनाया जा सकता है।

संगठन पर मानव-सम्बन्धों का प्रभाव
(Effects of Human Relations on Organisation)

मानव-सम्बन्धों का महत्त्व एक साधन के रूप में है जिसका साध्य है—संगठन व कार्यकुशलता बढ़ाना, संगठन के कर्मचारियों के मनोबल को ऊँचा करना, संगठन के विभिन्न सिद्धान्तों को प्रभावित करना, संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करना आदि। ये विभिन्न लक्ष्य मानव-सम्बन्धों के द्वारा प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं। इनकी प्राप्ति के प्रमुख साधन दूसरे ही होते हैं, किन्तु मानव-सम्बन्धों द्वारा इनकी प्राप्ति के मार्ग को सुगम बनाया जा सकता है, और इस प्रकार यह अप्रत्यक्ष रूप से सही दिशा में अग्रसर होते हैं।

कार्यकुशलता किसी भी संगठन का एक प्रमुख गुण है। संगठन का रूप व्यापारिक, औद्योगिक, प्रशासनिक अथवा अन्य किसी भी प्रकार का हो सकता है, किन्तु सफलता प्राप्त करने के लिए कार्य-कुशलता का विकास करना आवश्यक होगा। इसके विकास के लिए संगठन में अनेक प्रकार के औपचारिक नियम निर्धारित किए जाते हैं जो कई

बार तो अपने लक्ष्यों के विपरीत परिणामों के जनक बन जाते हैं। औपचारिक नियम चाहे कितने भी अच्छे क्यों न हों, जब तक उनको सही रूप में लागू नहीं किया जाएगा तब तक उनसे अपेक्षित परिणामों की आशा नहीं की जा सकती। संगठन के कार्यकर्ता इन नियमों के पालन एवं अनुशीलन में अपना हार्दिक सहयोग केवल तभी दे सकते हैं जबकि मानव-सम्बन्धों द्वारा उन्हें ऐसा करने के लिए प्रेरित किया जाए। *स्वस्थ एवं सुविकसित मानव-सम्बन्धों के होने पर* अनेक बार कार्यकुशलता सुगठित एवं सुविचारित औपचारिक नियमों के बिना भी प्राप्त कर ली जाती है। इस प्रकार कार्यकुशलता की दृष्टि से इन नियमों का स्थान गौण है जबकि मानव-सम्बन्धों को अपेक्षाकृत प्राथमिक माना जा सकता है। नियमों का लक्ष्य मानवीय संबंधों में अवरोध उपस्थित करना नहीं होना चाहिए।

मानव-सम्बन्धों के कारण संगठन के कर्मचारी एवं अधिकारी दोनों ही वर्गों का मनोबल समान रूप से ऊँचा उठता है। जब अधिकारियों को यह प्रतीत होता है कि उनके आदेशों, अनुदेशों एवं निर्देशों के प्रति आशातीत प्रतिक्रिया हो रही है और उसे अधीनस्थ कर्मचारियों का पूरा-पूरा सहयोग प्राप्त हो रहा है तो उसमें एक नवीन उत्साह का संचार होता है तथा अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में वह पूरी शक्ति लगा देता है। दूसरी ओर अपने उच्च अधिकारी का कार्य में अतिशय उत्साह देखकर संगठन के अधीनस्थ कर्मचारियों का भी मनोबल ऊँचा उठता है और वे पूर्ण निष्ठा तथा समर्पण भाव के साथ कार्य-सम्पादन में लग जाते हैं। संगठन में भी उच्च अधिकारियों के अयोग्य होने पर अन्य कर्मचारी ढीले पड़ जाते हैं। उच्च अधिकारी का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण मानव-सम्बन्धों की स्थापना है। एक अधिकारी अपने संगठन के विभिन्न कर्मचारियों के बीच जितने घनिष्ठ तथा अच्छे सम्बन्ध विकसित कर सकेगा उसे उतना ही अधिक योग्य एवं कुशल माना जाएगा तथा संगठन के लक्ष्य भी सुगमता से प्राप्त किए जा सकेंगे। अच्छे मानवीय सम्बन्ध विकसित हो जाने के बाद संगठन के सिद्धान्तों का रूप ही बदल जाता है। *उनकी औपचारिक प्रकृति तो समाप्त प्राय हो जाती है और उसका स्थान अनौपचारिक प्रकृति* द्वारा ले लिया जाता है। अनेक सिद्धान्तों में इतनी अनौपचारिकता आ जाती है कि वे सच्चे अर्थों में सिद्धान्त ही नहीं रह पाते हैं। पद-सोपान की व्यवस्था को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। जब उच्च अधिकारी और अधीनस्थ अधिकारी के बीच अतिशय मानव-सम्बन्ध एवं घनिष्ठता विकसित हो जाती है तो प्रत्येक कार्य के लिए नियमानुकूल प्रक्रिया नहीं अपनानी पड़ती है। संगठन में ऊँच और नीच का भेद, सत्ता और आज्ञा की परिभाषाएँ, केन्द्रीयकरण एवं विकेन्द्रीकरण के प्रति आस्थाएँ, नियन्त्रण के क्षेत्र का प्रसार, हस्तान्तरण का रूप, नेता के उत्तरदायित्व, संचार-व्यवस्था का महत्व आदि सभी क्षेत्रों में अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाते हैं और कुल मिलाकर ये परिवर्तन उस संगठन को आधुनिक रूप प्रदान कर देते हैं। संगठन में मानव-सम्बन्धों का रूप अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। अच्छे रूप से तात्पर्य उस व्यवस्था से है जिसमें सभी कर्मचारी एक-दूसरे के कार्यों की सम्पन्नता में सहयोग देने के साथ-साथ स्वयं के उत्तरदायित्वों का पालन भी पूरे उत्साह एवं शक्ति से करते हैं, जबकि बुरे मानव-सम्बन्धों से युक्त संगठन में एक कर्मचारी स्वयं के उत्तरदायित्व के प्रति लापरवाह हो जाता है तथा ऐसे प्रयास करता है कि अन्य व्यक्ति भी अपना कार्य ठीक प्रकार से न कर पाएँ। अच्छे मानव-सम्बन्ध स्थापित हो जाने के बाद संगठन की लक्ष्य-प्राप्ति सुगम बन जाती है और विपरीत सम्बन्धों में इसकी आशाएँ धूमिल पड़ जाती हैं। निस्संदेह, किसी भी संगठन में मानवीय-संबंधों का उचित ताना-बाना ही उसकी सफलता की कसौटी माना जाता है।

मानव-सम्बन्धों के अवरोधक

(Obstacles to Human Relations)

किसी भी संगठन में मानव-सम्बन्धों का विकास करने के मार्ग में अनेक प्रकार की बाधाएँ आ सकती हैं जिनके कारण केवल अच्छे सम्बन्ध ही विकसित नहीं हो पाते वरन् कटु सम्बन्ध भी उभर कर सामने आते हैं। ऐसे अवरोधों में निम्नलिखित तत्व प्रमुख हैं—

1. भाषा—भाषा भावों और विचारों की अभिव्यक्ति का साधन है। जब तक हम अपने पास बैठे व्यक्ति के विचारों को न जान सकें, तब तक उससे किसी प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करना कठिन होगा। सम्बन्धों की घनिष्ठता एवं अनौपचारिकता इस बात की माँग करती है कि दो व्यक्ति एक-दूसरे को अत्यन्त निकट से देखें, एक-दूसरे के जीवन की मूल समस्याओं को समझें तथा एक-दूसरे की आदतों, मूल्यों, भावों एवं महत्त्वाकांक्षाओं से परिचित हों। यह सब तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि वे दोनों व्यक्ति समान भाषा के आधार पर स्वयं को एक-दूसरे पर विचार-अभिव्यक्त न करें। अभिव्यक्ति के अभाव में कई बार एक-दूसरे को गलत भी समझ लिया जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि पारस्परिक सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न हो जाती है। भारतवर्ष में समान भाषा का अभाव स्पष्ट दिखाई देता है। यहाँ राष्ट्रीयता के विकास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण अंग्रेजी भाषा

के विकास को माना जाता है जिसने भारतीयों को एक मंच पर बोलने की क्षमता प्रदान की। इसके बिना राष्ट्रीय आंदोलनों के संगठन निष्प्राण दिखाई दे रहे थे। आज भी समान भाषा के अभाव में भारत के दक्षिणी एवं उत्तरी क्षेत्रों के बीच यथेष्ट एकता नहीं है। जब विशाल पैमाने पर मानव-सम्बन्धों की स्थापना में भाषा इतनी अधिक महत्वपूर्ण हो सकती है तो स्वभावतः अपेक्षाकृत छोटे संगठनों में इसका महत्त्व और भी अधिक होगा जहाँ व्यक्ति अधिक समय एक साथ रहते हैं तथा जिनके अनेक हित एक-दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं।

2. दृष्टिकोण—संगठन के अनेक कर्मचारी रूढ़िवादी दृष्टिकोण के होते हैं। अपनी शिक्षा, सामाजिक वातावरण एवं पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण वे अपनी आदतों और विचारों में परिवर्तन नहीं लाना चाहते हैं। किसी भी समस्या पर विचार करते समय उनके दुराग्रह, पूर्वाग्रह एवं प्रतिरोध उनके मस्तिष्क को इतना अधिक प्रभावित करते हैं कि इसके अतिरिक्त वे कुछ सोच ही नहीं सकते। संगठन में यदि सभी कर्मचारियों की प्रकृति ऐसी ही हो तथा उनके परम्परागत विचारों का रूप एक-सा ही हो तो कोई कठिनाई नहीं होती, किन्तु ऐसा न होता है और न हो सकता है, इसलिए कठिनाई पैदा हो जाती है। संगठन के कर्मचारियों के सम्बन्धों में वैमनस्य उत्पन्न होता है। वे एक-दूसरे के विचारों का विरोध करते हैं जिससे संगठन के कार्यों में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार दृष्टिकोण की विभिन्नता भी संगठन की सबसे बड़ी बाधा है।

3. पदोन्नति—संगठन के कर्मचारियों के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग उनकी पदोन्नति होती है। प्रत्येक कर्मचारी की यह इच्छा होती है कि कम से कम समय में वह उच्च पद पर पहुँच जाए तथा अपने व्यवसाय में सफलता का दावा करने योग्य हो जाए। कर्मचारियों की इस समान इच्छा के कारण उनमें आपस में टकराने की सम्भावना रहती है। यह सम्भावना वास्तविकता में परिणित न हो जाए इसके लिए अनेक औपचारिक नियम बनाए जाते हैं तथा यह प्रयास किया जाता है कि हितों में परस्पर टकराव न हो। यह सब प्रयत्न करने के बाद भी पदोन्नति जैसे प्रश्नों पर कर्मचारियों के बीच प्रायः मनमुटाव हो जाते हैं जो उनके सम्बन्धों को कटु एवं विषाक्त बना देते हैं। इन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप अन्तिम रूप से संगठन की हानि होती है।

4. दैनिक घटनाएँ—संगठन पर बुरा प्रभाव डालने वाली अन्य अनेक घटनाएँ भी दिन-प्रतिदिन के प्रशासन में घट जाती हैं। मनुष्य स्वभाव छोटी-छोटी बात से इतना प्रभावित हो जाता है कि उसका रूप बाद में अत्यन्त चिन्ताजनक बन जाता है। संगठन के अन्दर तथा संगठन के बाहर भी कर्मचारियों का व्यवहार उनके आपसी सम्बन्धों को निश्चित करता है। एक ही फैक्ट्री में एक ही मशीन पर काम करने वाले विभिन्न कर्मचारियों के सामान्य सम्बन्धों में उस समय परिवर्तन हो जाता है जबकि दो कर्मचारी एक साथ चाय पीने जाते हैं और अपने तीसरे साथी से पूछते भी नहीं। इसी प्रकार यदि एक फैक्ट्री के 'क' कर्मचारी ने अपने यहाँ आयोजित प्रीतिभोज में 'ग' को निमन्त्रण भेज दिया तथा 'ख' को इसकी सूचना नहीं दी तो यह सम्भव है कि उपेक्षित व्यक्ति इस घटना को अपने कटु सम्बन्धों का आधार बना ले। हम विभिन्न संगठनों के व्यावहारिक जीवन का अध्ययन करने के बाद इसी प्रकार के अनेक उदाहरण प्राप्त कर सकते हैं जो मिलकर मानव-सम्बन्धों के विकास को अवरुद्ध कर देते हैं तथा विपरीत दिशा में मोड़ देते हैं। दिन-प्रतिदिन घटित होने वाली इन घटनाओं की उपेक्षा करना ठीक नहीं होता है।

5. विशेष मूल्य—संगठन के अनेक व्यक्तियों के अपने कुछ मूल्य होते हैं जिन पर वे किसी प्रकार की आँच नहीं आने देना चाहते। कई संगठनों में अधिकारी खुशामद-पसन्द होता है और ऐसा न करने वाले कर्मचारी के प्रति उसका व्यवहार कभी सहानुभूतिपूर्ण नहीं बन पाता। इसके विपरीत दूसरे कई संगठनों में अधिकारी खुशामद तथा चापलूसी को एक घृणित व्यवहार मानते हैं और ऐसा व्यक्ति उनकी दृष्टि में गिर जाता है। अधीनस्थ कर्मचारी भी प्रायः इन दोनों प्रकृतियों के मिल जाते हैं। एक संगठन का अधिकारी खुशामद-पसन्द है और उसके अधीनस्थ कर्मचारी भी चापलूसी करने के अभ्यस्त हैं तो इसका अन्य परिणाम चाहे कुछ भी हो, किन्तु मानव-सम्बन्धों की दृष्टि में यह अत्यन्त उपयोगी हो जाता है। समस्या तब उत्पन्न होती है जब खुशामद-पसन्द अधिकारी का अधीनस्थ अधिकारी एक स्वाभिमानी व्यक्ति होता है जो उसके घर जाना, उसकी अनावश्यक जीहुजूरी करना तथा गलत हाँ में हाँ मिलाना पसन्द नहीं करता परिणामस्वरूप दोनों के सम्बन्ध थोड़े समय में ही कटु हो जाते हैं। एक ओर उच्च अधिकारी को अपनी नीतियाँ क्रियान्वित करने तथा अपने आदेशों का पालन कराने में कठिनाई होती है और दूसरी ओर यह अधीनस्थ कर्मचारी भी नुकसान उठाता है। वह पदोन्नति, प्रतिष्ठा एवं अन्य कई लाभों से वंचित रह जाता है। इन सब के कारण कुल मिलाकर संगठन को नुकसान होता है।

6. अहंकारी प्रवृत्ति—कर्मचारियों की अहंकारी प्रवृत्ति भी उनमें अच्छे सम्बन्धों के विकास को रोकने का कारण बन जाती है। किसी न किसी मात्रा में अहं भावना प्रायः सभी व्यक्तियों में पाई जाती है। इस अहंकार

भावना से संगठन में तनाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। परिणामस्वरूप अनावश्यक टकराहट की भावना को बढ़ावा मिलता है।

अच्छे मानव-सम्बन्धों की स्थापना के प्रयास

(Efforts to Achieve Good Human Relations)

किसी भी संगठन में अच्छे मानवीय संबंधों की स्थापना के लिए अनेक प्रकार के प्रयास किये जा सकते हैं। इसलिए एक संगठन में मानव-सम्बन्धों का विकास करने का कार्य जिस अधिकारी को सौंपा जाए उसको मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र आदि विषयों का विशद ज्ञान होना चाहिए। इसका कारण यह है कि मानव-सम्बन्धों की प्रकृति एवं आधार व्यक्ति का मन एवं समाज के नियम होते हैं। इन दोनों को जब तक समझा नहीं जाएगा तब तक कर्मचारियों की क्रिया एवं प्रतिक्रिया का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अधिकारियों को समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान, इन दोनों ही विषयों में शिक्षण, प्रशिक्षण तथा अतिरिक्त ज्ञान प्रदान किया जाना चाहिए ताकि जिस समस्या को वे सुलझाना चाहते हैं पहले उसके कारणों का अध्ययन कर लें, रोग का इलाज करने से पूर्व बीमारी की प्रकृति को जान लें

यह कहा जाता है कि अधिकारियों को विभिन्न परिस्थितियों में रहने तथा व्यवहार करने का प्रशिक्षण प्रदान किया जाना चाहिए। उन्हें इस बात का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कराना चाहिए कि बदली हुई परिस्थितियों एवं सामाजिक वातावरण में लोग किस प्रकार का व्यवहार करते हैं। यह एक तथ्य है कि व्यावसायिक संस्थाओं में मानव-सम्बन्धों की समस्या को बड़े अच्छे ढंग से सुलझा लिया जाता है तथा संगठन में मधुर व्यवहार की स्थापना करली जाती है, किन्तु सरकारी संगठनों में यह बात नहीं होती है। अतः यह सुझाव दिया जाता है कि सरकारी एवं व्यक्तिगत व्यावसायिक दोनों ही प्रकार के संगठनों के कर्मचारियों का परस्पर आदान-प्रदान करते रहना चाहिए। इससे सरकारी संगठन के अधिकारी व्यक्तिगत व्यावसायिक संगठनों की मानव सम्बन्ध स्थापित करने की तकनीकों से परिचित हो जाएँगे तथा उनका वे अपने संगठनों में प्रयोग कर सकेंगे।

सरकारी संगठनों के निरीक्षण एवं निर्देशन से सम्बन्धित कर्मचारियों को मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि विषयों के अध्ययन के लिए प्रेरित किया जाए। इसके लिए यह उपयोगी होगा कि संगठन में पुस्तकालयों की स्थापना की जाए, सामयिक विचार-गोष्ठियों का आयोजन किया जाए, समय-समय पर विद्वानों एवं विचारकों के प्रसार भाषणों का आयोजन कराया जाए, वार्तालाप हों तथा अन्य प्रकार से विचारों का आदान-प्रदान किया जाए। इससे विचारों का सही-सही आदान-प्रदान हो सकेगा। यह कहा जाता है कि संगठन में अनौपचारिक सम्बन्ध तथा कर्मचारियों के बीच घनिष्ठता स्थापित करने के लिए यह उपयोगी होता है कि उन कर्मचारियों के अलग-अलग क्लब बनाए जाएँ और समय-समय पर नाटक आदि मनोरंजन के कार्यक्रम आयोजित किए जाएँ ताकि विभिन्न कर्मचारी एक-दूसरे को निकट से देख व समझ सकें। कई बार परिषद्-कक्षों (Counciling Rooms) का भी सुझाव दिया जाता है, जहाँ पर एक कर्मचारी की व्यक्तिगत समस्याओं को सुना तथा सुलझाया जा सके। इसके लिए क्षुब्ध कक्षों (Disturbed Rooms) की भी स्थापना करना उपयोगी रहेगा, क्योंकि एक कर्मचारी, जो अपनी किसी पारिवारिक समस्या से परेशान है, संगठन में अपने कार्यों को पूर्ण कुशलता के साथ पूरा नहीं कर सकता, अतः यह उपयोगी रहेगा कि उस कक्ष में उसकी समस्या को सुना जाए तथा उसे विश्वास दिलाया जाए। मानव-सम्बन्धों की समस्या समय के साथ-साथ जटिल होती जा रही है और इसकी अवहेलना अधिक दिनों तक नहीं की जा सकती है। हरबर्ट साइमन आदि विचारकों के अध्ययन एक प्रकार से आँखें खोलने वाले (Eye-opener) कहे जा सकते हैं। समय की यह माँग है कि इस समस्या के महत्त्व एवं प्रभाव को स्वीकार किया जाए तथा इसको सुलझाने की दिशा में त्वरित कदम उठाए जाएँ।

मानव-सम्बन्धों पर प्रयोग

(Some Experiments on Human Relations)

मानव व्यवहार पर उसके चरित्र, आदतों, भावनाओं, मूल्य, समाज-व्यवस्था, आदर्श, परम्परा एवं ऐसे ही अन्य तत्त्वों का जो प्रभाव पड़ता है वह संगठन में भी उसकी क्रियाओं को एक नवीन मोड़ देने का कारण बन जाता है। मानवीय सम्बन्धों का संगठन की कार्यवाहियों पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा उसमें अनौपचारिकताओं का निर्वाह किस प्रकार प्रारम्भ हो जाता है, आदि बातें विचारणीय समस्याएँ हैं। व्यापारिक एवं प्रशासकीय संगठनों के विद्वानों ने अनेक प्रयोगों द्वारा इन समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने का प्रयास किया है। इन प्रयोगों के आधार पर

मजदूर सन्तुष्ट हों। वैज्ञानिक प्रबन्ध के समर्थकों का यह कहना था कि मजदूरों के सन्तोष और उत्पादन की समस्याएँ मूल रूप से अथवा स्वाभाविक रूप से न सुलझने वाली समस्याएँ हैं, किन्तु मानव-सम्बन्धों के विचारकों का मत इससे भिन्न है। वे इन समस्याओं को सुलझाने में आशावादी दृष्टिकोण अपनाकर, इन्हें मानव-सम्बन्धों के आधार पर देखने का सुझाव देते हैं। इसके लिए प्रबन्ध को प्रशिक्षित करना होगा और इस दृष्टि से कुछ कदम उठाने होंगे। उदाहरण के लिए, कार्य पर सामाजिक समूहों के विकास को प्रोत्साहन देना होगा और ऐसा नेतृत्व प्रदान करना होगा जो प्रजातन्त्रात्मक हो, सहभागिता (Participation) को प्रोत्साहन दे और जिसमें संचार-साधनों को उपयुक्त महत्व प्रदान किया जाए। जब प्रबन्धात्मक अधिकारियों द्वारा मजदूरों की आवश्यकता की वास्तविक प्रकृति को, उनके औपचारिक सामूहिक जीवन को तथा संगठनों को भली-भाँति समझ लिया जाता है तो उनके आगे ऐसी कोई बाधा नहीं रहती जो उन्हें संगठनात्मक जीवन को प्रसन्न बनाने से रोक सके। मानव-सम्बन्धों के विचारकों ने यह बताया कि संगठन के कार्य और बनावट को कर्मचारियों की सामाजिक आवश्यकताओं से सम्बद्ध रखना चाहिए।[1] इस प्रकार यदि कर्मचारी प्रसन्न रहेंगे तो संगठन उनका पूरा सहयोग प्राप्त कर सकेगा तथा कार्यकुशलता को भी बढ़ा सकेगा। संगठन को विवेकपूर्ण (Rational) बनाने का तरीका यह है कि विचारपूर्ण प्रयासों द्वारा श्रमिकों की प्रसन्नता को बढ़ाया जाए। लोक प्रशासन में आजकल ऐसा साहित्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने लगा है जिसमें यह बताया जाता है कि कई फैक्ट्रियों में मजदूर काम में इतनी रुचि लेते हैं कि एक दिन या एक घंटे का काम भी वह किसी कारणवश छोड़ना नहीं चाहते, वे अपने फोरमैन को नाराज या असन्तुष्ट नहीं रखना चाहते तथा उसे अपने पिता के सदृश्य मानते हैं। कार्यकर्ताओं के ऐसे समूह को परिवार की उपमा दी जाती है।

इस सब विचार-विमर्श का निष्कर्ष यह है कि मानव-सम्बन्धों की विचारधारा संगठन के लक्ष्यों एवं मजदूरों की आवश्यकताओं के बीच पूर्ण सन्तुलन स्थापित करना चाहती है। इस विचारधारा में तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध (Scientific Management) की विचारधारा में जो अन्तर है वह इस सन्तुलन का ही परिणाम है। वैज्ञानिक प्रबन्ध का विचार है कि यदि बाधाओं को हटा दिया जाए तो यह सन्तुलन स्वाभाविक रूप से स्थापित हो जाएगा। मानव-सम्बन्धों का विश्वास है कि आदर्श राज्य का निर्माण विचारपूर्ण तरीके से किया जा सकता है। मानव-सम्बन्धों की अनेक रचनाओं में यह सुझाया गया है कि एक समाजशास्त्री को चाहिए कि वह प्रबन्ध का इस प्रकार मार्गदर्शन करे जिसके द्वारा वह स्वयं को सभी के लाभ के लिए समाज-निर्माण के कार्य में संलग्न कर सके।

वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा मानव-सम्बन्धों की विचारधाराएँ दो मुख्य मान्यताओं पर आधारित हैं—औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन की मान्यताएँ। औपचारिक संगठन का आधार वे तत्व हैं जिनको वैज्ञानिक प्रबन्ध द्वारा महत्वपूर्ण माना जाता है और अनौपचारिक संगठन का समर्थन मानव-सम्बन्धों के आधार पर किया जाता है। वास्तव में औपचारिक मान्यता संगठन के उस रूप को इंगित करती है जिसका नक्शा प्रबन्ध द्वारा खींचा जाता है। यह नियमों एवं उपनियमों पर अधिक जोर देती है। इससे भिन्न अनौपचारिक संगठन में कर्मचारी वर्ग अथवा मजदूरों के बीच सामाजिक संबंध विकसित हो जाते हैं जो कालान्तर के कार्यों को प्रभावित करते हैं तथा वास्तविक व्यवहार में उसके औपचारिक रूप को बहुत कुछ बदल देते हैं। संगठन के इन दोनों रूपों अर्थात् औपचारिक एवं अनौपचारिक के बीच क्या सम्बन्ध है तथा ये एक-दूसरे से किस प्रकार प्रभावित होते हैं, यह जानना वर्तमान समय में संगठन के विद्यार्थी का एक प्रमुख किन्तु अत्यन्त जटिल कार्य है। मानव-सम्बन्धों के लेखकों ने प्रयोगों एवं अपनी रचनाओं के आधार पर सफलताओं के साथ बता दिया है कि संगठन में मानवीय व्यवहार पर सामाजिक सम्बन्ध जैसे अनेक ऐसे तत्वों का उल्लेखनीय रूप से प्रभाव पड़ता है जिसका औपचारिक संगठन की दृष्टि में कोई महत्व नहीं है। फिर भी इस दृष्टिकोण की आलोचना की जाती है। यह कहा जाता है कि मानव-सम्बन्धों का दृष्टिकोण एकांगी है और इसने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय संगठन के औपचारिक रूप की जो आलोचना की है तथा जो कमियाँ बताई हैं वे कहीं-कहीं अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। सत्य प्रायः दो विरोधी अतिशयोक्तियों के बीच पाया जाता है। संगठन से सम्बन्धित इन दोनों सिद्धान्तों को यदि संयुक्त कर दिया जाए अथवा इनके बीच समन्वय (Synthesis) स्थापित कर दिया जाए तो यह सम्भावना है कि संगठन के रूप एवं कार्य से सम्बन्धित सही विचारधारा की अभिव्यक्ति हो सकेगी।

1. *Burliegh B. Gardner* Human Relations in Industry, 1945, p. 283.

औपचारिक एवं अनौपचारिक मान्यताओं के बीच समन्वय

(Synthesis between Formal and Informal Concepts)

संगठन के रूप एवं कार्यों से सम्बन्धित औपचारिक विचारधारा की प्रतिक्रियास्वरूप अनौपचारिक अथवा मानव-सम्बन्धों की विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। यह नवीन विचार पूर्वगामी विचार का प्रतिवाद था, किन्तु बाद के विचारकों ने यह देखा कि वे वाद (Thesis) तथा प्रतिवाद (Antithesis) दोनों ही संगठन के रूप का सही चित्रण करने में असमर्थ हैं तथा एकांगी हैं, अतः इन दोनों के बीच समन्वय (Synthesis) की स्थापना करना अनिवार्य है। इसके परिणामस्वरूप संगठन के विषय में एक नवीन दृष्टिकोण का जन्म हुआ जिसको संरचनावादी (Structuralist) कहा जाता है। इनके मतानुसार प्रत्येक संगठन में मित्रता एवं संघर्ष अपरिहार्य हैं, वे अवश्य होंगे तथा समय-समय पर इनको होना भी चाहिए। समाजशास्त्र मजदूरों या संगठन की आवश्यकताओं की पूर्ति का कोई यन्त्र नहीं है। इसका सम्बन्ध न तो प्रबन्ध का संगठन सुधारने से है और न कर्मचारियों का संगठन सुधारने से।

संरचनावादी दृष्टिकोण मूलतः मानव-सम्बन्धों की प्रतिक्रिया के रूप में अस्तित्व में आया है। यह स्वाभाविक है कि इसके द्वारा मानव-सम्बन्धों के लेखकों एवं उनके विचारों की कटु आलोचनाएँ की गई हैं। संरचनावादी विचारकों का मत है कि संगठन में कुछ अपरिहार्य विरोध संगठन और व्यक्ति की आवश्यकताओं के बीच, बौद्धिकता और अबौद्धिकता के बीच एवं अनुशासन और स्वायत्तता के बीच पैदा होते रहते हैं। इन विरोधों को कम किया जा सकता है, मिटाया नहीं जा सकता। मानव-सम्बन्धों के विचारकों ने व्यापारिक और औद्योगिक संगठनों को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया था, किन्तु संरचनावादी विचारकों ने अस्पतालों, जेलों, चर्चों, सेनाओं एवं स्कूलों आदि को भी अपने अध्ययन में शामिल कर लिया।

मानव-सम्बन्धवादियों की संरचनावादियों द्वारा आलोचना

(Structuralists' Criticism)

संरचनावादी विचारकों का मत है कि मानव-सम्बन्ध का दृष्टिकोण संगठन का पूरा चित्रण नहीं कर पाता है। इसका पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण प्रबन्ध का समर्थन करता है और मजदूरों को भ्रमित करता है।[1] संरचनावादी विचारक संगठन को एक बड़ी तथा जटिल सामाजिक इकाई के रूप में देखते हैं जिसमें अनेक सामाजिक समूह प्रतिक्रियारत रहते हैं। संरचनावादी एवं मानव-सम्बन्धवादी मान्यताओं के बीच पाए जाने वाले अन्तरों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है। ये अन्तर ही मानव-सम्बन्धों के दृष्टिकोण की आलोचनाएँ हैं—

1. समुदायों की प्रतियोगी प्रवृत्ति—संरचनावादी विचारकों का कहना है कि संगठन पर प्रतिक्रिया करने वाले सामाजिक समूहों के अपने स्वयं के मूल्य होते हैं और ये मूल्य संगठन के मूल्यों के अनुरूप भी हो सकते हैं तथा विपरीत भी। इसलिए यह सम्भावित ही नहीं, स्वाभाविक भी है कि विभिन्न समुदाय कुछ विषयों में सहयोग करेंगे और कुछ दूसरे विषयों में प्रतिस्पर्द्धा। ऐसा नहीं हो सकता कि सब पूर्णरूप से परस्पर सहयोगी बन जाएँ। मानव-सम्बन्धों के लेखकों के मतानुसार इन समूहों को एक बड़ा सुखी परिवार बनाया जा सकता है, किन्तु संरचनावादी लेखकों के अनुसार यह केवल एक सुखद कल्पना है।

2. संघर्ष की स्वाभाविकता—संगठन में जिन समूहों के हित प्रायः एक दूसरे के विरुद्ध टकराते हैं, वे हैं—प्रबन्ध तथा मजदूर। इसका कारण यह बताया जाता है कि प्रबन्ध मूल रूप से मजदूरों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्धों की स्थापना का प्रयास करता रहता है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि इस प्रक्रिया में कई मोड़ों पर ये दोनों आपस में टकरा जाएँ। मजदूरों को सन्तुष्ट करने के अनेक साधन हैं, किन्तु उनमें से कोई भी एक पूर्ण नहीं माना जा सकता। अतः मानव-सम्बन्धों के विचारकों का यह दावा कि वे अपने सुझावों से संगठन को संघर्ष-विहीन बना सकते हैं, दुःसाहस मात्र है।

3. निराशापूर्ण दृष्टिकोण—यह सच है कि मानव-सम्बन्धों के दृष्टिकोण द्वारा कुछ ऐसे मार्ग सुझाए जाते हैं जिनके द्वारा संगठन में व्याप्त निराशा को कम किया जा सकता है, किन्तु इन मार्गों को अपनाने की कुछ स्पष्ट सीमाएँ हैं। यह हो सकता है कि कार्य पर सामाजिक समूहों का विकास मजदूरों के दिवस को प्रसन्नतापूर्ण बना दे, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे एक ही कार्य को बार-बार करना छोड़ देंगे अथवा उत्पादनात्मक कार्य करने से रुक जाएँगे। चिनाय (Chinoy) का कहना है कि मजदूर लोग अपना अधिकांश समय अर्द्ध-चेतनावस्था

---

1. *Reinhard Bendix and Lloyd H. Fisher*; The Perspectives of Elton Mayo.

में कार्य करते हुए व्यतीत करते हैं। कार्य के बाद वे क्या करेंगे, इसके स्वप्न लिया करते हैं और इसी से उनको सन्तोष प्राप्त होता है।[1]

4. अवास्तविक विचार—मानव-सम्बन्धों के विचारक संगठन की आनन्ददायक किन्तु अवास्तविक तस्वीर सामने रखते हैं। वे उन समूहों को शक्ति-संघर्ष न मान कर एक परिवार मानते हैं। ये संगठन को अलगाव का प्रतीक न मान कर मानवीय सन्तोष का स्रोत मानते हैं। इन सब मान्यताओं के कारण ये विचारक कार्यकारी जीवन की वास्तविकताओं से अपने आपको पृथक् कर लेते हैं। मजदूरों के असन्तोष का कारण यह बताया जाता है कि वह परिस्थिति को पूरी तरह समझ नहीं पाता। इसके मतानुसार संगठन के संघर्ष हितों के वास्तविक संघर्ष के परिणाम न होकर केवल गलत सूचना अथवा अर्द्ध-सूचना के परिणाम मात्र होते हैं।

5. आर्थिक प्रेरकों की अवहेलना—मानव-सम्बन्धों के लेखकों ने आर्थिक प्रेरकों पर इतना अधिक जोर दिया है कि वे अपने वर्णन में वास्तविकताओं की परिधि से बाहर चले गए हैं। अपने पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण के कारण वे भौतिक पुरस्कारों के महत्व को नहीं जान पाते। संरचनावादी विचारक उस समय बड़े नाराज होते हैं जब एक मजदूर को सन्तुष्ट करने के लिए उसे सामाजिक सम्मान सौंपा जाता है और उसके वेतन में वृद्धि नहीं की जाती है।

6. एकरसता असम्भव है—मानव-सम्बन्धों के प्रायः सभी लेखक यह मानते हैं कि औद्योगिक संघर्ष अवांछनीय होते हैं, अतः इन लेखकों ने औद्योगिक सामंजस्य (Harmony) बढ़ाने के प्रयासों पर पर्याप्त जोर दिया है। इसके विपरीत संरचनावादियों का कहना है कि संघर्ष के अनेक महत्वपूर्ण कार्य होते हैं। स्वयं संगठनात्मक व्यवस्था के लिए संघर्ष महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि ये विचारक संघर्ष मिटाने के कृत्रिम साधनों का विरोध करते हैं। संघर्षों द्वारा हितों एवं विचारों के बीच भिन्नता पैदा होती है और इन भिन्नताओं के माध्यम से संगठन अपनी कमजोरियों से परिचित हो जाता है तथा उनको दूर करने का प्रयास करता है। यदि संघर्षों को दबा दिया जाए या अप्राकृतिक साधनों द्वारा भुला दिया जाए तो संगठन अपनी कमजोरियों से परिचित नहीं हो पाता और इस प्रकार भविष्य में उसके लिए खतरे बढ़ जाते हैं। इस प्रकार से संरचनावादी संघर्ष को अपरिहार्य और स्वाभाविक मानते हैं।

7. सक्रिय योगदान असम्भव—मानव-सम्बन्धों का दृष्टिकोण प्रजातन्त्रात्मक परम्पराओं को स्वीकार करता हुआ इस बात पर जोर देता है कि संगठन के कार्यों में श्रमिकों को सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए। उनको निर्णय के लिए वाद-विवाद में भाग लेना चाहिए। संरचनावादी विचारकों का कहना है कि यह व्यवहार यद्यपि देखने में आकर्षक लगता है, किन्तु व्यवहार में यह अर्थहीन तथा निराशाजनक है। जब कभी इस प्रकार का वाद-विवाद होता है तो उसमें निर्णय प्रायः पहले से ही लिए जा चुके होते हैं तथा सम्मेलन का वास्तविक लक्ष्य उन निर्णयों पर श्रेणी के कर्मचारियों का समर्थन प्राप्त करना होता है। निम्न श्रेणी के अधिकारियों को निर्णय लेने की शक्ति प्रायः ऐसे विषयों पर दी जाती है जो अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण होते हैं अथवा जिनसे शीर्ष के प्रबन्धकों का कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

मानव-सम्बन्धों के दृष्टिकोण की ये सभी आलोचनाएँ बहुत कुछ सही हैं। यह सच है कि इन लेखकों के विचार एकांगी हैं, तथापि इसके महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। केवल कट्टर विरोधी ही इस बात से इंकार कर सकता है कि बढ़ा हुआ सत्कार तथा जिम्मेदारी एवं सामाजिक पुरस्कार वेतन में वृद्धि न करने पर भी मजदूरों के जीवन और कार्य को सुधारने में सहायक बनाते हैं। वास्तव में मानव-सम्बन्धों का दृष्टिकोण उनके *आर्थिक हितों को बलिदान किए बिना भी सामाजिक स्थिति को सुधार सकता है।*

संगठन के प्रति एक सन्तुलनपूर्ण दृष्टिकोण

(A Balanced Approach towards Organisation)

संगठन के अध्ययन से सम्बन्धित अब तक के अधिकांश विचार एकपक्षीय, अधूरे तथा दुराग्रहपूर्ण रहे हैं। संगठन के रूप एवं प्रक्रियाओं का एक सन्तुलित तथा पूर्ण अध्ययन केवल वही माना जा सकता है जो न तो प्रबन्ध का समर्थक हो न ही मजदूरों का। साथ ही यह अध्ययन ऐसा हो जो संगठन का विश्लेषण करते समय किन्हीं पूर्व मान्यताओं अथवा मूल्यों को लेकर न चले। इसका क्षेत्र इतना विस्तृत हो कि सभी प्रकार के संगठनों को तथा एक संगठन के सभी तत्वों को इसमें समाहित किया जा सके। यह आर्थिक प्रेरकों तथा सामाजिक प्रेरकों पर समान

1 *Eli Chinoy* Automobile Workers and the American Dream, 1955

रूप से जोर दे। इसमें सगठन तथा उसके वातावरण के बीच होने वाली क्रिया एवं प्रतिक्रिया का अध्ययन किया जाए। मानव-सम्बन्धों के विभिन्न लेखों का सावधानी से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि औपचारिक एव अनौपचारिक तत्त्वों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है, किन्तु इन दोनों प्रकार के तत्त्वों को परस्पर सम्बद्ध करके क्रमिक रूप में दिखाने का प्रयास किया गया है। यह कार्य करने का श्रेय संरचनावादियों को प्रदान किया जा सकता है।

मानव-सम्बन्धों पर किए गए अनेक अध्ययनों में यह बताया गया है कि औद्योगीकरण के प्रभाव से सामाजिक जीवन विघटित होता जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप सगठन में अनेक अनौपचारिक समूह बन रहे हैं जिनका मनोवैज्ञानिक एव समाजशास्त्रीय महत्त्व है। मानव-सम्बन्धों के लेखकों ने यह स्पष्ट नहीं किया कि इस प्रकार के समूह कितने सामान्य हैं, इनका आपसी सम्बन्ध क्या है तथा उनका तुलनात्मक महत्त्व क्या है। सरचनावादियों ने अपने संगठनात्मक अनुसधानों में यह देखा कि अनौपचारिक कार्य समूह अधिक सामान्य नहीं हैं और मजदूरों का बहुमत किसी भी ऐसे समूह से सम्बन्धित नहीं होता।

ड्यूबिन (Dubin), वॉकर तथा गैस्ट (Walker and Guest), वॉल्मर (Vollemer) आदि ने अनेक प्रयोगों के आधार पर इस मत का समर्थन किया है। वास्तव में इस विरोधाभास का कारण यह है कि मेयो (Mayo) तथा उनके अनेक अनुयायियों ने यह कल्पना की थी कि औद्योगीकरण के फलस्वरूप सभी सामाजिक एवं धार्मिक सस्थाएँ विघटित होकर समाप्त हो जाएँगी, उस समय फैक्ट्री व्यक्ति का घर बन जाएगी जहाँ उसकी भावनाएँ सुरक्षित रह सकेंगी, व्यक्त हो सकेंगी तथा पनप सकेंगी। प्रबन्ध को उस समय सामाजिक तथा भावनात्मक आश्रय प्रदान करना होगा तथा बदले में उसे कठिन कार्य एवं सन्तोषजनक श्रम-शक्ति प्राप्त होगी। यह 'कल्पना' सत्य नहीं बन सकी क्योंकि इसके आधार ही गलत थे। आज सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं का रूप निश्चय ही बदल गया है, किन्तु वे पूरी तरह समाप्त नहीं हुए हैं। अतः इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि आज का मजदूर जब फैक्ट्री आता है तो वह भावनात्मक दृष्टि से भूखा नहीं होता। कुछ नवीन तथा कुछ पुरातन सामाजिक संस्थाएँ उसकी आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। यही कारण है कि अनौपचारिक समूह मजदूरों में सामान्य नहीं हैं। संगठन पर उस वातावरण का प्रभाव, जिसमें वह कार्य कर रहा होता है, अत्यन्त मौलिक एवं रचनात्मक होता है। संगठन के बाहर की अनेक प्रक्रियाएँ संगठन की कार्यवाहियों पर कई बार निर्णायक प्रभाव डालती हैं। दूसरे सगठनों तथा उच्च सगठनों, जैसे सरकार, आदि का उस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। एक संगठन के मजदूर तथा हिस्सेदार अन्य कई सगठनों के भी सदस्य होते हैं। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखकर ही सगठन की समस्याओं का अध्ययन किया जाना चाहिए।

सरचनावादियों का यह विचार है कि पुरस्कार के प्रति वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा मानव-सम्बन्धों का दृष्टिकोण—दोनों के ही विचार आंशिक हैं, अतः दोनों के अध्ययन को सयुक्त कर देना चाहिए। सामाजिक आदर एवं भावनाओं के पुरस्कारों का निश्चय ही महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसलिए कई बार व्यक्ति कम वेतन पाने पर भी पदोन्नति को इसलिए स्वीकार कर लेता है कि उसका सम्मान होगा; समाज, परिवार, पड़ोस में उसका स्तर ऊँचा हो जाएगा। प्रतीकात्मक पुरस्कार केवल तभी प्रभावकारी हो सकते हैं जबकि उसको प्राप्तकर्ता की पत्नी, मित्रों एवं पड़ोसियों द्वारा प्रशसा की दृष्टि से देखा जाए। यद्यपि सामाजिक पुरस्कार सगठन में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं तथापि इससे भौतिक पुरस्कारों का मूल्य कम नहीं हो जाता। कई बार केवल अधिक धन-प्राप्ति के लिए उच्च पद को छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार औपचारिक एव अनौपचारिक सिद्धान्त या सगठन के प्रति वैज्ञानिक प्रबन्धात्मक और मानवीय सम्बन्धात्मक दृष्टिकोणों की मान्यताओं में एकांगीपन था, उनका अध्ययन पूर्ण एव सन्तुलित नहीं था। लोक प्रशासन के विचारकों एव लेखकों ने तथा संगठन के विद्यार्थियों ने इस तथ्य को समय-समय पर देखा है, परखा है और इसके सम्बन्ध में अपने सुझाव प्रस्तुत किए हैं। इस दृष्टि से संरचनावादियों की देन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। लोक प्रशासन के अनेक विचारक आज भी संरचनावादियों के तर्कों को मानने की अपेक्षा संगठन के अन्य दो दृष्टिकोणों में से ही किसी एक को मान लेते हैं तथा उसके स्पष्टीकरण में अपने विचार व्यक्त करते हैं किन्तु ह्वाइट आदि का कहना है कि ये विचारक भी अपने सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को विकसित करते जा रहे हैं और इस प्रकार अनजाने ही अचेतन एवं अप्रत्यक्ष रूप से संश्लेषण (Synthesis) के मार्ग की ओर बढ़ते जा रहे हैं।

लोक प्रशासन की अध्ययन विधियाँ और दृष्टिकोण

(Methods and Approach of Public Administration)

अन्य सामाजिक विज्ञानों की भांति लोक प्रशासन के लिए भी यह प्रश्न मूल महत्त्व का है कि उसका अध्ययन किस दृष्टि एवं विधि से किया जाए ? मौलिक शोध द्वारा सामान्य नियमों का विकास करना (High level generalisation) किसी भी विषय के अध्ययन का उद्देश्य होता है। लोक प्रशासन को चाहे किसी भी दृष्टि या किसी भी अध्ययन-प्रणाली के माध्यम से देखा, परखा या विश्लेषित किया जाए उसके अध्ययन-सम्बन्धी दृष्टिकोण (Approaches) में दो सावधानियाँ रखना आवश्यक है—(1) एक तो यह दृष्टिकोण रहस्यात्मक (Mystrical), अन्तर्ज्ञानपरक (Intuitive) अथवा विशुद्ध विचारात्मक (Normative) कम और प्रयोगात्मक (Experimental), अनुभवपरक (Pragmatic) एवं व्यावहारिक (Empirical) बुद्धि पर आधारित हो तथा (2) अध्ययन की पूर्णता के हित में दृष्टि इतनी व्यापक, विस्तृत एवं गहन हो कि वह विशेषीकरण के साथ-साथ व्यवस्था की समग्रता का आभास दे सके और इस विवेच्य विषय की विभिन्नताओं के सन्दर्भ में आँक सके। अध्ययन-विधियाँ 'दृष्टि' की मूल मान्यताओं या धारणाओं पर आधारित होती हैं। लोक प्रशासन के अध्ययन-क्षेत्र में कुछ प्रमुख दृष्टिकोण इस प्रकार हैं—

परम्परावादी अथवा शास्त्रीय या संगठनात्मक दृष्टिकोण
(Traditional or Classical or Structural Approach)

परम्परावादी या शास्त्रीय या संगठनात्मक दृष्टिकोण को व्हाइट, विलोबी और एण्डरसन के युग का दृष्टिकोण माना जाता है। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद, जबकि लोक प्रशासन का विज्ञान जन्म ले रहा था, इन लेखकों ने युग की अनुरूपता से वर्णात्मकता स्वीकार की और एक कानूनी दृष्टि से शासन-प्रक्रिया को विश्लेषित करने के लिए वर्णनात्मकता, औपचारिकता, ऐतिहासिकता एवं वैधारिकता को प्रधानता दी। परम्परावादियों की यह मान्यता थी कि लोक प्रशासन की मूल समस्याएँ संगठन के कानूनी ढांचे में जन्म लेती हैं जो संगठन के अन्तर्सम्बन्धों को औपचारिकता से प्रस्तुत कर उसकी समस्याओं को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है। इस दृष्टिकोण के लेखक संगठन के सिद्धान्त, संगठनों की विविधताएँ एवं संगठन की आवश्यकताएँ आदि प्रश्नों को केन्द्रीय बनाकर चले हैं। 'इतिहास और कानून' इनके दो प्रमुख स्रोत हैं और उनसे अपनी सामग्री लेते हुए, वे वर्णन और वैधारिकता को प्रधानता देते हैं। इस तरह इस परम्परावादी दृष्टिकोण को शास्त्रीय (Classical), संगठनात्मक (Structural) वैधानिक (Legal), औपचारिक (Formal), ऐतिहासिक (Historical), विशुद्ध विचारात्मक (Normative) तथा वर्णनात्मक निर्धारित दृष्टिकोण *(Descriptive Prescriptive Approach)* कहा जाता है। इस दृष्टिकोण के लेखकों ने प्रत्यायोजन, पर्यवेक्षण, नियन्त्रण रेखा, नौकरशाही आदि के सिद्धान्तों को इस तरह देखा है जैसे ये ढाँचे के प्रश्न हो और 'यदि ऐसा कर दिया जाए तो ऐसा अपने आप हो जाएगा।' बाइबिल के दस उपदेशों की तरह यह दृष्टिकोण समस्याओं का सरलीकरण करता है और संस्थाओं के बाहर देखने को तैयार नहीं है। गुलिक, उर्विक, मूनी, फैयोल आदि लेखकों ने अपने संगठनों के ग्राफ और मानचित्र प्रस्तुत किए हैं और कानूनी ज्ञान को प्रशासनिक ज्ञान का पर्यायवाची समझा है।

परम्परावादी दृष्टिकोण की आलोचना

(1) यह लोक प्रशासन के क्षेत्र को इतना संकीर्ण बनाता है कि उसे एक पृथक् अध्ययन-शास्त्र कहना कठिन बन जाता है।

(2) वर्णन पर केन्द्रित ये अध्ययन इतने सतही (Superficial) लगते हैं कि इनमें विवेचना (Description) और विश्लेषण (Analysis) का अभाव खटकता है। यहाँ तक कि इसमें विश्लेषण के लिए कोई स्थान नहीं है।

(3) इन अध्ययनों में व्यर्थ की अति आदर्शवादिता है, जो यह मानकर चलती है कि व्यक्ति एक बहुत ही तर्क एवं विवेक-सम्मत आचरण करने वाला प्राणी है। इसमें यथार्थ की उपेक्षा की गई है।

(4) इस दृष्टिकोण ने समस्याओं को न छूकर, स्वयं को केवल उपदेशों तक ही केन्द्रित रखा है। समस्याओं के समाधान के ठोस सुझाव प्रस्तुत नहीं किये गये हैं।

(5) लोक प्रशासन का एक बहुत बड़ा मानवीय एवं सामाजिक पहलू इस दृष्टि के क्षेत्र से इसलिए ओझल रहा है कि यह कानून और वर्णन की सीमा-रेखाओं के बाहर था।

(6) यह दृष्टिकोण जटिल प्रशासनिक समस्याओं को सरल, सकीर्ण एवं विवादी मानकर देखने का प्रयत्न करता है, जो आज की जटिल प्रशासनिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण नहीं कर सकता है।

विविध अध्ययन पद्धतियाँ—परम्परावादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत लोक प्रशासन के अध्ययन के लिए जो विभिन्न पद्धतियाँ अपनाई जाती रही है, वे निम्नलिखित हैं–

(1) वैधानिक पद्धति (Legal Approach)—यौरोप के अनेक देशों- जर्मनी, बेल्जियम, फ्रांस आदि में लोक-प्रशासन का अध्ययन वैज्ञानिक अथवा विधानशास्त्रीय दृष्टि से किया जाता है। इन देशों में लोक-विधि (Public Law) को सांविधानिक (Constitutional) और प्रशासकीय (Administrative) विधि में विभाजित किया जाता है तथा लोक प्रशासन का अध्ययन प्रशासकीय विधि के आधार पर किया जाता है। सांविधानिक विधि का उद्देश्य मौलिक रूप से सरकार के तीनों अंगों का अलग-अलग वर्णन कर, उनके आपसी सम्बन्धों की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करना है। जबकि प्रशासकीय विधि का सम्बन्ध राज्य, स्थानीय शासन-संस्थाओं, सार्वजनिक निगमों तथा सरकार के विभिन्न विभागों के संगठनों, कार्यों उनके सह-सम्बन्धों, तत्त्वों आदि की व्याख्या करने से है। इस प्रकार फ्रांस, जर्मनी, बेल्जियम आदि राष्ट्रों के प्रशासन सम्बन्धी अध्ययन मुख्यतः प्रशासकीय सत्ता एवं उसकी प्रक्रियाओं के वैधानिक या कानूनी आधारों तक ही सीमित रहा है। फ्रांस में प्रशासकीय कर्मचारियों के प्रशिक्षण के समय वैधानिक ज्ञान पर अधिक बल दिया जाता है। इंग्लैण्ड और अमेरिका में भी लोक प्रशासन के अध्ययन की वैधानिक पद्धति को काफी समर्थन मिला है और इसीलिए प्रशासकीय विधि तथा प्रशासकीय न्याय का अध्ययन आरम्भ हुआ है। संयुक्त राज्य अमेरिका में नियामकीय अभिकरणों (Regulatory Agencies) और उनकी प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में बहुत कुछ वैधानिक दृष्टिकोण अपनाया गया है। लोक-प्रशासन को वैधानिक ढाचे में रहकर काम करना होता है, अत उस ढाँचे को समझने के लिए वैधानिक दृष्टिकोण उपयोगी है, तथापि इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक दृष्टियों की उपेक्षा की गई है। समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि का सर्वथा परित्याग करने के फलस्वरूप प्रशासन का वैधानिक अध्ययन एकदम शुष्क, औपचारिक तथा रूढ़िवादी बन जाता है। प्रशासकीय कार्य-कलापों और व्यवहार के सजीव आधारों की उपेक्षा सर्वथा त्याज्य है। इससे लोक प्रशासन में मानवीय तत्त्वों का समावेश नहीं हो पाता है।

(2) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Approach)—ऐतिहासिक ज्ञान किसी भी प्रशासन के अध्ययन के लिए उपयोगी या मूल्यवान है। जो प्रशासन भूतकालीन प्रशासकीय संस्थाओं के अनुभवों से लाभ उठाता है वह सुगमता से सफलता की ओर अग्रसर होता है। प्राय. हर राष्ट्र का प्रशासन प्राचीन परम्पराओं से बहुत हद तक प्रभावित रहता है और उन परम्पराओं को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि इतिहास का ज्ञान न हो अथवा ऐतिहासिक पद्धति का आश्रय न लिया जाए। बहुत-सी आधुनिक प्रशासकीय समस्याओं का समाधान इतिहास द्वारा संचित प्रशासकीय अनुभवों में अन्तर्निहित है। इतिहास बतलाता है कि अनेक वर्तमान कालीन प्रशासकीय संस्थाओं और व्यवस्थाओं को किस प्रकार आरम्भ किया गया है और विकास के किन चरणों को पार करते हुए उन्हें वर्तमान रूप दिया जा सका है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से मौर्यकालीन शासन-पद्धति और प्रशासकीय संस्थाओं की विस्तृत सूचना प्राप्त होती है तो प्रो. व्हाइट की (The Federalists, 1948) में अमेरिका के प्रथम चालीस वर्षों के अमेरिकी संघ-प्रशासन का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में, ऐतिहासिक ज्ञान की अनुपस्थिति में प्रशासन का अध्ययन अपूर्ण रहता है। प्रशासन की ऐतिहासिक पद्धति से ही मिलती-जुलती कथात्मक अथवा संस्मरणात्मक पद्धति (Biographical Method) है जिसका आशय है विख्यात् एवं निपुण प्रशासकों के अनुभवों और कार्यों के अभिलेखों की अध्ययन-प्रणाली। ये संस्मरण चाहे स्वयं उन्होंने लिखे हों अथवा दूसरों ने, यह निश्चित है कि उनके अध्ययन से प्रशासकीय समस्याओं तथा निर्णय-प्रक्रियाओं का बहुत कुछ वास्तविक और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है। संस्मरणात्मक पद्धति ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से उपयुक्त है और इंग्लैण्ड में आज भी लोकप्रिय है। इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें राजनीतिक प्रभाव का आधिक्य पाया जाता है। ये संस्मरण प्रशासकीय कार्यों की अपेक्षा प्रशासकीय महत्त्व की बातों पर प्राय अधिक बल देते हैं।

इस दोष से बचने के लिए वर्तमान समय में प्रशासकीय अनुभव-प्राप्त लोग अपने अनुभवों को इस प्रकार लेखबद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं जो लोक प्रशासन की प्रगति में सहायक हो सकें।

(3) विषय-वस्तु-पद्धति (Subject-Matter Approach)—इस पद्धति के अन्तर्गत प्रशासन के किन्हीं सामान्य सिद्धान्तों का अध्ययन नहीं किया जाता वरन् विशिष्ट सेवाओं अथवा कार्यक्रम विशेष के अध्ययन पर बल दिया जाता है। उदाहरणार्थ शिक्षा, प्रतिरक्षा, पुलिस, राजस्व का निर्धारण एवं संग्रह आदि विशिष्ट विभाग पृथक्-पृथक् रूप से अध्ययन की विषय-वस्तु बनते हैं। इंग्लैन्ड, भारत आदि में इस पद्धति का प्रयोग इन विशेष सेवाओं के अध्ययन के लिए काफी समय से किया जा रहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका में लम्बे अर्से से स्थानीय प्रशासन की समस्याओं का अध्ययन इसी पद्धति से होता रहा है और हाल ही के वर्षों में राष्ट्रीय स्तर पर अमेरिकी प्रशासन के अध्ययन क्षेत्र में भी इस पद्धति का प्रयोग किया जाने लगा है। इस अध्ययन-पद्धति में अन्तर्निहित दर्शन यह है कि संगठन और प्रशासन लक्ष्य-प्राप्ति के दो प्रभावशाली साधन हैं तथा प्रयोगों से पृथक् करके उनका अध्ययन उपयोगी नहीं होगा। विशिष्ट सेवाओं अथवा विभागों द्वारा जो अभिलेख, सांख्यिकी, शोध-आयोगों के प्रतिवेदन आदि रखे जाते हैं उनसे बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती है जिसके आधार पर प्रशासन के स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डाला जा सकता है। इस क्षेत्र में गौस एवं वाल्काट की पुस्तक *'Public Administration and the United States Department of Agriculture'* एक अच्छी पुस्तक है और उसके प्रकाशन के बाद विभागीय अथवा अन्तर्विभागीय प्रशासकीय सेवाओं और कार्यक्रमों के अध्ययन पर और भी बहुत-सी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं।

(4) वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Method)—लोक प्रशासन के अध्ययन में "वैज्ञानिक प्रबन्ध" (Scientific Management) आन्दोलन लोक प्रशासन की विविध और मूलभूत समस्याओं का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धतियों और मान्यताओं के अनुसार करना चाहता है। लोक-प्रशासन के क्षेत्र में इस पद्धति को लोकप्रिय बनाने का श्रेय टेलर (F. W. Tylor) को है, अतः इसे 'टेलरवाद' (Taylorism) की संज्ञा भी दी जाती है। टेलर के अनुसार, निजी उद्योग के क्षेत्र और लोक प्रशासन के क्षेत्र में कार्यकुशलता सम्बन्धी समस्याएँ समान हैं। उनमें कोई मौलिक या आधारभूत भिन्नता नहीं पाई जाती है। टेलर ने काम करने के 'एक ही सर्वोत्तम तरीके' पर विचार व्यक्त किए हैं। तदनुसार प्रत्येक प्रकार के कार्य के प्रबन्ध के लिए सर्वोत्तम सिद्धान्त वैज्ञानिक आधार पर खोजे जा सकते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में लोक प्रशासन के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है। इस विचारधारा को पर्याप्त समर्थन मिला है कि लोक प्रशासकीय कर्मचारियों की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए व्यक्तिगत अथवा निजी प्रशासन की भाँति वैज्ञानिक विचारधारा का प्रयोग किया जा सकता है तथा उसके बारे में बहुत कुछ सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन सम्भव है। वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार उन कार्यों का विश्लेषण किया जाता है जो जनता के सम्मुख रखे गये हों, उनके साथ व्यक्तियों का तालमेल बैठाया जाता है, उनके साथ लक्ष्यों से सम्बन्धित व्यापक अनुभवों का सम्पर्क स्थापित किया जाता है और तत्पश्चात् नेतृत्व, आदर्श आदि के द्वारा लक्ष्यों के एक समूह से दूसरे समूह में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। यह वैज्ञानिक प्रबन्धवाद कार्यकुशलता को मुख्य-लक्ष्य के रूप में ग्रहण करते हुए प्रशासन को ऐसी तकनीकी समस्या मानता है जो मूल रूप में समविभाजन के कार्यों के विशेषीकरण से सम्बन्धित है।[1] लोक प्रशासन में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग का आशय यह है कि पर्यवेक्षण, प्रकार, विश्लेषण आदि को अपनाकर सामान्य सिद्धान्तों का निरूपण किस सीमा तक किया जा सकता है। इस पद्धति को भी आलोचना का शिकार बनना पड़ा है। इस टेलरवादी दृष्टिकोण का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें मानवीय तत्त्व के महत्त्व की उपेक्षा कर दी गई है। टेलरवाद की कमी को इंगित करते हुए उर्विक ने ठीक ही लिखा है कि "यह बात अधिकाधिक स्पष्ट रूप से अनुभव की जा रही है कि कार्य, कार्य में व्यक्ति को लगाने और कार्यों को व्यवस्थित तथा परस्पर सह-सम्बन्धित करने की समस्याओं के साथ ही एक चौथी समस्या वर्ग (Group) के रूप में ही गतिशील तथा शक्तिशाली बनाने की है। प्रबन्ध का यह चौथा पहलू सम्भवत इन चारों से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और जटिल है।"[2]

व्यवहारवादी दृष्टिकोण (Behavioural Approach)

व्यवहारवाद को केवल एक दृष्टि ही नहीं, बल्कि समग्र क्रान्ति कहा जाता है। परम्परावादी दृष्टि केवल लोक प्रशासन में ही नहीं बल्कि सभी सामाजिक विज्ञानों के लिए इतनी अपूर्ण और अपर्याप्त पाई गई कि उनमें अधिक व्यावहारिक एवं उपयोगी ज्ञान की खोज होना स्वाभाविक था। दूसरे विश्व-युद्ध के आसपास लोक प्रशासन के

1. *Waldo* Op cit, pp 47-61
2. *L F Urwick* The Pattern of Management, pp 50 51

लेखक यह अनुभव करने लगे कि लोकोक्तियों से काम नहीं चलेगा जो ज्ञान के नाम पर स्वयंसिद्ध बातें प्रस्तुत करती हैं। हरबर्ट साइमन ने तो लोक प्रशासन की लोकोक्तियाँ (Proverbs of Administration) नाम से एक लेख भी लिखा और यह कहा कि वर्णनात्मक दृष्टि आवश्यक होते हुए भी पर्याप्त नहीं है।[1] साइमन के बाद ब्लाउ-मर्टन, वीडनर, सायर्स, हैडी स्टोक्स, रिग्स आदि अनेक महत्त्वपूर्ण लेखक लोक प्रशासन को व्यवहारवादी दृष्टि से देखने के लिए आगे आए। उन्होंने औपचारिक दृष्टि को अस्वीकार नहीं किया बल्कि उसमें व्यवहारवादी मान्यताएँ जोड़ कर उसे पूर्ण बनाने की दिशा में पहल की। अतः व्यवहारवादी दृष्टिकोण परम्परावादी दृष्टिकोण का स्थान नहीं लेता बल्कि उसका पूरक है। लोक प्रशासन के अध्ययन में विशेष बल इस बात पर दिया जाना चाहिए कि प्रशासनिक संगठन में मानवीय व्यवहार का स्वरूप कैसा होता है और विभिन्न प्रकार के संगठन किस प्रकार अपनी गतिविधियाँ संचालित करते हैं। व्यवहारवादियों का दावा है कि विभिन्न प्रकार के संगठनों में मानवीय व्यवहार और आचरण का निष्पक्ष परीक्षण तथा अध्ययन सम्भव है। व्यवहारवादियों का यह भी तर्क है कि प्रशासनिक संगठनों की व्यावहारिक गतिविधियों के सावधानीपूर्वक अध्ययन करके प्रशासन और संगठन के बारे में निश्चित रूप से कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

व्यवहारवादी दृष्टिकोण की मूल मान्यताओं की डेविड ईस्टन, ए डहाल, कैटलिन आदि राज्यशास्त्रियों ने विस्तार से विवेचना की है। उनका कहना है कि–

1. व्यवहारवादी यह मानते हैं कि अध्ययन की इकाई (Unit of Conceptualisation) जब तक बहुत विशाल (Macro) रहेगी तब तक अध्ययन गहन नहीं बन सकेगा अतः इस विशालता को विशेषीकरण की दृष्टि से तोड़कर 'लघुता' (Micro) की इकाइयों में परिवर्तित किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, किसी भी भीमकाय संगठन का वर्णन करने के साथ-साथ यदि यह अध्ययन किया जाए कि इस संगठन में पर्यवेक्षण-प्रक्रिया किन-किन तत्त्वों से बाधित होती है तो अध्ययन अधिक सार्थक और उपयोगी होगा। व्यवहारवादी दृष्टि ने छोटे-छोटे विषयों पर गम्भीर अध्ययन और विश्लेषण को प्राथमिकता दी है।

2 व्यवहारवादी अध्ययनों की वैज्ञानिकता के समर्थक हैं। साइमन ने 'चाहिए' से परेशान होकर 'है' पर शासन को आधारित करने का बीड़ा उठाया था। सभी व्यवहारवादी यह मानते हैं कि लोक प्रशासन एक वैज्ञानिक बौद्धिक उद्यम है और उसकी अध्ययन-विधियों में कानूनी ज्ञान से अधिक यह आवश्यक है कि अवधारणाएँ एवं निष्कर्ष स्थायी, निश्चित एवं सार्वदेशिक बन सकें। ये लोग विज्ञान की विस्तृत प्रणाली जैसे प्रयोग, वर्गीकरण, सत्यापन आदि को लोक प्रशासन के सिद्धान्तों के परीक्षणों के लिए उचित, उपयोगी एवं व्यावहारिक मानते हैं। व्यवहारवादी दृष्टिकोण की मान्यता है कि लोक प्रशासन के क्षेत्र में यदि ज्ञान को आगे बढ़ाना है और उसे व्यावहारिक प्रशासन की कुशलता के लिए निरन्तरता से संग्रहित करना है तो इसमें वैज्ञानिक अध्ययन-विधि कठोरता से लागू की जानी चाहिए। यह ज्ञान का गहराई, सचाई एवं निष्पक्षता से परीक्षण कर उसे विश्वसनीय बनाती है। इस दृष्टि से व्यवहारवादी, निरीक्षणवादी, अनुभववादी एवं प्रयोगवादी शोधकर्ता की कोटि में आते हैं।

3. व्यवहारवादियों की यह मान्यता है कि ज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिक विधि से संचित एवं सुरक्षित यह ज्ञान-भण्डार एक सन्दर्भ विशेष को ध्यान में रखकर बढ़ाया जाए। इस प्रकार इस ज्ञान की समग्रता एवं सचाई इस बात पर निर्भर करेगी कि वह ज्ञान के अन्य पहलुओं से कितना सम्बन्धित है। उदाहरण के लिए, लोक प्रशासन के क्षेत्र में किसी भी निष्कर्ष का परीक्षण इस सन्दर्भ में किया जाना चाहिए कि राजनीति, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि अन्य अध्ययन-क्षेत्रों में चल रहे अनुसन्धान उसे कितना स्वीकार्य मान सकेंगे। अतएव व्यवहारवादी दृष्टि अन्तर्निर्भरता और अन्तर्अध्ययन सम्बन्धी ज्ञान की एक समन्वित दृष्टि है। एक ओर जबकि यह लोक प्रशासन को अन्तर्शास्त्रीय (Inter-disciplinary) अध्ययन मानती है तो दूसरी ओर इसकी मान्यता यह भी है कि लोक प्रशासन एक स्वतन्त्र एवं स्वशासित विज्ञान (Autonomous discipline) है। वैज्ञानिक पद्धति अपनाने के बाद व्यवहारवादियों के लिए अन्तर्निर्भरता की दृष्टि से ज्ञान की समग्रता को देखना और स्वीकार करना स्वाभाविक था।

4. व्यवहारवाद एक अनुभवमूलक सिद्धान्त का प्रणयन करना चाहता है। अनुभव, निरीक्षण, प्रयोग, सन्दर्भ-ज्ञान, परिस्थिति, विवेचन आदि के आधार पर सम्पूर्णता का गहनता से विश्लेषण करने वाले व्यवहारवादी यह मान कर चलते हैं कि लोक प्रशासन एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में अपनी स्वतन्त्र विचारधाराएँ प्रतिपादित कर सकता है।

1 *Herbert A. Simon*, The Proverbs of Administration, Public Administration Review (Winter 1946).

इस प्रकार विश्लेषण, गहनता, वैज्ञानिक विधि एवं अन्तर्सम्बन्धों को उपयोग में लाने वाला यह व्यवहारवादी दृष्टिकोण सन् *1960* के आसपास अपने चरमोत्कर्ष पर था। अमेरिकी संस्कृति, जीवन-प्रणाली तथा विज्ञान बनने के सम्मान ने इसके विकास में सहायता की। लोक प्रशासन के अध्ययन को इसने मैक्रो से माइक्रो, वैचारिकता से व्यावहारिकता, एकाग्रता से समग्रता तथा वर्णन से विश्लेषण की ओर मोड़ा। जैसे-जैसे इन अध्ययनों का जोर बढ़ता गया इनकी दुर्बलताएँ भी सामने आने लगी। इस दृष्टिकोण की अनेक आधारों पर आलोचना भी की जाती है—(1) यह मूल्य-तटस्थ नहीं है, अत: वैज्ञानिक नहीं हो सकती, (2) इसके प्रयोग और परीक्षणों में इतनी सीमाएँ हैं कि इसके ज्ञान की गहराई और इसके निष्कर्ष सर्वसामान्य बन सकना सम्भव नहीं है, (3) स्वयं व्यवहारवादियों का व्यवहार या आचरण आलोचना से परे नहीं रहा है, एवं (4) इनके अध्ययन-यन्त्र आज चाहे कितने भी विकसित हो चुके हों, सामाजिक जीवन के क्षेत्र में उनकी गति, प्रभावशीलता एवं उपयोगिता सीमित एवं अपूर्ण है। (5) इस पद्धति के माध्यम से विकासशील देशों की शासन एवं प्रशासनिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करना संभव नहीं है।

व्यवहारवादी दृष्टिकोण के अनुसार लोक प्रशासन के अध्ययन में प्रयुक्त की जाने वाली पद्धतियाँ दो हैं—

1. मनोवैज्ञानिक पद्धति (Psychological Approach)—*लोक प्रशासन के अध्ययन में मनोवैज्ञानिक* पद्धति के प्रयोग करने का श्रेय मिस फालेट को जाता है। इस पद्धति में अन्तर्निहित मूल विचार यह है कि प्रशासन मानव-व्यवहार से सम्बन्धित है, अत:, मनोविज्ञान द्वारा उसे अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग से उसके विभिन्न पहलुओं को उजागर किया जा सकता है। मिस फालेट ने यह *प्रतिपादित किया है कि व्यक्तियों और समूहों की इच्छाएँ, उनके पूर्वाग्रह और नैतिक मूल्य प्रशासन के भीतर उनके* व्यवहार को किस प्रकार से प्रभावित करते हैं। मनोविज्ञान हमारे जीवन में इतना अधिक समाहित हो गया है कि बहुत-सी सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक समस्याओं का समाधान मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को समझे बिना नहीं किया जा सकता है। प्रशासन के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्तियों और समूहों की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्रशासन के अन्तर्गत एक प्रकार के औपचारिक संगठन का निर्माण हो जाता है जो औपचारिक संगठन को संशोधित कर न केवल उसका पूरक बन जाता है बल्कि इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेता है कि उसकी अवहेलना करने पर प्रशासन स्वयं संकट में पड़ सकता है। व्यावसायिक प्रशासन के क्षेत्र में तो मनोवैज्ञानिक पद्धति बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई है। इसके फलस्वरूप मनोविज्ञान की एक ऐसी *शाखा* विकसित हो गई है जिसे 'औद्योगिक मनोविज्ञान' (Industrial Psychology) कहा जाता है।

2. परिमाणात्मक मापक पद्धति (Quantitative Measurement Method)—किसी भी क्षेत्र में सही वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें तथ्यों और परिणामों के सांख्यिकीय माप (Quantitative Measurement) की कहां तक गुंजाइश है। लोक प्रशासन मुलत: एक सामाजिक विज्ञान है जिसमें गुणात्मक कि पक्ष पर विशेष बल दिया जाता है। अत: इसमें परिमाणात्मक मापक पद्धति का वैसा प्रयोग नहीं हो सकता जैसा कि भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में सम्भव है। लोक प्रशासन के दो क्षेत्रों में परिमाणात्मक मापक पद्धति का प्रयोग किया जा रहा है—(1) जब प्रशासन के सम्बन्ध में जनमत अथवा उसकी प्रतिक्रिया जाननी हो, तथा (2) जब किसी प्रशासकीय अभिकरण के कर्मचारियों की सख्या और वित्तीय आवश्यकताओं के बारे में निर्णय करने की दृष्टि से उसके कार्यभार का परिमापन करना हो। प्रशासकीय नीतियों और कार्यवहियों के बारे में जनमत जानने के सन्दर्भ में सम्पूर्ण जनता का मत नहीं लिया जाता वरन् किसी विशेष नीति से प्रभावित होने वाले लोगों में से कुछ लोगों के मतों का नमूने के तौर पर संग्रह कर लिया जाता है और उसके आधार पर यह निर्धारित किया जाता है कि प्रशासकीय कार्यक्रम का कौनसा अंश जनता को अप्रिय लगेगा पर यह निर्धारित किया जाता है कि मत-प्रतिचयन अथवा मत-संग्रह (Opinion Sampling) के द्वारा प्रशासकीय कार्यक्रमों के पुनर्संगठन, संशोधन अथवा परिवर्तन में काफी सहायता मिलती है।

कार्यभार के परिमाण के लिए परिमाणात्मक पद्धति का प्रयोग वहाँ अधिक सम्भव है जहाँ कार्य काफी मात्रा में एक ही प्रकार का हो और उसे बराबर दोहराया जाता हो, जैसे टाइपिंग और फाइलिंग का कार्य। काम की कुल मात्रा को एक कर्मचारी द्वारा अपेक्षित दैनिक की मात्रा से विभाजित करके *यह मालूम किया जाता है कि कुल* कितने कर्मचारियों की आवश्यकता होगी। समय के साथ लोक प्रशासन के क्षेत्र में परिमाप के सूक्ष्म साधनों का भी तेजी से विकास होता जा रहा है। इस दिशा में अमेरिका में भारी प्रगति हुई है। लागत-लेखाविधि (Cost accounting) से यह पता लगा लिया जाता है कि प्रशासन की प्रत्येक इकाई की क्या लागत आएगी। एक ही प्रकृति के विभिन्न प्रशासकीय अभिकरणों के प्रति इकाई की लागत की तुलना करके उनमें से प्रत्येक की *तुलनात्मक कार्यक्षमता* का बहुत कुछ सही ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है। विभिन्न सेवाओं, जैसे नगरपालिका-सेवाओं के परिमापन के विषय में नए-नए सिद्धान्तों का आविष्कार होने लगा है। रिडले तथा साइमन ने इस पद्धति का विशेष समर्थन किया है तथापि इस बारे में स्टीर द्वारा किये गए परीक्षण अधिक सफल सिद्ध नहीं हुए हैं। उनका विचार है कि शिक्षा अथवा इस प्रकार की नई सेवाओं के लिए कोई व्यावहारिक परिमाप योजना

तैयार करने की दिशा में अभी व्यापक शोध और चिन्तन की आवश्यकता है।[1] परिमाणात्मक पद्धति से आकार और सख्या के बारे में विश्लेषण किया जा सकता है।

व्यवस्थावादी दृष्टिकोण (Systems Approach)

अमेरिकी सामाजिक विज्ञानों में 1970 से एक उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति (Post-Behavioural Revolution) का श्रीगणेश हो चुका है। व्यवहारवाद के विरुद्ध आज औचित्य (Relevance) और उद्देश्यहीनता (Goallessness) के नारे लगाए जा रहे है। लोक प्रशासन की दुनिया में भी ऐसा लगता है कि यदि परम्परावादी दृष्टि 'थीसिस' (Thesis) थी तो व्यवहारवादी दृष्टि ने 'एण्टीथीसिस' (Anti-thesis) की भूमिका निभाई है और आज 'सिंथीसिस' (Synthesis) के रूप में दोनों दृष्टियों के समन्वय से एक संगठनात्मक, प्रकार्यात्मक या व्यवस्थावादी दृष्टिकोण (Structural, Functional or Systems Approach) जन्म ले रहा है। सन् 1970 के बाद का लोक प्रशासन सगठन की इन्हीं मिली-जुली मान्यताओं के सन्दर्भ में नौकरशाही, विकास, मनोबल एवं उत्प्रेरक साधनों का अध्ययन करने की ओर प्रवृत्त हो रहा है। परम्परावादी एवं व्यवहारवादी दृष्टिकोण से भिन्न व्यवस्थावादी दृष्टिकोण (Systems Approach) है। व्यवस्था को केन्द्रीय तत्त्व मान कर उसी के चारों ओर अपने अध्ययन को सार्थक बनाता है। व्यवस्थावादी दृष्टि लोक प्रशासन को ऐसा सुनियोजित एव गतिशील यन्त्र मानती है जिसका अध्ययन उसी प्रकार किया जाना चाहिए जैसे एक मोटरकार अथवा साइकिल का किया जा सकता है। कार का एक 'सिस्टम' होता है। किसी भी व्यवस्था में विशेषताएँ इस तरह देखी जा सकती हैं—

1. 'व्यवस्था एक उद्देश्य विशेष को ध्यान में रखकर अपनी सगठन-सरचना एव व्यूह-रचना निर्धारित करती है।

2. 'व्यवस्था' में विभिन्न अग विशेषीकृत ढंग से अलग-अलग कार्य करते है, किन्तु उनका समग्र कार्य 'व्यवस्था' को गति देना और उद्देश्य तक पहुँचना है।

3. 'व्यवस्था' में प्रकार्यात्मक विशेषीकरण (Functional Specialisation) के साथ-साथ एक गम्भीर प्रकार की अन्तर्निर्भरता होती है और एक अग की आवश्यकता से अधिक दक्षता सारी व्यवस्था (System) को तोड़ सकती है।

4. 'व्यवस्था एक गतिशील प्रक्रिया (On going Process) होती है। उसमें क्रिया-प्रतिक्रियाएँ और उनके अन्तर्सम्बन्ध अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। व्यवस्था की दृष्टि की यह माँग है कि समग्रता और प्रक्रिया को कुल मिलाकर उसकी प्रभावशीलता की दृष्टि से आँका जाए।

5. 'व्यवस्था' को चलाने के लिए कुछ आगत (Inputs) होते हैं, जो एक प्रक्रिया विशेष से निकल कर निर्गत (Output) में बदल जाते हैं। उदाहरणार्थ, कार में इन-पुट के रूप में डाला गया पेट्रोल कार के सिस्टम से गुजर कर यात्रा की दूरी के रूप में आउट-पुट देता है और इस प्रक्रिया में स्वयं नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार राजनीति और प्रशासन में कुछ आगत होते हैं जो सेवा, उत्पादन, सुरक्षा आदि के रूप में जाने जाते हैं। जो कि व्यवस्थावादी निर्गत बनकर प्रकट होते हैं, न कि व्यवहार एवं आचरण का परीक्षण। यह लोक प्रशासन के ढांचे और अधिकारियों को उस प्रक्रिया और अन्तर्निर्भरता के सन्दर्भ में देखती है जो नियोजित कार्य की भूमिका निभा रहे हैं। व्यवस्थावाद (System) में योग्यता, प्रभावोत्पादकता और क्षमता (Efficiency, Effectivity and Capacity) तीन विशेषताओं का होना जरूरी है। इसका यह आवश्यक नहीं है कि तीनों एक ही साथ मिल सकें। एक अच्छी व्यवस्था में तीनों स्तरों पर ये तीन प्रभाव माने जा सकते हैं। लोक प्रशासन का निम्नतर स्तर प्रभावशाली, मध्यस्तर कार्यकुशल और शीर्षस्तर स्वस्थ उपादेयता का पोषक होना चाहिए। लोक प्रशासन के प्रबन्ध क्षेत्र में आज व्यवस्थावादी-अध्ययनों एव विश्लेषणों की धून है। अध्ययन के विचार से यह दृष्टिकोण अधिक व्यापक, अधिक उपयोगी एवं अधिक उद्देश्यपूर्ण एव व्यवहारपरक है।

लोक प्रशासन का क्षेत्र जिस तरह विस्तृत होता जा रहा है इसकी अध्ययन-विधियों में वैज्ञानिकता पनप रही है, और इसकी दृष्टियाँ परिपक्व एवं प्रौढ़ बनती जा रही हैं। वैसे अभी सामाजिक विज्ञान इस प्रक्रिया से गुजर रहे है, किन्तु लोक प्रशासन एक व्यावहारिक विषय अधिक होने के कारण इन नई दिशाओं और दृष्टियों से अधिक आलोकित हुआ है। सगठनात्मक-प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण (Structural Functions Approach) तथा व्यवस्थावादी विश्लेषण (System Analysis) कुछ ऐसे प्रयोग हैं जो लोक प्रशासन के विकास को वर्णनात्मकता के स्तर से उठाकर विश्लेषण एवं विवेचना के स्तर पर पहुँचाते हैं। इस दृष्टि से सभी प्रयास स्तुत्य हैं और जैसे-जैसे यन्त्रीकरण (Automation and Cybernatics) का युग प्रगति करेगा, इन दृष्टिकोणों के प्रयोगों की उपयोगी सम्भावनाएँ अनन्त ही नहीं बल्कि अभूतपूर्व भी होंगी।

1. *W.S. Steer* : Measuring the Public Services, P.A. Vol XXX, 1952, pp. 315-320.

संगठनात्मक-कार्यात्मक दृष्टिकोण (Structural-Functional Approach)

इस दृष्टिकोण के मुख्य प्रतिपादकों में टालकट पारसन्स (Talcott Parsons), राबर्ट मर्टन (Robert Merton), मेरियन लेवी (Marian Levy), गैब्रियल आमण्ड (Gabrial Almond), डेविड एप्टर (David Apter) आदि विद्वानों का नाम उल्लेखनीय है। इस दृष्टिकोण में सामाजिक संगठन के रूप तथा कार्यों के आधार पर उस व्यवस्था का मूल्यांकन किया जाता है। संगठन मूर्त अथवा अमूर्त दोनों प्रकार के हो सकते हैं। मूर्त संगठनों में सरकारी विभागों तथा ब्यूरो आदि का नाम लिया जा सकता है तथा अमूर्त संगठनों में 'सत्ता' का विश्लेषण आदि बातें आती हैं। लोक प्रशासन में इस दृष्टिकोण का उल्लेख सर्वप्रथम सन् 1955 में ड्वाइट वाल्डो (Dwight Waldo) ने किया था। उन्होंने इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला था। प्रो. रिग्स को वाल्डो का विचार अच्छा लगा और उन्होंने दो वर्ष बाद ही इस दृष्टिकोण के आधार पर अपना 'कृषका-औद्योगिकी' (Agraria Industries) मॉडल प्रस्तुत किया। उसके बाद रिग्स तुलनात्मक लोक प्रशासन में इस दृष्टिकोण के प्रमुख कार्यकर्ता बने।

यह दृष्टिकोण व्यवस्था विश्लेषण के नाम से जानी जाती है। इसकी मान्यता है कि लोक प्रशासन की व्यवस्था का संगठन (Structure) होता है। यह गतिशील मशीन के समकक्ष होता है। उसके द्वारा समग्र रूप में कुछ कार्य किए जाते हैं तथा इसके विभिन्न अंग-प्रत्यंग भी अपने स्थान और क्षमतानुसार अपना-अपना कार्य करते हैं। ढाँचे का समग्र रूप ही व्यवस्था है। यह व्यवस्था ही इस दृष्टिकोण में अध्ययन का केन्द्रीय तत्व मानी जाती है। इस दृष्टिकोण के समर्थकों की मान्यता है कि लोक प्रशासन एक सुनियोजित एवं गतिशील यन्त्र है तथा इसका अध्ययन उसी प्रकार किया जा सकता है जिस तरह वह जिन पेडल, पहिए, चैन, हैण्डिल, फ्रेम, चिमटा आदि से मिलकर साइकिल बनती है उनमें से प्रत्येक का अपना विशेष कार्य होता है। जब ये सभी अंग अन्तर्निर्भरता एवं सामूहिकता में कार्य सम्पन्न करते हैं तो इसे संगठनात्मक कार्य (Structural Function) कहा जाता है। इसका विवेचन और विश्लेषण करना ही संगठनात्मक कार्यात्मक दृष्टिकोण है। प्रत्येक व्यवस्था की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। जैसे—

(1) प्रत्येक व्यवस्था का एक विशेष उद्देश्य होता है। इसी के अनुसार वह अपने संगठन की रचना एवं व्यूह रचना करती है।

(2) व्यवस्था के विभिन्न अंग-प्रत्यंग अपना विशेष कार्य सम्पन्न करते हैं, किन्तु वे कुल मिलाकर व्यवस्था को गति देते हैं तथा उसे उद्देश्य तक पहुँचाने में सहायता करते हैं।

(3) व्यवस्था में कार्यात्मक विशेषीकरण रहते हुए भी विभिन्न अंगों में अन्तर्निर्भरता रहती है। किसी भी एक अंग में आवश्यकता से अधिक दबाव होने पर पूरी व्यवस्था छिन्न भिन्न हो जाती है। यदि साइकिल की चैन जरूरत से अधिक तेजी से घूमने लगे तो साइकिल का चलना बन्द हो जाएगा। स्पष्ट है कि व्यवस्था में आत्मनिर्भरता, विशेषीकरण, गत्यात्मकता, चेतना केन्द्र एवं कार्यक्षमता आदि विशेषताएँ होती हैं।

व्यवस्था विश्लेषण में विषय-वस्तु का केवल वर्णन मात्र ही नहीं किया जाता वरन् व्यवहार तथा आचरण का परीक्षण भी किया जाता है। इसमें लोक प्रशासन के ढाँचे तथा अधिकारियों की उस क्रिया और अन्तर्निर्भरता के सन्दर्भ में देखा जाता है, जो नियोजित कार्य की भूमिका निभा रहे हैं। व्यवस्था की तीन विशेषताएँ मानी जाती हैं—प्रभावशीलता (Effectivity), कार्यकुशलता (Efficiency) तथा उपादेयता (Efficacy)। लोक प्रशासन में निम्न स्तर पर प्रभावशीलता रहनी चाहिए, मध्य स्तर पर कार्यकुशलता और उच्च स्तर पर उपादेयता रहनी चाहिए। एक अच्छी व्यवस्था में इन तीनों का उपयुक्त सन्तुलन रखा जाता है। लोक प्रशासन की विभिन्न समस्याओं पर आजकल व्यवस्था दृष्टिकोण के अनुसार विचार किया जाता है फलतः इन दिनों प्रशासन के विभिन्न पहलुओं पर अनेक व्यवस्था अध्ययन एवं विश्लेषण किये गए हैं।

संगठनात्मक कार्यात्मक दृष्टिकोण मूल्य-तटस्थ अथवा स्वतन्त्र (Value Neutral or Value Free) दृष्टिकोण है। बाद में लोक प्रशासन के विभिन्न विचारकों का ध्यान इस ओर गया। जब तुलनात्मक लोक प्रशासन में यह दृष्टिकोण अपनाया गया तो यह स्पष्ट हो गया कि पाश्चात्य प्रशासनिक व्यवस्थाओं के व्यवहार एवं संस्थाएँ सर्वश्रेष्ठ नहीं हैं। प्रत्येक देश की अपनी सामाजिक रूप-रचना के सन्दर्भ में ही वहाँ की प्रशासनिक संस्थाओं का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। वर्तमान में सभी देशों में इसी दृष्टिकोण के आधार पर अध्ययन किया जा रहा है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध दृष्टिकोण (Scientific Management Approach)

लोक प्रशासन के अध्ययन के प्रति यह एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण है। इसके समर्थकों का कहना है कि लोक प्रशासन की समस्याओं का अध्ययन वैज्ञानिक मान्यताओं एवं पद्धतियों के अनुसार होना चाहिए। हमें प्रबन्ध की समस्याओं एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन करना चाहिए। प्रो. हेमेन ने लिखा है कि "प्रबंध से तात्पर्य लोगों द्वारा कार्य

सम्पन्न कराना तथा एक सामान्य लक्ष्य की ओर उनके कार्यों को निर्देशित करना है।" लोक प्रशासन में प्रबन्ध की प्रक्रिया धर्म तथा सेना आदि से पर्याप्त प्रभावित रही है। औद्योगिक क्रान्ति ने इसे काफी प्रभावित किया है। वैज्ञानिक प्रबन्ध के आन्दोलन का प्रारम्भ फ्रेड्रिक टेलर (Frederick Winslow Taylor) के शोध लेखों से हुआ है।[1] हेनरी लारेन्स गान्ट, हेरिंगटन, इमर्सन, कार्ल बार्थ आदि का नाम भी इस दिशा में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। टेलर का मत था कि कार्यकुशलता सम्बन्धी समस्याएँ निजी प्रशासन तथा लोक प्रशासन में समरूप हैं। प्रत्येक व्यवसाय के प्रबन्ध के लिए वैज्ञानिक आधार पर सर्वोच्च मार्ग अथवा सिद्धान्त प्रतिपादित किए जा सकते हैं। टेलर एक इंजीनियर था और भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों से भली-भांति परिचित था। उसने वैज्ञानिक तरीकों को सभी प्रकार की समस्याओं पर लागू करने का प्रयास किया। उसने मैनेजर की समस्याओं पर वैज्ञानिक तरीके लागू किए। टेलर का कहना था कि प्रत्येक कार्य को उसके अनेक अंगभूत हिस्सों में विभक्त कर लिया जाए, कार्यकर्ताओं की गतिविधियों का अध्ययन किया जाये, कार्य के लिए विभिन्न तरीकों एवं कार्य-विधियों का प्रयोग किया जाये और इनमें जो सर्वाधिक कुशल सिद्ध हो उनको अपना लिया जाये। टेलर का मुख्य अध्ययन विषय यान्त्रिक कार्यकुशलता के प्रश्न थे। उसके लिए उसने कार्य की प्रणालियों, मशीनों एवं सामग्रियों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। टेलर का दावा था कि वह एक पूर्ण मानसिक क्रान्ति लाने का प्रयास कर रहा है। इतने पर भी उसने दूसरे विचारकों का महत्व भी स्वीकार किया। 1912 में कांग्रेस की एक जांच समिति के सामने विचार प्रकट करते हुए टेलर ने यह बात स्पष्ट रूप से मैं कही थी।[2]

प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण के एक अन्य प्रमुख विचारक हेनरी फैयोल (Henri Fayol) रहे हैं। इन्होंने अपने जीवन-काल में प्रबन्ध के सिद्धान्तों को प्रबन्ध के व्यवहार पर लागू करने का अथक प्रयास किया। इनके मतानुसार, "प्रबन्ध किसी भी उद्यम के प्रशासन में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। यह उद्यम छोटा, बड़ा, औद्योगिक, व्यापारिक, राजनीतिक, धार्मिक या अन्य कैसा भी हो सकता है।" फैयोल ने प्रबन्ध के सिद्धान्तों एवं तत्वों को छः वर्गों में विभाजित किया था—तकनीकी, व्यापारिक, वित्तीय, सुरक्षा, लेखा और प्रबन्ध। उन्होंने प्रबन्ध के सामान्य सिद्धान्तों एवं प्रबन्ध के तत्वों में अन्तर स्पष्ट किया। उन्होंने जो प्रबन्ध के तत्व बताए इन्हीं को आज प्रबन्धक के कार्य माना जाता है। ये पाँच हैं—नियोजन, संगठन, आदेश, समन्वय और नियन्त्रण। फैयोल के कार्यों का मूल्यांकन करते हुए प्रो. हैमेन ने कहा है कि जिस प्रकार टेलर वैज्ञानिक प्रबन्ध के जनक थे, उसी प्रकार फैयोल प्रबन्ध-सिद्धान्त के जनक थे। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने प्रबन्ध के ऐसे सिद्धान्तों तथा कार्यों का उल्लेख किया जिनमें से अनेक आज भी सफलतापूर्वक लागू होते हैं।[3] इस प्रकार से प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण ने तुलनात्मक लोक प्रशासन को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने की भूमिका का निर्वाह किया।

तुलनात्मक दृष्टिकोण (Comparative Approach)

वर्तमान में लोक प्रशासन का अध्ययन करने के लिए तुलनात्मक पद्धति को अपनाया जाता है। लोक प्रशासन में तुलनात्मक दृष्टिकोण या पद्धति का आरम्भ अधिक पुराना नहीं है फिर भी इसे पूर्णतः नया भी नहीं कहा जा सकता। लोक प्रशासन के प्रारम्भिक विचारक वुडरो विल्सन तथा ई. फ्रेन्ड आदि ने अमेरिकी प्रशासन को पढ़ने, समझने तथा सुधारने के लिए यूरोपीय अनुभव पर जोर दिया था। इन अध्ययनों में विवेचन का मुख्य विषय स्थानीय समस्याएँ ही रहीं तथा अन्य राज्यों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं का केवल प्रसंगवश नामोल्लेख मात्र किया गया। राष्ट्रीय सीमाओं में आबद्ध इस दृष्टिकोण ने बौद्धिक अव्यवस्था और अराजकता को जन्म दिया और विषय का अध्ययन संकुचित बना रहा। इसके प्रतिवाद स्वरूप प्रशासनिक अध्ययनों में तुलनात्मक विश्लेषण पर जोर देने वाली पद्धति का विकास हुआ। तुलनात्मक पद्धति या दृष्टिकोण के अन्तर्गत विभिन्न संस्कृतियों में कार्यरत विभिन्न राज्यों की सार्वजनिक प्रशासनिक संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है।

निर्णय प्रक्रिया दृष्टिकोण (Decision Making Approach)

निर्णय-प्रक्रिया दृष्टिकोण के मुख्य प्रतिपादक हरबर्ट ए. साइमन हैं। साइमन ने संगठन की समस्या को उसके सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ देते हुए यह प्रतिपादित किया कि संगठन की संरचना और उसके कार्य की विशेषताएँ मानवीय समस्या निर्णयन-प्रक्रियाओं और बौद्धिक मानवीय चुनाव के लक्षणों से ग्रस्त की जाती हैं।

---

1. *F.W. Taylor* : The Principles of Scientific Management, 1911.
2. *F.W. Taylor* : Testimony before the Special House Committee, Scientific Management, p. 282.
3. *The Haimann* : Op. cit., p. 10.

संगठन के सिद्धान्त

(Principles of Organisation)

एक संगठन की कार्य-कुशलता एवं लक्ष्य-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि उसकी रचना करते समय कुछ आधारभूत सिद्धान्त अपनाए जाएँ। लूथर गुलिक, हेनरी फेयोल, एल. उर्विक, टेलर, विलोबी, स्टैन आदि ने अपनी रचनाओं में इन सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। कुछ विचारकों का मत है कि लोक प्रशासन में केवल व्यावहारिक एवं अनुभववादी दृष्टिकोण ही लागू हो सकता है। संगठन के बारे में मात्र कुछ सिद्धान्तों को अपनाने का अर्थ यह होगा कि हम उसकी गति को रोककर स्थिर कर देंगे। संगठन के आदर्शात्मक पक्ष में सिद्धान्त नहीं चल सकते और न ही उनका चलना उपयोगी है। परम्परावादी विचारकों की मान्यता है कि यदि संगठन की रचना कुछ सिद्धान्तों के आधार पर की जाए तो वह अधिक उपयोगी तथा प्रभावशाली बन सकेगा। एक प्रभावपूर्ण संगठन के मूलभूत सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

1. उद्देश्य का सिद्धान्त (Principle of Objective)—जिस प्रकार उद्देश्य रहित जीवन व्यर्थ होता है, उसी प्रकार किसी भी संस्थान के संगठन के उद्देश्य रहित होने से उसका निर्माण व अस्तित्व सम्भव नहीं होता है। प्रत्येक संगठन का एक सामान्य उद्देश्य होना चाहिए जिससे कि विभिन्न विभागों, साधनों, मशीनों व मालों के प्रयासों को निर्देशित करके उसकी पूर्ति की जा सके। उद्देश्य-विहीन या लक्ष्य-विहीन संगठन मृत-प्राय ही होता है।

2. विशिष्टीकरण का सिद्धान्त (Principle of Specialisation)—इसके अनुसार संगठन में प्रत्येक व्यक्ति का कार्य किसी एक प्रमुख कार्य के निष्पादन करने तक ही सीमित रहना चाहिए। संगठन के सदस्यों को उनकी योग्यता, रुचि तथा कार्यकुशलता के अनुसार कार्य दिया जाना चाहिए। इससे प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य में विशेषज्ञ हो जाएगा तथा संगठनों की कार्यकुशलता में वृद्धि होगी।

3. सन्तुलन का सिद्धान्त (Principle of Balance)—एक संगठन के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न *विभागों, क्रियाओं, कर्मचारियों व अधिकारियों के दायित्वों एवं अधिकारों में सन्तुलन हो अन्यथा आपसी मतभेद,* मनमुटाव और अव्यवस्था उत्पन्न होने के कारण संगठन प्रभावपूर्ण ढंग से अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में असफल हो जाएगा। विभिन्न अधिकारों का केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीयकरण होता है अतः केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीयकरण दोनों में समुचित सन्तुलन हो। इससे उच्च अधिकारियों और उनके अधीनस्थों में आपसी मतभेद और मनमुटाव उत्पन्न होने की आशंका नहीं रहेगी। इसी प्रकार अधिकारियों और उनके अधीनस्थों को दिए जाने वाले अधिकारों के वितरण में भी सन्तुलन बनाए रखना होगा। प्रबन्ध के नियन्त्रण क्षेत्र तथा सन्देशवाहन की सीमा में भी सन्तुलन स्थापित करना होगा। इस प्रकार प्रत्येक विभाग, कर्मचारियों के दायित्वों व अधिकारों, प्रबन्ध के क्षेत्र आदि में उचित सन्तुलन स्थापित करके प्रभावपूर्ण संगठन के उद्देश्यों को पूरा करने में कठिनाई उत्पन्न नहीं होती है। सन्तुलन से ही संगठन में स्थायित्व आता है और यह अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहज सफल हो पाता है।

4. क्रियात्मक व्याख्या का सिद्धान्त (Principle of Functional Definition)—इस सिद्धान्त के अनुसार एक अच्छे संगठन में कार्यरत कर्मचारियों, अधिकारियों और विभागों के कार्यक्षेत्र का स्पष्ट एवं निश्चित विवेचन किया जाना चाहिए। इससे कर्मचारी अपने कार्य को पूर्ण दायित्व एवं अधिकारों को ध्यान में रखते हुए पूरा कर सकेंगे। किसी तरह से एक-दूसरे के कार्य-क्षेत्र की सीमाओं, अधिकारों एवं दायित्वों का दुरुपयोग एवं दोहराव नहीं हो सकेगा।

5. समन्वय का सिद्धान्त (Principle of Co-ordination)—किसी भी संगठन के प्रभावपूर्ण, लाभपूर्ण एवं सतत कार्य-संचालन के लिए आवश्यक है कि उसके उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए संगठन के साधनों (कर्मचारियों, मशीनों एवं माल) तथा प्रयासों में उचित समन्वय स्थापित किया जाए। बिना समन्वय के सभी साधन

एवं प्रयासों का अपव्यय होता है तथा वे संस्थान के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सक्रिय योगदान नहीं दे पाते हैं। प्रभावपूर्ण समन्वय हेतु संगठन चार्ट व मैनुअल की सहायता ली जाती है।

6. आदेश की एकता का सिद्धान्त (Principle of Unity of Command)—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कर्मचारी या व्यक्ति का एक से अधिक अफसर या अधिकारी (Boss) नहीं होना चाहिए क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति दोनों अधिकारियों को खुश नहीं रख सकता। अतः जहाँ तक सम्भव हो एक कर्मचारी को एक ही अधिकारी से आदेश प्राप्त होने चाहिए। यदि एक से अधिक अधिकारियों से आदेश प्राप्त होगा तो इससे उसे आदेश मानने एवं दायित्व को समझने में देरी लगेगी। इसके साथ ही आदेशों में व्यर्थ का संघर्ष होगा और कार्य भी जिम्मेदारी के साथ पूरा नहीं किया जा सकेगा अतः एक कर्मचारी का एक अधिकारी होना चाहिए।

7. उत्तरदायित्व का सिद्धान्त (Principle of Responsibility)—एक अच्छे संगठन में प्रत्येक अधिकारी व उसके अधीनस्थों को यह ज्ञात होना चाहिए कि उनके क्या उत्तरदायित्व हैं और वे किस प्रकार अपने उत्तरदायित्वों को पूरा कर सकते हैं? अधीनस्थ कर्मचारी अपने अधिकारी के प्रति उत्तरदायी होते हैं तथा अधिकारी अपने अधीनस्थों से कार्य को पूरा कराने के लिए उत्तरदायी होते हैं। जब प्रत्येक कर्मचारी को इस सिद्धान्त का ज्ञान होगा तो वे अपने दिये हुए कार्य को पूर्ण उत्तरदायित्व और निष्ठा के साथ पूरा करेंगे। इस सिद्धान्त के अभाव में कार्य पूरा नहीं किया जाएगा और संगठन में अव्यवस्था तथा अराजकता उत्पन्न हो जाएगी। यह स्थिति संगठन के लिए घातक सिद्ध होगी।

8. अधिकार का सिद्धान्त (Principle of Authority)—इस सिद्धान्त को अधिकार एवं उत्तरदायित्व का सिद्धान्त (Principle of Authority and Responsibility) भी कहा जाता है। प्रत्येक संस्थान में कार्यरत कर्मचारियों को उत्तरदायित्व सौंपा जाता है। उस उत्तरदायित्व को पूरा करने हेतु उन्हें अधिकार भी दिए जाने चाहिए। बिना अधिकार दिए उत्तरदायित्व सौंपना व्यर्थ है, क्योंकि उत्तरदायित्व एवं अधिकार दोनों साथ-साथ चलते हैं और दोनों ही एक-दूसरे के बिना व्यर्थ होते हैं। अतः जिस व्यक्ति को जैसा उत्तरदायित्व सौंपा जाए उसी के अनुरूप उसे पर्याप्त अधिकार भी दिए जाने चाहिए जिससे कि वह उस कार्य को भली भाँति सम्पन्न कर सके। अधीनस्थ कर्मचारी अधिकारों के अभाव में अपने उत्तरदायित्वों को एवं दिये हुए कार्य को पूरा करने में सफल नहीं हो सकेंगे।

9. नियन्त्रण के विस्तार का सिद्धान्त (Principle of Span of Control)—इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी संगठन में प्रत्येक अधिकारी को नियन्त्रण का क्षेत्र उतना ही दिया जाना चाहिए जितने पर कि वह प्रभावी नियन्त्रण रख सके। प्रत्येक अधिकारी की अपनी मानवीय सीमाएँ होती हैं। उसे अपने तथा अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्य की देख-रेख करनी पड़ती है। अतः उसके नीचे 5 या 6 से अधिक व्यक्ति नहीं होने चाहिए। अधिक व्यक्ति होने से वह भली-भाँति उन्हें मार्ग-दर्शन नहीं दे सकेगा तथा उनका प्रभावपूर्ण निर्देशन, नियन्त्रण व पर्यवेक्षण भी नहीं कर सकेगा।

10. अपवाद का सिद्धान्त (Principle of Exception)—इस सिद्धान्त के अनुसार एक अच्छे संगठन में इस प्रकार की व्यवस्था की जाती है कि अपवादस्वरूप जटिल समस्याएँ और मामले ही उच्च स्तरीय प्रबन्धकों के सामने रखे जाते हैं और अन्य नियमित रूप से होने वाले कार्यों से सम्बन्धित समस्याओं को प्रबन्ध के निम्न-स्तरीय या अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा ही हल कर लिया जाता है क्योंकि उच्च-स्तरीय प्रबन्धकों का समय मूल्यवान होता है और वे इस प्रकार से बचाए गए समय को अन्य कार्यों में लगाकर संगठन को उन्नति के पथ पर अग्रसर करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। इस प्रकार से इस सिद्धान्त में उच्च-स्तरीय अधिकारियों की भूमिका बहुत उपयोगी समझी जाती है।

11. श्रृंखला सम्बन्धों का सिद्धान्त (Principle of Scalar Relations)—इस सिद्धान्त के अनुसार एक अच्छे संगठन के आदेश की श्रृंखला अथवा अधिकारों की रेखा की स्पष्ट व निश्चित व्याख्या की जानी चाहिए। प्रत्येक संगठन के ऊपर से नीचे तक औपचारिक अधिकारों एवं सम्बन्धों की एक स्पष्ट रेखा होना आवश्यक है। प्रत्येक संगठन में कार्यरत कर्मचारी उच्च-स्तरीय, मध्य-स्तरीय एवं निम्न-स्तरीय प्रबन्ध स्तरों के अन्तर्गत आते हैं। उन सभी को एक ही स्तर में रखना उचित नहीं होता है अतः वरिष्ठ व कनिष्ठ अधिकारियों में परस्पर औपचारिक सम्बन्ध श्रृंखला की स्थापना की जानी चाहिए। प्रत्येक कर्मचारी को अपनी श्रृंखला का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। इन सम्बन्धों को संगठन चार्ट के माध्यम से दर्शाया जाना चाहिए। इस प्रकार के श्रृंखला सम्बन्धों से उत्तरदायित्व की भावना स्पष्ट हो जाती है।

12. निरन्तरता का सिद्धान्त (Principle of Continuity)—इस सिद्धान्त के अनुसार समय परिवर्तनशील होता है। समय के साथ-साथ आवश्यकताओं, उत्पादन की विधियों, संगठन के आकार, प्रशिक्षण आदि में परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए संगठन का भी पुनर्गठन करना पड़ता है। अतः पुनर्गठन करने का प्रावधान होना चाहिए जिससे कि उपक्रम को निरन्तर गतिमान रखा जा सके।

13. कार्यकुशलता का सिद्धान्त (Principle of Efficiency)—इस सिद्धान्त के अनुसार एक संगठन ऐसा होना चाहिए जो कि अपने पूर्व-निर्धारित उद्देश्यों और लक्ष्यों को न्यूनतम लागत प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करता है। यदि इस प्रकार का कार्य किया जाता है तो यह कार्यकुशलता के सिद्धान्त को पूरा करता है। एक व्यक्ति के लिए कार्य सन्तोष प्रदान करना ही एक प्रभावपूर्ण संगठन की कार्यकुशलता का मापदण्ड है। इसके विपरीत समाज के दृष्टिकोण से एक संगठन कार्यकुशलता के सिद्धान्त को पूर्ण उस समय करता है, जबकि समाज का अधिकतम कल्याण हो सके। कार्यकुशलता से ही संगठन की प्रभावशीलता प्रकट होती है।

मूने तथा रैले (Mooney and Reiley) ने एक आदर्श संगठन के निम्नलिखित चार सिद्धान्तों का उल्लेख किया है—

1. समन्वयात्मक सिद्धान्त (The Co-ordinative Principle)—यह सिद्धान्त सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य की एकता का समर्थन करता है तथा शक्ति एवं नेतृत्व की आवश्यकता पर जोर देता है, किन्तु समन्वय केवल पदसोपान के माध्यम से ही स्थापित नहीं किया जा सकता। इसका विकास सिद्धान्त, आत्मशक्ति मनोबल की एकीकृत शक्तियों पर निर्भर करता है।

2. पदसोपान का सिद्धान्त (The Scalar Principle)—इस सिद्धान्त को क्रियान्वित करते समय नेतृत्व, हस्तान्तरण एवं कार्यात्मक परिभाषा की आवश्यकता होती है। यह सिद्धान्त सत्ता को लम्बरूप में विभाजित करता है और संगठन की सभी इकाइयों को कुछ निश्चित कार्य सौंप देता है। यह कार्यात्मक सिद्धान्त से भिन्नता रखता है।

3. कार्यात्मक सिद्धान्त (The Functional Principle)—यह सिद्धान्त वास्तव में विशेषीकरण का सिद्धान्त है। जब हम एक ही स्तर के दो अधिकारियों में भेद करते हैं तो यह भेद इसी सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है।

4. स्टाफ तथा श्रेणी (Staff and Line)—संगठन में ये दोनों इकाइयाँ होती हैं। श्रेणी-इकाई शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है और स्टाफ-इकाई का कार्य परामर्श देना एवं विचार प्रकट करना होता है। यद्यपि इसके आधार पर हम संगठन के सम्बन्ध में दो मान्यताएँ नहीं बना सकते, तथापि इन दोनों पदों की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिए जिससे संगठन में विभाजन की अपेक्षा एकीकरण को प्रोत्साहन मिले।

संगठन के सम्बन्ध में व्यवहारवादी विचारकों की मान्यता है कि संगठन के सिद्धान्त जैसी चीजों में केवल उतना ही सत्य हो जितना सत्य हमें किसी कल्पना या कहावत में प्राप्त होता है। हरबर्ट साइमन ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'Administrative Behaviour' में स्वीकार किया है कि उनका ग्रन्थ लोक प्रशासन के सिद्धान्तों के भिन्न मार्ग पर चलेगा।[1] उनके मतानुसार इन संगठनों का सबसे बड़ा दोष यह है कि ये कहावतों की तरह से जोड़ों (Pairs) में पाए जाते हैं। प्रत्येक सिद्धान्त का एक विरोधी सिद्धान्त भी प्राप्त हो जाता है जो पहले की भाँति मान्य है। जोड़े के दो सिद्धान्त यद्यपि ऐसी सिफारिशें करते हैं जिन्हें यदि माना जाए तो दो विरोधी संगठन बन जाएँ, फिर भी सैद्धान्तिक रूप से ऐसा कुछ भी नहीं कहा गया है कि किस सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की जाए। सिद्धान्तों को मानना एवं न मानना, दोनों ही दृष्टिकोण एक प्रकार से एकांगी हैं और दोनों में ही आंशिक सत्य है। इस दृष्टि से यह कहना गलत होगा कि लोक प्रशासन के सिद्धान्त होते ही नहीं अथवा संगठन के सिद्धान्त जैसी कोई चीज नहीं होती। इसी तरह यह कहना भी गलत है कि संगठन के ये सिद्धान्त ज्यों के त्यों मान लिए जाने चाहिए। सत्यता दोनों मतों के बीच में है। डॉ. एल. डी. व्हाइट का कहना है कि ये सिद्धान्त असल में आचरण के कुछ कार्य-नियमों का सुझाव देते हैं जो विस्तृत अनुभव के कारण बहुत कुछ मान्य से बन गये हैं। एक अन्य विचारक हेनरी फेयोल के अनुसार ये सिद्धान्त ऐसे परिचित सत्य हैं जिन्हें सिद्ध मान लिया गया है[2] तथा जिन पर विश्वास किया जा सकता है। हरबर्ट साइमन के अनुसार लोक प्रशासन के सामान्य सिद्धान्त निम्नांकित हैं—

1. यदि समूह में कार्य का विशेषीकरण (Specialization) कर दिया जाए तो प्रशासकीय कार्यकुशलता बढ़ेगी।

2. यदि समूह के सदस्यों को शक्ति के एक निश्चित पदसोपान के अधीन कर दिया जाए तो प्रशासकीय कार्यकुशलता बढ़ती है।

1-2. *H.A. Simon* · Administrative Behaviour, p. 20

3. यदि पदसोपान में छोटी सख्या के किसी बिन्दु पर नियन्त्रण के क्षेत्र को सीमित कर दिया जाए तो प्रशासकीय कार्यकुशलता बढ़ेगी।

4. यदि कार्यकर्ताओं को नियंत्रण के उद्देश्य से लक्ष्य, प्रक्रिया, सेवित व्यक्ति या स्थान के आधार पर संगठित किया जाए तो प्रशासकीय कार्यकुशलता में अभिवृद्धि होगी।

ये सिद्धान्त देखने में जितने सरल हैं, यथार्थ में उतने ही जटिल भी हैं।

लोक प्रशासन के अन्य विद्वानों द्वारा सगठन के जो सिद्धान्त बतलाए गये हैं उनमें निम्नांकित अधिक उल्लेखनीय हैं—

1. पदसोपान (Hierarchy or Scalar System)
2. नियत्रण का क्षेत्र (Span of Control)
3. आदेश की एकता (Unity of Command)
4. विशेषीकरण (Specialization)
5. केन्द्रीयकरण बनाम विकेन्द्रीयकरण (Centralization v/s Decentralization)
6. एकीकरण बनाम विघटन (Integration v/s Disintegration)

सगठन के इन सिद्धान्तों में से कुछ परम्परावादी औपचारिक सगठन की विशेषताएँ हैं और दूसरे अनौपचारिक एवं व्यावहारिक सगठन के लक्षण हैं।

संगठन में व्याप्त दुष्प्रभाव
(Bad Effects of a Bad Organisation)

संगठन अपने आप में एक साध्य न होकर साधन है। इसका उद्देश्य या साध्य व्यवसाय का अच्छा निष्पादन एवं इसके लक्ष्यों को प्राप्त करना होता है। एक खराब संगठन प्रबन्ध के उच्च लक्ष्यों को पूरा नहीं कर पाता है जैसा कि प्रो. ड्रकर (P.F. Drucker) ने खराब सगठन के लिए यहाँ तक कह दिया है कि "गलत सगठन संरचना व्यावसायिक निष्पादन को रोकती है तथा यहाँ तक कि उसे नष्ट तक कर सकती है।" एक खराब संगठन से विभिन्न विषयों पर लिये गए निर्णयों में देरी होगी तथा वे निर्णय निम्न श्रेणी के होंगे। इसके अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे—(a) कार्यभार अधिक होना, (b) निर्णय लेने हेतु विषय से सम्बन्धित सूचनाओं का तैयार न होना, (c) विभिन्न लिये गए निर्णय गलत स्थान अथवा स्तर पर लिए जाएँगे।

शिथिल सगठन के परिणामस्वरूप कार्य में कई बाधाएँ उत्पन्न हो जाएँगी और इसमें साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं हो सकेगा तथा विभिन्न प्रकार की अनियमितताएँ उत्पन्न होंगी। चारों ओर से वरिष्ठ अधिकारियों की मदद करने हेतु दबाव पड़ेंगे। एक अच्छे संगठन के अभाव में विभिन्न विभागों, उपविभागों, क्रियाओं आदि द्वारा किए जाने वाले कार्यों में समन्वय का अभाव होगा। सुव्यवस्थित ढंग के बिना कार्य किया जाएगा और इसके परिणामस्वरूप विभिन्न विभागों, उपविभागों और अधिकारियों में आपसी संघर्ष एवं मतभेद उत्पन्न हो जाएँगे। एक सुदृढ़ सरचना के अभाव में कोई भी विभाग अपने कार्य को पूरा नहीं कर सकेगा। इससे संस्थान के निश्चित उद्देश्यों को पूरा नहीं किया जा सकेगा और इस प्रकार संस्थान उन्नति के पथ पर अग्रसर होने के स्थान पर अवनति की ओर वापिस जाने लगेगा। एक अच्छे संगठन के अभाव में श्रम और पूँजी जैसे उत्पादन के साधनों के हितों को ध्यान में न रखने से उनमें संघर्ष उत्पन्न हो जाएँगे, जिनके परिणामस्वरूप हड़ताल, तालाबन्दी, घेराव, धीमे कार्य करने की प्रवृत्ति आदि से औद्योगिक अशान्ति उत्पन्न होगी। यह स्थिति देश के तीव्र औद्योगिक विकास में बाधा उत्पन्न कर देगी। इस प्रकार एक दुर्बल सगठन के परिणामस्वरूप कर्मचारियों और उनकी योग्यताओं का अच्छा उपयोग नहीं हो सकेगा, बल्कि इसके स्थान पर कार्यकुशलता का अभाव, देरी, दोहराव तथा प्रशासनिक गड़बड़ (Administrative Confusion) आदि दोष उत्पन्न हो जाएँगे। उपर्युक्त दोषों से सगठन के सगठनात्मक तथा प्रक्रियागत स्वरूप पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, जिससे उसकी कार्य-क्षमता भी प्रभावित होगी।

सगठन की रचना-प्रक्रिया और सगठन के आन्तरिक कार्य-संचालन में कतिपय महत्त्वपूर्ण समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इन्हें 'सगठन की प्राविधिक समस्याएँ' अथवा 'प्रबन्ध की समस्याएँ' भी कहा जाता है। मुख्य समस्याएँ निम्नांकित हैं—

(1) कार्य का विभाजन किस आधार पर किया जाए और विभिन्न क्रियाओं को किस आधार पर कार्य-इकाइयों में समूहबद्ध किया जाए ?

(2) क्रमश: कितने स्तरों पर कार्य का उप-विभाजन किया जाए और इन विभिन्न स्तरों को एक-दूसरे के साथ किस प्रकार सम्बद्ध किया जाए ?

(3) कार्य-विभाजन के द्वारा संगठन के भीतर किन प्रमुख इकाइयों का निर्माण हो ?

(4) सत्ता को किस प्रकार वितरित और नियन्त्रण को किस प्रकार संगठित किया जाए ?

(5) संगठन की विभिन्न इकाइयों के बीच पारस्परिक सहकार-भावना किस प्रकार जाग्रत की जाए ?

डॉ. एम. पी. शर्मा द्वारा व्याख्यात्मक रूप से ऊपर बताये गए प्रश्नों में से पहला प्रश्न संगठन के आधारों (Bases of Organisation) के बारे में प्राविधिक समस्या उत्पन्न करता है, दूसरा पदसोपान (Hierarchy or Scalar System) और नियन्त्रण के विस्तार के बारे में; तीसरा संगठन की इकाइयों (Units of Organisation) के बारे में, चौथा सत्ता के हस्तान्तरण या प्रत्यायोजन, समाकलन और विश्रृंखलन, केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीयकरण तथा आदेश की एकता (Delegation of Authority, Integration v/s Disintegration, Centralization v/s Decentralization & Unity of Command) के बारे में और पाँचवाँ प्रश्न समन्वय की समस्या की ओर संकेत करता है। ये सब प्रश्न संगठन की गंभीर समस्याओं की ओर इंगित करते हैं और इनका समुचित निराकरण होने पर ही संगठन की सफलता निर्भर करती है।

संगठन के आधार

(Bases of Organisation)

संगठन के व्यवहार में कार्यकुशलता बनी रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि उसे सुविधानुसार इकाइयों एवं उप-इकाइयों में विभाजित किया जाए तथा उनके एक साथ मिलकर कार्य करने के लिए उनके बीच सम्बन्ध स्थापित हों। इस प्रकार विभाजन एवं संयुक्तीकरण संगठन की प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग है। किन्तु समस्या यह है कि संगठन में किया जाने वाला कार्य-विभाजन किस आधार पर हो तथा उनके बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए क्या किया जाए ? जब हम संगठन को इकाइयों में बाँटेंगे तो ध्यान रखना होगा कि उन विभाजित इकाइयों के बीच समानता या एकता की स्थिति कायम रहे। पर यह समानता अथवा एकता किस आधार पर स्थापित की जाए, यह भी विचारणीय प्रश्न है. लूथर गुलिक आदि विचारकों के मतानुसार संगठन की इस एकता के निम्नलिखित चार प्रमुख आधार हो सकते हैं—

1. कार्य तथा उद्देश्य (Purpose)

इससे तात्पर्य उस प्रमुख लक्ष्य से है जिसे प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है अथवा उन सेवाओं से है जिनको प्राप्त करना होता है। उदाहरणार्थ शिक्षा, सुरक्षा, शांति, स्वास्थ्य, संचार, यातायात एवं इसी प्रकार की अन्य सेवाएँ वर्तमान लोक प्रशासन के महत्त्वपूर्ण लक्ष्य हैं। विभागों के बीच जो विभाजन किया जाता है महत्त्वपूर्ण आधार 'कार्य' ही समझा जाता है। केन्द्रीय एवं राज्य स्तर पर कार्य अथवा उद्देश्य को ही आधार मानकर विभिन्न विभागों की स्थापना की जाती है। 'प्रमुख कार्य' के अन्तर्गत अनेक गौण कार्य भी सन्निहित रहते हैं और इन गौण कार्यों के आधार पर इकाइयों को पुन: उप-इकाइयों में बाँट दिया जाता है। प्रमुख एवं गौण कार्यों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि कौनसा कार्य किस श्रेणी में रखा जाए ? एक देश में जिसे गौण कार्य समझा जाता है, दूसरे देश में उसे प्रमुख कार्य माना जाता है। इसी प्रकार एक देश में जिस कार्य को आधार बनाकर विभाग बना दिया गया है, दूसरे देश में उसी कार्य को एक ब्यूरो अथवा संभाग का आधार भी बनाया जा सकता है। वस्तुत: कार्य की प्रमुखता एवं गौणता विभिन्न देशों के व्यवहार, परम्परा, राजनीतिक पर्यावरण आदि से प्रभावित होती है। लूथर गुलिक के मतानुसार, 'संगठन' के मुख्य उद्देश्य द्वारा उन सभी को एक बड़े विभाग में एक साथ समाविष्ट कर लेता है जो एक विशेष सेवा प्रदान करने के लिए कार्य कर रहे हैं।

2. प्रक्रिया (Process)

प्रक्रिया का अर्थ एक तकनीक अथवा प्रमुख योग्यता से है जो बहुत कुछ विशेषीकृत होती है। इंजीनियरिंग, स्टेनोग्राफी, कानूनी सलाह, मेडिकल देखभाल आदि बातों को हम प्रक्रिया कह सकते हैं। कभी-कभी राष्ट्रीय सरकार के प्रशासकीय विभागों का संगठन प्रक्रिया के आधार पर भी किया जाता है। उदाहरण के लिए भारत में केन्द्रीय स्तर पर कानून-विभाग को लिया जा सकता है। राज्य-स्तर पर भी सार्वजनिक निर्माण विभाग में मुख्य रूप से केवल इंजीनियर होते हैं। इसी प्रकार मेडिकल विभाग डॉक्टरों से मिलकर बना होता है। स्थानीय स्तर पर भी अग्नि, प्रकाश, लेखा आदि विभाग इसी आधार पर संगठित किए जाते हैं। यह उल्लेखनीय है कि केवल

अधिक महत्वपूर्ण प्रक्रिया या व्यावसायिक योग्यता को ही अलग विभाग के निर्माण का आधार बनाया जाता है, गौण एवं कम महत्व की प्रक्रिया को विभाग के संगठन का आधार नहीं बनाया जाता है। लूथर गुलिक के मतानुसार इस प्रकार के संगठनों में एकसी योग्यता अथवा तकनीक को काम में लाने वाले या एक ही व्यवसाय के सदस्यों को संयुक्त कर एक विभाग बना दिया जाता है, किन्तु गौण योग्यताओं, जैसे टाइपिंग आदि के आधार पर विभाग नहीं बनाया जाता है। प्रक्रिया पर आधारित विभागों की संख्या सामान्य रूप से कम पाई जाती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि ऐसे विभागों की स्थापना से असुविधा बढ़ जाती है तथा प्रशासन की कार्य-कुशलता पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ यदि इंजीनियरों का एक केन्द्रीय विभाग बना दिया जाए जो सभी विभागों के समस्त निर्माण-कार्यों को सम्पन्न करे, तो इस स्थिति में एक विभाग को जो अपने भवन की मरम्मत कराना चाहता है, इंजीनियरों के विभाग की सेवाएँ माँगनी होंगी। इसमें देरी होगी और असुविधा भी। यही कारण है कि केन्द्रीय स्तर पर एक सार्वजनिक निर्माण विभाग होने पर भी रेलवे, डाकतार आदि विभागों में उनकी अपनी इंजीनियरिंग सेवाएँ होती हैं। मिलेट ने प्रक्रिया की परिभाषा उस कार्य अथवा क्रिया के रूप में की है जो विभिन्न श्रेणी-विभागों को समरूप रूप में बाँटती है अर्थात् सभी विभागों के लिए एक होती है। वास्तव में प्रक्रिया से सम्बन्धित योग्यताओं की प्रत्येक विभाग में थोड़ी बहुत आवश्यकता पड़ती ही रहती है। इसलिए प्रत्येक विभाग यह चाहता है कि इन सेवाओं के लिए वह दूसरों का मुँह ताकने की अपेक्षा स्वयं ही प्रबन्ध करके रखे तो अच्छा रहे। वैसे प्रक्रिया एवं कार्य के बीच अन्तर स्थापित करना प्रायः कठिन काम है।

3. व्यक्ति (Persons)

जिन व्यक्तियों की सेवा की जाती है वे भी आगे चलकर कभी-कभी विभागों के संगठन का आधार बन जाते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में पुनर्वास मन्त्रालय की स्थापना शरणार्थियों की सेवा के लिए की गई है। इस प्रकार के विभाग की यह विशेषता रहती है कि वह जिस गुट की सेवा करता है उसकी सभी अथवा अधिकांश आवश्यकताओं की देखभाल करता है। इसी प्रकार राज्य एवं केन्द्र-स्तर के पुनर्वास विभाग पुनर्वासित-व्यक्तियों की विशेष समस्याओं का समाधान करते हैं।

4. स्थान (Place)

कभी-कभी स्थान भी विभाग के संगठन का आधार बन जाता है। इस प्रकार के संगठन का सबसे अच्छा उदाहरण विदेश विभाग है जो भारत का अन्य देशों के साथ सम्बन्धों का अध्ययन करता है। अनेक केन्द्रीय एवं राज्य स्तरीय विभागों का आधार क्षेत्रीय सिद्धान्त है। भारतीय विदेश-विभाग के पचास से भी अधिक सम्भागों में से बहुत से सम्भागों की रचना का आधार भौगोलिक है। ये सम्भाग अफ्रीका, अमेरिका, मध्य-पूर्व, सुदूर-पूर्व, दक्षिण-पूर्व एशिया एवं योरोप के देशों से सम्बन्धित मामलों पर विचार करते हैं। भारतीय सेना-प्रशासन को भी क्षेत्रीय आधार पर संगठित किया गया है। देश का पुलिस विभाग भी अनेक भौगोलिक क्षेत्रों के आधार पर विभाजित है। ब्रिटेन में भी भौगोलिक अथवा क्षेत्रीय आधार पर विभागों का निर्माण किया गया है।

आधारों का मूल्यांकन

लक्ष्य, प्रक्रिया, व्यक्ति तथा स्थान के आधार पर विभागों का संगठन करने से यह आशा की जाती है कि प्रशासकीय कार्यकुशलता बढ़ेगी, किन्तु विशेषीकरण की दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्धान्त असंगत सिद्ध हो जाता है क्योंकि संगठन के चारों ही आधार परस्पर विरोधी हैं तथा एक विशेष अवसर पर एक आधार के लिए तीन आधारों के लाभों का बलिदान हो सकता है। यदि एक शहर के विभागों को मुख्य-मुख्य उद्देश्यों के आधार पर संगठित किए जाएँ तो इसका अर्थ यह होगा कि सभी वकीलों, इंजीनियरों अथवा सांख्यिकीविद को किसी ऐसे विभाग में नहीं रखा जाएगा जिसमें सभी कर्मचारी उन्हीं के व्यवसाय के हों, वरन् उनको शहर के विभिन्न विभागों में भेज दिया जाएगा जो उनकी सेवा चाहते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया के आधार पर विभागों का संगठन करने से जो लाभ प्राप्त हो सकते हैं उनसे ये विभाग वंचित रह जाएँगे।

इस दोष से बचने के लिए यह सुझाव दिया जाता है कि प्रक्रिया से प्राप्त होने वाले लाभों को बड़े विभाग में एक सम्भाग स्थापित करके प्राप्त किया जा सकता है। सार्वजनिक निर्माण विभाग में एक इंजीनियरिंग का ब्यूरो खोला जा सकता है। इसी प्रकार छोटी इकाइयों में क्षेत्र अथवा सेवित व्यक्तियों के आधार पर सम्भाग बनाए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए दमकल-विभाग की सारे शहर में अलग-अलग इकाइयाँ स्थापित होंगी। किन्तु इन मुख्य प्रकार के विशेषीकरणों को एक साथ प्राप्त नहीं किया जा सकता। हमें यह सोचना होगा कि संगठन के किस स्तर पर किस विशेषीकरण का लाभ उठाया जा सकता है।

कभी-कभी संगठन के लक्ष्य तथा सेवित व्यक्तियों के बीच संघर्ष खड़ा हो जाता है। उदाहरण के लिए हम स्वास्थ्य विभाग के संगठन को ले सकते हैं जिसमें लक्ष्य के आधार पर किए जाने वाले विशेषीकरण का परिणाम उस विशेषीकरण के परिणामों से भिन्न होगा जो सेवित व्यक्तियों के आधार पर किया जा रहा है। जन-स्वास्थ्य

प्रशासन बीमारियों को रोकने और स्वच्छ परिस्थितियों के निर्माण के लिए अनेक कार्य करता है। यह सफाई की जाँच करता है, दूध, खाना तथा दवाओं की देखभाल करता है, प्रयोगशाला में कार्य करता है; बीमारियों पर नियन्त्रण रखता है तथा स्वास्थ्य की शिक्षा देता है। स्वास्थ्य विभाग के परिश्रम का सन्तोषजनक परिणाम प्राप्त न होने के कारणों में महत्त्वपूर्ण यह है कि स्कूली स्वास्थ्य-विकास का क्षेत्र इससे बाहर रखा गया है अर्थात् बालकों के स्वास्थ्य से सम्बन्धित विषयों पर यह विभाग कुछ भी नहीं कर सकता। समाज के स्वास्थ्य-कार्यक्रम एवं स्कूलों के स्वास्थ्य-कार्यक्रम अलग-अलग हो जाते हैं।

इन चारों तत्वों को संगठन के आधार बनाने के मार्ग में एक दूसरी कठिनाई यह है कि इन मुख्य पदों के अर्थ के बीच मौलिक अन्तर है। जहाँ तक लक्ष्य का सम्बन्ध है, उद्देश्य उसको कह सकते हैं जिसे प्राप्त करने के लिए कोई क्रिया की जाती है। प्रक्रिया उसे कहते हैं जो एक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए की जाती है। प्रक्रिया का मुख्य लक्ष्य किसी उद्देश्य को प्राप्त करना होता है, किन्तु स्वयं के लक्ष्यों को ही एक पदसोपान में व्यवस्थित किया जा सकता है। एक टाइपिस्ट अपनी अंगुलियाँ इसलिए हिलाता है कि वह टाइप कर सके, टाइप वह एक पत्र लिखने के लिए करता है, पत्र इसलिए लिखता है कि पूछताछ का जवाब देना है। यहाँ पत्र का लिखना एक लक्ष्य हो जाता है जिसे प्राप्त करने के लिए टाइप किया जाता है। पत्र का लिखना एक प्रक्रिया भी है ताकि पूछताछ का उत्तर देने का लक्ष्य प्राप्त हो सके। इस प्रकार स्पष्ट है कि एक ही कार्य को प्रक्रिया भी कह सकते हैं और लक्ष्य भी।

इन मुख्य पदों की अस्पष्टता प्रशासकीय संगठन के सम्बन्ध में भी उद्धृत की जा सकती है। स्वास्थ्य विभाग जिसका कार्य समाज के स्वास्थ्य की देखभाल करना है, एक उद्देश्यपूर्ण संगठन है। इसे विभाग की प्रक्रिया पर आधारित भी माना जा सकता है क्योंकि इसमें कार्य-संचालन के लिए चिकित्सा कला का उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार एक विभाग को एक ही साथ लक्ष्य पर आधारित भी कहा जा सकता है जिसका लक्ष्य शिक्षित बनाना है तथा व्यक्ति पर आधारित भी कहा जा सकता है क्योंकि यह कुछ लोगों की सेवा करता है। ठीक इसी प्रकार वन-विभाग को एक साथ ही उद्देश्य के रूप में (यह वनों की रक्षा करता है) एक प्रक्रिया के रूप में (वनों का प्रबन्ध) व्यक्ति के रूप में (लकड़ी काटने वालों तथा चरवाहों की सेवा) तथा क्षेत्र के रूप में माना जा सकता है। इस प्रकार के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक विभाग के आधारभूत तत्वों के बारे में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

लूथर गुलिक उस संगठन को उद्देश्य पर आधारित मानने को तैयार था जिसमें सभी व्यक्ति एक मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एकत्रित हों, किन्तु समस्या यह है कि आखिर प्रमुख लक्ष्य क्या है ? क्या अग्नि से रक्षा एक लक्ष्य है अथवा जन-संरक्षण के लक्ष्य का एक भाग है, अथवा कुछ लक्ष्यों का संयोग है ? इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कोई संगठन केवल एक लक्ष्य पर आधारित नहीं रहता। यह तो भाषा एवं अभिव्यक्ति की समस्या है कि एक ही पद में कई लक्ष्य समाविष्ट हो जाते हैं तथा एक ही लक्ष्य को कई प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है। कभी-कभी एक ही कार्य में अनेक लक्ष्य मिले रहते हैं, किन्तु तकनीकी मामला होने के कारण उनको अलग-अलग नहीं किया जा सकता। अतः यह क्रिया एक ही समझी जाती है। लक्ष्यों के बीच एक पदसोपान पाया जाता है जिसके कारण एक लक्ष्य दूसरे लक्ष्य की प्रक्रिया बन जाता है। इस प्रकार जैसा कि साइमन का कहना है, प्रक्रिया तथा लक्ष्य के बीच कोई गम्भीर अन्तर नहीं पाया जाता, दोनों के बीच अन्तर मुख्य रूप से मात्रा का है। *एक प्रक्रिया उस क्रिया को कहा जाएगा जिसका लक्ष्य और साधन के सोपान में तात्कालिक लक्ष्य पर्याप्त निम्न* स्तर का है। 'लक्ष्य' क्रियाओं का वह समन्वय है जिनमें लक्ष्य साध्य के मानव पदसोपान में उच्च स्तर पर है।

वास्तव में ये श्रेणियाँ लक्ष्य से भिन्न नहीं वरन् उसके ही भाग हैं। दमकल-विभाग के लक्ष्य का पूरा विवरण देने पर क्षेत्र का नाम देना भी अनिवार्य हो जाएगा जैसे 'अमुक क्षेत्र पर अग्नि-विध्वंसों को रोकने के लिए'। इन प्रशासकीय संगठनों के लक्ष्य बताते समय उस सेवा का नाम लिया जाता है जो करनी है तथा उस क्षेत्र का नाम लिया जाता है जहाँ सेवा करनी है। यद्यपि पद से लक्ष्य का तात्पर्य पहले से ही है, किन्तु दूसरा अर्थ भी स्वाभाविक रूप से उसके साथ जुड़ा हुआ है। सेवा का क्षेत्र सेवित व्यक्ति भी हो सकते हैं और भौगोलिक भूमि भी। एक अभिकरण यदि शिफ्ट के साथ कार्य करता है तो उसमें समय का तत्व भी साथ में जुड़ जाता है।

संगठन में यह समस्या होती है कि कार्य का विशेषीकरण किस प्रकार किया जाए ? किसी भी संगठन का उद्देश्यपूर्ण संगठन, प्रक्रियापूर्ण संगठन, सेवित व्यक्ति संगठन अथवा क्षेत्रीय संगठन कहना पूर्णतः गलत होगा क्योंकि कोई संगठन इनमें से एक पर आधारित होते हुए भी किसी ऐसे बड़े संगठन का भाग हो सकता है जिसका आधार कोई दूसरा तत्व हो। इसके अतिरिक्त संगठन के आधार ज्ञात करने के लिए हमें यह भी देखना होगा कि वह संगठन की इकाई है या नहीं। उदाहरण के लिए, एक राज्य में स्कूली उम्र के बच्चों के लिए जन-स्वास्थ्य एवं मेडिकल सेवाएँ अर्पित करने वाली इकाई को एक क्षेत्रीय संगठन कहा जा सकता है। यदि वह किसी ऐसे संगठन

का भाग हो जो उस राज्य के लोगों को ये सेवाएँ प्रदान करता है तो इसे सेवित व्यक्ति-संगठन भी कहा जा सकता है। यदि यह उस संगठन का एक भाग हो जो सभी उम्र के बच्चों को यह सेवा प्रदान करता हो तो उसे लक्ष्य प्रक्रिया का संगठन कह सकते हैं कि यदि यह शिक्षा विभाग का अंग बना दिया जाए। कुछ लेखकों के मतानुसार यह कहना गलत होगा कि ब्यूरो 'क' एक प्रतिक्रिया ब्यूरो है बल्कि सही कथन तो यह होगा कि ब्यूरो 'क' विभाग 'ख' का प्रक्रिया ब्यूरो है। संगठन के कुछ प्रमुख लक्ष्य होते हैं और कुछ गौण लक्ष्य। स्कूल के एक अंग के रूप में एक चिकित्सालय मेडिकल कला (प्रक्रिया) का उपयोग करता है तथा स्वास्थ्य (उप-लक्ष्य) से सम्बन्धित है।

वैसे तो संगठन में लक्ष्य, प्रक्रिया, व्यक्ति एवं क्षेत्र पदों का अर्थ सही रूप से बताना बड़ा कठिन है, फिर भी यदि मान लिया जाए कि यह समस्या सुलझ जाती है तब भी प्रशासन का सिद्धान्त इस सम्बन्ध में कोई निर्देशन प्रदान नहीं करता कि एक निश्चित समय पर इनमें से किसे विशेषीकरण का आधार माना जाए। ब्रिटेन के सरकारी संगठन को इस संबंध में कोई संदेह नहीं था। उसका कहना था कि "लक्ष्य" एवं सेवित व्यक्ति संगठन के दो सम्भावित आधार हैं। पहले पर अधिक विश्वास किया जा सकता है। दूसरे में विचार एवं लक्ष्य में से किसी एक को चुनने की सलाह देते हैं। लक्ष्य बनाम प्रक्रिया विषय पर पर्याप्त विचार किया जा चुका है। चार्ल्स हैरिस का कहना था कि उदाहरण के लिए कृषि संम्बन्धी शिक्षा का सम्बन्ध किससे होगा—शिक्षा मन्त्रालय से अथवा कृषि मन्त्रालय से, यह इस बात पर निर्भर करता है कि क्या हम पुराने तरीके से अच्छी कृषि करना चाहते हैं अथवा आधुनिकतम तरीके से ? यह प्रश्न स्वत: ही पूर्व प्रश्न का जवाब दे देगा। ये विरोध एवं प्रतिद्वन्द्विताएँ पिछले कुछ वर्षों से विचारकों एवं लेखकों के आकर्षण का मुख्य केन्द्र बिन्दु रही हैं। लूथर गुलिक, वालास, वैंसन आदि ने विशेषीकरण के कुछ तरीकों के लाभ-हानि पर विचार किया है जिसमें एक अथवा दूसरा तरीका आसानी से ग्रहण *किया जा सकता है। यह सम्पूर्ण विश्लेषण केवल सैद्धान्तिक स्तर पर ही किया गया है क्योंकि जिन तरीकों को* श्रेष्ठ बताया गया था उनके समर्थन में आँकड़े एकत्रित नहीं किए गए।

संगठन के प्रभाव

संगठन की गतिशीलता अपने सदस्यों को निरन्तर प्रभावित करती है। "कोई भी संगठन, जिसमें परिवर्तन रुक जाता है, मृतप्राय है।" प्रशासनिक निर्णयों की उपादेयता की एक कसौटी यह है कि वे संगठन के सदस्यों के निर्णयों को किस रूप में प्रभावित करते हैं। प्रशासनिक निर्णयों का सफल क्रियान्वयन अधीनस्थों के सहयोग पर निर्भर है। यदि प्रशासनिक निर्णय उच्च स्तर पर ही केन्द्रित रह जाते हैं अथवा उसके अधीनस्थों को बोध होता है तो उनकी व्यावहारिकता, सफलता और प्रभावशीलता में संदेह बना रहेगा। प्रसिद्ध विद्वान हरबर्ट ए. साइमन ने इस बात की विवेचना की है कि संगठन किस तरह अपने सदस्यों के निर्णयों को प्रभावित करता है। उनके मतानुसार संगठन का प्रभाव प्रधानत: निम्नलिखित पाँच रूपों में देखा जा सकता है—

1. संगठन अपने सदस्यों में कार्य विभाजित करता है। प्रत्येक कर्मचारी को विशेष प्रकार के कार्य दिए जाते हैं, जिसके फलस्वरूप उसके कार्य सीमित हो जाते हैं तथा उसका ध्यान अपने कार्य में केन्द्रित हो जाता है।
2. संगठन आदर्श व्यवहार स्थापित करता है। कार्य करने की विस्तृत प्रक्रिया निर्धारित की जाती है अत: यह झंझट नहीं रहता कि प्रत्येक कर्मचारी को प्रत्येक कार्य करने के लिए प्रक्रिया निश्चित करनी पड़े।
3. संगठन अधिकृत निर्णयों को वितरित करता है। निर्णयों को नीचे, ऊपर, चारों तरफ प्रसारित करने से कर्मचारियों को कार्य करते समय विशेष सूचनाएँ मिलती रहती हैं।
4. संगठन एक ऐसी संचार-प्रणाली का प्रबन्ध करता है जिससे सब प्रकार की सूचनाएँ ज्ञात होती रहें। संगठन के सूचना स्रोत औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों तरह के होते हैं।
5. संगठन अपने सदस्यों को प्रशिक्षित कर कुशल बनाता है। इसे प्रभावों का 'अन्तर्राष्ट्रीयकरण' कहा जा सकता है।

संगठन के सिद्धान्त और उद्देश्य संगठन के सदस्यों के सिद्धान्तों और उद्देश्यों से एकरूपता बनाए रखने में सहायक होते हैं। दोनों पक्षों के उद्देश्यों में तालमेल न रहने पर संगठन में कार्यकारी एकता सम्भव नहीं रहेगी। संगठन के विभिन्न प्रभावों द्वारा सदस्य संगठन के उद्देश्य और उसकी कार्यप्रणाली से अपना निकट सम्बन्ध स्थापित करने में सफल होते हैं।

संगठनों का वर्गीकरण
(Classification of Organisation)

संगठनों से सम्बन्धित यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि इनका जन्म किस प्रकार होता है ? वस्तुत: संगठनों की स्थापना कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की जाती है। कुछ महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली व्यक्ति जब कुछ लक्ष्यों की

प्राप्ति के लिए एक संगठन बनाने की आवश्यकता का अनुभव करते हैं तो इस दिशा में उनका प्रयास प्रारम्भ हो जाता है। नवीन चुनौतियाँ प्रायः नए संगठनों की स्थापना का वातावरण प्रस्तुत करती हैं। भारत में जब देश के विभाजन के बाद शरणार्थियों की समस्या उत्पन्न हुई तो राज्य एवं केन्द्रीय स्तर पर पुनर्वास विभाग स्थापित किया गया। इसी प्रकार की किसी न किसी चुनौती का सामना करने के लिए सरकार के अन्य विभागों को भी स्थापित किया जाता है। यह सच है कि प्रशासनिक संगठनों का जन्म कुछ आवश्यकताओं एवं चुनौतियों का सामना करने के लिए किया जाता है, किन्तु प्रत्येक आवश्यकता एवं चुनौती संगठन के जन्म का कारण नहीं बन जाती। नवीन चुनौतियों के आने पर यह प्रयास किया जाता है कि उन्हें पहले से ही अस्तित्व वाले विभागों को ही सौंप दिया जाए। *यदि स्थिति की गम्भीरता के कारण ऐसा करना सम्भव नहीं होता तो फिर एक नया विभाग संगठित किया* जाता है। जो संगठन कुछ तात्कालिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संगठित किए जाते हैं, वे अपने उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के बाद समाप्त हो जाते हैं। जिन विभागों की प्रकृति स्थाई होती है और जो मूलभूत चुनौतियों का सामना करने के लिये ही बनाये जाते हैं वे स्थाई रूप से कायम रहते हैं। उदाहरण के लिए शिक्षा-विभाग को लिया जा सकता है। इस प्रकार संगठन के रूप तथा स्थायित्व पर उसके लक्ष्यों की प्रवृति का निर्णायक रूप से प्रभाव पड़ता है।

विकाशील प्रकृति (Evolutionary Nature)

संगठनों की प्रकृति विकासशील होती है। उनके स्वरूप, रचना एवं लक्ष्य आदि पर मानवीय तत्त्व का प्रभाव रहता है। जिन परिस्थितियों में संगठन का निर्माण किया जाता है, वे परिवर्तनशील होती हैं। ग्लेडन का यह कहना उपयुक्त है कि जिस संगठन का परिवर्तन रुक जाता है वह एक प्रकार से मृत हो जाता है। कुछ समय बाद इस प्रकार का संगठन निरर्थक बन जाता है और उसका कोई लाभ नहीं होता। इस प्रकार संगठन एक परिवर्तनशील, सक्रिय तथा विकासशील इकाई है। परिस्थितियों के परिवर्तन और संगठन की आवश्यकताओं की भूमिका में संगठन प्रभावित होता है। संगठन में जो कार्य-विभाजन किया जाता है उसे पुनः समायोजित करना पड़ता है। नई परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार कार्य का पुनः विभाजन करके कर्मचारियों के उत्तरदायित्वों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जाता है। संगठन द्वारा ऐसे अनेक प्रयोग किए जाते हैं जिनके आधार पर वह नवीन चुनौतियों का सामना कर सके। विभिन्न प्रयोगों द्वारा इन परिवर्तनों की सार्थकता का अनुमान लगाया जाता है। संगठन द्वारा जो निर्णय लिए जाते हैं उनके सम्बन्ध में निम्न, उच्च एवं मध्य स्तर के सभी कर्मचारियों को सूचित कर दिया जाता है। संगठन की संचार व्यवस्था में भी आवश्यकतानुसार परिवर्तन किए जाते हैं। संगठन ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, उसमें जटिलताएँ आती-जाती हैं जिसके कारण संगठन की गति मन्द हो सकती है। इससे बचने तथा कार्य-प्रणाली को अधिक सक्रिय बनाने के लिए संगठन की संचार-व्यवस्था को सशक्त बनाना परमावश्यक है। *बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार संगठन को समायोजित करने के लिए यह* आवश्यक है कि उसके कर्मचारियों को तदनुसार प्रशिक्षित किया जाए। प्रशिक्षण के अभाव में कर्मचारी-वर्ग द्वारा संगठन की शक्ति, गति एवं कार्य-प्रणाली को पीछे धकेल कर असामयिक, निकम्मा एवं प्रभावहीन बनाया जा सकता है। प्रशिक्षण द्वारा ही संगठन अपने नए उत्तरदायित्वों का सुगमता से भार वहन करने योग्य एवं विकासशील बनता है।

प्रशासनिक संगठन पर प्रभाव डालने वाले तत्त्व
(The Influencing Factors)

लोक प्रशासन में यदि हम संगठन के रूप एवं संरचना का अध्ययन करना चाहते हैं तो हमें उस पर प्रभाव *डालने वाले राजनीतिक, तकनीकी और व्यक्तिगत तत्त्वों का विश्लेषण करना चाहिए। ये तीनों तत्त्व एक-दूसरे से* सम्बन्धित होते हैं और कई अवसरों पर एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते। इन तत्वों को अलग करने पर इनका महत्त्व ही समाप्त हो जाता है। ये मुख्य तत्त्व निम्नांकित हैं–

राजनीतिक तत्त्व (Political Elements)

संगठन की बनावट में अनेक क्रियाएँ तथा प्रशासकीय अभिकरणों का एक स्तर होता है। ये दोनों ही राजनीतिक हित के मामले हैं। राजनीतिक हित से हमारा तात्पर्य यह है कि एक देश की सरकार की निर्णय लेने वाली इकाइयाँ यह देखती हैं कि संगठन के प्रबन्ध के अनेक विषय लोक-हित की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण हैं। इसलिए लोक प्रशासन में संगठन एक ज्वलन्त समस्या होती है जिस पर व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका दोनों ही अपने-अपने मत व्यक्त करती रहती हैं। इन निर्णयकारी इकाइयों के अतिरिक्त हित-समूहों तथा सामान्य जनता के दृष्टिकोण भी व्यक्त किए जाते हैं। अधिकांश देशों की सरकारी व्यवस्था में व्यवस्थापिका एक मुख्य इकाई होती है जो संगठन का रूप निर्धारित करती है। संयुक्त राज्य अमेरिका को इसका एक उदाहरण माना जा सकता है। *जब कोई नया सरकारी कार्यक्रम प्रारम्भ करना होता है अथवा चालू कार्यक्रम को ही आगे बढ़ाना होता है तो*

संगठन से सम्बन्धित अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं जिन पर निर्णय लेना जरूरी होता है। वास्तव में ऐसे प्रश्न किसी भी सरकारी क्रिया पर किए जाने वाले विचार के अविभाज्य अंग होते हैं। संगठन पर राजनीतिक प्रभाव के उदाहरण के रूप में उच्च शिक्षा के लिए संगठन (Organisation for higher learning) तथा सेनाओं का संगठन (Organising the armed forces) आदि उदाहरणों को लिया जा सकता है। संगठन पर राजनीतिक प्रभाव के साथ अनेक राजनीतिक तथा प्रशासकीय प्रश्न जुड़े हुए हैं।

तकनीकी तत्त्व (Technical Elements)

कार्य-विभाजन प्रायः संगठन का आधार होता है। कार्य की इकाइयों का निश्चय समाज विशेष में प्राप्त ज्ञान एवं कुशलता के आधार पर किया जाता है। संगठनात्मक रूप की तकनीकी समस्याएँ तब खड़ी होती हैं जब मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक योग्यता एवं कुशलता निर्धारित करने का प्रयास किया जाता है। समय के साथ सरकार में मुख्य उद्देश्य भी अनेक उत्पन्न हो गये हैं, जैसे—विदेशी सबंधों का निर्वहन, देश की सुरक्षा का प्रबंध, व्यक्ति एवं सम्पत्ति की रक्षा, कर-वसूली, जन-स्वास्थ्य की अभिवृद्धि, कृषि की सहायता, शिक्षा व व्यापार की व्यवस्था, सड़कों एवं गलियों का निर्माण, आर्थिक उद्यमों को प्रोत्साहन देना, डाक का वितरण एवं ऐसे ही अन्य अनेक कार्य। यदि संगठनात्मक ढाँचे का तकनीकी विश्लेषण किया जाए तो हमारे सामने कुछ मानदण्ड उपस्थित होते हैं। इनमें एक तो सामान्य रूप से प्रयोग किया जाता है और यह है 'कार्यकुशलता'। दूसरा मापदण्ड सेवाओं का स्तर है। सरकार का कार्य नियत समय तथा पर्याप्त मात्रा में होना चाहिए। एक अन्य मानदण्ड सेवाओं की समानता तथा न्यायोचितता है। सरकारी कार्य सभी के लिए समान आधार पर होना चाहिए। समानता के मापदण्ड का आधार यह सिद्धान्त है कि कानून के समक्ष सभी समान होते हैं और उनको समान अवस्था में समान समझा जाना चाहिए। एक संगठन के तकनीकी कार्य का मूल्यांकन कार्यकुशलता, सुविधा, गुण तथा समानता (Efficiency, Convenience, Quality and Equality) इन चार आधारों पर किया जाना चाहिए यद्यपि ये मापदण्ड न तो स्वप्रमाणित हैं और न इनको प्रयोग करना ही सरल है

संगठन का निर्माण करते समय विभिन्न प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। प्रथम, तकनीकी समस्या, संगठन के आधार से सम्बन्धित है। तकनीकी दृष्टि से सभी सम्बन्धित क्रियाओं को एक समान लक्ष्य के आधार पर एकत्रित कर देना चाहिए फिर भी यह निर्णय करना बड़ा कठिन होता है कि सामान्य लक्ष्य किसको समझा जाए। संगठन से सम्बन्धित दूसरी मुख्य तकनीकी समस्या उसकी निरीक्षणात्मक आवश्यकता है। निरीक्षण का लक्ष्य काम करने वाली विभिन्न इकाइयों को एक साथ लाना तथा एक साथ बनाए रखना है। प्रभावशाली बनाने के लिए संगठन के निरीक्षण को बुद्धिपूर्ण होना चाहिए। संगठन-विशेषज्ञों ने नियन्त्रण के क्षेत्र के बारे में यह विचार व्यक्त किया है कि एक निरीक्षक केवल कुछ कार्यकर्ता इकाइयों अथवा समूहों पर ही नियन्त्रण बनाए रख सकते हैं। अनुभव तथा मनोवैज्ञानिक शोधों के परिणामस्वरूप यह स्पष्ट हो गया है कि एक निरीक्षक की निरीक्षणात्मक शक्ति की सीमा होती है, किन्तु इस सीमा पर अनेक बाहरी एवं आन्तरिक तत्त्वों का प्रभाव पड़ता है। इस संबंध में यह कहा जाता है कि यदि एक प्रशासकाधीन निरीक्षण की इकाइयों की संख्या कम कर दी जाए तो निरीक्षण का गुण बढ़ जाएगा; किन्तु ज्योंही इकाइयों का कार्यभार बढ़ेगा तथा उनका आपसी सम्बन्ध अधिक होगा, उनके कार्य भी तकनीकी जटिल हो जाएँगी। संगठनात्मक रूप से तकनीकी ढाँचे का एक अन्य तत्त्व यह है कि प्रशासक की *व्यक्तिगत सहायता के लिए एक कर्मचारी वर्ग नियुक्त किया जाना चाहिए तथा प्रबन्ध के लिए पर्याप्त संगठन होना* चाहिए। प्रायः हम संगठन को एक पिरामिड के रूप में सोचते हैं। कार्य की अनेक छोटी-छोटी इकाइयाँ इस पिरामिड का आधार बनती हैं। बाद में इन छोटी इकाइयों को एक पिरामिड के अधीन एकीकृत किया जाता है अर्थात नीचे के निरीक्षकों को अन्य निरीक्षक के अधीन एकीकृत किया जाता है जिसे मुखिया या निर्देशक कहा जाता है। तीसरे, चौथे, पाँचवें एवं छठे स्तरों के निरीक्षकों के बीच आपस में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। प्रबन्ध-संगठन में यह स्पष्ट किया जाता है कि निरीक्षकों को सहायता देने वाले सहायकों की संरचना कैसी होती है। जब निरीक्षक के नियन्त्रण का क्षेत्र व्यापक हो जाता है तो उसके लिए संगठन का प्रबन्ध करना कठिन हो जाता है इसलिए यह आवश्यक है कि उसकी सहायता के लिए प्रबन्धात्मक स्टाफ की रचना की जाए और तब प्रबन्ध एक सहयोगी कार्य बन जाता है। शीर्षस्थ प्रबन्ध अपने आप में एक बड़े स्तर का कार्य है जिसमें अनेक विशेषज्ञ भाग लेते हैं। इस प्रकार 'प्रबन्ध-संगठन' प्रशासकीय अभिकरण की एक विशेष तकनीकी समस्या है।

व्यक्तिगत तत्त्व (Individual Elements)

संगठन को निर्वैयक्तिक सम्बन्धों का तरीका कहा जा सकता है। संगठन की कुछ विशेषताएँ साथ-साथ कार्य करने वाले व्यक्तियों के सामाजिक मनोविज्ञान से उत्पन्न होती हैं। कार्य का समूह एक कृत्रिम सामाजिक निर्माण नहीं होता है तो अधिकांश व्यक्तियों की मान्य आवश्यकता है। जब कुछ व्यक्ति एक कार्य-समूह के सदस्य बन जाते हैं तो शीघ्र ही अपने कल्याण को समूह-कल्याण के साथ एकाकार कर लेते हैं। उनका यह विश्वास बन

जाता है कि समूह महत्त्वपूर्ण है और इसलिए वे बाह्य आक्रमणों से उसकी रक्षा के लिए तत्पर रहते हैं। जब कोई नया व्यक्ति एक समूह में आता है तो वह समूह तब तक उसे परीक्षण के तौर पर रखता है जब तक वह अन्य सदस्यों के साथ एकाकार न हो जाए। सामाजिक जीवन का एक अन्य प्रेरक तत्त्व उत्सुकता है। बहुत से व्यक्ति स्वयं के बारे में चिन्तित रहते हैं कि उन्हें दूसरों के द्वारा स्वीकार किया जाएगा अथवा नहीं, उनका स्वास्थ्य अच्छा है या नहीं, वे अपना समर्थन कर पाएँगे अथवा नहीं, उनका कार्य सही होगा या नहीं, आदि। व्यक्ति की उत्सुकता बहुत शीघ्र ही समूह के लिए परिवर्तित हो जाती है। ये व्यक्तिगत एवं सामूहिक उत्सुकताएँ मिलकर व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती हैं। इन सबका परिणाम यह होता है कि हर प्रकार के परिवर्तन तथा सत्ता का विरोध किया जाता है।

आकार आधारित वर्गीकरण

(Classification according to Size)

संगठन का आकार उसकी प्रकृति को बदल देता है। संगठन के आकार में परिवर्तन से उसकी कार्य-प्रणाली भी बदल जाती है। कुछ संगठन निश्चित आकार के होते हैं और जब तक उनका यह आकार पूर्ण न हो तब तक वे कार्य नहीं करते। दूसरी ओर कुछ संगठन ऐसे होते हैं जो सदस्यों की संख्या कम या अधिक होने पर भी कार्य कर सकते हैं, उदाहरण के लिए विधान सभा की समितियाँ। आकार की दृष्टि से संगठनों को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. छोटे समूह (Small Groups)—छोटे समूहों को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम, प्रमुख समूह जिनमें प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्यों के साथ व्यक्तिगत रूप से प्रतिक्रिया करता है, दूसरे, अप्रमुख समूह जिनमें यह विशेषता नहीं पाई जाती है। छोटे प्रमुख समूह में सामान्यतः दो से लेकर बीस सदस्य तक होते हैं तथा छोटे समूह जो प्रमुख नहीं होते, तीन से लेकर सौ सदस्यों वाले तक हो सकते हैं। छोटे समूहों को आसानी से एकत्रित किया जा सकता है। ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं जिनमें ये छोटे समूह कुछ समय बाद एक बड़े समूह के साथ मिलते न रहते हों। अधिकांश छोटे समूहों में, चाहे वे प्रमुख न हों, प्रतिक्रिया प्रायः आमने-सामने होती है। सम्भवतः यही कारण है कि एक छोटा समूह बिना अपनी शक्ति को हस्तान्तरित किए उसका प्रयोग कर सकता है। कार्यपालिका की समितियों, मन्त्रालयों, न्यायालयों, युद्ध-परिषद् आदि में सामान्यतः पन्द्रह या बीस के लगभग सदस्य रहते हैं। इसके अतिरिक्त मध्यस्थ अथवा बड़े शक्ति समूह जैसे—व्यवस्थापिकाएँ आदि अपने उप-समूहों से नियन्त्रित एवं निरीक्षित होती हैं।

2. मध्यम समूह (Medium Groups)—ये समूह इतने बड़े होते हैं कि इनमें सभी सदस्यों का आपसी सम्बन्ध नहीं होता और न ही प्रत्येक सदस्य दूसरे प्रत्येक सदस्य को पहचान पाता है। साथ ही यह इतना छोटा भी होता है कि एक-दो व्यक्ति आपस में युगल सम्बन्ध भी स्थापित कर सकते हैं। साधारण परिस्थितियों में ऐसे समूह की कम से कम संख्या पचास तथा अधिक से अधिक एक हजार तक हो जाती है। मध्यम समूहों का छोटे प्रमुख समूहों की भाँति न तो भावनात्मक महत्त्व होता है और न बड़े समूहों की भाँति उनमें प्रभावपूर्ण जटिलता होती है। विश्व के अनेक उद्यम, स्वैच्छिक संस्थाएँ, प्रतिनिधि सभाएँ, स्कूल, फैक्ट्री तथा खानें, जेल तथा अस्पताल आदि इस प्रकार के समूहों की परिधि में रखे जा सकते हैं। एक मध्यस्थ समूह किसी औपचारिक संगठनात्मक ढाँचे के बिना कायम नहीं रह सकता किन्तु इसके प्रतिवेदन की क्रियाओं का नियन्त्रण उसके आन्तरिक दलों की क्रियाओं द्वारा किया जाता है। इस प्रकार के समूहों पर अकेला व्यक्ति नेतृत्व की स्थिति में भी प्रभाव नहीं डाल सकता, किन्तु अपेक्षाकृत छोटे समूहों में अस्थिरता पाई जाती है और दो व्यक्ति तीसरे के विरुद्ध एक गठबन्धन-सा कर लेते हैं। इसी प्रकार इन मध्यस्थ समूहों में भी प्रशासकीय अस्थिरता पाई जाती है और गुटों का गठबन्धन हो जाया करता है।

3. बड़े समूह (Large Groups)—बड़े समूह इतने बड़े होते हैं कि सदस्य प्रत्येक दूसरे सदस्य को नहीं जान पाता, किन्तु वे इतने बड़े नहीं होते कि कोई भी सदस्य संगठन के दूसरे सदस्यों द्वारा न पहचाना जा सके। एक या अधिक सदस्य दूसरे सभी सदस्यों के साथ प्रतिक्रिया कर सकते हैं, किन्तु यह केवल एकपक्षीय पहचान होती है अर्थात् एक मुख्य सदस्य दूसरे सभी सदस्यों द्वारा जाना जा सकता है, किन्तु वह दूसरे सभी सदस्यों को नहीं जान पाता। इन संगठनों की सदस्य-संख्या सामान्यतः कम से कम एक हजार तथा अधिक से अधिक दस हजार हो सकती है। बड़े संगठित समूह प्रायः दो प्रकार के होते हैं तथा दोनों ही बहुत कुछ समान होते हैं। एक ओर तो विशालकाय समूहों की निर्माणक इकाइयाँ जैसे—सरकारी ब्यूरो, शाखाएँ आदि होते हैं। दूसरी ओर मध्यस्थ श्रेणी के समूहों से कुछ ऊपर होते हैं। बड़े संगठन एक शक्तिशाली नेतृत्व के विकास के लिए विशेष रूप में उपयुक्त भूमिका प्रदान करते हैं। सदस्यता बहुत अधिक होने के कारण यह सम्भव नहीं होता कि संगठन का प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्य के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सके। फिर भी नेताओं, विशेषज्ञों, विनोदी या बदनाम चरित्रों के लिए यह सम्भव होता है कि वे प्रत्यक्ष प्रसिद्धि के आधार पर दूसरे सदस्यों द्वारा पहचाने जा सकें। इस

केन्द्रीय समूह की स्थिति अपवाद रूप में होती है क्योंकि उनका विशेष व्यक्तित्व प्रभाव औपचारिक सत्ता का प्रयोग करने के काम में लिया जा सकता है। एक बड़े संगठन में आवश्यक रूप से एक पूर्णतः विकसित प्रशासकीय स्तर होता है।

आकार के आधार पर संगठन का वर्गीकरण

ORGANISATIONS

Small Organisation
Medium Organisation
Large Organisation
Giant Organisation

Primary
Non-Primary
Near to Medium Size
Near to Giant Size

Min. No 2 to Max No. 20
Min. No. 3 to Max. No. 100

Min. No. 50 to Max. No. 1000
Min. No. 1000 to Max. No 10000

Minimum Number 1000 to Maximum Number Unlimited
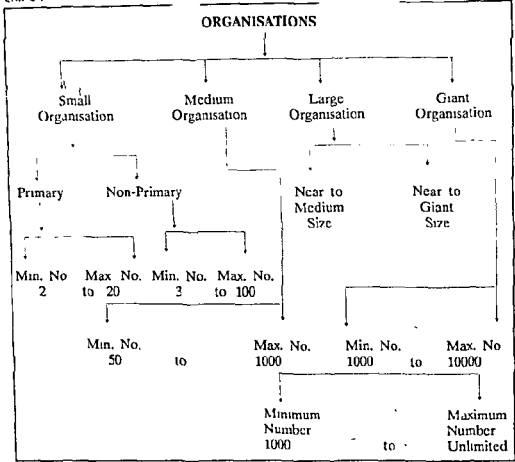
4. विशालकाय समूह (Giant Groups)—बड़े तथा विशालकाय समूहों के बीच एक विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ विश्रृंखलित समूह केवल कुछ सैकड़ों सदस्यों के होने पर भी बहुत कुछ ऐसा व्यवहार करते हैं जैसा कि एक विशालकाय समूह करता है। साथ ही कुछ निर्माण-कम्पनियाँ जिनकी कर्मचारी संख्या प्रायः तीस या चालीस हजार होती है, बनावट में बड़ी सरल होती हैं। इन समूहों की कम से कम सदस्य संख्या दस हजार होती है तथा अधिक से अधिक संख्या की कोई सीमा नहीं होती। ऐसे बड़े एवं छोटे समूहों के बीच ढाँचे की दृष्टि से अधिक अन्तर नहीं पाया जाता। एक राष्ट्र या राज्य के रूप में छोटे से राज्य स्विटजरलैण्ड या डेनमार्क की जो विशेषताएँ हैं वही विशेषताएँ भारत तथा अमेरिका जैसे बड़े राज्यों में पाई जाती हैं। विशालकाय संगठन प्राय *पिरामिड के आकार के होते हैं। अनेक स्तरों की अध्यक्षता विशेषज्ञों द्वारा की जाती है।* पिरामिड के निम्न तथा उच्च स्तर के बीच सामाजिक अन्तर इतना होता है कि संचार-साधनों एवं यन्त्रों के होते हुए भी सहज संचार सम्भव नहीं हो पाता है। विशालकाय संगठनों में ईमानदारी की स्थापना के लिए लोक-संचार तथा अधिकाधिक सदस्यों को प्रमाणित सन्देश प्रसारित करने चाहिए। संचार-प्रक्रियाओं में भाग लेने वाले व्यक्तियों को पहचानने के लिए औपचारिक प्रयासों का विकास करना भी आवश्यक बन जाता है। इसके लिए व्यक्तिगत रिकार्ड रखना आवश्यक है। इस व्यवस्था द्वारा एक व्यक्ति की संगठनात्मक क्रियाओं को विषयगत क्रमानुसार लिखा जा सकता है। विशालकाय संगठन में सामाजिक प्रतिक्रियाएँ प्राय सभी स्तरों पर होती हैं। इन सभी को उप-संगठनों का एक समूह कहा जा सकता है। किसी भी एक व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं का सम्बन्ध अधिकांश सदस्यों के साथ नहीं होता। किसी भी व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह सभी के साथ सम्बन्ध बनाए रख सके।

संगठन के स्वरूप एवं प्रकृति पर प्रभाव

(Effects on the Form and Nature of Organisation)

संगठन का आकार कम या अधिक होने से उसके रूप में तथा कार्य-प्रणाली में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। आकार के कारण संगठन की प्रकृति एवं रूप पर पड़ने वाले प्रभावों में मुख्य ये है—

1. छोटे समूह अपने सदस्यों के मौलिक मतों को परिवर्तित करने में अधिक प्रभाव डाल सकते हैं तथा छोटे समूहों में नेताओं का प्रभाव भी अधिक रहता है। छोटे समूह अपने सामान्य निर्णयों से अधिक सन्तुष्ट रहते हैं, सम्भवतः इसलिए कि यहाँ प्रत्येक सदस्य की सुनवाई के अवसर अधिक होते हैं। बड़े संगठनों में गुटबन्दी की अधिक सम्भावनाएँ रहती हैं।

2. इस संगठन का आकार व्यक्तिगत प्रयासों तथा समूह के कार्यों को प्रभावित कर सकता है। ग्रेट ब्रिटेन की दो स्वचालित फैक्ट्रियों के संगठित कार्य का अध्ययन करने पर यह पाया गया कि व्यक्तिगत प्राप्तियों एवं समूह के आकारों के बीच निषेधात्मक सम्बन्ध पाया जाता है।

3. समूह की कार्यकुशलता के बारे में पहले से ही इतनी जल्दी सामान्यीकरण कर देना खतरनाक है क्योंकि कार्यकुशलता पर आकार का प्रभाव प्रथम तो उस कार्य की प्रकृति से प्रभावित होता है जो उसे सौंपा गया है और दूसरे, कुछ प्रकार के कार्यों की सम्पन्नता एक निश्चित आकार से कम वाले संगठनों द्वारा असम्भव है। प्रथम बात को केले तथा थिबॉट (Kelley and Thibaut) ने बड़ी सुन्दरता से स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि एक सामूहिक समस्या-समाधान-स्थिति में श्रम-विभाजन तभी लाभदायक होता है जबकि वे तत्व जिनमें कार्य को बाँटा गया है इतने सरल किए जा सकें कि प्रत्येक सदस्य उन्हें पर्याप्त रूप से पूरा करने योग्य बन सके। यदि भाग इतने कठिन हैं कि अधिकांश सदस्य अपने लिए सौंपे गये कार्यों को पूरा करने में असफल हो जाएँ तो समूह की प्रगति रुक जाएगी जब तक कि ऐसे प्रबन्ध न किए जाएँ जिनमें सदस्य ऐसे कदम उठा सकें कि जिनके परिणामस्वरूप आवश्यक मार्गों को पूरा किया जा सके।

4. कार्य की सम्पन्नता पर आकार का उपयोगी प्रभाव पड़ता है। ये लाभ छोटे समूहों में प्राप्त नहीं किए जा सकते। साथ ही आकार का प्रभाव संगठन के रूप पर भी पर्याप्त उपयोगी होता है। यह प्रभाव कुछ उच्च कुशल तरीकों से पड़ता है।

5. संगठन का आकार बढ़ने के साथ ही संगठनात्मक स्थायित्व भी उसी प्रकार बढ़ने लगता है। जब संगठन का आकार बढ़ता है तो उसमें पाए जाने वाले सम्बन्ध उससे भी अधिक गति के साथ बढ़ने लगते हैं। यदि अन्य चीजें समान रहें तो बड़े समूह में छोटे समूहों की अपेक्षा सम्बन्धों का जाल अधिक घना होता है तथा हितों का आग्रह भी अधिक रहता है।

6. बड़े संगठन अधिक विस्तृत रूप से फैले हुए और क्रियाओं के विस्तृत क्षेत्र में संलग्न रहते हैं, अतः वे अपने तात्कालिक वातावरण में छोटे संगठनों की अपेक्षा दुर्घटनाओं की दशा पर कम से कम निर्भर रहते हैं।

7. बड़े संगठन अपने स्रोतों का अधिकांश भाग अपने ही कार्यों पर व्यय करते हैं जबकि छोटे संगठनों में यह स्थिति अपेक्षाकृत कम पाई जाती है।

8. टैरीन तथा मिल्स (Tarrien and Mills) ने सन् 1955 में अपने एक लेख में स्पष्ट किया था कि एक प्रशासकीय भाग आफिस संगठन के पूर्ण आकार के बीच का संगठन इस प्रकार का होता है कि पूर्ण संगठन का स्वरूप जितना अधिक बड़ा होता है, उसके प्रशासकीय भागों को उतना ही अधिक अंश प्रदान किया जाता है। इन विचारकों ने अपनी इस परिकल्पना का केलीफोर्निया-राज्य के स्कूलीय जिलों में परीक्षण कर मालूम किया कि यह परिकल्पना सत्य थी।

9. भिन्न-भिन्न लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए बनाये गए संगठनों में परस्पर पर्याप्त समानता पाई जाती है जबकि भिन्न-भिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए बनाये गए छोटे संगठनों में यह समानता नहीं होती।

बड़े आकार के संगठनों की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं। इनमें एक केन्द्रीय रिकार्ड रखने वाली व्यवस्था होती है। अपनी आय का बजट बनाने तथा खर्चे का लेखा रखने के लिए प्रमाणित क्रियाओं को काम में लाया जाता है। प्रत्येक संगठन में नौकरशाही अथवा बुद्धिवादी सेवी वर्ग-व्यवस्था होती है जिनका निश्चित ग्रेड तथा पद होता है और औपचारिक मूल्यांकन के तरीके होते हैं। इनमें से प्रत्येक अपना दृष्टिकोण बाहरी दुनिया के सामने प्रस्तुत करने के लिए किसी न किसी रूप में जनसम्पर्क क्रियाएँ करता है। प्रत्येक के अपने आन्तरिक मूल्य होते हैं जिसका उच्चस्तरीय अधिकारियों द्वारा प्रबल समर्थन होता है तथा नीचे का कर्मचारी वर्ग उसे निष्ठापूर्वक स्वीकार करता है। प्रत्येक में योजना बनाने वाले, सांख्यिकी-ज्ञाता एवं अन्य प्रकार के विशेषज्ञों का खुलकर उपयोग किया जाता है।

बड़े आकार के संगठनों के कारण

(Causes of Large Scale Organisation)

जिन देशों में अभी औद्योगीकरण नहीं हो पाया है वे शीघ्र ही अधिक उच्च संगठित आर्थिक जीवन प्रस्तुत करना चाहते हैं। औद्योगीकृत जनता का उच्च जीवन-स्तर विकासशील देशों की प्रेरणा का कारण बनता है और यह प्रेरणा उन्हें विशाल संगठनों की स्थापना के लिए प्रोत्साहित करती है। औद्योगीकरण के कारण देश पर जो दबाव पड़ते हैं उनसे विवश होकर बड़े आकार के संगठनों की स्थापना करनी होती है। मशीनों के तकनीकी विकास के फलस्वरूप उत्पादन की मात्रा भी बढ़ गई है। यह कहा जाता है कि बड़े स्तर के संगठनों की दुनिया केवल आशाओं और आकांक्षाओं के सहारे नहीं बन जाती वरन् उस पर दूसरे तत्त्वों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए वातावरण पर मनुष्यों ने क्रान्तिकारी रूप से नियन्त्रण करना प्रारम्भ कर दिया है। संगठन के आकार के बढ़ने में सामाजिक और राजनीतिक कारण भी उत्तरदायी रहे हैं। आर्थिक संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए भी कुछ विशेष प्रकार के संगठनों की आवश्यकता होती है। अठारहवीं शताब्दी में कुशल नियन्त्रण किए जाने योग्य शक्ति के स्रोतों, विशेषतः भाप आदि के कारण फैक्ट्री की उत्पादन-व्यवस्था सम्भव बन सकी। फोर्ड तथा टेलर आदि उद्योग-प्रशासन के विद्वानों ने संगठन के सम्बन्ध में नए विचार प्रस्तुत किए। टेलर को तो वैज्ञानिक प्रबन्ध का जनक माना जाता है। उन्होंने मजदूरों को विशेषीकरण के आधार पर संगठित करने के लिए बौद्धिक आधार प्रदान किया। फिफनर तथा शेरवुड का कहना है कि बड़े संगठन इस कारण बड़े नहीं हैं कि विकल्पों में से बौद्धिक आधार पर अनेक उपयुक्त निर्वाचन किये गए, वरन् वे ऐसे तत्त्वों का परिणाम हैं, जैसे—उच्च जीवन-स्तर की माँग, तकनीकी परिवर्तन तथा अर्थशास्त्र के नियम आदि। बड़े स्तर के संगठन हमारे सामाजिक जीवन की अविभाज्य विशेषताएँ हैं।

आधुनिक संगठनों की प्रकृति

(Nature of Modern Organisation)

(1) मानव-व्यक्तित्व के प्रति सम्मान—सबसे पहली बात तो यह है कि अनेक मानव-समाजों में मनुष्य के मानवीय सम्मान को महत्त्व दिया जाने लगा है। यह प्रक्रिया वैसे तो शताब्दियों पूर्व प्रारम्भ हो गई थी, किन्तु आज जैसी मान्यता इसे कभी प्राप्त नहीं हो सकी थी। आज सभी प्रकार के बड़े-बड़े संगठनों में मानव-व्यक्तित्व के प्रति सम्मान की भावना पाई जाती है।

(2) शिक्षा-स्तर का प्रभाव—दूसरा विकास जिसने व्यक्ति की परिस्थितियों में उल्लेखनीय परिवर्तन किया वह यह है—शिक्षा के स्तरों में उन्नति। जब जनता का शिक्षा-स्तर बढ़ने लगता है तो लोगों की महत्त्वाकांक्षाओं एवं आशाओं का स्तर भी बढ़ जाता है। वे अपनी योग्यताओं एवं सामर्थ्य के लिए अधिक मान्यता प्राप्त करना चाहते हैं।

(3) जीवन-स्तर में वृद्धि—जीवन-स्तर की उन्नति ने सत्ता-सम्बन्धों को परिवर्तित करने के मार्ग में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। पुराने कृषकों की भाँति आज का मजदूर किसी एक स्वामी के साथ बँधा हुआ नहीं है। अमेरिका का मजदूर अनेक कारणों से अपने धन की आंशिक मात्रा में बचत करने के लिए हर सम्भव प्रयास करता है। इस प्रकार श्रमिक को आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। वर्तमान काल के संगठन के बारे में सोचते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए।

(4) मानवीय सहयोग के आधार में परिवर्तन—संगठनों में व्यक्ति का महत्त्व बहुत बढ़ जाने के साथ ही मानवीय सहयोग का आधार भी बदल गया है क्योंकि पिछले वर्षों में सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनेक शोध-कार्य किए गए हैं। व्यावहारिक दृष्टिकोण के कारण प्रशासक लोग संगठन के नेतृत्व सम्बन्धी व्यवहार से अधिक सम्बन्ध रखने लगे हैं। शोधों के परिणामस्वरूप यह ज्ञात हुआ है कि कोरी वैधानिकता के सहारे आज्ञा देने की प्रथा सबसे कम सफल होती है और कुछ समय बाद यह लोगों से अधिक सहयोग प्राप्त करने में असमर्थ हो जाती है।

(5) सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन—संगठन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि संगठन के वातावरण के सांस्कृतिक मूल्य *लगातार बदल रहे हैं। कोई सुझाव आसानी से मानने योग्य नहीं है तथा आधुनिक संगठनों के* अनेक लक्ष्य हैं।

(6) कर्मचारियों का सन्तोष तथा कल्याण—हाल ही में कर्मचारियों का सन्तोष एवं कल्याण का महत्त्वपूर्ण मूल्य बन गया है। इससे भी अधिक यह माना जा सकता है कि संगठन चाहे वह व्यक्तिगत हो अथवा सार्वजनिक अथवा बड़ी सामाजिक व्यवस्था का एक भाग, वह बड़ी व्यवस्था के लक्ष्यों के साथ अधिक समय तक संघर्ष करता हुआ नहीं रह सकता। फिलिप सैल्जनिक (Philip Selznick) का मत है कि 'संगठन' सामाजिक संस्थाएँ हैं और

प्रशासकों को इस विस्तृत उत्तरदायित्व के प्रति अधिक जागरूक रहना चाहिए। आज यह प्रश्न नहीं है कि पिरामिडों को जितना जल्दी हो सके बना लिया जाए वरन् आज के संगठनों में स्रोतों का अधिकाधिक प्रयोग, कर्मचारियों का कल्याण तथा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर प्रभाव आदि बातें भी समन्वयात्मक सम्बन्धों की प्रकृति को प्रभावित करती हैं।

(7) कार्य-विशेषीकरण—फोर्ड तथा टेलर द्वारा विकसित कार्य-विशेषीकरण ने संगठन की संस्कृति में गहरी जड़ें जमा ली हैं। इसका अर्थ है कि पहले जो समन्वय बहुत कुछ एक व्यक्ति द्वारा स्थापित किया जाता था, वह अब अनेक व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जो आपसी सम्बन्धों में बँधे हुए हैं। उदाहरण के लिए, संयुक्त-राज्य अमेरिका की किसी जूतों की फैक्ट्री में आज कोई एक व्यक्ति जूते के निर्माण में प्रमुख कार्य नहीं करता है वरन् संगठन की अधिकांश शक्ति यह देखने में लगती है कि फैक्ट्री में कार्य कर रहे व्यक्तियों के बीच समन्वय की स्थापना की जाए।

(8) कुशलता-पदसोपान—वार्नर तथा लन्ट (Warner and Lunt) का निष्कर्ष है कि किसी उद्योग में मुख्य परेशानियाँ तब पैदा होती हैं जब वहाँ कुशलता-पदसोपान (Skill Hierarchy) छिन्न-भिन्न हो जाता है। पहले जब उत्पादन कुटीर अथवा हस्तकला उद्योग के रूप में होता था तो वहाँ निश्चित पदसोपान विद्यमान था जिसका आधार था कार्य एवं कुशलता और यह सम्भावना थी कि एक व्यक्ति जिसने मजदूर के रूप में कार्य प्रारम्भ किया है यदि उसमें योग्यता है तो वह मुख्य अधिकारी बन सकता है, किन्तु आज का कार्य-विभाजन मजदूर को एक यन्त्र मात्र मानकर उसकी रचनात्मक योग्यता को कुण्ठित कर देता है। इस व्यवस्था में यह सम्भव नहीं होता कि अपने निर्धारित कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्यों की भी योग्यता प्राप्त कर सके।

(9) संगठन के व्यवहार की जटिलता—आज संगठनों का जिस रूप में विकास होता चला जा रहा है उससे किसी संगठन के व्यवहार को आसानी से समझना बहुत कठिन कार्य हो गया है। सैल्जनिक (Selznick) के मतानुसार हमें संगठन को प्राकृतिक समुदाय ही समझना चाहिए। इस प्रकार उस पर वे सभी दबाव पूर्वाग्रही प्रभाव डालते हैं जो किसी भी सामाजिक सावयवी पर प्रभाव डाल सकते हैं। आज संगठनों में जहाँ व्यक्ति के अपने अलग हित हैं, उसका अलग व्यक्तित्व है तथा उसके विस्तार, भाव, आदत, संगठन की रचना और कार्यों पर प्रभाव डालते हैं, वहाँ एक बड़े समन्वय-यन्त्र की रचना करना बड़ा जटिल कार्य है।

(10) प्रजातान्त्रिक स्वरूप—आज के संगठन प्रजातन्त्रात्मक इकाई हैं, अतः उनके बीच संघर्ष को रोकने वाले तथा सहयोग को प्रोत्साहन देने वाले तत्व भी भिन्न प्रकार के होंगे।

(11) अन्य बातों का योग—मूनी का मत है कि आज के संगठन ढाँचे के अतिरिक्त कई अन्य बातों को भी इंगित करते हैं। वास्तव में वे उसके परस्पर सम्बन्धित कार्यों के साथ पूर्ण शरीर की ओर संकेत करते हैं। यह उन कार्यों की ओर इशारा करते हैं जो व्यवहार में प्रकट होते हैं। ये उन सभी तत्वों के समन्वय की ओर संकेत करते हैं जो समान लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सहयोग करते हैं। फिफनर तथा शेरवुड के अनुसार, "क्योंकि संगठन जटिल सामाजिक सावयवी है, इसलिए उनको उनके पूरे बहुमुखी सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए, न कि संकीर्ण तथा यान्त्रिकी दृष्टिकोण से।"

पदसोपान एवं आदेश की एकता

(Hierarchy and Unity of Command)

किसी शासन व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए व्यवस्थित ढंग के संगठन की आवश्यकता होती है। समस्त प्रशासकीय कर्मचारियों को एक संगठन के अन्तर्गत कार्य करना होता है। एक कर्मचारी दूसरे कर्मचारी से सम्बन्धित रहता है। इस प्रकार ऊपर से नीचे तक की एक शृंखला-सी चलती रहती है। पदसोपान या क्रमिक प्रक्रिया का सिद्धान्त इसी शृंखला का प्रतीक है। पदसोपान के सिद्धान्त को विभिन्न विद्वानों ने परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। प्रोफेसर एल. डी. ह्वाइट के अनुसार, "पदसोपान का अभिप्राय है संगठन के ढाँचे में शिखर से तल तक उत्तरदायित्वों के स्तरों द्वारा अधिकारी-मातहत सम्बन्ध का विस्तृत प्रयोग किया जाना।"[1] अर्ल-लैथन ने लिखा है, "पदसोपान निम्न तथा उच्च व्यक्तियों का श्रेणीबद्ध रूप में एक व्यवस्थित ढाँचा है।"

पदसोपान अंग्रेजी शब्द Hierarchy का हिन्दी रूपान्तर है जिसका अर्थ होता है निम्नतर पर उच्चतर का शासन अथवा नियन्त्रण. परन्तु सही दृष्टि से इस शब्द का अभिप्राय एक ऐसे संगठन से होता है जो पदों के उत्तरोत्तर क्रम के अनुसार सोपान अथवा सीढ़ी की भाँति संगठित किया जाए। जिस प्रकार सोपान अथवा सीढ़ी में एक के बाद दूसरा डण्डा होता है उसी प्रकार पदसोपान में एक के बाद दूसरा पद होता है। इस उत्तरोत्तर पदक्रम में निचला पद अथवा स्तर अपने ऊपर के पद के तथा उस पद के माध्यम से उससे ऊपर के तथा इसी प्रकार सबसे ऊपर के पद के अथवा पदों के अधीन होता है। विपरीत क्रम में संगठन के भीतर सत्ता का अवतरण, निर्देशन तथा नियन्त्रण सर्वोच्च पद से निम्न पद की ओर इसी प्रकार होता है, अर्थात् उच्च पद से निम्न पद और निम्न से निम्नतर तथा निम्नतम पद तक। उत्तरोत्तर पदक्रम का सबसे मौलिक सिद्धान्त यह है कि ऊपर के पदाधिकारी कभी भी नीचे के अधिकारी के साथ सम्पर्क स्थापित करते समय मध्यस्थ अधिकारी की उपेक्षा नहीं कर सकते। इसी प्रकार निम्न पदाधिकारी उच्चतर पदाधिकारियों के साथ सम्पर्क स्थापित करते समय मध्यस्थ पदाधिकारी की अवहेलना नहीं कर सकते। उच्चतर और निम्नतर पदाधिकारियों के मध्य संचार का माध्यम मध्यस्थ पदाधिकारी होता है। जिस प्रकार सीढ़ी पर चढ़ते या सीढ़ी से उतरते समय बीच के डण्डे को लाँघना खतरे से खाली नहीं होता, उसी प्रकार प्रशासकीय पदसोपान में समुचित माध्यम के द्वारा (Through Proper Channel) का नियम सर्वोपरि माना जाता है तथा प्रत्येक अधिकारी अथवा कर्मचारी को समस्त आदेश उसके प्रथम उच्चाधिकारी के द्वारा तथा नीचे से आने वाले समस्त प्रतिवेदन, प्रार्थनापत्र, सूचना व आँकड़े इत्यादि प्रथम निम्न अधिकारी के ही द्वारा भेजे जाने चाहिए।[2]

संगठन में पदसोपान का सिद्धान्त एक दूसरे नाम से अर्थात् 'क्रमिक प्रक्रिया' (Scalar Process) के नाम से भी जाना जाता है। क्रमिक प्रक्रिया का ठीक-ठीक अर्थ जेम्स मूने (James Mooney) इस प्रकार प्रकट किया है—"संगठन में क्रमिक-सिद्धान्त का रूप वही होता है जिसे कभी-कभी पद-सोपान का सिद्धान्त कहा जाता है, परन्तु परिभाषा सम्बन्धी विभिन्नताओं से बचने के लिए यहाँ क्रमिक शब्द ही अधिमान्य है। क्रम का मतलब है चरणों की पंक्ति अर्थात् श्रेणीबद्धता। संगठन में इसका अर्थ है कर्तव्यों को श्रेणीबद्ध करना, किन्तु विभिन्न कार्यों के अनुसार नहीं .....बल्कि सत्ता तथा उसके तुल्य उत्तरदायित्व की मात्राओं के अनुसार। सुविधा की दृष्टि से संगठन के रूप को हम क्रमिक शृंखला (Scalar Chain) कहेंगे..... । जब कभी हम कोई ऐसा संगठन पाते हैं, चाहे वह दो व्यक्तियों का ही क्यों न हो, जिसमें व्यक्ति उच्च तथा अधीनस्थ अथवा प्रवर अवर (Superior and Subordinate) के रूप में सम्बन्धित होते हैं उसमें क्रमिक सिद्धान्त वर्तमान होता है। यह क्रमिक शृंखला समन्वय की ऐसी व्यापक क्रिया का निर्माण करती है जिसके द्वारा समन्वय करने वाली सर्वोच्च सत्ता संगठन के सम्पूर्ण ढाँचे में सक्रिय एवं प्रभावशाली हो जाती है।"

1. *Dimock and Dimock : Op. cit.*, p. 110
2. *M.P. Sharma : Op. cit.*, p. 105

संगठन के क्रमिक सिद्धान्त (Scalar Principle) की उत्पत्ति 'क्रम' (Scale) शब्द से हुई है जिसका तात्पर्य चरणों अथवा सीढ़ियों की पंक्ति (A Series of Steps) अर्थात् श्रेणीबद्ध (Graded) होने से है। पद-सोपान का सिद्धान्त एक सीढ़ी के समान है जिसका एक भाग सबसे ऊपर है और एक भाग सबसे नीचे होता है। ऊपर से उतरने वाले को प्रत्येक सीढ़ी पर से उतरना होगा तब कहीं वह नीचे तक पहुँच सकेगा। इसी प्रकार सर्वोच्च अधिकारी का आदेश ऊपर से नीचे तक बीच में लगने वाली अधिकारी रूपी सीढ़ियों से होकर गुजरेगा। इसी प्रकार जो कार्य नीचे से आरम्भ होगा वह एकदम किसी मध्यस्थ सीढ़ी को नहीं लाँघेगा बल्कि उसको भी इसी क्रम का अनुगमन करना होगा। तात्पर्य यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त कार्य उपयुक्त माध्यम द्वारा संचालित होने चाहिए। उदाहरण के लिए प्रशासकीय संगठन में सबसे ऊपर कार्यपालिका होती है। उसके अधीन विभिन्न प्रशासकीय विभागों के अध्यक्ष कार्य करते हैं। प्रशासकीय विभाग के अध्यक्ष के नीचे निदेशक और उप-निदेशक आदि होते हैं। इनके अधीन अनेक कर्मचारी कार्य करते हैं। सबसे निचले कर्मचारी उचित माध्यम द्वारा ऊपर वाले अधिकारियों के आदेश को क्रियान्वित करते हैं।

पद-सोपान सिद्धान्त का ढाँचा और कार्य करने की पद्धति—पदसोपान सिद्धान्त का ढाँचा और कार्य करने की पद्धति को हम निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं—
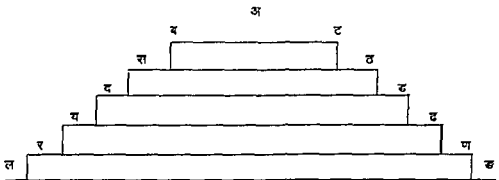
अ के अधीन ब कार्य करता है और ब के अधीन स। जब अ अधिकारी द्वारा कोई आज्ञा जारी की जाती है तो वह ब के पास जाती है और फिर क्रमिक रूप से ल तक पहुँचती है। यदि अ को कोई आज्ञा द को देनी है तो वह ब, स के माध्यम से क्रियान्वित होगी। अ दोनों को लाँघकर द तक सीधा नहीं पहुँच सकता। इस प्रकार इस पद्धति में श्रृंखला के समान सत्ता ऊपर से नीचे तक संचालित होती है। इसी प्रकार ल सीधा अ के पास किसी कार्य के लिए नहीं पहुँच सकता। उसे र य द स ब के माध्यम से होकर गुजरना होगा। इसी प्रकार अ के द्वारा दी गई आज्ञा ट ठ ड ढ ण द्वारा होती हुई क तक पहुँचती है।

पदसोपान पद्धति में पदों व अधिकारियों को उनकी सेवाओं के अनुरूप वर्गीकृत किया जाता है। यह वर्गीकरण पदों के कार्यों के आधार पर होता है। उन पदों व अधिकारियों को उसी वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है जिनके कार्य एक प्रकार के होते हैं। इस प्रकार के वर्गीकरण करने से सामान्य पद्धति वाले कर्मचारियों की नियुक्ति सरल हो जाती है। आज के युग में लोक प्रशासन के अन्तर्गत सेवाओं का विभिन्न भागों में वर्गीकरण करना आवश्यक-सा हो गया। आधुनिक समय में प्रशासकीय संगठन अत्यन्त ही जटिल होता जा रहा है और इसी कारण समस्त वर्गों एवं श्रेणियों की उचित व्यवस्था करनी पड़ती है। पदों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भी कठिनाई का सामना करना पड़ता है कि कौन से पदाधिकारी किस विशिष्ट वर्ग में रखे जाएँ और कौन से दूसरे वर्ग में। इस कार्य को ठीक प्रकार से व्यवस्थापन करना अत्यन्त ही जटिल है। पदसोपान शासन के प्रत्येक विभाग में पाया जाता है। उदाहरणार्थ, हमारे देश के किसी भी राज्य में पुलिस-प्रशासन के अन्तर्गत पदसोपान निम्न प्रकार से काम करता है—

पुलिस प्रशासन के लिए प्रत्येक राज्य एक जिला है जिसका इन्चार्ज इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस (I G.P.) या पुलिस महानिरीक्षक या महाधिपति होता है।

प्रदेश	पुलिस महाधिपति (I.G.P.)
क्षेत्र	पुलिस उपमहाधिपति (D.I G.P.)
जिले	जिला पुलिस अधीक्षक (D S.P.) (S.S.P.)
उप-मण्डल	सहायक पुलिस अधीक्षक/उप-पुलिस अधीक्षक/ मण्डल अधिकारी (A S.P/ Dy. S.P/C.O.)
पुलिस स्टेशन	इन्स्पेक्टर/सहायक इन्स्पेक्टर
बाहरी चौकियाँ	हैड कॉन्स्टेबल/कॉन्स्टेबल

पुलिस प्रशासन में पदसोपान ऊपर से नीचे तक इस प्रकार होता है—इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस, डिप्टी इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस, पुलिस अधीक्षक, सहायक पुलिस अधीक्षक, इन्स्पेक्टर, सहायक इन्स्पेक्टर, हैड कॉन्स्टेबल, कॉन्स्टेबल।

पदसोपान की विशेषताएँ

पदसोपान में मुख्यतः तीन विशेषताएँ पाई जाती हैं—

(1) नेतृत्व (Leadership)—नेतृत्व से आशय यह है कि शीर्षस्थ पदाधिकारी पूरे प्रशासकीय सगठन का नेतृत्व करता है, अधीनस्थों को आवश्यक आदेश और निर्देश देता है, उनका निर्देशन और नियन्त्रण करता है। नेता के व्यक्तित्व, उसके आचरण तथा कार्य कुशलता पर सगठन की सफलता निर्भर करती है।

(2) सत्ता का प्रत्यायोजन (Delegation of Authority)—सत्ता के प्रत्यायोजन की प्रक्रिया द्वारा उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को अपनी कुछ शक्तियाँ हस्तान्तरित या प्रत्यायोजित कर देता है। इसे अधिकार अर्पण भी कहा ही जाता है।

(3) कार्यात्मक परिभाषा (Functional Definition)—कार्यात्मक परिभाषा का अर्थ है कार्यों की स्पष्ट व्याख्या। कार्यों के सफल संचालन के लिए यह आवश्यक होता है कि उच्चाधिकारी प्रत्यायोजित शक्तियों की सीमा-क्षेत्र भी निश्चित कर दें ताकि किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न न हो।

पदसोपान का वर्गीकरण

एक अनौपचारिक सगठन में पदसोपान मूल रूप से एक रचना सम्बन्धी मान्यता है जिसमें रोजगार स्थितियाँ, प्रक्रियाएँ, व्यवहार आदि प्रभावशाली होते हैं। यह व्यक्तियों से नहीं वरन् वस्तुओं से और कार्यों से सम्बन्ध रखती है। यह कर्तव्यों, क्रियाओं एवं कार्यों के आधार पर स्थापित की जाती है। ढाँचे सम्बन्धी पदसोपानों में व्यक्ति गौण होते हैं। वे इसमें अपनी इच्छा एवं आवश्यकता के आधार पर फिट नहीं होते वरन् स्वयं पदसोपान की आवश्यकता एवं माँग के अनुसार होते हैं। ढाँचे कई प्रकार के होते हैं और इसी प्रकार उनमें स्थित औपचारिक पदसोपान भी कई प्रकार के होते हैं। फिफनर तथा शेरवुड (Pfiffner and Sherwood) ने औपचारिक पदसोपान को चार भागों में विभाजित किया है—

1. कार्यात्मक पदसोपान (Job-task Hierarchy)—प्रबन्ध से सम्बन्धित अधिकांश साहित्य में इस प्रकार के पदसोपान को स्वीकार किया जाता है। इस दृष्टि से हम व्यक्तियों के सम्बन्ध में इस रूप में सोचते हैं कि वे विभिन्न प्रकार के कार्य कर रहे हैं। यहाँ श्रम का विभाजन होता है। छोटे व्यापारों में तथा प्रारम्भिक पदसोपानों में ये कार्य स्वाभाविक रूप से विकसित होते थे और उन्हें लिखित अथवा प्रकाशित कर औपचारिक नहीं बनाया जाता था। ज्यों-ज्यों प्रबन्ध संस्थाएँ बड़ी तथा अधिक जटिल होती गईं, उनमें दो नवीन विकास हुए—(i) कर्तव्यों का वर्गीकरण तथा (ii) नए कार्य तथा स्थितियों की स्थापना के लिए शक्ति का केन्द्रीयकरण।

लोक प्रशासन में जब प्रशासनों पर राजनीतिक प्रभाव पड़े तथा वेतन के सम्बन्ध में पक्षपात किया गया तो औपचारिक कार्य के पदसोपान की स्थापना आवश्यक हो गई। यदि एक ही भवन में एक-सा कार्य करने वाले दो व्यक्तियों में से एक दो सौ रुपये पाता है और दूसरा तीन सौ रुपये तो यह स्वाभाविक है कि दूसरे व्यक्ति में असन्तोष एवं विरोध जन्म लेगा। फलतः 'समान कार्य के लिए समान वेतन' का नारा जोर पकड़ने लगा, इसलिए स्थिति का वर्गीकरण कर दिया गया। आज की सुप्रशासित सरकारी इकाइयों में स्थित-वर्गीकरण की प्रभावशाली व्यवस्था है जिसके अनुसार जिन कर्मचारियों के समान कार्य एवं उत्तरदायित्व होते हैं उनको कार्य की श्रेणियों में संगठित कर दिया जाता है। प्रत्येक कार्यकर्ता चाहे वह मण्डल का प्रधान हो अथवा कनिष्ठ लिपिक, ऐसे कार्य करेगा जो उसके वर्गीकृत कार्यों के अनुरूप होंगे।

नागरिक सेवा के विशेष नियमों के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपने वर्ग के बाहर के कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकता। कार्य का पदसोपान एक प्रकार से ढाँचे के पदसोपान का एक संस्करण है। कार्य का वर्णन उत्तरदायित्वों को स्पष्ट करता है तथा पदसोपान के ढाँचे को कार्यालय से अधिकृत बनाता है। जब इस प्रकार के पदसोपान का अध्ययन किया जाता है तो उस व्यक्ति का अध्ययन नहीं होता, वरन पद का अध्ययन होता है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि प्रबन्ध-प्रक्रिया में व्यक्तिगत कुशलता एवं ज्ञान की अवहेलना की जाती है। जब व्यक्तियों का चयन किया जाता है तथा उनको एक पद विशेष पर नियुक्त किया जाता है तो व्यक्तिगत कुशलता पर ध्यान दिया जाता है। कभी-कभी स्वयं व्यक्ति भी अपने कार्यों एवं कर्तव्यों को बदल लेता है।

2. प्रतिष्ठा का पदसोपान (The Hierarchy of Rank)—प्रतिष्ठा का पदसोपान एक योग्य अधिकारी वर्ग की ओर संकेत करता है। इसका सर्वाधिक स्पष्ट उदाहरण सेना में दिखाई देता है। नागरिक नौकरशाही में भी इसके उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं जैसे—संयुक्त राज्य अमेरिका में विदेश-सेवा, नगरपालिका, पुलिस विभाग और ब्रिटिश प्रशासकीय वर्ग। प्रतिष्ठा का पदसोपान कार्य के पदसोपान से भिन्न होता है क्योंकि स्तर किसी विशेष कार्य

से बँधा नहीं रहता। उदाहरण के लिए, एक 'कर्नल' कर्नल ही रहता है चाहे वह पैदल सेना को आदेश दे रहा हो अथवा वाशिंगटन में बैठा हुआ कागजों पर सर खपा रहा हो। वह तब तक कर्नल बना रहेगा जब तक कि वह या तो ब्रिगेडियर न बन जाए अथवा सेवानिवृत्त न हो जाए। कार्य का पदसोपान व्यक्ति के कार्यों पर अधिक ध्यान देता है जबकि प्रतिष्ठा के पद-सोपान में व्यक्ति के स्तर, वेतन एवं विशेष अधिकारों को दृष्टि में रखा जाता है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि प्रतिष्ठा के पदसोपान में व्यक्ति के स्तर, वेतन एवं विशेष अधिकारों को दृष्टि में रखा जाता है। इसका अर्थ यह भी कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि प्रतिष्ठा के पद-सोपान में कार्य अथवा उत्तरदायित्व के स्तर से किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं होता। प्रतिष्ठा की मान्यता अधिकांश यूरोपीय नागरिक सेवा व्यवस्थाओं की विशेषता है।

3. कुशलता का पदसोपान (The Hierarchy of Skills)—एक संगठन कुशलताओं के पदसोपान पर भी आधारित रहता है। कर्मचारी वर्ग के प्रशासन के लिए कार्य की व्याख्या की जाती है। इसमें प्रत्येक स्थिति के लिए आवश्यक प्रशिक्षण एवं अनुभव का उल्लेख रहता है। प्रत्येक पदसोपान के शीर्ष स्तर पर ऐसे कार्य होते हैं जिनमें प्रशासकीय कुशलता की आवश्यकता होती है, जैसे—नियोजन, जन-सम्पर्क तथा समन्वय आदि। ये सभी सामान्य (Generalist) की विशेषताएँ होती हैं जो जंगल को उसके पूर्णरूप में देख सकता है। यह विशेष वृक्षों को भी देखता है, किन्तु केवल एक इकाई के रूप में। यह दूसरे के कार्यों को बड़े स्तर पर संगठित करने की योग्यता रखता है। वह एक वकील, इंजीनियर, रसायन-शास्त्री, आदि का व्यावसायिक ज्ञान भी रख सकता है, किन्तु एक प्रशासक के रूप में उसके कर्त्तव्य इस पर निर्भर नहीं करते। प्रशासक के नीचे कार्यवाहक प्रबन्धकों का पद होता है जिनको 'कार्यपालिका' कहा जा सकता है। वे प्लांट के सुपरिन्टेन्डेन्ट, सम्भाग के अध्यक्ष तथा जनरल फोरमैन होते हैं। ये लोग भी समन्वयकर्ता होते हैं, किन्तु इनका लक्ष्य प्रतिदिन के उत्पादन का निरीक्षण करना होता है न कि उच्च नीतियों का निर्धारण। उनके बाद प्रतिदिन के कार्य के तात्कालिक निरीक्षक होते हैं। इस प्रबन्धक योग्यता के पदसोपान के अतिरिक्त व्यावसायिक एवं तकनीकी कुशलता का पदसोपान भी होता है। एक औद्योगिक संगठन में शीर्ष स्तर पर अनुसन्धानकर्ता वैज्ञानिक होते हैं। उसके बाद उत्पादन इंजीनियर, प्रबन्ध इंजीनियर तथा अनेक कार्यवाहक विशेषज्ञ, जैसे—लेखापाल, सांख्यिकीकर्ता आदि होते हैं। ये योग्यताएँ कॉलेज के प्रशिक्षण पर आधारित रहती हैं। तकनीकी कुशलता में भी अनेक पदक्रम होते हैं तथा यह मजदूर तक विस्तृत होती है।

4. वेतन का पदसोपान (Pay Hierarchy)—बड़े स्तर के संगठनों में वेतन का पदसोपान होना आवश्यक है। वेतन तथा पारिश्रमिक-प्रशासन अपने-आप में एक विशेषता बन गया है जिसके लिए प्रशिक्षित एवं अनुभवी विश्लेषणकर्ताओं की आवश्यकता होती है। इस प्रशासन ने वैज्ञानिक तरीके के कुछ तत्वों को अपना लिया है। सांख्यिकी दृष्टिकोणों को अपनाया जाता है। वेतन के पदसोपान में धन केन्द्रीय वस्तु होता है।

पदसोपान सिद्धान्त के बारे में मूने ने लिखा है, संगठन का एक सार्वभौमिक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की सार्वभौमिकता के मूल में इसके अनेक लाभ या गुण होते हैं जो निम्नलिखित हैं—

1. *कार्य-विभाजन—इस सिद्धान्त के द्वारा ही कार्य-विभाजन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले संगठन* की विविध इकाइयों का समाकलन अथवा एकीकरण किया जाता है। यही वह धागा है जिसके द्वारा विभिन्न अंगों को एक-साथ पिरोया जाता है। कोई भी संगठन उस समय तक प्रभावशाली नहीं हो सकता अथवा सामूहिक कृत्य का संयोजन नहीं कर सकता जब तक कि उसकी विविध इकाइयों को एक सुसम्बद्ध समूह में समाकलित अथवा एकीकृत न किया जाए। यही कारण है कि पदसोपान समस्त प्रकार के संगठनों के लिए सार्वभौमिक रूप से अनिवार्य है। इसका सबसे पहला और सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह सिद्धान्त संगठनात्मक समाकलन तथा सामंजस्य का उपकरण है। मुख्य कार्यपालिका एक के बाद एक जंजीर की कड़ियों के समान प्रत्येक कार्य से सम्बद्ध रहती है।

2. सत्ता तथा उत्तरदायित्व का प्रत्यायोजन—पदसोपान सत्ता तथा उत्तरदायित्व के प्रत्यायोजन (Delegation) के सिद्धान्त पर आधारित होता है, अतः इसी के अनुसार अनेक निर्णायक केन्द्रों की स्थापना कर ली जाती है। किसी एक व्यक्ति अथवा केन्द्र पर काम का अधिक भार अथवा केन्द्रीयकरण नहीं होता। विभाग का अध्यक्ष स्वयं ही प्रत्येक निर्णय करने की अनिवार्यता से मुक्त हो जाता है।

3. केन्द्र तथा इकाइयों में आपसी सम्बन्ध—किसी संगठन के बड़े होने और उसके कार्य के दूर-दूर तक फैले होने पर पदसोपान के क्रम के द्वारा ही केन्द्र तथा संगठन के दूरस्थ भागों में सम्बन्ध कायम रखा जा सकता है। *इस प्रकार सम्पूर्ण विभाग प्रभावपूर्ण रीति से कार्य करने के लिए एक सूत्र में बँध जाता है।*

4. उचित मार्ग सिद्धान्त की पुष्टि—क्रमिक व्यवस्था (Scalar System) उचित मार्ग द्वारा (Through Proper Channel) के सिद्धान्त की स्थापना करती है। यह सर्वोच्च अधिकारी का समय बचाती है। अनेक बातों का निर्णय उसके पास तक पहुँचने से पूर्व तक ही कर लिया जाता है। 'उचित मार्ग द्वारा' अथवा 'समुचित माध्यम' का सिद्धान्त इस बात का आश्वासन है कि प्रशासकीय प्रक्रिया में छोटे रास्ते (Short-cuts) नहीं खोजे जाएँगे, अर्थात् मध्यवर्ती कड़ियों की उपेक्षा नहीं की जाएगी।

5. आदेश की एकता का सिद्धान्त—क्रमिक व्यवस्था में, आदेश की एकता (Unity of Command) का सिद्धान्त पूर्णत लागू होता है। एक व्यक्ति का केवल एक ही तत्काल उच्च अधिकारी (Immediate Superior) होगा जिससे वह आज्ञाएँ प्राप्त करेगा।

6. सापेक्ष उत्तरदायित्व का स्पष्टीकरण—क्रमिक सिद्धान्त संगठन के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति के सापेक्ष उत्तरदायित्वों का स्पष्टीकरण करता है। यह बात बिल्कुल स्पष्ट होती है कि कौन किसके अधीन है और इस प्रकार के भ्रम की सम्भावना नहीं रहती। पाल एच एपलबी के अनुसार, पदसोपान वह साधन है जिसके स्रोतों का आनुपातिक प्रयोग किया जाता है, कार्यकर्ताओं का चुनाव किया जाता है, उनको कार्य दिया जाता है और इन सब बातों के फलस्वरूप प्रवर्तन को गति प्राप्त होती है, उसकी समीक्षा की जाती है तथा उसमें संशोधन किए जाते हैं। इस प्रकार पदसोपान प्रक्रिया के कारण समय की बचत, उत्तरदायित्वपूर्ण भावना और एकता के सिद्धान्त को प्राप्त किया जा सकता है।

पदसोपान का सिद्धान्त दोष-रहित नहीं है। इस सिद्धान्त की आलोचना में निम्न तर्क दिये जाते हैं—

(1) कार्य में विलम्ब—पदसोपान पद्धति के कारण कार्य के निपटाने में अनिवार्यतः विलम्ब या देरी होती है। इस व्यवस्था की मूल अवधारणा यह है कि प्रत्येक प्रस्ताव को क्रमिक सोपान के प्रत्येक पद से ऊपर जाना चाहिए तथा वहाँ से स्वीकृति मिलने पर क्रियान्वयन के लिए पुनः उसे उत्तरोत्तर क्रम से नीचे की ओर अवतरित होना चाहिए। 'समुचित माध्यम' के कठोर नियम के अनुसार प्रत्येक प्रस्ताव और आदेश को आने-जाने में अनेक सीढ़ियों से होकर गुजरना पड़ता है। इसमें कई दिन, सप्ताह अथवा महीनों लग जाते हैं।

(2) लालफीताशाही को प्रोत्साहन—पदसोपान पद्धति के कारण निर्णय लेने में अनावश्यक विलम्ब या देरी होती है परिणामस्वरूप नौकरशाही में अनुत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है। इससे अनुचित रूप से लालफीताशाही को बढ़ावा मिलता है।

(3) श्रेणीबद्ध सिद्धान्त का उल्लंघन—पदसोपान के श्रेणीबद्ध सिद्धान्त का उल्लंघन होता है जब किसी मध्यस्थ अधिकारी की उपेक्षा कर काम करवा लिया जाता है तो इससे अनियमितता और असंतोष उत्पन्न होता है। जिस अधिकारी के पास आर्डर नहीं आता वह इस बारे में कुछ क्रुद्ध-सा होता है और साथ ही यह सोचता है कि "मेरे अधिकार का उल्लंघन क्यों किया गया ?"

(4) अनियमितता की गुंजाइश—इस सिद्धान्त में एक बड़ा दोष यह है—'ख' से सीधा सम्पर्क स्थापित करे 'ब' को उस विशेष कार्य के सम्बन्ध से अवगत कराया जाना आवश्यक है। कई बार अवगत कराने में अनियमितता हो जाती है तो फिर अन्य कार्य के बिगड़ने की सम्भावना रहती है क्योंकि 'ब' असन्तुष्ट हो जाता है। आगे वह अपने अधिकारों के लिए जागरुक रहेगा और कोई काम इस तरह नहीं होने देगा।

(5) विकास का अवरुद्ध होना—पदसोपान के अन्तर्गत संगठन औपचारिक (Formal) सम्बन्धों पर ही आधारित होता है जिससे उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। अनौपचारिक सम्बन्धों के विकसित न होने से अनेक जटिल समस्याएँ सामने आती हैं।

पदसोपान के गुण-दोषों का मूल्यांकन करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस पद्धति के गुण अधिक हैं, दोष कम। पदसोपान के दोषों से बचने के दो मुख्य उपाय हैं—प्रथम, फेयोल ने लिखा है कि पदसोपान की औपचारिक रेखाओं के आर-पार पुलों का निर्माण कर लिया जाना चाहिए ताकि एक विभाग अथवा सम्भाग के अधीनस्थ अधिकारी दूसरे विभाग अथवा सम्भाग के अपने सम-स्तरीय अधिकारियों से सीधे सम्पर्क रख सकें। द्वितीय, एक ही विभाग के दो अधिकारी अपने मध्यस्थ द्वारा सम्पर्क स्थापित न कर सीधी वार्ता भी कर सकते हैं, किन्तु ऐसा करने से पहले दो बातों का ध्यान रखना होगा—प्रथम, दोनों के बीच विचारों के आदान-प्रदान तथा निर्णयों से मध्यस्थ अधिकारी को सूचित रखना होगा। दूसरे, ऐसा करते समय इस बीच के अधिकारी का पूरा विश्वास प्राप्त होना चाहिए। इन दोनों शर्तों के पूरा हो जाने की व्यवस्था से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ बहुत कुछ सीमा तक कम अथवा समाप्त की जा सकती हैं और पदसोपान की व्यवस्था को भी कायम रखा जा सकता है। वस्तुतः हमें यह मानकर चलना चाहिए कि पदसोपान या क्रमिक व्यवस्था स्वयं कोई अन्तिम उद्देश्य नहीं है। यह तो संगठन के अन्तर्गत कार्यात्मक सह-सम्बन्ध (Functional Co-relation) स्थापित करने का एक माध्यम है। वर्तमान में भी इस सिद्धान्त की उपयोगिता बनी हुई है।

आदेश की एकता
(Unity of Command)

किसी भी प्रशासकीय संगठन में पदसोपान अर्थात् उच्च-अधीनस्थ का सम्बन्ध रहता है। थोड़े से उच्च अधिकारी होते हैं जो आदेश देते हैं। इन अधिकारियों के नीचे काफी बड़ी संख्या में निम्न कर्मचारी रहते हैं। कर्मचारी अपने अधिकारियों के आदेशों को ग्रहण कर उनका पालन करते हैं। स्पष्ट है कि कुशल प्रशासन के लिए अनिवार्य है कि प्रत्येक कर्मचारी को यह ज्ञात हो कि उसका तात्कालिक उच्च अधिकारी (Immediate Boss)

कौन है ? उसे किस अधिकारी से आदेश और निर्देश प्राप्त करना है ? उसे किसके समक्ष अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करना है ? वह किस अधिकारी के प्रति उत्तरदायी है, आदि ? आदेश की एकता का संगठन की सफलता में बड़ा भारी महत्व है।

आदेश अथवा निदेशन की एकता का अर्थ स्पष्ट है कि प्रशासकीय संगठन के अन्तर्गत कार्य करने वाले प्रत्येक कर्मचारी को केवल एक उच्च अधिकारी से आदेश मिलें। अतएव कोई भी कर्मचारी अपने से ऊँचे एक से अधिक अधिकारी से आदेश ग्रहण न करे। यदि उसे अनेक अधिकारियों से आदेश मिलेगा तो बहुत-सी कठिनाइयाँ पैदा हो सकती हैं। प्रथम, यह सम्भावना हो सकती है कि कर्मचारी को परस्पर विरोधी आदेश प्राप्त हों। दूसरे, यह भी हो सकता है कि कर्मचारी किसी भी आदेश को पूरी तरह न समझ सके और अलग कार्य कर बैठे या असमंजस में पड़ जाए। तीसरे, यह भी हो सकता है कि अधीनस्थ कर्मचारी अपने उच्च अधिकारियों को आपस में भिड़ाने का प्रयत्न करें। इन दुष्परिणामों को ध्यान में रखते हुए ही यह नितान्त आवश्यक माना जाता है कि प्रत्येक अपने से ऊँचे एक अधिकारी से ही आदेश ग्रहण करे और उसका अनुपालन करे।

आदेश की एकता को परिभाषित करते हुए हेनरी फेयोल ने लिखा है, "किसी कर्मचारी को केवल एक उच्च अधिकारी द्वारा ही आदेश दिए जाने चाहिए।" फिफनर तथा प्रिस्थस के अनुसार, "आदेश अथवा निदेशन की एकता का अभिप्राय यह है कि किसी संगठन का प्रत्येक सदस्य एक और केवल वरिष्ठ अधिकारी के प्रति ही जवाबदेह होगा।" आदेश की एकता का सिद्धान्त न केवल असैनिक प्रशासकीय संगठनों में वरन् सैनिक संगठन में भी अपनाया जाता है। उदाहरणार्थ उसमें सेकण्ड लैफ्टिनेन्ट को लैफ्टिनेन्ट आदेश देता है, लैफ्टिनेन्ट को कैप्टन, कैप्टन को मेजर और क्रमशः इसी प्रकार। इस प्रकार यदि किसी कर्मचारी को केवल एक ही अधिकारी का आदेश मिले, तो उसे 'आदेश की एकता' कहा जाता है।

आदेश की एकता के गुण

आदेश की एकता के गुण या लाभ निम्नानुसार हैं—

1. सत्ता के सूत्रों (Lines of Authority) का स्पष्टीकरण रहता है और कर्मचारी के समक्ष आदेश की स्पष्टता रहती है फलतः वह क्षमतापूर्ण ढंग से काम कर सकता है।

2. *'एक व्यक्ति, एक स्वामी' (One Person, One Boss) के सिद्धान्त से संगठन के सुसंचालन में बड़ी* सहायता मिलती है। अनावश्यक भ्रम होने की सम्भावना नहीं रहती। कार्य का उत्तरदायित्व भली प्रकार से निश्चित किया जा सकता है।

3. इस बात की सम्भावनाएँ नहीं रहतीं कि अनेक विरोधी आदेशों का लाभ उठाकर कर्मचारी अधिकारियों के बीच मनमुटाव पैदा करने का प्रयत्न करें।

4. यह संगठन का एक आधारभूत एवं महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। लूथर गुलिक लिखते हैं कि, "हम इसकी महत्ता को भुला नहीं सकते।"

5. आदेश की एकता का सिद्धान्त एकता तथा स्थायित्व को कायम रखता है। हेनरी फेयोल के अनुसार, "यदि आदेश की एकता के सिद्धान्त का उल्लंघन किया जाता है तो सत्ता कमजोर हो जाएगी, अनुशासन खतरे में पड़ जाएगा, व्यवस्था गड़बड़ा जाएगी और स्थायित्व संकट में पड़ जाएगा।"

6. इससे कर्मचारी और अधिकारी के बीच व्यक्तिगत संबंध स्थापित होते हैं।

आदेश की एकता सिद्धान्त की आलोचना

1. सार्वजनिक रूप से लागू करना संभव नहीं—आदेश की एकता के सिद्धान्त को सार्वभौमिक रूप में लागू नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, हम तकनीकी कर्मचारियों को ही लें, जैसे कि एक सहायक अभियंता *(असिस्टेन्ट इंजीनियर) आदेश की एकता की माँग है कि उसे अपने क्षेत्र (जिले) के सामान्य उच्च अधिकारी* (जिलाधीश) की आज्ञा माननी चाहिए। लेकिन वह एक तकनीकी कर्मचारी है, अतः आवश्यक है कि उसे अपने तकनीकी उच्च अधिकारी अधिशासी अभियंता (एक्जीक्यूटिव इंजीनियर) से ही निर्देश मिले। ऐसी समस्या का समाधान प्रायः यह निकाला जाता है कि अधीनस्थ तकनीकी कर्मचारी तकनीकी मामलों में तो उच्च तकनीकी पदाधिकारी से आदेश लें, लेकिन अन्य सामान्य बातों में वह सामान्य उच्च अधिकारी के अधीन रहें। इस प्रकार वह कर्मचारी दोहरे अथवा दोहरे आदेश नियन्त्रण के अधीन रहे—एक प्रशासकीय और दूसरा प्राविधिक अथवा व्यावसायिक नियन्त्रण।

2. सैनिक पद्धति के अनुरूप—एफ. डब्ल्यू. टेलर ने आदेश की एकता के सिद्धान्त को 'सैनिक पद्धति' कहकर अस्वीकार किया है। उन्होंने इसके स्थान पर कृत्यमूलक निर्देशन तथा अधीक्षण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। टेलर के मतानुसार है—प्रत्येक कर्मचारी को आठ अधीक्षकों के नियन्त्रण में रहना चाहिए—(1) दल-अधिकारी (Gang Boss), (2) गति-अधिकारी *(Speed Boss)*, (3) *निरीक्षक (Inspectors)*, (4) मरम्मत-अधिकारी (Repair Boss) (5), कार्य-व्यवस्था तथा पद्धति क्लर्क (Order of Work and Route Clerk), (6) अनुदेश कार्ड-क्लर्क (Instruction Card Clerk), (7) समय तथा लागत *क्लर्क (Time and Cost*

Clerk) एवं (8) कार्य अनुशासक (Work Disciplinarian)। इनमें से प्रथम चार तो स्वयं कार्यालय में ही संचालित होंगे। वे कर्मचारियों और अधिकारियों को उनके विशेष कार्य में सहायता देंगे। अन्य चार का संचालन नियोजन-कक्ष में होगा। वहीं से आदेश तथा अनुदेश लिखित रूप में भेजे जाएँगे। टेलर का विचार है कि "इस योजना का मुख्य लाभ यह होगा कि प्रत्येक कार्य में विशेष और प्रशासकीय अधीक्षक उपलब्ध हो जाएँगे। अधीक्षकों के बीच काम का बँटवारा हो पाने से इसमें सुगमता होगी। एक ही अधीक्षक से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह इन सभी कार्यों का विशेषज्ञ होगा।"

टेलर ने जब आदेश की एकता के सिद्धान्त का खण्डन किया तो उसका प्रमुख ध्यान औद्योगिक संगठन की ओर ही था, किन्तु उसका यह कथन था कि इस बात को लोक प्रशासन में भी इसी प्रकार लागू किया जा सकता है। सेकलर हडसन ने भी इस सिद्धान्त का पूरा विरोध किया है। उसका विश्वास है कि व्यावहारिक अनुभव के आधार पर इस सिद्धान्त का प्रयोग अनुपयोगी एवं असम्भव प्रायः माना गया है। उन्हीं के अनुसार सरकार में प्रशासक के अनेक बॉस होते हैं और वह उनमें से किसी की भी अवहेलना नहीं कर सकता है। एक से वह नीति सम्बन्धी आज्ञाएँ ग्रहण करता है, दूसरे से कर्मचारी-वर्ग सम्बन्धी, तीसरे से बजट सम्बन्धी और चौथे से वित्तण तथा सामान सम्बन्धी।[1] प्रायः यह कहा जाता है कि वर्तमान समय के विविध विकासों के फलस्वरूप इस सिद्धान्त का व्यवहार में प्रयोग करना कठिन हो गया है। उदाहरण के लिए, लोक प्रशासन में परामर्शदाता एवं सहायक अभिकरणों का प्रसार बढ़ता जा रहा है। प्रशासन ने अनेक मण्डलों, आयोगों, परामर्शदाता विभागों, मन्त्रणा एवं सहायक अभिकरणों की स्थापना की है एवं प्रत्येक अपने-अपने विचार प्रकट करता है और इस प्रकार एक कर्मचारी यह तय नहीं कर पाता कि उसे किस अधिकारी की आज्ञा का पालन करना चाहिए। जॉन डी. मिलेट (John D. Millet) ने द्विमुख पर्यवेक्षण (Dual Supervision) के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि आज्ञा की एकता की अवधारणा के साथ-साथ यह भी मान लिया जाना चाहिए कि कुछ कार्यों में दोहरे नियन्त्रण-तकनीकी (Technical) और प्रशासकीय (Administrative)-की आवश्यकता पड़ती है। यह दो प्रकार का नियन्त्रण अथवा निरीक्षण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। पहले प्रकार का निरीक्षण इस बात से सम्बन्धित रहेगा कि कार्य व्यावसायिक क्षमता के साथ किया जा रहा है अथवा नहीं। दूसरे निरीक्षक का मुख्य सम्बन्ध इस बात से रहेगा कि उपलब्ध साधनों का कुशल उपयोग किया जा रहा है या नहीं।

3. पुरातन सिद्धान्त—आदेश की एकता के सिद्धान्त का मुख्य दोष यह है कि अब यह सिद्धान्त पुराना पड़ चुका है, क्योंकि सहायक अभिकरणों का प्रभाव बढ़ चुका है, विशेषज्ञों की संख्या बढ़ रही है, शासन अधिकाधिक जटिल होता जा रहा है, आदि। इन विभिन्न तत्वों के फलस्वरूप वर्तमान समय में नियन्त्रण की एकता लगभग समाप्त ही हो गई है। नियन्त्रण के दोहरेपन की बात भी नहीं रही, बल्कि अब तो नियन्त्रण की अनेकता का प्रचलन हो गया है। उदाहरणार्थ, एक जिलाधीश को लगभग दो दर्जन विभागों से आदेश प्राप्त होते हैं और लगभग इतने ही विभागाध्यक्ष उसे सम्बोधित करते हैं। आज का जिलाधीश कई बार इस समस्या का सामना करता है कि वह किस स्वामी का आदेश माने और किसका नहीं ?

4. सरकारी प्रशासन में लागू करना एक जटिल समस्या—आदेश की एकता का सिद्धान्त सरकारी प्रशासन में कठिनाई से भी देखने को मिलता है। सरकारी शासन में एक प्रशासक के कई स्वामी रहते हैं और वह किसी की भी उपेक्षा नहीं कर सकता। एक से नीति सम्बन्धी आदेश मिलते हैं, दूसरे से कर्मचारी सम्बन्धी, तीसरे से बजट सम्बन्धी तो चौथे से प्रदाय एवं उपकरण सम्बन्धी। इस प्रकार सरकारी प्रशासन में भी इस सिद्धान्त का सफल प्रयोग एक जटिल समस्या है।

5. पुरानी अवधारणा—सेकलर हडसन के अनुसार, "......एक व्यक्ति एवं एक अधिकारी की पुरानी अवधारणा वर्तमान जटिल शासकीय परिस्थितियों में सत्य नहीं है। आदेश की एकता में सरल रेखा के बाहर अनेक अन्य सम्बन्ध विद्यमान हैं। फलस्वरूप अनेक लोगों को प्रतिवेदन देने पड़ते हैं एवं उनके साथ कार्य करना पड़ता है जिससे व्यवस्थित एवं प्रभावशाली तरीकों से कार्य सम्पन्न किया जा सके। शासन में एक प्रशासक के कई स्वामी (Boss) होते हैं और वह उनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं कर सकता। एक से वह नीति, दूसरे से कर्मचारी, तीसरे से बजट और चौथे से प्रदाय एवं उपकरण सम्बन्धी आदेश प्राप्त करता है।"

आदेश की एकता सिद्धान्त का महत्त्व

अपनी अनेक कमियों और आलोचनाओं के बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि आदेश की एकता का सिद्धान्त एक सरल और उपयोगी सिद्धान्त है। यह भी एक यथार्थ है कि यदि एक अधीनस्थ कर्मचारी को अनेक स्वामियों से जूझना पड़े तो इसके दुष्परिणाम निकलेंगे ही। इससे संगठन में अव्यवस्था अवश्य पैदा होगी। यह एक ऐसी स्थिति होगी कि एक गाड़ी को दस घोड़े अपनी-अपनी तरफ खींच रहे हों। 'आदेश की एकता' सिद्धान्त के अनुपालन से संगठन में कार्य-संचालन सुगम गति से हो सकेगा और असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न नहीं होगी। हरबर्ट ए. साइमन ने आदेश की एकता के सिद्धान्त को प्रमुखता दी है, पर उन्होंने यह संशोधन भी प्रस्तुत किया है

1. *Seckler Hudson* : Organisation and Management, p. 61.

कि—"दो प्राधिकारी आदेशों (Authoritative Commands) के परस्पर टकराव की सूरत में केवल एक ही निश्चित व्यक्ति (Determinate Person) होना चाहिए जिसकी कि अधीनस्थ कर्मचारी आज्ञा माने।" वर्तमान में भी इस सिद्धान्त का अपना महत्व तथा प्रासंगिकता यथावत विद्यमान है।

आदेश की एकता पर हरबर्ट साइमन के विचार

हरबर्ट ए. साइमन ने आदेश की एकता के सिद्धान्त पर विस्तार से विचार किया है। उनका कहना है कि एक अर्थ में इस सिद्धान्त की कदापि अवहेलना नहीं की जा सकती क्योंकि भौतिक रूप से यह असम्भव है कि एक ही व्यक्ति दो व्यक्तियों की विरोधी आज्ञाओं का पालन करे; किन्तु प्रशासन-संगठन के सिद्धान्त के रूप में आदेश की एकता का सही अर्थ यह होगा कि एक संगठन के किसी व्यक्ति को ऐसी स्थिति में न रखा जाए जहाँ पर उसे दो अधिकारियों की आज्ञा का पालन करना पड़े। लूथर गुलिक का विचार है कि यदि इस सिद्धान्त का कठोरता के साथ पालन किया जाए तो हो सकता है कि कुछ अवांछनीय स्थितियाँ पैदा हों, किन्तु ये चीजें मतिभ्रम, अकार्यकुशलता, अनुत्तरदायित्व आदि की तुलना में कुछ भी नहीं हैं जो इस सिद्धान्त का उल्लंघन करने पर पैदा होती हैं। साइमन का कहना है कि यदि आदेश की एकता के सिद्धान्त को इस रूप में परिभाषित किया जाए तो उसकी स्पष्टता एवं औचित्यता के आधार पर आलोचना नहीं की जा सकती, किन्तु इस सिद्धान्त में जो वास्तविक त्रुटि पाई जाती है वह यह है कि यह सिद्धान्त विशेषीकरण के सिद्धान्त के विपरीत है। एक संगठन में शक्ति इसी कारण निहित होती है कि निर्णय लेने के कार्य में विशेषीकरण का उपयोग किया जा सके, ताकि संगठन में विशेषज्ञतापूर्ण निर्णय लिए जा सकें। कर्मचारी अनेक निर्णय स्वयं नहीं ले सकता, अतः उसके लिए ये निर्णय विशेषज्ञ द्वारा लिए जाते हैं जो उसे आज्ञाओं के रूप में प्राप्त होते हैं।

यदि गुलिक के अर्थों में आदेश की एकता का व्यवहार किया जाए तो प्रशासकीय पदसोपान के किसी भी बिन्दु पर लिए जाने वाले निर्णय केवल एक ही शक्ति के माध्यम से प्रभावित हो सकते हैं और अगर उसके निर्णय इस प्रकृति के हैं कि उन पर ज्ञान के क्षेत्र में एक से अधिक विशेषज्ञों की आवश्यकता हो तो परामर्शदात्री तथा सूचना देने वाली सेवाओं का प्रसार करना होगा। उदाहरण के लिए, यदि स्कूल विभाग का एकाउण्टेण्ट एक शिक्षक के अधीन है और यदि वहाँ आदेश की एकता का पालन किया जा रहा है तो वित्त-विभाग उसके कार्य से सम्बन्धित किसी भी तकनीकी पहलू पर सीधी आज्ञाएँ नहीं भेज सकता। गुलिक ने कहा था कि यदि आदेश की एकता का पालन न किया जाए तो परेशानियाँ आ सकती हैं तथा कुछ मात्रा में अनुत्तरदायित्व तथा मतिभ्रम पैदा हो सकता है, किन्तु साइमन का कहना है कि निर्णयों में विशेषज्ञता का प्रयोग करने के लिए यह कोई अधिक मूल्य नहीं है, दोनों प्रकार के कार्यों के तुलनात्मक लाभों को देखना चाहिए। किन्तु आदेश की एकता तथा विशेषीकरण—ये दोनों ही सिद्धान्त एकांगी हैं, इनके बीच रिक्त स्थान हैं, विरोध हैं, जिसे पूरा करने का प्रयास नहीं किया गया है।

अगर सामान्यतः यह स्वीकार कर लिया जाता है और इसका प्रचार किया जाता कि हर हालत में आदेश की एकता को निबाहना है चाहे इसके लिए विशेषज्ञता को भी खोना पड़े तो दोनों सिद्धान्तों के बीच झगड़ा पैदा हो जाने पर एक यह कह सकता है कि आदेश की एकता का ख्याल रखिए, किन्तु मामला इतना स्पष्ट नहीं है और विचारक वाद-विवाद के दोनों ही पक्षों में प्राप्त हो सकते हैं। लूथर गुलिक का कथन है कि टेलर तथा अन्य दूसरे विचारकों का मत 'भूल' है किन्तु यह भूल किस प्रकार है इसका प्रमाण न तो बताया गया है और न ही प्रकाशित किया गया। इस प्रकार कोई भी इन दोनों मतों में से एक मार्ग चुनने के लिए स्वतन्त्र है। वह कौन-सा मार्ग चुनेगा, इसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं है।

साइमन के अनुसार वस्तुस्थिति यह है कि लूथर गुलिक के अर्थ में 'आदेश की एकता' किसी प्रशासकीय संगठन में कभी थी ही नहीं। यदि एक श्रेणी अधिकारी माँग करने की प्रक्रिया के संबंध में लेखा-विभाग के नियमों को मान लेता है तो क्या यह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में लेखा विभाग की सत्ता के अधीन नहीं था। किसी भी प्रशासकीय स्थिति में सत्ता विभाजित हो जाती है। यदि इसके विपरीत आदेश की एकता का सिद्धान्त सत्ता-विभाजन के पक्ष में नहीं है तो हमें सत्ता की कोई अन्य परिभाषा करनी होगी। साइमन का यह सुझाव है कि आदेश की एकता के सिद्धान्त की अच्छी प्रकार रक्षा तब ही की जा सकती है जबकि उसे संकीर्ण बनाकर इस रूप में परिभाषित किया जाए, "जब दो शक्तियुक्त आज्ञाओं में क्लेश उत्पन्न हो जाए तो एक ऐसा निश्चित व्यक्ति होना चाहिए जिसकी आज्ञा का पालन अधीनस्थ करे। सत्ता के दबाव उस अधीनस्थ अधिकारी के विरुद्ध इसलिए प्रयुक्त किए जाने चाहिए ताकि वह उस व्यक्ति की आज्ञा का पालन कर सके।" इस प्रकार परिभाषित होने पर इस सिद्धान्त की समस्या सुलझ जाती है तथा यह व्यावहारिक बन जाता है।

नियन्त्रण एवं नियन्त्रण का क्षेत्र

(Control and Span of Control)

हरबर्ट ए. साइमन ने प्रशासन को उत्तरदायी बनाये रखने के लिए निम्नलिखित दो प्रकार के नियन्त्रणों का उल्लेख किया है—

1. औपचारिक नियन्त्रण (Formal Control)—यह नियंत्रण व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका द्वारा स्थापित किया जाता है। पदसोपान के नियन्त्रण (Hierarchical Control) भी प्रशासनिक संगठन के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस नियन्त्रण के सम्बन्ध में परम्परावादी विचारधारा को स्पष्ट करते हुए हूवर आयोग (Hoover Commission) का कथन है कि निर्देशन की सत्ता के बिना उत्तरदायित्व एवं जवाबदेयता असंभव है। सत्ता का प्रयोग ऊपर से नीचे तक आज्ञाकारिता की स्पष्ट श्रेणी के अभाव में असम्भव है, साथ ही नीचे से ऊपर तक उत्तरदायित्व और जवाबदेयता का प्रावधान होना चाहिए।

प्रशासकीय संगठन के पदसोपान में उच्च अधिकारी नीचे के अधिकारी पर नियन्त्रण रखता है। मूल्य के प्रश्नों पर अधीनस्थ कर्मचारियों की स्वेच्छा पदसोपान के नियन्त्रण द्वारा बाधित रहती है। नियन्त्रण के सभी औपचारिक रूप, जो न्यायपालिका, व्यवस्थापिका और पदसोपान द्वारा लागू किये जाते हैं, आंशिक एवं सीमित दोनों ही रूप ग्रहण करते हैं। किसी भी देश में प्रशासन पर मुख्य कार्यपालिका, विभाग, शीर्ष की इकाइयों आदि का नियन्त्रण रहता है। औपचारिक नियन्त्रण के साधनों पर हित-समूह का प्रभाव रहता है। औपचारिक रूप से उत्तरदायित्व की जिस प्रक्रिया को लागू किया जाता है वह मुख्य रूप से सम्बन्धित 'पूर्ण' के शक्तिशाली राजनीतिक गुट से प्रभावित रहती है।

2. अनौपचारिक नियन्त्रण (Informal Control)—उक्त औपचारिक साधनों के अतिरिक्त नियन्त्रण का एक अनौपचारिक क्षेत्र भी होता है, जिसमें अधिकारियों द्वारा स्वेच्छा का प्रयोग किया जाता है। नियन्त्रण के अनेक साधन होने पर भी प्रशासकीय संगठनों के व्यक्तियों का व्यवहार एक रूप नहीं बनाया जा सकता। हरबर्ट साइमन आदि का कथन है कि काउण्टर का एक क्लर्क आपकी ओर मुस्करा सकता है या नाराजगी जाहिर कर सकता है या आपसे कह सकता है कि घर जाइए और फार्म को ठीक तरह भरकर लाइए अथवा वह स्वयं आपकी फार्म भरने में सहायता कर सकता है। हो सकता है कि वह आपको परेशानियों का कारण स्पष्ट करे अथवा आपसे कह दे कि फार्म छोड़ दीजिए या ले जाइए। संगठन के सदस्यों के ये विभिन्न व्यवहार उनकी व्यक्तिगत रुचियों, अनुभवों एवं मूल्यों पर निर्भर करते हैं। इस क्षेत्र में किसी प्रकार का नियन्त्रण प्रभावशाली नहीं हो सकता। इस क्षेत्र को अनौपचारिक नियन्त्रण का क्षेत्र कहा जाता है।

औपचारिक तथा अनौपचारिक नियन्त्रण में अन्तर—यह संगठन की वास्तविकताओं के अध्ययन से जाना जा सकता है। प्रशासकीय उत्तरदायित्व की वास्तविकताएँ संगठन के अस्तित्व के संघर्ष से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहती हैं। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका या हित-समूह (Interest Groups) अवसरों और अस्तित्व की शर्तों को प्रभावित करने वाले केवल समूह नहीं हैं। जब तक कर्मचारियों की आकांक्षाओं को कुछ मान्यता और सन्तोष नहीं दिया जाता तब तक प्रबन्ध की योजनाओं का विरोध होगा और वे नियन्त्रण की परिधियों को स्वीकार नहीं करेंगे। एक संगठन के कर्मचारियों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाए, यह बहुत कुछ उस समाज की परम्पराओं द्वारा निश्चित होता है। इस प्रकार समाज के संस्थागत रूपों द्वारा यह निश्चित किया जाता है कि प्रशासकीय निर्णयों में सही और उचित क्या है?

समाज की परम्पराओं के अतिरिक्त संगठन के सदस्यों का स्वयं का व्यक्तित्व महत्वपूर्ण रूप से उनके व्यवहार को प्रभावित करता है। परिस्थितिजन्य आवश्यकताएँ भी व्यक्ति के व्यवहार परिवर्तन में महत्वपूर्ण भाग लेती हैं। नियन्त्रण के स्वरूप के सम्बन्ध में रॉबर्ट डयूबिन (Robert Dubin) ने लिखा है कि संगठन में नियन्त्रण के दो क्षितिज (Dimensions) होते हैं। प्रथम, हम नियन्त्रण को स्तर-सम्बन्धी विकासशील व्यवस्था की ऐसी

प्रक्रिया मान सकते हैं जो संगठन के व्यवहार का निर्देशन करती है। दूसरे, नियन्त्रण को हम ऐसी व्यवस्था मान सकते हैं जो संगठन के व्यवहार के स्तरों को क्रियान्वित करती है। साराशत नियन्त्रण के स्वरूप के मुख्य रूप से दो पहलू हैं—प्रथम, यह एक साधन है जिसके द्वारा सदस्यों से यह कहा जाता है कि उनसे क्या आशा की जा रही है। द्वितीय, यह एक साधन है जिसके द्वारा सदस्यों से यह कराया जाता है जिसकी उनसे आशा की जा रही है। नियन्त्रण द्वारा संगठन में समन्वय स्थापित किया जाता है, उसके कार्यों में एकरूपता लाई जाती है तथा समस्त प्रक्रियाओं को लक्ष्य की ओर संचारित किया जाता है। एक प्रभावशाली नियन्त्रण की व्यवस्था संगठन के कार्यों को सार्थक एवं सफल बनाने में महत्वपूर्ण योगदान करती है। नियन्त्रण का अभाव संगठन के सदस्यों में स्वेच्छाचारिता की भावना का विकास कर उनको पथभ्रष्ट बना देता है। किसी भी संगठन में नियन्त्रण की स्थापना के लिए संचार-व्यवस्था, आदेश की एकता, सत्ता और उत्तरदायित्व का निश्चित रूप आदि बातें अनिवार्य होती हैं।

संगठन के व्यवहार में नियन्त्रण एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व है। यह एक प्रबन्धात्मक कार्य तथा लगातार चलने वाली प्रक्रिया है। प्रो. हैमेन के अनुसार, "नियन्त्रण देखभाल करने की एक प्रक्रिया है ताकि यह मालूम किया जा सके कि नियोजनों का अनुगमन किया जा रहा है अथवा नहीं, लक्ष्यों की दिशा में प्रगति हो रही है या नहीं और यदि आवश्यक हो तो सुधार के लिए क्या प्रयास किया जाए।"

'नियन्त्रण' स्टाफ का कार्य न होकर सूत्र का कार्य (Line Function) है। यह कहा जाता है कि शीर्ष के पर्यवेक्षक को नियन्त्रण नहीं करना चाहिए, उसे केवल पर्यवेक्षण करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो उसके तथा अन्य कर्मचारियों के बीच गलतफहमी पैदा हो जाएगी, वह अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करने लगेगा और उसके कार्यों में अनेक असंगतियाँ उत्पन्न हो जाएँगी। प्रो. फेयोल के मतानुसार, "नियन्त्रण का अर्थ यह प्रमाणित करना है कि प्रत्येक कार्य स्वीकृत योजना, निर्देशन एवं निरूपित सिद्धान्तों के अनुसार किया जा रहा है।"

नियन्त्रण व्यवस्था के आवश्यक तत्त्व

(Requirements of Control System)

नियन्त्रण व्यवस्था के आवश्यक तत्व निम्नानुसार हैं—

1. उद्देश्यों को प्राप्त करना—नियन्त्रण की प्रक्रिया इस प्रकार होनी चाहिए जिससे उसके उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके। अतः आवश्यक है कि नियन्त्रण की प्रक्रिया इतनी सरल, सुगम और समझ में आने योग्य हो कि जो नियन्त्रण कर रहा है और जिस पर नियन्त्रण किया जा रहा है वे दोनों उसे भली प्रकार जान लें। नियन्त्रण के लक्ष्यों के सम्बन्ध में स्पष्टता होनी चाहिए ताकि किसी प्रकार का भ्रम पैदा न हो सके।

2. संगठनात्मक स्वरूप प्राप्त करना—संगठन की प्रक्रिया को कार्य रूप देने के लिए संगठनात्मक स्वरूप (Organisational Pattern) अपनाना चाहिए। इसके बिना नियन्त्रण की प्रक्रिया प्रभावी नहीं हो सकती है।

3. नवीनताओं को ग्रहण करने की क्षमता—नियन्त्रण की प्रक्रिया में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि नवीनताओं को शीघ्र अपनाया जा सके। वैसे परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार इसके अपवाद भी हो सकते हैं, किन्तु सामान्यतः शीघ्र समायोजन की व्यवस्था होनी चाहिए।

4. उपयुक्त एवं पर्याप्त व्यवस्था—नियन्त्रण की व्यवस्था उपयुक्त एवं पर्याप्त होनी चाहिए। अनुचित नियन्त्रण संगठन के कर्मचारियों में असन्तोषपूर्ण और विद्रोही भावना तथा कार्य-संचालन में असुविधा पैदा करता है। यदि नियन्त्रण अपर्याप्त हुआ तो संगठन पर इसका प्रभाव नहीं होगा।

5. लचीलापन—नियन्त्रण लचीला (Flexible) होना चाहिए ताकि इसमें आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन किए जा सकें।

6. मितव्ययिता—नियन्त्रण की प्रक्रिया मितव्ययितापूर्ण होनी चाहिए। केवल उचित और आवश्यक व्यय ही होने चाहिए। नियन्त्रण का उद्देश्य कार्य को त्रुटिरहित बनाना है और इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर इसका उपयोग होना चाहिए।

7. भविष्य का ध्यान—एक अच्छी नियन्त्रण व्यवस्था में और भी अनेक महत्वपूर्ण बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए। नियन्त्रण की प्रक्रिया में भविष्य को ध्यान में रखकर आगे बढ़ा जाता है (Forward-looking Control)। यह कार्यकर्त्ताओं का ध्यान रख सकती है (Workers Focussed Control)। नियन्त्रण कार्य सम्पन्नता के लिए एक निश्चित पथ-प्रदर्शन होता है।

8. व्यक्तिगत एवं संगठनात्मक लक्ष्यों का ध्यान रखना—नियन्त्रण संगठन के व्यक्तिगत एवं संगठनात्मक लक्ष्यों को ध्यान में रख कर किया जाता है। डॉ. ड्रकर (Dr. Ducker) के अनुसार, "नियन्त्रण का सर्वश्रेष्ठ तरीका सोद्देश्य प्रबन्ध है जो नियन्त्रणकर्त्ता को अपनी कार्य-सम्पन्नता नियन्त्रित करने के योग्य बनाता है।"

नियन्त्रण की विशेषताएँ

(Characterestics of Control)

नियन्त्रण एक प्रबन्धकीय कार्य है। प्रो. बनर्जी के अनुसार नियन्त्रण की निम्नांकित विशेषताएँ हैं—

1. एक अन्तिम क्रिया (An End Function)—नियन्त्रण प्रबन्ध का प्रारम्भिक कार्य न होकर एक अन्तिम कार्य है। इसके पहले समस्त प्रबन्धकीय कार्य जैसे—नियोजन, संगठन, निर्देशन, अभिप्रेरणा, समन्वय किए जाते हैं। यह नियोजन पर आधारित होता है और फिर यह देखता है कि विभिन्न साधनों जैसे—मनुष्य, सामग्री, मशीन और मुद्रा आदि को किस प्रकार संचालित और समन्वित किया जाता है जिससे कि कार्य का निष्पादन अच्छी तरह हो सके। इसके पश्चात् नियन्त्रण का उपयोग किया जाता है।

2. आगे आने वाली प्रक्रिया (Forward-looking Process)—प्रबन्धक भूतकालीन घटनाओं पर नियन्त्रण नहीं कर सकता है। वह भूतकालीन घटनाओं पर पुनर्विचार करता है और पिछले अनुभव के लाभों को भावी सुधारों में काम में लाता है। सबसे श्रेष्ठ नियन्त्रण वह माना जाता है जो कि भावी हानि, अपव्यय, कमियों अथवा विचलनों को रोक कर रक्षा करने का कार्य करता है।

3. गतिशील प्रक्रिया (Dynamic Process)—समय परिवर्तनशील है अतः बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार ही उपक्रम की योजनाओं और उद्देश्यों में परिवर्तन करना आवश्यक है। यदि नियन्त्रण में भी इन परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन नहीं किया जाता है तो प्रभावपूर्ण नियन्त्रण सम्भव नहीं होगा।

4. सतत् प्रक्रिया (Continuous Process)—नियोजन की भाँति नियन्त्रण भी एक निरन्तर जारी रहने वाली प्रक्रिया है। प्रो. कुन्ट्ज और प्रो. ओडोनेल के अनुसार, "जिस प्रकार एक नाविक यह निश्चय करने के लिए कि वह नियोजित मार्ग के सन्दर्भ में कहाँ है, निरन्तर अध्ययन करता रहता है। उसी प्रकार यह निश्चय करने हेतु कि उसका उपक्रम अथवा विभाग निर्धारित मार्ग पर है, व्यापार के प्रबन्धक को निरन्तर अध्ययन करते रहना चाहिए।"

5. प्रबन्ध के सभी स्तरों पर लागू (Exercised at all levels of Management)—नियन्त्रण प्रबन्ध के सभी स्तरों पर लागू किया जाता है। नियन्त्रण की मात्रा में जरूर अन्तर हो सकता है। उपक्रम का समस्त नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण संचालक-मण्डल के हाथों में होता है, एक विभाग का नियन्त्रण विभागीय अध्यक्ष तथा उप-विभाग का नियन्त्रण उप-विभागीय अध्यक्ष द्वारा किया जाता है। इस प्रकार नियन्त्रण की यह श्रृंखला एक स्तर से सभी स्तरों तक चलती है।

6. व्यक्तियों से सम्बन्धित क्रिया (Identified with Individuals)—नियन्त्रण सम्बन्धी क्रिया प्रत्यक्ष रूप में सामग्री, प्रक्रिया अथवा वित्त से सम्बन्ध रखती है। फिर भी इन सबका किसी-न-किसी रूप में मनुष्य से सम्बन्ध रहता है। किसी भी दोष हेतु मनुष्य ही उत्तरदायी होता है। नियन्त्रण विभिन्न विभागों में कार्यरत कर्मचारियों के निष्पादन का मूल्यांकन करता है। यह प्रक्रिया कुछ व्यक्तियों द्वारा दूसरे व्यक्तियों पर लागू की जाती है।

7. तथ्यों पर आधारित प्रक्रिया (Based on Facts)—आधुनिक प्रबन्ध के विकास के कारण नियन्त्रण तथ्यों तथा सांख्यिकी के ऊपर आधारित होता है। अब व्यक्तिगत मान्यताओं अथवा भावनाओं पर निर्भर नहीं रहना पड़ता है क्योंकि वैज्ञानिक प्रबन्ध (Scientific Management) का विकास हो गया है। तथ्यों पर आधारित होने पर ही इसमें सत्यता और यथार्थता की भावना आ पाती है।

नियन्त्रण के स्वरूप

(Types of Control)

संगठन एवं नियन्त्रण को प्रक्रिया और प्रकार के आधार पर विभिन्न रूपों में विभाजित किया जा सकता है—

1. मानकीकृत निष्पादन (Standardised Performance)—जब नियन्त्रण को कुछ निर्धारित मानदण्डों को प्राप्त करने की दृष्टि से संचालित किया जाता है तो वह इस श्रेणी में आता है। इसमें नियन्त्रणकर्त्ता का मुख्य उद्देश्य यह देखना होता है कि जो मानदण्ड निर्धारित किये गए थे उनके अनुसार ही कार्य सम्पन्न हो रहा है अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त कार्य की पूर्ति के लिए जो समय और प्रक्रिया अपनाई गई थी उसको कहाँ तक पूर्ण किया जा रहा है।

2. उत्तरदायित्वों का निर्धारण (Allocation of Responsibilities)—संगठन में सभी स्तर के कार्यकर्त्ताओं को कुछ विशेष कार्य सम्पन्न करने के लिए उत्तरदायी ठहरा दिया जाता है। नियन्त्रणकर्त्ता यह देखता है कि कार्यकर्त्ताओं ने अपना निर्धारित कार्य सम्पन्न किया है अथवा नहीं।

3. सांख्यिकीय एवं गुणात्मक नियन्त्रण (Statisticals Quality Control)—नियन्त्रणकर्त्ता द्वारा कार्यों का स्तर देखा जाता है। उत्पादित वस्तु अथवा सम्पादित सेवा का गुण सन्तोषजनक रहा है अथवा नहीं, यह देखने के बाद ही नियन्त्रणकर्त्ता आवश्यक कार्यवाही करता है।

4. कार्य-निष्पादिता (Job Performance)—नियन्त्रणकर्ता ऐसी व्यवस्था कर सकता है जिसमें कार्यकर्त्ताओं से समय-समय पर विशेष प्रतिवेदन प्राप्त होते रहें। वह स्वयं भी कार्य का निरीक्षण कर सकता है।

5. नियोजन (Planning)—नियोजन भी नियन्त्रण का एक प्रकार माना गया है। प्रतिवेदन या रिपोर्ट द्वारा तो नियन्त्रणकर्ता कार्य-सम्पन्नता के बाद नियन्त्रण रखता है, किन्तु नियोजन द्वारा वह कार्य प्रारम्भ होने से पूर्व ही नियन्त्रण चालू कर देता है। कर्मचारी को कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व ही नियन्त्रणकर्ता की अनुमति या स्वीकृति प्राप्त करनी होती है जो नियोजन के रूप में उसे प्राप्त होती है।

6. सेवीवर्ग का नियन्त्रण (Personnel Control)—सेवीवर्ग के आचरण एवं कार्य की प्रक्रिया का नियन्त्रण करना भी नियन्त्रण का एक अन्य रूप है।

7. बजट द्वारा नियन्त्रण (Budgetary Control)—नियन्त्रणकर्ता के हाथ में बजट एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से वह संगठन की गतिविधियों पर प्रभावी नियन्त्रण रख सकता है। विभिन्न मदों पर व्यय को घटा-बढ़ाकर वह एक विशेष कार्य को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित कर सकता है।

नियन्त्रण की प्रक्रिया के सोपान

(Phases or Steps of Control Process)

नियन्त्रण की प्रक्रिया के मूल रूप से तीन क्रमिक सोपान हैं—कार्यों को प्रमापित करना, उनका मूल्यांकन करना तथा उनकी कमियाँ सुधारना। किसी भी संगठन में नियन्त्रण का कार्य इन तीनों सोपानों से होकर गुजरता है। प्रत्येक सोपान के अपने कुछ पहलू हैं। इनका विवेचन निम्नलिखित रूप से है—

1. मापदण्ड निर्धारित करना (Setting Standards)—नियन्त्रण का प्रथम सोपान वह है जिसके अनुसार विभिन्न कार्यों का स्तर या मापदण्ड निश्चित कर दिया जाना चाहिए। यह मापदण्ड विनियोजन (Investment), व्यय (Expenses), उत्पादित (Output) आदि क्रियाओं पर निर्धारित किया जा सकता है। 'व्यय' प्रत्यक्ष होना चाहिए या अप्रत्यक्ष, उत्पादित वस्तु की मात्रा, किस्म एवं समय क्या होना चाहिए, आदि बातें निश्चित कर दी जाती हैं। ये मापदण्ड भौतिक भी हो सकते हैं (उदाहरण के लिए मौद्रिक मापदण्ड) तथा अदृश्य भी (उदाहरण के लिए सम्मान या गौरव)। न्यूमैन (Newman) के मतानुसार जो लक्ष्य निर्धारित किये जाएँ वे उत्तरदायित्व के समरूप होने चाहिए। इसके साथ ही वह समयानुकूल हो, मितव्ययितापूर्ण हो तथा सन्तुलित नियन्त्रण को सम्भव बना सके। मापदण्ड स्थापित करके ही नियन्त्रण की तकनीक और साधन निर्धारित किये जा सकते हैं।

2. कार्य-निष्पादन का मूल्यांकन (Evaluation Performance)—मापदण्ड का निर्धारण नियन्त्रण का प्रथम सोपान है, अन्तिम तथा पर्याप्त नहीं। जब तक सम्पन्न कार्य का मूल्यांकन इन निर्धारित मापदण्डों के प्रकाश में नहीं किया जाता तब तक नियन्त्रण की प्रक्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती। क्रियान्विति का मूल्यांकन करने के लिए रेखीय कार्यक्रम (Linear Programming) तथा अनुरूपण (Simulation) की विधि को अपनाने की सिफारिशें की जाती हैं। मूल्यांकन उस समय किये गए वास्तविक व्यवहार का किया जा सकता है। यह इस व्यवहार के तुलनात्मक अध्ययन के रूप में हो सकता है तथा उस नियोजन का भी मूल्यांकन किया जा सकता है जिसके आधार पर कार्य सम्पन्न किया जाएगा। इस तरह मूल्यांकन में कार्य-सम्पन्नता के अतीत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों ही रूप समन्वित होते हैं।

पर्ट (PERT—Programme, Evaluation, Review, Technique) के रूप में नियन्त्रण की नई तकनीकों का विकास किया गया है। यह तकनीक जटिल विकास और उत्पादन कार्यक्रमों पर संशोधित नियन्त्रण मानी जाती है। यह बहुत सारे आँकड़ों को संक्षेप में तथा व्यवस्थित रूप में रख सकती है। 'पर्ट' नियन्त्रण की ऐसी विधि है जिसके द्वारा प्रबन्ध सीमित लागत एवं निश्चित समय में निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साधनों का श्रेष्ठतम प्रयोग कर सकता है। 'पर्ट' से मिलती-जुलती ही एक अन्य तकनीक सी. पी. एम. (Critical Path Method) है। यह प्रणाली निर्माण उद्योग में विशेष रूप से सफल पाई गई है। अनेक अनुसन्धान किए जा रहे हैं ताकि 'पर्ट' एवं 'सी. पी. एम.' के प्रसार से जन-शक्ति, लागत एवं पूँजीगत आवश्यकताओं को प्रमापित किया जा सके। कार्य की सम्पन्नता का मूल्यांकन दो प्रकार से किया जा सकता है— (1) उन तरीकों की दृष्टि से जो निर्धारित मापदण्ड को प्राप्त करने के लिए अपनाए जा रहे हैं और (2) उन अर्जित परिणामों की दृष्टि से। यह मूल्यांकन-कार्य समाप्त हो जाने के बाद होना चाहिए अथवा कार्यकाल में होना चाहिए—इस सम्बन्ध में अलग-अलग मत हैं। सामान्य धारणा के अनुसार दोनों ही अवसर नियन्त्रण के लिए उपयुक्त हैं।

3. सुधारात्मक कार्यवाही (Correcting Action)—यह नियन्त्रण का तीसरा सोपान है। जब कार्य की प्रणाली एवं परिणामों का मूल्यांकन करने के बाद उसमें त्रुटियाँ तथा कमियाँ पाई जाएँ तो नियन्त्रणकर्ता को उन्हें सुधारने के लिए कार्यवाही करनी चाहिए। इस प्रकार की कार्यवाही का कार्य की समाप्ति के बाद महत्व नहीं रहता, अतः यह कार्यकाल में ही होनी चाहिए।

अवरोधात्मक कार्यवाही भविष्यवाणी एवं कल्पनाओं के आधार पर भी की जा सकती है। इस प्रकार कार्यवाही के उद्देश्य अपव्यय (Waste) को रोकना, दूषित नियोजन (Ill-planning) को बदलना तथा गलत समायोजन (Mal-adjustment) को ठीक करना हो सकते हैं। इन सभी कमियों को दूर करने के लिए नियन्त्रणकर्ता संगठन, सेवीवर्ग एवं परिस्थितियों में आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन एवं समायोजन करेगा। हो सकता है कि इसके लिए मापदण्डों को पुनः परिभाषित करना पड़े अथवा संगठन का पुनर्गठन करना पड़े या नियन्त्रण के नए तरीके अपनाना आवश्यक समझा जाए। इस सुधारात्मक कार्यवाही से संगठन का नया स्वरूप उभर कर सामने आता है।

नियन्त्रण की समस्याएँ
(The Problems of Control)

नियन्त्रण की सफलता एवं सार्थकता उसकी प्रभावशीलता पर निर्भर करती है। इसके अभाव में संगठन के निर्धारित मापदण्डों का महत्त्व केवल कागजी रह जाता है। वास्तविक जगत् में उसका कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। नियन्त्रण की प्रक्रिया निर्बाध नहीं होती। उसमें प्रत्येक स्तर पर कठिनाइयाँ एवं समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं, जैसे—

1. मापदण्डों को मानकीकृत करने में कठिनाई—प्रथम मुख्य समस्या यह आती है कि मापदण्डों को मानकीकृत करना अत्यन्त कठिन कार्य है। संगठन एक मानवीय संस्था है। इसके उद्देश्य और तरीकों में परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के साथ-साथ परिवर्तन होने चाहिए अन्यथा वे असामयिक बन जायेंगे। मापदण्ड निर्धारित करने का अर्थ होगा संगठन को एक जड़ और निर्जीव वस्तु मान लेना जिसमें कोई प्रवाह नहीं है।

2. मूल्यांकन की समस्या—दूसरी कठिनाई मूल्यांकन से सम्बन्ध रखती है। यह कहा जाता है कि मूल्यांकनकर्त्ता चाहे कितना ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाए, उसमें विषयगतता (Subjectivity) आए बिना नहीं रह सकती। मूल्यांकन करने वाले के व्यक्तिगत मूल्य, आदर्श भावनाएँ, विचार आदि इस पर आवश्यक रूप से प्रभाव डालते हैं। परिणामों को मापने तथा आँकने में व्याख्यात्मक मूल्यों का भी प्रभाव पड़ता है। मूल्यांकन करते समय कार्य के गुण को महत्त्व दिया जाए अथवा उसकी मात्रा को, यह भी एक महत्त्वपूर्ण किन्तु जटिल प्रश्न है।

3. सुधारात्मक प्रयासों की समस्या—तीसरी समस्या सुधारात्मक प्रयासों के क्षेत्र में आती है। कहा जाता है कि बहुत-सी परिस्थितियाँ नियन्त्रण के बाहर हैं तथा नियन्त्रणकर्त्ता उन्हें सुधारने की दृष्टि से कुछ भी नहीं कर सकता। परिस्थितियों में उतार-चढ़ाव आते हैं, इसलिए सही मार्ग तय करना अत्यन्त जटिल है। मानवीय व्यवहार के सम्बन्ध में जो पूर्व कल्पनाएँ एवं भविष्यवाणियाँ की जाती हैं वे सदैव सत्य नहीं होतीं। हम केवल सम्भावित सत्य कह सकते हैं। केवल इनके आधार पर ही सन्तोषजनक सुधारात्मक कार्यवाही की आशा नहीं की जा सकती।

यह सच है कि नियन्त्रण की प्रक्रिया के सभी सोपानों की अपनी समस्याएँ हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसका संगठन में कोई महत्त्व नहीं है अथवा इसके बिना संगठन का काम चल सकता है। 'नियन्त्रण' तो संगठन का एक आवश्यक अंग है जो भावी कार्य के लिए आधार प्रदान करता है।

नियन्त्रण के सिद्धान्त
(Principles of Control)

नियन्त्रण-प्रणाली सुव्यवस्थित और प्रभावी बनी रहे, इसके लिए नियन्त्रण के कतिपय आवश्यक सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रबन्ध-विद्वानों ने किया है। हेराल्ड कुण्ट्ज तथा ओ' डोनेल ने निम्नलिखित सिद्धान्तों के अनुपालन को आवश्यक माना है—

1. उद्देश्यों के आश्वासन का सिद्धान्त (Principle of Assurance of Objective)—नियन्त्रण ऐसा होना चाहिए जो समूह उद्देश्यों की प्राप्ति में योगदान दे सके।

2. नियन्त्रण की कुशलता का सिद्धान्त (Principle of Efficiency of Control)—इस सिद्धान्त की माँग है कि नियन्त्रण तभी प्रभावशाली हो सकता है जब वह विचलनों को न केवल शीघ्र बतलाता हो बल्कि उन्हें इस प्रकार समाप्त करता हो कि उपक्रम या प्रतिष्ठानों के कार्यों का कम से कम हानिकारक प्रभाव पड़े और साथ ही साथ व्यय भी न्यूनतम हो। इस प्रकार से यह अपव्यय को रोकने वाला सिद्धान्त है।

3. नियन्त्रण के दायित्व का सिद्धान्त (Principle of Responsibility of Control)—अधिकार या सत्ता का प्रत्यायोजन सम्भव है, किन्तु दायित्व का नहीं। नियन्त्रण के दायित्व के सिद्धान्त के अनुसार नियन्त्रण का दायित्व योजनाओं को कार्यान्वित करने वाले अधिकारी का होता है। उच्चाधिकारी अपने कार्यभार को अन्य किसी कर्मचारी अथवा विशेषज्ञ पर डाल सकता है, किन्तु अन्तिम उत्तरदायित्व उसका ही रहता है।

4. भावी नियन्त्रण का सिद्धान्त (Principle of Future Control)—नियन्त्रण का उद्देश्य केवल वर्तमान योजनाओं के विचलनों का पता लगाना और सुधार करना ही नहीं है बल्कि भावी विचलनों का पता लगाकर उसके अनुरूप सुधारात्मक कदम उठाना भी है।

5. प्रत्यक्ष नियन्त्रण का सिद्धान्त (Principle of Direct Control)—इस सिद्धान्त की माँग है कि नियन्त्रण स्थापित करने के लिए प्रत्यक्ष नियन्त्रण विधि अपनाई जानी चाहिए। इसके लिए अधीनस्थों तथा प्रबन्धकों को अधिकाधिक योग्य और कार्यक्षम बनाने पर बल दिया जाना चाहिए। इससे भविष्य में वे भी अच्छे नियन्त्रक बन सकेंगे तथा प्रत्यक्ष रूप से कार्यों पर नियन्त्रण की कार्यवाही कर सकेंगे।

6. योजनाओं के प्रतिबिम्ब का सिद्धान्त (Principle of Reflection of Plans)—नियन्त्रण प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए जिसमें नियोजन की प्रकृति और संरचना स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हो सके। यह ध्यान रखना कि नियन्त्रण के पश्चात् भी मूल योजना यथावत रहे, किन्तु त्रुटियों का समुचित सुधार हो सके।

7. संगठनात्मक उपयुक्तता का सिद्धान्त (Principle of Organizational Stability)—इस सिद्धान्त की माँग है कि नियन्त्रण व्यवस्था संगठन के ढाँचे के अनुकूल होनी चाहिए। नियन्त्रण का कोई पृथक् ढाँचा नहीं होता है।

8. नियन्त्रण की वैयक्तिकता का सिद्धान्त (Principle of Individuality of Control)—ऐसी नियन्त्रण प्रक्रिया अपेक्षित है जो संगठन की आवश्यकताओं को भी पूरा कर सके और साथ ही सम्बन्धित नियन्त्रण करने वाले प्रबन्धक की आवश्यकताओं को भी पूरा करे। यदि नियन्त्रण व्यवस्था प्रत्येक स्तर पर नियुक्त अधिकारी (नियन्त्रण) के व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं होगी अर्थात् उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने वाली नहीं होगी तो नियन्त्रण कार्य के मार्ग में अवरोध पैदा हो जाएँगे।

9. प्रमापों का सिद्धान्त (Principle of Standards)—प्रभावी और कुशल नियन्त्रण के लिए आवश्यक है कि कार्य-विषयक परिशुद्ध और उपयुक्त प्रमाप निर्धारित कर दिए जाएँ। यदि प्रमाप शुद्ध, निश्चित अथवा उपयुक्त नहीं होंगे तो नियन्त्रण क्रियाएँ व्यर्थ हो जाएँगी। प्रमापों के परिप्रेक्ष्य में ही निष्पादन-क्रियाओं का मापन तथा मूल्यांकन किया जाता है।

10. अपवाद का सिद्धान्त (Principle of Exception)—इस सिद्धान्त की माँग है कि प्रभावी नियन्त्रण के लिए अपवादजनक स्थितियों में ही प्रबन्धकों का ध्यान आकर्षित किया जाना चाहिए। इसलिए प्रबन्धक को अति महत्वपूर्ण विचलनों पर ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। यदि सामान्य विचलनों के मामलों में भी वह फँसा रहता है तो प्रभावी नियन्त्रण नहीं हो सकेगा।

11. महत्वपूर्ण बिन्दु नियन्त्रण का सिद्धान्त (Principle of Strategic Point Control)—नियन्त्रण प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए जो महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर समुचित ध्यान देकर उनको नियन्त्रित कर सके। सभी सामान्य प्रकृति के बिन्दुओं पर नियन्त्रण की उतनी आवश्यकता नहीं होती।

12. नियन्त्रण की लोच का सिद्धान्त (Principle of Flexibility of Control)—नियन्त्रण प्रणाली पर्याप्त लोचदार होनी चाहिए ताकि योजनाओं के परिवर्तन के साथ-साथ विधि में भी सरलता से समुचित परिवर्तन लाए जा सकें।

13. पुनरावलोकन का सिद्धान्त (Principle of Review)—नियन्त्रण प्रभावी और सक्षम बना रहे इसके लिए आवश्यक है कि नियन्त्रण प्रणाली का समय-समय पर पुनरावलोकन किया जाता रहे ताकि परिस्थितियों के अनुसार यथासमय समायोजन किया जा सके।

14. कार्यवाही का सिद्धान्त (Principle of Action)—प्रभावी और सक्षम नियन्त्रण प्रणाली वही मानी जाएगी जो उपयुक्त नियोजन, संगठन निर्देशन आदि के द्वारा विचलनों को अविलम्ब दूर करने वाली कार्यवाही को सम्भव बना सके। सुधारात्मक क्रियाओं के अभाव में नियन्त्रण-प्रणाली का खोखलापन स्पष्ट हो जाएगा।

नियन्त्रण का क्षेत्र

(Span of Control)

संगठन अथवा प्रशासन में नियन्त्रण की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। बिना नियन्त्रण के कोई भी प्रशासन समुचित रूप से संचालित नहीं किया जा सकता। नियन्त्रण की व्यवस्था का उद्देश्य यह देखना होता है कि संगठन अथवा प्रशासन की इकाई में कर्मचारी दिये गए आदेशों, निर्देशों तथा नियमों के अनुरूप काम कर रहे हैं अथवा नहीं। यदि इस प्रकार की देखभाल न की जाए तो स्वाभाविक है कि संगठन अथवा कार्यालय का काम अव्यवस्थित तथा शिथिल हो जाएगा।

नियन्त्रण के सन्दर्भ में स्वाभाविक रूप से नियन्त्रण के विस्तार या क्षेत्र का प्रश्न उपस्थित है। एक उच्च अधिकारी कितने अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्य का क्षमतापूर्वक अधीक्षण कर सकता है, यह नियन्त्रण-क्षेत्र की समस्या है। नियन्त्रण-क्षेत्र से हमारा अभिप्राय अधीनस्थ कर्मचारियों की उस संख्या से है जिसके कार्यों का अधीक्षण-नियन्त्रण एक अधिकारी क्षमतापूर्वक कर सकता है। डिमॉक (Dimock) का कथन है, "नियन्त्रण का विस्तार किसी उद्यम के मुख्य निष्पादक तथा उसके मुख्य साथी कार्यालयों (Principal Fellow Offices) के बीच सीधे एवं स्वाभाविक संचार की संख्या एवं क्षेत्र है।"

नियन्त्रण-विस्तार के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी अधिकारी के नियन्त्रण का क्षेत्र केवल उतना ही रखना चाहिए जितना वह कुशलतापूर्वक उसका निर्देश या सम्पादन कर सके। अधिकारी की सामर्थ्य से अधिक या कम क्षेत्र का होना उचित नहीं है। मानवीय ध्यान-क्षेत्र (Span of Attention) सीमित होता है, अतः कोई भी एक पदाधिकारी कर्मचारी की असीमित संख्या का भली-भाँति निरीक्षण नहीं कर सकता। जॉन डी. मिलेट ने ठीक ही लिखा है कि "अनुभव और मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान दोनों इस बात की पुष्टि करते हैं कि किसी भी प्रशासकीय अधिकारी की पर्यवेक्षण क्षमता की सीमा रहती है।" यदि अधिकारी की सामर्थ्य से कम नियन्त्रण-क्षेत्र रखा जाए तो वह भी अनुचित है क्योंकि इसका अर्थ है कि अधिकारी की क्षमताओं और सामर्थ्य का पूरा लाभ नहीं उठाया जा रहा है। यदि उसकी क्षमता से अधिक नियंत्रण उसे सौंपा गया तो उसकी प्रशासकीय कठिनाइयाँ बहुत बढ़ जायेंगी। इससे संगठन को लाभ होने के स्थान पर हानि ही होगी।

नियन्त्रण क्षेत्र की सीमा

अब प्रश्न उठता है कि नियन्त्रण-क्षेत्र की सीमा कितनी होनी चाहिए? इस प्रश्न पर विद्वानों में एकरूपता नहीं है, उनमें व्यापक मतभेद हैं। जहाँ नियन्त्रण-क्षेत्र का असन्तुलित विस्तार हानिकारक है, वहाँ क्षेत्र का बहुत सीमित होना भी अहितकर है। इस सम्बन्ध में हेनरी फेयोल (Henry Fayol) का मत है कि "एक बड़े उद्यम के शिखर-स्थित प्रबन्धक के नीचे पाँच या छः से अधिक अधीनस्थ कर्मचारी नहीं होने चाहिए।" एल. उर्विक (L. Urwick) का विचार है कि "उच्च पदाधिकारियों के लिए आदर्श संख्या चार होगी और निम्न स्तर के कर्मचारियों के लिए आठ या बारह।" ग्रेक्यूनस (Graicunas) ने लिखा है कि "कोई उच्च अधिकारी पाँच अथवा छः अधीनस्थ कर्मचारियों से अधिक के कार्य का उचित निरीक्षण नहीं कर सकता।" सैनिक संगठन के सम्बन्ध में सर हैमिल्टन ने एक बार कहा था, "एक औसत मानव मस्तिष्क तीन से छः अन्य मस्तिष्कों का ही प्रभावशाली निरीक्षण कर सकता है।"

उपर्युक्त विद्वानों के मत से यह स्पष्ट है कि नियन्त्रण-विस्तार की सीमा के सम्बन्ध में कोई एक सुनिश्चित मत नहीं हो सकता। कर्मचारियों की 'आदर्श संख्या' की खोज करना, जिस पर कि एक उच्च अधिकारी नियन्त्रण रखने में सक्षम हो, निरर्थक है। प्रशासन की गतिशीलता ही प्रशासन की सफलता का मापदण्ड है और यह बहुत कुछ शीर्षस्थ अधिकारी की योग्यता, नेतृत्व कुशलता और प्रशासनिक क्षमता पर निर्भर करता है कि वह कितने अधीनस्थ कर्मचारियों को अपने नियन्त्रण में रख सकता है। फिर भी, विद्वान् यह निश्चित करने के लिए अवश्य प्रयत्नशील हैं कि नियन्त्रण के विस्तार-क्षेत्र की लंबाई क्या होनी चाहिए? विद्वानों में सामान्य सहमति प्रायः निम्नांकित बातों पर पाई जाती है—(क) प्रत्येक स्तर पर एक निश्चित नियन्त्रण-क्षेत्र होता है और यदि इस सीमा का उल्लंघन किया जाए तो कार्य के अवरुद्ध होने की सम्भावना उत्पन्न हो सकती है। (ख) नियन्त्रण-क्षेत्र में चार तत्वों के कारण विभिन्नता उत्पन्न होती है—कार्य (Function), व्यक्तित्व (Personality), काल या समय (Time) और स्थान (Space or Place)।

नियन्त्रण के निर्धारक तत्व

नियन्त्रण को हम किसी कठोर विस्तार-क्षेत्र की सीमा में नहीं बाँध सकते। नियन्त्रण का क्षेत्र कितना होगा, अर्थात् एक अधिकारी कितने कर्मचारियों पर प्रभावशाली नियन्त्रण रख सकेगा, यह बहुत कुछ निम्न तत्वों पर निर्भर करता है—

1. कार्य (Function)—इसका अर्थ है कि कार्य की प्रकृति, अर्थात् किस प्रकार के कार्य का नियन्त्रण किया जाना है और अधिकारी जिन व्यक्तियों का नियंत्रण कर रहा है, उनके कार्यों की प्रकृति उसके अपने कार्यों की प्रकृति के समान ही है अथवा नहीं। यदि कार्यों की प्रकृति समान है तो नियन्त्रण का क्षेत्र व्यापक हो सकता है, क्योंकि अधिकारी की नियन्त्रण-क्षमता बढ़ जाती है।

2. व्यक्तित्व (Personality)—इसका अभिप्राय अधिकारी या अधीक्षक और सम्बन्धित सहायकों की क्षमता तथा उसके व्यक्तित्व से है। किसी भी संगठन में व्यक्तित्व एक बहुत ही महत्वपूर्ण तत्व होता है। यदि अधीक्षक या नियन्त्रक का व्यक्तित्व बहुत ऊँचा है, उसमें नेतृत्व की असाधारण क्षमता है, उसके कार्य करने की गति तीव्र है, उसका प्रशासनिक ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा है तो वह कर्मचारियों की काफी बड़ी संख्या पर नियन्त्रण रख सकता है। लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है।

3. समय (Time)— इसका अभिप्राय संगठन की आयु से है। यदि संगठन पुराना और जमा हुआ है तो नियन्त्रण का क्षेत्र सरलता से विस्तृत किया जा सकता है। पुराने और सुव्यवस्थित संगठन की तुलना में नए संगठनों में परम्पराओं का अभाव पाया जाता है और उच्च अधिकारियों के सामने नई-नई समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं। अतः स्वभावतः नए संगठन में नियन्त्रण का कार्य पुराने सुव्यवस्थित संगठन की अपेक्षा कम तीव्र होता है।

4. स्थान (Place)—इसका आशय यह है कि अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यालय भौगोलिक दृष्टि से एक ही स्थान या भवन में केन्द्रित हैं अथवा दूर-दूर तक फैले हुए हैं। यदि एक ही स्थान में केन्द्रित हैं तो नियन्त्रण-क्षेत्र का विस्तार करना उचित होगा, यदि दूर-दूर स्थित हैं तो नियन्त्रण का क्षेत्र छोटा रखना ही उपयोगी होगा। जहाँ सहायक अधिकारी मुख्य अधिकारी या अधीक्षक के स्थान पर ही कार्य करते हैं, वहाँ अधीक्षण एवं नियन्त्रण सरल और तीव्र होता है, दूर होने पर ऐसा नहीं होता।

नियन्त्रण का कार्यक्षेत्र परिवर्तित होता रहता है और इस भिन्नता के मूल में उपर्युक्त चारों तत्त्व महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सामान्यतया नियन्त्रण-क्षेत्र के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिद्धान्तों पर सहमति पाई गई है—

(i) योग्यतम व्यक्तियों में भी नियन्त्रण और निरीक्षण करने की शक्ति सीमित होती है, असीमित क्षमता कहीं नहीं पाई जाती।

(ii) उत्तरदायित्व जितना बड़ा होता है, सक्रिय नियन्त्रण उतना ही संकुचित होता है।

(iii) समान कार्य करने वाले कर्मचारियों के मामले में नियन्त्रण-क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत हो जाता है।

नियन्त्रण का विस्तार-क्षेत्र निश्चित करने में बड़े विवेक से काम लेना चाहिए। सैकलर हडसन (Seckler Hudson) के अनुसार यदि नियन्त्रण का क्षेत्र अत्यन्त सीमित कर दिया गया तो उससे भी कई खतरे उत्पन्न हो सकते हैं। यह बहुत कठिन है कि नियन्त्रण के क्षेत्र की एक आदर्श संख्या तय की जाए। लगभग पिछले 25 वर्षों से लोक प्रशासन के लेखकों ने यह सन्देह प्रकट करना प्रारम्भ किया है कि क्या नियंत्रण के क्षेत्र का सिद्धान्त संगठन की प्रक्रिया के वास्तविक रूप को समझने में सहायता कर सकता है। सन् 1946 में हरबर्ट साइमन का प्रसिद्ध निबन्ध 'The Proverbs of Administration' इन प्रश्नों को उभारने का एक सफल एवं प्रभावशाली प्रयास माना जाता है।

नियन्त्रण का क्षेत्र और पदसोपान (Span of Control and Hierarchy)

नियन्त्रण के क्षेत्र का पदसोपान की व्यवस्था से गहरा सम्बन्ध है। यह उसकी मान्यता पर पर्याप्त प्रभाव डालता है। एक संगठन के पिरामिड में कितने स्तर होने चाहिए, यह बात भी इसी सिद्धान्त के आधार पर तय की जा सकती है। कहा जाता है कि एक संगठन रबड़ की एक गेंद के समान है। यदि आप इसे एक जगह दबाएँगे तो यह उछल कर दूसरी जगह जा पड़ेगी। इस प्रकार यदि बीस विभागों के अध्यक्ष मिलकर एक ही अध्यक्ष को अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत करेंगे तो संगठन अवश्य ही चौरस बन जाएगा। यदि दूसरी ओर अध्यक्ष को केवल तीन व्यक्ति प्रतिवेदन दें और अन्य लोग रिपोर्ट इन तीनों को ही प्रस्तुत करें तो ढाँचे में अधिक स्तर बढ़ाने पड़ते हैं। यह कहा जाता है कि ऐसा होने पर संचार की समस्या कठिन हो जाती है, क्योंकि पहले उदाहरण में तो अपने बॉस से बात कर सकते थे और दूसरे उदाहरण में सत्रह व्यक्ति किसी के माध्यम से बातें करते हैं। इससे यह स्वाभाविक ही है कि प्रशासनिक कठिनाइयाँ और पेचीदगियाँ बढ़ जायेंगी।

नियन्त्रण के क्षेत्रों में साइमन के विचार

हरबर्ट ए. साइमन के मतानुसार नियन्त्रण के क्षेत्र में यह समझा जाता है कि एक प्रशासक को सीधी रिपोर्ट देने वाले अधीनस्थों की संख्या कम कर दी जाए तो प्रशासकीय कार्यकुशलता बढ़ जाएगी। इस विचार के समर्थन में अनेक तर्क दिए जाते हैं। इन सर्वविदित तथ्यों को गिनाना साइमन आवश्यक समझ कर लोक प्रशासन की एक अन्य कहावत प्रस्तुत करते हैं जो इतनी प्रसिद्ध होते हुए भी नियन्त्रण के क्षेत्र से विपरीत है और उतनी ही स्वीकार करने योग्य है। यह कहावत इस प्रकार है—"एक विषय कार्यरूप में परिणित होने से पूर्व जिन संगठनात्मक स्तरों में होकर गुजरता है उनकी संख्या कम से कम रखने पर प्रशासनिक कार्यकुशलता बढ़ती है।" अनेक प्रशासकीय विश्लेषणकर्ता जब सरल प्रक्रियाओं की खोज करते हैं तो इस दूसरी कहावत से उनको पर्याप्त निर्देशन प्राप्त होता है। फिर भी इस सिद्धान्त के जो परिणाम होते हैं वे नियन्त्रण के क्षेत्र के ठीक विपरीत जाते हैं। ये परिणाम हैं—आदेश की एकता और विशेषीकरण का सिद्धान्त। नियन्त्रण के क्षेत्र को सीमित करना तथा संगठन के स्तरों को कम करना दो विरोधी चीजें हैं। एक होने से दूसरे पर खतरनाक प्रभाव पड़ता है।

अन्तर्विरोध यह है कि एक बड़े संगठन में, जहाँ सदस्यों में पारस्परिक सम्बन्ध रहते हैं, यदि नियन्त्रण का क्षेत्र सीमित कर दिया जाए तो इससे लालफीताशाही बढ़ जाएगी क्योंकि संगठन के सदस्यों का प्रत्येक सम्पर्क तब तक आगे बढ़ता चला जाएगा जब तक उन्हें समान उच्चता प्राप्त न हो जाए। यदि संगठन काफी बड़ा है तो किसी

भी कार्य पर निर्णय होने के लिए उसे ऊपर के कुछ स्तरों में होकर गुजरना पड़ेगा और इसी प्रकार आज्ञाओं एवं अनुदेशों को भी नीचे कई स्तरों में से निकलना होगा। यह एक जटिल तथा समय लगाने वाली प्रक्रिया है। इस व्यवस्था का विकल्प यह है कि प्रत्येक अधिकारी की आज्ञा के अधीन जितने व्यक्ति हैं उनकी संख्या बढ़ा दी जाए ताकि पिरामिड के ऊपर तक पहुँचने का मार्ग छोटा हो जाए, क्योंकि बीच के स्तर कम हो जाएँगे, किन्तु इसमें भी कठिनाई है। यदि एक अधिकारी को बहुत अधिक कर्मचारियों का निरीक्षण करना पड़ता है तो उन पर उसका नियन्त्रण कमजोर हो जाएगा। अभी तक लोक प्रशासन के विद्वानों ने नियन्त्रण के क्षेत्र की कोई ऐसी संख्या निर्धारित नहीं की है जिसको अपनाकर उक्त दोनों ही अतियों से बचा जा सके।

नियन्त्रण के क्षेत्र पर ग्रेकुनाज के विचार

सन् 1933 में वी. ए. ग्रेकुनाज (V. A. Graicunas) का एक लेख प्रकाशित हुआ, जिसका शीर्षक था 'Relationship in Organization'। इस लेख में उन्होंने अधीनस्थ एवं उच्च अधिकारियों के सम्बन्धों की समस्या पर विचार करते हुए एक गणितीय सूत्र (Mathematical Formula) विकसित करके यह प्रतिपादित किया है कि जब अधीनस्थों की संख्या बढ़ जाती है तो गणितीय रूप में सम्बन्धों की संख्या भी बढ़ जाती है। प्रोफेसर हेनेन के अनुसार उनका अध्ययन अनुभवयुक्त निरीक्षण पर आधारित नहीं है किन्तु शीर्ष पर प्रबन्ध के क्षेत्र में परिवर्तन करने से एक संगठन की क्या स्थिति होगी, इस बात का एक गणितीय प्रस्तुतीकरण है। ग्रेकुनाज ने यह बताया है कि उच्च अधिकारियों को अपने अधीनस्थों के साथ सम्बन्ध कायम रखने में हमेशा यह बात मस्तिष्क में रखनी चाहिए कि उनका न केवल प्रत्येक अधीनस्थ से प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिगत सम्बन्ध है बल्कि उनके सम्बन्ध अधीनस्थों के विभिन्न समूहों से और अधीनस्थों के पारस्परिक सम्बन्धों से भी है।

इन सम्बन्धों की संख्या प्रबन्धाधीन समूह की संख्या के साथ-साथ बदलती रहती है। ग्रेकुनाज ने मुख्यतः ऐसे तीन प्रकार के सम्बन्धों का वर्णन किया है। ये हैं—(1) प्रत्यक्ष इकहरे सम्बन्ध (Direct Single Relationships), ये सम्बन्ध किसी सर्वोच्च अधिकारी और उसके तात्कालिक अधीनस्थों के साथ व्यक्तिगत एवं परोक्ष रूप में होते हैं। उदाहरण के लिए, यदि 'क' के तीन अधीनस्थ हैं—ख, ग, घ, तो यहाँ तीन प्रत्यक्ष इकहरे सम्बन्ध बन जाएँगे। (2) प्रत्यक्ष समूह संबंध (Direct Group Relationships), इसमें सर्वोच्च अधिकारी और अधीनस्थों के सम्भावित समूह के मध्य सम्बन्ध पाया जाता है। यदि इस दृष्टि से देखा जाए तो उक्त उदाहरण में प्रत्येक समूह-सम्बन्धों की संख्या नौ हो जाएगी। (3) आड़े-खड़े संबंध (Cross-Relationships) जब एक उच्च अधिकारी के विभिन्न अधीनस्थों को पारस्परिक सम्पर्क करने की आवश्यकता होती है तो इस प्रकार के सम्बन्धों का जन्म हो जाता है। जब अधीनस्थों की संख्या बढ़ने के कारण सर्वोच्च अधिकारी के प्रत्यक्ष सम्बन्ध अनुपात के अनुसार बढ़ जाते हैं तो समूह और आड़े-खड़े सम्बन्ध अनुपात से भी अधिक बढ़ जाते हैं। ग्रेकुनाज का सूत्र इस प्रकार है—

$$n\left(\frac{2n}{n} + n - 1\right)$$

यह सूत्र सभी सम्भव सम्बन्धों की संख्या बता देता है जिनमें प्रबन्धक की रुचि हो सकती है और जो उसे ध्यान में रखने चाहिए। यहाँ n का अर्थ है अधीनस्थों की संख्या और n को इस सूत्र में लगाने से सब प्रकार के सम्बन्धों की संख्या हो जाएगी। इस सूत्र के परिणामों को निम्नांकित सारिणी द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

अधीनस्थों की विभिन्न संख्याओं से उत्पन्न संभावित सम्बन्धों का योग

अधीनस्थों की संख्या	सम्भावित सम्बन्धों की कुल संख्या
1	1
2	6
3	18
4	44
5	100
6	222
7	490
8	1,080
9	2,376
10	5,210

इस सूत्र के आधार पर हम यह देखते हैं कि अधीनस्थों की संख्या चार होने पर सम्बन्धों की कुल संख्या 44 हो जाती है। यदि एक और अधीनस्थ जोड़ दिया जाए तो नियन्त्रण कार्य-क्षेत्र पाँच अधीनस्थों का हो जाएगा। सूत्र के अनुसार सम्भावित आड़े-खड़े सम्बन्धों का योग 100 हो जाएगा। इस प्रकार एक अधीनस्थ जुड़ जाने मात्र से सम्भावित सम्बन्ध रेखागणितीय रूप में बढ़ जाते हैं। अधीनस्थों की संख्या 25 प्रतिशत वृद्धि करने पर सम्बन्धों का कुल योग 127 प्रतिशत बढ़ जाता है। यह वृद्धि अत्यन्त चेतावनीपूर्ण है और प्रत्येक प्रबन्ध को, जो अधीनस्थों की संख्या में वृद्धि कर रहा है, इसका ध्यान रखना होता है।

यह सूत्र केवल सम्भावनाओं का दिग्दर्शन कराता है। इसके द्वारा यह स्पष्ट किया जाता है कि जब एक उच्च अधिकारी को बहुत से अधीनस्थ प्रतिवेदन देंगे तो स्थिति कितनी जटिल बन जाएगी। वास्तविक व्यवहार में यह तालिका जिन सम्बन्धों का वर्णन करती है, वे साकार नहीं बन पाते। विलियम न्यूमैन (William Newman) का कथन है कि जब एक उद्यम आकार में बढ़ता है तो कर्मचारी एक-दूसरे के साथ वे सभी सम्बन्ध नहीं रख पाते हैं जो सैद्धान्तिक रूप से सम्भव हैं। एक सूत्र केवल सम्भावित संबंधों का ही उल्लेख करता है। यह सब जानते हुए भी एक उच्च अधिकारी अधीनस्थों की संख्या में वृद्धि करते समय पर्याप्त सोच-विचार से काम लेता है।

ग्रैकुनाज ने बताया कि आड़े-खड़े सम्बन्धों द्वारा अधिक जटिलताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन जटिलताओं की मात्रा संगठन के कार्यों की प्रकृति के आधार पर बदलती रहती है। यदि किसी कार्य में अधीनस्थों के परस्पर कम सम्बन्ध रखने की आवश्यकता हो तो वहाँ जटिलता नहीं बढ़ेगी। इस दृष्टि से हेमिल्टन का कथन पूर्णतः सार्थक है कि समूह के सदस्य का उत्तरदायित्व जितना कम होगा, समूह उतना ही बड़ा हो सकता है। एल. उर्विक ने भी बताया है कि कोई भी सर्वोच्च अधिकारी परस्पर सम्बन्धित कार्यों वाले पाँच अथवा छः अधीनस्थों को प्रत्यक्ष रूप से पर्यवेक्षित नहीं कर सकता।

नियन्त्रण क्षेत्र की धारणा में परिवर्तन

नियन्त्रण-क्षेत्र की पुरानी धारणा आज तेजी से बदलती जा रही है। प्रशासन में स्वचालन का प्रयोग बढ़ रहा है और संचार के द्रुत माध्यम विस्तृत हो रहे हैं। लोक सेवा में विशेषज्ञों की संख्या में अधिकाधिक वृद्धि होती जा रही है। हाल ही के वर्षों में तकनीकी ज्ञान में भारी प्रगति हुई है। सम्भवतः इन विभिन्न कारणों के फलस्वरूप नियन्त्रण-क्षेत्र को पूर्वापेक्षा काफी अधिक विस्तृत कर देना सम्भव हो गया है। स्वचालन से तो दिन-प्रतिदिन लिपिकीय काम कम हुआ ही है और सूचना तथा संचार के द्रुत साधनों से नियन्त्रण-क्षेत्र की सीमा बढ़ी है, लेकिन इस दिशा में विशेषज्ञों की भूमिका पर्याप्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रही है। विशेषज्ञ अपने काम में अनाड़ियों का हस्तक्षेप नहीं करते, अतः संगठन के परम्परागत संस्थापन में ही परिवर्तन हो रहा है। विशेषज्ञों के बढ़ते हुए महत्त्व और स्वतन्त्रता के कारण मुख्य निष्पादक का कार्य नियन्त्रण की अपेक्षा समन्वय का अधिक होता जा रहा है। वह दिन दूर नहीं है जबकि आगामी दशकों में नियन्त्रण-क्षेत्र की समूची धारणा ही बदल जाएगी और उसके स्थान पर एक सर्वथा नई धारणा अस्तित्व में आ जाएगी। इस कारण से कार्यपालिका के सदस्यों पर भी यह गुरुतर दायित्व आ गया है कि वे अपनी मन स्थिति में वांछित परिवर्तन करें।

नियन्त्रण क्षेत्र के लाभ

वर्तमान में नियन्त्रण-क्षेत्र सिद्धान्त की उपयोगिता और प्रासंगिकता बराबर बनी हुई है। इसे संगठन की एक बहु-मूल्यवान विचारधारा, पद्धति या अवधारणा माना जाता है। यह एक ऐसा महत्वपूर्ण पहलू है, जिसकी किसी भी संगठन द्वारा उपेक्षा या अवज्ञा नहीं की जा सकती है। अतएव इसे संगठन का एक सर्वसम्मत तथा सर्वमान्य सिद्धान्त माना जाता है। इस सिद्धान्त का पदसोपान या क्रमिक सिद्धान्त के साथ भी गहरा सम्बन्ध है। इसे लोक प्रशासन के सामान्य मार्ग-दर्शक सिद्धान्त की भी संज्ञा दी जाती है।

सत्ता (प्राधिकार) एवं उत्तरदायित्व

(Authority and Responsibility)

संगठन के आधुनिक सिद्धान्त इसकी अनेक मान्यताओं को स्थापित करते हैं। इसके साथ ही संगठन से जुड़ी हुई अनेक समस्याओं का भी अध्ययन किया जाता है। इनमें सत्ता (प्राधिकार) एवं उत्तरदायित्व की समस्या सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

सत्ता (प्राधिकार)

(Authority)

सत्ता का संगठन में वही स्थान है जो मानव शरीर में आत्मा का है। जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर निष्क्रिय हो जाता है, उसी प्रकार जब तक हम एक संगठन में सत्ता की उचित व्यवस्था नहीं करेंगे वह कार्यशील नहीं हो सकेगा। शक्ति को समाज की नींव का पत्थर कहा जाता है। मानव व्यवहार, चाहे वह संगठन में हो अथवा उसके बाहर, किसी न किसी प्रकार की शक्ति पर आधारित रहता है। जब संगठन में पदसोपान की स्थापना कर अधीनता स्थापित की जाती है तो वहाँ सत्ता का प्रयोग स्वाभाविक बन जाता है। सत्ता को हम मानवीय व्यवहार के संदर्भ में ही देख सकते हैं। यह कोई निगूढ़ तत्व (Abstract Entity) नहीं है वरन् एक ऐसी चीज है जिसका विश्लेषण और अध्ययन मानव क्रियाओं में ही किया जाता है। साइमन, स्मिथबर्ग तथा थाम्पसन (Simon, Smithburg and Thompson) ने कार्य-विभाजन और सत्ता को किसी भी संगठन की अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता माना है। उनके कथनानुसार, "जब हम कभी एक संगठन का ढाँचा तैयार करते हैं तो हमको संगठन की प्रत्येक इकाई को एक स्थान देना होता है और उसके बाद इन स्थानों को कुछ श्रेणियों से संबंधित कर दिया जाता है। इन श्रेणियों को सत्ता की श्रेणी (Line of Authority) कहते हैं।" प्रत्येक संगठन में पाई जाने वाली सत्ता की श्रेणियाँ औपचारिक भी हो सकती हैं और अनौपचारिक भी। सत्ता की अनौपचारिक श्रेणियों में अधीनस्थ अधिकारियों का कार्य महत्वपूर्ण हो जाता है। साइमन तथा अन्य लेखकों के अनुसार, "अनेक अनुभवी प्रशासक सत्ता की इन पद-सोपान-विहीन श्रेणियों के महत्व से इतने प्रभावित हैं कि उनका यह विश्वास बन चुका है कि जब तक इनका पर्यवलोकन न किया जाए, संगठन के स्वरूप एवं कार्यों के वास्तविक तथ्यों का अध्ययन नहीं किया जा सकता।"[1] इस तरह से शक्ति किसी भी संगठन का 'केन्द्रीय तत्व' माना जाता है।

सत्ता का अर्थ (The Meaning of Authority)

'सत्ता' एक ऐसा शब्द है जिसके अनेक प्रकार से विविध अर्थ प्रस्तुत किए जाते हैं। इस शब्द की व्यापकता तथा अर्थों की अनेकरूपता पाठकों के मस्तिष्क में संशय उत्पन्न करती है। एक संगठन का अध्ययन करते समय कई बार हम ऐसे तत्वों को भी सत्ता समझने लग जाते हैं जो यथार्थ में सत्ता नहीं होते। वे या तो उसका विकृत रूप होते हैं अथवा उसकी केवल प्रतिच्छाया। सत्ता को विद्वानों ने अनेक रूपों में परिभाषित किया है। हरबर्ट ए. साइमन (Herbert A. Simon) के अनुसार, सत्ता (Authority) को निर्णय लेने की शक्ति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह दो व्यक्तियों के बीच का संबंध है जिनमें एक उच्चस्तर का और दूसरा अधीनस्थ होता है। उच्चस्तर का व्यक्ति यह सोचकर निर्णय लेता और संचालित करता है कि उनको अधीनस्थों द्वारा स्वीकार किया जाएगा। अधीनस्थों को ऐसे निर्णय की आशा रहती है और उनके द्वारा उनका व्यवहार निश्चित होता है।[2]

परम्परावादी विचारधारा ने सत्ता को मुख्य रूप से एक कानूनी अवधारणा की दृष्टि से देखा है जिसे अधिकार और कर्त्तव्यों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। परम्परावादी विचारकों के अनुसार जिन व्यक्तियों

1. *Simon, Smithburg and Thompson* : Public Administration, p. 182.
2. *Herbert A. Simon* : Authority in Human Relations in Administration, ed. by Robert Dubin, p. 189.

के हाथ में सत्ता रहती है, वे आज्ञापालन करवाने की माँग का अधिकार रखते हैं और जिन लोगों को आज्ञाएँ दी जाती हैं उनका यह कर्तव्य होता है कि वे आज्ञाओं का पालन करें। साइमन तथा अन्य विद्वानों ने सत्ता की इस परम्परावादी कानूनी विचारधारा के स्थान पर सत्ता को मनोवैज्ञानिक रूप में परिभाषित किया है। उनका मत है कि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें लोग दूसरे के आदेशों और निर्णयों का पालन करते हैं। वे आज्ञापालन केवल इसलिए नहीं करते कि ऐसा करना कानूनी दृष्टि से उनका कर्तव्य है। यह सच है कि कानूनी सत्ता का भी एक मनोवैज्ञानिक आधार होता है। जब हम यह जानने लगते हैं कि कानून ने किसको प्रशासकीय सत्ता सौंपी है तो उस व्यक्ति की आज्ञाओं के प्रति हमारे दिल में अधीनस्थता की भावना उत्पन्न हो जाती है।

एक संगठन में वास्तविक मनोवैज्ञानिक सत्ता का जो रूप होता है कानूनी सत्ता उसी का एक भाग होती है। जब सत्ता का प्रयोग मनोवैज्ञानिक रूप से किया जाता है तो उसमें दो या अधिक व्यक्तियों का संबंध आवश्यक बन जाता है। एक ओर तो ऐसे लोग होते हैं जो दूसरे के कार्यों के लिए कुछ प्रस्ताव तैयार करते हैं तो दूसरी ओर ऐसे लोग होते हैं जो उन प्रस्तावों को स्वीकार कर उनका पालन करते हैं। हरबर्ट साइमन आदि का मत है कि कोई भी व्यक्ति दूसरे की आज्ञाओं एवं प्रस्तावों का पालन केवल इसलिए नहीं करता कि उसे कानूनी सत्ता प्राप्त है। उनके विचारानुसार एक व्यक्ति दूसरों के प्रस्तावों को तीन विभिन्न परिस्थितियों में स्वीकार कर सकता है[1]—

(i) वह जब प्रस्ताव के गुणों की जाँच कर उसके गुणों के आधार पर प्रभावित हो जाता है कि इनको मान लेना चाहिए। साइमन आदि ने इस प्रकार के उदाहरणों को 'सत्ता की मान्यता' से बाहर रखा है, फिर भी अन्य विद्वान इसे 'विचारों की सत्ता' (Authority of Ideas) कहते हैं।

(ii) वह इन प्रस्तावों को इनके गुणों से पूरी तरह अथवा आंशिक रूप से प्रभावित हुए बिना ही स्वीकार कर सकता है। संभवतः वह इसके गुणों की जाँच नहीं कर सके।

(iii) वह प्रस्तावों को यह जानते हुए भी कि वे गलत हैं, स्वीकार कर लेता है। ये प्रस्ताव उसे इसलिए गलत प्रतीत हो सकते हैं क्योंकि उसके व्यक्तिगत मूल्यों से मेल नहीं खाते या संगठन के मूल्यों के अनुरूप नहीं हैं अथवा दोनों ही बातें हैं।

इन तीनों ही प्रकार के प्रस्तावों की स्वीकृति में प्रथम प्रकार को सत्ता की परिधि से अलग रखा जाता है। प्रस्ताव अनेक प्रकार के हो सकते हैं। प्रत्येक प्रस्ताव को, जो संगठन के अन्य व्यक्तियों को सक्रिय बनाता है, सत्ता नहीं कह सकते। वे आज्ञाएँ, अनुदेश, प्रक्रियाएँ, सुझाव आदि कुछ भी कहे जा सकते हैं। प्रस्ताव तो प्रत्येक उस कथन को कह सकते हैं जो एक समस्या का सामना करने के लिए सुझाया जाता है। जब तक किसी प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया जाता तब तक उसे सत्तापूर्ण नहीं कह सकते। वास्तव में सत्तापूर्ण संबंध वह होता है जिसमें एक व्यक्ति किसी प्रस्ताव के गुणों से प्रभावित हुए बिना ही उसे स्वीकार कर लेता है।

सत्ता के संबंध को मुख्य रूप से वस्तुनिष्ठ एवं व्यावहारिक संदर्भ में ही देखा जा सकता है। सत्तापूर्ण संबंधों द्वारा उच्च अधिकारी एवं निम्न अधिकारी दोनों को ही क्रियाशील बनाया जाता है। जब क्रियाएँ इस प्रकार सम्पन्न की जाती हैं तभी दो व्यक्तियों के बीच सत्ता का संबंध रहता है। साइमन के कथनानुसार व्यवहार के अभाव में सत्ता नहीं होती, चाहे संगठन की 'कागजी विचारधारा कुछ भी हो।[2] सत्ता के आदेशों को स्वीकार किया जाता है तो अधीनस्थ अधिकारियों के सामने कोई विकल्प नहीं रहता, उनको वे आज्ञाएँ स्वीकार करनी होती हैं।

कभी-कभी तो अधीनस्थ अधिकारी आज्ञाओं को ऐसी स्थिति में स्वीकार करते हैं जब उनकी अपनी कोई पसन्द नहीं होती, किन्तु कई बार ऐसा भी होता है कि अधीनस्थ अधिकारी को अपनी इच्छा के विपरीत भी आज्ञाएँ स्वीकार करनी होती हैं। यदि दो व्यक्तियों के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाए और इस मतभेद को वाद-विवाद से, समझाने-बुझाने से या अन्य प्रकार से प्रभावित करने से दूर न किया जा सके तो उसे सत्ता द्वारा सुलझाया जाता है। सत्ता का आदेश अंतिम होता है, उसके शब्द अकाट्य होते हैं, उसका विरोध नहीं किया जा सकता। आज्ञाएँ मनवाना और मतभेदों को सुलझाना सत्ता के दो प्रमुख गुण हैं, किन्तु वह इन दोनों की परिधि में ही सीमित नहीं रहती, उसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। सत्ता के रूप को भली प्रकार समझने के लिए हमको सत्ता और शक्ति (Power), सत्ता और प्रभाव (Influence), सत्ता और उत्तरदायित्व (Responsibility) एवं सत्ता और जवाबदेयता (Accountability) के बीच का सम्बन्ध देखना चाहिए।

सत्ता और शक्ति
(Authority and Power)

सत्ता और शक्ति बहुत कुछ मिलते-जुलते या समानार्थी शब्द हैं। कभी-कभी इनका पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग किया जाता है, लेकिन लोक प्रशासन की भाषा में ये दोनों शब्द अपना विशेष अर्थ रखते हैं और एक के लिए दूसरे का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इन दोनों में एक स्पष्ट अन्तर यह होता है कि 'सत्ता' का रूप एक

1 *Simon and Others* Op cit, p 182
2. *Herbert A Simon*, Op. cit, p 125.

प्रकार से कानूनी है, जबकि 'शक्ति' (Power) का रूप कानूनी होना आवश्यक नहीं है। शक्ति (Power) के बारे में लॉसवेल (Lasswel) ने अपनी पुस्तक 'Power' में शक्ति-परिवार (Family of Power) में शक्ति के विभिन्न रूपों का विस्तार से वर्णन किया है। उनके कथनानुसार, शक्ति और कुछ न होकर केवल मात्र एक प्रभाव है। व्यक्ति के कार्यों पर अनेक प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं, ये सभी प्रभाव शक्ति-परिवार के सदस्य हैं। जब शक्ति को कानून का रूप दे दिया जाता है तो वह सत्ता बन जाती है। सत्ता का अर्थ उस बिन्दु से है जहाँ पर निर्णय लिए जाते हैं। जब हम वास्तविक व्यवहार का निर्णय करते हैं तो हमको यह ज्ञात नहीं रहता कि यथार्थ में निर्णय कौन ले रहा है। प्रशासनिक निर्णयों पर अनेक ऐसे बाहरी प्रभाव पड़ते हैं जिनको प्रायः न देखा जा सकता है और न अनुभव ही किया जा सकता है।

परम्परावादी विचारधारा में आज्ञा देने का अधिकार और आज्ञापालन का कर्त्तव्य जैसी जो मान्यताएँ स्थापित की गई थीं उनसे शक्ति का कानूनी रूप व्यक्त होता है। जब औपचारिक रूप से एक व्यक्ति को आज्ञा देने का अधिकार प्रदान कर दिया जाता है तो उसमें कानूनी स्वीकृति झलकती है। यहाँ सामाजिक तथा अनौपचारिक तत्त्वों का कोई महत्त्व नहीं रहता है। यह आवश्यक नहीं होता कि जिस व्यक्ति को आज्ञा देने का अधिकार प्रदान किया गया है उसमें आज्ञा देने की सामर्थ्य भी हो। आज्ञा देने की सामर्थ्य को शक्ति कहा जा सकता है। इस प्रकार जिस व्यक्ति के पास सत्ता है उसके पास शक्ति का होना आवश्यक नहीं है। कई बार कुछ लोग शक्ति का प्रयोग बिना किसी सत्ता के भी करते हैं। शक्तिहीन सत्ता के व्यवहार की तुलना एक कठपुतली से की जा सकती है। कठपुतली का जो भी कार्य होता है वह देखने वाले को तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं कठपुतली ही उसे कर रही है, किन्तु यथार्थ में उनके व्यवहार का सूत्रधार कोई अन्य व्यक्ति होता है। इस उदाहरण में कठपुतली के पास सत्ता है पर शक्ति नहीं। जब हम संगठन का अध्ययन करते हैं तो ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं जबकि पदसोपान के उच्च अधिकारी, जिनको औपचारिक रूप से अधिकार मिले हुए हैं, उनका प्रयोग नहीं करते। उनके स्थान पर अधीनस्थ अधिकारी इन शक्तियों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार उच्च अधिकारी केवल सत्ताधारी हैं, शक्तिवान नहीं।

अधीनस्थ अधिकारी सत्ताधारी न होते हुए भी शक्तिवान हैं। मेरी पार्कर फॉलेट (Mary Parker Follett) के कथनानुसार, शक्ति साधारण रूप से कार्य करने की योग्यता होती है तथा नियन्त्रण उसे कहते हैं जिसमें शक्ति को एक विशेष लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है और सत्ता में नियन्त्रण निहित रहता है। मेरी फॉलेट ने शक्ति को आत्मविकास की सामर्थ्य (Self-development Capacity) माना है। उनका सुझाव है कि जो सत्ता मनोवैज्ञानिक रूप से विकसित नहीं की जा सकती तथा सामर्थ्य की एक अभिव्यक्ति नहीं है वह एक रिक्त नैतिकता (Empty Ethics) है। फिफनर तथा शेरवुड (Pfiffner and Sherwood) ने सत्ता और शक्ति की परिभाषा देते हुए कहा है कि औपचारिक पद-सोपान के अर्थ में सत्ता को आज्ञा देने का अधिकार समझा जा सकता है जबकि शक्ति में अपने मूल्यों और लक्ष्यों को प्राप्त करने की सामर्थ्य होती है।[1]

सत्ता और प्रभाव
(Authority & Influence)

व्यक्ति के व्यवहार पर दूसरे लोगों के अनेक प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं, लेकिन इन सभी प्रभावों को हम सत्ता नहीं कह सकते। समझाना, सुझाव देना या प्रभावित करना आदि बातें प्रभाव के रूप होती हैं जो आवश्यक रूप में सत्ता का निहित होना सिद्ध नहीं करते। सत्ता और प्रभाव के बीच के अन्तर को स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रभाव उसे कहते हैं जिसमें एक अधीनस्थ अधिकारी अपने विचाराधीन विकल्पों में से कुछ विकल्पों को इसलिए चुन लेता है कि वह आज्ञा प्राप्त करने के औपचारिक मापदण्डों को अपनी पसन्द का आधार बनाता है। सुझाव, प्रभाव और आदेश ऐसे शब्द हैं जिनके बीच स्पष्ट रूप से अन्तर नहीं किया जा सकता है। इनके अर्थों में भ्रम रहता है। इनके बीच स्पष्ट रूप से कोई विभाजक रेखा भी नहीं खींची जा सकती है।

जब कभी सुझावों को बिना किसी आलोचना या विचार-विमर्श के स्वीकार कर लिया जाता है तो उसे हम सत्तापूर्ण कार्य कहते हैं, किन्तु सत्ता का यह रूप अत्यन्त विकृत है। सत्तापूर्ण सम्बन्धों में प्रायः ऐसा होता है कि एक व्यक्ति जो एक क्षण किसी का अधीनस्थ होता है दूसरे क्षण दूसरे का उच्च अधिकारी बन जाता है। इसलिए यह एक विचारणीय प्रश्न है कि किसी को उच्च क्यों माना जाए? प्रभाव और सत्ता के संबंधों का यह अध्ययन इस बात का सूचक है कि सत्ता अपने आप में कोई अधिकार, शक्ति, सामर्थ्य या कोई प्रभाव नहीं होती परन् इसका अस्तित्व इन सबके बिना भी रह सकता है। इन तत्त्वों के बिना सत्ता का रूप बेजान शरीर की भाँति निष्क्रिय और निरर्थक होता है। वह वास्तविक तभी होती है जब इन तत्त्वों का उचित रूप से सत्ता के कानूनी रूप के साथ

1. *Pfiffner and Sherwood* : Op. cit., p. 77.

समायोजन कर दिया जाए। सत्ता के स्वरूप में उच्च अधिकारियों के आदेश इतने नहीं आते जितने अधीनस्थ अधिकारियों के व्यवहार।

सत्ता और उत्तरदायित्व

(Authority and Responsibility)

सत्ता और उत्तरदायित्व के बीच गहरा संबंध पाया जाता है। जिस किसी व्यक्ति को कुछ करने के उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं तो उसे उन उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए सत्ता सौंपना भी जरूरी हो जाता है। सत्ता के बिना उत्तरदायित्व पूरे नहीं हो सकते और उत्तरदायित्वों के बिना सत्ता एक गलत दिशा पकड़ सकती है। हरबर्ट ए. साइमन के अनुसार, सत्ता की व्यवस्था की यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है कि यह सदैव उत्तरदायित्वपूर्ण होती है। यदि उत्तरदायी व्यक्ति अपने अधिकारों का पूरी तरह या कुशलता के साथ उपयोग नहीं कर पाता तो वह अपनी सत्ता को प्रत्यायोजित कर देता है। जब सत्ता प्रत्यायोजित की जाती है तो अधीनस्थ अधिकारी की सत्ता के स्रोत उच्च अधिकारियों को यह विश्वास दिला देते हैं कि वे उनको सौंपे गए कार्यों को सन्तोषजनक रूप से पूरा करेंगे। अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा इस प्रकार के कर्तव्य की स्वीकृति उनके उत्तरदायित्वों की सूचक होती है।

सत्ता का प्रत्यायोजन (Delegation) उत्तरदायित्वों के बिना अधूरा और निष्फल रहता है। हैमेन (Haimann) के अनुसार, "उत्तरदायित्व और सत्ता की मान्यताएँ एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप में संबंधित हैं।" उत्तरदायित्व का मूल तत्त्व कर्तव्य (Obligation) होता है। *उत्तरदायित्व का अर्थ है—अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा* वह कार्य सम्पन्न करने का कर्तव्य जो उच्च अधिकारियों द्वारा चाहा जाए। यह सच है कि जब किसी व्यक्ति या संगठन को कुछ करने के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है तो उसे ऐसा करने की पर्याप्त सत्ता (Sufficient Authority) सौंपी जाती है, किन्तु प्रश्न यह है कि 'पर्याप्त सत्ता' क्या होती है? कभी-कभी यह कहा जाता है कि 'पर्याप्त सत्ता' का अर्थ है आदेश की एकता, अर्थात् एक इकाई को यह अधिकार होना चाहिए कि वह कर्मचारियों को बिना किसी प्रकार के हस्तक्षेप के कर्तव्य की ओर निर्देशित कर सके।

उत्तरदायित्वपूर्ण सत्ता का शाब्दिक अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए। किसी व्यक्ति को जब कोई उत्तरदायित्व सौंपा जाए तो उसे निभाने के लिए कोई भी, किसी प्रकार की भी और चाहे जितनी सत्ता नहीं सौंपी जा सकती। उसके अधिकारों पर कुछ सीमाएँ भी आरोपित करनी होती हैं। हम यह नहीं कह सकते हैं कि अपने कार्यों को पूरा करने के लिए वह जो चाहे, सो करे। उदाहरण के लिए, हम लोक प्रशासन में सत्ता और उत्तरदायित्व के व्यवहार को ले सकते हैं। यहाँ जब कार्यपालिका को कुछ करने के उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं तो साथ ही कुछ शक्तियाँ भी प्रदान की जाती हैं, किन्तु ये शक्तियाँ असीमित और अमर्यादित नहीं होतीं। इन पर संसद, न्यायपालिका, विरोधी दलों, लोकमत और देश के अन्य स्रोतों की अनेक सीमाएँ लगी रहती हैं। कार्यपालिका के व्यवहार पर प्रक्रिया संबंधी नियमों की भी अनेक सीमाएँ होती हैं। इन सबके अतिरिक्त एक कार्यपालिका को उसकी इकाइयों का भी पूर्ण सहयोग मिलना चाहिए और यह सहयोग केवल औपचारिक व्यवस्था द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इसके लिए अनेक अनौपचारिक तरीके अपनाने होते हैं जो कार्यपालिका के कार्यों को सीमित कर देते हैं। उत्तरदायित्व का भार, कार्य पूरा हो जाने पर जारी भी रह सकता है और समाप्त भी हो सकता है। उत्तरदायित्व की धारा में कार्यों के प्रभाव के साथ-साथ समय-समय पर मोड़ आते रहते हैं।

जब कभी सत्ता का प्रत्यायोजन किया जाता है तो उसके साथ-साथ उत्तरदायित्वों का प्रत्यायोजन भी होता है। अतः सत्ता और उत्तरदायित्व को एक ही सिक्के के दो पहलू माना जा सकता है। कुछ विचारकों का कहना है कि उत्तरदायित्व को प्रत्यायोजित नहीं किया जा सकता अर्थात् इसे अधीनस्थों को नहीं सौंपा जा सकता। एक उच्चाधिकारी, अपने अधीनस्थों को कुछ कार्य करने की शक्ति दे सकता है, लेकिन वह अपने उत्तरदायित्व को उन पर नहीं थोप सकता, किन्तु इस स्थिति में एक अधीनस्थ अधिकारी जो प्रत्यायोजित कार्य सम्पन्न कर रहा है तथा उसके पास ऐसा करने की शक्ति भी है, उत्तरदायित्व के भार से मुक्त नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा किया गया तो वह अपने कार्य को सम्पन्न नहीं कर पाएगा अपितु सत्ता का दुरुपयोग करेगा।

इस प्रकार उत्तरदायित्व के प्रमुखतः दो पहलू होते हैं—तात्कालिक उत्तरदायित्व और अन्तिम उत्तरदायित्व। तात्कालिक उत्तरदायित्व उन अधीनस्थ अधिकारियों का होता है जिनको कुछ सत्ता हस्तान्तरित (Delegate) की जाती है और कुछ कार्य करने के लिए जवाबदेह ठहराया जाता है। अन्तिम उत्तरदायित्व उन अधिकारियों का होता है जो उच्चतर पद पर हैं तथा जिनके द्वारा शक्तियाँ प्रत्यायोजित की जाती हैं। तात्कालिक उत्तरदायित्व मात्र उसके प्रति होता है जिसने शक्तियाँ प्रत्यायोजित की हैं। यदि अधीनस्थ अधिकारी प्रत्यायोजित शक्तियों का उचित रूप से उपयोग नहीं कर पाते तो उनसे वे शक्तियाँ छीनी जा सकती हैं तथा उनके विरुद्ध अन्य कार्यवाही भी की जा

सकती है। यह एक संगठन का आन्तरिक मामला होता है कि तात्कालिक उत्तरदायित्वों की अवहेलना पर क्या कार्यवाही की जाए ?

संगठन के बाहर के लोग संगठन से संबंधित प्रत्येक अच्छे या बुरे कार्य के लिए उच्च अधिकारी को ही उत्तरदायी मानते हैं, क्योंकि अन्तिम उत्तरदायित्व उसी पर रहता है। उदाहरण के लिए हम मन्त्री और विभागाध्यक्षों को ले सकते हैं। जब एक विभाग विशेष में कोई अनियमितता होती है, अपव्यय होता है, गबन होता है, जनहित का कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता है या अन्य कोई गलती होती है तो उसके लिए हम मन्त्री को ही दोषी ठहराते हैं, क्योंकि संविधान ने उस विभाग से संबंधित उत्तरदायित्व और सत्ता पूरी तरह से उसी को सौंपी है, यद्यपि तथ्य यह है कि कई बार मन्त्री को अपने विभाग की गतिविधियों का पता भी नहीं होता। अन्तिम रूप से उत्तरदायी होने के कारण विभाग से संबंधित सभी प्रश्नों का मन्त्री को ही उत्तर देना पड़ता है। मन्त्री किसी भी स्थिति में अपने इस उत्तरदायित्व का प्रत्यायोजन (Delegation) नहीं कर सकता।

जब कभी उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थों को सत्ता का प्रत्यायोजन करता है तो वह स्वयं को मुक्त महसूस नहीं कर सकता। उसके ऊपर प्रत्यायोजन के कारण कुछ नवीन कार्यों का उत्तरदायित्व और आ जाता है। उदाहरण के लिए, उसे उन अधीनस्थों के ऊपर लगातार अधीक्षण (Supervision), निर्देशन (Direction) और नियंत्रण (Control) रखना होता है जिनको सत्ता हस्तान्तरित की गई है। न्यूमैन का कथन है कि कई बार हस्तान्तरित सत्ता (Delegated Authority) का भी हस्तान्तरण कर दिया जाता है। इस प्रकार का हस्तान्तरण सही रूप में हस्तान्तरण नहीं माना जा सकता और न ही वह अधीनस्थ अधिकारियों को कुछ उत्तरदायित्व सौंपता है। ऐसी स्थिति में प्रत्यायोजन करने वाले व्यक्ति को अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यों को प्रभावशाली बनाने के लिए लगातार देख-रेख करनी होती है। यद्यपि यह सच है कि प्रत्यायोजन द्वारा उत्तरदायित्व न तो समाप्त होता है और न परिवर्तित होता है तथापि कुछ व्यावहारिक स्थितियों के कारण उत्तरदायित्वों का प्रत्यायोजन कर दिया जाता है। हेमैन (Haimann) के मतानुसार, प्रत्यायोजन और पुनर्प्रत्यायोजन (Delegation and Re-delegation) कार्यपालिका को सौंपे गए बड़े-बड़े कार्यों की सम्पन्नता के लिए आवश्यक है।

उत्तरदायित्व और सत्ता के बीच सम्बन्धों के बारे में एक ध्यान रखने योग्य बात यह है कि इन दोनों का अनुपात बराबर होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि एक अधीनस्थ को इतनी शक्ति सौंप दी जाए कि वह अपने सभी कर्त्तव्यों तथा अंगीकृत उत्तरदायित्वों को ठीक प्रकार से पूरा कर सके। इसलिए यदि आप किसी को उत्तरदायी बनाना चाहते हैं तो उसे कर्त्तव्यों का निर्वाह करने की सत्ता दी जानी चाहिए। सत्ता और उत्तरदायित्व की मात्रा में असमानता होने पर कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। यदि सत्ता कम और उत्तरदायित्व अधिक हुए तो वे पूरे नहीं होंगे। दूसरी ओर, यदि सत्ता अधिक और उत्तरदायित्व कम हुए, तो सत्ता के दुरुपयोग की सम्भावना होगी। हेमैन के अनुसार, "प्रत्यायोजित सत्ता और उत्तरदायित्व के बीच असमानता अनचाहे परिणाम उत्पन्न करती है।"[1]

यद्यपि एक संगठन में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जब निम्न अधिकारी हस्तान्तरित शक्ति के साथ कोई उत्तरदायित्व न लेना चाहे, तथापि सत्ता और उत्तरदायित्व की समान मात्रा का सिद्धान्त सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है। उर्विक (Urwick) ने उत्तरदायित्व और सत्ता में समानता के सिद्धान्त को इस आधार पर चुनौती दी है कि कई बार व्यक्तियों को ऐसी स्थिति में डाल दिया जाता है जबकि वे उत्तरदायी तो बना दिए जाते हैं, किन्तु सत्ता नहीं रख सकते।[2] सत्ता और उत्तरदायित्व के बीच समान मात्रा का सिद्धान्त न्यूमैन के अनुसार एक बुरा सिद्धान्त है जो अनेक गलतफहमियाँ पैदा कर सकता है।[3] सत्ता के रूप एवं प्रयोग पर अनेक बाह्य परिस्थितियों की सीमाएँ तथा आन्तरिक बाधाओं के बंधन रहते हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक उत्तरदायी व्यक्ति को समान उत्तरदायित्व नहीं सौंपे जा सकते। कई उत्तरदायित्वों की प्रकृति ऐसी होती है जिनमें सत्ता की आवश्यकता नहीं रहती और होती है तो सत्ता प्राप्त नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए आपका यह एक नागरिक उत्तरदायित्व (Civic Responsibility) हो सकता है कि अपने पड़ोसियों की सुख-सुविधा के लिए कार्य करें, किन्तु यह उत्तरदायित्व आपको कुछ शक्ति नहीं सौंपेगा। इसके नाम पर आप स्थानीय सरकार में कोई पद प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

उत्तरदायित्वों के कुछ विस्तृत रूप भी होते हैं। इसका एक नैतिक क्षेत्र भी होता है जिसमें हम उत्तरदायित्वों को अधिक से अधिक लेने में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं और उसके लिए सत्ता की आकांक्षा नहीं करते। जनरल क्ले (General Clay) के विचार में उत्तरदायित्व के इसी रूप की अनुभूति होती है। वे एक ऐसे

1 *Haimann*: Op cit, p. 58
2 *L. Urwick*: Notes on the Theory of Organisation, pp. 51-52.
3 *Newman*: Administrative Action, pp. 1-4

व्यक्ति की मित्रता में सन्तोष का अनुभव करते हैं जो अपने उत्तरदायित्वों को निरन्तर व्यापक बनाना चाहता है। नैतिक रूप में उत्तरदायित्व का कुछ भी अर्थ लिया जा सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि उत्तरदायित्व और समान मात्रा का सिद्धान्त कोई महत्व नहीं रखता। हैमेन (Haimann) के अनुसार, सत्ता और उत्तरदायित्व की मान्यताएँ परस्पर घनिष्ठ रूप से इतनी सम्बन्धित हैं कि जब तक दोनों की मात्रा समान न हो, सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए प्रत्यायोजन की संपूर्ण प्रक्रिया प्रभावहीन हो जाती है।

उत्तरदायित्व के अन्य रूपों को हम आश्रय के आधार पर विभाजित कर सकते हैं। इस प्रकार के विभाजन के लिए यह देखना जरूरी है कि उत्तरदायित्व एक व्यक्ति में निहित है अथवा अनेक व्यक्तियों में। लोक प्रशासन में समितियों (Committees), मंडल (Boards), निगमों (Corporations) आदि के अधिकाधिक प्रयोग के कारण सत्ता का केन्द्र एक व्यक्ति न होकर एक समूह को बनाया जाता है। ऐसी स्थिति में सम्पन्न किए जाने वाले कार्यों के लिए किसी एक व्यक्ति को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता और संगठन में होने वाली गलतियों तथा अनियमितताओं के लिए कोई एक व्यक्ति दोषी नहीं माना जा सकता। इन उदाहरणों में उत्तरदायित्व का रूप व्यक्तिगत रूप से भिन्न है तथा इसको सम्मिलित उत्तरदायित्व (Joint Responsibility) का नाम दिया जाता है।

सम्मिलित उत्तरदायित्व व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की अपेक्षा कई कारणों से अधिक उपयुक्त समझा जाता है। इस प्रकार के उत्तरदायित्व में सत्ता का प्रयोग पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद होता है, इसलिए कार्य ठीक ढंग से होते हैं और सत्ता का दुरुपयोग नहीं हो पाता। संगठन जातिवादी कार्य करने में अधिक सफल हो सकता है क्योंकि सम्मिलित उत्तरदायित्व की व्यवस्था से कोई भी एक व्यक्ति शक्तियों का प्रयोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थ साधन के लिए नहीं कर सकता। सम्मिलित उत्तरदायित्व की व्यवस्था में जो निर्णय लिए जाते हैं उनके प्रति अधीनस्थ कर्मचारियों की अधिक श्रद्धा और सद्भावना रहती है, क्योंकि वे यह जानते हैं कि ये निर्णय अनेक व्यक्तियों की एक लंबी दिमागी कसरत के परिणाम हैं।

सम्मिलित उत्तरदायित्व की व्यवस्था को दोषों से मुक्त नहीं समझा जा सकता। इसमें वे अनेक लाभ नहीं होते जो व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की विशेषता समझे जाते हैं। उदाहरण के लिए, जब किसी कार्य के लिए हम एक व्यक्ति को उत्तरदायी ठहरा देते हैं तो वह कार्य जल्दी सम्पन्न हो सकता है और उसमें उत्तरदायी व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत रुचि का प्रयोग कर सकता है। ये तीनों ही बातें सम्मिलित उत्तरदायित्व की व्यवस्था में प्रायः नहीं पाई जातीं।

सत्ता और जवाबदेयता

(Authority and Accountability)

जवाबदेयता (Accountability) और उत्तरदायित्व (Responsibility) बहुत कुछ समानार्थक से शब्द हैं, जिनको प्रायः एक-दूसरे के लिए भी प्रयुक्त कर दिया जाता है। 'जवाबदेयता' शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से सैनिक संगठनों में किया जाता है और इस अर्थ में जवाबदेही होने का अर्थ है—सही-सही और पर्याप्त रिकार्ड रखकर जन-सम्पत्ति की सुरक्षा करना। अनेक लेखकों ने जवाबदेयता और उत्तरदायित्व के बीच भेद दिखाने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए, पीटरसन और प्लोमैन (Peterson and Plowman) के अनुसार जवाबदेही होने का अर्थ है पूरे किए गए अथवा न किए गए कर्तव्यों के लिए उत्तरदायी (Answerable) होना।[1]

जवाबदेयता की मान्यता उत्तरदायित्व की व्यवस्था में अपने-आप निहित हो जाती है। दोनों के बीच मुख्य अन्तर यह माना जा सकता है कि उत्तरदायित्व में नैतिकता (Morality) का पुट रहता है तथा यह नीति-शास्त्र के क्षेत्र में भी अपना प्रभाव रखती है। दूसरी ओर जवाबदेयता एक कानूनी मान्यता है जिसका संबंध प्रशासकीय क्रियाओं से अधिक है और जो नियन्त्रण की योजना के एक भाग के रूप में भी कार्य करती है। सत्ता और जवाबदेयता का निकट संबंध होता है। सत्ता के दो रूप होते हैं। पहले रूप में वह पूरी तरह से औपचारिक और कानूनी होती है और दूसरे रूप में वह अनौपचारिकताओं तथा बाह्य प्रभावों से निश्चित होती है। सत्ता का पहला रूप जवाबदेयता से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है जबकि उसके दूसरे रूप में उत्तरदायित्व समन्वित रहता है। किसी संगठन में अधिकारियों की जवाबदेयता ही उसे शक्तिशाली रूप प्रदान करती है।

सत्ता के कार्य

(Functions of Authority)

सत्ता का महत्व एक साधन के रूप में है, जिनका प्रयोग किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है। जब एक समूह के कार्यों का समन्वय करने के लिए सत्ता का साधन के रूप में उपयोग किया जाता है तो सत्ता मुख्य रूप से तीन प्रकार के कार्य करती है जिनका हरबर्ट ए. साइमन ने इस प्रकार उल्लेख किया है—

1. *Elmore Peterson and E. Grosvenor Plowman*, Business Organization and Management, p. 104.

1. यह उन लोगों को कुछ उत्तरदायित्व सौंपती है जो सत्ता का प्रयोग करते हैं।
2. यह निर्णय लेने में विशेषज्ञता को काम में लाती है।
3. यह क्रियाओं के बीच समन्वय स्थापित करती है।

सत्ता के राजनीतिक एवं कानूनी पहलुओं पर लिखने वाले विचारकों ने इस बात पर जोर दिया है कि सत्ता का मुख्य कार्य यह है कि वह व्यक्तिगत कार्यों की समाज द्वारा स्थापित आदर्शों के साथ एकरूपता स्थापित करती है। उदाहरण के लिए व्यवस्थापिका के कानूनों को लिया जा सकता है। व्यवस्थापिका के कानून केवल उच्च द्वारा नियुक्त प्रशासकीय पदसोपान द्वारा ही स्वीकृत नहीं माने जाते, अपितु उल्लंघन की स्थिति में उन सभी व्यक्तियों द्वारा माने जाते हैं जो इस कार्यक्षेत्र से सम्बद्ध हैं, जब कभी इनका उल्लंघनकर्ता सदस्य के विरुद्ध दबावों (Sanctions) का प्रयोग किया जा सकता है। यह सच है कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अनेक सामाजिक संस्थाओं के केन्द्र में सत्ता की व्यवस्था निहित रहती है तथा साथ ही उसे लागू करने वाले दबाव भी रहते हैं। इसके लिए राज्य को सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण माना जाता है। वैसे सम्पत्ति का कानून, धार्मिक संस्थाएँ और परिवार भी बहुत-कुछ इसी श्रेणी में आते हैं।

जब सत्ता का उत्तरदायित्व लागू करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है तो इस प्रक्रिया में सम्भवतः दबाव एक केन्द्रीय अभिनय प्रस्तुत करता है। दबावों के बिना सत्ता प्रायः प्रभावहीन एवं महत्त्वहीन हो जाती है। जब भी हम इन किसी की आज्ञाओं का पालन करते हैं तो चेतन अथवा अचेतन रूप से हमारे दिल में उन दबावों का भय रहता है जिनको आज्ञापालन न करने पर हमारे विरुद्ध प्रयोग में लाया जा सकता है। एक सत्ता के दबावों का रूप नैतिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, कानूनी अथवा अन्य किसी प्रकार का हो सकता है। इन दबावों के भय से ही समाज में ऐसी परम्पराएँ स्थापित हो जाती हैं जिनके फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति यह विश्वास करने लगता है कि उसे सत्तापूर्ण संस्थाओं द्वारा बनाये गए कानूनों का पालन करना चाहिए और उसे दूसरों के अधिकारों को मान्यता देनी चाहिए। सत्ता और उत्तरदायित्व के संबंधों की केवल दबावों के माध्यम से वर्णित नहीं किया जा सकता, फिर भी यह एक तथ्य है कि सत्ता अपने अधिकार-क्षेत्र में आने वाले व्यक्तियों को उत्तरदायी बना देती है।

सत्ता का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि इसके द्वारा जो निर्णय लिए जाते हैं उनमें उच्च-स्तर की बुद्धि का प्रयोग किया जाता है और वे अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। सत्ता का प्रयोग करते समय एक संगठन के उच्च अधिकारी अपने विशिष्ट ज्ञान का सहारा लेते हैं। प्रशासकीय कुशलता के लिए विशेषीकरण नैतिक रूप से महत्त्वपूर्ण विषय है। इसके द्वारा संगठन के प्रयासों का परिणाम कई गुना हो जाता है। विशेषीकरण एक ही साथ कार्यों की प्रक्रिया से सम्बन्धित होता है और वह निर्णय भी लेता है। बड़े संगठनों में विशिष्ट ज्ञान का लाभ प्राप्त करने के लिए संगठन के कार्यों को विभिन्न भागों में बाँट दिया जाता है तथा यह व्यवस्था की जाती है कि जिस कार्य में एक विशेष योग्यता की आवश्यकता है उसे योग्यता प्राप्त व्यक्तियों द्वारा ही पूरा किया जाए। इसी प्रकार निर्णय लेने की प्रक्रिया में भी विशेषज्ञता का लाभ प्राप्त करने के लिए निर्णय लेने का उत्तरदायित्व यथासम्भव इस प्रकार दिया जाता है कि जिन निर्णयों में विशेष ज्ञान और कुशलता की आवश्यकता होती है वे विशेषज्ञता प्राप्त व्यक्तियों द्वारा ही लिए जाएँ। इसीलिए एक संगठन के निर्णयों को अनेक भागों में विभाजित कर दिया जाता है और संगठन के प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी भाग के साथ सम्मिलित कर दिया जाता है।

किसी संगठन में विशेषज्ञता का लाभ प्राप्त करने के लिए एक मौलिक कदम यह उठाया जा सकता है कि विशेषज्ञ को सत्ता के औपचारिक पद-सोपान में उच्च-स्तर प्रदान कर दिया जाए, अर्थात् उसे एक ऐसी कुर्सी पर बैठा दिया जाए जहाँ से उसके निर्णयों को संगठन के दूसरे सदस्य स्वीकार कर सकें। जिन संगठनों को प्रक्रिया (Process) के आधार पर गठित किया जाता है उनमें यह गुण अपने-आप आ जाता है।

साइमन का मत है कि निर्णय लेने में सभी प्रकार की विशेषज्ञता का लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि सत्ता को औपचारिकता से मुक्त किया जाए। दबावों की सत्ता (Authority of Sanctions) की भाँति विचारों की सत्ता (Authority of Ideas) को भी संगठन का समन्वय करते समय महत्त्व दिया जाना चाहिए।[1] संगठन के सोपान में उच्च अधिकारी को साधारण रूप से उसकी स्थिति के कुछ लाभ रहते हैं जैसे अपने अधीनस्थों की समस्त सूचनाएँ उसके पास रहती हैं। यह लाभ किस सीमा तक वास्तविक है और किस सीमा तक काल्पनिक है यह बात बहुत कुछ इस तथ्य पर निर्भर करती है कि उस संगठन में संचार की व्यवस्था का रूप क्या है? इस

1. *Simon*: Op. cit., p. 138.

प्रकार हम देखते हैं कि सत्ताधारी व्यक्ति अपनी सत्ता के आधार पर संगठन में दो प्रकार से विशेषज्ञता का लाभ पहुँचा सकता है। प्रथम, यदि वह स्वयं एक विशेषज्ञ है तथा तकनीकी मामलों में दखल रखता है तो उसके आदेशों का संगठन के अन्य सदस्यों द्वारा सहज ही पालन किया जाएगा। द्वितीय, यदि ऐसा नहीं है तो वह विशेषीकरण के आधार पर संगठन का विभाजन कर सकता है और निर्णय लेने का अधिकार ऐसे लोगों को सौंप सकता है जिनमें पर्याप्त योग्यता और कुशलता हो।

सत्ता का एक तीसरा कार्य यह है कि इसके द्वारा संगठन में समन्वय स्थापित किया जाता है। सत्ता की तुलना एक मानव शरीर से करते हुए कुछ विचारक यह मानते हैं कि जिस तरह मस्तिष्क शरीर के अन्य भागों को निर्देशित करता है और बदले में उनसे उनके कार्यों की सूचनाएँ प्राप्त करता है, उसी प्रकार संगठन में एक सत्ताधारी व्यक्ति का यह प्रमुख कर्तव्य होता है कि अन्य सदस्यों को वह आवश्यक निर्देश और आदेश देता रहे तथा उन सदस्यों से संगठन की गतिविधियों का परिचय प्राप्त करता रहे। जिस प्रकार मानव मस्तिष्क शरीर के अंगों की क्रियाओं के बीच में समन्वय स्थापित करता है उसी प्रकार संगठन में सत्ताधारी व्यक्ति संगठन की विभिन्न क्रियाओं को समन्वित करता है। प्रत्येक संगठन में उसके लिए कार्यों की एक योजना विकसित कर दी जाती है और इसे संगठन के प्रत्येक सदस्य तक पहुँचा दिया जाता है।

संगठन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह होता है कि इस योजना को सदस्यों द्वारा स्वीकार कराया जाए। स्वीकृति के इस कार्य में सत्ता महत्त्वपूर्ण योगदान करती है। समन्वय की स्थापना तभी हो सकती है जबकि एक व्यक्ति द्वारा संगठन के अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों को ध्यान में रखकर व्यवहार किया जाए। यहाँ सत्ता के दो कार्यों—विशेषज्ञता की प्राप्ति और समन्वय की स्थापना—के बीच अन्तर जान लेना उपयोगी है। वैसे इन दोनों का संबंध निर्णय लेने की प्रक्रिया से है। विशेषज्ञता की प्राप्ति का प्रयत्न इसलिए किया जाता है ताकि अच्छे निर्णय लिए जा सकें जबकि समन्वय का लक्ष्य एक ही निर्णय को संगठन के सभी सदस्यों द्वारा स्वीकार करना होता है।

समन्वय का महत्त्व बताते हुए साइमन ने लिखा है कि मान लीजिए दस व्यक्ति एक नाव बनाने के कार्य का निर्णय लें और साथ मिलकर कार्य करें। अगर उनमें से प्रत्येक की अपनी योजना है और कोई भी अपनी योजना को दूसरे को बताना महत्त्वपूर्ण नहीं समझता तो इसमें संदेह है कि उनके कार्यों का वांछनीय परिणाम होगा। सत्ता का महत्त्व इस बात में है कि उसके द्वारा एक केन्द्र-बिन्दु का कार्य किया जा सकता है। वह सूर्य की भाँति आकर्षण का ऐसा केन्द्र हो सकता है जिसके चारों ओर संगठन की सभी इकाइयाँ ग्रहों की तरह चक्कर लगाएँ। जब एक व्यक्ति सत्ता का प्रयोग करता है तो उसमें निर्णय लेने की शक्ति केन्द्रित हो जाती है और इस प्रकार वह कार्यों की एक सामान्य योजना बना सकता है जिसके द्वारा संगठन के अन्य सदस्यों के कार्यों को प्रशासित किया जा सके। समन्वय प्रक्रिया संबंधी भी हो सकता है और मूल तत्त्व संबंधी भी। साइमन के अनुसार एक स्वचालित फैक्ट्री में एक संगठन का ढाँचा प्रक्रिया संबंधी समन्वय का एक पहलू है जबकि निर्माण की जाने वाली कार के इंजन का पूर्वरूप उसके मूल तत्त्व संबंधी समन्वय का तत्त्व है।[1]

सत्तापालन के आधार

(The Bases of Authority)

इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि लोग सत्ता का पालन क्यों करते हैं? साथ ही यह प्रश्न भी उठता है कि अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी कार्य को एक व्यक्ति क्यों करता है? *इन प्रश्नों के संदर्भ में वे अनेक लक्ष्य हैं जो व्यक्ति को ऐसा करने के लिए प्रेरित करते हैं। इन लक्ष्यों के आधार पर सत्ता-सम्बन्धों* (Authority Relations) को अनेक भागों में बाँटा जा सकता है। हरबर्ट ए साइमन आदि ने इन विभिन्न प्रकार की सत्ताओं को मुख्य रूप से चार भागों में विभाजित किया है—विश्वास (Confidence), एकरूपता (Identification), दबाव (Sanctions) और वैधानिकता (Legitimacy)। कोई भी व्यक्ति इन चार कारणों से ही किसी की आज्ञा का पालन करता है।

1. विश्वास की सत्ता (The Authority of Confidence)

एक व्यक्ति उस व्यक्ति के प्रस्तावों को स्वीकार करता है जिसमें उसका गहरा विश्वास होता है। संगठन में कुछ व्यक्ति अपने अतीत के कार्यों, सम्मान या प्रतिष्ठा तथा अन्य तत्त्वों के आधार पर बहुत प्रभाव या सत्ता प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे लोगों के प्रस्तावों को बिना किसी विश्लेषण के प्रायः स्वीकार कर लिया जाता है। जब कभी इन

1 *Simon* Op. cit., p 138

लोगों के प्रस्तावों को अस्वीकार किया जाता है तो इसका कारण प्रायः यह होता है कि किसी प्रभावशाली सत्ता ने उसका विरोध किया था। विश्वास की सत्ता व्यक्ति के सम्मान के क्षेत्र तक सीमित रहती है। कई बार मन्त्री अपने सचिवों द्वारा प्रस्तुत किए गए कागजों पर बिना सोचे-विचारे ही हस्ताक्षर कर देते हैं क्योंकि उनको यह विश्वास होता है कि उस क्षेत्र में सचिव अच्छे निर्णय लेने की योग्यता रखता है। इस प्रकार यहाँ सचिव अपने नियुक्तिकर्ता पर सत्ता का प्रयोग कर रहा है। कई बार संगठन के बाहर के लोगों में इतना विश्वास होता है कि उनके निर्णयों को संगठन द्वारा सत्ता प्रदान कर दी जाती है।

विश्वास प्रायः स्तर (Status) के व्यक्तियों पर ही किया जाता है। इस स्तर के दो आधार होते हैं—प्रथम है पद-सोपान में व्यक्ति का स्थान और दूसरा है कार्यों में उसकी योग्यता। पद-सोपान के स्तर का सत्ता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। अधीनस्थ अधिकारी प्रायः यह सोचते हैं कि उनसे उच्च अधिकारियों में अनुभव और निर्णय लेने की योग्यता अधिक है, इसलिए वे उनकी आज्ञाओं को स्वीकार कर लेते हैं। एक व्यक्ति में प्रभावशाली नेतृत्व का गुण अन्य लोगों के मन में उसके प्रति विश्वास के भाव जाग्रत कर देता है। मैक्स वेबर (Max Weber) के मतानुसार नेतृत्व के उत्कृष्ट गुणों वाले व्यक्ति अपने अनुयायियों पर जिस सत्ता का प्रयोग करते हैं वह एक प्रकार का करिश्मा (Charisma) होती है। करिश्मा को समझने के लिए हमें विश्वास की सत्ता का एकरूपता के साथ संयोग करना होगा। विश्वास पर आधारित यह सत्ता हमारे प्रतिदिन के जीवन का एक अविच्छिन्न अंग होती है।

2. एकरूपता की सत्ता (The Authority of Identification)

एकरूपता और सत्ता का सम्बन्ध मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है। प्रथम तो अधिकांश व्यक्ति अनेक मामलों में समूह के ऐसे निर्णयों को स्वीकार कर लेते हैं जिनके साथ वे दृढ़ता से एकरूप रहते हैं। द्वितीय, संगठन के सदस्यों द्वारा किए जाने वाले प्रस्ताव प्रायः उन प्रस्तावों की अपेक्षा अधिक स्वीकृति प्राप्त कर लेते हैं जो बाहर के लोगों द्वारा किए जाते हैं। इस तथ्य के आधार पर ही कई बार दबाव (Pressures) की तकनीकों को लागू किया जाता है। जब कभी हम किसी संगठन से अपनी बात मनवाना चाहें तो इसके लिए यह उपयोगी रहेगा कि संगठन के ही किसी व्यक्ति द्वारा उनको कहलवाया जाए। मानव-स्वभाव की विशेषता है कि वह उन लोगों की राय को, विचारों को और सुझावों को अधिक महत्व देता है जो उससे कुछ एकरूपता रखते हैं; अर्थात् या तो उसके संगठन के सदस्य हैं या उसके व्यावसायिक बन्धु हैं या उनके सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक विचार तथा विश्वास एक से हैं।

3. दबावों की सत्ता (The Authority of Sanctions)

लोग अपने उच्च अधिकारियों अथवा किसी भी व्यक्ति के सुझावों, आज्ञाओं या निर्देशों को क्यों स्वीकार करते हैं? कई बार यह कहा जा सकता है कि ऐसे अनेक दबाव होते हैं, जो व्यक्ति को ऐसा करने के लिए बाध्य करते हैं। दबावों के दोनों ही रूप हो सकते हैं अर्थात् वे आज्ञापालन न करने वाले को दण्ड दे सकते हैं और करने वाले को पुरस्कृत कर सकते हैं। हरबर्ट ए. साइमन के अनुसार, सर्वोच्च (Superior) का विश्वसनीय हथियार दबाव है। दबाव का अर्थ है—सर्वोच्च की वह योग्यता जो अधीनस्थों के कार्यों के साथ अच्छे या बुरे परिणामों को सलग्न कर देती है।[1] दबाव के अनेक रूप होते हैं जिनका लक्ष्य और परिणाम एकसा होते हुए भी साधन अलग-अलग होते हैं। प्रत्येक प्रशासनीय संगठन समाज के केन्द्रीय दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति करता है। यही कारण है कि एक प्रजातन्त्रात्मक समाज में प्रशासन बहुत कुछ प्रजातन्त्रात्मक होगा और सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) समाज में उसका रूप सत्तावादी होगा। साइमन ने अपने अध्ययन के आधार पर दबावों को मुख्य रूप से निम्नांकित पाँच भागों में विभाजित किया है[2]—

1. सामाजिक दबाव—सबसे पहला दबाव, जो सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, सामाजिक दबाव है। कुछ सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जो व्यक्ति के व्यवहार को, उसकी आज्ञाकारिता की प्रवृत्तियों को तथा सत्ता के प्रति उसकी भावनाओं को एक विशेष रूप देने में बहुत प्रभावित करती हैं। यदि एक संगठन का व्यक्ति इन सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप अपने आपको नहीं ढालता तो कुछ समय पश्चात् उसके साथियों द्वारा उसके व्यवहार की आलोचना, अवहेलना और निंदा की जाती है तथा वह अपने दिल में एक घुटन-सी महसूस करता है। एक देश के सामाजिक वातावरण तथा परम्पराओं द्वारा यह निश्चित होता है कि उसके सदस्य संगठन में रहकर उच्च अधिकारियों की आज्ञा के प्रति कैसी प्रतिक्रिया करेंगे।

1. *Simon, Smithburg and Thompson* : Public Administration, p. 194.
2. *Herbert A. Simon* : Administrative Behaviour, pp. 131–133

2. मनोवैज्ञानिक दबाव—सत्तापूर्ण सम्बन्धों का निर्णय करने में मनोवैज्ञानिक दबाव भी महत्वपूर्ण रूप से प्रभाव डालते हैं। लोगों में मनोवैज्ञानिक आधार पर अनेक विभिन्नताएँ होती हैं। जब आज्ञा देने वाले और पालन करने वाले के बीच मनोवैज्ञानिक अन्तर रहते हैं तो सत्ता का प्रयोग अपनी प्रभावशीलता खो देता है। इसके विपरीत नेता और अनुयायी के बीच जब मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों की समरूपता होती है तो सत्ता का प्रभाव वास्तविकता ग्रहण कर लेता है।

3. संगठन का लक्ष्य—संगठन के लक्ष्य को भी प्राय एक महत्वपूर्ण दबाव माना जाता है। अनेक संगठनों में कार्यकुशलता केवल इसलिए रह पाती है क्योंकि उनके सदस्य संगठन के लक्ष्यों के प्रति समर्पण की भावना रखते हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने को तैयार रहते हैं। प्राय संगठन का एक सदस्य आदेशों का अनुपालन इसलिए करता है क्योंकि वह सोचता है कि इससे सामन्जस्य कायम हो सकेगा और लक्ष्यों को प्राप्त करने में सुविधा रहेगी। इस प्रकार का दबाव तभी प्रभावी हो सकता है जबकि उसमें कुछ शर्तों को पूरा किया गया हो, जैसे—अधीनस्थों को यह विश्वास हो कि आज्ञा उस लक्ष्य को आगे बढ़ाने के लिए दी जा रही है जिसमें वह स्वयं सहानुभूति रखता है। दूसरे, उसे यह भी विश्वास होना चाहिए कि वह आज्ञा इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रभावशील रहेगी।

4. आर्थिक सुरक्षा एवं स्तर—इस प्रकार के दबावों का वर्णन करते हुए साइमन ने कार्य, आर्थिक सुरक्षा एवं स्तर के सम्बन्धों का विवरण दिया है। इन सम्बन्धों पर आधारित दबावों को वह अधिक औपचारिक मानता है। आज्ञाओं का पालन इसलिए किया जाता है कि स्थिति को यथास्थित रखा जा सके, अधिक वेतन प्राप्त किया जा सके या दूसरे ऐसे ही लाभ प्राप्त किये जा सकें। अनेक संगठनों में जहाँ सदस्य अपनी पदोन्नति में रुचि नहीं लेते वहाँ इस प्रकार के दबावों का महत्व घट जाता है।

5. उदासीनता—कई बार संगठनों में ऐसे व्यक्ति भी आ जाते हैं जो संगठन के कार्यों में, उसके उद्देश्यों में या अपनी पदोन्नति में कोई रुचि नहीं लेते। अपने इस अरुचिपूर्ण व्यवहार के कारण ही वे सत्ताधारी की आज्ञाओं को तथा निर्णयों को स्वीकार कर लेते हैं। अनेक लोगों की यह प्रकृति होती है कि वे अपने लिए खुद निर्णय नहीं लेना चाहते और दूसरों द्वारा लिए गए निर्णय को, यदि वे अधिक अरुचिपूर्ण नहीं हों, तो स्वीकार कर लेते हैं। यह बात प्रायः उन व्यक्तियों पर अधिक लागू होती है जो निर्णय लेने के क्षेत्र में अधिक प्रशिक्षित एवं योग्य नहीं होते। उनको यह डर रहता है कि यदि गलत निर्णय ले लिया गया तो उसके बुरे परिणामों का दोष उसके सर पड़ेगा। इस भय का अनुपात एवं प्रभाव व्यक्ति के चरित्र के अनुसार बदलता रहता है। कुछ लोग, जो उत्साह एवं जोखिम उठाने के लिए तैयार रहते हैं, इस प्रकार की आशंकाओं से अधिक त्रस्त नहीं रहते तथा दूसरे व्यक्तियों के निर्णयों को ज्यों का त्यों स्वीकार करने की अपेक्षा उनमें या तो कुछ संशोधन करना चाहते हैं अथवा उनको पूर्णरूप से अस्वीकार कर देते हैं।

दबावों के उक्त रूपों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार भी होते हैं जिनका आधार निर्णय लेने वाले उच्च पदाधिकारी अथवा उनको क्रियान्वित करने वाले अधीनस्थ पदाधिकारी दोनों ही ले सकते हैं। पदसोपान के बाहर के लोगों द्वारा भी उच्च अधिकारियों की सत्ता पर अनेक प्रकार से दबाव डाले जा सकते हैं। इन दबावों के द्वारा उनके निर्णयों को प्रभावित किया जाता है। पद-सोपान के निम्न अधिकारी हड़ताल की धमकी द्वारा अपनी माँगों को पूरा करने के निश्चय के कारण ऐसे निर्णय लेने को बाध्य हो सकते हैं जिन्हें वे स्वेच्छा से नहीं लेना चाहते। संगठन के बाहर के दबाव भी कई बार अधिकारियों को मानने पड़ जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक संगठन का उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थ की पदोन्नति न करना चाहे तथा अपने कार्य को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए अपने तर्क प्रस्तुत करे तो यह हो सकता है कि अधीनस्थ अधिकारी उसकी अपील के रूप में लोक सेवा आयोग या इसी प्रकार के अन्य सम्बन्धित कार्यालयों एवं अधिकारियों का ध्यान अपनी समस्या पर आकर्षित करे। यद्यपि इस प्रकार की कार्यवाहियाँ संगठन के कार्यों पर गलत प्रभाव डालती हैं, फिर भी सत्ताधारी के निर्णय प्रभाव डालने वाले तत्वों के रूप में इनका महत्व है।

4. वैधानिकता की सत्ता (The Authority of Legitimacy)

सत्ता की आज्ञाओं को मानने तथा उसके अनुसार व्यवहार करने का एक अन्य कारण यह होता है कि लोग सत्ता के वैधानिक रूप को मान्यता प्रदान करते हैं। नियमों के अनुसार जो व्यवस्था कायम कर दी गई है उसके आधार पर कार्य करके वे अपने आपको खेल के नियमों के अनुरूप ढालने का प्रयास करते हैं। व्यक्ति ज्यों-ज्यों वयस्कता की ओर बढ़ता जाता है, वह समाज के मूल्यों, विश्वासों एवं परम्पराओं के अनुसार अपने चरित्र को

ढालता जाता है, व्यक्ति प्रायः इस मूल्य को अपनी उम्र के प्रारम्भिक वर्षों में ही अपना लेते हैं कि हमेशा निर्धारित नियमों के अनुसार ही व्यवहार करना चाहिए। यदि वह नियमों के पक्ष में नहीं है तो भी उसे प्रयास करना चाहिए कि वह अपने व्यवहार को उनसे समायोजित करे।

जब एक व्यक्ति किसी संगठन में नया आता है तो वह संगठन की प्रक्रिया के तरीके के अनुसार ही कार्य करने का प्रयास करता है। संगठन में कार्य करने की प्रणाली उसे यह बता देती है कि कार्य किस प्रकार किया जाएगा, आने वाली समस्याओं का समाधान कैसे होगा, झगड़ों को किस प्रकार सुलझाया जाएगा आदि। संगठन की प्रक्रिया के नियमों में यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि किसी मामले पर एक व्यक्ति को किस व्यक्ति या संगठन के सुझाव मानने चाहिए, किस इकाई से परामर्श लेना चाहिए, कार्य करते समय किससे सहायता लेनी चाहिए तथा उसे किस प्रकार कार्य करना चाहिए आदि। इन सभी नियमों का पालन करने की प्रवृत्ति व्यक्ति के हृदय में सत्ता के प्रति आदर के भाव पैदा कर देती है। इस प्रकार साइमन आदि के अनुसार, संगठन में व्यक्ति दूसरे लोगों की सत्ता को इसलिए भी स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि वे सोचते हैं कि उनको स्वीकार कर लेना चाहिए।[1]

समाज की परम्पराएँ एवं मूल्य एक प्रशासकीय संगठन के पद-सोपान के कानूनी रूप को व्यावहारिकता प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए, एक जागीरदारीपूर्ण समाज में यह मान लिया जाता है कि उच्च पद वालों का कार्य आदेश देना है तथा निम्न पद वालों का कार्य उनको मानना है। पद-सोपान सत्ता के कानूनी रूप का एक प्रमुख उदाहरण है। प्रायः प्रत्येक संगठन में इस बात पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए साइमन आदि लेखकों ने लिखा है कि यह इसीलिए होता है क्योंकि पद-सोपान एक प्रक्रिया है जिसमें न तो प्रशिक्षण की आवश्यकता है, न दबाव की और न ही किसी प्रकार के लालच की। यह तो मुख्य रूप से नियुक्ति से पूर्व के प्रशिक्षण का विषय है। यह प्रशिक्षण इतना पूर्ण होता है कि संगठन की अन्य कोई भी प्रक्रिया इसकी तुलना नहीं कर सकती।[2]

सत्ता की सीमाएँ

(The Limits of Authority)

सत्ता, चाहे वह किसी प्रकार के समाज में हो अथवा उसके इर्द-गिर्द किसी प्रकार के प्रशासनिक तन्त्र की रचना कर दी जाए, प्रायः असीमित एवं अनियन्त्रित नहीं होती। सत्ता के विभिन्न रूपों पर अनेक प्रकार के बन्धन या सीमाएँ लगी होती हैं जिनके कारण कोई व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समुदाय इनका प्रयोग मनमाने ढंग से नहीं कर पाता। प्रायः कहा जाता है कि अधिनायकवादी देशों में सत्ताधारी अपनी शक्तियों का प्रयोग स्वेच्छा से करता है और उसके अधीनस्थ अधिकारियों को उसके आदेशों एवं निर्देशों के सम्बन्ध में सुझाव या विरोध के रूप में कुछ भी कहने का अधिकार नहीं होता। वह किसी भी प्रतिक्रिया की परवाह किए बिना अनियन्त्रित रूप से कुछ भी कर सकता है। अधिनायकवादी देशों में प्रशासनिक संगठनों के अधिकारियों के पारस्परिक सम्बन्ध भी इसी प्रवृत्ति से प्रभावित होते हैं। वहाँ सत्ताधारी व्यक्ति की आज्ञाओं को अनुलंघनीय, अपरिवर्तनीय एवं आवश्यक रूप से अनुपालनीय समझा जाता है, किन्तु ये मान्यताएँ जब कुछ गहराई से परखी जाती हैं तो उनकी स्थिति उतनी सत्य प्रतीत नहीं होती जितनी यह लगती है। एक तानाशाही प्रवृत्ति से प्रभावित संगठन का सत्ताधारी भी, चाहे वह माने या न माने, अनेक प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभावों से प्रभावित रहता है। प्रजातन्त्रात्मक, सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में कार्य करने वाले प्रशासनिक संगठनों के सम्बन्ध में तो यह बात पूर्णरूप से लागू होती है। इन संगठनों में जिन अधिकारियों को सत्ता सौंपी जाती है वह असीमित नहीं होती। जब ये अधिकारी अपनी सत्ता का प्रयोग करते हैं तो इन पर निम्नांकित प्रकार के प्रमुख नियंत्रण रहते हैं—

1. अधीनस्थों की सीमा (Limitation of Subordinates)

'सत्ता' मुख्य रूप से उच्च एवं अधीनस्थ अधिकारियों के मध्य स्थित सम्बन्ध का स्वरूप निर्धारित करती है। सत्ता की स्थिति तभी मानी जाती है जब अधीनस्थ अधिकारी अपने उच्च अधिकारी की आज्ञाओं का पालन करे। यह ध्यान रखने योग्य है कि अधीनस्थ अधिकारी केवल एक निश्चित क्षेत्र में ही किसी की आज्ञाएँ स्वीकार कर सकते हैं। इस क्षेत्र को हरबर्ट ए. साइमन ने स्वीकृति का क्षेत्र (Area of Acceptance) कहा है जबकि बर्नार्ड ने उपेक्षा का क्षेत्र (Zone of Indifference) कहकर पुकारा है। यदि उच्चाधिकारी द्वारा लिये गए निर्णय इस क्षेत्र से बाहर हैं तो उनको स्वीकार नहीं किया जाएगा। यही कारण है कि जब सत्ताधारी उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थों को आज्ञा देता है तो इस बात का ध्यान रखता है कि आज्ञा इस क्षेत्र से बाहर न हो। अधिकारियों की दोनों श्रेणियों के बीच का सम्बन्ध केवल इस क्षेत्र के अन्तर्गत ही रह सकता है। अधीनस्थ अधिकारियों की

1. *Simon and Others* : Op. cit., p. 198.
2. *Simon, Smithburg and Thompson* : Op. cit., p. 200.

स्वीकृति का यह क्षेत्र प्रत्येक संगठन में एक जैसा नहीं होता और न ही एक संगठन में यह सदैव एक जैसा होता है। स्वीकृति के क्षेत्र का स्वरूप एवं आकार निश्चित करने में अनेक बाहरी दबावों एवं तत्त्वों का प्रभाव रहता है।

2. परिस्थितियों का प्रभाव (The Influence of Circumstances)

संगठन किन परिस्थितियों में कार्य कर रहा है तथा उसके व्यवहार के नियम किस प्रकार के हैं आदि बातें भी यह निश्चित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देती हैं कि सत्ता का प्रभाव कितना महत्त्वपूर्ण होगा। उदाहरण के लिए हम एक ऐसे संगठन को ले सकते हैं कि जिसकी सदस्यता स्वेच्छा पर आधारित है तथा जिसके लक्ष्यों को भली प्रकार परिभाषित नहीं किया गया है। इस प्रकार के संगठन में स्वीकृति का क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है। इसके विपरीत स्थिति सैनिक संगठन में पाई जाती है। सैनिक संगठन में व्यवहार की परम्पराएँ तथा उससे सम्बन्धित दबावों की प्रकृति अत्यन्त कठोर होती है। यही कारण है कि उनमें अस्वीकृति का क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है।

3. उच्चाधिकारी के विचार (Ideas of Superiors)

किसी भी संगठन-विशेष में कार्य करने वाले उच्च अधिकारी कितनी सत्ता का उपयोग करेंगे, यह बात बहुत कुछ उनके स्वयं के विचारों एवं सोचने के तरीकों पर निर्भर करती है। जब वे अपने अधीनस्थों को आदेश एवं निर्देश प्रदान करते हैं तो हमेशा ही वे एक सत्ताधारी के रूप में व्यवहार नहीं करते। यह एक व्यावहारिक बात है कि यदि सत्ता का बार-बार प्रयोग किया जाए तो वह उतनी प्रभावशील नहीं रहेगी। यही कारण है कि प्रशासन के आधुनिक लेखकों द्वारा इस बात पर जोर दिया जाता है कि उच्चाधिकारियों को अपनी सत्ता पर स्वयं ही अंकुश लगाना चाहिए। उनकी सिफारिशों के अनुसार एक उच्च अधिकारी को सत्ता का यथासंभव कम प्रयोग करना चाहिए और अन्य प्रकार के प्रभावों एवं दबावों को काम में लाना चाहिए।

4. नेतृत्व की सीमाएँ (The Limitations of Leadership)

नेता को चाहे कितनी भी सत्ता प्रदान कर दी जाए, वह उसका प्रयोग अनियन्त्रित रूप से नहीं कर सकता। प्रो. चार्ल्स मेरियम (Charles E. Merriam) ने राजनीतिक सत्ता के प्रयोग की सीमाओं का वर्णन किया है। यदि हम प्रशासकीय संगठनों के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो शीघ्र ही यह स्पष्ट हो जाएगा कि उनके नेता वास्तव में किस सीमा तक नेतृत्व करते थे। प्रत्येक संगठन के सदस्यों का नेतृत्व स्वीकार नहीं किया जाता है या उसके प्रति उदासीनता बरती जाती है। इस प्रसंग में हरबर्ट ए. साइमन की लक्षणायुक्त अभिव्यक्ति उल्लेखनीय है कि एक नेता या उच्च अधिकारी केवल एक बस का चालक होता है। यदि वह चालक यात्रियों को वांछित दिशा में न ले जाए तो यात्रियों द्वारा वह छोड़ दिया जाएगा। चालक अपनी स्वेच्छा का प्रयोग बहुत कम कर सकता है। वह केवल यही देख सकता है कि किस सड़क का प्रयोग किया जाए। इसी प्रकार जब संगठन का नेता अपनी शक्ति का प्रयोग संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए करता है तो वह प्रभावशाली बना रहता है। इसके विपरीत यदि उसकी आज्ञाएँ संगठन के लक्ष्यों से भिन्न हुईं, तो वह अपना प्रभाव खो देगा और उसकी सत्ता अर्थहीन बन जाएगी। सारांश में, संगठन में सत्ताधारी की स्थिति एवं व्यवहार का अध्ययन करने के बाद यह कहा जा सकता है कि वह जिस सत्ता का प्रयोग करता है वह किसी प्रकार भी अनियन्त्रित एवं अबाधित नहीं होती, वरन् उस पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगे रहते हैं जिनकी अवहेलना करने पर उसका प्रभाव तो समाप्त हो ही जाता है, साथ ही उसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता है।

समन्वय

(Co-ordination)

किसी भी संगठन में समन्वय की आवश्यकता निर्विवाद है। समन्वय के बिना संगठन के विभिन्न कार्य आपस में असंगठित हो जाते हैं और एक की प्रगतियों का लाभ दूसरे को प्राप्त नहीं हो पाता है। प्रसिद्ध विद्वान मूने के अनुसार, समन्वय संगठन का सर्वप्रथम सिद्धान्त है जिसके द्वारा संगठन के अन्य सिद्धान्तों को क्रियान्वित किया जाता है। समन्वय द्वारा संगठन के आन्तरिक उद्देश्यों को स्पष्ट किया जाता है। बड़े स्तर के संगठनों के विकास से समन्वय की प्रक्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गयी है। समन्वय के आधार पर संगठन के विभिन्न सदस्यों के बीच यदि एकरूपता और सहयोग की भावना स्थापित न की जाए, तो वे अलग-अलग दिशाओं में चलने लगेंगे जिसके परिणामस्वरूप संघर्ष, तनाव और अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति पैदा हो जाएगी। समन्वय के अभाव में पैदा होने वाला संघर्ष मुख्यतः निम्नलिखित तीन कारणों से हो सकता है—

1. संगठन की इकाइयों या कर्मचारियों के कार्यों में दोहराव (Duplication) पैदा हो जाने के कारण वे एक दूसरे की प्रक्रियाओं को नहीं समझते हैं। एक इकाई को यह पता नहीं रहता कि दूसरी इकाई द्वारा क्या कार्य किए जा रहे हैं, इसीलिए वह स्वयं भी उन्हीं कार्यों को करने लग जाती है जिनको अन्य इकाइयाँ कर रही हैं; इससे दोनों के निर्णयों में संघर्ष भी उत्पन्न हो सकता है।

2. किसी कार्य के लिए उत्तरदायी व्यक्ति द्वारा अपने कार्य-विशेष को इतना अधिक महत्त्व देने के कारण वह दूसरों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखे बिना ही उनके क्षेत्र में हस्तक्षेप करने लग जाए।

3. संगठन के अध्यक्ष का शक्ति के लिए लालची बन जाने एवं उसके वशीभूत होकर वे अनेक ऐसे कार्य करने लगते हैं जो वास्तव में दूसरों के कार्यक्षेत्र में आने चाहिए।

समन्वय को अपने-आप में एक लक्ष्य नहीं कहा जा सकता है। यह एक साधन है जिसके द्वारा संगठन के कार्यों में एकरूपता स्थापित कर दी जाती है। प्रो. न्यूमेन के अनुसार, समन्वय को एक पृथक् क्रिया के रूप में नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यह प्रशासन के सभी पहलुओं का एक भाग है। नियोजन, संगठन, कार्यपालिका का विकास, निर्देशन और नियन्त्रण इन सभी को समन्वय के लिए कुछ योगदान करना चाहिए।[1] इस प्रकार से किसी भी संगठन के सफल संचालन में समन्वय का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

समन्वय का अर्थ

(The Meaning of Co-ordination)

समन्वय का अर्थ जानने के पहले इसके दोनों ही स्वरूपों निषेधात्मक तथा विधेयात्मक का अध्ययन करना आवश्यक बन जाता है क्योंकि अपने निषेधात्मक रूप में समन्वय की क्रिया संगठन में कार्यों के दोहराव को रोकती है तथा अपने विधेयात्मक रूप में यह संगठन के कर्मचारियों से मिल-जुल कर सहयोगपूर्वक कार्य करने की प्रवृत्ति का विकास करती है। विभिन्न विद्वानों ने समन्वय को अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। हेनरी फेयोल (Henry Fayol) ने समन्वय को प्रबन्धक का एक कार्य माना है। उनके मतानुसार, समन्वय करने का अर्थ है एक संगठन की क्रियाओं में एकरूपता लाना ताकि उसका कार्य सरल हो जाए और वह सफलता प्राप्त कर सके। एक सुसमन्वित संगठन की पहचान कई विशेषताओं के आधार पर की जा सकती है। प्रथम, जिस संगठन में अच्छा समन्वय किया जाता है उसका प्रत्येक विभाग दूसरों के साथ सहयोगपूर्वक कार्य करता है। द्वितीय, प्रत्येक विभाग, सम्भाग और उपसम्भाग को अच्छी प्रकार सूचित होना चाहिए कि उसे संगठन के कार्यों में कौन-सा भाग अदा करना है। तृतीय, विभिन्न विभागों और सम्भागों का कार्य निरन्तर परिस्थितियों के अनुसार होना चाहिए। इन तीनों

1. *Newman* : Op. cit., p. 390.

विशेषताओं के होने पर यह कहा जा सकता है कि एक संगठन विशेष में उचित समन्वय स्थापित हो चुका है। जिस संगठन में समन्वय नहीं रहता उसमें मुख्य रूप से ये बातें देखने में आती हैं—प्रथम, प्रत्येक विभाग दूसरे के बारे में न कुछ जानता है और न कुछ जानना चाहता है। द्वितीय, एक ही विभाग के विभिन्न कार्यालयों के बीच इतना अन्तर बना रहता है जितना विभिन्न विभागों के बीच होता है। तृतीय, कोई भी सामान्य हित की दृष्टि से नहीं सोचता। हेनरी फेयोल के अनुसार, कर्मचारियों का यह दृष्टिकोण एक उद्यम के लिए खतरनाक होता है। यह किसी पूर्व निर्धारित अभिप्राय का परिणाम नहीं है, बल्कि समन्वय न रहने या अपर्याप्त रहने के कारण है।[1] व्यावहारिक प्रशासन में "समन्वय" शब्द का एक प्रकार के असन्तोष और आवश्यकता, दोनों को व्यक्त करने के लिए मुक्त रूप से प्रयोग किया जाता है। अधिकाधिक विशेषज्ञता के साथ संगठनात्मक विभेदीकरण (विशिष्टीकरण) एक चरण तक पहुँच जाता है जब विभिन्न भाग एक दूसरे से विलग एकान्तिक रूप से काम करते हैं और समस्त संगठन के लक्ष्य की उपलब्धि को आघात लगता है। समन्वय संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति की दृष्टि से, संगठन के विभिन्न भागों की गतिविधियों के समेलिकरण (सद्भावपूर्ण) की एक प्रक्रिया है। शास्त्रीय प्रशासनिक विचारधारा में इसको प्रबन्धन के प्रमुख कार्यों में माना जाता है। हरबर्ट साइमन ने दो प्रकार के समन्वय[2]— प्रक्रियात्मक एवं वास्तविक-का उल्लेख किया है। प्रक्रियात्मक समन्वय को स्वयं संगठन, जो सत्ता (अधिकार) की कतारों को स्थापित करता है, गतिविधि के क्षेत्रों की सीमा निर्धारित करता है और संगठन के सदस्यों के मध्य सम्बन्धों को विशिष्ट रूप से व्यक्त करता है, की रूपरेखा के उदाहरण द्वारा समझाने का प्रयत्न किया गया है। वास्तविक समन्वय "संगठन की गतिविधियों के सारांश" से सम्बन्धित है। छोटे कृषकों के विकास के लिए संगठनात्मक रूप प्रक्रियात्मक समन्वय का प्रतीक है। पशुपालन परियोजना (जैसे भेड़ विकास), जो परियोजना में निहित विभिन्न गतिविधियों और पारस्परिक सम्बन्धों की रूपरेखा बनाती है, वास्तविक समन्वय का प्रतिनिधित्व करती है। संगठन सिद्धान्त में, समन्वय की अन्तर-संगठनात्मक अन्योन्याश्रितताओं के सन्दर्भ में व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। अन्योन्याश्रित स्थितियों की संगठन के अन्तर्गत वस्तुगत दृष्टि से पहचान की जाती है। विशिष्ट स्थितियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयुक्त समन्वयात्मक विधियों को प्रयुक्त करना पड़ता है।

समन्वय के संबंध में प्रशासन एवं प्रबन्ध के कुछ विचारकों ने अलग-अलग दृष्टिकोण प्रकट किए हैं। प्रो. न्यूमेन (Newman) के अनुसार, प्रशासन में समन्वय व्यक्तियों के समूह के कार्यों को एकीकृत तथा सकालवर्तित बनाता है। उनके अनुसार, एक समन्वित कार्य वह है जिसमें कर्मचारियों की क्रियाएँ एक सामान्य लक्ष्य की ओर सामंजस्यपूर्ण तथा एकीकृत होती हैं।[3] राल्फ डेविस के अनुसार, समन्वय नियन्त्रण का एक मुख्य पहलू (Phase of Control) है।[4] एलिन (L. Allen) के अनुसार समन्वय प्रबन्ध की क्रियाओं में से एक है तथा नियोजन, संगठन, नियन्त्रण आदि की भाँति उसका एक भाग है। यदि एक संगठन के लक्ष्य, नीतियाँ, प्रक्रियाएँ और संगठन सुव्यवस्थित हैं तो उसमें समन्वय अपने-आप ही स्थापित हो जाएगा।[5] आर्डवे टीड (Ordway Tead) ने समन्वय को एक पृथक् क्रिया माना है। यद्यपि उनका विश्वास है कि उनकी मान्यता सर्वमान्य नहीं हो सकती। टीड का विचार है कि 'समन्वय' अत्यन्त रचनात्मक रूप में प्रशासन ही है।[6] न्यूमेन के विचारों की भाँति हेमेन ने भी समन्वय को कोई पृथक् क्रिया नहीं माना है। उनके कथनानुसार, "यह एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रबंधक सामान्य लक्ष्यों की खोज में एक व्यवस्थित समूह के कार्य और क्रियाओं की एकता प्राप्त करता है।"[7] हेमेन का मत है कि इस प्रक्रिया को प्राप्त करने के लिए प्रबन्धक पाँच प्रकार के प्रबन्धात्मक कार्य करता है—नियोजन (Planning), संगठन (Organizing), स्टाफ (Staffing), निर्देशन (Direction), नियन्त्रण (Controlling)।

चेस्टर बर्नार्ड (Chester Bernard) ने तो यहाँ तक कहा है कि "अधिकांश परिस्थितियों में समन्वय का गुण संगठन के अस्तित्व का एक महत्वपूर्ण तत्त्व होता है।"[8] चार्ल्सवर्थ (Charlesworth) के अनुसार, "उद्यम के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए समन्वय कुछ भागों का एक सामंजस्यपूर्ण एकीकरण है।"[9] टेरी (Terry) ने लिखा है, "समन्वय विभिन्न 'भागों' का एक दूसरे के साथ सामंजस्य है तथा उसकी गतिविधि एवं व्यवहार का समय के साथ ऐसा सामंजस्य है जिसमें प्रत्येक हिस्सा समग्र के उत्पादन के लिए अपना अधिक से अधिक योगदान कर

1. *Henry Fayol* : General and Industrial Management, 1949, p. 104.
2. *Henry Fayol* :Op. cit., pp. 139-40
3. *Newman* : Administrative Action, 1961, p. 190.
4. *Ralph C. Davis* : The Fundamentals of Top Management 1951, p. 19
5. *L. A. Allen* : Management and Organization, p 43
6. *Ordway Tead* : Administration : Its Purpose and Performance, 1959, p. 40
7. *Haimann* : Professional Management, 1966, p. 27.
8. *Chester I. Bernard* : The Functions of the Executive, p 256.
9. *Charlesworth* : Governmental Administration, 1951, pp 242-52

सके।" सैकलर हडसन का कहना है कि "समन्वय कार्य के विभिन्न भागों को आपस में सम्बन्धित करने का महत्वपूर्ण कर्तव्य है।" समन्वय एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें एकीकरण, सामञ्जस्यता, निर्देशन और नियन्त्रण जैसी विशेषताएँ पाई जाती हैं।

समन्वय और सहयोग (Co-ordination and Co-operation)

समन्वय और सहयोग व्यावहारिक दृष्टि से बहुत कुछ समानार्थक से प्रतीत होते हैं। दोनों में एक संगठन के कार्यों और उसके विभिन्न सदस्यों का सामूहिक प्रयास सम्मिलित होता है। फिर भी इन दोनों शब्दों के बीच पर्याप्त अन्तर है। हेमेन (Haimann) के अनुसार, "सहयोग केवल व्यक्तियों की एक-दूसरे की सहायता करने की इच्छा प्रकट करता है। यह लोगों के समूह के स्वेच्छापूर्ण दृष्टिकोण का परिणाम है। इसके विपरीत समन्वय में कई बातें आती हैं इसमें भाग लेने वालों की इच्छा एवं रुचि से कुछ अधिक की आवश्यकता होती है।"[1] सहयोग और समन्वय के अन्तर को अनेक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। एक उदाहरण टेरी (Terry) द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने एक ऐसे लड़के का उदाहरण दिया है जो एक दिन सवेरे ही रेलगाड़ी पकड़ना चाहता था। इसके लिए सोने से पूर्व उसने अपनी घड़ी को आधा घंटे आगे कर दिया ताकि वह जल्दी उठ सके। लड़के का पिता यह जानता था कि उसका लड़का सवेरे रेलगाड़ी पकड़ेगा। उसने सोचा कि लड़के को सवेरे उठने और कपड़े पहनने में समय लगेगा, इसलिए उसने घड़ी को आधा घंटे और आगे कर दिया। इसके बाद लड़के की माँ उसके शयन कक्ष में गई और यह सोचकर की सुबह लड़के को अधिक जल्दबाजी न करनी पड़े, उसने घड़ी को आधा घंटे और आगे कर दिया। इन सबके परिणामस्वरूप लड़के को डेढ़ घंटे पहले उठना पड़ा। टेरी के शब्दों में यहाँ माता-पिता तथा बेटे के कार्यों में सहयोग तो था, लेकिन समन्वय नहीं था।[2] समन्वय एवं सहयोग के बीच के सम्बन्धों को हेमेन ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"यद्यपि सहयोग सहायतापूर्ण रहता है और इसका अभाव समन्वय की प्रत्येक सम्भावना को रोक सकता है, पर इसका अस्तित्व मात्र ही समन्वय का होना साबित नहीं करता। महत्व की दृष्टि से समन्वय सहयोग की अपेक्षा अधिक उच्च है।"[3] सहयोग के साथ जब जागरुकता, चेतना एवं ज्ञान जैसी क्रियाएँ जुड़ जाती हैं तो अपने आप समन्वय का लक्ष्य प्राप्त हो जाता है।

समन्वय की उपयोगिता
(Utility of Co-ordination)

समन्वय प्रत्येक संगठन की एक महती आवश्यकता है। किसी भी संगठन का अस्तित्व, उसकी सफलता, सार्थकता एवं प्रभावशीलता में है इसके अभाव में वह खतरे में पड़ जाता है। संगठन के विभिन्न लोगों के बीच समन्वय एकरूपता स्थापित करता है—

1. संघर्ष और झगड़ों को दूर करना—किसी भी संगठन में विभिन्न कर्मचारियों के बीच संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार के संघर्ष संगठन के सदस्यों की स्वार्थ-भावना, उनके व्यक्तित्व, विचारों एवं उनके विशेष प्रशिक्षण पर आधारित हो सकते हैं। अधिकारियों में अहंकार की भावना और शक्ति का प्रेम भी उनके बीच प्रायः झगड़े उत्पन्न करने का कारण बन जाता है। जब तक किसी संगठन के इन अलग-अलग योग्यताओं, रुचियों एवं प्राथमिकताओं वाले लोगों के बीच समन्वय स्थापित नहीं किया जाता तब तक संगठन अपने लक्ष्य की प्राप्ति से बहुत दूर रहेगा। उचित समन्वय की भावना से इस स्थिति को समाप्त किया जा सकता है।

2. सहयोग की भावना को बढ़ावा देना—सहयोग समन्वय की प्रक्रिया को अग्रसर करता है। जब कार्यों के बीच समन्वय स्थापित नहीं किया जाता तो सम्बन्धित अधिकारियों में सहयोग की भावना का विकास नहीं हो पाता। यदि संगठन के अधिकारियों के बीच सहयोग की भावना नहीं है, तो संगठन की गति रुक जाएगी और वह लक्ष्य प्राप्ति से हट जाएगा। यहाँ समन्वयकर्ता का यह कर्तव्य है कि वह इन अधिकारियों के बीच समन्वय स्थापित करे। यह सहयोग की भावना ही किसी संगठन को शक्ति प्रदान करती है।

3. दोहराव को रोकना—समन्वय के अभाव में जब एक संगठन के विभिन्न अधिकारियों के बीच संघर्ष, विवाद और असहयोग पैदा होता है तो इसका कारण प्रायः अधिकारियों का स्वार्थ, अहंकार एवं मतभेद होता है। संगठन के ये दोष इन अधिकारियों द्वारा जानबूझ कर उत्पन्न किए जाते हैं। इनका पूरा उत्तरदायित्व उन्हीं पर होता है, लेकिन समन्वय के अभाव में संगठन कुछ ऐसे दोषों का शिकार भी हो जाता है जो उनके सदस्यों के जानबूझ कर किये गए प्रयासों के परिणाम नहीं होते। दोहराव एक ऐसा ही दोष है। जब संगठन के विभिन्न सदस्यों को यह ज्ञात नहीं रहता कि दूसरे क्या कर रहे हैं तो वह स्वयं ऐसे

1. *Haimann* : Op. cit., p. 28.
2. *Terry* : Op. cit., p. 34.
3. *Haimann* : Op. cit., p. 28

कार्य करने लग जाते हैं जो दूसरे अधिकारी पहले से ही सम्पन्न कर रहे हैं या कर चुके हैं। दोहराव का दोष प्रायः तब पैदा होता है जब संगठन के सदस्यों के बीच सहयोग तो रहता है, किन्तु समन्वय नहीं होता। ऐसी स्थिति संगठन के लिए अधिक घातक होती है।

4. साधनों के दुरुपयोग एवं एकांगिता के कारण—जब संगठन के कार्यों में समन्वय स्थापित नहीं किया जाता तो साधनों का दुरुपयोग होता है और वांछित परिणाम प्राप्त नहीं हो पाते। समन्वय के अभाव में अलग-अलग विषयों को अलग-अलग देखा जाता है, उनके समग्र रूप की अवहेलना हो जाती है। संगठन के अधिकारी संगठन के लक्ष्य का पूरा चित्र अपने मस्तिष्क में नहीं रख पाते। एकांगी दृष्टि से किसी भी विषय का अध्ययन करने पर जो निर्णय लिए जाते हैं वे वास्तविकता से दूर होते हैं और इसलिए प्रायः उपयोगी भी नहीं होते अथवा तुलनात्मक रूप से कम होते हैं। ऐसी स्थिति किसी भी संगठन के लिए सुखद नहीं मानी जा सकती है।

5. क्रमहीनता के कारण—संगठन की क्रियाओं में एक क्रम होता है। कुछ क्रियाओं को तभी सम्पन्न करना उपयोगी होता है जब उससे पूर्व की कुछ क्रियाएँ पूरी कर ली जाएँ। प्राथमिक क्रियाओं को सम्पन्न किए बिना यदि आगे की क्रियाओं को पहले ही सम्पन्न कर दिया जाए तो वे अनुपयोगी बन जाती हैं। संगठन के कार्यों में क्रमबद्धता लाने के लिए समन्वय बहुत आवश्यक है।

समन्वय की पूर्व-शर्तें
(Pre-Conditions of Co-ordination)

किसी भी उद्यम में, चाहे वह सरकारी हो या गैर-सरकारी, व्यापारिक हो या प्रशासनिक, उसमें समन्वय स्थापित करने के लिए कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाने पड़ते हैं, जिन्हें समन्वय की पूर्व-शर्तें भी कहा जा सकता है। प्रो न्यूमेन (Newman) ने इन पूर्व-शर्तों को निम्नलिखित पाँच भागों में विभाजित किया है—

1. सरलीकृत संगठन—प्रत्येक संगठन में कुछ क्रियाएँ ऐसी होती हैं जिनमें एकरूपता स्थापित करना जरूरी होता है, जैसे—एक बीमा कंपनी में सदस्यों के दावे, कानूनी कार्य आदि। यदि किसी विभाग की उन एकरूप क्रियाओं को एक ही प्रशासनिक इकाई में सम्मिलित कर दिया जाए तो समन्वय का कार्य सरल हो जाता है। उस इकाई से प्रभावित जनता अनौपचारिक सम्बन्ध बढ़ा लेती है। कार्य के आधार पर संगठन में प्रायः अनेक इकाइयों की स्थापना कर दी जाती है और ज्यों-ज्यों एक उद्यम का विस्तार होता जाता है ये इकाइयाँ बढ़ती चली जाती हैं और समन्वय की समस्या जटिल होती जाती है। समन्वय-कार्य को सरल बनाने के लिए एक जैसे कई कार्यों को समान इकाई के अधीन कर दिया जाता है। जब कभी एक कार्यपालिका के सम्मुख समन्वय की समस्या गंभीर हो जाए तो उसे विभाग के प्रबन्ध में परिवर्तन करना चाहिए ताकि उसकी क्रियाओं को संगठनात्मक रूप से एक-दूसरे के निकट लाया जा सके। एक अच्छे संगठन में समन्वय की दृष्टि से प्रबंध को बार-बार देखने की आवश्यकता नहीं रहती। संगठन में जब स्पष्ट रूप से यही ज्ञात नहीं होता कि कौन क्या करता है तो समन्वय की प्रक्रिया अधिक सशक्त और प्रभावशाली नहीं बन पाती। उत्तरदायित्व और सत्ता का रूप निश्चित न होने पर कार्य में विलम्ब होता है। लोगों में गलत-फहमियाँ होती हैं, संगठन की साख गिरती है और उसके लक्ष्यों पर प्रभाव पड़ता है। संगठन की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करना बहुत कठिन कार्य है। जब एक संगठन के दो अधिकारी यह सोचने लगते हैं कि एक ही कार्य का उत्तरदायित्व हम दोनों पर है तो भी कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। इससे कार्य का दोहराव होता है और सेवित व्यक्तियों को भ्रम पैदा होता है। वास्तव में समन्वय की योजना बनाते समय संगठन के सरल और स्पष्ट रूप पर जोर दिया जाना चाहिए और अन्य उत्तरदायित्वों का भली प्रकार, किन्तु उपयुक्त रूप में लचीला सीमांकन कर दिया जाना चाहिए।

2. सामंजस्यपूर्ण कार्यक्रम और नीतियाँ—एक अच्छा समन्वय तभी सम्भव है जब संगठन के कार्यक्रमों और नीतियों में एकरूपता स्थापित की जाए। जब संगठन की योजनाएँ परस्पर अनुरूप होती हैं तो समन्वय का मार्ग सरल हो जाता है। मिस पारकर फॉलेट और न्यूमेन आदि की मान्यता है कि समन्वय के लिए आदर्श समय नियोजन के स्तर पर (At the Planning Stage) होता है।[1] जिस समय योजनाएँ बनाई जाती हैं उस समय समन्वय को ध्यान में रखते हुए स्थान-स्थान पर परिवर्तन किए जा सकते हैं। समन्वय प्राप्त करने के लिए नियोजन में दो बातें ध्यान में रखनी होती हैं—प्रथम, योजनाओं के बीच एकरूपता (Consistency) रहनी चाहिए और दूसरे, क्रियाओं का उचित समय निर्धारण किया जाना चाहिए। जब विभिन्न व्यक्तियों और संभागों द्वारा योजना बनाई जाती है तो उनको एकरूपता की दृष्टि से देखना आवश्यक होता है। समन्वित क्रियाएँ न केवल एक-दूसरे

1. *Newman* : Op cit., p 393

के एकरूप होनी चाहिए बल्कि उनको सही समय पर सम्पन्न किया जाना चाहिए। समय की दृष्टि से संगठन की सभी क्रियाओं की एक योजना तैयार की जाए और उस योजना को क्रियान्वित करते समय समन्वय को ध्यान में रखा जाए। एक अच्छा समन्वय तभी स्थापित हो सकता है जब संगठन की क्रियाएँ निश्चित समय के अनुसार सम्पन्न की जा रही हों।

3. संचार के सुव्यवस्थित तरीके— संगठन में जब संचार के अच्छे साधन अपनाए जाते हैं तो समन्वय सही हो जाता है। संचार-व्यवस्था से तुरन्त ही पता चल जाता है कि संगठन के कार्य योजना के अनुसार आगे बढ़ रहे हैं या नहीं? यदि ऐसा नहीं हो रहा हो तो आवश्यकतानुसार समायोजन किया जा सकता है। किए जाने वाले कार्यों और उनकी स्थितियों के सम्बन्ध में सूचना का प्रसार भविष्य के कार्यक्रम तैयार करने के लिए बहुत उपयोगी है। समन्वय के लिए जिन सूचनाओं की आवश्यकता होती है संचार द्वारा वे सब सुलभ की जाती हैं। संगठन में संचार-व्यवस्था को कई रूपों में अपनाया जा सकता है, जैसे—वर्किंग पेपर (Working Papers), लिखित प्रतिवेदन (Written Report), नियमित मौखिक प्रतिवेदन (Regular Oral Report) आदि। संचार व्यवस्था के इन साधनों द्वारा संगठन को दिन-प्रतिदिन की कार्यवाहियों एवं कार्यक्रमों से परिचित रखा जा सकता है। इतना ही नहीं संचार की उचित और कुशल व्यवस्था होने पर सही समय पर सही निर्णय भी लिए जा सकते हैं।

4. ऐच्छिक समन्वय की सहायता—किसी भी संगठन में समन्वय को ऊपर से नहीं लादा जा सकता। इसके लिए संगठन के सदस्यों की सहमति एवं सहयोग परमावश्यक है। जब सभी सदस्य स्वेच्छा से सहयोग देने के लिए तैयार रहते हैं तो समन्वय का कार्य सरल हो जाता है। प्रत्येक विवेकशील कार्यपालिका ऐच्छिक समन्वय की परम्पराओं का विकास करने का प्रयास करती है।

संगठन के सभी सदस्यों में एकतापूर्ण कार्यों के प्रति उत्साह पैदा करने के लिए कुछ और कदम उठाए जा सकते हैं जिनको प्रो. न्यूमैन (Newman) ने निम्नलिखित प्रकार से उल्लेख किया है—

1. प्रभावशाली उद्देश्य (Dominant Objective)—जिन लोगों की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता है यदि वे सभी एक प्रभावशाली लक्ष्य को स्वीकार कर लें तो उनके बीच स्वेच्छापूर्ण सहयोग की स्थापना हो जाएगी। यह प्रवृत्ति प्रायः युद्ध के समय दृष्टिगत होती है। भारत में चीनी एवं पाकिस्तानी आक्रमण के समय प्रशासनिक तथा अन्य क्षेत्रों में जो एकता आई थी उसके पीछे एक प्रभावशाली लक्ष्य का आधार था। सभी लोग चाहते थे कि युद्ध में विजय हो, अतः उन्होंने एक होकर कार्य किया।

2. सामान्य रूप से स्वीकृत परम्पराओं को विकसित करना (To Develop Generally Accepted Customs)—स्वेच्छापूर्ण समन्वय तब अधिक आसान होता है जबकि लोग सरलता से एक-दूसरे के साथ कार्य कर सकें। यह तभी सम्भव है जब उस संगठन में कार्य के लिए ऐसी परम्पराएँ स्थापित की जाएँ जिनको उसके सभी सदस्य स्वीकार करते हों। इस प्रकार की परम्पराएँ प्रायः अपने आप विकसित होती हैं। मुख्य कार्यपालिका का कार्य यह है कि वह उनके विकास को प्रोत्साहन दे। इन परम्पराओं के आधार पर यह ज्ञात किया जाता है कि कोई व्यक्ति संगठन में कार्य करने योग्य है अथवा नहीं, यदि सदस्य इन परम्पराओं के अनुकूल स्वयं को ढाल लें तो समन्वय का कार्य सरल हो जाता है।

3. अनौपचारिक सम्बन्धों को प्रोत्साहन देना (To Encourage Informal Contacts)— अनौपचारिक रूप से जिस संचार-व्यवस्था की स्थापना की जाती है उसको पूर्णता प्रदान करने के लिए अनौपचारिक सम्बन्धों को महत्वपूर्ण समझा जाता है। अनौपचारिक रूप से चाय के प्याले पीते हुए संगठन का अध्यक्ष यह उल्लेख कर सकता है कि दूसरे विभागों द्वारा उनके सामने क्या कठिनाइयाँ उत्पन्न की जा रही हैं? उसके ये उल्लेख अनौपचारिक शिकायत के रूप में रिकार्ड नहीं रखे जाते। इसी प्रकार संगठन या प्रक्रिया में सम्भव परिवर्तनों पर भी बिना नैतिक चरित्र को अस्त-व्यस्त किए ही विचार किया जा सकता है। अनौपचारिक सम्बन्धों द्वारा संचारित की गई यह सूचना स्वेच्छापूर्ण समन्वय के लिए आवश्यक जानकारी और पृष्ठभूमि प्रदान करती है। इसलिए जरूरी है कि प्रत्येक उच्च कार्यपालिका या दूसरे कर्मचारी सामाजिक समूह अथवा अनौपचारिक संगठन बनाएँ। इस प्रकार के साधन द्वारा स्वेच्छापूर्ण समायोजन सरल एवं सम्भव बनता है तथा संगठन के विभिन्न सदस्यों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्ध का विकास होता है। न्यूमैन (Newman) के अनुसार, अनौपचारिक सम्बन्धों पर इस प्रकार का ध्यान स्वेच्छापूर्ण समन्वय के लिए एक महत्वपूर्ण सहायता समझी जानी चाहिए।[1]

4. मध्यस्थ-व्यक्ति की नियुक्ति (To Provide Liaison Man)—कुछ विशेष परिस्थितियों में अध्यक्ष संगठन के अन्य सदस्यों के साथ प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रख पाता और इस तरह अनौपचारिक रूप से आवश्यक सूचनाएँ नहीं मिल पाती हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिए जो व्यक्ति नियुक्त किए जाते हैं उन्हें

---

1. *Newman* : Op. cit., p. 400.

सैनिक भाषा में बीच के अधिकारी (Liaison Officers) कहा जाता है। यह अधिकारी अपनी इकाई के कार्य की स्थिति और आवश्यकताओं से परिचित रहता है तथा दूसरे सम्भाग के सामने उन्हें स्पष्ट करता है। इसके अतिरिक्त यह दूसरे समूह के कार्य की आवश्यकताओं का अवलोकन करता है और अपनी इकाई को उनकी रिपोर्ट देता है। इन व्यक्तियों के पास वायदे करने की कोई शक्ति नहीं होती है। न्यूमेन के अनुसार, उनका मुख्य कार्य सूचनाओं के आदान-प्रदान को सरल बनाना होता है और वे समन्वय के स्वैच्छापूर्ण साधनों का सुझाव देते हैं।[1] *इन मध्यवर्ती अधिकारियों को प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्बन्धों का एक विकल्प नहीं माना जा सकता।*

5. समिति के प्रयोग द्वारा (By the use of Committees)—समितियों के माध्यम से संगठन के विभिन्न सदस्य परस्पर सम्पर्क स्थापित करते हैं, उनके बीच प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्बन्धों का विकास होता है और वे अपने दृष्टिकोणों एवं विचारों का अनौपचारिक रूप से आदान-प्रदान करते हैं। जब समितियों में संगठन की समस्याओं पर विचार-विमर्श किया जाता है तो प्रत्येक सदस्य को विचार-अभिव्यक्ति का अवसर प्राप्त होता है जिन्हें वह अन्य प्रकार से नहीं कर सकता। समिति की प्रक्रियाओं की जानकारी प्राप्त करके सदस्यों की अनेक गलतफहमियाँ दूर हो जाती हैं। समितियों के माध्यम से सदस्यों का सहयोगपूर्ण व्यवहार विकसित होता है जिसके फलस्वरूप समन्वय की प्रक्रिया सरल हो जाती है।

6. अधीक्षण द्वारा समन्वय—उपर्युक्त सभी साधनों को अपना लेने के बाद भी संगठन की क्रियाओं का एक ऐसा क्षेत्र बच जाता है जिसमें समन्वय केवल अधीक्षण (Supervision) द्वारा ही किया जा सकता है। संगठन के अध्यक्ष का यह दायित्व है कि वह विभिन्न अधीनस्थों के कार्यों का निरीक्षण करता रहे और यह ध्यान रखे कि वे *अपने उत्तरदायित्वों एवं कर्त्तव्यों का ठीक निर्वाह कर रहे हैं या नहीं। समन्वय की उपर्युक्त चार शर्तें जितनी* अधिक प्रभावशाली होती हैं, संगठन में अधीक्षण की आवश्यकता उतनी ही कम हो जाती है, किन्तु ऐसे किसी भी संगठन की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें किसी प्रकार के अधीक्षण की आवश्यकता न हो। संगठन के अध्यक्ष को लेने-देने, संकटकालीन आवश्यकताएँ पूरा करने, अधीनस्थों के गंभीर मतभेदों को दूर करने तथा संगठन के परिणामों में सन्तुलन स्थापित करने की आवश्यकता रहती है। ऐसी स्थिति में वह अपने स्टाफ में से ही एक सहायक चुनकर उसका सहयोग प्राप्त कर सकता है। उपर्युक्त शर्तों का उचित निर्वाह करने पर समन्वय की भावना को साकार किया जा सकता है।

समन्वय के साधन

(The Means of Co-ordination)

समन्वय के औपचारिक और अनौपचारिक, दोनों ही प्रकार के साधन होते हैं। इसमें कई बार अनौपचारिक साधन अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। समन्वय के औपचारिक साधनों में मुख्य निम्नलिखित हैं—

1. नियोजन (Planning)—नियोजन कार्यक्रम कर्मचारी वर्ग एवं उनके व्यवहार आदि से सम्बन्धित हैं। एक अच्छे नियोजन का अर्थ कार्य की आधी सफलता होता है। सुविचारित योजना में सम्भावित कष्टों और बाधाओं पर पहले से ही विचार कर लिया जाता है और उन्हें दूर करने के लिए विभिन्न उपाय पहले से ही सोच लिए जाते हैं। कार्यक्रम और व्यवहारों का पहले से ही नियोजन समन्वय का एक महत्त्वपूर्ण साधन है जिसके द्वारा अधीनस्थों के मतभेदों को रोका या दूर किया जा सकता है। कुछ लेखकों के अनुसार तो नियोजन राष्ट्रीय स्तर पर समन्वय का एक प्रयास है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

2. संगठनात्मक तरीके (Organisational Devices)—एक सुव्यवस्थित एवं सुगठित संगठन में अधीनस्थों के कार्यों में मतभेद उत्पन्न होने की गुंजाइश कम रहती है और यदि होती भी है तो उस पर प्रभावशाली ढंग से नियन्त्रण किया जा सकता है। लोक प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में सम्मेलन, समितियाँ, गोष्ठियाँ, अन्तर-विभागीय समितियाँ, कर्मचारी-वर्ग की इकाइयाँ आदि कुछ ऐसे साधन होते हैं जिनके आधार पर संगठन के मतभेदों को दूर कर उनमें एकरूपता स्थापित की जा सकती है।

3. मन्त्रिमण्डल तथा मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय (Cabinet and Cabinet Secretariat)—प्रशासनिक कार्यों में समन्वय स्थापना की दिशा में मंत्रिमंडल और मंत्रिमंडलीय सचिवालय का कार्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। समन्वय के इन दोनों प्रयासों को हम संगठनात्मक प्रयासों का एक रूप मान सकते हैं। प्रशासन में जितने महत्त्वपूर्ण विवाद उठते हैं उनके समाधान का मुख्य उत्तरदायित्व मंत्री पर होता है, किन्तु इस दिशा में असमर्थ होने पर वह विवादास्पद मामले को मंत्रिमंडल के सामने रख देता है। मन्त्री या तो उस विवाद के हल के लिए स्वयं कोई उपाय खोज निकालता है अथवा इस सम्बन्ध में स्थायी सचिवालयों को आवश्यक निर्देश देता है। जो विवाद

1. *Newman* : Op cit, p. 400.

प्रायः गौण और दैनन्दिन प्रकृति के होते हैं, उन्हें हल करके समन्वयात्मक मार्ग प्रशस्त करने का कार्य अधिकांशतः मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय द्वारा सम्पन्न किया जाता है। प्रधानमंत्री के प्रत्यक्ष निर्देशन में कार्य करने वाली यह संस्था प्रशासनिक क्षेत्रों पर नियन्त्रण और अधीक्षण रखती है, मन्त्रालयों की विविध क्रियाओं में समन्वय का कार्य करती है और सदैव ऐसे उपाय खोजती रहती है जिनसे सब ओर समन्वय प्रोत्साहित हो सके।

4. क्रियाओं का मूल्यांकन (Valuation of Activities)—संगठन में समन्वय स्थापित करने का एक सुन्दर माध्यम है प्रक्रियाओं, रीतियों और व्यवहारों का प्रमाणीकरण। मूल्यांकन करते समय प्रशासनिक क्रियाओं में जो दोष सामने आते हैं उन्हें दूर करने का तुरंत उपाय खोजा जा सकता है। मूल्यांकन के साथ-साथ जिन प्रशासनिक क्रियाओं और व्यवहारों का एक विशेष रूप निश्चित कर लिया जाता है, उनके बीच समन्वय-स्थापन अपेक्षाकृत सुगम हो जाता है। प्रक्रियाओं और रीतियों के प्रमाणीकरण से उनके सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ पैदा नहीं हो पातीं और न ही उनके दोहराव का विशेष भय रहता है। इनके अच्छे उदाहरण हैं प्रपत्र (Forms), अन्य उदाहरण, नियमावली, विनियम आदि।

5. अन्तर्विभागीय समितियाँ (Inter-departmental Committees)—प्रशासनिक विभागों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों और मतभेदों को सुलझाने तथा उनका प्रशासनिक क्रियाओं के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए अन्तर्विभागीय समितियों का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है। ये समितियाँ प्रशासन के विभिन्न स्तरों में प्रयुक्त की जाती हैं। इनकी प्रभावशीलता और सफलता के लिए आवश्यक है कि सदस्यगण किसी भी प्रशासनिक समस्या को गम्भीरतापूर्वक समझने के लिए तत्पर और क्रियाशील रहें। यदि समितियों के सदस्य पूर्वाग्रहों पर ही जोर देते रहे तो समन्वय के प्रयास असफल अथवा समुचित रूप से गतिशील नहीं हो पाएँगे।

6. वित्त मंत्रालय (The Finance Ministry)—केन्द्रीय सरकार का वित्त मंत्रालय स्वयं एक महत्त्वपूर्ण समन्वयकर्ता है। प्रशासकीय विभाग वित्त-मंत्रालय में अपनी वित्त सम्बन्धी माँगें प्रस्तुत करते हैं और ऐसा करने में वे परस्पर समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हैं। यदि विभाग की प्रक्रियाओं में परस्पर विरोध और हितों का टकराव हो तो वित्त मंत्रालय का अंकुश उन्हें रास्ते पर ले आता है। यह ऐसा संगठन है जो बजट-निर्माण द्वारा विभिन्न मन्त्रालयों के कार्यक्रमों, माँगों आदि के बीच समन्वय स्थापित करने में सक्षम होता है। इसीलिए बजट प्रायः विरोध-रहित होता है।

7. गृह-पालन क्रियाएँ (House-keeping Activities)—यह उपाय प्रशासन के विभिन्न विभागों में समन्वय का एक प्रभावशाली माध्यम है। फिफनर तथा प्रिस्थस ने लिखा है कि "प्रशासन में गृह-पालन समस्या के अन्तर्गत प्रायः प्रदाय या पूर्ति, भाण्डागार-भवनों की सफाई और मरम्मत, छपाई और द्वितीयकरण, उपकरणों का नियन्त्रण, केन्द्रीय डाक, परिवहन, खाद्य तथा टेलीफोन-सेवा सम्मिलित हैं।" यदि इन सभी सेवाओं को एक पृथक् सम्भाग में केन्द्रित कर दिया जाए तो जो भी विभाग इससे लाभान्वित होने चाहिए, उनके बीच स्वतः ही समन्वय स्थापित हो जाएगा। लोक सेवा आयोग द्वारा कर्मचारियों के निर्वाचन और भर्ती हेतु लिए जाने वाला योगदान भी समन्वय की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण होता है। भारत में केन्द्रीयकृत गृह-पालन के अन्तर्गत अनेक अभिकरण हैं, जैसे—महालेखा परीक्षक के अधीन लेखांकन एवं लेखा परीक्षक, सार्वजनिक निर्माण विभाग के अन्तर्गत साधनों का निर्माण, मरम्मत और जीर्णोद्धार, प्रदाय महानिदेशालय के अधीन प्रदान, आदि।

8. संचार-साधन (The Means of Communication)—संचार-साधनों द्वारा लिखित या अलिखित सूचनाओं, आज्ञाओं, निर्देशों आदि को एक अधिकारी से दूसरे अधिकारी तक पहुँचाया जाता है। सूचनाओं का प्रसार जितना अधिक प्रभावशाली होता है, समन्वय की प्रक्रिया उतनी ही सुगम बन जाती है। हैमेन ने ठीक ही लिखा है कि "उत्तम संचार विभिन्न क्रियाओं के समन्वय में अतुल सहायता पहुँचाते हैं।" समन्वय प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत सम्पर्कों को संचार का सबसे अधिक प्रभावशाली साधन माना जाता है। लिखित संचार, प्रतिवेदन, प्रक्रियाएँ, बुलेटिन तथा असंख्य आधुनिक तकनीकी तरीकों का भी उपयोग होता है। उच्च अधिकारी और अधीनस्थ कर्मचारियों के बीच लगातार संचार-व्यवस्था कायम रहनी चाहिए ताकि वे एक-दूसरे के विचारों को समझ सकें और समन्वय स्थापना के लिए आवश्यक कार्यवाही कर सकें। उपर्युक्त औपचारिक साधनों के माध्यम से प्रभावशाली समन्वय स्थापित किया जा सकता है। वर्तमान समय में समन्वय की प्रक्रिया में इन्हीं साधनों का सहारा लिया जाता है।

9. अनौपचारिक साधन (Informal Means)—प्रशासनिक क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने के अनौपचारिक साधन भी होते हैं। ये कई बार अनौपचारिक साधनों से भी अधिक प्रभावशाली बन जाते हैं। लोक प्रशासन के अधिकारी भी मनुष्य होते हैं जो भावनाओं, संवेगों, मूल्यों आदि से मुक्त नहीं होते। जब वे अपने साथी अधिकारियों से रेस्तराँ, क्लब तथा अन्य स्थानों पर मिलते हैं तो उनमें पारिवारिक और पड़ोस के से सम्बन्ध

स्थापित हो जाते हैं। ऐसे अवसरों पर भी ये अधिकारी अन्य वार्ताओं के साथ-साथ अपने कार्यालय की कठिनाइयों और समस्याओं पर भी विचार-विनिमय कर सकते हैं। कई बार इन औपचारिक वार्ताओं में कठिन समस्याओं के निराकरण का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। सम्मेलन आदि भी इस प्रकार के अनौपचारिक परामर्शों के लिए अवसर प्रदान करते हैं। समन्वय के अनौपचारिक साधनों में नेतृत्व भी एक बहुत ही महत्वपूर्ण साधन है।

समन्वय के सिद्धान्त

(The Principles of Co-ordination)

समन्वय एक सुव्यवस्थित अवधारणा है, जो ठोस सिद्धान्तों पर आधारित होती है। मेरी पार्कर फॉलेट (Mary Parker Follet) ने समन्वय के निम्नांकित चार सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। ये सिद्धान्त प्रो. न्यूमैन (Newman) के अनुसार, एक सम्पन्न परामर्श (Much Sound Advice) से परिपूर्ण हैं।[1] इनके आधार पर समन्वय की प्रक्रिया को सफल, सार्थक एवं प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है—

1. उत्तरदायी व्यक्तियों के बीच सीधा सम्पर्क—समन्वय की स्थापना के लिए सम्बन्धित उत्तरदायी व्यक्तियों के बीच सीधा संपर्क स्थापित करना चाहिए. इनके बीच प्रत्यक्ष व्यक्तिगत संचार- व्यवस्था रहनी चाहिए। उनको एक-दूसरे की समस्या, स्थिति एवं प्रगति से परिचित रहना चाहिए। जब दो अधिकारी अपने कार्यालयों में बैठ कर अपने पद की हैसियत से एक-दूसरे से संपर्क स्थापित करते हैं तो अनेक बार समस्याएँ सुलझाने की अपेक्षा अधिक दुरूह बन जाती हैं, पर जब ये अधिकारी मैत्रीपूर्ण ढंग से आमने-सामने वार्ता करते हैं तो कठिन समस्या का समाधान भी सहज ही हो जाता है।

2. प्रारम्भिक स्तर पर समन्वय को प्राप्त करना—समन्वय, योजना एवं नीति का निर्माण करते समय उनके प्रारम्भिक स्तरों पर ही अधिक आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। जब प्रशासन से सम्बन्धित नीतियाँ निर्धारित की जा रही हों या नियोजन किया जा रहा हो, उसी समय अधिकारियों के बीच सीधा संपर्क स्थापित हो जाना उपयोगी होता है। न्यूमैन के अनुसार, जब योजनाएँ बनाई जा रही हैं तथा कार्य को प्रारम्भ नहीं किया गया है तभी सामंजस्य लाना अधिक सरल होता है। नीति एवं योजना सम्बन्धी निर्णयों को लेने के बाद एक-दूसरे से सम्पर्क करने और अपनी समस्याओं को समायोजित करने की स्थिति में समन्वय का कार्य बहुत कठिन हो जाता है, क्योंकि तब उनमें से प्रत्येक यह चाहेगा कि वह स्वयं के निर्णयों पर स्थिर रहे तथा दूसरे को ही अपनी नीतियों एवं योजनाओं के अनुसार झुका ले। यह एक प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण स्थिति होगी जिसमें समन्वय स्थापित होने के स्थान पर मनमुटाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इससे संगठन में अधिकारियों और कर्मचारियों के बीच की खाई बढ़ जाएगी। मानव व्यवहार की यह मौलिक प्रकृति है कि कार्य के प्रारम्भ में एक छोटा-सा दिखने वाला भेद भी आगे चलकर बड़ा महत्वपूर्ण बन जाता है। अतः प्रारम्भिक स्तर पर ही समन्वय करना श्रेष्ठ रहता है।

3. समन्वय में सभी तत्वों का आदान-प्रदान—समन्वय की स्थिति में सभी तत्वों के विशेष आदान-प्रदान का सम्बन्ध रहता है। संगठन के सदस्यों में समन्वय की स्थिति यह मानी जा सकती है जब उनमें से प्रत्येक अपने साथी की व्यावहारिक समस्याओं को समझे और सभी तत्वों को ध्यान में रखकर उन्हें सुलझाने का प्रयास करे। इसके लिए संगठन के सदस्यों के बीच लेने-देने (Give and Take) की प्रवृत्ति रहनी चाहिए।

4. निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया—समन्वय एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया (Continuing Process) है। ऐसा नहीं होता है कि संगठन में एक ही बार समन्वय स्थापित कर दिया जाए जो सदैव या बहुत समय तक चलता रहे। समन्वय के कार्य को अवसरों पर नहीं छोड़ा जा सकता। संगठन के अध्यक्ष को लगातार इस दिशा में प्रयत्नशील रहना होता है, अन्यथा संगठन में ऐसे विकार पैदा हो सकते हैं जिनकी वह कल्पना भी न कर सके और जिन पर वह नियन्त्रण न रख सके। समन्वय की इस निरन्तरता की भावना को स्थापित करके ही लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है।

समन्वय के स्वरूप

(The Forms of Co-ordination)

समन्वय की प्रक्रिया को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. लम्बरूप समन्वय (Vertical Co-ordination)—लम्बरूप समन्वय से हमारा तात्पर्य समन्वय के उस रूप से है जो संगठन की इकाई के विभिन्न स्तरों के बीच स्थापित किया जाता है। उदाहरण के लिए, एक संगठन के निदेशक, उपनिदेशक, निरीक्षक, नियन्त्रक एवं ऐसे ही अन्य अधीनस्थों के मध्य स्थित समन्वय को ले सकते हैं।

1. *Newman, Op. cit., p. 397*

इस प्रकार के समन्वय में पदसोपान एवं सत्ता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उच्च पद पर स्थित अधिकारी अपने अधीनस्थ पर अपनी सत्ता लादता है। समन्वय के इस रूप को प्राप्त करने के लिए सत्ता का प्रत्यायोजन किया जाता है। साथ ही निर्देशन, निरीक्षण एवं नियंत्रण आदि तकनीकों का भी सहारा लिया जाता है। यदि कोई अधीनस्थ अधिकारी लम्बरूप समन्वय की स्थापना के मार्ग में बाधा उत्पन्न करता है तो संगठन से निष्कासित किया जा सकता है। जब एक अध्यक्ष अपने प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों को कुशलता एवं विशेषज्ञता के साथ सम्पन्न करता है, तो लम्बरूप समन्वय स्वतः ही स्थापित हो जाता है।

2. समतल समन्वय (Horizontal Co-ordination)—समतल समन्वय का अर्थ उस समन्वय से है जो प्रबन्ध के समान स्तरों पर किया जाता है। इस प्रकार के समन्वय में कर्मचारियों एवं अधिकारियों की स्वेच्छा का अधिक महत्त्व होता है। यदि समन्वय न किया जाए तो संगठन के कार्यों की गति अवरुद्ध हो जाती है। समान स्तर वाले अधिकारियों के बीच समन्वय स्थापित करने की कुछ अपनी समस्याएँ हैं, क्योंकि ये अधिकारी अपने विभागीय कार्य के प्रबंधक होते हैं, अत उनके बीच समन्वय की स्थापना के लिए निश्चित आज्ञाओं अथवा आदेशों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। ये अधिकारी एक-दूसरे पर सत्तावान नहीं होते। सगठन के पूर्व निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने की दृष्टि से यह आशा की जाती है कि ये लोग अपने बीच समन्वय की स्थापना स्वय ही कर लेंगे।

उपर्युक्त दो रूपों के अतिरिक्त समन्वय के दो रूप और भी हैं। समन्वय आन्तरिक (Internal) भी हो सकता है और बाह्य (External) भी। आन्तरिक समन्वय तो एक सगठन द्वारा उसकी विभिन्न इकाइयों के बीच किया जाता है। यह सगठन का एक लोकप्रिय रूप है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक संगठन अनेक बाह्य तत्त्वों से भी प्रभावित होता है जिन्हें दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। लोक प्रशासन के विभिन्न संगठनों पर जनमत, राजनीतिक दलों, सरकारी नीतियों, व्यक्तिगत संस्थाओं एवं नेतृत्व का प्रभाव पड़ता है। इन सभी संस्थाओं एवं सगठनों तथा प्रशासनिक संगठन के बीच समन्वय स्थापित करना आवश्यक है। संगठन तथा बाह्य प्रभाव डालने वाले तत्त्वों के बीच यदि समन्वय स्थापित न किया जाता तो यह सम्भव है कि संगठन अपने कार्यों को सुचारू रूप से सम्पन्न न कर सके तथा उसके कार्यों में निरन्तर बाधाएँ उपस्थित होती रहें।

समन्वय की बाधाएँ
(Hinderances of Co-ordination)

संगठन के जीवन एवं विकास में समन्वय का मौलिक स्थान रहने पर भी अनेक ऐसी बाधाएँ हैं जो संगठन में समन्वय की स्थापना के मार्ग को अवरुद्ध करती हैं। हेमेन के अनुसार समन्वय सरलतापूर्वक प्राप्त नहीं किया जा सकता।[1] समन्वय के मार्ग की बाधाओं को निम्नलिखित रूप में विश्लेषित किया जा सकता है—

1. प्रबन्धकों की उच्चता की भावना—सगठन में कुछ कार्य दूसरों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। अपने महत्व का दुरुपयोग करते हुए कई बार प्रबंधकों के मन में उच्चता की भावना घर कर जाती है। संगठन के अन्य अधिकारियों के मनोबल पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है।

2. *संगठनों के आशातीत विकास की समस्या*—*अब लोक-प्रशासन के क्षेत्र में समन्वय प्राप्त करने का* मार्ग दिन-प्रतिदिन जटिल होता जा रहा है। सगठनों का आशातीत विकास इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है। कार्य अधिक बढ जाने से समन्वय स्थापित करना भी कठिन बन गया है। संगठन बड़ा होने से अधीनस्थ कर्मचारियों की संख्या अधिक हो जाती है तथा संचार-साधनों की समस्या जटिल हो जाती है, अत समन्वय का कार्य अत्यन्त कठिन हो जाता है।

3. विशेषीकरण की समस्या—समन्वय के मार्ग को पेचीदा बनाने वाली एक अन्य समस्या विशेषीकरण से सम्बन्धित है। वर्तमान संगठन में वैज्ञानिक एव तकनीकी विकासों के परिणामस्वरूप यह आवश्यक हो गया है कि कार्यों को विशेषज्ञों में विभाजित कर दिया जाए। ये विशेषज्ञ केवल अपने कार्य में ही संलग्न रहते हैं, अतः उनके बीच समन्वय स्थापित करना एक प्रमुख समस्या है। मार्शल डिमॉक ने तो यहाँ तक कहा है कि प्रशासन विशेषज्ञों के कार्यों का समन्वय है। विशेषीकरण की प्रकृति का प्रसार होने पर सगठन का कार्य छोटे-छोटे भागों में विभाजित हो जाता है और उनमें से प्रत्येक भाग अपने कार्य को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानने लगता है।

4. मानव-प्रकृति की जटिलता—समन्वय के कार्यों में मानव प्रकृति से अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। सगठन की प्रत्येक इकाई अपने आपको अपने कार्यों से ही सम्बन्धित रखती है और दूसरी इकाई के कार्यों में

1. *Haimann*: Op. cit., p. 29.

रुचि नहीं लेती। प्रत्येक इकाई का प्रबन्धक केवल अपनी इकाई के कल्याण के बारे में ही सोचता है, वह सम्पूर्ण उद्यम से अपना सम्पर्क बनाए रखना नहीं चाहता। इससे भी समन्वय के मार्ग में अवरोध उपस्थित होता है।

लूथर गुलिक ने समन्वय के मार्ग में निम्नांकित बाधाओं का उल्लेख किया है—

1. संगठन का भविष्य अनिश्चित रहता है। संगठन के व्यक्तियों एवं जनता की क्रिया-प्रतिक्रिया किसी भी अध्यक्ष की समझ तथा कल्पना से बाहर की चीज होती है। तत्सम्बन्धी अनुमानों का सही होना निश्चित नहीं रहता।

2. एक अच्छे तथा प्रभावशाली समन्वय के लिए अच्छा नेतृत्व परम आवश्यक है। जिस संगठन के नेताओं में ज्ञान, अनुभव, बुद्धि एवं चरित्र का अभाव होता है और जिनके विचार तथा उद्देश्य अस्पष्ट तथा भ्रमपूर्ण हैं, वहाँ समन्वय की क्रिया अत्यन्त कठिन बन जाती है।

3. प्रशासनिक योग्यता एक संगठन का प्राण है ? यदि संगठन के अध्यक्ष में प्रशासन सम्बन्धी कुशलता एवं तकनीकी ज्ञान न हो तो प्रभावी समन्वय के कार्य में उसके सफल होने के अवसर धूमिल पड़ जाते हैं।

4. समन्वयकर्ता चाहे कितना भी योग्य क्यों न हो, वह भी आखिर एक व्यक्ति ही होता है तथा जीवन एवं मानव-चरित्र के सम्बन्ध में उसके ज्ञान की सीमाएँ होती हैं। इनके अतिरिक्त संगठन की समस्याएँ विविध एवं बहुमुखी होती हैं, अत संगठन में समन्वय सुगम नहीं रह पाता।

5. प्राय सभी संगठनों में नवीन विचारों एवं कार्यक्रमों को स्वीकार करने, विकसित करने, उन पर विचार करने तथा उनका व्यवहार करने के व्यवस्थित तरीकों का अस्तित्व नहीं पाया जाता।

सैकलर हडसन (Seckler Hudson) द्वारा उल्लिखित कुछ अन्य कठिनाइयाँ भी विचारणीय हैं। "आकार तथा प्रतिकार, व्यक्तित्व तथा राजनीतिक तत्व, लोक प्रशासन के विषय में बुद्धि और ज्ञान रखने वाले नेताओं की कमी और अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज में लोक प्रशासन का शीघ्र विकास आदि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनके कारण समन्वय के मार्ग में अनेक बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।" इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि कतिपय विचारकों ने समन्वय की बाधाओं का बहुत स्वागत किया है। इनमें हरनल क्लीवलैंड का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके द्वारा प्रतिपादित तनाव-सिद्धान्त (Tension Theory) के अनुसार, एक सरल और सुगम संगठन में किया जाने वाला समन्वय अधिक अच्छा नहीं होता। जिस संगठन में कार्य आसानी से सुचारू रूप से चलते रहते हैं वह संगठन कई बार लोकहित की उपेक्षा कर देता है। इसलिए आवश्यक है कि प्रत्येक संगठन में समय-समय पर विभागों एवं अभिकरणों के बीच अधिकार-क्षेत्र और कार्यक्रम के विषय में विवाद उत्पन्न होते रहें। यदि किसी संगठन में विवाद उत्पन्न नहीं होते तो वहाँ इस प्रकार के झगड़ों को योजनाबद्ध रूप से प्रारंभ करना चाहिए। संगठन में झगड़े उत्पन्न हों तो अनेक प्रशासनिक विषयों का रूप स्पष्ट होता है और अनेक समस्याओं पर महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए जाते हैं।

पर्यवेक्षण एवं प्रत्यायोजन

(Supervision & Delegation)

पर्यवेक्षण

(Supervision)

संगठन के आधुनिकतम सिद्धान्तों में पर्यवेक्षण या अधीक्षण (Supervision) का महत्वपूर्ण स्थान है। संगठन में समन्वय की स्थापना के लिए समन्वयकर्ता अनेक तरीके अपनाता है, जैसे—नियन्त्रण (Control), अधीक्षण (Supervision), सम्प्रेषण (Communication) और नेतृत्व (Leadership)। जब निर्णय निम्न अधिकारियों तक सम्प्रेषित कर दिए जाएँ तो पदसोपान में उच्चाधिकारी का अगला कार्य यह देखना होता है कि उन निर्णयों को समुचित ढंग से क्रियान्वित किया जाए। उच्चाधिकारी को इस बारे में आश्वस्त होना पड़ता है कि संगठन सुचारु रूप से काम कर रहा है और निर्दिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास निरन्तर जारी है। प्रशासकीय संगठन की इसी आवश्यकता की दृष्टि से 'देखरेख अथवा अधीक्षण' और 'नियन्त्रण' को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अधीक्षण की क्रिया निरन्तर चलती रहती है, और प्रशासकीय कार्यों की सम्पन्नता को निश्चित बनाती है। प्रत्येक संगठन चाहे वह सार्वजनिक हो या निजी, अधीक्षक की व्यवस्था अवश्य करता है। अमेरिका के वाणिज्यिक तथा औद्योगिक संगठनों में प्राय: प्रति सात कर्मचारियों पर एक अधीक्षक होता है।

पर्यवेक्षण का अर्थ

'पर्यवेक्षण' दो शब्दों—अधि (Super) + वीक्षण (Vision) का योग है जिसका अर्थ होता है 'देखने की उच्च शक्ति' अथवा 'दूसरों के कार्यों का अधीक्षण करना'। लोक प्रशासन के क्षेत्र में अधीक्षण का अर्थ स्पष्ट करते हुए रैनिंग ने लिखा है कि इसे दूसरों के कार्यों के लिए सत्ता द्वारा किए गए निर्देशन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। अधीक्षण का सामान्य अर्थ है—उच्चाधिकारी द्वारा अधीनस्थ अधिकारियों का मार्गदर्शन करना, उनकी गतिविधियों पर निगरानी रखना और उनके कार्यों के परिणामों का पर्यवेक्षण (Observation) करना। नकारात्मक दृष्टि (Negatively) से अधीक्षण अथवा देखरेख का अभिप्राय संगठन के सदस्यों की गतिविधियों का निर्देशन करना और उनकी जाँच करना है, जबकि सकारात्मक दृष्टि (Positively) से इसका अर्थ सदस्यों को काम करने के सर्वोत्तम तरीके सुझाना है। अत: अधीक्षण का उद्देश्य होता है—संगठन के विभिन्न अंगों में समन्वय स्थापित करना और यह देखना कि सभी अंग अपना-अपना कार्य उचित रूप से सम्पन्न कर रहे हैं। मार्ग्रेट विलियमसन (Margaret Williamson) ने अधीक्षण को "एक ऐसी प्रक्रिया माना है जिसके अन्तर्गत कर्मचारियों को उनकी आवश्यकताओं के अनुसार सीखने, अपने ज्ञान और कौशल का सर्वोत्तम प्रयोग करने तथा योग्यताओं का सुधार करने में किसी पदाधिकारी की सहायता प्राप्त होती है ताकि वे अपने कार्य को अधिक प्रभावी रूप में तथा स्वयं के एवं अभिकरण के सन्तोष के साथ सम्पन्न कर सकें।"[1] कभी-कभी देखरेख या अधीक्षण बजट में निहित धाराओं और व्यवस्थाओं द्वारा भी होता है। उदाहरणार्थ, अधीनस्थ अधिकारियों को अपने कार्यों की प्रगति पर प्रतिवेदन, कागजात, फाइलें आदि उच्च अधिकारियों को भेजने पड़ते हैं और अधीक्षक अर्थात् देखरेख करने वाला उच्चाधिकारी इन कागजातों की सहायता से संगठन के कार्यों की तथा उनके परिणामों की आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकता है। उच्चाधिकारी लक्ष्य प्राप्त करता है और उसका यह दायित्व है कि वह लक्ष्य प्राप्ति के लिए संगठन की गतिविधियों की देखरेख करे। संक्षेप में, अधीक्षण का अभिप्राय 'परिणामों का अवलोकन' है। किसी भी संगठन को शक्तिशाली बनाने के लिए पर्यवेक्षण की प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

पर्यवेक्षक या अधीक्षक के कार्य

अधीक्षक एक शिक्षाप्रद रूप है। इसे स्पष्ट करते हुए डॉ. अवस्थी एवं माहेश्वरी ने लिखा है कि—"अधीक्षण निरीक्षण तथा खोजबीन से कहीं अधिक होता है। निरीक्षण और खोजबीन तो अधीक्षण-प्रक्रिया के केवल अंग मात्र

1. *Halsey, G. D.*: Supervising People, p. 6.

हैं। वस्तुत अधीक्षण किसी प्रशासकीय कृत्य के रूप में नियन्त्रण से कहीं अधिक है। अतः यह शिक्षाप्रद रूप है। अधीक्षक से यह आशा की जाती है कि वह अपने अधीन कार्य करने वाले कर्मचारियों को सर्वोत्तम कार्यविधि सिखाए। इसके अतिरिक्त कर्मचारी अपने अधीक्षक से मन्त्रणा या मार्गदर्शन की आशा रखते हैं, अतः उसका कार्य परामर्श देना भी है। इस प्रकार अधीक्षक का कार्य नेता का कार्य है।" संक्षेप में अधीक्षण के अनेक तत्त्व हैं, जैसे—प्रत्येक कृत्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति का चयन, प्रत्येक व्यक्ति में उसके कार्य के प्रति रुचि उत्पन्न करना तथा उसे कार्य करने के ढंग की शिक्षा देना, कार्य सम्पन्न किए जाने की गति तथा कार्यक्षमता का मापन ताकि यह निश्चय हो जाए कि शिक्षण पूर्णरूप से प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। जहाँ गलती को सुधारने की आवश्यकता हो वहाँ गलती सुधारना तथा जिन पर इसका प्रभाव नहीं हो उन्हें किसी अन्य अधिक उपयुक्त कार्य में लगा देना या उनको हटा देना। जब प्रशंसा करने की आवश्यकता हो तो प्रशंसा करना और अच्छे कार्य के लिए पुरस्कार देना और अन्त में प्रत्येक व्यक्ति को कार्यरत समूह में ठीक प्रकार नियत कर देना, ये सभी कार्य धैर्य तथा कौशल के साथ उचित ढंग से पूरे किए जाने चाहिए ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपना कार्य चतुरता एवं ठीक तरीके से, बुद्धिमानी तथा उत्साह के साथ पूर्णरूपेण कर सके।"

सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य 'कार्य-सम्पादन' है, अतः अधीक्षक को संगठन में ऐसा वातावरण उत्पन्न करना चाहिए जिससे सब सम्बन्धित व्यक्ति यथासम्भव अधिकाधिक सहयोग से कार्य करते हुए कार्य-सम्पादन की दिशा में अग्रसर हों। अधीक्षक केवल निरीक्षण एवं जाँच ही नहीं करता बल्कि सहयोगपूर्ण कार्य (Team Work) के लिए सबको प्रेरित और प्रोत्साहित भी करता है।[1] डेमेन ने अधीक्षक के तीन मुख्य कार्य बताए हैं— (i) मौलिक अथवा तकनीकी कार्य (Substantive or Technical Job), (ii) संस्थापन कार्य (Institutional Job) एवं (iii) व्यक्तिगत कार्य (Personal Job)। मिलेट ने मौलिक अधीक्षण (Substantive Supervision) और प्राविधिक अधीक्षण (Technical Supervision) में अन्तर प्रकट करते हुए बताया है कि जहाँ प्रथम का सम्बन्ध किसी अभिकरण द्वारा किये गए वास्तविक कार्य से होता है वहाँ द्वितीय का सम्बन्ध उन तरीकों से होता है जिनके द्वारा कार्य किया जाता है। इस प्रकार से पर्यवेक्षक के कार्यों की प्रकृति विविध और बहुमुखी है। उसकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें नेतृत्व क्षमता कितनी है?

पर्यवेक्षक कौन हैं?

उन सभी सत्ता-प्राप्त व्यक्तियों को पर्यवेक्षक कहा जा सकता है जो दूसरों के कार्य की देखरेख करते हैं और उन पर नियन्त्रण रखते हैं—चाहे पदसोपान में उनकी स्थिति ऊँची हो या नीची। इस प्रकार फोरमैन हवलदार, मुख्य लिपिक, प्रधानाध्यापक, जिलाध्यक्ष आदि सभी अपने-अपने क्षेत्र में पर्यवेक्षक हैं। पर्यवेक्षक पर 'उत्तरदायित्व' और 'कार्य' दोनों का ही भार होता है यद्यपि मुख्य कार्य उत्तरदायित्व के ही ढंग का होता है। पर्यवेक्षक भी दो प्रकार के होते हैं—सूत्र पर्यवेक्षक और कार्यात्मक पर्यवेक्षक। सूत्र पर्यवेक्षक का सम्बन्ध उस नियन्त्रण से होता है जो 'आदेश की पंक्ति के व्यक्तियों' के हाथों में होता है। उदाहरणार्थ, हमारे देश में राज्य पुलिस-विभाग में इन्स्पेक्टर जनरल, जिला पुलिस सुपरिन्टेन्डेंट का पर्यवेक्षण करता है और बदले में जिला सुपरिन्टेन्डेंट (जिला पुलिस अधीक्षक) अपने से नीचे के इन्स्पेक्टरों का पर्यवेक्षण करता है और यह पर्यवेक्षण का क्रम तब तक चलता रहता है जब तक हम हवलदार तक नहीं पहुँच जाते जो सबसे नीचे पहली पंक्ति का पर्यवेक्षक है। कार्यात्मक पर्यवेक्षण किन्हीं विषयों के विशेषज्ञों, सांख्यिकीकारों आदि द्वारा किया जाता है। लेखा-पर्यवेक्षक, गणक, संगठन और प्रबन्ध-विशेषज्ञ आदि की गिनती कार्यात्मक पर्यवेक्षकों में होती है। पर्यवेक्षक कोई भी हो, यह आवश्यक है कि वह खुले मस्तिष्क का, निष्पक्ष, ईमानदार और न्यायी हो। यह भी आवश्यक है कि वह लोक सम्पर्क और समूह-व्यवहार में प्रशिक्षित हो, जैसे पर्यवेक्षण के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही इसके स्वरूप भी भिन्न-भिन्न हैं। क्षेत्र के कार्यकर्त्ता भी क्षेत्र के साथ बदलते रहते हैं और इसके फलस्वरूप पर्यवेक्षण के उत्तरदायित्व और विधि में अन्तर आता है। अकुशल कार्यों में पर्यवेक्षण की प्रायः कोई गम्भीर समस्या पैदा नहीं होती, लेकिन उच्चकोटि के कार्यों का पर्यवेक्षण व्यापक होता है। इसके लिए पर्यवेक्षक में अधिक अनुभव, दक्षता और चतुरता की अपेक्षा की जाती है। एक अच्छे पर्यवेक्षण के कार्य के तीन मुख्य स्वरूप हैं—(क) उसमें विशेष कौशल हो अर्थात् उसमें यह निर्देश करने की शक्ति हो कि अमुक कार्य अमुक प्रकार से अधिक सुगम होगा, (ख) उसमें संस्थानीय ज्ञान हो अर्थात् वह यह भली प्रकार जानता हो कि उस कार्यालय की सामान्य नीति क्या है, उसका विशेष प्रयोजन क्या है और किस भाँति यह प्रयोजन सिद्ध हो सकता है, एवं (ग) उसमें मानव-प्रकृति की परख की योग्यता हो अर्थात् उसे यह ज्ञात हो कि कर्मचारियों का मानव स्तर क्या है और संगठन में उनके साथ कैसा व्यवहार उचित है?

1 *Pfiffner* : The Supervision of Personnel; Human Relations in the Management of Men, p. 215.

पर्यवेक्षण कैसे करें ?

पर्यवेक्षण एक कला है इसके लिए भी उचित तरीके अपनाना अपरिहार्य है। मिलेट ने पर्यवेक्षण के निम्नांकित छ तरीके बताए हैं—

1. पूर्व स्वीकृति (Prior Approval)—संगठन के किसी कार्य को क्रियान्वित करने से पहले पर्यवेक्षक की 'पूर्व स्वीकृति' प्राप्त होनी चाहिए। पूर्वानुमोदन व्यवस्था के अन्तर्गत एक तो सूक्ष्म नियन्त्रण सुनिश्चित हो पाता है, दूसरे कार्य-योजना में लचीलापन भी आ जाता है तथा त्रुटियों को ठीक करने की समुचित गुंजाइश भी रहती है, लेकिन यह प्रक्रिया लालफीताशाही में वृद्धि करती है और इससे कार्यपूर्ति में विलम्ब होता है। पूर्वानुमोदन-व्यवस्था कर्मचारियों में संशय और उदासीनता भी उत्पन्न करती है और यदि कर्मचारियों और उच्चाधिकारियों के बीच मनमुटाव पैदा हो जाए तो यह व्यवस्था संगठन के लिए घातक बन जाती है।

2. सेवा-स्तर (Service Standard)—पर्यवेक्षक को चाहिए कि वह लक्ष्य अथवा कार्य के कुछ स्तर निश्चित कर दे ताकि अधीनस्थ कर्मचारियों को मार्गदर्शन मिलने के साथ ही उनके कार्य की जाँच भी सुगमता से हो सके। सेवा-स्तर प्रशासकीय कार्य का मापदण्ड निर्धारित कर देता है। उदाहरणार्थ, किसी स्कूल के सेवा-स्तर में छात्रों की संख्या, पास होने वाले छात्रों का प्रतिशत, छात्रों का सामान्य अनुशासन, अध्यापकों का नैतिक स्तर, खेल आदि में छात्रों की प्रवीणता, शिक्षा के घण्टों की संख्या—इनमें से कोई एक या कुछ या सबका समावेश हो जाता है। इस प्रकार के मापदण्ड निश्चित करना एक कठिन प्रक्रिया है तथापि पर्यवेक्षण का यह एक वैज्ञानिक ढंग है। इससे कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

3. कार्य सम्बन्धी बजट (Work Budget)—बजट केवल 'अंकों का संकलन' ही नहीं होता, अपितु कार्य की योजना और प्रशासन पर नियन्त्रण का एक शक्तिशाली उपकरण भी है। पर्यवेक्षण का एक तरीका यह है कि पर्यवेक्षक कार्य के बजट का अवलोकन करता रहे। कार्य करने वाले अधिकारी बजट द्वारा निर्धारित धनराशि के भीतर ही कार्य करते हैं अर्थात् धन-व्यय करने में उन पर बजटीय अंकुश लगा रहता है। पर्यवेक्षक यह देखता है कि बजट की व्यवस्थाओं का समुचित अनुपालन हुआ है या नहीं।

4. कर्मचारी वर्ग का अनुमोदन (Approval of Personnel)—कोई भी सरकारी अभिकरण अपने कर्मचारियों की भर्ती में पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होता। उच्चतर कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति सदैव ही मुख्य कार्यपालिका द्वारा की जाती है। अधीनस्थ कर्मचारी वर्ग के सम्बन्ध में भी शीर्षस्थ अधिकारी कुछ गौण स्थानों को छोड़कर शेष पदों के पूर्वानुमोदन पर बल देते हैं। प्राय. सभी जगह ऐसी व्यवस्था है कि यह कार्य सम्बन्धित अभिकरण के केन्द्रीय सेवीवर्ग-विभाग को सौंप दिया जाता है।

5. प्रतिवेदन (Reporting)—प्रतिवेदन-व्यवस्था पर्यवेक्षकों को इस योग्य बनाती है कि वे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यों का मूल्यांकन कर सकें, उनकी परिस्थितियों को समझ सकें और संगठन में कार्य-संचालन को नियन्त्रित कर सकें। इसीलिए प्राय· सभी जगह प्रशासन का यह सामान्य तरीका है कि कार्यरत इकाइयाँ अपने क्रियाकलापों का लेखा या प्रतिवेदन केन्द्रीय कार्यालय को प्रस्तुत करती हैं। प्रतिवेदन साप्ताहिक भी हो सकते हैं और पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, षड्मासिक या वार्षिक भी हो सकते हैं। प्रतिवेदन विशिष्ट या तदर्थ (Adhoc) भी हो सकते हैं अर्थात् किसी विशेष विषय के बारे में भी हो सकते हैं और वर्णात्मक तथा सांख्यिकी प्रकृति के भी हो सकते हैं। एक उत्तम प्रतिवेदन-व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण लाभ होते हैं। प्रतिवेदन के माध्यम से इकाइयों को आत्म-निरीक्षण का अवसर प्राप्त होता है, वे अपनी सफलताओं-असफलताओं का पर्यावलोकन कर सकती हैं।

6. निरीक्षण (Inspection)—चिर-काल से निरीक्षण प्रशासन का अभिन्न अंग रहा है। इस प्रक्रिया के माध्यम से यह देखा जाता है कि विद्यमान नियमों और प्रक्रियाओं का सही रूप में पालन किया जा रहा है या नहीं, कार्य का संचालन समुचित ढंग से हो रहा है या नहीं, कार्य-कुशलता में कौन-से सुधार लाना आवश्यक है, आदि। निरीक्षण के महत्त्व और उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए मिलेट ने लिखा है— "निरीक्षण का उद्देश्य या प्रयोजन सूचना प्राप्त करना है। यह प्रबन्ध के प्रयोजनों और अभिप्रायों को स्पष्ट करने में सहायता देता है तथा प्रबन्ध में निम्न कर्मचारियों की कार्य-संचालन सम्बन्धी समस्याओं से उच्चाधिकारियों को परिचित कराता है। निरीक्षण बौद्धिक परिचय और विश्वास को व्यक्तिगत सम्बन्धों में बदल सकता है।" मिलेट ने निरीक्षण को अधीक्षण प्रक्रिया का ही एक अंग माना है। संगठन में प्रत्येक वरिष्ठ अधिकारी से यह आशा की जाती है कि वह अपने अधीनस्थों के कार्य का निरीक्षण करेगा। यह निरीक्षण की 'अन्तर्रचित प्रणाली' है। निरीक्षण की दूसरी प्रणाली यह है कि प्रशासकीय अभिकरण के वरिष्ठ स्तर के अधिकारी अपने अधीनस्थ कार्यालयों के कार्य का निरीक्षण करें। उदाहरणार्थ, एक डिवीजनल कमिश्नर का कर्त्तव्य है कि वे अपने अधीन जिलाधीशों के कार्यालयों का निरीक्षण करे और जिलाधीशों का कर्त्तव्य है कि वह अपने अधीन तहसीलों का निरीक्षण करें। निरीक्षण की तीसरी प्रणाली यह है जिसमें सरकारी तौर पर एक स्वतन्त्र और पृथक् अभिकरण स्थापित किया जाता है और उसे केवल निरीक्षण सम्बन्धी काम ही सौंपा जाता है। ऐसे अभिकरण का उदाहरण उत्तर प्रदेश में 'कार्यालयों का निरीक्षणालय' (Inspectorate of Offices) है।

अच्छे अधीक्षक या पर्यवेक्षक की विशेषताएँ

प्रत्येक व्यक्ति एक अच्छा अधीक्षक नहीं हो सकता। इसके लिए वांछनीय गुणों अथवा योग्यताओं का होना अनिवार्य है। पिकनर ने एक अधीक्षक के लिए आठ आवश्यक गुणों की सूची प्रस्तावित की है जिसे डॉ. अवस्थी एवं माहेश्वरी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—1. कार्य की विषय-वस्तु पर अधिकार अर्थात् किए जाने वाले कार्य का विशेष ज्ञान, 2. वैयक्तिक योग्यताएँ, जैसे—दृढ़ चरित्र, 3. शिक्षण योग्यता अर्थात् कर्मचारियों तक अपने विचार पहुँचाने तथा उन्हें प्रबन्ध का दृष्टिकोण समझाने की योग्यता, 4. सामान्य दृष्टिकोण अर्थात् अधीक्षक को अपने कार्य से प्रेम होना चाहिए, उसे उसमें तन्मय रहना चाहिए और अधीनस्थ कर्मचारियों को प्रेरणा देनी चाहिए, 5. साहस और सहनशीलता अर्थात् निर्णय देने तथा उत्तरदायित्व की योग्यता, 6. नैतिकता तथा आचार सम्बन्धी बातों का ध्यान अर्थात् ऐसी बुराइयों से दूर रहना जिन्हें समाज निन्दनीय मानता है, 7. प्रशासकीय तकनीक अर्थात् प्रबन्धकीय योग्यता, तथा 8. जिज्ञासा और बौद्धिक योग्यता अर्थात् सतर्कता और नवीन विचारों को ग्रहण करने की क्षमता।

हाल्से (Halsey) ने अधीक्षक में निम्नलिखित 6 गुणों का उचित एवं सन्तुलित विकास आवश्यक माना है—1. परिपूर्णता (Thoroughness) अर्थात् अधीक्षक विषय से सम्बन्धित सभी सूचनाएँ एकत्र करे और सभी आवश्यक तथ्यों को ध्यान में रखे, 2. औचित्य (Fairness) अर्थात् अधीक्षक में कर्मचारियों के प्रति न्यायपूर्ण, सहानुभूतिपूर्ण और सखा रहे, 3. पहल (Initiative) अर्थात् अधीक्षक में साहस, आत्मविश्वास तथा निर्णय-क्षमता के गुण हों, 4. चातुर्य (Tact) अर्थात् अधीक्षक अपनी बातचीत और अपने कार्य द्वारा दूसरे लोगों की निष्ठा और उनका समर्थन प्राप्त करने में सक्षम हो, 5. उत्साह (Enthusiasm) अर्थात् अपने कर्तव्य, संगठन के उद्देश्य और आदर्श के प्रति अधीक्षक में पूर्ण रुचि और उत्साह हो, एवं 6. भावात्मक नियन्त्रण (Emotional Control) अर्थात् पर्यवेक्षक भावनाओं को समुचित रूप में नियन्त्रित कर सकने और समझने में समर्थ हो।

लोक प्रशासन के विद्वानों ने अच्छे अधीक्षक में कुछ और भी गुणों की खोज की है, जैसे—उसे चाहिए कि वह कठिनाइयों के समय मार्गदर्शन करे, उसे सन्देश प्रेषित करने में सक्षम हो, जिज्ञासु मन वाला (Inquisitive Mind) हो, नैतिक आदर्शों को समुचित महत्त्व देता हो एवं विश्वासी प्रकृति का हो। कदाचित् सर्वाधिक आवश्यक गुण है : मानवीय सम्बन्ध। किसी भी अधीक्षक की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि उसका कर्मचारियों के साथ कितना वैयक्तिक सम्बन्ध है। वह कर्मचारियों को केवल कर्मचारी ही समझता है या मनुष्य भी समझता है। केवल यान्त्रिक सम्बन्ध अधीक्षक को सफल नहीं बना सकते। इस प्रकार से पर्यवेक्षक के लिए तकनीकी और मानवीय गुणों से परिपूर्ण होना आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर पर्यवेक्षक में निम्नलिखित गुणों का होना अपेक्षित है— (1) परिपूर्णता (2) औचित्यता (3) पहल करने की शक्ति (4) निर्णय-क्षमता (5) कुशल नेतृत्व (6) उत्साह या जोश की भावना (7) विशेषज्ञता (8) चातुर्य (9) निर्देशन करने की शक्ति (10) दृढ़ चरित्र (11) उच्च शैक्षणिक योग्यता (12) साहस (13) सहनशीलता (14) उत्तरदायित्व की भावना (15) नैतिकता और अनुशासन (16) प्रशासकीय क्षमता (17) प्रबन्धकीय योग्यता (18) जिज्ञासा (19) बौद्धिक योग्यता (20) नवीन विचारों को अपनाने या ग्रहण करने की क्षमता तथा (21) भावात्मक नियन्त्रण।

सारांश में, यही कहा जा सकता है कि संगठन में कुशल पर्यवेक्षण के माध्यम से ही इसके संगठनात्मक तथा प्रक्रियागत पक्ष को सुदृढ़ किया जा सकता है।

प्रत्यायोजन

(Delegation)

प्रत्यायोजन प्रत्येक प्रशासकीय संगठन की एक आवश्यक विशेषता है जिसके बिना वह अपना कार्य भली प्रकार सम्पन्न नहीं कर सकता। प्रत्यायोजन को संगठन का एक ऐसा सिद्धान्त माना जा सकता है जो परम्परावादी विचारकों के आकर्षण का मुख्य केन्द्र होने के साथ ही संगठन के आधुनिक विचारकों की रुचि का भी मुख्य विषय है। पदसोपान के आधार पर जब एक संगठन में अधिकारियों के स्तर निर्धारित किए जाते हैं तो उनकी सत्ता का उल्लेख कर दिया जाता है। पदसोपानयुक्त संगठन में सत्ता कानूनी रूप से संगठन के अध्यक्ष में रहती है। अधीनस्थ अधिकारियों को कानूनी रूप से कोई सत्ता नहीं सौंपी जाती, तथापि यह नहीं कहा जा सकता है कि उनके पास किसी प्रकार की सत्ता होती ही नहीं। सत्ता के अभाव में कोई भी अधिकारी, चाहे वह किसी भी सोपान पर स्थित हो, अपने कार्यों को सम्पन्न नहीं कर सकता। अधीनस्थ अधिकारियों की सत्ता का स्रोत संगठन

का अध्यक्ष होता है जो इस बात का निर्णय करता है कि किस अधिकारी को कितनी सत्ता सौंपी जाए। सत्ता सौंपते समय वह स्वयं को उसके उत्तरदायित्वों से मुक्त नहीं कर सकता। प्रत्यायोजन की प्रक्रिया द्वारा उच्च अधिकारी सत्ता को स्वयं के पास रखता हुआ भी आंशिक रूप से अपने अधीनस्थों को हस्तान्तरित कर देता है। अधीनस्थ अधिकारी के पास उच्च अधिकारियों की शक्तियाँ एवं कर्तव्य आ जाते हैं और इस प्रकार श्रम का विभाजन हो जाता है, किन्तु फिर भी नियन्त्रण, पर्यवेक्षण एवं परिवर्तन आदि की सभी शक्तियाँ उच्च अधिकारियों के हाथों में रहती हैं। संगठन के बढ़ते हुए आकार और जटिल प्रक्रिया ने प्रत्यायोजन या हस्तान्तरण के महत्त्व को बहुत अधिक बढ़ा दिया है।

प्रत्यायोजन का महत्त्व (The Importance of Delegation)

प्रशासनिक संगठनों के व्यवहार में प्रत्यायोजन की प्रक्रिया का महत्वपूर्ण स्थान है। व्यावहारिक दृष्टि से इसका महत्त्व निम्नवत् है—

1. कार्यकुशलता (Efficiency)—संगठन का कोई भी अध्यक्ष उन सभी शक्तियों का स्वयं ही प्रयोग नहीं कर सकता जो कानूनी रूप से उसको सौंपी गई हैं। जब अध्यक्ष स्वयं ही संगठन से सम्बन्धित छोटे-छोटे मामलों पर निर्णय लेता है जो महत्वपूर्ण विषयों पर वह उतना ध्यान नहीं दे पाता जितना उसे देना चाहिए। अतः व्यावहारिक दृष्टि से यह आवश्यक है कि अध्यक्ष अपने कार्यभार को हल्का करने के लिए संगठन के यथासम्भव सभी स्तरों का उपयोग करे। इसके लिए यह व्यवस्था की जाती है कि उसे संगठन की उच्च-स्तरीय समस्याओं पर ही ध्यान देना पड़े। इस प्रक्रिया में प्रतिदिन के कार्यों एवं उनसे सम्बन्धित समस्याओं को उन अधीनस्थ अधिकारियों को सौंप दिया जाता है जिनमें उन्हें सम्पन्न करने की योग्यता एवं अनुभव होता है। निम्न पदों पर स्थित अधिकारी अपने से सम्बन्धित समस्याओं का पूरा ज्ञान रखते हैं। इस प्रकार प्रत्यायोजन की व्यवस्था द्वारा प्रत्येक को वह कार्य करने का अवसर प्राप्त हो जाता है जिसे करने के लिए वह योग्य होता है तथा जिसे वह अपनी रुचिपूर्वक पूरा कर सकता है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः संगठन की कार्यकुशलता बढ़ जाती है तथा अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में वह तीव्र गति से अग्रसर हो जाता है।

2. प्रशिक्षण (Training)—प्रत्यायोजन की व्यवस्था द्वारा संगठन के प्रत्येक व्यक्ति को कुछ शक्ति सौंपी जाती है ताकि वह अपने कार्यों को कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर सके। इन अधिकारियों पर उसे कार्यों का तात्कालिक उत्तरदायित्व डाला जाता है। इस प्रकार बिना अन्तिम रूप से उत्तरदायी बनाए ही इन अधिकारियों को जो कार्य करने के लिए कहा जाता है उसमें एक प्रकार से ये अधिकारी प्रशिक्षण प्राप्त कर लेते हैं। इसके बाद जब कभी उन पर वास्तविक रूप में उत्तरदायित्व डाले जाते हैं तो वे उनको वहन करने में अयोग्य सिद्ध नहीं होते और अपनी पूरी योग्यता एवं कुशलता के साथ उनका निर्वाह कर पाते हैं।

3. नियन्त्रण (Control)—संगठन के अनेक स्तरों के बीच जब सत्ता का प्रत्यायोजन हो जाता है तो एक यह निश्चित हो चुका होता है कि किस पदाधिकारी को क्या कार्य किस रूप में करना है। प्रत्येक के कार्यों का क्षेत्र एवं शक्तियों की सीमाएँ स्पष्ट रूप से बता दी जाती हैं। इस व्यवस्था के अन्तर्गत यदि संगठन के कार्य में किसी प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न हो जाए तो शीघ्र ही पता लगाया जा सकता है कि कौन अधिकारी इसके लिये उत्तरदायी है। ऐसी स्थिति में संगठन का अध्यक्ष संगठन के कार्यों पर प्रभावी नियन्त्रण रख सकता है।

4. मितव्ययता (Economy)—प्रत्यायोजन की व्यवस्था में संगठन के कार्यों पर होने वाला अपव्यय रुक जाता है। जिस कार्य पर जितना खर्च होना चाहिए उतना ही खर्च किया जाता है। यदि संगठन में प्रत्यायोजन न किया जाए तथा सत्ता का प्रयोग पूर्णरूप से उच्च अधिकारी द्वारा किया जाए, तो अपव्यय की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं क्योंकि संगठन का अध्यक्ष एक मनुष्य होने के नाते उन सभी खर्चों की मात्रा को भली प्रकार से नहीं जान पाता जिनका सम्बन्ध संगठन के नीचे के सोपानों से है और जो उच्च सोपान से बहुत दूर पड़ जाते हैं।

5. शीघ्रता (Promptness)—संगठन की प्रत्येक बात को जब एक ही व्यक्ति के निर्णय पर छोड़ दिया जाता है तो कार्यपूर्ति में विलम्ब होता है तथा समय पर निर्णय लिया जाना कठिन हो जाता है। हस्तान्तरण न होने पर संगठन की पूरी सत्ता उसके अध्यक्ष के हाथों में केन्द्रित हो जाती है और निम्न स्तर पर भी जो निर्णय लिए जाते हैं उनके क्रियान्वित किए जाने से पूर्व उनको उच्च अधिकारी की स्वीकृति के लिए भेजना होता है। स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर अध्यक्ष द्वारा जैसा निर्देश किया जाए वैसा ही उस सम्बन्ध में किया जाता है। सत्ता का हस्तान्तरण कर दिया जाता है तो संगठन के निम्न अधिकारी भी प्रतिदिन की समस्याओं के सम्बन्ध में कुछ निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। समय एवं आवश्यकता के अनुसार तत्काल निर्णय लेने के कारण समय पर कार्यवाही करना सम्भव हो जाता है।

प्रत्यायोजन का अर्थ (The Meaning of Delegation)

साधारणतया प्रत्यायोजन में उच्च अधिकारी अपनी कुछ सत्ता निम्न अधिकारियों को सौंप देता है, किन्तु स्वयं उन कार्यों के अंतिम उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो जाता। अपने अन्तिम उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए उसके पास अधीनस्थों पर नियन्त्रण, निरीक्षण एवं समन्वय की पर्याप्त शक्ति रहती है। जिन अधिकारियों को सत्ता प्रत्यायोजित की जाती है वे उसके आधार पर उनके लिए सौंपे गए कार्यों को सम्पन्न करते हैं। इन कार्यों का तात्कालिक उत्तरदायित्व भी उन्हीं के कन्धों पर रहता है। इस प्रकार प्रत्यायोजन की व्यवस्था में उत्तरदायित्व के दो रूप हो जाते हैं—प्रथम, अधीनस्थ अधिकारियों का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे अपना कार्य करें; द्वितीय, उच्च अधिकारियों का यह उत्तरदायित्व होता है कि वे कार्यों को सम्पन्न कराएँ। सत्ता के हस्तान्तरण का अर्थ बताते हुए प्रसिद्ध विचारक मूने (Mooney) ने लिखा है कि प्रत्यायोजन का अर्थ है उच्चतर सत्ता का विशिष्ट सत्ता को सौंपा जाना। संगठन का अध्यक्ष अपने अभिकरण या अधीनस्थ अधिकारियों को कुछ शक्तियाँ सौंप देता है तथा कुछ कार्यों के लिए उनको उत्तरदायी ठहरा देता है।

सत्ता के प्रत्यायोजन की व्याख्या करते हुए जो मत टैरी (Terry) द्वारा व्यक्त किया गया है वह सामान्य धारणा से कुछ भिन्न है। उनकी परिभाषा के अनुसार, "यह आवश्यक नहीं है कि सत्ता का प्रत्यायोजन उच्च अधिकारी द्वारा ही अपने अधीनस्थ अधिकारियों को किया जाए। नीचे के पदाधिकारी भी ऊँचे पदाधिकारियों को सत्ता का प्रत्यायोजन कर सकते हैं। संगठन में सत्ता का प्रत्यायोजन नीचे से ऊपर, ऊपर से नीचे तथा बराबर वालों के बीच भी हो सकता है।" टैरी तो केवल यह कह कर छोड़ देते हैं कि हस्तान्तरण का अर्थ है, "एक कार्यपालिका अथवा संगठन की किसी इकाई से दूसरी इकाई को सत्ता प्रदान किया जाना।"[1] अपने मत का स्पष्टीकरण करते हुए टैरी ने आगे कहा है, "जब किसी संगठन का 'प्रबन्धक' विक्रेता को अपनी सत्ता सौंप देता है तो वह ऊपर से नीचे की ओर प्रत्यायोजन कहलाता है और जब कुछ हिस्सेदार अपनी शक्ति किसी संचालक मण्डल को सौंप देते हैं तो वह नीचे से ऊपर की ओर प्रत्यायोजन माना जाएगा। बराबर के स्तरों पर प्रत्यायोजन के उदाहरण के रूप में कुछ अफ्रीकी कबीलों के सरदारों तथा उनके कबीले की केन्द्रीय सत्ता के मध्य स्थित प्रत्यायोजन को लिया जा सकता है।" मिलेट (Millet) के अनुसार, "सत्ता के प्रत्यायोजन का अर्थ दूसरे को कर्त्तव्य सौंप देने से कुछ अधिक है। प्रत्यायोजन का सार है दूसरों को स्वविवेक सौंपना ताकि वे अपने कर्त्तव्यों से सम्बन्धित विशिष्ट समस्याओं को सुलझाने में अपने निर्णयों का प्रयोग कर सकें।" सत्ता के हस्तान्तरण को लोक प्रशासन के अनेक विचारकों ने प्रत्येक प्रकार के संगठन की एक सर्वव्यापी विशेषता माना है जो व्यापारिक, औद्योगिक, सैनिक आदि सभी संगठनों में दृष्टिगोचर होती है।

कुछ विचारकों का यह मत भी है कि 'प्रत्यायोजन' लोक प्रशासन की विचारधारा की एक मिथ्या कल्पना है जो केवल शब्दजाल होने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस धारणा के पीछे शायद यह मान्यता हो सकती है कि प्रत्यायोजित सत्ता देने वाले द्वारा वापस ली जा सकती है। एक अध्यक्ष द्वारा जो भी सत्ता प्रत्यायोजित की जाती है उससे वह स्वयं को पूरी तरह से पृथक् नहीं कर लेता। अध्यक्ष को उसे वापस लेने की शक्ति होती है। प्रत्यायोजित शक्ति को वापस ले लेने पर अध्यक्ष चाहे तो स्वयं उसका उपयोग कर सकता है। इस सम्बन्ध में अध्यक्ष की शक्ति पर यह सीमा लगी रहती है कि वह प्रत्यायोजित सत्ता छीनते समय अथवा पुन: वितरित करते समय इस बात का ध्यान रखे कि इससे अधीनस्थ अधिकारियों का मनोबल तो नहीं गिरता है।

सत्ता के प्रत्यायोजन के सम्बन्ध में प्रो. न्यूमैन ने बताया है कि सामान्यतः सत्ता के हस्तान्तरण का अर्थ है किसी को कुछ करने की आज्ञा देना है।[2] हेमेन का कहना है कि "सत्ता का हस्तान्तरण का अर्थ केवल यह है कि अधीनस्थों को एक निर्धारित सीमा में कुछ करने की सत्ता सौंप दी जाए। प्रत्यायोजन की इस प्रक्रिया के कारण अधीनस्थ अधिकारी अपने उच्च अधिकारी से सत्ता प्राप्त करता है, किन्तु उच्च अधिकारी के पास सत्ता अब भी मौलिक रूप से बनी रहती है, वह उसे पूरी तरह से नहीं त्याग देता।"[3] सत्ता के प्रत्यायोजन की स्थिति की तुलना शिक्षण व्यवसाय से करते हुए हेमेन ने कहा है कि जिस प्रकार एक अध्यापक अपने विद्यार्थियों को शिक्षा दान करता है और फिर भी वह उस विद्या से युक्त बना रहता है, उसी प्रकार एक संगठन का अध्यक्ष या प्रबन्धक अपने अधीनस्थों को सत्ता सौंपने के बाद भी उस सत्ता से युक्त बना रहता है।

1 *Terry* : Op cit., 271
2. *Newman* . Administrative Action, p 163
3 *Haiman* : Op cit , p 46.

प्रत्यायोजन की प्रक्रिया (The Process of Delegation)

प्रत्यायोजन की एक विशेष प्रक्रिया होती है। प्रो. न्यूमेन के मतानुसार प्रत्यायोजन की प्रक्रिया के तीन पहलू होते हैं— (i) एक कार्यपालिका अपने तुरन्त के अधीनस्थों को कर्त्तव्य सौंप देती है, (ii) इन कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए वायदे करने, साधनों का प्रयोग करने तथा अन्य कार्य करने की आज्ञा (सत्ता) प्रदान कर दी जाती है, तथा (iii) इन कर्त्तव्यों की सन्तोषजनक सम्पन्नता के लिए प्रत्येक अधीनस्थ को कार्यपालिका के प्रति उत्तरदायी बना दिया जाता है। इस प्रकार जब भी कभी सत्ता का हस्तान्तरण किया जाता है तो अधीनस्थों को कुछ कर्त्तव्य सौंपे जाते हैं, उन कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए कुछ शक्तियाँ दी जाती हैं और उनको सौंपे गए कार्यों को सम्पन्न करने के लिए उत्तरदायी बनाया जाता है। प्रत्यायोजन के ये तीनों ही पहलू परस्पर सम्बन्धित हैं। प्रो. न्यूमेन के कथनानुसार, "कम से कम सिद्धान्त रूप में प्रत्यायोजन के इन तीन पहलुओं को पृथक् नहीं किया जा सकता और जब भी किसी एक पहलू में कोई परिवर्तन किया जाता है तो यह आवश्यक हो जाता है कि अन्य दो पहलुओं को भी उसके अनुरूप समायोजित किया जाए।"[1] उदाहरण के लिए, जब एक अधिकारी को अधिक कर्त्तव्य सौंपे जाते हैं तो यह आवश्यक हो जाता है कि उसे सौंपी गई शक्तियों की मात्रा बढ़ाई जाए तथा साथ ही उसे अधिक कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहराया जाए। इस प्रकार जब एक व्यक्ति के उत्तरदायित्व बढ़ जाते हैं तो उसकी शक्तियों एवं कर्त्तव्यों की मात्रा में भी तदनुरूप वृद्धि करनी होती है। प्रत्यायोजन की प्रक्रिया के इन पहलुओं पर हेमैन ने विस्तार के साथ विचार किया है। उन्होंने इस प्रक्रिया में तीन पहलुओं को सम्मिलित किया है—

1. कर्त्तव्य सौंपना (Assignment of Duties)—जब किसी संगठन का अध्यक्ष अधीनस्थ अधिकारियों को अपनी सत्ता का प्रत्यायोजन करता है तो सर्वप्रथम वह यह निर्णय लेता है कि कार्य को उनके बीच किस प्रकार वितरित किया जाए। संगठन में कार्यों को वितरित करते समय उसे कई बातों को ध्यान में रखना होता है। उदाहरण के लिए, वह यह देखता है कि प्रबन्ध के स्तर अधिक न हो जाएँ, साथ ही प्रबन्धक के नियन्त्रण का क्षेत्र भी न बढ़ जाए। इन दोनों अतियों के बीच एक स्वस्थ सन्तुलन रखना परम आवश्यक है। संगठन के अध्यक्ष के कार्यों का स्वरूप कई प्रकार का होता है जिनमें से कुछ वह अपने अधीनस्थों को सौंपना चाहेगा, अन्य कार्यों को वह किसी को भी सौंप देगा। कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं जिनको वह किसी भी व्यक्ति को नहीं सौंपना चाहेगा तथा उनको स्वयं ही सम्पन्न करेगा। एक अध्यक्ष अपनी कितनी शक्ति किसको सौंपेगा, यह समस्या इस बात पर निर्भर करती है कि उसका सामान्य दृष्टिकोण क्या है तथा अधीनस्थ अधिकारियों की संख्या एवं योग्यता क्या है? जब अध्यक्ष यह देखता है कि संगठन में कार्य करने वाले कर्मचारी काफी योग्य हैं और हस्तान्तरित उत्तरदायित्वों को पूरा कर सकते हैं तो वह अपनी सत्ता प्रत्यायोजित करने में संकोच नहीं करता, किन्तु जब उसे अपने अधीनस्थों की योग्यता पर विश्वास नहीं होता तो अधिक से अधिक कार्य वह स्वयं ही करना चाहता है। इस प्रकार योग्यता कार्य वितरण का मुख्य आधार बन जाती है।

2. सत्ता प्रदान करना (The Granting of Authority)—प्रत्यायोजन की प्रक्रिया का अन्य पहलू अधीनस्थ अधिकारियों को सत्ता प्रदान करना है ताकि वे सौंपे गए कार्यों को सम्पन्न कर सकें। एक पदाधिकारी को अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के लिए इतनी सामर्थ्य प्रदान की जानी चाहिए कि वह उपलब्ध साधनों का प्रयोग कर सके तथा अन्य आवश्यक कदम उठा सके। अधीनस्थों को निर्णय लेने तथा कार्य करने की शक्ति एक सीमित क्षेत्र में ही दी जा सकती है। सत्ता प्रदान करने से पूर्व उच्च अधिकारी यह देख लेता है कि उसे अधीनस्थों को कितनी सत्ता सौंपनी चाहिए। अधीनस्थों को दी जाने वाली सत्ता का क्षेत्र निश्चित करते समय कई बातें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालती रहती हैं। प्रभाव डालने वाले तत्त्वों में प्रथम तो यह है कि उच्च अधिकारी के पास सत्ता कितनी है? इसके अतिरिक्त दूसरा तत्त्व यह है कि अधीनस्थ अधिकारी को जो कर्त्तव्य सौंपे गए हैं वे कितने हैं? जब कभी कर्त्तव्यों के क्षेत्र में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है तो सत्ता के क्षेत्र में भी परिवर्तन कर दिए जाते हैं।

एक सफल तथा योग्य अध्यक्ष वही माना जाता है जो अपने अधीनस्थों को सौंपे गए कर्त्तव्यों तथा सत्ता की मात्रा के बीच सन्तुलन स्थापित कर सके। सत्ता का क्षेत्र कर्त्तव्यों के क्षेत्र से न तो कम होना चाहिए और न अधिक। दोनों ही स्थितियाँ संगठन के लिए उपयुक्त नहीं हैं। संगठन के पदसोपान में विभिन्न अधिकारियों का सत्ता-क्षेत्र अस्पष्ट रूप से परिभाषित कर दिये जाने पर संगठन में समन्वय एवं नियन्त्रण कायम करना सुगम बन जाता है। सत्ता-क्षेत्र अस्पष्ट होने पर कार्यों से भ्रम, संघर्ष तथा दोहराव पैदा होता है। प्रत्यायोजन की व्यवस्था को सफल बनाने के लिए यह जरूरी है कि संगठन के सभी सदस्य एक-दूसरे की शक्ति तथा उसकी सीमाओं से परिचित रहें।

---

1. *Haimann*: Op. cit., p. 56.

3. उत्तरदायित्व की रचना (Creation of Responsibilities)—हेमैन के अनुसार यह प्रत्यायोजन की प्रक्रिया का तीसरा एवं अन्तिम पहलू है जिसके बिना कोई भी प्रत्यायोजन पूरा नहीं हो सकता।[1] उत्तरदायित्व और सत्ता के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होता है तथा एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं है। जब एक अधीनस्थ कर्मचारी कोई कार्य करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेता है तो उसे अपने उच्च अधिकारी के प्रति जवाबदेह बनना पड़ता है। अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा उत्तरदायित्व का भार ग्रहण करने के बदले कुछ पुरस्कारों की माँग की जाती है और इन पुरस्कारों की मात्रा ही यह तय करती है कि वे अपने उत्तरदायित्व को कितना निभाएँगे ? उत्तरदायित्व के दोनों ही रूप हो सकते हैं अर्थात् वह कार्य की सम्पन्नता के साथ समाप्त भी हो सकता है और जारी भी रह सकता है। अनेक विचारकों का मत है कि उत्तरदायित्व का प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार सत्ता के प्रत्यायोजन के तीन पहलू होते हैं—कार्य का सौंपा जाना, सत्ता प्रदान करना और उत्तरदायित्व निर्धारित करना। एक सफल प्रत्यायोजन में इन तीनों ही पहलुओं के बीच एक प्रकार का सन्तुलन पाया जाता है। यह सन्तुलन जितना अधिक कुशल और निश्चित होता है, संगठन भी उतना ही अधिक कुशलता एवं सफलतापूर्वक कार्य करता है।

प्रत्यायोजन के रूप (*The Forms of Delegation*)

सत्ता के प्रत्यायोजन के दो पहलू होते हैं— एक वह जो अपनी सत्ता में से कुछ अंश दूसरे को प्रदान करता है तथा दूसरा वह जो अपने कार्यों की सम्पन्नता के लिए कुछ सत्ता प्राप्त करता है। इन दोनों ही पहलुओं की प्रकृति, सामर्थ्य एवं दृष्टिकोणों के आधार पर यह निश्चित होता है कि कितनी सत्ता सौंपी जाए और किस रूप में सौंपी जाए। इस प्रक्रिया पर ही प्रत्यायोजन की सफलता निर्भर करती है। इस प्रकार कोई संगठन जब सत्ता का प्रत्यायोजन करता है तो इस प्रत्यायोजन के कई रूप हो सकते हैं—

1. सरल प्रत्यायोजन (Simple Delegation)—प्रायः छोटे से छोटे प्रशासकीय संगठन में भी प्रत्यायोजन किया जाता है। जब एक संगठन में किसी अधिकारी के पास इतने कार्य हो जाएँ जिनको वह स्वयं न कर सके तो वह अपनी शक्तियों को संगठन के अन्य व्यक्तियों में विभाजित कर देता है। जब संगठन का रूप बड़ा होता है तो उसमें प्रत्यायोजन केवल उच्च अधिकारी द्वारा निम्न अधिकारी को ही नहीं किया जाता, वरन् निम्न अधिकारी भी प्रत्यायोजन स्वरूप प्राप्त शक्ति में से कुछ अपने अधीनस्थों में बाँट देते हैं। इस प्रकार बड़े संगठनों में बहुत से प्रत्यायोजन होते हैं। सरल प्रत्यायोजन में दी जाने वाली सत्ता का रूप जटिल नहीं होता और संगठन का प्रत्येक सदस्य स्पष्ट रूप से सत्ता के क्षेत्र एवं सत्ता की सीमाओं से परिचित रहता है।

2. विशिष्ट प्रत्यायोजन (Special Delegation)—प्रत्यायोजन का रूप विशिष्ट भी हो सकता है और सामान्य भी। प्रायः प्रत्येक संगठन में प्रत्यायोजन का विशिष्ट (Specific) होना एक अच्छी बात समझी जाती है, अनेक बार प्रत्यायोजक अधिकारी यह स्पष्ट रूप से नहीं बताता कि वह कौन-कौनसी शक्तियाँ किस रूप में अपने अधीनस्थों को सौंप रहा है। वह उनसे केवल यह कह देता है कि वे उत्तरदायित्व सम्भाल लें और जो चाहें करें। सत्ता के प्रत्यायोजन का यह रूप सन्तोषजनक नहीं समझा जा सकता और यह कहा जाता है कि संक्षिप्त और स्पष्ट होना अधिक अच्छा है बजाय इसके कि संगठन के सदस्य यह अनुमान लगाते रहें कि कितनी सत्ता किसके हाथ में है। इससे अनेक बार भ्रम और अस्पष्टता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो संगठन के लिए घातक सिद्ध होती है।

3. पूर्ण अथवा आंशिक प्रत्यायोजन (Full or Partial Delegation)—प्रत्यायोजन के दोनों ही रूप हो सकते हैं—वह पूर्ण भी हो सकता है और आंशिक भी। पूर्ण प्रत्यायोजन का अर्थ है—संगठन का सत्ताधारी अपनी शक्तियों को एजेंट के हाथों में सौंप दे। इस प्रकार के प्रत्यायोजन में कूटनीतिक या राजनयिक प्रतिनिधियों को सम्मिलित किया जा सकता है। जब एक देश दूसरे देश में अपना कूटनीतिक प्रतिनिधि भेजता है तो वह अपनी पूरी शक्तियाँ प्रत्यायोजित कर देता है। इस प्रकार प्रत्यायोजन में अध्यक्ष की स्थिति एक नाममात्र की रह जाती है और उसकी सत्ता का प्रयोग पूरी तरह से उसके अधीनस्थ द्वारा किया जाता है। प्रत्यायोजन का यह रूप प्रशासकीय संगठनों में अधिक प्रचलित नहीं है। इन संगठनों में जिस प्रकार का प्रत्यायोजन पाया जाता है वह प्रायः आंशिक होता है और उसमें अध्यक्ष अपनी कुछ शक्तियाँ अधीनस्थों को सौंप देता है तथा शेष का प्रयोग वह स्वयं करता है।

4. औपचारिक या अनौपचारिक प्रत्यायोजन (Formal or Informal Delegation)—किसी भी संगठन में किया जाने वाला प्रत्यायोजन औपचारिक भी हो सकता है और अनौपचारिक भी। औपचारिक प्रत्यायोजन वह कहलाता है जो किसी लिखित नियम, कानून या आदेश द्वारा किया जाता है। इस प्रकार के प्रत्यायोजन में अध्यक्ष का योगदान बहुत कम होता है तथा संगठन के रचनाकारों और योजनाकारों द्वारा पहले से ही इसकी व्यवस्था कर दी जाती है। संगठन के परम्परावादी विचारक प्रत्यायोजन के औपचारिक रूप में बहुत विश्वास करते

हैं। इसके विपरीत संगठन से सम्बन्धित वर्तमान प्रयोगों, अनुसन्धानों एवं अध्ययनों के आधार पर यह कहा जाता है कि औपचारिक प्रत्यायोजन व्यवहार में अधिक महत्त्व नहीं रखता। प्रत्येक संगठन जब अपनी औपचारिकताओं को क्रियान्वित करने लगता है तो उस पर अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा व्यक्तिगत प्रभाव पड़ते हैं और वह उन प्रभावों की अवहेलना नहीं कर पाता। जो संगठन इन परिवेशों की उपेक्षा करते हैं, वे सफल नहीं हो पाते हैं।

इस प्रकार संगठन में प्रत्यायोजन का अनौपचारिक रूप विकसित हो जाता है। कई बार यह देखा जाता है कि अधीनस्थ अधिकारी अपने उच्च अधिकारी की उन शक्तियों का प्रयोग कर रहा होता है जो वास्तव में उसे प्रत्यायोजित नहीं की गई हैं। औपचारिक रूप से प्राप्त न होते हुए भी जब एक अधिकारी कुछ शक्तियों का प्रयोग करता है तो वह ऐसा केवल उन्हीं स्थितियों में कर सकता है जबकि उच्च अधिकारी के साथ उसके सम्बन्ध अनौपचारिक हों। संगठन की परम्पराएँ, रीति-रिवाज तथा व्यवहार इस प्रकार के अनेक अनौपचारिक प्रत्यायोजनों (Informal Delegations) की रचना कर देते हैं। जिस प्रकार एक देश के प्रशासन में लिखित संविधान के अतिरिक्त अभिसमयों (Conventions) का प्रभाव रहता है उसी प्रकार एक संगठन में औपचारिक प्रत्यायोजन के साथ-साथ अनौपचारिक प्रत्यायोजन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह इसलिए होता है क्योंकि आने वाली समस्याओं एवं परिस्थितियों का पहले से ही अनुमान नहीं लगाया जा सकता है।

5. सशर्त अथवा अशर्त प्रत्यायोजन (Conditional or Unconditional Delegation)— प्रत्यायोजन का एक अन्य रूप यह भी होता है कि उसके साथ या तो कुछ शर्तें लगाई जाती हैं अथवा नहीं लगाई जाती हैं। जिस प्रत्यायोजन के साथ कुछ शर्तें लगा दी जाती हैं उसे हम सशर्त प्रत्यायोजन कहते हैं। सशर्त प्रत्यायोजन में सत्ता प्रदान करने वाले को यह अधिकार रहता है कि वह सत्ता पाने वाले के कार्यों को समय-समय पर देखता रहे, उसमें परिवर्तन के लिए सुझाव देता रहे तथा कार्यों को स्वीकृत या अस्वीकृत कर सके। अशर्त प्रत्यायोजन में उच्च अधिकारी के पास यह शक्ति नहीं होती कि वह अधीनस्थों के कार्यों को प्रत्येक स्तर पर देखता रहे। इस प्रकार के प्रत्यायोजन में उच्च अधिकारी के पास केवल यह अधिकार रहता है कि यदि वह चाहे तो प्रत्यायोजित की गई सत्ता को समाप्त कर दे या वापस ले ले, किन्तु वह उस समय हस्तक्षेप नहीं कर सकता जबकि अधीनस्थ अधिकारी द्वारा उसका प्रयोग किया जा रहा है। इस प्रकार सशर्त प्रत्यायोजन में सत्ता प्रदान करने वाले की स्थिति अधिक शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण होती है।

6. प्रत्यायोजन के दिशा भेद (Difference in Directions of Delegation)—प्रत्यायोजन कौन करता है तथा किसके लिए करता है, इस आधार पर हम उसे कई रूपों में विभाजित कर सकते हैं। जब प्रत्यायोजन करने वाला उच्च अधिकारी अपनी शक्तियाँ अधीनस्थों को सौंपता है तो वह नीचे की ओर का प्रत्यायोजन (Downward Delegation) कहलाता है। अधिकांश संगठनों में प्रत्यायोजन की दिशा प्रायः ऊपर से नीचे की ओर ही होती है, अर्थात् वहाँ उच्च अधिकारियों द्वारा नीचे के पदाधिकारियों को शक्ति हस्तान्तरित की जाती है। जब कभी प्रत्यायोजन नीचे के अधिकारियों द्वारा उच्च अधिकारी को किया जाता है तो ऊपर की ओर का प्रत्यायोजन (Upward Delegation) कहते हैं। सत्ता के प्रत्यायोजन का यह रूप अधिक प्रचलित नहीं है फिर भी जहाँ-तहाँ इसके उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। जब एक देश की जनता अपनी सम्प्रभु शक्ति में से संसद् अथवा कार्यकारिणी को सत्ता सौंपती है तो वह इसी प्रकार का हस्तान्तरण होता है। कई बार सत्ता ऐसे लोगों को सौंप दी जाती है जो संगठन के सदस्य नहीं होते वरन् संगठन के बाहर रहते हैं। यह प्रत्यायोजन बाहर का प्रत्यायोजन (Outward Delegation) कहलाता है। दिशाओं के आधार पर प्रत्यायोजन का एक रूप यह भी होता है जब बराबर के पदाधिकारियों में प्रत्यायोजन किया जाता है। इस प्रकार के प्रत्यायोजन को टैरी ने पार्श्व का प्रत्यायोजन (Sidewise Delegation) कहा है।

7. प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रत्यायोजन (Direct or Indirect Delegation)—प्रत्यायोजन कई बार तो प्रत्यक्ष रूप से कर दिया जाता है और कई बार उसके लिए अप्रत्यक्ष साधन अपनाने पड़ते हैं। मूनी के मतानुसार इस आधार पर हम प्रत्यायोजन को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं— पहला भाग वह है जिसमें उच्च अधिकारी अपनी सत्ता के कुछ भाग को सीधे रूप में अपने अधीनस्थ को सौंप देता है। उन दोनों के बीच कोई जोड़ने वाली कड़ी नहीं होती। प्रत्यायोजन की इस प्रक्रिया को प्रत्यक्ष (Direct or Immediate) प्रत्यायोजन कहा जाता है। प्रत्यायोजन के दूसरे प्रकार में सत्ता देने वाले और लेने वाले के बीच एक अथवा एक से अधिक मध्यस्थ आ जाते हैं और उच्च अधिकारी अपनी सत्ता को उन मध्यस्थों के माध्यम से ही सत्ता पाने वाले तक पहुँचाता है। यह सत्ता का अप्रत्यक्ष प्रत्यायोजन कहलाता है।

प्रत्यायोजन की सीमाएँ (The Limitations of Delegation)

सत्ता का प्रत्यायोजन प्रत्येक संगठन की अनिवार्य स्थिति है, परन्तु कोई अधिकारी अपनी प्रत्येक शक्ति किसी को हर समय के लिए नहीं सौंपता अतः सत्ता कितनी वितरित की जावे इसका निश्चय करना अनेक तत्वों पर निर्भर करता है। सत्ता के प्रत्यायोजन की ऐसी अनेक निम्नांकित सीमाएँ हैं जो उसे किसी क्षेत्र में लागू होने से रोक देती हैं।

1. **वैधानिक सीमा**—जब किसी संगठन की स्थापना की जाती है तो उसके संस्थापकों द्वारा यह निश्चित कर दिया जाता है कि कौन अधिकारी, अपनी कितनी सत्ता, किस अधिकारी को प्रत्यायोजित करेगा। प्रशासनिक संगठनों में देश का संविधान या कानून अथवा स्वयं उन संगठनों के नियम स्पष्ट रूप से प्रत्यायोजन का क्षेत्र निर्धारित कर देते हैं। संगठन के अधिकारियों की प्रत्यायोजन करने की सामर्थ्य पर सीमाएँ लगा दी जाती हैं। इन सीमाओं के उल्लंघन को अवैधानिक या गैर-कानूनी माना जाता है। संगठन का एक योग्य एवं दूरदर्शी अधिकारी प्रत्यायोजन करते समय इन औपचारिक सीमाओं का ध्यान रखता है।

2. **विषयों की प्रकृति**—अनेक शक्तियाँ ऐसी होती हैं जिनका प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए उच्च अधिकारी को यह अधिकार है कि वह अपने तुरन्त के अधीनस्थ के कार्यों का अधीक्षण (Supervision) करे। वह अपने इस अधिकार का प्रयोग स्वयं ही करेगा और किसी भी हालत में किसी अन्य को यह अधिकार नहीं सौंप सकता। अन्य विषय जिनका प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता, कई भागों में विभाजित किए जा सकते हैं। प्रथम, कुछ नीति सम्बन्धी नियम होते हैं जिनमें उच्च अधिकारी को नई नीतियों और योजनाओं को स्वीकृति देने तथा पुरानी नीतियों और परम्पराओं को ठुकराने की शक्ति होती है। वह अपनी इस शक्ति को कभी प्रत्यायोजित नहीं करेगा। द्वितीय, संगठन के आर्थिक अधीक्षण की शक्तियाँ तथा व्यय को मान्यता देने का अधिकार अध्यक्ष की प्रमुख शक्तियों में गिना जाता है। वह अपनी इस शक्ति को प्रायः प्रत्यायोजित नहीं करता। तृतीय, प्रत्यायोजन करने वाले अधिकारी के हाथ में जब संगठन से सम्बन्धित नियम बनाने की शक्ति सौंपी जाती है तो यह आशा की जाती है कि शक्ति का प्रयोग वह स्वयं करेगा और प्रायः यह देखा जाता है कि वह अपनी इस शक्ति को प्रत्यायोजित नहीं करता। चतुर्थ, अध्यक्ष को उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति के कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं। इन अधिकारों का प्रयोग भी वह स्वयं ही करता है। इन विषयों के अतिरिक्त अधीनस्थ कर्मचारियों की शिकायतें सुनने तथा उन पर निर्णय देने आदि के अधिकारों का भी अध्यक्ष द्वारा स्वयं ही प्रयोग किया जाता है। ये सभी विषय अध्यक्ष की प्रत्यायोजन करने की प्रकृति को सीमित करते हैं।

3. **अधीनस्थों की योग्यता**—सत्ता का प्रत्यायोजन प्रायः तभी किया जाता है जब निम्न अधिकारी हस्तान्तरित सत्ता का प्रयोग करने की योग्यता एवं सामर्थ्य रखते हों। कोई भी योग्य अध्यक्ष ऐसे व्यक्ति को अपनी सत्ता हस्तान्तरित नहीं करेगा जो उसका ठीक प्रयोग न कर सके; क्योंकि अयोग्य व्यक्तियों को सौंपी जाने वाली सत्ता का दुष्परिणाम संगठन को भुगतना पड़ता है। उच्च अधिकारी अपनी शक्ति को अन्य अधिकारियों को न सौंपने का कारण यह बताते हैं कि अधीनस्थ अधिकारी इतने योग्य नहीं है कि वे सत्ता का प्रयोग कर सकें।

4. **अध्यक्ष का दायित्व**—नए संगठनों में यह आवश्यक है कि प्रतिदिन के कार्यों से सम्बन्धित निर्णय उसी व्यक्ति द्वारा लिए जाएँ जो संगठन के समूचे चित्र का ज्ञान रखता हो तथा जिसके मस्तिष्क में संगठन का भावी रूप स्पष्ट हो। संगठन के अध्यक्ष के अतिरिक्त कोई व्यक्ति इस प्रकार का नहीं हो सकता और न ही प्रतिदिन की समस्याओं से सम्बन्धित उचित निर्णय ही ले पाता है। अधीनस्थ अधिकारी इन समस्याओं पर निर्णय तभी ले सकते हैं जब तत्सम्बन्धी अनेक परम्पराएँ विकसित हो चुकी हों तथा संगठन व्यवस्थित हो चुका हो। नए संगठन में ये दोनों ही विशेषताएँ नहीं पाई जातीं, अतः इन संगठनों में प्रायः सभी महत्वपूर्ण निर्णय स्वयं अध्यक्ष द्वारा लिए जाते हैं और वह सत्ताओं का हस्तान्तरण नहीं करता।

5. **संचार-साधन एवं नियन्त्रण की प्रक्रियाएँ**—प्रत्यायोजन की एक अन्य सीमा संचार-साधनों तथा नियन्त्रण की प्रक्रियाओं द्वारा लगाई जाती है। पूर्ववर्ती संगठनों में संचार तथा नियन्त्रण के परम्परागत साधनों का प्रयोग किया जाता था, इसलिए प्रत्यायोजन की व्यवस्था प्रभावी रूप से कार्य नहीं कर सकती थी। सम्भवतः यही कारण है कि उस समय प्रत्यायोजन करते समय एक अधिकारी पूरी तरह सोच-विचार करता था। आज भी संचार-साधनों द्वारा प्रत्यायोजन पर सीमा लगाने का कार्य किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि जो संगठन संचार-साधनों की दृष्टि से अधिक समृद्ध नहीं होता उसमें प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता क्योंकि इसके अभाव में, उच्चाधिकारी निम्न अधिकारियों को अपनी बात को सही रूप में सम्प्रेषित नहीं कर सकेगा।

6. **संगठन की प्रक्रिया**—प्रत्यायोजन केवल उसी बिन्दु तक किया जा सकता है जहाँ वह संगठन की प्रक्रिया पर कोई घातक प्रभाव न डाले। जिस संगठन में प्रत्यायोजन इतना कर दिया जाता है कि उसके विभिन्न सदस्यों के कार्यों के बीच समन्वय करना भी कठिन हो जाए तो स्वभावतः कुछ समय बाद वह संगठन में अपना अस्तित्व खो देगा।

7. संगठन का आकार—छोटे आकार के संगठनों में अधिक प्रत्यायोजन की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि संगठन के अध्यक्ष के पास रहने वाली सत्ता की मात्रा बहुत कम होती है। वह स्वयं ही इस सत्ता का प्रयोग कुशलतापूर्वक कर सकता है। संगठन जितना अधिक छोटा होगा उसमें किया जाने वाला प्रत्यायोजन भी उतना ही कम हो जाएगा। इसके विपरीत जो संगठन आकार में बड़े होते हैं तथा जिनकी भौगोलिक सीमाएँ पर्याप्त होती हैं, उनमें प्रत्यायोजन उतना ही अधिक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण बन जाता है।

सत्ता का प्रत्यायोजन कैसे किया जाए ? उपाय और सिद्धान्त

(How to Delegate Authority ? Devices and Principles)

सत्ता के प्रत्यायोजन के सम्बन्ध में मुख्य रूप से दो प्रश्न उपस्थित होते हैं, जैसे—कितनी सत्ता हस्तान्तरित की जाए ? सत्ता किसे हस्तान्तरित की जाए ? इन सभी प्रश्नों के उत्तरों के लिए जरूरी है कि प्रत्यायोजन की समस्याओं को सुलझाने के कुछ उपाय खोजे जाएँ और साथ ही प्रत्यायोजन के मान्य सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त की जाए।

एक सफल प्रत्यायोजन के उपाय (Devices of Successful Delegation)

एक सफल प्रत्यायोजन के लिए निम्नलिखित स्थितियों का होना जरूरी है—

1. नियमित सम्बन्धों की स्थापना—उच्च अधिकारियों को कर्मचारी-वर्ग के साथ नियमित रूप से सम्बन्ध स्थापित रखने चाहिए कि सत्ता का प्रयोग किस प्रकार किया जा रहा है। प्रत्यायोजन के सम्बन्ध में समय-समय पर अनेक समस्याएँ उठती रहती हैं। उच्च अधिकारी का यह कर्त्तव्य है कि वह सम्बन्धित व्यक्तियों से समस्याओं पर विचार-विमर्श करे और यदि उनके मस्तिष्क में संगठन की प्रक्रिया से सम्बन्धित कोई सन्देह हो तो उसे तत्काल दूर कर दे।

2. सत्ता का स्पष्ट रूप से विभाजन—प्रत्यायोजित सत्ता की सीमाओं को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाना चाहिए। यह उचित है कि सत्ता के क्षेत्र को लिखित रूप में निर्धारित कर दिया जाए ताकि अधीनस्थ अधिकारियों को मार्गदर्शन प्राप्त होता रहे। प्रत्येक पदाधिकारी के सत्ता-क्षेत्र को स्पष्ट करने के लिए व्याख्याएँ, लेखे तथा चार्ट तैयार किए जाने चाहिए। हेमन का विचार है कि यद्यपि प्रत्यायोजन करने वाले प्रबन्धक द्वारा सत्ता के क्षेत्र को स्पष्ट रूप में लिखित रूप दे देने के पश्चात् भी उसका कर्त्तव्य है कि समय-समय पर वह देखता रहे कि अधीनस्थ अधिकारी प्रत्यायोजित सीमाओं में कार्य कर रहा है अथवा नहीं।[1] जब कार्य के संचालन से सम्बन्धित अभिलेखों और कागजातों का व्यवस्थित योजनानुसार अवलोकन किया जाता है तो संगठन में नियन्त्रण रखना सुविधाजनक बन जाता है।

3. अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा उच्चाधिकारियों को सूचित करना—अधीनस्थ अधिकारियों का, जिन्हें सत्ता प्रत्यायोजित की जाती है, कर्त्तव्य है कि वे अपने कार्यों की प्रगति, परिणाम और समस्याओं के सम्बन्ध में उच्च अधिकारियों को सूचित करते रहें। उच्च अधिकारी का भी यह कर्त्तव्य है कि वह इन सूचनाओं की समीक्षा करता रहे ताकि संगठन की प्रगति एवं समस्याओं का स्पष्ट चित्र उसके सामने प्रस्तुत रहे। अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा भेजे जाने वाले प्रतिवेदन सरल और संक्षिप्त होने चाहिए।

4. उच्च अधिकारियों द्वारा विशेष दृष्टिकोण अपनाना—सत्ता का प्रत्यायोजन संगठन के अध्यक्ष और अधीनस्थों के बीच स्थित एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है। कुछ व्यक्तिगत दृष्टिकोण प्रत्यायोजन की कला में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। कई अधिकारी दूसरों द्वारा की गई गलतियों को सामान्य नियम अथवा 'रुटीन' (Routine) मानते हैं। कभी-कभी गलतियों को वे अधिक गम्भीरता से नहीं देखते और यदि गलतियाँ बार-बार की जाती हैं तो वे अधीनस्थ अधिकारियों का मार्गदर्शन करते हैं। प्रत्यायोजन की सफलता के लिए आवश्यक है कि उच्च अधिकारी अधीनस्थों की गलतियों के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण अपनाए और यह मान कर चले कि प्रत्येक व्यक्ति भूलें करके ही सीखता है। इस दृष्टिकोण से वह कर्मचारियों का सम्मान और विश्वास अर्जित करने में सफल होगा।

5. अध्यक्ष का उदार दृष्टिकोण—एक अच्छे प्रत्यायोजन के लिए अधीनस्थ अधिकारियों के प्रति अध्यक्ष के मन में विश्वास होना अत्यन्त आवश्यक है। कई संगठनों में यह देखने में आता है कि उच्च अधिकारी अधीनस्थों के सम्भावित विकास के प्रति भयभीत रहते हैं। वे यह सोचते हैं कि प्रत्यायोजन द्वारा अधीनस्थ इतने योग्य बन पाएँगे कि उनका स्वयं का कोई महत्व नहीं रहेगा। एक अच्छे प्रत्यायोजन में इस प्रकार का भय नहीं होना चाहिए।

6. निरीक्षण एवं सर्वेक्षण की व्यवस्था—एक संगठन में प्रत्यायोजन को सफल और प्रभावी बनाने के लिए जरूरी है कि अध्यक्ष की सहायतार्थ कुछ कर्मचारी नियुक्त किए जाएँ जिनका यह दायित्व हो कि प्रत्यायोजित की गई शक्तियों के व्यवहार का निरीक्षण कर यह देखें कि कहाँ क्या हो रहा है। इस प्रकार के निरीक्षण एवं सर्वेक्षण से अनेक प्रक्रिया सम्बन्धी दोष सामने आते हैं। इन दोषों को दूर करने के लिए उपाय ढूँढ़ना संगठन की प्रगति के लिए आवश्यक है।

1. *Haimann* : Op. cit. p. 49

प्रत्यायोजन के सिद्धान्त (The Principles of Delegation)

प्रत्यायोजन की प्रक्रिया को कुशल एवं सार्थक बनाने के लिए निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को अपनाया जाता है—

1 आज्ञा-क्रम का पालन—सत्ता का प्रत्यायोजन करते समय सदैव ध्यान रखना चाहिए कि आज्ञा-क्रम का उल्लंघन न हो जाए अर्थात् एक व्यक्ति जिसको सत्ता प्रत्यायोजित की गई है वह सत्ता देने वाले अधिकारी का तुरन्त का अधीनस्थ (Immediate Subordinate) हो। यदि ऐसा नहीं किया गया तो इसे सत्ता की श्रेणी के सिद्धान्त (Principles of Line Authority) के विपरीत माना जाएगा। जब एक उच्च अधिकारी अपने तुरन्त के अधीनस्थ की अवहेलना कर संगठन के किसी अन्य अधिकारी को अथवा बाहर के किसी व्यक्ति को अपनी सत्ता देता है तो संगठन के कर्मचारियों में मनमुटाव उत्पन्न हो जाता है। इसे रोकने का उपाय यही है कि यदि सत्ता किसी वरिष्ठ अधिकारी को नहीं सौंपी जा सकती है तो वह किसी को भी न सौंपी जाए। कुछ विशेष परिस्थितियों में सत्ताधारी व्यक्ति वरिष्ठ अधिकारी के अतिरिक्त व्यक्तियों को अपनी सत्ता सौंपना अधिक उपयुक्त समझता है। साथ ही वरिष्ठ अधिकारी को भी इसमें अधिक आपत्ति नहीं होती है, किन्तु ऐसा करने के पूर्व उसकी स्वीकृति लिया जाना आवश्यक है। जब कभी समान स्तर के अधिकारियों में सत्ता का प्रत्यायोजन किया जाए तो शक्ति के वितरण में एकरूपता बरती जानी चाहिए।

2. पद के लिए—शक्ति का प्रत्यायोजन पद के लिए किया जाना चाहिए न कि किसी व्यक्ति के लिए। हेमैन का कथन है कि एक उद्यम में व्यक्तियों की अपेक्षा पदों को कर्त्तव्य सौंपे जाते हैं तथा सत्ता प्रत्यायोजित की जाती है।[1] संगठन के विभिन्न पदों पर व्यक्तियों का रहना जरूरी होता है। इसके अभाव में सौंपी गई सत्ता और कर्त्तव्यों का पालन नहीं किया जा सकता। सम्भवतः यही कारण है कि जब हम सत्ता के प्रत्यायोजन की बात करते हैं तो पदों की अपेक्षा व्यक्तियों का उल्लेख किया जाता है।

3. सत्ता सामर्थ्य के अनुसार सौंपी जाए—सत्ता के प्रत्यायोजन का एक अन्य सिद्धान्त यह है कि एक अधिकारी को केवल इतनी ही सत्ता सौंपी जाए जिसका वह निर्वाह कर सके। अतएव ऐसी स्थिति उत्पन्न न हो जाए कि अधीनस्थ अधिकारी प्रत्यायोजित सत्ता को आगे प्रत्यायोजित कर दे। यदि संगठन में सत्ता का उप-प्रत्यायोजन जरूरी हो तो इसके लिए संगठन की प्रक्रिया की नियमावली में उल्लेख किया जाना चाहिए।

4. कर्त्ता सत्तावान हो—प्रत्यायोजन एक ऐसे अधिकारी द्वारा होना चाहिए जो समर्थ तथा सत्ताधारी हो। जिस व्यक्ति के पास स्वयं की सत्ता नहीं है वह अन्य को कैसे प्रत्यायोजित कर सकता है।

5. प्राप्तिकर्त्ता योग्य हो—सत्ता प्राप्त करने वाले व्यक्ति का योग्य होना भी आवश्यक है। जिन अधिकारियों को सत्ता सौंपी जा रही है वे इतने योग्य हों कि सत्ता के उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सकें।

6. संक्षिप्त, स्पष्ट तथा लिखित—संगठन में जब भी सत्ता का प्रत्यायोजन किया जाए तो यह संक्षिप्त, स्पष्ट तथा लिखित होनी चाहिए ताकि संगठन के अन्य सभी सदस्य भी उससे परिचित हो सकें। संगठन में समन्वय तभी स्थापित किया जा सकता है जब उसका प्रत्येक कर्मचारी अपनी तथा अपने सहयोगियों की सत्ता, उत्तरदायित्व एवं उनकी सीमाओं से भली-भाँति परिचित हो।

प्रो. न्यूमैन ने प्रत्यायोजन के निम्नलिखित तीन मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख किया है—

(1) उत्तरदायित्व का प्रत्यायोजन नहीं—उत्तरदायित्व को प्रत्यायोजित नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ यह है कि किसी भी अधिकारी को अपनी सत्ता प्रत्यायोजित करने के बाद यह नहीं सोच लेना चाहिए कि वह अपने कार्यों को उचित रूप से सम्पन्न करने के लिए उत्तरदायी नहीं रहा है। दूसरी ओर अधीनस्थ अधिकारी को भी यह नहीं सोचना चाहिए कि उसका बॉस (Boss) सत्ता को प्रत्यायोजित कर चुका है, इसलिए उसे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। न्यूमैन के शब्दों में, "प्रत्यायोजन द्वारा जवाबदेयता (Accountability) दूर नहीं हो जाती।"[2]

(2) दोहरी अधीनस्थता को दूर रखना—जहाँ तक हो सके दोहरी अधीनस्थता को दूर करना चाहिए। एक व्यक्ति एक साथ ही दो मालिकों की ठीक प्रकार सेवा नहीं कर सकता। आदेश की एकता का सिद्धान्त कार्य-कुशलता एवं सक्रियता के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक व्यक्ति को यदि दो अधिकारियों द्वारा आज्ञा दी जाने लगी तो भ्रम पैदा हो जाएगा। जब दोहरी अधीनस्थता कायम कर दी जाती है तो कर्मचारी यह निर्णय नहीं कर पाता कि किस आज्ञा को आगे के लिए छोड़ दिया जाए और किस आज्ञा को तुरन्त माना जाए। न्यूमैन के अनुसार, "दोहरी अधीनस्थता हीन मनोबल का कारण बनती है क्योंकि एक सचेत कर्मचारी जब वह कार्य नहीं कर पाएगा जिसमें आशा की जाती है तो उसे घोर निराशा होगी।"

1 *Haimann* Op cit., p 48.
2 *Newman*, Op cit., p 172.

(3) सत्ता और उत्तरदायित्व की मात्रा का समान होना—सत्ता और उत्तरदायित्व की मात्रा समान होनी चाहिए। यदि हम किसी व्यक्ति को एक कार्य के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं और उसे तत्सम्बन्धी निर्णय लेने की शक्ति नहीं देते तो यह एक प्रकार से अन्याय है। दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि जब एक व्यक्ति को कुछ करने की शक्ति दी जाती है तो उसे उस कार्य के लिए उत्तरदायी भी ठहराया जाना चाहिए।

प्रत्यायोजन की बाधाएँ (Hinderances of Delegation)

एक सफल प्रशासन के लिए प्रत्यायोजन की स्वस्थ व्यवस्था अनिवार्य है, लेकिन प्रत्यायोजन के क्रियान्वयन में अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं। इस दिशा में प्रो. फिफनर ने निम्नांकित मानव कमजोरियों का वर्णन किया है जिनके कारण संगठन में प्रत्यायोजन सफल नहीं हो पाता—

1. जो व्यक्ति पदसोपान के नेतृत्व में अग्रसर होना चाहता है उसमें सामान्य से अधिक अहंकार होता है।

2. उसको यह डर रहता है कि दूसरे लोग ठीक तरह से सही निर्णय नहीं ले सकते तथा उनको सही तरीके से क्रियान्वित नहीं कर सकते।

3. उसको यह भी भय रहता है कि प्रभावशाली अधीनस्थों का एक शक्तिशाली केन्द्र बन जाएगा जो उसके प्रति स्वामिभक्ति नहीं रखेगा।

4. जो व्यक्ति दृढ़, शक्तिशाली और ऊँचे लक्ष्यों वाले होते हैं, वे अधीनस्थों के कार्यों में तीव्र गति नहीं देखना चाहते, अतः सत्ता के प्रत्यायोजन की स्थिति चाहते हैं।

5. लोक प्रशासन में अनेक राजनीतिक कारण ऐसे उत्पन्न हो जाते हैं जिनमें प्रत्यायोजन कठिन बन जाता है।

6. प्रत्यायोजन देश की सांस्कृतिक परिस्थितियों से भी प्रभावित होता है। जिस देश की सांस्कृतिक परम्परा सत्तावादी और पैतृक नेतृत्व की होती है उसमें प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता या बहुत कम किया जा सकता है। इसलिए जब कभी प्रत्यायोजन की व्यवस्था को अधिक लोकप्रिय बनाना हो, तो कुछ सांस्कृतिक परिवर्तन करना जरूरी हो जाता है।

7. प्रत्यायोजन के कार्य में कुछ भावात्मक परिपक्वता (Emotional Maturity) की आवश्यकता होती है जो प्राय: सफल व्यक्तियों में भी कठिनाई से ही मिल पाती है।

8. नेतृत्व के प्रतीक (Symbols) प्राय: प्रत्यायोजन के दर्शन से मेल नहीं खाते। जो लोग सफल होना चाहते हैं उनको प्रभावशाली होना चाहिए और प्रभावशाली व्यक्ति अपनी सत्ता प्रत्यायोजित नहीं करता।

9. इस सम्बन्ध में एक विरोधाभास यह है कि जो व्यक्ति प्रत्यायोजन करना चाहता है वह यह नहीं जानता कि इसे किस प्रकार किया जाए।

10. प्रत्यायोजन की प्रक्रिया का ज्ञान प्राय: दो कारणों से नहीं हो पाता। प्रथम, संगठन और प्रबन्ध का विज्ञान अभी परिपक्व नहीं है और द्वितीय, अनुभव ने अधिकारियों को यह नहीं सिखाया है कि वे प्रत्यायोजन कैसे करें।

फिफनर द्वारा वर्णित उपर्युक्त बाधाओं को कई विचारकों ने अपने ढंग से व्यक्त किया है। उदाहरण के लिए प्रो. हेमैन का विचार है कि प्रत्यायोजन की सबसे प्रमुख बाधा स्वयं सत्ताधिकारी अधिकारी का दृष्टिकोण होता है। प्राय: यह पाया जाता है कि स्वयं प्रबन्धकों को अपने अधीनस्थों पर विश्वास नहीं रहता। इस विश्वास के बिना वह अपनी सत्ता को प्रत्यायोजित नहीं कर सकते। इस प्रकार अपने अधीनस्थों की योग्यता पर अविश्वास करना मुख्य रूप से अध्यक्ष की ही गलती मानी जानी चाहिए। अधीनस्थों के प्रति अविश्वास के अतिरिक्त प्रत्यायोजन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण बाधा यह है कि उच्चाधिकारी को अपने अधीनस्थों की उन्नति से भय होने लगता है। साथ ही जब प्रत्यायोजन करने वाला व्यक्ति अपनी प्रगति की सीमा पर पहुँच जाता है तो उसमें प्रत्यायोजन के प्रति भय और वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है।

प्रत्यायोजन करने के मार्ग में एक बाधा यह आती है कि जो व्यक्ति संगठन के अध्यक्ष पद पर होता है और जिसके पास प्रत्यायोजन शक्तियाँ होती हैं, उस पर अनेक उत्तरदायित्व भी होते हैं। जब वह अपने अधीनस्थ अधिकारियों को सत्ता सौंपता है तो उत्तरदायित्व भी उसके साथ प्रत्यायोजित नहीं कर देता है। इसका अर्थ यह है कि सत्ता सौंपने के बाद भी उसके प्रयोग के लिए उत्तरदायी माना जाता है। हेमैन का सुझाव है कि प्रत्यायोजन करते समय सोच-समझ कर तथा न्यायसंगत रूप में आगे बढ़ना चाहिए[1] क्योंकि यह सम्भव नहीं होता कि वह अपने उत्तरदायित्व अधीनस्थों को सौंप दे और फिर भी जो कुछ अधीनस्थों द्वारा किया जाए उसके लिए वह स्वयं

1 *Haimann*: Op. cit., p 53.

उत्तरदायी रहे। सत्ता का प्रत्यायोजन करते समय उच्च अधिकारी के लिए जरूरी है कि कोई ऐसी व्यवस्था करे जिसके द्वारा अधीनस्थों के कार्यों पर नियन्त्रण रखा जा सके तथा यह देखा जा सके कि सत्ता का प्रयोग सही रूप में किया जा रहा है। नियन्त्रण के उचित तरीके न होने पर कई बार प्रत्यायोजन प्रभावहीन बन जाता है।

एक अच्छे प्रत्यायोजक के गुण

(Characteristics of a Good Delegator)

एक अच्छे प्रत्यायोजक में निम्नांकित गुण अपेक्षित होते हैं—

1. उदारता—उसे प्रत्यायोजन करते समय उदार दृष्टिकोण अपनाकर चलना चाहिए अर्थात् वह सारी सत्ता का प्रयोग स्वयं ही करने में रुचि न ले तथा अधीनस्थ अधिकारियों को भी कुछ अवसर प्रदान करे ताकि वे अपनी योग्यताओं का विकास कर सकें।

2. सीमाओं का ध्यान—एक अच्छे प्रत्यायोजक को इतना अधिक उदार भी नहीं होना चाहिए कि वह प्रत्यायोजन की सीमाओं का ध्यान न रखे और अपना प्रत्येक अधिकार अधीनस्थों को सौंपने की प्रवृत्ति अपना ले। जिस प्रकार उदार दृष्टिकोण न अपनाने पर एक उच्च अधिकारी कर्तव्य-भार से दब सकता है, उसी प्रकार अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाने पर वह प्रभावहीन भी बन सकता है। उसे सन्तुलनकारी दृष्टिकोण अपनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

3. स्पष्टता—प्रत्यायोजन करते समय उच्च अधिकारी को चाहिए कि वह स्पष्ट रूप से अपने अधीनस्थों को बता दे कि उन्हें क्या करना है। प्रत्येक अधीनस्थ को यह ज्ञात होना जरूरी है कि उनको किन विषयों में निर्णय लेने की शक्ति सौंपी गई है तथा उनके निर्णय लेने की शक्तियों पर क्या सीमाएँ लगाई गई हैं ?

4. पर्यवेक्षण—एक अच्छा प्रत्यायोजक शक्ति प्रदान करने के बाद उनकी ओर से निश्चित नहीं हो जाता, बल्कि समय-समय पर इस बात की जाँच करता रहता है कि प्रत्यायोजित की गई शक्तियों को सही प्रकार से तथा उचित सीमाओं में प्रयोग किया जा रहा है अथवा नहीं। एक अच्छे प्रत्यायोजक को अधीनस्थों को सौंपे गए कार्य, शक्ति एवं उत्तरदायित्व में सन्तुलन स्थापित करना चाहिए। उसे यह देखते रहना चाहिए कि नवीन परिस्थितियों के कारण अधीनस्थों की सत्ता, कर्तव्य या उत्तरदायित्व में क्या परिवर्तन किया जाए।

5. सीमित हस्तक्षेप—प्रत्यायोजन करते समय अधीनस्थ अधिकारियों को जो सत्ता सौंपी जाती है उस पर लगी सीमाओं के कारण एक ऐसा क्षेत्र बच जाता है जिसमें उसे निर्णय लेने का अधिकार नहीं होता। इस क्षेत्र की समस्याओं को उच्चतर के अधिकारियों के सामने रखना जरूरी होता है। इसे सामान्य रूप से अपवाद सिद्धान्त (Exceptional Principle) कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जिस क्षेत्र को अधीनस्थ अधिकारियों की निर्णय-शक्ति से बाहर रखा जाता है, वह भी स्पष्ट कर देना चाहिए। कई बार इस अपवाद सिद्धान्त का दुरुपयोग कर अधीनस्थ अधिकारी अपने अधिकांश विषयों को अनावश्यक रूप से उच्च अधिकारियों के पास भेजते हैं अथवा स्वयं उच्च अधिकारी इस सिद्धान्त के नाम पर अनावश्यक रूप से अधीनस्थों के कार्यों में हस्तक्षेप करते रहते हैं। एक अच्छा प्रत्यायोजक वह होता है जो इस अपवाद का दुरुपयोग किए जाने की सम्भावनाओं का निराकरण कर सके।

6. योग्यता का ध्यान—सत्ता का प्रत्यायोजन करते समय अधीनस्थ अधिकारियों की योग्यता का ध्यान रखना परमावश्यक है। यदि गलती से अयोग्य व्यक्तियों को सत्ता सौंप दी गई तो वे उसका दुरुपयोग करेंगे और संगठन को उसके दुष्परिणाम भुगतने होंगे।

7. पूर्व कल्पनाएँ—प्रत्यायोजन करते समय यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि इससे उच्च अधिकारी क्या प्राप्त करना चाहता है। प्रत्येक उच्च अधिकारी का यह गुण माना जाता है कि जब वह सत्ता का प्रत्यायोजन करे तो इस तथ्य को ध्यान में रखे कि अधीनस्थ अधिकारियों के कार्य एवं कर्तव्य क्या होंगे। साथ ही उसे उन परिणामों को भी ध्यान में रखना चाहिए जिनकी वह आशा करता है। आशानुकूल परिणाम प्राप्त करने के लिए प्रत्यायोजक द्वारा स्पष्ट रूप से बता देना चाहिए कि वह क्या आशा करता है तथा इस आशा को वह कब तक और किसके द्वारा पूर्ण हुई देखना चाहता है। साथ ही प्रत्यायोजक का यह भी उत्तरदायित्व होता है कि वह ऐसी व्यवस्था करे कि जिसमें अधीनस्थ अपने कार्यों को भली प्रकार सम्पन्न कर सकें।

केन्द्रीयकरण बनाम विकेन्द्रीकरण

(Centralisation V/s. Decentralisation)

केन्द्रीयकरण बनाम विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का अध्ययन किया जाना भी लोक प्रशासन की एक मुख्य प्रवृत्ति मानी जाती है। कुछ विचारकों का मत है कि संगठन की अनेक समस्याओं में एक यह समस्या भी महत्त्वपूर्ण है कि प्रशासन की पूर्ण नियन्त्रण, एकता एवं निश्चितता की स्वाभाविक इच्छा का जनता की इस माँग से किस प्रकार सामंजस्य बैठाया जाए कि सरकारी प्रशासन को स्थानीय भावनाओं के अनुरूप होना चाहिए।[1] अतएव संगठन के सम्बन्ध में एक मुख्य समस्या यह उठती है कि सरकारी प्रशासन को केन्द्रीकृत रखा जाए अथवा उसका विकेन्द्रीकरण किया जाए। जहाँ नियोजित अर्थव्यवस्था, सशक्त एवं प्रभावशाली प्रतिरक्षा तथा राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता 'केन्द्रीयकरण' पर बल देती है वहाँ सामान्य जन-सहयोग से लोकतन्त्र की स्थापना का आश्वासन और क्षेत्रीय स्वायत्तता की बढ़ती हुई माँग 'विकेन्द्रीकरण' का समर्थन करती है। भारत में योजना आयोग केन्द्रीयकरण का प्रतीक है तो पंचायत राज विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का।

केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीकरण का अर्थ

केन्द्रीयकरण का अभिप्राय है कि सत्ता शीर्ष अथवा उसके आस-पास एकत्र होनी चाहिए जबकि विकेन्द्रीकरण का अर्थ है— अनेक व्यक्तियों या इकाइयों के मध्य सत्ता के विभाजन की व्यवस्था। ह्वाइट के अनुसार, "प्रशासन के निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर प्रशासकीय सत्ता के हस्तान्तरण की प्रक्रिया को केन्द्रीयकरण कहते हैं जबकि इसके विपरीत व्यवस्था को विकेन्द्रीकरण कहा जाता है।"[2] केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीकरण के अर्थ को हम एक अन्य प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं। विकेन्द्रीकरण के निम्नलिखित पाँच पक्ष हैं और इनके विपरीत जो व्यवस्था या प्रबन्ध होता है उसको केन्द्रीयकरण की व्यवस्था कहा जाता है—

1. "सत्ता का हस्तान्तरण इस प्रकार किया जाए कि स्वेच्छा से कार्य करने का विशाल क्षेत्र अधीनस्थ अधिकारियों को सौंपा जाए तथा शीर्षस्थ मुख्य अधिकारी को कम से कम प्रश्न संबोधित किये जाएँ।"

(प्रशासकीय पहलू)

2. "संगठन की व्यक्तिगत इकाइयों को अधिक शक्ति सौंपी जाए तथा मुख्य कार्यालय में नियन्त्रण की कुछ मूल शक्तियों को ही रखा जाए।" (प्रशासकीय पक्ष)

3. "निर्वाचित निकायों के हाथों में अधिक शक्ति सौंपी जाए और प्रशासन के कार्यों में जनता का पूरा-पूरा सहयोग करें।" (राजनीतिक पहलू)

4. "जनता के निकट तथा मुख्य कार्यालय के दूर की क्षेत्रीय इकाइयों को स्वतन्त्रता दी जाए।"

(भौगोलिक पहलू)

5. विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करने के लिए विभिन्न विभागों को कार्य की स्वतन्त्रता दी जाए।

(कार्यात्मक पहलू)

विकेन्द्रित व्यवस्था का सार स्थानीय संस्थाओं को पर्याप्त शक्तियों के समर्पण या हस्तान्तरण में है और इन लक्षणों के विपरीत संगठन की जो व्यवस्था होती है, वह विकेन्द्रीकरण की है। इस सम्बन्ध में कोई विभाजन-रेखा

1. *J. C. Charlesworth* : Governmental Administration, p. 207.
2. *White* : Op. cit., p. 37.

निश्चित तथा अंतिम रूप से नहीं खींची जा सकती है। यदि केन्द्रीय कार्यालय को अधिक शक्तियाँ दी हुई हैं तो वह व्यवस्था केन्द्रित अथवा केन्द्रीयकरण के निकट है और यदि क्षेत्रीय कर्मचारियों को पर्याप्त शक्तियाँ हस्तान्तरित की गई हैं तो वह विकेन्द्रित संगठन या विकेन्द्रित व्यवस्था है। और भी स्पष्ट रूप में, जिस प्रशासकीय पद्धति में केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों के हाथों में अत्यधिक शक्ति निहित हो, जिसके परिणामस्वरूप निम्नतर.शासकीय स्तरों के कर्मचारियों की शक्ति और विवेक में कमी होती हो, उसे 'केन्द्रीकृत' व्यवस्था (Centralized System) कहते हैं। इसके विपरीत, जिस प्रशासकीय प्रणाली में कानून या संविधान के द्वारा स्थानीय प्रबन्धकारी निकायों (Bodies) में काफी अधिक शक्ति रखी गई हो, उसे 'विकेन्द्रीकृत' व्यवस्था (Decentralized System) कहते हैं।

केन्द्रीकृत व्यवस्था की विशेषताएँ

केन्द्रीकृत व्यवस्था की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए विलोबी ने कहा है कि "अत्यधिक केन्द्रीकृत व्यवस्था में स्थानीय इकाइयाँ केवल कार्यवाहक अभिकरणों (Executive Agencies) के रूप में कार्य करती हैं। उन्हें अपनी पहल (Initiative) से कार्य करने की कोई शक्ति प्राप्त नहीं होती, प्रत्येक कार्य केन्द्रीय कार्यालय की ओर से दिया जाता है, यहाँ तक कि आन्तरिक प्रबन्ध (Internal Administration) के मामलों जैसे कि कर्मचारियों की पदोन्नति, प्रशासन के साधनों को जुटाना (The Purchase of Supplies) इत्यादि में भी क्षेत्रीय कार्यालयों को मुख्य कार्यालय की पूर्व अनुमति लेनी पड़ती है।"[1]

विकेन्द्रीकृत व्यवस्था की विशेषताएँ

जिस व्यवस्था में इकाइयों को इस बात की पर्याप्त छूट प्राप्त होती है कि वे मुख्य कार्यालय की पूर्व अनुमति के बिना स्वयं ही विभिन्न मामलों के सम्बन्ध में निर्णय ले लें, उसे विकेन्द्रीकृत व्यवस्था कहते हैं। इस पद्धति में, प्रशासकीय सत्ता विकेन्द्रित कर दी जाती है। स्थानीय कर्मचारियों को अपनी इच्छा, सूझबूझ और विवेक के अनुसार कार्य करने की काफी शक्ति प्राप्त रहती है। वे स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार अनेक प्रश्नों को केन्द्रीय कार्यालय को सूचित किए बिना ही हल कर सकते हैं। स्थानीय इकाइयों की अपनी सत्ता रहती है, वे प्रधान कार्यालय के कार्यवाहक मात्र के रूप में कार्य नहीं करती हैं।

दोनों के बीच अन्तर

उल्लेखनीय है कि केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीकरण के बीच का अन्तर बहुत कुछ मात्रा का है, गुण का नहीं। यदि पूरी तरह से केन्द्रीकृत व्यवस्था होती है तो संगठन का अध्यक्ष कार्य-भार से दब जाता है और पूरी तरह से विकेन्द्रित व्यवस्था को अपनाया जाता है तो अराजकता फैल जाती है। फेस्लर (Fesler) ने इन दोनों अवधारणाओं के बीच के अन्तर को इस प्रकार व्यक्त किया है—"कोई सेवा केन्द्रीयकरण की ओर उन्मुख हो रही है अथवा विकेन्द्रीकरण की ओर, इसका अनुमान मुख्यालय द्वारा निर्णित मामलों की तुलना में उन मामलों के महत्व का अवलोकन कर जिन पर अधिकारियों को निर्णय देने की सत्ता प्राप्त है, मुख्यालय में उठने वाले और वहीं निर्णित करने वाले मामलों में क्षेत्रीय अधिकारियों (Field Officers) से केन्द्र के परामर्श की सीमा और ऐसे क्षेत्रीय अभिमत (Field Opinion) के महत्व की सीमा से लगाया जा सकता है। कोई मामला चाहे कार्यक्षेत्र में ही क्यों न उत्पन्न हो और कुछ सीमा तक वहीं उस पर कार्यवाही ही क्यों न की जाए, केन्द्रीयकरण अथवा विकेन्द्रीकरण की सही स्थिति जानने के लिए यह देखना होगा कि वह कितनी बार क्षेत्रीय अधिकारियों द्वारा मुख्यालय को भेजा जाता है, उस क्षेत्र के निर्णय को नियन्त्रित करने वाले आदेश तथा केन्द्रीय विनियमों की संख्या क्या है? उसमें क्षेत्रीय निर्णयों को निरस्त करने के बारे में जनता की अपील की क्या गुंजाइश है? प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र में अभिकरण के कार्य किस सीमा तक एक ही क्षेत्राधिकारी द्वारा संचालित होते हैं? तथा क्षेत्रीय अधिकारियों की योग्यता क्या है? केवल क्षेत्रीय सेवा का अस्तित्व और उस पर अधिक कार्यभार तथा उसमें अभिकरण के कर्मचारियों को 1/10 हिस्सा होना ही विकेन्द्रीकरण का द्योतक नहीं होता।"[2]

निष्कर्ष रूप में, डॉ. एम. पी. शर्मा के अनुसार, "केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीकरण का प्रश्न एक ही संगठन के भीतर उच्चतर और निम्नतर अधिकारियों के बीच, संगठन के प्रधान कार्यालय और अंगभूत इकाइयों के बीच,

1. *Willoughby* : Principles of Public Administration, p. 124
2. *Marx, F M* : Op cit., p 252

सरकारी और सार्वजनिक तथा गैर-सरकारी दलों के बीच, प्रधान कार्यालय और क्षेत्रीय कार्यालयों के बीच तथा प्रधान कार्यकारी अधिकारी और कृत्यमूलक विभागों तथा अभिकरणों के बीच उठता है। यदि निर्णय करने की अधिकांश शक्ति उच्चतम स्तरों पर इस प्रकार एकत्र हो जाए कि निम्नस्तरों के अधिकारी लगभग प्रत्येक प्रश्न पर निर्णय लेने के लिए अपने से ऊँचे अधिकारी अथवा उच्चतम अधिकारी के पास दौड़ते रहें तो यह माना जाएगा कि संगठन का स्वरूप केन्द्रित है। इसके विपरीत, विकेन्द्रित संगठन के भीतर अधिकांश मामलों में निर्णय करने की शक्ति निम्न अधिकारियों के हाथों में रहती है तथा अपेक्षाकृत कम मामले उच्चतर अधिकारियों के पास भेजे जाते हैं। उच्चतर अधिकारियों के पास केवल वे ही मामले भेजे जाते हैं जो बड़े संवेदनशील अथवा महत्त्वपूर्ण होते हैं। केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीकरण का सार निर्णय की शक्ति के वितरण में निहित है। किसी भी संगठन में निर्णय के केन्द्र जितने कम होते हैं, वह उतना ही अधिक केन्द्रित माना जाता है। इसके विपरीत, निर्णय के जितने अधिक केन्द्र किसी संगठन में होते हैं, वह उतना ही अधिक विकेन्द्रित माना जाता है। केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीकरण के बीच केवल मात्रा का अन्तर है। कोई मौलिक या प्रकारान्तरगत अन्तर नहीं है, क्योंकि न तो कोई संगठन पूर्णतया केन्द्रित हो सकता है और न ही पूर्णतया विकेन्द्रित। यदि वह पूर्णतया केन्द्रित होगा तो प्रत्येक मामले में निर्णय करने की शक्ति प्रमुख कार्यकारी अधिकारी के हाथों में केन्द्रित हो जाएगी, जिसका परिणाम यह होगा कि उसके पास काम का ढेर लग जाएगा और वह किसी भी स्थिति में उसे निपटा नहीं सकेगा। दूसरी ओर, पूर्ण विकेन्द्रीकरण का अर्थ होगा अराजकता—प्रत्येक इकाई अपने क्षेत्र में एकदम स्वच्छन्द होकर निर्णय करेगी। वास्तव में केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीकरण का प्रश्न दोनों के सन्तुलन का प्रश्न है।[1] केन्द्रीकृत व्यवस्था और विकेन्द्रीकृत व्यवस्था के बीच सन्तुलन और समन्वय स्थापित करके ही प्रशासन की गति को आगे बढ़ाकर लोक-कल्याण की ओर उन्मुख किया जा सकता है। भारतीय लोक प्रशासन में भी इन दोनों के बीच समन्वय करके ही लोक-कल्याण के उद्देश्य प्राप्त किये जा सकते हैं।

विकेन्द्रीकरण और प्रत्यायोजन में अन्तर

विकेन्द्रीकरण प्रत्यायोजन से भिन्न है। दोनों के बीच मौलिक अन्तर यह है कि विकेन्द्रीकरण की अवस्था में स्थानीय निकायों को जो शक्तियाँ सौंपी जाती हैं, वे प्रायः स्वायत्त होती हैं और उस क्षेत्र में किए गए कार्यों का उत्तरदायित्व पूरी तरह से उनके स्वयं के कन्धों पर ही रहता है। प्रत्यायोजन में यह स्थिति नहीं रहती। उसमें क्षेत्रीय अभिकरणों को जो कार्य सौंपे जाते हैं उन्हें करने के लिए न तो वे स्वायत्त होती हैं और न ही उनको उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। वास्तव में वे मुख्य कार्यालय के नाम पर उन शक्तियों का उपयोग करती हैं। इस संबंध में मुख्य अधिकारी समय-समय पर आदेश जारी कर सकता है अथवा अधीनस्थ कार्यालय द्वारा किये गए निर्णयों को निस्संकोच बदल सकता है। विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था का निश्चय इस तथ्य से किया जा सकता है कि निर्णय लेने की शक्ति कहाँ निहित है?

विकेन्द्रीकरण के प्रकार

विकेन्द्रीयकरण के मुख्यतः दो प्रकार होते हैं—राजनीतिक और प्रशासनीय। राजनीतिक विकेन्द्रीकरण में शासन के नवीन तलों की स्थापना की जाती है। भारत संघ के अन्तर्गत स्वायत्तता प्राप्त राज्यों की स्थापना और इसके अन्तर्गत पंचायत राज की स्थापना राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के अच्छे उदाहरण हैं। प्रशासनीय सत्ता का वितरण राजनीतिक एवं प्रशासनीय सत्ता के विघटन से ही स्पष्ट होता है। इसमें प्रशासन के साथ जनता को संयुक्त किया जाता है। प्रशासनीय विकेन्द्रीकरण ऊर्ध्वाकार (Vertical), क्षेत्रीय (Territorial), क्षैतिज (Horizontal) और कार्यात्मक (Functional) होते हैं। पहले का तात्पर्य उस सत्ता से है जो क्षेत्रीय प्रशासन का संगठन करती है और उसे कुछ स्वतन्त्र शक्तियाँ तथा कार्य सौंपती है। क्षेत्रीय प्रशासन के अच्छे उदाहरण जिले और समाज हैं। केन्द्रीय तथा राज्य स्तर पर विभिन्न प्रशासनीय विभागों के अपने प्रशासनीय क्षेत्र होते हैं, जिन्हें मण्डल (Circles), क्षेत्र (Zones), जिले (Districts) आदि कहा जाता है और इनको अपनी-अपनी सीमा के अन्तर्गत निर्णय शक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार प्रादेशिक विकेन्द्रीकरण में मुख्य कार्यालय तथा क्षेत्रीय अभिकरणों के मध्य सम्बन्धों की समस्या महत्त्वपूर्ण होती है। कार्यात्मक विकेन्द्रीकरण में केन्द्रीय सत्ता द्वारा निर्णय करने के कुछ क्षेत्र तकनीकी अथवा व्यावसायिक विशेषज्ञों के निकायों को सौंप दिए जाते हैं। केन्द्रीय समाज कल्याण मंडल, विश्वविद्यालय, अखिल भारतीय चिकित्सा परिषद्, बार एसोसिएशन, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ऐसी ही संस्थाओं के अच्छे उदाहरण हैं।

आज के युग में लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत प्रशासन में जनता द्वारा प्रत्यक्ष भाग लेने के रूप में विकेन्द्रीकरण का महत्व और प्रचलन बढ़ता जा रहा है। प्रो. एल. डी. ह्वाइट का मत है कि यदि प्रशासन की अधिक शक्ति लोक-निर्वाचित निकायों को सौंपी जाती है तो प्रशासकीय व्यवस्था विकेन्द्रित हो जाती है, अन्यथा केन्द्रीय सत्ता के हाथों में प्रशासन की अधिक शक्ति बनी रहने पर केन्द्रीयकरण की स्थिति होती है। टैनेसी-घाटी-अधिसत्ता के अध्यक्ष लिलेन्थल के अनुसार विकेन्द्रित प्रशासन के अनिवार्य लक्षण निम्नलिखित प्रकार से हैं—

1. "अधिकतम निर्णय क्षेत्र में ही किए जाने चाहिए। इस ध्येय को दृष्टि में रखकर क्षेत्र-अधिकारियों का चयन तथा प्रशिक्षण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वे मौके पर ही समस्याओं का समाधान करने में समर्थ हो सकें।

2. विकेन्द्रित प्रशासन में जहाँ तक सम्भव हो जनता को प्रशासन में प्रत्यक्ष भाग लेने का अधिकतम अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि जनता केवल आदेशों का पालन ही न करे, वरन् सक्रिय सहयोग भी करे। राज्यों और स्थानीय निकायों की सेवाएँ परस्पर पूरक और सहकारपूर्ण होनी चाहिए, न कि कार्मिक और उपकरणों की आवृति मात्र। यही नहीं, उनका पूरी तरह लाभ भी उठाया जाना चाहिए।

3. क्षेत्र में कार्य करने वाले विविध अभिकरणों के कार्य के मध्य संयोजन क्षेत्र में ही किया जाना चाहिए, क्योंकि केन्द्रीय अधिकारियों द्वारा संयोजन का अर्थ देरी, ईर्ष्या तथा क्षेत्राधिकार सम्बन्धी विवादों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा।"

केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीकरण को निर्धारित करने वाले तत्त्व या कारक

विकेन्द्रित व्यवस्था में भी शक्ति का आरम्भिक स्रोत केन्द्र होता है। अतः यह कुछ विधेयात्मक कदम उठाने की माँग करती है। यदि ऐसा न किया गया तो विकेन्द्रीकरण न होकर केन्द्रीयकरण हो जाएगा। एक अभिकरण को अपनी शक्ति का किस मात्रा में केन्द्रीयकरण करना चाहिए तथा किस मात्रा में विकेन्द्रीकरण, यह बात कई तत्वों पर निर्भर करती है। फेस्लर ने जिन चार तत्वों (Factors) का उल्लेख किया है वे निम्नानुसार हैं—

1. उत्तरदायित्व के तत्त्व (Factor of Responsibility)—प्रशासकीय उत्तरदायित्व का सिद्धान्त प्रशासकीय सत्ता को विकेन्द्रित करने के एक सामान्य प्रतिबंध के रूप में कार्य करता है। संघीय व्यवस्था में प्रत्येक अभिकरण का अध्यक्ष अपने सामान्य प्रशासकीय कार्यक्रम के लिए राष्ट्रपति, संसद् या जनता के प्रति उत्तरदायी रहता है। वह अपने द्वारा एवं अपने अधीनस्थों के द्वारा लिए गए निर्णयों के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है, अतः ये अभिकरण अपनी शक्ति को क्षेत्रीय कार्यालयों को हस्तान्तरित करने में संकोच करते हैं। उत्तरदायित्व की इस व्यवस्था के परिणाम सर्वव्यापी होते हुए भी कुछ अभिकरणों में अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। ऐसे अभिकरण जो भ्रष्टाचार के लिए खुले रहते हैं तथा ऐसे अभिकरण जो दबाव समूहों द्वारा जागरूकता के साथ परीक्षित किए जाते हैं, इस प्रकार के अभिकरण हैं जहाँ पर शक्ति का केन्द्रीयकरण जरूरी बन जाता है।

2. प्रशासनिक तत्त्व (Administrative Factor)—विकेन्द्रीकरण को प्रभावित करने वाले दूसरे तत्त्व की प्रकृति प्रशासकीय है। इसमें मुख्यतः अभिकरण की आयु, इनकी नीतियों एवं प्रक्रियाओं का स्थायित्व, इसके क्षेत्रीय कर्मचारियों की योग्यता, गति एवं कम व्यय के तत्त्व तथा प्रशासनिक दक्षता आदि सम्मिलित होते हैं। जब अभिकरण की नीतियों एवं प्रक्रियाओं में स्थायित्व आ जाता है तो विकेन्द्रीकरण आसानी से हो जाता है तथा क्षेत्रीय स्तर के मुख्य पदों पर योग्य व्यक्ति भी आकर्षित होते हैं। यदि कर्मचारी समर्थ एवं योग्य हैं तो विकेन्द्रीकरण किया जा सकता है। विकेन्द्रीकरण के मार्ग में सबसे बड़ी कठिनाई यह आती है कि अधिकारी-वर्ग यह सोचता है कि कार्य को उतनी योग्यता से दूसरे लोग नहीं कर पाएँगे। क्षेत्रीय अधिकारियों को न केवल अपने शीर्ष के अधिकारियों का विश्वास प्राप्त होना चाहिए वरन् अपने संगठन के कार्यकारी विशेषज्ञों का विश्वास भी प्राप्त होना चाहिए। विकेन्द्रीकरण की प्रमुख बाधा यह भी है कि क्षेत्रीय स्तर पर इतनी तकनीकी योग्यता प्राप्त नहीं होती जितनी केन्द्रीय स्तर पर हो सकती है।

3. कार्यात्मक तत्त्व (Functional Factor)—कार्यात्मक तत्त्व भी केन्द्रीयकरण अथवा विकेन्द्रीकरण को कई प्रकार से प्रभावित करता है। यदि एक विभाग के पास तकनीकी प्रकृति के अनेक कार्य हैं तो उसे अवश्य ही विकेन्द्रीकरण करना होगा क्योंकि उसके अध्यक्ष के पास उन सभी कार्यों को रोकने के लिए योग्यता नहीं होती। यदि एक संगठन को बहुत सारे कार्य करने हैं तो वह विकेन्द्रीकरण के लिए शीघ्र ही तैयार हो जाएगा। एक अन्य अभिकरण की, जिसको एक ही कार्य करना है, समस्याएँ तुलनात्मक रूप से विश्लेषण एवं निर्णय लेने की दृष्टि से सरल होती हैं। जब संगठन अनेक प्रकार के कार्य करता है तो उसका प्रत्येक सम्भाग अलग से क्षेत्रीय कार्यालयों

की स्थापना कर सकता है। जिन अभिकरणों में अनेक प्रकार के तकनीकी विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है तथा जो आकार में छोटे होते हैं वे विकेन्द्रीकरण के पक्ष में कम होते हैं। इसके अतिरिक्त यदि किसी कार्य में देशव्यापी समरूपता की आवश्यकता हो तो वहाँ पर केन्द्रीयकरण होना आवश्यक है, जैसे—सुरक्षा, संचार आदि और यदि विभिन्नता वाछनीय है तो वहाँ पर केन्द्रीयकरण हो सकता है।

4. बाहरी तत्त्व (External Factor)—कुछ अन्य बाहरी तत्त्व भी होते हैं जो संगठन के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया पर प्रभाव डालते हैं। यदि एक संगठन में यह आवश्यक हो जाए कि आन्तरिक कार्यों के अतिरिक्त बड़ी समस्याओं पर भी ध्यान रखा जाए जैसे—नागरिकों को प्रशासकीय प्रक्रिया में शामिल करना, अन्य संघीय, राज्यीय एवं स्थानीय अभिकरणों के साथ सहयोग करना, क्षेत्रीय दावों पर राजनीतिक दबावों का ध्यान रखना आदि, तो विकेन्द्रीकरण किया जा सकता है। यदि किसी कार्यक्रम पर सामान्य जनता का समर्थन प्राप्त करना हो तो विकेन्द्रीकरण करना होगा। उदाहरण के लिए, विकास-योजनाओं को लिया जा सकता है। बिना विकेन्द्रीकरण के प्रजातंत्र की जड़ें मजबूत नहीं होतीं। देश के किसी क्षेत्र-विशेष में राजनीतिक दलों का दबाव भी विकेन्द्रीकरण को प्रोत्साहन दे सकता है ताकि उस दल को भी उस प्रभाव-क्षेत्र में कुछ अवसर प्राप्त हो सकें।

विकेन्द्रीकरण के लाभ

1. कार्यभार कम होना—इस व्यवस्था द्वारा शीर्ष स्थित अधिकारी अथवा मुख्य कार्यालय का कार्यभार कम हो जाता है तथा उसे राहत प्राप्त होती है।

2. क्षेत्रीय संस्थाओं में नवीन उत्साह का संचार होना—क्षेत्रीय संस्थाओं के पास जब कुछ स्वायत्तता, स्वतन्त्रता एवं शक्ति आ जाती है तो वह उनमें नवीन जीवन एवं उत्साह का संचार करती है।

3. कार्यकुशलता में वृद्धि—विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया से प्रशासकीय कार्यकुशलता में वृद्धि हो जाती है। क्षेत्रीय संस्थाएँ जिन लोगों के लिए कार्य करती हैं, वे उनके अत्यन्त निकट होते हैं और इसलिए उनको पूरी सुविधा रहती है कि वे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार तथा प्रशासकीय कार्यक्रम के अनुकूल उनको परिवर्तित कर सकें।

4. प्रशासन के दोषों का निराकरण—जब शक्ति विकेन्द्रित हो जाती है तो प्रशासन के विभिन्न दोषों का स्वतः ही निराकरण हो जाता है। कार्य में विलंब या देरी तथा लालफीताशाही जैसी बुराइयों का निराकरण हो जाता है तथा त्वरित कार्यवाही को प्रोत्साहन मिलता है।

5. उत्तरदायित्व की भावना का विकास—जब क्षेत्रीय अधिकारी अपने आप या स्वयं ही निर्णय लेने लगते हैं तो उनमें आत्मविश्वास की भावना का विकास होता है। वे उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना सीख जाते हैं।

6. नागरिकों में व्यक्तिगत औचित्य की भावना का विकास—चार्ल्सवर्थ ने विकेन्द्रीकरण के लाभों का वर्णन करते हुए कहा है कि इसका केवल यही लाभ नहीं है कि प्रशासकीय कार्यकुशलता बढ़ती है वरन् इससे नागरिकों में व्यक्तिगत औचित्य की भावना का भी विकास होता है। इसमें कुछ आध्यात्मिक गुण (Spiritual Connotation) होते हैं।[1]

विकेन्द्रीकरण के दोष

1. समन्वय की समस्या—विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया से समन्वय की समस्या भी उपस्थित होती है। किसी भी संस्था में सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर देने से उसके बीच समन्वय की समस्या उठ खड़ी होती है। समन्वय के अभाव में संस्थाओं की कार्यकुशलता पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

2. आर्थिक नियोजन में कठिनाई—आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया में विशेषज्ञ तथा तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसके लिए केन्द्रीयकरण की आवश्यकता होती है। विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया से आर्थिक नियोजन के लक्ष्य प्राप्त करने में बहुत कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं।

3. प्रशासन में एकरूपता की समस्या—विकेन्द्रीकृत प्रणाली के कारण प्रशासन में एकरूपता स्थापित नहीं हो पाती है। केन्द्र द्वारा सामान्य प्रणाली का निर्धारण कर देने पर भी विभिन्न क्षेत्रों के अधिकार स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन-परिवर्धन अथवा संशोधन कर देते हैं।

1. *J. C. Charlesworth : Op. cit., p. 207.*

4. खर्चीली व्यवस्था—विकेन्द्रित व्यवस्था को एक खर्चीली व्यवस्था का नाम दिया जा सकता है। इस पद्धति में केन्द्रीय और स्थानीय दो प्रकार के कर्मचारियों की व्यवस्था करनी पड़ती है, जिससे केन्द्रित-पद्धति की तुलना में अधिक धन व्यय होता है।

5. स्थानीय राजनीति के कुप्रभाव—विकेन्द्रित व्यवस्था में स्थानीय राजनीति (Local Politics) के स्थानीय शासन पर हावी होने का सदैव भय बना रहता है। स्थानीय राजनीति के प्रवेश से क्षेत्रीय सेवा में भ्रष्टाचार और पक्षपात जैसी बुराइयाँ पाय जाती हैं।

तुलनात्मक मूल्यांकन

केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीकरण में से किस पद्धति को सुनिश्चित रूप से अधिक अच्छा माना जाए, यह कहना कठिन है, किन्तु समय, परिस्थिति और कार्य करने की प्रकृति के आधार पर ही यह निर्धारित किया जाता है कि किसी विशेष संगठन का केन्द्रीयकरण किया जाए अथवा विकेन्द्रीकरण। विलोबी (Willoughby) ने लिखा है—"संघीय सरकार की सेवाओं द्वारा इन दो में से कौनसी पद्धति प्रयुक्त की जानी चाहिए, इस बारे में कोई सामान्य मत नहीं दिया जा सकता। सब कुछ किए जाने वाले कार्य की प्रकृति और अन्य विशेष प्रणालियों पर निर्भर करेगा।" डेविड डी॰ टूमैन का निष्कर्ष है—"ऐसा प्रतीत होता है कि व्यवहार में किसी भी प्रशासकीय संगठन में इन दोनों ही प्रकार की पद्धतियों के कुछ न कुछ लक्षण अवश्य पाए जाते हैं। वास्तव में इन दोनों ही पद्धतियों को साध्य (Ends) नहीं समझना चाहिए वरन् उन्हें कुशल प्रशासन के उद्देश्य की प्राप्ति का साधन मात्र मानना चाहिए। किसी भी प्रशासकीय संगठन में ये दोनों पद्धतियाँ इस अनुपात में अपनाई जानी चाहिए जिससे उसमें अकुशलता की मात्रा न्यूनतम की जा सके।" एलेक्सेस डी. टाकविल का कहना है कि कोई भी राष्ट्र शासन के शक्तिशाली केन्द्रीयकरण के बिना नहीं जी सकता है और न ही उन्नति कर सकता है, तथापि उनका यह मत है कि केन्द्रीयकृत प्रशासन जिस राष्ट्र में विद्यमान रहता है, वह उस राष्ट्र की स्थानीय भावनाओं को लगातार कम कर के उस राष्ट्र को केवल स्फूर्ति प्रदान करता है। यद्यपि संकट के समय वह राष्ट्र की रक्षा करता है, किन्तु यह क्रमशः राष्ट्रीय शक्ति को कम करता है। वर्तमान समय में विभिन्न कारणों से केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति का प्रसार हो रहा है। फिर भी प्रजातन्त्रात्मक आधार के लिए यह माँग भी जोर पकड़ रही है कि शासन में सामान्य जनता को भाग लेने के अधिकाधिक अवसर दिए जाएँ। इस माँग की पूर्ति विकेन्द्रीकरण द्वारा ही संभव है और भारत की संघात्मक व्यवस्था में पंचायती राज व्यवस्था का प्रयोग इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन
(Formal and Informal Organisation)

संगठन के प्रधानतः दो रूप पाये जाते हैं—औपचारिक तथा अनौपचारिक। औपचारिक संगठन का अर्थ है संगठन का वह स्वरूप जो व्यवस्थित ढंग से नियोजित तथा रूपांकित किया गया हो और जिसे अधिकारी वर्ग द्वारा मान्यता दी गई हो। यह वह संगठन है जिसका विवरण संगठन-चार्ट और नियमावली में दिया रहता है तथा जो पर्यवेक्षक को बाहर से दिखाई देता है। इस संगठन में पहले से ही निश्चित सिद्धान्तों और उपलब्ध मानव तत्त्वों के आधार पर योजना बना ली जाती है तथा उसके बारे में नियम निश्चित हो जाते हैं जिनमें सुगमता से परिवर्तन नहीं होते। संगठन के विभिन्न सदस्यों के व्यवहार में समन्वय स्थापित किया जाता है और यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि एक सदस्य को क्या करना है तथा उसकी शक्तियाँ क्या हैं? हरबर्ट साइमन के अनुसार, औपचारिक संगठन में, अमूर्त एवं बहुत कुछ स्थायी नियमों का समावेश होता है जो प्रत्येक सहभागी के व्यवहार को प्रभावित करते हैं।[1] औपचारिक संगठनों में सत्ता (Authority) दो मार्गों से प्रवेश पाती है। प्रथम, समूह पर नियन्त्रण रखने वाले व्यक्तियों की सत्ता औपचारिक संगठन के कार्यक्रम की स्थापना कर उसे व्यावहारिक रूप देती है। द्वितीय, स्वयं औपचारिक संगठन की योजना सत्ता की श्रेणी एवं कार्य का विभाजन करती है जिससे संगठन के कार्यों को पूरा किया जा सके। उदाहरण के लिए भारतीय संसद के कानून एक कृषि विभाग की स्थापना कर सकते हैं जिसमें विभाग का साधारण संगठन एवं अभिकरणों का उत्तरदायित्व स्पष्ट कर दिया जाता है। इस औपचारिक संगठन की योजना से जो सचिव शक्ति ग्रहण करता है वह स्वयं पुनः विभाग के अन्दर ही औपचारिक संगठन बना सकता है और इसके लिए वह अपने कार्यों का आगे वितरण कर देगा तथा अपनी सत्ता का हस्तांतरण कर देगा।

औपचारिक संगठन में कार्यों का विभाजन करने तथा सत्ता में सम्बन्ध स्थापित करने के अतिरिक्त प्रक्रिया एवं संचार की रूपरेखा भी स्थापित की जाती है। इसके नियमों द्वारा यह स्पष्ट रूप से बता दिया जाता है कि कौन किसकी नियुक्ति करेगा, कौन किसे आज्ञाएँ देगा, किसी विशेष कार्य के लिए कौन उत्तरदायी रहेगा, किसी निर्णय विशेष पर किसके हस्ताक्षर होने चाहिए आदि। औपचारिक संगठन यह मान कर चलता है कि इन नियमों के आधार पर संगठन की प्रकृति को किसी भी समय तथा किसी भी सन्दर्भ में समझा जा सकता है। मार्च तथा साइमन (March and Simon) का कहना है कि संगठन के ढाँचे में संगठन के वे रूप एवं पहलू सम्मिलित होते हैं जो अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं और जिनमें परिवर्तन धीरे-धीरे होता है। फिफनर तथा शेरवुड के अनुसार, औपचारिक ढाँचा जैसा कि अन्तिम सत्ता रखने वाले व्यक्ति देखते हैं, एक सरकारी संगठन है। यह सरकारी ढाँचा है और इस प्रकार यह वैध है। औपचारिक संगठन की मुख्य विशेषताएँ होती हैं—उसका वैधानिक होना, स्थायी होना आदि। कुछ विचारकों का कहना है कि ये दोनों ही विशेषताएँ हमें अनौपचारिक संगठन में भी प्राप्त हो जाती हैं। यह वैधानिक इसलिए होता है कि उसके पीछे सामाजिक दबाव होता है और वह स्थायी भी होता है। इन विचारकों के मतानुसार संगठन एक जटिल चीज है जिसे साधारण रूप से दो भागों में विभाजित नहीं किया जा सकता।

औपचारिक संगठन का अर्थ एवं प्रकृति अधिक स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है कि हम उसके निर्माणकारी तत्त्वों की जानकारी प्राप्त करलें। लोक प्रशासन के विद्वानों का कहना है कि संगठन का परम्परावादी सिद्धान्त

1. *H A. Simon* : Administrative Behaviour, p. 147

दार्शनिक रूप से पूर्णतावाद, व्यक्तिवाद, अर्थवाद, बुद्धिवाद, स्वचालन पर आधारित मानव-व्यवहार की व्याख्या आदि के मेल से बना है। जिस वातावरण में इस विचारधारा का जन्म एवं विकास हुआ है वह प्रजातन्त्र से पूर्व स्थित था। उस समय की रुचियाँ सत्तावादी थीं तथा मूल मान्यताएँ उन संस्थाओं से ली गई थीं जो निरंकुश प्रकृति की थीं जैसे—सेना, रोमन कैथोलिक चर्च, औद्योगिक निगम आदि। औपचारिक संगठन के अनुसार मनुष्य यन्त्रवत् (मशीन) होते हैं। यह विचारधारा स्वभाव एवं प्रक्रिया दोनों ही दृष्टियों से बौद्धिक (Rational) है। प्रशासकीय व्यक्ति बुद्धि के बल पर उत्पादकता को बढ़ा देता है। प्रशासकीय निर्णय पूर्ण सचेतनता के साथ लिए जाते हैं तथा उस समय सभी विकल्प ध्यान में रहते हैं। संगठन की इस परम्परावादी विचारधारा को कुछ विचारकों ने परमाणुवादी, यन्त्रवादी, स्थिर, स्वैच्छिक तथा विवेकपूर्ण माना है जो आर्थिक प्रेरणाओं एवं उत्तेजनाओं पर ध्यान देती हैं तथा अनार्थिक प्रेरणाओं को कोई महत्व नहीं देतीं। संगठन की इस परम्परागत व्यवस्था के आधार पर विभिन्न विचारकों ने संगठन के अलग-अलग प्रतिमान (Model) प्रस्तुत किए गए हैं जो मुख्यत इस प्रकार हैं।

वेबर का प्रतिमान (Weber's Model)—समाज-विज्ञान के क्षेत्र में औपचारिक संगठन को सर्वाधिक लोकप्रिय बनाने का श्रेय प्रसिद्ध जर्मन विद्वान मैक्स वेबर को दिया जा सकता है। वेबर ने सामाजिक व्यवहारों के नियमों को खोजने में अत्यन्त रुचि ली है। उसका अध्ययन बहुत कुछ ऐतिहासिक है और इसलिए उसे प्राय इतिहासकार माना जाता है। वेबर ने यह खोजने का प्रयास किया है कि समाज में शक्ति का कार्य एवं व्यवहार क्या है? वेबर के अनुसार संगठन की निर्णय लेने की शक्ति पर तीन बातों का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है—

(अ) समाज के परम्परागत बहिष्कार एवं कानून,

(ब) व्यक्तिगत नेतृत्व जिसे चमत्कार भी कहा जा सकता है, एवं

(स) सरकार की नीतियों एवं कानूनों को संचालित करने वाले प्रशासकों का समूह अर्थात् नौकरशाही।

संगठन की निर्णय लेने की शक्ति पर प्रमुखत इन तीनों ही तत्वों का प्रभाव रहता है। एक कुशल नेता ऊँचे पद पर न होते हुए भी मुख्य निर्णयों में भारी प्रभाव रख सकता है। नौकरशाही आज के विशालकाय संगठनों की विशेषता है। मैक्स वेबर के अनुसार नौकरशाही में सामान्यतया ये विशेषताएँ पाई जाती हैं—रूप पर जोर देना, पदसोपान की मान्यता, कार्य का विशेषीकरण, उत्तरदायित्व का विशेष क्षेत्र, व्यवहार के निर्धारित नियम तथा रिकार्ड रखना। इन विशेषताओं से पूर्ण नौकरशाही अपने-आप में एक आदर्श है। वेबर नौकरशाही को सर्वव्यापी मानते हैं। मानवीय व्यवहार बौद्धिक होना चाहिए तथा संस्थागत स्तर पर इसे प्राप्त करने का सबसे अच्छा उपाय नौकरशाही है। वेबर का सुझाव है कि प्रशासन एवं नीतियों के बीच विभाजन होना चाहिए। नौकरशाही से युक्त पदसोपानों में ऐसे व्यक्ति होने चाहिए जो व्यावसायिक हों।

वेबर के सिद्धान्त की कई प्रकार से आलोचनाएँ की गई हैं। कुछ लोग इसके तरीकों की आलोचना करते हैं तो कुछ इसके लक्ष्यों की, एवं कतिपय इसके मॉडल की। प्राय कहा जाता है कि उसने अपने अध्ययन के लिए स्वेच्छाचारी नौकरशाही को चुना था। इसके आधार पर विश्व के संगठनों को कैसे मापा जा सकता है? इन आलोचनाओं के बावजूद भी सत्य यह है कि आधुनिक वृहद् संगठनों में अनुभववादी शोध किए जा रहे हैं और शोधों में वेबर के मॉडल को आधार बनाकर आगे बढ़ा जाता है।

मूने तथा रैले प्रतिमान (Mooney & Ralley's Model)—मूने तथा रैले ने 1930 के प्रारम्भ में एक पुस्तक प्रकाशित की जिसका नाम था 'Onward Industry'। यह पुस्तक तुरन्त ही बिक गई और 1939 में इसे दूसरे शीर्षक के साथ छापा गया। अब इसका नाम था 'The Principles of Organisation'। यहाँ 'सिद्धान्त' शब्द का प्रयोग विचारधारा (Theory) के लिए ही किया गया है। मूने तथा रैले द्वारा वर्णित माडल (Model) में इस सिद्धान्त को चार उपसिद्धान्तों में विभाजित किया गया है—

1. समन्वय का सिद्धान्त
2. पदसोपान का सिद्धान्त
3. कार्यात्मकता का सिद्धान्त
4. स्टाफ तथा लाइन का सिद्धान्त

मूने तथा रैले ने ऐतिहासिक संगठन के सिद्धान्तों पर भी विचार किया है। वे राज्य, धर्म, सेना, उद्योग आदि संस्थाओं में प्राप्त संगठन के सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं। मूने तथा रैले के अनुसार इन संस्थाओं में नौकरशाही पर्याप्त मात्रा में देखने को मिल सकती है।

चेस्टर बर्नार्ड का संगठन विश्लेषण
(Organisational Analysis of Chester Bernard)

चेस्टर आई. बर्नार्ड (Chester I. Bernard) ने अपनी मुख्य रचना 'The Functions of the Executive' में संगठन के सिद्धान्त, संरचना, औपचारिक संगठन के कार्य आदि के विषय में विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है। बर्नार्ड ने अपने विचार उस समय प्रकट किए जबकि पाश्चात्य विद्युत प्रयोगों के प्रतिवेदन टेलर तथा फेयोल द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों तथा संगठन के तार्किक सिद्धान्त के साथ संघर्षपूर्ण सिद्ध हो रहे थे। बर्नार्ड की पुस्तक का प्रथम बड़ा योगदान संगठन के सफल सिद्धान्त की रचना है जिसने फेयोल के मॉडल को एक विकल्प प्रदान किया तथा बैंक वायरिंग आब्जर्वेशन और रिले एसेम्बली टैस्ट रूम्स की महत्त्वपूर्ण खोजों को ध्यान में रखा। बर्नार्ड द्वारा प्रस्तुत संगठन के विश्लेषण की कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का अध्ययन इन निम्नांकित शीर्षकों में कर सकते हैं—

व्यक्ति और संगठन (The Individual and Organisation)

'व्यक्ति क्या है' ? के प्रश्न पर विचार करते हुए बर्नार्ड ने बताया है कि व्यक्ति केवल शरीर मात्र ही नहीं है। मानवीय शरीर एक सावयवी है जिसकी रचना के अंग भौतिक एवं जीव-शास्त्रीय दोनों प्रकार के हैं। जीवन्त वस्तुएँ उनके व्यवहार से जानी जाती हैं और समस्त जीवन्त व्यवहार भौतिक एवं जीव-शास्त्रीय तत्त्वों का सम्मिश्रण है। यदि एक प्रकार के तत्त्वों को निकाल भी दिया जाए तो जीवन्त रूप एवं कार्य दोनों समाप्त हो जायेंगे। द्विलिंगीय (Bisexual) होने के कारण मानवीय सावयवी दूसरे मानवीय सावयवी के सम्पर्क में आने पर ही व्यवहार करता है। व्यक्ति से बर्नार्ड का अर्थ है एक इकाई विशिष्ट, स्वतन्त्र, पृथक्, पूर्ण वस्तु, असंख्य शक्तियों एवं पदार्थों से युक्त जो कि भौतिक जीवशास्त्रीय तथा सामाजिक तत्त्व है। व्यक्ति की कुछ सम्पत्तियाँ हैं, जैसे—क्रियाएँ अथवा व्यवहार जो कि उत्पन्न होता है मनोवैज्ञानिक कारकों से जिसके साथ मिली हुई है, चयन की सीमित शक्ति जिसका परिणाम होता है लक्ष्य। संगठन या सहकारिता जैसा कि वे दिखाई देते हैं तथा अनुभव किए जाते हैं, विरोधी तथ्यों एवं विरोधी मानवीय विचारों एवं भावनाओं के मूर्त मिश्रण होते हैं। यह निष्पादक का कार्य है कि विरोधी शक्तियों के मूल कार्यों में मिश्रण को सुविधाजनक बनाए तथा संघर्षपूर्ण ताकतों, प्रवृत्तियों, हितों, परिस्थितियों, स्थितियों एवं आदर्शों को परस्पर मिलाए। बर्नार्ड ने संगठन को औपचारिक एवं अनौपचारिक दो रूपों में वर्गीकृत किया है। दोनों के अर्थ, जन्म, विकास, कार्य एवं अन्य सम्बन्ध विषयक चिन्तन इस प्रकार हैं—

औपचारिक संगठन
(Formal Organisation)

दो या अधिक व्यक्तियों का सहयोग संगठन कहलाता है। यह सहयोग मूर्त रूप में चार प्रकार का हो सकता है—भौतिक परिवेश सम्बन्धी, सामाजिक परिवेश सम्बन्धी, व्यक्तियों सम्बन्धी तथा अन्य चरों सम्बन्धी। सहयोगी व्यवस्थाओं के अनुभव का विश्लेषण करने के लिए सर्वाधिक उपयोगी अवधारणा के रूप में औपचारिक संगठन की परिभाषा दो या अधिक व्यक्तियों की सजग रूप से सम्बन्धित क्रियाओं की एक व्यवस्था के रूप में की जाती है। किसी भी मूर्त स्थिति में जहाँ सहयोग होता है वहाँ अनेक व्यवस्थाएँ उसका अंग बन जाती हैं। इनमें से कुछ जीव-शास्त्रीय, कुछ मनोवैज्ञानिक तथा कुछ अन्य होती हैं, किन्तु इन सबको एक साथ बाँधने वाली चीज मुख्यतः संगठन है।

औपचारिक संगठन के तत्त्व (The Elements of Formal Organisation)—कोई भी संगठन तब बनता है जबकि कुछ लोग परस्पर संचार करते हैं, जो कार्य करने के इच्छुक होते हैं तथा एक सामान्य उद्देश्य की पूर्ति करना चाहते हैं। इस प्रकार संगठन के तीन मुख्य तत्त्व हैं—संचार, सेवा की इच्छा और सामान्य उद्देश्य। ये तत्त्व संगठन की आवश्यक शर्तें हैं तथा सभी संगठनों में पाई जाती हैं। किसी संगठन के निरन्तर अस्तित्व के लिए प्रभावशीलता या कार्यकुशलता भी आवश्यक है। संगठन का जीवन जितना लम्बा होगा ये दोनों बातें भी उतनी आवश्यक बन जाएँगी। संगठन की जीवन्तता के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति सहयोगी व्यवस्था के लिए अपनी

शक्तियों का योगदान करने के इच्छुक हों। यह इच्छा तभी हो सकती है जबकि व्यक्ति को विश्वास हो कि संगठन योगदान कर सकता है। जब संगठन की कार्यकुशलता घट जाती है तो व्यक्ति उसके लिए अपना योगदान करने की इच्छा नहीं रखते। यदि व्यक्ति को संगठन की उद्देश्य प्राप्ति के प्रति सन्तोष है तो वह अपना योगदान करता रहेगा। यदि यह सन्तोष अपेक्षित त्याग से अधिक नहीं है तो व्यक्ति की इच्छा लुप्त हो जाती है तथा संगठन अकार्यकुशल बन जाता है। यदि "सन्तोष त्याग से अधिक है तो इच्छा बनी रहेगी और संगठन कार्यकुशल बना रहेगा।

संक्षेप में, एक संगठन का प्रारम्भिक अस्तित्व उन तत्वों के संयोग पर निर्भर करता है जो एक क्षण विशेष में बाहरी परिस्थितियों के उपयुक्त होने चाहिए। इसका अस्तित्व व्यवस्था की समतुल्यता के साधारण पर निर्भर करता है। यह समतुल्यता या सन्तुलन मुख्य रूप से आन्तरिक है तथा अन्तिम एवं मूलभूत रूप से यह व्यवस्था और इससे बाहर की स्थिति के बीच का सन्तुलन है। इस बाहरी सन्तुलन में दो शब्द हैं—प्रभावशीलता (Effectiveness) तथा कार्यकुशलता (Efficiency)। इस प्रकार उक्त तीनों तत्व बाहरी कारकों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप धारण करेंगे। वे अन्त निर्भर भी हैं इसलिए यदि एक तत्व में अन्तर आ जाता है तो सन्तुलन की स्थापना हेतु अन्य तत्वों में भी अन्तर आ जाता है फलत सन्तुलन बना रह पाता है।

जटिल औपचारिक संगठन की संरचना (The Structure of Complex Formal Organisation)—संगठनों को बर्नार्ड ने पूर्ण, अपूर्ण, अधीनस्थ एवं आश्रित (Complete, Incomplete, Subordinate and Dependent) के रूप में वर्णित किया है। राष्ट्रीय एवं स्थानीय समाजों में औपचारिक संगठनों का एक तन्तुजाल बिछा रहता है। इनमें से कुछ संगठन प्रभावशाली तथा अपेक्षाकृत व्यापक होते हैं और अन्य सभी संगठन इनके साथ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध रहते हैं अत अधीनस्थ रहते हैं। प्रभावशाली संगठनों में चर्च तथा राज्य मुख्य हैं अन्य सभी संगठन अधीनस्थ रहते हैं। यह अधीनस्थता प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हो सकती है, अथवा दोनों हो सकती है। अधीनस्थता की यह प्रक्रिया व्यक्त रूप से पर्याप्त जटिल है तथा इसमें प्राय अनेक मध्यवर्ती सोपान होते हैं। इस प्रकार की सरकार में अनेक शाखाएँ, अनेक विभाग, उपविभाग एवं स्थानीय संगठन होते हैं।

औपचारिक संगठनों का जन्म और विकास (The Origin and Growth of Formal Organisations)—'संगठनों का इतिहास' सामान्य इतिहास से भी पुराना है। उसके बारे में हमें कुछ पता नहीं है, किन्तु प्रारम्भ में संगठन किस प्रकार जन्मा होगा, यह हम अब जो होता है उसे देखकर अनुमान लगा सकते हैं। नए संगठनों का जन्म निम्नांकित चार में से किसी एक प्रकार से हुआ है—

(1) अचानक (Spontaneous)—इस प्रकार से अनेक संगठनों का जन्म होता है। यह तब बनता है जब दो या अधिक व्यक्ति एक साथ बिना किसी नेतृत्व के अथवा पहल के, किसी सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयास करते हैं। अनेक पारिवारिक संगठन इसके उदाहरण हैं। दुर्घटना के समय ऐसे संगठन बन जाते हैं। ऐसे संगठन अधिकतर अल्पजीवी होते हैं। असंख्य संगठनों में अपवाद रूप में ही कोई संगठन स्थायी होता है।

(2) व्यक्तिगत प्रयास—अधिकांश स्थायी प्रकृति के संगठन इस प्रकार बनते हैं। एक इच्छुक व्यक्ति कोई उद्देश्य लेकर चलता है, उसे वह अन्य को बताता है तथा उन लोगों को उसे सहयोग देने के लिए प्रेरित करता है।

(3) एक छोटे संगठन की रचना—कोई संगठन अपने एक सदस्य को नया संगठन बनाने को भेज देता है। व्यक्तिगत मिशनरियों द्वारा चर्च के संगठन का प्रसार इसी रूप में हो सका है। वाणिज्यिक संगठनों में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है। इनके द्वारा एक व्यक्ति को दूरस्थ प्रदेश में शाखा कार्यालय खोलने को भेज दिया जाता है।

(4) संगठन के *बिखराव के परिणामस्वरूप*— वर्तमान काल में विद्यमान अनेक संगठनों का जन्म इसी प्रकार से हुआ है। जब बहुत समय तक एक संगठन कार्य करता है तो उसके संगठन, कार्य तथा लक्ष्य बढ़ जाते हैं और इसलिए उसका विभाजन कर नए संगठन बनाना आवश्यक हो जाता है। यह रचना विकास के परिणामस्वरूप हुई है, लेकिन संघर्षपूर्ण उद्देश्यों के कारण या बाहरी दबाव के कारण भी ऐसा हो सकता है। 'फूट डालो और राज करो' की नीति पर चलने वाली उच्च सत्ता द्वारा भी ऐसे संगठन बना दिए जाते हैं। इस प्रकार के संगठनों को नया संगठन कहना तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता।

औपचारिक संगठन में निष्पादक संगठन (The Executive Organisation in Formal Organisation)—इकाई संगठन में कुछ निष्पादक कार्य भी सम्पन्न करने को होते हैं, किन्तु जरूरी नहीं है कि इन्हें लगातार ही व्यक्ति सम्पन्न करे। ये कुछ व्यक्तियों द्वारा वैकल्पिक रूप से सम्पन्न किए जा सकते हैं। जटिल संगठनों में संचार की आवश्यकता के परिणामस्वरूप अधीनस्थ इकाइयों के संगठनों में निष्पादक कार्य एक व्यक्ति में निहित रखे जाते हैं। यह औपचारिक संचार की दृष्टि से आवश्यक है तथा निष्पादक संगठनों की स्थापना के लिए भी आवश्यक है। निष्पादक संगठन वे इकाइयाँ हैं जो निष्पादक कार्यों में विशेषज्ञ होती हैं। इनका अलग से एक अध्यक्ष बना दिया जाता है। इसके सदस्य निष्पादन के कार्यों में विशेषज्ञ होते हैं। निष्पादक संगठनों का आकार सामान्यतः उन्हीं कारणों से प्रभावित होता है जिनसे अन्य संगठनात्मक इकाइयों का होता है। जहाँ अनेक मूलभूत कार्यकारी इकाइयाँ होती हैं वहाँ विभिन्न प्राथमिक निष्पादक इकाई संगठन होते हैं। इसके अध्यक्षों में से ही उच्चतर निष्पादक इकाइयों के लिए सदस्य लिए जाते हैं।

औपचारिक संगठन के गुण

हेन्स एवं मैसी ने औपचारिक संगठन के निम्नांकित लाभ बताए हैं—

1. इसमें अधिकारों और उत्तरदायित्वों की स्पष्ट व्याख्या होती है, अतः आपसी मतभेद उभर नहीं पाते।
2. पूर्णतया नियोजन होने के कारण इसमें कार्यों का दोहराव नहीं हो पाता।
3. विभिन्न व्यक्तियों के उत्तरदायित्व निश्चित होने से इनमें अन्तर स्वतः समाप्त हो जाता है।
4. अधिकारों और उत्तरदायित्वों की स्पष्ट व्याख्या के कारण संगठन के कर्मचारियों में टालमटोल की आदत नहीं पनप पाती।
5. औपचारिक संगठन उद्देश्यों की प्राप्ति की दृष्टि से उपयुक्त और सरल है।
6. संगठन के इस रूप में अवसरवादिता और पक्षपात के अवसर प्रायः नहीं रहते।
7. इसमें किसी एक ही व्यक्ति का अत्यधिक महत्त्व नहीं होता।
8. इसमें कार्यों के सही प्रमापों का भली प्रकार निर्धारण सम्भव है।
9. कार्यों और दायित्वों की स्पष्ट व्याख्या होने से कर्मचारियों में सुरक्षा की भावना व्याप्त रहती है।

औपचारिक संगठन के दोष

एण्डरसन एवं श्वैनिंग (Anderson & Schewenning) ने औपचारिक संगठन के निम्नांकित प्रमुख दोषों की ओर भी संकेत किया है—

1. संगठन के इस रूप में पहल-शक्ति समाप्त हो जाती है।
2. औपचारिक संगठन में अधिकारी कई बार अपने अधिकारों का स्व-हित में प्रयोग करते हैं।
3. इस प्रकार का संगठन अनौपचारिक सम्प्रेषण में बाधाएँ प्रस्तुत करता है।
4. इस संगठन में समन्वय की समस्या सदैव बनी रहती है।
5. औपचारिक संगठन में कार्यरत व्यक्ति अन्य सामाजिक संगठनों की मान्यताओं तथा भावनाओं की उपेक्षा के अभ्यस्त हो जाते हैं।
6. ये संगठन यंत्रवत् होते हैं फलतः संगठन का ढाँचा केवल चित्रों, रेखाचित्रों, दैनिक कार्य की परिपाटी और अनुदेशों का समूह मात्र बनकर रह जाता है।

अनौपचारिक संगठन

(Informal Organisation)

सामान्य अनुभव यही बताता है कि प्रत्येक संगठन में प्रायः लोग औपचारिक सीमाओं से निकलकर अनौपचारिक सामाजिक संगठन का निर्माण करते हैं। चेस्टर बर्नार्ड (Chester Bernard) का कहना है कि अनौपचारिक संगठन कोई बुरा नहीं है वरन् एक आवश्यकता है। यदि इस प्रकार का संगठन बनाया नहीं गया तो इसे बनाना पड़ता है। अनौपचारिक संगठन की अनेक विद्वानों ने परिभाषा की है। डेविस ने "अनौपचारिक संगठन को ऐसे व्यक्तिगत एवं सामाजिक सम्बन्धों का जाल या तन्त्र माना है जो औपचारिक संगठन द्वारा आवश्यक रूप से स्थापित नहीं किया जाता।" जोसिफ एल. मैसी ने अनौपचारिक संगठन को 'ऐसे किसी मानवीय समूह की प्रतिक्रियाओं के रूप में' परिभाषित किया है जो स्वतः एवं प्राकृतिक रूप से समय की लम्बी अवधियों में उत्पन्न होती हैं। अनौपचारिक संगठन इसलिए भी बन जाते हैं क्योंकि व्यक्तियों को एक कठोर कार्यात्मक ढाँचे में तब

तक बाँध कर नहीं रखा जा सकता जब तक कि उन्हें सामाजिक रूप में महत्त्वहीन प्राणियों के स्तर तक न पहुँचा दिया जाए। साइमन, स्मिथबर्ग एवं थाम्पसन ने लिखा है, "अनौपचारिक संगठन से आशय है आचार-व्यवहार की सम्पूर्ण प्रतिकृति—संगठन की वह प्रक्रिया जिसमें सदस्यगण यथार्थ में व्यवहार करते हैं—सदस्यों का यथार्थ व्यवहार संगठन की औपचारिक योजना के प्रतिकूल होता है।" एक अन्य स्थल पर अनौपचारिक संगठन का अर्थ बताते हुए उन्होंने लिखा है—' ऐसे कार्यात्मक सम्बन्ध जो लम्बे अरसे तक एक साथ काम करने वाले लोगों की पारस्परिक अन्त क्रियाओं के परिणामस्वरूप विकसित होते हैं।"

प्राय सामान्य रूप से यह देखा और अनुभव किया जाता है कि लोग किसी औपचारिक संगठन में न रहते हुए भी परस्पर सम्पर्क एवं अन्त क्रिया करते हैं। ऐसी सम्बन्धों में दो से लेकर भीड़ तक की संख्या में लोग रहते हैं। इन सम्पर्कों तथा अन्त क्रियाओं की एक विशेषता यह होती है कि ये बिना किसी विशिष्ट सजग सयुक्त उद्देश्य के होते रहते हैं। यह सम्पर्क अचानक हो सकता है या इच्छापूर्ण हो सकता है। यह मित्रतापूर्ण हो सकता है अथवा शत्रुतापूर्ण हो सकता है। इनका जन्म चाहे कैसे भी हुआ हो, किन्तु ये सम्पर्क, अन्त सम्पर्क तथा सामूहीकरण से प्रभावित व्यक्तियों के अनुभवों, दृष्टिकोणों तथा भावनाओं को बदल देते हैं। कभी-कभी हमें यह पता रहता है कि हम प्रभावित हो रहे हैं। भीड़ में रह कर हम देखते हैं कि दूसरों पर भी यह प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी हमें स्वयं पर या अन्य पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई नहीं देता।

अनौपचारिक संगठन के परिणाम (Consequences of Informal Organisations)— अनौपचारिक संगठन के प्रभाव दो प्रकार के होते हैं—(1) इनके द्वारा कुछ दृष्टिकोण, समझ, रीति-रिवाज, आदतें एवं संस्थाएँ *स्थापित की जाती हैं तथा (2) यह ऐसी परिस्थितियाँ बना सकता है जिसमें औपचारिक संगठन जन्म ले सकें।* अनौपचारिक संगठनों का सर्वाधिक सामान्य प्रभाव यह है कि इनसे रीति-रिवाज, प्रथाएँ, लोक-रीतियाँ, संस्थाएँ, सामाजिक मानक एवं आदर्श जन्म लेते हैं जो सामान्य समाजशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान तथा सामाजिक मानवशास्त्र के विषय हैं। इन संगठनों के कार्य अचेतन अथवा गैर-बुद्धिपूर्ण होते हैं तथा लोगों की आदतों के परिचायक होते हैं। दूसरी ओर, औपचारिक संगठन के कार्य अपेक्षाकृत तार्किक होते हैं। अनौपचारिक संगठन एक प्रकार से ऐसी स्थिति रचते हैं कि इसके फलस्वरूप औपचारिक संगठन का जन्म होता है।

अनौपचारिक संगठन के गुण

अनौपचारिक संगठन उन अभावों की पूर्ति करता है जो औपचारिक संगठन में पाए जाते हैं। यह कार्य-समूह को सन्तोष और स्थायित्व प्रदान करता है। संगठन का यह रूप प्रबन्धकों की योग्यताओं में कमी को दूर करके और औपचारिक संगठन की भाँति मानवीय तत्त्व की उपेक्षा नहीं करता। यह सम्प्रेषण प्रक्रिया का उपयोगी मार्ग है। अनौपचारिक संगठन अधिशासियों को योजना बनाने और सतर्कतापूर्वक कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करता है।

अनौपचारिक संगठन के दोष

अनौपचारिक संगठन प्रकृति से विद्रोही है। इस संगठन में इतना खुलापन पाया जाता है कि असत्य समाचारों के प्रसार का वातावरण बनता है। अनौपचारिक संगठन समूह की मनोवैज्ञानिक भावना के अनुसार कार्य करता है और उत्पादकता में अधिक वृद्धि की दृष्टि से प्रबन्धात्मक प्रयत्नों को अप्रभावकारी बनाता है। अनौपचारिक संगठन की कमियों को दूर अथवा नियन्त्रित करना सुगम है अत आधुनिक मान्यता अनौपचारिक संगठनों के पक्ष में बलवती बनी हुई है।

औपचारिक संगठनों द्वारा अनौपचारिक संगठनों का सृजन (Creation of Informal Organisation of Formal)—औपचारिक संगठनों का जन्म अनौपचारिक संगठनों से होता है तथा ये दूसरे के लिए आवश्यक भी हैं, किन्तु जब औपचारिक संगठन बन जाते हैं तो ये फिर अनौपचारिक संगठनों की रचना करते हैं तथा अपेक्षा करते हैं। सहयोग की औपचारिक व्यवस्था का अधिकांश भाग अनौपचारिक होता है। यद्यपि प्रत्येक औपचारिक निष्पादक इस तथ्य को अस्वीकार करता है, किन्तु यह अस्वीकार्य नहीं है कि प्रमुख निष्पादक और यहाँ तक कि सम्पूर्ण निष्पादक संगठन ही उन व्यापक प्रभावों, दृष्टिकोणों, आन्दोलनों आदि से अपरिचित रहते हैं जो संगठन से प्रभावी हैं। यह बात केवल व्यावसायिक संगठनों के बारे में ही सच नहीं है, वरन राजनीतिक संगठनों, सरकारों, सेनाओं, चर्चों एवं विश्वविद्यालयों आदि के बारे में भी सच है। यह कहा जाता है कि आप एक संगठन को या उसके कार्यों को उसके संगठनात्मक चार्ट से, चार्टर से, नियमों एवं विनियमों से तथा उसके सेवी-वर्ग को देखने से नहीं समझ सकते। अधिकांश संगठनों में संगठन की रस्सियों को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि कौन-कौन हैं, क्या-क्या हैं, क्यों-क्यों हैं तथा इसका अनौपचारिक स्वरूप कैसा है। औपचारिक संगठन में अनौपचारिक संगठन द्वारा विभिन्न कार्य किए

जाते हैं। इसका पहला कार्य संचार (Communication) सम्बन्धी है। दूसरा कार्य है सेवा की इच्छा के नियमन तथा वस्तुगत सत्ता के स्थायित्व द्वारा औपचारिक संगठन में एकरूपता का संधारण। इसका तीसरा कार्य है व्यक्तिगत ईमानदारी की भावना, आत्म-सम्मान एवं स्वतन्त्र चयन की भावना को बनाए रखना। इन कार्यों को सम्पन्न करने की दृष्टि से अनौपचारिक संगठन आवश्यक बन जाते हैं।

औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठनों में अन्तर

इन दोनों प्रकार के संगठनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए एल. डी. ह्वाइट ने कहा है कि अनौपचारिक संगठन अधिक उग्र होता है तथा सामाजिक एवं आर्थिक अन्तर, जाति या भाषा का अन्तर, शिक्षा का स्तर, वैयक्तिक रुचियाँ एवं अरुचियाँ उस संगठन पर प्रभाव डालती हैं और एक प्रकार से वह इन सबका प्रतिबिम्ब होता है। यह रिवाजों पर आधारित होता है, यह न तो लिखित होता है, न निर्मित और न ही इसमें स्वच्छ रेखाचित्रों की आवश्यकता होती है। औपचारिक संगठन विवेकशील तथा अवैयक्तिक बनना चाहता है जबकि अनौपचारिक संगठन भावना-प्रधान एवं व्यक्तिगत बनना चाहता है। दोनों एक-दूसरे को प्रायः समेट लेते हैं व एक-दूसरे से संयुक्त भी हो सकते हैं और दूर-दूर भी। मेसफील्ड तथा मार्क्स का विचार है कि औपचारिक संगठन एक नियोजित संगठन होता है जबकि अनौपचारिक संगठन एक प्राकृतिक विकास है। औपचारिक संगठनों के बीच मुख्य अन्तर सत्ता एवं प्रभाव का होता है। सत्ता का अर्थ दूसरों के व्यवहार को संचालित करने के लिए आज्ञा देने की वैधानिक शक्ति से है और प्रभाव का अर्थ मनुष्य की उस सामर्थ्य से है जिसके अनुसार संगठन के दूसरे व्यक्ति भी चीजों को उसी रूप में देखने लगते हैं तथा उसी के अनुसार वे कार्य करते और करना चाहते हैं।

साइमन का विचार है कि अनौपचारिक संगठन से तात्पर्य उस संगठन से है जिसमें अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध पाए जाते हैं तथा वे इसके निर्णयों को प्रभावित करते हैं। ये सम्बन्ध संगठन की औपचारिक योजना के बाहर हैं और उस योजना से मेल नहीं खाते। प्रत्येक संगठन के नए सदस्यों को अपने साथियों के साथ उनके व्यावहारिक संगठन के सदस्य बनने के पूर्व ही साइमन ने तो यहाँ तक कह दिया है कि कोई भी औपचारिक संगठन उस समय तक प्रभावशाली रूप से कार्य नहीं कर सकता जब तक कि उसे एक अनौपचारिक संगठन का सहयोग प्राप्त न हो। कारण यह है कि औपचारिक संगठन उन सभी बातों का विस्तार से वर्णन नहीं कर सकता जो अनौपचारिक रूप से करनी होती हैं। फिर भी यदि अनौपचारिक संगठन प्रभावपूर्ण रूप से कार्य करना चाहता है तो उसे अनौपचारिक सम्बन्धों को सीमित करना होगा। उसे संगठन में राजनीति के विकास को रोकना होगा। प्रभाव एवं सत्ता के लिए होने वाले संघर्ष पर रोक लगानी होगी यदि वह संघर्ष संगठन के सुचारू रूप से संचालन में बाधक हो। औपचारिक संगठन को यह चाहिए कि वह अनौपचारिक सम्बन्धों के विकास की दिशा रचनात्मकता की ओर मोड़ दे। इसके द्वारा संगठन के कार्यों के दोहराव को रोका जा सकता है।

अनौपचारिक सम्बन्ध संचार साधन के रूप में बहुत लाभदायक कार्य करते हैं। यह तो एक मानी हुई बात है कि अनौपचारिक सम्बन्ध बढ़ेंगे, संगठन में इनके विकास पर रोक नहीं लगाई जा सकती। इस स्थिति में विकल्प यही रह जाता है कि संगठन एक अनौपचारिक संगठन के अनुरूप भी हो सकता है तथा प्रतिकूल भी। हम एक आदर्श संगठन उसे कहेंगे जिसमें औपचारिक एवं अनौपचारिक रूप से रेखाएँ परस्पर मेल खाती हैं। हमारे सामने मुख्य समस्या यही है कि इस आधार पर संगठन में जो दोहराव पाया जाता है वह न रहे और उसमें एकता आ जाए। डिमॉक का कहना है कि वर्तमान सन्तति के सामने यह चुनौती है कि वह संगठन का एक ऐसा सिद्धान्त निरूपित करे जिनमें एकता स्थापित हो जबकि इस समय दो संगठन स्थित हैं।

निर्णय-प्रक्रिया एवं हरवर्ट साइमन का योगदान

(Decision Making and Contribution of Herbert Simon)

हरबर्ट ए साइमन को एक ओर जहाँ लोक प्रशासन में व्यवहारवादी विचारधारा के प्रमुख प्रणेताओं में स्थान दिया जाता है वहीं उनको 'प्रबन्ध विज्ञान' के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के कारण महान् 'प्रबन्ध वैज्ञानिक' के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है। इनका जन्म 1916 में संयुक्त राज्य अमेरिका के विसकोन्सिन नगर में हुआ था। वह प्रारम्भ से ही एक मेधावी व्यक्तित्व के धनी थे फलत शिकागो विश्वविद्यालय से पीएच. डी की डिग्री प्राप्त की।

हरबर्ट ए साइमन ने प्रशासकीय व्यवहार के सम्बन्ध में गहन अध्ययन करते हुए अनेक पुस्तकें और शोध-लेख लिखे। इनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तक 'Administrative Behaviour' है, जिसमें उन्होंने निर्णय-प्रक्रिया (Decision Making) का एक अत्यन्त विशद वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त इनकी अन्य प्रमुख रचनाएँ हैं—'Public Administration', 'Fundamental Research in the Administration', 'Organisation', 'The New Science of Management Decision' तथा 'The Shape of Automation'।

प्रशासनिक व्यवहार के अध्ययन का महत्व

(Importance of the Study of Administrative Behaviour)

1945 में हरबर्ट ए साइमन ने Administrative Behaviour नामक अपनी पुस्तक में एक प्रशासनिक संगठन के निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया का विशद विवेचन किया है। साइमन का मत है कि संगठन का अध्ययन करते समय ध्यान का मुख्य केन्द्र-बिन्दु कार्यरत कर्मचारी होता है क्योंकि संरचना की सफलता उसकी कार्य-सम्पन्नता के आधार पर जाँची जाएगी। यदि हम किसी संगठन की संरचना और कार्य के विषय में अन्तर्दृष्टि चाहते हैं तो इसके लिए श्रेष्ठ तरीका यह है कि जिस प्रकार संगठन द्वारा इन कर्मचारियों के निर्णयों एवं व्यवहार को प्रभावित किया जाता है उस तरीके का विश्लेषण करें। संगठन के उद्देश्यों को पूरा करने का वास्तविक कार्य नीचे के स्तर के कार्यकर्ताओं द्वारा किया जाता है। किसी भवन का निर्माण कोई इन्जीनियर या ओवरसीयर के हाथों नहीं वरन् मिस्त्री के हाथों होता है। इसलिए प्रशासनिक पदसोपान में निम्नतम स्तर पर कार्य करने वाले व्यक्ति किसी भी प्रकार से कम महत्वपूर्ण नहीं होते वरन् उसका संगठन की लक्ष्य प्राप्ति में उल्लेखनीय योगदान रहता है। इस निम्नतम या कार्यात्मक स्तर से ऊपर वाले कर्मचारियों का भी महत्त्व होता है। वे संगठन में उल्लेखनीय भूमिका अदा करते हैं। यह सच है कि मेजर द्वारा युद्ध क्षेत्र में वास्तविक बंदूक नहीं चलाई जाती, किन्तु युद्ध के परिणामों पर उसके कार्यों का प्रभाव बंदूक चलाने वाले से किसी प्रकार से कम नहीं होता। जब हम प्रशासनिक प्रक्रिया का इस रूप में वर्णन करते हैं तो यह सामाजिक मनोविज्ञान की एक समस्या बन जाती है जिसमें कार्यकर्ताओं के एक समूह पर पर्यवेक्षकों का एक समूह और रखना पड़ता है जो कि कार्यशील समूह को समन्वित एवं प्रभावशाली व्यवहार की ओर मोड़ सके।

व्यवहार करते समय कर्ता द्वारा चयन किया जाता है। साइमन ने लिखा है कि समस्त व्यवहारकर्ता के लिए तथा उन लोगों के लिए जिन पर वह प्रभाव एवं सत्ता का प्रयोग करता है, भौतिक रूप से समस्त कार्यों में से चेतन अथवा अचेतन रूप से चयन विशेष कार्यों का करना है। कार्यों का चयन कभी तो अचेतन और अनजाने रूप में होता है तथा कभी वह नियोजित अथवा निर्धारित क्रिया के रूप में होता है।

व्यवहार पर मूल्यों एवं तथ्यों का प्रभाव

(Influence of Values and Facts on Behaviour)

वर्तमान समय में प्रशासनिक संगठनों में मानवीय व्यवहार एक उद्देश्यपूर्ण स्थिति है। यह उद्देश्यपूर्णता उसके व्यवहार प्रतिमान में एकीकरण लाती है जिसके अभाव में प्रशासन प्रायः अर्थहीन हो जाता है। प्रशासन का अर्थ कार्य का सम्पन्न करना होता है तो 'उद्देश्य' क्या कार्य किया जाना चाहिए इसके लिए एक प्रमुख मानदण्ड प्रस्तुत करता है। विशिष्ट कार्यों को प्रशासित करने वाले छोटे-छोटे निर्णय अपरिहार्य रूप से उद्देश्य एवं प्रणाली से सम्बन्धित व्यापक निर्णयों को प्रभावित करते हैं। चलने वाला व्यक्ति एक कदम उठाने के लिए अपने पाँव की माँस-पेशियों को सक्रिय करता है, वह अपने उद्देश्य की ओर आगे बढ़ने के लिए एक कदम उठाता है; वह अपने उद्देश्य या लक्ष्य 'डाक के डिब्बे' तक उसमें पत्र डालने जाता है, वह पत्र इसलिए डालता है ताकि कुछ सूचना अन्य व्यक्ति को दे सके आदि-आदि। इस प्रकार मानवीय व्यवहार चयन की एक न टूटने वाली श्रृंखला है। यह तब तक चलती है जब तक कि अंतिम लक्ष्य तक नहीं पहुँच जावे। जो निर्णय अंतिम लक्ष्य के चयन की ओर ले जाते हैं उनको मूल्यात्मक निर्णय कहा जाता है तथा जो निर्णय इस लक्ष्य को कार्यान्वित कराते हैं वे तथ्यात्मक निर्णय कहे जाते हैं। कभी-कभी एक ही उद्देश्य में मूल्य तथा तथ्यात्मक तत्व संलग्न रहते हैं।

प्रशासनिक व्यवहार उद्देश्यपूर्ण (Purposive) तथा तार्किक (Rational) होता है। जहाँ तक सामान्य लक्ष्य अथवा उद्देश्य से निर्देशित है वहाँ तक वह उद्देश्यपूर्ण तथा जब वह पहले से चयनित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उचित विकल्पों का चयन करता है वहाँ वह तार्किक है। वास्तविक व्यवहार में प्रत्येक निर्णय एक प्रकार से समझौता होता है। अंतिम रूप से जिस विकल्प का चयन किया जाता है वह लक्ष्य की पूर्ण प्राप्ति को कभी संभव नहीं बनाता किन्तु वह तत्कालीन परिस्थितियों में उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ समाधान मात्र होता है। पारिस्थितिक स्थितियाँ अपरिहार्य रूप से उपलब्ध विकल्पों को सीमित करती है।

प्रशासनिक व्यवहार निर्णय प्रक्रिया है

(Administrative Behaviour is Decision Process)

प्रशासनिक क्रिया एक सामूहिक क्रिया है। इसको सम्पन्न करने के लिए संगठित कार्य आवश्यक है। जिन तकनीकों से यह कार्य-सम्पन्नता सुविधाजनक बनती है उनको प्रशासनिक क्रिया कहते हैं। उल्लेखनीय है कि प्रशासनिक क्रियाएँ अथवा व्यवहार मूल रूप से निर्णय निर्माण की प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत संगठन के सदस्यों के निर्णयों में कुछ तत्व डाले जाते हैं, इन तत्वों के चयन एवं निर्धारण के लिए नियमित संगठनात्मक प्रक्रियाएँ स्थापित की जाती हैं तथा इनकी सूचना संगठन के सम्बन्धित सदस्यों तक पहुँचाई जाती है। संगठन व्यक्ति से उसके स्वयं निर्णय लेने की कुछ स्वायत्तता को छीन लेता है तथा इसके स्थान पर संगठनात्मक-निर्णय प्रक्रिया की स्थापना करता है।

प्रशासनिक व्यवहार जो कि एक निर्णय प्रक्रिया है, वास्तव में समन्वय विशेषज्ञता और दायित्व से युक्त होता है। समन्वय इसलिए जरूरी है क्योंकि सामूहिक व्यवहार में केवल सही निर्णय लेना ही पर्याप्त नहीं है वरन् ये निर्णय उस समूह के सभी सदस्यों द्वारा पारित भी होने चाहिए। सत्ता या प्रभाव के माध्यम से यह कार्य किया जा सकता है। कार्यात्मक स्तर पर विशेषज्ञता का लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से एक संगठन का कार्य इस प्रकार विभाजित किया जाता है ताकि सभी विशेषज्ञता पूर्ण प्रक्रियाएँ वैसी योग्यता रखने वाले लोगों द्वारा ही संपन्न की जा सकें। इसी प्रकार निर्णयों में योग्यता लाने की दृष्टि से निर्णय लेने का उत्तरदायित्व भी इस प्रकार आवंटित किया जाए ताकि विशेष योग्यता की अपेक्षा वाले निर्णय ऐसी योग्यता रखने वालों द्वारा ही लिए जाएँ। प्रत्येक संगठन के सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे समूह द्वारा निर्धारित मानकों का अनुशीलन करें। अधीनस्थ सेवीवर्ग की स्वेच्छा उन नीतियों द्वारा सीमित हो जाती है जो प्रशासनिक पदसोपान में शीर्ष पर स्थित लोगों द्वारा बनाई जाती हैं।

प्रशासनिक व्यवहार पर संगठनात्मक प्रभाव

(Organisational Influence over Administrative Behaviour)

संगठन में उच्च स्तरों पर लिए गए निर्णयों का प्रभाव केवल तभी हो सकता है जबकि उनको नीचे तक संचारित किया जाए। यह प्रभाव दो प्रकार का होता है। प्रथम, कार्य करने वाले कर्मचारी में स्वयमेव दृष्टिकोण, आदतों एवं ऐसी मन स्थिति की स्थापना की जाती है ताकि वह संगठन के लिए उपयोगी निर्णय ले सके। द्वितीय, संगठन में अन्यत्र कहीं लिए गए निर्णयों को कार्य करने वाले कर्मचारियों पर लागू करना। संगठन में निर्णय लेने वाले सभी कर्मचारियों को प्रभावित करने की दृष्टि से सत्ता का विशेष महत्व है। जब कोई अधीनस्थ कर्मचारी अपने उच्च अधिकारी के निर्णयों का अनुशीलन करता है तो वह एक प्रकार से उसकी सत्ता से निर्देशित होता है। सत्ता

का प्रयोग करते समय यह आवश्यक नहीं है कि उच्च अधिकारी अधीनस्थ को समझाकर प्रभावित करे, किन्तु वास्तविक व्यवहार में सुझाव एवं समझाने-बुझाने की कार्यवाही चलने लगी है। सत्ता का प्रयोग ऊपर, नीचे तथा अगल-बगल में होता है। सत्ता का एक औपचारिक रूप प्रत्येक संगठन में पाया जाता है। इसकी सहायता के लिए सत्ता का अनौपचारिक रूप भी विकसित हो जाता है जो संगठन के दिन-प्रतिदिन के कार्यों में सहयोग करता है। औपचारिक सत्ता मुख्य रूप से विवादों के निपटारे के लिए सुरक्षित रहती है।

साइमन का कहना है कि मानवीय व्यवहार की यह प्रभावी विशेषता है कि एक संगठित समूह के सदस्य स्वयं को उस समूह के साथ समरूप बना लेते हैं।[1] निर्णय लेते समय संगठन के प्रति स्वामिभक्ति से प्रभावित होकर वे कार्य के विकल्पों में से चयन करने में अपने कार्यों से संगठन पर होने वाले परिणामों का विचार करते हैं। जब कोई व्यक्ति एक कार्य इसलिए करने का निर्णय लेता है कि वह भारत के लिए कल्याणकारी है तो वह स्वयं को भारत के साथ एकरूप कर लेता है। राष्ट्र, वर्ग या संगठन के प्रति एकरूप होना आधुनिक समाज की संरचना में मौलिक महत्त्व की बात है। एकरूपता का आभास या संगठनात्मक स्वामिभक्ति प्रशासन में महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है। इसके कारण निर्णय लेना तथा व्यवहार करना सरल तथा सुनिश्चित बन जाता है अन्यथा प्रत्येक निर्णय के समय समस्त मानवीय मूल्यों पर विचार करना पड़े। मूल्यों के सीमित क्षेत्र पर केन्द्रीकृत होना इसलिए भी मूलभूत है ताकि प्रशासन को उसके निर्णयों के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सके।

प्रशासनिक व्यवहार के औचित्य का मापदण्ड मुख्य रूप से कार्यकुशलता होती है। यह सभी तर्कपूर्ण व्यवहारों पर लागू होता है। कार्यकुशलता का अर्थ संक्षेप में यह है कि छोटे से छोटा रास्ता अपनाया जाए, सस्ते साधन अपनाए जाएँ ताकि लक्ष्य प्राप्ति में समय और साधन दोनों कम से कम लगें। संगठन के सदस्यों पर पड़ने वाला प्रभाव मुख्यतः अनौपचारिक प्रकृति का होता है। सूचना एवं परामर्श के माध्यम से सम्पूर्ण संगठन की सभी दिशाओं में प्रभाव डाला जाता है।

संगठनात्मक स्वामिभक्ति एवं कार्यकुशलता के मापदण्डों की भाँति प्रशिक्षण द्वारा भी संगठन के निर्णय एवं प्रशासनिक व्यवहार को प्रभावित किया जाता है। प्रशिक्षण द्वारा एक कर्मचारी को स्वयं निर्णय लेने के लिए तैयार किया जाता है। इसमें सत्ता एवं परामर्श के निरन्तर प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती। प्रशिक्षण सेवाकालीन अथवा सेवा पूर्व दोनों प्रकृतियों का हो सकता है। जब अनेक निर्णयों में एक जैसे तत्त्व निहित होते हैं तो उस विषय में कर्मचारी को प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। प्रशिक्षण द्वारा प्रशिक्षणार्थी को आवश्यक तथ्य दिए जाते हैं, उसके चिंतन हेतु एक सन्दर्भ दिया जाता है, उसे मान्य समाधान प्रस्तुत किए जाते हैं तथा उन मूल्यों का आरोपण किया जाता है जो निर्णय लेते समय ध्यान में रखे जाने चाहिए।

प्रशासनिक व्यवहार में तार्किकता
(Rationality in Administrative Behaviour)

फ्रायड के बाद व्यवहारवादी वैज्ञानिकों की अतीत कालीन सन्तति द्वारा यह प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है कि व्यक्ति उतना तार्किक नहीं होता जितना कि यह समझा जाता है। बाद की संततियों ने इसके विपरीत इस बात पर जोर दिया कि व्यक्ति तार्किक होता है। प्रत्येक प्रशासक यह प्रयास करता है कि वह सही निर्णय ले। प्रशासनिक निर्णय का सही होना एक सापेक्षिक बात है। वह तब सही है जबकि निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सही साधनों का चयन करता हो। एक तर्कशील प्रशासक इन प्रभावशाली साधनों के चयन से सम्बन्ध रखता है। निर्णय की प्रक्रिया में उन विकल्पों को चुना जाता है जो वांछित लक्ष्यों पर पहुँचने के सही साधन होते हैं। लक्ष्य स्वयं भी प्रायः अंतिम उद्देश्य के लिए साधन मात्र ही होते हैं। इस प्रकार उद्देश्यों की एक श्रृंखला अथवा पदसोपान होता है। तार्किकता का अर्थ साधन-साध्य की कड़ियों की रचना करना है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी साधन-साध्य सम्बन्ध व्यवहार को एकीकृत करने की चेष्टा करते हैं। साधन तथा साध्य का पदसोपान जिस प्रकार व्यक्ति के व्यवहार की विशेषता है उसी प्रकार यह संगठन के व्यवहार की भी विशेषता है।

प्रत्येक क्षण में व्यक्ति या संगठन के सम्मुख वैकल्पिक व्यवहारों की बहुत बड़ी संख्या होती है। इनमें से कुछ तो व्यक्ति के चेतना पटल पर होते हैं और कुछ नहीं होते। चयन अथवा निर्णय का अर्थ यह है कि इनमें से प्रत्येक क्षण के लिए एक व्यवहार को छाँट लिया जाता है। कुछ समय तक व्यवहार को निर्धारित करने वाली निर्णयों की ऐसी श्रृंखला को रणनीति (Strategy) कहा जाता है। प्रत्येक 'रणनीति' के अपने कुछ सम्भावित परिणाम होते हैं। तार्किक निर्णय का कार्य ऐसी रणनीति का चयन करना है जो अपेक्षित परिणामों की दृष्टि से पसंद की जाती है। निर्णय की प्रक्रिया में तीन कदम होते हैं—प्रथम सभी वैकल्पिक रणनीतियों की सूची बनायी

1 *Herbert A. Simon* : Ibid., p. 12

जाती है, द्वितीय, प्रत्येक रणनीति के सभी परिणामों का निर्धारण किया जाता है तथा तृतीय, इन परिणाम पुंजों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। एक बार जब एक रणनीति अपना ली जाती है तो उसे बदल कर दूसरी रणनीति अपनाया जाना उचित नहीं होता क्योंकि समय का बड़ा महत्त्व है। उदाहरण के लिए, यदि एक व्यक्ति ने डाक्टर बनने के लिए अपने जीवन के सात वर्ष प्रशिक्षण में व्यतीत किए और दस वर्ष उसके व्यवहार में लगा दिए तो इसके बाद उसके यह सोचने का प्रश्न नहीं उठता कि उसे डाक्टर बनना चाहिए अथवा इंजीनियर बनना चाहिए। यही बात प्रशासनिक व्यवहार पर लागू होती है।

प्रशासनिक व्यवहार में ज्ञान की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ज्ञान के द्वारा यह निर्धारित होता है कि किन वैकल्पिक रणनीतियों से कौन से परिणाम प्राप्त होंगे। कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से अपने कार्यों के परिणामों को नहीं जान सकता। वह भविष्य के परिणामों की अपेक्षा कर सकता है। ये अपेक्षाएँ ज्ञात अनुभवात्मक सम्बन्धों तथा वर्तमान स्थिति के बारे में सूचना पर आधारित होते हैं। उदाहरण के लिए सेवीवर्ग के चयन की प्रशासनिक निर्णय प्रक्रिया का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें प्रत्येक प्रत्याशी की स्थिति के बारे में परीक्षाओं से, सेवा मूल्यांकन से तथा अन्य साधन स्रोतों से आँकड़े एकत्रित किए जाते हैं। इन आँकड़ों के आधार पर तुलनात्मक भविष्यवाणी करके यह निर्धारित किया जाता है कि कार्य पर कौन-सा प्रत्याशी सबसे संतोषजनक कार्य करेगा। यदि भविष्यवाणी सही है तो सही निर्णय लिया जा सकेगा।

गैर-सरकारी सगठनों में निर्णय लेने की समस्या सरकारी अभिकरणों की अपेक्षा अधिक सरल होती है। गैर-सरकारी सगठनों में केवल उन्हीं परिणामों को ध्यान में रखा जाता है जो संगठन को प्रभावित करते हैं जबकि सरकारी अभिकरण में निर्णयों को सामाजिक मूल्यों के प्रकाश में देखा जाता है। उदाहरण के लिए जब एक गैर-सरकारी निगम का अध्यक्ष अपने किसी सम्बन्धी को फर्म में पद सौंपना चाहता है तो उसे यह देखना होगा कि नियुक्ति का फर्म की कार्य-कुशलता पर क्या प्रभाव पड़ेगा। किन्तु यदि उसी पद पर लोक सेवा द्वारा नियुक्ति करनी हो तो उसे यह देखना होगा कि इस कार्य का लोक सेवा में अवसर की समानता के सिद्धान्त पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

सगठन में व्यक्ति का व्यवहार सामूहिक प्रकृति का होता है इसलिए कोई निर्णय लेते समय संगठन के सदस्य को अन्य सदस्यों के निर्णयों से भी प्रभावित होना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्यों के परिणामों के बारे में सोचने के साथ-साथ दूसरों के कार्यों पर भी विचार करना होता है। यह कारक सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवहार की प्रक्रिया का एक मूलभूत तत्व है। प्रशासक 'क' को कोई रणनीति चुनने से पूर्व यह देखना होगा कि 'ख' ने क्या रणनीति चुनी है, इसी प्रकार 'ख' को भी यह देखना होगा कि 'क' ने क्या रणनीति अपनायी है। प्रशासनिक कार्य एक प्रकार से टीमवर्क होता है। इसमें प्रत्येक सदस्य को अपना कार्य तो कुशलता से करना ही है साथ ही अन्य के कार्यों की अपेक्षा का ध्यान भी रखना है। सभी के कार्यों में समन्वय रहता है तथा प्रत्येक को दूसरों के नियोजित कार्यों की सूचना प्रदान की जाती है। समन्वय के अभाव में सहयोग प्रभावहीन बन जाता है तथा अपने लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाता। हरबर्ट ए साइमन ने निर्णय प्रक्रिया में तार्किकता पर बल दिया है तथा तार्किकता के छ. भिन्न-भिन्न प्रकार बताये हैं, जिन्हें निरपेक्ष, सापेक्ष, सुविचारित, सगठनात्मक निजी तथा व्यक्तिगत रूप में रखा जा सकता है।

प्रशासनिक व्यवहार की सीमाएँ
(Limitations of the Administrative Behaviour)

किसी भी समय अलग-अलग व्यक्तियों का व्यवहार तार्किकता की उच्च श्रेणी तक पहुँच जाए, यह प्रायः सम्भव नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के सामने विकल्पों की संख्या इतनी अधिक रहती है तथा उसे प्राप्त सूचना इतनी व्यापक होती है कि वस्तुगत तार्किकता के करीब-करीब पहुँचना भी सम्भव नहीं होता है। व्यक्तिगत चयन कुछ 'प्रदत्तों' (Givens) के परिवेश में होता है। इन प्रदत्तों द्वारा निर्धारित सीमाओं के अंतर्गत ही व्यवहार को समायोजित किया जाता है।

प्रशासनिक व्यवहार की वस्तुगत वास्तविकता के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है— (क) तार्किकता के लिए आवश्यक है कि पूर्ण ज्ञान हो तथा प्रत्येक चयन के प्रत्याशित परिणामों का पूर्वानुमान हो। वास्तव में परिणामों का ज्ञान हमेशा अधूरा रहता है। (ख) ये परिणाम भविष्य में प्राप्त होते हैं अतः कल्पनात्मक रूप से उनके साथ संलग्न मूल्यों का ध्यान रखा जाए। इन मूल्यों का अनुमान भी केवल अपूर्ण रूप से ही लगाया जाता है। (ग) तार्किकता के लिए यह आवश्यक है कि सभी सम्भावित वैकल्पिक व्यवहार में से चयन किया जाए। वास्तविक व्यवहार में इन सभी सम्भावित व्यवहारों में से केवल कुछ ही विवेक में आ पाते हैं। इन कारणों से प्रशासनिक व्यवहार की तार्किकता सीमित हो जाती है।

प्रशासनिक सिद्धान्त का सम्बन्ध मूल रूप से मानवीय सामाजिक व्यवहार के तार्किक एवं गैर-तार्किक पहलुओं के बीच की सीमा-रेखा से होता है। प्रशासनिक क्षेत्र में यद्यपि मानवीय व्यवहार तार्किक होता है, किन्तु उसकी यह तार्किकता सीमित है और इसीलिए संगठन तथा प्रशासन के उपयुक्त सिद्धान्त के लिए यहाँ स्थान रहता है।

प्रशासनिक व्यवहार को समझने की दृष्टि से यहाँ आर्थिक व्यवहार के साथ उसकी तुलना कर ली जाये तो उचित रहेगा। साइमन ने आर्थिक व्यक्ति और प्रशासनिक व्यक्ति के मध्य अन्तर किया है। उसके मतानुसार, आर्थिक व्यक्ति उसके लिए उपलब्ध सभी विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ का चयन करता है जबकि प्रशासनिक व्यक्ति केवल संतोषजनक या ठीक-ठाक कार्य से ही संतुष्ट हो जाता है। आर्थिक व्यक्ति इसकी समस्त जटिलताओं के साथ वास्तविक दुनिया पर विचार करता है। प्रशासनिक व्यक्ति यह मानता है कि उसके द्वारा देखी गयी दुनिया एक मनमानी तथा भ्रम प्रसारित करती दुनिया का एक सरलीकृत प्रतिरूप है। वह इस सरलीकरण से इसलिए संतुष्ट हो जाता है क्योंकि वह मानता है कि वास्तविक दुनिया मुख्यत खाली है। वास्तविक दुनिया के अधिकांश तथ्य उसके सामने आने वाली समस्याओं के संदर्भ में अधिक सम्पति नहीं रखते। अपनी इन दो विशेषताओं के कारण प्रशासनिक व्यक्ति सभी संभावित, व्यावहारिक विकल्पों की परीक्षा किए बिना ही अपना चयन कर लेता है। वह अपने निर्णय अपेक्षाकृत सरल नियमों के आधार पर ले लेता है।

निर्णय प्रक्रिया प्रशासन का हृदय

(Decision Making as the Heart of Administration)

संगठन का आधुनिक सिद्धान्त जिन समाज-शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक विश्लेषणात्मक पहलुओं पर बल देता है उनका एक सहज परिणाम यह हुआ है कि संगठन-अध्ययन के क्षेत्र में नियम और पदसोपान प्रमुख न रहकर, नेतृत्व एवं निर्णय प्रक्रिया बन चुके हैं। हर्बर्ट साइमन और उसके साथियों द्वारा आरम्भ किया जाने वाला यह प्रयास आज जोसेफ कूपर, हाईविक एवं लेडमुट, गोरे और डेसन आदि कितने ही प्रशासकीय शोधकर्त्ताओं के वैज्ञानिक परीक्षणों के आधार पर आगे बढ़ चुका है फलत इसे प्रशासन का हृदय कहा जाता है।

निर्णय प्रक्रिया : अर्थ एवं दृष्टिकोण

(Decision Making Process : Its Meaning and Approaches)

निर्णय लेने की प्रक्रिया कुछ कार्यों के विकल्पों में से करणीय-कार्यों अथवा करने योग्य कार्यों को छाँटना है। जब यह कहा जाता है कि निर्णय लिया गया तो इसका एक मात्र अर्थ यह है कि एक लम्बी प्रक्रिया में से गुजर कर यह तय कर लिया गया है कि क्या किया जाएगा। टेरी के मतानुसार, निर्णय दो या अधिक सम्भावित विकल्पों में से एक व्यावहारिक विकल्प को चुनना है।[1] मैनले जोन्स (Manley Jones) का कहना है कि निर्णय एक समाधान होता है जो कुछ विकल्पों की परीक्षा करने के बाद छाँटा जाता है। यह इसीलिए छाँटा जाता है कि निर्णय लेने वाला यह पहले ही देख लेता है कि उसके द्वारा चुने गए कार्य उसके लक्ष्य की ओर पहुँचने के लिए दूसरों की अपेक्षा अधिक सहायता करेंगे और इनके आपत्तिजनक परिणामों की कम सम्भावना रहेगी।[2] लुण्डबर्ग (Lundberg) के अनुसार प्रशासकीय निर्णय एक प्रक्रिया है जिसमें एक व्यक्ति संगठन में दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करने के लिए एक निर्णय करता है ताकि वे व्यक्ति संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने में अपना योगदान दे सकें। गोरे तथा डाइसन (Gore & Dyson) के कथनानुसार, निर्णय व्यक्तियों के सहयोगपूर्ण प्रयासों के परिणाम हैं। वे दशाएँ परिस्थिति के साथ-साथ बदलती रहती हैं[3] जिसमें व्यक्ति सामूहिक रूप से, चाहे प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से, थोड़े समय तक या लम्बे समय तक, चाहे या अनचाहे परिणाम को प्रभावित कर सकते हैं।

हरबर्ट ए. साइमन प्रशासनिक प्रक्रियाओं को निर्णयात्मक प्रक्रिया (Decisional Process) मानते हैं।[4] साइमन ने संगठन की समस्या को उसके सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक संदर्भ देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि संगठन की संरचना और कार्य की विशेषताएँ मानवीय समस्या निवारण-प्रक्रियाओं (Human Problem Solving Processes) और बौद्धिक मानवीय चुनाव के लक्षणों से ग्रहण की जाती हैं।[5] इस दृष्टि से एक संगठन के व्यक्तियों को केवल एक मशीन के रूप में साधन मान लेना गलत होगा। संगठन में व्यक्ति की भावनाएँ, आवश्यकताएँ, प्रेरणाएँ और महत्त्वाकाँक्षाएँ होती हैं। उनके ज्ञान एवं समस्याओं को सुलझाने की सामर्थ्य की सीमाएँ

1 *Terry* · Op cit, p 52
2 *Manley H Jones* , Executive Decision Making, 1957, pp 5 6
3 *Gore and Dyson* · The Making of Decisions, p 1
4 *Herbert A Simon* Administrative Behaviour, p 8
5 *March and Simon* Organizations, p 169

होती है। साइमन के अनुसार, "निर्णय को हम पूर्वविचारों में से निकाले गए निष्कर्ष मान सकते हैं। ये निष्कर्ष बड़े निर्णयों के लिए पूर्वविचार बन जाते हैं।"[1] निर्णय की ये विभिन्न परिभाषाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि निर्णय लेना एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है।

निर्णय-प्रक्रिया : प्रकृति एवं क्षेत्र

(Decision Making Process : Nature and Scope)

निर्णय-प्रक्रिया को निर्णय प्रक्रिया का क्षेत्र प्रशासकीय नेतृत्व एवं संगठनात्मक संचार-व्यवस्था से इस तरह अन्तर्सम्बद्ध है कि संगठन की सारी सफलता निर्णय-प्रक्रिया की वैज्ञानिकता पर निर्भर कही जा सकती है। आदर्शात्मक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से 'निर्णय-प्रक्रिया' के दूरगामी प्रभाव उत्पन्न होते हैं। उनसे प्रशासकीय योजनाओं से उत्पन्न आकांक्षाओं की पूर्ति होती है। प्रशासकों की भावनात्मक आवश्यकताओं को परितोष मिलता है, संगठन के लिए स्रोत उपलब्ध होते हैं और संगठन के अन्दर तथा बाहर के पारस्परिक विरोध एवं द्वन्द्वों का समाधान होता रहता है। इतना ही नहीं, व्यक्तिगत रूप से भी 'निर्णय-प्रक्रिया' एक कठिन, दुविधाजनक एवं व्यक्तिपरक कार्य है। निर्णयकर्त्ता चाहे सृजनात्मक निर्णय ले अथवा घिसा-पिटा रुटीन निर्णय, दोनों ही स्थितियों में बुद्धि एवं भावना के तन्तुओं को झकझोरता है। अनिश्चय एवं सम्भावनाओं की चिन्ता उसे सदैव घेरे रहती है और अपनी निर्णय-प्रक्रिया के मॉडलों में वह 'विवेक' (Rationality) और 'अबुद्धिवादी तत्त्वों' (Irrational Elements) के अनुपातों के बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिए सचेष्ट होता है। संगठन-अध्येताओं में जार्ज कटोना और मार्टिन शुबिक क्रमशः इसी प्रकार के बुद्धिवादी और अबुद्धिवादी मॉडलों के प्रणेता हैं। विलियम जी. गोरे इन दोनों अतिवादी मॉडलों के बीच एक मध्यमार्गी 'ह्यूरिस्टिक मॉडल' (Heuristic Model) बनाने का प्रयास करते हैं जिसके द्वारा निर्णय-प्रक्रिया की वैज्ञानिकता एवं कलात्मकता के बीच एक आदर्शोन्मुख यथार्थवादी समन्वय का विकल्प प्राप्त हो सके।

प्रशासकीय निर्णय का क्षेत्र केवल रीति-निर्माण एवं नीति-क्रियान्वयन तक ही सीमित न होकर संगठन के कर्मचारियों के मनोबल तथा आचरण को भी समाहित करता है। हरबर्ट साइमन के सारे शोध प्रशासकीय निर्णय को व्यवहारवादी परिप्रेक्ष्य में देखते हुए उसे आचरण का एक नियामक तत्व मानते हैं जिसकी श्रेष्ठता एवं प्रयोजनशीलता सेवीवर्ग के मनोबल को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रभावित करती है। निर्णय-स्थिति के नकारात्मक एवं सकारात्मक पहलू प्रशासकों एवं राजनेताओं के मध्य नीति-द्वन्द्वों को प्रकाश में लाते हैं। साइमन मानता है कि निर्णय-प्रक्रिया के अव्यवस्थित होने पर ही प्रशासकीय सत्ता का अवरोध क्षेत्र (Zone of Resistance) फैलने लगता है और प्रशासकीय नेतृत्व संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति में चुनौतियाँ एवं बाधाएँ अनुभव करता है। आधुनिक संगठन सिद्धान्त 'निर्णय-प्रक्रिया' की इसी केन्द्रीयता पर बल देता है और गहराई व विस्तार से समझने के लिए उसे संगठन की समग्रता के संदर्भ में अभिनव दृष्टि से प्रस्तुत करता है।

व्यक्तिगत और संगठनात्मक निर्णय

शासन के क्षेत्र में भी निर्णय-प्रक्रिया उसी प्रकार उद्देश्यगत होती है जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में। व्यक्तिगत और संगठनात्मक अथवा प्रशासकीय दोनों ही निर्णयों की प्रवृत्ति प्रायः एक जैसी होती है, तथापि दोनों स्थितियों में कुछ आधारभूत अन्तर हैं—

प्रथम, व्यक्तिगत निर्णय एक सीमित धरातल के होते हैं जबकि प्रशासनिक निर्णय सामाजिक, संगठनात्मक एवं तकनीकी निर्णय कहे जा सकते हैं। गोरे एवं डाइसन ने प्रशासनिक निर्णयों को व्यक्तियों के सामूहिक प्रयासों का परिणाम माना है। जो संगठन की स्थिति को सामूहिक रूप से प्रभावित करते हैं। प्रशासनिक अथवा संगठनात्मक निर्णय संगठन के उद्देश्यों की एक सीमा-रेखा में आबद्ध होते हैं। राजनीतिक नीति-निर्णय उन्हें और भी अधिक सीमित करते हैं।

द्वितीय, प्रशासनिक अथवा संगठन के निर्णयों को प्रत्यायोजित किया जा सकता है जबकि व्यक्तिगत निर्णयों को व्यक्ति स्वयं ही लेता है, उनको हस्तान्तरित नहीं कर सकता, तथापि व्यक्तिगत क्षेत्र के निर्णयों में भी जिनकी प्रकृति 'प्रमुख' होती है उनको प्राथमिक रूप से विभिन्न व्यक्तियों की सलाह पर छोड़ा जा सकता है। इस प्रकार कुछ विशेष प्रकृति के संगठनात्मक निर्णयों को एक व्यक्ति की इच्छा से लिया जा सकता है।

तृतीय, जहाँ तक निर्णयों की क्रियान्विति का प्रश्न है, व्यक्तिगत निर्णय प्रायः एक व्यक्ति द्वारा और संगठनात्मक निर्णय अनेक व्यक्तियों द्वारा क्रियान्वित किए जाते हैं। संगठनात्मक निर्णयों का उत्तरदायित्व तब तक किसी एक व्यक्ति पर नहीं हो सकता जब तक कि उसे सौंपा ही न जाए। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रशासनिक निर्णयों की प्रकृति भी व्यक्तिगत निर्णयों की भाँति अत्यन्त जटिल होती है।

1. *Herbert A. Simon* : Comments on the Theory of Organization, American Political Science Review 46, 1130, December, 1952.

प्रशासनिक तथा राजनीतिक निर्णय

राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णयों की तुलना भी जा सकती है। राजनीतिक निर्णयों का क्षेत्र नीति सम्बन्धी प्रश्न होते हैं, प्रशासन नीति सम्बन्धी निर्णयों में भाग लेते हुए भी उन नीतियों तक सीमित रह जाता है। अत: स्वभावत: जहाँ राजनीतिक निर्णय व्यापक स्तर पर कुछ-कुछ अस्पष्ट से हो सकते हैं, वहीं प्रशासनिक निर्णयों में निश्चितता एवं स्पष्टता अधिक आवश्यक है। इसी प्रकार उद्देश्यों की दृष्टि से भी राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णय बहुत कुछ एक उद्देश्य रखते हुए भी क्रमश: लोक-कल्याण और कार्य-कुशलता के उद्देश्यों पर अधिक बल देते हैं। अत: निर्णय-प्रक्रिया में भाग लेने वाला राजनीतिज्ञ अपने निर्णय को जिस परिप्रेक्ष्य में देखता है वह परिप्रेक्ष्य उस प्रशासक का नहीं हो सकता जिसे अपने निर्णय को निपुणता से क्रियान्वित करना है। इसी प्रकार राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णयों में वैकल्पिक बहुलता एवं अल्पता, निर्णय-प्रक्रिया की अवधि एवं निर्णय के निर्धारक तत्वों आदि के अन्तर देखे जा सकते हैं। राजनीतिक निर्णय-प्रक्रिया स्वभावत: प्रशासनिक निर्णय-प्रक्रिया से अधिक जटिल, अधिक मिश्रित, अधिक चुनौतीपूर्ण एवं कम वैज्ञानिक होती है। राजनीतिक निर्णय मूल्यों की दृष्टि से भी एक-दूसरी भाव-भूमि पर खड़े होते हैं जबकि प्रशासनिक निर्णयों को सम्भवत: उनके मूल-तत्वों को घटा कर अधिक तथ्यपूर्ण बनाया जा सकता है। यद्यपि प्रशासकीय निर्णय राजनीतिक निर्णयों के अंग कहे जा सकते हैं, तथापि क्षेत्र, प्रकृति, तत्व एवं प्रक्रिया सभी दृष्टियों से भिन्न होने के साथ-साथ वे अपने-आप में ऐसी इकाइयाँ हैं जिनका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रशासनिक नेतृत्व एवं संगठन की संचार-व्यवस्था से प्रभावित होता रहता है। अनेक बार राजनीतिक निर्णय परिस्थितिजन्य और जल्दबाजी में भी लिये जा सकते हैं, लेकिन प्रशासनिक निर्णय यथार्थ परिस्थितियों के संदर्भ में लिये जाते हैं।

निर्णय-प्रक्रिया एवं नीति में सम्बन्ध

निर्णय लेने की प्रक्रिया का अर्थ समझते समय उसके अर्थ एवं नीति (Policy) के सम्बन्ध को समझ लेना चाहिए। संगठन की नीति का निरूपण निर्णयों की एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम होता है। नीति निर्धारित करते समय संगठन के शीर्ष अधिकारी अनेक विकल्पों में से कुछ को चुनते हैं। जब संगठन की नीति निर्धारित हो चुकती है तो बाद में लिए जाने वाले निर्णय इन नीतियों के अनुसार ही होते हैं। संगठनात्मक नीति द्वारा एक मार्ग निश्चित कर दिया जाता है जैसा कि टैरी (Terry) का कथन है, निर्णय प्राय: नीति द्वारा प्रदर्शित मार्ग के अनुसार ही निर्धारित किया जाता है। उसके मतानुसार नीति अपेक्षाकृत विस्तृत होती है, अनेक समस्याओं को प्रभावित *करती है तथा इसका प्रयोग बार-बार किया जाता है। इसके विपरीत निर्णय का सम्बन्ध एक विशेष समस्या से* होता है और इसका प्रयोग लगातार नहीं किया जा सकता।[1] संगठन के समय-समय पर लिए जाने वाले निर्णय नीतियों की भाँति स्थायी, पवित्र और परिवर्तनीय नहीं होते। इनको आवश्यकता, परिस्थिति एवं वातावरण के अनुसार बदला जा सकता है। इस सम्बन्ध में हर्बर्ट साइमन का यह कहना सही है कि प्रशासकीय निर्णयों से संलग्न मूल्य (Values) किसी मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक अर्थ में कदाचित् ही अन्तिम मूल्य होते हैं।[2] साइमन का मत है कि अधिकांश लक्ष्यों और क्रियाओं के मूल्य का स्रोत साधन-साध्य सम्बन्ध (Means-ends relationship) *होता है जो उनको ऐसे लक्ष्यों एवं क्रियाओं से सम्बद्ध करता है जो अपने-आप में मूल्यवान हैं।*

नीति और निर्णय की प्रक्रिया के सम्बन्ध के समान ही निर्णय की प्रक्रिया एवं संगठन का भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। निर्णय लेने वाले व्यक्ति पर संगठन के रूप द्वारा कुछ सीमाएँ लगाई जाती हैं। साइमन के अनुसार, संगठन व्यक्ति से उसकी कुछ निर्णयात्मक स्वायत्तता लेकर उसके स्थान पर एक संगठनात्मक निर्णय लेने की प्रक्रिया स्थापित कर देता है।[3]

प्रशासनिक निर्णय के बारे में दृष्टिकोण

प्रशासनिक निर्णय अथवा निर्णय-प्रक्रिया का विश्लेषण करते समय लोक-प्रशासन के अध्येता उसे निम्नांकित पाँच दृष्टियों से देखते हैं—

(i) प्रशासनिक निर्णय विकल्प-चयन की एक चरम स्थिति है।

(ii) प्रशासनिक निर्णय स्थिति नहीं, बल्कि चयन-प्रक्रिया है।

(iii) प्रशासनिक निर्णय प्रत्येक प्रकार की स्थिति अथवा प्रक्रिया मात्र न होकर एक विशेष प्रकार की चयन-स्थिति है।

---

1 *Terry* : Op. cit., p 52
2 *Herbert A. Simon* : Op. cit., p 52
3 *Herbert A. Simon* : Op. cit., p 8

(iv) प्रशासनिक निर्णय में केवल वे ही प्रक्रियाएँ समाविष्ट होती हैं, जो वास्तविक चयन-प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं।

(v) कुछ लोग यह मानते हैं कि निर्णय-प्रक्रिया चयन की सही प्रक्रियाओं तथा उसके बाद की स्थितियों को भी अपने अध्ययन-क्षेत्र में समाहित करती है।

प्रशासनिक निर्णय के अध्ययन मॉडल में चाहे सकीर्ण दृष्टिकोण अपनाया जाए अथवा व्यापक, यह स्वाभाविक है कि व्यक्ति, समूह और वातावरण तीनों तत्त्वों की क्रिया-प्रतिक्रियाएँ अनिवार्यतः दिखाई देंगी। प्रशासनिक निर्णय में प्रशासक की अपनी भूमिका होगी और उसकी अपनी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि, आचरण-सिद्धान्त, मूल्य-आस्था एवं सगठन-निष्ठा के प्रश्न प्रत्येक निर्णय के साथ उभर कर आएँगे। इसी प्रकार व्यक्तियों का एक समूह होने के कारण कोई भी संगठन-निर्णय, समूह-मनोविज्ञान, समूह-हित, समूह-आचरण तथा समूह-मनोबल आदि के प्रश्नों से प्रभावित ही नहीं होगा बल्कि सीमित एव विस्तृत भी बनेगा। वातावरण समूह और नेतृत्व की प्रक्रियाओं तथा विस्तृत परिप्रेक्ष्य में सगठन के मूल्यांकन से निर्मित एक प्रशासकीय सस्कृति को जन्म देता है और यह प्रशासकीय संस्कृति (Administrative Culture) उन मूल्यों एवं तथ्यों को महत्त्व प्रदान करती है जिनके सन्दर्भ में नीति-निर्णयों के विकल्प उभरने लगते हैं। प्रशासनिक निर्णय, इन्हीं तत्त्वों, प्रक्रियाओं एव परिणामों (Forces, Processes and Outcomes) का अध्ययन है। ये तत्त्व प्रक्रियाएँ और परिणाम अन्तर्सम्बद्ध हैं, अन्योन्याश्रित हैं और एक अविरल प्रवाह के रूप में सगठन को दिशा-विशेष प्रदान करते हैं। प्रशासनिक निर्णयों के अध्ययनकर्ता जब इन अन्तर्क्रियाओं की गहराई में जाते हैं तो अपने अध्ययन का दृष्टिकोण निर्धारित करने के लिए उन्हें निर्णय के कुछ विशेष तत्त्वों पर बल देना पड़ता है। प्रशासनिक निर्णय-साहित्य में अब तक ये तीन दृष्टिकोण रहे हैं—प्रथम—Intuitive Approach, द्वितीय—Normatic Approach, तृतीय—Scientific Approach. प्रथम दृष्टिकोण निर्णय-प्रक्रिया में अप्रत्याशित एवं संयोग तत्त्वों की अपेक्षा इस बात पर अधिक बल देता है कि निर्णयकर्त्ता अपने अन्तर्ज्ञान एवं अन्तर्दृष्टि से स्थिति का मूल्यांकन कर विकल्पों का चयन करे। द्वितीय दृष्टिकोण मूल्यपरक है और तथ्यों को गौण मानकर मूल्यों को निर्धारक कारक मानता है। तृतीय दृष्टिकोण में मूल्यों का अपना स्थान है, किन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि निर्णय की आधारभूमि और परिणाम के बीच की सभी स्थितियों को विशेषकर सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एव संगठनात्मक दशाओं का तथ्यात्मक विश्लेषण कर ऐसे उपयोगी एवं व्यावहारिक विकल्प निकाले जाएँ जो संगतिपूर्ण हों। इस तरह से निर्णय-प्रक्रिया एक सतत और अविराम चलने वाली प्रक्रिया है।

निर्णय-प्रक्रिया के तत्त्व

सगठन के सन्दर्भ में प्रशासनिक निर्णय तत्त्व को विश्लेषित करने के लिए यह स्वाभाविक है कि उन सभी तत्त्वों एव पहलुओं पर दृष्टि डाली जाए जो निर्णय-प्रक्रिया के अविभाज्य अंग हैं। निर्णय-प्रक्रिया में एक बौद्धिक गतिविधि तथा एक तार्किक मार्ग का अनुसरण करने के साथ-साथ कितने ही अतार्किक, भावनात्मक, जनतन्त्रात्मक, विनिमयात्मक एवं रहस्यात्मक तत्त्व भी होते हैं। निर्णय प्रक्रिया के प्रमुख तत्त्व निम्नांकित हैं—

(i) संगठन के उद्देश्य (Objectives)
(ii) सगठन की नीतियाँ (Policies)
(iii) सगठन का नेतृत्व (Leadership)
(iv) प्रशासनिक परिस्थितियाँ (Administrative Situations)
(v) विकल्पों का मूल्यांकन (Evaluation of Options)
(vi) अन्तिम चयन (Final Choice)

इस तरह एक प्रशासक के निर्णय में, मूल्य, तथ्य एव उनके मूल्यांकनकर्ता अधिकारी तथा सगठनात्मक परिस्थितियाँ सापेक्ष दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होती हैं। निर्णय जितना गम्भीर होगा उतना ही मूल्यों की ओर झुकेगा, किन्तु उसकी व्यावहारिकता, उपयोगिता एव लोकप्रियता उतनी ही अधिक होगी जितना कि वह तथ्यों के वैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित हो सकेगा।

निर्णय प्रक्रिया के चरण

(The Steps of Decision Process)

निर्णय-प्रक्रिया प्रशासन को अनुशासित करने वाली एक राजनीतिक प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब मात्र कही जा सकती है। जिन राजनीतिक अवस्थाओं में राजनीतिक निर्णय एक या कुछ थोड़े से व्यक्ति लेते हैं, वहाँ प्रशासन का निर्णय-क्षेत्र भी सीमित अथवा बन्द हो सकता है। इसी तरह जनतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था (Open Decision Model) उन्मुक्त निर्णय प्रक्रियाओं को जन्म देती है। विलसन और एलेक्सिस ने इन गुप्त और उन्मुक्त प्रशासनिक निर्णय-प्रक्रियाओं का गम्भीर अध्ययन किया है और उनकी मान्यता है एक सीमित निर्णय-प्रक्रिया

(Closed Decision Model) में, जबकि निर्णायक तत्व, (i) विकल्पों के ज्ञान, (ii) विकल्पों की प्राथमिकता के नियम, और (iii) उत्पादन, आय परिणाम आदि को अधिकतम बनाने के प्रयासों पर निर्भर करते हैं। इसके विपरीत एक बहुचयनकारी खुले प्रतिमान (Multiple Choice Open Model) में उद्देश्य पूर्वपरिभाषित नहीं माने जाते और विकल्पों की खोज तथा प्राथमिकता के निर्णय भी हर बार विचार-विनिमय और परिस्थितियों के सन्दर्भ में बदलते रहते हैं। इस प्रकार निर्णय का उन्मुक्त प्रतिमान मानव-ज्ञान और आचरण की पृष्ठभूमि पर अधिक बल देता है जबकि बन्द प्रतिमान में उपयोगिता में प्रसूचक (Utility Index) कुछ ऐसे स्वय-सिद्ध मूल्य होते हैं जो यह मानकर चलते हैं कि निर्णयकर्ता उपयोगिता का सही अर्थ जानता है। लोक प्रशासन के क्षेत्र में उन्मुक्त निर्णय-प्रतिमान इसलिए अधिक लोकप्रिय होते जा रहे हैं क्योंकि वे निर्णय-प्रक्रिया की यथार्थताओं तथा निर्णयकर्त्ताओं की क्षमताओं से परिचित कराकर निर्णय प्रक्रिया के अध्ययन में अधिक गहन अन्तर्दृष्टि और तत्वों की समग्रता का बोध करा पाते हैं।

लुण्डबर्ग निर्णय-प्रक्रिया को छ. स्तरों से गुजरती हुई एक प्रशासनिक क्रिया मानता है। उनके अनुसार ये स्तर निम्नानुसार हैं—

(i) समस्या को परिभाषित करना, समझना और सीमित करना।
(ii) समस्या को मूल्यांकित करना।
(iii) समाधान के मूल्यांकन की कसौटियाँ निर्धारित करना।
(iv) सूचना एवं सामग्री सकलित करना।
(v) समाधानों के विकल्पों में से एक का चयन।
(vi) स्वीकृत समाधान का प्रयोग।

हरबर्ट साइमन भी इसी प्रकार निर्णय-प्रक्रिया को तीन प्रमुख स्तरों में विभाजित करता है। उनके अनुसार, "निर्णय लेने की क्रिया मुख्य रूप से तीन चरणों में समाहित की जा सकती है—

(i) निर्णय लेने के लिए अवसर ढूँढ़ना,
(ii) कार्य के लिए सम्भावित विकल्प पहचानना, और
(iii) विकल्पों में से किसी एक को चुनना।

निर्णय-प्रक्रिया के प्रथम चरण में अन्वेषण कार्य (Intelligence Activity) आता है, द्वितीय चरण को में 'स्वरूप निर्धारण' को लिया जाता है और तृतीय में 'चयन प्रक्रिया' (Choice Activity) आती है।" हरबर्ट साइमन, जिन्होंने प्रशासनिक निर्णय-प्रक्रिया के साहित्य में एक क्रान्तिकारी योगदान दिया है। वह मानते हैं कि निर्णय-प्रक्रिया प्रशासनिक आचरण के विभिन्न स्वरूपों का ही एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। निर्णय-चक्र (Decisioning Cycle) में निर्णयकर्ता का बोध, चेतना, स्वीकृति, दूर-दृष्टि आदि में सारी बातें निहित होती हैं जो आचरण में नियामक तत्व भी कही जा सकती हैं। निर्णय-प्रक्रिया के इन विभिन्न चरणों पर मूल्य तथा द्विभाजन के प्रश्न अपना प्रभाव डालते हैं और हरबर्ट साइमन के मत में निर्णय का प्रयास विद्यमान स्थिति को बदलने का एक ऐसा प्रयास कहा जा सकता है जो कुल मिलाकर चयन-प्रक्रिया में निर्णय-कर्त्ता की अपनी भूमिका की महत्ता का मान है।

प्रथम चरण : समस्या को पहचानना, समझना और स्वीकार करना

निर्णय-प्रक्रिया का पहला चरण समस्या को पहचानना, समझना और स्वीकार करना है, अर्थात् समस्या और समस्याहीनता के बीच की स्थिति में अन्तर करना। प्रशासन में यह एक बड़ी भारी दुविधा होती है कि किसे समस्या माना जाए और किसे सामान्य। समस्याओं को पहचानना और स्वीकार करना अपने-आप में अनेक प्रश्नों को जन्म देता है, जैसे—(i) क्या समस्या लगती है अथवा है? (ii) क्या समस्याएँ स्पष्ट दिखाई दे रही हैं अथवा अन्य समस्याओं से उलझी हुई हैं? (iii) समस्या को देखते समय कहीं निर्णयकर्ता अपनी समस्याएँ तो उसमें नहीं मिला रहा है? (iv) क्या समस्या को देखते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि संगठन के किस स्तर पर समस्या को देखा अथवा समझा जाना चाहिए? इन प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में निर्णयकर्ता को समस्या को निरपेक्षता और निष्पक्षता से पहचानने, समस्या के इतिहास को जानने, समस्या से उत्पन्न स्थिति का सर्वेक्षण करने तथा समस्या की भावी दिशाओं तथा क्षितिजों का अन्वेषण करने की तरफ उन्मुख रहना चाहिए।

ऐसा करते समय निर्णयकर्ता स्थिति का विश्लेषण करने का प्रयास करता है और उसमें स्वयं भाग लेने लगता है। कल्पित तथ्यों और मूल्यों की अपनी तस्वीर में वह यह पहचानने का प्रयास करता है कि संगठन के उद्देश्य इस निर्णय में कितने उत्प्रेरक हैं। कौन-कौनसी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ दुर्बल बिन्दुओं को जन्म देंगी? क्या निर्णय आगे की निर्णय-प्रक्रिया को गम्भीर मोड़ देगा? निर्णय का अनुपालन किस स्तर पर होगा और कौन-कौन से व्यक्ति अमुक निर्णय से किस सीमा तक किस प्रकार प्रभावित होंगे?

निर्णय-प्रक्रिया के प्रथम चरण की ये विभिन्न क्रियाएँ बतलाती हैं कि निर्णयकर्ता एक सैनिक की तरह अपनी रणनीति तैयार करता है। इस स्तर पर समस्या की माप की जाती है। समस्या का क्षेत्र निर्धारित करना समस्या की गहराई नापना है। उसके अन्तर्सम्बन्धों को पहचानना है, साथ ही अन्य भिन्न स्थितियों से अलग करना है। इस तरह प्रथम चरण का यह सर्वेक्षण यद्यपि निर्णय-प्रक्रिया का आरम्भिक स्तर है, तथापि इसमें मूल्य और तथ्यों का एक स्पष्ट संघर्ष देखा जा सकता है। साइमन की मान्यता है कि समस्या का यह स्तर निर्णय-प्रक्रिया का हृदय है और आने वाले स्तरों पर यह प्रयास होता है कि जहाँ तक सम्भव हो समस्या से उसी तरह मुकाबला किया जाए जैसा इस स्तर पर सोचा गया था। बहुत कम स्थितियों में तथ्यों का यह दूसरा स्तर इतना कटु एवं कठोर होता है कि वह पहले स्तर की तकनीक को प्रभावित कर सके।

द्वितीय चरण : स्वरूप निर्धारण

निर्णय-प्रक्रिया का दूसरा चरण, जिसे हरबर्ट साइमन स्वरूप-निर्धारण (Designing) कहता है, तथ्यों की खोज एवं खोज की कसौटी भी कहा जा सकता है। इस चरण के मुख्य रूप से दो उपकरण हैं—एक, तथ्यों को संगतिपूर्ण ढंग से समस्या के वातावरण से चुनना। दूसरा, तथ्यों का मूल्यांकन करना जो तथ्यों की तथ्यात्मकता एवं गम्भीरता के मूल्यात्मक प्रश्नों से सम्बन्धित है। इस प्रकार निर्णयकर्ता जब समस्या को पहचान लेता है तो वह उसके अध्ययन की ओर उन्मुख होते समय निम्नांकित तथ्यों का विश्लेषण करता है—

(1) समस्या के तथ्य क्या हैं और सचमुच में वे तथ्य हैं इसकी क्या कसौटी होनी चाहिए ?

(2) तथ्यों की वास्तविकता से भी अधिक समस्या से उनका क्या सम्बन्ध है जिससे वे संगत अथवा असंगत बनते हैं ?

(3) क्या तथ्य दृश्य और अनुभवपरक हैं या उनमें कुछ ऐसे उपतथ्य मिले हुए हैं जिन्हें ढूँढने के लिए विशेष प्रयास की आवश्यकता है ?

(4) उन तथ्यों की जानकारी के स्रोत क्या हैं और वे स्रोत कितने विश्वसनीय हैं ?

(5) तथ्यों में परस्पर क्या सम्बन्ध है और क्या इन सभी तथ्यों को समस्या के आकार-प्रकार के सन्दर्भ में उसके विभिन्न रूपों को पहचानने में अधिक सहायता मिल सकती है ?

इस प्रकार ये सभी तथ्य प्रथम चरण की जानकारी से उत्पन्न होते हैं, किन्तु यदि उनकी खोज में यह पूर्वाभ्यास या पूर्व जानकारी के रूप में अन्तिम कसौटी बन जाए तो बहुत से तथ्य उभर कर सामने नहीं आ सकेंगे। तथ्यों की खोज में निष्पक्षता सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है और निर्णयकर्ता के लिए सबसे बड़ी चुनौती यही है। इस दूसरे चरण का महत्वपूर्ण उपचरण तथ्यों का मूल्यांकन है। जिसे करते समय निर्णयकर्ता को निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए—

(i) क्या तथ्यों में परस्पर सामंजस्य है ?

(ii) क्या तथ्य अनुमानित रूप से किसी सीमा तक कुछ गलत हो सकते हैं ?

(iii) क्या तथ्य अधिकाधिक और विश्वसनीय हैं ?

(iv) क्या तथ्यों को पूर्ण मान कर आगे बढ़ा जा सकता है ?

तथ्य-मूल्यांकन निर्णयकर्ता की स्थिति को समझने की क्षमता, समस्या के आकार तथा आधार के नीति सम्बन्धी मूल्यों के सन्दर्भ में किया जाता है। स्वाभाविक है कि यह समाधान के कुछ विकल्प प्रस्तुत करे।

तृतीय चरण : विकल्पों का चयन

निर्णय-प्रक्रिया का तीसरा और अन्तिम चरण है विकल्पों का चयन। इस स्थिति में विकल्पों का चुनाव करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि निर्णय व्यक्तिपरक हो अथवा तकनीकीपरक। अतः यह आवश्यक है कि उसमें—

(i) गुणवाची तत्त्व परिमाणवाची तत्त्वों की अपेक्षा उच्च होंगे,

(ii) उसमें वाञ्छनीयता और सम्भाव्यता के बीच एक समन्वय स्थापित करना होगा जिसे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा जा सकता है,

(iii) उसमें निर्णय की सीमाओं अथवा अव्यावहारिकताओं का उतना ही ध्यान रखना पड़ेगा जितना की निर्णय से उत्पन्न होने वाली पुनर्निर्णयों की संभावनाओं एवं जटिलताओं का।

कुल मिलाकर निर्णय नियम-सापेक्ष होते हुए भी मूल्य-निरपेक्ष हो सकता है। इससे तथ्यों की यथार्थताएँ मूल्य की वांछनीयताओं के साथ समझौता कर सकती हैं। इस तरह निर्णय समाधान का अंतिम विकल्प है। तीनों

ही स्तरों पर चाहे वह अन्वेषण का स्तर हो अथवा सामग्री और विकल्प की संरचना का अथवा अंतिम विकल्प-चयन का, निर्णयकर्ता को अध्ययन के मापदण्ड विकसित करने पड़ेंगे। इसलिए निर्णयकर्ता से अपेक्षा की जाती है कि निर्णायक-क्षण तक पहुँचने से पहले वह मार्मिक ढंग से एक-एक चरण पार करे। निर्णय प्रक्रिया की सफलता पर ही प्रशासन का विकासोन्मुख स्वरूप निर्भर करता है।

निर्णय कैसे लिए जाएँ ?

(How to Make Decision ?)

निर्णय किस प्रकार लिए जाएँ ? लोक प्रशासन का यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है जिसका संतोषजनक उत्तर प्राप्त करना प्रत्येक अध्यक्ष का उत्तरदायित्व है। एक अध्यक्ष को अथवा प्रबन्धक को किस प्रकार निर्णय लेना चाहिए, यह बताने के लिए उनके सम्मुख अच्छे निर्णय के कुछ गुण प्रस्तुत कर दिए जाते हैं और कह दिया जाता है कि उनके द्वारा लिए गए निर्णयों में ये गुण समाहित होने चाहिए। निर्णयों के गुणात्मक पहलुओं पर जोर देने वाले विचारकों का यह कहना है कि श्रेष्ठ निर्णय वह होता है जिसमें निम्नलिखित गुण समाहित हों—

1. बुद्धिपूर्णता—निर्णय बुद्धिपूर्ण होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि सम्बन्धित समस्या पर पूरी तरह से विचार कर लिया जाए, उस पर विचार करते समय निर्णायक के सम्मुख तथ्य रहने चाहिए और इन तथ्यों के चयन तथा उनकी व्यवस्था में उसे अपनी इच्छाओं, भावनाओं आदि का समावेश नहीं करना चाहिए। कई बार अबौद्धिक तत्वों के प्रभाव से तथ्यों की गलत व्याख्याएँ कर दी जाती हैं जिसके परिणामस्वरूप लिए गए निर्णय अयथार्थ या निरर्थक हो जाते हैं।

2. वस्तुगतता—निर्णय वस्तुनिष्ठ (Objective) होना चाहिए। यह गुण पूर्ववर्णित गुण से मिलता हुआ है तथा तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक निर्णय को बौद्धिक न बनाया जाए। वस्तुनिष्ठता बुद्धि की एक महत्वपूर्ण विशेषता समझी जाती है। जिस प्रकार एक हंस दूध को पानी से अलग कर देता है उसी प्रकार बुद्धि द्वारा तत्वों की अच्छाई एवं बुराई को पृथक् करके देखा जा सकता है। निर्णय लेते समय यदि निर्णायक के व्यक्तिगत भाव, प्राथमिकताएँ, मूल्य एवं सहज प्रवृत्तियों का प्रभाव रहा है तो यह निश्चित है कि लिया गया निर्णय तथ्यसंगत कम होगा।

3. समय पर—यह आवश्यक है कि निर्णय समय पर लिया जाए। समय से पूर्व लिए गए निर्णय का कोई महत्व नहीं होता और समय के बाद लिए जाने वाले निर्णय प्रभावहीन हो जाते हैं।

4. प्रतिक्रियाओं से सजग—अध्यक्ष द्वारा जो निर्णय लिए जाएँ उनकी सम्भावित प्रतिक्रियाओं पर पहले से ही विचार कर लेना चाहिए। संगठन में जो भी निर्णय लिया जाता है उसकी पृष्ठभूमि में संभावित प्रतिक्रियाओं का एक चित्र रहता है। निर्णय लेने वाला चाहता है कि संगठन के सदस्यों द्वारा एक विशेष रूप में प्रतिक्रिया की जानी चाहिए। यदि वह प्रतिक्रिया उस रूप में होती है तो निर्णय सफल समझा जाता है और यदि प्रतिक्रिया का रूप निर्णायक की आकांक्षा से भिन्न या विपरीत होता है तो वह असफल कहा जाता है। इसलिए अध्यक्ष को इस बात पर भली प्रकार विचार कर लेना चाहिए कि निर्णय के प्रति संगठन के सदस्यों की क्या प्रतिक्रियाएँ होंगी ?

निर्णय किस प्रकार लेना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर में उन विचारकों के मत का अध्ययन करना भी महत्वपूर्ण है जो तत्वों (Factors) के समर्थन का विचार प्रस्तुत करते हैं। तदनुसार, निर्णय लेते समय निर्णायकों को कुछ तत्व ध्यान में रखने चाहिए। यदि निर्णय इन तत्वों के अनुसार है तो वह सफल एवं प्रभावशाली होगा। टेरी ने निर्णय की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले बारह तत्वों का वर्णन किया है। ये हैं—[1] (1) कानूनी सीमाएँ (Legal Limitations), (2) बजट (Budget), (3) सामाजिक आदर्श (Mores), (4) तथ्य (Facts), (5) इतिहास (History), (6) आन्तरिक नैतिक चरित्र (Internal Moral), (7) अपेक्षित भविष्य (Future as Anticipated), (8) उच्च श्रेणी (Superiors), (9) दबाव समूह (Pressure Groups), (10) कर्मचारी वर्ग (Staff), (11) कार्यक्रम की प्रकृति (Nature of Programme), (12) अधीनस्थ कर्मचारी (Subordinates)। ये सभी तत्व निर्णय की प्रक्रिया को बुद्धिमत्तापूर्ण, वस्तुगत एवं सफल बनाने में प्रभावक रूप से सहायक होते हैं।

निर्णय लेने के तरीके का एक अन्य समाधान व्यवहारवादियों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। व्यवहारवादी मानते हैं कि निर्णय लेने के तरीके का कोई सर्वमान्य रूप निश्चित नहीं किया जा सकता। कोई एक तरीका एक समय में अच्छा है तो वही दूसरे समय में निकम्मा सिद्ध होता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि निर्णय लेने का अभ्यास एक व्यक्ति अथवा संस्था को श्रेष्ठ निर्णायक बना सकता है। इसके लिए यह जरूरी है कि प्रशासकों को

1. Terry : op. cit., pp. 66 67

निर्णय लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। निर्णय लेते समय किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए इसके सम्बन्ध में टेरी (Terry) ने अनेक बातों का उल्लेख किया है।[1] उनके मतानुसार, सबसे पहले यह निश्चय करना होगा कि समस्या क्या है ? जब समस्या का निश्चय हो जाए तो उसकी एक सामान्य पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए आवश्यक सूचना तथा तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण प्राप्त करना होगा। इसके बाद उन तरीकों पर विचार किया जाएगा जिनसे कार्य की साधना की जा सकती है। प्रारंभ में एक कामचलाऊ निर्णय लिया जाता है तथा अस्थायी योजना बनाई जाती है, किन्तु बाद में उसका मूल्यॉकन करके उसमें से महत्त्वपूर्ण तत्वों को क्रियान्वित करने का प्रयास किया जाता है। इस योजना की क्रियान्विति से जो परिणाम प्राप्त होते हैं उनके प्रकाश में यह निश्चय किया जाता है कि निर्णय को कायम रखा जाए अथवा संशोधित या परिवर्धित किया जाए।

निर्णय लेने की प्रजातन्त्रात्मक प्रक्रिया

(The Democratic Pattern of Decision Making Process)

प्रशासन में निर्णय लेने की प्रक्रिया पर प्रजातन्त्रात्मक तरीकों एवं आदर्शों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। प्रारम्भ में जब प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था इतनी लोकप्रिय न थी, प्रशासनिक संगठनों के निर्णय प्रायः एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज समझे जाते थे। निर्णय लेते समय अपने अधीनस्थों से परामर्श या उनकी राय का आदर करने की चत्ते आवश्यकता नहीं होती थी, किन्तु व्यक्ति के जीवन में ज्यों-ज्यों प्रजातन्त्रात्मक मूल्य घर करते गए, प्रशासकीय संगठनों में निर्णय लेने की प्रक्रिया का स्वरूप भी परिवर्तित होता गया। अब निर्णय लेने की प्रक्रिया में न केवल संगठन का अध्यक्ष वरन् अनेक आन्तरिक और बाह्य तत्त्व प्रभाव डालते हैं। कुछ विचारकों का मत है कि निर्णय कभी भी न एक व्यक्ति द्वारा लिया जाता था और न लिया जाता है। हरबर्ट साइमन का मत है कि यदि एक व्यक्ति निर्णय लेगा तो वह निर्णय पूरी तरह से बौद्धिक नहीं हो सकता। उनके अनुसार, "एक अलग-थलग व्यक्ति के व्यवहार का किसी उच्च श्रेणी की बौद्धिकता पर पहुँचना असम्भव है।"[1]

प्रशासकीय संगठनों का निरीक्षण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जो निर्णय लिए जाते हैं उनमें अनेक व्यक्तियों का योगदान रहता है। जनता के हाथों में सम्प्रभु-शक्ति का निवास रहने के कारण प्रशासनिक अधिकारी अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में निर्णय लेने की जोखिम को कोई भी एक व्यक्ति अपने कन्धों पर नहीं लेना चाहता अतः प्रशासकीय निर्णयों की प्रकृति सहकारी (Co-operative) अथवा योगदानपूर्ण (Contributory) बन जाती है।

संगठन के अध्यक्ष को निर्णय लेने की औपचारिक शक्ति प्राप्त होती है, किन्तु जब वास्तविक व्यवहार में वह निर्णय लेने लगता है तो संगठन के दूसरे सदस्यों का उस पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अध्यक्ष चाहे अथवा न चाहे उसकी क्रियाओं पर संगठन के सदस्यों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, दीर्घगामी या अल्पकालीन प्रभाव अवश्य पड़ता है। अधीनस्थ अधिकारी भी इन निर्णयों में पर्याप्त रुचि रखते हैं तथा उनकी यह तीव्र इच्छा रहती है कि इन निर्णयों में वे भी कुछ योगदान करें, क्योंकि वे संगठन का ही एक भाग हैं। जिस देश में राजनीतिक व्यवस्था का रूप प्रजातन्त्रात्मक होता है साथ ही जिसके समाज में प्रजातन्त्रात्मक परम्पराओं की जड़ें गहरी होती हैं वहाँ अधीनस्थों की यह इच्छा प्रायः कई गुनी बढ़ जाती है। समस्या को परिभाषित करने और उसके सम्बन्ध में समावित विकल्पों की खोज में अधीनस्थ अधिकारी भी भाग ले सकते हैं, किन्तु जब विकल्पों का चुनाव करना होता है तो उनके योगदान की लक्ष्मण रेखा आ जाती है अर्थात् वे दो सोपानों में ही योगदान कर सकते हैं अन्तिम में नहीं।

निर्णय लेने की वह व्यवस्था जिसमें उच्च अधिकारी एवं अधीनस्थ अधिकारी सहयोगपूर्वक कार्य करते हैं तथा सामर्थ्य के अनुसार योगदान करते हैं, अपने कुछ लाभ रखती है। टेनिनबाम तथा मासारिक ने प्रजातान्त्रिक निर्णय प्रक्रिया के योगदान के निम्नलिखित लाभों का वर्णन किया है—

1. व्यक्तिगत रुचि—जब अधीनस्थ कर्मचारी यह अनुभव करते हैं कि संगठन के निर्णयों में उनका भी कुछ योगदान है तो संगठन के कार्यों में वे व्यक्तिगत रूप से अधिक ध्यान देने लगते हैं और पूर्ण रुचि के साथ उनको सफल बनाने की दिशा में प्रयास करते हैं। इसके परिणामस्वरूप संगठन के कार्यों के परिणामों की मात्रा एवं गुण एक साथ बढ़ जाते हैं, साधनों का अपव्यय एवं दुर्व्यय रुक जाता है और इस प्रकार कम खर्च में अधिक एवं अच्छे परिणाम प्राप्त हो जाते हैं। व्यक्ति संगठन में अपने पूर्ण समर्पण भाव से लगा रहता है।

2. उदासीनता का अभाव—अधीनस्थों का अधिक से अधिक सहयोग तथा निर्णयों के प्रति उनमें अपनत्व की भावना यह सम्भव बनाते हैं कि संगठन के कार्यों में वे उदासीन नहीं हैं।

1. *Herbert A. Simon*, Op. cit., pp. 66-67.

3. शान्तिपूर्ण सम्बन्ध—संगठन में अभियोगों (Grievances) की न्यूनता तथा प्रबन्धक एवं अधीनस्थों और प्रबन्धक एवं संघ के बीच अधिक शांतिपूर्ण सम्बन्धों का विकास भी प्रजातन्त्रात्मक निर्णय-प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण लाभ है। निर्णय लेते समय अधीनस्थ अधिकारी अपनी शिकायतों एवं विरोधों को स्पष्ट कर देते हैं जिससे निर्णय लेने में उनका प्रभाव का वर्चस्व बना रहता है।

4. स्वेच्छापूर्ण स्वीकृति—जब निर्णय मिल-जुल कर लिए जाते हैं तो अधीनस्थ अधिकारियों में उन्हें स्वीकार करने में अरुचि नहीं रहती है। जब अधीनस्थ कर्मचारियों को यह अनुभव होता है कि अध्यक्ष ने निर्णय लेते समय स्वेच्छाचारिता से काम लिया है या उनकी राय को महत्त्व नहीं दिया है तो वे परिवर्तनों को क्रियान्वित करने के लिए तैयार नहीं होते हैं। कई बार उनका विरोध इतना बढ़ जाता है कि वे अध्यक्ष के प्रत्येक कार्य के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपना लेते हैं। टैनिनबाम तथा मासारिक के अनुसार जब उच्च अधिकारियों द्वारा परिवर्तन स्वेच्छाचारी रूप से, बिना स्पष्ट किए ही लागू कर दिए जाते हैं तो अधीनस्थ कर्मचारी स्वयं को असुरक्षित अनुभव करते हैं और प्रतिक्रियास्वरूप ऐसे कदम उठाते हैं जिनका उद्देश्य नवीन परिवर्तनों को निष्क्रिय करना हो।[1] अतएव एक अच्छा निर्णायक उसी को समझा जाता है जो अपने अधीनस्थों की प्रतिक्रियाओं को ध्यान में रखे और निर्णय लेने से पूर्व ही उसके उद्देश्यों एवं स्वरूप को अधीनस्थों के सामने स्पष्ट कर दे। अधीनस्थों को विश्वास में लेकर लिया गया निर्णय कारगर सिद्ध होता है।

5. अधीनस्थों के प्रबन्ध में सुविधा—निर्णय लेने की प्रक्रिया में अधीनस्थों के योगदान की व्यवस्था करने पर यह लाभ होता है कि अधीनस्थों के नियन्त्रण की अनेक समस्याएँ या तो कम हो जाती हैं अथवा सरल हो जाती हैं। उनके व्यवहार का उच्चाधिकारियों को अधिक पर्यवेक्षण (Supervision) करने की आवश्यकता नहीं रहती। साथ ही उन पर रखे जाने वाले नियन्त्रण की कठोरता घट जाती है और अनुशासनात्मक कार्यवाहियों की आवश्यकता कम हो जाती है। निर्णय लेने में जो कर्मचारी भाग लेते हैं वे उन निर्णयों को क्रियान्वित करना अपना उत्तरदायित्व मानने लगते हैं। इस स्वीकृति के अभाव में उनकी सत्ता केवल औपचारिक एवं नाममात्र की रह जाती है। अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा उच्च अधिकारियों के निर्णय स्वीकार कर लेने पर उच्च अधिकारी की सत्ता में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है।

6. उच्च स्तर के निर्णय—सहयोगपूर्ण निर्णयों का स्तर अपेक्षाकृत ऊँचा होता है। एक व्यक्ति की अपेक्षा कई व्यक्तियों के मस्तिष्क द्वारा किया गया कार्य अधिक उपयोगी एवं सार्थक होता है। संगठन का अध्यक्ष एक समस्या से सम्बन्धित सभी विकल्पों को प्राय नहीं सोच पाता है। इसका कारण यह है कि वह संगठन के सभी पहलुओं का विस्तृत ज्ञान नहीं रखता है। यदि प्रत्येक पहलू का विस्तृत ज्ञान रखने वाला अधिकारी उसे सहयोग प्रदान करे तो निश्चित रूप से उसके ये निर्णय अधिक अच्छे होंगे।

आवश्यक परिस्थितियाँ

इस प्रकार अधीनस्थों के योगदान द्वारा लिए गए निर्णय कई प्रकार से उपयोगी एवं लाभदायक होते हैं। इस प्रकार के निर्णय लेने के लिए कुछ उपयुक्त परिस्थितियाँ एवं दशाएँ निम्नांकित होती हैं—

प्रथम, इस प्रकार के निर्णय केवल तभी लिए जा सकते हैं जबकि उनको तुरंत लेना जरूरी न हो। जब निर्णय जल्दी लिए जाते हैं तथा उनका सम्बन्ध किसी सकटकालीन स्थिति से होता है तो योगदान पूर्ण व्यवहार, जो निर्णय की गति को धीमा करता है, अनुपयुक्त रहेगा। यहाँ सैनिक निर्णयों का उदाहरण उपयुक्त कहा जा सकता है। द्वितीय, सहयोगपूर्ण व्यवस्था में व्यय किए गए समय के अतिरिक्त धन की मात्रा भी महत्वपूर्ण है। यदि इस प्रकार निर्णय लेने में बहुत अधिक धन व्यय करना पड़ा तो उससे प्राप्त होने वाले सभी लाभ अपना महत्त्व खो देंगे। परिणामस्वरूप ऐसे निर्णय बहुत खर्चीले सिद्ध हो सकते हैं। तृतीय, अधीनस्थों को निर्णय लेने में योगदान का अवसर देने पर कहीं ऐसा न हो कि उच्च अधिकारियों की औपचारिक सत्ता समाप्त हो जाए। चतुर्थ, जब अधिक लोग निर्णय की प्रक्रिया में भाग लेने लगते हैं तो उन निर्णयों के समय से पूर्व सामने आ जाने का भय रहता है। पंचम, योगदानपूर्ण व्यवस्था को प्रभावशाली बनाने के लिए संचार-व्यवस्था का उचित प्रबन्ध होना जरूरी है ताकि निर्णय में भाग लेने वाले सदस्य परस्पर विचार-विमर्श कर सकें। षष्ठम, जब अधीनस्थों को निर्णय लेने का अवसर दिया जाना हो तो उनको इस कार्य के लिए पूरी तरह प्रशिक्षित किया जाना आवश्यक है। सप्तम इस प्रकार से लिए गए निर्णयों से अनुशासन की भावना के समाप्त होने की आशंका निरन्तर बनी रहती है।

1. Tannenbum and Massarik · Op cit., pp 66 67

निर्णय कब लिए जाएँ ?
(When to take Decisions ?)

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि निर्णय कब लिए जाएँ ? अथवा वह कौनसा समय है जब निर्णय लेना उपयोगी, सार्थक एवं प्रभावशाली रहता है अर्थात् ऐसे कौनसे अवसर हैं जब निर्णय लेना जरूरी हो जाता है और उसे आगे के लिए नहीं टाला जा सकता। निर्णय लेने के लिए कुछ उपयुक्त परिस्थितियाँ होती हैं तथा उचित अवसर होते हैं जिनके फलस्वरूप निर्णायक को यह आपत्तिपूर्ण तथा जोखिमयुक्त मार्ग अपनाना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति केवल उसी क्षेत्र में निर्णय लेना चाहता है जो औपचारिक रूप से उसको सौंपा गया है। संगठन में एक व्यक्ति विशेष जब निर्णय लेता है तो वह ऐसा तभी करता है जब उपयुक्त अवसर प्रदान किया जाए। चेस्टर बर्नार्ड ने निर्णय लेने के अवसर तीन रूपों में प्रदान करने की इन परिस्थितियों का वर्णन इस प्रकार किया है—

1. उच्च अधिकारियों की सत्ता (The Authority of Superiors)

सर्वोच्च अधिकारी को अनौपचारिक रूप से यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह समय-समय पर अपने अधीनस्थों को आज्ञा एवं निर्देश संचारित करता रहे। अपने इस औपचारिक अधिकार को निभाने के लिए उच्च-अधिकारी को समयानुसार ऐसे निर्णय लेने पड़ते हैं जिनका सम्बन्ध आज्ञाओं एवं अनुदेशों की व्याख्या, व्यवहार तथा वितरण से होता है। कई बार उच्च अधिकारी अपने उत्तरदायित्व अधीनस्थ अधिकारियों को सौंपकर स्वयं का भार कम कर लेते हैं किन्तु इस प्रकार के प्रत्यायोजन की एक सीमा होती है। इस सीमा से परे वह निर्णय लेने के कार्य से अपने आपको अछूता नहीं रख सकता है। संगठन में प्राय: ऐसा भी देखा जाता है कि उच्च अधिकारी द्वारा दिए गए निर्देश नैतिक रूप से गलत दिखाई देते हैं, संगठन की दृष्टि से हानिप्रद प्रतीत होते हैं और क्रियान्वित करने में असमर्थ दिखाई देते हैं तो उनकी उचित व्याख्या करने के लिए उच्च अधिकारी द्वारा अनेक निर्णय लेना अनिवार्यत: आवश्यक बन जाता है।

2. अधीनस्थों की असमर्थता (Incapacity of Sub-ordinates)

कई बार ऐसा होता है कि जिन विषयों पर अधीनस्थों को स्वयं निर्णय लेना चाहिए वे स्वयं निर्णय न लेकर उन विषयों को निर्णय के लिए उच्च अधिकारियों के सम्मुख प्रस्तुत कर देते हैं। इस तरह प्रस्तुत विषयों को अपीलीय विषय (Appellate Cases) कहा जाता है। इन्हें प्रस्तुत करने का अवसर कई कारणों से पैदा हो सकता है। उदाहरण के लिए, यदि अधीनस्थ अधिकारी निर्णय लेने में असमर्थ है, यदि अधीनस्थों को दिए गए निर्देश अधूरे हैं, यदि परिस्थितियों ने ऐसा करना आवश्यक बना दिया है, यदि कार्य-क्षेत्र या आदेशों में संघर्ष उत्पन्न हो गया है अथवा अधीनस्थ अधिकारियों की सत्ता प्रभावशाली नहीं रही है, तो एक अधीनस्थ अधिकारी किसी विषय पर स्वयं निर्णय न लेकर, उस विषय को उच्च अधिकारी के निर्णय के लिए प्रस्तुत करने को प्रेरित होता है। जिस संगठन में निर्णय के ऐसे अवसरों की संख्या बढ़ जाती है, वहाँ उच्च अधिकारी कार्यभार से दब जाता है और संगठन की कार्यकुशलता में बाधा पड़ती है। ऐसे अवसरों को रोकने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण कदम उठाने होते हैं। कार्यपालिका का संगठन, कर्मचारियों की योग्यता एवं अनौपचारिक संगठन की प्रक्रियाओं के विकास आदि द्वारा ऐसे अवसरों की संख्या को कम किया जा सकता है। चेस्टर बर्नार्ड के अनुसार, "कार्यपालिका के कार्य की कसौटी यह है कि वह आवश्यक या अनत्यायोजित ऐसे निर्णयों को ले और शेष को अस्वीकार कर दे।"[1] अनेक अवसरों पर अधीनस्थ अधिकारी अपने उत्तरदायित्वों को टालने तथा अपने पर किसी प्रकार का संकट उपस्थित न हो, इसे दृष्टिगत रखकर भी निर्णय लेने में टालम-टोल करते हैं और निर्णय को उच्चाधिकारियों के सम्मुख प्रेषित कर देते हैं।

3. कार्यपालिका की पहल (The Initiative of Executive)

अनेक बार कार्यपालिका पहल करके निर्णय लेने के अवसर पैदा करती है। एक कार्यपालिका ने निर्णय के अवसर पैदा करने में कितनी पहल की इस आधार पर उसकी स्थिति को समझने की योग्यता एवं संचार-साधनों की पर्याप्तता का पता लगाया जा सकता है। यदि एक संगठन में संचार के सुविकसित साधनों का उपयोग हो रहा है और अध्यक्ष संगठन की प्रत्येक स्थिति से भली-भाँति परिचित है तो वह निर्णय लेने में पहल करते समय सजगतापूर्ण व्यवहार करेगा। अध्यक्ष को केवल वही कार्य करने चाहिए जिनको संगठन का अन्य व्यक्ति अधिक सफलतापूर्वक नहीं कर सकता। उसे वे निर्णय लेने चाहिए जिनको लेने की सामर्थ्य किसी अन्य में न हो।

---

1. *Chester I. Bernard* : The Functions of the Executive, 1938.

निर्णयों के प्रकार
(The Type of Decisions)

प्रशासकीय संगठन में लिए जाने वाले निर्णय महत्त्व, निर्णयकर्त्ता एवं विषय-वस्तु की दृष्टि से निम्नलिखित प्रकार के होते हैं—

1. व्यक्तिगत निर्णय एवं संगठनात्मक निर्णय
(Individual Decisions and Organisational Decisions)

चेस्टर बर्नार्ड ने प्रशासकीय संगठन में लिए जाने वाले निर्णयों को मुख्यत दो भागों में विभाजित किया है—व्यक्तिगत निर्णय और संगठनात्मक निर्णय। व्यक्तिगत निर्णय सामान्य रूप से दूसरों को प्रत्यायोजित नहीं किए जा सकते जबकि संगठनात्मक निर्णय, यदि हमेशा नहीं तो प्राय प्रत्यायोजित किए जा सकते हैं। संगठन के महत्त्वपूर्ण विषयों से सम्बन्धित निर्णय क्रियान्वित होने से पूर्व अनेक सहायक निर्णय लेना आवश्यक हो जाता है। इन निर्णयों को उपनिर्णय अथवा कम महत्त्व के निर्णय कहा जा सकता है। ऐसे निर्णय भी प्राय. उसी व्यक्ति द्वारा लिए जाते हैं जिसने प्रमुख निर्णय लिया है, किन्तु कई बार ये निर्णय संगठन के अन्य सदस्यों द्वारा भी लिए जा सकते हैं। ऐसा करते समय ये सदस्य व्यक्तिगत रूप में नहीं वरन् संगठनात्मक रूप में व्यवहार करते हैं।

निर्णय लेने की भाँति उनकी क्रियान्विति के समय भी अनेक सहायक निर्णय लेने की आवश्यकता हो सकती है। इस आवश्यकता की पूर्ति संगठन के दूसरे सदस्यों द्वारा संगठनात्मक रूप में की जाती है। संगठन में लिए जाने वाले अधिकाश निर्णयों का रूप संगठनात्मक होता है, व्यक्तिगत नहीं। अनेक कारणों से निर्णय लेने के उत्तरदायित्व को कोई भी व्यक्ति तब तक अपने ऊपर नहीं लेना चाहता जब तक ऐसा करने के लिए उसे व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी न ठहराया जाए। जिसके कन्धों पर व्यक्तिगत निर्णय लेने का भार रहता है वह सचार-व्यवस्था का पूरा उपयोग करता है। चेस्टर बर्नार्ड के कथनानुसार केन्द्रीय या सामान्य संगठन के निर्णय संगठन की सचार-व्यवस्था के केन्द्रों पर सर्वश्रेष्ठ रूप में लिए जा सकते हैं।

2. प्रचलित निर्णय एवं अप्रचलित निर्णय
(Routine Decisions and Non-routine or Innovative Decisions)

गोरे तथा डाइसन ने भी प्रशासकीय संगठन में लिए जाने वाले निर्णयों को दो भागों में विभाजित किया है।[1] कुछ निर्णय ऐसे होते हैं जो संगठन के व्यवहार को उसी रूप में सचालित होने देते हैं तथा उनके श्रम में किसी प्रकार की बाधा नहीं डालते। ऐसे निर्णयों को उन्होंने प्रचलित निर्णय (Routine Decisions) की सज्ञा दी है। दूसरे प्रकार के निर्णय वे होते हैं जो कि संगठन के रूप एवं व्यवहार में कुछ नवीनताओं एवं परिवर्तनों का सूत्रपात करते हैं तथा इस प्रकार संगठन की प्रचलित पद्धतियों को असामयिक बना देते हैं। ऐसे निर्णयों को उन्होंने अप्रचलित या नवीनतावादी (Non-routine or Innovative) कहा है। हरबर्ट साइमन ने इन निर्णयों को कार्यक्रम-विहीन (Non-programmed) की सज्ञा प्रदान की है। इनको अप्रचलित निर्णय अथवा नवीन रीति वाले (Innovative) निर्णय भी कहा जा सकता है।

निर्णयों के इन दोनों प्रकारों के बीच पर्याप्त अन्तर होता है। पहला अन्तर यह है कि प्रचलित निर्णयों द्वारा तृप्ति एव सफलता प्रदान की जाती है तथा भविष्य में उन चीजों का वायदा किया जाता है जो अतीतकाल में पुरस्कार प्रदान करती रही हैं। दूसरी ओर, अभिनव निर्णय अनिश्चित होते हैं। उनके द्वारा एक ऐसा भविष्य प्रस्तुत किया जाता है जो अज्ञात एवं चिन्तापूर्ण है। प्रचलित निर्णयों में जो साधन व्यय किए जाते हैं उनका पुरस्कार सतोषजनक रूप में प्राप्त हो जाता है। उनमें व्यय किया गया 'धन' अधिक मात्रा में वापस लौटता है। इससे भिन्न नवीन निर्णयों को खर्चीले प्रयोग समझा जाता है जिनमें लगाया गया धन भाग्य के सहारे पर छोड़ दिया जाता है। दूसरा अन्तर यह है कि नवीन निर्णय परिवर्तन का सूत्रपात करते हैं। अत उनका विश्लेषण बौद्धिक योजना के आधार पर सचालन होता है, किन्तु व्यवहार में प्राय ऐसा नहीं होता और ये भावनात्मक तत्त्व, जैसे पूर्वाग्रह आदि से प्रभावित हो जाते हैं। दूसरी ओर, प्रचलित निर्णयों में भावना, प्रवृत्ति, आदत आदि अबौद्धिक तत्त्वों के प्रभाव की गुजाइश बहुत कम रहती है। तीसरा अन्तर यह है कि प्रचलित निर्णयों में भागीदारी के बीच का सम्बन्ध सहयोगपूर्ण रहता है जबकि किसी न किसी प्रकार का सघर्ष नवीन निर्णयों का एक आवश्यक तत्त्व माना जाता है।

3. विधेयात्मक निर्णय और निषेधात्मक निर्णय
(Positive Decisions and Negative Decisions)

निर्णय लेने की कला का यह अध्ययन निर्णयों के दो मुख्य रूपों को प्रस्तुत करता है। प्रथम, विधेयात्मक निर्णय होते हैं जो कुछ करने के लिए कहते हैं तथा कार्य का निर्देशन करते हैं। ये निर्णय क्रिया पर रोक भी

1 *William J Gore and J W Dyson* The Making of Decisions, pp 2-3

लगाते हैं तथा लोगों को कुछ न करने का आदेश भी दे सकते हैं। द्वितीय, निषेधात्मक निर्णय होते हैं जो कोई निर्णय न लेने का निर्णय करते हैं। इस प्रकार के निर्णय प्रशासकीय संगठन में प्रायः लिए जाते हैं और कुछ दृष्टियों से इन्हें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। निषेधात्मक निर्णय प्रायः अचेतन, अपेक्षाकृत अतार्किक एवं सहज प्रवृत्तियों पर आधारित रहते हैं।

4. स्तरीय अन्तर

(The Distinction based on Levels)

विषय के आधार पर निर्णय को तीन स्तरों में विभाजित किया जा सकता है—प्रमुख निर्णय, गौण निर्णय एवं निम्न-स्तरीय निर्णय। बर्नार्ड के अनुसार, संगठन में हम ज्यों-ज्यों मुख्य कार्यपालिका से निम्न स्थितियों में उतरते जाते हैं, निर्णयों का प्रकार एवं परिस्थितियाँ बदलती जाती हैं। उच्च स्तर से सम्बन्धित निर्णयों पर, जिनका सम्बन्ध संगठन के मुख्य लक्ष्यों से होता है, अधिक ध्यान देने की आवश्यकता होती है। इन्हें प्रमुख निर्णय कहा जा सकता है। जिन निर्णयों का सम्बन्ध संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने वाले साधनों से होता है उनको हम गौण निर्णय कह सकते हैं। ये निर्णय संगठन की रक्षा एवं विकास से सम्बन्धित होते हैं। इनमें प्रमुख लक्ष्यों को उपलक्ष्यों में विभाजित कर दिया जाता है तथा तकनीकी एवं आर्थिक समस्याओं को प्रमुख महत्त्व दिया जाता है। निम्न स्तर के निर्णयों का सम्बन्ध तकनीकी रूप में सही व्यवहार से होता है। इन स्तरों पर ही अंतिम सत्ता रहती है।

निर्णय लेने की समस्याएँ एवं सीमाएँ

(The Problems and Limitations of Decision Making)

निर्णय लेना जहाँ एक बड़ी जटिल प्रक्रिया है वहीं यह समस्यापूर्ण भी है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कठिनाइयाँ सामने आती हैं—

1. कार्य का आधिक्य—प्रशासकीय संगठन में निर्णय लेते समय अध्यक्ष के सम्मुख एक सबसे बड़ी कठिनाई या समस्या कार्यभार के कारण उत्पन्न हो जाती है। संगठन में मुख्य रूप से दो प्रकार के कार्य होते हैं—एक तो वे जिनका सम्बन्ध प्रतिदिन की समस्याओं से होता है और दूसरे वे जो संगठन के मूल लक्ष्य से सम्बन्धित होते हैं जिनके द्वारा दीर्घगामी परिणाम प्राप्त किया जाता है। जब निर्णय लेने वाला अध्यक्ष संगठन की प्रतिदिन की समस्याओं का समाधान करने में उलझ जाता है तो उसके पास इतना समय नहीं रह पाता कि मूल समस्याओं पर समुचित ध्यान दे सके। ऐसी स्थिति में निर्णय की प्रक्रिया का रूप अधिक प्रभावशाली नहीं रह जाता।

2. प्राथमिकता की समस्या—निर्णय लेने के मार्ग में एक अन्य कठिनाई प्राथमिकता सम्बन्धी है। संगठन जिन समस्याओं का सामना कर रहा है यदि वे संख्या में कम हैं और उनकी प्रकृति सरल है तो अध्यक्ष उन सब का समाधान आसानी से कर देगा, किन्तु जब जटिल समस्याओं की संख्या बढ़ जाती है तो प्राथमिकता के अनुसार समस्याओं का क्रम निर्धारण करना पड़ता है। निर्णय लेते समय इन समस्याओं को प्राथमिकता की कसौटी पर कसना अनिवार्य बन जाता है। यह प्राथमिकता निश्चित करने का कार्य जितना योग्यतापूर्वक होगा, संगठन की सफलता एवं सार्थकता उतनी ही अधिक बढ़ जाएगी। समय एवं साधनों की सीमाओं की दृष्टि से अध्यक्ष को यह निर्धारित करना होगा कि किस समस्या पर पहले निर्णय लिया जाए और किस पर बाद में ? प्राथमिकता निश्चित करने में अगर असावधानी होती है तो संगठन के लक्ष्य धूमिल हो जाते हैं।

3. निर्णय लेने की सार्थकता निश्चित करना—अध्यक्ष द्वारा लिया गया निर्णय गलत है अथवा सही, यह निर्धारित करने के लिए कोई मापदण्ड अवश्य होना चाहिए ताकि उससे उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों से बचा जा सके और निर्णयों को क्रियान्वित करने से पूर्व ही उनमें सुधार किया जा सके। अतः एक निर्णय की उपयोगिता निश्चित करते समय उस पर कार्यकुशलता, मितव्ययता आदि की दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए और सत्य होने पर ही उसे चालू रखना चाहिए। मार्क्स के मतानुसार एक सही निर्णय की कसौटी सामान्य हित, संविधान की आत्मा तथा नैतिक सिद्धांत होनी चाहिए।[1]

निर्णय-प्रक्रिया की उपरोक्त समस्याओं के अतिरिक्त इसकी कुछ सीमाएँ भी होती हैं जिनके आधार पर इसके व्यवहारिक स्वरूप को जाना जा सकता है। निर्णय लेने का अधिकार संगठन के उच्च अधिकारियों को होता है जो अपनी सत्ता और प्रभाव द्वारा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अधीनस्थ अधिकारियों के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। उच्च अधिकारी द्वारा लिए गए निर्णयों का लक्ष्य अधीनस्थों के व्यवहार को बौद्धिकता प्रदान करते हैं। उच्च अधिकारियों द्वारा लिए गए निर्णय संगठन के मूल भाग से सम्बन्धित होते हैं, अतः इनका महत्त्व अधिक होता है।

---

1. *F.M. Marx* : The Administrative State, 1957, p. 185.

मध्यस्थ अधिकारियों के निर्णय की सीमाएँ

मध्यस्थ अधिकारियों से हमारा आशय उनसे है जो पदसोपान में उच्च अधिकारी से नीचे होते हैं, किन्तु निम्न स्तर के कर्मचारियों से इनका स्तर ऊँचा होता है। ये अधिकारी संगठन में निर्णय लेने की शक्ति रखते हैं किन्तु इनके द्वारा लिए गए निर्णय निम्नांकित शर्तों एवं सीमाओं से प्रतिबन्धित रहते हैं—

1. लक्ष्य की सीमा—संगठन के इन अधिकारियों के निर्णय उस लक्ष्य के अनुरूप होने चाहिए जो मुख्य अधिकारी द्वारा निर्धारित किया गया है। रॉबर्ट टैनिनबाम के अनुसार यह महत्त्वपूर्ण है कि समूह के प्रत्येक सदस्य द्वारा लिए गए निर्णय समूह के अनुरूप होने चाहिए न कि उनके व्यक्तिगत लक्ष्य के अनुरूप।[1] संगठन के सदस्यों को लक्ष्यों के अनुरूप ढालने के लिए प्रशिक्षण एवं निरन्तर पर्यवेक्षण द्वारा प्रयास किए जा सकते हैं।

2. मापदण्डों की सीमा—उच्च अधिकारियों द्वारा बौद्धिकता के ऐसे मापदण्ड स्थापित कर दिए जाते हैं जिनके आधार पर उन्हें अपने निर्णय लेने होते हैं। यह निश्चित कर दिया जाता है कि इन अधिकारियों द्वारा ऐसे निर्णय लिए जाएँ जिनसे कम खर्च में अधिक से अधिक परिणाम प्राप्त हो सकें। ऐसे मापदण्डों द्वारा व्यक्तिगत इच्छा के अवसर कम कर दिए जाते हैं।

3. विशेषीकरण की सीमा—संगठन में विशेषीकरण (Specialization) द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को एक निश्चित कार्य सौंप दिया जाता है। अतः एक अधिकारी केवल अपने विशिष्ट क्षेत्र में ही निर्णय ले सकता है तथा अन्य विषयों को उन क्षेत्रों के विशेषज्ञ अधिकारियों के विचारार्थ छोड़ देता है। टैनिनबाम के अनुसार, यह सीमा संगठन के प्रबन्धात्मक कार्यों के सफल संचालन का एक पहलू है।

4. औपचारिक सीमा—संगठन में सत्ता के औपचारिक मार्ग निर्धारित कर दिए जाते हैं, जिनके फलस्वरूप इन मध्यम अधिकारियों द्वारा लिए गए निर्णय उच्च सत्ता के विचार, पर्यवेक्षण, स्वीकृति, निर्देशन आदि के विषय होते हैं।

5. वांछित व्यवहार की सीमा—सामान्य रूप से अधीनस्थ अधिकारियों से जिस व्यवहार की कल्पना की जाती है उसमें भी इन अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता को उच्च अधिकारी द्वारा सीमित किया जा सकता है। वह समय-समय पर अतिरिक्त प्रतिबन्ध लगा कर व्यवहार के विकल्पों की संख्या को कम कर सकता है।

6. सूचनापरक सीमा—सर्वोच्च अधिकारी अधीनस्थों को सम्बन्धित सूचना भेजकर ऐसे विकल्पों से परिचित करा सकता है जो उसे पहले से ज्ञात नहीं हैं।

7. समय की सीमा—उच्च अधिकारियों का कई बार अधीनस्थ अधिकारियों को यह निर्देश होता है कि एक निश्चित समय तक निर्णय ले लिया जाना चाहिए। समय की यह सीमा निर्णय लेने में इन अधिकारियों को स्वेच्छा का खुलकर प्रयोग नहीं करने देती।

8. क्षेत्र की सीमा—कुछ निश्चित समस्याओं के क्षेत्रों में सर्वोच्च अधिकारी अपने अधीनस्थों से एक निश्चित प्रकार के व्यवहार की आशा करते हैं। फलतः इन क्षेत्रों में अधीनस्थों की स्वेच्छा के लिए कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। टैनिबाम के अनुसार, "यहाँ अधीनस्थ अधिकारी से यह आशा नहीं की जा सकती कि अपने व्यवहार को निर्देशित करने के लिए यह निर्णय ले, अपितु यह आशा की जाती है कि उस रूप में व्यवहार करे जो उच्च अधिकारी द्वारा निश्चित किया गया है।"

उच्च अधिकारी के निर्णय की सीमाएँ

उच्च अधिकारी के निर्णय की कुछ महत्त्वपूर्ण सीमाएँ निम्नानुसार हैं—

1. उच्च अधिकारियों का प्रभाव—प्रशासकीय संगठन में उच्च अधिकारी सर्वेसर्वा नहीं होता क्योंकि उस पर भी नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण रखने वाले अधिकारी होते हैं जिनके निर्देशन तथा सुझावों का उसे पालन करना पड़ता है।

2. अधीनस्थों का प्रभाव—उच्च अधिकारी औपचारिक रूप में अपने अधीनस्थों पर नियंत्रण रखता है तथापि उसका व्यवहार अपने अधीनस्थों के प्रभाव से अछूता नहीं रहता। कोई भी निर्णय लेते समय उच्च अधिकारी को अधीनस्थों की प्रतिक्रिया का पूरा ध्यान रखना होता है। यदि वह ऐसा न करे या अधीनस्थों की इच्छाओं, मूल्यों एवं प्राथमिकताओं की अवहेलना करे तो उसके निर्णय प्रभावशाली नहीं हो सकते और कुछ समय बाद उसकी औपचारिक सत्ता एक मजाक बन कर रह जाएगी।

3. बाहरी समूहों का प्रभाव—संगठन के अध्ययन के निर्णयों पर ऐसे व्यक्तियों का भी प्रभाव पड़ता है जो उद्यम के औपचारिक संगठन के सदस्य नहीं होते। रॉबर्ट टैनिनबाम के मतानुसार बाहर से प्रभाव डालने वाले संगठन के इन समुदायों में मुख्य ये हैं—

1 *Robert Tannenbaum*: 'Managerial Decision Making' The Journal of Business, 23 : p. 33-37 (*Jan*., 1950)

(i) सरकारी अभिकरण : स्थानीय, राज्य एवं संघ स्तर पर
(Government Agencies : Local, State and Federal)
(ii) प्रबन्ध से अनुबन्ध करने वाले दल
(Parties to Contract with Management)
(iii) आर्थिक समूह (Economic Groups)
(iv) पंच फैसला करने वाले (Arbitrators)
(v) कार्टेल, व्यावसायिक संघ तथा अन्य व्यापारिक संस्थाएँ
(Cartels, Trade Associations and Other Business Associations)
(vi) सामान्य सामाजिक व्यवस्था (The General Social Order)

ये विभिन्न समुदाय एक संगठन के अंग न होने पर भी उसकी क्रियाओं को अनेक प्रकार से प्रभावित करते रहते हैं। कोई भी अध्यक्ष, चाहे वह कितना ही योग्य, सजग एवं औपचारिक रूप से शक्ति-सम्पन्न क्यों न हो, निर्णय लेते समय इन सभी से अवश्य ही प्रभावित होता है। इनके प्रभावों के प्रति उदासीनता तथा उपेक्षा दिखाने पर उसके निर्णय अधिक सफल तथा सार्थक नहीं हो सकते। अध्यक्ष को इन तत्वों से प्रभावित होकर ही अपनी निर्णय-शैली निश्चित करनी पड़ती है।

निर्णय लेने के आधार
(The Grounds of Decision Making)

संगठन के व्यवहार का अध्ययन करने में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह जानना है कि कर्मचारी-वर्ग विकल्पों का चयन किस आधार पर करता है अर्थात् कार्यकर्ता की प्रेरणाएँ क्या होती हैं ? निर्णय लेने की प्रक्रिया बौद्धिक और अबौद्धिक दोनों ही आधारों पर संचालित हो सकती है। प्रशासकीय निर्णय लेते समय कार्यकारी प्रेरणाओं के मुख्य रूप निम्नानुसार हैं—

(i) मूल्यात्मक तत्व (Value Elements)

(ii) तथ्यात्मक तत्व (Factual Elements)

उक्त दोनों तत्वों के बीच का अन्तर सम्भवतः साधन और साध्य का अन्तर है। वैसे दोनों एक-दूसरे के निकटतम सम्बन्धी हैं। प्रायः प्रत्येक मूल्यात्मक तत्व में तथ्यात्मक तत्व निहित होता है जिसे पूरी तरह पृथक् नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक लक्ष्य अपने-आप में लक्ष्य नहीं होता वरन् वह किसी बड़े लक्ष्य का साधन होता है। इन दोनों प्रकार की प्रेरणाओं के महत्वपूर्ण रूपों का अध्ययन आवश्यक है—

संगठन के कार्यों में निर्णय लेते समय जिन मूल्य प्रेरणाओं का प्रभाव रहता है, वे अनेक प्रकार की होती हैं। लोक प्रशासन के विचारकों ने जिन मुख्य प्रेरणाओं का वर्णन किया है, वे निम्नलिखित चार प्रकार की हैं—

1. संगठन के लक्ष्य (Objective of Organisation)—प्रशासकीय विकल्पों के चुनाव पर उस संगठन के लक्ष्यों का बहुत प्रभाव पड़ता है। किसी प्रस्तावित कार्य को इस आधार पर देखा जाता है कि क्या वह संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने में योगदान देगा। संगठन के लक्ष्यों से हमारा तात्पर्य केवल यह नहीं है कि क्रियाएँ किन मूल्यों की दिशा में अग्रसर हो रही हैं, अपितु यह भी है कि इससे लोगों के किस वर्ग की तथा कैसी सेवाएँ सम्पन्न होंगी। संगठन को उन लोगों का समर्थन प्राप्त हो जाएगा जो इसके लक्ष्यों को स्वीकार करते हैं। जो लक्ष्यों को स्वीकार नहीं करते वे इसका विरोध करेंगे। कभी-कभी वर्ग विशेष संगठन पर छा जाता है और उसके माध्यम से वह अपने लक्ष्यों को पूरा करता रहता है।

2. कार्यकुशलता (Efficiency)—एक दूसरी मूल्य प्रेरणा, जो अधिकांश संगठनों को प्रभावित करती है, वह 'कार्यकुशलता' है। प्रश्न प्राथमिकताओं का है अतः कुछ लोग बचत को महत्व देते हैं जबकि दूसरे लोग कार्यकुशलता को। अधिकांश विचारकों का तर्क है कि प्रशासन का समस्त विज्ञान एवं कला प्रशासकीय संगठन द्वारा स्रोतों के कुशल प्रयोग से सम्बन्धित है। अतः कार्यकुशलता को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती है।

3. न्यायपूर्ण व्यवहार (Justice Behaviour)—जब किसी अभिकरण को व्यक्तिगत रूप से मनुष्यों की क्रियाओं को नियमित करना होता है तो उसके लिए न्यायपूर्ण व्यवहार के कुछ मापदण्ड स्थापित किए जाते हैं। सरकारी व्यवस्था में सदैव ही यह मौलिक सिद्धान्त रहता है कि जब सरकार नियमन करती है तो ऐसा करते समय वह व्यक्ति के अधिकारों को यथोचित सम्मान देती है। नियम बनाने एवं उनको लागू करने का तरीका स्वेच्छापूर्ण

नहीं होना चाहिए, वह कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुकूल ही होना चाहिए। कर्मचारियों पर लागू होने वाले नियम न्यायसंगत तथा समान होने चाहिए। उनमें किसी के प्रति पक्षपात नहीं झलकना चाहिए। अलग-अलग विभागों में एकसा कार्य करने वाले दो कर्मचारियों को समान वेतन प्राप्त होना चाहिए।

4. व्यक्तिगत मूल्य (Personal Values)—ऊपर जिन मूल्यों का वर्णन किया गया है वे संगठनात्मक हैं क्योंकि वे संगठन का लक्ष्य-प्राप्ति की ओर संकेत करते हैं। इसके अतिरिक्त कर्मचारी के व्यक्तिगत मूल्य भी निर्णय की प्रक्रिया पर बहुत प्रभाव डालते हैं। उदाहरण के लिए, उसके कार्य की गति इस बात से भी तय की जाएगी कि उसमें सामर्थ्य कितनी है तथा वह स्वयं कितना उत्साह ले रहा है? व्यक्ति संगठन के निर्णयों का प्राय अपने लक्ष्यों के आधार पर चेतन अथवा अचेतन रूप से मूल्यांकन करता रहता है, जैसे—वेतन वृद्धि या पदोन्नति, अधीनस्थों तथा उच्च अधिकारियों के साथ सम्बन्ध, भौतिक आराम तथा इसी प्रकार के अन्य लाभ। ये व्यक्ति के कार्यों को प्रभावित करते रहते हैं। बर्नार्ड का कहना है कि संगठन द्वारा व्यक्ति के लिए प्रदान किए जाने वाले मुख्य प्रेरक तत्व निम्नलिखित हैं—

(i) भौतिक लालच-धन अथवा सामान।

(ii) अन्तर, सम्मान एवं व्यक्तिगत शक्ति के अवसर।

(iii) कार्य की वांछित भौतिक आवश्यकताएँ, जैसे—सफाई, व्यक्तिगत कार्यालय, आदि।

(iv) आदर्श लाभ, जैसे—कार्य के प्रति सम्मान, परिवार अथवा दूसरों के लिए सेवा, देशभक्ति या धार्मिक भावनाएँ आदि।

(v) संगठन के सामाजिक सम्बन्धों में व्यक्तिगत सुविधा और संतोष।

(vi) व्यवहारों एवं दृष्टिकोणों की मान्यता तथा संगठनों के लिए व्यवहार के तरीके, रीति-रिवाजों की स्वीकृति एवं लोकप्रियता।

(vii) बड़ी तथा महत्वपूर्ण घटनाओं में भाग लेने की भावना।

व्यावहारिक जीवन में हमें ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें इन प्रलोभनों में से किसी का भी प्रभाव किसी कर्मचारी में यह इच्छा जाग्रत कर सकता है जिसके अनुसार वह संगठन के लक्ष्यों एवं मूल्यों को कुछ दे न सके।

संगठन में प्रशासकीय निर्णय लेते समय जिन तथ्य प्रेरणाओं का प्रभाव अधिक पड़ता है उनका वर्गीकरण करना बड़ा कठिन है। ये तथ्य प्रेरणाएँ मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित की जा सकती हैं—*प्रथम, समस्या का समाधान करने की कर्मचारी की योग्यता एवं ज्ञान, द्वितीय, उस समस्या से सम्बंधित विभिन्न सूचनाएँ।*

संगठन के कर्मचारियों द्वारा ये दोनों प्रकार की प्रेरणाएँ भिन्न-भिन्न रूप में प्राप्त की जाती हैं, अत इनके बीच अन्तर करना महत्वपूर्ण है। यदि वे स्थायी योग्यता एवं कुशलता विकसित करना चाहते हैं तो वे ऐसा प्रशिक्षण एवं अनुभव के आधार पर ही कर सकते हैं। दूसरी ओर वे घटनास्थल की सूचना प्रत्यक्ष निरीक्षण अथवा द्रुत संचार माध्यम से ही प्राप्त कर सकते हैं। अनेक सरकारी अभिकरणों में कुछ विशिष्ट इकाइयाँ होती हैं जिनका कार्य यह देखना होता है कि कर्मचारियों को उनके कार्य से सम्बन्धित सही-सही सूचना प्राप्त होती रहे। प्रशिक्षण इकाइयाँ उनकी योग्यता एवं ज्ञान का विकास करती हैं बुद्धिपूर्ण इकाइयाँ सामयिक सूचना एकत्रित एवं प्रसारित करती हैं। ये दोनों ही इकाइयाँ सैनिक संगठनों में पर्याप्त सक्रिय रहती हैं, किन्तु अधिकांश बड़े नागरिक संगठनों में भी यह व्यवस्था विद्यमान होती है।

निर्णय प्रक्रिया के प्रभावक तत्व
(Influencing Elements of Decision Making)

किसी संगठन का एक कर्मचारी जब संगठन में रहकर व्यवहार करता है तो उसमें उसकी चारित्रिक विशेषताएँ भी झलकती हैं। लोक प्रशासन की भाषा में इनको आन्तरिक प्रतिक्रियाएँ (Internalized Reactions) कहा जाता है। इस प्रकार संगठन अपने कर्मचारियों पर जो प्रभाव डाल सकता है वह दीर्घसूत्री तथा अनुगृहीत होता है। यह प्रभाव आंतरिक बनकर उनके दृष्टिकोण एवं व्यक्तित्व का एक अंग बन जाता है। व्यक्ति के व्यवहार पर संगठन के अन्दर तथा बाहर पड़ने वाले प्रभावों को मुख्य रूप से निम्नांकित चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

1. पूर्व प्रभाव—वे अवस्थाएँ जिनको व्यक्ति संगठन का सदस्य बनने से पूर्व प्राप्त करता है। इसमें उसकी पूर्व शिक्षा, कार्य का अनुभव तथा अन्य सभी अनुभव, जो उसके व्यक्तित्व एवं चरित्र के निर्माणक भाग होते हैं, सम्मिलित किए जा सकते हैं।

2. बाहरी प्रभाव—जब व्यक्ति संगठन का सदस्य बन जाता है तो उस पर बाह्य स्रोतों द्वारा भी अनेक प्रभाव डाले जाते हैं। सगठन तो प्रति सप्ताह उसके समय के केवल कुछ ही घण्टे लेता है। इसके अतिरिक्त वह अपनी यूनियन अथवा व्यावसायिक सगठन का सदस्य हो सकता है। इस प्रकार के बाहरी प्रभाव किसी न किसी मात्रा में अवश्य पड़ते हैं।

3. औपचारिक प्रभाव—कर्मचारी पर औपचारिक संगठनात्मक प्रक्रिया का प्रभाव होता है। उसके कुछ उत्तरदायित्व हो जाते हैं, वह कुछ आज्ञाएँ प्रसारित करता है, प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाता है, सांख्यिकीय प्रतिवेदन देता है तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य करता है।

4. सामाजिक प्रभाव—कर्मचारी पर उस अनौपचारिक सामाजिक ढाँचे का प्रभाव भी पड़ता है जो संगठन में विकसित हो जाता है।

बाह्य प्रभाव (External Influence)

सगठन में कार्य करने वाले व्यक्तियों के व्यवहार पर जो बाह्य प्रभाव पड़ते हैं उन सभी को जानना एवं अध्ययन करना असमव-सा है। हमारे लिए केवल उन प्रभावों की जानकारी ही पर्याप्त है जो प्रशासन को समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं—

1. सामाजिक दृष्टिकोण एवं व्यवहार के तरीके—प्रत्येक समाज के अपने कुछ विश्वास एवं रीति-रिवाज होते हैं जिनके अनुसार वह अपना जीवन सचालित करता है। समाज में रहकर एक व्यक्ति जिस प्रकार दूसरे व्यक्तियों के साथ व्यवहार करता है उसे यह शिक्षा मिलती है कि सगठन में रहकर दूसरे व्यक्तियों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। समाज की परम्पराएँ (Mores) व्यवहार के उन स्थापित तरीकों को कहते हैं जो समाज के सभी सदस्यों की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के बाद प्रभावकारी होते हैं। हरबर्ट साइमन का कहना है कि एक सरकारी अभिकरण का अस्तित्व पार्थक्य में नहीं होता है। यह सदैव समाज के रीति-रिवाजों एवं व्यवहारों के तले रहता है जो इसे घेरे रहते हैं।[1]

प्रशासकीय सगठन में सामाजिक रीति-रिवाज के आधार पर जिन बातों का रूप निश्चित किया जाता है उनमें से उल्लेखनीय हैं—सत्ता (Authority), स्तर (Status) और कार्यकुशलता (Efficiency)। एक समाज की परम्पराएँ प्राय यह निश्चय कर देती हैं कि व्यक्ति का सत्ता के प्रति क्या दृष्टिकोण रहेगा ? वह अपने उच्चाधिकारी की आज्ञा मानना अपना धर्म समझेगा अथवा उसकी हर बात का विरोध करने में रुचि लेगा। यदि सगठन में अनेक वर्ग बन जाएँ तो सत्ता को किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए ? पारितोषिक, दण्ड आदि के माध्यम से क्या सत्ता के प्रति आज्ञाकारिता पैदा की जा सकती है, आदि ? 'सत्ता के रूप' समाज में व्यापक रूप से प्रभावशाली रहते हैं। यह सामान्य रूप से मान लिया जाता है कि यदि एक व्यक्ति एक सगठन में कार्य स्वीकार कर रहा है तो उसे एक उचित सीमा में, संगठन के नियन्त्रणकर्त्ताओं की आज्ञाएँ माननी पड़ेंगी। प्रजातन्त्रात्मक समाज में प्रशासकीय संगठनों में सत्ता के स्वेच्छाचारी प्रयोग को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सत्ता (Authority) की भाँति स्तर (Status) का निर्धारण भी प्राय. समाज के रीति-रिवाजों से हुआ करता है। दूसरे लोगों के साथ व्यवहार करते समय हम उनको ऊँचा सम्मान या नीचा स्तर प्रदान करते हैं[2] तथा जैसा स्तर प्रदान किया जाता है उसी के अनुरूप उनके साथ व्यवहार करते हैं। यदि कोई अधीनस्थ अथवा उच्च पदाधिकारी स्तर-व्यवस्था को मान्यता नहीं देता तो उसके व्यवहार को संगठन में मान्यता प्राप्त नहीं हो सकती। सगठन के किसी भी कर्मचारी को उसके स्तर के प्रतिकूल कार्य नहीं दिया जाएगा।

कुछ समाजों में कुशलता पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है। यहाँ उस व्यवहार को, जिसमें स्रोतों का जान-बूझकर अपव्यय किया जाता है अथवा उनका कम उपयोग किया जाता है, अच्छा नहीं समझा जाता। उसे यदि अनैतिक नहीं तो अबौद्धिक अवश्य कहा जाता है।

किसी समाज में पाए जाने वाले अन्य विश्वास भी लोक-अभिकरणों के कर्मचारियों के व्यवहार को प्रभावित करने का कार्य करते हैं। साइमन आदि के अनुसार विश्व में व्याप्त अनेक प्रकार की संस्थाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब मानव-प्रकृति हर जगह एक समान रहती है, मानवीय व्यवहार अनेक प्रकार का हो सकता है।[3] उसका यह भी कहना है कि किसी भी संगठन का प्रशासकीय व्यवहार उस समाज के व्यवहारों एवं विश्वासों से भिन्न हो सकता जिसमें वह कार्य कर रहा है।

2. व्यक्तिगत प्रवृत्तियाँ—संगठन का अधिकांश व्यवहार अबौद्धिक एवं अचेतन मन द्वारा संचालित होता है, व्यक्ति के बुद्धिपूर्ण कार्यों में ही प्राय एकता तथा समरूपता पाई जाती है, किन्तु जो कार्य भावनाओं एवं प्रवृत्तियों से

1. *Simon and Others* : Op. cit., p. 69.
2. *Fritz J Roethlisberger* : Management and Morale, p 60
3. *Simon and Others* : Op cit., p 72.

प्रेरित होकर किया जाता है उसमें अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ होती हैं। यही कारण है कि संगठन के कार्यों में एकरूपता लाना कठिन होता है।

संगठन में मानवीय व्यवहार को परखने के लिए व्यक्ति के व्यक्तित्व के विभिन्न तत्वों को ध्यान में रखना आवश्यक है जैसे—व्यक्ति की वस्तुपरकता, उसका प्रभुत्व, उसकी महत्वाकांक्षाएँ, उसकी गतिशीलता, उसकी सामाजिकता आदि। इनके प्रभाव से प्रेरित होकर ही व्यक्ति संगठन में व्यवहार करता है।

कर्मचारियों के बीच कार्य की तत्परता एवं स्थायित्व के आधार पर भी महत्वपूर्ण अन्तर पाए जाते हैं। कुछ लोग बड़ी जल्दी में निर्णय ले लेते हैं और जो निर्णय लेते हैं, उन पर डटे रहते हैं। इसके विपरीत अनेक व्यक्तियों को निर्णय लेते समय काफी असमंजस का सामना करना पड़ता है, फलतः निर्णय लेने में पर्याप्त विलम्ब हो जाता है। जो निर्णय लिए जाते हैं उन पर भी वे पूरी तरह से दृढ़ नहीं रहते। जब कोई अरुचिकर निर्णय लिया जाता है तो अधिकांश प्रशासक उसे बहुत समय पहले से ही लोगों के सामने विचारार्थ रख देते हैं।

3. पूर्व-प्रशिक्षण—संगठन के कर्मचारियों को नवीन परिस्थितियों का सामना करने के लिए ज्ञान तथा योग्यता प्रदान करने के उद्देश्य से पर्याप्त शिक्षण, प्रशिक्षण एवं कार्यानुभव प्रदान किया जाता है। इस समस्त प्रशिक्षण के माध्यम से कर्मचारी में व्यावसायिक दृष्टिकोण विकसित होता है। वकीलों, डॉक्टरों, इंजीनियरों आदि की स्वामिभक्ति अपने व्यवसाय के प्रति भी उतनी ही रहती है जितनी विशेष योग्यता के प्रति। प्रशिक्षण द्वारा कर्मचारी में अपने व्यवसाय के प्रति जो दृष्टिकोण विकसित हो जाता है वह अपने साथी कर्मचारियों के साथ रहने पर और भी अधिक विकसित हो जाता है। 'व्यवसायवाद' पूर्व प्रशिक्षण एवं बाह्य समूह के साथ इन दोनों के मिले-जुले प्रभाव का परिणाम होता है।

आन्तरिक प्रभाव (Internal Influence)

संगठन के बाहर से पड़ने वाले इन प्रभावों को ही मानवीय व्यवहार की पूरी व्याख्या नहीं कहा जा सकता। संगठन के अन्दर भी अनेक मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय कारण रहते हैं जो मिलकर संगठनात्मक व्यवहार को एक विशेष रूप प्रदान कर देते हैं। ये निम्नानुसार हैं—

1. वे मूल्य तथा प्रेरणा जिन पर संगठन के एक कर्मचारी को निर्णय लेने होते हैं तथा व्यवहार करना होता है प्रायः वही होते हैं जो संगठन के अथवा उस संगठनात्मक इकाई के हैं जिसमें वह कार्य कर रहा है। संगठन में रहकर कर्मचारी उसके लिए सौंपे गए विशेष उत्तरदायित्व तक ही सीमित एवं केन्द्रित रहता है उसके बाहर काम करने की सामर्थ्य एवं आवश्यकता उत्पन्न होने पर भी वह करने के लिए बाध्य नहीं होता। इस प्रकार एक कर्मचारी जिन मूल्यों एवं प्रेरणाओं के साथ कार्य करता है वे आवश्यक रूप से सम्पूर्ण संगठन के मूल्य नहीं होते वरन् उस कार्य-विशेष के होते हैं जो उसको सौंपा गया है। हरबर्ट साइमन के कथनानुसार, संगठन में व्यवहार की यह विशेषता होती है कि संगठन के पूरे कार्य को कई आंशिक कार्यों में विभक्त कर दिया जाता है तथा वह विभाजित कार्य एक कर्मचारी-समूह का लक्ष्य बन जाता है।

2. संगठन में कर्मचारी पर अन्य सदस्यों द्वारा अनेक प्रभाव डाले जाते हैं और यदि वे प्रभाव न्यायोचित एवं वैध हैं तो उसे वे स्वीकार भी करने होते हैं। इन प्रभावों को एक व्यवस्थित एवं नियोजित रूप में ढालने के लिए संचार-व्यवस्था की सहायता ली जाती है। संचार का रूप कुछ भी हो सकता है, जैसे—आज्ञाएँ, सूचनाएँ, परामर्श, प्रशिक्षण आदि। संचार के विभिन्न साधनों को जानबूझ कर विशेष रूप प्रदान किया जाता है ताकि एक कर्मचारी को संगठनात्मक प्रभाव के एक नियोजित वातावरण में रखा जा सके। सत्ता की श्रेणियों को औपचारिक रूप प्रदान करने के पीछे भी यही तर्क कार्य करता है।

3. एक कर्मचारी स्थायी रूप से कुछ आशाएँ बना लेता है कि संगठन के दूसरे लोगों के साथ उसका व्यवहार कैसा रहेगा और विशेष परिस्थितियों में वे किस प्रकार व्यवहार करेंगे।

4. कर्मचारी से यह आशा की जाती है कि वह संगठन के लक्ष्यों को आगे बढ़ाने में निष्क्रिय की अपेक्षा सक्रिय दृष्टिकोण रखेगा जब उसके सामने कोई समस्या उठ खड़ी होगी तो वह उसको सुलझाते समय केवल संगठन के लक्ष्यों एवं प्राप्त निर्देशों से ही प्रभावित नहीं होगा वरन् स्वयं की पहल करने की शक्ति का प्रयोग भी करेगा।

5. संगठन में कार्य करने वाला व्यक्ति एक प्रशासकीय व्यक्ति बन जाता है जिसकी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि संगठनात्मक प्रभाव उसे केवल कुछ कार्य करने के लिए ही प्रेरित नहीं करते वरन् उसमें आदत डालते हैं कि संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए दूसरों के सहयोग से जो भी कार्य वह कर सके, करे। इस प्रकार वह सहकारी व्यवहार की आदतें विकसित कर लेता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति पर संगठन में जो भी प्रभाव पड़ते हैं वे उनमें सहयोग की भावना का ही विकास करते हैं।

निर्णय-प्रक्रिया के अध्ययन का एक प्रतिमान (मॉडल)
(A Model for the Study of Decision Making Process)

निर्णय-प्रक्रिया के अध्ययन का मॉडल जो सामान्यतः राजनीतिक निर्णय-प्रक्रिया पर भी लागू होने के साथ-साथ, प्रशासन के वातावरण एवं सन्दर्भ में अधिक निश्चितता से लागू होता है। मॉडल के निर्माण में उन तीन विशेषताओं का विशेष ध्यान रखा गया है जो मॉडल निर्माण के उद्देश्यों से सम्बन्धित हैं। सर्वप्रथम, समाजशास्त्रों के अध्ययन में मॉडल निर्माण के प्रयास मुख्य रूप से इसलिए उपयोगी माने जाते हैं कि उनके माध्यम से समाजशास्त्रीय ज्ञान की सम्प्राप्ति अधिक निश्चित, विश्वसनीय एवं वैज्ञानिक बन सकती है। दूसरे, मॉडल बनाने की प्रक्रिया एक ऐसे बौद्धिक प्रयास की द्योतक है जिसके द्वारा कोई भी प्रक्रिया अपनी समग्रता में अपने विभिन्न तत्त्वों और उनके अन्तर्सम्बन्धों सहित विश्लेषित की जा सकती है। तीसरे, मॉडल निर्माण द्वारा जो समस्यायें अथवा व्यवस्था-सम्बन्धों के प्रश्न स्पष्टता एवं निश्चितता से उभरते हैं, उनके अध्ययन के लिए नए मॉडलों का निर्माण किया जा सकता है। इस प्रकार मॉडल-निर्माण का बौद्धिक प्रयास समाजशास्त्रीय अध्ययनों को वैज्ञानिकता, व्यवस्था एवं तत्त्व विश्लेषण तथा ज्ञान की निरन्तरता एवं गहराई से आगे बढ़ाने का प्रयास है। मॉडल-निर्माण समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं करता, वह केवल स्पष्टता से यह संकेत करता है कि किस प्रकार अन्तर्सम्बन्धित हैं और उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं द्वारा किस प्रकार के सम्भावित परिणाम निकल सकते हैं। प्रशासनिक निर्णय-प्रक्रिया के क्षेत्र में हरबर्ट साइमन और गौरे तथा डाइसन आदि अनेक विद्वान मॉडल-निर्माण के गंभीर अभ्यास कर चुके हैं। साइमन के मॉडल, जो बुद्धिपरक (Rational) अधिक हैं अध्ययन में वैज्ञानिकता को प्राथमिकता देते हैं। दूसरी ओर गौरे का ह्यूरिस्टिक मॉडल (Heuristic Model) यह मानकर चलता है कि प्रशासनिक सगठन में विवेक-निरपेक्ष (Non-rat nal) तत्त्व अधिक प्रभावी होते हैं और निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन विवेक-सम्मत होते हुए भी मानवीय एवं मनोवैज्ञानिक पक्षों की अवहेलना नहीं कर सकता।

प्रशासनिक निर्णय प्रक्रिया का प्रस्तुत अध्ययन मॉडल एक 'प्रॉसेस मॉडल' है, जिसका अर्थ है कि इस मॉडल में तत्त्वों की गतिशीलता (Dynamics) और उनके घर्षण से उत्पन्न प्रवृत्तियों के अध्ययन पर अधिक बल है। मॉडल-निर्माण के पीछे मूल मान्यता यह है कि निर्णय एक बौद्धिक चिन्तन की निरन्तरता में विराम का क्षण है, अतः कोई भी घटना, परिणाम या तत्त्व अपने-आप में स्वतंत्र नहीं है, बल्कि भूत एवं भविष्य की प्रतिक्रियाओं से जुड़ा हुआ है। प्रॉसेस मॉडल होने के साथ-साथ प्रस्तुत मॉडल को एक इनपुट आउटपुट मॉडल (Input Output Model) भी कहा जा सकता है। व्यवस्था विश्लेषण (Systems Analysis) के विद्यार्थी यह मानते हैं कि किसी भी व्यवस्था में जब 'इनपुट' डाली जाती है तो वे एक प्रक्रिया से गुजर कर कालान्तर में आउटपुट में परिवर्तित हो जाती हैं।

प्रस्तुत मॉडल में प्रशासनिक निर्णय की विभिन्न इनपुटों का विश्लेषण है और प्रत्येक इनपुट किन-किन प्रतिक्रियाओं के कारण कौन-कौनसी आउटपुटों में बदल जाती है, इस ओर संकेत है। इस तरह 'प्रॉसेस' और 'इनपुट-आउटपुट' मॉडल होने के कारण निर्णय-प्रक्रिया का यह मॉडल सामान्य परिवर्तनों के साथ सभी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं के अन्तर्गत चलने वाले प्रशासनों पर लागू हो सकता है और उनके संगठनात्मक पदसोपानों के विभिन्न स्तरों पर लिए गए निर्णयों को विश्लेषित, परीक्षित एवं मूल्यांकित करने में सहायक हो सकता है।

प्रस्तुत मॉडल के अनुसार प्रशासनिक निर्णय विचार से लेकर क्रियान्विति तक तीन प्रकार के वृत्तों (Circles) से गुजरता है—1. अनुभूति वृत्त (Perceptional Circle); 2. मूल्यांकन वृत्त (Evaluation Circle) और 3. रणनीति वृत्त (Strategy Circle)। ये तीनों वृत्त निर्णय-प्रक्रिया के सभी स्तरों पर हो सकते हैं, किन्तु इनका शीर्ष-यन्त्र में पाया जाना अनिवार्य है। निम्न स्तरों पर हो सकता है रणनीति वृत्त महत्त्वपूर्ण न हो, किन्तु मुख्य अधिकारी के स्तर पर जहाँ क्रियान्विति का उत्तरदायित्व भी होता है, सगठन का यह वृत्त भी केवल विद्यमान ही नहीं होता अपितु अंतिम निर्णय में निर्णायक होता है।

निर्णय-प्रक्रिया के ये तीनों वृत्त चाहे सगठन में औपचारिक रूप से न हों, किन्तु निर्णयकर्ता को यदि वह अकेला भी है तो भी इन सभी वृत्तों की संचालन-भूमिका स्वयं ही निभानी पड़ती है। प्रथम वृत्त में संगठन के शीर्ष-निर्णय यन्त्र में तीन तत्त्व सन्निहित होते हैं—(1) संगठन के नीति-उद्देश्य (Policy Objectives), (2) संगठन का उपलब्ध वातावरण (*Given Organisational Climate*) और (3) निर्णयकर्ता, कर्ताओं की व्यक्तिगत मूल्योन्मुखता (Value Inclinations)। जब कोई समस्या उपस्थित होती है तो निर्णयकर्ता का यह प्रशासनिक परिवेश क्रियाशील बन जाता है। उसके उस अनुभूति वृत्त (Peceptional Circle) को तथ्यों का इनपुट मिलता है और ज्योंही एक मशीन की भाँति यह चक्र घूमने लगता है तो उद्देश्य, वातावरण, मूल्य एवं तथ्य

आपस में मिलते हैं, टकराते हैं, टूटते हैं और अन्तर्घर्षण से उनमें एक अन्तर्मिश्रित क्रिया सम्पन्न होती है जो आउटपुट (Output) के रूप में कुछ विकल्पों की यथार्थता बन कर सामने आती है।

इस अनुभूति वृत्त में व्यक्ति और संगठन, औपचारिक एवं अनौपचारिक, मूल्य एवं तथ्य तथा उद्देश्य एवं क्रियान्विति की समस्याओं के बीच एक सीधा टकराव होता है। उद्देश्य, मूल्य, वातावरण एवं तथ्य, जो इस स्तर पर एक-दूसरे को मथते हैं, निर्णयकर्ता की मनोदशा का निर्माण करते हैं। उसका अनुभूति-परक तथ्यों की यथार्थतावादी अथवा मूल्य स्थिति से निर्मित होकर समस्या को समाधानात्मक विकल्पों के रूप में देखने लगता है। यहीं पर संगठन में उपलब्ध संचार-व्यवस्था, विशेषीकरण, सत्ता-वितरण, पर्यवेक्षण-प्रणाली, नौकरशाही-पद्धति, आदि इस अनुभूति वृत्त को विशाल एवं संकीर्ण बनाती हैं। प्रशासनिक नेतृत्व क्रियाशील बनता है और व्यक्ति एवं संगठन के तनाव अथवा पूरक तत्व मिलकर विकल्प आउटपुटों की प्रकृति एवं संख्या निर्धारित करते हैं।

संस्था के आउटपुट-विकल्प जो भी और जैसे भी उभर कर सामने आते हैं, निर्णय-प्रक्रिया की गति को नियमित करते हैं। अनुभूति-वृत्त से बाहर आने पर ये आउटपुट दूसरे मूल्यांकन वृत्त (Evaluation Circle) की इनपुट बन जाते हैं। समस्या और समाधानों के संदर्भ में सोचता हुआ निर्णयकर्ता का मस्तिष्क फिर अपने मूल्यांकन-वृत्त को चक्रवत घुमाता है। इस बार इस वृत्त में जो तत्व विकल्प-इनपुटों के साथ घर्षण करते हैं, वे हैं—(1) *विकल्पों की कीमत*, (2) संगठन की क्रियान्विति की क्षमता, (3) परिणाम की जटिलता और (4) व्यावहारिकता की सम्भावनाएँ। ये सभी तत्व, जिनकी प्रभावशीलता उनकी आनुपातिक-शक्ति पर निर्भर करती है, विकल्प-इनपुटों को विभिन्न मूल्यांकन प्रक्रियाओं में डालकर अन्ततोगत्वा मूल्यांकन की एक सन्तुलित प्रणाली द्वारा प्राथमिकता आउटपुटों (Preference Output) के रूप में प्रस्तुत करती है। इस तरह मूल्यांकन-वृत्त विकल्प-इनपुटों को प्राथमिकता-आउटपुटों में परिवर्तित करने का एक बौद्धिक अभ्यास कहा जा सकता है।

प्रशासनिक निर्णय-प्रक्रिया का यह स्तर यद्यपि काफी निर्णायक होता है, तथापि विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ एवं अंतिम विकल्प का चयन इस वृत्त के आउटपुटों को फिर तीसरे वृत्त के इनपुटों में डालकर अंतिम आउटपुट को संगठन-निर्णय बनाने का प्रयास करता है। तीसरा वृत्त जिसे रणनीति वृत्त कहा गया है इस स्तर पर प्रशासनिक निर्णय की व्यावहारिकता दूरगामी एवं पुनर्निर्णय एवं भावी निर्णय सम्बन्धी जटिलताओं का ही परीक्षण करता है। शीर्ष-स्तर पर संगठन में निर्णय की श्रेष्ठता एवं वैज्ञानिकता ही पर्याप्त नहीं होती। वह सही होते हुए भी इसलिए गलत हो सकता है कि उसके तकनीकी व्यवहार पक्ष अनुभूति एवं मूल्यांकन के वृत्तों से बचे नहीं हों तो गौण रह गए हों। अतः प्रथम विकल्प लगभग अंतिम निर्णय होते हुए भी एक रणनीति मूल्यांकन चाहता है। इस प्रकार विकल्प प्राथमिकता की आउटपुट सूची तीसरे वृत्त में इनपुट बनाकर डाली जाती है और उसके मंथन से जो आउटपुट सामने आते हैं वह अंतिम निर्णय की स्थिति कही जाती है।

तीसरे वृत्त का यह अन्तिम पुनर्मूल्यांकन मुख्यतः विकल्पों के आलोक में स्थिति पर एक पुनर्दृष्टि डालता है जिसका परिणाम अनिर्णय (Non-decision) अथवा पुनर्निर्णय (Re-decision) भी हो सकता है। इस वृत्त से बाहर निकलने वाला आउटपुट वैज्ञानिक ढंग से एक निश्चित दिशा-निर्देश करता है और उसका चयन विभिन्न खतरों, एवं विरोधों के बावजूद भी करना पड़ता है। इन सबके उपरान्त भी संभव है कि निर्णय सही न हो अथवा कीमत में महँगा पड़े, पर इस प्रक्रिया विशेष से गुजरने का एक लाभ यह है कि जो कुछ होगा वह प्रत्याशित होगा और जान-बूझ कर जानी-पहचानी अनुमानित सम्भावनाओं से निपटना, क्रियान्विति की स्थिति में मनोबल एवं संगठन के ढाँचे पर नकारात्मक प्रभाव नहीं डाल सकेगा।

इस तरह प्रारम्भ से अन्त तक यह मॉडल निर्णय-प्रक्रिया की निरन्तरता, गतिशीलता, विकासशीलता एवं जटिलता (Continuity, Dynamism, Incrementality and Complexity) को संश्लिष्ट एवं सम्बद्ध ढंग से प्रस्तुत करता है। इस मॉडल की अपनी सीमाएँ हैं और स्वभावतः यह प्रत्येक स्तर की विशदता एवं सम्पूर्णता का द्योतक नहीं होता। जिन निर्धारक कारकों को यहाँ चुना गया है वे न तो आत्मनिर्भर हैं और न ही पूर्णतः अन्तर्निर्भर। कारकों और प्रक्रियाओं की अन्योन्याश्रितता को भी मॉडल में गहराई से नहीं लिया गया है और इनमें से प्रत्येक पर एक उप-मॉडल निर्मित किया जा सकता है।

निर्णय-प्रक्रिया का महत्त्व एवं उपयोगिता

(Importance and Utility of Decision Making Process)

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर स्पष्ट है कि प्रशासन में निर्णय-प्रक्रिया के अध्ययन जैसे-जैसे वैज्ञानिक बने हैं, वैसे-वैसे ही उनकी उपयोगिता बढ़ी है, जिसने शोध की नई माँगों को प्रश्रय दिया है। निर्णय-प्रक्रिया की गहरी जानकारी के लिए आज का सामाजिक ज्ञान एक अभुक्त बौद्धिक धरातल प्रस्तुत करता है। समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की शोधें प्रशासनिक प्रक्रियाओं और इनके अन्तर्सम्बन्धों को समझने में अन्तर्दृष्टि प्रदान करने लगी हैं।

अध्ययन के नए-नए मॉडलों ने प्रशासनिक निर्णय की नई दिशाएँ खोजी हैं जिनका परिणाम यह निकला है कि प्रशासनिक निर्णय की कला प्रशासनिक निर्णय का विज्ञान बन गई है। प्रशासनिक निर्णय-प्रक्रिया का वैज्ञानिक अध्ययन प्रशासनिक निर्णयकर्ता और विश्लेषणात्मक और परिचालनात्मक दक्षताएँ (Analytical and Operational Skills) प्रदान करती हैं, जिन्हें निर्णयकर्ता अपने अन्य सहयोगियों को सिखाकर, प्रशासनिक ज्ञान को व्यावहारिक बना सकता है। विश्लेषणात्मक क्षमताएँ, जो मुख्यतः समूह-अनुभूति, समस्यानिरूपण-प्रक्रिया, मूल्य-निर्धारण एवं रणनीति के अभ्यास आदि का अभ्यास चाहती हैं और साथ ही परिचालनात्मक दक्षताओं के साथ मिलकर कुशल निर्णयकर्ता प्रस्तुत कर सकती हैं। ये परिचालनात्मक दक्षताएँ, जो संस्थागत संप्रेषण-कौशल, व्यक्तित्व-परीक्षण-क्षमता आदि द्वारा उभारी जा सकती हैं, किसी भी संगठन में निर्णय-प्रक्रिया को व्यावहारिक बनाने के लिए उपयोगी होती हैं। निर्णय-प्रक्रिया का यह ज्ञान इन दक्षताओं को प्राप्त करने एवं प्रशासनिक व्यवहार को आन्तरीकृत (Internalise) करने में सहायक होता है बशर्ते कि एक प्रशासक यह पूर्वाभास पा सके कि वह जो निर्णय ले रहा है वह एक समस्या के समाधान की खोज है। संगठन में उसके चारों ओर जो नीति, मनोबल और साधनों का वातावरण है वह एक अनुक्रिया यन्त्र (Response-mechanism) है। इस यन्त्र को अपने साथ लेकर चलना और इसके माध्यम से स्थिति या वातावरण में परिवर्तन लाना निर्णय-प्रक्रिया का एक कार्य है। संगठनात्मक निर्णय न नीति-निर्देश हो सकता है और न ही पूर्णतः अवैयक्तिक। इस तक पहुँचने की प्रक्रिया एक बौद्धिक प्रक्रिया है और हर स्तर पर इनपुट, आउटपुट तत्व विभिन्न निर्धारक तत्वों से प्रभावित होते हुए अन्तिम विकल्प तक पहुँच जाता है। ये स्तर अनुभूति, मूल्यांकन और रणनीति की दृष्टियों से निर्णयकर्ता को बार-बार झकझोरते हैं और प्रक्रिया की निरन्तरता को बनाए रखकर एक उत्तरोत्तर विकासमान स्थिति (Incremental Position) तक पहुँचाता है।

हरबर्ट ए. साइमन के उक्त विचारों का अध्ययन करने से स्पष्ट है कि उन्होंने संगठन की परम्परावादी अवधारणा के स्थान पर जिस व्यवहारवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया, जिसने लोक प्रशासन के क्षेत्र में एक क्रान्ति उपस्थित की है। उन्होंने संगठन के विविध पक्षों पर सामाजिक और मनोवैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण प्रस्तुत करके निर्णय-प्रक्रिया के क्षेत्र में एक नूतन अवधारणा प्रस्तुत की है। फलतः उनके विचारों से बाद के विचारक अत्यधिक प्रभावित हुए हैं।

नेतृत्व एवं नेतृत्व के सिद्धान्त

(Leadership and Theories of Leadership)

लोक-कल्याणकारी राज्य के विचार के साथ ही साथ विशालकाय प्रशासकीय संगठन उत्पन्न हो गए हैं। परिणामस्वरूप इन लोकतन्त्रात्मक राज्यों में संगठनों का जनता के प्रति उत्तरदायित्व भी निर्विवाद रूप से स्थापित हो चुका है। ये सभी परिस्थितियाँ हर प्रकार के संगठनों में कुशल नेतृत्व की माँग करती हैं। आज प्रशासनिक क्षेत्र के हर छोटे-बड़े किसी भी संगठन में प्रशासकीय नेतृत्व एक अनिवार्य तत्व बन गया है जिसके बिना किसी भी संगठन की कोई भी योजना पूरी नहीं हो सकती, किसी भी कार्यक्रम को गति नहीं मिल सकती, किसी भी संगठन की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता और न ही समन्वय एवं सहयोग की प्रक्रियाएँ प्रभावशाली बन सकती हैं। रौक्लर हडसन ने ठीक ही लिखा है कि "नेतागिरी की समस्याओं का असाधारण महत्व आकार, जटिलता, विशेषीकरण, संगठनात्मक सत्ता, तकनीकी विकास और सामाजिक माँग जैसे क्रान्तिकारी तत्वों की वृद्धि के साथ बढ़ गया है।" नेतृत्व द्वारा ही संगठन के वांछित उद्देश्यों की पूर्ति की दृष्टि से व्यक्तियों के समूह की क्रियाओं का सुचारु संचालन, मार्गदर्शन, नियंत्रण और समन्वय सम्भव है। संगठन में नेतृत्व की बढ़ती हुई आवश्यकता के फलस्वरूप ही आज प्रशासकीय और व्यावसायिक संगठनों के अधिकारी, विद्वान, शिक्षण-संस्थाओं के व्यवस्थापक, राजनीतिज्ञ आदि 'नेतृत्व' के अध्ययन में अधिकाधिक रुचि लेने लगे हैं।

नियन्त्रण पर विचार-विमर्श करते समय संगठनात्मक नेतृत्व की समस्या का स्वाभाविक रूप से आविर्भाव होता है जो संगठनों में प्रभावकारी कार्यों को आधार प्रदान करता है। नेतृत्व को व्यक्तित्व के एक गुण, एक पदगत विशेषता और व्यवहार के एक गुण के अर्थ में विविध ढंग से परिभाषित किया गया है। संरचनात्मक दृष्टि से, संगठन में नेतृत्व प्रतिष्ठागत समूहों से सम्बन्धित है। औपचारिक पद जैसे किसी विभाग के सचिव, संयुक्त, निदेशक आदि के पद 'नेतृत्व' के वर्ग में आते हैं। कार्यात्मक दृष्टि से एक नेता आंशिक रूप से एक प्रबन्धक होता है क्योंकि वह प्रबन्धन के समस्त कार्यों को नहीं करता है। नेतृत्व का विशिष्ट लक्षण "अन्य व्यक्तियों को परिभाषित लक्ष्यों के पूर्ण उत्साह के साथ प्राप्त करने के लिए समझाने की योग्यता है। यह अन्यों को अनुसरण करने के लिए प्रभावित करने की क्षमता है जो नेतृत्व का प्रमाण चिह्न है।"[1]

यह परामर्श दिया जाता है कि शक्ति के पाँच प्रमुख आधार हैं जिनका वरिष्ठ एवं अधीनस्थ कर्मचारियों के मध्य किसी भी प्रभाव विनिमय में उपयोग किया जाता है। इनको पुरस्कार, बल प्रयोग, विधिक, निर्देशन और विशेषज्ञ शक्तियाँ कहा जाता है। प्रथम तीन शक्तियाँ औपचारिक संगठनात्मक स्रोतों से उद्धृत की गई हैं। *भौतिक पुरस्कार (जैसे वेतन वृद्धि) और बल प्रयोग अथवा अवपीड़क शक्ति (जैसे निलम्बन) संगठनात्मक नियमों में* निर्धारित हैं। वैधिक शक्ति, अन्यों को प्रभावित करने के लिए 'सत्ता' है जो संगठन में औपचारिक पद में निहित रहती है। अन्य दो शक्तियाँ-निर्देशन और विशेषज्ञ-की संगठनात्मक औपचारिकता से उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है। निर्देशन शक्ति का आधार वरिष्ठ तथा अधीनस्थ कर्मचारियों के मध्य व्यक्तिगत पसन्द में है और विशेषज्ञ शक्ति वरिष्ठ अधिकारी की विशिष्ट विशेषज्ञता अथवा निपुणता पर निर्भर करती है जो अधीनस्थ कर्मचारियों के मध्य व्यक्तिगत पसन्द में है और विशेषज्ञ शक्ति वरिष्ठ अधिकारी की विशिष्ट विशेषज्ञता अथवा निपुणता पर निर्भर करती है जो अधीनस्थ कर्मचारियों के व्यवहार को प्रभावित करती है। कार्यात्मक दृष्टि से नेतृत्व स्वयं को निरीक्षण के नियमों के कार्यों की अपेक्षा अनेक रूपों में प्रदर्शित करता है। काट्ज और कहन ने विचार व्यक्त किया है,

1. *Keith Davis* - Human Behaviour at Work, 1977, p 107

नेतृत्व का सार है—इसका सम्बन्ध प्रभावशाली वृद्धि से है जो नित्यचर्या के विषय से आगे जाता है और शक्ति आधारों का उनसे आगे, जो सगठनात्मक दृष्टि से आदेशित (आज्ञप्ति) है, प्रयोग करता है।'[1]

फिलिप सेल्जनिक[2] के अनुसार नेता सृजनात्मक व्यक्ति है, उनका व्यवसाय राजनीति है जिसमें 'लोकहित की सतत् पुनर्परिभाषा और उन परिभाषाओं का प्रमुख संस्थाओं के रूप में मूर्तरूप' सम्मिलित है। सेल्जनिक द्वारा चिन्हित नेतृत्व के कुछ प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(1) सास्थानिक जीवन-लक्ष्य की परिभाषा और भूमिका

(2) उद्देश्य का सांस्थानिक मूर्त रूप

(3) सास्थानिक एकता की रक्षा, और

(4) आन्तरिक संघर्षों को व्यवस्थित करना।

नेतृत्व का प्रथम कार्य आन्तरिक और बाह्य माँगों के परिप्रेक्ष्य में सगठनात्मक लक्ष्यों को स्थापित करना होता है। लक्ष्य निर्धारण और नीति सूत्रीकरण सगठनात्मक नेतृत्व के प्राथमिक कार्य हैं। द्वितीय, नीति के अर्थ को निम्न संगठन के सामाजिक स्तर पर प्रसारित करना होता है। नीति का विस्तारण और कार्यान्वयन इस तथ्य पर निर्भर करता है कि समस्त सगठन का सास्थानिक नेतृत्व का विचार प्रक्रिया के साथ किस प्रकार सामंजस्य किया जाये। तृतीय, नेतृत्व को सगठन के अभ्यन्तर मूल्यों और इसकी विशिष्ट पहचान बनाए रखना होता है। चतुर्थ, संगठन के अन्तर्गत प्रतियोगी हितों की उपस्थिति को स्वीकार करना और प्रमुख वचनबद्धताओं की पूर्ति के उपयुक्त 'शक्ति सन्तुलन' को बनाये रखना नेतृत्व का कार्य है।

राइस ने सम्बन्धित ढंग से सीमा नियन्त्रक कार्य की भाषा में विचार किया। संगठनात्मक संरचना में अन्तरालों के बिन्दुओं, जहाँ प्रणाली के मार्गों के मध्य अवरोध आ जाते हैं, पर नेतृत्व का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य होता है।[3] सांस्थानिक नेतृत्व—संगठन में शीर्ष स्तरीय व्यक्ति के प्रमुख कार्य लक्ष्यों को निर्धारित करना तथा समस्त संगठन के कार्य निष्पादन की निगरानी करना है। निम्न स्तरों पर नेतृत्व के कार्य विशिष्ट स्थलों पर संगठनात्मक स्थितियों की माँगों के अनुरूप भिन्न होंगे।

काट्ज और कहन ने नेतृत्व कार्यों की तीन स्तरों पर पहचान की है और संगठनात्मक संरचना पर उनके प्रभाव की दृष्टि से उनमें अन्तर व्यक्त किया है। सांस्थानिक स्तर पर शीर्ष नेतृत्व का सम्बन्ध समस्त सरचना की रूपरेखा और नीति के सूत्रीकरण से होता है। नीचे, मध्यम स्तर पर निरीक्षक सामान्य नीति की सीमाओं के अन्तर्गत काम करते हैं। विशिष्ट स्थितियों में वे औपचारिक संरचना को छोड़ देते हैं और काम चलाऊ प्रबन्ध करते हैं। औपचारिक सरचना का इस प्रकार निराकरण हो जाता है और संरचना के इस प्रकार अन्तर्वेशन द्वारा निरीक्षक अपने कार्यों का निष्पादन कर सकते हैं। क्रम में इसके नीचे संगठन को वर्तमान सरचना प्रभावशाली संचालन में बनाये रखती है। रचनात्मक और प्रक्रियायें सब निर्धारित हैं, क्रियात्मक स्तर पर नेतृत्व का कार्य इन सास्थानिकृत साधनों का सर्वोत्कृष्ट उपयोग करना होता है।

समूहगत क्रिया-कलाप सगठनों की मूलभूत विशेषता है। नेतृत्व समूहों को प्रेरित करने में सहायक होता है और इस प्रक्रिया में संगठनात्मक निष्पादन में सुधार करता है। व्यावहारिक विज्ञान के शोध कार्य ने नेतृत्व व्यवहार, जो प्रभावशाली नेतृत्व से सम्बन्धित हो सकता है, की किस्म पर ध्यान केन्द्रित किया है। इस सम्बन्ध में प्रभावशीलता के चार आयामों[4] की विशेष रूप से पहचान की गई है। प्रथम, नेतृत्व को संगठनात्मक सदस्यों के मध्य घनिष्ठ तथा सन्तोषजनक सम्बन्धों को प्रोत्साहित करना पड़ता है। द्वितीय, व्यक्तियों और समूहों को यह अनुभव करना चाहिए कि वे संगठन में महत्त्वपूर्ण हैं। नेतृत्व को संगठन के सदस्यों के मध्य इस प्रकार की भावना उत्पन्न करनी पड़ती है। तृतीय, नेतृत्व को सदस्यों के संगठनात्मक लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में काम करने के लिए प्रोत्साहित करना पड़ता है। काम और उत्पादकता के प्रति संगठनात्मक सदस्यों को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उत्साहित करने का उत्तरदायित्व नेतृत्व का ही है। चतुर्थ, नेतृत्व को सफल कार्य निष्पादन के लिए ससाधनों एवं

1 *Daniel Katz and Robert L. Kahn* : The Social Psychology of Organisations, 1978, p. 574
2 *Philip Selznick* : Leadership in Administration, Raw, Paterson, 1957.
3. *A. K. Rice* : The Enterprise and its Environment, 1963.
4 *David G. Bowers and Stanley E. Seashore* : "Predicting Organisational Effectiveness with a Four-Factor Theory of Leadership", Administrative Science Quarterly, September, 1966.

तकनीकी साधनों को उपलब्ध कराना पड़ता है। कार्यों के तकनीकी पहलुओं जैसे—योजना बनाना, संगठित करना, निर्धारित करना और निवेश आपूर्ति (धन, सामग्री, यन्त्र आदि) की नेतृत्व को सावधानीपूर्वक देखभाल करनी पड़ती है अत. प्रभावशील नेतृत्व को संगठन के दोनों पहलुओं 'जनता' और 'उत्पादकता' का ध्यान रखना पड़ता है। संगठनात्मक सदस्यों को सामाजिक-संवेदनात्मक समर्थन देना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना संगठनात्मक लक्ष्य उपलब्धि को सुनिश्चित करना आवश्यक है।

नेतृत्व का अर्थ एवं प्रकृति
(The Meaning and Nature of Leadership)

इस बात पर अधिकांश विचारक एकमत हैं कि नेतृत्व अनिवार्य रूप से संगठन का तत्व है, तथापि नेतृत्व के गुण और विशेषताओं के सम्बन्ध में मतभेद प्रचलित हैं। चेस्टर बर्नार्ड का कथन सही प्रतीत होता है कि "नेतृत्व के गुणों का पता स्वयं नेता को या उसके पीछे चलने वालों को भी नहीं रहता है।" उन्हीं के अनुसार, "वास्तव में मैंने कोई ऐसा नेता कभी नहीं देखा जो पर्याप्त रूप से बुद्धिमत्तापूर्वक यह कह सके कि वह नेता बनने योग्य क्यों है और न ही उस नेता के अनुयायी यह बता सकते हैं कि वे उसका अनुगमन क्यों कर रहे हैं।" इससे यह स्पष्ट होता है कि नेतृत्व को किन्हीं विशेष गुणों अथवा विशेषताओं की परिधि में बाँधा नहीं जा सकता क्योंकि इसका निर्धारण तो समय, परिस्थिति, आवश्यकता, संगठन के लक्ष्य, उद्देश्य और प्रकृति आदि विभिन्न तत्वों द्वारा होता है और ये तत्व अति परिवर्तनशील प्रकृति के होते हैं।

प्रशासकीय संगठन में नेतृत्व की विद्वानों ने विभिन्न परिभाषा दी है। प्रसिद्ध विचारक हैमेन ने लिखा है कि "नेतृत्व को एक नई प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा कार्यपालिका व्यक्ति और संगठन के बीच मध्यस्थता कर, कुछ विशेष लक्ष्यों के चयन और उनकी प्राप्ति द्वारा कल्पनात्मक रूप में दूसरों के कार्यों को निर्देशित, पथ-प्रदर्शित तथा प्रभावित किया जाता है। यह कार्य उसके द्वारा इस रूप में किया जाता है कि दोनों को अधिक से अधिक संतोष प्राप्त होता है।"[1] रॉबर्ट टैनिनबाम तथा फ्रेड मासारिक के मतानुसार, "नेतृत्व में सदैव नेता अनुगामी के व्यवहार को प्रभावित करता है।"[2] कुण्ट्ज तथा ओ'डोनैल ने लिखा है कि "नेतृत्व एक सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लोगों को सहयोगी बनने हेतु समझाने की क्रिया है।"[3] बर्नार्ड ने भी नेतृत्व के तीन आधार माने हैं—ये व्यक्ति (Individual), अनुयायी (Followers) और दशाएँ (Conditions)। उनका कहना है नेतृत्व व्यक्तियों के व्यवहार के उन गुणों की ओर इंगित करता है जिनके द्वारा वे संगठन के व्यवहार में लोगों की क्रियाओं को निर्देशित करते हैं।[4]

मूने तथा रेले ने नेतृत्व को सत्ता का ही एक रूप माना है। यह रूप तब प्रकट होता है जब सत्ता प्रक्रिया में संलग्न होती है।[5] मूने तथा रेले के अनुसार नेतृत्व एवं सत्ता के बिना कोई भी व्यक्ति नेतृत्व के उत्तरदायित्वों को पूरा नहीं कर सकता और सत्ता-सम्पन्न प्रत्येक व्यक्ति एक नेता होता है, किन्तु एल. उर्विक का मत है, नेतृत्व का यही सही अर्थ माना जा सकता है।' 'नेतृत्व' शब्द में जो बातें निहित हैं उन्हें केवल सत्ता शब्द द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। कई बार हम ऐसे व्यक्तियों का नेतृत्व करते पाते हैं जो अधिकृत सत्ता का उपयोग नहीं करते। बर्नार्ड द्वारा प्रस्तुत की गई पूर्वोक्त परिभाषा को एल. उर्विक ने प्राथमिकता दी है, किन्तु इसमें कुछ संशोधन सुझाए हैं। वह नेतृत्व को व्यक्तियों में व्यवहार का ऐसा गुण मानता है जिसके द्वारा अन्य व्यक्ति नेता का निर्देशन स्वीकार करते हैं।[6] इस प्रकार उर्विक नेतृत्व के सत्तावादी रूप की अपेक्षा उसके गुणात्मक पहलू पर अधिक जोर देता है।

नेतृत्व में मुख्य रूप से दो पक्ष होते हैं— एक प्रभावित करने वाला, जिसे नेता कहा जाता है और दूसरा प्रभावित होने वाला, जिसे अनुगामी कहा जाता है। नेता अपनी नेतृत्व-क्षमता से अपने अनुगामी के व्यवहार को निर्देशित और नियंत्रित करता है। नेतृत्व की कार्यशैली उस परिवेश से प्रभावित होती है जिसमें वह कार्य करता है। नेतृत्व की कार्य-शैली को प्रभावित करने में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का गहन प्रभाव पड़ता है।

1 *Haimann* : Op cit., p 40
2 *Robert Tannenbam and Fred Massarik* : "Leadership : A Frame of Reference", Management Science 3/4, Oct., 1957
3 *H Koontz and O'Donnel* , Principles of Management, p 69
4 *Bernard* · Op cit , p 83
5 *Mooney, J.D and Reiley, A.C* · Onward Industry, 1931, pp 32-33
6 *L Urwick* · Op cit , p 38

नेतृत्व क्या नहीं है ?

(The Illusion of Leadership)

'नेतृत्व' शब्द बड़ा ही लोकप्रिय है, किन्तु इसका अर्थ अस्पष्ट एवं भ्रमपूर्ण है। नेतृत्व की अनेक विशेषताएँ बताई गई हैं पर कई बार नेतृत्व के ये गुण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। नेतृत्व के सम्बन्ध में जिन परिस्थितियों एवं अवस्थाओं द्वारा भ्रम उत्पन्न होता है वे मुख्यतः निम्नलिखित हैं—

1. नेतृत्व भय नहीं है—नेतृत्व का आशय किसी ऐसी सत्ता से नहीं है जिसके अस्तित्व से अधीनस्थों में यह भय पैदा होता हो। प्रायः जब कभी एक व्यक्ति के आगमन से किसी व्यक्ति-समूह में भय की लहर उठते हुए देखते हैं तो ऐसा लगता है कि उस व्यक्ति एवं व्यक्ति-समूह के बीच नेता और अनुयायी का सम्बन्ध है, किन्तु यह प्रतीति असत्य एवं भ्रामक है। नेता की उपस्थिति में डर पैदा होना आवश्यक नहीं है। नेता के प्रति अनुयायियों के मन में श्रद्धा, सम्मान एवं आदर की भावना रहती है और कई बार नेता के प्रति अनुयायियों के मन में निर्भीकता के भाव जाग्रत होते हैं। नेता अनुयायियों का पथ-प्रदर्शक एवं संरक्षक होता है। वह उनकी समस्याओं तथा कठिनाइयों को दूर करने में सक्रिय रूप से भाग लेता है।

2. केवल आज्ञा देना नेतृत्व नहीं है—नेता अपनी नीतियों एवं कार्यक्रमों को व्यावहारिक रूप देने के लिए अपने अनुयायियों को आज्ञाएँ एवं निर्देश देता है। अनुयायियों का कर्तव्य है कि वे इन आज्ञाओं को शिरोधार्य कर अपने व्यवहार का रूप निश्चित करें। आज्ञा देना नेता के कार्यों एवं व्यक्तित्व का एक भाग है, किन्तु इसे उसकी एक मात्र विशेषता नहीं कहा जा सकता और इसलिए प्रत्येक आज्ञा देने वाला नेता नहीं होता। एक स्वामी अपने सेवक को, पिता अपने पुत्र को, पति अपनी पत्नी को तथा शिक्षक अपने शिष्यों को आज्ञाएँ देते हैं। इन सभी प्रसंगों में आज्ञा देने वाले को हम नेता नहीं कहते। उनमें नेता से भिन्न अन्य अनेक संबंध रहते हैं, जैसे—पिता-पुत्र के बीच रक्त-सम्बन्ध। इसके अतिरिक्त वे नेतृत्व की अनेक विशेषताओं से वंचित रहते हैं। स्पष्ट है कि आज्ञा देने के कार्य की समानता को देखकर ही नेता और अनुयायी का सम्बन्ध मान लेना भ्रामक होगा।

3. नेतृत्व लोकप्रियता नहीं है—लोकप्रियता के आधार पर भी किसी को नेता मान लेना 'नेता' शब्द का दुरुपयोग करना है। यह सच है कि नेता एक संगठन में केन्द्र-बिन्दु होता है जिसके व्यवहारों, विचारों एवं व्यक्तित्व पर संगठन के सभी सदस्यों की दृष्टि रहती है। संगठन के प्रायः सभी व्यक्ति अपने आपको उसका अनुयायी कहने में गौरवान्वित अनुभव करते हैं। कई बार व्यक्ति के लोकप्रिय होने पर भी उसे संगठन की नीतियों एवं कार्यक्रमों को संचालित करने का अधिकार नहीं होता। इस प्रकार की अधिकार-विहीन लोकप्रियता मैत्रीपूर्ण स्तर पर भी हो सकती है।

एक संगठन की एक ही इकाई के समान पदों पर कार्य करने वाले विभिन्न सदस्यों के बीच यदि किसी को लोकप्रियता प्राप्त हो जाए तो हम उसे नेता नहीं कहेंगे। संगठन के सदस्यों में आज्ञाकारिता की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले अनेक तत्व होते हैं और इन तत्वों की उपस्थिति लोकप्रियता के लिए आवश्यक नहीं है। लोकप्रियता एक ऐसी चीज है जो प्रायः हँसमुख प्रकृति, सरल व्यवहार, सामंजस्यपूर्ण व्यक्तित्व और कभी-कभी मूर्खतापूर्ण कार्यों के परिणामस्वरूप भी प्राप्त हो जाती है। बुद्धिहीन लोकप्रिय व्यक्ति से संगठन के सदस्य मजाक कर सकते हैं, उसे अपने मनोरंजन का साधन बना सकते हैं, किन्तु उसकी आज्ञाओं एवं इच्छाओं का पालन करने के लिए वे कदापि तैयार नहीं होंगे। इस प्रकार का लोकप्रिय व्यक्ति और कुछ भी हो सकता है, किन्तु नेता नहीं। अतः केवल लोकप्रियता को ही नेतृत्व का गुण नहीं माना जा सकता है।

4. नेतृत्व करिश्मा नहीं है—अनेक व्यक्तियों में कुछ चमत्कारपूर्ण विशेषताएँ (Charismatic Qualities) पाई जाती हैं जिनके आधार पर वह दूसरे व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। इस प्रकार आकर्षित किए गए व्यक्ति उसे लोकप्रिय बना देते हैं और कभी-कभी तो यह भ्रम होने लगता है कि सम्भवतः वह उनका नेता है। चमत्कारी व्यक्तित्व अत्यन्त सक्रिय होते हैं और समय-समय पर इनके द्वारा अन्य लोगों के व्यवहार को प्रभावित भी किया जाता है; किन्तु इन्हें भी नेता कहना इसलिए गलत माना जाएगा क्योंकि केवल व्यक्तित्व के गुण एक मनुष्य को नेता नहीं बना देते। इसके लिए कुछ अन्य बातों की भी आवश्यकता होती है। कई बार हम लोगों को यह कहते हुए सुनते हैं कि अमुक व्यक्ति एक अच्छा नेता होने योग्य था, किन्तु परिस्थिति, वातावरण एवं अन्य कई कारणों से वह ऐसा न बन सका।

एक प्रभावशील नेता व्यक्तियों के समूह की आवश्यकताओं और उनके संगठन की संरचना का परिणाम होता है। वह एक प्रकार से प्रशासन और अन्य स्थितियों की उपज होता है और इसलिए संगठन का रूप, उसके लक्ष्य, व्यवहार के नियम आदि बातों की पृष्ठभूमि में ही उसका अध्ययन किया जा सकता है। कहने का आशय है कि केवल करिश्मा वाले व्यक्ति को नेता कह देना भ्रामक है।

5. नेतृत्व उच्च पद नहीं है—व्यक्ति की उच्च स्थिति उसे नेता नहीं बना देती। संगठन में उच्च पद प्राप्त हो जाने से ही वह अपनी आज्ञाओं, निर्देशों एवं आदेशों को संगठन के अधीनस्थ सदस्यों से स्वीकृत नहीं करा सकता और इस स्थिति में उसे नेता भी नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर हम एक ऐसे व्यक्तित्व की कल्पना कर सकते हैं जो पदसोपान की दृष्टि से बहुत नीचे है, किन्तु संगठन के अन्य सदस्य उसका सम्मान करते हैं तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करने में तत्परता दिखाते हैं। यह अधिकारी उच्च स्तर पर न होते हुए भी एक नेता होता है। नेतृत्व का पहला रूप सत्ताधारी, तानाशाही एवं बाध्यकारी प्रकृति का है जिसे आज के प्रजातन्त्रात्मक युग में नेतृत्व का वास्तविक रूप नहीं माना जाता। नेतृत्व का दूसरा रूप मानवीय सम्बन्धों, भावनाओं, प्रभावशाली प्रकृति के व्यक्तिगत गुणों, ज्ञान एवं बुद्धि के उच्च स्तरों आदि पर निर्भर करता है। नेतृत्व का यह रूप ही आज वास्तविक अथवा ठीक समझा जाता है।

संगठन का अध्यक्ष होना मात्र ही एक नेता होने का प्रमाण नहीं है। गिब (Gibb) ने पिछले कुछ वर्षों के नेतृत्व से सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि अध्यक्ष और नेता के बीच अन्तर किया जाना आवश्यक है।[1] पिफनर तथा शेरवुड का भी कहना है कि अध्यक्षता एवं नेतृत्व को एक ही चीज नहीं माना जा सकता। दोनों के बीच शक्ति का अन्तर है। एक व्यक्ति, जिसका कोई प्रभाव नहीं है, एक संगठन का अध्यक्ष हो सकता है, किन्तु ज्यों ही प्रभाव प्राप्त कर लेता है वह एक नेता बन जाता है।[2]

सैनिक संगठनों में नेतृत्व की आवश्यकताओं को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। वहाँ उच्च अधिकारी को मुख्य रूप से आदेश देने (Commanding) का कार्य करना पड़ता है। सैनिक संगठनों में आज्ञा देने वाले इन अधिकारियों की स्थिति बहुत कुछ असैनिक संगठनों के अध्यक्षों से मिलती-जुलती है। अध्यक्ष की भाँति एक कमाण्डर (Commander) को भी केवल इसी कारण नेता नहीं कहा जा सकता कि वह आज्ञाएँ देता है या उसके पास सत्ता है। *सैनिक संगठन में कमाण्डरों के पास इतनी सत्ता होती है कि वे अपने अधीनस्थों से जो चाहे करवा सकते हैं।* फिर भी यह माना जाता है कि इस आज्ञा देने वाले अधिकारी के पास नेतृत्व के अपने गुण भी हों तो वह सोने में सुहागे की भाँति श्रेष्ठ माना जाएगा। बिशलिन (Beishline) का मत है कि कमाण्डर को इस बात के लिए एक उत्साहपूर्ण इच्छा प्रकट करनी चाहिए कि संगठन के व्यक्तिगत सदस्य लक्ष्यों को प्रभावशाली रूप से पूरा करने के लिए अधिकतम सहयोग प्रदान करें।[3]

नेतृत्व से सम्बन्धित विचारधाराएँ (सिद्धान्त)

(Theories Concerning Leadership)

प्रारम्भ में यह मान्यता थी कि नेतृत्व कुछ विशेष गुणों-विशेषताओं का समन्वय है जो कि व्यक्ति विशेष में जन्मजात पाई जाती हैं, परन्तु आज नेतृत्व को किसी व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति नहीं समझा जाता है वरन् नेतृत्व के गुणों को अनुभव, शिक्षा, प्रशिक्षण एवं स्वयं किन्हीं विशेषताओं के फलस्वरूप प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ यह निर्विवाद सत्य है कि किसी व्यक्ति को समुचित परिवेश मिले तो उसमें नेतृत्व के गुणों का विकास हो सकता है। इस सम्बन्ध में निम्नांकित तीन दृष्टिकोण प्रचलित हैं—

1. लक्षणवादी विचारधारा (The Trait Theory)

इस विचारधारा के अनुसार नेताओं में कुछ व्यक्तिगत गुण होते हैं जिनके आधार पर वे संगठन में अपने अनुयायी बना लेते हैं। लक्षणवादी विचारधारा के समर्थकों ने आगमन-विधि के आधार पर, अर्थात् विभिन्न नेताओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन कर उनके व्यक्तिगत गुणों का संकलन किया है और जिन गुणों को उन्होंने सामान्य पाया है उन्हें एक नेता के आवश्यक गुण मान लिया है। इस विचारधारा के प्रतिपादकों में टीड (Tead), चैस्टर बर्नार्ड (Chester Bernard) और शैल (Schell) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी मान्यता है कि जिन व्यक्तियों को साधारणतः नेता माना जाता है उनमें कुछ सामान्य गुण यथा—शारीरिक शक्ति, उपदेश देने का ज्ञान एवं निर्देशन, उत्साह, मित्रता और भावनाएँ, ईमानदारी, तकनीकी विशेषज्ञता, बुद्धि, शिक्षा देने की योग्यता, विश्वास और निर्णय लेने की सामर्थ्य आदि दिखाई देते हैं। स्टोगडिल की दृष्टि में एक नेता में प्रधानतया सात गुण होने चाहिए—प्रथम, शारीरिक और संरचनात्मक विशेषताएँ (Physical and Constitutional Factors), जैसे—ऊँचाई, वजन, शारीरिक बनावट, शक्ति, स्वास्थ्य आदि; दूसरे बुद्धि (Intelligence); तीसरे आत्मविश्वास (Self-confidence), चौथे, सामाजिकता (Sociability) पाँचवें इच्छा-शक्ति (Will Power), जैसे—पहल करने की शक्ति और महत्त्वाकांक्षा, छठे, नियन्त्रण (Dominance), सातवें, कुछ अन्य लक्षण (Some Other Traits), जैसे—बात करने का ढंग, प्रसन्न-प्रकृति, उत्साह, अभिव्यक्ति का गुण, मौलिकता आदि।

1. *Cecil A. Gibb* : 'Leadership', in Gardner Lindsey, editor, Handbook of Social Psychology, Vol. II, p. 882.
2. *Pfiffner and Sherwood* : Op. cit., p. 351.
3. *John Robert Beishline* : Military Management of National Defence, p. 204

लक्षणवादी सिद्धान्त नेता में व्यक्तित्व के गुणों का अस्तित्व मानकर एक उपयोगी विचार प्रस्तुत करता है, तथापि कई दृष्टियों से यह अनुपयुक्त भी है। प्रथम, इस सिद्धान्त के समर्थकों ने नेतृत्व के अलग-अलग गुणों का वर्णन किया है, अर्थात् फिफनर एवं शेरवुड के अनुसार, "अभी तक लक्षणों (Traits) का कोई एक जैसा रूप विकसित नहीं हुआ है।" दूसरे, नेतृत्व के गुणों अथवा विशेषताओं की सूचियाँ भ्रामक हैं। इनमें विभिन्न शब्दावलियों का प्रयोग किया गया है और इनके द्वारा गिनाई गई विशेषताओं की संख्या भिन्न-भिन्न है। तीसरे, यह नहीं बताया गया है कि कौनसा लक्षण सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और कौनसा सबसे कम। चौथे, नेतृत्व प्राप्त करने और नेतृत्व कायम रखने की विशेषताओं के बीच अन्तर नहीं किया गया है। पाँचवें, यह भी स्पष्ट नहीं है कि किन विशेषताओं को प्राप्त कर कोई व्यक्ति अच्छा नेता बन सकता है अथवा किन विशेषताओं के अभाव में वह नेतृत्व की परिधि से बाहर हो जाता है। छठे, नेतृत्व पर परिस्थितियों के प्रभाव को नहीं भुलाया जा सकता। एक ही संस्था में अलग-अलग परिस्थितियों के नेतृत्व के लिए भिन्न-भिन्न विशेषताओं की आवश्यकता होती है। विशेषताएँ जन्मजात नहीं होतीं, वरन् उन्हें प्रशिक्षण द्वारा विकसित किया जाता है। व्यक्तिगत योग्यताओं और गुणों के आधार पर एक व्यक्ति अपने नेतृत्व के कार्यों को भली प्रकार सम्पन्न कर सकता है, पर नेता बनने के लिए केवल ये वैयक्तिक गुण ही पर्याप्त नहीं हैं। सगठन के स्वरूप और परिस्थितियों का उस पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। इन सब कमियों के कारण इस विचारधारा को कटु आलोचना का शिकार बनना पड़ा है।

2. स्थितिवादी विचारधारा (The Situational Theory)

लक्षणवादी विचारधारा में नेतृत्व पर परिस्थितियों के प्रभाव की उपेक्षा की गई थी जबकि आधुनिक अनुसन्धान के आधार पर विकसित स्थितिवादी विचारधारा के अनुसार एक नेता के व्यवहार और गुणों पर परिस्थितियों (Situations) का भारी प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति की विशेषताएँ अथवा गुण नेतृत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं तथापि नेतृत्व कुल मिलाकर एक विशेष समूह की परिस्थितियों का परिणाम होता है। एक ही समूह में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न नेतृत्व विकसित हो सकता है। एक परिस्थिति में जो व्यक्ति समूह का नेता है, दूसरी परिस्थिति में यह सम्भव है कि वह व्यक्ति नेता न रहे और दूसरा कोई व्यक्ति उसका स्थान ग्रहण कर ले। इस प्रकार से स्थितिवादी विचारधारा में 'परिस्थितिजन्य' कारण को केन्द्रीय स्थान दिया गया है।

इस विचारधारा के मुख्य प्रतिपादक बैवल्स तथा बैरिट, कुन्ट्ज तथा ओ'डोनेल हैं। इनके अनुसार एक सहायक अधिकारी तब प्रभावशाली बन जाता है जब उसका उच्चाधिकारी प्रभावहीन हो या उसमें नेतृत्व के गुण न हों। ऐसा परिस्थिति के कारण संभव होता है। अत: व्यवहार में स्थितिवादी विचारधारा लक्षणवादी सिद्धान्त की विरोधी न होकर पूरक है। इन दोनों ही सिद्धान्तों के संयोग से नेतृत्व की मान्यता का सही रूप विकसित होता है। अनेक बार यह देखा जाता है कि उपयुक्त परिस्थितियाँ होने पर भी एक व्यक्ति नेता नहीं बन पाता क्योंकि उसमें नेतृत्व के व्यक्तिगत गुणों का अभाव होता है। दूसरी ओर कई बार उचित परिस्थितियों के अभाव में भी अनेक प्रतिभाएँ कुण्ठित होती देखी गई हैं। फिर भी परिस्थितियों के निर्माण की एक सीमा होती है जिसके आगे व्यक्तिगत योग्यताएँ रुक जाती हैं। पिगोर्स की मान्यता है कि "नेतृत्व प्राय: परिस्थिति के अनुसार बनता या बिगड़ता है।"

बैवल्स तथा बैरिट (Bavelas and Barret) ने अनेक प्रयोगों के आधार पर यह बताया है कि सूचना के आदान-प्रदान की विभिन्न परिस्थितियों का नेतृत्व पर क्या प्रभाव पड़ता है? उनका मत है कि संगठन के सभी व्यक्ति सूचना के आदान-प्रदान का समान रूप से अवसर प्राप्त कर सकें तो कोई नेता पैदा नहीं हो सकेगा, लेकिन जो व्यक्ति अधिकाधिक आवश्यक सूचना प्राप्त कर सकता है वह कभी न कभी एक नेता बन जाएगा और इस प्रकार व्यक्तियों का बड़ा समूह भी अपने आपको इस प्रकार व्यवस्थित कर लेगा कि वह नेता बन सकेगा। बैवल्स तथा बैरिट के प्रयोग मुख्यतः मजदूरों के स्तर पर किए गए थे जिन्हें हम प्रबन्ध-स्तर पर ज्यों का त्यों लागू नहीं कर सकते। प्रबन्धात्मक स्तर में नेतृत्व के विकास के लिए परिस्थितियाँ बनने में संगठन की संरचना और सत्ता के निर्धारण का महत्वपूर्ण प्रभाव होता है। कई बार सगठन की सरचना ऐसी होती है जिसमें अधीनस्थ अधिकारी से उसके निम्न कार्यकर्ताओं द्वारा सहायता की आशा की जाती है। इस प्रकार की परिस्थिति के निर्माण से अधीनस्थ को नेता बनने का अवसर प्राप्त होता है। कुन्ट्ज तथा ओ'डोनेल ने इस प्रकार की स्थितियों को नेतृत्व के अवसर प्रदान करने का सिद्धान्त (The Principle of Leadership Facilitation) कहा है।[1] इस विचारधारा की आलोचना में यही तर्क दिया जाता है कि नेतृत्व केवल परिस्थितियों का ही परिणाम नहीं होता, अपितु यह तो एक अन्तर्निहित प्रवृत्ति होती है। परिस्थितियाँ तो नेतृत्व-क्षमता के विकास में अनुकूल और प्रतिकूल प्रभाव उपस्थित करती हैं।

---

1. *Harold Koontz and O'Donell*: Principles of Management, pp. 299 & 434.

3. अनुयायी विचारधारा (The Follower Theory)

यह नेतृत्व से सम्बन्धित तीसरी विचारधारा अनुयायियों के गुणों पर जोर देती है। एक नेता के आवश्यक गुणों पर विचार करते समय यह देखना चाहिए कि उसे जिन लोगों का नेतृत्व करना है उनका व्यक्तित्व कैसा है? उनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ क्या हैं? आदि। नेतृत्व किए जाने वाले व्यक्तियों का भी अध्ययन किया जाना जरूरी है। सैनफोर्ड (Sanford) का यह कहना बिल्कुल सही है कि "एक व्यक्ति के रूप में यह एक अनुयायी ही होता है जो नेता को समझता है, जो परिस्थितियों को समझता है और जो अंतिम रूप से नेता को स्वीकार या अस्वीकार करता है। अनुयायी के समझने के अभिप्राय, दृष्टिकोण, आदि का यह निश्चय करने में बहुत महत्त्वपूर्ण योग रहता है कि वह क्या समझेगा और उसके सम्बन्ध में क्या प्रतिक्रिया करेगा।"[1] हेमेन के अनुसार, "अनुयायियों की आवश्यकताओं का संतोष नेतृत्व करने की मान्यता का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है।"[2]

डेविस कीथ (Devis Keith) ने स्पष्ट किया है कि अनुयायियों का चरित्र एवं दृष्टिकोण नेताओं के भाग्य का निर्णायक होता है। नेता और अनुयायी के बीच का सम्बन्ध एक परिवर्तनशील सम्बन्ध है अर्थात् यह तभी तक रहता है जब तक कि अनुयायी की स्वार्थसिद्धि होती है। अनुयायी नेता को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का एक सर्वश्रेष्ठ साधन समझता है। जब भी कोई समस्या उत्पन्न होती है, वह उसका सहारा ढूँढ़ता है। एक समूह के सदस्य अपने नेता का अनुगमन इसलिए करते हैं क्योंकि उन्हें ऐसा करने से संतोष तथा अवलम्ब मिलता है। कोई भी व्यक्ति-समूह नेता के बिना एक इकाई के रूप में कार्य नहीं कर सकता।

इस प्रकार नेतृत्व की मान्यता (Concept of Leadership) के सम्बन्ध में उपर्युक्त तीन प्रमुख दृष्टिकोण हैं। ये तीनों अपने-आप में पूर्ण नहीं कहे जा सकते, क्योंकि प्रत्येक की अपनी सीमाएँ हैं। नेतृत्व का एक सही एवं वास्तविक दृष्टिकोण इन तीनों का समन्वित रूप समझा जाना चाहिए। जब नेतृत्व के स्वरूप पर विचार किया जाए तो उसे परिस्थितियों द्वारा प्रभावित, अनुयायियों के समूह द्वारा निश्चित और व्यक्तिगत विशेषताओं द्वारा निर्धारित माना जाना चाहिए। प्रो. हेमेन ने लिखा भी है कि "नेतृत्व एक व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं होती अपितु यह अनेक विभिन्नताओं, जैसे—दृष्टिकोण, आवश्यकता, अनुयायियों की व्यक्तिगत विशेषताओं, संगठन की विशेषताओं, परिस्थितियों, नेता के लक्षणों एवं विशेषताओं आदि का एक जटिल सम्बन्ध है।"[3] परिस्थितियों एवं अनुयायियों के चरित्र का प्रभाव एक व्यक्ति के नेता बनने तथा बने रहने पर बहुत अधिक रहता है, तथापि कई बार नेता के व्यक्तिगत गुण अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण और अनुयायियों के दिलों में नेता के प्रति विश्वास एवं श्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। इस सम्बन्ध में डगलस मैकग्रेगर (Douglas McGregor) ने लिखा है कि "एक पुराना तर्क कि नेता इतिहास को बनाता है या इतिहास नेता को बनाता है, इस मान्यता द्वारा तय हो चुका है कि ये दोनों ही कथन अपनी-अपनी सीमाओं में सत्य हैं।"[4]

नेतृत्व की आवश्यकताएँ

(The Requirements of Leadership)

'नेतृत्व' एक व्यक्ति को कुछ करने की सामर्थ्य प्रदान करता है, ऐसा शक्ति के साथ आवश्यक रूप से सम्बन्धित है। अनुयायियों द्वारा नेता की आज्ञाओं का पालन इसलिए किया जाता है कि वे उसे एक समर्थ, शक्तिशाली, योग्य एवं अपना सहायक मानते हैं। अतः जिन तथ्यों एवं अतिरिक्त तत्त्वों का किसी व्यक्ति को नेता बनाने, बनाए रखने एवं अच्छा नेता बनाने में सहयोग होता है उन्हें ही नेतृत्व का आधार अथवा उसकी आवश्यकताएँ कहा जा सकता है। प्रशासकीय नेतृत्व का अस्तित्व और उसकी सफलता जिन तत्त्वों पर आधारित हैं उनको व्यक्तिगत, राजनीतिक एवं संस्थागत—तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

1. बाह्य राजनीतिक अभिकरण—प्रशासकीय नेतृत्व के व्यवहार को निर्देशित एवं नियन्त्रित करने वाले बाह्य राजनीतिक अभिकरण होते हैं। प्रशासन द्वारा उठाए जाने वाले कदम तथा अपनाई जाने वाली नीतियाँ उस देश की राजनीतिक स्थिति एवं परम्पराओं का प्रतिबिम्ब होती हैं। प्रो. एपलबी के मतानुसार, प्रशासकीय नेतृत्व तीन प्रकार से राजनीतिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करता है—प्रथम, अधिकारी प्रशासकीय समस्याओं पर विचार करते

1. *Fillmore H. Sanford*: "Leadership Identification and Acceptance", In Groups, Leadership and Men, edited by Harnold Guetzkow, p. 259
2. *Haimann*: Op cit., p 445
3. *Haimann*. Op cit., p 446.
4. *Douglas Mc Gregor*: The Human Side of Enterprise, 1960, p 182.

समय उनको एक व्यापक रूप में देखता है। उसके अधिकांश निर्णय जनवादी नीति के अनुकूल होते हैं। द्वितीय, जब वह सार्वजनिक विषयों पर विचार करता है तो उसका दृष्टिकोण व्यक्तिगत न होकर जनवादी होता है। तृतीय एवं व्यक्तिगत हितों के आधार पर निर्णय लेने की अपेक्षा वह जनता की आवश्यकताओं एवं हितों से प्रभावित होता है। तृतीय, सार्वजनिक विषयों पर निर्णय लेते समय वह राजनीतिक दृष्टिकोण अपनाता है, अर्थात उन्हें जनता के सम्मुख रखने में संकोच नहीं करता। प्रशासकीय नेता के कार्यों पर व्यवस्थापिका में राजनीतिक आधार पर किए गए वाद-विवादों का भी महत्वपूर्ण प्रभाव रहता है। राजनीतिक दृष्टि से प्रशासकीय नेतृत्व में परिवर्तन व संशोधन आवश्यक हो जाता है। सरकारों में परिवर्तन के साथ ही उच्च स्तर के प्रशासनिक नेतृत्व में भी परिवर्तन और हेर-फेर अपरिहार्य बन जाता है।

2. संस्थागत आवश्यकताएँ—एक अच्छे नेतृत्व के लिए कुछ संस्थागत आवश्यकताओं की पूर्ति भी जरूरी होती है। इसके बिना कोई भी नेता अपने कार्यों को प्रभावी रूप में सम्पन्न नहीं कर सकता। प्रसिद्ध लेखक मिलेट का कहना है कि "नेतृत्व के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ दो हैं—राजनीतिक एवं संस्थागत। प्रशासकीय नेतृत्व की राजनीतिक परिस्थितियों से हमारा तात्पर्य बाह्य राजनीतिक निर्देशन तथा नियन्त्रण के प्रति सावचेत रहने की आवश्यकता से है।...... नेतृत्व की संस्थागत परिस्थिति से हमारा आशय आन्तरिक व्यवहार की योजनाओं के प्रति सचेत रहने तथा प्रशासनिक अभिकरण को गतिशील बनाए रखने की आवश्यकता से है।"[1]

3. अनुयायियों का सहयोग—नेता से यह अपेक्षित है कि वह अपने अनुयायियों का विश्वासपात्र बने और उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त कर अपनी नीतियों तथा कार्यक्रमों को व्यावहारिक रूप दे। अनुयायियों एवं साथी कार्यकर्त्ताओं का सहयोग प्राप्त करने के लिए उसने दो बातें आवश्यक होती हैं—प्रथम, उसे अनुयायियों में यह भावना विकसित करनी होगी कि उसके नेता में वे सभी गुण हैं जिनके आधार पर उनके हितों की रक्षा हो सकती है। द्वितीय, संस्थागत रूप से संगठन की व्यवस्था को एक विशेष रूप देना जरूरी है ताकि नेतृत्व सफलतापूर्वक कार्य कर सके। सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि संगठन के सभी कार्यकर्त्ता एक सुरक्षापूर्ण वातावरण में कार्य करें, अर्थात् कर्मचारी को अपना वेतन कम होने का भय न हो। अस्तु, उसे जहाँ अपना पद छूटने की आशंका रहती है तथा जहाँ उसका व्यक्तिगत अपमान किसी भी समय किया जा सकता है, वहाँ कर्मचारी अपने-आपको असुरक्षित अनुभव करता है। इस प्रकार के वातावरण में उस कार्यकर्त्ता के व्यक्तित्व की सभी विशेषताएँ पूर्णरूप से न तो निखर पाती हैं और न ही अभिव्यक्त हो पाती हैं। ऐसी स्थिति में उनका सक्रिय एवं रचनात्मक सहयोग नेतृत्व को प्राप्त नहीं हो सकता। भय, असुरक्षा, चुनौती एवं सन्देह के वातावरण में कर्मचारी अपने कार्यों में रुचि नहीं ले सकते। इसके फलस्वरूप अनुशासन की समस्या महत्वपूर्ण बन जाती है। दूसरे, संस्थागत रूप से नेतृत्व को प्रभावशाली एवं सफल बनाने के लिए यह भी उपयोगी होगा कि नेता एक विशेषज्ञ न होकर समस्त संगठन के बारे में सामान्य ज्ञान रखने वाला अधिकारी हो। ऐसा होने पर ही एक नेता अपने संगठन के प्रत्येक व्यक्ति की इच्छाओं एवं आकांक्षाओं को जान सकता है और उसे तदनुकूल व्यवहार करने में सुविधा रहती है।

अनुयायी-विचारधारा यह मानकर चलती है कि एक सफल नेता वह होता है जो वही सोचे जो उसके अनुयायी सोचते हैं, वह वही करे जो उसके अनुयायी करते हैं। अनुयायियों के व्यक्तित्व में एकाकार होने वाला नेता शीघ्र ही लोकप्रियता एवं प्रभाव प्राप्त कर लेता है। नेता एवं अनुयायी के बीच व्यक्तित्व की एकरूपता की स्थापना में स्वयं नेता द्वारा भी महत्वपूर्ण कदम उठाए जा सकते हैं। जनरल चार्ल्स पी. समेराल (General Charles P. Summerall) के मतानुसार, "एक नेता को वह सब कुछ बन जाना चाहिए जो वह अपने अधीनस्थों को बनाना चाहता है। लोग उसी रूप में सोचते हैं जैसा कि उनका नेता सोचता है। व्यक्ति यह जान सकते हैं कि उनका नेता कैसे सोचता है।"

नेतृत्व एकमार्गी प्रक्रिया नहीं है जिसमें केवल नेता को ही अपने संगठन की सामान्य जानकारी हो। संगठन के सदस्यों को भी नेता की नीतियों, नियमों एवं प्रक्रियाओं से परिचित रहना चाहिए। यह सुझाया जाता है कि नेता को नीति सम्बन्धी निर्णयों पर पहुँचने से पूर्व उस सम्बन्ध में अपने अधीनस्थों की राय एवं सुझाव जान लेने चाहिए। इस प्रक्रिया द्वारा नेता उन प्रतिकूल नीतियों को अपनाने के खतरे से बच जाएगा जिन्हें संगठन के सदस्य नहीं चाहते। साथ ही इस प्रकार निर्धारित नीतियों के प्रति कर्मचारियों में अपनत्व की भावना विकसित हो जाएगी। संगठन में नेता के कार्य को सुलभ बनाने तथा कर्मचारियों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिए एक अन्य संस्थागत व्यवस्था यह की जा सकती है कि कर्मचारियों को कुछ उत्तरदायित्व के साथ ही कुछ सत्ता भी प्रत्यायोजित की जाए, तभी हम यह आशा कर सकते हैं कि नेता को कर्मचारियों का पूरा सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

1. *Millett*: Op. cit., pp. 37-38.

नेतृत्व के प्रकार
(The Types of Leadership)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि नेतृत्व के अनेक रूप अथवा प्रकार होते हैं, यथा—राजनीतिक नेतृत्व (Political Leadership), प्रशासकीय नेतृत्व (Administrative Leadership), धार्मिक नेतृत्व (Religious Leadership), मानवीय नेतृत्व (Humanistic Leadership), परन्तु यहाँ नेतृत्व के अनेक रूपों से हमारा सम्बन्ध नहीं है। यहाँ केवल प्रशासकीय नेतृत्व ही हमारे अध्ययन का केन्द्रबिन्दु है। प्रशासकीय नेतृत्व को संगठन, प्रक्रिया, रूप आदि आधारों पर निम्नांकित भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. औपचारिक नेतृत्व (Formal Leadership)

नेतृत्व का यह रूप व्यक्ति के गुणों के प्रभाव, अनुयायियों की इच्छा एवं स्थितियों की अनुकूलता का परिणाम है। औपचारिक नेतृत्व को उच्च अधिकारियों द्वारा निर्मित किया जाता है। जब एक अध्यक्ष अपने पद पर नियुक्त होता है तो उसको निर्देशन, निरीक्षण, पर्यवेक्षण आदि के वे सब कार्य सौंप दिए जाते हैं, जो एक नेता को सम्पन्न करने होते हैं। जब एक पदाधिकारी को नेता के रूप में औपचारिक दृष्टि से नियुक्त कर दिया जाता है तो उसके सम्मुख अनेक समस्याएँ आती हैं। वह अपने अधीनस्थों को न समझने के कारण अनेक गलत निर्णय ले लेता है। इसके फलस्वरूप संगठन में उसके विरुद्ध असन्तोष का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। यदि अपने व्यक्तिगत गुणों द्वारा वह इस वातावरण का प्रतिरोध न करे तो वह एक नेता के रूप में अधिक दिन तक नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में औपचारिक रूप से नेता होते हुए भी वास्तविक रूप से वह नेता नहीं रहेगा। संभावना यह है कि ऐसी स्थिति में उसके किसी अधीनस्थ को संगठन के कर्मचारियों द्वारा नेता बना लिया जाएगा। औपचारिक नेता होने के लिए उच्च पद के अतिरिक्त एक व्यक्ति को समूह सदस्यों की स्वीकृति भी प्राप्त करनी होती है। उच्च पद के कारण एक औपचारिक नेता को वास्तविक नेता बनने में अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। उसके हाथ में अनेक ऐसे साधन होते हैं जिनके माध्यम से वह अपने नेतृत्व की धाक जमा सकता है। पहला साधन उसकी शक्ति है जिसके आधार पर वह आज्ञाकारी सदस्यों को पुरस्कृत एवं विरोधियों को दण्डित कर सकता है। दूसरे, उच्च पद के प्रति सदस्यों के मन में जो आदर की भावना होती है उसका पूरा-पूरा लाभ उठाते हुए वह सदस्यों की कुछ आवश्यकताओं को सन्तुष्ट कर उनके मन में अपने नेतृत्व की धाक जमा सकता है तथा उनकी स्वामिभक्ति से सम्मानित हो सकता है। तीसरे, प्रत्येक संगठन में गुटबंदी होना अनिवार्य है। इन गुटों के विरोधों का लाभ उठाते हुए संगठन का औपचारिक नेता उनसे इस प्रकार की सौदेबाजी कर सकता है जिसके फलस्वरूप उसका नेतृत्व अनुयायियों को मान्य हो सके। औपचारिक नेता के हाथ में एक चौथा विकल्प यह होता है कि वह ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दे जिसमें उसके लक्ष्य एवं उसके अधीनस्थों के लक्ष्य समान बन जाएँ।

2. अनौपचारिक नेतृत्व (Informal Leadership)

औपचारिक नेतृत्व एक व्यक्ति को उच्च पद सम्भालने के कारण अपने-आप ही प्राप्त हो जाता है। एक विभागाध्यक्ष (Head of the Department) अपने विभाग का एक औपचारिक नेता है, चाहे उसमें नेतृत्व के गुण हों अथवा न हों। जब औपचारिक नेतृत्व को संगठन के सदस्यों पर थोपा जाता है तो वे प्रायः सम्मान (Prestige), सत्ता (Authority), शक्ति (Power) आदि के कारण उसे स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु यह स्वीकृति केवल तभी प्राप्त हो पाती है जब औपचारिक नेता अपने गुणों द्वारा अनुकूल स्थितियों की रचना कर अपनी नीतियों एवं कार्यक्रमों को अधीनस्थों के हितों एवं लक्ष्यों के साथ एकाकार कर लेता है अन्यथा उसका औपचारिक नेतृत्व कुछ दिनों बाद प्रभावहीन हो जाता है।

प्रभावहीन औपचारिक नेतृत्व की पृष्ठभूमि में अनौपचारिक नेतृत्व (Informal Leadership) का विकास होता है। प्रो. हैमैन के अनुसार, अनौपचारिक नेता वह व्यक्ति होता है, जो संगठन में किसी सत्तापूर्ण औपचारिक स्थिति के बिना ही समूह के अन्य सदस्यों के व्यवहार को कल्पनात्मक रूप से प्रभावित कर सकता है और जिसके नेतृत्व के लिए समूह के सदस्य स्वेच्छा से अपना समर्पण कर देते हैं।[1] औपचारिक नेता की आवश्यकता कुछ विशेष परिस्थितियों का परिणाम होती है। साधारण स्थितियों में संगठन के सदस्य औपचारिक नेता द्वारा दिए गए आदेशों, निर्देशों एवं सुझावों को प्रायः स्वीकार कर लेते हैं। उसके द्वारा दिए गए पर्यवेक्षण, निरीक्षण, समन्वय एवं नियंत्रण आदि को निर्विरोध सहन कर लेते हैं, किन्तु जब संगठन में असाधारण स्थिति पैदा हो जाती है, जैसे—कर्मचारी-वर्ग के वेतन भत्ते, महँगाई, पदोन्नति तथा ऐसे ही अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर औपचारिक नेता की नीतियों एवं संगठन के कर्मचारियों की आकांक्षाओं के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाने पर औपचारिक नेता के नेतृत्व को चुनौती दी जाती है। इस प्रकार की चुनौतियों द्वारा अधीनस्थ कर्मचारी मुख्य अधिकारी को नेता मानने से इन्कार

1 Haimann: Op. cit., p. 450.

कर देते हैं और पद-सोपान में निम्न स्तर के किसी अधिकारी को, जो उनकी आकांक्षाएँ पूरी करने में सहायता दे सकता हो, अपना नेता मान लेते हैं। इस प्रकार बना हुआ नेता अनौपचारिक नेता कहलाता है। हरबर्ट साइमन आदि के अनुसार, एक 'स्वाभाविक नेतृत्व' (Natural Leadership) कह सकते हैं, जो अपनी व्यक्तिगत योग्यताओं की मान्यताओं के आधार पर प्रभाव स्थापित करता है।[1]

इस प्रकार अनौपचारिक नेतृत्व का परिस्थितियोंवश प्रादुर्भाव होता है। अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाने के बाद व्यक्ति के गुण भी उसे नेता बनने में सहायता प्रदान करते हैं। एक अनौपचारिक नेता के व्यक्तिगत गुणों का प्रभाव तभी हो सकता है जब उसके अनुयाइयों में यह विश्वास की भावना हो कि उसमें वे गुण मौजूद हैं। कई बार संगठन के सदस्यों द्वारा किया गया अनौपचारिक नेता का चुनाव सही नहीं होता। हेमैन के कथनानुसार, समूह के सदस्यों द्वारा नेता का चुनाव आवश्यक रूप से उसकी बौद्धिकता पर आधारित नहीं होता, वरन् समूह के कुछ सदस्यों की भावनाओं और विश्वासों पर निर्भर करता है।

अनौपचारिक नेता की शक्ति का आधार पद या स्थिति नहीं होती, बल्कि उसके अनुयायियों का यह विश्वास एवं भावना होती है कि वह उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायता दे सकता है। जब किसी भी संगठन के किसी सदस्य के सम्मुख कोई समस्या उपस्थित होती है तो वह निर्देशन एवं पथप्रदर्शन के लिए अनौपचारिक नेता के पास जाता है। यह जरूरी नहीं है कि अनौपचारिक नेता द्वारा अपनाई जाने वाली नीतियाँ एवं प्रक्रियाएँ औपचारिक नेता के समरूप हों। इसके विपरीत प्रायः इन दोनों में भिन्नता पाई जाती है। संगठन के अनौपचारिक नेता का वास्तविक प्रभाव होने के कारण औपचारिक नेता द्वारा उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कई बार वह अपनी शक्ति और पद के आधार पर अनौपचारिक नेतृत्व को दबाने की चेष्टा करता है फिर भी सामान्य रूप से एक बुद्धिमान उच्च अधिकारी वह समझा जाता है जो अनौपचारिक नेतृत्व का दमन करने की अपेक्षा संगठन के लक्ष्यों की दिशा में उसके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने का आश्वासन देता है।

3. सत्तावादी नेतृत्व (Authoritarian Leadership)

नेतृत्व का यह वह रूप है जिसमें निर्णय लेने तथा नीति निर्धारित करने में संगठन के सदस्यों की इच्छा को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। स्वयं नेता सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय अपनी इच्छानुसार लेता है। इस प्रकार के नेतृत्व में नेता और अनुयायी के बीच का सम्बन्ध सत्तापूर्ण प्रकृति का होता है। नेता का कार्य केवल निर्देशन करना और अनुयायियों का कार्य उन निर्देशनों के अनुसार अपने व्यवहार को संचालित करना होता है। नेता संगठन के सदस्यों की समस्याओं को कोई महत्त्व नहीं देता। उसका मुख्य सम्बन्ध कार्य से रहता है। ऐसे नेता की दृष्टि में 'आराम हराम' होता है। वह इस आदर्श को सामने रखकर कार्य की सम्पन्नता के लिए संगठन के कार्यकर्त्ताओं का भी आराम हराम कर देता है। संगठन के कार्यकर्त्ता अपनी समस्याओं एवं कठिनाइयों को भूलकर केवल काम में लगे रहें, यही इस प्रकार के नेतृत्व की सफलता का प्रतीक है। यदि कभी किसी सदस्य ने अपनी व्यक्तिगत समस्या को सामने रखा तो उसे संगठन-विरोधी तथा कार्य से जी चुराने वाला समझा जाता है।

सत्तावादी नेतृत्व की प्रकृति आक्रामक होती है। वह दमनकारी साधन अपनाकर संगठन में कार्यकुशलता लाने का प्रयास करता है। यदि किसी सदस्य द्वारा इस नेतृत्व के विरुद्ध कोई बात कही जाती है तो उसे दण्डित किया जाता है। सैनिक तानाशाही से संचालित प्रशासनिक व्यवस्थाओं में इसी प्रकार का नेतृत्व पाया जाता है। इस नेतृत्व के प्रति लोगों में स्वाभाविक श्रद्धा की भावना नहीं होती है, अपितु उसके विरुद्ध बराबर असंतोष भड़कता रहता है। इस प्रकार तानाशाही सत्तावादी नेतृत्व संगठन के सदस्यों में असन्तोष की चिनगारियाँ उत्पन्न कर देता है, जो ऊपर से दिखाई न देकर भी एक भयंकर ज्वाला का रूप धारण करने की सामर्थ्य रखती है। दमनकारी नेतृत्व के अधीन संगठन की क्रियाओं में व्यक्ति का व्यक्तित्व नहीं निखर पाता और नेतृत्व पर सदस्यों की निर्भरता बढ़ जाती है। पदसोपान तथा आदेश की एकता आदि सिद्धांतों में विश्वास रखने वाली संगठन की परम्परावादी विचारधारा मूलरूप से सत्तावादी नेतृत्व का समर्थन करती है। नेतृत्व का यह सत्तावादी रूप बहुत कुछ अपने संगठन की रचना पर निर्भर करता है।

4. प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व (Democratic Leadership)

नेतृत्व का एक अन्य रूप प्रजातन्त्रात्मक है जिससे संगठन के सभी सदस्यों को संगठन के कार्यों में योग देने का अवसर प्रदान किया जाता है। इसे 'सहभागी' नेतृत्व (Participatory Leadership) या 'परामर्शात्मक नेतृत्व' (Consultative Leadership) भी कहते हैं। इसमें जब एक नेता निर्णय लेता है तो वह अपने अधीनस्थों की राय जान लेता है। कई संगठनों में यह व्यवस्था होती है कि निर्णय लेने के पूर्व सदस्यों द्वारा अपने सुझाव अध्यक्ष के पास भेज दिए जाते हैं और वह इन सुझावों के आधार पर नीति एवं कार्यक्रम सम्बन्धी निर्णय लेता है।

1. *Simon, Smithburg and Thompson* : Public Administration, p 104

नेतृत्व का यह रूप कर्मचारियों के हित एवं उनके सक्रिय सहयोग पर बहुत अधिक बल देता है। प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व की सफलता इस बात से आँकी जाती है कि उसने अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को कार्य की ओर किस प्रकार प्रेरित किया। यह नेतृत्व तभी कार्यकुशल बन पाता है जब उसके सदस्य स्वेच्छा से अपना कार्य करें। प्रेरणा देना (To motivate) तथा चरित्र-निर्माण करना इस नेतृत्व के मुख्य कार्य हैं। प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व को ही नेतृत्व का सही रूप समझा जाता है। नेतृत्व का यह रूप सत्तावादी नेतृत्व की भाँति सत्ता और शक्ति के बल पर कार्य नहीं लेता। इसमें व्यक्ति को समझाया जाता है, उसे आकर्षित किया जाता है और कार्य के प्रति उसके मन में रुचि पैदा की जाती है।

प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व में नेता बहुत अच्छा सहनशील श्रोता होता है। वह अधीनस्थों की राय को माने या न माने, यह दूसरी बात है, किन्तु महत्वपूर्ण यह है कि अपने मन में यह धारणा बना लेता है कि उसके द्वारा लिए गए निर्णय अधीनस्थों की ही इच्छा की अभिव्यक्ति है। एक अच्छा तथा कुशल प्रजातन्त्रात्मक नेता वह है जो अपनी इच्छाओं एवं निर्णयों को संगठन में इस प्रकार प्रकट करता है कि वे सामान्य स्वीकृति प्राप्त करे लें। प्रजातन्त्रात्मक नेता व्यक्तिगत गुणों के प्रति सजग रहते हुए भी उनको महत्व नहीं देता अथवा अधिक महत्व देता हुआ नहीं लगता। इससे भिन्न वह सामूहिक एवं मैत्रीपूर्ण विचारों से अपने व्यवहारों को संचालित करता है। प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व प्रायः मजदूर-संघों एवं अन्य स्वेच्छाचारी समुदायों में अधिक सम्भव होता है। जिन संगठनों में अन्तिम शक्ति काम करने वालों के हाथों में निहित रहती है वे प्रायः इस प्रकार के नेतृत्व को अपनाते हैं। लोकतान्त्रिक देशों में प्रशासनिक नेतृत्व पाया जाता है।

5. बाहरी नेतृत्व (Leadership from Outside)

संगठन में कई बार ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जब उसके सदस्य संगठन के ही किसी व्यक्ति को नेता मानना उचित नहीं समझते तथा संगठन के बाहर का व्यक्ति नेतृत्व करने के लिए नियुक्त किया जाता है। यह बाहरी व्यक्ति या तो किसी अन्य संगठन का उच्च अधिकारी होता है या राजनीतिक क्षेत्र का माना हुआ व्यक्ति। बाहरी नेतृत्व का रूप प्रायः सामूहिक भी होता है जबकि समूह की समिति या बोर्ड संगठन के नेतृत्व के कार्य को सम्पन्न करते हैं। बाहरी नेतृत्व का एक दूसरा रूप यह है जब संगठन की एक इकाई के सदस्य अपने में से किसी व्यक्ति को नेता न बनाकर संगठन की ही दूसरी इकाई के किसी व्यक्ति को नेतृत्व का कार्य सौंप देते हैं। इस व्यवस्था का सबसे बड़ा गुण यह है कि बाहरी नेतृत्व से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निष्पक्षता से कार्य करेगा और संगठन के सदस्य उसे अधिक सम्मान और श्रद्धा प्रदान करेंगे। दूसरी ओर, इसका सबसे बड़ा खतरा यह है कि संगठन के बाहर का सदस्य प्रायः उनकी वास्तविक कठिनाइयों से अपरिचित रहता है और उसके द्वारा लिए जाने वाले निर्णय समस्याओं के वास्तविक धरातल को नहीं छू पाते।

पदसोपान की दृष्टि से बाहरी नेतृत्व का अर्थ उस व्यवस्था से भी लिया जाता है जहाँ किसी वरिष्ठ अधिकारी को एक समूह द्वारा अपना नेता मान लिया जाता है। किसी वरिष्ठ अधिकारी को नेतृत्व सौंपने से संगठन में नेतृत्व के प्रति अधिक विश्वास की सम्भावना बन जाती है। अधिकांश कर्मचारी नेता को इसलिए मानते हैं क्योंकि वह अनुभव, ज्ञान तथा उम्र की दृष्टि से एक वरिष्ठ अधिकारी है, लेकिन वरिष्ठ अधिकारी की एक प्रमुख कमजोरी यह होती है कि वह संगठन के सदस्यों में पर्याप्त उत्साह (Enthusiasm) उत्पन्न नहीं कर पाता और इस प्रकार उसका नेतृत्व सफलता की परिधि से बाहर ही रह जाता है।

6. आन्तरिक नेतृत्व (Internal Leadership)

नेतृत्व की इस व्यवस्था में एक नेता या तो संगठन के अन्दर का होता है या उसी इकाई का होता है अथवा उस समूह के लोगों में से ही होता है। आन्तरिक नेतृत्व के प्रायः वे सभी लाभ हैं जो बाहरी नेतृत्व की हानियाँ हैं। जब एक नेता नेतृत्व किए जाने वाले व्यक्तियों में से ही लिया जाता है तथा उन्हीं के स्तर का होता है तो यह आशा की जाती है कि वह संगठन के सदस्यों की समस्याओं को अच्छी प्रकार समझ सकेगा और उन्हें सुलझाने में अपना सक्रिय सहयोग देगा। लोगों के दिल में अपने समूह के व्यक्तियों के प्रति एक प्रेम-भाव होता है। जिन परिस्थितियों में से व्यक्ति निकला हुआ होता है उन परिस्थितियों में उलझे हुए व्यक्ति के प्रति उसके मन में सहज प्रेम और सहानुभूति की भावनाएँ विकसित हो जाती हैं।

इस सम्बन्ध में एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि नेता महत्वाकांक्षी व्यक्ति है तो संगठनों के अन्य सदस्यों के साथ एकरूपता कायम नहीं कर पाता। ऐसी परिस्थिति में समूहों के सदस्यों का कल्याण तथा उसके सदस्य नेता की भलाई तथा व्यक्तिगत स्वार्थों से कम महत्वपूर्ण बन जाते हैं। महत्वाकांक्षी नेतृत्व के अधीन कार्य करने वालों को यह अनुभव होता रहता है कि उनके सुझाव इसलिए नहीं माने गए क्योंकि ऐसा करने से नेता का भविष्य (Career) खतरे में पड़ सकता था। इसके विपरीत जब नेता महत्वाकांक्षी नहीं होता और उसके सामने आगे बढ़ने के अवसर नहीं रहते तो वह अपने कार्य में पूरी रुचि लेता है। ऐसा नेता उचित रूप से अपने अधीनस्थों

के साथ एकाकार हो जाता है और उनके हितों की रक्षा के लिए वह यथाशक्ति सब कुछ करने को तैयार रहता है। नेतृत्व के इन प्रकारों को हम विभिन्न प्रशासनिक संगठनों में देख सकते हैं।

नेता के कार्य
(The Functions of a Leader)

किसी भी संगठन में नेता को बहु-आयामी कार्यों का निर्वाह करना पड़ता है। एल. उर्विक (L. Urwick) ने नेतृत्व के कार्यों को कई भागों में विभाजित किया है। उनके मतानुसार एक नेता को निम्नानुसार कार्य करने चाहिए—

1. प्रतिनिधित्व करना (To Represent)—नेता अपने संगठन का प्रतिनिधित्व करता है। संगठन के सदस्यों को उसमें संगठन का पूर्ण व्यक्तित्व दिखाई देता है। किसी प्रकार की समस्या उत्पन्न होने पर वे उसी के पास विचार-विमर्श एवं सुझाव के लिए जाते हैं। संगठन के बाहर भी नेता संगठन के हितों एवं विचारों का प्रवक्ता होता है। संगठन एक अमूर्त विचार (Abstract Idea) है और नेता के रूप में ही यह अमूर्त विचार अभिव्यक्त होता है। यदि किसी संगठन की प्रशंसा या उसके कार्यों की आलोचना करनी हो तो इसके लिए नेता की प्रशंसा या आलोचना करनी होगी। जब लोग संगठन का नाम लेते हैं तो वास्तव में वे नेता का उल्लेख कर रहे होते हैं।

2. पहल करना (To Initiate)—संगठन के कार्यों को स्वस्थ रूप में सम्पन्न करने तथा उसे प्रगति की ओर अग्रसर करने के लिए नेता को नये विचार एवं प्रक्रियाओं में पहल करनी होती है। ये सभी नवीन विचार उसके स्वयं के भी हो सकते हैं और दूसरों के भी। संगठन के अन्य सदस्य यदि कोई महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत करते हैं तो नेता को चाहिए कि उन्हें अपनाकर अधिक से अधिक उपयोग में लाए। नेता के मुँह से कही गई बात प्राय: प्रभावशील होती है अन्यथा महत्त्वपूर्ण होते हुए भी वह प्रभावशाली रूप में ही समाप्त हो जाती है। नेता का यह उत्तरदायित्व है कि वह ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करे जिनमें संगठन के सभी सदस्य पहल करने की प्रक्रिया में भाग ले सकें।

3. उद्यम का प्रशासन करना (To Administer the Undertaking)—नेता का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह संगठन के कार्यों का सुचारू रूप से प्रशासन सम्भाले। जहाँ तक अनौपचारिक नेतृत्व (Informal Leadership) का सम्बन्ध है उसका यह एक प्रमुख कार्य है जिसे सम्पन्न करने का उत्तरदायित्व वैधानिक रूप से भी उसी के कन्धों पर रहता है, किन्तु अनौपचारिक नेतृत्व को यह कार्य करना चाहिए या नहीं इस सम्बन्ध में लेखकों ने अलग-अलग विचार प्रस्तुत किए हैं। कुछ का कहना है कि नेता तब तक नेता नहीं माना जा सकता जब तक कि वह प्रशासकीय क्रियाओं में सक्रिय रूप से भाग न ले। अन्य कुछ लोगों का मत है कि नेता का कार्य प्रशासकीय क्षेत्र में केवल कुछ कार्यवाहियों तक ही सीमित रहता है। जब तक एक नेता भविष्यवाणी तथा नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय, नियन्त्रण आदि कार्यों से अपने आपको सम्बन्धित नहीं रखता तब तक वह नेता कहलाने का अधिकारी नहीं है। जब एक संगठन में प्रशासकीय स्तर निम्न कोटि का होता है तो उसे नेतृत्व की कमजोरी कहा जाता है। व्यवस्था का नियम या शासन, असफल हो जाने पर संगठन और नेतृत्व दोनों पृष्ठभूमि में चले जाते हैं। इस प्रकार से किसी भी उद्यम अथवा उपक्रम के प्रशासन के संचालन करने में नेतृत्व की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

4. व्याख्या करना (To Interpret)—नेता का यह भी एक कार्य है कि संगठन के कार्यों तथा प्रक्रियाओं को सभी सदस्यों के सामने स्पष्ट करे। जब संगठन में कोई नया कदम उठाया जाता है तो संगठन के सदस्यों में उससे सम्बन्धित अनेक अनुमान लगाए जाते हैं। प्रमाणहीन, निराधार एवं भ्रमपूर्ण अनुमान कालान्तर में संगठन के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं। इसलिए नेता का यह मुख्य कर्तव्य है कि वह अनुमानों की सम्भावनाओं को कम से कम कर दे तथा संगठन की व्यवस्था में किए जाने वाले प्रत्येक परिवर्तन का कारण कम से कम उन सभी को स्पष्ट कर दे जो प्रशासनिक क्रियाओं में उसकी सहायता करते हैं। संगठन के परिवर्तनों की सूचनामात्र देना ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि केवल सूचना प्राप्त करने पर संगठन के अधिकारी उसका ऐसा अर्थ भी लगा सकते हैं जो संगठन के हित में न हो। इसलिए नेता को चाहिए कि वह सदस्यों के सम्मुख परिवर्तनों की व्याख्या इस रूप में करे कि अधिकांश सदस्यों को वह मान्य हो सके तथा बहुत से लोग अपना ऐच्छिक सहयोग प्रदान कर सकें। संगठन के सदस्यों में कार्य के प्रति उत्साह पैदा करना एक अच्छे नेता की विशेषता मानी जाती है जिसे केवल निर्देशनों एवं आज्ञाओं के सहारे प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए नेता को एक शिक्षक भी होना पड़ता है।

5. उद्देश्य निश्चित करना (To Decide the Objectives)—नेता चाहे औपचारिक हो अथवा अनौपचारिक, उसकी नीति का एक उद्देश्य होता है जो कभी-कभी तो नेता को बना हुआ मिलता है और कभी वह उसे स्वयं बनाता है। कई बार संगठन में अपनी प्रसिद्धि तथा गुणों के कारण एक व्यक्ति नेता बन जाता है।

उसके पश्चात् अपने नेतृत्व को सार्थक बनाने के लिए वह कुछ उद्देश्य निर्धारित कर लेता है ताकि जिनकी प्राप्ति कर वह अनुयायियों को अपने पक्ष में ले सके और अपने नेतृत्व की जड़ों को गहरी जमा सके। उद्देश्य चाहे नेता द्वारा निर्धारित किया गया हो अथवा उसको बना हुआ प्राप्त हुआ हो, वह तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि अनुयायियों का सक्रिय सहयोग उसे न मिले। यह तभी संभव है जब नेता संगठन के लक्ष्यों, अपनी नीतियों एवं प्रक्रियाओं को अनुयायियों के सम्मुख स्पष्ट प्रस्तुत करे। उद्देश्य सामने रहने पर ही अनुयायियों का मनोबल बढ़ता है, वे अपने प्रयास को कुछ सार्थक समझने लगते हैं। उद्देश्यों की अस्पष्टता नेतृत्व की सफलता और सार्थकता के आगे प्रश्न-चिह्न लगा देती है।

6. संगठन में एकता (Unity Among Organization)—नेता को चाहिए कि वह संगठन के विभिन्न सदस्यों के बीच एकता स्थापित करे। किसी भी संगठन में प्राय अलग-अलग दृष्टिकोणों और मनोदशाओं वाले कर्मचारी रहते हैं और उनके लक्ष्य, आदर्श, सामाजिक पृष्ठभूमि, प्रशिक्षण, व्यक्तिगत मूल्य आदि में मौलिक अन्तर रहता है। इस स्थिति में उनके बीच मनमुटाव और संघर्ष उत्पन्न होना स्वाभाविक है। नेता का व्यक्तित्व संगठन की इन समस्त भिन्नताओं को ध्यान में रखते हुए एक समायोजित व्यवहार की रचना करता है ताकि प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से अधिक संतोष प्राप्त हो सके तथा कम से कम समस्याएँ अनसुलझी रहें। हेमफिल (Hemphill) के अनुसार, एक नेता का मूल कार्य यह होता है कि संगठन में एकता और सामंजस्य की दिशा में कार्य करे तथा यह देखे कि उनके सदस्य प्रसन्नता एवं संतोष अनुभव कर रहे हैं अथवा नहीं।[1] संगठन में एकता स्थापित करना नेता का प्राथमिक कार्य माना जाता है।

7. अनुयायियों को समझना (To Understand the Followers)—अनुयायियों को समझना एक अच्छे नेता का कार्य भी है और गुण भी। कार्य के रूप में इसका महत्व अप्रत्यक्ष है क्योंकि इसके द्वारा नेतृत्व के अन्य उत्तरदायित्वों का मार्ग सुगम बन जाता है। अनुयायियों को जानने अथवा समझने के लिए एक नेता को कई प्रकार के कदम उठाने पड़ते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के ओहियो (Ohio) राज्य में नेतृत्व सम्बन्धी कुछ प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि नेतृत्व के तीन प्रमुख कार्य होते हैं— (1) लक्ष्य की प्राप्ति (Objective Attainment), (2) समूह के सम्बन्धों को सुविधाजनक बनाना (Group Interactions Facilitations) तथा (3) सदस्यता का अनुरक्षण (Maintenance of Membership)। एक संगठन के नेता को ऐसा वातावरण बनाना होता है जिसमें उसके सभी सदस्य प्रभावी रूप से क्रिया-प्रतिक्रिया कर सकें। संचार-साधनों द्वारा यह कार्य सम्भव बन जाता है। एक नेता को अपने समूह के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखने होते हैं तथा इस प्रकार की व्यवस्था करनी होती है कि संगठन का प्रत्येक सदस्य जब चाहे उससे मिल सके और अपनी समस्याएँ उसके सम्मुख रख सके। थामस गोर्डन (Thomas Gordan) के अनुसार एक समूह के सम्भावित नेता को यह जानना चाहिए कि उसका समूह क्या चाहता है तथा उसे समूह को लक्ष्य के निकट लाने के लिए कुछ योग देना चाहिए।[2]

8. निर्णय लेना (Decision Making)—निर्णय लेने की क्षमता से नेता का महत्त्व आँका जा सकता है। नेता के निर्णयों की प्रक्रिया अनेक प्रकार की हो सकती है। निर्णय की प्रक्रिया के आधार पर ही नेतृत्व को सत्तावादी, प्रजातन्त्रात्मक एवं अन्य रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रजातन्त्र के इस युग में प्राय वही निर्णय अधिक श्रेष्ठ समझा जाता है जो अनुयायियों की राय जानकर लिया गया हो। निर्णय लेते समय नेता परिस्थिति का अध्ययन करता है, अधीनस्थों की माँगों पर विचार करता है और उच्चाधिकारियों की प्रतिक्रिया का अनुमान लगाता है। अनौपचारिक नेता द्वारा लिए गए निर्णय प्राय प्रजातन्त्रात्मक प्रकृति के होते हैं जिनमें निर्णय लेने से पूर्व प्रभावित लोगों के सुझाव माँगे जाते हैं। नेता का निर्णय प्राय तभी प्रभावशील होता है जब वह समूह की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करे और उच्च अधिकारियों के दृष्टिकोण से अधिक विपरीत न हो। नेता द्वारा जो निर्णय लिए जाते हैं वे उसके व्यक्तिगत विचार, मूल्य, आदर्श एवं लक्ष्यों से प्रभावित होने के साथ ही अन्य अनेक दृष्टियों एवं अदृश्य तत्वों से प्रभावित होते हैं। सम्भवत इसी कारण निर्णय लेने के कार्य को किसी प्रक्रिया में एक क्षण (A moment in a process) कहते हैं। निर्णय की यह परिभाषा नेतृत्व के महत्त्व को कम नहीं करती क्योंकि इस क्षण को लाने में वह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। संगठन के नेता को अनेक प्रकार के निर्णय लेने पड़ते हैं। संगठन की सफलता और शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि वह निर्णय लेने में कितना सक्षम है।

9. उचित स्थान पर उचित व्यक्ति (Appropriate Man at the Appropriate Place)— प्रशासकीय संगठनों की सफलता एवं असफलता इस बात पर निर्भर करती है कि किसी पद पर कार्य करने वाला व्यक्ति उस पद से सम्बन्धित उत्तरदायित्वों को निभाने की योग्यता रखता है अथवा नहीं। इसलिए उपयुक्त व्यक्ति को

1. *John K Hemphill* : Situational Factors in Leadership, p 79
2. *Thomas Gordan* : Group-Centred Leadership, *1955*, p *51*.

उपयुक्त स्थान पर नियुक्त करना एक नेता का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य होता है। ऐसा करके ही संगठनों में उपलब्ध प्रतिभाओं का सही उपयोग किया जा सकता है।

10. कार्यों का मूल्यॉकन (The Work-Assessment)—संगठन के नेता को अपने विभिन्न सदस्यों के कार्यों का समय-समय पर मूल्यॉकन करते रहना चाहिए। मूल्यॉकन से यह ज्ञात हो जाता है कि एक पदाधिकारी अपने पद के लिए उपयुक्त है अथवा नहीं। यदि नेता यह अनुभव करे कि पदाधिकारी अपने वर्तमान पद की अपेक्षा किसी अन्य पद पर अच्छी तरह कार्य कर सकेगा तो उसे वहीं नियुक्त कर देना चाहिए। कार्य का मूल्यॉकन करने के बाद यदि नेता द्वारा अच्छे कार्य की प्रशंसा तथा बुरे कार्य की आलोचना की जाए तो यह सम्भव है कि संगठन के कार्यकर्त्ताओं में एक सकारात्मक उत्साह उत्पन्न हो। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि उसके कार्यों की प्रशंसा की जाए। सराहना के बिना योग्य एवं समर्थ व्यक्ति भी कार्य के प्रति उदासीन तथा निरुत्साहित हो जाता है। कार्य का मूल्यॉकन संगठन के सदस्यों को उदासीन होने से रोकता है। कार्यों का उचित मूल्यॉकन होने पर व्यक्ति अधिक जोश और उत्साह के साथ कार्य करता है।

11. नैतिक भावनाओं का विकास (Encouragement of Moral Feelings)—एक नेता अपने अनुयायियों का पूरा सहयोग प्राप्त करने के लिए उनकी भावनाओं को उद्वेलित करता है। यद्यपि नेतृत्व को औपचारिक अथवा अनौपचारिक रूप में कुछ सत्ता प्राप्त होती है। यह सत्ता उसे एक सफल तथा सर्वश्रेष्ठ नेतृत्व बनने में सहायता नहीं दे सकती। सत्ता एवं अधिकार के आधार पर किसी व्यक्ति को कार्य करने के लिए बाध्य किया जा सकता है, किन्तु उसके स्वेच्छापूर्ण व्यवहार को प्रेरित नहीं किया जा सकता। नेतृत्व का वास्तविक रूप बाध्यकारी नहीं होता। संगठन के सदस्यों को कार्य की ओर प्रेरित करना (To Motivate) एक नेता का प्रमुख कार्य है। इसे वह कई प्रकार से सम्पन्न करता है। वह संगठन के सदस्यों में ऐसी भावनाएँ विकसित कर देता है जिससे वे यह सोचने लग जाएँ कि नेता का अनुगमन करना, उसकी आज्ञाओं का पालन करना, उसकी नीतियों एवं कार्यक्रमों को सफल बनाने में यथाशक्ति सहयोग देना उनका एक नैतिक कार्य है। इस नैतिक कार्य का निर्वाह उन्हें संगठन की भलाई, नेता की भलाई तथा स्वयं की भलाई की ओर प्रेरित करेगा।

अपने अनुयायियों में नेता द्वारा दो प्रकार से प्रेरणा उत्पन्न की जा सकती है—(i) निषेधात्मक (Negative) और (ii) विधेयात्मक या सकारात्मक (Positive)। कीथ डेविस (Keith Davis) के मतानुसार विधेयात्मक नेता लोगों को संतुष्ट कर प्रेरित (Motivate) करता है। निषेधात्मक नेता उनमें असन्तोष, असुरक्षा और भय उत्पन्न कर प्रेरित करता है।[1] विधेयात्मक नेता केवल आज्ञाएँ ही प्रसारित नहीं करता बल्कि उनकी व्याख्या करता है, कर्मचारियों में उनका पालन करने की सामर्थ्य विकसित करता है, साथ ही आवश्यक सत्ता का प्रत्यायोजन करता है। जब कर्मचारियों को वह स्पष्ट कर देता है कि एक विशेष कार्य क्यों करना चाहिए तो कर्मचारी-वर्ग उत्साह तथा रुचि के साथ उस कार्य में लग जाते हैं। वह एक व्यक्ति को वही कार्य सौंपता है जिसे वह योग्यतापूर्वक सम्पन्न कर सकता हो।

उसका यह दृष्टिकोण रहता है कि यदि लोगों को अवसर और प्रेरणा प्राप्त हो तो वे स्वेच्छा से अच्छा कार्य करना चाहेंगे। दूसरी तरफ निषेधात्मक नेता अपनी शक्ति के प्रयोग द्वारा लोगों में डर की भावना पैदा करता है। वह काम लेने के लिए कर्मचारियों को पद से हटा देने, दूसरों की उपस्थिति में धमकी देने तथा अन्य प्रकार के दण्ड देने की नीति अपनाता है। इस प्रकार का नेता यह विश्वास बना लेता है कि उसने सभी को आतंकित कर दिया है। डेविस के अनुसार, वह एक बॉस (Boss) है, नेता नहीं। वह निषेधात्मक दृष्टिकोण अपनाता है, क्योंकि वह समझता है कि लोगों को सहयोगपूर्ण तथा उत्पादनशील बनाने के लिए विवश किए जाने की आवश्यकता है वे स्वाभाविक रूप से ऐसा करना नहीं चाहते।[2]

इन दोनों प्रकार के नेतृत्व में कर्मचारियों का भी नेता के प्रति व्यवहार भिन्न होता है। निषेधात्मक नेतृत्व में कर्मचारी संगठन के कार्यों पर ध्यान देने की अपेक्षा नेता को प्रसन्न करने में प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसा नेतृत्व लोगों की शक्ति को अनावश्यक कार्यों में व्यय करता है और उनमें चिन्ता उत्पन्न कर रचनात्मक कार्यों की क्षमता को घटाता है। दूसरी ओर विधेयात्मक नेतृत्व कर्मचारियों की शक्ति में कई गुणा वृद्धि कर देता है। यह तो सच है कि दोनों ही प्रकार के नेतृत्व अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं, किन्तु कालान्तर में गुण और संख्या में विधेयात्मक नेतृत्व की प्राप्तियाँ निषेधात्मक नेतृत्व की अपेक्षा अधिक होती हैं। कभी-कभी निषेधात्मक नेतृत्व आवश्यक भी बन जाता है, किन्तु आजकल प्रशिक्षण, प्रक्रिया आदि में विकास के कारण विधेयात्मक नेतृत्व की परिस्थितियों का अधिक विस्तार हो रहा है।

1-2. *Keith Davis* : Human Relations at Work, p. 112.

नेतृत्व के आवश्यक गुण
(The Essential Qualities of Leadership)

नेतृत्व से सम्बन्धित व्यक्तिगत गुणों के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। चेस्टर बर्नार्ड इन गुणों को गतिशील मानते हैं जो परिस्थिति, आवश्यकता तथा समय के साथ बदलते रहते हैं। डेविस के अनुसार, व्यक्तिगत विशेषताएँ बदलती हुई स्थितियों और नेतृत्व किए जाने वाले व्यक्तियों की सम्पूर्ण प्रतिक्रियाओं का एक अंग होती हैं।

नेतृत्व के आवश्यक गुणों का वर्णन विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। व्यापारिक नेतृत्व (Business Leadership) के लिए आवश्यक गुणों का वर्णन करते समय रॉबर्ट वाल्ड (Robert Wald) तथा राय डोटी (Roy Doty) ने बताया है कि नेता को अपनी वर्तमान पारिवारिक इकाई से सम्बन्धित रहना चाहिए, उसे औसत से कुछ अधिक शिक्षित होना चाहिए, सामाजिक संगठनों का नेता होना चाहिए, उच्च नैतिक स्तर के विकास के लिए धर्म में रुचि लेनी चाहिए और उसका स्वास्थ्य अच्छा रहना चाहिए।[1] इन विशेषताओं में से अधिकांश का तो कोई महत्व नहीं है और सफल नेतृत्व के लिए अनिवार्य भी नहीं है। कीथ डेविस (Keith Davis) ने एक सफल व्यापारिक नेतृत्व से सम्बन्धित चार गुणों का वर्णन किया है—प्रथम, बुद्धि, द्वितीय, सामाजिक परिपक्वता, तृतीय आन्तरिक प्रेरणा (Inner Motivation); चतुर्थ मानवीय सम्बन्ध दृष्टिकोण (Human Relations Attitude)।

सर विलियम स्लिम के विचार

नेतृत्व के लिए आवश्यक गुणों का वर्णन करते समय फील्ड मार्शल सर विलियम स्लिम ने निम्नांकित पाँच गुणों का उल्लेख किया है[2]—

1. साहस (Courage)—नेता में महत्वपूर्ण कार्य करने के लिए साहस होना चाहिए। नेता को कई बार ऐसे कार्य करने होते हैं जिनकी प्रकृति क्रान्तिकारी होती है। नेतृत्व का अधिकांश व्यवहार पहल (Initiative) से प्रभावित रहता है। साहस को सभी सद्गुणों का आधार समझा जाता है। एक उच्च श्रेणी का नेता नैतिक साहस से उत्पन्न होना चाहिए।

2. इच्छा-शक्ति (Will-power)—एक नेता का उत्तरदायित्व है, कुछ कार्यों को सम्पन्न करना। नेता के कार्य कठिनाइयों तथा समस्याओं से पूर्ण होते हैं जिनमें बाधाओं और विरोधों पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रबल इच्छा-शक्ति की आवश्यकता होती है।

3. मस्तिष्क की लोचशीलता (Flexibility of Mind)—जो संगठन समय की आवश्यकताओं के अनुरूप अपने आपको नहीं ढाल पाता वह अपना महत्त्व एवं अस्तित्व खो देता है। परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको तथा संगठन को ढाल लेना एक नेता का विशिष्ट गुण है।

4. ज्ञान (Knowledge)—संगठन के सफल नेता को अपने संगठन की प्रत्येक गतिविधि का ज्ञान रहना चाहिए। उसे विभिन्न मजदूरों एवं कठिनाइयों से परिचित रहना चाहिए तथा यह जानकारी होनी चाहिए कि किसी विशेष कार्य में कितना समय लगेगा और कार्यकर्ताओं को किस प्रकार की सहायता प्रदान करनी होगी।

5. ईमानदारी—ईमानदारी नेता का वह गुण है जो दूसरे गुणों की सिद्धि सम्भव बनाता है। ईमानदारी के व्यवहार के कारण नेता संगठन के सदस्यों का विश्वासपात्र बन जाता है।

हेनरी फेयोल के विचार

हेनरी फेयोल के द्वारा उल्लिखित गुण भी महत्त्वपूर्ण हैं।[3] उन्होंने एक सफल नेतृत्व के लिए निम्नांकित विशेषताओं को स्थान दिया है—

1. स्वास्थ्य और शारीरिक सामर्थ्य (Health and Physical Fitness)।

2. मानसिक शक्ति (Mental Vigour)।

3. नैतिक गुण (Moral Qualities), जैसे—कर्तव्य का ज्ञान, सामान्य हित की भावना, स्थिरता, एकसा व्यवहार, विचारपूर्ण निर्णय एवं उत्तरदायित्व स्वीकार करने का साहस।

4. सामान्य शिक्षा (General Education)।

5. प्रबन्धात्मक योग्यता (Managerial Ability), अर्थात् दूरदर्शिता, कार्य की योजना बनाने की सामर्थ्य, संगठन की रचना का ज्ञान, आदेश देने एवं व्यक्ति से कार्य लेने की कला, समन्वय एवं सभी कार्यों के बीच सामंजस्य पैदा करना एवं नियंत्रण।

---

1 *Robert M. Wald and Roy A. Doty*: The Top Executive A First hand Profile, p 53

2 *Field Marshall Sir William Slim* Leadership, An Address to the Sydney, Division of the Australian Institute of Management, Nov., 1953

3 *Henry Fayol* General and Industrial Management

चेस्टर बर्नार्ड के विचार

चेस्टर बर्नार्ड ने एक सफल नेतृत्व के लिए निम्नलिखित आवश्यक गुणों का उल्लेख किया है[1]—

1. जीवन-शक्ति एवं धैर्य (Vitality and Endurence)—नेतृत्व के ये गुण सामान्यतः अच्छे शारीरिक स्वास्थ्य से कुछ अधिक होते हैं। इनके द्वारा विशद् अनुभव प्राप्त किया जा सकता है। ये व्यक्तिगत आकर्षण के तत्त्व हैं। कोई भी नेतृत्व संघर्ष के एक लम्बे समय के बाद उजागर होता है और लम्बे संघर्ष का मुकाबला करने के लिए पर्याप्त जीवन-शक्ति एवं धैर्य की आवश्यकता होती है।

2. निर्णय लेने की क्षमता (Decisiveness)—संगठन के नेता में तत्काल निर्णय लेने की क्षमता होनी चाहिए। निर्णय लेने का अर्थ है उचित समय पर उचित कार्य सम्पन्न करना और अनावश्यक कार्यों को रोकना। निर्णय लेने की क्षमता का अभाव संगठन के कार्यों पर विध्वंसात्मक प्रभाव डालता है।

3. समझाने की क्षमता (Persuasiveness)—संगठन का लक्ष्य कुछ कार्य सम्पन्न करना होता है। नेता इन कार्यों की सम्पन्नता में संगठन को सहयोग प्रदान करता है—नेता अकेला संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने में असमर्थ है। इसके लिए यह जरूरी है कि वह अन्य सदस्यों का सक्रिय, रचनात्मक एवं स्वैच्छिक सहयोग प्राप्त करे। इसके लिए नेता संगठन के अन्य सदस्यों को समझाता है और उन्हें कार्य की ओर प्रेरित करता है।

4. उत्तरदायित्व (Responsibility)—नेता का व्यवहार उत्तरदायित्वपूर्ण होना चाहिए अर्थात वह अपने गलत या सही कार्यों के लिए स्वयं ही उत्तरदायी होता है। एक उत्तरदायी व्यक्ति के रूप में नेता के व्यवहार की विशेषता 'स्थायित्व' होता है। ऐसा होने पर ही संगठन के दूसरे लोग उसे समझ पाएँगे।

5. बौद्धिक कार्य (Intellectual Capacity)—एक नेता को बुद्धिमान होना चाहिए ताकि उसके निर्णय सही तथा बुद्धिपूर्ण हों। बौद्धिक सामर्थ्य का महत्त्व केवल इतना ही है कि वह नेता के अन्य गुणों को सार्थक बनाती है।

फील्ड मार्शल विसकाउण्ट आर्चीवेल्ड वावेल के विचार

मि. वावेल के अनुसार एक सफल नेता में निम्नलिखित गुण होने चाहिए[2]—

1. कठोरता (Toughness)।

2. साहस (Courage), अर्थात नेता में शारीरिक और नैतिक दोनों प्रकार का साहस होना चाहिए।

3. स्वास्थ्य एवं युवापन (Health and Youth)।

4. नवीन कार्य करने का साहस (Adventure)।

5. साधारण ज्ञान (Common Sense) अर्थात् नेता को सामान्य रूप से यह जानना चाहिए कि किस कार्य को किया जा सकता है और किसको नहीं।

6. वास्तविक गुण (The Real Qualities) अर्थात् नेता के व्यक्तित्व में वास्तविक गुण होने चाहिए। इनके अभाव में वह अधीनस्थों को कुछ दिनों के लिए धोखे में रख सकता है कि वह एक अच्छा नेता है, किन्तु अधिक समय तक वह ऐसा नहीं कर सकता है।

एल. एफ. उर्विक के विचार

एल.एफ. उर्विक के अनुसार नेतृत्व की छः प्रमुख योग्यताएँ इस प्रकार हैं[3]—

1. आत्म-विश्वास (Self-Confidence)—संगठन के नेता को अपनी योग्यता का वस्तुगत ज्ञान होना चाहिए और उसके आधार पर उसमें आत्म-विश्वास की भावना रहनी चाहिए ताकि उसके निर्णयों में निर्भयता एवं संकोचहीनता हो। कभी-कभी आत्म-विश्वास और मिथ्याभ्रम को एक मानने की गलती कर दी जाती है। मिथ्याभ्रम आत्मज्ञान पर आधारित नहीं होता। मिथ्या-अभिमान से नेता संगठन में ही अपने अनेक विरोधी पैदा कर लेगा। वह एक सच्चे नेता के रूप में विश्वास पैदा नहीं कर सकता।

2. व्यक्तित्व (Personality)—नेता का व्यक्तित्व आकर्षक होना अत्यन्त आवश्यक है। संगठन के लोगों को प्रभावित करने के लिए नेता के व्यक्तित्व में कुछ असाधारण गुण होने चाहिए। इस दृष्टि से उसकी शारीरिक बनावट, पहनावा आदि प्रथम रूप से उल्लेखनीय हैं। किसी भी अपरिचित व्यक्ति पर सर्वप्रथम प्रभाव नेता की शारीरिक रचना एवं ऊपरी व्यवहार का पड़ता है। नेता के पास न तो इतना समय होता है और न ही इतने अवसर होते हैं कि वह संगठन के प्रत्येक सदस्य को अपने विचारों से प्रभावित कर सके। अधिकांश लोग तो नेता की चाल-ढाल एवं व्यवहार के अन्य तरीकों से ही प्रभावित होते हैं।[4]

---

1. *Chester I Bernard*: Organisation and Management, pp. 92-102.
2. *Field Marshall Viscount Archibald Wavell*. Generals and Generalship, Knowles Lectures, pp. 1-48.
3. *L. F. Urwick*: Leadership in the 20th Century, pp 49 52.
4. *L. F. Urwick*: Op cit., p 49

एक अच्छा नेता प्राय वह माना जाता है जो अपने गुणों एवं विशेषताओं के प्रति संगठन का सम्मान प्राप्त कर सके और अपनी मानवीय कमजोरियों के प्रति उसकी सहानुभूति अर्जित कर सके। नेता में जन-सामान्य तक पहुँचने की सामर्थ्य होनी चाहिए। समूह के सभी सदस्यों के प्रति यदि उसके दिल में सद्भाव है और वह उनके साथ मिलने में रुचि एवं उत्साह प्रदर्शित करता है तो बहुत कम समय में ही वह उस समूह का एक लोकप्रिय एवं प्रभावशाली नेता बन जायेगा।

3. जीवन-शक्ति (Vitality)—नेता के व्यक्तित्व का बाहरी रूप प्रभावशाली होना चाहिए क्योंकि इसी के माध्यम से वह अपने अनुयायियों को प्रथम साक्षात्कार में ही प्रभावित कर लेता है। समूह के लोगों में उसके प्रति चर्चाएँ होती हैं जिसके परिणामस्वरूप उसका प्रतिरूप (Image) बनता है। एक नेता का यह प्रतिरूप अधिक दिनों तक प्रभावशाली नहीं रह सकेगा यदि वह अपने वास्तविक गुणों द्वारा इसको ठोस रूप न दे दे अथवा संशयशील लोगों को अपनी ओर आकर्षित न कर ले। नेता को आन्तरिक व्यक्तित्व की प्रतिभा से सम्पन्न होना चाहिए। उसमें एक जीवन-शक्ति होनी चाहिए जिसके द्वारा वह संगठन के निराश लोगों में आशा, निष्क्रिय लोगों में क्रियाशीलता, उत्साहहीन लोगों में उत्साह पैदा करने के अतिरिक्त संगठन के गुणवान लोगों को भी प्रोत्साहन प्रदान कर सके। नेता की जीवन-शक्ति एवं आकर्षण कई बार संगठन के सदस्यों के जीवन के एक महत्वपूर्ण मोड़ बन जाते हैं। नेता के गुण समूह के सदस्यों के व्यवहार के आदर्श बन जाते हैं।

4. सामान्य बुद्धि (General Intelligence)—नेता का बुद्धिमान होना अत्यन्त महत्वपूर्ण है ताकि वह निर्णय लेते समय उसके स्वरूप एवं परिणामों पर सभी पहलुओं से विचार कर सके। उसकी बुद्धि का स्तर एकांगी नहीं होना चाहिए। बुद्धि के एकांगी होने के दो आशय हो सकते हैं। प्रथम तो इस प्रकार की बुद्धि का किसी क्षेत्र विशेष में तो छोटी से छोटी बात में भी प्रवेश होता है, किन्तु दूसरे क्षेत्रों का ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार की बुद्धि से नेता अपने उत्तरदायित्वों को सफलतापूर्वक नहीं निभा पाएगा क्योंकि उसका सम्बन्ध संगठन के किसी एक भाग से न होकर पूरे संगठन से होता है। बौद्धिक एकांगिता का दूसरा रूप वह है जिसमें नेता का बौद्धिक स्तर इतना ऊँचा होता है कि समूह का सामान्य सदस्य उसे ग्रहण करने में असमर्थ रहता है। ऐसी स्थिति में नेता की बातें सामान्य रूप से प्रभावशाली नहीं होती हैं।

5. संचालित करने की योग्यता (Ability to Communicate)—नेता संगठन के सभी कार्यों को स्वयं नहीं कर सकता। वह दूसरे लोगों में कार्य को इस प्रकार विभाजित करता है कि वे सभी स्वेच्छा से स''योग प्रदान कर उसे सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकें। वह सब करते समय वह संचार-व्यवस्था का सहारा लेता है ताकि लोगों में भ्रम न बढ़े एवं कुशलता बनी रहे।

6. न्यायपूर्ण निर्णय (Judgement)—नेता संगठन का प्रभावशाली व्यक्ति होता है जिसकी सद्भावना पाने के लिए लोग मिथ्या प्रशंसा, असत्य सूचनाओं आदि का आश्रय ले सकते हैं, अत नेता में सत्य-असत्य को पहचान कर परिस्थितियों का सही मूल्यांकन करने की क्षमता होनी चाहिए। एल.एफ. उर्विक के मतानुसार, नेता के इस गुण को निश्चित रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता। न्यायपूर्ण निर्णय देने की प्रक्रिया में व्यक्ति की अन्तरात्मा का महत्वपूर्ण योग रहता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि किसी योग्य नेता के लिए निम्नांकित गुणों का होना अपरिहार्य है—

1. जीवन-शक्ति, साहस और दृढ़ इच्छा शक्ति।
2. निर्णय लेने की शक्ति।
3. आत्म-विश्वास।
4. सही समय पर सही निर्णय लेने की शक्ति।
5. उत्तरदायित्व की भावना।
6. ईमानदारी।
7. सामान्य ज्ञान।
8. प्रबन्धात्मक योग्यता।
9. न्यायपूर्ण निर्णय।
10. प्रभावशाली व्यक्तित्व।

भावी नेताओं का विकास

(Development of Future Leaders)

आज यह मान्य धारणा बदल चुकी है कि "नेता पैदा होते हैं, बनाए नहीं जाते।" आधुनिक अनुसंधानों से व्यावहारिक तौर पर यह सिद्ध हो चुका है कि समुचित प्रशिक्षण द्वारा नेतृत्व के गुण विकसित किए जा सकते हैं।

समुचित एवं आवश्यक नेतृत्व का अभाव आधुनिक लोक प्रशासन की एक महत्वपूर्ण समस्या है। नेतृत्व के इस अभाव की पूर्ति और भावी नेताओं के विकास की दृष्टि से जो कदम उठाए जाने चाहिए, उनमें से कुछ निम्नांकित हो सकते हैं—

1. प्रवेश के समय उठाए जाने वाले कदम—लोक सेवकों की भर्ती के समय ऐसे कदम उठाए जाने आवश्यक हैं कि जिनके आधार पर समय की माँग और आवश्यकता के अनुरूप नेतृत्व स्थापित किया जा सके। वर्तमान में यह अपेक्षित है कि अधिकारी सामान्य शिक्षा, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि का ज्ञाता हो ताकि वह अपने अधीनस्थों की भावनाओं, क्रियाओं, प्रेरणाओं, आदर्शों को समझ सके और संगठन के लक्ष्यों के साथ उनका सामंजस्य कर सके। प्रवेश के समय प्रत्याशी की प्रशासकीय सामर्थ्य को परखने के अतिरिक्त यह भी देखा जाना चाहिए कि उसमें समन्वयात्मक शक्ति कितनी प्रबल है? अतः लक्ष्य-परीक्षा के साथ ही मनोवैज्ञानिक परीक्षा भी होनी चाहिए ताकि प्रत्याशी की समस्याओं पर निर्णय लेने की शक्ति को परखा जा सके। यह सुझाव भी दिया जाता है कि उच्च पदों पर भर्ती केवल पदोन्नति द्वारा ही की जाए तो उपयुक्त होगा, क्योंकि इससे अनुभवी, प्रशिक्षित और योग्य अधिकारी प्राप्त हो सकेंगे जिनमें नेतृत्व के दायित्व निभाने की क्षमता होगी। इससे भी समुचित नेतृत्व उभर कर सामने आयेगा।

2. प्रशिक्षणकालीन कार्यवाही—समुचित प्रशिक्षण द्वारा व्यक्ति के जन्मजात गुणों का विकास और उसमें नेतृत्व के नवीन गुणों का सृजन किया जा सकता है, अतः प्रशिक्षण ऐसा होना चाहिए जो अधिकारियों को जीवन के हर क्षेत्र में अनुशासित करे, गतिशील बनाए। निम्नतर स्तर के अधिकारियों को अपने से उच्चतर श्रेणी के अधिकारियों के कार्यों में पूर्ण रुचि लेनी चाहिए ताकि वे अपने ज्ञान का विस्तार कर सकें। प्रशिक्षण इस रूप में होना चाहिए कि व्यक्ति की रुचियों का क्षेत्र विस्तृत हो, उसकी कल्पना-शक्ति तीव्र हो तथा उसमें दूसरों को समझने की इच्छा और सामर्थ्य पैदा हो जाए। चेस्टर बर्नार्ड का मत है कि नेतृत्व के इन गुणों को औपचारिक प्रक्रिया के लिए प्रशिक्षण द्वारा विकसित किया जा सकता है, उनमें बौद्धिक विकास का स्थान प्रमुख है पर यह ध्यान रखना चाहिए कि बौद्धिक प्रशिक्षण की अति भी हानिकारक हो सकती है। प्रशिक्षण में मानव संबंधों का व्यावहारिक प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिए।

3. विस्तृत ज्ञान—ज्ञान-क्षेत्र जितना अधिक विस्तृत होगा, नेता समस्याओं के विभिन्न पहलुओं को समझकर उनका समाधान उतनी ही सफलता से कर सकेगा, लेकिन ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार केवल बाह्य प्रशिक्षण द्वारा नहीं किया जा सकता। उसके लिए आत्म-शिक्षा (Self-Education) भी अनिवार्य है। इससे उसके दृष्टिकोण में उदारता की भावना का समावेश होगा।

4. मानवीय सम्बन्धों का ज्ञान—संगठन एक मानवीय संस्था है अतः किसी भी नेता अथवा अधिकारी के लिए मानवीय प्रवृत्तियों को समझने की आवश्यकता का प्रथम महत्त्व है। बर्नार्ड ने मानवीय समस्या पर तीन पहलुओं से विचार किया है—प्रथम, मानवीय सम्बन्धों की दृष्टि से अपनी ज्ञान-वृद्धि के लिए नेता को मानव व्यवहारों का मूल्यांकन करना चाहिए—विशेष रूप से ऐसे व्यवहारों का जिन्हें सम्पन्न करते समय किसी प्रकार के विवेक का सहारा न लिया गया हो। मानव व्यवहारों का अधिकांश क्षेत्र अबौद्धिक होता है, यदि नेता उसे सही रूप में समझने की चेष्टा न कर केवल बौद्धिक आधार पर उसका मूल्यांकन करेगा तो परिणाम संतोषजनक नहीं होगा। द्वितीय, नेता को सामाजिक प्रणालियों की प्रकृति का सामान्य ज्ञान होना चाहिए। तृतीय, संगठन के परिवर्तनशील और विकासशील स्वरूप के प्रति सजग रहना चाहिए। संगठन का औपचारिक रूप व्यावहारिक-धरातल की समस्याओं को छूता हुआ प्रायः परिवर्तनों के दौर से गुजरता है और नेता का व्यवहार भी इन परिवर्तनों के अनुरूप होना चाहिए।

5. अनुभव का महत्त्व—नेतृत्व की पुरातन धारणा शक्ति और आधार पर जोर देती थी पर आज के प्रजातान्त्रिक युग में नेतृत्व की वास्तविक सफलता के लिए समझाने-बुझाने की योग्यता और अनुनय-विनय की सामर्थ्य पर अधिक बल दिया जाता है। नेतृत्व का अर्थ अधीनस्थों का स्वेच्छापूर्ण सक्रिय सहयोग है। अधीनस्थों का सहयोग तभी मिल सकता है जब नेता उनके सामने अपनी नीतियों और कार्यक्रमों का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करे तथा उनमें अपने प्रति निष्ठा जाग्रत करे। नेता को अभिव्यक्ति की कला में निपुण होना चाहिए।

उपर्युक्त सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रशिक्षण से संगठन में अत्यन्त योग्य नेतृत्व उभर कर सामने आ सकता है परिणामस्वरूप आदर्श नेतृत्व के द्वारा ही संगठन की सफलता प्रतिबिम्बित हो सकती है।

सम्प्रेषण (संचार)

(Communication)

प्रत्येक संगठन समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई है जिसका निर्माण मानवीय उद्देश्यों एवं आवश्यकताओं को पूर्ण करने में लगाया जाता है, लेकिन कोई भी संगठन सम्प्रेषण या संचार की उचित व्यवस्था के अभाव में न तो अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है और न ही संगठन का कुशल संचालन हो सकता है। संगठन यदि विस्तृत आकार का है तो उसमें यह अनिवार्य है कि कुशल और प्रभावी सम्प्रेषण हो तभी उसका सही संचालन और नियंत्रण हो सकता है। इसलिए मिलेट (Millet) ने तो संचार को 'संगठन की रक्तधारा' माना है तथा फिफनर (Pfiffner) ने इसे 'प्रबन्ध का हृदय' कहा है। प्रत्येक संगठन के आन्तरिक सहयोग और समन्वय की प्राप्ति के लिए उचित संचार व्यवस्था का होना नितान्त आवश्यक है। आज का युग सम्प्रेषण या संचार का युग है। संचार व्यवस्था के कारण ही सामान्य व्यक्ति भी अपनी सरकार और अपने पड़ौसियों के अधिक निकट है तथा अपने चारों ओर के जीवन से अधिक एकरूपता अनुभव करता है। विकसित संचार माध्यमों के बल पर आज हम सम्पूर्ण विश्व के सम्पर्क में है तथा देश-विदेश की गतिविधियों से परिचित होते है।

सम्प्रेषण अथवा संचार उन बहुद्देशीय शब्दों में से एक है जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ रखता है। साधारण अर्थ में यह मानवों के मध्य ज्ञान तथा अनुभव का आदान-प्रदान है। संचार (Communication) शब्द लेटिन भाषा के (Commune) शब्द से बना है जिसका अर्थ है 'सामूहिक'। इस प्रकार संचार शब्द का अर्थ है-'सामूहिक रूप से विचारों का आदान-प्रदान करना।' संचार सूचनाओं का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक तथा एक स्थान से दूसरे तक सम्प्रेषण है। मिलेट (Millet) का कहना है कि 'संचार का अर्थ है साझे उद्देश्य की साझी समझ' है। आर्डवे टीड (Ordeway Teed) का कहना है कि "संचार-सूचना का आदान-प्रदान, सीखने का अनुभव जिसमें कुछ प्रवृत्तियाँ, ज्ञान तथा कौशल बदल जाते है, सभी सम्बद्ध व्यक्तियों द्वारा श्रवण प्रयत्न, विचारों का सूक्ष्म आदान-प्रदान जिसके परिणामस्वरूप उच्च स्तरीय सूझ-बूझ और सामान्य लक्ष्य उत्पन्न होता है।"

रैडफील्ड (Redfield) ने परिभाषित किया कि "संचार मानवों के बीच तथ्यों तथा विचारों का विशाल क्षेत्र है न कि टेलीफोन, टैलीग्राफ, रेडियो तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं की तकनीक।" वर्धमान एवं हाल्टरमैन (Verdaman and Halterman) का कहना है कि "संचार एक संगठन के विभिन्न भागों तथा सदस्यों के बीच उपकरण सूचना, बोध तथा विवेक का प्रवाह है---- जिसमें सभी सम्प्रेषण के पहलू आ जाते है, ऊपर, नीचे पार्श्विक, बोलना, लिखना, सुनना, पढ़ना, विधियाँ, माध्यम प्रणालियाँ, धाराएँ, तन्त्र, प्रवाह, कर्मचारियों के मध्य बाह्य संगठन तथा अन्तः संगठन।" हरबर्ट साइमन ने लिखा है कि "संचार को औपचारिक रूप में कोई भी प्रक्रिया कहा जा सकता है जिससे संगठन के एक सदस्य द्वारा दूसरे सदस्य को निर्णय के आधार वाक्यों के रूप में सम्प्रेषित किया जाता है।"

एलन ल्यूइस ए. के अनुसार "सम्प्रेषण उन सब बातों का योग है, जो एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में समझ उत्पन्न करने की दृष्टि से चाहता है। इसमें बात कहने, सुनने एवं समझने की एक विधिवत तथा निरन्तर प्रक्रिया सम्मिलित की जाती है।" न्यूमैन एवं समर के अनुसार, "संदेशवाहन दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य तथ्यों, विचारों, सम्मतियों अथवा भावनाओं का विनिमय है।" इलियट जैविक्स के अनुसार, "प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में जाने और अनजाने में व्यक्त की गई भावनाये, प्रवृत्तियाँ और इच्छाएँ सम्मिलित रूप से निःसन्देह सन्देशवाहन है।"

प्रत्येक संगठन में सम्प्रेषण व्यवस्था एक-दो तरफ यातायात (Two way traffic) के समान होती है अर्थात् उच्च अधिकारी अपने निर्णयों को अधीनस्थ कर्मचारियों तक आदेशों, निर्देशों आदि द्वारा पहुँचाते हैं और इसी प्रकार अधीनस्थ कर्मचारियों से उन्हें प्रत्येक परिस्थिति, तथ्य और सूचना की प्राप्ति होती रहती है। बिना तथ्यों, आँकड़ों और सूचनाओं की समुचित जानकारी के उच्चाधिकारी प्रभावी निर्णय नहीं ले सकते। इस प्रकार सम्प्रेषण ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर दोनों दिशाओं में होता है अर्थात् आदेश और निर्देश ऊपर से नीचे आते हैं जबकि तथ्य और आँकड़े नीचे से ऊपर जाते हैं।

संचार/सम्प्रेषण के उद्देश्य

(Objectives of Communication)

सम्प्रेषण का प्रधान उद्देश्य किसी व्यक्ति समूह या तथ्य में परिवर्तन करना या प्रतिकूल प्रवृत्तियों को समाप्त करना है। सम्प्रेषण के निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

(1) आदेशों और निर्देशों का सभी सम्बन्धित व्यक्तियों को सही तथा स्पष्ट हस्तान्तरण करना।

(2) कर्मचारियों को संस्था की प्रगति से अवगत रखना।

(3) विचारों तथा सूचना का स्वतन्त्र आदान-प्रदान करना।

(4) संस्था की नीतियों, योजनाओं और कार्यक्रमों से कर्मचारियों को भली प्रकार अवगत कराना ताकि किसी भी कठिनाई के समय सम्बन्धित अधिकारी से तुरन्त सम्पर्क किया जा सके।

(5) संस्था के प्रबन्ध में कर्मचारियों से आवश्यक सूचनाएँ और सुझाव प्राप्त करना।

(6) मधुर मानवीय सम्बन्धों का निर्माण करना ताकि संगठन में कुशलता बनी रहे।

(7) संगठन के कर्मचारियों को समय-समय पर विकास सम्बन्धी जानकारी प्रेषित करना।

(8) कर्मचारियों की कार्य के प्रति इच्छा जाग्रत करना और अपनी कार्य क्षमता में वृद्धि के प्रयास करना।

(9) संस्था के नवीनीकरण को स्वीकार करने के लिए कर्मचारियों को तैयार करना।

(10) एक निश्चित विचार प्रवाह का ढाँचा तैयार करना ताकि गलत धारणायें नहीं पनप पायें।

हाज एवं जॉनसन ने लिखा है कि "सम्प्रेषण का मुख्य कार्य सामाजिक सम्बन्धों को सुगम बनाना है।" चार्ल्स ने लिखा है कि "सम्प्रेषण में इतनी शक्ति है कि वह एक संगठन को या तो सुदृढ़ कर सकता है या प्रायः नष्ट कर सकता है। पाश्चात्य विकसित देशों में तो सम्प्रेषण किसी भी संगठन या उद्योग के लिए उपस्नेक तैल (Lubricating Oil) का काम करता है।"

संचार/सम्प्रेषण के माध्यम

(Media of Communication)

सम्प्रेषण अनेक माध्यमों द्वारा सम्भव है, जिन्हें मुख्यतः निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(1) श्रव्य (Audio)—यह सुनने के साधन होते हैं, जैसे-सम्मेलन, समितियाँ, साक्षात्कार, टेलीफोन, रेडियो प्रसार, सभायें, रिकार्ड प्लेयर, माइक आदि।

(2) दृश्य (Visual)—इस माध्यम के अन्तर्गत लिखित सम्प्रेषण जैसे—परिपत्र पुस्तिकाएँ, प्रतिवेदन, विवरणिका तथा फोटो पोस्टर, व्यंग्य चित्र, झण्डे, स्लाइड्स आदि सम्मिलित हैं।

(3) श्रव्य-दृश्य (Audio Visual)—इस माध्यम के अन्तर्गत सुनने तथा बोलने वाले साधन जैसे—चलचित्र, दूरदर्शन तथा व्यक्तिगत प्रदर्शन आदि सम्मिलित हैं।

संचार/सम्प्रेषण का महत्त्व

(Importance of Communication)

संगठन का कोई भी स्वरूप हो उसमें संदेशवाहन का विशेष महत्व है। मिलेट ने इसे 'प्रशासकीय संगठन की रक्तधारा' (Blood Stream of Administrative Organisation) तथा फिफनर (Pfiffner) ने इसे 'प्रबन्ध का हृदय' (Heart of Management) कहा है। सम्प्रेषण को आज अत्यधिक महत्व प्राप्त हो चुका है तथा इस व्यवस्था के लिए विशिष्ट सभाओं, कार्यशालाओं तथा विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है। प्रशासन तथा जनता के मध्य सम्पर्क स्थापित करने से भी सम्प्रेषण एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में जनता तथा प्रशासन के मध्य सम्पर्क रहना अति आवश्यक है। इसलिए प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली में सरकारी विभागों में सूचना-प्रसार एवं जनसम्पर्क अधिकारियों की नियुक्ति की जाती है। सम्प्रेषण व्यवस्था के महत्त्व को निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

(1) संगठन का कुशल प्रबन्ध (Competent Management of Organisation)—सम्प्रेषण व्यवस्था के द्वारा संगठन के कार्यों का संचालन सुचारु रूप से सम्भव होता है। संगठन के प्रत्येक क्षेत्र के सफल संचालन एवं समन्वय के लिए सन्देशवाहन महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कुशल सम्प्रेषण व्यवस्था द्वारा ही संगठन के विभिन्न अधिकारियों तथा कर्मचारियों के मध्य सूचनाओं एवं विचारों का आदान-प्रदान सम्भव हो जाता है। जिससे उनकी क्रियाओं में सामंजस्य स्थापित होता है तथा संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति होती है।

(2) संगठन में सन्तुलन (Balance in Organisation)—सम्प्रेषण व्यवस्था द्वारा संगठन में सन्तुलन स्थापित होता है। संगठन कितना ग्रहण करता है तथा कितना उत्पादन करता है आदि के सन्तुलन का आधार सम्प्रेषण ही है। जिस प्रकार का सम्प्रेषण होगा उसी प्रकार का यह सन्तुलन भी होगा और उसी के द्वारा संगठन की गरिमा भी बनेगी।

(3) शीघ्र निर्णय (Quick Decisions)—संगठन में उच्च अधिकारियों को कर्मचारियों की समस्याओं का समाधान करना पड़ता है तथा समय-समय पर महत्वपूर्ण निर्णय लेने पड़ते हैं। कुशल सम्प्रेषण व्यवस्था के माध्यम से ही अधीनस्थ कर्मचारी उच्च अधिकारियों को विभिन्न सूचनाएँ तथा अन्य परिस्थितियों की जानकारी आदि प्रेषित करते हैं। इनके आधार पर उच्च अधिकारियों द्वारा शीघ्र निर्णय लिये जा सकते हैं तथा यह निर्णय सम्प्रेषण व्यवस्था के माध्यम से ही कर्मचारियों तक पहुँचाते हैं।

(4) समन्वय (Co-ordination)—सम्प्रेषण व्यवस्था द्वारा संगठन की विभिन्न योजनाओं का सफल क्रियान्वयन सम्भव है। संगठन के विभिन्न विभागों में समन्वय न होने से संगठन की सफलता संदिग्ध रहती है। समन्वय द्वारा ही संगठन के विभिन्न सदस्यों की क्रियाओं में इस प्रकार सामन्जस्य स्थापित किया जा सकता है कि संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति हो। यह समन्वय अथवा सामन्जस्य कुशल सम्प्रेषण व्यवस्था द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है अतः सम्प्रेषण अथवा संचार व्यवस्था संगठन की एक आवश्यक कड़ी है।

(5) मनोबल का विकास (Development of Moral)—सम्प्रेषण द्वारा कर्मचारियों के मनोबल को भी विकसित किया जा सकता है। विभागीय संदेश वाहन द्वारा कर्मचारियों की समस्याओं, सुझावों एवं शिकायतों पर विचार किया जाता है। इससे कर्मचारियों में संगठन के प्रति आस्था तथा कार्य के प्रति अनुराग अर्थात् मनोबल का विकास होता है। मनोबल की वृद्धि होने से संगठन में मैत्रीपूर्ण वातावरण का निर्माण होता है तथा स्वस्थ वातावरण में सब सहयोगपूर्ण ढंग से कार्य करते हैं।

(6) लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था (Democratice System)—लोकतान्त्रिक व्यवस्था में जनता तथा प्रशासन के मध्य सम्पर्क रहना अति आवश्यक है। यह सम्पर्क सम्प्रेषण के माध्यम से स्थापित किया जाता है। सम्प्रेषण द्वारा ही सरकारी कर्मचारी सरकार की नीतियों, कार्यक्रमों तथा उद्देश्यों से परिचित होते हैं तथा अपने कार्यों का सम्पादन निष्ठा से करते हैं।

(7) कर्मचारियों के ज्ञान में वृद्धि (Increase in Knowledge of Employees)—सम्प्रेषण व्यवस्था द्वारा संगठन की नीतियों में महत्वपूर्ण परिवर्तनों की सूचना कर्मचारियों को यथाशीघ्र प्राप्त होती रहती है, जिससे कर्मचारियों को संगठन के विषय में पूर्ण ज्ञान रहता है।

(8) अधिकतम उत्पादन (Maximum Production)—सम्प्रेषण द्वारा न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन सम्भव होता है क्योंकि सम्प्रेषण द्वारा प्रत्येक कर्मचारी को उसके द्वारा किया जाने वाला कार्य स्पष्ट रूप से बताया जाता है। कार्य के निष्पादन के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश दिये जाते हैं। इस प्रकार मानवीय प्रयासों का दुरुपयोग नहीं हो पाता तथा न्यूनतम लागत पर अधिकतम उपयोगिता प्राप्त होती है।

औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन में सम्प्रेषण

(Communication in Formal & Informal Organisation)

औपचारिक संगठन में औपचारिक ढाँचा सम्बन्ध तथा व्यवहार को स्थापित करते हैं जो संगठन के व्यक्तिगत सदस्यों द्वारा अन्तःक्रिया की सम्प्रेषण घटनाओं में दिखाई देता है। संगठन के ढाँचे के बिना एक निरीक्षण तथा कर्मचारियों के समूह के बीच विपणन प्रबन्धक तथा विक्रय अधिकारी के बीच अथवा एक अधिकारी तथा उसके स्टाफ के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध एकदम भिन्न प्रकृति के होते हैं। संगठन के अन्दर सम्प्रेषण के लिए परिभाषित सम्बन्ध आंशिक रूप से संगठन के औपचारिक चार्ट को, जिसमें श्रेणीबद्ध सत्ता का विवरण, शक्ति

संगठन के उत्तरदायित्व का निरूपण होता है वे निर्धारित होते हैं। औपचारिक संगठन में प्रायः सम्प्रेषण लिखित रूप में होता है जो संगठनात्मक पदसोपान के मध्य चलता रहता है तथा सन्देश भेजने वाला और प्राप्त करने वालों की विशिष्ट स्थिति से जुड़े रहते हैं।

अनौपचारिक संगठन में संचार व्यवस्था प्रायः अनौपचारिक साधनों द्वारा अनुसूचित होती है। सम्प्रेषण अनौपचारिकताओं से युक्त होता है क्योंकि यह अनौपचारिक सम्बन्धों पर आधारित होता है। उदाहरणार्थ एक कार्यालय का चपरासी अपने अधिकारी को उसका घरेलू नौकर बनकर महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दे सकता है। इग्नूको डाल्टन अनौपचारिक सम्प्रेषण के महत्त्व पर बल देते हुए कहते हैं कि "संगठन की अनौपचारिक संचरण व्यवस्था उस समय सदस्यों के लिए गुनगुनाने लगती है जब कभी औपचारिक स्रोत शांत होते हैं अथवा महत्त्वपूर्ण मामलों में स्पष्ट नहीं होते हैं। कीथ डेविस अनौपचारिक सम्प्रेषण व्यवस्था को अंगूरों की बेल कहते हैं। जो लोगों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए कार्य करने को तत्पर रहते हैं। जोसेफ एल. मैसी ने स्पष्ट किया कि अनौपचारिक सूचना व्यवस्था एवं संगठन में अत्यधिक लाभदायक तथा शीघ्र ही समस्या को सुलझाने वाला हो सकती है जिसे स्वचालित समग्र सम्प्रेषण कहते हैं। यह सामान्य औपचारिक व्यवस्था के सामने गम्भीर समस्या उत्पन्न कर देती है ऐसे अनौपचारिक संचार का सकारात्मक पक्ष यह है कि इसमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। इससे निर्णय एक व्यक्ति की जगह सामूहिक लिए जाते हैं।"

सम्प्रेषण का प्रवाह एवं दिशा
(Flow and Direction of Communication)

सामान्यतया संगठन अथवा प्रशासन में सम्प्रेषण का प्रवाह तथा उसकी दिशा को तीन रूपों में व्यक्त किया जा सकता है—

(1) ऊपर से नीचे की ओर सम्प्रेषण प्रवाह
(Communication Flow of Downwards)

संगठन अथवा प्रशासन में सम्प्रेषण का प्रवाह एक निरन्तर प्रक्रिया है। यह ऊपर से (केन्द्र से) आदेश, निर्देश लेकर सन्देशों के रूप में विभिन्न पदसोपानिक स्तर से गुजरता हुआ संगठन के निम्न स्तर तक पहुँचता है। परम्परागत दृष्टिकोण वाले सम्प्रेषण के इस प्रवाह तथा दिशा को ही अधिक महत्त्व देते हैं क्योंकि इस दृष्टिकोण का मानना है कि संगठन में केवल प्रबन्धक ही अपने कर्मचारियों की रक्षा कर सकते हैं तथा सभी तरह के निर्णय कर सकते हैं और ले सकते हैं। समस्या उत्पन्न होती है तो इसका सारा दायित्व निम्न स्तर के अधिकारियों पर डाल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त सत्ता प्रबन्धकों के हाथों में रहती है जिससे वे सभी निर्णयों का पालन करा सकें, लेकिन हाथोर्न प्रयोगों से स्पष्ट होता है कि ऊपर से नीचे की ओर का सम्प्रेषण आसान नहीं होता क्योंकि ऐसा हो सकता था कि प्रबन्धकों द्वारा लिये गये निर्णय निम्न स्तर के लोगों को स्वीकार्य ही न हो। इसलिए संगठन में नीचे से ऊपर की ओर सम्प्रेषण आवश्यक है। बड़ी-बड़ी समस्याओं में इसी प्रकार का सम्प्रेषण पाया जाता है जिसमें स्तरीय समस्याओं का सामना करना पड़ता है क्योंकि सूचना को जितने अधिक स्तरों से गुजरना पड़े उतना ही उसका पालन आवश्यक हो जाता है। प्रत्यायोजन (Delegation) का सिद्धान्त भी एक प्रकार से ऊपर से नीचे की ओर का सम्प्रेषण प्रवाह है जो विभिन्न पदों के स्तरों को एक-दूसरे से बाँधता है जिसमें एक कार्यकारी अधिकारी अपनी सत्ता का प्रभावशाली ढंग से प्रयोग कर सकता है।

(2) नीचे से ऊपर की ओर सम्प्रेषण प्रवाह
(Communication Flow of Upwards)

संगठन में जब सम्प्रेषण तथा सूचनाओं का प्रवाह नीचे से ऊपर होता है तो वह ऊर्ध्वगामी सम्प्रेषण प्रवाह कहलाता है। लेकिन इस प्रकार के सम्प्रेषण प्रवाह में कई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं—(i) सूचनाओं के प्रसार में सूचनाओं का हर स्तर पर तोड़ मरोड़कर प्रस्तुत होना। (ii) संगठन का अत्यधिक बड़ा होने पर सूचनाओं में नीचे से ऊपर तक पहुँचने में कई कड़ियाँ उपस्थित रहती हैं इसमें सूचना का प्रसार देरी से तथा रुक-रुक कर होता है। (iii) संगठन में निरीक्षकों तथा अधिकारियों की प्रवृत्ति यह रहती है कि वह नीचे से आयी सूचना को ऊपर प्रेषित नहीं करते हैं इसके अतिरिक्त ये अपने कार्यों एवं समस्याओं में ही इतने उलझे रहते हैं कि उनके पास अपने अधीनस्थों की बात सुनने का ही समय नहीं रहता है। यह सम्प्रेषण प्रवाह बल संगठन के व्यवहारवादी सिद्धान्तों

विशेषतया मैग्रेगेट के सिद्धान्त का परिणाम है। इस प्रकार का सम्प्रेषण प्रवाह अपने हिस्सेदारों को अधिक सुविधाएँ प्रदान करता है तथा इसके द्वारा मजदूर संगठन प्रबन्धकों के निर्णयों में अधिक योगदान देते हैं।

(3) पार्श्विक सम्प्रेषण प्रवाह

(Lateral Communication Flow)

पार्श्विक सम्प्रेषण व्यवस्था संगठन में पदसोपान क्रम में एक ही स्तर पर होती है। ये समान्तर शब्द का विकल्प है जो एफ. ए. नीग्रो ने प्रयोग किया। जिसमें संगठन सम्पर्कों के आर-पार सभी शामिल होता है। कुण्ट्ज तथा *काहन पार्श्विक संचार व्यवस्था के कार्य को प्रभावशाली व्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण मानते हैं।* नीग्रो का कहना है कि वास्तविक टीम कार्य से कार्य में एक स्वाभाविकता तथा स्वत प्रवाह आ जाता है। आधुनिक संगठन में निर्णय प्रक्रिया अधिकाधिक संस्थाएँ अथवा अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के विशिष्ट ज्ञान पर अधिकाधिक निर्भर रहते हैं। अत इस व्यवस्था में पार्श्विक सम्प्रेषण महत्वपूर्ण रहता है अत इसे प्रोत्साहन किया जाना चाहिए।

संचार प्रक्रिया के मॉडल

(Model of Communication Process)

वर्तमान में सम्प्रेषण प्रक्रिया को सामान्यत संगठन की सभी समस्याओं की जड़ समझा जाता है। इस सम्बन्ध में हिक्स एवं गुलेट ने लिखा है कि शायद यह सच है, जैसा कि किसी ने सुझाव दिया है, एक विश्व की सभी समस्याओं का मूल कम से कम एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति के साथ समस्याओं की जड़ व्यक्ति की अपनी सम्प्रेषण की अयोग्यता है। संगठन में यह समस्या केवल सम्प्रेषण की नहीं है बल्कि एक प्रभावशाली तथा सुचारू संचारण व्यवस्था कायम करने की भी है। संगठन की संचारण व्यवस्था अन्त क्रिया करती है। जो संगठनात्मक ढाँचे, निर्णय तथा नियंत्रण पर निर्भर करती है।

सम्प्रेषण प्रक्रिया को प्रारम्भ में केवल संदेश देने तक समझा जाता था, यह जानने का प्रयास नहीं किया जाता था कि संदेश समझा गया है अथवा नहीं। इसके बाद सम्प्रेषण को दोहरी प्रक्रिया माना जाने लगा तथा यह अनुभव किया जाने लगा कि सम्प्रेषण प्रक्रिया को प्रभावी बनाने के लिए इसमें सूचना की समझ-शक्ति को भी सम्मिलित किया जाये। लेकिन इसके पश्चात विद्वान ऐलन (Allen) का कहना है कि सम्प्रेषण प्रक्रिया दो तरफा न होकर चहुँमुखी होती है जिसमें पूछना, बताना, सुनना तथा समझना सभी सम्मिलित है।

1. अवबोधन (Perception)—एक व्यक्ति द्वारा अपने पर्यावरण में से प्राप्त प्रेरणाओं को अर्थ प्रदान करना।
2. कूटबद्ध करना (Encoding)—सम्प्रेषण संकेतों को एक विचार प्रदान करना।
3. सम्प्रेषण (Transmission)—सम्प्रेषण संकेतों को प्राप्त करने वालों को प्रसारित (Coverage) करना।
4. प्राप्त करना तथा अकूटबद्ध करना (Recovering and Decoding)—प्राप्त संकेतों को अर्थ प्रदान करना।
5. प्रतिउत्तर देना (Responding)—संकेत प्राप्तकर्ता के विचारों को कार्यरूप देना है।

डेविड बार्लो ने सम्प्रेषण प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए पहला प्रक्रिया मॉडल प्रस्तुत किया। इनका कहना है कि "यदि हम प्रक्रिया की अवधारणा को स्वीकार करते तो घटनाओं तथा सम्बन्धों को सक्रिय, गतिशील, परिवर्तन तथा निरन्तर चलने वाला मानते हैं। जब हम किसी वस्तु को प्रक्रिया कहते हैं तो हम यह भी मानते हैं कि इसका कोई आरम्भ या अन्त अथवा घटनाओं का कोई निश्चित क्रम नहीं होता यह स्थिर नहीं होता, निरन्तर चलता रहता है। एक प्रक्रिया के अन्तर के अवयव अन्त क्रिया करते हैं तथा सभी पर प्रभाव डालते हैं। इसे अग्रांकित चित्र-1 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

सम्प्रेषण प्रक्रिया के मॉडलों में सबसे अधिक उपयुक्त मॉडल शानन एवं वीवर तथा विल्बर श्रम्म का है। इसके मॉडल सभी प्रकार की परिस्थितियों में सामान्य सम्प्रेषण प्रक्रिया का उचित वर्णन करते हैं। इस मॉडल के प्रमुख तथ्य हैं—(1) सम्प्रेषण, (2) एक कूट या कोड मनाने वाला, एक संदेश, एक माध्यम, कोड तोड़ने वाला, प्राप्त कर्ता, पुनर्निवेशन तथा आवास। इसे अग्रांकित चित्र-2 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

विभिन्न मॉडलों के आधार पर सम्प्रेषण प्रक्रिया के लिए निम्नलिखित तत्त्व आवश्यक हैं—

1. सम्प्रेषण स्रोत (Information Source)—प्रत्येक सम्प्रेषण प्रक्रिया अपने स्रोत से ही प्रारम्भ होती है। यह एक व्यक्ति, निर्जीव वस्तु अथवा एक समूह कोई भी हो सकता है। अत्यधिक विश्वसनीय स्रोत कम विश्वसनीय

स्रोतों से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, लेकिन एक विश्वसनीय संदेश अविश्वसनीय प्राप्तकर्ता के हाथ में पहुँच कर अपनी विश्वसनीयता कम कर बैठते हैं।

चित्र-1

स्रोत (Sources)		कूटबद्ध करने वाला (Encoder)		संदेश (Massage)
विचार आवश्यकताएँ आशय सूचना उद्देश्य	↓	मोटर शिल्प माँसपेशीय तंत्र ऐन्द्रिय कौशल	→	कूट संकेत समूह
→ माध्यम (Chamels)		अकूटबद्ध करने वाला (Decoder)		प्राप्तकर्ता (Receiver)
माध्यम ले जाने वाला		मोटर शिल्प मांसपेशीय तंत्र ऐन्द्रिय कौशल	→	विचार आवश्यकताएँ आशय सूचना
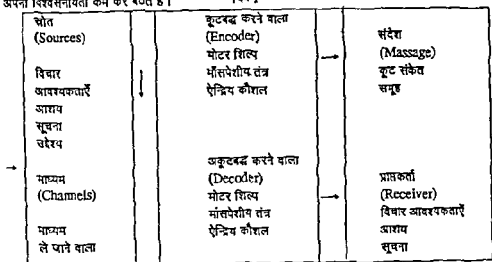
स्रोत—डेविड बार्लो सम्प्रेषण प्रक्रिया हॉल्ट रिटचार्ट एवं वारसन, न्यूयार्क, 1960-

चित्र-2
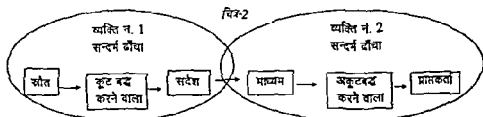
स्रोत—विल्बर श्रम्न : समूह सम्प्रेषण की प्रक्रिया और प्रभाव

2. कूटबद्ध करना (Encoding)—सम्प्रेषण प्रक्रिया में स्रोत से प्राप्त सूचना को स्पष्ट अर्थ प्रदान करने के लिए कूटबद्ध किया जाता है जिससे सन्देश प्राप्तकर्ता संदेश को सही ढंग से समझ सके। इसके अतिरिक्त साधारण भाषा में जनमानस तक पहुँचाने के लिए भी इसे कूटबद्ध किया जाता है। कूटबद्ध करने से संदेश प्रभावशाली हो जाते है।

3. सम्प्रेषण (Transmission)—सम्प्रेषण प्रक्रिया के संदेशों को प्रसारित करने के लिए सम्प्रेषण (पहुँचाने) की आवश्यकता होती है जिससे सम्प्रेषण प्राप्तकर्ता तक आसानी से पहुँच जाये। संदेश का प्रसारण करने हेतु संदेश की आवश्यकता, महत्व तथा संदेश प्राप्तकर्ता की प्रवृत्ति के आधार पर किसी भी किस्म के हो सकते हैं—आवाज अथवा दृष्टि, लिखित या मौखिक कागज अथवा व्यक्ति, टेलीविजन, टेलीग्राफ, टेलीफोन आदि।

4. कूटरहित करना (Decoding)—सम्प्रेषण की प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिए संदेश को प्राप्तिकर्ता द्वारा कूटरहित करके व्यवस्था की जाती है तथा उद्देश्य के सदर्भ में स्पष्ट किया जाता है।

5. प्राप्तकर्ता (Receiver)—प्राप्तकर्ता वह व्यक्ति या समूह है जिसके लिए संदेश का जन्म होता है। एक प्रभावी संदेश का संचारण तभी सही होता है जब संदेश देने वाला और प्राप्त करने वाला संदेश का एकसा अर्थ लगाये। यदि प्राप्त कर्ता संदेश का सही अर्थ न लगाये अथवा न समझे तब तक सम्प्रेषण सही नहीं होता।

6. पुनर्निवेशन (Feedback)—जब संदेश भेजा जाता है और प्राप्त कर्ता द्वारा उसे समझ कर उसका पुनः सही उत्तर भेजता है तो वह पुनर्निवेशन कहलाता है। इस प्रक्रिया से यह संदेश देने वाले को यह पता चल जाता है कि प्राप्त कर्ता को संदेश मिल गया है तथा उसने अपना उपयुक्त अर्थ समझा है। पुनर्निवेशन मौखिक एवं अमौखिक दोनों प्रकार से हो सकते हैं।

7. विभिन्न तत्त्व—संचार प्रक्रिया को विभिन्न प्रकार के अन्य तत्त्व भी प्रभावित करते हैं अतः ये भी एक संचार प्रक्रिया में अपना योगदान देते हैं। जैसे—शैक्षणिक, सामाजिक, कानूनी, राजनैतिक, आर्थिक, पर्यावरण आदि।

सफल सम्प्रेषण प्रक्रिया के आवश्यक तत्व
(Essential Elements of a Efficient Communication)

अनेक विद्वानों ने एक सफल सम्प्रेषण प्रक्रिया में आवश्यक तत्वों का उल्लेख किया है। मिलेट ने (Millet) ने सफल सम्प्रेषण प्रक्रिया के लिए निम्नलिखित तत्वों को आवश्यक माना है—

1. संदेश स्पष्ट होने चाहिए।
2. संदेश प्राप्तकर्ताओं की आशाओं के अनुरूप होने चाहिए।
3. संदेश पर्याप्त एवं उचित समय पर दिया जाना चाहिए।
4. संदेशों में एकरूपता होनी चाहिए।
5. संदेश में लचीलापन एवं स्वीकार्यता का गुण होना चाहिए।

जार्ज टैरी (George Tery) ने एक स्पष्ट सम्प्रेषण की प्राप्ति के आठ तत्व बताये हैं—

1. अपने आपको पूर्वरूप से सूचित करो।
2. एक-दूसरे में विश्वास पैदा करो।
3. साझा अनुभव पैदा करो।
4. संदेश में ऐसे शब्दों का प्रयोग करो जो दूसरे को समझ में आये।
5. सन्दर्भ के लिए सम्मान रखो।
6. प्राप्त कर्ता का ध्यान प्राप्त करके उसे बनाये रखो।
7. संदेश में उदाहरण और दृष्टव्य सहायक सामग्री का प्रयोग करो।
8. संदेश में देरी होने पर प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति का अभ्यास करो।

चैस्टर बर्नार्ड ने स्पष्ट किया कि संचार प्रक्रिया में कुछ ऐसे विशिष्ट तत्व हैं जो कार्यकारी अधिकारी को संगठन में वस्तुगत सत्ता अथवा साधिकार बनाये रखने में सहायता करते हैं ये तत्व निम्नलिखित है—

1. संचार प्रवाहिकाओं का निश्चित पता होना चाहिए।
2. संगठन के प्रत्येक सदस्य के लिए संचार की एक निश्चित औपचारिक प्रवाहिका हो।
3. संचार-रेखा सीधी एवं छोटी होनी चाहिए।
4. संचार के लिए प्राय पूरी औपचारिक संचार-रेखा का प्रयोग किया जाना चाहिए।
5. संचार केन्द्रों के रूपों में कार्यरत व्यक्ति योग्य होने चाहिए।
6. संगठन के प्रभावी होने की स्थिति में संचार-रेखा में किसी प्रकार का विघ्न न हो।
7. संचार एवं संदेश प्रमाणिक होने चाहिए।

सम्प्रेषण प्रक्रिया के अवरोधक
(Barriers of Communication Process)

प्रत्येक संगठन में कार्यकारी अधिकारी तथा अन्य स्टाफ का यह प्रयास रहता है कि सम्प्रेषण व्यवस्था सक्रिय और प्रभावी रहे जिससे संगठन अपने लक्ष्यों को अधिकाधिक एवं तुरन्त प्राप्त कर सके, लेकिन प्रत्येक संगठन में कतिपय अवरोधक भी होते हैं जो सम्प्रेषण प्रक्रिया को धीमी अथवा अप्रभावी बनाते हैं। सम्प्रेषण प्रक्रिया के प्रमुख अवरोधक निम्नलिखित है—

1. उचित एवं एकअर्थी भाषा की समस्या।
2. विचार धारागत विरोधाभास।
3. संचार केन्द्रों के मध्य दूरी।
4. संचार प्राप्तकर्ता में संदेश प्राप्ति के प्रति कम रुचि का होना।
5. कार्यभार की अधिकता।
6. सही सूचना छिपाने की व्यक्तिगत प्रवृति।
7. सूचना पथ का अभाव।
8. पद स्थिति में भिन्नताएँ।
9. आधे-अधूरे सम्प्रेषण को ग्रहण करना।
10. अनुचित संचार योजना।

मनोबल

(Morale)

किसी संगठन में मनोबल का महत्त्व निर्विवाद है। उच्च मनोबल से ही कर्मचारियों द्वारा वांछित परिणाम प्राप्त किया जा सकता है। साथ ही मनोबल की कमी से संगठन को अनेक दुष्परिणामों का सामना करना पड़ सकता है। 'मनोबल' (Morale) का शब्दकोषीय अर्थ "कार्य के प्रति विश्वास तथा रुचि सम्बन्धी भावना से है। यह वह आन्तरिक शक्ति है जो किसी व्यक्ति को कार्य के लिए प्रेरित करती है।" सन् 1930 में 'मानवीय सम्बन्ध' शब्द की उत्पत्ति से पूर्व 'मनोबल' शब्द का ही अधिकांशतः प्रयोग किया जाता था। मनोबल किसी भी प्रशासनिक या औद्योगिक संगठन का वह आधार-स्तम्भ होता है जिसके सहारे उसकी समस्त क्रियाएँ संचालित होती हैं। कर्मचारियों का उच्च मनोबल किसी भी उपक्रम की सफलता के लिए आवश्यक है। संगठन अथवा उपक्रम को निर्देशित, पथ-प्रदर्शित एवं पर्यवेक्षित करने के लिए सम्बन्धित अधिकारियों द्वारा जो कदम उठाए जाते हैं उनका संगठन के मनोबल पर गहरा प्रभाव पड़ता है। मनोबल को एक प्रकार से संगठन की जीवन-शक्ति कह सकते हैं, जिसके बिना समस्त प्रबन्धकीय क्रियाएँ निर्जीव रूप में संचालित होती रहती हैं।

'मनोबल' से आशय मन के बल अथवा आन्तरिक बल से है जिसके माध्यम से कोई व्यक्ति कार्य करने के लिए प्रेरित होता है। यदि प्रतिष्ठान में कर्मचारी समय पर आते हैं, ईमानदारी से अपना कार्य-निष्पादन करते हैं, कार्य में आने वाले अवरोधों को तुरन्त दूर करने का प्रयत्न करते हैं, अधिकारियों के आदेशों का अनुपालन करते हैं तो यही माना जाता है कि उस प्रतिष्ठान के कर्मचारियों या श्रमिकों का मनोबल ऊँचा है। इसके विपरीत स्थितियाँ होने पर यह कहा जाएगा कि कर्मचारियों का मनोबल नीचा अथवा गिरा हुआ है। इस प्रकार, "उच्च मनोबल (Higher Morale) वह सुनिश्चित स्थिति है जिसमें सामूहिक प्रयास के लिए पूर्ण सहयोग पाया जाता है। औद्योगिक जगत् में विभिन्न अध्ययनों से यह सामान्य मत प्रतिपादित हुआ है कि प्रतिष्ठान के पक्ष में विचार रखने वाले कर्मचारी साधारणतः अधिक अच्छे कर्मचारी (Better Employees) होते हैं और उनका मनोबल उच्च होता है।

अलेक्जेण्डर लाइटन (Alexander Lighton) के अनुसार, "मनोबल व्यक्तियों के सामूहिक लक्ष्य की खोज में धैर्य के साथ एवं लगातार एक साथ चलने की क्षमता है।" इस परिभाषा के अनुसार मनोबल की कुछ विशेषताएँ उजागर होती हैं। प्रथम, इसमें व्यक्ति-समूह एक साथ मिल कर कार्य करता है। द्वितीय, उनका कार्य धैर्यपूर्ण होता है अर्थात् परिणामों की प्रतीक्षा की जाती है, उनके पीछे पागल नहीं बना जाता। तृतीय, मनोबल से प्रभावित व्यवहार का रूप अविच्छिन्न होता है, उसमें या तो बाधाएँ आती ही नहीं और आती भी हैं तो केवल कुछ समय के लिए। चतुर्थ, व्यक्ति-समूह का समस्त व्यवहार एक निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए संचालित किया जाता है। पंचम्, सदस्यों का नेता के नेतृत्व के साथ-साथ पारस्परिक विश्वास होता है।

जेम्स डी. मूने (James D. Mooney) मनोबल को कुछ मनोवैज्ञानिक गुणों का योग मानते हैं जिनमें साहस, पौरुष, निश्चय, विश्वास आदि सम्मिलित हैं। डॉ. एल. डी. व्हाइट ने मनोबल को एक व्यक्ति या एक समूह की एक अन्तर्निहित सम्पत्ति कहा है।[1] प्रत्येक संगठन में चाहे उसका कुछ भी लक्ष्य एवं स्वरूप क्यों न हो, मनोबल की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा नेता अपने अनुयायियों का पूर्ण सहयोग प्राप्त कर सकता है। मनोबल यद्यपि एक वास्तविकता है, फिर भी यह बहुत कुछ अदृश्य प्रकृति का है जिसे भौतिक तत्त्वों की भाँति साकार रूप में नहीं दिखाया जा सकता, किन्तु स्पष्टतः अनुभव किया जा सकता है।

1. *L.D. White : Op. cit.*, p. 455

मार्शल ई डिमॉक (Marshall E. Dimock) मनोबल को अनेक तत्वों का मिश्रण मानते हैं जो मिलकर एक ऐसी स्वस्थ एवं सन्तुलित स्थिति उत्पन्न करते हैं जिसमें व्यक्ति आत्मसम्मान एवं व्यक्तिगत विकास के अवसरों के साथ कार्य कर सके।[1] चेस्टर बर्नार्ड (Chester Bernard) का मत है कि मनोबल एक प्रकार से स्वप्रेरित प्रेरणा है जो कार्यकर्त्ताओं के दिल और दिमाग में बसती है। इसके द्वारा कार्यकर्त्ताओं को उनके अपने व्यवहार में इतना प्रोत्साहित एवं प्रेरित किया जाता है कि धन का लालच और दण्ड का भय भी इतने प्रभावी नहीं होते। प्रारम्भ में मनोबल का प्रयोग सैनिक प्रशासन में बहुत अधिक किया जाता था। सैनिक दृष्टि से एक उच्च मनोबल का अर्थ मन की उस दशा से है जो एक सैनिक को अपने इर्द-गिर्द की बातों से सन्तोष प्रदान करती है, उसमें स्वयं के प्रति, उसके साथियों के प्रति और उसके नेताओं के प्रति विश्वास उत्पन्न करती है तथा उसके सम्पूर्ण लक्ष्यों को प्रभावशील एव कुशलतापूर्ण रूप में निर्धारित करने का निश्चय करती है। यह व्यक्ति या समूह की उन परिस्थितियों से सम्बन्ध रखती है जिनमें साहस, विश्वास और कार्य-सम्पन्नता के प्रति उत्साह रहता है।[2] प्रो. हेमैन के मतानुसार मनोबल को मन और भावनाओं की स्थिति में परिभाषित किया जा सकता है। यह कार्य के लिए दृष्टिकोण एवं इच्छा-शक्ति को प्रभावित करता है और इससे व्यक्तिगत तथा संगठनात्मक लक्ष्य प्रभावित होते हैं। यह व्यक्तियों एवं समूहों का उनके कार्य के वातावरण, प्रबन्ध और कम्पनी के प्रति दृष्टिकोण का निर्माण करता है। मनोबल एक मिश्रण है, कोई एक भावना नहीं है। यह भावनाओं, स्थायी भावों तथा दृष्टिकोणों का समूह है।[3]

फिलप्पो के अनुसार, "मनोबल वह मानसिक स्थिति अथवा व्यक्तियों तथा समूहों की अभिवृत्ति है, जो उनकी सहयोग करने की स्वेच्छा का निर्धारण करती है।" स्टाऊफर एवं लुचानन के अनुसार, "मनोबल को किसी समूह या संगठन के कार्यों एवं उद्देश्यों की प्राप्ति में सक्रिय सहयोग देने की तत्परता के रूप में व्यक्त किया जाता है।" विलियम आर. स्प्रीगल के अनुसार, "मनोबल का आशय बहुत से व्यक्तियों के, जो आपस में किसी आधार पर एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, सहकारी दृष्टिकोण या सामूहिक मानसिक व्यवस्था से है।" लैटन के मत में, "मनोबल व्यक्तियों के समूह की एक ऐसी क्षमता है जो सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु निरन्तर एवं अडिग कार्य करने को प्रेरित करती है।" ई. एफ. एल. ब्रेच के अनुसार, "मनोबल को किसी समूह या संगठन कार्यों तथा उद्देश्यों की प्राप्ति में सक्रिय सहयोग देने की तत्परता के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।"

कारवेल के अनुसार, "मनोबल शिथिलता से रोजगार के प्रति कर्मचारियों की अभिवृत्तियों के सम्मिश्रण के रूप में परिभाषित किया जाता है। कर्मचारी अपने कृत्यों, कार्य-दशाओं, पर्यवेक्षकों, कम्पनी वेतन और रोजगार के अन्य पहलुओं के सम्बन्ध में सोचते हैं या महसूस करते हैं, उन सबका यह (मनोबल) एक संश्लेषण (Synthesis) है या उन सबको एक साथ प्रस्तुत करता है। इस प्रकार परिभाषित करने से मनोबल शब्द में वैयक्तिक और सामूहिक मनोबल सम्मिलित होता है।" डेल योडर के अनुसार, "मनोबल रोजगार के प्रति कर्मचारियों की अवस्थाओं, उनके वैयक्तिक कृत्यों, जिनके साथ वे कार्य करते हैं, उनके पर्यवेक्षकों, उनके संघ, कार्य की दशाओं और सम्पूर्ण रोजगार के प्रति एक संश्लेषण की तरह माना गया है।" जान एफ. मी के अनुसार, "कर्मचारी अथवा समूह का अच्छा मनोबल व्यक्ति तथा समूह के मानसिक व्यवहार का द्योतक है जिससे कर्मचारी यह अनुभव करने लगता है कि उसके सन्तोषप्रद कार्य एवं कम्पनी के उद्देश्यों की पूर्ति में तालमेल है।" इसलिए कर्मचारी कम्पनी तथा स्वयं के हित एक साथ देखने लगता है और यह केवल कम्पनी के आदेशों का पालन करने तक ही सीमित नहीं रहता।

मनोबल की इन उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि "मनोबल शब्द में वैयक्तिक और सामूहिक मनोबल सम्मिलित है।" वह 'मनोबल' उत्साह, अनुभूति और साहस है जिससे व्यक्ति अथवा समुदाय प्रेरित होकर अधिक कार्य करते हैं। "मनोबल कर्मचारी की शक्ति, विश्वास, स्वाभिमान और लगन अथवा उत्साह का प्रतीक है।" मनोबल में उच्च और निम्न दोनों ही तरह के मनोबल सम्मिलित होते हैं।

1 *Marshall E. Dimock* : The Executive in Action, p 205
2 *John Robert Beishline* : Military Management for National Defence, 1950, p 229
3 *Theo Haimann* , Op cit , p 453

मनोबल की विशेषताएँ या प्रकृति
(Characteristics or Nature of Morale)

मनोबल के अर्थ और उसकी परिभाषाओं के अध्ययन से इसकी विशेषताएँ या प्रकृति का बोध होता है, जिसका विश्लेषण निम्नानुसार किया जा सकता है—

1. व्यक्तिगत एवं सामूहिक—मनोबल में वैयक्तिक और सामूहिक दोनों ही तरह के मनोबल सम्मिलित हैं। वैयक्तिक मनोबल उस दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है जो एक कर्मचारी अपनी संस्था के प्रति रखता है। अतएव इसका अभिप्राय उस सन्तुष्टि से है जो कर्मचारी को अपने कार्य से तथा कार्य करने वाले समूह का सदस्य होने से प्राप्त होती है। सामूहिक मनोबल का दृष्टिकोण अधिक व्यापक है। यह कार्य करने वाले सम्पूर्ण समूह की सन्तुष्टि पर बल देता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि वैयक्तिक मनोबल द्वारा ही सामूहिक मनोबल का आविर्भाव अथवा उत्पत्ति होती है।

2. उच्च एवं निम्न—मनोबल दो भागों में वर्गीकृत है—(क) उच्च, एवं (ख) निम्न। उच्च मनोबल को अभिव्यक्त करने के लिए सामान्यतया समूह-भावना (Team-Spirit), जोश या उत्साह, टिके रहने का गुण, नैराश्य-प्रतिरोध आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार यदि व्यक्ति या समूह बिना विवाद या कलह के ठीक भावना से या जोश से अपना कार्य सम्पादित करते हैं और उनमें कार्य करने की चाह अथवा उत्सुकता परिलक्षित होती है तो मनोबल उच्च माना जाता है। निम्न मनोबल को अभिव्यक्त करने के लिए सामान्यतया विवाद, उदासीनता, निराशा आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। उच्च मनोबल तस्वीर के धनात्मक (Positive) या सकारात्मक पहलू को और निम्न मनोबल ऋणात्मक (Negative) पहलू को अभिव्यक्त करता है।

3. मानसिक अवस्था—मनोबल व्यक्तियों और समूहों की मानसिक अवस्थाओं का सूचक है।

4. मानसिक तत्त्व—मनोबल उत्साह, भावना, विश्वास, आशा आदि मानसिक तत्त्वों पर आधारित है।

5. सम्पूर्ण वातावरण—मनोबल किसी वर्ग, समुदाय या समाज के सदस्यों में व्याप्त समग्र वातावरण को अभिव्यक्त करता है।

6. सामूहिक उद्देश्य—मनोबल किसी सामूहिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किसी व्यक्ति-समूह की दृढ़तापूर्वक और निरन्तर एक साथ काम करने की इच्छा या भावना है।

मनोबल की विशेषताओं के बारे में डेल योडर का विचार है कि अधिकांश नियोक्ता या प्रबन्धक उत्पादकता (Productivity) और किस्म (Quality) को उच्च मनोबल के साथ सम्बन्धित करते हैं ताकि कर्मचारियों के मनोबल का विकास एवं अनुरक्षण सम्भव हो सके। डेल योडर ने उच्च मनोबल को कर्मचारी अथवा श्रमिक समूह की उस मस्तिष्कावस्था से सम्बन्धित किया है जो समूह गतिविधियों तथा समूह कार्यों के प्रति उत्साही और मैत्रीपूर्ण दृष्टिगत होती है। इसके विपरीत यदि समूह असन्तुष्ट, आलोचक, क्षुब्ध अथवा निराशावादी हो तो यह उसके निम्न मनोबल का सूचक है। कीथ डेविस का अभिमत है कि उच्च मनोबल एक सुप्रबन्धित संगठन का प्रतीक है जिसे उकसाया अथवा खरीदा नहीं जा सकता है। निम्न मनोबल के सूचक तत्त्व हड़तालें, शिथिल कार्य, अनुपस्थिति आदि होते हैं।

मनोबल का महत्त्व
(Importance of Morale)

प्रत्येक संगठन या संस्था में मनोबल की भूमिका निर्विवाद है। इसके महत्त्व की निम्नानुसार विवेचना की जा सकती है—

1. मनोबल मानसिक बल के रूप में—मनोबल प्रत्येक संगठन या संस्था का मानसिक बल है, उसका आवश्यक तत्त्व है। उच्च मनोबल संगठन को सफलता की ओर अग्रसर करता है जबकि निम्न मनोबल संस्था के विकास में बाधक होता है। एक सैनिक संगठन मनोबल के आधार पर ही पराजय को विजय में बदल सकता है, व्यापारिक तथा प्रशासनिक संगठनों में मनोबल वह केन्द्र-बिन्दु है, जिससे प्रशासन की सभी रेखाएँ प्रसारित की जाती हैं।

2. प्रशासकीय व्यवहार का प्रेरक तथा संचालक—मनोबल प्रशासकीय व्यवहार का प्रेरक है तथा उसका संचालक भी। प्रशासन के विभिन्न सिद्धान्तों का संगठन में जिस रूप में पालन किया जाता है वह उसके मनोबल पर अपना प्रभाव डालता है। संगठन को निर्देशित, पथ-प्रदर्शित एवं पर्यवेक्षित करने के लिए सम्बन्धित अधिकारियों द्वारा जो कदम उठाए जाते हैं, उनका संगठन के मनोबल पर गहरा प्रभाव पड़ता है। मनोबल को एक प्रकार से

संगठन की जीवन-शक्ति कह सकते हैं जिसके बिना समस्त प्रशासकीय क्रियाएँ निर्जीव रूप में संचालित होती रहती हैं। यदि संगठन को परम्परावादी सिद्धान्तों के आधार पर संचालित किया जाए तो यह सम्भव नहीं है कि उसके सभी सदस्यों का वांछित सहयोग प्राप्त किया जा सके। वर्तमान में बड़े स्तर के संगठनों में यान्त्रिक विचारधारा को निराधार तथा प्रभावहीन माना जा चुका है।

वर्तमान समय में यह समझा जाता है कि संगठन तथा सरकार एक मानवीय संस्था है जिसे केवल औपचारिक प्रबन्ध एवं सिद्धान्तों के आधार पर संचालित नहीं किया जा सकता। इसके लिए मानवीय दृष्टिकोण, उत्साह एवं स्वामिभक्ति आवश्यक है। प्रशासकीय कार्य मूल रूप से एक मानवीय कार्य है और इससे सम्बन्धित सभी समस्याएँ मानवीय मनोदशा एवं बौद्धिक चेतना की समस्याएँ हैं। इस प्रकार प्रशासन का स्वरूप उसके कर्मचारियों एवं अधिकारियों के मनोबल तथा भावनात्मक तुष्टि के आधार पर निर्धारित होता है। जिस संगठन के पदाधिकारियों को अपने कार्य में सन्तोष रहता है वे अपेक्षाकृत संगठन को अपना अधिक योगदान देते हैं। इस प्रकार जिस कर्मचारी के कार्य का उचित मूल्यांकन किया जाता है तथा जिसके व्यवहार की उचित प्रशंसा की जाती है, वह कई बार आशातीत रूप में अपनी योग्यताओं से संगठन को लाभान्वित करता है।

3. सेवीवर्ग में मनोबल विकसित करना—एक मानवीय क्रिया होने के कारण प्रशासकीय संगठन की सफलता उसके सेवीवर्ग के सन्तोष-असन्तोष, दुख, ग्लानि, प्रशंसा तथा ऐसे ही अन्य अनेक भावों तथा प्रवृत्तियों द्वारा निश्चित की जाती है। जिस देश के लोकसेवक अपने कार्य में पूरा उत्साह दिखाते हैं और देशभक्तिपूर्ण भावनाओं से अभिप्रेरित रहते हैं उस देश का शासन निश्चित रूप से प्रभावी रूप में संचालित होता है। ब्रिटिश नागरिक सेवा के सम्बन्ध में जो प्रशंसात्मक वाक्य लिखे गए हैं उन सबके पीछे सेवीवर्ग का उच्च मनोबल ही कार्य कर रहा है। यदि किसी संगठन में योग्य व्यक्तियों को भर्ती किया जाए, प्रशिक्षण द्वारा उनकी क्षमताओं को परिष्कृत कर दिया जाए, साथ ही सेवीवर्ग के साथ उचित व्यवहार किया जाए, तो उस संगठन के असफल होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

4. मनोबल के वांछनीय परिणाम—आर. सी. डेविस के अनुसार, उच्च मनोबल से किसी भी संस्था या उपक्रम में निम्नलिखित प्रभाव उत्पन्न होने चाहिए—[1]

(1) संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु स्वैच्छिक सहयोग।
(2) श्रेष्ठ अनुशासन और नियमों, व्यवस्थाओं तथा आदेशों का स्वैच्छिक अनुपालन।
(3) संगठन तथा नेतृत्व के प्रति वफादारी।
(4) संगठन के प्रति गौरव।
(5) कर्मचारियों के पहलपन का उचित और प्रभावपूर्ण प्रदर्शन।
(6) सुदृढ़ संगठनात्मक क्षमता या कठिन समय में संगठन को उबारने की चेष्टा और योग्यता।
(7) संगठन तथा कार्यों में कर्मचारियों की बढ़ी हुई रुचि।

5. मनोबल के अभाव के दुष्परिणाम—जब कर्मचारियों का मनोबल गिरा हुआ होता है तो संगठन में अनेक दोष पैदा हो जाते हैं। यदि कर्मचारी उदासीन हैं, झगड़ालू प्रकृति के हैं, अनुशासनहीन हैं, कार्य के प्रति रुचि नहीं रखते हैं, आलोचक और विरोधी हैं तो यही माना जाता है कि कर्मचारियों का मनोबल निम्न है। डॉ. विलियम आर. स्प्रीगल (William R. Spriegel) ने निम्न मनोबल के दुष्परिणाम इस प्रकार बताए हैं—

(1) उत्पादकता में कमी आती है।
(2) अनुपस्थितियाँ बढ़ती हैं।
(3) नियमों तथा पर्यवेक्षण कार्य में विरोध उत्पन्न होता है।
(4) शिकायतों, परिवेदनाओं आदि में वृद्धि होती है।
(5) कर्मचारियों में मन-मुटाव होता है।
(6) श्रमिकों की बदली में वृद्धि होती है।
(7) दुर्घटनाएँ बढ़ती हैं।

सारांशतः मनोबल एक संस्था का प्राण है, उसकी जीवन-शक्ति है। कीथ डेविस ने मनोबल के महत्त्व को इंगित करते हुए ठीक ही लिखा है कि "जिस प्रकार औरत की शक्ति का अनुमान कभी भी कम नहीं लगाना चाहिए, उसी प्रकार मनोबल की शक्ति का अनुमान भी कभी कम नहीं लगाना चाहिए।"

1. *Ralf C. Davis* : The Fundamentals of Top Management, p 552

में प्रायः ऐसे व्यवहार की आशा नहीं की जाती है। उत्पादन की मात्रा से मनोबल का प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो अथवा न हो, किन्तु प्रत्येक प्रशासकीय संगठन के नेता अथवा अध्यक्ष का प्रयत्न होना चाहिए कि वह अपने कर्मचारियों का मनोबल बढ़ाए। संगठन के सदस्यों का मनोबल ही इसे अपेक्षाकृत अधिक सफल बनाता है।

मनोबल को प्रभावित करने वाले तत्त्व

(Factors Affecting Morale)

किसी भी संस्था अथवा उपक्रम में मनोबल को प्रभावित करने वाले अनेक तत्त्व होते हैं। प्रायः कहा जाता है कि मनोबल को प्रत्येक चीज प्रभावित कर सकती है—कुछ की तीव्रता अधिक होती है, कुछ की सामान्य और कुछ की बहुत ही कम। प्राय मनोबल को प्रभावित करने वाले या उसके निर्धारक तत्त्वों में निकटतम पर्यवेक्षण (Immediate Supervision), संगठन के कार्य (Company Operation), व्यक्तिगत पुरस्कार (Personal Reward), *कार्य-सन्तुष्टि (Job Satisfaction), कार्य की मनोवैज्ञानिक दशाएँ (Psychological Conditions* of Work), कार्य के सम्बन्ध (Work Relations), संगठन में एकीकरण (Integration in the Organisation) आदि को सम्मिलित किया जाता है।

फिलप्पो (Flippo) ने मनोबल को प्रभावित करने वाले घटकों में निम्नलिखित को सम्मिलित किया है[1]—

(1) वेतन (Pay), (2) सुरक्षा (Security), (3) किए गये कार्य की प्रसिद्धि (Credit for work done), (4) कार्य-दशाएँ (Working Conditions), (5) उचित एवं योग्य नेतृत्व (Fair and Competent *Leadership), (6) अवसर (Opportunity), (7) सहयोगियों की अनुकूलता* (Congeniality of Associates), (8) कर्मचारी-लाभ (Employee Benefits), *(9) सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status)* तथा (10) उचित क्रिया (Worthwhile Activity)।

डॉ. लेटन ने मनोबल रूपी मेज के पाँच पाए बताए हैं। डॉ. लेटन के विवरण के सारांश को प्रस्तुत करते हुए मामोरिया एवं दशोरा ने लिखा है—विस्तृत रूप में मनोबल निम्नांकित पाँच मुख्य घटकों पर आधारित है जिसका विद्यमान होना अथवा न होना विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर करता है—

(1) समूह के प्रत्येक सदस्य का समूह के उद्देश्यों में विश्वास।

(2) समूह के प्रत्येक सदस्य का नेतृत्व के सभी स्तरों में दृढ़ विश्वास अर्थात् नेतृत्व की योग्यता में विश्वास तथा नेतृत्व से सीधा सम्पर्क।

(3) समूह के प्रत्येक सदस्य का अन्य समूहों में दृढ़ विश्वास अर्थात् एक ऐसी धारणा कि वे सभी समूहों के प्रति स्वामिभक्त हैं तथा उनकी कठिनाई में अन्य लोग भी सहयोग करेंगे।

(4) समूह के प्रत्येक सदस्य का समूह में दृढ़ विश्वास अर्थात् मानसिक, भावनात्मक, भौतिक तथा कार्य की दशाओं में दृढ़ विश्वास।

(5) प्रबन्धात्मक योग्यता में दृढ़ विश्वास के अन्तर्गत दो बातें सम्मिलित की जाती हैं—

(अ) संगठन की स्थिति, प्रबन्ध एवं आदेश प्रदान करने की विधियाँ, सम्प्रेषण प्रणाली तथा माल पूर्ति की विधियाँ।

(ब) प्रत्येक संगठन में एक अनौपचारिक संगठन होता है जो औपचारिक संगठन की भाँति ही महत्त्वपूर्ण होता है। कई बार अनौपचारिक संगठन अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि जिन अवस्थाओं में औपचारिक संगठन निष्फल हो जाते हैं, अनौपचारिक वार्तालाप द्वारा संगठन की स्थिति सुधारी जाती है। संगठनात्मक योग्यता प्रबन्धन के कार्य की प्रणाली पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त सम्प्रेषण प्रणाली पर यह निर्भर करता है कि व्यक्ति कितनी शीघ्रता से अपनी समस्याओं का निराकरण प्राप्त करता है एवं कितनी शीघ्रता से परस्पर सम्पर्क करने में समर्थ है।

उल्लेखनीय है कि मनोबल प्रभावक तत्त्वों में से कुछ को प्रशासन अथवा प्रबन्ध द्वारा प्रभावित किया जा सकता है जबकि अन्य उसके प्रभाव से अछूते रहते हैं। प्रो. हैमेन ने प्रभाव डालने वाले इन तत्त्वों को स्रोत की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया है। इसके प्रथम स्रोत स्वयं अधीनस्थ अधिकारी होते हैं। अधीनस्थों का एक निश्चित दृष्टिकोण बनाने के लिए आवश्यकता है कि पहले उनको यह बात समझाई जाए। यदि अधीनस्थों की साझेदारी की क्षमता सीमित है तो कोई आशा नहीं है कि उस संगठन का मनोबल ऊँचा उठ पाएगा।

संगठन के एक सदस्य के मनोबल के पीछे उसका स्तर एवं स्थिति भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। एक फैक्ट्री में कार्य करने वाले उन मजदूरों में, जो प्रभावशाली संघों के नेता हैं या सदस्य हैं, एक विशेष

1. *Edwin B. Flippo* : Principles of Personnel Management, p. 418.

प्रकार का मनोबल होता है। इन तत्त्वों का दूसरा स्रोत प्रबन्ध के अधिकार के बाहर की चीज है। इसमें हम उन तत्त्वों को सम्मिलित करते हैं जो बाह्य होते हुए भी उसके मनोबल पर प्रभाव डालते हैं। पारिवारिक समस्याएँ, धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं के उत्तरदायित्व एवं मजदूर संघों आदि की माँग कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो बाह्य होते हुए भी मनोबल को प्रभावित करते हैं। ये संघ एवं संस्थाएँ आवश्यक रूप से संगठन के मनोबल को नीचा नहीं गिरातीं, किन्तु कई बार ये उसके विकास में सहायक होती हैं। तीसरे, मनोबल को प्रभावित करने वाले कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो प्रबन्ध के अधिकार-क्षेत्र में होते हैं, जैसे—संगठन की नीतियाँ, प्रक्रियाएँ, लक्ष्य, संचार-व्यवस्था आदि। इनके अतिरिक्त संगठन में एक अच्छा नेतृत्व, सन्तोषजनक संगठनात्मक व्यवस्था, आदेश की एकता, पर्याप्त पुरस्कार और अनुशासन, उच्च अधिकारी का अधीनस्थ के प्रति दृष्टिकोण आदि मिलकर संगठन में मनोबल को निर्धारित करते हैं। कई बार अधीनस्थ अधिकारियों के मनोबल पर उस कार्य का बहुत कम प्रभाव पड़ता है जो किया जा रहा है, किन्तु उस तरीके का अधिक प्रभाव पड़ता है जो नहीं किया जा रहा है। यदि अधीनस्थों को यह शक हो जाए कि उच्च अधिकारी उनके व्यवहार पर तथा कार्य के लक्ष्यों पर विश्वास नहीं करता तो मनोबल निम्न स्तर पर होगा। हेमेन के अनुसार, "इसमें सन्देह नहीं कि अधीनस्थ का मनोबल प्रबन्धक के प्रतिदिन के सम्पर्क द्वारा दृढ़ता से प्रभावित होता है। प्रबन्धक जिस ढंग से पर्यवेक्षण, निर्देशन, नेतृत्व एवं सामान्य दृष्टिकोण प्रदर्शित करेगा उसके आधार पर अच्छा या बुरा मनोबल बन जाएगा।"

मनोबल के अंग

(Components of Morale)

लेटन एवं शिलिन्डर (Laighton and Schelinder) ने लिखा है कि "मनोबल एक भावनात्मक एवं मानसिक स्थिति है जो कार्य करने की इच्छा को प्रभावित करती है और इस इच्छा से व्यक्तिगत तथा संगठनात्मक उद्देश्य प्रभावित होते हैं।" इन विद्वानों का अभिमत है कि कर्मचारी मनोबल (Employee Morale) मुख्यतः निम्नलिखित अंगों के संयोजन का परिणाम है—

1. यह क्या है ? (What it is ?)—यह मानव-मस्तिष्क की एक अभिवृत्ति है, कार्य की प्रवृत्ति है, कल्याण की एक स्थिति है और एक भावात्मक दबाव है।

2. यह क्या करता है ? (What it does ?)—यह उत्पादन, किस्म, लागत, सहयोग, उत्साह, अनुशासन, स्वतः प्रेरणा और सफलता सम्बन्धी तत्त्वों को प्रभावित करता है।

3. यह कहाँ रहता है ? (Where it resides ?)—यह व्यक्तियों अथवा सहयोगियों के मस्तिष्क एवं भावनाओं तथा उनकी सामूहिक प्रतिक्रियाओं को प्रभावित करता है।

4. यह किसको प्रभावित करता है ? (Whom does it effect ?)—यह निकटतम सहयोगियों, अधिकारियों, समाज तथा उपभोक्ताओं को प्रभावित करता है।

5. यह क्या प्रभावित करता है ? (What does it effect ?)—यह कार्य के प्रति अभिरुचि, प्रतिष्ठान के सर्वोत्तम हित में सहयोग, व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि में सहयोग आदि को प्रभावित करता है।

मनोबल के प्रकार

(Types of Morale)

मनोबल के मुख्य प्रकार निम्नांकित हैं—

1. व्यक्तिगत मनोबल (Individual Morale)
2. समूह या सामूहिक मनोबल (Group Morale)
3. कार्य मनोबल (Job Morale)
4. संगठन मनोबल (Organisation Morale)
5. उच्च एवं निम्न मनोबल (High and Low Morale)

मनोबल के व्यक्तिगत एवं सामूहिक दो पहलू होते हैं। ये दोनों ही एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। एक के द्वारा दूसरे को प्रेरणा एवं स्थिरता प्राप्त होती है। व्यक्तिगत रूप में मनोबल अनेक परिस्थितियों के आधार पर तैयार होता है, जैसे—उन्नति प्राप्त करने के अवसर, सम्मान और व्यक्तिगत शक्ति, सफल एवं आदर के योग्य समझे जाने का अधिकार तथा व्यक्तिगत आत्म-विकास का अवसर आदि। संगठन में सामूहिक मनोबल को विकसित करने वाली स्थितियों में मुख्य हैं—आकर्षक व्यक्तिगत संस्थाएँ, संगठन की शर्तें एवं कर्मचारियों के स्वाभाविक दृष्टिकोणों एवं तरीकों में एकरूपता, संचार के उपयुक्त साधन आदि-आदि। मनोबल का व्यक्तिगत रूप कर्मचारी को अपना कार्य श्रेष्ठ रूप में सम्पन्न करने के लिए प्रेरित करता है ताकि उसे व्यक्तिगत रूप से मान्यता

प्राप्त हो सके। मनोबल का संस्थागत रूप कर्मचारी को संगठन के उद्देश्य एवं लक्ष्यों के साथ एकाकार होने के लिए प्रेरित करता है ताकि उसका संगठन अधिक प्रतिष्ठित बन सके।

इसी प्रकार मनोबल किसी विशिष्ट तथ्य, उदाहरणार्थ—कृत्य, वेतन, कार्य की दशाओं आदि की अपेक्षा समग्र की विचारधाराओं, भावनाओं आदि से सम्बन्ध रखता है। संगठन मनोबल में व्यक्ति की मानसिक अवस्था है जो उसे अपने व्यक्तिगत हित की अपेक्षा संगठन की सेवा के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करने को अभिप्रेरित करती है। एक अन्य दृष्टिकोण से मनोबल को उच्च एवं निम्न बताया गया है।

मनोबल कैसे विकसित करें ?

(How to Develop Morale?)

मनोबल प्रत्येक संगठन का अविभाज्य, अपरिहार्य और अविच्छिन्न अंग माना जाता है। यह संगठन में सदैव उपस्थित रहता है और वह अपने आप में न अच्छा है न बुरा। आवश्यकताएँ, परिस्थितियाँ एवं संगठन का स्वरूप इस बात को निर्धारित करता है कि मनोबल कितना लाभदायक रहेगा। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि मनोबल पैदा नहीं किया जाता, वह विकसित किया जाता है।

उच्च स्तर का मनोबल वह है जिसमें कर्मचारी स्वेच्छा से अधिक से अधिक कार्य करना चाहते हैं। उनको संगठन में अपनी स्थिति से पूरा सन्तोष रहता है तथा अपनी एवं अपने साथियों की योग्यताओं पर विश्वास रहता है। इस प्रकार के उच्च मनोबल को आदेश द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता। हैमेन के अनुसार, "इसे कार्य की स्थिति में कुछ ऐसी शर्तों का समारम्भ करके निर्मित किया जा सकता है जो इसके विकास के लिए उपयुक्त हैं।"[1] कुछ विचारकों का मत है कि जिस संगठन में मनोबल ऊँचा होता है, उसमें मानव सम्बन्धों का रूप भी श्रेष्ठ होता है, किन्तु यह मत अधिक सही नहीं है क्योंकि उच्च मनोबल अच्छे मानव-सम्बन्धों का कारण नहीं है, इसके विपरीत यह अच्छे मानव-सम्बन्धों का परिणाम है। एक विशेष संगठन में जब व्यक्ति को आदर और सम्मान दिया जाता है, व्यक्तिगत भेदों को पहचाना जाता है, नेतृत्व अच्छा होता है, संचार प्रभावशाली होता है, अधीनस्थों का योगदान एवं सहयोग प्राप्त होता है, वहाँ मनोबल का स्तर काफी ऊँचा होता है।

मनोबल के व्यक्तिगत एवं सामूहिक दो पहलू होते हैं। ये दोनों ही एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। एक के द्वारा दूसरे को प्रेरणा एवं स्थिरता प्राप्त होती है। व्यक्तिगत रूप में मनोबल अनेक परिस्थितियों के आधार पर तैयार होता है, जैसे—अन्तर प्राप्त करने के अवसर, सम्मान और व्यक्तिगत शक्ति, साफल एवं आदर के योग्य समझे जाने का अधिकार तथा व्यक्तिगत आत्मविकास का अवसर आदि। संगठन में सामूहिक मनोबल को विकसित करने वाली स्थितियों में मुख्य हैं—आकर्षक व्यक्तिगत संस्थाएँ, संगठन की शर्तों एवं कर्मचारियों के स्वाभाविक दृष्टिकोणों एवं तरीकों में एकरूपता, संचार के उपयुक्त साधन आदि-आदि। मनोबल का व्यक्तिगत रूप कर्मचारी को अपना कार्य श्रेष्ठ रूप में सम्पन्न करने के लिए प्रेरित करता है ताकि उसे व्यक्तिगत रूप से मान्यता प्राप्त हो सके। मनोबल का संस्थागत रूप कर्मचारी को संगठन के उद्देश्य एवं लक्ष्यों के साथ एकाकार होने के लिए प्रेरित करता है ताकि उसका संगठन अधिक प्रतिष्ठित बन सके।

किसी भी संगठन में उच्च मनोबल की स्थापना के लिए विभिन्न उपाय किये जा सकते हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. संगठन के उद्देश्य एवं लक्ष्य का ज्ञान—जिस संगठन में हम उच्च मनोबल की स्थापना करने जा रहे हैं उसमें सर्वप्रथम यह व्यवस्था करनी चाहिए कि सभी सदस्य संगठन के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों से परिचित हो सकें। लक्ष्यहीन प्रयासों में प्रभावशीलता, उत्साह एवं व्यक्तिगत रुचि का अभाव पाया जाता है। उद्देश्य का ज्ञान कराने पर मनोबल ऊँचा उठाने के उदाहरण सैनिक प्रशासन में पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। जब जर्मनी के सैनिकों को यह बताया गया कि केवल उन्हीं की धमनियों में शुद्ध आर्य रक्त बहता है और इसलिए सारे विश्व पर विजय प्राप्त करके साम्राज्य स्थापित करना उनका महत्त्वपूर्ण अधिकार एवं कर्त्तव्य है तो वे सभी हिटलर के अनुयायी हो गए। देश की स्वतन्त्रता एवं आक्रमणकारी के विनाश के लक्ष्य पर चलने वाले देशभक्त सैनिकों का मनोबल बहुत ऊँचा होता है। प्रशासकीय संगठनों में भी मनोबल विकसित करने के लिए जरूरी है कि उसके कर्मचारियों को संगठन के लक्ष्य का ज्ञान हो; साथ ही वे इस बात से भी परिचित हों कि उनका कार्य संगठन के लक्ष्य को प्राप्त करने में कहाँ तक सहयोग करेगा। प्रशिक्षण द्वारा भी कर्मचारी के सम्मुख संगठन तथा कर्मचारी के कार्य का उद्देश्य स्पष्ट किया जाता है।

1 *Theo Haimann : Op cit., p 453*

कहा जाता है कि संगठन में निम्न स्तर के कर्मचारियों के लिए सरकारी नीति के सामान्य तत्त्वों का वर्णन अधिक महत्त्व नहीं रखता है। फिर भी यदि कर्मचारियों की निरपेक्षता एवं उदासीनता अविश्वास एवं विरोध में परिवर्तित होने की सम्भावना हो, तो मनोबल पर भी उसका प्रभाव पड़ेगा। अनुभव के आधार पर कहा जाता है कि संगठन के सदस्यों को नीति से परिचित कराने के लिए कुछ निश्चित कदम उठाना आवश्यक बन जाता है। यदि संगठन के कर्मचारी महत्त्वपूर्ण नीतियों से सूचित रहते हैं तो संगठन के प्रति अपनत्व का भाव विकसित होता है।

2. नीति-निर्माण में भाग लेने की भावना—जब संगठन के कर्मचारियों को यह विश्वास हो जाता है कि उनको नीति-निर्माण के कार्य में भाग लेने का अवसर प्रदान किया जा रहा है तो अपने दायित्वों में विशेष रुचि लेने लगते हैं। उनको ऐसा महसूस होता है मानो उन पर ही संगठन के संचालन का उत्तरदायित्व है। उत्तरदायित्व का यह भार उनको गम्भीरता प्रदान करता है। एक कर्मचारी के संगठन की प्रक्रिया एवं स्वरूप सम्बन्धी सुझाव को यदि उच्चाधिकारी ध्यान देकर सुनें, उस पर विचार करें तथा उसे उचित प्रशंसा प्रदान करें तो कर्मचारी को यह अनुभव होता है कि उसका भी कुछ महत्त्व है। फलतः उसका मनोबल ऊँचा होता है। इससे वह अधिक उत्साह और प्रेरणा से कार्य करने को प्रेरित होगा।

3. कार्य की वांछनीयता—संगठन का प्रत्येक कर्मचारी यदि यह सोचता है कि प्रस्तुत पद उसके सम्मान, गुण एवं बुद्धिमत्ता के अनुरूप है तो उससे सन्तोष की भावना उत्पन्न होगी। जब कर्मचारी यह सोचने लगता है कि वह जिस कार्य को कर रहा है, वह कोई महत्त्व ही नहीं रखता, तो यह संगठन के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध होता है। कर्मचारी को कार्य करने से वेतन प्राप्त हो, केवल यही पर्याप्त नहीं है, यथार्थ में उसे इससे सन्तोष भी प्राप्त होना चाहिए। डॉ. एल. डी. ह्वाइट ने ठीक ही लिखा है कि उच्च मनोबल मूलतः उस विश्वास के साथ जुड़ा होता है जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य को महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान मानता है। इस विश्वास का विकास करना प्रबन्ध का महत्त्वपूर्ण दायित्व है जिसे केवल अवसर पर नहीं छोड़ा जा सकता है।

4. उच्चाधिकारी में विश्वास—संगठन के कर्मचारियों के मनोबल को ऊँचा उठाने का यह एक महत्त्वपूर्ण आधार समझा जाता है कि वे अपने उच्चाधिकारियों की ईमानदारी, निष्पक्षता एवं न्यायप्रियता में विश्वास करें और यह मानकर चलें कि वे जो कुछ भी निर्णय लेंगे, संगठन की अच्छाई के लिए ही होंगे। जब उनको यह सन्देह होने लगता है कि उच्च अधिकारी या सहयोगी कर्मचारी संगठन के कल्याण के लिए नहीं, वरन् व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि के लिए प्रयास कर रहे हैं तो उनका मनोबल गिरने लगता है।

5. भावनाओं का विकास—संगठन का मनोबल ऊँचा उठाने का एक अन्य महत्त्वपूर्ण साधन यह है कि कर्मचारियों का भावनात्मक विकास कर उनमें स्वामिभक्ति के भाव व्याप्त किए जाएँ। एक कुशल और समर्पित नेतृत्व के माध्यम से ऐसा किया जा सकता है।

6. प्रेरणादायक नेतृत्व—सैनिक एवं व्यापारिक संगठनों में प्रेरणादायक नेतृत्व का महत्त्व सर्वविदित है। महाराणा प्रताप जैसे सेनापति ने केवल थोड़े से सैनिकों के बल पर सम्राट अकबर की विशाल सेनाओं के दाँत खट्टे कर दिए थे। प्रभावशाली नेतृत्व अपने अधीनस्थों एवं सहयोगियों में मनोबल का विकास करने के लिए अनेक उपाय अपना सकता है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली तरीका उसका स्वयं का व्यवहार है जो संगठन के सदस्यों पर अमिट छाप छोड़ जाता है।

7. कार्य की उचित शर्तें—कर्मचारी में मनोबल के विकास के लिए आवश्यक कई शर्तें इस बात से प्रभावित होती हैं कि उनको कार्य करने की उचित दशाएँ प्रदान की जाती हैं या नहीं। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो उन्हें अपने कार्य से सन्तोष नहीं होगा, वे नेतृत्व से प्रभावित नहीं होंगे तथा अपने उच्च अधिकारी की ईमानदारी पर सन्देह करेंगे। अतः उच्च मनोबल की स्थापना के लिए यह उपयोगी है कि कर्मचारियों का कार्य निरन्तर हो, उसको अच्छा वेतन दिया जाए, उनको छुट्टियों की सुविधा, पदोन्नति के अवसर, सन्तोषजनक सेवा-निवृत्ति के लाभ आदि प्रदान किए जाएँ।

8. पदोन्नति के अवसर—संगठन के प्रायः सभी सदस्य पदोन्नति चाहते हैं। यदि उन्हें यह आश्वासन मिल जाए कि उनको पदोन्नत किया जा सकता है तो वे अधिक कुशलता के साथ कार्य करना चाहेंगे। जिन व्यक्तियों को पदोन्नति प्राप्त नहीं होती है, वे निराशा के भँवर में डूबते हैं। यह स्थिति संगठन के लिए घातक सिद्ध हो सकती है।

9. कार्य की मान्यता—मानव-प्रकृति अपने कार्यों की मान्यता एवं सराहना चाहती है। यदि सरकार के कार्यों को जनहित में उचित मान्यता मिल जाए, उसकी उचित प्रशंसा कर दी जाए तो वह अपने आपको पुरस्कृत समझने लगती है। यदि कोई अधिकारी अपने कार्य में असाधारण योग्यता प्रदर्शित करता है तो उसे उसके व्यवसायियों एवं जनता के सम्मुख उचित सम्मान दिया जाना चाहिए।

मनोबल को नष्ट या प्रभावहीन बनाने वाले कारक

(Causes which Destroy or Undermine Morale)

मनोबल को कमजोर करने में राजनीतिक हस्तक्षेप की अहम भूमिका होती है। जिस देश में नागरिक सेवाओं पर राजनीतिक हस्तक्षेप रहता है, वहाँ मनोबल बहुत गिर जाता है। इस संकट को रोकने के लिए आवश्यक है कि प्रथम, राजनीतिक अध्यक्ष एवं प्रशासनिक सेवाओं के बीच उचित सम्बन्धों का विकास किया जाए। द्वितीय, असुरक्षा की भावना दूर की जाए। इस भावना के कई रूप हो सकते हैं, जैसे—सेवा का समाप्त हो जाना, पुनर्वर्गीकरण और वेतन-स्तरों में कमी, अभिकरण का पुनर्गठन आदि। एल. डी. व्हाइट के अनुसार, "राजनीतिक और प्रशासनिक अस्थिरता मनोबल के प्रभाव को घटाती है जबकि स्थायित्व इसके निर्माण के लिए नींव का काम करता है।" तृतीय, कभी-कभी गलत प्रेस भी नागरिक सेवाओं के मनोबल को नीचा गिरा देता है। प्रत्येक देश में समाचार-पत्रों की रुचि प्राय आलोचना एवं दोषपूर्ण बिन्दुओं पर केन्द्रित हो जाती है, ईमानदारी एवं कार्य-कुशलता पर नहीं। व्हाइट के कथनानुसार, "हम किसी भी योग्यतम व्यक्ति से यह आशा नहीं कर सकते कि वह उस सेवा की इच्छा करे जो ऐसी अनुत्तरदायी आलोचना का विषय है जिसमें कि कुछ समाचार-पत्रों द्वारा सरकारी अधिकारियों एवं कर्मचारियों के विरुद्ध कीचड़ उछाली जाती है।"

मनोबल का माप

(Measurement of Morale)

किसी संगठन या उपक्रम में कर्मचारियों का मनोबल कैसा है ? यह ज्ञात करने के लिए उनके कार्यों, हाव-भाव, सुझाव, मौखिक विचार, आलोचनाओं, पूछे गए प्रश्नों के उत्तर आदि का विवेकपूर्ण उपयोग किया जाता है। मनोबल को मापने के लिए प्राय औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों विधियों (Both Formal and Informal Methods) का सहारा लिया जाता है।

(क) औपचारिक विधियाँ—इन्हें क्रमबद्ध विधियाँ भी कहते हैं। इनमें प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष विधियाँ सम्मिलित हैं। प्रत्यक्ष विधियों में प्रश्नावलियाँ, सम्मति सर्वेक्षण, धारणा-माप आदि सम्मिलित किए जाते हैं जबकि अप्रत्यक्ष विधियों में उत्पादन स्तर, अनुपस्थिति, विक्रय दर आदि के आधार पर मनोबल ज्ञात किया जाता है।

(ख) अनौपचारिक विधियाँ—इन विधियों में निम्नलिखित बातें महत्वपूर्ण हैं—(i) विशेष अवसरों पर कर्मचारियों की टिप्पणियों या विचारों का विश्लेषण अथवा निर्वचन, (ii) कर्मचारी तथा कर्मचारी समूह-व्यवहार का अध्ययन एवं (iii) पर्यवेक्षकों द्वारा रिपोर्ट किए गए विचार और कर्मचारी के प्रति धारणाएँ।

मनोबल का मूल्यांकन करने के लिए सामान्यतः निम्नलिखित विधियाँ प्रयोग में लाई जा रही हैं—

(i) अवलोकन (Observation)—इस विधि में उपक्रम का प्रबन्धक कर्मचारी के व्यवहार, हाव-भाव और कार्यों को देखता रहता है तथा कर्मचारी की बातें सुनता है। वह कम्पनी के प्रति कर्मचारी के विचार को जानने का प्रयत्न करता है। कर्मचारी की कार्यकारी आदतों और अभिव्यक्तियों में परिवर्तन को ध्यान देता है। यदि कर्मचारी के सामान्य व्यवहार में कोई परिवर्तन पाया जाता है तो उसे तब तक शंका की दृष्टि से देखा जाता है जब तक कि यह स्पष्ट न हो जाए कि परिवर्तन आवश्यक था, परिवर्तन प्रतिष्ठान के लिए अनुकूल है या प्रतिकूल आदि।

(ii) साक्षात्कार (Interview)—इस विधि में कर्मचारी से आमने-सामने तथा व्यक्तिगत रूप में विचारों का मौखिक आदान-प्रदान हो सकता है। इस प्रकार दोनों पक्षों के विचार स्पष्ट हो जाते हैं तथा एक-दूसरे के विचारों में समानता लाने के लिए प्रयत्न किए जा सकते हैं। साक्षात्कार पद्धति से मतभेद के कारणों का सरलता से पता लगाया जा सकता है, बशर्ते कि साक्षात्कार पद्धति के समय प्रबन्धकों अथवा अधिकारियों द्वारा ऐसा वातावरण बना दिया जाए कि कर्मचारी वास्तव में अनुभव करे कि उसे उपयुक्त विचार-विमर्श के लिए बुलाया गया है और प्रबन्धकों की मन्शा किसी भी प्रकार उसका अहित करने की नहीं है। साक्षात्कार प्रणाली को विश्वसनीय बनाने के लिए साक्षात्कार का प्रारम्भ प्रबन्ध की ओर से किया जाना चाहिए। उसे चाहिए कि वह उपक्रम के विभिन्न व्यक्तियों से अनौपचारिक रूप से बातचीत करता रहे और उपयुक्त समय पर कुछ चुने हुए कर्मचारियों का साक्षात्कार आयोजित करे।

(iii) प्रश्नावलियाँ या धारणा सर्वेक्षण (Questionnaires or Attitude Surveys)—उपक्रमों में सामान्यतः दो प्रकार की प्रश्नावलियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं—धारणा माप (Attitude Scale) तथा सम्मति माप (Opinion Scale)। धारणा सर्वेक्षण के द्वारा यह जानकारी प्राप्त की जाती है कि कर्मचारी कम्पनी के बारे में क्या सोचते हैं, किस प्रकार की शिक्षा और सूचना वे प्राप्त करना चाहते हैं, उनकी इच्छाएँ क्या हैं आदि। मनोबल में सुधार तथा सेवीवर्गीय आयोजन की क्षमता का मूल्यांकन भी धारणा सर्वेक्षण से किया जाता है। इस प्रकार का सर्वेक्षण श्रमिकों और पर्यवेक्षकों दोनों के लिए काम में लाया जा सकता है। जानकारी विभिन्न क्षेत्रों में प्राप्त की जा

सकती है, यथा—मजदूरी की दरें, नियोजन विधि, कर्मचारी के मूल्यांकन कार्यक्रम आदि। सम्मति सर्वेक्षण के अन्तर्गत कुछ विशिष्ट विषयों—यथा, कार्य-दशाओं, कम्पनियों की नीतियों आदि पर—कर्मचारी की सम्मति प्राप्त की जाती है।

(iv) कम्पनी आलेख एवं प्रतिवेदन (Company Records and Reports)—प्रत्येक उपक्रम में कर्मचारियों के कार्य सम्बन्धी अभिलेख या प्रतिवेदन पर्यवेक्षकों तथा अधिकारियों की सहायता से तैयार किए जाते हैं। इन अभिलेखों के गहन अध्ययन से कर्मचारियों के मनोबल को भली प्रकार मापा जा सकता है। उपक्रम के अभिलेखों में उत्पादन की मात्रा एवं किस्म, कर्मचारियों के प्रतिवेदन तथा सुझाव, कर्मचारी अनुपस्थिति और मन्दता, दुर्घटनाओं की दर, दोषपूर्ण वस्तुओं की मात्रा तथा उनकी लागत आदि के बारे में जानकारी दी जाती है और इन सूचनाओं से कर्मचारियों के बढ़ते या गिरते हुए मनोबल का पता लगाया जा सकता है। इस विधि का मुख्य दोष यह है कि इससे कर्मचारियों के भूतकालीन मनोबल का ही आभास मिलता है, वर्तमान मनोबल का नहीं और इसलिए यह विधि मनोबल सुधारने के तात्कालिक उपाय सुझाने में अधिक कारगर नहीं मानी जाती है।

मनोबल और अभिप्रेरणा

(Morale and Motivation)

मनोबल और अभिप्रेरणा दोनों भिन्न होते हुए भी परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। मनोबल कार्य करने की इच्छा तथा कार्य-क्षमता के लिए प्रयुक्त किया गया है जबकि अभिप्रेरणा को कार्य की क्षमता के बीच की खाई को पाटने वाला पुल माना गया है। अतः स्वाभाविक है कि दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनोबल संस्था या उपक्रम के प्रति सन्तुष्ट और अच्छी भावना को अभिव्यक्त करता है और अभिप्रेरणा इस भावना तथा सन्तुष्टि का निर्माण करती है। जिस प्रकार व्यक्तियों तथा समूहों के लिए अभिप्रेरणाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, ठीक उसी प्रकार मनोबल भी व्यक्तियों तथा समूहों के साथ बदलता रहता है। इसके अतिरिक्त, अच्छे या बुरे अथवा उच्च या निम्न मनोबल के निर्धारक घटक अपने में अभिप्रेरणा के समस्त अंगों को सम्मिलित कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, जो धनात्मक लक्ष्य (Positive Goals) अभिप्रेरणा के अंग हैं, वे ही उच्च मनोबल के लिए सामान्यतया आवश्यक समझे जाते हैं। मनोबल के लिए समूह शक्ति अथवा समूह आकर्षण को अत्यावश्यक माना जाता है। इसी प्रकार प्रगति, कार्य-निष्पत्ति की जानकारी आदि, जो कि अभिप्रेरणा के अंग हैं, उच्च मनोबल के निर्धारक माने जाते हैं और इन सबका विपरीत निम्न मनोबल के लिए उत्तरदायी है। सारांशतः अभिप्रेरणा और मनोबल में काफी हद तक प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और अभिप्रेरणा के विभिन्न अंगों का मनोबल पर प्रभाव पड़ता है।

मनोबल और अनुशासन

(Morale and Discipline)

अनुशासन और मनोबल को एक ही चीज नहीं माना जा सकता, तथापि दोनों एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। एक का विकसित रूप दूसरे के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। यदि संगठन का मनोबल अच्छा है तो अनुशासन की समस्या अत्यन्त सरल बन जाती है। ऊँचे मनोबल से युक्त संगठन में अनुशासन से सम्बन्धित कम से कम समस्याओं की आशा की जाती है। इसके विपरीत मनोबल का निम्न स्तर संगठन में अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर देता है और इनके बीच कर्मचारियों का अनुशासन दबा रह जाता है। कई बार अनुशासन भी मात्र संगठन में मनोबल का स्तर निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। जब अनुशासन का उच्च स्तर होता है, अर्थात् संगठन का प्रायः प्रत्येक कर्मचारी संगठन के स्वीकृत नियमों एवं परम्पराओं का पालन करता है, ऐसी स्थिति में कर्मचारियों के बीच संघर्ष उत्पन्न नहीं होता है। वे आपस में परस्पर सहयोग की भावना का प्रदर्शन करके एक-दूसरे की समस्याओं को हल करने में सहायता करते हैं। मनोबल को ऊँचा उठाने वाला अनुशासन प्रायः आत्मानुशासन नहीं होता है। यह अनुशासन का वह रूप है जिसे भय और शक्ति के माध्यम से निर्धारित किया जाता है। किसी भी संगठन में तब तक उच्च स्तर का मनोबल नहीं रह सकता, जब तक कि उच्च स्तर पर अनुशासन न हो। इस तरह मनोबल और अनुशासन में अन्तर होने के बावजूद भी दोनों पक्षों की भावनाओं में भी कोई मौलिक विभेद नहीं होता है।

अभिप्रेरणा एवं मेस्लो तथा हर्जबर्ग का सिद्धान्त

(Motivation and Theories of Maslow & Herzberg)

'अभिप्रेरणा' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'Motivation' का हिन्दी रूपान्तर है जो लैटिन भाषा के 'Movere' शब्द से बना है जिसका अर्थ है—गतिशील होना। आधुनिक अर्थ में अभिप्रेरणा शब्द का उपयोग 1938 में मेस्लो द्वारा किया गया था। विभिन्न विद्वानों ने अभिप्रेरण को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है, जिनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—माइकेल जे. जुसियस के अनुसार, "अभिप्रेरणा निश्चित कार्यों को प्राप्त करने हेतु स्वयं या किसी अन्य व्यक्ति को प्रेरित करने की क्रिया है।" गिलफोर्ड के अनुसार, "अभिप्रेरणा ऐसी कोई विशेष आन्तरिक या दशा कारक है जो क्रिया को आरंभ करने तथा बनाए रखने की ओर प्रवृत्त होती है।"

सीफर ने लिखा है, "अभिप्रेरण क्रिया करवाने की ऐसी प्रवृत्ति होती है जिसका सूत्रपात प्रेरक शक्ति द्वारा होता है और जो समायोजित क्रिया द्वारा समाप्त हो जाती है।" मैक्कीची और डयायल के अनुसार, "अभिप्रेरण प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता की आशा है। परिस्थिति द्वारा इन आशाओं का सक्रिय किया जाना हमें कार्य की ओर ले जाता है।" मैक्फारलैण्ड ने लिखा है, "अभिप्रेरणा या अभिप्रेरण का विचार मुख्यतः मनोवैज्ञानिक है। यह उन कार्यकारी शक्तियों से सम्बन्धित है जो व्यक्तिगत रूप में कर्मचारी को अथवा उसके अधीनस्थ को निर्धारित दिशा में कार्य करने या नहीं करने के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"

अभिप्रेरणा से तात्पर्य व्यक्ति की इच्छा, कार्य-निष्पादन की तत्परता तथा कार्य करने की इच्छा को जाग्रत करने की प्रक्रिया से है जिसके अन्तर्गत भावुक होकर मनुष्य अधिक कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त करता है। अभिप्रेरणा शब्द का प्रादुर्भाव 'प्रेरणा' से हुआ है। प्रेरणा को कई बार इच्छा, आवश्यकता, प्रेरक तत्त्व तथा अन्त स्फुरण भी कहा जाता है। प्रेरणा वास्तव में जाग्रत अथवा सुषुप्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दिशा निर्देश है। इसलिए प्रेरणा 'अमुक व्यवहार क्यों ?' का उत्तर है। देखा जाए तो प्रेरणा या आवश्यकता ही कार्य का प्रारम्भ है। कार्य करने के लिए प्रेरित करने वाली मानसिक, भौतिक तथा अन्य मानवीय व्यवहार सम्बन्धी बातें प्रेरणा के स्रोत बनती हैं।

अभिप्रेरणा के तत्त्व या विशेषताएँ

(Elements or Characteristics of Motivation)

अभिप्रेरणा के अर्थ और उसकी विभिन्न परिभाषाओं को देखने से स्पष्ट होता है कि इसकी विशेषताएँ अथवा प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं—

1. अभिप्रेरणा एक अनन्त प्रक्रिया है—अभिप्रेरणा एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति कार्योन्मुख होता है, निष्क्रियता अथवा कार्य के प्रति उदासीनता को त्याग कर निरन्तर अधिक कार्य करने की सोचता है। व्यक्तियों से कार्य कराने के लिए उन्हें निरन्तर अभिप्रेरित करना पड़ता है। समय, स्थान, परिस्थितियाँ, व्यवहार आदि सभी मिलकर अभिप्रेरणा सम्बन्धी अनुकूल या प्रतिकूल वातावरण तैयार करते रहते हैं। कार्य के प्रति अनुकूल वातावरण तैयार करने और अनुकूल दशाओं में काम करने के लिए प्रेरित करना ही अभिप्रेरणा है। अभिप्रेरणा की क्रिया निरन्तर चलती रहती है। इसका सीधा सम्बन्ध समय से है जो स्वयं गतिमान है।

2. अभिप्रेरणा प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर से आती है—अभिप्रेरणा आन्तरिक है जो व्यक्ति में स्वयं होती है। मौलिक मानवीय आवश्यकताएँ—भोजन एवं आश्रय, आत्म-सम्मान, प्रशंसा, आत्म-विकास के लिए अवसर,

वास्तविकीकरण आदि, मानवीय व्यवहार के शक्तिशाली अभिप्रेरक हैं जो अचेतन रूप में कार्य करते रहते हैं। किसी बाह्य प्रभाव की तुलना में आन्तरिक अभिप्रेरणा का मानव-व्यवहार पर निर्णायक प्रभाव पड़ता है।

3. अभिप्रेरणा से कर्मचारी प्रेरित होते हैं—प्रबन्धक विभिन्न उपायों द्वारा संस्था के लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयत्न करते रहते हैं। इस दिशा में सफलता तभी सम्भव है जब प्रबन्धक कर्मचारियों को कार्य करने के लिए प्रेरित कर सकें। अभिप्रेरणा के माध्यम से कर्मचारियों से अधिक काम लेना सम्भव होता है।

4. अभिप्रेरणाएँ वित्तीय और गैर-वित्तीय हो सकती हैं—किसी भी संस्था या उपक्रम में कर्मचारियों को कार्य के लिए प्रेरित करने के दो मुख्य ढंग हो सकते हैं—(क) वित्तीय प्रलोभन (Monetary Incentives) दिए जाएँ, एवं (ख) गैर-वित्तीय प्रलोभन (Non-monetary Incentives) दिए जाएँ। वित्तीय अभिप्रेरणा में मजदूरी अथवा वेतन वृद्धि, बोनस, पुरस्कार, पदोन्नति, पेन्शन, सहभागिता आदि को सम्मिलित किया जाता है जबकि गैर-वित्तीय अभिप्रेरणा में प्रशंसा-पत्र, कार्य-मान्यता, सद्व्यवहार, पीठ-थपथपाना आदि सम्मिलित हैं।

5. अभिप्रेरणा एक मनोवैज्ञानिक धारणा है—मैक्फारलेण्ड के अनुसार, 'अभिप्रेरणा मुख्यतः मनोवैज्ञानिक है' क्योंकि यह व्यक्ति की मानसिक शक्तियों को इस प्रकार विकसित करती है कि वह अपने कार्य में अधिक रुचि से और कार्य के प्रति नवीनता अनुभव करे।

6. 'सम्पूर्ण व्यक्ति' अभिप्रेरित होता है, उसका एक 'भाग' नहीं—प्रत्येक व्यक्ति एक सम्पूर्ण तथा अविभाज्य इकाई है, अतः उसकी सब आवश्यकताएँ परस्पर सम्बन्धित होती हैं और उसकी एक आवश्यकता या इच्छा पूरी होते ही वह दूसरी इच्छा करने लगता है। इस प्रकार सम्पूर्ण व्यक्ति अभिप्रेरित होता है, केवल उसका एक भाग नहीं।

7. अभिप्रेरणा सन्तुष्टि का कारण नहीं, परिणाम है—अभिप्रेरणा एक मानसिक विचार है जिसके द्वारा व्यक्ति कार्य करने के लिए प्रेरित होता है। वर्तमान अथवा सम्भावित प्रलोभन के आधार पर उसे कार्य करने की प्रेरणा मिलती है, *अर्थात् अभिप्रेरणा व्यक्ति की कार्य पर सन्तुष्टि का परिणाम है।*

8. अभिप्रेरणा मानवीय व्यवहारों का निर्देशन, नियन्त्रण तथा स्पष्टीकरण है—जैसा कि डॉ. मामोरिया एवं दशोरा ने लिखा है—अभिप्रेरणा से निश्चित परिणाम प्राप्त होते हैं। मानवीय व्यवहार को एक दिशा मिलती है। इस सम्बन्ध में दो विचार प्रचलित हैं। *कुछ विचारक कहते हैं कि 'भय बिनु होय न प्रीति' अर्थात् ऋणात्मक.* अभिप्रेरणा के आधार पर मनुष्य कार्य करता है। दण्ड, प्रताड़ना, सेवा-निष्कासन का भय, मान हानि आदि उपायों से मनुष्य डरता रहता है और अपना काम समय पर पूरा करने की चेष्टा करता है, किन्तु इस अवस्था में मनुष्य कामचोर, ईर्ष्यालु, असहयोगी, स्वार्थी तथा चापलूस बन जाता है। दीर्घकाल में इससे संगठन को हानि होती है। इसके विपरीत धनात्मक अभिप्रेरणा से कर्मचारी अधिक रुचि लेकर कार्य करता है। उद्योग में अच्छे सम्बन्ध पनपते हैं, अनुसंधान को प्रोत्साहन मिलता है तथा मानवीय व्यवहार अधिक पुष्ट होते हैं। इस प्रकार अभिप्रेरणा ऐसी विधि है जिसमें प्रेरणाओं, उद्वेगों, इच्छाओं, महत्त्वाकांक्षाओं, प्रयत्नों या आवश्यकताओं के माध्यम से मानव व्यवहार का निर्देशन, नियन्त्रण एवं स्पष्टीकरण किया जाता है।

9. अभिप्रेरणा व्यक्तियों की कार्यक्षमता में वृद्धि करती है—अभिप्रेरणा कार्यक्षमता-वर्द्धक है। श्रमिक, चाहे कुशल हो या अकुशल, अभिप्रेरणा द्वारा प्रति घण्टा अधिक उत्पादन करता है। जब अधिक रुचि से कार्य किया *जाएगा तो स्वाभाविक है कि वस्तु में सुधार होगा, लागत मूल्य में कमी आएगी एवं उत्पादन क्रिया में अपव्यय कम* होगा।

10. अभिप्रेरणा विनियोग के समान है—अभिप्रेरणा एक प्रकार का विनियोग है क्योंकि इसके माध्यम से श्रमिक की उत्पादन क्षमता में वृद्धि होकर उत्पादन लागत में कमी आती है। उत्पादन का एक भाग श्रमिक पर अभिप्रेरणा या उत्प्रेरणा के रूप में व्यय कर दिया जाए तो यह कोई फालतू का खर्चा नहीं होगा बल्कि वास्तव में विनियोग का कार्य करेगा।

11. अभिप्रेरणा और मनोबल में भिन्नता है—मामोरिया एवं दशोरा के *अनुसार अभिप्रेरणा एवं मनोबल* दोनों में अन्तर है। अभिप्रेरण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानव कार्य के लिए प्रेरित होता है जबकि मनोबल स्वयं कार्य करने की इच्छा है जो अभिप्रेरणा द्वारा अधिक बलवती होती है। अभिप्रेरणा से कर्मचारी का मनोबल बढ़ता है और

वह अधिक कार्य करने की ओर प्रेरित होता है। मनोबल ऊँचा होने पर ही व्यक्ति अधिक निष्ठावान हो सकता है। मनोबल ऊँचा तभी हो सकता है जब व्यक्ति को समुचित अभिप्रेरण प्राप्त हो रहा हो।

अभिप्रेरणा के उद्देश्य
(Aims of Motivation)

अभिप्रेरणा के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. कर्मचारियों की स्वेच्छा से अधिकाधिक कुशलतापूर्वक और अधिक कार्य करने के लिए प्रेरित करना।

2. कर्मचारियों के मनोबल को ऊँचा उठाना, उनमें आत्मविश्वास और निष्ठा की भावना पैदा करना।

3. कर्मचारियों की सामाजिक, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को पूरी करना तथा उन्हें यथासाध्य सन्तुष्टि प्रदान करना।

4. श्रम-पूँजी के सम्बन्ध को सुधारना।

5. संस्था या उपक्रम में स्वस्थ मानवीय सम्बन्धों का विकास करना।

6. कर्मचारियों की कार्यकुशलता में अधिकाधिक वृद्धि करना।

7. कर्मचारियों से सहयोग प्राप्त करना और संस्था के प्रति उनमें लगाव उत्पन्न करना।

8. मानवीय साधनों का सदुपयोग करना।

9. संस्था के लक्ष्यों को प्राप्त करना।

अभिप्रेरणा की सुदृढ़ व्यवस्था की अनिवार्यताएँ
(Essentials of Sound Motivation System)

कुण्ट्ज एवं ओ'डोनेल के अनुसार एक सुदृढ़ अभिप्रेरणा-व्यवस्था में निम्नलिखित अनिवार्यता जरूरी है—

1. उत्पादकता (Productivity)—एक श्रेष्ठ अभिप्रेरणा-व्यवस्था वह है जो उत्पादक हो, अर्थात् अधीनस्थ कर्मचारियों को अधिक कुशलता और श्रम के साथ काम करने के लिए प्रेरित कर सके।

2. प्रतिस्पर्द्धात्मक (Competitive)—एक श्रेष्ठ अभिप्रेरणा-व्यवस्था वह है जो कर्मचारियों में अधिक परिश्रम करने की स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा को जन्म दे। यही नहीं, अभिप्रेरणा की लागत, इससे प्राप्त अधिक उत्पादकता से, ज्यादा भी नहीं होनी चाहिए।

3. व्यापक (Comprehensive)—एक सुदृढ़ अभिप्रेरण-व्यवस्था को व्यापक होना चाहिए। "उपयुक्त अभिप्रेरणा योजना संगठन में लगे व्यक्तियों की, न केवल निम्न स्तर की जरूरतों को पूरा करती है, जैसे—शारीरिक जरूरतें, सुरक्षा सम्बन्धी जरूरतें, बल्कि उच्चस्तरीय जरूरतों को भी पूरी करती है जैसे—आत्मसंतुष्टि की जरूरत, सामाजिक महत्त्व की जरूरत आदि। यही नहीं, अभिप्रेरणा की यह योजना, संगठन में लगे सभी कर्मचारियों पर समान रूप से लागू होनी चाहिए।"

4. लचीली (Flexible)—एक श्रेष्ठ, और सुदृढ़ अभिप्रेरणा योजना के लिए लचीली होना आवश्यक है ताकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न माँगों और जरूरतों को पूरा किया जा सके और समयानुकूल परिवर्तन भी लाए जा सकें।

अभिप्रेरणा के प्रकार
(Types of Motivation)

अभिप्रेरणा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और समय-समय पर विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार की अभिप्रेरणाओं का उपयोग करना पड़ता है। विभिन्न व्यक्ति विभिन्न प्रकार की अभिप्रेरणाओं से अभिप्रेरित होते हैं। अभिप्रेरणाएँ औपचारिक एवं अनौपचारिक दो प्रकार की हो सकती हैं और इनमें भी प्रत्येक के दो भेद किए जा सकते हैं-धनात्मक और ऋणात्मक। डॉ. मामोरिया एवं दशोरा ने इनके प्रकारों तथा उनसे सम्बन्धित मानवीय व्यवहारों को चार्ट रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

अभिप्रेरणा	मानवीय व्यवहार
1. औपचारिक अभिप्रेरणाएँ	
(अ) धनात्मक (Positive)	वेतन, बोनस, पदोन्नति, पुरस्कार, विभिन्न भत्ते, विशिष्ट लाभ जैसे—क्लब में सदस्यता, वाहन रखने की विशेष सुविधा, अच्छा जलपान-गृह आदि।
(ब) ऋणात्मक (Negative)	झिड़कियाँ देना, दुर्व्यवहार, अनुशासनात्मक कार्यवाही, पद-अवनति, जबरी छुट्टी, पदमुक्ति, प्राप्त सुविधाओं को बंद कर देना आदि।
2. अनौपचारिक अभिप्रेरणाएँ (अ) धनात्मक (Positive)	प्रशंसा, प्रोत्साहन, अन्य व्यक्तियों द्वारा मैत्रीपूर्ण व्यवहार, सामूहिक सम्मान और स्वीकृति, न्यूनतम नियंत्रण, प्रबन्धकों एवं सहयोगियों द्वारा सम्मान दिया जाना आदि।
(ब) ऋणात्मक (Negative)	आलोचना का पात्र बनना, सहयोगियों द्वारा सम्मान नहीं मिलना, अन्य सहयोगियों द्वारा कार्य में सहयोग नहीं देना, नियन्त्रकों और पर्यवेक्षकों द्वारा झिड़कियाँ देना आदि।

अनेक विद्वानों ने अभिप्रेरणाओं को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया है—

(1) धनात्मक एवं ऋणात्मक अभिप्रेरणाएँ—इन अभिप्रेरणाओं में मानव व्यवहार के वे सभी रूप सम्मिलित हैं जो उपरोक्त चार्ट में बताए गए हैं। धनात्मक अभिप्रेरणाओं से, चाहे वे औपचारिक हों या अनौपचारिक, कार्य करने के लिए प्रेरणा मिलती है, औद्योगिक शांति का सृजन होता है, दुर्घटनाएँ कम होती हैं। यदि अभिप्रेरणाएँ ऋणात्मक हैं तो कुछ समय के लिए तो श्रमिक काम करने के लिए बाध्य होते हैं, किन्तु वे लम्बे समय तक सन्तोषजनक कार्य नहीं कर पाते और श्रमिक असंतोष के कारण विभिन्न प्रकार के औद्योगिक विवाद पनप जाते हैं। सन्तुष्ट श्रमिक ही संगठन के हित में रुचिकर कार्य कर सकते हैं।

(2) वित्तीय एवं अवित्तीय अभिप्रेरणाएँ—अभिप्रेरणाएँ चाहे धनात्मक हों या ऋणात्मक, व्यक्तिगत हों या सामूहिक, इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—वित्तीय तथा अवित्तीय।

वित्तीय अभिप्रेरणाएँ (Monetary Motivations) इस मान्यता पर आधारित हैं कि अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए श्रमिकों को अधिक मजदूरी और अधिक लाभांश दिया जाना चाहिए। इसलिए वित्तीय अभिप्रेरणा व्यवस्था में श्रमिकों को मुद्रा के रूप में प्रेरणा दी जाती है ताकि उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और जीवन निर्वाह में उन्हें सहायता मिले। मजदूरी अथवा वेतनवृद्धि, अधिलाभांश तथा अन्य वित्तीय अभिप्रेरणाओं से कर्मचारियों एवं श्रमिकों की मूलभूत आर्थिक आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है और श्रमिकों के कार्य के प्रति धनात्मक दृष्टिकोण को प्रोत्साहन मिलता है।

अवित्तीय अभिप्रेरणाएँ (Non-monetary Motivation) वे दैनिक अभिप्रेरणाएँ होती हैं जो श्रमिकों की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करती हैं। श्रमिकों के लिए मुद्रा अपरिहार्य है, किन्तु यह भी आवश्यक है कि उनकी मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हो, अतः प्रबन्धकों को चाहिए कि श्रमिकों को इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यक अभिप्रेरणाएँ दें। अवित्तीय अभिप्रेरणाओं के प्रमुख रूप हैं—पद का स्तर, नौकरी की सुरक्षा, किए गए कार्यों के बारे में मान्यता, प्रबन्ध में सहभागिता, पदोन्नति के अवसर, अधिकारों का प्रत्यायोजन, अच्छा नेतृत्व, कार्य में गर्व-भावना की अनुभूति, उपक्रम में कर्मचारी की वैयक्तिक स्थिति के प्रति आदर, कर्मचारियों को सम्मति देने का अधिकार, सामाजिक प्रतिष्ठा, प्रशंसा या दण्ड आदि।

(3) व्यक्तिगत एवं सामूहिक अभिप्रेरणाएँ—इन दोनों अभिप्रेरणाओं (Individual and Group Incentives) के रूप में भी वित्तीय और अवित्तीय दो प्रकार हो सकती हैं। व्यक्तिगत अभिप्रेरणा में किसी कर्मचारी अथवा श्रमिक को कार्य के प्रति अधिक प्रोत्साहित करने के लिए व्यक्तिगत रूप में अभिप्रेरणाएँ दी जाती हैं। इन अभिप्रेरणाओं के मुख्य उदाहरण हैं—प्रशंसा-पत्र, प्रमाण-पत्र, सम्मान, विकास के अवसर, नौकरी की सुरक्षा आदि। सामूहिक अभिप्रेरणाएँ जैसा कि नाम से स्पष्ट है किसी समूह से सम्बन्ध रखती हैं अर्थात् वे अभिप्रेरणाएँ किसी एक कर्मचारी को न दी जाकर सभी कर्मचारियों (समूह) को दी जाती हैं। इनके मुख्य उदाहरण हैं—लाभ-सहभागिता, सुझाव व्यवस्था, समितियों का निर्माण, विभागीय पारितोषण, अधिलाभांश आदि।

किसी भी उद्योग में, चाहे वह निजी क्षेत्र का हो या लोक क्षेत्र का, व्यक्तिगत अभिप्रेरणाओं से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं, यथा—कर्मचारी को अधिक कार्य करने का प्रोत्साहन, उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि, मनोबल का ऊँचा

होना, अकार्यकुशल कर्मचारियों का भी प्रलोभन के कारण कार्य के लिए प्रेरित होना, व्यक्तिगत सन्तुष्टि प्राप्त होना, मनोवैज्ञानिक प्रोत्साहन मिलना आदि। व्यक्तिगत अभिप्रेरणाओं का प्रशासन सरल और प्रभावी होता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों का आसानी से मूल्यांकन किया जा सकता है तथा उसके प्रतिफल की गणना भी शीघ्रता से हो सकती है। प्रतिफल की गणना शीघ्र होने से प्रेरणाएँ भी शीघ्र प्रदान की जा सकती हैं जो श्रमिकों के लिए अधिक प्रभावी और संतोषजनक सिद्ध होती हैं।

समूह अभिप्रेरणाओं के प्रमुख लाभ हैं—समूह कर्मचारियों में आपसी मतभेदों और संघर्ष की संभावना का कम होना, समूह भावना का विकास होना, कर्मचारियों पर अत्यधिक पर्यवेक्षण की आवश्यकता नहीं रहने से पर्यवेक्षण व्ययों में कमी आना, कर्मचारियों की अनुपस्थिति में कमी आना, काम पर देर से आने की उनकी प्रवृत्ति का दूर या कम होना आदि। इन सभी लाभों का एक प्रभाव यह होता है कि उत्पादित वस्तु की प्रति इकाई लागत में कमी आ जाती है जिससे उपभोक्ताओं, समुदाय और सम्पूर्ण राष्ट्र का हित-संवर्द्धन होता है।

अभिप्रेरणा का महत्व

(Importance of Motivation)

किसी भी औद्योगिक एवं प्रशासनिक या अन्य प्रतिष्ठानों की सफलता में अभिप्रेरणा-व्यवस्था का अत्यधिक महत्त्व होता है। उत्पादन के विभिन्न साधनों में केवल मनुष्य ही वह सजीव और सक्रिय साधन है जो अन्य निष्क्रिय साधनों को गति प्रदान करता है। मनुष्य मशीन नहीं है जिससे बटन दबाते ही कार्य ले लिया जाए। प्रतिष्ठान में काम करने वाले कर्मचारियों और श्रमिकों की अपनी मान्यताएँ, विचारधाराएँ, इच्छाएँ और आकांक्षाएँ होती हैं। उनमें कार्य के प्रति रुचि उत्पन्न करके, विकास के लिए इच्छाएँ जाग्रत करके ही उनसे काम लिया जा सकता है। दबावकारी उपाय या बाध्यताएँ अधिक सफल नहीं होतीं, कालान्तर में इनसे प्रतिक्रिया स्वरूप असंतोष और विद्रोह फैलता है। कार्मिक प्रबन्ध आरम्भ से अन्त तक उपक्रम के कर्मचारियों से व्यवहार करता है और दूसरे लोगों के प्रयासों से अपने कार्यों को निष्पादित कराता है और अपने लक्ष्यों को प्राप्त करता है। इस दृष्टि से कर्मचारी अभिप्रेरणा और प्रेरणाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। व्यक्तियों से सही रूप में कार्य कराना इस बात पर निर्भर है कि वे मानसिक दृष्टि से कार्य करने के लिए तैयार हैं या नहीं। अमेरिकी जनरल फूड कारपोरेशन के भूतपूर्व अध्यक्ष क्लेरेन्स फ्रांसिस के अनुसार, "आप किसी व्यक्ति का समय खरीद कर सकते हैं, किसी विशेष स्थान पर उसकी शारीरिक उपस्थिति को खरीद सकते हैं, किन्तु किसी व्यक्ति के उत्साह को, उसकी पहल शक्ति को अथवा उसकी वफादारी को नहीं खरीद सकते।" कर्मचारियों से अधिकाधिक कार्य लेने के लिए उन्हें नियमित रूप से प्रेरित करते रहना आवश्यक है और ऐसी प्रेरक शक्ति ही अभिप्रेरणा है।

अभिप्रेरणा प्रक्रिया

(Motivation Process)

इस संगठन में प्रबन्धक अपने कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने के लिए क्या प्रक्रिया अपनाता है इसके अन्तर्गत अभिप्रेरणा प्रक्रिया के दो मुख्य भाग हैं—(क) क्या किया जाना है, एवं (ख) ऐसे क्यों तथा किस प्रकार किया जाना चाहिए।

प्रथम भाग में अभिप्रेरणा के कदम और द्वितीय में इन कदमों से सम्बन्धित नियम आते हैं। ये दोनों ही कदम साथ-साथ उठाए जाते हैं।

(क) अभिप्रेरणा के कदम (Steps of Motivation)

अभिप्रेरणा के मुख्य कदम निम्नांकित हैं—

1. अभिप्रेरणा आवश्यकताओं का निर्धारण (Motivational Needs)—अभिप्रेरणा प्रक्रिया के इस प्रथम कदम में यह देखा जाता है कि कौन से कर्मचारियों को अभिप्रेरणा की कितनी आवश्यकता है। यह देखना जरूरी इसलिए है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न प्रकार के अभिप्रेरणा की भिन्न-भिन्न मात्रा में आवश्यकता होती है। कोई व्यक्ति अपने बच्चों को उच्च शिक्षा देना चाहता है तो कोई सामान्य स्तर की शिक्षा ही काफी समझता है। कोई व्यक्ति अपने कार्य की श्रेष्ठता को महत्त्व देता है तो कोई व्यक्ति कार्य की मात्रा को। यदि समूह की दृष्टि से देखें तो कर्मचारियों के समूह भी भिन्न-भिन्न प्रकार की अभिप्रेरणाओं को भिन्न-भिन्न महत्त्व देते हैं। उदाहरणार्थ कारखाना कर्मचारी, कार्यालय कर्मचारी, कारीगर-समूह, अकुशल श्रमिक, पर्यवेक्षक, अधीनस्थ कर्मचारी आदि की अभिप्रेरणा आवश्यकताएँ अलग-अलग होती हैं। प्रबन्धक को चाहिए कि वह व्यक्तियों या व्यक्ति-समूहों का ध्यान रखते हुए अभिप्रेरणा आवश्यकताओं को निर्धारित करे।

2. अभिप्रेरण-उपकरण को निर्धारित करना (Motivational Tools)—अभिप्रेरणा-प्रक्रिया दूसरे कदम में प्रबन्धक को अभिप्रेरण के विशिष्ट उपकरणों का चुनाव और प्रयोग करने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि प्रबन्धक के पास विभिन्न विकल्पों की सूची पहले से ही तैयार हो। प्रबन्धक को चाहिए कि वह इस सूची को तैयार करने में अपने तथा अन्य व्यक्तियों के अनुभव का प्रयोग करे और अपने साथियों से यह जानकारी भी हासिल करे कि किस प्रकार के व्यक्तियों के लिए किन परिस्थितियों में कौन से साधन अभिप्रेरणा के लिए प्रभावी सिद्ध होंगे।

3. अभिप्रेरणा योजनाओं का चुनाव एवं प्रयोग (Motivation Plans)—अभिप्रेरणा योजना को लागू करने के लिए सबसे पहले उपयुक्त योजना का चुनाव करना होता है और तत्पश्चात् उसको लागू करने की विधि, समय एवं स्थान का निश्चय किया जाता है। उदाहरणार्थ, किसी कारीगर को उसकी कारीगरी के लिए सम्मान देने में यह विचार करना होगा कि सम्मानार्थ किन शब्दों का उपयोग किया जाए, सम्मान देते समय किस प्रकार के हाव-भाव प्रदर्शित किए जाएँ आदि। यह भी ध्यान रखना होगा कि अभिप्रेरणा का प्रयोग कब और कहाँ किया जाए। कुछ कर्मचारी अपने कार्यों के लिए सार्वजनिक रूप में सम्मान प्राप्त करने के आकांक्षी होते हैं और कुछ ऐसा नहीं चाहते। यह भी निश्चय करना होता है कि एक कर्मचारी को श्रेष्ठ कार्य सम्पन्न करने के कितने समय बाद सम्मान दिया जाए। यदि विलम्ब किया गया तो उस अभिप्रेरण की प्रभावशीलता समाप्त अथवा कम हो जाएगी। अभिप्रेरणा योजनाओं के लागू करने में समय-तत्त्व (Time Element) की ओर ध्यान देना जरूरी है।

4. प्रभाव का अध्ययन (The Follow-up)—अभिप्रेरण का अंतिम कदम प्रभाव का अध्ययन करना है, अर्थात् यह जानकारी हासिल करना है कि कर्मचारी प्रेरित हुए अथवा नहीं और यदि नहीं तो अभिप्रेरण की किस अन्य युक्ति का प्रयोग किया जाए। प्रभाव-अध्ययन में यह भी शामिल है कि भविष्य के सन्दर्भ में अभिप्रेरक युक्तियों का मूल्यांकन किया गया।

(ख) अभिप्रेरणा के नियम (Rules of Motivation)

अभिप्रेरण के उपर्युक्त कदमों को उठाते समय प्रबन्ध को कुछ मूलभूत नियमों को ध्यान में रखना चाहिए जो निम्नलिखित है—

1. आत्महित तथा अभिप्रेरणा (Self-interest & Motivation)—व्यक्ति स्वार्थवश ही कुछ करता है और अभिप्रेरणा योजना इसी स्वार्थ या स्व-हित पर आधारित होती है। तथापि यह स्वार्थ विवेकपूर्ण होना चाहिए अर्थात् संस्था के कर्मचारियों को यह अनुभव करना चाहिए कि अन्य कर्मचारियों को उनके लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायता देते हुए उसके स्वयं के लक्ष्य की पूर्ति हो रही है। यदि एक कर्मचारी तरक्की के लिए उत्सुक है तो वह या तो दूसरे कर्मचारियों की उन्नति को आघात पहुँचा कर या दूसरे कर्मचारियों को अपने साथ लेकर तरक्की कर सकता है। दोनों ही तरीकों में उसका निजी स्वार्थ छिपा हुआ है, लेकिन दूसरा तरीका बुद्धिमत्तापूर्ण है क्योंकि इससे उसकी एक प्रभावशाली टीम होती है। इस प्रकार, अभिप्रेरणा का पहला नियम है कि अभिप्रेरणा में निहित स्वार्थ बुद्धिमत्तापूर्ण हो।

2. पहुँच योग्यता (Attainability)—अभिप्रेरणा द्वारा निर्धारित लक्ष्य 'पहुँच योग्य' (Attainable) अर्थात् प्राप्त करने योग्य होना चाहिए, तभी श्रम-सम्बन्ध अच्छे रह सकेंगे।

3. विभिन्न पुरस्कार (Different Rewards)—अभिप्रेरण का तीसरा मूल नियम यह है कि विभिन्न व्यक्तियों के लिए विभिन्न प्रकार के पुरस्कारों की और इसी प्रकार एक ही व्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के पुरस्कारों की व्यवस्था की जानी चाहिए। इससे पुरस्कार-व्यवस्था लोचशील और सजीव बनी रहेगी, उसमें एक आकर्षण रहेगा। यदि पुरस्कार की एकसी व्यवस्था रखी गई तो वह कुछ समय बाद आकर्षणहीन और प्रभावहीन हो जाएगी।

4. मानवीय तत्त्व पर विचार (Human Element)—अभिप्रेरण के इस आधारभूत नियम की माँग है कि मानवीय तत्त्व को अभिप्रेरणा-योजना में उचित महत्त्व दिया जाना चाहिए। यदि कर्मचारी की भावनाओं को चोट पहुँचाई गई या उसके व्यक्तित्व का अपमान किया गया तो अभिप्रेरण की कोई भी योजना सफल नहीं हो पाएगी और कर्मचारी अपना कार्य विपरीत तथा अनिश्चित दिशा में करने लगेगा।

5. व्यक्ति-समूह सम्बन्ध (Individuals-Group Relationship)—अभिप्रेरणा योजना में व्यक्ति और समूह दोनों ही का ध्यान रखा जाना चाहिए क्योंकि समूह का भी व्यक्तियों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कोई अभिप्रेरणा योजना बनाते और लागू करते समय प्रबन्धक को यह अनुमान लगा लेना चाहिए कि उस योजना के सम्बन्ध में समूह का क्या मत है। ऐसी कोई भी अभिप्रेरणा मज़दूरी योजना सफल नहीं हो सकती, जिसका समूह द्वारा विरोध किया जा रहा हो।

अभिप्रेरणा के सिद्धान्त
(Theories of Motivation)

विभिन्न प्रबन्धशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने समय-समय पर अभिप्रेरणा के विभिन्न सिद्धान्तों अथवा विचारधाराओं का प्रतिपादन किया है। इन सिद्धान्तों का विवेचन निम्नलिखित प्रकार से है—

1. आवश्यकताओं की क्रमबद्धता का सिद्धान्त (Needs of Hierarchy Theory), जिसका प्रतिपादन मैस्लो (Maslow) ने किया है।

2. अभिप्रेरणा आरोग्य सिद्धान्त (Hygiene Theory of Motivation), जिसका प्रतिपादन हर्जबर्ग (Herzberg) द्वारा किया गया है।

3. अभिप्रेरणा तथा एक्स एवं वाई का सिद्धान्त (Motivation and X and Y Theory), जिसका प्रतिपादन मैकग्रेगर (McGregor) ने किया है।

4. अन्य मुख्य सिद्धान्त—
   (i) अभिप्रेरणा का एकात्मक सिद्धान्त (Monistic Theory)
   (ii) अभिप्रेरणा का बहुलवादी सिद्धान्त (Pluralistic Theroy)
   (iii) सहभागिता सिद्धान्त (Participation Theory)
   (iv) कर्मचारी-केन्द्रित पर्यवेक्षण सिद्धान्त (Employee Centred Supervision Theory)
   (v) पथ-लक्ष्य सिद्धान्त (Path-goal Theory)
   (vi) भय एवं दण्ड का सिद्धान्त (Fear and Punishment Theory)
   (vii) पुरस्कार सिद्धान्त (Reward Theory)
   (viii) 'केरट' तथा 'स्टिक' सिद्धान्त ('Carrot' and 'Stick' Theory).
   (ix) व्यक्तिगत एवं संगठनात्मक आवश्यकता सिद्धान्त (Individual and Organisation Need Theroy)

अभिप्रेरणा का मैस्लो का सिद्धान्त
(Maslow's Theory of Motivation)

विख्यात मनोवैज्ञानिक प्रो. ए एच मैस्लो (A H. Maslow) ने अपनी पुस्तक 'Motivation and Personality' में अभिप्रेरणा के सिद्धान्त को आवश्यकताओं की क्रमबद्धता के आधार पर विकसित किया है। मैस्लो की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति हर समय अभिप्रेरणा की अवस्था में रहता है, किन्तु अभिप्रेरणा की मात्रा भिन्न होती है। व्यक्ति पूर्णत सन्तुष्ट भी नहीं होता। ज्योंही उसकी एक आवश्यकता सन्तुष्ट हो जाती है, दूसरी आवश्यकता जाग्रत हो जाती है अर्थात् आवश्यकताओं की क्रमबद्धता चलती रहती है। एक व्यक्ति में कार्य के प्रति रुचि तथा शक्ति उत्पन्न करने के लिए उसकी एक के बाद दूसरी आवश्यकताओं को क्रमबद्धता में सन्तुष्ट करना होता है। मैस्लो ने प्राथमिकता (Priority) के आधार पर आवश्यकताओं को पाँच वर्गों या श्रेणियों में बाँटा है—

1. शारीरिक मूलभूत आवश्यकताएँ (Physiological Needs)—भोजन, शरण-स्थल आदि।
2. सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ (Safety Needs)—भय, ताड़ना आदि के विरुद्ध सुरक्षा।
3. सामाजिक आवश्यकताएँ (Social Needs)—प्रेम, सहयोग, मैत्री आदि।
4. सम्मान एवं स्वाभिमान की आवश्यकताएँ (Egoistic Needs)—सम्मान, सामाजिक स्तर आदि।
5. आत्म-विश्वास तथा आत्म-परिपूर्ति सम्बन्धी आवश्यकताएँ (Self Actualization Needs)

मैस्लो के अनुसार शारीरिक आवश्यकताएँ प्राथमिकता-क्रम में पहले होती हैं। इन आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हो जाने के उपरान्त सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ प्राथमिक स्थान ग्रहण कर लेती हैं। यह क्रम अन्त तक चलता रहता है और इसी क्रम के अनुसार मानव-कार्य-प्रेरणा भी विभिन्न आवश्यकताओं और क्रियाओं की ओर कार्य करती रहती है। मैस्लो का यह दृष्टिकोण आशावाद पर आधारित है जो इस बात पर बल देता है कि विभिन्न प्रकार की मानवीय आवश्यकताओं को प्राथमिकता के आधार पर सन्तुष्ट करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

अभिप्रेरणा का हर्जबर्ग का सिद्धान्त
(Herzberg's Theory of Motivation)

हर्जबर्ग ने अभिप्रेरणा की एक नवीन विचारधारा प्रस्तुत की है, जिसे 'अभिप्रेरण आरोग्य (स्वास्थ्य) का सिद्धान्त या विचारधारा' कहा जाता है। हर्जबर्ग तथा उनके सहयोगियों ने 1950 में लगभग 200 अभियन्ताओं तथा लेखाकारों से किए गए साक्षात्कार से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर इस अभिप्रेरण सिद्धान्त का प्रतिपादन और विकास किया। हर्जबर्ग का सिद्धान्त मैस्लो के स्व-विकास दृष्टिकोण (Self-Actualization Approach) तथा मैक्ग्रेगर के एक्स एण्ड वाई सिद्धान्त से काफी मिलता-जुलता है। हर्जबर्ग के अभिप्रेरण आरोग्य सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की आवश्यकताओं के दो समूह या घटक होते हैं—(क) आरोग्य तत्त्व (Hygienic Factors), एवं (ख) अभिप्रेरक तत्त्व (Motivating Factors)। आवश्यकताओं के ये दोनों घटक एक-दूसरे से भिन्न होते हैं और मानव-व्यवहार को भिन्न-भिन्न तरीके से प्रभावित करते हैं। कर्मचारी-सन्तुष्टि के घटकों या तत्त्वों का निर्धारण करने के लिए जो उपरोक्त साक्षात्कार किया गया उसमें व्यक्तियों से पूछा गया कि वे कब अपने कृत्यों (Jobs) से अच्छा अनुभव करते हैं और कब बुरा। हर्जबर्ग तथा उनके सहयोगियों ने अपने शोध से दो प्रमुख निष्कर्ष निकाले, जो इस प्रकार हैं—

(1) जब व्यक्ति अपने कार्य से असन्तुष्टि प्राप्त करते हैं तो इसका प्रमुख कारण वह वातावरण होता है जिसके अन्तर्गत वे कार्य करते हैं। हर्जबर्ग ने इस वातावरण को प्रभावित करने वाले घटकों को आरोग्य सम्बन्धी तत्त्व के नाम से पुकारा है। ये तत्त्व आवश्यकताओं के प्रथम समूह में आते हैं और कर्मचारी-कृत्यों के बाह्य वातावरण को प्रभावित करते हैं। ये तत्त्व मनुष्य को सन्तुष्टि प्राप्त करने से रोकते हैं। आवश्यकताओं के इस प्रथम समूह अथवा आरोग्य तत्त्वों अथवा वातावरण या कृत्य को प्रभावित करने वाले बाह्य तत्त्वों में प्रमुख हैं—(i) पर्यवेक्षण (Supervision), (ii) कार्य-दशाएँ (Working Conditions), (iii) कार्य-सुरक्षा (Job Security), (iv) मजदूरी (Wage), (v) स्थिति (Status), (vi) कम्पनी की नीति और प्रशासन (Company-Policy and Administration), (vii) पारस्परिक वैयक्तिक सम्बन्ध (Inter-personal Relations)।

(2) जब व्यक्ति कार्य में सन्तुष्टि प्राप्त करते हैं तो ऐसी सन्तुष्टि केवल कार्य से ही प्राप्त की जा सकती है। हर्जबर्ग ने कार्य से सन्तुष्टि प्राप्त करने वाले घटकों को अभिप्रेरक तत्त्व (Motivating Factors) कहा है और इनको मानव-आवश्यकताओं के दूसरे समूह में सम्मिलित किया है। ये तत्त्व कर्मचारी को अधिक कुशलता और लगन के साथ कार्य करने के लिए अभिप्रेरित करते हैं। इन्हें हर्जबर्ग ने कार्य के आन्तरिक घटक माना है। अभिप्रेरक तत्त्वों में मुख्य हैं—(i) कार्य स्वयं (Work Itself), (ii) उपलब्धियाँ (Achievements), (iii) मान्यता अथवा कार्य को अनुमोदन मिलना (Recognition), (iv) उत्तरदायित्व (Responsibility), (v) उन्नति (Advancement, (vi) विकास की सम्भावना (Possibility of Growth)।

हर्जबर्ग का यह सिद्धान्त इसलिए महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह कार्य से सन्तुष्टि और असन्तुष्टि के घटकों पर प्रभाव डालता है।

अभिप्रेरणा का मैक्ग्रेगर का सिद्धान्त
(McGregor's Theory of Motivation)

अभिप्रेरणा के आधुनिक सिद्धान्तों (Modern Theories of Motivation) में मैस्लो, हर्जबर्ग तथा मैकग्रेगर के सिद्धान्त अग्रणी हैं। मैक्ग्रेगर (McGregor) ने प्रबन्ध सम्बन्धी विचारधारा को निम्नलिखित दो भागों में बाँटा है—

(क) एक्स-सिद्धान्त (X-Theory), (ख) वाई-सिद्धान्त (Y-Theory)

'एक्स-सिद्धान्त' जहाँ निराशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, वहीं 'वाई-सिद्धान्त' आशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। मैक्ग्रेगर के 'एक्स' (X) तथा 'वाई' (Y) सिद्धान्त को परम्परागत तथा आधुनिक विचारधाराएँ कहा जा सकता है। एक्स-सिद्धान्त के दोषों के निवारण के लिए ही मैक्ग्रेगर ने वाई-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

मैकग्रेगर द्वारा प्रतिपादित उपरोक्त दोनों सिद्धान्तों (एक्स तथा वाई सिद्धान्त) को अन्य विद्वानों ने विभिन्न नामों से पुकारा है। लिकर्ट ने एक्स-सिद्धान्त को कार्य संगठन तथा वाई-सिद्धान्त को सामूहिक अभिप्रेरणा की संज्ञा दी है तो पीटर ड्रकर ने वाई-सिद्धान्त को 'उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध' कहा है और क्रिस आर्गिरिस ने 'समन्वित एवं स्वनियंत्रित प्रबन्ध' (Management by Integration and Self-control)

अभिप्रेरणा के अन्य सिद्धान्त
(Other Theories of Motivation)

1. **अभिप्रेरणा का एकात्मक या द्रव्यात्मक सिद्धान्त (Monistic Theory of Motivation)**—इस सिद्धान्त की आधारभूत मान्यता है कि व्यक्ति केवल अधिकाधिक धन-प्राप्ति हेतु ही कार्य करता है, अर्थात् मुद्रा ही मानवीय व्यवहार का आधार है। इस प्रकार यह सिद्धान्त 'आर्थिक मनुष्य' (Economic Man) की विचारधारा पर आधारित है, जिसका अभिप्राय है कि व्यक्ति केवल मौद्रिक पुरस्कार की आकांक्षा से ही कार्य करता है और मौद्रिक पुरस्कार की मात्रा जितनी अधिक होगी व्यक्ति के प्रयत्न भी उतने ही अधिक होंगे। इस प्रकार कर्मचारी को दिए जाने वाले पारिश्रमिक की मात्रा जितनी अधिक होगी, वह उतना ही अधिक कार्य करने को तत्पर होगा।

2. **अभिप्रेरणा का बहुलवादी या अनेकवादी सिद्धान्त (Pluralistic Theory of Motivation)**—यह आधुनिक सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि व्यक्ति केवल एक उद्देश्य या एक ही आवश्यकता की पूर्ति के लिए नहीं वरन् अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कार्य करता है। ये आवश्यकताएँ विभिन्न समयों पर विभिन्न तनाव उत्पन्न करके व्यक्ति को इस प्रकार व्यवहार करने के लिए प्रेरित करती हैं जो उसकी दृष्टि में तनाव कम करने वाला तथा उसकी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने वाला हो। आवश्यकताओं और उनकी सन्तुष्टि का क्रम निरन्तर चलता रहता है। मनोवैज्ञानिकों तथा समाजशास्त्रियों द्वारा इन आवश्यकताओं को अनेक श्रेणियों में बाँटा गया है, जैसे—(1) मूलभूत शारीरिक या जीवन निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताएँ, (2) सामाजिक आवश्यकताएँ, (3) सम्मान तथा स्वाभिमान सम्बन्धी आवश्यकताएँ, (4) सुरक्षा एवं निश्चितता सम्बन्धी आवश्यकताएँ, (5) अपने विकास सम्बन्धी आवश्यकताएँ। अनेकवादी सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति मौद्रिक और अमौद्रिक दोनों प्रकार की अभिप्रेरणाओं से प्रेरित होता है। अभिप्रेरणा का अनेकवादी सिद्धान्त एकात्मक या द्रव्यात्मक सिद्धान्त का पूरक सिद्धान्त है और व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति में मौद्रिक एवं अमौद्रिक दोनों प्रकार की अभिप्रेरणाओं का महत्त्व स्थापित करता है। अनेकतावादी सिद्धान्त के प्रबल समर्थक ए. एच. मैस्लो थे जिनका 'आवश्यकताओं की क्रमबद्धता का सिद्धान्त' (Need of Hierarchy Theory) प्रबन्ध-विज्ञान के क्षेत्र में काफी विख्यात है।

3. **सहभागिता सिद्धान्त (Participative Theory)**—इस सिद्धान्त की मान्यता है कि कर्मचारी को संस्था या उपक्रम के प्रबन्ध में सहभागिता प्रदान करनी चाहिए, क्योंकि कर्मचारी का उद्देश्य केवल मुद्रा कमाना ही नहीं होता बल्कि वह संस्था में अपनत्व की भावना का अनुभव भी करना चाहता है। यदि संस्था में काम करने वाले कर्मचारियों को संस्था के प्रबन्ध में सहभागिता दी गई अर्थात् संस्था के कार्य-निर्धारण, नीति-निर्धारण आदि में शामिल किया गया तो वे इससे अधिकाधिक प्रेरित होंगे। रेन्सिस लिकर्ट ने लिखा है, "समूह के सभी व्यक्तियों (प्रबन्धक सहित) के ऐसे सम्बन्धों का विकास करना चाहिए ताकि वे आवश्यकताओं, भावनाओं, आकांक्षाओं, मूल्यों तथा लक्ष्यों को सामान्य हित में देख सकें। इस प्रकार के सम्बन्ध अभिप्रेरणा के लिए आवश्यक हैं और उनका विकास सहभागिता प्रदान करने से ही सम्भव हो सकता है।"

4. **कर्मचारी-केन्द्रित पर्यवेक्षण सिद्धान्त या प्रतिरूप विचारधारा (Employee-Centred Supervision Theory or Pattern Concept)**—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन रेन्सिस लिकर्ट ने किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मचारी को प्राप्त होने वाला पर्यवेक्षण उसकी उत्पादकता, सन्तुष्टि अभिप्रेरणा आदि को प्रभावित करता है। यदि कर्मचारी को पर्यवेक्षण अच्छा नहीं मिलता और वह सन्तुष्ट नहीं हो पाता तो वह प्रबन्ध द्वारा चाही गई उत्पादकता देने में असमर्थ रहता है, किन्तु यदि कर्मचारी को अच्छा पर्यवेक्षण प्राप्त होता है और वह सन्तुष्ट होता है तो उसकी उत्पादकता अभिप्रेरित होती है। कर्मचारी की इच्छा होती है कि उसकी समस्याओं का समुचित समाधान हो, उसे उत्पादन का एक महत्त्वपूर्ण साधन माना जाए तथा उसे सामाजिक सुरक्षा मिले। यदि कर्मचारी अनुभव करता है कि संस्था की सम्पूर्ण व्यवस्था में वह एक मशीनी पुर्जा है तो उसको मानसिक आघात पहुँचता है जिसका उसकी उत्पादकता तथा सन्तुष्टि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। वास्तव में समूह अभिप्रेरणा पर पर्यवेक्षण पद्धति का अधिक प्रभाव होता है। रेन्सिस लिकर्ट का सुझाव है कि नियोक्ताओं और पर्यवेक्षकों को कृत्य-केन्द्रित (Job-Oriented) न होकर कर्मचारी-केन्द्रित (Employee Oriented) होना चाहिए। कर्मचारियों के प्रति प्रबन्धकों का व्यवहार मानवीय तथा हितैषी होना चाहिए। कर्मचारियों को लक्ष्यों के निर्धारण, नीति निर्धारण आदि में हिस्सा दिया जाना चाहिए। उन्हें कृत्य सम्बन्ध निर्णयन में हित-साध्य अधिकतम स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए।

5. **पथ-लक्ष्य सिद्धान्त (Path-goal Theory)**—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक गोरगो पौलस, माहोनी एवं जोन्स (Georgo Poulous, Mahoney & Jones) हैं। इसका सम्बन्ध उत्पादकता से है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति उस समय अधिक परिश्रम के लिए अभिप्रेरित होते हैं जब उनके सामने लक्ष्य पूर्णतः स्पष्ट हों और

कठिन हो। यदि कर्मचारी उच्च उत्पादकता को अपनी लक्ष्य-पूर्ति का पथ मान लेते हैं तो फिर वे उच्च उत्पादक बनने की प्रवृति की ओर अग्रसर होते हैं। दूसरी ओर, यदि वे निम्न उत्पादकता को अपने लक्ष्यों की पूर्ति का पथ मान लेते हैं तो वे निम्न उत्पादक बनने की प्रवृति की ओर अग्रसर होते हैं। साराशतः पथ-लक्ष्य सिद्धान्त में कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने के लिए उत्पादकता पर अधिक बल दिया गया है। यह मान्यता है कि कर्मचारी की आवश्यकताएँ बहुत ऊँची हैं, उसके लक्ष्य बहुत प्रबल हैं तथा वह इच्छित मार्ग अपनाने में बाधाओं से मुक्त है।

6. भय एवं दण्ड का सिद्धान्त (Fear and Punishment Theory)—यह सिद्धान्त अभिप्रेरणा का सबसे पुराना सिद्धान्त है जिसके अनुसार कर्मचारियों और श्रमिकों को भय दिखा कर या दण्ड देकर कार्य करने के लिए अभिप्रेरित किया जा सकता है। यदि नौकरी से निकाल देने, पदावनति कर देने आदि का भय दिखाया जाए तो कर्मचारी घबरा जाएगा और तत्परता से कार्य करने में प्रेरित होगा। भय एवं दण्ड सिद्धान्त के समर्थक प्रायः यही मूलमन्त्र दोहराते रहते हैं 'या तो कार्य करो या चले जाओ' या 'न उत्तर दो और न प्रश्न करो, 'करो या मरो।' इसीलिए इस सिद्धान्त को 'करो या मरो' सिद्धान्त ('Do or Die' Theory) भी कहा जाता है।

7. पुरस्कार सिद्धान्त (Reward Theory)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन वैज्ञानिक प्रबन्ध के जन्मदाता एफ. डब्ल्यू. टेलर ने किया था। इसके अनुसार पुरस्कार तथा कार्य की उत्तम दशाएँ कर्मचारी को प्रसन्नता देती हैं तथा प्रसन्नचित तथा सन्तुष्ट कर्मचारी अधिक कार्य करने के लिए अभिप्रेरत होते हैं। कर्मचारी को जितना अधिक पुरस्कृत किया जाएगा, वह उतना ही अधिक कार्य करने को प्रेरित होगा। टेलर ने, इसी विचार के आधार पर, विभेदात्मक मजदूरी पद्धति (Differential Price Rate-System) के अनुसार मजदूरी-भुगतान का सुझाव दिया था। पुरस्कार सिद्धान्त में कार्यों के विशिष्टीकरण, विवेकीकरण और यन्त्रीकरण पर जोर दिया जाता है ताकि मानवीय प्रयासों का अधिकतम उपयोग हो सके। टेलर ने यह भी विचार प्रगट किया कि मौद्रिक अभिप्रेरणाएँ संस्था में कार्यरत व्यक्ति में कार्य के प्रति इच्छा और उत्साह जाग्रत करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं और पद-वृद्धि के लिए इन्हीं को आधार बनाना होगा।

8. 'कैरोट' तथा 'स्टिक' सिद्धान्त ('Carrot' and 'Stick' Theory of Motivation)—यह सिद्धान्त 'भय एवं दण्ड' तथा 'पुरस्कार' विचार का परिवर्तित और संशोधित रूप है जो इस बात पर बल देता है कि दण्ड तथा पुरस्कार दोनों के संयोजन से कर्मचारियों को अभिप्रेरित किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, विशेष कार्य के लिए कर्मचारी को पुरस्कृत किया जा सकता है पर साथ ही एक निश्चित न्यूनतम सीमा की पूर्ति न होने पर उसे दण्डित किया जाता है। इसलिए उन्हीं कर्मचारियों को पुरस्कार दिया जाना चाहिए जिनका कार्य-निष्पादन एक निश्चित न्यूनतम स्तर से ऊपर है और जिनका कार्य-निष्पादन इस निश्चित न्यूनतम स्तर से नीचे है वे दण्ड के पात्र हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त पुरस्कार को 'शर्तयुक्त' बना देता है।

'कैरोट' एवं 'स्टिक' सिद्धान्त भी एक परम्परागत सिद्धान्त ही है जो तब तक उपयुक्त रहता है जब तक कि व्यक्ति की शारीरिक एवं सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो जाती, किन्तु जब इन प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है तो व्यक्ति इनकी आवश्यकताओं (सामाजिक पद, सम्मान, मान्यता आदि) की चाह करता है और इस स्थिति में अभिप्रेरण का यह सिद्धान्त अपना महत्त्व खो बैठता है। मैक्ग्रेगर के अनुसार 'कैरोट' तथा 'स्टिक' का सिद्धान्त एक बार व्यक्ति के पर्याप्त जीवन-निर्वाह स्तर तक पहुँच जाने के बाद कार्य नहीं करता है, क्योंकि तब तक व्यक्ति मुख्यतः उच्चतम आवश्यकताओं से अभिप्रेरित होता है।

9. व्यक्तिगत एवं संगठनात्मक आवश्यकता सिद्धान्त (Individual and Organisation Need Theory of Motivation)—इस सिद्धान्त के प्रतिपादन और विकास का श्रेय क्रिस आर्गिरिस को जाता है। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि व्यक्तिगत और संगठनात्मक आवश्यकताएँ अलग-अलग होती हैं और स्वभावतः एक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की सन्तुष्टि को प्राथमिकता प्रदान करता है। अतः व्यक्तियों को काम के लिए अभिप्रेरित करने हेतु संगठनात्मक आवश्यकताओं की तुलना में उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की सन्तुष्टि को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। इसलिए नियोक्ता या प्रबन्धक यदि संस्था के कर्मचारियों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पहले सन्तुष्ट नहीं करेंगे, तो वे कर्मचारी न तो संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति में अपना भरसक योग देंगे और न ही कुशलता से कार्य करने के लिए अभिप्रेरित होंगे।

10. आशा एवं उपलब्धि सिद्धान्त (Expectation & Achievement Theory of Motivation)—यह सिद्धान्त बतलाता है कि प्रत्येक व्यक्ति में अपनी कुछ आशाएँ होती हैं जिनकी उपलब्धि का प्रयास वह करता है। यदि किसी व्यक्ति में आशाएँ नहीं हैं तो उनका सृजन करना चाहिए। यदि उपलब्धि आशा से कम होती है तो व्यक्ति को अभिप्रेरणा मिलती है। इसलिए आशा और महत्वाकांक्षाओं को अधिक बढ़ाना ठीक नहीं है क्योंकि आशा और उपलब्धि में यदि अन्तर हुआ तो व्यक्ति में निराशा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार आशा के अभाव या आशा के

कम होने पर भी अभिप्रेरणा नहीं होगी। सारांशतः आशा और उपलब्धि में समुचित संतुलन होना चाहिए और अभिप्रेरणा समुचित रूप में उत्पन्न होती रहे।

अभिप्रेरणा के प्रत्येक सिद्धान्त का किसी न किसी दृष्टिकोण से अपना महत्त्व होता है। किसी न किसी अवसर पर या किन्हीं परिस्थितियों में कोई न कोई दृष्टिकोण अपनी उपयुक्तता प्रस्थापित करता है। एक श्रेष्ठ प्रबन्ध को अभिप्रेरणा के सभी सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिए और आवश्यकतानुसार उनका प्रयोग करना चाहिए। सभी सिद्धान्तों के अच्छे तत्वों को देखते हुए व्यवहार में जो प्रबन्ध उनका सन्तुलित प्रयोग करता हैं, वह अपने उद्देश्य में सफल ही होता है। *परम्परागत सिद्धान्तों को ठुकराया नहीं जा सकता और व्यवहार में हम देखते हैं कि भय और दण्ड जैसे अति प्राचीन सिद्धान्त का भी प्रयोग अनेक अवसरों पर औद्योगिक या प्रशासनिक संगठनों में किया जाता है।* 'पुरातन' और 'नूतन' दोनों को साथ लेकर उनका श्रेष्ठ संयोजन ही एक उपयुक्त मार्ग है।

अभिप्रेरणा के साधन या विधियाँ
(Techniques of Motivation)

कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने के विभिन्न साधनों अथवा विधियों में से निम्नलिखित विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये अभिप्रेरक-साधन सभी वर्गों को किसी न किसी रूप में कार्य के लिए प्रेरित करते हैं—

1. वेतन द्वारा अभिप्रेरणा (*Motivation by Pay*)—*आज के भौतिकवादी युग में हमारी अधिकांश* आवश्यकताओं की पूर्ति मुद्रा द्वारा होती है अतः स्वाभाविक है कि अधिक वेतन या मजदूरी सभी कर्मचारियों को किसी न किसी कार्य के लिए प्रेरित करती है।

2. कार्य-सुरक्षा द्वारा अभिप्रेरणा (Motivation by Job-security)—कर्मचारी कार्य सुरक्षा द्वारा *अभिप्रेरित होते हैं। सभी कर्मचारी चाहते हैं कि उन्हें न केवल एक निश्चित समय पर निश्चित वेतन मिलता रहे,* वरन् उनकी नौकरी भी स्थाई और सुरक्षित रहे।

3. कुशल नेतृत्व द्वारा अभिप्रेरणा (Motivation by Efficient Leadership)—कुशल नेतृत्व अधीनस्थों के लिए अच्छी अभिप्रेरणा का काम करता है। इससे कर्मचारियों को विश्वास और प्रेम मिलता है। *प्रबन्धकों का दायित्व है कि वे अपने अधीनस्थों की कठिनाइयों को ध्यान से सुनें और उन्हें दूर करने के अविलम्ब* प्रयत्न करें। इससे अधीनस्थ अभिप्रेरित होते हैं, वे लगन, निष्ठा तथा परिश्रम से कार्य करते हैं।

4. लक्ष्यों द्वारा अभिप्रेरणा (Motivation by Goals)—प्रबन्धकों से अपेक्षित है कि वे अधीनस्थों को संस्था के लक्ष्यों और उद्देश्यों के बारे में समुचित जानकारी प्रदान करें और यह स्पष्ट कर दें कि संस्था के लक्ष्यों की पूर्ति में उनके स्वयं के लक्ष्यों की पूर्ति निहित है, अर्थात् संस्था और कर्मचारी के लक्ष्य एक हैं—उनमें चोली-दामन का साथ है। ऐसा होने पर अधीनस्थ लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रेरित हो उठेंगे क्योंकि उनमें यह आशा जगी रहेगी कि संगठन के लक्ष्यों की पूर्ति पर वे किसी न किसी रूप में पुरस्कृत होंगे।

5. चुनौती द्वारा अभिप्रेरणा (Motivation by Challenge)—जो व्यक्ति कुशल होते हुए भी कार्य के प्रति उपेक्षा भाव रखते हैं, उन्हें जोश दिलाकर काम के लिए अभिप्रेरित किया जाता है। जोश दिलाने पर वे चुनौती को स्वीकार करके अपनी पूर्ण क्षमता से कार्य के लिए प्रेरित हो उठते हैं। चुनौती अभिप्रेरणा की वह विधि है जो कर्मचारी की आन्तरिक योग्यता को बाहर ले आती है। चुनौती को स्वीकार करके पूर्ण क्षमता से कार्य करने में कर्मचारी गर्व का अनुभव करते हैं। चुनौती द्वारा अभिप्रेरणा देते समय प्रबन्धक को यह ध्यान रखना चाहिए कि जो भी पुरस्कार आदि घोषित किया जाए, उसे कार्य निष्पादित होते ही सम्बन्धित को अविलम्ब दे दिया जाए।

6. प्रशंसा एवं मान्यता द्वारा अभिप्रेरणा (Motivation by Praise and Recognition)—अभिप्रेरणा की इस विधि से कर्मचारी को आत्मतुष्टि होती है और उसका मनोबल बढ़ता है। प्रत्येक कर्मचारी की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि उसके कार्य की प्रशंसा की जाए। प्रबन्धक अपने अधीनस्थ कर्मचारी की प्रशंसा करके उसका उत्साह बढ़ा सकता है और उससे अधिक कार्य ले सकता है। जब कर्मचारी अच्छा कार्य करते हों तो पर्यवेक्षक को मौन बने रहना या हर समय गलतियों के लिए दोषी ठहराना उचित नहीं है।

7. दण्ड द्वारा अभिप्रेरणा (Motivation by Punishment)—इस विधि का प्रयोग बहुत आवश्यक होने पर ही किया जाना चाहिए। अनुशासन की दृष्टि से यद्यपि प्रशंसा और दण्ड दोनों प्रचलित विधियाँ हैं, किन्तु प्रशंसा-विधि दण्ड-विधि की तुलना में अधिक प्रभावी होती है क्योंकि प्रथम विधि आशा और उत्साह का संचार करती है जबकि दूसरी विधि निराशा उत्पन्न करती है। वास्तव में दण्ड का प्रावधान विशेष अपराध के लिए होना चाहिए, छोटे-छोटे कारणों के लिए दण्डित करना उपयुक्त नहीं है। सामान्य कारणों पर दण्ड कर्मचारी में निराशा और विद्रोह की भावना पैदा करता है।

8. कार्य के प्रतिफल पूर्व-जानकारी द्वारा अभिप्रेरणा (Motivation by Pre-knowledge of Results)—यदि कर्मचारी को उसके द्वारा किए जा रहे कार्य की सफलता की जानकारी समय-समय पर दी जाती रहे तो यह जानकारी एक शक्तिशाली प्रेरक सिद्ध होगी। "कार्य-प्रोत्साहन तथा कार्य-निष्पादन के लिए सही मार्गदर्शन तथा किए जा रहे कार्य का अवलोकन श्रमिक में आत्म-विश्वास जाग्रत करता है।"

9. स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा द्वारा अभिप्रेरणा (Motivation by Sound Competition)—यह अभिप्रेरणा की एक प्रमुख तकनीक है। कार्य-निष्पादन, कौशल, वस्तु-किस्म-सुधार आदि की दृष्टि से स्वस्थ अथवा विशिष्ट प्रकार की प्रतियोगिता (होड़) श्रमिकों तथा अन्य सभी प्रकार के कर्मचारियों में होनी चाहिए और जो व्यक्ति तुलनात्मक दृष्टि से अधिक सफल सिद्ध हों उसे सर्वोत्तम पुरस्कार दिया जाना चाहिए। स्वस्थ प्रतियोगिता विक्रय, उत्पादन सुरक्षा आदि सभी क्षेत्रों में हो सकती है। यह प्रतिस्पर्द्धा सामूहिक प्रयासों को भी अभिप्रेरित करती है।

10. कार्य में सहभागिता द्वारा अभिप्रेरणा (Motivation by Participation in Work)—जब कर्मचारी संस्था के नीति-निर्माण, निर्णय-प्रक्रिया आदि में भाग लेते हैं तो वे स्वयं को प्रबन्ध का ही एक भाग समझने लगते हैं जिससे उनकी आत्मतुष्टि होती है और वे कार्य के प्रति अधिक उत्साह प्रदर्शित करते हैं। प्रबन्ध अपने कर्मचारियों से विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग प्राप्त कर सकता है, जैसे—उत्पादन विधियाँ, सुरक्षात्मक और लागत कम करने सम्बन्धी उपाय, कार्यकारी सम्बन्ध में सुधार, कर्मचारियों के सम्बन्ध में नीति-निर्धारण, सामान-वहन प्रणाली आदि। सहभागिता के अनेक रूप हो सकते हैं, जैसे—सलाहकारी पर्यवेक्षण, श्रमिक-प्रबन्ध सहयोग, सुझाव कार्यक्रम, प्रजातन्त्रीय पर्यवेक्षण आदि।

11. परिवर्तन द्वारा अभिप्रेरणा (Motivation by Change)—कुछ ऐसे अवसर भी आते हैं जब कर्मचारी की प्रवृत्ति में परिवर्तन लाने के लिए प्रबन्धक को स्वयं अपनी प्रवृत्ति में परिवर्तन करना पड़ता है। इसे 'परिवर्तन द्वारा अभिप्रेरणा' कहा जाता है। उदाहरणार्थ, यदि कार्यालय में अधिकारी देरी से आता है तो अधीनस्थों में भी देरी से आने की आदत पड़ जाती है और इस आदत को समाप्त करने के लिए अधिकारी स्वयं समय पर आने लगता है।

12. आकर्षण द्वारा अभिप्रेरणा (Motivation by Attraction)—कर्मचारियों को अच्छा कार्य करने के प्रति आकर्षण प्रदान करने हेतु अभिप्रेरित किया जा सकता है। जो कर्मचारी अच्छा काम करें या समय-पूर्व ही कार्य पूरा कर लें, उनको प्रशंसा देकर, उनके कार्य को मान्यता देकर, उन्हें पुरस्कृत कर अभिप्रेरित किया जा सकता है।

13. स्तर एवं स्वाभिमान द्वारा अभिप्रेरणा (Motivation by Status and Pride)—स्तर से तात्पर्य व्यक्ति की सामाजिक स्थिति से है। अभिप्रेरणा का माध्यम होने के नाते स्तर का अर्थ महत्त्वाकांक्षा तथा सामाजिक दोनों दृष्टियों से लिया जाता है। व्यक्ति समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने की लालसा रखता है। उसे अन्य व्यक्तियों से सम्मान मिलता रहे तो वह अधिक प्रसन्नता अनुभव करता है एवं मानसिक-तृष्णा की सन्तुष्टि होती है। स्वाभिमान का उद्गम किसी विशिष्ट प्रणाली पर आधारित नहीं है। अच्छा व्यवहार, अच्छा उत्पादन, गत्यात्मक नेतृत्व, समाज सेवा, नैतिक आचरण आदि कई तत्त्व व्यक्ति को स्वाभिमानी बनाने के लिए प्रेरित करते हैं। कम्पनी के किसी भी कर्मचारी से बात करने पर पता लग जाता है कि कम्पनी के प्रति उसके विचार कैसे हैं। वह उस कम्पनी विशेष का कर्मचारी होने के नाते स्वाभिमान अनुभव करता है अथवा नहीं। वह कम्पनी के आदर्शों और अच्छे गुणों के कारण स्वयं गौरवान्वित अनुभव करता है या नहीं। स्वाभिमान जाग्रत होने पर उत्पादन में निश्चित लाभ होता है।

14. मानवीय व्यवहार द्वारा अभिप्रेरणा (Motivation by Human Behaviour)—प्रबन्धकों को अपने अधीनस्थों के साथ मानवीय व्यवहार करके उन्हें अभिप्रेरित करना चाहिए। प्रबन्धकों को यह समझना चाहिए कि श्रमिक अपना श्रम बेचता है, स्वयं को नहीं। कर्मचारी स्तर में कितना भी छोटा क्यों न हो वह अपने अधिकारी से सद्व्यवहार की कामना करता है, इससे उसे सन्तुष्टि मिलती है और वह कार्य के प्रति निष्ठा तथा गौरव का अनुभव करता है।

मुख्य कार्यपालिका : प्रकार (स्वरूप) एवं कार्य
(The Chief Executive : Types and Functions)

किसी देश के प्रशासन में मुख्य कार्यपालिका की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। वह सारे देश के प्रशासन का संचालन करती है। प्रत्येक देश में कार्यपालिका का स्वरूप वहाँ की संवैधानिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप निर्धारित होता है। प्रशासन के प्रधान (Chief) के रूप में एक अभिकरण होता है जिसे मुख्य कार्यपालिका अथवा मुख्य निष्पादक (Chief Executive) कहा जाता है। व्यावसायिक संस्था के प्रशासनिक प्रमुख को सामान्यतया महाप्रबन्धक अथवा सामान्य प्रबन्धक (General Manager) के नाम से सम्बोधित किया जाता है। जिस प्रकार व्यावसायिक संस्थाएं अथवा निजी उद्यम में महाप्रबन्धक व्यवसाय का पर्यवेक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण करता है, उसी प्रकार मुख्य कार्यपालिका अथवा मुख्य निष्पादक राज्य के प्रशासकीय यन्त्र का पर्यवेक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण करता है। लोक प्रशासन में मुख्य निष्पादक अथवा मुख्य कार्यपालिका की स्थिति केन्द्रीय होती है। प्रशासन के शीर्ष पर मुख्य कार्यपालिका या मुख्य निष्पादक होता है। देश के प्रशासन के प्रधान के रूप में वह देश के प्रशासन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण कार्यों को सम्पन्न करता है। समस्त प्रशासनिक सफलता और असफलता का उत्तरदायित्व मुख्यतः उसी पर रहता है। उसका सम्बन्ध सामान्य नीति के निर्माण से लेकर सरकार की विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों के बीच समन्वय बनाए रखने से होता है। उसे ही प्रशासकीय प्रबन्ध व्यवस्था में नेतृत्व करना होता है। उसके नेतृत्व और मार्गदर्शन में ही देश के सारे प्रशासनिक अभिकरण कार्य करते हैं। देश की राजनीतिक व्यवस्था की स्थिरता, प्रभावशीलता और गतिशीलता बहुत कुछ उसके व्यक्तित्व और आचरण पर निर्भर करती है। मुख्य कार्यपालिका प्रशासन का राजनीतिक नेतृत्व भी करती है। वह राज्य की इच्छा को, जिसकी अभिव्यक्ति व्यवस्थापिका के माध्यम से होती है, कार्यान्वित करती है। राष्ट्रीय स्तर के अतिरिक्त राज्य स्तर अथवा स्थानीय स्तर पर भी कार्यपालिकाएँ कार्य करती हैं। स्थानीय सरकार के विभिन्न स्तरों पर महापौर, अध्यक्ष, सभापति, नगर-प्रबन्धक आदि होते हैं।

लोक प्रशासन में मुख्य कार्यपालिका अथवा मुख्य निष्पादक की स्थिति केन्द्रीय होती है। इसे ही सम्पूर्ण प्रशासकीय प्रबन्ध-व्यवस्था में नेतृत्व करना होता है। मुख्य कार्यपालिका के महत्व को इंगित करते हुए प्रो. बीड ने लिखा है कि "उच्च स्तरीय नीति के विकास में नेतृत्व प्रशासकीय प्रबन्धक के साथ इतना घुल-मिल गया है कि अधिकांश सरकारों में तथा प्रायः सभी व्यक्तिगत संगठनों में दोनों कार्यों को जान-बूझकर एक ही व्यक्ति को सौंप दिया जाता है।" यही वह केन्द्रीय तथ्य है जिसके आधार पर मुख्य कार्यपालिका की स्थिति सभी छोटे अधिकारियों जैसे कार्यपालिकाओं, प्रशासनिकों और प्रबन्धकों की अपेक्षा उल्लेखनीय बन गई है। वास्तव में प्रशासन में जब विभिन्न कारणों से एकता कम होने लगी और इस प्रकार बढ़ती हुई प्रवृत्ति प्रशासन के लिए खतरा बनने लगी तो मुख्य कार्यपालिका का विचार और पद अधिकाधिक महत्व ग्रहण करता गया। संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रसंग में प्रो. एल डी ह्वाइट (L. D. White) लिखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जब अनेक नई प्रक्रियाएँ प्रारंभ की गईं तथा नए कार्यालयों का निर्माण किया गया तो राज्य एवं स्थानीय स्तरों पर प्रशासकीय एकता बहुत कम रह गई। अनेक परिस्थितियों, नवीन विकासों एवं कुछ संस्थाओं के प्रभाव के कारण बड़े संगठनों एवं सरकारी प्रशासन में पार्थक्य के भाव विकसित हुए हैं। पार्थक्य के इन शक्तिशाली तत्वों में मुख्य तत्व इस प्रकार हैं—

1. शक्तिशाली सरकार का भय—अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में संयुक्त राज्य अमेरिका में शक्तिशाली सरकार के भय ने अमेरिकी कार्यपालिका की शक्ति को विभाजित कर दिया। शक्ति के सिद्धान्त को तानाशाही का सिद्धान्त माना गया। अमेरिकी चैम्बर ऑफ कॉमर्स के एक सदस्य ने सरकार के इस भय को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हुए कहा है कि सबसे अच्छा नागरिक सेवक भी सबसे खराब बन जाता है क्योंकि वह हमारी स्वतन्त्रताओं को कतरने लगता है।

3. सामान्य कल्याण—लोक प्रशासन को जनता के कल्याण के लिए अधिक से अधिक तथा उत्तम से उत्तम सेवाएँ सम्पन्न करनी चाहिए। जनता की आकांक्षा रहती है कि जिन नेताओं को उन्होंने चुनकर भेजा है वे अपने कार्यकाल में उनके जीवन को अधिकाधिक सुखमय एवं सुसंस्कृत बनाएँ। इन लोगों द्वारा यह तर्क भी दिया जाता है कि इनकी विभिन्न माँगों को भली प्रकार से तभी पूरा किया जा सकता है जब कार्यपालिका शाखा में एकता रहे और एक बड़े केन्द्र को उत्तरदायी बना दिया जाए।

4. राष्ट्रीय सुरक्षा—प्रशासनिक एकता एवं सुदृढ़ता के बिना एक देश की सुरक्षा-व्यवस्था मजबूत एवं प्रभावशाली नहीं हो सकती। नागरिक एवं सैनिक क्षेत्रों में प्रशासकीय शक्ति के केन्द्रीयकरण द्वारा ही देश की सुरक्षा की जा सकती है। इसके लिए उच्च प्रशासकीय योग्यता का अत्यन्त समन्वयात्मक रूप में उपयोग करना होगा। मुख्य कार्यपालिका को केन्द्रीय एवं शक्ति-सम्पन्न रूप देने में अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ एवं दबाव भी प्रभाव डालते हैं।

5. राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता—जातीय, साम्प्रदायिक, प्रादेशिक, भाषावादी और आतंकवादी चुनौतियों का सामना करने के लिए भी मुख्य कार्यपालिका की आवश्यकता होती है। मुख्य कार्यपालिका अपने सक्षम नेतृत्व से देश की विघटनकारी और आतंकवादी शक्तियों की चुनौती का सशक्त ढंग से सामना करके देश की एकता तथा अखंडता की रक्षा कर सकती है।

मुख्य कार्यपालिका के विभिन्न रूप
(Various Forms of Chief Executive)

किसी भी देश में मुख्य कार्यपालिका का रूप उस देश की संवैधानिक व्यवस्था के स्वरूप के आधार पर तय किया जाता है। विश्व के विभिन्न देशों के वास्तविक व्यवहार के आधार पर मुख्य कार्यपालिका के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

संसदात्मक कार्यपालिका

इंग्लैण्ड, भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा इजरायल जैसे देशों में संसदात्मक कार्यपालिका पाई जाती है। संसदात्मक शासन व्यवस्था की परिभाषा देते हुए गैटेल ने कहा है कि "संसदात्मक शासन, शासन के उस रूप को कहते हैं जिसमें प्रधानमंत्री और मन्त्रिपरिषद् अर्थात् वास्तविक कार्यपालिका अपने कार्यों के लिए कानूनी दृष्टि से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है।" इसे 'मन्त्रिमण्डलीय शासन' की भी संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार इसे उत्तरदायी शासन से भी विभूषित किया जाता है। इस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है।

संसदात्मक शासन के मुख्य लक्षण

1. नाममात्र तथा वास्तविक कार्यपालिका में अन्तर—इस शासन-व्यवस्था में नाममात्र की व वास्तविक कार्यपालिका में अन्तर होता है। राज्य का प्रमुख कार्यपालिका का प्रतीक मात्र होता है और *वास्तविक शक्तियाँ मन्त्रिपरिषद् में निहित होती हैं। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड में सिद्धान्ततः वहाँ की* महारानी समस्त कार्यपालिका शक्तियों का स्रोत है, जबकि व्यवहार में इन शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमंडल करता है जो संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। भारत का राष्ट्रपति भी नाममात्र की कार्यपालिका है और वास्तविक शक्तियाँ मन्त्रिपरिषद् में निहित होती हैं।

2. प्रधानमंत्री वास्तविक शासक के रूप में—प्रधानमंत्री को वास्तविक शासक माना जाता है। वह निचले सदन अर्थात् जनता द्वारा वयस्क मताधिकार से चुने हुए सदन में बहुमत दल का नेता, बहुमत वाले गुट का नेता अथवा सर्वाधिक संख्या का समर्थन रखने वाला नेता होता है। इंग्लैण्ड में लोकसदन (House of Commons) तथा भारत में लोकसभा (House of the People) में बहुमत *का समर्थन रखने वाले नेता को प्रधानमंत्री के रूप* में नियुक्त किया जाता है। प्रधानमंत्री की सलाह पर ही इंग्लैण्ड में महारानी तथा भारत में राष्ट्रपति द्वारा मन्त्रियों की नियुक्ति की जाती है। मन्त्रिमण्डल के पुनर्गठन करने, मन्त्रियों की पदोन्नति करने तथा मन्त्रियों को बर्खास्त करने के सम्बन्ध में प्रधानमंत्री को अन्तिम शक्ति प्राप्त होती है। प्रधानमंत्री को ही देश की नीतियों का प्रवक्ता माना जाता है। वह राष्ट्र में 'गुरुत्वाकर्षण का केन्द्र' होता है।

3. कार्यपालिका का चयन व्यवस्थापिका में से—कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ संबंध होता है। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका में से ही चुने जाते हैं। अगर वे अपना पद ग्रहण करते समय व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं हों तो एक *निश्चित अवधि में उसकी सदस्यता प्राप्त करनी पड़ती है।* इसमें *असफल रहने पर उन्हें* पद से त्यागपत्र देना पड़ता है।

4. मन्त्री विभागीय अध्यक्ष के रूप में—मन्त्रिमंडल के सदस्य अर्थात् मन्त्री अपने-अपने विभागों के अध्यक्ष होते हैं। उनके नेतृत्व और निर्देशन में ही विभागीय कार्यों का संचालन किया जाता है। विभाग के कार्यों के लिए वह संसद के प्रति उत्तरदायी होता है।

5. व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व—मन्त्रिमण्डल के सदस्य सामूहिक रूप से भी व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अगर मन्त्रिमण्डल की किसी नीति सम्बन्धी प्रश्न पर व्यवस्थापिका में पराजय हो जाती है, तो सभी मन्त्रियों को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ता है। नीति सम्बन्धी प्रश्न पर व्यवस्थापिका में किसी एक मन्त्री की पराजय सारे मन्त्रिमंडल की पराजय समझी जाती है। यहाँ व्यवस्थापिका से आशय संसद के निचले सदन अर्थात् लोकसभा से है। इस प्रकार से संसदात्मक शासन व्यवस्था में मन्त्रिमंडल के सदस्यों पर "एक साथ तैरते हैं और एक साथ डूबते हैं" वाली कहावत चरितार्थ होती है।

6. गोपनीयता—इस शासन व्यवस्था में गोपनीयता के सिद्धान्त का भी पालन किया जाता है। अगर मन्त्रिमण्डल का कोई सदस्य किसी महत्त्वपूर्ण निर्णय को मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति के बिना ही उजागर कर देता है अथवा उसकी असावधानी या लापरवाही से गुप्त निर्णय 'लीक' हो जाते हैं, तब भी उसे त्यागपत्र देना पड़ता है।

7. कार्यपालिका के कार्यकाल की अनिश्चितता—इस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित नहीं होता है। अगर व्यवस्थापिका, कार्यपालिका के प्रति अविश्वास प्रकट कर देती है तो उसे त्यागपत्र देना पड़ता है। ऐसी स्थिति में कार्यपालिका को अपने पद से त्यागपत्र देना होता है।

8 कार्यपालिका को निचले सदन को भंग करने का अधिकार—संसदीय शासन व्यवस्था में कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के निचले सदन अथवा लोकप्रिय सदन को भंग करवाने का अधिकार प्राप्त होता है। इंग्लैण्ड में महारानी प्रधानमन्त्री की सलाह पर लोकसदन (House of Commons) को भंग कर सकती है। इसी तरह भारत में प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर राष्ट्रपति लोकसभा को भंग कर सकता है। सन् 1970, 1979 एवं 1991, 1999 में क्रमशः प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी, चरणसिंह एवं चन्द्रशेखर की सलाह पर तत्कालीन राष्ट्रपति ने लोकसभा को भंग कर दिया था।

अध्यक्षात्मक कार्यपालिका

संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस और श्रीलंका में अध्यक्षात्मक कार्यपालिका का प्रचलन है। संयुक्त राज्य अमेरिका को अध्यक्षात्मक व्यवस्था का 'मॉडल' (प्रतिमान) माना जाता है। अध्यक्षात्मक सरकार की परिभाषा देते हुए गार्नर कहते हैं "अध्यक्षात्मक सरकार वह होती है, जिसमें कार्यपालिका अर्थात् राज्य का अध्यक्ष तथा उसके मंत्री अपनी अवधि के बारे में संविधान की दृष्टि से विधानमण्डल से स्वतन्त्र होते हैं और अपनी राजनीतिक गतिविधियों के बारे में उसके प्रति अनुत्तरदायी होते हैं।" अध्यक्षात्मक व्यवस्था में राष्ट्रपति शासन व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु होता है।

अध्यक्षात्मक कार्यपालिका के लक्षण

1. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में पृथक्करण—कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते हैं। कार्यपालिका के सदस्य उस तरह से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होते हैं जिस तरह से संसदात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं अतः दोनों में पृथक्करण की स्थिति बनी रहती है।

2. नाममात्र और वास्तविक कार्यपालिकाओं में कोई अन्तर नहीं—इस व्यवस्था में नाममात्र और वास्तविक कार्यपालिका में कोई अन्तर नहीं होता है। राष्ट्रपति ही सारी शक्तियों का स्रोत होता है और उसे ही वास्तविक कार्यपालिका माना जाता है। इसके द्वारा ही शासन की सभी शक्तियों का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार "वह राज्य भी करता है और शासन भी"।

3. कार्यपालिका के प्रधान का निर्वाचन विशेष विधि से—अध्यक्षात्मक कार्यपालिका के प्रधान का निर्वाचन विशेष विधि द्वारा किया जाता है। परिणामस्वरूप उसका निर्वाचन अप्रत्यक्ष होते हुए भी प्रत्यक्ष-सा लगता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति का निर्वाचन 'निर्वाचक मंडल' द्वारा किया जाता है। ये निर्वाचक मंडल जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने जाते हैं। यह निर्वाचन विधि ही राष्ट्रपति को शक्तिशाली और वास्तविक कार्यपालिका की स्थिति प्रदान करती है।

4. कार्यपालिका को व्यवस्थापिका को विघटित करने का अधिकार नहीं—अध्यक्षात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका को व्यवस्थापिका को विघटित करने का अधिकार नहीं होता है। इसके विपरीत संसदात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के निचले सदन को विघटित कर सकती है।

5. कार्यकाल का निश्चित होना—अध्यक्षात्मक कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित होता है। कार्यपालिका के प्रधान को एक निश्चित प्रक्रिया (महाभियोग) के माध्यम से ही अपने पद से हटाया जा सकता है। यह एक अत्यन्त जटिल प्रक्रिया होती है। अभी तक संयुक्त राज्य अमेरिका में किसी भी राष्ट्रपति को महाभियोग के द्वारा हटाया नहीं जा सका है। अमेरिकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन पर 1998 में महाभियोग लगाया गया लेकिन वह सिद्ध नहीं हो सका। महाभियोग के अलावा अन्य किसी भी प्रक्रिया द्वारा उसे हटाया नहीं जा सकता है।

संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक मुख्य कार्यपालिका के बीच अन्तर
(Distinction between Parliamentary and Presidential Executive)

संसदात्मक कार्यपालिका एवं अध्यक्षात्मक कार्यपालिकाओं के बीच निम्नलिखित महत्वपूर्ण अन्तर हैं—

(i) संसदात्मक व्यवस्था में वास्तविक कार्यपालिका एक बहुलवादी निकाय होती है। यहाँ कैबिनेट में प्रधानमंत्री तथा उसके अनेक मन्त्री होते हैं। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक व्यवस्था में मुख्य कार्यपालिका एक व्यक्ति होता है। राष्ट्रपति ही वास्तविक शक्तियों का प्रयोग करता है। उसके सचिवों के पास प्रशासन की वास्तविक शक्तियाँ नहीं होतीं। वे राष्ट्रपति के सलाहकार मात्र होते हैं।

(ii) संसदात्मक व्यवस्था की अपेक्षा अध्यक्षात्मक व्यवस्था में नियंत्रण के क्षेत्र की समस्या अधिक गम्भीर हो जाती है। प्रशासन के प्रति जनता का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण भी दोनों व्यवस्थाओं में भिन्न-भिन्न होता है, किन्तु संसदात्मक व्यवस्था में शक्ति कई व्यक्तियों में विभाजित रहने के कारण इस प्रकार का भ्रम नहीं रहता। प्रधानमंत्री चाहते हुए भी अपनी मनमानी नहीं कर सकता।

(iii) दोनों व्यवस्थाओं में व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। संसदात्मक व्यवस्था में मन्त्रिमंडल के सदस्य संसद् में से लिए जाते हैं, वे इसमें बैठते हैं तथा इसकी कार्यवाहियों में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। इसके अतिरिक्त संसद् के प्रति उनका सामूहिक उत्तरदायित्व होता है। अध्यक्षात्मक व्यवस्था में शक्ति-विभाजन सिद्धान्त को अपना कर इन दोनों निकायों को अलग-अलग कर दिया जाता है। सचिव व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते हैं।

(iv) तीसरा प्रमुख अन्तर दोनों व्यवस्थाओं में उत्तरदायित्व की व्यवस्था के आधार पर है। संसदात्मक कार्यपालिका सदैव व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी रहती है जबकि अध्यक्षात्मक कार्यपालिका का संसद् के प्रति ऐसा उत्तरदायित्व नहीं होता है। वह सिद्धान्त रूप में जनता के प्रति उत्तरदायी होती है, किन्तु इस उत्तरदायित्व को प्रभावशाली बनाने के लिए कोई कार्यवाहक व्यवस्था नहीं की जाती। परिणामस्वरूप संसद् एवं जनता कार्यपालिका में अविश्वास कर उसे अधिक शक्ति नहीं देना चाहती फलतः आवश्यक शक्ति देते समय भी संकोच करती है।

(v) मुख्य कार्यपालिका के ये दोनों ही रूप देश-विदेश की कतिपय परिस्थितियों के परिणाम होते हैं। दोनों के अपने लाभ हैं तथा अपनी हानियाँ। एक ही व्यवस्था को हर देश में लागू नहीं किया जा सकता। अध्यक्षात्मक कार्यपालिका में एक व्यक्ति के महत्त्वपूर्ण होने के कारण उसके द्वारा निर्णय बड़ी शीघ्रता से लिए जा सकते हैं, यहाँ निर्देशन एवं आदेश की एकता रहती है और कार्यपालिका में अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व पाया जाता है।

अनेक विचारकों की यह मान्यता है कि यदि अध्यक्षात्मक एवं संसदात्मक कार्यपालिकाओं की तुलना की जाए तो संसदात्मक व्यवस्था को अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाएगा। अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन भी अपने देश की व्यवस्था में संसदात्मक व्यवस्था के अनुसार परिवर्तन करना चाहते थे। अध्यक्षात्मक प्रकार की कार्यपालिका में अपनी स्वयं की कुछ कठिनाइयाँ होती हैं।

नाममात्र एवं वास्तविक कार्यपालिका (Nominal and Real Executive)

संसदात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यपालिका के दो रूप पाए जाते हैं। एक तो नाममात्र की कार्यपालिका होती है जिसके नाम पर प्रशासन के समस्त कार्य संचालित होते हैं जबकि वास्तव में शक्तियों का प्रयोग उसके द्वारा नहीं किया जाता। शक्तियों की यथार्थ अधिष्ठाता वास्तविक कार्यपालिका होती है। सिद्धान्त रूप में कानून एवं संविधान कार्यपालिका की समस्त शक्तियाँ नाममात्र की कार्यपालिका राष्ट्रपति या राजा के हाथों में सौंप देता है, किन्तु वास्तविक व्यवहार में इन शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मन्त्रिपरिषद् के माध्यम से होता है और इस प्रकार उसकी सारी शक्तियाँ कैबिनेट या मन्त्रालय के हाथों में चली जाती हैं। राष्ट्रपति अथवा राजा का कार्य केवल निर्देश, सलाह एवं चेतावनी देना रह जाता है। भारत एवं ब्रिटेन की शासन-व्यवस्थाओं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

कार्यपालिका के अन्य रूप (Some Other Forms of Executive)

एकल और बहुल कार्यपालिका—एकल कार्यपालिका में कार्यपालिका का प्रधान अर्थात् राष्ट्रपति ही सर्वेसर्वा होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति की स्थिति को देखते हुए उसे एकल कार्यपालिका की संज्ञा दी जाती है। स्विट्जरलैण्ड में बहुल कार्यपालिका (Plural Executive) पाई जाती है। इस कार्यपालिका में संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक कार्यपालिका की विशेषताओं का मिश्रण होता है। संसदात्मक व्यवस्था की भाँति ही यह बहुलवादी है जिसमें 7 सदस्य होते हैं। सभी सदस्यों का स्तर प्रायः एक जैसा होता है। संसदात्मक व्यवस्था की भाँति ही इसके सभी सदस्यों को व्यवस्थापिका में स्थान प्राप्त होता है, वे उसकी कार्यवाहियों में भाग लेते हैं यद्यपि उनको वोट देने का अधिकार नहीं होता। अध्यक्षात्मक कार्यपालिका की भाँति यह एक निश्चित समय के लिए चुनी जाती है और इससे पूर्व यह अपने पद से प्रायः नहीं हटाई जा सकती। यदि इस कार्यपालिका की राय को संसद् न माने तो उसे त्यागपत्र नहीं देना होता। यह संसद् की इच्छानुसार अपनी नीतियों में परिवर्तन करके लम्बे कार्यकाल तक अपने पद पर बनी रह सकती है। स्विट्जरलैण्ड में यह कार्यपालिका अत्यन्त सफलता से कार्य कर रही है।

राजतंत्रात्मक कार्यपालिका—सऊदी अरब, कुवैत, संयुक्त अरब अमीरात, मोरक्को और नेपाल में राजतंत्रात्मक कार्यपालिका कार्य कर रही है। शासन की वास्तविक शक्ति शाह या अमीर या राजा में निहित होती है। नेपाल में गिरिराजप्रसाद कोईराला के नेतृत्व में नेपाली कांग्रेस के मंत्रिमंडल के सत्ता में आने के बाद महाराजा वीरेन्द्र के असीमित अधिकारों पर काफी नियंत्रण लगे हैं और वे संवैधानिक प्रधान के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह करने लगे हैं।

इस्लामिक कार्यपालिका—ईरान में रजा शाह पहलवी के पतन के बाद धार्मिक नेता अयातुल्ला खुमैनी के विचारों से प्रभावित सत्ताएँ सत्तारूढ़ हुईं। इन्हें 'इस्लामिक शासन व्यवस्था' का नाम दिया गया। लीबिया में कर्नल गद्दाफी के नेतृत्व में इस्लामिक रीति-नीति वाली सरकार कार्य कर रही है।

अधिनायकवादी कार्यपालिका—जिन देशों में सैनिक तानाशाही का प्रचलन है उन्हें अधिनायकवादी कार्यपालिका की संज्ञा दी जा सकती है। इराक में सद्दाम हुसैन की तानाशाही को इसका सबसे अच्छा उदाहरण माना जा सकता है।

साम्यवादी कार्यपालिका—साम्यवादी चीन, वियतनाम, उत्तरी कोरिया तथा क्यूबा में साम्यवादी कार्यपालिकाएँ कार्य कर रही हैं।

स्थानीय कार्यपालिकाएँ (Local Executives)

ऊपर कार्यपालिकाओं के जिन रूपों का वर्णन किया गया है उनका सम्बन्ध राष्ट्रीय स्तर से अथवा राज्य स्तर से है। जो कार्यपालिकाएँ स्थानीय स्तरों पर कार्य करती हैं उनका रूप भिन्न प्रकार का होता है। स्थानीय स्तर की कार्यपालिका के मुख्यतः चार प्रकार पाए जाते हैं—

(i) एकल तथा बहुल
(ii) उत्तरदायी एवं अनुत्तरदायी
(iii) केन्द्रित तथा विकेन्द्रित
(iv) राजनीतिक एवं अराजनीतिक

उल्लेखनीय है कि अराजनीतिक एवं विशेषज्ञों से पूर्ण कार्यपालिका में पहल अथवा नेतृत्व करने का गुण नहीं होता और सम्भवतः यही कारण है कि राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर पर इस प्रकार की कार्यपालिकाओं का प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

मुख्य कार्यपालिका के आधार
(The Bases of Chief Executive)

राष्ट्रीय स्तर पर मुख्य कार्यपालिका को इतने कार्य एवं उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं कि कोई भी व्यक्ति उनका निर्वाह दूसरों की सहायता प्राप्त किए बिना नहीं कर सकता है। जॉन ए. वीग (John A. Veig) के कथनानुसार, मुख्य कार्यपालिका को जितने अधिक तथा भारी कार्य करने होते हैं उनको कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना ही योग्य क्यों न हो, व्यक्तिगत रूप से पूरा नहीं कर सकता।[1] मुख्य कार्यपालिका को सहायता की आवश्यकता होती है। इसके लिए उसे पर्याप्त धन एवं शक्ति सौंपी जाती है कि वह अपना कार्य सम्पन्न करने के लिए जितने कर्मचारी चाहे नियुक्त करे, संगठित करे तथा निर्देशित करे। बिना इस शक्ति के यदि मुख्य कार्यपालिका को बेसहारा बना

1. *John A. Veig* : Op. cit., pp. 164-68.

दिया जाए तो वह अधिक दिन तक नहीं चल सकती। कर्मचारी वर्ग एवं अन्य सहायक संस्थाएँ उस रीढ़ के समान हैं जिनके बिना वह खड़ा नहीं हो सकता। ये उनके आधार हैं जिनके अभाव में उसका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। लुईस ब्राउनलो (Louis Brownlow) की अध्यक्षता में नियुक्त 'President's Committee on Administrative Management' ने अपने सन् 1937 के प्रतिवेदन में बताया था कि 'राष्ट्रपति को सहायता की आवश्यकता है।' इस समिति के ये सामान्य निष्कर्ष थे—

(i) राष्ट्रपति को व्यक्तिगत सचिवों के अतिरिक्त प्रशासकीय सहायता की आवश्यकता है।

(ii) कार्यपालिका के प्रबन्ध में उसकी सहायता के लिए तीन प्रमुख भुजाएँ होनी चाहिए—एक नियोजन के लिए, दूसरी बजट के लिए और तीसरी सेवीवर्ग के लिए।

(iii) नियामकीय आयोगों, बोर्डों एवं सरकारी निगमों द्वारा प्रस्तुत विशेष समस्याओं को सुलझाने के लिए एक आन्तरिक प्रबन्ध व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें श्रेणी-अभिकरणों को 12 भागों में एकीकृत कर दिया जाए तथा प्रत्येक के शीर्ष पर कैबिनेट स्तर का मन्त्री हो।

(iv) सामान्य लेखा-कार्यालय को पुनर्व्यवस्थित किया जाना चाहिए ताकि दो बातें लागू की जा सकें। प्रथम तो यह कि व्यय पूर्व-ऑडिट को रोका जाए क्योंकि इससे प्रशासन-यन्त्र की गति अवरुद्ध हो जाती है। द्वितीय, अधिक रचनात्मक उत्तर-ऑडिट द्वारा कार्यपालिका शाखा को सही रूप में काँग्रेस के प्रति उत्तरदायी बनाया जाए।

प्रशासनिक ढाँचे का पुनर्गठन (Reorganisation of Administration)

एक अध्यक्षात्मक कार्यपालिका की सक्रियता एवं कार्यकुशलता के बारे में दिए गए ये सभी सुझाव किसी न किसी मात्रा में सभी प्रकार की कार्यपालिकाओं पर लागू किए जा सकते हैं। समय एवं परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ प्रशासन के कार्य, उत्तरदायित्व एवं आकांक्षाओं में भारी परिवर्तन आ जाते हैं। इन परिवर्तनों के अनुरूप यदि प्रशासन को न बदला गया तो वह निष्क्रिय एवं महत्त्वहीन अथवा अक्षम बन जाएगा। मुख्य कार्यपालिका को समय-समय पर प्रशासकीय ढाँचे को पुनर्गठित करने की शक्ति दी जानी चाहिए। यह शक्ति केवल एक बार के लिए ही दी गई तो अर्थहीन रहेगी। इसका प्रयोग तो लगातार होता रहना चाहिए। जब एक मुख्य कार्यपालिका अपने प्रशासकीय ढाँचे का पुनर्गठन करे तो जॉन ए. वीग के अनुसार उसे निम्नांकित बातों को ध्यान में रखना चाहिए[1]—

(i) उसे लाइन अथवा कार्यकारी अभिकरणों तथा उनके मध्य पुनर्गठन एवं एकीकरण करने के अवसर को महत्त्व देना चाहिए ताकि अच्छी सेवाएँ प्रदान कर सके, दोहराव को रोक सके, अपने तथा अपने साथियों के नियन्त्रण के क्षेत्र को कम कर सके। यह भी कहा जाता है कि मुख्य विभागों की संख्या कम होनी चाहिए।

(ii) केन्द्रीय स्टाफ एवं सहायक सेवाओं, जैसे—बजट, सेवीवर्ग, क्रय, लेखा, छपाई आदि कार्यों के लिए वैकल्पिक प्रबन्धों पर विचार किया जाना चाहिए। यहाँ लक्ष्य यह होना चाहिए कि केन्द्रीय स्टाफ एक गृह-रक्षक सेवाओं से संघीय सरकार को जितना लाभ पहुँचाया जा सके, पहुँचाया जाए और प्रत्येक विभाग को पर्याप्त साधन एवं पूरी शक्ति तथा उत्तरदायित्व सौंपा जाए ताकि वह अपने कार्यों को पूरा कर सके।

(iii) राष्ट्रपति को यह विचार करना चाहिए कि उसके पास कितना समय है और उस समय के अन्दर क्या वह वर्तमान स्टाफ की सहायता से कार्य सम्पन्न कर सकता है। यदि स्टाफ की संख्या कम हो, तो उसे बढ़ाया जाना चाहिए।

(iv) प्रशासकीय पुनर्गठन का चौथा लक्ष्य यह होना चाहिए कि विशेषतः गृह-कार्यों में नीति के समन्वयकारी यन्त्र को विकसित किया जाए यद्यपि गृह-नीति एवं विदेश-नीति के बीच विभाजन की सम्भावनाएँ बहुत कम रहती हैं। इस सम्बन्ध में एक विकल्प यह भी हो सकता है कि वह अपनी कैबिनेट का अधिकाधिक प्रयोग करे। राष्ट्रपति द्वारा लाइन-संस्थाओं के अध्यक्षों को पर्याप्त मात्रा में शक्ति एवं उत्तरदायित्व हस्तान्तरित किए जाएँ तथा स्वयं के स्टाफ का एकीकरण किया जाए तो प्रशासन में उसका पद सफलता प्राप्त कर सकता है। कैबिनेट में विषय पर पर्याप्त विचार-विमर्श हो जाने के बाद राष्ट्रपति के लिए यह आसान रहता है कि वह अपने कार्यक्रमों की योजना बना सके।

मुख्य कार्यपालिका का दोहरा व्यक्तित्व
(Dual Personality of the Chief Executive)

मुख्य कार्यपालिका कुछ राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए गठित की जाती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे अनेक प्रशासनिक प्रकृति के कार्य करने पड़ते हैं। सरकारी संस्थानों में राजनीति एवं प्रशासन में अन्तर करना प्रायः कठिन होता है। मुख्य कार्यपालिका को अपने दोहरे उत्तरदायित्वों के निर्वाह करने के लिए यह

1. *John A. Veig* : Op. cit., pp. 164-68

जानना होगा कि व्यवस्थापिका के साथ सहयोग किस प्रकार कायम रखा जाए तथा उसके विशेषाधिकारों का किस प्रकार आदर किया जाए; तभी वह एक प्रभावशाली सरकार का अध्यक्ष बन सकेगी। मुख्य कार्यपालिका एक साथ ही 'राजनीतिक नेता' एवं 'प्रशासनिक मुखिया' होती है। इस दोहरी प्रकृति के कारण उसके कार्यों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो जाता है। कई बार इन व्यापक उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए उसके पास शक्तियाँ एवं विशेषाधिकार नहीं होते, किन्तु फिर भी उससे यह आशा की जाती है कि अपने दोनों ही क्षेत्रों में वह प्रभावशाली सिद्ध हो। अपने इन उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए उसे अपने दल का प्रभावशाली नेता होना चाहिए, उसमें प्रबन्धात्मक व्यवस्था करने की उच्च योग्यता होनी चाहिए, उसको मतदाताओं का संगठित समर्थन प्राप्त होना चाहिए ताकि वह जन-कल्याणकारी नीतियों का निर्माण एवं उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धन कर सके।

मुख्य कार्यपालिका के कार्य
(Functions of the Chief Executive)

मुख्य कार्यपालिका के कार्यों या उत्तरदायित्वों की प्रकृति सूत्र (Line) अभिकरणों से मिलती-जुलती है। उसका सबसे प्रमुख लक्ष्य प्रशासन में यथासम्भव एकता की स्थापना करना होता है। उसके द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले सभी कार्य इस लक्ष्य के चारों ओर चक्कर लगाते हैं। मुख्य कार्यपालिका की सफलता इस लक्ष्य की प्राप्ति के आधार पर ही निर्भर रहती है।

डॉ. एल. डी. ह्वाइट का मत

मुख्य कार्यपालिका के कार्यों को प्रो. एल. डी. ह्वाइट ने आठ भागों में विभाजित किया है[1]—

1. अनुकूल वातावरण की रचना—मुख्य कार्यपालिका संगठन के अनुकूल वातावरण का निर्माण करती है जिसमें प्रशासन सुचारु रूप से चलता हुआ अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सके। एक संगठन शक्तिशाली है या कमजोर, ऊँचे मनोबल वाला है या नीचे मनोबल वाला, ईमानदारी का स्तर अच्छा है या गिरा हुआ, नागरिकों के प्रति सौजन्यपूर्ण है अथवा नहीं, आदि विषय उच्च नेतृत्व के चरित्र पर निर्भर करते हैं।

2. नीति-निर्माण—मुख्य कार्यपालिका प्रशासकीय नीति का निश्चय करती है। प्रबन्ध-नीति के बड़े प्रश्नों पर मुख्य कार्यपालिका द्वारा ही निर्णय लिया जाता है। प्रतिवर्ष बजट पर होने वाले वाद-विवाद के समय पर अन्य समस्याओं के बारे में विचार करते समय मुख्य कार्यपालिका के विचार प्रकट होते रहते हैं। कार्यपालिका को अपनी नीतियों में एकरूपता रखनी चाहिए तभी वह अपने प्रत्येक कार्य में एकता रख पाएगी।

3. निर्देश जारी करना—मुख्य कार्यपालिका समय-समय पर आज्ञाएँ एवं निर्देश जारी करती रहती है। किसी भी संगठन में कार्य तभी प्रारम्भ होता है जब ऊपर से आज्ञाएँ प्रसारित की जाएँ। इन आज्ञाओं पर मुख्य कार्यपालिका की स्वीकृति होनी चाहिए। कार्यपालिका की आज्ञाओं के रूप में निर्देशन, अर्द्धसरकारी पत्र, परिपत्र, मौखिक निर्देश आदि प्रसारित होते रहते हैं।

4. बजट बनाना—मुख्य कार्यपालिका बजट स्वीकार करती है। प्रतिवर्ष जो अनुमान तैयार किए जाते हैं उनकी ओर वह व्यक्तिगत रूप से ध्यान देती है। बजट की महत्वपूर्ण मदों पर उसे विशेष ध्यान रखना होता है।

5. सेवीवर्ग का चयन—उच्च सेवीवर्ग का चुनाव मुख्य कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। यह एक कठिन किन्तु व्यक्तिगत उत्तरदायित्व है जिस पर सरकारी कार्यपालिकाओं का अधिकार रहता है, किन्तु इसका उपयोग करने में वे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं रहतीं। उन्हें राजनीतिक, भौगोलिक, व्यक्तिगत, वर्गगत एवं संगठन हित आदि अनेक पहलुओं की ओर ध्यान देना पड़ता है।

6. निरीक्षण एवं नियन्त्रण—मुख्य कार्यपालिका सरकारी अभिकरणों का निरीक्षण एवं नियन्त्रण (Supervision and Control) करती है। जितना ऊँचा अधिकारी होता है वह दिन-प्रतिदिन के कार्यों पर उतनी ही कम नजर रख सकता है। कार्यपालिका के अधिकारियों का यह उत्तरदायित्व है कि वे अपने से अधीनस्थ अधिकारियों के प्रत्येक कार्य की देखरेख करते रहें।

7. पद-विमुक्ति—मुख्य कार्यपालिका को यह अधिकार होता है कि जिन अधिकारियों की वह नियुक्ति करे उन्हें हटा भी सके। इसी शक्ति के कारण यह सम्भव होता है कि सभी अधिकारी मुख्य कार्यपालिका की नीतियों एवं लक्ष्यों को क्रियान्वित करने में पूरे उत्साह एवं मनोबल से कार्य करें तथा उसकी आज्ञाओं, निर्देशों एवं विशेष आदेश पत्रों की अवहेलना न करें।

8. जन-सम्पर्क—मुख्य कार्यपालिका जन-सम्पर्क के विस्तार तथा उसे नियन्त्रित करने में भाग लेती है। इस प्रकार वह प्रशासन को व्यवस्था के बाहर से प्रभावित करने की शक्ति भी रखती है। जन-सम्पर्क-स्थापना के कार्यों द्वारा वह जनता में प्रशासन का प्रतिनिधित्व करती है तथा उसके समर्थन में लोकमत का निर्माण करती है। प्रेस-सम्मेलनों, समाचार पत्रों एवं अन्य साधनों द्वारा वह अपने इस उत्तरदायित्व को पूरा कर पाती है।

---

1 *L.D. White*: Op. cit., pp. 58-60.

प्रो. वीग का मत

मुख्य कार्यपालिका के कार्यों पर प्रो. वीग (John. A. Vieg) के वर्णन में कुछ अधिक स्पष्टता एवं विस्तार है। उन्होंने इन कार्यों को निम्नलिखित रूप से विवेचित किया है—

1. प्रशासकीय नियोजन एवं निर्देशन—राष्ट्रपति को सर्वप्रथम यह निर्णय करना पड़ता है कि उसके तथा व्यवस्थापिका के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध विकसित होने चाहिए, उसके प्रशासन की प्रमुख नीतियाँ क्या होनी चाहिए तथा उनकी पूर्ति के लिए क्या कार्यक्रम अपनाना चाहिए। मुख्य कार्यपालिका कार्यक्रम एवं नीतियाँ निश्चित करने के बाद उनकी पूर्ति के लिए उपयुक्त संगठनात्मक ढाँचे पर विचार करती है। मुख्य कार्यपालिका अभिकरणों के अध्यक्षों की नियुक्ति भी करती है जो संगठनों के माध्यम से प्रमुख कार्यपालिका का कार्य कर सकें। जो मुख्य अधिकारी मुख्य कार्यपालिका द्वारा नियुक्त किए जाते हैं उनके कार्यों का निर्देशन भी उसी के द्वारा किया जाता है। मुख्य कार्यपालिका ही इन अधिकारियों को यह बताती है कि उनका लक्ष्य क्या है? प्रत्येक अभिकरण प्रतिवर्ष व्यवस्थित कार्यक्रम प्रस्तुत करता है जिसमें व्यय के अनुमान भी सम्मिलित रहते हैं। एक सन्तुलित कार्यक्रम तथा व्यय की व्यवस्था करने के लिए मुख्य कार्यपालिका द्वारा बजट पर विचार किया जाता है तथा विभिन्न अभिकरणों के कार्यक्रमों के बीच एकीकरण स्थापित किया जाता है।

2. समन्वय एवं प्रशासकीय प्रतिवेदन—यह कहा जाता है कि यदि मुख्य कार्यपालिका द्वारा स्पष्ट नीतियाँ एवं योजनाएँ निर्धारित कर दी जाएँ, संगठन की एक सन्तोषजनक योजना बना ली जाए, योग्य उच्च सेवीवर्ग नियुक्त कर दिया जाए, व्यक्तिगत अभिकरणों को जागरुक निर्देशन दिया जाए, प्रशासनिक प्रक्रियाओं का सावधानीपूर्वक कार्यक्रम बनाया जाए, तो भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सब कार्य अपेक्षित रूप में होता रहेगा; अतः प्रत्येक अभिकरण को कार्य करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाना चाहिए। सच तो यह है कि मुख्य कार्यपालिका शाखा के विभिन्न अभिकरणों के कार्यों एवं व्यवहारों के बीच समन्वय स्थापित करना होगा। *समन्वय की स्थापना का कार्य अत्यन्त कठिन होते हुए भी आवश्यक है। प्रो. वीग के अनुसार,* "यह समझना आसान है कि प्रशासनिक कार्यों का प्रभावशाली समन्वय एक अत्यन्त भारी तथा कभी समाप्त न होने वाला उत्तरदायित्व है।"[1]

मुख्य कार्यपालिका को प्रशासन पर दृष्टि रखनी चाहिए। यह प्रतिवेदनों के प्रसारण का केन्द्र बिन्दु होना चाहिए। उसे अनेक साधनों एवं स्रोतों द्वारा आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त होती रहनी चाहिए। इसके साथ ही उसे भी एक अभिकरण की सूचना दूसरे अभिकरण तक पहुँचानी चाहिए। प्रो. वीग के अनुसार, राष्ट्रीय प्रशासकीय व्यवस्था से सम्बन्धित सूचना के केन्द्रीय स्रोत के रूप में मुख्य कार्यपालिका एक ऐसा माध्यम है जो जनता एवं काँग्रेस को प्रतिवेदन देता है।[2] प्रशासकीय प्रतिवेदनों के माध्यम से ही मुख्य कार्यपालिका यह जान सकती है कि उसकी सम्पूर्ण प्रशासकीय व्यवस्था में क्या हो रहा है। इसकी जानकारी भी राष्ट्रपति को मिलती रहनी चाहिए कि सम्पूर्ण देश में करोड़ों कर्मचारियों द्वारा उसके नाम पर क्या किया जा रहा है? यदि स्टाफ के कार्यों की वृहद् सूचना *उसके पास तक न पहुँचे तो प्रशासन की प्रबन्ध-व्यवस्था खराब हो सकती है। मुख्य कार्यपालिका* को तथ्यों, सुझावों एवं आँकड़ों की सूचना लगातार पहुँचती रहनी चाहिए ताकि वह अपने नियन्त्रण के लक्ष्य को पूरा कर सके।

लूथर गुलिक का मत

लोक प्रशासन के प्रसिद्ध विद्वान लूथर गुलिक ने मुख्य कार्यपालिका के कार्यों को एक ही शब्द 'पोस्डकार्ब' (POSDCORB) में संग्रहित कर दिया है। तदनुसार उसके कार्य ये हैं—(1) योजना बनाना (Planning), (2) संगठन करना (Organising), (3) कर्मचारियों की व्यवस्था करना (Staffing), (4) निर्देशन (Directing), (5) समन्वय करना (Co-ordinating), (6) प्रतिवेदन देना (Reporting), एवं (7) बजट बनाना (Budgeting)।

उपर्युक्त सभी विद्वानों के मतों का विश्लेषण करने पर मुख्य कार्यपालिका के कार्यों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) नीति-निर्माण करना।

(2) बजट बनाना।

(3) प्रशासन का संचालन करना।

1. *John A. Vieg* : Op cit., pp 61.
2. Ibid, p 164

(4) सेवीवर्ग का चयन करना।
(5) शान्ति और व्यवस्था को बनाये रखना।
(6) राष्ट्रीय एकता और अखंडता की रक्षा करना।
(7) निर्देश जारी करना।
(8) निरीक्षण करना।
(9) नियन्त्रण स्थापित करना।
(10) समन्वय बनाए करना।
(11) प्रशासकीय नियोजन करना।
(12) जन-सम्पर्क करना।
(13) विदेशी मामलों का संचालन करना।
(14) सैनिक कार्यों का संचालन करना।
(15) व्यवस्थापन प्रक्रिया का संचालन करना।

मुख्य कार्यपालिका के सुविस्तृत कार्यों, दायित्वों और अधिकारों पर दृष्टिपात करने से यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि इस विशाल कार्य-भार का प्रभावशाली ढंग से सम्पादन वह अकेला नहीं कर सकता। व्यवहार में उसे दूसरों की आवश्यकता है और यह सहायता वह उस या उन लोगों से प्राप्त करता है जो उससे संलग्न हैं। मुख्य कार्यपालिका अपने बहुत से कार्य इन अंगों को सौंप देती है तथापि यह कोई सत्ता का हस्तान्तरण नहीं होता और इससे उसके पर्यवेक्षण, निर्देशन एवं नियन्त्रण के सर्वोपरि दायित्व में कोई हस्तक्षेप अथवा बाधा उत्पन्न नहीं होती। उन अंगों को जिन्हें कार्य सौंपे जाते हैं, सामान्य कर्मचारी वर्ग (Subordinates) कहा जाता है जो काट-छाँट, विश्लेषण और गौण महत्त्व के कार्मों का निर्णय लेकर मुख्य कार्यपालिका का कार्य-भार हल्का कर देते हैं और उसकी शक्ति तथा समय को बचाते हैं। जो मामले विशेष महत्त्व के होते हैं वे ही निर्णय के लिए मुख्य कार्यपालिका तक पहुँचते हैं और निर्णय तत्सम्बन्धी विभागों तक सामान्य कर्मचारी वर्ग के माध्यम से पहुँच जाते हैं।

मुख्य प्रशासक (Administrative-in-Chief) होने के कारण मुख्य कार्यपालिका अथवा मुख्य निष्पादक को केवल सरकार के प्रशासकीय यन्त्र के साथ ही व्यवहार नहीं करना पड़ता बल्कि न्यायपालिका, व्यवस्थापिका, विधायकों, अन्य मुख्य निष्पादकों, राजनीतिक दलों, जन-साधारण के विचारों और विभिन्न हित एवं दबाव समूहों से भी सम्बन्ध रखना पड़ता है। इस प्रकार उसका कार्य द्विमुखी प्रकृति (Dual Nature) का है, अर्थात् वह शासन का प्रधान भी होता है और देश का राजनीतिक नेता भी। मुख्यतः उसी पर यह भार होता है कि वह सार्वजनिक आलोचनात्मक प्रहारों से प्रशासन को बचाए रखे। जनता के समक्ष प्रशासन का प्रतिनिधित्व भी वही करता है। इसीलिए अपने विचारों को जनता तक पहुँचाने के लिए उसे संचार-साधनों का भारी उपयोग करना पड़ता है। मुख्य कार्यपालिका की नेतृत्व-कुशलता और संगठन-क्षमता ही प्रशासन की सफलता का मुख्य आधार है। उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुख्य कार्यपालिका के पास व्यापक अधिकार होते हैं।

मुख्य कार्यपालिका के शक्ति स्रोत एवं गुण
(Sources of Power of the Chief Executive and Virtues)

मुख्य कार्यपालिका अपने विस्तृत कार्यों को तब तक सम्पन्न नहीं कर सकती जब तक उसे पर्याप्त शक्ति प्रदान न की जाए। मुख्य कार्यपालिका की शक्ति के औपचारिक एवं अनौपचारिक अनेक स्रोत हैं जिनका स्वरूप देश की शासन-व्यवस्था के अनुसार बदलता रहता है। मुख्य कार्यपालिका की शक्ति के मुख्य स्रोतों को निम्नांकित प्रकार से विवेचित किया जा सकता है—

1. जनमत का समर्थन—वर्तमान में मुख्य कार्यपालिका जनता की सहायता एवं सक्रिय सहयोग के बिना कुछ भी करने की स्थिति में नहीं रहती है। आज स्थिति बहुत कुछ यही है कि जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए जनता की उसे अधिक से अधिक सेवा करनी होती है। लोक-कल्याण की बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनानी पड़ती हैं। वैधानिक शक्तियाँ जन-समर्थन एवं सहयोग के बिना प्रभावहीन बन कर केवल कागजी रह जाती हैं। जनमत ही उसका सबसे बड़ा संबल है।

2. सांविधानिक शक्तियाँ—मुख्य कार्यपालिका के हाथ वैधानिक एवं कानूनी रूप से मजबूत होने चाहिए। इसके बिना वह समन्वय, नियन्त्रण, निर्देशन आदि दायित्वों का निर्वाह नहीं कर सकती। प्रत्येक सरकारी कार्यालय की एक कानूनी परिभाषा का किया जाना कई कारणों से लाभदायक है। इससे प्रत्येक क्षेत्रीय कार्यालय का कार्य-क्षेत्र स्पष्ट हो जाता है और अधिकारियों के कर्त्तव्य एवं जनता के अधिकारों के सम्बन्ध में भ्रम होने की

गुंजाइश नहीं रहती। मुख्य कार्यपालिका के तानाशाह होने का डर भी नहीं रहता। संविधान तथा चार्टरों द्वारा मुख्य कार्यपालिका को वह कानूनी सामर्थ्य दे दी जाती है जिसके आधार पर वह व्यवस्थापन की सिफारिश कर सके तथा उस पर वीटो कर सके, अधीनस्थ अधिकारियों को नियुक्त एवं पदच्युत कर सके, बजट तैयार कर क्रियान्वित कर सके, अधिकृत कार्यों में सरकार का प्रतिनिधित्व कर सके और समस्त सरकारी संस्थानों को निर्देशित कर सके। ये सभी वैधानिक शक्तियाँ उसके प्रमुख कार्यों को पूरा करने के लिए परम आवश्यक हैं। *इसके बिना मुख्य कार्यपालिका की स्थिति बहुत दयनीय हो जायेगी।*

3. व्यक्तिगत गुण—मुख्य कार्यपालिका के लिए यह वांछनीय है कि वह अपनी शक्ति एवं व्यक्तित्व का सन्तुलन बनाए रखे। मुख्य कार्यपालिका की आशाएँ बुद्धिपूर्ण होनी चाहिए। उसमें इतनी बुद्धि का उपयोग किया जाए कि अन्य कार्यपालिका भी समझ में आ सके। मुख्य कार्यपालिका के अधिकारी में शारीरिक सामर्थ्य एवं क्षमता का होना भी आवश्यक है, इसके बिना अपने कार्यों की सम्पन्नता में वह चाहे कितनी ही रुचि एवं उत्साह क्यों न दिखाए, एक नाममात्र का अधिकारी ही रह जाता है। मुख्य कार्यपालिका के पद पर शक्ति का सीधा प्रभाव पड़ता है। लोक-कल्याण की चुनौतियाँ अत्यन्त गम्भीर होती हैं। रुचि, बुद्धि एवं शक्ति 'व्यक्तित्व' के निखार के लिए मौलिक गुण हैं। ये गुण सन्तुलित रूप में होने चाहिए।

4. कुशल नेतृत्व—मुख्य कार्यपालिका को प्रशासनिक यन्त्र के शक्ति-स्रोत के रूप में कार्य करना होता है। इसके लिए उसमें स्वयं नेतृत्व के गुण होने चाहिए तथा इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह अपने लक्ष्य को कोई हानि पहुँचाए बिना अच्छे मानव-सम्बन्धों की रचना कर सके। नेतृत्व के आधार पर विभिन्न अधिकारियों को एक मत बना कर उनसे काम लिया जाता है। एक श्रेष्ठ नेतृत्व कर्मचारियों के बीच प्रेम का ऐसा सूत्र स्थापित कर देता है जिसमें बँधकर वे अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए तुच्छ मतभेदों एवं विवादों को भुला देते हैं। कर्मचारी यद्यपि यह सोचता है कि कार्यक्रम उसकी मर्जी के अनुकूल नहीं है तथापि अपने नेतृत्व के प्रभाव से वह उसे क्रियान्वित करने में अपनी सारी शक्ति लगा देता है।

मुख्य कार्यपालिका अपने अधीनस्थों को अच्छा नेतृत्व केवल तभी प्रदान कर सकती है जब उसमें स्वयं अपेक्षित आत्म-विश्वास हो। यह आत्म-विश्वास केवल तभी रह सकता है जबकि जिन कार्यक्रमों एवं नीतियों को क्रियान्वित करना चाहती है वे उसके स्वयं के विचारों के अनुकूल हों। मुख्य कार्यपालिका के आत्म-विश्वासपूर्ण कार्य अधीनस्थ कर्मचारियों के दिल में यह भाव भर देते हैं कि यदि एक साथ मिलकर प्रयास किया जाए तो लक्ष्यों को प्राप्त कर ही लेंगे। प्रो. पीग के अनुसार, महान् कार्यपालिकाएँ सदा अपने अधीनस्थों के प्रति उदार दृष्टिकोण *वाली होती हैं, वे उनके कार्यों को नीचा आँकने की अपेक्षा हमेशा ऊँचा आँकती हैं।*

5. तीक्ष्ण बुद्धि—अच्छे नेता का एक अन्य गुण है कि उसमें तीक्ष्ण विचार-बुद्धि होनी चाहिए। वह अपने देश की तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक एवं अन्य प्रकार की ज्वलन्त समस्याओं का समाधान सोच सके तथा उसे जनता से स्वीकृत करा सके। उसमें जनमत को अपने पक्ष में करने का भी गुण होना चाहिए। लोकमत को अपने पक्ष में बनाए रखने के लिए उसे प्रेस, रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा एवं प्रचार के अन्य साधनों को अपने अधिकार में रखना होता है एवं उनका उपयोग इस प्रकार करना होता है कि जनता का विश्वास बना रहे तथा उसे पूरा समर्थन प्राप्त होता रहे।

6. हित-समूहों से मिल-जुल कर कार्य करना—हित-समुदाय प्रत्येक उस राजनीतिज्ञ के सामने अनेक समस्याएँ पैदा कर देते हैं जो सामान्य कल्याण के लिए कुछ करना चाहता है। कई बार ऐसा भी हो जाता है कि हित-समूह जो माँगें अपने स्वार्थ-साधन के लिए अपनाते हैं उससे सभी के हित की भी सिद्धि हो जाती है इसलिए मुख्य कार्यपालिका को उसका ध्यान रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह इन माँगों की अवहेलना भी नहीं कर सकती, क्योंकि प्रत्येक हित-समुदाय मिल कर ही उस राजनीतिक समाज का निर्माण करते हैं जिसकी सेवा के लिए मुख्य कार्यपालिका कार्य करती है।

निष्कर्षतः मुख्य कार्यपालिका के गुणों की सूची के बारे में कोई निश्चित और अन्तिम मत व्यक्त नहीं किया जा सकता, तथापि यह अपेक्षित है कि— (1) कार्यकारी का व्यक्तित्व सबल और सन्तुलित हो अर्थात् उसमें बुद्धि-कौशल, दृढ़ता, कार्य में रुचि और कार्यक्षमता का समावेश हो। वह चिड़चिड़ेपन, अनावश्यक उत्साह के प्रदर्शन, दुराग्रह, एकपक्षीय चिन्तन आदि दोषों से मुक्त हो। (2) उसमें नेतृत्व की क्षमता हो अर्थात् वह अपने *ध्येयों को पूर्ण करने और दूसरों को उत्साह दिलाने,* अनुयायियों के प्रति उदारवृत्ति रखने तथा अपने विचारों और चिन्तन को भाषण या लेखन द्वारा अभिव्यक्त करने में सक्षम हो। (3) उसमें प्रशासकीय योग्यता हो जिसका आशय है दूसरों से कुशलता तथा मितव्ययतापूर्वक कार्य कराने की क्षमता। अपने राजनीतिक प्रमुखों के साथ काम करने और उनके विचारों से समन्वय रखने का गुण भी मुख्य कार्यपालिका की सफलता की कसौटी है। भारत के

सर्वप्रथम गवर्नर जनरल और सुयोग्य प्रशासक चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने एक सफल प्रशासक के 6 मौलिक गुणों का उल्लेख किया था, जो संक्षेप में ये हैं—(1) वह चरित्रवान हो, (2) उपयुक्त परामर्श को जानने और क्रियान्वयन के मामले में उसमें शीघ्र तथा सही निर्णय लेने की क्षमता हो, (3) वह अपने निर्णयों को लागू करने वाले अधीनस्थ कर्मचारियों में अधिकाधिक विश्वास जगा सके, (4) लोगों में यह विश्वास जगा सके कि एक बार निर्णय लेने के पश्चात् वह उस निर्णय से विचलित नहीं होगा, (5) वह सन्तुलित मस्तिष्क का हो, एवं (6) वह इतना सुयोग्य हो कि विभिन्न स्तरों पर अधीनस्थ कर्मचारियों में सामाजिक सेवा के उद्देश्य की महान् भावना भर सके।

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त उसमें प्रशासनिक अवगुण, जैसे—भ्रष्टाचार, जातिवाद, संकीर्ण मनोवृत्ति आदि नहीं होनी चाहिए। उसका दृष्टिकोण उदार और परिपक्व होना चाहिए। सही समय पर सही निर्णय लेने की क्षमता, राष्ट्रीय मतैक्य स्थापित करने की क्षमता, अपनी नीतियों तथा निर्णयों को क्रियान्वित करने की क्षमता, अपने सहयोगियों से काम लेने की क्षमता तथा करिश्माई व्यक्तित्व भी मुख्य कार्यपालिका को शक्तिशाली बनाते हैं।

मुख्य कार्यपालिका का कार्यालय

(The Office of the Chief Executive)

अपने कठिन और बहुमुखी कार्यों तथा उत्तरदायित्वों के निर्वहन के लिए मुख्य कार्यपालिका को एक प्रभावी कर्मचारी-वर्ग की सहायता की आवश्यकता होती है। यह कर्मचारी-वर्ग ही मुख्य कार्यपालिका का कार्यालय होता है जिसकी सहायता से (i) मुख्य कार्यपालिका को महत्वपूर्ण मामलों से सम्बन्धित आवश्यक जानकारी और तथ्य प्राप्त होते रहते हैं, (ii) इसके फलस्वरूप अनावश्यक बातों की गहराई में जाने से उसका समय बच जाता है, (iii) भावी योजनाओं के निर्माण और महत्त्वपूर्ण नीति-सम्बन्धी निर्णयों पर पहुँचने में उसे बड़ी सुविधा हो जाती है, एवं (iv) वह यह पाता है कि विभिन्न प्रशासकीय स्तरों पर उसके निर्देशों और आदेशों का समुचित रूप से पालन किया जा रहा है या नहीं। मुख्य कार्यपालिका के कार्यालय अर्थात् उसके सामान्य कर्मचारी-वर्ग को 'फिल्टर और फनल' (Filter and Funnel) के रूप में कार्य करना होता है अर्थात् यह कर्मचारी-वर्ग मुख्य कार्यपालिका को इस योग्य बनाता है कि वह गौण तथा अनावश्यक बातों में अपना समय नष्ट किए बिना महत्त्वपूर्ण मामलों पर ध्यान दे सके। यह कार्यालय मुख्य कार्यपालिका के लिए आँख, कान और हाथ का कार्य करता है। इस कार्यालय की सहायता से ही मुख्य कार्यपालिका प्रशासन का प्रभावशाली रूप में निर्देशन, निरीक्षण और नियन्त्रण कर पाती है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति का कार्यालय

संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति को उसके विविध कार्यों की पूर्ति में सहायता देने के लिए काफी लम्बा-चौड़ा प्रशासनिक स्टाफ अथवा सेवीवर्ग होता है। राष्ट्रपति के इस निष्पादन कार्यालय (स्टाफ) में ह्वाइट हाउस कार्यालय (White House Office), बजट विभाग (Bureau of the Budget), आर्थिक सलाहकार परिषद् (Council of Economic Advisers), राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् (National Security Council), केन्द्रीय गुप्तचर अभिकरण (Central Intelligence Agency), राष्ट्रीय वैमानिक एवं अन्तरिक्ष परिषद् (National Aeronautics and Space Council) तथा सिविल एवं प्रतिरक्षा चल कार्यालय (Office of Civil and Defence Mobilisation) सम्मिलित हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की मुख्य कार्यपालिका अर्थात् राष्ट्रपति की गणना संसार की सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न मुख्य कार्यपालिकाओं में होती है और उसे प्रदान की जाने वाली स्टाफ सेवाएँ न केवल विशाल बल्कि विविध-प्रकृति की होती हैं। ह्वाइट हाउस कार्यालय में अनेक सचिव (Secretaries), सहायकगण और कुछ प्रशासकीय सहायक होते हैं जो राष्ट्रपति के 'राजनीतिक कार्यों' की पूर्ति में उसकी सहायता करते हैं। सामान्य लोक-प्रशासकीय सहायक (General Public Administrative Assistant) प्रशासन के मामले में दक्ष और विशेषज्ञ होते हैं तथा राष्ट्रपति को उसके प्रशासकीय कार्यों के निर्वहन में सहायता देते हैं। बजट-विभाग का मुख्य कार्य वार्षिक बजट तैयार करने में राष्ट्रपति की सहायता करना होता है। इस विभाग के माध्यम से राष्ट्रपति विभिन्न प्रशासकीय विभागों के मामले में समुचित जानकारी प्राप्त कर सकता है। आर्थिक सलाहकार परिषद् का प्रमुख कार्य समस्याओं के बारे में राष्ट्रपति को जानकारी और परामर्श प्रदान करता है। राष्ट्रपति जो वार्षिक आर्थिक प्रतिवेदन कांग्रेस में प्रस्तुत करता है उसे तैयार करने में आर्थिक सलाहकार परिषद् विशेष रूप से उसकी सहायता करती है। अन्य प्रमुख अभिकरण अपने नाम के अनुरूप अपनी सेवाएँ संपादित करते हैं। उदाहरणार्थ, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् का कार्य देश के सम्मुख उत्पन्न प्रतिरक्षा एवं सुरक्षा सम्बन्धी मामलों से राष्ट्रपति को अवगत रखना होता है।

ब्रिटेन में कैबिनेट सचिवालय

ब्रिटेन में कैबिनेट की सहायता के लिए कैबिनेट समितियाँ (Cabinet Committees) तथा कैबिनेट सचिवालय (Cabinet Secretariat) हैं। कैबिनेट समितियाँ दो प्रकार की हैं—स्थायी समितियाँ (Standing Committees) तथा तदर्थ समितियाँ (Adhoc Committees)। प्रतिरक्षा, आर्थिक मसलों और विधायी कार्य के लिए महत्वपूर्ण कैबिनेट समितियाँ हैं। कैबिनेट सचिवालय का मुख्य कार्य कैबिनेट समितियों और कैबिनेट की सहायता करना है। यह सचिवालय कैबिनेट की बैठकों के लिए कार्य-सूची (Agenda) तैयार करता है, कैबिनेट की बैठकों के कागजातों और निर्णयों को सुरक्षित रखता है तथा प्रधान मंत्री या कैबिनेट की माँग पर उन्हें आवश्यक जानकारी प्रस्तुत करता है।

भारत में कैबिनेट सचिवालय

ब्रिटेन की तरह भारत में भी कैबिनेट सचिवालय है जो कैबिनेट और उसकी विभिन्न समितियों के विचार-विनिमयों और निर्णयों के अभिलेख (Record) रखता है। भारत सरकार के सन् 1984 के एक प्रकाशन के अनुसार, "मन्त्रिमण्डलीय कार्य विभाग (The Department of Cabinet Affairs) मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय (Cabinet Secretariat) के अन्तर्गत उच्चतम स्तर पर निर्णय किए जाने की प्रक्रिया में समन्वय करने की महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है और प्रधान मंत्री के निर्देश के अनुसार काम करता है। इसके कार्यों में मन्त्रिमण्डल और उसकी समितियों के सामने मामले प्रस्तुत करना, उनसे सम्बन्धित निर्णयों के रिकार्ड तैयार करना और उनके कार्यान्वयन के बारे में अनुवर्ती कार्यवाही करना शामिल है। यह सचिवों की समितियों के कार्य भी करता है। *इनकी बैठकें मन्त्रिमण्डलीय सचिव (The Cabinet Secretary) की अध्यक्षता में उन समस्याओं पर* विचार करने और परामर्श देने के लिए समय-समय पर होती रहती हैं जिन पर मन्त्रालय के बीच परस्पर परामर्श और समन्वय की आवश्यकता होती है। यह कार्य सम्बन्धी नियम बनाता है और प्रधान मंत्री के निर्देशों के अनुसार तथा राष्ट्रपति की स्वीकृति से मन्त्रालयों और विभागों में भारत सरकार के कार्य का आवंटन करता है। यह विभाग प्रत्येक मन्त्रालय की महत्वपूर्ण गतिविधियों के बारे में समय-समय पर उनसे सारांश और टिप्पणी मँगवाता है और उन्हें राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, मन्त्रि-परिषद् और अन्य महत्वपूर्ण पदाधिकारियों के पास भेजता है।"

कैबिनेट सचिवालय का संगठन इस प्रकार है—(1) प्रधान सचिवालय (Main Secretariat), (2) सैनिक प्रशाखा (Military Wing) एवं आर्थिक प्रशाखा (Economic Wing)। प्रधान सचिवालय की पुन चार शाखाएँ हैं—(क) कैबिनेट शाखा (Cabinet Branch), (ख) समन्वय शाखा (Co-ordination Branch), (ग) प्रशासन शाखा (Administration Branch), (घ) सामान्य शाखा (General Branch)। कैबिनेट सचिवालय के संगठन में समय-समय पर परिवर्तन किए जाते रहे हैं। प्रशासन के संचालन में कैबिनेट सचिवालय की महत्वपूर्ण भूमिका बन गई है।

स्टाफ तथा लाइन अभिकरण : विभाग, सार्वजनिक निगम एवं कम्पनी

(Staff and Line Agencies : Departments, Public Corporations, Companies)

जिस वर्ग का सम्बन्ध नीति सम्बन्धी कार्यों से होता है उसे सूत्र अथवा लाइन (Line) अभिकरण कहते हैं और इस कार्य में जो केवल मन्त्रणा आदि देकर सहायता करता है उसे मन्त्रणा या स्टाफ (Staff) अभिकरण कहा जाता है। प्रशासन-कार्य में सहायता पहुँचाने वाला एक अन्य अभिकरण भी होता है जिसे सहायक (Auxiliary) अभिकरण कहते हैं। यह अभिकरण सभी विभागों में एक जैसा कार्य सम्पन्न करता है। कुछ लेखकों ने इसे स्टाफ अभिकरण का ही एक अंग माना है, तथापि हर्बर्ट ए. साइमन और कुछ अन्य विद्वान् इसे एक पृथक् अभिकरण मानते हैं।

स्टाफ और लाइन शब्दों को सैनिक प्रशासन की शब्दावली से ग्रहण किया गया है। सेना में दो प्रकार की इकाइयाँ होती हैं—सूत्र या लाइन इकाई (Line Units) तथा स्टाफ इकाई (Staff Units)। मुख्य सेनापति के अधीन जनरल, कर्नल, मैजर, कैप्टन आदि अधिकारी लाइन अधिकारी कहे जाते हैं जिनका कार्य संगठन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए युद्ध के मैदान में सेना को आदेश देना और उसका संचालन तथा नेतृत्व करना है। संगठन की सफलता इन अधिकारियों के कार्यों पर निर्भर करती है। ये अधिकारी पदसोपान की श्रृंखला से सम्बद्ध रहते हैं। सैनिक प्रशासन में लाइन अधिकारियों के अतिरिक्त अन्य अधिकारी और कर्मचारी भी होते हैं जिन्हें युद्धरत सेना के लिए यातायात, रसद, चिकित्सा, डाक आदि का प्रबन्ध करना होता है। इन सब कार्यों की देख-रेख स्टाफ इकाइयाँ करती हैं। स्टाफ की सहायता के बिना सैनिक युद्ध नहीं लड़े जा सकते हैं। इस वर्ग को नागरिक प्रशासन में भी उन अभिकरणों को लाइन की संज्ञा प्रदान की गई है, जिनके हाथ में वास्तविक शक्ति रहती है, जिनका कार्य आज्ञा देना होता है अथवा जो निर्णय ले सकते हैं। नागरिक प्रशासन में भी केवल लाइन अभिकरण समय और शक्ति की सीमा के कारण सम्पूर्ण कार्य स्वयं नहीं कर सकता। उन्हें अनेक तत्त्वों पर विचार करना पड़ता है और समस्याओं को सुलझाने के लिए विभिन्न प्रकार के ज्ञान तथा योग्यताओं की आवश्यकता होती है, अतः उनकी सहायता के लिए अन्य व्यक्ति नियुक्त किए जाते हैं जिनका कार्य सैनिक प्रशासन के स्टाफ वर्ग के लोगों से बहुत कुछ मिलता-जुलता है और इसलिए उन्हें भी स्टाफ अभिकरण कहा जाता है।

स्टाफ अभिकरण : अर्थ

(Staff Agencies : Its Meaning)

प्रशासन में स्टाफ अभिकरण का बड़ा भारी महत्त्व है। यह सूत्र अभिकरण के लिए परामर्शात्मक भूमिका का निर्वाह करता है। स्टाफ अभिकरण का मुख्य कार्य परामर्श और सहायता देना है। जिस प्रकार एक वृद्ध व्यक्ति छड़ी का सहारा लेकर चलता है उसी तरह लाइन अथवा सूत्र अभिकरण स्टाफ अभिकरण का सहारा लेकर कार्य-संचालन करता है। स्टाफ द्वारा गृह प्रबन्ध सम्बन्धी (House-keeping) या प्रबन्ध सम्बन्धी (Managerial) सेवाएँ सम्पन्न की जाती हैं ताकि मुख्य उद्देश्य की पूर्ति हो सके। मुख्य कार्यपालिका के सामने जो विषय और व्यापक समस्याएँ आती हैं उनके बारे में आवश्यक सूचना एकत्रित करना, तथ्यों का अन्वेषण करना, समुदाय के लिए मार्ग खोजना तथा किस मार्ग को अपनाया जाए इस सम्बन्ध में सलाह देना आदि कार्य स्टाफ अभिकरणों को करने होते हैं। इस दृष्टि से इन्हें प्रशासनिक व्यक्तित्व का ही विस्तार माना जाता है।

विभिन्न लेखकों ने अलग-अलग प्रकार से स्टाफ अभिकरण को परिभाषित किया है। हेनरी फेयोल ने लिखा है, "यह एक सत्ता है ...... यह प्रबन्धक के विचार का एक प्रकार से विस्तार है ताकि अपने कर्तव्यों की पूर्ति में उसे सहायता मिल सके।" एल. डी. ह्वाइट के अनुसार, "स्टाफ उच्च श्रेणी के पदाधिकारियों का परामर्श देने वाला

अभिकरण है जिसके कोई क्रियात्मक उत्तरदायित्व (Objective Responsibilities) नहीं होते ।" मूने के अनुसार, "स्टाफ अभिकरण कार्यपालिका के व्यक्तित्व का ही विस्तार है जिसका अर्थ है आँखें, अधिक कान, अधिक हाथ जो उसकी योजना के निर्माण और उसके क्रियान्वयन में उसे सहायता दे सकें ।" एक पुरानी ब्रिटिश सैनिक कहावत के अनुसार "स्टाफ सेवाएँ वे खच्चर हैं जो युद्ध लड़ने वाले खच्चरों के लिए सामग्री ढोते हैं ।"

पाल एच. एपिलबी का मत

पाल. एच एपिलबी को भारतीय प्रशासन में स्टाफ और सूत्र के भेद को स्पष्ट रूप से समझने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा था । इस सन्दर्भ में कहा गया था—यहाँ ऐसी कोई शब्दावली और ऐसा कोई ढाँचा नहीं है जो सूत्र तथा स्टाफ के बीच विभेद कर सके ।" भारत में ये शब्द संगठन के ढाँचे में प्रयुक्त नहीं किए जा सकते । आगे उन्होंने पुन कहा—"प्रतिरक्षा, विदेशी मामलों और केन्द्रीय करों के संग्रह के अतिरिक्त लगभग सम्पूर्ण केन्द्र एक बड़ा स्टाफ-संगठन है । इन एवं कुछ अन्य अपवादों को छोड़कर नई दिल्ली में कोई भी सूत्र कार्य (Line Functions) नहीं है । इस प्रकार इन अपवादों को छोड़कर केन्द्रीय सरकार में कोई वास्तविक एवं पूर्ण प्रशासन नही है ।"

स्टाफ का वर्गीकरण

(Classification of Staff)

फिफनर तथा प्रिस्थस के अनुसार स्टाफ अभिकरणों को निम्नलिखित रूप से तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) सामान्य स्टाफ (The General Staff)

(ख) प्राविधिक या तकनीकी स्टाफ (The Technical Staff)

(ग) सहायक स्टाफ (The Auxiliary Staff)

(क) सामान्य स्टाफ (General Staff)—यह वह स्टाफ है जो सामान्यतया मुख्य कार्यपालिका की प्रशासकीय कठिनाइयों के निराकरण में उसकी सहायता करता है । यह प्रमुख अथवा अन्य उच्चस्तरीय कार्यकारी अधिकारियों को परामर्श-सूचना संग्रह, शोध तथा ऊपर की ओर भेजी जाने वाली सामग्री में से अनावश्यक सामग्री की छँटनी करके प्रशासकीय कार्य में सहायता करता है । इस स्टाफ का प्रबन्ध करने वाला व्यक्ति प्रायः ऐसा होता है जिसे पर्याप्त प्रशासकीय प्रशिक्षण और अनुभव प्राप्त हो । सामान्य स्टाफ का काम प्राविधिक स्टाफ से भिन्न प्रकृति का होता है । प्राविधिक स्टाफ का काम केवल प्राविधिक मामलों में परामर्श देना है जबकि सामान्य स्टाफ के सदस्य किसी प्राविधिक क्षेत्र में विशेषज्ञ होने के बजाय प्रशासन की कला में दक्ष व्यक्ति होते हैं । सामान्य स्टाफ अपना अधिकांश समय उच्च नीति सम्बन्धी मामलों के नियोजन और पर्यावलोकन में लगाता है । एल. डी. ह्वाइट ने सामान्य स्टाफ के उद्देश्यों के रूप में मुख्यत: निम्नलिखित कार्य निर्धारित किए हैं—

1. "यह सुनिश्चित करना कि मुख्य कार्यपालिका को समुचित तात्कालिक सूचनाएँ प्राप्त होती रहें ।

2. समस्याओं का पूर्वानुमान तथा भावी कार्यक्रमों की योजना बनाने में मुख्य कार्यपालिका की सहायता करना ।

3. यह व्यवस्था करना कि मुख्य कार्यपालिका के समक्ष मामले तुरन्त अर्थात् अविलम्ब पहुँचते रहें जिससे इसके द्वारा उन पर बुद्धिमत्तापूर्वक निर्णय लिए जा सकें तथा उसे शीघ्रता एवं भली प्रकार विचार-विमर्श किए बिना निर्णय लेने से बचाया जा सके ।

4. शासन के अन्य अधिकारियों द्वारा निपटाये जा सकने वाले मामलों की छँट करना ।

5. मुख्य कार्यपालिका के समय की बचत करना ।

6. निर्धारित नीति तथा कार्यपालिका निर्देशों के अनुरूप अधीनस्थों द्वारा कार्य-सम्पादन के लिए साधन जुटाना ।"[1]

अधिक विकसित स्वरूप में सामान्य स्टाफ विभागीकृत एवं समन्वित स्टाफ सेवा के रूप ले लेता है और अलग-अलग स्टाफ अधिकारियों के रूप में असमन्वित परामर्श अथवा सहायता मात्र नहीं रह जाता । यह स्पष्ट है कि यदि विभिन्न मामलों में प्रमुख कार्यकारी को परामर्श देने वाले अनेक पृथक्-पृथक् परामर्शदाता हों तो अध्यक्ष का यह उत्तरदायित्व बन जाता है कि वह उनके पृथक्-पृथक् परामर्शों को संबद्ध नीति अथवा निर्णय के रूप में समन्वित करे । बड़े संगठनों में यह कार्य बहुत ही जटिल और दुष्कर बन जाता है । अत: अध्यक्ष को कठिनाई और समय के अपव्यय से बचाने के लिए विविध स्टाफ-सेवाओं को ऐसे विभाग के रूप में संगठित किया जा सकता है

1. *L D White* : Op cit., p 48

जो भिन्न-भिन्न स्टाफ इकाइयों से प्राप्त परामर्शों को सुबद्ध और समन्वित करे तथा प्रमुख कार्यकारी के सामने इस बारे में साफ सिफारिश प्रस्तुत करे कि क्या निर्णय किया जाना चाहिए ? किसी संगठन में सामान्य स्टाफ-कार्य एक निश्चित विकसित अवस्था में पहुँच जाए। इसका सबसे अधिक विकसित स्वरूप हमें सैनिक-प्रशासन में दिखाई पड़ता है, परन्तु यही धीरे-धीरे लोक प्रशासन में भी प्रकट हो रहा है।

सामान्य स्टाफ के वांछित गुण—सामान्य स्टाफ अपना कार्य कुशलता और संतोषजनक रूप में सम्पन्न कर सके इसके लिए यह आवश्यक है कि—

1. सामान्य स्टाफ कर्मचारियों को प्रत्येक प्रशासनिक पहलू के बारे में यथेष्ठ जानकारी होनी चाहिए अथवा उन्हें 'सामान्य जानकार' होना चाहिए।

2. जटिल प्रशासनिक विषयों का उन्हें विस्तृत ज्ञान होना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे उन मामलों के विशेषज्ञ हों, इसका अर्थ केवल यही है कि उन्हें जटिल मामलों का सामान्य से अधिक ज्ञान हो।

3. सामान्य स्टाफ में सहयोगी भावना और विचार-विनिमय की क्षमता होनी चाहिए, क्योंकि उसे लाइन-अधिकारियों के साथ सहयोग से काम करना होता है।

4. सामान्य स्टाफ में धैर्य और अध्यवसाय जैसे गुण होने चाहिए क्योंकि उसका मूलभूत कार्य मुख्य कार्यपालिका तथा उच्चस्तरीय अधिकारियों के लिए 'छलनी व कीप' (Filter and Funnel) बनना है।

5. सामान्य स्टाफ के सदस्यों को यश-प्राप्ति तथा प्रचार की आकांक्षा से बचना चाहिए। उन्हें इस बात से सन्तोष करना चाहिए कि वे अपने प्रधान के अधीन रहकर अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन कर रहे हैं। उन्हें विनम्र, गम्भीर और समन्वयकारी होना चाहिए। झगड़ालू और सत्ता-लोलुप व्यक्ति सामान्य स्टाफ के पद के लिए अनुपयुक्त होते हैं। उनमें पहल करके प्रशासनिक कार्यों को त्वरित गति से सम्पन्न करने की भी क्षमता होनी चाहिए।

(ख) प्राविधिक स्टाफ (Technical Staff)—मुख्य कार्यपालिका को प्रशासन में अनेक विशिष्ट और प्राविधिक मामलों से निपटना पड़ता है। अतः इस कार्य में सहायता के लिए उसे कुछ प्राविधिक या तकनीकी स्टाफ अधिकारियों की भी व्यवस्था करनी होती है, यथा—इन्जीनियर, वित्तीय विशेषज्ञ आदि। तकनीकी क्षेत्र में इन विशेषज्ञों का परामर्श बड़ा मूल्यवान होता है। इस स्टाफ को विशेषज्ञता प्राप्त होती है। विशेषज्ञता प्राप्त स्टाफ में दो प्रमुख विशेषताएँ पाई जाती हैं—(क) संगठन के अन्य भागों पर इसे कोई सत्ता प्राप्त नहीं होती अर्थात् यह स्टाफ परामर्श देता और सेवा करता है, किन्तु निर्देश नहीं देता। (ख) इसका उपयोग संगठन के सभी सूत्र और स्टाफ इकाइयों द्वारा किया जा सकता है।

प्राविधिक अधिकारियों की व्यवस्था के फलस्वरूप क्षेत्रीय प्राविधिक कर्मचारियों पर दोहरे निरीक्षण की समस्या उत्पन्न हो जाती है, यथा—अपने-अपने विषय के विशेषज्ञों द्वारा कार्यात्मक निरीक्षण (Functional Supervision) तथा उच्च प्रशासकीय अधिकारियों का प्रशासकीय निरीक्षण (Administrative Supervision)। इस दोहरे निरीक्षण के कारण ही आदेश की एकता अथवा एकिक निर्देशन (Unity of Command) का सिद्धान्त भंग होने की समस्या उत्पन्न होती है।

(ग) सहायक स्टाफ (Auxiliary Staff)—इस स्टाफ में वे अधिकारी अथवा इकाइयाँ निहित होती हैं जिनके सदस्य विभिन्न प्रशासकीय सेवाओं की सामूहिक सेवा करते हैं। सहायक स्टाफ की गौण सेवा होती है अर्थात् इसे विभाग के प्रमुख कार्य का प्रत्यक्ष अंग नहीं माना जाता है। जब रेलवे विभाग यात्रियों के आवागमन आदि के लिए रेलगाड़ियाँ चलाता है तो यह उसकी प्रधान क्रिया है, लेकिन रेलगाड़ियाँ चलाने के लिए कर्मचारियों की भर्ती करना, रेल की पटरियाँ बिछाने और रेलवे स्टेशनों का निर्माण करने के लिए आवश्यक सामग्री खरीदना आदि गौण क्रियाएँ हैं। इन क्रियाओं को सहायक सेवाओं अथवा गृह-प्रबन्ध सेवाओं (Auxiliary or House-keeping Staff) की संज्ञा दी जाती है। गौण सेवाएँ सदैव उन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सम्पन्न की जाती हैं जिनके लिए विभाग स्थापित किए जाते हैं। इन क्रियाओं को 'उद्देश्य की प्राप्ति का साधन' कहा जा सकता है। किसी भी विभाग का प्रमुख कार्य चाहे कुछ भी हो, किन्तु वह कुछ-न-कुछ खरीददारी करता है, पत्रों एवं प्रतिवेदनों को छापता है, कर्मचारियों की भर्ती करता है, उसके सामने वित्त एवं लेखे आदि की समस्याएँ होती हैं। इस प्रकार की सेवाएँ सहायक सेवाएँ कहलाती हैं और इनमें सहायता करने वाले को सहायक स्टाफ कहते हैं। सहायक सेवाएँ सभी विभागों के लिए प्रायः समान रूप से होती हैं इसलिए बजट, कार्यकुशलता और सुविधा की दृष्टि से विभागों के लगभग समान कार्यों को सम्पन्न करने के लिए एक केन्द्रीय अभिकरण (Central Agency) की स्थापना कर दी जाती है। भारत सरकार का प्रेस (Government of India Press) सरकार के सभी विभागों के लिए समस्त मुद्रण-कार्य कर सकता है। इसी प्रकार एक केन्द्रीय क्रय-अभिकरण (Central Purchasing Agency) सभी विभागों के लिए क्रय-कार्य कर सकता है और एक केन्द्रीय सिविल सेवा आयोग (Central Civil Service Commission) सभी सरकारी विभागों के लिए कर्मचारियों की भर्ती कर सकता है।

कुछ विचारक सहायक सेवाओं को स्टाफ कहना पसन्द नहीं करते, क्योंकि ये स्टाफ इकाइयों की भाँति परामर्श एवं सहायता नहीं देते। इसके अतिरिक्त कभी-कभी इनको उन विभागों की माँगों पर नियन्त्रण एवं छानबीन की शक्ति दे दी जाती है जिनकी ये सहायता करने जा रही हैं, किन्तु सिद्धान्त रूप में स्टाफ इकाई को आज्ञा एवं नियन्त्रण कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह तो लाइन-अभिकरणों का काम है। सहायक इकाइयों के पास सहायता एवं परामर्श देने के साथ नियन्त्रण की शक्ति भी होती है, अतः इनको लाइन तथा स्टाफ दोनों अभिकरणों में उभयवर्ती माना जाना चाहिए। जो विचारक सहायक इकाइयों (Auxiliary Units) को एक अलग तीसरी इकाई मानते हैं उनमें हर्बर्ट ए. साइमन तथा अन्य लेखकों का नाम उल्लेखनीय है। वे स्टाफ तथा सहायक इकाइयों के बीच स्पष्ट रूप से अन्तर करते हैं। उनके मतानुसार सहायक इकाइयाँ वे होती हैं जो सामान्य कार्यों को पूरा कर लाइन-संगठनों की सहायता करती हैं, जबकि स्टाफ इकाइयाँ ऐसे कार्य सम्पन्न करके मुख्य कार्यपालिका की सहायता करती हैं जिन्हें वह लाइन-संगठनों को हस्तान्तरित नहीं कर सकती है।[1]

स्टाफ की प्रकृति और कार्य

(Nature and Functions of Staff)

स्टाफ-अधिकारी अथवा स्टाफ-अभिकरण सूत्र अधिकारियों अथवा अभिकरणों की भाँति हस्तान्तरित कर्तव्यों का निर्वहन नहीं करते। उनका कार्य यह होता है कि प्रमुख अथवा अन्य कार्यकारी अधिकारियों के सामने प्रस्तुत होने से पहले वे समस्याओं के बारे में समस्त आवश्यक जानकारी का संग्रह, विश्लेषण तथा संक्षेपण करें, सम्भावित समाधानों की ओर संकेत करें तथा यह परामर्श दें कि उनमें से किसे स्वीकार किया जाए। इस प्रकार कम से कम सैद्धान्तिक दृष्टि से तो स्टाफ को "कार्यकारी के व्यक्तित्व का विस्तार ही माना जाएगा। उसका अर्थ है अधिक आँख, अधिक कान तथा योजनाओं के निर्माण तथा उनके संचालन में उसकी सहायता करने वाले अधिक हाथ।" स्टाफ द्वारा दी जाने वाली सहायता अनाम होती है। स्टाफ सदा पृष्ठभूमि में रहता है। वह कार्यकारी के निर्णयों के लिए भूमिका तैयार करता है, परन्तु स्वयं निर्णय नहीं करता। निर्णय करने की सम्पूर्ण शक्ति कार्यकारी के हाथों में रहती है।[2]

मूने का मत

स्टाफ की प्रकृति और उसके कार्यों को लोक प्रशासन के विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। मूने (Mooney) के मतानुसार स्टाफ मुख्य रूप से तीन प्रकार के कार्य करता है[3]—

1. सूचना सम्बन्धी (Informatory)—स्टाफ का सूचना सम्बन्धी कार्य यह है कि वह प्रमुख कार्यपालिका अथवा कार्यकारी के लिए उन समस्त सूचनाओं का संग्रह करता है जिनके आधार पर वह निर्णय करेगा। संग्रहीत सूचना को व्यवस्थित और संक्षिप्त रूप देकर उसे एक सुविधाजनक स्वरूप में प्रमुख कार्यपालिका के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

2. परामर्शकारी (Advisory)—स्टाफ का परामर्शकारी कार्य यह है कि वह प्रमुख कार्यकारी को सलाह देता है कि उसको साथ में क्या निर्णय किए जाने चाहिए? यह आवश्यक नहीं है कि प्रमुख कार्यकारी स्टाफ की सिफारिशों को सदा स्वीकार ही करे, तथापि स्टाफ का यह कार्य अवश्य है कि वह अपनी सिफारिशें सदैव उसके सामने रखे।

3. निरीक्षणात्मक (Supervisory)—स्टाफ का निरीक्षणात्मक कार्य यह है कि वह इस बात की ओर ध्यान दे कि प्रमुख कार्यकारी ने जो निर्णय लिए हैं, वे उपयुक्त सूत्र-अभिकरणों तक पहुँचा दिये गए हैं और उन्हें ठीक ढंग से क्रियान्वित किया जा रहा है। यह भी हो सकता है कि सूत्र-अभिकरणों और विभागों के सामने समय-समय पर नीतियों को स्पष्ट करना पड़े तथा क्रियान्वयन के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को दूर करना पड़े।

फिफनर तथा प्रिस्थस (Piffner and Presthus) ने स्टाफ कार्य की सूची इस प्रकार प्रस्तुत की है[4]—

(1) परामर्श देना (अध्यक्ष एवं सूत्र-विभागों दोनों को), सिखाना, चर्चा करना।

(2) समन्वय करना, केवल योजनाओं के द्वारा नहीं, वरन् व्यक्ति-सम्पर्क के द्वारा भी। साथ ही कठिनाई-निवारण तथा प्रत्येक स्तर पर निर्णयों के पक्ष में विरोधियों की सहमति का प्रयत्न करना।

(3) तथ्य संग्रह तथा शोध कार्य।

(4) नियोजन करना,

(5) दूसरे संगठनों तथा व्यक्तियों के बारे में जानकारी रखने के लिए उनके साथ सम्पर्क स्थापित करना।

1. *Simon, Smithburg and Thompson* : Op cit., p 281
2. एम पी. शर्मा : वही, पृष्ठ 155.
3. *Mooney* : Principles of Organisation, p. 33.
4. *Piffner and Presthus* : Public Administration, p. 86.

(6) बिना उसकी सत्ता को छीने हुए सूत्र के साथ काम करके उसकी सहायता करना।

(7) कभी-कभी सूत्र अधिकारी की ओर से कुछ स्पष्ट और निश्चित सीमाओं के भीतर विशेष रूप से दी गई सत्ता का प्रयोग करना।

एल. डी. व्हाइट का मत

एल डी व्हाइट ने सामान्य स्टाफ के उद्देश्यों के रूप में निम्नलिखित कार्य निर्धारित किए हैं—

(1) यह निश्चित करना कि मुख्य कार्यपालिका को समुचित तथा तात्कालिक सूचनाएँ प्राप्त होती रहें।

(2) समस्याओं का पूर्वानुमान करने तथा भावी कार्यक्रमों की योजना बनाने में उसकी सहायता करना।

(3) यह व्यवस्था करना कि मुख्य कार्यपालिका के समक्ष मामले तुरन्त अर्थात् अविलम्ब पहुँचते रहें जिससे कि उन पर विवेकपूर्ण निर्णय ले सके तथा शीघ्रतापूर्ण एवं बिना सोचे-समझे निर्णय लेने से उसे बचाना।

(4) ऐसे प्रत्येक मामले को छाँटना जिसका निपटारा शासन के अन्य अधिकारियों द्वारा किया जा सकता है।

(5) उसके समय की बचत करना।

(6) निर्धारित नीति तथा कार्यपालिका निर्देशों के अनुरूप अधीनस्थों द्वारा कार्य सम्पादन के लिए साधन जुटाना।[1]

स्टाफ अभिकरण की सामान्य प्रकृति का 'प्रशासकीय प्रबन्ध विषयक राष्ट्रपति की समिति' ने अपने प्रतिवेदन (1937) में भली-भाँति विश्लेषण किया था जो आज सामयिक है। प्रतिवेदन में कहा गया है कि—"इन सहायक अधिकारियों को स्वयं निर्णय करने या आदेश देने का कोई अधिकार नहीं रहेगा। वे राष्ट्रपति तथा उनके विभागाध्यक्षों के बीच का स्थान प्राप्त नहीं कर सकते। वे किसी भी अर्थ में सहायक राष्ट्रपति (Assistant President) नहीं हो सकते। जब शासन के किसी भाग से सम्बन्धित कोई मामला निर्णय के लिए राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाए तो उस समय उनका यह कार्य होगा कि वे किसी भी कार्यपालिका विभाग में उपलब्ध सम्बन्धित सूचना अविलम्ब प्राप्त करने में उसकी सहायता करें जिससे उत्तरदायित्वपूर्ण निर्णय लेने में राष्ट्रपति का मार्ग-दर्शन हो सके और जब निर्णय ले लिया जाए तो प्रभावित होने वाले प्रशासकीय विभागों तथा अभिकरणों को तुरन्त सूचित करना भी उनका ही कार्य है। हमारा यह विचार है कि राष्ट्रपति की सहायता करने में उनका प्रभाव अपने कार्यों को पूरा करने की उनकी योग्यता के अनुपात में ही होगा। वे सदैव पृष्ठभूमि में रहते हैं। वे न तो आदेश देते हैं, न निर्णय करते हैं और न सार्वजनिक वक्तव्य ही देते हैं। वे ऐसे व्यक्ति होने चाहिए जिनमें राष्ट्रपति का व्यक्तिगत विश्वास हो और जिनका चरित्र व दृष्टिकोण ऐसा हो कि वे स्वयं अधिकार का प्रयोग करने के लिए प्रयत्नशील न हों। उनमें उच्च क्षमता, अधिक शारीरिक शक्ति तथा स्वयं के नाम को गुप्त रखने का उत्साह होना चाहिए।"[2]

फिफनर तथा शेरवुड का मत

स्टाफ का उद्देश्य कार्यपालिका को पूर्णता प्रदान करना है। वास्तव में संगठन की समस्त वैचारिक प्रक्रिया स्टाफ का ही कार्य है। फिफनर तथा शेरवुड ने इसी दृष्टि से विश्लेषण करते हुए स्टाफ के तीन प्रमुख तत्व बतलाए हैं, ये हैं—(1) तथ्य निरूपण (Fact Finding), (2) नियोजन (Planning), एवं (3) संगठित करना (Organising)। तथ्य निरूपण से तात्पर्य है वस्तुस्थिति का समुचित ज्ञान संचित करना, सांख्यिकीय दृष्टि से तथा सचित टिप्पणी द्वारा समस्त तथ्यों को इस प्रकार एकत्रित करना कि इसका अधिकतम उपयोग किया जा सके, इस प्रकार प्रशासन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण आँकड़ों को सुनियोजित करना क्योंकि इन आँकड़ों के द्वारा ही भावी कार्यों के लिए प्रशासन को नियोजित किया जा सकता है। स्टाफ के कार्यों में नियोजन का तत्त्व महत्त्वपूर्ण है क्योंकि नियोजन द्वारा ही उद्देश्य पूर्ति के लिए किसी भी संगठन के कार्यों की कार्य-शृंखला बनाई जा सकती है। नियोजन एक तरफ कार्य-विशिष्टीकरण को इंगित करता है और दूसरी तरफ समस्त संगठन की कार्यवाही को सूत्रबद्ध कर संगठन के प्रयास में एकता लाने का कार्य करता है। एक बौद्धिक प्रक्रिया के रूप में स्टाफ लक्ष्य प्राप्ति हेतु प्रशासकीय संगठन के लिए भावी कार्यों का चित्र प्रस्तुत करता है। नियोजन अनायास ही कार्यों को संगठित करने का भी अधिकार प्रदान कर देता है। वस्तुतः प्रशासन की समस्त कार्यवाही जब नियोजन के प्रति उन्मुख रहेगी तब यह स्वाभाविक है कि नियोजन की दृष्टि से संगठन में आवश्यक परिवर्तन किए जाएँ। प्रशासकीय संगठन में किस प्रकार के आवश्यक परिवर्तन लाए जा सकें—जिनके द्वारा प्रशासकीय नियोजन और प्रशासकीय संगठन एक-दूसरे के अनुरूप हो सकें यह प्रश्न भी नियोजन के साथ ही सम्मिलित है, अतः प्रत्यक्ष रूप से प्रशासकीय संगठन को परिवर्तन या संशोधन करने का अधिकार न होते हुए भी यह अधिकार स्वतः आ जाता है। तथ्य-निरूपण में रखकर कहा जा सकता है कि देश की आर्थिक स्थिति का जहाँ एक तरफ योजना आयोग के पास आँकड़ों में इतिहास

1. *L. D. White : Op. cit.*, p. 48.
2. *L. D White : Op. cit.*, p. 51.

मौजूद है वहाँ दूसरी तरफ विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में उन्हीं आँकड़ों को दृष्टि में रखकर प्रशासकीय संगठन के लिए आर्थिक लक्ष्य प्राप्ति के विभिन्न चरण स्थापित किए गए हैं—नई सेवाओं को संगठित किया गया है, पुरानी सेवाओं में महत्वपूर्ण आवश्यक परिवर्तन किए गए हैं। ये सभी कार्य एक-दूसरे से असम्बद्ध रह कर नहीं किए जा सकते हैं।

उपर्युक्त विद्वानों के विचारों (मतों) का विश्लेषण करने पर स्टाफ की प्रकृति के बारे में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(1) स्टाफ अभिकरण की प्रकृति परामर्शात्मक है, यह आज्ञा, निर्देश अथवा आदेश देने की स्थिति में नहीं है।

(2) स्टाफ अभिकरण, सूत्र अधिकारियों अथवा अभिकरणों की तरह प्रदत्त या हस्तान्तरित कर्त्तव्यों या उत्तरदायित्वों का निर्वहन नहीं करते हैं।

(3) स्टाफ अभिकरण सूत्र अभिकरण के 'सहायक' की भूमिका का निर्वाह करता है। यह सूत्र अभिकरण को उसके कर्तव्य-निर्वहन में सहायता देता है। सूत्र अभिकरण, स्टाफ अभिकरण द्वारा प्रदान की जाने वाली सूचनाओं पर निर्भर रहता है।

स्टाफ के कार्य मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं—

(1) सूचना प्रदान करना
(2) परामर्श देना।
(3) निरीक्षण करना।
(4) समन्वय करना।
(5) नियोजन करना।
(6) दूसरे संगठनों के बारे में जानकारी प्रदान करना।
(7) तथ्यों का एकत्रीकरण करना।
(8) शोध या अनुसंधान कार्य का सम्पादन करना।
(9) सूत्र अभिकरण की प्रत्येक मामले में सहायता देना।
(10) समस्याओं का पूर्वानुमान लगाना।
(11) मुख्य कार्यपालिका के सम्मुख मामलों को प्रस्तुत करना।
(12) कार्य-सम्पादन के लिए साधन जुटाना।
(13) मामलों की छँटनी करना।
(14) सूत्र अभिकरण के समय की बचत करना।
(15) तथ्यों का निरूपण करना।
(16) संगठन का कार्य सम्पादित करना।
(17) आँकड़ों का एकत्रीकरण करना।

स्टाफ का संगठन में स्थान : इसका प्रभाव
(The Place of Staff in Organisation : Its Influence)

स्टाफ-अभिकरण सूत्र-अभिकरण के साथ अथवा स्वतन्त्र रहकर कार्य नहीं करते वरन् उनके अनुगामी के रूप में कार्य करते हैं। स्टाफ-इकाइयाँ लाइन-इकाइयों के पदसोपान के विभिन्न स्तरों पर सम्बद्ध रहती हैं, इस प्रकार स्टाफ-अधिकारी लाइन अधिकारियों के अधीन रहकर कार्य करते हैं। स्टाफ-अभिकरण या अधिकारियों से परामर्श किया जाए या नहीं और प्राप्त परामर्श को माना जाए या नहीं, यह बात लाइन-अभिकरण की इच्छा पर निर्भर है। व्यवहार में, लाइन और स्टाफ सम्बन्धों का रूप तीन प्रकार का हो सकता है—

(क) यह सम्भव है कि लाइन-अभिकरण स्टाफ पर इतना अधिक निर्भर हो जाए कि वह केवल एक कठपुतली बनकर ही रह जाए और शक्ति वास्तव में स्टाफ के ही हाथों में आ जाए।

(ख) लाइन-अधिकारी यदि स्वाभिमानी है तथा उसे अपनी योग्यता एवं कुशलता पर विश्वास है तो शायद यह स्टाफ से परामर्श ही न ले और ले भी तो उसे न माने।

(ग) तीसरी स्थिति इन दोनों के बीच की हो सकती है। इस स्थिति में ही स्टाफ का पूरा उपयोग हो पाता है।

व्यवहार में स्टाफ-अभिकरण की उपेक्षा करना कठिन कार्य है। स्टाफ के प्रभावों का उल्लेख करते हुए अर्नेस्ट डेल ने निम्नांकित पाँच तरीके सुझाए हैं जिनके द्वारा स्टाफ प्रभावित करता है—

1. अपनी श्रेष्ठ अभिव्यक्ति द्वारा स्टाफ के सदस्य अपने विचारों को दूसरे से मनवाने में लाइन की अपेक्षा अधिक सफल होते हैं। लाइन में अभिव्यक्ति की इस श्रेष्ठता का अभाव रहता है।

2. तकनीकी क्षमता के कारण लाइन की अपेक्षा उनके विचारों को अधिक मान्यता प्राप्त होगी। अपनी तकनीकी क्षमता के ही कारण वे विशिष्ट स्थिति में रहते हैं और चूँकि यह विशिष्टता ही उनका गुण है, इसलिए यही उनके विचारों में अधिक गम्भीरता भी लाती है। उनकी अपेक्षा लाइन में इस प्रकार की विशिष्टता अथवा तकनीकी क्षमता नहीं रहती है।

3. पद की गरिमा के द्वारा भी वे आदेश देने की स्थिति प्राप्त करते हैं। प्रायः स्टाफ के लोगों का वेतन, पदसम्मान आदि में बहुत विशिष्ट स्थान होता है, इसलिए भी उनके विचार मात्र विचार की कोटि में नहीं रखे जा सकते, वे अपने आप ही आदेश का प्रभाव ग्रहण कर लेते हैं। पद की गरिमा तथा तकनीकी क्षमता के कारण ही वे प्रबन्धकीय श्रृंखला में तथा उसके बाहर भी महत्वपूर्ण वर्ग में स्वभावतः ही अपना स्थान बना लेते हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनके विचार अधिक परिपक्व रहते हैं तथा लाइन उन्हें मानने में अधिक सम्मानित अनुभव करती है।

4. यदि लाइन अभिकरण उनके प्रस्ताव से असहमत होता है तो स्टाफ उसकी कार्यकारिणी के श्रेष्ठ अधिकारी से अपील कर सकता है और इस प्रकार उस श्रृंखला के सबसे ऊपरी अधिकारी द्वारा वह लाइन की कार्यकारिणी को स्टाफ की राय मानने के लिए बाध्य कर सकता है।

5. ऐसे महत्वपूर्ण मसलों में, जिनमें लाइन द्वारा कोई भी कार्यवाही न की गई हो, लाइन की निष्क्रियता के कारण ही स्टाफ आदेश देने की स्थिति में स्वतः आ जाता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संगठन के संचालन में स्टाफ की अहम भूमिका होती है।

लाइन अभिकरण
(Line Agency)

लोक प्रशासन के प्रारम्भिक लेखकों में अग्रणी विलोबी का मत था कि प्रशासकीय कार्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। ये हैं— (i) प्राथमिक या कार्यात्मक क्रियाएँ, (ii) संस्थागत या गृहपालक क्रियाएँ। प्राथमिक क्रियाएँ वे हैं जो उस प्रमुख लक्ष्य की प्राप्ति के लिए की जाती हैं जिसे प्राप्त करना उस संगठन का लक्ष्य है। गृहपालक या संस्थागत क्रियाएँ इसलिए की जाती हैं ताकि वे एक सेवा के रूप में बनी रह कर कार्य करती रहें।[1] विलोबी ने जिन क्रियाओं को प्राथमिक या कार्यात्मक बताया है वे क्रियाएँ लाइन अभिकरणों द्वारा सम्पन्न की जाती हैं। लाइन अभिकरणों का सम्बन्ध नीति-निर्माण से होता है। इनके हाथ में शक्ति होती है जिसके आधार पर ये निर्णय ले सकते हैं और आज्ञाएँ दे सकते हैं। लाइन अभिकरण सरकार के प्राथमिक उद्देश्यों को पूर्ण करते हुए जनता से सीधा व्यवहार करते हैं, यथा—जनता को सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं, उसके आचरण का नियमन करते हैं, व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित कार्यक्रम को पूरा करते हैं, कर वसूल करते हैं तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य करते हैं। साधारण नागरिकों का लाइन या सूत्र अभिकरणों से ही सम्पर्क होता है। ये अभिकरण ही वस्तुतः प्रशासन के केन्द्रीय तत्व होते हैं। किसी भी देश का सरकारी प्रशासन अनेक बड़ी इकाइयों में विभक्त होता है जिन्हें विभाग कहते हैं और ये विभाग लाइन या सूत्र विभाग के नाम से जाने जाते हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध उस मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति से होता है जिसके लिए सरकार अस्तित्व में है। स्वास्थ्य, प्रतिरक्षा, शिक्षा, श्रम, रेल, पथ परिवहन, संचार, सामुदायिक विकास, वाणिज्य, उद्योग आदि भारत सरकार के प्रधान सूत्र-विभाग हैं। विभागों के अतिरिक्त नियामक आयोग (Regulatory Commissions) और लोक-निगम (Public Corporations) भी सूत्र-अभिकरण हैं।

लाइन या सूत्र क्रियाएँ, जैसा कि हर्बर्ट ए. साइमन आदि ने लिखा है, स्टाफ क्रियाओं (जिन्हें वे Overhead क्रियाएँ कहते हैं) से अधिक महत्वपूर्ण समझी जाती हैं। एक संगठन के सदस्य तथा ग्राहक दोनों ही अनुभव करते हैं कि किसी कार्यक्रम की सफलता अथवा असफलता के लिए लाइन-संगठन ही उत्तरदायी है, भले ही कार्यक्रम को पूरा करने के लिए आवश्यक निर्णय लेने के बहुत से महत्वपूर्ण क्षेत्र स्टाफ-इकाइयों द्वारा केन्द्रीकृत हों।[2] कुछ विचारकों का कहना है कि लाइन तथा स्टाफ इकाइयों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता तथा छोटे संगठनों में इनके कार्य अलग-अलग नहीं किये जा सकते। वहाँ इन दो कार्यों को करने के लिए अलग-अलग इकाइयाँ नहीं होतीं। प्रायः एक ही अधिकारी दोनों ही प्रकार के कार्य करता है। इस प्रकार लाइन तथा स्टाफ के अन्तर पूर्ण नहीं होते वरन् सापेक्ष होते हैं।

1. *Willoughby*: Principles of Public Administration p. 95.
2. *Simon and Others*: Op. cit., p. 282.

स्टाफ तथा लाइन के सम्बन्धों में विरोध एवं गतिरोध
(Conflicts and Deadlock between Staff & Line)

स्टाफ तथा लाइन इकाइयाँ किसी भी संगठन के दो महत्त्वपूर्ण बाजू हैं जो एक ही साथ उसकी समस्त ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का कार्य करते हैं। उस संगठन की सफलता, सार्थकता एवं कुशलता बहुत-कुछ इन दोनों इकाइयों के सुचारू संचालन पर निर्भर करती है। दोनों के कार्य परस्पर इतने सम्बन्धित तथा आश्रित होते हैं कि एक की निष्क्रियता का दूसरे पर निश्चित प्रभाव पड़ता है। इतना होने पर भी प्रायः यह देखा जाता है कि इन दोनों अभिकरणों के कर्मचारियों के बीच उतना सहयोग तथा सद्भाव नहीं पाया जाता जितना पाया जाना चाहिए। मैलविले डाल्टन (Melvile Dalton) ने औद्योगिक संस्थाओं के स्टाफ एवं लाइन इकाइयों के सम्बन्धों के अध्ययन पर कुछ निष्कर्ष निकाले हैं[1] जो बहुत कुछ सभी संगठनों के स्टाफ एवं लाइन इकाइयों के सम्बन्धों पर लागू होते हैं। उद्योग में स्टाफ संगठन का कार्य शोध करना तथा परामर्श देना होता है और लाइन संगठन का उत्पादन की प्रक्रिया पर पूरा अधिकार होता है। व्यवहार में औद्योगिक स्टाफ तथा लाइन संगठनों के बीच प्राय संघर्ष पाया जाता है और इन संगठनों के सदस्य अलग-अलग मात्राओं में एक-दूसरे का विरोध करते हैं। यदि प्रबन्ध के सदस्यों के आपसी सम्बन्धों पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार किया जाए तो इनके बीच संघर्ष निम्न कारणों से हो सकता है—

1. यदि संगठन में शक्ति के लिए संघर्ष छिड़ जाए।
2. यदि अनेक सदस्य पदसोपान में अपने स्तर बढ़ाने का प्रयत्न करें।
3. यदि यूनियन तथा प्रबन्ध के बीच संघर्ष छिड़ जाए। एवं
4. यदि स्टाफ तथा लाइन के बीच मनमुटाव पैदा हो जाए।

प्रबन्ध के प्राय· सभी सदस्य संघर्षपूर्ण व्यवस्था में उलझे रहते हैं—विशेषकर निम्न स्तरों पर काम करने वाले व्यक्ति। स्टाफ तथा लाइन के बीच संघर्ष के लिए तीन मूल कारण हैं—प्रथम, स्टाफ अधिकारियों के बीच स्पष्ट, महत्त्वाकांक्षापूर्ण तथा व्यक्तिवादी व्यवहार। दूसरे, स्टाफ अपने अस्तित्व को न्यायोचित ठहराने के लिए तथा अपने योगदान के लिए स्वीकृति प्राप्त करने के लिए जो कार्य करता रहता है उससे अनेक उलझनें पैदा होती हैं। तीसरे, उच्चतर स्टाफ अधिकारियों का कार्यकाल लाइन-अधिकारियों की स्वीकृति पर निर्भर करता है। ये तीनों ही शर्तें अपने-अपने प्रकार से प्रभाव डालती रहती हैं।

डाल्टन ने जिन उद्योगों का अध्ययन किया था उनके कर्मचारी महत्त्वाकांक्षी, अशान्त और व्यक्तिवादी थे। अधिकतर ये लोग शीघ्र ही पदोन्नति प्राप्त करने के इच्छुक थे तथा चाहते थे कि उन्हें व्यक्तिगत रूप से मान्यता मिले। इनमें समूह की चेतना के भाव इतने प्रयत्नशील थे कि कई बार अन्तर्स्टाफ भी पैदा हो जाते थे।

स्टाफ तथा लाइन संगठनों के बीच अनेक कारणों से असन्तोष, अशान्ति, संघर्ष एवं मनमुटाव पैदा हो जाते हैं। स्टाफ के कर्मचारियों की प्रगति का पथ लम्बा होने के कारण उनमें निराशा तथा असन्तोष की भावनाएँ पैदा हो जाती हैं। वे समझते हैं कि वे उस स्तर तक नहीं पहुँच सकते जिस पर वे पहुँचना चाहते हैं। अन्य कई तत्त्व भी संघर्ष वृद्धि में सहायक होते हैं। इनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

1. उम्र में अन्तर (Difference of Age)—स्टाफ अधिकारी लाइन अधिकारियों की तुलना में प्राय कम उम्र के होते हैं अत उनमें अशान्ति की मात्रा अधिक होने के कारण स्थिरता नहीं रह पाती। यदि उनकी महत्त्वाकाँक्षाएँ बहुत बढ़ी-चढ़ी होती हैं तो वे भौतिक सम्पन्नता, व्यावसायिक स्तर तथा सुरक्षा की दृष्टि से सुस्थापित नहीं हो पाते। यदि वे चाहें तो अन्य कहीं भी अपना व्यवसाय प्रारम्भ कर सकते हैं। इसके लिए उनके पास शक्ति और पर्याप्त शेष आयु होती है। इसी कारण स्टाफ के सदस्य अधिक अस्थायी एवं चलते-फिरते होते हैं। उम्र के अन्तरों के कारण स्टाफ तथा लाइन के बीच संघर्ष में अधिक वृद्धि हो जाती है।[2] स्टाफ का अधिकारी लाइन अधिकारी से अपने कार्य को स्वीकृत कराना चाहता है, किन्तु उसे इस कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती क्योंकि यहाँ उम्र का विरोध पैदा हो जाता है। अधिक उम्र वाले लाइन अधिकारी यह पसन्द नहीं करते कि उनसे कम उम्र वाले स्टाफ अधिकारी उनको निर्देश दें और उसे वे स्वीकार करें।

2. स्तरों का पदसोपान (Hierarchy of Statuses)—संगठन में स्तरों का पदसोपान अथवा उसके औपचारिक ढाँचे के कारण स्टाफ के महत्त्वाकांक्षी अधिकारियों को निराशा हाथ लगती है। स्टाफ संगठनों में शक्ति के स्तर तीन या चार ही होते हैं जबकि लाइन संगठनों में इनकी संख्या पाँच से दस तक होती है। इसका

1. *Melville Dalton* · "Conflicts between Staff and Line Managerial Officer", American Sociological Review 15, 342-351 (June, 1950)
2. *E. A Ross* : Principles of Sociology, pp 238-48

परिणाम यह होता है कि स्टाफ कर्मचारियों की उन्नति के अवसर बहुत कम हो जाते हैं। वे ऊपर नहीं चढ़ सकते। एक महत्त्वाकांक्षी स्टाफ-अधिकारी ऐसी स्थिति में अपनी सत्ता के क्षेत्र को तभी बढ़ा सकता है, जब वह अपने अधीनस्थ सेवी-वर्ग की संख्या में वृद्धि कर ले। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि स्टाफ के कर्मचारियों की संख्या बढ़ जाती है। लाइन की अपेक्षा उनकी संख्या बहुत अधिक हो जाती है। स्टाफ के कर्मचारियों में एक प्रवृत्ति विकसित होती है कि वे लाइन संगठन में जाना चाहते हैं क्योंकि वहाँ सत्ता के स्थान अधिक हैं तथा सत्ता की मात्रा अधिक है, वहाँ सम्मान अधिक मिलता है और साथ ही आमदनी भी अधिक होती है। इस प्रवृत्ति से भी संघर्ष में वृद्धि हो जाती है।

3. विभिन्न सामाजिक स्तर-समूह (Different Social Status Groups)—लाइन तथा स्टाफ कर्मचारी प्रायः विभिन्न सामाजिक स्तर-समूहों के होते हैं तथा दोनों के बीच विरोध की भावनाओं को उकसाने में ये भिन्नताएँ पर्याप्त महत्त्वपूर्ण होती हैं। उदाहरण के लिए स्टाफ के सदस्यों की शिक्षा का स्तर लाइन के सदस्यों की तुलना में ऊँचा होता है। इस अन्तर के प्रति स्टाफ के सदस्यों के दिल में रहने वाली जागरूकता उनमें उच्चता की भावना उत्पन्न कर देती है, किन्तु लाइन अधिकारी अपने अनुभव के आधार पर उच्चता की भावना से पीड़ित रहते हैं। स्टाफ के सदस्य अपनी वस्तु तथा अन्य साज-शृंगार का अधिक ध्यान रखते हैं जबकि लाइन अधिकारी प्रायः इन विषयों की ओर ध्यान नहीं देते। उत्पादन के कार्यों में रत इन कर्मचारियों के कपड़े गन्दे रहते हैं, धूल तथा तेल में बिगड़े कपड़ों के साथ लगे रहते हैं। स्टाफ अधिकारी लिखने तथा बातचीत में अच्छी अंग्रेजी का प्रयोग करते हैं, वे 'नाइट क्लब' एवं 'पार्टीज' आदि में भाग लेते हैं, इसके कारण भी इन दोनों वर्गों की असमानताएँ बढ़ जाती हैं। स्टाफ के कर्मचारियों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा होता है तथा वे लाइन संगठनों के अधिकारियों को कभी भी अपने बराबर का मान लेना पसन्द नहीं करते।

4. स्टाफ कर्मचारियों का विशेष व्यवहार (Particular Behaviour of Staff Employees)— अनेक लाइन अधिकारियों के मतानुसार स्टाफ के अधिकारी प्रबन्ध का एक भाग बन कर कार्य नहीं करते तथा संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने में लाइन अधिकारियों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर नहीं चलना चाहते। प्रायः इस रूप में व्यवहार करते हैं जिससे वे अपने आपको उच्च प्रबन्ध का एजेन्ट सिद्ध कर सकें। लाइन अधिकारी उत्पादन की अपनी शक्ति को अत्यन्त पवित्र मानता है और वह पसन्द नहीं करता कि इतने दिनों तक 'लाइन' संगठन में कार्य करने के बाद उसे किसी ऐसे व्यक्ति के निर्देशन की आवश्यकता है जो नवागन्तुक तथा अनुभवहीन है। दूसरी ओर स्टाफ अधिकारी अपने कार्य को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता है। इन कारणों से दोनों वर्गों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

स्टाफ अधिकारी अपने आपको उच्च प्रबन्ध का एजेन्ट मानने लगता है। वह इसे अपना एक कर्तव्य मानता है कि अपने विचारों एवं शोध द्वारा प्रबन्ध कार्य में बहुत कुछ योगदान कर दे। अपनी उच्च शिक्षा तथा उत्पादन के नवीन तरीकों से निकट सम्पर्क रहने के कारण वह स्वयं को प्रबन्ध का परामर्शदाता एवं विशेषज्ञ मानता है। इस दृष्टिकोण के कारण लाइन अधिकारियों के साथ उनका विवाद छिड़ जाता है। कभी-कभी लाइन संगठन के निम्न स्तर के अधिकारी स्टाफ संगठन के उन निम्न अधिकारियों के साथ मिल जाते हैं जो अपने संगठन के ही उच्च अधिकारियों की नीतियों से सन्तुष्ट नहीं होते।

5. पदोन्नति की समस्या (Problem of Promotion)—स्टाफ के कर्मचारी संगठन में प्रवेश तभी पाते हैं जब लाइन संगठन के उच्च अधिकारी उन्हें स्वीकार कर लें—इस तथ्य का स्टाफ कर्मचारियों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। स्टाफ का प्रत्येक सदस्य यह जानता है कि यदि वह उच्च पद प्राप्त करना चाहता है तो उसे अपना रिकार्ड बनाना होगा तथा लाइन संगठन में उच्च अधिकारी पर योग्यता का प्रभाव डालना होगा। उनकी अनौपचारिक समस्याओं को बिना उनके कहे समझने की योग्यता प्रदर्शित करनी होगी। एक प्रभावशील रिकार्ड बनाने के लिए उसे लाइन की माँगों के साथ समझौता करना पड़ेगा, साथ ही अपने स्टाफ के सदस्यों की शिकायतें तथा उपालम्भ सुनने होंगे कि उसने अपना स्वाभिमान खो दिया है। यदि वह लाइन संगठन में चला गया तो स्टाफ के ये साथी उससे शत्रुवत् व्यवहार करेंगे। लाइन अधिकारियों को खुश करने के लिए स्टाफ अधिकारी मुख्य रूप से तीन प्रकार के कदम उठा सकते हैं— प्रथम, स्टाफ के नियमों का पालन करके; द्वितीय, नई तकनीकें प्रारम्भ करके; तथा तृतीय, स्टाफ के शोध एवं प्रयोगों पर धन व्यय करके।

इस तरह से लाइन और स्टाफ के बीच संघर्ष में मानवीय और तकनीकी दोनों ही पक्ष प्रमुख रूप से उत्तरदायी हैं।

संघर्ष कम करने के उपाय (Efforts to Minimise the Conflict)

लाइन तथा स्टाफ, दोनों संगठनों के सम्बन्धों को अच्छा तथा सहयोगपूर्ण बनाने के लिए कई सुझाव दिए जाते हैं। इनमें से कतिपय इस प्रकार हैं—

(i) एक पृथक् विभाग बना दिया जाए जो स्टाफ तथा लाइन की क्रियाओं के बीच समन्वय स्थापित करे।

(ii) स्टाफ संगठन में पदोन्नति एवं पुरस्कार के स्तरों को बढ़ा दिया जाए। साथ ही सेवीवर्ग की संख्या में भी वृद्धि की जाए।

(iii) स्टाफ सेवीवर्ग को जहाँ तक हो सके समान वेतन दिया जाए। उन्हें अधिक उत्तरदायित्व सौंपे जाएँ तथा लाइन प्रक्रियाओं अथवा कर्मचारियों पर उनका अधिकार हो।

(iv) स्टाफ संगठन के कर्मचारियों को लाइन संगठनों में नियुक्त करने से पूर्व उन्हें निरीक्षण का थोड़ा बहुत अनुभव करा दिया जाना चाहिए।

(v) संगठन के दोनों ही प्रकारों के दिलों में स्थित एक-दूसरे के प्रति शंका एवं विरोध के भावों को उच्च प्रबन्धक द्वारा मिटाया जाना चाहिए।

(vi) कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षा देते समय विद्यार्थी को व्यावहारिक जीवन की वास्तविकताओं का ज्ञान कराना चाहिए ताकि व्यवसाय में आने पर वे केवल कल्पनाओं के सहारे ही अपना व्यवहार निर्धारित न करें।

लाइन तथा स्टाफ अभिकरणों की वास्तविकता

(Reality of the Line & Staff Agencies)

अनेक विचारकों ने विभिन्न अवसरों पर इस बात में सन्देह प्रकट किया है कि संगठन में लाइन तथा स्टाफ जैसे दो संगठन होते हैं, जिनके कार्यों के बीच भिन्नता रहती है तथा एक सीमा-रेखा भी होती है। इन विचारकों के अनुसार नीति से सम्बन्धित प्रत्येक संगठन मन्त्रणा सम्बन्धी कार्य अवश्य करता है। इस प्रकार मन्त्रणा देने वाले संगठनों का नीति के निर्माण में जो महत्वपूर्ण स्थान है उसे भुलाया नहीं जा सकता। साथ ही ऐसा संगठन सत्ताविहीन माना जा सकता है यद्यपि उसकी सत्ता का रूप अनौपचारिक होता है। इन तथ्यों के प्रकाश में यह तय करना बड़ा कठिन है कि दोनों प्रकार की इकाइयों के बीच क्या सम्बन्ध है। डिमोक तथा अन्य विद्वानों का कहना है कि लाइन तथा स्टाफ के बीच उचित समायोजन प्रबन्ध के कठिनतम क्षेत्रों में से एक है।[1] लोक-प्रशासन के परम्परावादी विचारक इन दोनों अभिकरणों का कार्यक्रम अलग-अलग मानते हैं। ओलीवर शैल्डन का कहना है कि *स्टाफ संगठन को 'विचार' के लिए सोच-विचार कर बनाया जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि लाइन संगठन क्रियान्वयन के लिए होता है।*[2]

दोनों अभेद्य हैं—बाद के लेखकों का यह मत है कि लाइन तथा स्टाफ दोनों अभिकरण के कार्यों तथा अधिकारों के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती है और न ही खींची जानी चाहिए। इन दोनों में कोई ऊँचा-नीचा नहीं होता वरन् दोनों ही समान स्तर पर कार्य करते हैं। दोनों संगठनों को एक-दूसरे के कार्यों में दखल रखना चाहिए। इस सम्बन्ध में लेपावस्की का कथन है कि एक स्टाफ का व्यक्ति यदि लाइन को आदेश नहीं देता तो वह प्रभावहीन है, इसी प्रकार का जो व्यक्ति स्टाफ के कार्यों को समझ तथा कर नहीं सकता वह असफल माना जाएगा।

नवीन विकास—आज प्रशासनिक एवं अन्य प्रकार के संगठनों में विशेषज्ञों की प्रतिष्ठा और भूमिका में वृद्धि होती जा रही है। उनकी महत्ता एवं आवश्यकता भी बढ़ रही है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि स्टाफ के कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि करनी पड़ेगी और उन्हें कुछ ऐसे कार्य सौंप देने होंगे जिनको अभी तक लाइन संगठन के कर्मचारी करते थे। लोक प्रकाशन में जब से मानव सम्बन्धों के महत्त्व पर जोर दिया जाने लगा है तथा उसके प्रभाव को सही रूप में समझा जाने लगा है, तब से इन दोनों इकाइयों के भेद से सम्बन्धित परम्परावादी विचार हल्के नजर आने लगे हैं। हर्बर्ट ए. साइमन तथा अन्य लेखकों ने संगठन में अनौपचारिक सम्बन्धों की सामान्य एवं प्रभावशील स्थिति बताने के साथ ही निर्णय लेने की प्रक्रिया जब अधिक स्पष्ट रूप से हमारे सामने रखी तो लोक प्रशासन का एक नया अध्याय खुल गया। अब यह समझ में आ गया कि औपचारिक रूप से चाहे सत्ता किसी भी अभिकरण के किसी अधिकारी को सौंप दी जाए, किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वास्तविक व्यवहार में भी उस सत्ता का प्रयोग वही व्यक्ति करेगा। अनौपचारिक सम्बन्धों के बल पर तथा नेतृत्व के व्यक्तिगत गुणों, संचार के सशक्त साधनों एवं अर्थेत्तर प्रेरणाओं के माध्यम से शक्ति का वास्तविक उपभोक्ता कोई अन्य व्यक्ति ही बन सकता है।

स्टाफ की शक्ति—*यदि तथ्यों का व्यावहारिक रूप से अध्ययन किया जाए तो हमें ज्ञात होगा कि यह* कहना सर्वथा भ्रामक है कि स्टाफ संगठनों के पास कोई शक्ति नहीं होती अथवा वे आज्ञा देने का अधिकार नहीं

1 *Dimock, Dimock and Koeing* : Public Administration, p. 150

2 *Oliver Sheldon* : The Philosophy of Management, 1923, p. 120

रखते। स्टाफ के कार्यकर्ताओं को चाहे आज्ञा देने का अधिकार अनौपचारिक रूप से नहीं दिया गया हो, किन्तु वे सम्बन्धित उच्च सत्ता के नाम पर बोलते हैं तथा निम्न स्तर के अधिकारियों के लिए उनके सुझावों में आज्ञा तथा निर्देश की झलक रहती है। इसलिए यह कहा जाता है कि यह मान्यता कि स्टाफ-इकाइयाँ आज्ञा नहीं देतीं तथा नियन्त्रण नहीं करतीं या उनके पास किसी प्रकार की सत्ता नहीं होती, कल्पना मात्र है। स्टाफ संगठन के बारे में मुख्य रूप से दो सामान्य धारणाएँ हैं— प्रथम यह कि यह केवल परामर्श देती है और आज्ञा तथा नियन्त्रण की शक्ति उनके पास नहीं होती, एवं दूसरे यह कि मुख्य कार्यपालिका से इसकी निकटता इतनी होती है कि इसे उसके व्यक्तित्व का ही विस्तार मात्र कहा जाना चाहिए। कुछ विचारकों का मत है कि ये दोनों ही मान्यताएँ लोक प्रशासन की दो कपोल-कल्पनाएँ अथवा भ्रम (Myths or Fictions) हैं। इनका महत्त्व केवल इतना है कि इनके द्वारा सिद्धान्त एव व्यवहार की चौड़ी खाई के बीच पुल बाँधने का कार्य किया जाता है।

निष्कर्ष—एक बार जब लाइन तथा स्टाफ इकाइयों की स्थापना हो जाती है तो हम उनके कार्यों के बीच किसी प्रकार का स्पष्ट अन्तर नहीं कर सकते। सहायक इकाई तथा स्टाफ इकाई के मध्य स्थित अन्तरों का वर्णन करते हुए साइमन तथा अन्य ने कहा है कि अधिकांश मामलों में सहायक तथा स्टाफ इकाइयों के कार्यों के बीच कोई लाइन खींचना असम्भव होता है। दोनों के बीच अन्तर यथार्थ में यह है कि जब एक विशेष इकाई को स्थापित किया जाता है तो इनकी क्रियाओं की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं दिखाया जा सकता।[1] लाइन तथा स्टाफ इकाइयों के बीच प्रारम्भिक संगठनों में अन्तर हो सकता था, किन्तु आज यह अन्तर स्पष्ट नहीं है। साथ ही दोनों के बीच सम्बन्धों की स्थिति भी जटिल बन गई है।

संगठनात्मक इकाइयों की महत्त्वपूर्ण कल्पित कथाएँ

(Important Myths of the Organisational Units)

संगठन की सहायक तथा स्टाफ इकाइयों के सम्बन्ध में अनेक कल्पित कथाएँ प्रचलित हो गई हैं जिन्हें मुख्यतः निम्नांकित रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) प्रथम कल्पित कथा का सम्बन्ध सहायक (Auxiliary) तथा स्टाफ, दोनों ही इकाइयों से है। इसके अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि इन इकाइयों की लाइन इकाई पर किसी प्रकार की सत्ता नहीं होती। सहायक इकाइयाँ लाइन इकाइयों की सेवा करती हैं, उन पर नियन्त्रण नहीं रखतीं। इसी प्रकार स्टाफ इकाइयाँ लाइन इकाइयों को परामर्श मात्र देती हैं, आदेश नहीं।

(ii) दूसरी कपोल कल्पना का सम्बन्ध स्टाफ इकाई से है जिसके अनुसार यह माना जाता है कि स्टाफ इकाइयाँ लाइन इकाइयों की अपेक्षा कार्यपालिका के अधिक नजदीक होती हैं, वे उसी कार्यालय से सम्बद्ध होते हैं अथवा उसी के व्यक्तित्व का प्रसार मात्र हैं।

कल्पित कथाएँ स्वीकृत क्यों हैं ?—जब हम इन कल्पित कथाओं का जरा-सा भी विश्लेषण करने लगते हैं तो ये असत्य सिद्ध हो जाती हैं तथापि ये क्यों स्वीकृत हो गई हैं ? लोग इनमें सामान्य रूप से क्यों विश्वास करते हैं ? इन स्वीकृत विश्वासों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय तीन तथ्य हैं—

1. यदि एक व्यक्ति को किसी कार्य का उत्तरदायित्व सौंपा जाए तो उस उत्तरदायित्व का निर्वाह करने की शक्ति भी सौंपी जानी चाहिए। इसी आधार पर सामान्यतः यह अनुभव किया जाता है कि यदि एक संगठन की इकाई को कुछ लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उत्तरदायी ठहराया जाए तो उसे उन लक्ष्यों तक पहुँचने सम्बन्धी साधनों पर नियन्त्रण रखने की शक्ति भी सौंपी जानी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि पुलिस विभाग को अपराधियों को पकड़ने का उत्तरदायित्व दिया जाता है जिसके निर्वहन के लिए पैट्रोल-कार एक महत्त्वपूर्ण साधन है, तो पुलिस विभाग को उसे रखने तथा खरीदने का अधिकार दिया जाना चाहिए। अब यदि हमने एक केन्द्रीय क्रय-विभाग स्थापित कर दिया तो हमें यह कहना होगा कि इस विभाग का पुलिस-विभाग पर किसी प्रकार नियन्त्रण नहीं होता और इसका कार्य केवल सेवाएँ प्रदान करना है। यद्यपि तथ्य यह है कि किस प्रकार की पैट्रोल-कार खरीदी जाए, इससे सम्बन्धित पुलिस विभाग के निर्णयों को क्रय-विभाग उलट कर सकता है, तथापि सत्ता एवं उत्तरदायित्व से सम्बन्धित सामाजिक विश्वास के कारण हमको इसका बौद्धीकरण करना होगा। यहाँ कल्पित कथा का स्पष्ट कार्य यह है कि इसने इस तथ्य को छिपा लिया कि सहायक क्रियाओं का केन्द्रीयकरण लाइन विभागों की पूर्णता एवं सत्ता को कम कर देता है।

2. एक दूसरी मान्यता यह है कि एक व्यक्ति को केवल एक उच्च अधिकारी की आज्ञा का पालन करना चाहिए अर्थात् आदेश की एकता रहनी चाहिए, किन्तु संगठन के वास्तविक व्यवहार में हम देखते हैं कि संगठन के सदस्य अनेक लोगों से अनुदेश प्राप्त करते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो विशेषीकरण हो ही नहीं सकता था।

1. *Simon and Others* : Op. cit., p. 282.

वास्तविकता यह है कि एक कर्मचारी अपने उच्च अधिकारी के अतिरिक्त सेवीवर्ग अधिकारी, एटॉर्नी, इंजीनियर, डॉक्टर तथा संगठन के अन्य विशेषज्ञों की आज्ञा का पालन करता है। यदि वह ऐसा न करे तो ये विशेषज्ञ सम्भाग बनाए ही न जाते। आदेश की एकता के सिद्धान्त तथा संगठन के वास्तविक व्यवहार के बीच एक गहरी खाई उत्पन्न हो जाती है जिसे भरने में स्टाफ से सम्बन्धित कल्पित कथा महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। इसके अनुसार यह कहा जाता है कि विशेषीकृत स्टाफ इकाइयों की आज्ञाएँ नहीं होतीं, ये कार्यपालिका की आज्ञाएँ होती हैं। स्टाफ इकाइयाँ उसी के नाम से बोलती हैं; वे कार्यपालिका का भाग हैं, उनकी शक्ति वास्तव में उसकी शक्ति है।

3. एक तीसरी मान्यता के अनुसार एक व्यक्ति को निम्न स्तर के व्यक्ति से आदेश ग्रहण नहीं करने चाहिए। जब विशेषज्ञ स्टाफ के सदस्य आदेश प्रसारित करते हैं तो इसका अर्थ यही होता है कि ये इन इकाइयों के निकटस्थ सदस्यों के आदेश हैं। विशेषीकरण का यही लाभ होता है कि उससे कार्य को इतना आसान बना दिया जाता है कि उसे कम खर्चीले व्यक्ति भी पूरा कर सकें। यद्यपि विशेषज्ञ-वर्ग आज्ञाएँ प्रसारित करता है, किन्तु उसके सम्बन्ध में स्टाफ की एक कल्पित कथा यह बन गई है कि कनिष्ठ सदस्य वरिष्ठ सदस्य को आज्ञाएँ नहीं देता। असल में यह उच्च शक्तिवान कार्यपालिका की आज्ञा होती है जो स्टाफ अधिकारी के माध्यम से दी जाती है। यह अधिकारी केवल कार्यपालिका की ओर से बोलता है।

ये कल्पित कथाएँ चाहे कितनी भी सामान्य तथा सर्वस्वीकृत क्यों न हों, इन पर वे लाइन अधिकारी विश्वास नहीं कर सकते जिनको वास्तविक अनुभव होता है। संगठन के स्टाफ कर्मचारी इन कल्पित कथाओं का प्रचार करते हैं तथा इनमें विश्वास करते हैं, क्योंकि इनसे उनकी शक्ति न्यायोचित बनती है। ये कल्पित कथाएँ चाहे कितनी भी असत्य क्यों न हों, तब तक मानी जाती रहेंगी जब तक सामान्यतः यह विश्वास किया जाएगा कि उत्तरदायित्व के साथ शक्ति दी जानी चाहिए, तथा आदेश की एकता रहनी चाहिए और यह सदैव उच्च अधिकारी द्वारा निम्न अधिकारी को दिया जाना चाहिए। कभी-कभी लाइन अधिकारी इन कल्पित कथाओं में अविश्वास प्रकट करते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मानव-कल्पना पर से इनका प्रभाव हट गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका के हूवर आयोग की रिपोर्ट देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इतने जनप्रिय एवं लोक-प्रसिद्ध सदस्यों वाला आयोग भी कल्पित-कथाओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका।

क्रियात्मक संगठन (Functional Organisation)

यह भी संगठन का एक स्वरूप है जिसके अन्तर्गत स्टाफ अधिकारी विभागाध्यक्षों को सलाह देने के स्थान पर प्रत्यक्ष रूप से उनके अधीनस्थ कर्मचारियों के निर्देशन का कार्य करता है। यह स्टाफ का ही एक व्यापक रूप है। इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक कार्य जो अधिकांश विभागों में समान रूप से किए जाते हैं, एक ऐसे व्यक्ति को सौंप दिया जाता है जो कि उस कार्य की विशेष योग्यता रखता हो। वह व्यक्ति एक विभाग के समस्त कार्यों को देखने के स्थान पर समस्त विभागों के एक ही कार्य को देखता रहता है। स्टाफ के उपयोग को व्यवहार में लाने का श्रेय वैज्ञानिक प्रबन्ध के जनक टेलर को है। उन्होंने प्रबन्ध के क्रियात्मक विशिष्टीकरण (Functional Specialisation of Management) पर ज़ोर दिया है। टेलर ने कहा कि परम्परागत रेखा संगठन (Traditional Line Organisation) के अन्तर्गत व्यक्तियों को पर्याप्त प्रशिक्षण, ग्राह्यता और क्षमता के अभाव में फोरमैन के असंख्य कार्य करने में कठिनाई आती है। उसके अनुसार एक अच्छे कर्मचारी में दिमाग, शिक्षा, विशेष ज्ञान, शारीरिक शक्ति, चतुरता, ईमानदारी, निर्णय या सामान्य विवेक और अच्छा स्वास्थ्य आदि गुण होने चाहिए, लेकिन इसमें से 5-6 मुश्किल से किसी भी कर्मचारी में मिलते हैं। इस समस्या के समाधान हेतु उन्होंने क्रियात्मक संगठन की एक योजना का निर्माण किया। टेलर ने फोरमैन के कार्य विशेषज्ञों को सौंप दिए। पर्यवेक्षण के कार्य भी इन विशेषज्ञों अथवा क्रियात्मक अधिकारियों (Functional Officers) को सौंप दिए। आठ क्रियात्मक पर्यवेक्षकों (Functional Supervisors) की नियुक्ति करके उनको दो भागों में विभाजित कर दिया। चार को उच्चतर कार्यालय में रख गया जिनमें समय तथा परिव्यय लिपिक (Time and Cost Clerk) संकेत कार्य लिपिक (Instruction Card Clerk), कार्यालय लिपिक (Routine Clerk) और अनुशासक (Shop Disciplinarian) रखे गए। शेष चार को निम्न स्तर पर नियुक्त किया गया, जो कि कारखाने में कार्य करते थे। उनमें टोली नायक (Gang Boss), गति नायक (Speed Boss), निरीक्षक (Inspector) और मरम्मत करने वाला नायक (Repair Boss) थे।

संगठन की यह अवधारणा श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण पर आधारित है। यह अधिकारियों को विभागों के आधार पर विभाजित नहीं कर के कार्यों के आधार पर विभाजित करती है। किसी भी बड़े औद्योगिक संस्थान में उच्च प्रबन्ध सम्बन्धी कई कार्य होते हैं, उदाहरणार्थ, उत्पादन सम्बन्धी, विक्रय सम्बन्धी, क्रय सम्बन्धी, खाता एवं लागत सम्बन्धी तथा अनुसन्धान सम्बन्धी आदि। इस संगठन प्रणाली के अन्तर्गत इन प्रत्येक कार्यों हेतु एक विशेषज्ञ नियुक्त कर दिया जाता है जो इस एक ही कार्य को विभिन्न विभागों में करता है। क्रियात्मक अधिकारी

को प्रत्येक विभाग में दिए हुए कार्य को पूरा करने का उत्तरदायित्व होता है। उदाहरणार्थ, उपक्रम का मुख्य कार्मिक अधिकारी (Chief Personnel Officer) सभी विभागों में कर्मचारियों की भर्ती, चयन, प्रशिक्षण, पदोन्नति, वाद-विवाद निपटाने, स्थानान्तरण, सेवा-मुक्ति आदि कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है। एक कर्मचारी एक ही अधिकारी का कार्य नहीं करता है, बल्कि उसे कई अधिकारियों के आदेश मानने पड़ते हैं।

टेलर ने क्रियात्मक संगठन प्रणाली के अन्तर्गत एक फोरमैन के कार्य को आठ मुख्य कार्यों में विभाजित किया और प्रत्येक में एक क्रियात्मक नायक (Functional Boss) होना अनिवार्य माना। श्रमिक को एक नायक (Boss) के स्थान पर आठ नायकों (Bosses) के आदेशों का पालन करना होगा, जैसे—समय एवं परिव्यय लिपिक, संकेत कार्य लिपिक, कार्यक्रम लिपिक, अनुशासक, टोली नायक, गति नायक, मरम्मत नायक और निरीक्षक। टेलर का उद्देश्य विशेषज्ञों द्वारा पर्यवेक्षण करवाना था।

क्रियात्मक संगठन के लाभ

प्रो. स्प्रीगल एवं प्रो. लेन्सबर्ग ने क्रियात्मक संगठन के निम्नांकित लाभों का विवरण दिया है[1]—

1. व्यक्तिगत श्रमिकों को विशिष्ट दक्षता प्राप्त होती है।

2 वाँछित योग्यताओं वाले पर्यवेक्षक काफी संख्या में आसानी से प्राप्त हो जाते हैं।

3. शारीरिक कार्य को मानसिक कार्य से अलग कर देने से विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त होते हैं।

4. प्रत्येक कर्मचारी का विकास उसकी रुचि तथा योग्यतानुसार होता है, इसलिए वह अधिकतम प्रयास करता है।

5. इस पद्धति के अन्तर्गत संगठन संरचना में बिना किसी परिवर्तन के संस्था के आकार में परिवर्तन किया जा सकता है और यह परिवर्तन संगठन संरचना में आत्मसात हो जाएगा।

क्रियात्मक संगठन के दोष

क्रियात्मक संगठन प्रणाली की कुछ दुर्बलतायें भी हैं जैसे—

1. संगठन के निम्नस्तरीय कर्मचारियों को कई पदाधिकारियों के आदेश मानने पड़ते हैं, इससे अनुशासन की समस्या जटिल बन जाती है।

2. विभिन्न फोरमैनों के कार्यों में समन्वय करना बड़ा कठिन कार्य हो जाता है। रेखा अधिकारियों के शक्तिहीन होने के कारण यह समस्या जटिल बन जाती है।

3. इस प्रणाली के अन्तर्गत पदाधिकारियों और श्रमिकों में विशिष्टीकरण संकीर्ण हो जाता है।

4. विशेषज्ञों की संख्या अधिक हो जाने के कारण उनमें अधिकारों के लिए आपस में प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो जाती है जिसका दूसरे कर्मचारियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

5. 'निर्देश की एकता' (Unity of Command) प्रबन्ध का एक प्रमुख सिद्धान्त है, लेकिन इस संगठन प्रणाली के अन्तर्गत इसकी उपेक्षा की जाती है क्योंकि अधिकार व उत्तरदायित्व निश्चित करना कठिन हो जाता है।

6. यह संगठन प्रणाली छोटे उद्योगों के लिए उपयुक्त नहीं है।

पार्श्व संगठन
(Lateral Organisation)

यह संगठन का कोई एक स्वरूप या प्रकार नहीं है बल्कि किसी भी संगठन में समान-स्तरीय अधिकारियों के बीच पाए जाने वाले संरचनात्मक सम्बन्धों (Structural Relations) को बताता है। प्रबन्ध के क्षेत्र में उच्चस्तरीय प्रबन्ध (Top Level of Management), मध्यस्तरीय प्रबन्ध (Middle Level of Management) तथा निम्न-स्तरीय प्रबन्ध (Lower Level of Management) की श्रेणियाँ पाई जाती हैं। इन श्रेणियों के अनुसार ही विभिन्न अधिकारियों और अधिकारियों, अधिकारियों और कर्मचारियों के सम्बन्ध निश्चित किए जाते हैं। उनके अधिकार एवं उत्तरदायित्व भी इन्हीं सम्बन्धों पर आधारित होते हैं। उदाहरणार्थ एक उद्योग में सबसे उच्च अधिकारी महाप्रबन्धक (General Manager) होता है तथा उसके नीचे उसी के समान अधिकारी जैसे कार्मिक अधिकारी या प्रबन्धक (Personnel Officer or Manager), वित्त प्रबन्धक, उत्पादन प्रबन्धक, विक्रय प्रबन्धक आदि होते हैं। ये सभी अधिकारी समान स्थिति वाले होते हैं तथा एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं और महाप्रबन्धक के नीचे कार्य करते हैं। अतः एक ही प्रबन्धक के नीचे वाले समानस्तरीय अधिकारियों अथवा अधीनस्थों के मध्य पाए जाने वाले सम्बन्ध पार्श्व सम्बन्ध (Lateral Relationships) कहलाते हैं। वे इस प्रकार के सम्बन्ध संगठन को सुचारु रूप से चलाने हेतु परमावश्यक हैं। इन सम्बन्धों का विकास नियमित सभाओं तथा औपचारिक सम्बन्धों से होता है। प्रो. ब्रैच के अनुसार, "प्रशासन और पर्यवेक्षकों के बीच कार्य करने के सम्बन्धों ('Working

1. *Spriegal and Lansburgh* : Industrial Management, p. 56.

Relations) में उत्तरदायित्व एवं अधिकार समान स्तर पर ही होता है।"–जहाँ तक प्रबन्ध का सम्बन्ध है दो प्रबन्धक अपने अलग-अलग विभागों एवं अधिकारियों के प्रति उत्तरदायी हो सकते हैं, लेकिन एक प्रभावपूर्ण प्रबन्ध के लिए यह आवश्यक है कि समस्त अधिकारियों और कर्मचारियों के बीच अच्छे सम्बन्ध और सहयोग की भावना स्थापित हो। दो समान स्थिति वाले प्रबन्धकों के बीच जो प्रशासनिक सम्बन्ध स्थापित होता है, वही पार्श्व सम्बन्ध (Lateral Relationship) कहा जाएगा। इसे अच्छी तरह समझने हेतु निम्नांकित चार्ट को दर्शनीय—
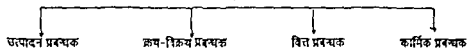
महाप्रबन्धक के नीचे समान स्थिति वाले 4 प्रबन्धक हैं। ये सभी प्रबन्धक एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं तथा अपने विभागों के कार्यों के लिए महाप्रबन्धक के प्रति उत्तरदायी हैं। इस प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करने से संगठन के लिए हुए उद्देश्यों को विभिन्न मितव्ययिताओं के साथ प्राप्त किया जा सकता है। सभी के अधिकार तथा दायित्वों का भी अलग-अलग क्षेत्र होता है। इन सम्बन्धों के साथ मानवीय और तकनीकी पक्ष जुड़े हुए होते हैं।

विभाग—सूत्र अभिकरण
(Department—Line Agency)

प्रशासन का कार्य प्रधानत सूत्र-अभिकरण ही सम्पादित करते हैं। मुख्य सूत्र-अभिकरण या इकाइयाँ हैं—विभाग (Department), सार्वजनिक निगम (Public Corporations) और नियामकीय आयोग (Independent Regulatory Commissions)। विभाग प्रशासन की मूल संगठनात्मक इकाई है जिस पर प्रशासकीय क्रियाओं के सम्पादन का दायित्व रहता है। प्रशासकीय पदसोपान में मुख्य कार्यपालिका के बाद विभाग का ही नाम आता है। विभाग मुख्य कार्यपालिका के अधीन और उसके ही प्रति उत्तरदायी होता है। शाब्दिक दृष्टि से विभाग का अर्थ किसी बड़े संगठन अथवा इकाई का अंग होता है। कभी-कभी इस शब्द का प्रयोग प्रशासकीय संगठन के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी किया जाता है, जैसे—फ्रांस में प्रशासकीय जिलों के लिए 'विभाग' शब्द का प्रयोग प्रचलित है। विश्वविद्यालयों में ज्ञान के विभिन्न निकायों को भी विभाग की संज्ञा दी जाती है, किन्तु प्रशासन की प्राविधिक शब्दावली में 'विभाग' शब्द का एक विशेष अर्थ होता है। "मुख्य कार्यपालिका के अधीन रहने वाले समस्त सरकारी कार्यों को अनेक खण्डों में विभाजित कर लिया जाता है। इनके प्रत्येक खण्ड को विभाग कहा जाता है।" डिमॉक तथा कोइंग के अनुसार, "प्रशासन में श्रम-विभाजन की आवश्यकता विभागीय प्रणाली के जन्म का स्वाभाविक कारण है। किसी उद्यम के कार्यों में आधुनिक शासन के विशेषकर संघीय शासन के कार्यों की भाँति जब वृद्धि होती है तो विभागीय संगठन भी जटिल हो जाता है।"[1] वर्तमान में विभाग के लिए प्रशासन, पद, अभिकरण, सत्ता, समिति, परिषद् आदि अनेक नाम प्रचलित हुए हैं और प्रश्न यह है कि 'विभाग' को कैसे पहचाना जाए। लोक प्रशासन के विद्वानों ने विभाग की दो प्रमुख पहचानें बताई हैं—(क) इकाई का नाम चाहे कुछ भी हो पर यदि वह प्रशासकीय पदसोपान के शीर्ष के निकट हो और उसके तथा मुख्य कार्यपालिका के बीच कोई अन्य इकाई न हो तो हम उसे 'विभाग' कहेंगे; तथा (ख) यदि वह इकाई मुख्य कार्यपालिका के अधीन और उसके ही प्रति उत्तरदायी हो तो उसे 'विभाग' कहा जाएगा।

मुख्य कार्यपालिका अपने अधीन विभागों की सहायता से ही विधि (Law) के निष्पादन और नागरिक-सेवा का वास्तविक कार्य सम्पादन करती है। यद्यपि विभाग मुख्य कार्यपालिका के ठीक नीचे होते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि विभाग पूर्णतया मुख्य कार्यपालिका के अधीन रहते हुए किंचित भी स्वायत्तता का उपभोग नहीं करते हैं। विभागों के संगठन का अधिकार संविधान, संसद् या कार्यपालिका में निहित हो सकता है। भारत में केन्द्रीय सरकार किसी मन्त्रालय अथवा विभाग को संगठित, पुनर्गठित या समाप्त करने की शक्ति केन्द्रीय कार्यपालिका (Central Executive) के हाथों में है और इंग्लैण्ड में भी यह शक्ति सन् 1946 के अधिनियम के अन्तर्गत ब्रिटिश कार्यपालिका को सौंप दी गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका में संगठन को नियमित करने की शक्ति वहाँ की व्यवस्थापिका अर्थात् काँग्रेस के हाथों में है।

1 *Dimock and Koenig : Op cit., p 172*

प्रशासकीय संगठन स्वतन्त्र अथवा असम्बद्ध (Independent or Uncorrelated) तथा एकीकृत अथवा विभागीय (Integrated or Departmental) हो सकता है। प्रशासन की स्वतन्त्र या असम्बद्ध व्यवस्था की विशेषता यह है कि "इसमें प्रत्येक सेवा या अभिकरण को स्वतन्त्र इकाई के रूप में संगठित किया जाता है। उसका अन्य सेवाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता और प्राधिकार या सत्ता-सूत्र (Line of Authority) उनसे सीधे मुख्य कार्यपालिका या विधान-मण्डल को जाता है।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रशासन की स्वतंत्र या असम्बद्ध व्यवस्था में सत्ता अनेक स्वतंत्र अभिकरणों या आयोगों में निहित रहती है, प्रत्येक सेवा को एक स्वतंत्र इकाई माना जाता है जिनका अन्य सेवाओं से कोई प्रत्यक्ष संबंध या तो बिल्कुल नहीं होता या बहुत कम होता है। दूसरी ओर, प्रशासन की एकीकृत या विभागीय व्यवस्था होती है, "जिसमें एक ही सामान्य क्षेत्र में सक्रिय सम्बन्धित क्रियाओं को विभागों के रूप में संग्रहीत कर लिया जाता है और इस प्रकार वे एक-दूसरे से निकट सम्बन्ध स्थापित करते हैं और सीधे मुख्य कार्यपालिका की सत्ता के अन्तर्गत रहते हैं। इस व्यवस्था में सत्ता-सूत्र से विभाग की ओर तथा फिर विभाग से मुख्य कार्यपालिका की ओर जाती है।" इस प्रकार प्रशासन की एकीकृत या विभागीय व्यवस्था में सभी सेवाएँ विभागों के रूप में वर्गीकृत कर ली जाती हैं और उनके नियन्त्रण से सम्बन्धित समस्त सत्ता कानून द्वारा मुख्य कार्यपालिका में निहित कर दी जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के स्वतन्त्र नियामकीय आयोग प्रशासन की स्वतन्त्र या असम्बद्ध व्यवस्था के उदाहरण हैं जबकि भारत में प्रतिरक्षा, रेल, विदेश, गृह-विभाग आदि प्रशासन के एकीकृत या विभागीय व्यवस्था के उदाहरण हैं। ये सभी विभाग कैबिनेट मन्त्रियों के अधीन रखे गये हैं, जो इनका नेतृत्व, नियन्त्रण तथा निर्देशन करते हैं। प्रशासकीय-तन्त्र मन्त्रियों द्वारा लिये गये निर्णयों को क्रियान्वित करने का कार्य करता है।

विभागीय व्यवस्था के गुण (Merits of Departmental System)

विभागीय व्यवस्था का प्रायः सभी देशों के प्रशासनिक संगठनों में प्रयोग किया जाता है। विभागीय व्यवस्था के अन्तर्गत सभी क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है। ऐसा करने से विभिन्न क्रियाएँ एक-दूसरे के निकट आती हैं तथा परस्पर सम्बद्ध होती हैं। संगठन में शक्ति का प्रवाह इन विभिन्न सेवाओं द्वारा विभाग में पहुँचता है तथा वहाँ से मुख्य कार्यपालिका तक जाता है। प्रसिद्ध विद्वान विलोबी के अनुसार विभागीय संगठन निम्नलिखित दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं—

1. विभाग की अपरिहार्यता—सरकार के कार्यों का क्षेत्र व्यापक हो जाने से आज विभागों का अस्तित्व अनिवार्य है। सरकार के व्यापक एवं जटिल कार्यों को विभागीय संगठन के रूप में एकीकृत करने के बाद ही यह जानना सम्भव है कि सरकार के विभिन्न कार्य क्या हैं और किन अभिकरणों के माध्यम से उनकी पूर्ति की जाएगी।

2. सरकार के कार्यों की सरलता—विभागीय संगठन प्रणाली से सरकार का कार्य सरल एवं सुबोध बन जाता है, जिससे कार्यों को शीघ्रता से सम्पादित किया जाता है।

3. विधान की रचना में सुगमता—प्रशासनिक कार्यों को विभाग के रूप में एकीकृत करने पर तत्सम्बन्धी विधान की रचना करने में पर्याप्त सुगमता रहती है।

4. स्पष्टता तथा क्रमबद्धता—विभागीय संगठन द्वारा प्रशासनिक कार्यों में स्पष्टता और क्रमबद्धता आती है तथा कार्यपालिका को व्यवहार के लिए कार्यक्रम बनाने में सुविधा रहती है। व्यवस्थापिका एक विभाग के सभी विषयों पर एक ही साथ व्यवस्थापन कर सकती है जिससे उसका पर्याप्त समय प्रायः बच जाता है।

5. कार्यपालिका का नियन्त्रण—प्रशासनिक क्रियाओं में क्रमबद्धता रहने से मुख्य कार्यपालिका का इन पर सरल और कुशल नियन्त्रण रह सकता है। वह वांछित दिशा-निर्देश दे सकता है।

6. दोहराव से मुक्ति—विभागीय व्यवस्था द्वारा अधिकार-क्षेत्र के झगड़े, कार्यों का अविरोध एवं संगठन यन्त्र तथा क्रियाओं के दोहराव से बचा जा सकता है।

7. एक ही स्थान पर सामान्य सेवाओं का संगठन—विभागीय संगठन के अन्तर्गत उद्यम की सामान्य सेवाओं का संगठन एक ही स्थान पर किया जा सकता है तथा पुस्तकालयों, प्रयोगशालाओं आदि का अधिक से अधिक उपयोग सम्भव है। इस प्रकार की व्यवस्था के अन्तर्गत गृहपालक क्रियाओं को कम खर्च और कुशलता के साथ सम्पन्न किया जा सकता है जिसके फलस्वरूप प्रशासनिक क्रियाओं के बीच एकरूपता आती है।

विभागीय संगठन के संचालन की शर्तें—विभागीय संगठन के सफल संचालन की कुछ शर्तें होती हैं। यदि ये शर्तें पूरी नहीं की गईं तो इस व्यवस्था की उपयोगिता घट जाती है। विभागीय संगठन की दो मुख्य

आवश्यकताएँ हैं—(1) एक क्षेत्र में एक जैसा कार्य करने वाली सभी सेवाओं को एक अलग विभाग में संगठित कर देना चाहिए अर्थात् किसी भी विभाग में ऐसी सेवाओं को सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए जिनकी प्रकृति अन्य सेवाओं के समान नहीं है। इस शर्त के पूरा न किए जाने पर विभाग में अनेक विरोधी तत्त्व प्रकट हो सकते हैं जो विभिन्न सेवाओं के समन्वय को कठिन बना देंगे। (2) इसके कारण विभाग के अध्यक्ष के ऊपर परस्पर विरोधी उत्तरदायित्व आ पड़ते हैं तथा उसे वे कार्य करने पड़ते हैं जिन्हें करने की उसमें योग्यता एवं रुचि नहीं होती। इन दोनों ही खतरों का निराकरण करने के लिए वर्तमान समय में इस बात पर जोर दिया जाता है कि विभाग के कार्यों में एकरूपता होनी चाहिए। इस व्यवस्था से विभागीय एकता स्थापित होती है।

विभागों के प्रकार
(Forms of Departments)

विभागीय संगठन के अनेक रूप हैं जिनका आधार निम्नलिखित है—

1. आकार की दृष्टि से विभाग छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। भारत-सरकार के केन्द्रीय स्तर पर सुरक्षा, रेलवे, डाक व तार आदि को बड़े विभागों का उदाहरण माना जा सकता है। दूसरी ओर राज्य स्तर पर स्थानीय स्वायत्त सेवाएँ जैसे विभाग छोटे विभागों के उदाहरण हैं।

2. बनावट की दृष्टि से विभागों को एकात्मक और संघात्मक दो भागों में बाँटा जा सकता है। एकात्मक विभाग वह है जिसका संगठन एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है, जैसे—शिक्षा, पुलिस आदि। संघात्मक विभाग वह है जो कई प्रकार के कार्य सम्पन्न करने वाले सम्भागों से मिलकर बनता है। इन सभी कार्यों की प्रकृति अलग-अलग होती है और इसलिए विभाग का अध्यक्ष उन सभी का विशेषज्ञ नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में उप-विभागों को पर्याप्त स्वायत्तता दी जाती है।

3. कार्य की प्रकृति के आधार पर भी विभागों का गठन किया जाता है। पुलिस विभाग तथा कानून एवं व्यवस्था विभाग की तरह कुछ विभाग ऐसे होते हैं जो स्वयं कार्य करते हैं। दूसरे विभागों की प्रकृति स्वयं कुछ कार्य न करने की भी होती है। उदाहरण के लिए सामान्य प्रशासन विभाग स्वयं कुछ कार्य न करके दूसरे विभागों के बीच समन्वय स्थापित करता है।

4. भौगोलिक आधार पर भी विभागों के बीच भिन्नता पाई जाती है। कुछ विभागों का कार्य केवल मुख्य कार्यालय तक सीमित रहता है जबकि अन्य विभागों का कार्य भौगोलिक आधार पर विभाजित रहता है तथा वह क्षेत्रीय स्तर के कार्यालयों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। डाक-तार विभाग एवं पुलिस के अधिकांश कार्य उनके देश-व्यापी क्षेत्रीय कार्यालयों द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं। कुछ विभागों में मुख्य कार्यालय एवं क्षेत्रीय कार्यालयों के बीच अतिशय केन्द्रीकरण पाया जाता है जबकि दूसरे विभागों में अतिशय विकेन्द्रीकरण दिखाई देता है। विभागों के वर्गीकरण को निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—
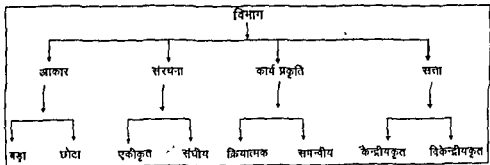
विभागीय संगठन के आधार
(Bases of Departmental Organisation)

विभागों का संगठन कई आधारों पर किया जा सकता है। अरस्तु का मत था कि विभाग को कार्यकर्ताओं अथवा सेवाओं (कार्यों) के आधार पर संगठित किया जा सकता है। सन् 1918 में सरकारी तन्त्र के सम्बन्ध में नियुक्त की गई हेल्डेन समिति का भी बहुत कुछ यही विचार था। इस समिति की सिफारिशों के अनुसार विभागों का गठन मुख्यतया दो आधारों पर किया जाना चाहिए—सेवित व्यक्ति तथा की जाने वाली सेवाएँ। प्रथम प्रकार की व्यवस्था में बहुत छोटे-छोटे अनेक विभाग बनने का खतरा रहता है, जबकि द्वितीय प्रकार की व्यवस्था की सीमा यह है कि उसे कठोरता के साथ लागू नहीं किया जा सकता।

आजकल सामान्य रूप से विभागीय संगठन के जो चार आधार स्वीकार किए जाते हैं, वे हैं—कार्य या उद्देश्य, प्रक्रिया, सेवित व्यक्ति और क्षेत्र। प्रो. लूथर गुलिक के अनुसार विभाग के चार आधार अंग्रेजी के अक्षर 'P' से प्रारम्भ होते हैं। ये हैं—Purpose (प्रयोजन), Process (प्रक्रिया), Persons (व्यक्ति) तथा Place (स्थान)। इन आधारों में किसी भी एक को संगठन का मूल आधार नहीं माना जा सकता। इनमें से मात्र दो या दो से अधिक तत्वों के आधार पर एक संगठन गठित किया जाता है। संगठन के इन आधारों में से प्रत्येक के लाभ और हानियाँ हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी एक आधार को पर्याप्त नहीं माना जा सकता है। विभागों के संगठन के चार मुख्य आधारों को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट जा सकता है—

1. प्रयोजन या उद्देश्य (Purpose)

प्रयोजन अथवा उद्देश्य को कभी-कभी कार्य भी कह दिया जाता है। प्रयोजन का अर्थ उस अन्तिम लक्ष्य से है जिसे प्राप्त करने के लिए संगठन की संरचना की जाती है। प्रत्येक देश के क्रियात्मक विभागों का संगठन किसी बड़े लक्ष्य की प्राप्ति अथवा कार्य की सिद्धि के लिए किया जाता है। भारत सरकार के प्रतिरक्षा, रेल, शिक्षा और समाज-कल्याण, स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन विभाग के प्रयोजन अथवा उद्देश्य भी कार्य के आधार पर ही निर्धारित किये गए हैं।

लाभ—हेल्डेन समिति के अनुसार विभाग के इस आधार के अनेक गुण या लाभ हैं, जैसे—1. विभाग के रूप में संगठित कर्मचारी लगातार एक ही सेवा से सम्बन्धित प्रश्नों का अध्ययन करते हैं, इसलिए उनमें ज्ञान की वृद्धि होती है और उनमें विशेषज्ञता विकसित होती है। 2. इसी प्रकार विभागों के रूप में जो कार्य निर्धारित किया जाता है वह पर्याप्त स्पष्ट होता है और इसलिए किसी प्रकार का भ्रम पैदा होने की सम्भावना नहीं रहती तथा दोहराव भी कम होता है। 3. इसी प्रकार संगठित विभाग द्वारा समस्याओं को सरलतापूर्वक सुलझाया जा सकता है क्योंकि एक कार्य से सम्बन्धित सभी इकाइयाँ एक ही विभाग में संगठित होती हैं और इससे समय तथा शक्ति का अपव्यय होने से बच जाता है। 4. जब लक्ष्य के आधार पर विभाग को संगठित किया जाता है तो सामान्य जनता को उसकी जानकारी सहज रूप में प्राप्त हो जाती है। लोग सरलतापूर्वक यह जान जाते हैं कि उन्हें किस सेवा के लिए किस विभाग की सहायता लेनी चाहिए। 5. सेवा के आधार पर संगठित विभागों के कार्यों का मूल्यांकन आसानी से किया जा सकता है तथा उत्तरदायित्व निश्चित करने में सुगमता रहती है। यदि किसी नागरिक को किसी कार्य विशेष में कठिनाई उत्पन्न होती है तो वह उसके विरुद्ध एक निश्चित विभाग में शिकायत अथवा सुझाव प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रकार से स्पष्टता, उद्देश्य का स्पष्ट ज्ञान और विशेषज्ञता इस आधार के प्रमुख लाभ हैं।

हानियाँ—वालास (Wallace)[1] ने इस पद्धति में कुछ हानियों का उल्लेख किया है—1. कार्य अथवा उद्देश्य एक ऐसा पद है जो बड़ा लचीला है। इसकी निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती। इसे हम चाहें तो संकीर्ण रूप में ले सकते हैं अथवा व्यापक रूप में। इन दोनों ही स्थितियों के बीच सन्तुलन स्थापित करना अत्यन्त कठिन कार्य होता है। यदि हम कार्य को व्यापक दृष्टि से देखें तो विदित होगा कि सरकार का सारा कार्य एक व्यापक कार्य माना जा सकता है और उसे केवल एक ही विभाग को सौंपा जा सकता है। इसके विपरीत जब हम कार्य को उसके संकीर्ण अर्थ में लेते हैं तो अनेक मण्डल तथा सम्भाग भी अपने आपको विभाग का रूप देना चाहेंगे। 2. जब व्यापक लक्ष्यों के आधार पर एक विभाग का संगठन किया जाता है तो उस कार्य के अनेक पहलू भुला दिए जाते हैं। अन्तर्विभागीय समायोजन तथा स्थानान्तरण करके इस दोष को दूर किया जा सकता है। 3. इस पद्धति में कार्यों तथा सेवाओं का दोहराव होने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं तथा गृहरक्षक कार्यों का दोहराव करना जरूरी हो जाता है। 4. प्रयोजन को आधार बनाकर संगठित विभागों में प्रायः अपने आप में पूर्णता की भावना पैदा हो जाती है। ऐसे विभाग अपने कार्यों को अतिशयोक्ति के साथ वर्णित कर अधिनायकत्व निर्माण का प्रयास करते हैं।

2. प्रक्रिया (Process)

प्रक्रिया भी विभाग के गठन का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। प्रक्रिया का अर्थ उस योग्यता एवं ज्ञान से है जो विशेषीकरण की प्रकृति होती है। कानूनी परामर्श, इंजीनियरिंग, चिकित्सा-सेवा, लेखा-कार्य आदि को हम प्रक्रिया का उदाहरण कह सकते हैं। ये कार्य सामान्य प्रकृति के होते हैं और प्रायः सभी विभागों को इनकी आवश्यकता रहती है। इस आधार पर संगठित विभागों में विशेषज्ञ कर्मचारी रखे जाते हैं। किसी भी अन्य सरकारी विभाग को जब इस विशेषज्ञतापूर्ण सेवा की आवश्यकता होती है तो वह इस विभाग से सहायता लेता है। भारत सरकार में कानून एवं न्याय, इस्पात एवं खान, योजना, विज्ञान तथा तकनीक आदि इसी प्रकार के विभाग हैं, जिनमें विशिष्टीकृत दक्षता अथवा कुशलता लाना आवश्यक है। इस दक्षता से ही विभाग को स्वरूप प्रदान किया जा सकता है।

लाभ—प्रक्रिया के आधार पर गठित होने वाली विभागीय प्रक्रिया के अनेक लाभ हैं—1. इस प्रकार विभागों को संगठित किए जाने पर विशेषीकरण को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिलता है। साथ ही तकनीकी ज्ञान के

---

1. Wallace, S. C. : Federal Departmentalization, pp. 105-111

अधिकतम उपयोग का अवसर प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, यदि चिकित्सा सेवा से सम्बन्ध रखने वाले सभी कर्मचारी स्थान-स्थान पर फैले रहने की अपेक्षा एक ही विभाग में एक साथ संगठित हो जाएँ तो वे समय-समय पर उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर परस्पर विचार-विमर्श कर सकते हैं। ऐसा करने से उनको पारस्परिक प्रशिक्षण एवं प्रेरणाएँ प्राप्त होंगी। 2. आर्थिक दृष्टि से इस आधार पर संगठित विभागों को मितव्ययी कहा जा सकता है। विशेषज्ञतापूर्ण विभागों के संगठित हो जाने पर यह जरूरी नहीं रहता कि उस प्रक्रिया की इकाइयों की अन्य विभागों में भी व्यवस्था की जाए। इससे कार्य एवं कर्मचारियों का दोहराव बच जाता है। प्रक्रिया पर आधारित विभागों के पास पर्याप्त कार्य रहता है और इसलिए वे लगातार समय बचाने की प्रक्रियाओं के अनुसन्धान में लगे रहते हैं। 3. विभागीय संगठन का यह आधार एकता एवं समन्वय की दृष्टि से भी उपयोगी माना जा सकता है। 4. प्रक्रिया पर आधारित विभागों के कारण किसी भी प्रक्रिया पर होने वाले कुल व्यय का अनुमान लगाना सम्भव होता है। बजट तथा लेखा-कार्य के लिए आवश्यक एवं मूल्यवान आँकड़े भी एकत्रित किए जा सकते हैं। 5. प्रक्रिया के आधार पर जब विभागों को संगठित किया जाता है तो व्यावसायिक सेवाओं (Professional Services) का भविष्य पर्याप्त उज्ज्वल बन जाता है। यदि प्रत्येक विभाग में विशेषज्ञों की इकाइयों का प्रावधान किया जाए तो उनकी पदोन्नति के पर्याप्त अवसर प्रदान नहीं किए जा सकेंगे। 6 इससे विभागीय कर्मचारियों में एकत्व या सहयोग की भावना में भी वृद्धि होती है।

हानियाँ—वालास (Wallace) ने प्रक्रिया के आधार पर विभागों के गठन करने से होने वाली हानियों का उल्लेख किया है उनका कहना है कि—1. यदि इस आधार पर विभागों का संगठन किया गया तो संगठन की समस्या विशेष गम्भीर बन जाएगी। एक कार्य को पूरा करने के लिए विभिन्न विभागों की सेवाएँ प्राप्त करनी होती हैं। उनके बीच समन्वय की स्थापना का कार्य इतना जटिल बन जाता है कि मुख्य कार्यपालिका अतिशय कार्यभार से दबी हुई दिखाई देती है। इस तरह से 'समन्वय' स्थापित करना इस आधार की मुख्य कमी है। 2 यदि किसी भी एक प्रक्रिया से विभाग की कार्यवाहियाँ असफल हो जाएँ तो सारे विभाग के कार्य निरर्थक हो जाएँगे। लूथर गुलिक के मतानुसार किसी भी एक प्रक्रिया-सम्भाग का यदि समन्वय न किया गया तो सम्भव है कि किए जाने वाले कार्य की प्रभावशीलता समाप्त हो जाए। 3. अनेक तकनीकी प्रक्रियाओं की कुशलता से ही प्रशासन में कुशलता नहीं आ सकती। एक वकील को अपनी विद्या में कुशल होने के साथ-साथ यह अनुभव भी होना चाहिए कि वह इसे कहाँ और कैसे लागू करेगा? कानून का विशेषज्ञ होते हुए भी एक व्यक्ति प्रत्येक विभाग के प्रक्रियात्मक कार्यों से स्वयं को परिचित नहीं रख पाएगा। 4 इस प्रकार से संगठित विभाग लक्ष्य की अपेक्षा साधनों को अधिक महत्व देते हैं जिससे जनता के मस्तिष्क पर सरकार का गलत चित्र उभरता है और लोग यह समझने लगते हैं कि सरकार लोक-कल्याण पर ध्यान नहीं दे रही है। 5. इस व्यवस्था में एक दृष्टि से कुछ बचत होती है, किन्तु दूसरे रूप में अपव्यय की सम्भावना बढ़ जाती है। विभागों के अध्यक्ष अपना महत्व दिखाने के लिए अनावश्यक कार्य भी करने लगते हैं। जब एक कार्य को पूरा करने के लिए अनेक विभागों में घूमना पड़ता है तो कार्य में विलम्ब तो होता ही है, साथ ही धन का भी अपव्यय होता है। 6. प्रक्रिया पर आधारित विभाग के अध्यक्षों में यदि योग्यता और विशेषज्ञता का अहंकार पैदा हो जाए तो वे लोकप्रिय नियन्त्रण को मानने से इन्कार करने लगते हैं। यह स्थिति विभाग के लिए अत्यन्त खतरनाक होती है। 7. इस प्रकार संगठित विभागों में नेतृत्व की समस्या गम्भीर बन जाती है। विशेषज्ञों में प्रशासकीय क्षमता नहीं होती और जो लोग प्रशासन में कुशल होते हैं वे प्रायः विशेषज्ञ नहीं होते।

3. व्यक्ति (Persons)

जो संगठन सेवित व्यक्तियों की दृष्टि से गठित किए जाते हैं उन्हें इस वर्ग में रखा जाता है। मजदूरों, किसानों और बेरोजगारी आदि के लिए गठित संगठन इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार के संगठन की यह विशेषता होती है कि वह जिस वर्ग के लिए गठित किया जाता है उनके लिए प्रत्येक प्रकार की सेवा सम्पादित करता है। भारत में केन्द्र का पुनर्वास मन्त्रालय तथा कुछ राज्यों के आदिम जाति कल्याण विभाग इस प्रकार के संगठनों या विभागों के उदाहरण हैं।

गुण—1. यह विभाग वर्ग विशेष के लिए जो सेवाएँ सम्पादित करता है उनके बीच आसानी से समन्वय की स्थापना हो जाती है। 2 सेवित व्यक्तियों तथा प्रशासन के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह स्थिति प्रशासन एवं प्रशासित दोनों के लिए ही लाभदायक तथा सुविधापूर्ण रहती है। एक वर्ग अपनी सभी समस्याओं के विषय में केवल एक ही विभाग से सम्पर्क स्थापित कर लेता है। 3. इस प्रकार का विभाग अनेक समस्याएँ सम्पादित करता है, अतः इसके कर्मचारी अपनी विविध योग्यताओं का विकास कर सकते हैं। 4. इन विभागों द्वारा जिन लोगों की सेवाएँ की जाती हैं वे आपस में मिल जाते हैं और इस प्रकार विभिन्न दबाव समूहों का उदय होता है। ये दबाव समूह विभाग को उसके विरोधियों के आक्रमणों से बचाते हैं। 5. इस प्रकार के विभाग से समस्याओं और शिकायतों का सरलता से निराकरण हो जाता है।

दोष—इस व्यवस्था के मुख्य दोष इस प्रकार हैं—1. इस प्रकार का विभाग सार्वजनिक रूप से लागू नहीं किया जा सकता। यदि इसे विभागीय संगठन का विभाग बनाया जाए तो अनेक छोटे-छोटे विभागों की स्थापना हो जाएगी। हेल्डेन समिति के प्रतिवेदन में कहा गया है कि ' विभाग सरकार की उन क्रियाओं के लिए संसद के प्रति

उत्तरदायी होंगे जो व्यक्तियों के किसी वर्ग विशेष के आर्थिक हितों को प्रभावित करती है। इस स्थिति में सम्भव है कि इस प्रकार के मन्त्रालय स्थापित हो जाएँ, जैसे—निवृत्ति मन्त्रालय, बच्चों का बाल-कल्याण मन्त्रालय, बीमा मन्त्रालय, रोजगार मन्त्रालय आदि। संगठन की इस प्रणाली का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि बौने प्रशासन (Lilliputian Administration) की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है अर्थात् अनेक छोटे-छोटे विभाग स्थापित कर दिए जाते हैं।" 2. इन विभागों का कार्यक्षेत्र आसानी से परिभाषित नहीं किया जा सकता। यह निश्चय के साथ कोई नहीं कह सकता कि इस प्रकार का विभाग उस वर्ग विशेष की सेवा के लिए क्या-क्या करेगा ? 3. इस प्रकार संगठित किए जाने वाले विभागों के कर्मचारियों में वांछित कुशलता और योग्यता नहीं आ पाती। इसका कारण यह है कि विभाग एक सीमित समुदाय की अनेक समस्याओं से सम्बन्धित रहता है, फलतः इसके कार्यकर्ता बहुत से विषयों के जानकार तो बन जाते हैं, किन्तु किसी एक विषय के विशेषज्ञ नहीं बन पाते। ये विभाग प्रशासन में एक दबाव समूह का काम करते हैं। 4. ये विभाग जिन व्यक्तियों की सेवा करते हैं, उनके हित इन विभागों के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं और वे अपने हित के विरुद्ध किए जाने वाले किसी भी प्रशासनिक सुधार का विरोध करते हैं।

4. स्थान (Place)

प्रायः सभी देशों में क्षेत्र या प्रदेश पर आधारित विभागों का गठन किया जाता है। इसके समर्थकों का कहना है कि प्रत्येक विशेष क्षेत्र की अपनी अलग समस्याएँ होती हैं, अतः उनके प्रति पृथक् व्यवहार अथवा आचरण की आवश्यकता है। इस सिद्धान्त को संगठन का 'भौगोलिक आधार' भी कहा जाता है। भारत के विदेश विभाग का गठन इसका एक उदाहरण है जिसके विभिन्न सम्भाग (Divisions) अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों से सम्बन्धित होते हैं। विदेश विभाग के ये सम्भाग विश्व के विभिन्न देशों के साथ सम्बन्धों की व्यवस्था करते हैं। रेलवे मन्त्रालय के भी विभिन्न प्रादेशिक क्षेत्र हैं। संयुक्त राष्ट्र में अनेक प्रशासकीय अनुभाग हैं, जो क्षेत्र के आधार पर संगठित होते हैं।

गुण—इस व्यवस्था के गुण इस प्रकार हैं—1. इस प्रकार के विभाग उन सुदूरवर्ती प्रदेशों के प्रशासन के लिए उपयुक्त माने जाते हैं। जहाँ संचार साधनों का अधिक विकास नहीं हो पाता है। साम्राज्यवादी देश अपने समुद्रपारीय प्रदेशों के प्रशासन के लिए इसी प्रकार के विभागों की स्थापना करते थे, जैसे—ग्रेट ब्रिटेन स्थित India Office जो भारतीय प्रशासन से सम्बन्धित सभी विषयों पर विचार करता था। 2. इस आधार पर विभाग संगठित करने से समन्वय की समस्या नहीं रहती है। कार्य में देरी की सम्भावना भी कम हो जाती है। 3. विस्तृत क्षेत्र के दूरस्थ भू-भागों के प्रशासन के लिए विभाग अत्यन्त उपयोगी माने जाते हैं। 4. ये विभाग सम्बन्धित क्षेत्र की विशेष आवश्यकताओं की दृष्टि से नीतियाँ निर्धारित करते हैं। इस प्रकार क्षेत्र विशेष की समस्याओं की अवहेलना नहीं करते। 5. भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के लोग अपनी भावनाओं तथा आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति सुगमतापूर्वक कर सकते हैं। इन विभागों के अध्यक्ष प्रायः सम्बन्धित क्षेत्र के निवासी होते हैं। 6. विभागों को क्षेत्रीय आधार पर संगठित करने से पत्र-व्यवहार एवं आवागमन के व्यय को पर्याप्त कम किया जा सकता है।

दोष—इस व्यवस्था के दोष इस प्रकार हैं—1. इस आधार पर संगठित विभागों के कारण राष्ट्रीय नीतियों के प्रशासन में एकरूपता नहीं रह पाती है। उदाहरण के लिए यदि केन्द्रीय स्तर पर एक शिक्षा-विभाग न बनाकर भौगोलिक आधार पर अनेक शिक्षा विभाग बना दिए जाएँ तो समूचे देश के लिए एक जैसी शिक्षा-नीति नहीं अपनाई जा सकेगी। 2. देश में क्षेत्रीयता एवं अलगाववाद की भावनाओं को प्रोत्साहन मिलता है। लोगों में संकीर्ण मनोवृत्ति का विकास होता है। 3. यह विभाग एक क्षेत्र-विशेष के लिए अनेक प्रकार की सेवाएँ सम्पादित करता है, अतः श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण आदि का इसमें अभाव रहता है। 4. क्षेत्रों पर आधारित विभाग क्षेत्रीय हित एवं दबाव समूह से प्रभावित होकर कार्य करते हैं और इसलिए वे प्रायः राष्ट्रीय हित को भुला देते हैं। यह स्थिति बहुत ही घातक बन सकती है।

5. कुछ अन्य आधार (Some Other Bases)

विभागीय संगठन के कुछ अन्य आधार होते हैं। विभागों के रूप में विभिन्न क्रियाओं को अलग-अलग इकाइयों में समूहीकृत किया जाता है। हेमेन महोदय के अनुसार, प्रबंधक जब विभाग का संगठन करने लगता है तो उसके सामने अनेक विकल्प रहते हैं। यह कार्य (Functions), उत्पादन (Production), क्षेत्र (Territory), क्रेता (Buyer), प्रक्रिया (Process), साधन (Equipment) तथा समय सम्बन्धी कई प्रकार के विकल्प अपना सकता है। ये निम्नलिखित हैं—

1. उत्पादन के आधार पर विभागीकरण (Departmentalisation of Product)—यह विभाग उत्पादन के आधार पर संगठित किया जाता है, न कि क्षेत्र या भूमि के आधार पर। इस प्रकार के विभागीकरण में एक कार्यपालिका एक विशेष उत्पादन से सम्बन्धित वस्तुओं की बनावट, बिक्री, सेवा आदि कार्यों पर अधिकार रख

सकता है। एक उत्पादन सम्भाग की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि इस सम्भाग में उन सभी क्रियाओं को सम्मिलित किया जाए जो कार्य को प्रभावशाली ढंग से करने के लिए आवश्यक होती हैं। उत्पादन पर आधारित विभागीकरण में यह महत्वपूर्ण नहीं होता कि सम्भाग को कहाँ स्थित रखा गया है, यह मूल आफिस के पास है अथवा दूर है। इस विभागीकरण द्वारा एक बड़े उद्यम को छोटी-छोटी इकाइयों में बाँट दिया जाता है। उत्पादन के आधार पर विभागीकरण करने से उत्पादन के विस्तार, विकास एवं विविधता को लाभ पहुँचता है। साथ ही इस विभागीकरण द्वारा संगठन के रूप में समन्वय की कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। हैमेन के कथनानुसार, यह हो सकता है कि एक उत्पादन संभाग का सफल मैनेजर अधिक से अधिक शक्ति पाने की कोशिश करेगा और अपना आधिपत्य विस्तृत कर लेगा। इस दिशा के खतरे को रोकने के लिए यह उपयुक्त होगा कि सामान्य स्टाफ हो, वित्त का विकेन्द्रीकरण हो तथा नीति के प्रमुख निर्णय उद्यम के उच्च प्रबन्ध द्वारा लिए जाएँ।

2. ग्राहकों के आधार पर विभागीकरण (Departmentalisation by Customers)—एक प्रबंधक या मैनेजर ग्राहकों की दृष्टि से भी विभागीकरण कर सकता है। ऐसा करते समय ग्राहकों के कल्याण में सबसे अधिक रुचि प्रदर्शित की जाती है। उदाहरण के लिए ग्राहक एक विशेष प्रकार के उत्पादन अथवा सेवा की माँग कर सकता है। ग्राहकों का ध्यान रख कर किये गए विभागीकरण से उत्पादन की मात्रा एवं किस्म आवश्यकता के अनुकूल निर्धारित हो सकेगी। किन्तु इस प्रकार के विभागों में भी समन्वय की समस्या उत्पन्न हो जाती है, तथापि निश्चय ही ग्राहक की विशेष एवं व्यक्तिगत आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान देने के कारण उद्यम को पर्याप्त लाभ होता है।

3. समय के आधार पर विभागीकरण (Departmentalisation by Time)—समय के आधार पर क्रियाओं का विभागीकरण करने की परम्परा सामान्य है। लोक-उपयोगिता आदि कार्यों में संलग्न उद्यम प्रायः समय के आधार पर ही संगठित किए जाते हैं। विभागों को प्रथम शिफ्ट या दूसरी शिफ्ट में बाँट दिया जाता है। इस प्रकार के प्रबन्ध प्रायः सुविधा की दृष्टि से किए जाते हैं तथापि इनमें अनेक प्रशासनिक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। अनेक उद्यमों में इस प्रकार से कार्य का विभाजन पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। प्रायः उत्पादन के विषयों में इस प्रकार का विभाजन क्रियान्वित किया जाता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हैमेन ने विभागीकरण के जो आधार बताए हैं, वे मुख्य रूप से व्यावसायिक उद्यमों से संबंधित हैं और उनको प्रशासनिक संगठनों पर पूर्णतः लागू नहीं किया जा सकता।

मूल निष्कर्ष (The Basic Conclusion)—विभागीय संगठन के विभिन्न आधारों पर विश्लेषण करने पर निम्नांकित तथ्य सामने आते हैं—

1. कोई भी आधार पर्याप्त नहीं है—विभागीय संगठन के विभिन्न आधारों का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट है कि इसका कोई एक आधार पर्याप्त नहीं है। प्रत्येक आधार के अपने कुछ हानि तथा लाभ हैं, इसलिए एक आधार की हानियों को कम करने के लिए दूसरे आधारों के लाभों का सहारा लेना चाहिए।[1] विभागों के आधारों में से किसी भी आधार को सर्वश्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक आधार के लाभ और दोषों को परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। सामान्यतः अधिकांश प्रशासकीय विभागों को कार्य के आधार पर संगठित किया जाता है। कई लेखकों का मत है कि विभागीय स्तर पर 'कार्य का आधार' ही एक सामान्य नियम होता है। दूसरे अपवादों का प्रयोग केवल तभी किया जाता है जबकि विशेष परिस्थितियों द्वारा ऐसा करने को प्रेरित किया जाए।

2. अन्योन्याश्रित सम्बन्ध—इस संबंध में ध्यान रखने योग्य एक अन्य बात यह है कि विभागीय संगठन के चारों ही आधारों में परस्पर गहरा संबंध होता है और ये कभी-कभी एक दूसरे को आच्छादित भी कर लेते हैं। एक दृष्टि से देखने पर जो हमें कार्य-आधार दिखाई देता है वह दूसरी दृष्टि से देखने पर प्रक्रिया, सेवित व्यक्ति या क्षेत्र का आधार दिखाई दे सकता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक कार्य में कुछ न कुछ प्रक्रिया का अंश भी रहता है तथा यह एक क्षेत्र विशेष में रहने वाले व्यक्तियों की सेवा का लक्ष्य लेकर चलता है। विभागों के आधार से संबंधित कमी को दूर करने के लिए हमें यह देखना चाहिए कि विभाग का मुख्य लक्ष्य क्या है ?

3. किसी भी विभाग का संगठन मात्र एक आधार पर आधारित नहीं है—यहाँ यह भी उल्लेखनीय माना जाना चाहिए कि कोई भी विभाग ऊपर से नीचे तक केवल एक ही आधार पर आधारित नहीं पाया जाता। विभागीय स्तर पर हो सकता है कि एक विभाग को कार्य के आधार पर संगठित किया गया हो, किन्तु ज्यों-ज्यों हम उसके सम्भागों एवं अन्य भागों का अवलोकन करते हैं, हमको कर्मचारियों की नियुक्ति अन्य आधारों पर भी करनी पड़ती है। इस प्रकार वास्तविक व्यवहार में विभागों के ये आधार एक-दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। प्रत्येक विभाग में इन चारों आधारों में से कुछ तो प्रभावशील रहेंगे और दूसरे प्रभावहीन बन जाएँगे, किन्तु इन

1 *Haimann, Theo* : Professional Management, p. 68

आधारों की प्रभावशीलता की मात्रा भी समय-समय पर बदलती रहती है। एक ही विभाग में किसी समय हो सकता है एक आधार अधिक प्रभावपूर्ण हो, किन्तु दूसरे समय वह आधार कम प्रभावपूर्ण हो जाए तथा दूसरा आधार उसका स्थान ग्रहण करले।

4. सरकारी कार्य में चारों ही आधारों का अनुसरण—सरकार के कार्य को विभागों में विभक्त करते समय इन चारों ही आधारों अथवा सिद्धांतों को काम में लाया जाता है। व्यवहार में, यह देखने में आता है कि विभाग के संगठन का एक आधार चाहे कितना भी आकर्षक एवं उपयोगी दिखाई देता हो, जब हम व्यावहारिक जगत् में आते हैं तो वह एक-मात्र आधार हमारे विभागीय संगठन के लिए अपर्याप्त सिद्ध हो जाता है तथा अन्य आधारों का उपयोग भी नितान्त अनिवार्य हो जाता है।

विभाग का पदसोपानिक ढाँचा

(Hierarchical Structure of The Department)

प्रत्येक प्रशासनिक विभाग का संगठन ऐसे पदसोपान क्रम से किया जाता है जिसमें सत्ता ऊपर से नीचे को क्रमशः उतरती है। उच्च-अधर अथवा उच्च अधीनस्थ सम्बन्ध ही विभागीय संगठन का आधार होता है। विभागीय कर्मचारी भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं और उनके उत्तरदायित्व भी भिन्न-भिन्न होते हैं। कार्यों तथा उत्तरदायित्वों के आधार पर और साथ ही उस सत्ता के आधार पर जो विभाग के विभिन्न सदस्यों को सौंपी जाती है, विभागीय कर्मचारियों को प्रायः तीन मुख्य वर्गों में श्रेणीबद्ध किया जाता है—

1. शिखर प्रबन्ध (Top Management)—पदसोपान के शिखरस्थ व्यक्तियों का सम्बन्ध मुख्यतः नीतियों का निर्धारण करने, निर्णय करने और उन निर्णयों को लागू करने के लिए उन्हें अपने अधीनस्थ कर्मचारियों तक भेजने से होता है। 'शिखर प्रबन्ध' में शीर्ष व्यक्तियों का एक छोटा-सा वर्ग होता है जो नीति-निर्माण और विभागीय कार्य के सम्पूर्ण नियोजन के लिए उत्तरदायी होता है। एक मंत्री, जो विभाग का राजनीतिक प्रमुख होता है और विभाग का वरिष्ठतम लोकसेवक जो मंत्रालय का प्रशासनिक सचिव होता है, अर्थात् विभागीय सचिव और सहायक सचिव इन्हें "शिखर प्रबन्ध" की श्रेणी में गिना जाता है।

2. मध्य प्रबन्ध (Middle Management)—विभाग में द्वितीय श्रेणी से संबंधित कर्मचारी अर्थात् 'मध्य प्रबन्ध' का काम उन कानूनों और निर्देशों को क्रियान्वित करना है जो उन्हें शिखर प्रबंध के अधिकारियों द्वारा प्रेषित किये जाते हैं। मध्य प्रबंध से संबंधित अधिकारियों पर केवल विभागीय कार्य सम्पन्न करने का ही भार नहीं होता बल्कि उनको विभाग की तृतीय श्रेणी के कर्मचारियों अर्थात् 'साधारण कर्मचारी वर्ग' (Rank-and-File) का नियंत्रण और पर्यवेक्षण भी करना होता है। 'मध्य प्रबंध' नीति-निर्माण पर भारी प्रभाव डालता है क्योंकि विभागीय नीति-निर्माण का कार्य एक ऐसा सहकारी और सामूहिक कार्य है जिसमें विभाग के विभिन्न सदस्य विभिन्न प्रकार का योगदान करते हैं, परंतु नीति-निर्माण का मुख्य दायित्व 'शिखर प्रबन्ध' का है और नीति को वास्तविक रूप में लागू करने तथा कार्य को सम्पन्न कराने का मुख्य दायित्व 'मध्य प्रबन्ध' का है। मध्य-प्रबन्ध को आदेश और अनुदेश केवल प्राप्त ही नहीं होते बल्कि वह स्वयं भी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को आदेश और अनुदेश जारी करता है। यहाँ पर ध्यान देना चाहिए कि विभाग का उपर्युक्त पदसोपान सम्बन्धी ढाँचा अनिवार्य रूप से प्रत्येक प्रशासकीय व्यवस्था में पाया जाता हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। ब्रिटिश लोकसेवा में तीन वर्ग हैं—प्रशासनिक वर्ग (Administrative Class), कार्यकारी वर्ग (Executive Class) और लिपिक वर्ग (Clerical Class)। जहाँ तक स्थायी लोकसेवकों का सम्बन्ध है, इसमें से प्रथम वर्ग की हम 'शिखर-प्रबन्ध' द्वितीय की 'मध्य प्रबन्ध' और तृतीय वर्ग की साधारण कर्मचारी वर्ग में गणना कर सकते हैं।

3. साधारण कर्मचारी वर्ग (Rank and File)—भारत में, वरिष्ठ भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों को विभाग के 'शिखर-प्रबन्ध' तथा अनुभाग अधिकारियों को 'मध्य-प्रबन्ध' तथा उच्च एवं निम्न श्रेणी लिपिकों तथा स्टैनो-टाइपिस्ट्स आदि को 'साधारण कर्मचारी वर्ग' की श्रेणी में गिना जाता है परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका में ब्रिटेन या भारत की भांति लोक सेवकों का ऐसा वर्गीकरण करना संभव नहीं है।

विभागीय अध्यक्ष का पद (The Office of Departmental Head)

विभागीय ढाँचे में अध्यक्ष का ठीक वही स्थान है जो मानव शरीर में 'मस्तिष्क' का होता है। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार समस्त शारीरिक व्यवहारों का निर्देशन एवं नियंत्रण करने वाला केन्द्र बिन्दु मस्तिष्क होता है, ठीक उसी प्रकार विभाग द्वारा जो कार्य सम्पन्न किए जाते हैं उनका नियंत्रण एवं निर्देशन अध्यक्ष द्वारा किया जाता है। विभाग के अध्यक्ष पद का इतना अधिक महत्त्व होने के कारण ही प्रायः प्रश्न उठाया जाता रहा है कि इसका स्वरूप कैसा होना चाहिए? इस सम्बन्ध में लोक प्रशासन के विद्वानों में अध्यक्ष से सम्बन्धित दो महत्वपूर्ण प्रश्नों पर मतभेद हैं। मतभेद का पहला आधार है अध्यक्ष की 'संख्या'। कुछ लोगों का कहना है कि अध्यक्ष केवल एक ही होना चाहिए, किन्तु दूसरे विचारक बहुल निकाय (Plural Body) जैसे—मण्डल अथवा आयोग का

समर्थन करते हैं। मतभेद का दूसरा आधार है अध्यक्ष की 'योग्यता'। कुछ कहते हैं कि एक अच्छे अध्यक्ष में प्रबन्ध की योग्यता होनी चाहिए जबकि दूसरे उसके विभाग की क्रियाओं की विषय-वस्तु की तकनीकी जानकारी को अधिक महत्व प्रदान करते हैं। जब प्रशासकीय उत्तरदायित्व को एक ही व्यक्ति के हाथों में सौंप दिया जाता है तो वह व्यवस्था ब्यूरो प्रणाली कहलाती है और यदि यह उत्तरदायित्व बहुसदस्यीय निकाय के हाथ में रखा जाए तो वह मण्डल अथवा आयोग प्रणाली कहलाएगी।

अध्यक्ष की संख्या (The Quantity of Head)

बहुल अध्यक्ष—अध्यक्ष एक व्यक्ति होना चाहिए अथवा एक निकाय, यह निर्णय उस संगठन के लक्ष्य एवं प्रकृति दोनों पर विचार के पश्चात् ही किया जा सकता है। सामूहिक अध्यक्ष की प्रणाली प्राय वहीं अधिक उपयुक्त समझी जाती है जहाँ नीति पर निर्णय लेने के लिए पर्याप्त विचार-विमर्श तथा कार्यवाही आवश्यक हो। संभवत- यही कारण है कि शिक्षा, जन-स्वास्थ्य, राजस्व आदि विषयों से सम्बन्धित संगठनों के अध्यक्ष मण्डल अथवा आयोग हुआ करते हैं। ये आयोग अथवा मण्डल ही स्वयं नियम एवं उपनियम बना कर उस संगठन को संचालित रखते हैं। संसद इनके बारे में नीति की एक मोटी रूपरेखा निर्धारित करती है। उसका विस्तार इनके अध्यक्षों के परामर्श एवं विचार-विमर्श द्वारा निश्चित किया जाता है। दूसरे, अध्यक्ष की इस व्यवस्था को वहाँ काम में लाया जाता है जहाँ दो संघर्षयुक्त हितों में सामंजस्य बैठाना हो। उदाहरण के लिए, यदि दुर्घटना के समय श्रमिकों को मुआवजा देने से संबंधित समस्या पर विचार करना है तो यहाँ मजदूर एवं पूँजीपति दोनों के ही हित टकराते हैं। यदि ऐसे संगठन का अध्यक्ष एक व्यक्ति को बना दिया गया तो वह दोनों ही दलों का विश्वास प्राप्त नहीं कर पाएगा। अत अध्यक्षता बहुल निकाय द्वारा की जानी चाहिए। तीसरे, ऐसे संगठनों का अध्यक्ष भी मण्डल या आयोग को होना चाहिए जिसके स्वेच्छा एवं नियंत्रण के अधिकारों से व्यक्तिगत हितों पर प्रभाव पड़ता हो, क्योंकि यदि एक व्यक्ति को अध्यक्ष बना दिया गया तो वह चारों ओर की आलोचनाओं का लक्ष्य बन जाएगा। चौथे, बहुल अध्यक्ष-व्यवस्था को कभी-कभी प्रशासकीय ईमानदारी कायम रखने और बाह्य दबावों तथा मुख्य कार्यपालिका के नियंत्रण से मुक्त रखने के लिए भी अपनाया जाता है। लोक सेवा आयोग जैसी संस्थाओं में बहुल-अध्यक्ष रखने का बहुत कुछ यही कारण है। एक व्यक्ति पर बाहरी दबाव आसानी से डाला जा सकता है।

दोष—बहुल-अध्यक्ष के उक्त अनेक लाभों के साथ कुछ हानियाँ भी होती हैं। इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह बताया जाता है कि यदि अध्यक्ष द्वारा कोई गलत निर्णय ले लिया जाए तो उसके लिए किसको उत्तरदायी ठहराया जाए अथवा यदि विभाग में अकार्यकुशलता आ जाए तो उसे किसके माथे मढ़ा जाए? यह स्पष्ट है कि व्यवस्था में किसी एक व्यक्ति को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। प्राय ऐसी परिस्थिति आने पर आयोग अथवा मण्डल के सदस्य अपना उत्तरदायित्व एक-दूसरे पर डालते रहते हैं। दूसरे, इस व्यवस्था में निर्णय लेने में बहुत समय लग जाता है। वाद-विवाद तथा विचार-विमर्श में ही इतना समय व्यतीत हो जाता है कि समय पर निर्णय लेना कठिन हो जाता है। तीसरे, मण्डल अथवा आयोगों द्वारा जो निर्णय लिए जाते हैं वे एक दृष्टि से विभिन्न सदस्यों के अलग-अलग मतों के समझौतों का परिणाम होते हैं। ऐसे निर्णय में किसी भी व्यक्ति की इच्छा पूरी तरह संतुष्ट नहीं हो पाती और इसके परिणामस्वरूप सभी सदस्यों में असंतोष रहता है। फलस्वरूप निकाय में विरोधी गुट बनने लगते हैं जिससे संगठन की कार्यवाही अवरुद्ध हो जाती है। चौथे, यह हो सकता है कि मण्डल अथवा आयोगों में भी कुछ ऐसे लोग आ जाएँ जो अपनी राय ही न रखते हों तथा जिन लोगों की राय प्रभावशाली है उन पर बाह्य दबाव भी डाले जा सकते हों।

एकल अध्यक्ष—एकल अध्यक्ष व्यवस्था में एक ही व्यक्ति विभाग के शीर्ष पर होता है। वह विभाग के सभी निर्णयों के प्रति उत्तरदायी होता है। बहुल-अध्यक्ष की भाँति एकल अध्यक्ष व्यवस्था के भी अपने लाभ तथा हानियाँ हैं। एकल व्यवस्था के लाभ प्राय वही हैं जो बहुल व्यवस्था की हानियाँ हैं और बहुल व्यवस्था के लाभ इसकी हानियाँ हैं। *कुछ विशेष प्रकार के संगठनों के लिए एकल व्यवस्था अनिवार्य मानी जाती है, जैसे—जिन संस्थाओं में* मुख्य लक्ष्य निश्चित एवं स्वीकृत हो चुके हैं, जहाँ तकनीकी तथा मानदण्ड सुविकसित हैं, जहाँ क्रियाएँ प्राय एक ही प्रकार से होती हैं और समाज के बड़े हितों की रक्षा के लिए कार्यपालिका की सक्रियता एवं शीघ्र कार्य करने की क्षमता परम आवश्यक है वहाँ एकल व्यवस्था आवश्यक है। यदि हम वास्तविक व्यवहार की दृष्टि से देखें तो एकल अध्यक्ष व्यवस्था एक सामान्य नियम सिद्ध होगी और बहुल अध्यक्ष व्यवस्था एक अपवाद के समान, जो कहीं-कहीं पाई जाती है जहाँ उसके बिना काम ही न चले। जहाँ कहीं बहुल-अध्यक्ष व्यवस्था होती है वहाँ भी प्राय कार्यपालिका का कार्य एक व्यक्ति के हाथों में सौंप दिया जाता है। उदाहरण के लिए, व्यापारिक संगठनों में निर्देशक मण्डल कार्यपालिका शक्तियाँ प्राय प्रबंधक के हाथों में सौंप देता है। इसी प्रकार भारत सरकार के जिन विभागों में अध्यक्ष एक मण्डल होता है वहाँ कार्यपालिका का कार्य विभाग के सचिव अथवा किसी अन्य व्यक्ति को सौंप दिया जाता है। रेलवे बोर्ड के वित्तीय आयुक्त के पास ऐसी ही शक्तियाँ रहती हैं। इस प्रकार लोक प्रशासन में विभागीय संगठन का अध्यक्ष बहुल अध्यक्षीय व्यवस्था की अपेक्षा एक ही व्यक्ति होना अधिक उपयुक्त रहता है।

विभागीय संगठन की समस्याएँ (Problems of Departmental Organisation)

जब एक विभाग अथवा विभागों का संगठन किया जाता है तो संगठनात्मक दृष्टि से अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याएँ उठ खड़ी होती है, जिनका निम्नानुसार विश्लेषण किया जा सकता है—

1. विभागों की संख्या सम्बन्धी समस्या—सर्वप्रथम विभागों की संख्या संबंधी समस्या सामने आती है। इस सबंध में अनेक लेखकों का विचार है कि विभागों की सख्या का सम्बन्ध नियंत्रण के क्षेत्र से है। नियन्त्रण-क्षेत्र की सामर्थ्य के साथ-साथ उनकी सख्या घटती-बढ़ती रहती है। विभागों की सख्या तथा कार्यकाल प्रत्येक देश में अलग-अलग होते हैं। इनका निश्चय वहाँ की आवश्यकता एवं अनेक बाह्य परिस्थितियों के संदर्भ में किया जाता है।

2. विभागो की आकार सबंधी समस्या—दूसरा प्रश्न यह उठता है कि विभाग का आकार बड़ा होना चाहिए अथवा छोटा ? यदि हम अधिक विभागों की रचना कर रहे हैं तो यह स्वाभाविक है कि विभाग छोटा होगा और यदि विभागों की सख्या कम है तो उनका आकार निश्चय ही बड़ा हो जाएगा। कम सख्या वाले बड़े विभागों के कई लाभ बताए जाते हैं। इन विभागों में समन्वय की समस्या अधिक गंभीर नहीं होती। कार्यों का दोहराव तथा कर्मचारियों की अनावश्यक भर्ती आवश्यक नहीं होती। ये विभाग विस्तृत नियोजन को भी सम्भव बनाते हैं।

3. दोहराव की समस्या—कर्मचारियों एव अनेक कार्यों का दोहराव होने के कारण आर्थिक संसाधनों का अपव्यय होता है

4. दबाव समूहों का प्रभाव—विभागों के संगठन और कार्य-पद्धति पर विभिन्न दबाव समूहों की गतिविधियों का भी प्रभाव पडता है। यह प्रभाव उचित और अनुचित दोनों ही हो सकता है। इस प्रकार कई विभागों को एक बड़े विभाग में मिला देने पर उनका स्वयं का व्यक्तित्व, गौरव एवं विशेषताएँ समाप्त हो जाती हैं तथा कार्य में विलंब की संभावना बढ जाती है। एक बडा विभाग जिसमें अनेक क्रियाओं को मिला दिया गया है, अपने में पूर्ण होने का भाव विकसित कर सकता है। जब एक व्यक्ति को अनेक क्रियाओं से युक्त विभाग का अध्यक्ष बनाया जाता है तो यह स्वाभाविक है कि केवल उन क्रियाओं में अधिक रुचि लेगा जो उसे पसंद हैं तथा जो उसे पसंद नहीं हैं, उनकी उपेक्षा की जाएगी।

सार्वजनिक निगम
(Public Corporations)

सार्वजनिक (सरकारी) निगम भी एक प्रकार के सूत्र-अभिकरण (Line Agencies) हैं। व्यावसायिक और वाणिज्यिक क्षेत्रों में सार्वजनिक निगम राज्य के प्रवेश के परिणाम हैं। आधुनिक काल की औद्योगिक और नगरीय सभ्यता ने ऐसी व्यापक जटिलताओं को जन्म दिया है कि राज्य के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह व्यापार और उद्योग का केवल नियमन ही न करे बल्कि उनमें से कुछ को स्वयं अपने हाथों में ले ले। व्यावसायिक उद्यमों के सरकारी स्वामित्व एव सचालन की सख्या में अधिक वृद्धि होने से एक मूलभूत समस्या यह उत्पन्न हो गई है कि किसी उद्यम की सबसे अच्छी प्रबन्ध-व्यवस्था किस प्रकार की हो सकती है। अतः विश्व के विभिन्न देशों में प्रबन्ध के विभिन्न रूपों के साथ अनेक प्रयोग किए गये, परिणामस्वरूप सार्वजनिक उद्यमों के प्रशासन के लिए मुख्यतः सगठन के चार रूपों को अधिक उपयोगी पाया गया—(1) विभागीय प्रबन्ध (Departmental Management), (2) सरकारी या सार्वजनिक निगम (Public Corporations), (3) सयुक्त पूँजी कम्पनियाँ (Joint Stock Companies), जो या तो पूर्णतया सरकारी स्वामित्व के अन्तर्गत हों या मिश्रित हों अर्थात् एक ऐसी व्यवस्था जिसके अन्तर्गत सरकार किसी भी प्राइवेट सस्था के साथ सरकारी उद्यम के प्रबन्ध और सचालन के लिए समझौता करती है। *वास्तव में, 1870 के बाद समय को और विशेष कर वर्तमान शताब्दी को निगम-क्रान्ति का युग कहा जाना चाहिए।* रॉब्सन (Robson) ने निगमों को 'हमारे समय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्थागत नूतन प्रयोग बताया है, तो वाल्डो (Waldo) ने इसे 'एक विवादपूर्ण नवप्रवर्तन' की संज्ञा दी है। रॉब्सन के अनुसार सार्वजनिक निगम एक महत्त्वपूर्ण सांविधानिक आविष्कार है जिसका पिछले पाँच दशकों में ब्रिटेन में अच्छा विकास हुआ है। ब्रिटेन में सार्वजनिक निगम प्रायः कुछ शासकीय, विशिष्ट, प्राविधिक अथवा सांस्कृतिक कार्य करते रहे हैं। कार्यकारी-नियन्त्रण से उन्हें विभिन्न मात्राओं में पर्याप्त स्वतन्त्रता होती प्राप्त रही है और अनेक निगम तो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों से चले आ रहे हैं। देश के अन्य प्रमुख निगमों में लदन बदरगाह अधिसत्ता, ब्रिटिश आकाशवाणी, प्रसारण निगम, लदन यात्री यातायात मडल तथा बैंक ऑफ इग्लैण्ड प्रमुख हैं। सार्वजनिक कार्यों के लिए निगम-प्रणाली का सबसे अधिक व्यापक प्रयोग संयुक्त राज्य अमेरिका में किया गया है। वहाँ का सबसे पहला और सबसे प्राचीन राज्य निगम 'पनामा रेलवे बोर्ड कम्पनी' है जिसकी स्थापना 1904 में की गई थी। टेनेसी घाटी अधिसत्ता, राष्ट्रीय जमा बीमा निगम, राष्ट्रीय बचत तथा ऋण निगम देश के अन्य प्रमुख निगम हैं। भारत में 1934 में स्थापित रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के अतिरिक्त 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति तक अन्य कोई निगम नहीं था। ब्रिटिश शासनकाल में औद्योगिक एव व्यावसायिक सस्थानों का प्रबन्ध विभागों द्वारा किया जाता था। राष्ट्रीय सरकार ने देश के आर्थिक विकास पर ध्यान केन्द्रित करते हुए सबसे पहले 1948 में पुनर्वास निगम (The

Rehabilitation Finance Corporation), दामोदर घाटी निगम (The Damodar Valley Corporation), औद्योगिक वित्त निगम (The Industrial Finance Corporation) तथा औद्योगिक कार्मिक राज्य बीमा निगम (The Industrial Employees State Insurance Corporation) की स्थापना की। इण्डियन एयरलाइन्स कारपोरेशन, केन्द्रीय गोदाम निगम, जीवन बीमा निगम तथा राष्ट्रीय खनिज विकास निगम अन्य महत्त्वपूर्ण निगम हैं।

अर्थ (The Meaning)

सार्वजनिक क्षेत्र के ऐसे उपक्रमों में जिनमें कुशलता तथा उचित प्रबन्ध के लिए स्वतन्त्रता, साहस और स्वायत्तता की आवश्यकता होती है, संगठन का सार्वजनिक-निगम-स्वरूप अधिक लोकप्रिय है। इन स्वशासित निगमों की स्थापना लोकसभा या विधानसभाओं द्वारा पारित अधिनियम के अन्तर्गत होती है। इन अधिनियमों में उपक्रमों की स्थापना से लेकर उनके प्रबन्ध, संचालन, कार्यक्षेत्र आदि की व्याख्या की जाती है। डिमॉक के अनुसार, *"सार्वजनिक निगम वह सरकारी उद्यम है जिसकी स्थापना किसी विशेष व्यापार को चलाने अथवा वित्तीय उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए संघीय, राज्यीय अथवा स्थानीय कानून द्वारा की गई है।"*[1] विलियम ए. रॉब्सन की दृष्टि में, "आधुनिक नमूने का निगम एक संविधानिक नवीनता (Constitutional Innovation) है। यह प्रशासन की इकाई को राष्ट्रीय या प्रादेशिक सीमा तक विस्तृत करने, औद्योगिक या सार्वजनिक उपयोगिता कार्यों के प्रशासन को सरकार के साधारण कार्यकलाप से पृथक् करने, लाभ कमाने की प्रवृत्ति के स्थान पर लोक सेवा का उद्देश्य स्थापित करने की प्रवृत्ति को प्रकट करता है।"[2] सार्वजनिक निगम को व्यापारिक संस्थान के रूप में गठित मण्डल (बोर्ड) मानना भ्रामक होगा क्योंकि इसके सभी सदस्य मिलकर एक व्यक्ति की तरह कार्य करते हैं। निगम एक कृत्रिम व्यक्ति माना जाता है और उसे इसी रूप में वैधानिक मान्यता प्राप्त होती है। फिफनर ने अपनी परिभाषा में निगम के इसी पक्ष को व्यक्त करते हुए लिखा है—"निगम एक ऐसा निकाय है जिसे अनेक व्यक्तियों के एक व्यक्ति के रूप में कार्य करने के लिए स्थापित किया जाता है। निगम एक कृत्रिम व्यक्ति है जिसे कानून द्वारा विशेष प्रकार के कार्य (Particular Activities and Functions) करने के लिए अधिकृत किया जाता है।" अर्नेस्ट डेविस के अनुसार, "सार्वजनिक निगम सरकारी सत्ता द्वारा निर्मित वह संयुक्त निकाय है जिसकी शक्तियों और कार्यों को परिभाषित कर दिया जाता है और जो आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होता है।" निगमों के वैधानिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए डॉ. एम. पी. शर्मा ने लिखा है, "विधि की दृष्टि से निगम एक कृत्रिम व्यक्ति होता है, अर्थात् वह ऐसे प्राकृतिक व्यक्तियों का समूह अथवा निगम होता है जिन्हें विधि द्वारा एक व्यक्ति की भाँति कार्य करने की मान्यता तथा सुविधा प्रदान कर दी जाती है। आमतौर पर उसमें निरन्तर उत्तराधिकार तथा एक सम्मिलित मुद्रा होती है। वह सम्पत्ति प्राप्त कर सकता है, अपने पास रख सकता है तथा हस्तान्तरित कर सकता है, संविदाएँ कर सकता है, दावा कर सकता है और उस पर भी दावा किया जा सकता है। निगमों को या तो *किसी अधिकारपूर्ण विधानांग की विधि द्वारा अथवा कार्यकारी सत्ता द्वारा जारी किए गए अधिकार-पत्र के आधार पर* बनाया जाता है। आधुनिक काल में पहली रीति अर्थात् विधि अन्तर्गत निगमों को संगठित करने की पद्धति का अनुसरण ही अधिक मात्रा में किया जाता है।

सार्वजनिक निगम के सम्बन्ध में राष्ट्रपति रूजवेल्ट का प्रसिद्ध कथन उल्लेखनीय है कि "सार्वजनिक निगम सरकारी शक्ति से आच्छादित होता है, किन्तु उसमें व्यक्तिगत उद्यम की लोचशीलता और पहल रहती है।" हरबर्ट मोरिसन के अनुसार, "सार्वजनिक निगमों की श्रेष्ठता का कारण यह है कि इनमें सार्वजनिक हित की दृष्टि से राजकीय स्वामित्व, राजकीय दायित्व तथा व्यापारिक प्रबन्ध की नीति का सम्मिश्रण होता है।" एम. फ्रेनसाड के अनुसार, "सार्वजनिक निगम का उपयोग आन्तरिक संगठन तथा सरकार के केन्द्रीय संगठनों के साथ सम्बन्धों में असीमित लोचशीलता की अनुमति देता है या राजनीतिक, प्रशासनिक प्रबन्ध एवं वित्तीय स्वतन्त्रता प्रदान कर विभिन्न मात्रा में सार्वभौमिकता सम्भव बनाता है।"

सार्वजनिक निगमों की विशेषताएँ

निगम-व्यवस्था आवश्यकता और उपयोगिता का संयुक्त परिणाम है। रंगून गोष्ठी के अनुसार सार्वजनिक निगम की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. राज्य का स्वामित्व—इस पर पूर्णरूपेण राज्य का स्वामित्व होता है यद्यपि आर्थिक दृष्टि से उसे कार्य करने की स्वतन्त्रता होती है। सार्वजनिक निगम सरकारी सत्ता द्वारा बनाये जाने वाले उपक्रम हैं। इस पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण रहता है।

2. विशेष विधि द्वारा निर्माण—इसका निर्माण एक विशेष विधि द्वारा या उसके परिणामस्वरूप होता है तथा विधि के द्वारा ही उसकी शक्तियों, कर्त्तव्यों एवं उन्मुक्तियों, प्रबन्धकीय स्वरूप तथा विभागों एवं मन्त्रालयों से उसके सम्बन्धों को निर्धारित किया जाता है।

---
1 *Dimock* · American Govt. in Action, p. 565
2 *Robson, William A.*, Problems of Nationalised Industry, p. 32

3. कानूनी निकाय—एक कानूनी निकाय के रूप में विभिन्न कार्यों की दृष्टि से यह पृथक् इकाई मान होती है जिसके विरुद्ध मुकदमा दायर किया जा सकता है या जो स्वयं मुकदमा दायर कर सकता है, यह सौदा कर सकता है और सम्पत्ति अर्जित एवं धारण कर सकता है। निगमों को, जो अपने नाम से कार्य करते हैं, सौदा करने अथवा सम्पत्ति धारण करने की अन्य शासकीय निकायों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता होती है।

4. वित्तीय स्वतंत्रता—वित्तीय दृष्टि से सार्वजनिक निगम सामान्यतः स्वतन्त्र होते हैं। इसका केवल यह अपवाद है कि शासकीय अनुदानों द्वारा पूँजी या हानि की पूर्ति करनी पड़ती है। निगमों को शासन या जनता से ऋण लेने की स्वतन्त्रता रहती है। इसकी आय के अन्य स्रोत वस्तुओं की बिक्री एवं सेवा से प्राप्त होने वाला राजस्व है। इसे अपने राजस्व के उपयोग का पूर्ण अधिकार होता है।

5. विधायक एवं प्रबन्धकीय विधियों के अनुपालन से—सार्वजनिक धन से सम्बन्धित जो विभिन्न विधायक एवं प्रबन्धकीय विधियाँ होती हैं, उनके अनुपालन नियन्त्रण से सार्वजनिक निगम मुक्त होते हैं।

6. बजट लेखांकन तथा लेखा-परीक्षण—सार्वजनिक निगम सामान्यतः बजट लेखांकन एवं लेखा-परीक्षण सम्बन्धी विधियों एवं पद्धतियों के अनुपालन से मुक्त होते हैं जिनका पालन प्रायः विभिन्न शासकीय विभागों द्वारा किया जाता है।

7. सेवी वर्ग की भर्ती निगम के नियमान्तर्गत—सार्वजनिक निगमों के अधिकांश कर्मचारी लोक सेवा के सदस्य नहीं होते। उनकी भर्ती एवं पारिश्रमिक का निर्धारण निगम के स्वयं के नियमों के अधीन होता है।

8. सार्वजनिक उद्यम का विशेष प्रकार—सार्वजनिक निगम का स्वरूप उसे सार्वजनिक उद्यम का एक विशेष रूप प्रदान करती है जिसमें सरकारी और निजी दोनों ही प्रकार के प्रबन्धों का लाभ उठाने का प्रयत्न किया जाता है। साथ ही यह प्रयत्न रहता है कि एक की कीमत पर दूसरे के लाभ प्राप्त न हों। भारत में दामोदर घाटी नदी परियोजनाओं, वायु-परिवहन निगम तथा बीमा जैसे निगमों में ये उपर्युक्त विशेषताएँ पाई जाती हैं।

सार्वजनिक निगमों की स्थापना के उद्देश्य
(Objectives of Establashing of Public Corporations)

सार्वजनिक निगमों की स्थापना प्रत्येक देश में अपने विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए की जाती है। सामान्य रूप से, सभी देशों में इन निगमों की स्थापना प्रायः निम्नलिखित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए की जाती है—

(1) ऋण का विस्तार अथवा ऋण के सम्बन्ध में आर्थिक सुविधाएँ प्रदान करना,

(2) किसी औद्योगिक अथवा व्यापारिक संगठन का प्रबंध और संचालन करना,

(3) किसी विशेष भौगोलिक क्षेत्र का पूर्णतया विकास करना।

उदाहरणार्थ भारत में पुनर्वास वित्त निगम (Rehabilitation Finance Corporation) का उद्देश्य शरणार्थियों को ब्याज की उचित दर पर ऋण देना है, तो दामोदर घाटी निगम का उद्देश्य दामोदर घाटी का सर्वतोमुखी विकास करना है। संयुक्त राज्य अमेरिका में मुख्यतः इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निगमों की स्थापना हुई है—(i) आर्थिक मन्दी के समय तंगी से परेशान बैंकिंग, बीमा, यातायात तथा अन्य उत्पादक निजी कम्पनियों को ऋण की सहायता प्रदान करना, (ii) व्यापारिक अथवा वाणिज्यिक क्रियाओं का निष्पादन करना, एवं (iii) आपातकालीन समस्याओं का समाधान। सन् 1948 में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने सार्वजनिक निगमों के प्रयोग के सम्बन्ध में अपने बजट भाषण में कुछ मानदण्ड सुझाए थे, जो इस प्रकार हैं—(i) जब सरकार का कार्य मुख्यतया व्यापारिक प्रकृति का हो, (ii) जब वह कार्य आय देने वाला हो और उसमें आत्म-निर्भरता की सम्भावना हो, (iii) जब उस कार्य में जनसाधारण के साथ व्यापारिक ढंग का लेन-देन अन्तर्निहित हो एवं (iv) जब उसमें साधारण प्रकार के विनियोग में विद्यमान लचीलेपन की अपेक्षा अधिक लचीलापन वांछित हो।

सार्वजनिक निगमों के लाभ या गुण (Advantages of Public Corporations)

सार्वजनिक निगमों के लाभ अनेक हैं—

1. कि इनमें लोचशीलता और समायोजन का गुण होता है।

2. दैनिक विषयों में मन्त्रालयों के नियन्त्रण से ये मुक्त रहते हैं।

3. आए दिन के हस्तक्षेप और कठोर नियमों से अपेक्षाकृत अभाव के कारण ये लालफीताशाही और विलम्बकारी प्रक्रिया के दोषों से प्रायः बचे रहते हैं।

4. कर्मचारियों की नियुक्ति, पदोन्नति तथा सेवा-शर्तों में समयानुसार सुविधा तथा कार्य-कुशलता की दृष्टि से परिवर्तन होते रहते हैं।

5. निजी उपक्रमों जैसी संगठन तथा संचालन विधि अपनाए जाने के कारण प्राय अपव्यय की सम्भावना कम रहती है।

6. इससे सार्वजनिक धन का सदुपयोग होता है। सार्वजनिक निगम जन-मानस पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव डालते हैं तथा व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रवृत्ति को हतोत्साहित करते हैं।

7. आज के बढ़ते हुए शहरीकरण तथा औद्योगीकरण के कारण यह आवश्यक है कि राज्य व्यापार एवं उद्योगों का अधिकाधिक नियमन और नियन्त्रण करे। सार्वजनिक निगमों की स्थापना इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध हो सकती है।

8. सार्वजनिक निगमों में निजी साहस की नम्यता और कार्य-साधकता तो कायम रहती ही है, साथ ही राष्ट्रीय नीति का पालन भी प्राय सुनिश्चित हो जाता है।

9. ये निगम आवश्यक संसदीय नियन्त्रण और मन्त्रि-मण्डलीय उत्तरदायित्व के ढाँचे के अन्तर्गत कार्य करते हैं। अत राष्ट्रीय नीति का अनुपालन अपेक्षाकृत अधिक सुविधाजनक रहता है।

10. इन सार्वजनिक निगमों में निजी तथा सरकारी दोनों प्रकार के प्रबन्धकों के लाभ प्राप्त होते हैं।

11. राजसत्ता के परिवर्तन के साथ निगमों की नीति और संचालन में प्राय परिवर्तन नहीं होते हैं।

सार्वजनिक निगमों के दोष (Disadvantages of Public Corporations)

सार्वजनिक निगमों के अनेक दोषों का वर्णन किया जाता है उनमें से मुख्य हैं—

1. **निगमों की स्वतन्त्रता पर विवाद**—निगमों को किस सीमा तक स्वतन्त्रता दी जाए, इस प्रश्न पर सदैव मतभेद रहा है। प्राय देखा गया है कि छोटे-छोटे मामलों में मन्त्रियों और संसद के हस्तक्षेप से निगम-पद्धति में भी शीघ्र निर्णय और कुशल प्रबन्ध की स्थिति अपेक्षित स्तर तक प्राप्त नहीं होती है। निगम के सफल कार्य-संचालन के लिए आवश्यक है कि इसके स्वशासित रूप का सम्मान किया जाए।

2. **उत्तरदायित्व का समुचित निर्वाह नहीं**—सार्वजनिक निगम द्वारा सरकार प्राय संचालन सम्बन्धी अधिकारों को तो प्राप्त कर लेती है, किन्तु उत्तरदायित्वों का समुचित रूप से निर्वाह नहीं कर पाती है।

3. **सरकारी धन की हानि**—सार्वजनिक निगम-पद्धति में ऐसा भी पाया जाता है कि सरकार का नियन्त्रण नाम-मात्र का होने के कारण व्यवसाय में हानि हो जाती है और हानि का अधिकांश अंश सरकारी कोष से देना पड़ता है जिसका भार अन्ततोगत्वा करदाताओं पर पड़ता है। इस तरह से इसमें करदाताओं के हितों को नुकसान पहुँचाने की आशंका सदैव बनी रहती है।

4. **कार्यकुशलता की कमी**—सार्वजनिक निगमों की संचालन समिति में जो व्यक्ति होते हैं उनका निगमों में कोई आर्थिक स्वार्थ नहीं रहता क्योंकि उन्हें पूँजी नहीं लगानी पड़ती, अत निगम अकार्यकुशलता के शिकार बन जाते हैं।

5. **अंकेक्षण सम्बन्धी नियमों का पालन नहीं**—प्राय यह देखा गया है कि ये निगम जाँच-पड़ताल और अंकेक्षण सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करने की चेष्टा करते हैं।

6. **अनेक दोषों का उजागर होना**—यह भी कहा जाता है कि सार्वजनिक निगम द्वारा यद्यपि निजी और सरकारी उपक्रमों के समन्वय का प्रयास होता है, तथापि वास्तव में वह दोनों अवगुणों का प्रतीक बन जाता है। फलस्वरूप निगम-व्यवस्था अनुशासनहीनता, लोचहीनता, स्वायत्तता के अभाव आदि दोषों से पीड़ित रहती है।

7. **तकनीकी ज्ञान की कमी**—*निगमों में विभागों जैसे स्पष्ट नियम नहीं होते। साथ ही व्यावसायिक उद्यम जैसी प्रेरणात्मक पहल नहीं होती है।*

8. **घाटे में चलना**—तकनीकी विशेषज्ञों की कमी के कारण भी सार्वजनिक निगमों के लक्ष्यों की उपलब्धि कठिन हो जाती है। निगम राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा का सामना करने में प्राय दुर्बल सिद्ध होते हैं। इनके उत्पादन भी उच्च-कोटि के हों, इसकी संभावना बहुत कम रहती है। भारत का अनुभव यह है कि अधिकांश निगम घाटे में चल रहे हैं फलत राजकोष पर भार स्वरूप बने हुए हैं।

सार्वजनिक निगमो के प्रकार (Types of Public Corporations)

स्वामित्व और नियन्त्रण की दृष्टि से सार्वजनिक निगमों को निम्नांकित वर्गों में बाँटा जा सकता है—

1. वे निगम जिनका स्वामित्व पूर्ण अथवा आंशिक रूप से सरकार के हाथों में रहता है और उन पर सरकार का ही नियन्त्रण होता है। ऐसे निगमों के निदेशक मंडल के सभी अथवा अधिकांश सदस्य सरकार द्वारा

मनोनीत किए जाते हैं। भारतीय एयरलाइन्स निगम, राज्यीय व्यापार निगम, हाथ करघा उद्योग निगम आदि इसी प्रकार के निगमों के उदाहरण हैं। सही अर्थ में सरकारी निगम यही हैं।

2. वे निगम जिनमें सरकार पूँजी लगाती है तथा किसी न किसी प्रकार प्रतिनिधित्व रखती है, पर नियन्त्रण गैर-सरकारी हाथों में रहता है। ऐसे निगमों को मिश्रित निगम कहा जाता है, उदाहरणार्थ अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम।

3. विधि के अन्तर्गत स्थापित व्यक्तिगत निगम जिनमें न तो सरकार धन लगाती है और न प्रतिनिधित्व रखती है। ऐसे निगमों की स्थापना निजी व्यवसायियों द्वारा व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य से की जाती है। भारत में टाटा आयरन तथा स्टील कॉरपोरेशन, ओबेराय होटल्स, सिंधिया नेवीगेशन आदि इसी प्रकार के गैर-सरकारी (प्राइवेट) निगम हैं। इन निगमों पर सरकार निगम विधान के अन्तर्गत कुछ अधीक्षण एवं नियन्त्रण अवश्य करती है, अन्यथा इनका प्रबन्ध और संचालन निजी क्षेत्र में होता है।

संगठन की दृष्टि से भी सार्वजनिक निगमों को अनेक वर्गों में विभाजित किया जा सकता है— (क) प्राय: निगम जिनका प्रबन्ध एक निदेशक के हाथों में सौंपा जाता है, (ख) कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं कि निगमों का नियन्त्रण और संचालन एक अकेले व्यक्ति को सौंप कर उसे ही समुचित शक्ति प्रदान कर दी जाती है। इस प्रकार का एक निगम संयुक्त राज्य अमेरिका में देशीय जल मार्ग निगम (Inland Waterways Corporation of the U.S.A.) है। इसमें सम्पूर्ण सत्ता युद्ध सचिव (Secretary of War) को प्राप्त है, (ग) कुछ ऐसे निगम भी होते हैं जिनका सचालन एक कार्यकारी अधिकारी या महाप्रबंधक द्वारा किया जाता है, जबकि (घ) कुछ अन्य निगमों का प्रबन्ध एक सम्पूर्ण निदेशक मडल करता है।

सार्वजनिक निगमों की संरचना

(Structure of Public Corporations)

सार्वजनिक निगमों के संगठन के प्रश्न ने विभिन्न समस्याओं को जन्म दिया है जो निदेशक-मडलों की रचना, महाप्रबन्धक की शक्तियों, आन्तरिक सगठन, कार्मिक, वित्त, श्रमिक, मूल्य-नीति, उत्तरदायित्व आदि से सम्बद्ध हैं।

निदेशक मण्डल की रचना—सार्वजनिक निगमों के निदेशक मडलों की रचना में दो मुख्य बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—प्रथम, निदेशक मंडल में ऐसे सदस्यों को स्थान दिया जाए जो प्रबन्ध की अपेक्षा अधीक्षक की भूमिका सम्पादित करें और इस बात के प्रति सदैव जागरुक रहें कि निगम में जन-साधारण का विश्वास बढ़े; एवं द्वितीय, निगम के सचालन के लिए प्रबन्धकों और विशेषज्ञों का एक निकाय हो जो अपने अनुभव और क्षमता के आधार पर निगम को उद्देश्य-प्राप्ति की दिशा में अग्रसर करे।

निदेशक मण्डल दो प्रकार के हो सकते हैं—(क) नीति मडल (Policy Board) जिसमें ऐसे पूर्णकालिक या अंशकालिक व्यक्तियों को स्थान दिया जाए जो निगम के विशिष्ट कार्यों के सपादन के लिए उत्तरदायी न हों बल्कि केवल नीतियों का निर्धारण करें एवं (ख) कार्यात्मक मडल (Functional Board) जिसके सदस्य पूर्णकालिक हों और जो उद्यम के विभिन्न अनुभागों के कार्यकारी अध्यक्ष भी हों। यदि उपर्युक्त दोनों ही कार्यों के सम्पादन के लिए एक ही निदेशक मण्डल का प्रावधान हो तो यह आवश्यक है कि अधिकतम शक्ति महाप्रबन्धक को सौंप दी जाए और उसके कार्यों में मंडल का हस्तक्षेप न्यूनतम हो। मंडल की रचना स्वायत्तता और कार्य-कुशलता को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। यह आवश्यक है कि एक ओर तो उत्तरदायित्व का अंशछादन (Over-lapping) न हो और दूसरी ओर निगम के लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में सहायता मिले। मण्डल के अध्यक्ष और सदस्यों का पूर्णकालिक या अंशकालिक होना और सदस्यों की सख्या सम्बन्धी प्रश्न काम की मात्रा पर निर्भर करता है। तथापि यह अपेक्षित है कि सदस्य-संख्या बहुत अधिक परिवर्तनीय न हो, सदस्यों की कार्यावधि चार या पाँच वर्ष से अधिक न हो और सदस्यों की नियुक्ति असमाविद अवधि के लिए हो ताकि सभी सदस्य एक साथ सेवानिवृत्त न हो जाएँ। निगम के सचिव तथा वित्तीय सलाहकार की नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा की जाती है।

निगमों की स्वायत्तता की दृष्टि से यह वाछनीय है कि निगमों के प्रबंध के परिचालन के लिए एक पृथक् एकीकृत प्रबन्ध-सेवा की व्यवस्था हो तथा इस प्रवृति को हतोत्साहित किया जाए कि सरकारी अधिकारियों को विभाग से छुट्टी देकर निगम में प्रतिनियुक्ति (Deputation) पर भेजा जाए अथवा रिक्त स्थानों को निगम स्वयं पदोन्नति द्वारा भरे। दोनों ही स्थितियों में निगम अनेक बाहरी दबावों का शिकार बन सकता है। इस प्रक्रिया का सबसे बड़ा दोष यह है कि इस प्रकार का आयातित या थोपा हुआ नेतृत्व निगम के मूलभूत लक्ष्यों को प्राप्त करने में असफल रहता है।

आन्तरिक संगठन—निगमों के आन्तरिक सगठन में एकरूपता नहीं पाई जाती क्योंकि प्रत्येक निगम द्वारा निष्पादित कार्य की प्रकृति प्राय अलग-अलग होती है। भारतीय एयरलाइस कॉरपोरेशन के मुख्यालय संगठन की रचना अनेक विभागाध्यक्षों को मिलाकर की गई है, जैसे—वित्त नियन्ता या नियंत्रक (Financial Comptroller), मुख्य परिचालन प्रबन्धक (Chief Operations Manager), अभियंता प्रबंधक (Engineering Manager),

मुख्य यातायात प्रबंधक (Chief Traffic Manager) आदि। संयुक्त राज्य अमेरिका में टी वी ए की तीन प्रमुख इंजीनियरिंग इकाइयाँ हैं—जल-नियन्त्रण नियोजन विभाग, डिजाइन विभाग और निर्माण विभाग।

कार्मिक एवं उच्च अधिकारी—अपने कार्मिक वर्ग के संबंध में निगमों के प्रायः अपने पृथक नियम हैं। उदाहरणार्थ, भारतीय जीवन बीमा निगम अधिनियम की धारा 23 (1) के अनुसार निगम अपने कार्यों को निष्पादित करने के लिए जितने लोगों को नियुक्त करना उचित समझे कर सकता है। अपने कार्मिकों से सम्बद्ध विभिन्न प्रश्नों का निपटारा प्रायः निगम स्वयं ही करता है। निगम अपने कर्मचारियों के सम्बन्ध में साधारणतया लोक सेवा विनियमों के नियंत्रण से मुक्त रहते हैं। भारत जैसे विकासशील देश में, जो कि लोक-कल्याणकारी राज्य के समाजवादी ढाँचे की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध है, भारतीय निगमों के सन्दर्भ में कार्मिक प्रबन्ध का पहलू विशेष महत्वपूर्ण है। यह आवश्यक है कि—(i) कार्मिक प्रबन्ध इस बात के प्रति सदैव सजग रहे हैं कि उसके द्वारा निष्पादित सभी क्रियाएँ लागत पूँजी को उत्पादनकारी बनाती हैं, (ii) कार्मिक प्रबन्ध इस बात के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे हैं कि हर स्तर पर श्रमिक समुदायों के मध्य मधुर सम्बन्धों का विकास हो तथा श्रमिकों और प्रबन्धकों के आपसी सम्बन्ध स्वस्थ और मैत्रीपूर्ण बनें, एवं (iii) कार्मिक प्रबन्ध यह भी सदैव ध्यान रखता है कि कार्मिकों के लिए कार्य-दशाओं में निरन्तर आवश्यक सुधार किया जाए ताकि सन्तोषजनक परिस्थितियों में काम करते हुए कार्मिक, संगठन के प्रति अधिकाधिक निष्ठा रखें। परम्परागत लोक-सेवा द्वारा इन अपेक्षाओं की पूर्ति संदेहास्पद है, अतः आवश्यक है कि एक नए प्रकार के कार्मिक प्रबन्ध की संरचना की जाये।

सार्वजनिक निगम में उच्च कार्यकारी का चयन भी एक मुख्य संगठनात्मक समस्या है। भारत में प्रबन्ध-संचालकों अथवा महाप्रबन्धकों की नियुक्ति सामान्यतः उद्यम के बाहर से की जाती है। अधिकतर उनका चयन भारतीय नागरिक सेवा में से होता है, पर वे उद्यम को अपनी प्रतिभा का समुचित लाभ नहीं दे पाते क्योंकि उन्हें वहाँ केवल अल्प समय के लिए रखा जाता है और अवधि की समाप्ति पर पुनः प्रशासकीय विभागों में भेज दिया जाता है। राजनीतिक नेता को निगम के अध्यक्ष पद पर थोपना भी एक स्वस्थ प्रवृत्ति नहीं कही जा सकती क्योंकि राजनीतिक अध्यक्ष प्रायः मुख्य कार्यकारी अधिकारी को प्रभावहीन बना देता है। यदि प्रबन्धक को समुचित प्राधिकार और उत्तरदायित्व नहीं सौंपे जाते तो वह अपना कार्य-सम्पादन भली प्रकार नहीं कर सकेगा। निगम के कार्यकारी अधिकारी का चयन जब उसकी व्यापारिक और प्राविधिक क्षमता के आधार पर किया जाता है तो यह भी आवश्यक है कि मंडल द्वारा निर्धारित सामान्य नीति निर्देशों के अन्तर्गत उसे अपने स्वयं के निर्णय लेने का पूरा अधिकार हो। प्रबन्ध संचालक अथवा महाप्रबन्धक पर ही निगम के नेतृत्व, मार्ग-निर्देशन और संचालन का भार डाला जाना चाहिए और उसका चयन प्रशासकीय योग्यता, नेतृत्व-कला तथा प्राविधिक क्षमता के आधार पर किया जाना चाहिए। महाप्रबंधक को सहायता देने के लिए उचित संख्या में स्टाफ होना चाहिए और अपने स्टाफ के चयन, नियुक्ति आदि के बारे में महाप्रबन्धक को पर्याप्त अधिकार होने चाहिए।

वित्त—सार्वजनिक निगमों का लक्ष्य सेवा होता है, लाभ कमाना नहीं, तथापि यह अपेक्षित है कि वे आत्म-निर्भर हों। आत्म-निर्भरता की स्थिति होने पर ही सार्वजनिक निगम अपनी वित्तीय नीति के निष्पादन में आवश्यक लचीलापन ला सकता है। प्रोफेसर रामनाथन का सुझाव है कि सार्वजनिक निगमों के लिए ऐसा वित्तीय संगठन होना चाहिए जो उन्हें समुचित सरकारी प्रभाव से पर्याप्त मात्रा में वित्तीय स्वायत्तता प्रदान कर सके। सरकारी प्रभाव और आर्थिक प्रतिबन्धों का अभाव स्वस्थ वित्तीय नीति के शत्रु हैं। स्वयं निगम अधिनियम में ही आर्थिक प्रतिबन्धों का ही उल्लेख होता है। साधारणतया सभी निगमों को पूँजी बढ़ाने, रुपया उधार लेने, अंशधारियों की संख्या बढ़ाने, पूँजी कम करने, उच्च वेतनभोक्ता अधिकारियों की नियुक्ति करने आदि के लिए शासन की अनुमति आवश्यक रहती है। इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने का मूल उद्देश्य यही होता है कि निगम उसी प्रकार का व्यवहार करे जिस प्रकार के व्यवहार से वह सार्वजनिक नीति का सपोषण कर सके और किसी भी ऐसे कार्य से बचा रह सके, जो कि लोकहित या देश की सामान्य नीति के विरुद्ध हो। सरकारी प्रभाव और आर्थिक प्रतिबन्धों की प्रकृति ऐसी नहीं होनी चाहिए कि निगमों की स्वायत्तता पर घातक प्रभाव पड़े। प्रोफेसर रामनाथन के अनुसार सरकार का प्रभाव केवल पूँजीगत बजट और कीमतों के निर्धारण तथा मुनाफा कमाने की मुख्य नीतियों तक ही सीमित रहना चाहिए। सन् 1957 में भारत सरकार द्वारा यह निर्णय लिया गया था कि प्रत्येक सार्वजनिक उद्यम में एक वित्त अधिकारी होना चाहिए जिसका काम सरकार को सम्बन्धित उद्यम के बारे में सामयिक प्रतिवेदन (Periodic Reports) भेजना हो। यद्यपि वित्तीय अधिकारी सरकारी नियन्त्रण का अभिकरण होता है, क्योंकि उसकी नियुक्ति सरकार द्वारा होती है और वह उद्यम के सम्बन्ध में सरकार को अपने प्रतिवेदन भेजता है तथा वित्तीय नीति के संबंध में सरकार के साथ उसका प्रत्यक्ष रूप से संपर्क बना रहता है, तथापि इस अधिकारी की उपयोगिता को ठुकराना केवल दुराग्रह मात्र होगा। जब तक वित्त अधिकारी अपनी सीमाओं में कार्य करता है और

निगम के संचालन कार्य में रोड़े नहीं अटकाता तब तक आपत्ति की कोई बात नहीं उठती। वित्तीय अधिकारी की उपस्थिति से प्रबन्ध संचालक को भी परेशान नहीं होना चाहिए क्योंकि वित्त अधिकारी का काम वित्तीय प्रबन्ध की समस्याओं का समाधान करना है, केवल व्यय को नियन्त्रित करना मात्र नहीं।

मूल नीति—सार्वजनिक निगमों का लक्ष्य जन-सेवा है, अतः निगम की सामान्य मूल्य-नीति ऐसी होनी चाहिए कि आत्म-निर्भरता का लक्ष्य प्राप्त करते हुए बिना विशेष लाभ कमाए लोक सेवा के आदर्श का निर्वाह किया जा सके। ऐसी सामान्य मूल्य-नीति अपेक्षित है कि कुछ वर्षों को एक साथ मिलाकर उद्यम का लाभ और हानि सन्तुलित हो जाए।

नियन्त्रण और उत्तरदायित्व की समस्याएँ

(Problems of Control and Accountability)

सार्वजनिक निगमों को भी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। सबसे महत्वपूर्ण समस्या 'नियन्त्रण और उत्तरदायित्व' की है। यह पूछा जाता है कि—(क) मन्त्रियों के नियन्त्रण की सीमा और स्वरूप क्या हो? (ख) निगमों की स्वायत्तता और संसद् के प्रति उत्तरदायित्व के बीच सन्तुलन किस प्रकार स्थापित किया जाए? (ग) निगमों के लिए कोई स्थायी संसदीय समिति स्थापित की जानी चाहिए अथवा नहीं?

(क) मन्त्रिमण्डलीय नियन्त्रण की समस्या

सार्वजनिक निगमों की स्वायत्तता और मन्त्री के नियन्त्रण के बीच उचित सन्तुलन होना चाहिए। निगम के कार्यों का संचालन देश की सार्वजनिक नीति के अनुकूल रहे, इसके लिए मन्त्रिमण्डलीय देखरेख और नियन्त्रण आवश्यक है। मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व संसद् के प्रति होता है और यदि निगम सार्वजनिक नीति के प्रतिकूल काम करता है तो उसके लिए पूरा मन्त्रिमण्डल संसद् के प्रति उत्तरदायी होगा। अतः इस 'उत्तरदायित्व' की माँग है कि सम्बन्धित मंत्री निगम पर नियन्त्रण रखे लेकिन समस्या यह है कि नियन्त्रण का स्वरूप क्या हो, वह किस सीमा तक हो? मन्त्रियों का अनुचित हस्तक्षेप निगमों की कार्य प्रणाली को पंगु बना सकता है। सार्वजनिक अथवा लोक निगमों पर मन्त्रिमण्डलात्मक नियन्त्रण के निम्नलिखित रूप हो सकते हैं—

प्रथम, सरकारी निगम के संचालक मंडल के सदस्यों की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल द्वारा की जाती है। उसके पास उनको नियुक्ति करने के अतिरिक्त हटाने तथा सेवा संबंधी शर्तें निश्चित करने की शक्ति होती है। भारत में सरकारी निगम कानून के अधीन सरकार को संचालक मंडल के सदस्यों, प्रबन्ध निदेशकों एवं महाप्रबंधकों, (Managing Director and General Manager) आदि की नियुक्ति का अधिकार होता है। दामोदर घाटी निगम द्वारा सरकार को एक वित्तीय सलाहकार (Financial Adviser) नियुक्त करने का अधिकार भी मिला हुआ है। यदि सरकार यह देखती है कि उसके द्वारा नियुक्त कोई अधिकारी अपने उत्तरदायित्वों का समुचित प्रयोग नहीं कर पा रहा है तो वह उसे पदमुक्त करने की शक्ति रखती है।

द्वितीय, मन्त्रिमण्डल को यह अधिकार होता है कि निगम को सामान्य नीति से सम्बन्धित विषयों में परामर्श अथवा निर्देशन दे। यद्यपि कानून द्वारा यह कह दिया जाता है कि अपने प्रतिदिन के विषयों में निगम अधिकाधिक स्वायत्तता का उपयोग करेगा तथापि यह कहना बड़ा कठिन है कि कौनसा विषय स्पष्ट नीति सम्बन्धी है तथा कौनसा दिन-प्रतिदिन की कार्यवाहियों से सम्बन्ध रखता है। वास्तव में इन दोनों के बीच बहुत कम अन्तर होता है। प्रमुख नीतियाँ दिन-प्रतिदिन के व्यवहार के आधार पर निश्चित की जाती हैं और नीतियों के आधार पर प्रतिदिन का व्यवहार संचालित किया जाता है। जो आज प्रशासन का विषय है वह कल ही नीति सम्बन्धी विषय बन सकता है।

यह सच है कि दोनों के बीच एक विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती, तथापि सामान्य तौर पर एक अन्तर तो स्थापित किया जा सकता है और इसी आधार पर सरकारी निगम सम्बन्धी कानून सरकार को यह शक्ति प्रदान कर देता है कि वह समयानुसार निगम की नीति सम्बन्धी विषयों पर निर्देशन देता रहे। निगम के कार्यों, उसकी समस्याओं और सफलताओं के सम्बन्ध में निरन्तर जानकारी रखने के लिए यह व्यवस्था की जाती है कि निगम सरकार को अपना सामयिक प्रतिवेदन भेजता रहे तथा उसके द्वारा समय-समय पर मांगी गयी सूचना का उत्तर देता रहे। निगम द्वारा जब ऐसे नए कार्यक्रम स्थापित किए जाते हैं जिनका सम्बन्ध किसी नीति सम्बन्धी प्रश्न से होता है अथवा जिसमें भारी व्यय की आवश्यकता होती है तो उस पर सरकार की पूर्व स्वीकृति लेना आवश्यक होता है।

तृतीय, नीति सम्बन्धी विषयों पर नियन्त्रण रखने के अतिरिक्त सरकार द्वारा सरकारी निगमों पर व्यापक आर्थिक प्रतिबन्ध आरोपित किये जाते हैं। इन प्रतिबन्धों का विस्तार एवं प्रभाव कितना होगा यह विषय सरकारी निगम की स्थापना सम्बन्धी कानून द्वारा ही स्पष्ट कर दिया जाता है। भारत में दामोदर घाटी निगम कानून के अनुसार यदि निगम कोई नयी योजना आरंभ करना चाहता है, पूँजी व्यय करना चाहता है या उधार लेना चाहता है तो इसके लिए सरकार से पूर्वानुमति लेना जरूरी है। इसी प्रकार हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड (Hindustan Steel Ltd.) को भी कई विषयों में सरकार की पूर्व स्वीकृति लेना जरूरी है, जैसे—पूँजी बढ़ाने पर, पूँजी घटाने पर, नए हिस्सेदार बनाने पर, रुपया उधार लेने पर, 40 लाख से अधिक का कोई भी खर्चा करने पर तथा इसी प्रकार के अन्य कुछ विषयों पर।

सार्वजनिक निगमों पर मन्त्रिमण्डलीय नियन्त्रण मूलतः इसी उद्देश्य से होना चाहिए कि निगम स्वेच्छाचारी न बनें और राष्ट्रीय नीति के अनुरूप व्यवहार करें। नियन्त्रण की शक्तियों के दुरुपयोग द्वारा निगम की स्वायत्तता पर आघात करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। यदि मन्त्रिगण नीति के नाम पर निगम के प्रशासन में आए दिन हस्तक्षेप करते हैं तो निगम की स्वायत्तता अर्थहीन हो जाएगी। यह भी एक अस्वस्थ परिस्थिति है कि मन्त्रिगण निगम के कार्यों में तो पर्याप्त हस्तक्षेप करें, लेकिन उत्तरदायित्व वहन न करें। यदि नियन्त्रण रचनात्मक हो तो आपत्ति का कोई कारण नहीं उठता। इस प्रकार मंत्रियों के हस्तक्षेप के साथ-साथ उत्तरदायित्व वहन करने की व्यवस्था भी अपेक्षित है।

(ख) संसदीय नियन्त्रण की समस्या

सार्वजनिक निगमों पर मन्त्रिमण्डलीय नियन्त्रण से उत्पन्न अधिकांश समस्याओं के समाधान की दृष्टि से यह सुझाव दिया जाता है कि उन पर संसदीय नियंत्रण रहना चाहिए। यदि मन्त्रियों को निगम के बारे में संसद् के प्रति उत्तरदायी बना दिया जाता है तो वे अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करने से कतराएँगे और भली प्रकार सोच-विचार कर ही निर्णय लेंगे। संसदीय नियन्त्रण मन्त्रिमण्डलीय नियन्त्रण को सार्थकता प्रदान करने वाला तथा उसका अनुपूरक है। निगम जिस धनराशि का व्यय करते हैं, वह जनता की गाढ़ी कमाई होती है जिसकी रक्षा का उत्तरदायित्व संसद् पर है। वह मन्त्रिमंडल पर नियन्त्रण रखती है और उसे सरकारी निगमों को सही दिशा में प्रवृत्त रखने को बाध्य करती है।

सार्वजनिक निगम पर संसदीय नियन्त्रण के प्रायः वही साधन हैं जो मन्त्रिमंडल द्वारा निगम पर नियन्त्रण रखने के हैं। 'संसद' निगम के बारे में प्रश्न पूछती है तथा किसी उद्यम पर आधे घंटे की बहस आयोजित कर सकती है। यदि विषय सार्वजनिक महत्व का तथा आवश्यक हो तो वह उस पर स्थगन प्रस्ताव पारित कर सकती है, उद्यम के कार्यों पर बहस कर सकती है, तत्सम्बन्धी विधेयक अथवा प्रस्ताव पर बहस करती है, निगम के बजट पर बहस करती है, निगम द्वारा प्रस्तुत सामयिक प्रतिवेदन पर विचार करती है, संसद् की वित्तीय समितियाँ—जनलेखा या प्राक्कलन समिति के प्रतिवेदनों पर विचार करती है। यदि कोई जाँच आयोग नियुक्त किया गया हो तो उसके प्रतिवेदन पर विचार करती है। साथ ही राष्ट्रपति के भाषण पर बहस करती है।

संसदीय नियन्त्रण की कुछ सीमाएँ रहना स्वाभाविक है क्योंकि संसद् में कार्य-भार की अधिकता के अतिरिक्त ऐसे विशेषज्ञों की कमी भी रहती है जो सरकारी निगमों के प्रशासन से सम्बन्धित तकनीकी विषयों को समझ सकें तथा उनके औचित्य-अनौचित्य को जाँच सकें। इसके अतिरिक्त संसद् में निगमों और औपचारिकताओं का इतना पालन किया जाता है कि वह सही रूप में सरकारी निगमों पर नियन्त्रण नहीं रख पाती। निगम के अधिकारी भी संसद् के समक्ष निर्भीकता से अपनी बात प्रकट नहीं करते, अतः संसद् निगम सम्बन्धी अनेक तथ्यों की जानकारी से वंचित रह जाती है और दोनों में आपसी सहयोग नहीं बढ़ पाता। यह आवश्यक है कि संसदीय नियन्त्रण का स्वरूप बदला जाए ताकि वह अधिक सफल, सार्थक तथा प्रभावशील बन सके।

(ग) सार्वजनिक निगमों पर संसदीय समिति

संसदीय नियन्त्रण की कमी को देख कर सुझाव दिया जाता है कि सार्वजनिक निगमों पर समुचित नियन्त्रण का कार्य संसद् की एक प्रवर समिति को सौंप दिया जाना चाहिए। 1953 में इंग्लैण्ड में हाउस ऑफ कामन्स में यह माँग की गई थी कि सार्वजनिक निगम पर पर्यवेक्षण के लिए एक प्रवर समिति का गठन हो। कुछ राजनीतिक क्षेत्रों के विरोध के बावजूद 1954 में ऐसी समिति का निर्माण कर दिया गया। भारत में भी इस प्रकार की माँग 1953 में की गई। संसद्-सदस्य लंकासुन्दरम् की ओर से प्रवर समिति के गठन का सुझाव आया जिसे व्यावहारिक स्वरूप प्रदान नहीं किया जा सका।

इस परिप्रेक्ष्य में ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स ने मार्च, 1957 में राष्ट्रीयकृत उद्योगों के लिए प्रवर समिति का निर्माण किया और नवम्बर, 1963 में भारत की लोकसेवा में राजकीय उद्योगों के लिए एक समिति का गठन करने

का निश्चय किया गया। यह निर्णय वी. के. कृष्णमेनन के प्रयासों का ही परिणाम था जिसमें संसदीय स्थायी समिति की नियुक्ति की सिफारिश की गई थी।

राजकीय उद्यम समिति (Committee on Public Undertakings)

नवम्बर, 1963 के निश्चय के अनुसार गठित समिति में 15 सदस्य (10 लोकसभा के, 5 राज्यसभा के) होते हैं। सदस्यों का चुनाव अनुक्रमानुपाती प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर एकल संक्रमणीय मत द्वारा होता है। समिति में लोकसभा ने राज्यसभा के सदस्यों को 'सहायक सदस्यों' के रूप में स्वीकार किया, लेकिन यह शर्त लगा दी कि वे उस समय समिति में नहीं बैठ सकेंगे जब समिति अनुमान समिति का सम्पादन कर रही होगी। राज्यसभा ने इस पर आपत्ति की। यह सांविधानिक विवाद अन्त में संयुक्त समिति की स्थापना के साथ समाप्त हुआ।

कार्य—राजकीय उद्यम समिति के निम्नांकित कार्य हैं—

1. उल्लिखित राजकीय उद्यमों के प्रतिवेदन तथा लेखाओं का परीक्षण करना।

2. राजकीय उद्यमों पर नियन्त्रण और महालेखा परीक्षक द्वारा प्रस्तावित प्रतिवेदनों का परीक्षण करना।

3. राजकीय उद्यमों की स्वायत्तता एवं कार्यक्षमता के सन्दर्भ में यह परीक्षण करना कि राजकीय उद्यमों का प्रबन्ध स्वस्थ व्यावसायिक सिद्धान्तों एवं दूरदर्शी वाणिज्यिक व्यवहारों पर आधारित है अथवा नहीं।

4. लोक-लेखा समिति एवं अनुमान समिति के उन कार्यों का परीक्षण करना जो राजकीय उद्यमों के क्षेत्र में लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा उनको समय-समय पर सौंपे जाएँ।

कार्यकाल एवं कार्यक्षेत्र—इस समिति की सदस्यता का कार्यकाल पाँच वर्ष है तथापि इसके पचमांश सदस्य जो सबसे अधिक समय तक सदस्य रह चुके हों, प्रतिवर्ष बारी-बारी से सेवामुक्त होते रहते हैं। समिति के कार्यक्षेत्र में निम्नलिखित उद्यम रखे गए हैं—

(1) दामोदर घाटी निगम।
(2) भारतीय उद्योग वित्त निगम।
(3) भारतीय हवाई कम्पनी निगम।
(4) अन्तर्राष्ट्रीय भारतीय हवाई कम्पनी।
(5) केन्द्रीय भण्डारागार निगम।
(6) जीवन बीमा निगम।
(7) तेल व प्राकृतिक गैस निगम।
(8) नागरिक वायुयान लिमिटेड।
(9) भारत इलैक्ट्रॉनिक्स।
(10) मझगाँव डॉक्स, मुम्बई।
(11) गार्डन रीच वर्कशॉप, कलकत्ता।
(12) सभी सरकारी कम्पनियाँ।

सीमाएँ—ये निम्नांकित मामले राजकीय उद्यम समिति के क्षेत्राधिकार से बाहर हैं— (1) शासकीय नीति एवं दिन-प्रतिदिन के प्रशासकीय मामले, तथा (2) वे कम्पनियाँ जिनमें सरकार के सबसे अधिक शेयर होते हैं।

समिति समय-समय पर अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है। जिनमें इस बात का भी उल्लेख होता है कि समिति की सिफारिशों को कहाँ तक लागू किया है। राजकीय उद्यम समिति उपयोगी कार्य कर रही है, इस दृष्टि से उसकी भूमिका महत्वपूर्ण रही है कि यह उन तथ्यों को एकत्र करती है जिनके आधार पर संसद में राजकीय उद्यमों पर प्रभावशाली चर्चा हो सके। इस समिति ने राजकीय उपक्रमों और निगमों पर नियंत्रण स्थापित करने में उल्लेखनीय योगदान किया है।

सरकारी निगम तथा सरकारी उद्यम के अन्य रूप

(Other Patterns of Public Corporation & Public Enterprise)

सरकारी निगम सरकारी उद्यम के प्रबन्ध का ही एक रूप है। इसका इतिहास अधिक पुराना नहीं है। व्यापारिक उद्यमों के संचालनार्थ सरकारी निगमों का प्रयोग एक नवीन विकास कहा जा सकता है। भारत में 1934 में रिजर्व बैंक के रूप में प्रथम बार सरकारी निगम की स्थापना की गई। उसके बाद स्वतन्त्रता प्राप्ति तक

कोई भी निगम स्थापित नहीं किया गया। उस समय अधिकांश कार्य विभागीय आधार पर संचालित किए जाते थे। स्वतन्त्र भारत में जबकि अनेक सरकारी निगम स्थापित हो चुके हैं, सरकारी उद्यम का प्रबन्ध कई प्रकार से किया जाता है, उदाहरण के लिए विभागीय तथा संयुक्त साझा कम्पनियों के आधार पर।

1. सरकारी निगम और विभागीय संगठन

(Public Corporation and Departmental Organisation)

विभागीय संगठन सरकारी उद्यम की व्यवस्था का लोकप्रिय रूप है। विभाग का अर्थ मुख्य प्रशासक के तुरन्त अधीन निकाय अथवा खण्ड से है जिसमें समस्त सरकारी कार्य को विभाजित कर दिया जाता है। यह प्रशासनिक सोपान की सर्वोच्च इकाई है। इस प्रकार विभागीय संगठन की मुख्य रूप से दो विशेषताएँ हैं। प्रथम, प्रशासकीय सोपान में इसकी स्थिति प्रत्यक्ष रूप से मुख्य कार्यपालिका के तुरन्त अधीन एवं सन्निकट पाई जाती है। द्वितीय, विभाग आंशिक रूप से नहीं वरन् पूर्ण रूप से मुख्य कार्यपालिका के अधीन रहता है। इन विशेषताओं के अतिरिक्त विभागीय संगठन में कुछ अन्य बातें भी पाई जाती हैं, जैसे—इसका नियन्त्रण विभागीय अध्यक्ष द्वारा किया जाता है, विभाग का 'अध्यक्ष' मन्त्रिमण्डल एवं संसद के प्रति उत्तरदायी रहता है; इसके कार्यकर्ता सरकारी कर्मचारी होते हैं, इसका वित्तीय प्रबन्ध सरकारी बजट में स्वीकृत धन से किया जाता है, इसके व्यय का लेखांकन एवं परीक्षण किया जाता है।

विभागीय संगठन के अपने कुछ लाभ हैं, तथापि इनकी कुछ अन्तर्निहित समस्याओं के फलस्वरूप सरकारी निगम का सहारा लेना होता है। इसमें सरकार की शक्ति में अधिक से अधिक वृद्धि हो जाती है और उद्यम में पहल तथा लोचशीलता कम से कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त लालफीताशाही, विलम्ब, अपर्याप्त सेवा तथा ग्राहकों की आवश्यकताओं के प्रति शून्य भाव आदि विभागीय संगठन की कुछ अन्य कमियाँ होती हैं। सरकारी निगम एवं विभागीय संगठन आन्तरिक संगठन की दृष्टि से प्रायः एकरूप होते हैं। ए. डी. गोरवाला (A. D. Gorwala) का कहना है कि निगम का उपयोग प्रायः तब किया जाता है जबकि उद्यम द्वारा ऐसा कोई कार्य किया जा रहा हो जो यथार्थ में सरकार के कार्यों का ही विस्तार हो, किन्तु फिर भी उनके बीच दो आधारों पर अन्तर स्थापित किया जा सकता है। प्रथम, अन्तर जो सरकार एवं व्यवस्थापिका के साथ उनके बाहरी सम्बन्धों से प्रकट होता है। द्वितीय, उनकी प्रक्रिया में कई अन्तर होते हैं। सरकारी निगम और एक विभागीय उद्यम के बीच पाए जाने वाले मुख्य अन्तरों को निम्नांकित रूप से रखा जा सकता है—

(i) सरकारी निगम को उसके आन्तरिक मामलों में स्वायत्तता प्राप्त होती है। विभागों को इस प्रकार की स्वायत्तता प्राप्त नहीं होती। विभाग कम से कम कानूनी रूप से तो सरकार के साथ एकीकृत होते हैं तथा उससे अलग स्वायत्तता की माँग नहीं कर सकते। हो सकता है कि व्यवहार में वे सुविधा एवं कार्यकुशलता की दृष्टि से कुछ स्वायत्तता का उपभोग करें, किन्तु एक अधिकारी के रूप में वे ऐसा नहीं कर सकते। सरकारी निगम पर मन्त्रिमंडल का नियन्त्रण तीन प्रकार से होता है—उसके संचालक की नियुक्ति एवं पद-विमुक्ति द्वारा, सामान्य नीति के विषयों में निर्देशन द्वारा, निगम से सूचना एवं सामयिक प्रतिवेदन द्वारा। कुल मिलाकर निगम पर सरकार का नियन्त्रण विभाग की अपेक्षा बहुत कम रहता है।

(ii) सरकारी निगम व्यवस्थापिका के वित्तीय नियन्त्रण से भी प्रायः अधिक मुक्त रहता है। विभागों पर संसद् का कड़ा वित्तीय नियन्त्रण रहता है। वे उसकी अनुमति के बिना एक पैसा भी खर्च नहीं कर सकते। सरकारी निगमों पर संसद् का इतना वित्तीय नियन्त्रण नहीं रहता। उसे एक बार संसद् द्वारा धन-राशि प्रदान करने के बाद उसके खर्च में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाता। वे पूर्णतः व्यवस्थापिका के अनुदानों पर आश्रित नहीं रहते। उनसे यह आशा की जाती है कि कुछ समय बाद वे आत्मनिर्भर हो जाएँगे। विभाग पर संसदीय नियन्त्रण प्रश्न पूछ कर किया जाता है। एक मन्त्री अथवा सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल विभाग के समस्त कार्यों पर नियन्त्रण रखता है और इसलिए यह स्वाभाविक है कि विभाग के प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में उसके क्रियाकलापों के बारे में पूछा जा सके।

(iii) विभागीय संगठन एवं सरकारी निगम के बीच महत्त्वपूर्ण अन्तर दोनों के कार्य की प्रक्रिया एवं तरीकों के आधार पर भी किया जा सकता है। सरकारी निगम के कार्यों की सफलता उसके वार्षिक हानि-लाभ को देखकर तय की जाती है। सरकारी निगम का वित्तीय प्रबन्ध विभागों की तुलना में भिन्न प्रकार का होता है।

(iv) सरकारी निगम एवं विभागों के बीच कर्मचारीवर्ग की प्रकृति के आधार पर भी अन्तर किया जाता है। सरकारी निगम में सेवीवर्ग की नियुक्ति करते समय नागरिक सेवा के नियम लागू नहीं किए जाते जबकि विभागों में ऐसा करना आवश्यक होता है। सरकारी निगमों में पदोन्नतियाँ वरिष्ठता के आधार पर नहीं, किन्तु योग्यता के आधार पर होती हैं। यदि किसी पदाधिकारी का कार्य बहुत अच्छा है तो उसे व्यक्तिगत व्यापारिक संगठनों की भाँति शीघ्र ही पदोन्नत किया जा सकता है। इसी प्रकार अकुशल कर्मचारियों को आसानी से दण्ड भी दिया जा सकता है विभागों में ऐसा नहीं होता है।

(v) सरकारी निगमों के कार्यों में प्राय: एक लोचशीलता रहती है जिसके परिणामस्वरूप क्रय-विक्रय एवं अन्य कार्यों में कोई कठोर प्रक्रिया लागू नहीं की जाती वरन् कामचलाऊ नियमों का व्यवहार किया जाता है। दूसरी ओर विभागों में प्रत्येक कार्य नियमानुकूल होता है।

(vi) सरकारी निगम के कार्यों पर सरकारी अंकेक्षण नहीं किया जा सकता। उसकी क्रियाओं का आडिट करने के लिए अलग से अभिकरण होते हैं जो लाभ, हानि, अपव्यय आदि को ध्यान में रखकर मूल्यांकन करते हैं। दूसरी ओर विभागों के कार्य पर समय-समय पर सरकारी अंकेक्षण होता है जिसमें कार्य की वैधानिकता एवं व्यय की ईमानदारी की जाँच की जाती है और अंकेक्षण के आक्षेपों को बहुत गंभीरता के साथ लिया जाता है।

(vii) सरकारी निगमों की कानूनी स्थिति विभागों से भिन्न होती है। उनको विभागों की भाँति कुछ कार्यों पर स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती और उनको साधारण नागरिक की भाँति अभियुक्त बनाया जा सकता है।

(viii) अपनी प्रकृति एवं संगठन के कारण सरकारी निगम राजनीतिक दबाव से कम प्रभावित होते हैं जबकि विभागों की प्रक्रियाओं पर राजनीतिक दबाव और प्रभाव का पड़ना कोई विशेष बात नहीं समझी जाती। विभागीय कर्मचारियों के स्थानान्तरण में राजनीतिक हस्तक्षेप चरम सीमा पर परिलक्षित होता है।

2. सरकारी निगम और अन्य व्यापारिक संस्थान

(Public Corporation and Other Business Concerns)

अगर संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट के कथन को दोहराया जाये तो यह कहा जा सकता है कि सरकारी निगम एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें सरकारी संगठनों एवं व्यापारिक संगठनों के लाभों को संयुक्त कर दिया जाता है और दोनों ही हानियों को कम से कम करने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रयास का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि सरकारी निगम सार्वजनिक उद्यम का अपने आप में एक विशेष रूप बन जाता है। सरकारी विभागों एवं व्यापारिक संस्थानों के संयोग के फलस्वरूप जो निगम-व्यवस्था जन्म लेती है वह अपनी दोनों ही जन्मदाता इकाइयों से भिन्न होती है। सरकारी निगम एवं विभागों के अन्तर का अध्ययन हम पहले ही कर चुके हैं। यहाँ हमारा लक्ष्य सरकारी निगम तथा अन्य व्यापारिक संस्थाओं के अन्तर को देखना है। संयुक्त पूँजी कंपनी की स्थापना सामान्य कंपनी अधिनियम के अन्तर्गत की जाती है। इसकी पूँजी सरकार द्वारा प्रदान की जाती है तथा इसका प्रबन्ध एक संचालक मंडल को सौंप दिया जाता है जिसकी नियुक्ति सरकार द्वारा होती है। इन कम्पनियों का प्रयोग प्राय: तब किया जाता है जब सरकार विदेशी, वित्तीय एवं तकनीकी सहायता से काम लेती है। जब किसी उद्योग या व्यापार का राष्ट्रीयकरण किया जाता है तब भी प्राय: इस प्रकार के संगठनों का उपयोग किया जाता है।

सरकारी उद्यम के इन दोनों रूपों में मुख्यत: दो अन्तर पाए जाते हैं—

(i) दोनों के बीच पहला अन्तर यह होता है कि व्यापारिक संस्थान मुख्य रूप से लाभ प्राप्ति के हेतु संचालित किए जाते हैं। उनकी सफलता का निर्णय भी इसी आधार पर किया जाता है कि उन्होंने कितनी पूँजी से कितनी प्राप्ति की। दूसरी ओर सरकारी निगम केवल लाभ प्राप्ति के लिए संचालित नहीं किए जाते, यह तो इनका एक गौण लक्ष्य होता है। यह मुख्य रूप से जनसेवा एवं लोक-कल्याण के लिए संचालित किए जाते हैं। सरकारी निगम को जनहित का संरक्षक माना जाता है और इसे प्राप्त करने के लिए वह लाभ प्राप्त करने की प्रवृत्ति को दाव पर लगा देता है। विलियम रॉबसन (William Robson) के मतानुसार सरकारी निगम लाभ कमाने की प्रकृति को घटाने तथा उसकी जगह लोक सेवा की प्रेरणा को स्थापित करने की प्रवृति का बोध कराता है।[1] इसका अर्थ यह नहीं है कि सरकारी निगम को लाभ प्राप्ति में रुचि नहीं होती, किन्तु यदि वे जनहित की साधना करते हुए बिना हानि के भली-भाँति चलते रहे तो भी श्रेष्ठ समझे जाएँगे।

(ii) सरकारी निगम एवं व्यापारिक संस्थान के बीच एक अन्य अन्तर यह होता है कि सरकारी निगम में हिस्सेदार (Share-holders) नहीं होते, किन्तु व्यापारिक संस्थाओं का जन्म, व्यवहार एवं सफलता बहुत कुछ हिस्सेदारों पर ही आधारित रहती है।

सरकारी निगम और विभागों में अन्तर

विभाग और सरकारी निगम दोनों ही सरकारी उपक्रम के दो रूप हैं तथापि प्रक्रिया और संसद तथा सरकार के साथ उनके सम्बन्धों की दृष्टि से उसमें पर्याप्त भिन्नताएँ विद्यमान रहती हैं जो इस प्रकार हैं—

1. सरकारी निगम को आन्तरिक मामलों में स्वायत्तता प्राप्त रहती है किन्तु विभागों को इस प्रकार की स्वायत्तता प्राप्त नहीं होती। वे कानूनी रूप से सरकार के साथ सम्बद्ध होते हैं और अलग से स्वायत्तता की माँग नहीं कर सकते। निगमों पर सरकार का नियन्त्रण केवल नीति विषयक मामलों में रहता है।

1 *William A. Robson*: Problems of Nationalised Industry, p. 32.

2. सरकारी निगमों पर संसदीय नियन्त्रण विभागों की अपेक्षा कम होता है। विभाग तो संसद की स्वीकृति के बिना एक पैसा भी खर्च नहीं कर सकते, किन्तु निगमों को जो धनराशि आवंटित की जाती है उसका उपयोग वे पूरी स्वतन्त्रता के साथ करते हैं। निगमों से यह आशा की जाती है कि वे भविष्य में आत्मनिर्भर हो जाएँगे तथा सरकारी अनुदानों पर आश्रित नहीं रहेंगे। विभाग की प्रत्येक क्रिया संसद के सूक्ष्म नियन्त्रण का विषय है, किन्तु यह निगम के केवल बाह्य नीति संबंधी मामलों पर ही नियन्त्रण रखती है।

3. सरकारी निगमों के कार्यों की सफलता का अनुमान उसके वार्षिक हानि-लाभ को देखकर किया जाता है, किन्तु विभागों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं किया जा सकता है।

4. विभागों के कर्मचारी नागरिक सेवा के सदस्य होते हैं। उन पर सेवा की शर्तें नागरिक सेवा के नियमों के अनुसार ही लागू होती हैं। दूसरी ओर, सरकारी निगम के कर्मचारी नागरिक सेवा आयुक्त तथा उनकी सेवा की शर्तों में निजी उपक्रमों जैसा लचीलापन रहता है।

5. विभागों का प्रत्येक कार्य नियमानुसार होता है, इसीलिए उनकी प्रक्रिया पर्याप्त कठोर बन जाती है। दूसरी ओर निगम के कार्यों में लचीलापन रहता है और वे केवल कामचलाऊ नियमों का अनुपालन करते हैं।

6. विभागीय कार्यों का सरकारी अंकेक्षण होता है, किन्तु निगम के कार्यों का अंकेक्षण करने के लिए पृथक् अभिकरण होता है जो लाभ-हानि आदि के आधार पर मूल्यांकन करता है।

7. सरकारी निगमों एवं विभागों की कानूनी स्थिति में अन्तर होता है। निगमों को विभागों की तरह उन्मुक्तियाँ प्राप्त नहीं होतीं। उनको साधारण नागरिकों की भाँति अभियुक्त बनाया जा सकता है।

8. राजनीतिक दबाव एवं प्रभाव से सरकारी निगम अछूते रहते हैं और रहने चाहिए। इससे भिन्न स्थिति आलोचना का विषय है। दूसरी ओर विभागों के कार्यों में राजनीतिक प्रभाव पड़ना कोई असाधारण बात नहीं है।

सार्वजनिक या सरकारी कम्पनियाँ
(Public or Government Companies)

सार्वजनिक अथवा सरकारी कम्पनियों (Public or Government Companies) को मिश्रित स्वामित्व कंपनियाँ (Mixed Ownership Companies) अथवा संयुक्त स्कन्ध कंपनियाँ (Joint Stock Companies) भी कहा जाता है। सार्वजनिक क्षेत्र में उत्पादन कार्यों से सम्बन्धित उद्यमों के संगठन के सम्बन्ध में सरकारी अथवा संयुक्त पूँजी या स्कन्ध कंपनी के प्रारूप का आधुनिक समय में अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा है। भारत में केन्द्रीय और राज्यों की सरकारें ऐसी कंपनियों के पक्ष में हैं। "संगठन का यह प्रकार विधिक या संगठनात्मक पद्धति न होकर एक आर्थिक धारणा है। सरकारी कंपनियों के अंतर्गत ही राज्य एवं निजी हितों के संयुक्त उद्यमों के विभिन्न प्रकार आते हैं चाहे वह निजी संस्था देशी हो या विदेशी। किसी उद्यम में भाग लेने वाली कंपनियों के शेयरों के मालिक, व्यक्तिगत फर्में या सामान्य जनता में से कोई भी हो सकता है।"

आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में बड़े पैमाने के व्यावसायिक संगठन की सबसे महत्त्वपूर्ण और उपयुक्त प्रणाली है—संयुक्त पूँजी कंपनी अथवा निगम। अमेरिका में संयुक्त पूँजी कंपनी को निगम कहते हैं और आजकल यह नाम अधिकांश देशों में प्रचलित हो गया है। आधुनिक उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाता है जिसके लिए आवश्यक पूंजी की पूर्ति एक अथवा अधिक व्यक्तियों द्वारा नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में व्यवसायी संगठन के रूप अथवा संयुक्त पूँजी कंपनी वाले रूप का आश्रय लेना पड़ता है। तीव्र औद्योगिक विकास की दृष्टि से आधुनिक औद्योगिक ढाँचे में संयुक्त पूँजी कंपनी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अर्थ एवं विशेषताएँ (Meaning & Characteristics)

सरकारी अथवा मिश्रित स्वामित्व कंपनी से आशय "एक ऐसी कम्पनी से है जिसकी चुकता पूँजी (Paid-up Capital) के कम से कम 51 प्रतिशत भाग केन्द्रीय सरकार अथवा किसी राज्य सरकार या सरकारों अथवा अंशतः केन्द्रीय सरकार और अंशतः एक या अधिक राज्य सरकारों के पास हों। इसमें वह कम्पनी भी सम्मिलित है जो किसी सरकारी कम्पनी की सहायक है।" सरकारी कम्पनी की यह परिभाषा भारतीय कम्पनी कानून की धारा 617 में दी गई है।

प्रशासनिक सुधार आयोग की सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों से सम्बन्धित अध्ययन मण्डली के प्रतिवेदन में सरकारी कंपनियों के संगठनात्मक स्वरूप की जो मुख्य विशेषताएँ गिनाई गई हैं, वे इस प्रकार हैं—

(1) निजी लिमिटेड कंपनी की बहुत-सी विशेषताएँ इनमें हैं।

(2) संस्थान की सम्पूर्ण मुख्य पूँजी या उसके 51 प्रतिशत का स्वामित्व शासन के हाथों में होता है।

(3) सभी या बहुसंख्यक निदेशकों को शासन द्वारा नियुक्त किया जाता है। निदेशकों की नियुक्ति की संख्या इस बात पर निर्भर करती है कि सम्बन्धित उद्यम में निजी पूँजी किस मात्रा में लगी है।

(4) कम्पनी विधि के अधीन निर्मित ये सावयवी निकाय होती हैं।

(5) कम्पनियाँ मुकदमा दायर कर सकती हैं या इनके विरुद्ध मुकदमे दायर किए जा सकते हैं, वे अनुबन्ध तथा अपने नाम में सम्पत्ति अर्जित कर सकती हैं।

(6) सार्वजनिक निगमों के विपरीत सरकारी कम्पनियाँ तथा कार्यपालिका अपने आदेश से गठित करती हैं तथा संसद की स्पष्ट स्वीकृति की आवश्यकता नहीं पड़ती। सरकार को कंपनी के नियमों को बनाने एवं उन्हें संशोधित करने का अधिकार होता है।

(7) इनके लिए आवश्यक धन शासन एवं कुछ मामलों में निजी शेयर होल्डर्स एवं उत्पादित माल की बिक्री या सेवा से होने वाली आय से प्राप्त किया जाता है।

(8) शासकीय विभागों सम्बन्धी सेवी वर्ग, बजट, लेखांकन, लेखा परीक्षण विधियों एवं पद्धतियों से शासकीय कंपनियाँ प्रायः स्वतन्त्र रहती हैं।

(9) उन कर्मचारियों को छोड़कर जो सरकारी विभाग से आते हैं, इन कंपनियों के शेष कर्मचारी लोक-सेवा के सदस्य नहीं होते हैं।

भारत में संयुक्त पूंजी कंपनी की स्थापना कंपनी अधिनियम, 1956 के अन्तर्गत की गई है। इस प्रकार के संगठन सामान्यतः निजी उद्योगपतियों की साझेदारी के साथ किए जाते हैं। निजी उद्योगपति भारत एवं विदेशों दोनों ही स्थानों के हो सकते हैं। इस व्यवस्था में प्रबन्ध एक संचालक मण्डल को सौंप दिया जाता है, जिसकी नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती है। इन कंपनियों का प्रयोग प्रायः तब किया जाता है, जबकि सरकार विदेशी, वित्तीय एवं तकनीकी सहायता से काम लेती है। जब किसी उद्योग या व्यापार का राष्ट्रीयकरण कर लिया जाता है तब भी प्रायः इसी प्रकार के संगठनों का उपयोग किया जाता है। संगठन की दृष्टि से कम्पनी के स्वरूप को अपनाने के तीन मुख्य कारण रहे हैं—

(1) किसी चालू उद्यम के शेयरों को किसी वित्तीय या रोजगारी संकट के कारण या राष्ट्रव्यापी महत्त्वपूर्ण उत्पादन या सेवा को कायम रखने या निजी स्वामित्व के अन्तर्गत दिवालिया उद्योगों को, जैसे—कुछ वर्ष पूर्व भारतीय लोहा एवं स्टील कंपनी लिमिटेड एवं अनेक वस्त्र मिलों को हस्तगत किया था, शासन के लिए अपने स्वामित्व में लेना आवश्यक है।

(2) यह भी सम्भव है कि राज्य कुछ अन्य देशी या विदेशी संस्थाओं के सहयोग से किसी नवीन उद्यम का सूत्रपात करने का इच्छुक हो। इस प्रकार का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड है। शासन एवं निजी हितों के संयुक्त स्वामित्व का अन्य उदाहरण हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड है जिसमें लागत पूँजी के दो-तिहाई अंश की मालिक सरकार है। इसे भारत शासन ने उद्योगपतियों से लिया था।

(3) यह भी सम्भव है कि शासन किसी उद्यम को विशुद्ध सार्वजनिक उद्यम के रूप में चालू करने का इच्छुक हो जिससे सम्बन्धित उद्यम अपने पैरों पर खड़ा हो सके।

सरकारी कम्पनियों के गुण

1. प्रशासनिक जटिलता और नौकरशाही के अभाव के कारण कंपनी के कार्यकलापों में काफी स्वतंत्रता और लोचशीलता रहती है। कंपनी का संचालक मण्डल प्रायः अधिक स्वतंत्रतापूर्वक और शीघ्रता के साथ निर्णय ले सकता है।

2. लोक निगम के विपरीत सरकारी कंपनियों की स्थापना के लिए विशेष अधिनियम की आवश्यकता नहीं होती। भारत में सरकारी कंपनियाँ बड़ी सरलता के साथ भारतीय कंपनी अधिनियम, 1956 के अंतर्गत स्थापित की जा सकती हैं।

3. सरकारी कंपनियों को निजी क्षेत्र के समान कार्य वाली कंपनियों से प्रतिस्पर्धा करनी होती है, अतः कुशलता के साथ कार्य-संचालन होता है और स्वस्थ प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन मिलता है। स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के कारण सरकारी कंपनियाँ समाज को उचित मूल्यों पर अच्छी किस्म की वस्तुएँ आवश्यकतानुसार सुलभ कराती हैं।

4. सरकारी और निजी कंपनियों में प्रतिस्पर्द्धात्मक स्थिति के कारण उनकी प्रगति की तुलना करके उनको अधिक कार्यक्षम बनाया जा सकता है।

5. सरकारी कंपनियों की वार्षिक रिपोर्ट लोक सभा में पेश की जाती है। वहाँ कंपनी के कार्यकलापों की समीक्षा होती है, फलस्वरूप कंपनी के प्रबंधक कंपनी कार्यवाहियों के प्रति सजग और सावचेत रहते हैं।

6. सरकारी कंपनियों को वित्तीय मामलों में पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त होती है। ये कंपनियाँ ऋण ले सकती हैं, अपने कोषों का निर्माण कर सकती हैं और आय का अपने विकास-कार्य में प्रयोग कर सकती हैं। ये कंपनियाँ लिए गए ऋणों को पूँजी में बदल सकती हैं। इस प्रकार की वित्तीय स्वतंत्रता इन कंपनियों को व्यापारिक गुण प्रदान करती है और इनमें लोच तथा स्वायत्तता के गुण आ जाते हैं।

7. लोक उद्योगों का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना न होकर सेवा प्रदान करना होता है, तथापि कोई भी उद्योग सफल तभी हो सकता है जब उसका संचालन व्यावसायिक सिद्धांतों के आधार पर किया जाए। जिन उद्योगों को व्यावसायिक सिद्धांतों पर चलना होता है, उनके लिए कंपनी प्रारूप बहुत श्रेष्ठ समझा जाता है क्योंकि यह प्रारूप लाभ अर्जित करने की दृष्टि से भी विस्तृत क्षेत्र उपलब्ध करता है।

8. कंपनी का संगठन लोचपूर्ण और स्वायत्त होने के कारण कंपनी के प्रबंधक उत्साह आर निपुणता के साथ कार्य करने को प्रोत्साहित होते हैं।

9. कंपनी प्रारूप में निजी एवं सार्वजनिक हितों में सामन्जस्य संभव है क्योंकि कम से कम 51 प्रतिशत अंश सरकार को खरीदने होते हैं और शेष निजी क्षेत्र द्वारा खरीदे जा सकते हैं। इस प्रकार देश के विकास में निजी क्षेत्र का योगदान बना रहता है। कुछ विशेष प्रकार के उद्योगों का विकास करने के लिए, जिन्हें सरकार पूर्णतया सार्वजनिक क्षेत्र में नहीं रखना चाहती, कंपनी-प्रारूप बड़ा उपयुक्त समझा जाता है क्योंकि इसमें सरकार द्वारा अपनी अंशपूँजी को निजी क्षेत्र के व्यक्तियों को हस्तांतरित किया जा सकता है जिससे विकास का मार्ग अवरुद्ध नहीं हो पाता।

सार्वजनिक कम्पनी के दोष

कंपनी के स्वरूप की अपनी कमियाँ हैं। डॉ. अवस्थी एवं माहेश्वरी ने लिखा है कि किसी अन्य व्यक्ति ने नहीं अपितु स्वयं भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक जैसे अधिकारी ने इन्हें 'कंपनी अधिनियम एवं संविधान पर धोखाधड़ी, की संज्ञा दी थी।

इसके मुख्य अवगुण निम्नलिखित हैं—1. लोकतन्त्रीय व्यवस्था राज्य द्वारा नियंत्रित उद्यम सावैधानिक दृष्टि से शासन एवं संसद् के प्रति उत्तरदायी होते हैं। कंपनी के संगठन की पद्धति के द्वारा इस सावैधानिक उत्तरदायित्व का अतिक्रमण हो जाता है।

2. सामान्यत कंपनी की पद्धति एवं व्यापारिक कंपनियों को नियंत्रण करने वाली विधियाँ कल्पना मात्र ही रहती हैं क्योंकि शेयरहोल्डरों एवं प्रबंधकों को जो कार्य कंपनी के संगठन में सौंपे जाते हैं, उन्हें राजकीय कंपनी का निर्माण करने वाली संविधि में अधिष्ठित कर दिया जाता है।

3. लोक निगम की भाँति सरकारी कंपनियाँ खुलेआम काम नहीं करतीं, गोपनीयता का आवरण अधिक रहता है। व्यापारिक सिद्धांतों के आधार पर वह गुप्त सौदे करती है और निजी ढंग से कर्मचारियों की नियुक्ति करती है जिससे जनता में इनके प्रति संदेह उत्पन्न हो जाता है।

4. सरकारी कंपनी का संचालक मण्डल निजी क्षेत्र की कंपनी के संचालन मण्डल की भाँति सहयोग और क्षमता से कार्य नहीं कर पाता। भारत में हनुमान समिति ने लिखा है : "इन कंपनियों के संचालक उनके कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर पा रहे हैं। उनके अधिकार सीमित हैं। वे न तो राजकीय दृष्टि से और न उपक्रम की दृष्टि से ही कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।"

5. सिद्धान्त रूप में, कंपनियों के संगठन और प्रबन्ध में लोच होती है, किन्तु व्यवहार में वास्तविकता इसके विपरीत होती है। मंत्री कंपनी को विभाग की एक अधीनस्थ शाखा मानते हैं और संचालक मण्डल उसके हाथ की कठपुतली बन जाता है। इस प्रकार व्यावहारिक रूप में कंपनी प्रारूप में लोच, स्वतन्त्रता एवं पहलपन का अभाव बना रहता है।

ए. एच. हैन्सन का मत है कि "कंपनी एवं निगम में बहुत अधिक अन्तर नहीं है। वस्तुत राजकीय कंपनी एवं सार्वजनिक निगम में उनके विधि सम्मत स्तर को छोड़कर कोई अधिक अन्तर नहीं है। कंपनी पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण होता है क्योंकि राज्य तो एकमात्र शेयरों का स्वामी होता है। इसके अतिरिक्त सामान्यत कंपनी विधि के ही अधीन नहीं होती अपितु 'समुदाय के निगमों' या 'समझौते की शर्तों' के अनुसार कंपनी पर शासन का विशेष नियन्त्रण एवं निरीक्षण भी रहता है जो सार्वजनिक निगमों का निर्माण करने वाले विधायी आदेश में उल्लिखित नियन्त्रणों से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं होते हैं।"

सेवीवर्ग प्रशासन : नौकरशाही एवं लोक सेवाएँ

(Personnel Administration : Bureaucracy and Public Services)

किसी भी देश का प्रशासन वास्तविक रूप में सेवीवर्ग अथवा कार्मिक वर्ग द्वारा किया जाता है। शासन में नीति-निर्माण का कार्य राजनीतिक नेतृत्व द्वारा किया जाता है, लेकिन उन नीतियों को क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व सेवीवर्ग पर है। राज्य के कल्याणकारी स्वरूप के विस्तार के साथ-साथ सेवीवर्ग अथवा कार्मिक प्रशासन का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सफल सेवीवर्ग प्रशासन जहाँ एक ओर प्रशासन की सफलता के लिए आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर लोक-कल्याण की अभिवृद्धि का भी आधार-स्तम्भ है। प्रशासन-यन्त्र को संचालित करने वाले लोगों का ध्यान रखे बिना सम्पूर्ण प्रशासकीय ढाँचा चरमरा जाएगा और प्रशासकीय प्रक्रिया अस्त-व्यस्त हो जाएगी जो प्रशासन के मानवीय पहलू की अपेक्षा अधिक घातक होगी। व्यवहार में, वही प्रशासन सफल हो सकता है जो मानव-स्वभाव और मानवीय आकाँक्षाओं के अनुरूप हो। सेवीवर्ग प्रशासन अथवा कार्मिक प्रबन्ध वह केन्द्र बिन्दु है जिसके इर्द-गिर्द प्रशासन की विविध समस्याएँ छाई रहती हैं। सुयोग्य और कुशल कर्मचारी प्रशासकीय ढाँचे और प्रशासकीय प्रक्रिया की निर्बलताओं को दूर करके प्रशासन के उद्देश्य की पूर्ति को सम्भव बनाते हैं जबकि अयोग्य और अकुशल कर्मचारी श्रेष्ठ प्रशासनिक ढाँचे और प्रक्रिया को निर्बल और अस्त-व्यस्त बना देते हैं।

प्रशासनिक कार्यों का आज अधिकाधिक विस्तार होता जा रहा है। फलस्वरूप कर्मचारियों की सख्या में लगातार वृद्धि हो रही है तथा सरकार (केन्द्रीय, राज्य एवं स्थानीय सरकार संयुक्त रूप में) सबसे बड़ी नियोक्ता (Employer) बन गई है। पार्किन्सन के नियम (Parkinson's Law) या 'नौकरशाही के उठते हुए पिरामिड' से परिचित हैं। पार्किन्सन-अनुसंधानों ने प्रतिवर्ष 5.75 प्रतिशत औसत वृद्धि का उल्लेख किया है।[1] वर्तमान में भारत में भी केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों की सख्या लाखों में है। राज्य सरकारों में सेवारत लोकसेवकों की संख्या तो और भी विशाल है। जो सेवीवर्ग या कार्मिक वर्ग इतनी बड़ी सख्या में कार्यरत है, उसकी प्रत्येक बात महत्त्वपूर्ण है और इसीलिए हरमन फाइनर के अनुसार, "लोक प्रशासन में सेवीवर्ग को ही सर्वोच्च तत्त्व माना जाता है।" सेवीवर्ग प्रशासन का किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है।

सेवीवर्ग प्रशासन का अर्थ

(The Meaning of Personnel Administration)

विभिन्न विद्वानों ने सेवीवर्ग प्रशासन का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसे परिभाषित किया है। मार्शल ई. डिमॉक की मान्यता है कि सेवीवर्ग प्रशासन ऐसी प्रशासनिक प्रक्रियाएँ हैं जिनके द्वारा कर्मचारियों की नियुक्ति एवं रोजगार सम्बन्धों का नियमन तथा परिवर्तन किया जाता है।[2] एडविन फ्लिप्पो के मतानुसार सेवीवर्ग प्रबन्ध कार्य करने वाले लोगों की कार्य-सम्पन्नता को नियोजित, संगठित, निर्देशित एवं नियन्त्रित करना है।[3] सेवीवर्ग प्रशासन का सम्बन्ध संगठन के मानवीय तत्त्व से रहता है। एक सन्तोषजनक सेवीवर्ग नीति का मापदण्ड यह है कि संगठन के कार्यकर्त्ताओं के बीच हार्दिक सहयोग की स्थापना हो तथा संगठन को लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ाए। 'लोकसेवा' शब्द का प्रचलित अर्थ राज्य की प्रशासकीय सेवा की असैनिक शाखाएँ हैं। सामान्यतः लोकसेवा में

1. *Parkinson, C.N* : Parkinson's Law, p. 14
2. *Dimock & Others* : Op. cit., p. 277.
3. *Edwin B. Flippo* : Principles of Personnel Management, p. 4

राजनीतिक एवं न्यायिक पद तथा सरकार के लिए अवैतनिक रूप में कार्य करने वाले और सार्वजनिक राजस्व से वेतन प्राप्त करने वाले अधिकारियों को सम्मिलित नहीं किया जाता। अतः लोकसेवा, हरमन फाइनर के अनुसार "अधिकारियों का एक ऐसा पेशेवर निकाय है जो स्थायी वेतनभोगी तथा कार्यकुशल या दक्ष होता है।" हाल ही में लोकसेवा में एक नया प्रवर्ग—औद्योगिक कर्मचारी—जोड़ा गया है और सार्वजनिक उपक्रमों के विस्तार के साथ-साथ औद्योगिक कर्मचारियों की संख्या भी बढ़ती जा रही है।

संगठन में मानवीय तत्त्व की दृष्टि से दो बातें आवश्यक होती हैं—प्रथम, संगठन में कुशल तथा अनुभवी कार्यकर्त्ता नियुक्त किए जाएँ और द्वितीय, उन्हें कार्य की सन्तोषजनक शर्तें प्रदान की जाएँ। ये दोनों समस्याएँ सेवीवर्ग प्रशासन के विषय हैं। कर्मचारियों की कार्यकुशलता की दृष्टि से इन बातों का ध्यान रखा जाता है—कर्मचारियों की वैज्ञानिक तरीके की भर्ती, कार्य का समुचित प्रशिक्षण, कार्यकर्त्ताओं की रुचि, योग्यता एवं कार्यक्षमता के अनुरूप काम सौंपना, वेतन भुगतान की वैज्ञानिक पद्धति, उनके कल्याण हेतु की गई समुचित व्यवस्था और उनके अधिकतम सन्तोष के लिए आवश्यक कार्यवाही, प्रभावशाली जन-सम्पर्क की व्यवस्था तथा सेवीवर्गीय कार्यक्रमों की प्रभावशीलता का मूल्यांकन करते हुए आवश्यक अनुसन्धान को प्रोत्साहित करना आदि।

सेवीवर्ग प्रशासन के मूल तत्त्व
(Basic Elements of Personnel Administration)

सेवीवर्ग प्रशासन के मूल तत्त्वों में उन सभी कार्यों को शामिल करते हैं जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से संगठन की कार्यकुशलता एवं सार्थकता को प्रभावित करते हैं। इनमें से उल्लेखनीय तत्त्व निम्नलिखित हैं—

1. सेवीवर्ग की भर्ती—यह सेवीवर्ग प्रशासन का प्रथम तथा मूलभूत तत्त्व है। इसके लिए आवेदन-पत्र आमन्त्रित किए जाते हैं, प्रत्याशियों की योग्यता की जाँच के लिए लिखित परीक्षा एवं डॉक्टरी जाँच की जाती है तथा साक्षात्कार लिए जाते हैं।

2. प्रशासनिक संगठन—प्रशासनिक संगठन की समुचित व्यवस्था के लिए आन्तरिक संरचना स्थापित की जाती है जिसमें प्रत्येक कर्मचारी के कार्य स्पष्ट रूप से बता दिए जाते हैं और उच्चस्तरीय नीतियाँ तथा सिफारिशें तैयार की जाती हैं। संगठन के कार्यों, कर्मचारियों तथा भौतिक साधनों के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है ताकि संगठन के सामान्य लक्ष्य प्राप्त किए जा सकें।

3. प्रशिक्षण—संगठन के पदाधिकारियों को परिवर्तित समय के नए दायित्वों का निर्वाह करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। प्रशिक्षण द्वारा कर्मचारी की कार्यकुशलता में अभिवृद्धि होती है तथा वह पदोन्नति के योग्य बन जाता है। प्रशिक्षण अप्रत्यक्ष रूप से लोक सेवाओं को आजीवन व्यवसाय बनाने में योगदान करता है।

4. पदोन्नति—सेवीवर्ग प्रशासन कर्मचारियों की पदोन्नति के लिए विभिन्न सिद्धान्त निर्धारित करता है। वरिष्ठता एवं योग्यता के आधार पर कर्मचारियों की उत्तरोत्तर उच्च पदों पर पदोन्नतियाँ की जाती हैं।

5. स्थिति वर्गीकरण एवं वेतन व्यवस्था—स्थिति वर्गीकरण द्वारा संगठन में ऊपर से लेकर नीचे तक के सभी पदों के कार्यों की स्पष्ट परिभाषा की जाती है। यह कार्य व्यापक, व्यवस्थित एवं लोचशील होता है। स्थिति वर्गीकरण के आधार पर कर्मचारियों की वेतन श्रृंखलाएँ तय की जाती हैं तथा समान कार्य के लिए समान वेतन की व्यवस्था की जाती है।

6. मूल्यांकन—सेवीवर्ग प्रशासन में ऐसी व्यवस्था की जाती है ताकि प्रत्येक कर्मचारी की योग्यता एवं प्रभावशीलता का सही-सही मूल्यांकन (Rating) किया जा सके। इस प्रकार संगठन के योग्य तथा सक्षम कर्मचारियों की पहचान करके उनकी व्यक्तिगत योग्यताओं का श्रेष्ठतम उपयोग किया जाता है।

7. सेवीवर्ग सेवाएँ—सेवीवर्ग प्रशासन कर्मचारियों के लिए स्वल्पाहार-गृह तथा अन्य मनोरंजन की सुविधाएँ उपलब्ध करता है, सभी कर्मचारियों को उनकी निजी समस्याओं में परामर्श देता है तथा उनके मनोबल को बढ़ाने वाले विभिन्न कार्यक्रमों की व्यवस्था करता है।

8. चिकित्सा सम्बन्धी कार्य—कर्मचारियों के लिए चिकित्सा सेवाओं की दृष्टि से स्वास्थ्य स्तरों का निर्धारण, सफाई प्रबन्ध, शारीरिक प्रशिक्षण एवं परीक्षण, व्यावसायिक चिकित्सा सेवा का प्रबन्ध, अस्पतालों एवं औषधालयों की व्यवस्था आदि कार्य किए जाते हैं।

9. श्रम-सम्बन्ध—सेवीवर्ग प्रशासन कर्मचारियों के साथ सहवार्ताएँ करता है, परिवेदन प्रक्रिया में भाग लेता है, परिवेदना के कारणों का पता लगाता है तथा शान्तिपूर्वक कर्मचारियों की विभिन्न समस्याओं का समाधान करता है। यह कर्मचारी संघों तथा संगठनों से वार्ता करने, नीतियों एवं योजनाओं के सम्बन्ध में सुझाव तथा सहयोग देता है।

10. शोध कार्य—यह सेवीवर्ग प्रशासन का मुख्य दायित्व है। इसके द्वारा कार्यप्रेरणा, व्यक्तित्व विकास तथा मानव-शक्ति के समुचित प्रयोगों के लिए उन्नतिशील कार्यक्रम तैयार किया जाता है। कर्मचारियों के चयन, मूल्यांकन तथा उनके कल्याण कार्यक्रमों के क्षेत्र में अनुसंधान करके नए तथा विकसित तरीकों की व्यवस्था करता है।

11. अनुशासन—सेवीवर्ग प्रशासन द्वारा कर्मचारियों के अनुशासन, निलम्बन, पद-मुक्ति, स्वामिभक्ति इत्यादि विषयों के बारे में नीतियाँ एव तकनीकें विकसित की जाती हैं।

12. अभिलेख करना—यह कर्मचारियों की सेवा के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के अभिलेख रखता है ताकि उनका कार्यकाल एवं वेतन क्रम, अवकाश, बीमारी अवकाश, सेवानिवृत्ति तथा ऐसे ही अन्य विषयों सम्बन्धी आँकड़े आवश्यकता के समय उपलब्ध कराये जा सकें।

उपरोक्त कार्य सेवीवर्ग प्रशासन के मूल तत्त्व हैं। इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए प्रत्येक देश में समुचित व्यवस्था की जाती है। प्रायः लोक सेवा आयोग तथा विभागीय अभिकरण मिलकर यह कार्य सम्पन्न करते हैं।

सेवीवर्ग प्रशासन के उद्देश्य
(Objects of Personnel Administration)

1. सरकार की नीतियों की क्रियान्विति—व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत नीतियों एवं कार्यपालिका द्वारा प्रसारित आदेशों को कार्यरूप देने का दायित्व नौकरशाही का होता है। नौकरशाही अपने इस दायित्व का सही रूप में निर्वाह कर सके, ऐसी परिस्थितियाँ सेवीवर्ग प्रशासन द्वारा उपलब्ध कराई जाती हैं। समय-समय पर भारत और राज्य सरकारों द्वारा जो भी नवीन कार्यक्रम घोषित किये जाते हैं, उनको लागू करने का दायित्व इसी सेवीवर्ग पर आता है।

2. सही स्थान पर सही व्यक्ति रखना—सेवीवर्ग प्रशासन द्वारा यह प्रयास किया जाता है कि कर्मचारी जिस कार्य को करने के लिए उपयुक्त है उसे उसी कार्य में लगाया जाए। जहाँ एक डॉक्टर की आवश्यकता हो वहाँ इन्जीनियर को नियुक्त नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार जो कर्मचारी क्षेत्रीय कार्यालयों में अच्छा कार्य करने में सक्षम हो उसे मुख्य कार्यालय में रख दिया गया तो वह घुटन का अनुभव करेगा। इसके विपरीत होने पर भी वह असुविधा अनुभव करेगा। सेवीवर्ग प्रशासन ऐसी नीतियों का अनुशीलन करता है ताकि प्रत्येक कर्मचारी अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुकूल पद प्राप्त कर सके।

3. योग्य तथा कुशल कर्मचारी—सेवीवर्ग प्रशासन द्वारा निरन्तर यह प्रयास किया जाता है कि विभिन्न प्रशासनिक पदों पर योग्य कर्मचारी कार्य करें। इस हेतु भर्ती की वैज्ञानिक विधियाँ अपनाई जाती हैं। नियुक्ति से पूर्व प्रत्याशियों की योग्यता एवं क्षमता को वस्तुगत रूप से मापने का प्रयत्न किया जाता है, उनके प्रवेश-पूर्व तथा प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया जाता है, यदि इतने पर भी कोई अयोग्य तथा अक्षम कर्मचारी भर्ती हो जाए तो उसे पदमुक्त करने की व्यवस्था की जाती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न पदाधिकारियों की अपेक्षित योग्यताओं का समय-समय पर मूल्यांकन किया जाता है।

4. सेवा की सन्तोषजनक शर्तें—सेवीवर्ग प्रशासन द्वारा सभी लोक सेवकों के लिए कार्य की उपयुक्त शर्तों की व्यवस्था की जाती है ताकि वे आत्म-सतोष का अनुभव करते हुए अपने पद के दायित्वों को पूरा कर सकें। उन्हें पर्याप्त वेतन, कार्य के उपयुक्त घण्टे, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सुविधाएँ, आकस्मिक संकट के समय सहायता, पदोन्नति की समुचित व्यवस्था तथा सेवानिवृत्ति का समुचित प्रबन्ध किया जाता है। इन प्रयासों के माध्यम से प्रत्येक कर्मचारी की योग्यता और क्षमता का संगठन के लिए पूरा लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

5. अच्छे कार्यों के लिए प्रोत्साहन—सेवीवर्ग प्रशासन का एक उद्देश्य अच्छे कार्य की प्रशंसा कर के सबधित कर्मचारी को प्रोत्साहित करना है, ताकि अन्य कर्मचारियों को अच्छे कार्यों की प्रेरणा प्राप्त हो सके। इस उद्देश्य से कर्मचारियों के कार्यों पर एक सजग दृष्टि रखी जाती है। सामयिक रूप से उनके कार्यों का मूल्यांकन

किया जाता है और विशेष योग्य तथा कार्यकुशल पाए जाने वाले कर्मचारियों को अतिरिक्त वेतन-वृद्धि, पदोन्नति, विशेष सम्मान तथा कार्यकुशलता के प्रमाण-पत्र आदि देकर पुरस्कृत किया जाता है।

6. अनुशासन की स्थापना—प्रशासनिक संगठन के कर्मचारियों में पर्याप्त अनुशासन का होना वांछनीय है। इसके बिना कोई कर्मचारी अपने अपेक्षित कार्यों को सम्पन्न नहीं करेगा तथा संगठन अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में असफल हो जाएगा। अतः सेवीवर्ग प्रशासन द्वारा यह व्यवस्था की जाती है कि प्रत्येक कर्मचारी अनुशासित रह कर अपना दायित्व पूरा करता रहे तथा दूसरों के कार्यों में अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप न करे, संगठन के लक्ष्यों के विरुद्ध कोई कार्य न करे तथा साथी कर्मचारियों के साथ वांछनीय मानव-सम्बन्ध बनाए रखे। यदि कोई कर्मचारी इन अपेक्षाओं की अवहेलना करके संगठन के अनुशासन को तोड़ता है तो सेवीवर्ग प्रशासन उसके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करेगा और उसके लिए यथोचित दण्ड की व्यवस्था करेगा। यह दण्ड व्यवस्था प्रतिशोधात्मक और सुधारात्मक दोनों प्रकार की होती है। इस अनुशासन की भावना पर ही सेवीवर्ग प्रशासन सुचारु रूप से कार्य कर सकता है।

7. जन-संतोष एवं जनहित की उपलब्धि—सेवीवर्ग प्रशासन जनहित की उपलब्धि के लिए उन साधनों तथा मार्गों का अनुगमन करता है जो उस देश की सरकार द्वारा निर्धारित किए गए हैं। यह ऐसा वातावरण प्रस्तुत करता है जिसमें सभी कर्मचारी जनहित के कार्यों में लगे रहें तथा अपने आचरण से जन-असंतोष उत्पन्न नहीं होने दें। यहाँ इन कर्मचारियों को सदैव इस बात का ध्यान रखना होगा कि जनता की सेवा ही महत्त्वपूर्ण है। प्रजातान्त्रिक शासन-प्रणाली में वांछनीय जन-सहयोग तभी प्राप्त हो सकता है जबकि जनता प्रशासनिक कार्यों के प्रति सन्तोष का अनुभव करती हो। जन-संतोष पर ही इस वर्ग की विश्वसनीयता बनी रहती है।

8. उत्तरदायित्व की भावना—जनतान्त्रिक प्रशासन 'जन-सेवक' की भूमिका का निर्वाह करता है और इसलिए वह ऐसे कार्य करता है ताकि जनता के प्रति उत्तरदायित्व की भावना स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो सके। इसके लिए सेवीवर्ग प्रशासन द्वारा समुचित व्यवस्था की जाती है। भर्ती के समय यह ध्यान रखा जाता है कि जन-सेवा की ओर उन्मुख प्रत्याशियों का चयन किया जाए। जो कर्मचारी अनुत्तरदायी रूप से अपनी शक्तियों का उपयोग करता है, उसके विरुद्ध कार्यवाही करने की व्यवस्था की जाती है। कर्मचारी की आचरण संहिता में उन बातों का उल्लेख किया जाता है जो कर्मचारी को उत्तरदायित्वपूर्ण आचरण के लिए प्रेरित कर सकें। देश की व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका द्वारा लोक सेवकों के कार्यों पर समुचित नियन्त्रण रखा जाता है।

9. गतिशील एवं परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल सामंजस्य की क्षमता—देश की बदलती हुई परिस्थितियों में सेवीवर्ग प्रशासन से यह अपेक्षा की जाती है कि वह बदली हुई परिस्थितियों का सामना करने में प्रशासनिक दक्षता और कार्यकुशलता का परिचय दे।

10. संगठन के सिद्धान्तों का अनुशीलन—सेवीवर्ग प्रशासन द्वारा संगठन के आधारभूत सिद्धान्त, जैसे—पदसोपान, आदेश की एकता, नियन्त्रण का क्षेत्र, संचार व्यवस्था, प्रत्यायोजन आदि का समुचित ध्यान रखा जाता है और इन सिद्धान्तों के समुचित निर्वाह की दृष्टि से ही विभिन्न नीतियाँ अपनाई जाती हैं।

11. कुछ अन्य उद्देश्य—सेवीवर्ग प्रशासन अपने उपरोक्त प्रमुख उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जो तौर-तरीके अपनाता है वे उसके तात्कालिक लक्ष्य बन जाते हैं। इनमें से कुछ उल्लेखनीय ये हैं— संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय साधनों का प्रभावशाली उपयोग, सन्तोषजनक संगठनात्मक संरचना की स्थापना एवं अनुरक्षक, प्रशासनिक संगठन के साथ गैर-सरकारी तथा अनौपचारिक समूहों का एकीकरण, कर्मचारियों में संगठन के मूल लक्ष्यों के प्रति रुचि, अपनत्व एवं स्वामिभक्ति जाग्रत करना, संगठन में उच्च मनोबल का अनुरक्षण तथा मानवीय साधन स्रोतों का निरन्तर मूल्यांकन आदि।

स्वस्थ सेवीवर्ग नीति के लक्षण

(Characteristics of a Helathy Personnel Policy)

नौकरशाही के आधिकारिक विद्वान मैक्स वेबर के मतानुसार एक स्वस्थ सेवीवर्ग नीति वह होती है जिसमें सभी कर्मचारियों के कर्त्तव्य निर्धारित कर दिए जाएँ, इन कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए उन्हें पर्याप्त सत्ता सौंपी जाए तथा कार्य की एक उचित पद्धति एवं व्यवस्था निर्धारित की जाए। लोक प्रशासन के विद्वानों ने स्वस्थ सेवीवर्ग नीति के आवश्यक लक्षणों के बारे में चिन्तन करने के उपरान्त निम्नांकित को महत्त्वपूर्ण माना है—

1. यह नीति संगठन के लक्ष्य तथा उद्देश्यों की पूर्ति से उपयोगी एवं सार्थक होनी चाहिए।

2. यह नीति नम्यात्मक होनी चाहिए ताकि समय की परिस्थितियों एवं नई चुनौतियों के साथ स्वयं ढल सके। इसमें सेवीवर्ग के सभी सदस्य उत्साही हों तथा वे सदाचार के लिए सदैव तत्पर रहें।

3. इसमें कर्मचारियों की भर्ती का आधार प्रत्याशियों की सापेक्षिक योग्यता होनी चाहिए तथा यह लूट प्रणाली से प्रभावित नहीं होनी चाहिए। लूट-प्रथा न केवल कर्मचारियों के स्तर को प्रभावित करती है अपितु इससे कर्मचारियों का मनोबल भी प्रभावित होता है।

4. इसमें आजीवन सेवाओं की व्यवस्था की जाती है। संगठन के सभी कर्मचारियों को भविष्य के प्रति आशाएँ रहती हैं तथा पदोन्नति के पर्याप्त अवसर प्रदान किए जाते हैं।

5. एक स्वस्थ सेवीवर्ग नीति के लिए स्पष्ट पदसोपान की व्यवस्था की जानी चाहिए। सभी कर्मचारियों को उनके कर्त्तव्य तथा दायित्व बता दिये जाने चाहिए एवं प्रत्येक का उसके उच्च अधिकारी तथा अधीनस्थ अधिकारियों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट कर देना चाहिए।

6. स्वस्थ सेवीवर्ग नीति कर्मचारियों को राजनीतिक गतिविधियों से अलग रखने का प्रयास करती है। यह राजनीतिक तटस्थता इसलिए वाछनीय है क्योंकि राजनीतिक दल सत्ता में आते और जाते रहते हैं, किन्तु लोकसेवकों को इन परिवर्तनों से अप्रभावित रह कर तटस्थ भाव से अपना कार्य करते रहना चाहिए। सेवीवर्ग की राजनीतिक तटस्थता उन्हें संविधान और लोक-कल्याण के प्रति प्रतिबद्ध रहकर कार्य करने की प्रेरणा देती है।

7. ऐसी सेवीवर्ग नीति में कर्मचारी अनाम रह कर कार्य करते हैं। उनके द्वारा सम्पन्न की जाने वाली सेवाओं में कर्त्ता का भाव नहीं रहता वरन् सेवक का भाव रहता है। कर्त्ता के रूप में नाम राजनीतिज्ञ का होता है।

8. स्वस्थ सेवीवर्ग नीति कर्मचारियों में ऐसे मूल्य स्थापित करती है ताकि सेवित व्यक्तियों के साथ एक जैसा व्यवहार कर सकें तथा किसी के भी साथ भेदपूर्ण नीति न अपनाएँ।

विकसित देशों में सेवीवर्ग प्रशासन

(Personnel Administration in Developed Countries)

सेवीवर्ग प्रशासन की प्रकृति पर सम्बन्धित देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का भारी प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि विकसित देशों के सेवीवर्ग प्रशासन की प्रकृति विकासशील देशों से पर्याप्त भिन्न होती है। विकसित देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका, पश्चिमी यूरोप के देशों तथा जापान को शामिल किया जाता है। इन देशों की नौकरशाही व्यवस्थाओं में कुछ सामान्य विशेषताएँ पाई जाती हैं साथ ही कुछ आधारभूत अन्तर भी परिलक्षित होते हैं।

सामान्य विशेषताएँ

विकसित देशों की नौकरशाही व्यवस्थाओं की सामान्य विशेषताओं को निम्नानुसार विश्लेषित किया जा सकता है—

(1) समाज में उपलब्ध वर्गों के समरूप ही लोक सेवकों को प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जाता है।

(2) समाज में प्रजातान्त्रिक परम्पराओं के प्रसार के साथ-साथ इन श्रेणियों की सीमाएँ टूटती रहती हैं।

(3) उच्च-स्तरीय लोक सेवाओं में प्रायः विशिष्ट वर्ग के लोग आते हैं जिनका समाज में भारी सम्मान होता है। उन्हें उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

(4) लोक सेवाएँ राजनीतिक जोड़-तोड़ से पृथक् रखी जाती हैं तथा उन्हें कार्यकाल की सुरक्षा दी जाती है।

(5) कर्मचारियों की पदोन्नति में वरिष्ठता को महत्त्व दिया जाता है।

(6) कर्मचारियों का वेतन निजी क्षेत्र के कर्मचारियों की तुलना में कम होता है।

(7) कर्मचारियों के प्रशिक्षण में आधुनिक तकनीक और तरीकों को अपनाया जाता है।

उक्त सभी विशेषताएँ समान रूप से नहीं वरन् किसी न किसी मात्रा में प्रायः सभी विकसित देशों में पाई जाती है। इन समानताओं के साथ-साथ इन देशों के सेवीवर्ग प्रशासन में असमानताएँ भी पाई जाती हैं। विकसित देशों के सेवीवर्ग में जो अन्तर परिलक्षित होता है, उसे निम्नानुसार रूप से रखा जा सकता है—

1. सभी विकसित देशों में कर्मचारियों की भर्ती योग्यता के आधार पर की जाती है तथा योग्यता की जाँच हेतु प्रतियोगी परीक्षाएँ आयोजित की जाती है। इन परीक्षाओं के आयोजन तथा दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में वस्तुनिष्ठ प्रकार के छोटे उत्तरों वाली परीक्षाएँ जितनी प्रचलित हैं उतनी और कहीं नहीं है।

2. योग्यता व्यवस्था के प्रभाव के पर्यवेक्षण करने के लिए प्रायः सभी विकसित देशों में एक सेवीवर्ग अभिकरण की व्यवस्था की जाती है, किन्तु कुछ देशों में इनके द्वारा सेवीवर्ग प्रशासन के समस्त कार्य का निरीक्षण नहीं किया जाता है।

3. कार्यपालिका के नेतृत्व से सेवीवर्ग प्रशासन को प्राप्त होने वाली स्वतन्त्रता का अनुपात सभी विकसित देशों में एक जैसा नहीं है।

4. कुछ विकसित देशों में मुख्य कार्यपालिका से जुड़ा हुआ एक विशेष अभिकरण रहता है। यह कुछ नीति सम्बन्धी पहल करता है तथा निर्देश सम्बन्धी सत्ता रखता है जो केन्द्रीय भर्ती अभिकरण को प्राप्त नहीं होती।

सेवीवर्ग प्रशासन सम्बन्धी नीति

(Policy Relating to Personnel Administration)

सेवीवर्ग प्रशासन से सम्बन्धित मुख्य नीति को निम्नानुसार विश्लेषित किया जा सकता है—

सेवीवर्ग के सम्बन्ध में अपनाई जाने वाली नीति ही बहुत कुछ इस बात का निर्धारण करती है कि संगठन को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में कितनी सफलता मिलेगी। स्वस्थ सेवीवर्ग सम्बन्धी नीति की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

1. यह नीति कतिपय लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए निर्धारित की जाती है। अतः इनकी सार्थकता भी इस बात पर निर्भर है कि यह लक्ष्यों के प्राप्त करने में कितनी सफल रही।

2. यह नीति पर्याप्त गत्यात्मक होती है। इसके सदस्य उत्साही एवं नए वर्ग बनाने के उत्सुक होते हैं।

3 यह नौकरशाहीपूर्ण नहीं होती है।

4. इसमें योग्यता-व्यवस्था को अपनाया जाता है। लूट-प्रणाली (Spoils System) को इसमें स्थान नहीं दिया जाता।

5. ये सेवाएँ आजीवन होती हैं और सेवाकाल में आशाओं तथा पदोन्नति के अवसरों की पर्याप्त मात्रा रहती है।

6. एक अच्छी सेवीवर्ग नीति पदसोपान की उपयुक्त व्यवस्था करती है।

7. यह तटस्थ होती है, अर्थात् यह राजनीतिक गतिविधियों से अप्रभावित रहकर कार्य करती है। राजनीतिक दल आते और जाते हैं, सरकारें बदलती रहती हैं, किन्तु सेवीवर्ग तटस्थ (Neutral) भाव से अपना कार्य सम्पादित करता रहता है। उसकी यह तटस्थता न केवल प्रशासन को ही अपितु सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था को शक्ति प्रदान करती है।

8 इसके कार्यों में अनामता (Anonymity) होती है। जो भी कार्य सम्पन्न किए जाते हैं वे स्वयं के नाम से नहीं, बल्कि किसी और के नाम से किए जाते हैं।

9. यह नीति सेवीवर्ग के कार्यों में निष्पक्षता को प्रोत्साहन देती है। स्वस्थ लोक प्रशासन वही है जिसमें सभी के साथ एक जैसा व्यवहार किया जाए, किसी के साथ पक्षपात न हो।

मैक्स वेबर (Max Weber) ने लिखा है, "एक स्वस्थ सेवीवर्ग सम्बन्धी नीति वह है जिसमें सभी कर्मचारियों के कर्तव्य निर्धारित कर दिए जाएँ, उन्हें पूरा करने के लिए कर्मचारियों को पर्याप्त सत्ता दी जाए तथा कार्य-सम्पन्नता व्यवस्थित और प्रणालीबद्ध हो।" वास्तव में सेवीवर्ग अथवा कार्मिक प्रशासन के लिए स्वस्थ नीति की दिशा में किसी भी प्रकार की निम्नलिखित चार सरकारी एजेंसियों का विशेष उत्तरदायित्व होता है—(1) विधान-मण्डल, (2) प्रमुख कार्यपालक, (3) सेवीवर्ग अथवा कार्मिक विभाग एवं (4) सरकारी विभाग जहाँ कर्मचारी काम करता है। विधान-मण्डल का दायित्व सेवीवर्ग प्रशासन सम्बन्धी आधारभूत नीतियाँ निर्धारित करना है। इस प्रकार सरकारी एजेंसियों के कुशल उत्तरदायित्व पर ही स्वस्थ कार्मिक या सेवीवर्ग प्रशासन की नींव निर्भर करती है। विशेषतः किसी भी कार्य को सम्पन्न करने के लिए मशीन, धन, जन और प्रणाली की आवश्यकता होती है, और इसमें मशीन, जन-शक्ति का धन तथा प्रणाली से अधिक महत्त्व है। लोक प्रशासन के व्यवहारवादी सम्प्रदाय के संगठन ने व्यक्ति के महत्त्व को विशेष रूप से प्रकट किया है।

यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि सेवीवर्ग का व्यवहार अनेक तत्त्वों से प्रभावित होता है, अतः वांछनीय तत्त्वों को प्रोत्साहन देना तथा अवांछनीय तत्त्वों को हतोत्साहित करना लोक प्रशासन के व्यवहार का बड़ा महत्वपूर्ण अंग है। सामाजिक व्यवस्था, राजनीतिक ढाँचे, रोजगार की आवश्यकताएँ, शैक्षणिक व्यवस्था, ऐतिहासिक परम्पराएँ आदि का सेवीवर्ग की स्थिति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

सेवीवर्ग प्रशासन : कुछ समस्याएँ

(Personnel Administration : Some Problems)

1. सरकार की निष्पक्षता में विश्वास की समस्या—वर्तमान में सेवीवर्ग को सरकार की निष्पक्षता में विश्वास नहीं रहा है। न्यायालयों में कर्मचारियों द्वारा दायर किये जाने वाले मुकदमे इस बात की पुष्टि करते हैं कि कर्मचारियों में सरकार की निष्पक्षता में विश्वास नहीं रहा है। यह स्थिति ठीक नहीं मानी जा सकती है।

2. आन्दोलन की राजनीति—सेवीवर्ग प्रशासन द्वारा अपने हितों की रक्षा करने तथा अपनी उचित और अनुचित माँगों की पूर्ति के लिए आन्दोलनात्मक राजनीति का सहारा लेते हैं। इसमें नियमानुसार काम करने का आन्दोलन, धीरे काम करने का आन्दोलन, घेराव, हड़ताल, उग्र प्रदर्शन तथा धरना देने जैसे साधनों का अपनाया जाना सम्मिलित है।

3. सेवीवर्ग का सरकारी नीतियों और कार्यक्रमों को लागू करने में पूर्ण मनोयोग से कार्य नहीं करना—इस सम्बन्ध में एक समस्या यह है कि कर्मचारी वर्ग सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए पूरे मनोयोग से कार्य नहीं करते हैं। इसका उपाय यह सुझाया जाता है कि यदि वर्तमान कर्मचारियों के स्थान पर सरकारी नीतियों और कार्यक्रमों से प्रतिबद्ध (Commited) कर्मचारी हों तो सरकारी कार्यक्रम अधिक सफल न हो सकेंगे पर इस सुझाव पर विचार करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत में कर्मचारी वर्ग पर राजनीतिक तटस्थता (Political Neutrality) का सिद्धान्त लागू होता है। अतः नागरिक सेवा के प्रत्येक कर्मचारी का यह कर्तव्य है कि वह सरकारी सेवाकाल में सरकार के सभी कानूनों, आदेशों और निर्देशों का पालन करे चाहे उसके राजनीतिक विश्वास और विचार कुछ भी हों। वास्तव में भारत की राजनीतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में प्रतिबद्ध कर्मचारी वर्ग या प्रतिबद्ध नौकरशाही (Commited Bureaucracy) का मॉडल फिट नहीं बैठता। यह मॉडल तो अधिकांशतः उन्हीं देशों में उपयोगी सिद्ध हो सकता है जहाँ राजनीतिक सत्ता स्थायी रूप से एक दल के हाथ में हो। बहुदलीय व्यवस्था में प्रतिबद्ध कर्मचारी वर्ग से तो नई समस्याएँ खड़ी हो जाएँगी।

4. प्रशासन पर सामान्यज्ञों का वर्चस्व—इस सम्बन्ध में एक समस्या नीति निर्धारित करने वाले पदों पर सामान्य प्रशासकों के एकछत्र अधिकार की है। इस प्रवृत्ति के विरोध में अनेक देशों में कटु प्रतिक्रियाएँ हुई हैं। यह आलोचना की गई है कि सरकार की आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में असफलता के मूल में एक मुख्य कारण यही रहता है कि सामान्य प्रशासक ही सरकारी नीति-निर्माण के लिए उत्तरदायी होता है। फुल्टन समिति (1968) के प्रतिवेदन के अनुसार, "वैज्ञानिकों, इन्जीनियरों और अन्य विशेषज्ञ वर्ग के सदस्यों को न तो पूर्ण उत्तरदायित्व और अवसर दिया जाता है और न ही उन्हें अपने उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए अधिकार ही दिया जाता है।" भारत में प्रशासकीय सुधार समिति का यह भी सुझाव है कि भारतीय सेवा के अधिकारियों द्वारा उच्च नीति-निर्माण के एकछत्राधिकार पर रोक लगाई जाए।

5. राजनेताओं और लोक सेवकों में अच्छे सम्बन्धों की समस्या—इस सम्बन्ध में एक समस्या लोक सेवा कर्मचारियों और राजनीतिज्ञों में अच्छे सम्बन्धों के विकास की है। विगत कुछ वर्षों में भारत में लोक सेवकों और राजनीतिज्ञों में कुछ अधिक खींचातानी होने लगी है। राजनीतिज्ञों में लोक सेवा के सदस्यों को बदनाम करने की प्रवृत्ति विकसित हुई है और राजनीतिक हस्तक्षेप तथा अखाड़ेबाजी के फलस्वरूप लोक सेवकों की प्रेरणा अथवा पहल करने की शक्ति को आघात पहुँचा है। वास्तव में ऐसा वातावरण विकसित किया जाना चाहिए जिसमें दोनों पक्षों में सहयोग और सद्भावना का विकास हो। संसदात्मक शासन वाले देशों में राजनीतिज्ञ और लोक सेवक गाड़ी के दो पहियों के समान हैं जिनके बिना प्रशासन रूपी गाड़ी आगे नहीं बढ़ सकती।

6. लोक सेवकों का भय—आज कर्मचारी वर्ग को यह भय बना रहता है कि यदि कानून और विभागीय आदेशों के अनुसार काम करते हुए भी अनजाने में उनसे कोई भूल-चूक हो जाएगी तो विभाग के पदाधिकारी दण्डात्मक कदम उठाएँगे और उनके कार्यों का समर्थन नहीं करेंगे। दूसरी ओर ब्रिटिश शासनकाल में प्रत्येक छोटे-बड़े पदाधिकारी को यह आश्वासन था कि यदि जान-बूझकर कोई गड़बड़ी नहीं की गई है तो विभाग कर्मचारी को अपना समर्थन देगा। कर्मचारियों के बीच व्याप्त इस भय तथा असुरक्षा की भावना को समाप्त किया जाना आवश्यक है।

7. प्रशासन में अनामता और तटस्थता की समस्या—लोकतान्त्रिक राष्ट्रों में सेवीवर्ग प्रशासन की मुख्य विशेषताओं में इसकी अनामता और तटस्थता होती है। प्रशासन अनाम इसलिए माना जाता है कि प्रशासकों का कहीं भी नामोल्लेख नहीं होता। सफलता और असफलता के लिए राजनेताओं को ही उत्तरदायी ठहराया जाता है, लेकिन वर्तमान में प्रशासकों में भी प्रसिद्धि पाने की होड़-सी लगी हुई है और वे अपने प्रचार में लगे रहते हैं, जिससे प्रशासन में अनामता का गुण समाप्त होता जा रहा है। इसे अच्छी स्थिति नहीं माना जा सकता है। सभी लोकतान्त्रिक राष्ट्रों में प्रशासन को तटस्थ माना जाता है। प्रशासक संविधान के प्रति प्रतिबद्ध रहकर कार्य करते हैं। सरकारों के बनने और बिगड़ने तथा उनमें परिवर्तन का उन पर कोई असर नहीं पड़ता है। जो भी सरकार सत्ता में होती है, उसके साथ वे पूर्ण सहयोग के साथ कार्य करते हैं, लेकिन अनेक बार लोक सेवक राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ नहीं रह पाते हैं। वे दलगत राजनीति में उलझ कर अपने को विवादास्पद बना लेते हैं। इससे उनकी राजनीतिक तटस्थता समाप्त हो जाती है। इससे प्रशासन की सक्षमता तथा प्रभाव पर ही प्रश्नवाचक चिह्न लग जाता है।

8. लोकनीति का प्रश्न—लोक प्रशासन में जनता की सहभागिता और प्रतिनिधित्व से ही न केवल जन-कल्याण के लक्ष्य को अपितु लोकनीति की सर्वोच्चता को भी स्थापित किया जा सकता है। लोकनीति को साकार करने के लिए प्रशासन में सभी स्तरों पर जन-सहभागिता आवश्यक है। इस जन-सहभागिता से न केवल प्रशासन का क्षेत्राधिकार विस्तृत होगा अपितु निर्णय-प्रक्रिया में भी जनता की इच्छाओं, अपेक्षाओं और भावनाओं को स्थान दिया जावेगा। यह प्रशासन के लिए सुखद बात होगी। आज प्रशासन को जिन चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है, उनके मूल में लोकनीति की उपेक्षा करना है।

9. प्रशासन में सत्यनिष्ठा की समस्या—वर्तमान में प्रशासन में भ्रष्टाचार, अनैतिकता और आदर्शहीन स्थिति ने समस्या को बहुत विकट बना दिया है। प्रशासकों और कर्मचारियों में व्याप्त भ्रष्टाचार की समस्या ने 'सत्य निष्ठा' का प्रश्न उपस्थित किया है। यह सत्य है कि जब तक सेवीवर्ग प्रशासन अपने आचरण में सत्य-निष्ठा का सहारा नहीं लेगा तब तक वह जन-विश्वसनीयता अर्जित नहीं कर सकेगा। यह स्थिति जनता में प्रशासन की 'छवि' को खराब कर देगी। अतः प्रशासन में सत्य-निष्ठा की भावना का सूत्रपात करना आवश्यक है।

भारतीय लोक सेवाओं की विशेषताएँ

(Characteristics of Indian Public Services)

स्वतन्त्रता के पश्चात् की भारतीय लोक सेवाओं की प्रकृति अथवा विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट कर सकते हैं—

1. अतीत की विरासत (The Legacy of Past)—वर्तमान भारत की लोक सेवाएँ स्वतन्त्रता-पूर्व के ब्रिटिश-भारतीय प्रशासन का प्रतिरूप है। ब्रिटिश भारतीय लोक सेवा केवल अंग्रेजों के लिए खुली थी। इसमें भारतीयों का प्रवेश केवल प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुआ।[1] अंग्रेज अधिकारी शासक होने के अहं तथा श्रेष्ठ गोरी नस्ल की उच्चता की भावना से पीड़ित थे। जनता अंग्रेज अधिकारियों को माई-बाप कहने तथा समझने के लिए बाध्य थी। ऐसी नौकरशाही पूर्णतः सत्तावादी, एकीकृत, असंगठित, अनुत्तरदायी, स्वेच्छाचारी तथा अप्रजातान्त्रिक थी तथा इसका लक्ष्य देश का आर्थिक विकास, सामाजिक प्रगति, जनहित की उपलब्धि तथा जन-सुविधाएँ जुटाना नहीं था। यह अपनी कार्य-प्रक्रिया में सैनिक तौर-तरीके अपनाती थी। लोक सेवक अपने अधिकांश कार्यों के लिए किसी अन्य के प्रति नहीं वरन् स्वयं के प्रति उत्तरदायी रहता था।[2] नौकरशाही स्वतन्त्र भारत के योजनाबद्ध विकास तथा प्रजातान्त्रिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में अपर्याप्त, असामयिक तथा असंतोषजनक थी। इतने पर भी स्वतन्त्रता के बाद अतीत की इस सामन्तवादी विरासत को बहुत कुछ अंगीकार कर लिया गया।[3] आज भारत के प्रशासनिक व्यवहार में अनेक बातें ऐसी हैं जो एक सम्प्रभु राज्य की नौकरशाही के साथ कोई संगति नहीं रखतीं, किन्तु अतीत को जिन्दा रखने मात्र के लिए इनको अपनाया गया है। ये अतीत के पराधीन उपनिवेशी व्यक्तित्व की याद दिलाती हैं।[4] स्वतंत्र भारत की नवीन आवश्यकताओं के सन्दर्भ में प्रशासन की नई दिशाओं में नई परम्पराओं का विकास करना चाहिए था, किन्तु यह नहीं हुआ तथा भारतीय लोक सेवा (I.C.S.) की परम्पराएँ कायम रहीं।[5]

स्वतंत्र भारत में आर्थिक विकास, जनतांत्रिक परम्परा, जन-सहयोग की अनिवार्यता, सामुदायिक विकास कार्यक्रम, पंचवर्षीय योजनाओं की कार्यान्विति आदि की पृष्ठभूमि में ब्रिटिश राज की सेवीवर्गीय परम्पराएँ असामयिक बन गई हैं। एकीकृत, पदसोपनीय, औपचारिक, सत्तावादी, अनुत्तरदायी तथा स्वेच्छाचारी सेवीवर्ग व्यवस्था की विरासत स्वतन्त्र भारत के दायित्वों के निर्वाह में केवल प्रभावहीन ही नहीं है वरन् हानिप्रद और अवरोधक भी है। स्वतंत्रता के बाद देश के सामाजिक वातावरण में अनेक गुणात्मक परिवर्तन आए। राजनीतिक रंगमंच पर निर्वाचन, राजनीतिक दल, प्रतिनिधि संस्थाएँ, उत्तरदायी सरकार, प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण, जनमत की प्रभुता आदि उभर कर आए, किन्तु नौकरशाही अभी भी पीछे की ओर देख रही थी।[6] पं. जवाहरलाल नेहरू ने सन् 1953 में ही

1 *N C Ray*: Civil Service in India, 1969
2 *David Potter*: Bureaucratic Change in India, p 143
3 *Paul H Appleby*. Public Administration in India, pp 8 14
4 *Bert F Hoselitz* "Tradition and Economic Growth"
5 *Leo M Snowiss*: The Education & Role of Superior Civil Service in India, p 24
6 A R. C. Report on Personnel Administration, April, 1969, p. 56.

स्वीकार कर लिया था कि "आई. सी. एस. की भावना का प्रभाव रहते हुए हमारा प्रशासन एवं लोक सेवाएँ नई व्यवस्था का निर्माण नहीं कर सकतीं। नई व्यवस्था का शुभारम्भ होने से पूर्व आई. सी. एस. तथा ऐसी ही अन्य सेवाओं को पूर्णतः समाप्त कर देना चाहिए।"[1] स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय नौकरशाही को परिवर्तित परिवेश में नया दृष्टिकोण अपना कर अपनी कार्यशैली का निर्धारण करना चाहिए था, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। वह आज भी अतीत की विरासतें से ग्रस्त है।

2. नई चुनौतियाँ और दायित्व (New Challenges and Responsibilities)—15 अगस्त, 1947 को भारत में शक्ति का हस्तान्तरण होते ही सरकारी यन्त्र पूर्णतः बदल गया। अनुत्तरदायी गवर्नर-जनरल की अनुत्तरदायित्वहीन कार्यकारिणी के स्थान पर उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल की स्थापना हुई। 26, जनवरी 1950 को नया संविधान लागू होने पर प्रशासन को एक नया दर्शन तथा अपूर्व विषय-वस्तु प्राप्त हुई। नए वातावरण में भारतीय लोक सेवाओं के सामने अनेक नई चुनौतियाँ पैदा हुई। इनमें कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(i) स्वतन्त्रता के बाद अनेक देशी रियासतें भारत संघ में शामिल हुई। इन सभी रियासतों की विशेष समस्याओं को ध्यान में रखते हुए प्रशासन को ऐसी व्यवस्था करनी थी ताकि शीघ्र ही ये अपनी अलगाववूर्ण तथा पृथक् स्थिति को छोड़कर देश की सामान्य धारा में एकाकार हो जाएँ।

(ii) संसदीय प्रजातंत्र की स्थापना से प्रशासनिक संरचना का कार्यभार बढ़ गया। नए सरकारी संस्थान स्थापित हुए, जिससे लोक सेवाओं के दायित्वों का क्षेत्र व्यापक हो गया।

(iii) द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आर्थिक अव्यवस्था, मुद्रास्फीति, खाद्यान्न का अभाव, आवश्यक वस्तुओं की महँगाई आदि की जो समस्याएँ पैदा हुई उनकी काली छाया देश को घेरे हुए थी। लोक सेवाओं को इनसे लोहा लेना था।

(iv) स्वतन्त्रता के बाद सरकारी कार्यों की प्रकृति बदल गई। देश में सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन के लिए नियोजन की पद्धति स्वीकार की गई। प्रशासनिक अधिकारियों का अधिकाधिक विशेषज्ञ, वैज्ञानिक एवं तकनीकी जानकार होना आवश्यक बन गया। इस परिवर्तित वातावरण में सामान्यज्ञ प्रशासक की भूमिका को असामयिक तथा दोषपूर्ण माना जाने लगा।[2]

(v) सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) के प्रसार के साथ ही प्रशासनिक अधिकारियों से यह आशा की जाने लगी है कि वे विभिन्न विभागों एवं मन्त्रालयों में तकनीकी प्रकृति की नीति-रचना में सहयोगी बनें।

(vi) प्रशासनिक अधिकारियों के सामने एक चुनौती जन-सहयोग प्राप्त करने की है। प्रशासनिक कार्यकुशलता एवं उपयोगिता इस बात पर अवलम्बित है कि प्रशासनिक अधिकारी अपने कार्यों के प्रति समर्पित हों तथा उनमें जनता का सहयोग प्राप्त करने की क्षमता हो। इन चुनौतियों और दायित्वों ने नौकरशाही की प्रकृति में परिवर्तन करके उसे जन-कल्याण के प्रति संवेदनशील बना दिया है।

उक्त परिवर्तनों, चुनौतियों तथा समस्याओं के सन्दर्भ में लोक सेवाओं का अध्ययन तथा विवेचन किया गया। इसके लिए एपलबी तथा गोरवाला जैसे विशेषज्ञों के विचार आमन्त्रित किए गए। भारत सरकार द्वारा मार्च, 1954 में संगठन तथा विधि (O. & M.) सम्भाग की स्थापना की गई। 25 मार्च, 1964 को गृह मन्त्रालय में प्रशासनिक सुधार विभाग स्थापित किया गया तथा संगठन और विधि सम्भाग को इसी के साथ जोड़ दिया गया। 1966 में प्रशासनिक सुधार आयोग की स्थापना हुई जिससे प्रशासन के अन्य पहलुओं पर विचार करने के साथ-साथ सेवीवर्ग प्रशासन के अध्ययन तथा उसमें सुधार के लिए सुझाव देने का कार्य सौंपा गया। 18 अप्रैल, 1969 को आयोग ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इसमें 67 सिफारिशें थीं, जिनमें से अधिकांश सरकार द्वारा कार्यरूप में परिणित हो चुकी हैं। इस प्रकार भारत सरकार की ओर से ऐसे अनेक प्रयास किए गए हैं ताकि विरासत में प्राप्त सेवीवर्ग प्रशासन को नियोजित विकास एवं जनतान्त्रिक राजनीति की आवश्यकताओं तथा चुनौतियों के अनुसार रूपान्तरित किया जा सके। लोक सेवाओं में ईमानदारी और सक्षमता की स्थापना तथा मंत्री और लोक सेवक के बीच उचित सम्बन्धों की स्थापना के लिए कई प्रयोग किए गए हैं। प्रशासनिक कार्य में सुधार हेतु

1. *Jawahar Lal Nehru* : Autobiography, p. 282.
2. *C. P. Bhambhari* : Public Administration in India, 1973, p. 250.

सरकार ने विभिन्न संस्थागत एवं संरचनात्मक परिवर्तन किए हैं। भारत जैसे विकासशील समाज और अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में लोक सेवकों को नई-नई चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है।

3. लोक सेवाओं का बढ़ता आकार (Increasing Shape of Public Services)—भारत में जनसंख्या वृद्धि एवं राज्य के दायित्वों में वृद्धि के बाद लोक सेवाओं की संख्या काफी बढ़ी है। केन्द्रीय और राज्य स्तर पर लोक सेवकों की संख्या में भारी बढ़ोतरी हो गई है जिसे निम्नांकित तालिका द्वारा हम भली प्रकार जान सकते हैं—

1951 से 1999 तक भारतीय प्रशासनिक सेवा संवर्ग अखिल भारतीय सेवाएँ की प्राधिकृत पद संख्या एवं कार्यरत अधिकारियों की संख्या का विवरण

क्र. सं	वर्ष	प्राधिकृत पद संख्या	कार्यरत अधिकारियों की संख्या
1	1951	1232	957
2	1961	1862	1722
3.	1971	3203	2754
4.	1981	4599	3883
5.	1991	5334	4881
6.	1999	5073	5012

स्रोत: भारत सरकार, कार्मिक लोक शिकायत एवं पेंशन मंत्रालय वार्षिक रिपोर्ट 1998 99-

भारत में लोक सेवाओं का बड़ा आकार मुख्य रूप से निम्नलिखित कारणों का परिणाम है—(i) स्वतंत्रता के बाद देश में अनेक नए मन्त्रालयों की स्थापना हुई तथा प्राय सभी मन्त्रालयों ने अपने व्यापक कार्यों एवं दायित्वों के निर्वाह के लिए अधिक लोक सेवकों की नियुक्ति की है, (ii) पं. जवाहरलाल नेहरू ने लोक सेवाओं के वातावरण में होने वाले परिवर्तनों को इसके लिए उत्तरदायी माना है,[1] (iii) लोक सेवकों के कार्यों का समुचित मूल्यांकन नहीं हुआ है तथा कार्य के न्यूनतम मापदण्ड तय नहीं किए जा सके हैं, अत लोक सेवकों की संख्या अनियन्त्रित एवं असंगठित रूप से बढ़ती रही है, (iv) लोक सेवकों की ओर जनता का विशेष आकर्षण है क्योंकि भारत एक पिछड़ा हुआ तथा विकासशील देश है। यहाँ बेरोजगारी और अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या काफी गम्भीर है, (v) राष्ट्रीय आवश्यकताओं को देखते हुए निजी औद्योगिक क्षेत्रों का समुचित विकास नहीं हो सका है (vi) सरकारी नौकरी में सेवा की सुरक्षा और निश्चितता रहती है, अत जीविका के साधन के रूप में इसे अधिक पसन्द किया जाता है, (vii) समाज में सरकारी नौकरी का बड़ा सम्मान है। लोक सेवाओं का उच्च शैक्षणिक स्तर एवं उनके व्यावसायिक संगठन उन्हें सर्वश्रेष्ठ व्यावसायिक समूह के रूप में उभार देते हैं। लोक सेवक भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली अभिजन-वर्ग है। नौकरशाही की ये शक्तियाँ प्रतिभाशाली युवकों को लोक सेवा में भर्ती होने के लिए प्रेरित करती हैं।

4. लोक सेवाओं का स्तर (The Status of Public Services)—भारत में लोक सेवाओं की शक्ति, प्रभाव एवं नियंत्रण के कारण उनका पर्याप्त सम्मान है। आज भी प्रशासनिक अधिकारी के पास जनता को दण्डित एवं पुरस्कृत करने की पर्याप्त शक्तियाँ हैं। समाज में लोक सेवाओं का उच्च-स्तर आर्थिक सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक आदि अनेक कारणों का परिणाम है। आर्थिक कारण यह है कि देश में रोजगार के अवसर अति अल्प हैं, जबकि लोक सेवकों को विशेष शक्तियों के साथ-साथ अच्छे वेतन-भत्ते भी प्राप्त होते हैं। निर्धन या मध्यम श्रेणी के परिवार में जन्म लेने वाले महत्त्वाकांक्षी युवकों को सम्पन्नता की उच्च श्रेणी तक पहुँचाने वाला सुगम मार्ग यही है। साधनहीन होने के कारण ये लोग व्यापारी नहीं बन पाते, किन्तु अल्प परिश्रम करके सरकारी अधिकारी अवश्य बन जाते हैं। भारतीय जनमानस अधिक जोखिम उठाने में रुचि नहीं लेता। "कैरियर की सुरक्षा" उसे लोक सेवा में प्रवेश लेने के लिए प्रेरित करती है।

लोक सेवाओं में प्रवेशार्थ खुली प्रतियोगिताएँ आयोजित की जाती हैं, अत प्राय. योग्य और प्रतिभाशाली लोग इन पदों पर प्रतिष्ठित होते हैं। उनकी विद्वता अपना प्रभाव छोड़कर पद को सम्मानजनक बना देती है।

1 *Jawahar Lal Nehru* : A Work of Service, p. 301

यह सम्मान पुनः देश के योग्य तथा प्रतिभाशाली युवकों को लोक सेवा की ओर आकर्षित करता है। पनान्डिकर का विचार है कि "ऐतिहासिक दृष्टि से शक्ति की मात्रा, आर्थिक पुरस्कार, बौद्धिक परम्पराएँ तथा वैकल्पिक आकर्षक व्यवसाय का अभाव सरकारी रोजगार के सम्मान की निरन्तर वृद्धि के अनुरक्षक तथा समर्थक बने हैं।"[1]

कुछ समाजशास्त्रीय कारणों ने भी लोक सेवाओं को सम्माननीय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इन पदों की ओर पिछड़ी जाति के वे प्रभावशाली लोग अधिक आकर्षित हुए जो जन्म के कारण उपयुक्त सम्मान नहीं पा रहे थे। भारतीय संविधान द्वारा अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को विशेष सुविधाएँ दिये जाने के कारण इन वर्गों के सामारण प्रतिभा के लोग भी इन सेवाओं में प्रवेश पा लेते हैं। जब उच्च पदों पर प्रतिष्ठित होकर ये ऊँची जाति वालों पर शासन करते हैं, तो सदियों से कुचला हुआ उनका अहंभाव फड़क उठता है। उनकी हीनता की भावना मिट जाती है, वे समाज में अपने उपयुक्त स्थान बना लेते हैं। इस व्यवस्था ने परम्परागत जाति व्यवस्था की कड़ी को उखाड़ फेंका है तथा सामाजिक रूपरचना में एक गम्भीर परिवर्तन आ गया है।

यह तस्वीर का एक पक्ष है, जो लोक सेवकों के स्तर को ऊँचा उठा देता है। तस्वीर का दूसरा पक्ष यह है, जिसमें लोक सेवकों की प्रतिष्ठा पतनोन्मुख दिखाई देती है। आज सत्ता का मापदण्ड जन-प्रतिनिधियों के हाथ में है। प्रशासन के जनतन्त्रीकरण के साथ-साथ प्रशासनिक अधिकारियों की शक्तियाँ क्रमशः घटी हैं तथा उनका वेतन अब ज्यादा आकर्षक नहीं रहा है। निजी उद्यमों के आकर्षक वेतन और सेवाओं की शर्तों ने सरकारी पदों के आकर्षण को घटा दिया है। आज सरकारी पदों पर प्रायः मध्यम प्रतिभा के लोग आते हैं। इन कारणों से लोक सेवाओं का सम्मान थोड़ा घटा है, किन्तु जनमानस अभी तक उनके गौरवपूर्ण अतीत को भुला नहीं सका है। सरकारी नियमन, आर्थिक नियन्त्रण और सरकारी उद्यमों के प्रसार के कारण अभी भी उनका महत्त्व है। राजनीतिक नेताओं के अधीन रहते हुए भी वास्तविक व्यवहार में वे निर्णायक भूमिका निभाते हैं।

5. संवैधानिक संरक्षण (Constitutional Protection)—भारतीय संविधान के दसवें भाग के प्रथम अध्याय में लोक सेवाओं का वर्णन है। जिसमें उनकी भर्ती, सेवा की दशाएँ, कार्यकाल, पृथक्करण, अनुशासनात्मक कार्यवाही तथा अन्य सम्बन्धित विषयों के सिद्धान्त निर्धारित किए गए हैं। संविधान ने लोक सेवाओं की भर्ती तथा सेवा शर्तें नियमित करने की शक्तियाँ व्यवस्थापिका को सौंपी हैं। जब तक वह ऐसा न करे तब तक संघ का राष्ट्रपति इस कार्य को सम्पन्न करेगा। संविधान में अखिल भारतीय सेवाओं के लिए विशेष प्रावधान है। संविधान ने भारतीय प्रशासनिक सेवा (I.A.S.) भारतीय पुलिस सेवा (I.P.S.) तथा भारतीय वन सेवा (I.F.S.) को अखिल भारतीय सेवा स्वीकार किया है[2] तथा राज्य सभा को यह अधिकार दिया कि वह उपस्थिति और मतदान करने वाले कम से कम दो-तिहाई सदस्यों की सहमति से नई अखिल भारतीय सेवा की स्थापना के लिए संसद से कानून पारित करने का आग्रह करे, तब ही संसदीय कानून द्वारा ऐसी नई सेवा की स्थापना की जा सकेगी।[3]

संविधान के दसवें भाग के दूसरे अध्याय में संघीय लोक सेवा आयोग का उल्लेख है जो इन सेवाओं की भर्ती करे तथा भारत सरकार को सेवा सम्बन्धी विषयों में परामर्श दे। ये संवैधानिक प्रावधान लोक सेवाओं को संवैधानिक संरक्षण प्रदान करते हैं।

6. सेवाकाल की सुरक्षा (Security of Service Tenure)—भारतीय संविधान की धारा 309 केन्द्रीय संसद् तथा राज्यों की व्यवस्थापिकाओं को उनके क्षेत्र में लोक सेवाओं की नियुक्ति तथा सेवा शर्तों के नियमन का अधिकार देती है। धारा 310 में उल्लेख है कि लोक सेवा के कर्मचारी केन्द्र में राष्ट्रपति और राज्यों में राज्यपालों के प्रसाद-पर्यन्त ही अपने पद पर कार्य करेंगे। इस प्रावधान का यह अर्थ नहीं है कि राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल स्वेच्छापूर्वक कभी भी किसी अधिकारी को उसके पद से हटा देंगे। संविधान में लोक सेवकों की सेवा-सुरक्षा के लिए उपयुक्त व्यवस्था की गयी है। धारा 311 के अनुसार लोक सेवा के

1. *V.A. Pai Panandikar* : Personnel System for Development Administration, p. 50.
2. The Indian Constitution, Article-312 (i)
3. The Indian Constitution, Article-312 (ii)

किसी भी सदस्य को उसे नियुक्त करने वाले अधिकारी द्वारा नही हटाया जा सकता। किसी कर्मचारी को हटाने अथवा पदावनत करने से पूर्व अपने पक्ष में सफाई देने का पूरा अवसर दिया जाएगा।[1]

7. रोजगार के समान अवसर (Equal Opportunities of Employment)—भारतीय सविधान की धारा 15(i) के अनुसार राज्य किसी नागरिक के साथ धर्म, जाति, लिंग, नस्ल, जन्म-स्थान या इनमें से किसी एक के आधार पर भेदभाव नही करेगा। सरकार द्वारा प्रस्तुत रोजगार के अवसरों के सम्बन्ध में भी यह बात लागू होती है, किन्तु सविधान इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होता। इसकी धारा 16(i) में उल्लेख है कि राज्य के अधीन नौकरी और पदों के बारे में सभी नागरिकों को समान अवसर प्राप्त होंगे। व्यवहार में यह व्यवस्था काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि जब से सरकार ने सामाजिक और आर्थिक विकास के कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना प्रारम्भ किया है, तब से सरकार में रोजगार के अवसर बढ़ गए हैं। शिक्षित वर्ग को रोजगार देने वालों में सरकार सबसे आगे है। रोजगार की समानता के साथ-साथ सविधान ने शोषित समुदायों की सुरक्षा के लिए विशेष प्रावधान रखे हैं। 15% तथा 75% सरकारी पद अनुसूचित-जाति और जनजाति के सदस्यों के लिए सुरक्षित रख लिए जाते हैं। अब पिछड़ी जातियों के आरक्षण की भी व्यवस्था की गई है। सन् 1990 में तत्कालीन प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रतापसिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार ने 'मडल आयोग' की सिफारिशों को लागू करने की घोषणा की। इस पर देश-व्यापी प्रतिक्रिया हुई। 'अगड़े और पिछड़े' का विवाद उभर कर सामने आया। उत्तरी भारत में सरकार के निर्णय के विरुद्ध आन्दोलनात्मक राजनीति का सहारा लिया गया। छात्रों ने हिंसक प्रदर्शन किये। पी. वी नरसिम्हाराव के नेतृत्व में कांग्रेस (इ) की सरकार द्वारा मडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने की घोषणा की गई और सन् 1993 में सरकारी सेवाओं में मडल आयोग की सिफारिशों के अनुरूप पदों के आरक्षण की व्यवस्था प्रारम्भ हो गई। भूतपूर्व सैनिकों और विकलांगों के लिए भी सरकारी सेवाओं में आरक्षण की व्यवस्था की गई है।

भारतीय लोक सेवाओं में प्रवेश अवसर की समानता हेतु सावैधानिक, सस्थागत, व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक सभी दृष्टियों से विभिन्न उपाय किए गए हैं। अवसर की समानता के बावजूद भारतीय लोक सेवाओं में लोक सेवकों की भर्ती के समय भाई-भतीजावाद, रिश्वत के रूप में चाँदी का जूता, राजनीतिक पदाधिकारियों का पक्षपातपूर्ण दबाव, जातिवाद, धर्मवाद, सम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद पर आधारित सकीर्ण मनोवृत्तियाँ, दादागिरी और गुण्डागर्दी, खुशामद और चमचागिरी आदि बुराइयों का सामना करना पड़ रहा है। इससे अवसर की समानता के सिद्धान्त की उपेक्षा होती है।

8. दोषपूर्ण सेवीवर्ग व्यवस्था (A Defective Personnel System)—विदेशी चिन्तन, साहित्य और विशेषज्ञों की राय से प्रभावित स्वतंत्रता के बाद की भारतीय सेवीवर्ग व्यवस्था अनेक दृष्टियों से दोषपूर्ण है। अनेक अनुभवात्मक (Empiricial) अध्ययनों से ज्ञात होता है कि प्रशासन और जनता के बीच का सम्बन्ध अविश्वास, विरोध, पृथकता, सघर्ष और अवहेलना पर आधारित है। जनता सोचती है कि प्रशासन उनकी सहायता करने की अपेक्षा त्रुटियाँ तलाश करने में अधिक रुचि लेता है और प्रशासक बिना रिश्वत लिए कोई काम नही करते। प्रशासन में देरी, भ्रष्टाचार, उचित सचार का अभाव तथा उत्तरदायित्व की अवहेलना जैसे दोष भरे पड़े है। दूसरी ओर प्रशासक सोचते हैं कि जनता जानबूझ कर सरकारी योजनाओं में अपनी टाँग अड़ाती है।

भारतीय नौकरशाही के विरुद्ध की गई सारी बुराइयों की वास्तविक जड़ें सेवीवर्ग प्रशासन की दोषपूर्ण तकनीकें हैं। अधिकारियों का असहायतापूर्ण दृष्टिकोण, कार्यसम्पन्नता में अनावश्यक देरी, भ्रष्टाचार, आवश्यक वस्तुओं की अनुपलब्धि, जन-साधारण को सेवाएँ प्रदान करने वाले अभिकरणों द्वारा अवहेलना, भाई-भतीजावाद और पक्षपात का प्रभाव, जनता की शिकायतें सुनने और उनका निवारण करने की अपर्याप्त व्यवस्था आदि का दोष किसी न किसी रूप में सेवीवर्ग प्रबन्ध की दोषपूर्ण व्यवस्था के परिचायक हैं। शहरों से निकले शिक्षित-वर्ग के प्रशासनिक अधिकारी अपने व्यावसायिक हितों में अधिक रुचि लेते हैं। जनता की सेवा उनके आदर्शों की कार्यसूची में कोई स्थान नही रखती।

1 आपातकाल के समय सविधान का यह प्रावधान निलम्बित था।

9. राजनीतिक हस्तक्षेप (Political Interference)—भारत में सेवीवर्ग प्रशासन राजनीति के शिकंजे में ग्रस्त है। मन्त्रियों और सांसदों तथा विधायकों के टेलीफोन तथा निजी पत्र सेवीवर्ग की भर्ती, पदोन्नति, वेतन, अनुशासन आदि पर अनुचित दबाव डालते हैं। योग्य और प्रतिभाशाली प्रत्याशी ताकते रह जाते हैं तथा मध्यस्तरीय अथवा साधारण योग्यता वाले लोग सरकारी पदों को हड़प लेते हैं। अयोग्य अथवा कम योग्य कार्यकर्ताओं के कारण प्रशासनिक कार्यकुशलता घट जाती है। पदोन्नति के मामलों में राजनीतिक हस्तक्षेप लोक सेवकों के मनोबल को गिरा देता है। वे अपने कार्य की ओर विशेष ध्यान देने की अपेक्षा राजनीतिक जोड़-तोड़ में लग जाते हैं क्योंकि उन्हें उन्नति का यही सरल और सफल मार्ग दिखाई देता है। प्रशासनिक अधिकारियों के दिन-प्रतिदिन के कार्यों में राजनेताओं द्वारा हस्तक्षेप किया जाता है। अवांछनीय राजनीतिक नियन्त्रण द्वारा प्रशासकों को नियम विरोधी, अनियमित, अवांछनीय, पक्षपातपूर्ण, जनहित विरोधी और अनुत्तरदायी कार्य करने के लिए मजबूर किया जाता है जिससे नौकरशाही प्रजातान्त्रिक आदर्शों और विकासवादी लक्ष्यों को पूरा नहीं कर पाती। सरकारी अधिकारियों की नियुक्ति, पदोन्नति, स्थानान्तरण, अनुशासनात्मक कार्यवाही आदि के रूप में जो कुछ भी कहा या किया जाता है उसका प्रशासनिक कार्यकुशलता पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक स्वार्थ प्रशासनिक नियमों को बदल देते हैं। वे ऐसे अनेक पदों का आविष्कार करते हैं, जिनकी आवश्यकता एवं उपयोगिता नगण्य है, किन्तु केवल अपने समर्थकों एवं स्वजनों के भरण-पोषण की व्यवस्था के लिए करदाताओं पर यह अनावश्यक भार डाला जाता है। इसी प्रकार नए विभाग खोले जाते हैं तथा पुराने विभागों का विस्तार किया जाता है।

राजनीतिक हस्तक्षेप और पक्षपात संगठन के कुछ सदस्यों को लापरवाह बना देता है और अन्य को असन्तुष्ट तथा विद्रोही बना देता है जिससे संगठन में अनुशासन की गम्भीर समस्या उठ खड़ी होती है। ऐसे वातावरण में लोक सेवकों को दिया गया प्रशिक्षण औपचारिक और कागजी बनकर रह जाता है। लोक सेवक यह जानता है कि राजनीतिक पृष्ठपोषण के होने पर प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं रहती है और न होने पर प्रशिक्षण अनुपयोगी है। राजनीतिक हस्तक्षेप के कारण पदोन्नति में काफी अनियमितताएँ होती हैं। वरिष्ठ तथा योग्य कर्मचारी देखते रह जाते हैं और अक्षम तथा अयोग्य लोगों को पदोन्नतियाँ दे दी जाती हैं। एन. बी. बनर्जी ने लिखा है कि "प्रशासन का राजनीतिक दलों के क्रीड़ा-स्थल के रूप में प्रत्यावर्तन तथा निजी स्वार्थों की ओर झुकाव, चाहे वह समाजवाद या सामाजिक प्रजातन्त्र के आवरण में ही क्यों न हो, देश के सच्चे हित में नहीं है। इससे केवल भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, अकार्यकुशलता एवं क्षेत्रवाद को ही बढ़ावा मिलता है जो स्वतन्त्रता के बाद सभी दलों द्वारा खुलकर प्रोत्साहित किए जा रहे हैं।"[1]

10. सेवीवर्ग की प्रकृति एवं चरित्र (The Nature and Character of Personnel)—भारतीय सेवीवर्ग प्रशासन के दोषों का गम्भीर तथा तात्कालिक परिणाम प्रशासनिक पदों पर अयोग्य, भ्रष्ट, अकार्यकुशल तथा बेईमान पदाधिकारियों की नियुक्ति है। यहाँ प्रतिभाशाली प्रत्याशी भी पूरे विश्वास के साथ यह नहीं कह सकता कि उसका चयन हो जाएगा क्योंकि चयन के समय सिफारिश, रिश्वत, भाई-भतीजावाद और क्षेत्रवाद जैसे अवांछनीय तत्त्वों का बोलबाला रहता है। इस दौड़ में अधिकांश योग्य प्रत्याशी पिछड़ जाते हैं तथा साधारण बुद्धि के लोग पदों पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। सामाजिक संरचना में निम्न अथवा मध्यम वर्ग के होने के कारण ये अधिकतर महत्त्वाकांक्षी होते हैं। इनकी महत्त्वाकांक्षाएँ इन्हें कार्यकुशलता की ओर प्रेरित करने की अपेक्षा उन्नति के भ्रष्ट तरीके अपनाने को प्रेरित करती हैं। ये धन-दौलत, प्रतिष्ठा और शक्ति की दौड़ में शामिल हो जाते हैं। उनका पूरा दृष्टिकोण बदल जाता है। वे स्वयं को जनसेवक मानने की अपेक्षा जनता को अपना सेवक मानने लगते हैं।

भारतीय लोक सेवा के अधिकांश सदस्य धनिक वर्ग के होने के कारण अथवा धनी बनने की अभिलाषा से प्रायः धनवानों के एजेन्ट के रूप में कार्य करते हैं। इनकी सारी नीतियाँ और रीतियाँ सम्पन्न वर्ग के हितों की रक्षा का कार्य करती हैं। जन-साधारण तथा निर्धन-वर्ग के लिए इनका व्यवहार अहंकार और मद से पूर्ण होता है। वे उपयुक्त मानव सम्बन्धों की स्थापना में अरुचिकर, अकड़ और सदैव कुर्सी की प्राप्ति एवं अनुरक्षण में प्रयत्नशील रहते हैं। वे किसी भी प्रशासनिक समस्या पर मानवता के आधार पर नहीं वरन् बौद्धिक या तार्किक रूप में सोचते

1. *N.B Banerjee* : Under Two Masters, 1970, p. 234.

हैं क्योंकि उनका चयन जिन प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा किया जाता है उनमें आत्मिक गुणों का कोई महत्त्व नहीं होता वरन् बौद्धिक उपलब्धियों की स्पर्द्धा रहती है। अतः लोक सेवाओं में कार्य का वातावरण इस प्रकार का बन जाता है कि लोक सेवक बिना कष्ट उठाए अधिक फल की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

11. नकारात्मक प्रवृत्ति (Negative Attitude)—भारतीय लोक सेवाओं की नकारात्मक प्रवृत्ति के बारे में मुख्यतः अहंकार, अलगाववाद, विलासिता, जनसाधारण के प्रति तिरस्कार तथा उसकी उपेक्षा, भ्रष्टाचार तथा लालफीताशाही, असमता और अयोग्यता, निर्णयों को टालने की प्रवृत्ति, राजनीतिक नेतृत्व की खुशामद करने की अवांछनीय प्रवृत्ति, सरकारी कोष के दुरुपयोग करने की मानसिकता, सामान्यज्ञ प्रशासकों का वर्चस्व, अभिजात्यवादी मनोवृत्ति, विधि के शासन के स्थान पर निरंकुशता को अपनाने की प्रवृत्ति तथा विकासमान दृष्टिकोण का अभाव आदि हैं। इनकी उपयोगिता और सार्थकता पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं।

12. सकारात्मक प्रवृत्ति (Positive Attitude)—भारतीय लोक सेवाओं की नकारात्मक प्रवृत्ति पर बहुत कुछ कहा जाता है, लेकिन इसका आशय यह नहीं कि भारतीय लोक सेवाओं की कोई सकारात्मक प्रवृत्ति नहीं है। भारतीय लोक सेवाओं में योग्यता, कुशलता, संविधान के प्रति प्रतिबद्धता, राजनीतिक नेतृत्व द्वारा लिये गये निर्णयों को क्रियान्वित करने की क्षमता, विधि के शासन का अनुशीलन, अनुशासन तथा परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालने की क्षमता जैसे गुण विद्यमान हैं। ये गुण ही इन लोक सेवाओं की क्षमता है।

13. विधि के शासन पर आधारित (Based on Rule of Law)—भारतीय लोक सेवाएँ विधि के शासन पर आधारित हैं। इसके द्वारा सारे कार्य विधि या कानून के अनुरूप सम्पादित किये जाते हैं। कोई भी अधिकारी या कर्मचारी न तो विधि के शासन से ऊपर है और न ही अपनी कार्यपद्धति में विधि के शासन की अवहेलना कर सकता है।

14. नियन्त्रित (Controled)—भारतीय लोक सेवाओं को नियंत्रित रखने के लिए उस पर तीन तरह से नियंत्रण स्थापित किया गया है। प्रथम, लोक सेवाएँ जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के नियन्त्रण में रहकर कार्य करती हैं। द्वितीय, लोक सेवाओं पर भारतीय संसद और राज्यों की विधानसभाओं का भी नियन्त्रण रहता है। लोक सेवकों के आचरण के बारे में संसद और राज्य विधानसभाओं में चर्चा की जा सकती है तथा उनके प्रतिकूल आचरण पर उन्हें प्रताड़ना भी दी जा सकती है। लोक सेवक व्यवस्थापिका के प्रति सतर्क और सजग रहकर अपने दायित्व का निर्वाह करते हैं। तृतीय, भारतीय न्यायपालिका भी लोक सेवाओं पर नियन्त्रण रखती है। लोक सेवकों को संविधान की सीमाओं और व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानूनों के अनुरूप ही कार्य करना पड़ता है। यदि लोक सेवक इनका उल्लंघन करें तो उनके निर्णयों को न्यायपालिका में चुनौती दी जा सकती है। लोक सेवाओं को न्यायपालिका के निर्णयों का सम्मान करना पड़ता है। ऐसा न करने पर उन्हें न्यायपालिका की अवज्ञा की अवमानना में प्रताड़ित किया जा सकता है। लोक सेवाओं की स्वेच्छाचारिता तथा निरंकुशता को रोकने तथा उसे मर्यादित ढंग से आचरण करने के लिए बाध्य करने की दृष्टि से ही 'नियंत्रण' की यह व्यवस्था की गई है।

15. सामान्यज्ञों का वर्चस्व (Dominance of Generalists)—भारतीय लोक सेवाओं में सामान्यज्ञ प्रशासकों का वर्चस्व है। अखिल भारतीय तथा राज्यों की लोक सेवाओं, दोनों पर ही यह बात समान रूप से लागू होती है। विशेषज्ञों को सामान्यज्ञों के नेतृत्व और नियन्त्रण में रहकर कार्य करना होता है। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों से विशेषज्ञ प्रशासकों का भी महत्त्व बढ़ता जा रहा है फिर भी भारतीय लोक सेवाओं से सामान्यज्ञ प्रशासकों के वर्चस्व को तोड़ने में काफी समय लगेगा।

16. विशिष्ट उपलब्धियाँ (Specific Achievements)—स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में लोक सेवाओं की विशिष्ट उपलब्धियाँ रही हैं। भारत विभाजन के बाद आए लाखों शरणार्थियों के पुनर्वास, देशी रियासतों के एकीकरण, देश के आर्थिक विकास की संरचना करने तथा विकास-प्रशासन के लक्ष्यों को साकार करने, सामाजिक न्याय की भावना को साकार करने, समाज के कमजोर और पद-दलित वर्गों को संरक्षण प्रदान करने, देश की एकता और अखण्डता को सुरक्षित रखने, विविध सामाजिक बुराइयों का निवारण करने, प्रजातंत्रीय आदर्शों के अनुरूप अपने को ढालने तथा प्रजातंत्र को सुरक्षित रखने, साम्प्रदायिक, प्रादेशिक, भाषाई, अलगाववादी और आतंकवादी तत्त्वों का सामना करने में भारतीय लोक सेवाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के अनेक देशों में प्रशासन-तंत्र जनता को राजनीतिक अस्थिरता और उथा-पटक के कुप्रभावों से

नहीं बचा सका। भारत में सन् 1977, 1980, 1989, 1991, 1996, 1998 एवं 1999 में हुए सत्ता-परिवर्तनों को लोक सेवाओं द्वारा सहजता से लेकर उनके अनुरूप अपनी कार्य-शैली तथा दिशा निर्धारित कर दी। इन सत्ता परिवर्तनों के बाद भी भारत के प्रचलित लोक सेवाओं ने अपने नये 'राजनीतिक स्वामियों' के प्रति अपनी तरह से देश की शासन-व्यवस्था को स्थायित्व देने में लोक सेवाओं की अहम् भूमिका रही है।

17. परिवर्तन की गुंजायश (Scope for the Change)—भारतीय लोक सेवाओं को आने वाले समय में 21वीं शताब्दी में प्रवेश करना है। 21वीं शताब्दी में राष्ट्र को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक सभी क्षेत्रों में उठने वाली चुनौतियों का सामना करना होगा। देश में जनसंख्या वृद्धि की बढ़ती समस्या एक भयावह चुनौती बनकर सामने आ रही है। विज्ञान और तकनीकी के विकास ने भी अनेक चुनौतियाँ उपस्थित की हैं, इन चुनौतियों का सामना करने का मुख्य दायित्व भारतीय लोक सेवाओं पर आयेगा। अतः उसकी संरचना, कार्य-पद्धति, भर्ती, प्रशिक्षण के तरीकों में आधारभूत परिवर्तन करने होंगे। अगर भारतीय लोक सेवकों को इन चुनौतियों के परिप्रेक्ष्य के अनुरूप अपने को ढालने तथा उनका सामना करने की क्षमता विकसित करने का सघन प्रशिक्षण नहीं दिया गया तो यह अप्रासंगिक हो जायेगी।

भारत में अभिजन-वर्ग (नौकरशाही)

(Elite Group (Bureaucracy) in India)

प्रत्येक समाज में शक्ति, प्रभाव, सत्ता, प्रतिनिधित्व के गुण, स्वतन्त्र, समता, व्यवहार-कौशल आदि अनेकानेक दृष्टिकोण से लोगों में अन्तरों का रहना स्वाभाविक है और ये अन्तर ही समाज में विशिष्ट अथवा अभिजन-वर्ग, साधारण-वर्ग आदि की रचना करते हैं। विशिष्ट-वर्ग या अभिजन-वर्ग सिद्धान्त के अनुसार जन-साधारण के बीच कुछ लोग निश्चय ही अन्य की अपेक्षा श्रेष्ठ होते हैं और उनके विचारों तथा दृष्टिकोणों का सर्वत्र आदर किया जाता है। ये श्रेष्ठतर व्यक्ति ही अभिजन-वर्ग अथवा विशिष्ट-वर्ग का निर्माण करते हैं। राजनीतिक और प्रशासनिक कार्य-क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ राजनीतिक एवं प्रशासनिक अभिजन-वर्ग या विशिष्ट-वर्ग का महत्व बढ़ता जा रहा है।

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में जो लोग अपनी विशिष्ट योग्यताओं, कार्य-क्षमता, नेतृत्व आदि गुणों के कारण देश की राजनीति और समाज में प्रभाव जमा लेते हैं, उन्हें राजनीति-विज्ञान की भाषा में राजनीतिक अभिजन-वर्ग (Political Elite) कहा जाता है। राज्य-संस्था के उदय से ही प्रशासनिक, राजनीतिक कार्यों के लिए ऐसे विशेषज्ञ लोगों की आवश्यकता रही है जिनमें विशेष क्षमताएँ, विवेक आदि गुण हों। राजनीतिक अभिजन-वर्ग की व्याख्या करते हुए कार्ल जे फ्रेडरिक ने लिखा है कि यह उन लोगों का एक ऐसा समूह होता है, जो राजनीति में अद्वितीय कार्य-सम्पन्नता के द्वारा विशिष्ट होते हैं एवं एक विशेष समाज के शासन को अपने हाथों प्रभावशाली रूप में एकाधिकृत कर लेते हैं। प्रायः इनमें समूह की एकता की भावना होती है जो समय-समय पर सहयोग के रूप में अभिव्यक्त होती रहती है। एक राजनीतिक विशिष्ट-वर्ग शक्ति और शासन प्राप्त करने की योग्यता में काफी आगे बढ़ जाता है।

राजनीतिक अभिजन-वर्ग और प्रशासकीय अभिजन-वर्ग में भिन्नता है, लेकिन यह भिन्नता ऐसी नहीं है कि राजनीतिक अभिजन-वर्ग, प्रशासकीय अभिजन-वर्ग से सम्बन्धित न हो या उस श्रेणी में न आ सके। अनेक विचारकों का मत है कि दोनों को परस्पर भिन्न किया जाना चाहिए, लेकिन फ्रेडरिक का मत है कि ऐसा करना भ्रमोत्पादक होगा। जो व्यक्ति राज्य में विशेषज्ञ है वह प्रशासन से सम्बन्ध नहीं रखेगा, यह सन्देह की बात है। निस्संदेह राजनीतिक तथा प्रशासनिक अभिजन-वर्ग में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। दोनों को एक-दूसरे से अलग करना अत्यन्त कठिन नहीं तो सरल भी नहीं होता है।

लोक सेवाएँ : पद-वर्गीकरण

(Public Services : Position Classification)

संगठन में कार्य को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने के लिए पदीय वर्गीकरण किया जाता है। इस पदीय वर्गीकरण के आधार पर ही लोक सेवकों का स्तर, वेतन तथा उत्तरदायित्व का निर्धारण किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में 'पोजीशन' शब्द का प्रयोग 'पोस्ट' (Post) शब्द के पर्यायवाची के रूप में किया जाता है। किसी भी सरकारी संगठन में विभिन्न कार्यों एवं उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करने के लिए जिन पदाधिकारियों की भर्ती की जाती है वे वेतन, स्तर, उत्तरदायित्व, कार्यभार एवं ऐसी ही कई बातों के आधार पर असमान होते हैं। उनकी समानता केवल कुछ अधिकारियों तक ही सीमित रहती है। पदों के वर्गीकरण के माध्यम से संगठन के उन अधिकारियों को एक वर्ग में रखने का प्रयास किया जाता है जो वेतन, कार्य या उत्तरदायित्व के आधार पर कुछ समानता रखते हैं। पद-वर्गीकरण में पदाधिकारियों को अनुशासन की दृष्टि से पदसोपान में स्थिर किया जाता है। कार्य की दृष्टि से उनको उच्च, निम्न तथा समान भागों में विभाजित किया जाता है।

सेवीवर्ग-प्रबन्ध के प्रारम्भिक काल में एक कर्मचारी द्वारा किए जाने वाले कार्यों, उसके पद की स्थिति, पद का नाम, उसका वेतन आदि बातों के बीच परस्पर बहुत कम सम्बन्ध रहता था, किन्तु बाद में एक विशेष पद के उत्तरदायित्वों एवं वास्तविक कार्यों को तथा पदों के बीच की समानता एवं असमानता को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। इन सबके परिणामस्वरूप एक विशेष पद-वर्गीकरण के सिद्धान्त का विकास हुआ। आजकल उपयुक्तता की जाँच एवं पद-वर्गीकरण सेवीवर्ग-प्रबन्ध के दो प्रमुख आधारभूत सिद्धान्त बन गए हैं। इनके अभाव का सेवीवर्ग-प्रबन्ध के अन्य तत्त्वों पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है। आज लोक प्रशासन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो चुका है। इसमें अनेक प्रकार के व्यवसाय, कुशलता एवं हजारों अधिकारियों और कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। इन सभी कर्मचारियों के पदों के बीच पूर्ण समानता नहीं रहती। उनके प्रशासनिक प्रबन्ध के सम्बन्ध में भी आवश्यक भिन्नता बरतनी होती है। यदि उन सभी पदों पर व्यक्तिगत रूप से विचार किया जाए तो पर्याप्त अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। प्रशासनिक संगठनों के वास्तविक व्यवहार का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जब विभिन्न पदों को उनके कार्यों एवं उत्तरदायित्वों के आधार पर एक समूह में रख दिया जाता है तो उनकी कार्यकुशलता बढ़ जाती है।

पद-वर्गीकरण : अर्थ एवं परिभाषा

(Position Classification : Its Meaning and Definition)

पद-वर्गीकरण की विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं। विलियम जी. टोरपे के अनुसार, "पद-वर्गीकरण पदों को प्रशासकीय कार्य के आधार के रूप में समूहों में प्रबन्धित करने की प्रक्रिया है।"[1] इस परिभाषा द्वारा पद-वर्गीकरण की क्रिया के स्वरूप एवं लक्ष्य कुछ-कुछ स्पष्ट हो जाते हैं। इसके अनुसार पदों को समूहों में इसलिए रखा जाता है ताकि प्रशासकीय कार्य को सुगम बनाया जा सके। यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि पद (Position) का क्या अर्थ है और उसे समूहीकृत किस प्रकार किया जाता है। यही प्रश्न डॉ. ह्वाइट द्वारा प्रस्तुत परिभाषा में उठता है। उन्होंने लिखा है, "वर्गीकरण की योजना किए जाने वाले कार्य के प्रकार और कार्य की कठिनाई या उत्तरदायित्व के आधार पर पदों का व्यवस्थित विश्लेषण एवं प्रबन्ध है।"[2] किसी भी प्रशासकीय संगठन में 'पद' उन कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को मिलाकर बनता है जो किसी उच्च सत्ता द्वारा सौंपे अथवा निर्धारित किए गए हैं।[3]

1. *William G Torpey* Op cit., p 40
2. *L D White* Op cit., p 355
3. *Torpey* Op cit., p 40

पद (Position)—प्रत्येक पद कर्मचारी की सेवाएँ चाहता है। पद भरा हुआ भी रह सकता है और रिक्त भी। पद पर कार्य करने वाले कर्मचारी पद के अस्तित्व के लिए अनिवार्य नहीं हैं। 'पद' स्थाई भी हो सकता है और अस्थाई भी। कर्मचारी (Employee) 'पद' के उत्तरदायित्वों एवं कार्यों को सम्पन्न करता है।

वर्गीकरण (Classification)—सरकारी संगठनों के विभिन्न पदों की विशेषताओं का अध्ययन करने के बाद जब विभिन्न पदों को एक वर्ग में समूहीकृत कर दिया जाता है तो यह पदीय वर्गीकरण कहा जाता है। एम. एम. मैंडल (M. M. Mandell) के अनुसार वर्गीकरण का अर्थ है पदों का कर्तव्यों एवं आवश्यक योग्यताओं के आधार पर समूहीकरण।[1] इन्हीं विचारों को कुछ अन्य रूप में प्रकट करते हुए मार्शल ई. डिमॉक (Marshal E. Dimock) का कथन है, "यह पदों को तुलनात्मक कठिनाई एवं उत्तरदायित्वों के अनुसार व्यवस्थित रूप से पदसोपान में रखता है।"[2] पदों का वर्गीकरण करते समय ध्यान में रखने योग्य मुख्य बात यह है कि सर्वप्रथम उनके कार्यों, उत्तरदायित्वों तथा कठिनाइयों का अध्ययन किया जाता है और उस अध्ययन के आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि कौन-कौन से पद परस्पर समान हैं। समानता रखने वाले सभी पदों को एक वर्ग में स्थान दे देते हैं ताकि उनके साथ एक-सा व्यवहार किया जा सके, उनकी समस्याओं को एक जैसा समझा जा सके तथा उनमें भर्ती, पदोन्नति, प्रशिक्षण, क्षतिपूर्ति, अनुशासन, सेवानिवृत्ति, वेतन एवं अन्य विषयों की दृष्टि से समानता स्थापित की जा सके।

वर्ग (Class)—'वर्ग' पदों के उस समूह को कहते हैं जिसमें अनेक समानताएँ पाई जाती हैं। उनके कार्यों एवं उत्तरदायित्वों की कठिनाइयाँ समान होती हैं। उनमें शिक्षा, अनुभव, ज्ञान, योग्यता आदि के समान गुणों की आवश्यकता होती है। वे वेतन, चुनाव, स्थानान्तरण और पदोन्नति आदि विषयों में भी एक जैसे व्यवहार की माँग करते हैं। एक वर्ग के पदों की संख्या एक से लेकर हजार तक हो सकती है। इन सभी पदों में भर्ती करते समय एक जैसी योग्यताओं की माँग की जाएगी, योग्यता को मापने के एक जैसे साधनों का प्रयोग किया जाएगा, प्रशिक्षण, पदोन्नति, क्षतिपूर्ति, छुट्टी, वेतन आदि बातों में भी बहुत कुछ एक जैसे नियमों को ही क्रियान्वित किया जाएगा। प्रत्येक वर्ग को कोई न कोई नाम दे दिया जाता है ताकि उसमें समाविष्ट सभी पदों को उस एक नाम से ही सम्बोधित किया जा सके। उदाहरण के लिए, टंकणकर्ता वर्ग (Typist Class) में हम उन सभी कार्यकर्ताओं को सम्मिलित कर लेते हैं जिनका मुख्य कार्य टंकण है तथा जिनका उत्तरदायित्व एवं कार्य सम्बन्धी कठिनाइयाँ कुछ-कुछ एक जैसी ही हैं। एक वर्ग के सभी पदों के व्यवहारों एवं विशेषताओं को देखने के बाद कुछ मूल बातों को छाँट लिया जाता है तथा उनके आधार पर उस वर्ग को प्रमापीकृत (Standardise) कर देते हैं। ऐसा हो जाने पर इस सम्बन्ध में भ्रम की सम्भावना कम हो जाती है कि किस पद को किस वर्ग में रखा जाए। वर्ग का विशेषीकरण (Specification) करते समय उसके कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को औपचारिक रूप से निर्धारित कर दिया जाता है। प्राय: यह भी उल्लेख कर दिया जाता है कि इस वर्ग के पदों पर किन योग्यताओं की आवश्यकता रहेगी। वर्ग को प्रमापीकृत करते समय उसको नाम दिया जाता है, उसके कर्तव्य व उत्तरदायित्व स्पष्ट किए जाते हैं, उसके द्वारा सम्पन्न कार्यों के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं, उसके लिए कम से कम वांछित योग्यताओं का उल्लेख कर दिया जाता है, पदोन्नति की पंक्ति तथा वेतन-श्रृंखला निश्चित कर दी जाती है। प्रशासनिक संगठन के वर्गों की श्रृंखला में प्रारम्भिक वर्ग के कार्य एवं उत्तरदायित्व प्राय: ऐसे होते हैं जिनको सभी नए व्यक्ति सम्पन्न कर सकते हैं, किन्तु उच्च वर्ग लगातार ऐसे बनते चले जाते हैं जिनको केवल कुछ योग्य एवं अनुभवी कर्मचारियों द्वारा ही सम्भाला जा सकता है।

पद-वर्गीकरण से सम्बन्धित उक्त शब्दावली (Terms) के अतिरिक्त कुछ अन्य शब्दावलियाँ भी विकसित होती हैं जिनके आधार पर उसके अर्थ को सही रूप में समझा जा सकता है। प्रथम शब्द है सेवा (Service)। इसका प्रयोग वर्गों में समूहीकृत पदों के लिए किया जाता है जो वर्गीकरण की प्रक्रिया और मुआवजों को निश्चित करने के लिए चुने जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में पाँच प्रकार की सेवाएँ हैं—व्यावसायिक और वैज्ञानिक, उपव्यावसायिक, लिपिक वर्गीय और प्रशासकीय, सुरक्षात्मक और लिपिक वर्गीय यान्त्रिक सेवाएँ। ऐसी ही एक अन्य और श्रेणी (Series) है। टोरपे (Torpey) के कथनानुसार इस एक श्रेणी में एक व्यावसायिक समूह से सम्बन्धित सभी पद समाहित होते हैं, किन्तु कार्य की कठिनाई और उत्तरदायित्व की मात्रा में अन्तर रहता है।[3] एक अन्य पारिभाषिक शब्द पदवी (Grade) है जिसका अभिप्राय सेवा के पदसोपान से है। उसमें पदों के एक से अधिक वर्ग सम्मिलित रहते हैं और जिनके लिए कुछ समान योग्यताएँ एवं मुआवजे सम्बन्धी उपबन्ध रखे जाते हैं। इन पदवियों को एक पदसोपान में निश्चित किया जाता है और इस आधार पर इनके बीच उच्च पदवी का भेद किया जाता है।

1. *Milton M. Mandell*: Elements of Public Administration, p. 533.
2. *Marshal E. Dimock*: Public Administration, p. 46.
3. *W. G. Torpey*: Op. cit., p. 41.

पद-वर्गीकरण के कारण
(The Reasons of Position Classification)

लोक प्रशासन में पद-वर्गीकरण का लक्ष्य सरकारी कर्मचारियों के लिए समान व्यवहार का आधार तैयार करता है और इसके लिए उनकी निश्चित परिभाषा, व्यवस्थित प्रबन्ध तथा न्यायपूर्ण मूल्यांकन किया जाता है। लोक प्रशासन में पद-वर्गीकरण का आन्दोलन मुख्य रूप से इसलिए प्रारम्भ हुआ था कि सरकारी कर्मचारियों को समान वेतन दिया जा सके। इसके अतिरिक्त कार्यों का वर्गीकरण करने की योजना के कुछ अन्य कारण भी थे। इसका सर्वप्रमुख कारण योग्यता-व्यवस्था (Merit System) है। यह कहा जाता है कि यदि रिक्त स्थानों की पूर्ति योग्यता के आधार पर की जाती है तो यह जानना जरूरी है कि विभिन्न समूहों और पदों के क्या कर्तव्य हैं और उनके लिए किन योग्यताओं की आवश्यकता होती है। योग्यता व्यवस्था आवश्यक रूप से किसी प्रकार के व्यावसायिक वर्गीकरण का एक कारण सुधार कार्यक्रम माना जाता है। प्रशासनिक सेवाओं में सुधार के लिए यह सुझाव प्रस्तुत किया गया था कि विशेषज्ञों का चुनाव किया जाना चाहिए। साथ ही प्रशासन में कार्यकुशलता एवं मितव्ययिता आदि का ध्यान रखना चाहिए। जब लोकसेवाओं को केन्द्रीयकृत वित्तीय नियन्त्रण में रखा गया तो सेवाओं का वर्गीकरण आवश्यकता बन गया। संगठनात्मक ढाँचे को विवेकपूर्ण बनाने के लिए, प्रशासकीय पदसोपान में सत्ता-श्रृंखला को स्पष्ट करने के लिए तथा कार्य पर सीधा नियन्त्रण रखने के लिए यह आवश्यक माना गया कि विभिन्न पदों के कर्त्तव्यों का अध्ययन किया जाए तथा उनके परस्पर सम्बन्धों की खोज की जाए। अस्तु पद-वर्गीकरण को संगठन और उसकी प्रक्रियाओं में सहायता देने का एक प्रधान साधन समझा गया।

पद-वर्गीकरण के लक्ष्य और उपयोग
(The Objects and Uses of Position Classification)

सरकारी संगठनों में व्यवस्था एवं कार्यकुशलता रखने के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि उसमें पदों का वर्गीकरण किया जाए। वर्तमान समय में सामान्य रूप से यह समझा जाता है कि स्वस्थ सेवी वर्ग कार्यक्रम की स्थापना के लिए पदों का वर्गीकरण करना आवश्यक माना जाता है। कार्यों एवं उत्तरदायित्वों के आधार पर जब पदों को वर्गीकृत कर दिया जाता है तो इससे कार्यों की दशाओं में सुधार होता है तथा सरकारी सेवाओं का नैतिक चरित्र भी उच्च किया जा सकता है। सरकारी सेवाएँ पद-वर्गीकरण का समर्थन इसलिए करती हैं कि इसके द्वारा पक्षपातपूर्ण व्यवहार करने की सम्भावना समाप्त हो जाती है तथा न्यायपूर्ण एवं समानतापूर्ण व्यवहार के लिए आवश्यक आधार तैयार होता है। पद-वर्गीकरण की प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें कर्मचारियों, प्रबन्धक, व्यवस्थापिका सभा एवं करदाता आदि सभी का हित निहित रहता है। पद-वर्गीकरण के आधार पर यह सम्भव होता है कि समान कार्य के लिए समान वेतन दिया जा सके। सेवीवर्ग कार्य के अन्य पहलुओं को भी अच्छे वर्गीकरण की योजना से पर्याप्त सहयोग प्राप्त होता है। इसके द्वारा सेवीवर्ग के लिए बजट सम्बन्धी अनुमान लगाना विवेकपूर्ण बन जाता है क्योंकि उसमें पदों के निश्चित नाम और प्रतीक निर्धारित कर दिए जाते हैं।

जब कर्मचारियों का कार्य एवं उत्तरदायित्व उनके नाम से सम्बन्धित नहीं होता तो किसी पद-विशेष की सभी आवश्यकताओं का अनुमान लगाना कठिन हो जाता है। पद-वर्गीकरण की व्यवस्था द्वारा जो वेतन श्रृंखला निर्धारित की जाती है वह व्यक्तिगत कर्मचारियों अथवा अल्पसंख्यक समूह के लिए पक्षपातपूर्ण नहीं होती है। पद-वर्गीकरण केवल वेतन की समस्या को ही नहीं सुलझाता वरन् भर्ती, स्थायित्व, पदोन्नति, स्थानान्तरण एवं प्रशिक्षण जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर भी उपयोगी प्रभाव डालता है। सरकार एवं कर्मचारी दोनों ही यह चाहते हैं कि कार्यों और उत्तरदायित्वों को पदों के आधार पर समूहीकृत कर दिया जाए। स्टाल (Stahl) का कहना है, "जब कर्त्तव्यों का वर्गीकरण नहीं किया जाता तो वेतन निर्धारित करने की दृष्टि से सेवाओं को मनमाने नाम दे दिए जाते हैं और इसके परिणामस्वरूप भ्रम पैदा होते हैं तथा आर्थिक नियन्त्रण असम्भव बन जाता है।"[1]

पद-वर्गीकरण के गुण
(Merits of Position Classification)

लोक प्रशासन में पद-वर्गीकरण एक नाभिक है जिसके चारों ओर सेवीवर्ग-प्रबन्ध के अन्य सभी पहलू चक्कर लगाते हैं। इससे संगठन का कार्य सरल हो जाता है, अनुशासन की समस्या का कुछ हद तक समाधान हो जाता है, कार्यों में विशेषीकरण सुविधाजनक बन जाता है और पदोन्नति तथा स्थानान्तरण के लिए पृष्ठभूमि तैयार

1. O G. Stahl : Op cit., p. 47.

होती है। पद-वर्गीकरण से जो विभिन्न लाभ प्राप्त होते हैं उनको स्टाल (Stahl) ने मुख्यतः तीन श्रेणियों में विभाजित किया है।[1] प्रथम श्रेणी के अनुसार पद-वर्गीकरण सेवी वर्ग के अन्य लक्ष्यों को निम्न प्रकार से सुविधापूर्ण बनाता है—

1. वेतन श्रृंखला का निर्धारण (Fixation of Compensation)—पद-वर्गीकरण का लक्ष्य था कि समान कार्य के लिए समान वेतन दिया जाना चाहिए। ऐसा केवल तभी सम्भव था जब सभी पदों के कार्यों एवं उत्तरदायित्वों की यथोचित परिभाषा की जाती और उनका स्वरूप निर्धारित कर तुलनात्मक रूप से उनका मूल्यांकन किया जाता। पदों का वर्गीकरण वेतन-स्तरों का नियन्त्रण रखने के लिए एक बौद्धिक आधार प्रदान करता है। सभी पदों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद यह सम्भव बन जाता है कि जिन पदों के उत्तरदायित्व एवं कठिनाइयाँ एक समान हैं उनको समान वेतन दिया जाए और जिन पदों की कठिनाइयाँ एवं उत्तरदायित्व कम अथवा अधिक हैं उनको तदनुकूल वेतन प्रदान किए जाएँ।

2. भर्ती की समस्या का सरलीकरण (Facilitates Recruitment)—जब पदों को कार्यों एवं उत्तरदायित्वों के आधार पर वर्गीकृत कर दिया जाता है तो यह आवश्यक बन जाता है कि जो पद एक ही वर्ग में रखे गए हैं उन पदों पर भर्ती करते समय एक जैसी योग्यता रखने वाले कर्मचारी रहेंगे। जब किसी संगठन में कोई पद रिक्त होता है तो उसकी पूर्ति के लिए उसके नाम का उल्लेख करते हुए विज्ञापन निकाला जा सकता है। इस विज्ञापन में जब यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि वह पद किस वर्ग का है तो उसका सम्पूर्ण स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। पद-वर्गीकरण से यह सम्भव बनता है कि एक वर्ग में सम्मिलित हजारों पदों के लिए अलग-अलग योग्यताएँ निर्धारित न की जाएँ और केवल वर्ग-सम्बन्धी योग्यताओं को ही आधार बनाया जाए। पद-वर्गीकरण द्वारा भर्ती की समस्या एक अन्य प्रकार से भी सरल हो जाती है। इसके द्वारा पदों की संख्या को एवं व्यवसायों की विभिन्नता को इतना कम कर दिया जाता है कि इनका प्रबन्ध आसानी से किया जा सके। भर्ती के समय प्रत्येक पद का अलग से विज्ञापन न निकाल कर वर्ग के रूप में निकाला जाता है और इसी आधार पर एक ही बार में सभी उम्मीदवारों की परीक्षा हो जाती है।

3. प्रशिक्षण की समस्या पर प्रभाव (Impect on Training Problem)—पद-वर्गीकरण का सरकारी कर्मचारियों के प्रशिक्षण सम्बन्धी कार्यक्रमों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक अधिकारी को किस प्रकार का प्रशिक्षण देना चाहिए, कितने समय तक और कब देना चाहिए आदि बातें व्यक्तिगत रूप से निर्धारित न करके, सामूहिक एवं वर्गीय रूप में निश्चित की जाती हैं। किस कर्मचारी को किस समय क्या प्रशिक्षण दिया जाएगा इस सम्बन्ध में भ्रम पैदा नहीं होता।

4. पदोन्नति में सुविधाजनक (Easy in Promotion)—पद-वर्गीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो पदोन्नति के कार्य को सम्भव तथा सरल बनाती है। इसके अभाव में निश्चित रूप से यह ज्ञात नहीं रहता कि जब एक पदाधिकारी को पदोन्नत किया जाना है तो उसे कौन-सा पद प्रदान किया जाना चाहिए अर्थात् किसी पद के बाद या पहले कौन-सा पद है, इसका निश्चय करने के लिए पद-वर्गीकरण अत्यन्त उपयोगी प्रक्रिया है। यद्यपि पद-वर्गीकरण द्वारा निश्चित रूप से यह आश्वासन नहीं मिलता कि पदोन्नति की क्रिया न्यायपूर्ण रूप में सम्पन्न हो सकेगी, फिर भी यह वर्गीकरण अवसरों एव पद-सम्बन्धों की एक स्पष्ट तस्वीर प्रस्तुत करता है, जिसके आधार पर पदोन्नति की उचित नीति को अपनाया जा सके। क्रमबद्ध पदोन्नति के लिए पद-वर्गीकरण एक प्रमुख एवं महती आवश्यकता है।

5. मनोबल का विकास (Development of Morale)—पद-वर्गीकरण कर्मचारियों में एकता के भाव जाग्रत करता है। एक ही वर्ग में समाविष्ट विभिन्न कर्मचारियों के कार्य, उत्तरदायित्व एवं कठिनाइयाँ आदि एक जैसे होते हैं। इसलिए उनमें एक-दूसरे के प्रति सद्भाव, सहयोग एवं सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध रहते हैं। एक वर्ग के कर्मचारी का हित अन्य कर्मचारियों द्वारा स्वय का हित समझा जाता है। यह एकरूपता उनमें अधिकारों के प्रति जागरुकता उत्पन्न करती है और संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में एक जैसे कदम बढ़ाने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार पद-वर्गीकरण संगठन के कर्मचारियों का मनोबल (Morale) विकसित करने में आधार, प्रेरक एव सहयोगी का कार्य करता है।

6. कार्य का उचित मूल्यांकन (Proper Evaluation of Work)—कर्मचारियों के कार्यों को वर्गीकरण द्वारा जब निश्चितता प्रदान कर दी जाती है और उन्हें स्पष्ट रूप से परिभाषित कर दिया जाता है तो उनकी पृष्ठभूमि में किसी भी कर्मचारी के कार्यों का तथ्यपरक मूल्यांकन किया जा सकता है। इसके लिए पहले तो उन कार्यों को देखना होगा जो पदाधिकारी द्वारा सम्पन्न किए गए हैं और उसके बाद उस पदाधिकारी के वर्ग के लिए निर्धारित कर्तव्यों से उनकी तुलना करनी होगी। इस तुलना के आधार पर पदाधिकारी की सफलता-असफलता, योग्यता-अयोग्यता एवं सार्थकता-निरर्थकता का निश्चय किया जा सकता है।

1. *O G Stahl* : Op. cit., p. 152-153.

7. प्रशासकीय संगठन में उचित सम्बन्ध (Good Relation between Administrative Organisation)—संगठन के सभी पदों का कार्य, उत्तरदायित्व, वेतन आदि जब निश्चित रूप से परिभाषित कर दिए जाते हैं तो कर्मचारियों के बीच मनमुटाव एवं संघर्ष की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं और प्रबन्ध तथा कर्मचारियों के बीच उचित एवं सहयोगपूर्ण सम्बन्धों का विकास होता है। पदों के वर्गीकरण के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले लाभों की दूसरी श्रेणी में उन लाभों को समाहित किया जाता है जो सामान्य रूप से संगठन के लिए सहायक होते हैं। इस श्रेणी के विभिन्न लाभ निम्नानुसार हैं—

8. संगठन का सरल रूप (*Simplifies the Organisation*)—*जब किसी प्रशासकीय संगठन में* विभिन्न वर्गों का एक नाम निश्चित कर दिया जाता है तो संगठन की रचना सम्बन्धी समस्याएँ सरल बन जाती हैं। इससे कार्य के सम्बन्ध में एक निश्चित तथा एक-सा शब्दकोश तैयार होता है।

9. उत्तरदायित्व की स्पष्टता (Clearity of Responsibility)—जब प्रत्येक पद से कर्त्तव्यों को परिभाषित कर दिया जाता है, तो विभिन्न पदों के उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में स्पष्टता आ जाती है।

10. बजट का सरल रूप (Simplifies the Budget)—पद-वर्गीकरण के द्वारा प्रत्येक पद की आर्थिक *आवश्यकताओं को समझने का एक व्यवस्थित आधार प्रदान किया जाता है और इस प्रकार बजट सम्बन्धी* प्रक्रियाओं को सुविधाजनक बनाया जाता है।

11. संगठन का सही विश्लेषण (Proper Analysis of Organisation)—पद-वर्गीकरण द्वारा कार्य सम्बन्धी जो सूचना प्रदान की जाती है उसके आधार पर कार्य की प्रक्रिया में दोहराव, असामंजस्यता एवं ऐसे ही अन्य दोषों को प्रकट किया जा सकता है और इस प्रकार संगठन की समस्याओं एवं प्रक्रियाओं का उचित विश्लेषण किया जा सकता है।

पदों के वर्गीकरण से प्राप्त होने वाले लाभों की तीसरी श्रेणी का सम्बन्ध मुख्य रूप से लोक प्रशासन से है। ऊपर वर्णित सभी लाभ सरकारी प्रशासन एवं व्यक्तिगत प्रशासन दोनों में समान रूप से पाए जाते हैं, किन्तु निम्नलिखित दो लाभ केवल लोक प्रशासन से ही सम्बन्ध रखते हैं—

1. सरकारी पद पर व्यय का निर्धारण—पद-वर्गीकरण के द्वारा यह निश्चित हो जाता है कि एक सरकारी पद पर कितना व्यय किया जाएगा और इस पद से कितनी लोक सेवाएँ सम्पन्न हो सकेंगी। इस प्रकार नागरिकों एवं करदाताओं को यह आश्वासन मिल जाता है कि सार्वजनिक धन के व्यय एवं उससे प्राप्त सेवाओं में कतिपय तार्किक सम्बन्ध हैं।

2. अधिकारियों के लिए रक्षा-कवच—पद-वर्गीकरण उन अधिकारियों के लिए एक रक्षा-कवच का कार्य करता है जो प्रशासनिक संगठन के पदाधिकारियों का वेतन निश्चित करते हैं। कार्यों एवं उत्तरदायित्वों की मात्रा का उल्लेख कर ये अधिकारी अपनी निष्पक्षता एवं न्यायप्रियता को सिद्ध कर सकते हैं।

पद-वर्गीकरण की प्रक्रिया

(The Process of Position Classification)

पद-वर्गीकरण की योजना में पदों के वर्गों की व्याख्या की जाती है, उनकी व्यवस्था के लिए नियम बनाए जाते हैं तथा उनमें परिवर्तन के लिए प्रक्रियाएँ निर्धारित की जाती हैं ताकि उनको समयानुकूल रखा जा सके। पद-वर्गीकरण की प्रक्रिया को सम्पन्न करते समय जो विभिन्न कदम उठाए जाते हैं उनका वर्णन लोक प्रशासन के अनेक लेखकों द्वारा किया गया है। टोरपे (Torpey) वर्गीकरण की योजना को सामान्य रूप से चार चरणों में विभाजित करते हैं।[1] उन्होंने कहा है कि सर्वप्रथम योजना का आकार निर्धारित किया जाता है। दूसरे, उसके बाद *सम्बन्धित किए जाने वाले पदों के कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित सूचना प्राप्त की जाती है। तीसरे, व्यावसायिक समूहों का निर्णय किया जाता है।* चौथे, वर्गीय विवरण तैयार किया जाता है और व्यक्तिगत पदों को निश्चित किया जाता है। डॉ. व्हाइट के अनुसार, पद-वर्गीकरण की प्रक्रिया में मुख्य रूप से दो कार्य सम्पन्न होते हैं—प्रथम तो वर्गीकरण-योजना की रचना और दूसरे, प्रत्येक पद को उसके वर्ग में निर्धारित करना।[2]

स्टाल (Stahl) ने पद-वर्गीकरण की प्रक्रिया के मुख्य रूप से चार सोपान माने हैं।[3] जब कभी एक कर्मचारी-अभिकरण द्वारा सेवाओं का वर्गीकरण किया जाता है तो उसे इन चार सोपानों में से होकर गुजरना होता है। किसी भी पद-वर्गीकरण की सफलता, सार्थकता एवं प्रभावशीलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसे तैयार करने की प्रक्रिया में निम्नलिखित सोपानों का अनुपालन किया गया था अथवा नहीं।

1. *William G. Torpey* : Op cit., p 42.
2. *L D White* : Op cit., p. 353-54
3. *O G Stahl* : Op. cit., p 153-61

1. कार्य का वर्णन एवं विश्लेषण (Job Description and Analysis)

जब हम एक पद-वर्गीकरण योजना बनाना चाहते हैं, संगठन में पदोन्नति की श्रेणी निर्धारित करना चाहते हैं और समान कार्य के लिए समान वेतन की नीति पर व्यवहार करना चाहते हैं तो यह सब केवल तभी किया जा सकता है जब प्रत्येक पद से सम्बन्धित आवश्यक सूचना प्राप्त हो सके। यह सूचना मुख्य रूप से तीन प्रकार की हो सकती है—प्रथम, कर्मचारी को सौंपे गए कार्यों के बारे में; द्वितीय, उस पद से सम्बन्धित उत्तरदायित्व के बारे में—इस सम्बन्ध में यह सूचना प्राप्त होनी चाहिए कि पदाधिकारी पर कितना पर्यवेक्षण रखा जाएगा और उसे निर्णय लेने की कितनी स्वतन्त्रता प्रदान की जाएगी, और तृतीय, इस सम्बन्ध में भी सूचना मिलनी चाहिए कि पद के कार्यों को पर्याप्त रूप से सम्पन्न करने के लिए किस कुशलता एवं ज्ञान की आवश्यकता है। इन समस्त सूचनाओं को प्रत्येक पद के सम्बन्ध में व्यक्तिगत रूप से ही प्राप्त करना पर्याप्त नहीं होगा। जब तक एक पद को सम्पूर्ण पदसोपान में रखकर न देखें तथा अन्य अधिकारियों के साथ उसका सम्बन्ध निर्धारित न करें तब तक उसके कार्यों एवं उत्तरदायित्वों का सही रूप समझ में नहीं आ सकता।

सम्बन्धित सूचना प्राप्त करने के लिए अनेक साधनों एंव स्रोतों का सहारा लिया जा सकता है उदाहरण के लिए, सांविधानिक प्रावधान, कानून कार्यपालिका के आदेश, प्रशासकीय परिनियम, पत्र-व्यवहार के अभिलेख, कर्मचारियों तथा पर्यवेक्षकों के साथ साक्षात्कार और कर्मचारियों एवं पर्यवेक्षकों से प्राप्त प्रश्नावली के उत्तर, आदि। संगठन से सम्बन्धित कुछ मूल तथ्यों की सूचना तो संविधान के नियम, कानून एवं अन्य औपचारिक साधनों द्वारा प्राप्त हो सकती है, किन्तु वास्तव में मौलिक सूचना तो संगठन के अध्यक्षों, प्रशासकों, पर्यवेक्षकों का साक्षात्कार करके तथा व्यक्तिगत पदों का अध्ययन करके ही प्राप्त की जा सकती है। वर्गीकरण की प्रक्रिया के लिए मूल सूचना प्राप्त करने हेतु सर्वप्रथम स्वयं पदाधिकारी के माध्यम से ही पद का अध्ययन करना चाहिए। इसके लिए प्रत्येक कर्मचारी को एक प्रश्नावली या कर्तव्यों सम्बन्धी पत्र दे दिया जाए और उसे उसके कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों पर प्रकाश डालने के लिए कहा जाए। सूचना प्राप्त करने का यह तरीका अत्यन्त सरल, सार्थक तथा कम खर्चीला है, इसलिए इसका अत्यधिक प्रयोग किया जाता है।

प्रश्नावलियाँ (Questionnaires) कई प्रकार की हो सकती हैं, किन्तु स्टाल (Stahl) के अनुसार—"इनका रूप चाहे कुछ भी हो, ये कार्य की प्रकृति, उसे सम्पन्न करने के लिए आवश्यक ज्ञान, उसकी जटिलता, इसे करने का तरीका, इस पर दूसरों द्वारा पर्यवेक्षण का रूप तथा एक पद में दूसरों के कार्यों के लिए निहित उत्तरदायित्व आदि बातों से सम्बन्धित पर्याप्त सूचना प्रदान करते हैं।"[1] कर्मचारियों एवं पदाधिकारियों द्वारा तैयार की गई प्रश्नावलियों की गलतियों एवं दोषों को सुधारने के लिए यह उचित समझा जाता है कि सम्भाग का प्रमुख उसे देख ले। इस प्रक्रिया से दोष तो दूर होते ही हैं साथ ही अनेक नई सूचनाएँ भी प्राप्त हो सकती हैं। प्रश्नावली-परम्परा का यदि सही रूप में प्रयोग किया जाए तो यह पद का वास्तविक, तथ्यगत एवं वस्तुगत चित्र प्रस्तुत करने में सफल होती है। कुछ आलोचकों का कहना है कि इस प्रणाली में बहुत अधिक समय और धन खर्च होता है। हो सकता है कि इस कथन में कुछ सत्य हो किन्तु यह निश्चित है कि प्रश्नावली-प्रणाली कार्य-विश्लेषण की प्रक्रिया में प्रत्येक कर्मचारी और पर्यवेक्षक द्वारा भाग लेने का सबसे अच्छा अवसर प्रदान करती है और उसे यह *विश्वास दिलाती है कि उसने सक्रिय रूप से भाग लिया है। प्रश्नावली-प्रणाली के दोषों एवं अभावों को दूर करने* के लिए व्यक्तिगत सम्पर्क तथा 'कार्य पर साक्षात्कार' का सहारा लिया जा सकता है। प्रश्नावली के सम्बन्ध में कर्मचारी अथवा पर्यवेक्षक के साथ विचार-विमर्श किया जा सकता है।

2. पदों को वर्गों मे व्यवस्थित करना (Arranging Positions into Classes)

पदों के कार्यों एवं उत्तरदायित्वों का वर्णन एवं सूचना प्राप्त कर लेने के बाद वर्गीकरणकर्ता का एक अन्य उत्तरदायित्व यह होता है कि वह विभिन्न पदों को वर्गों के रूप में व्यवस्थित करे। जब तक ऐसा नहीं किया जाता, तब तक सेवीवर्ग प्रबन्ध में विस्तार सम्बन्धी अराजकता (Anarchy of Detail) कायम रहती है। इस अराजकता को दूर करने के लिए विभिन्न पदों को समानता और असमानता के आधार पर समूहों (Groups) में व्यवस्थित कर दिया जाता है। इन समूहों को वर्गों (Classes) में और वर्गों को उन व्यावसायिक समूहों (Occupational Groups) में विभाजित किया जाता है जिनका आसानी से नाम लिया जा सके। संक्षेप में, वर्गीकरण की प्रक्रिया अन्तर और समानता का पता लगाने की प्रक्रिया है। पदों को वर्गीकृत और व्यवस्थित करने के लिए निम्न प्रक्रियाओं का सहारा लिया जाता है—

पदों को वर्गीकृत करते समय अथवा एक वर्ग में रखते समय सर्वप्रथम उस वर्ग का नाम (Title) बताया जाता है। दूसरे, उसके कार्यों एवं उत्तरदायित्वों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। तीसरे, सम्पन्न किए गए

1. O.G. Stahl, Op. cit., p. 155

कार्यों का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। चौथे, उस वर्ग के पदों के लिए कम से कम योग्यताओं का निश्चय किया जाता है। संगठन के पदों को वर्गों में समाविष्ट करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि *इन वर्गों की संख्या अधिक न हो जाए।* टोरपे के कथनानुसार किसी भी श्रेणी में बहुत अधिक वर्गों की स्थापना को निरुत्साहित किया जाता है।[1] स्टाल (Stahl) का भी यही विचार है। उनका कहना है कि वर्गों की संख्या इतनी सीमित रखनी चाहिए ताकि वर्गीकरण के लक्ष्यों के साथ एकरूपता बनी रहे।[2] वर्ग के अनुसार पदों का निर्धारण करने की प्रक्रिया में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ पैदा हो सकती हैं। कई बार एक पद के सम्बन्ध में यह निर्णय लेना कठिन हो जाता है कि उसे किस वर्ग में रखा जाए। जब एक ही व्यावसायिक क्षेत्र में पदों को वर्गीकृत किया जाता है तो भी पर्याप्त भ्रम की गुंजाइश रहती है। वर्गीकरण कर देने के बाद यह भी ध्यान रखना होता है कि वर्गीकृत वर्गों में अन्य वर्ग न बनने लगें। एक बार वर्ग स्थापित हो जाने के बाद संगठन के सभी नए कार्यों को उन्हीं में से किसी वर्ग में समायोजित करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

3. वर्ग-मापक तैयार करना (Preparation of Class Standard)

जब पदाधिकारियों के कर्तव्यों का विश्लेषण कर लिया जाता है और उचित वर्ग निर्धारित कर लिए जाते हैं तो वर्ग-मापकों को तैयार करने का कार्य प्रारम्भ होता है। प्रत्येक वर्ग की प्रकृति को निर्देशित किया जाता है, उसकी सीमाओं को परिभाषित किया जाता है तथा व्यक्तिगत पदों को वर्ग में रखने, भर्ती करने एवं परीक्षाएँ लेने में उसका निर्देशक के रूप में उपयोग किया जाता है। वर्ग-मापकों की रचना का लक्ष्य एक वर्ग से स्पष्टतः पृथक् करना है। वर्ग-विशेषीकरण के सही रूप एवं प्रयोग के सम्बन्ध में विचारकों में पर्याप्त मतभेद हैं। परम्परावादी विचारधारा के अनुसार यह एक बहुद्देश्यीय शस्त्र होना चाहिए। वर्गीकरण-विश्लेषणकर्ताओं का विचार है कि यह प्रधान रूप से उनका हथियार है और उसके अन्य प्रयोग वास्तविक न होकर केवल भ्रममात्र हैं।

4. वर्गीकरण-योजना का प्रारम्भ (Installation of the Classification Plan)

पद-वर्गीकरण की प्रक्रिया का अगला कदम यह होता है कि इसको क्रियान्वित करने से सम्बन्धित कुछ प्रारम्भिक कदम उठाए जाएँ। इनमें सर्वप्रथम तो वर्गीकरण की योजना को अभिकरण द्वारा स्वीकार किया जाता है। दूसरे, उस योजना को प्रकाशित करने के लिए अभिकरण द्वारा निर्णय लिया जाता है। तीसरे, वर्ग-मापकों को प्रकाशित किया जाता है। चौथे, पदों को प्रारम्भिक रूप में वर्गों में रखा जाता है। पाँचवें, वर्गीकरण के प्रशासन के लिए औपचारिक नियम निर्धारित किए जाते हैं। छठे, वर्गों में रखने के विरुद्ध अपील सुनने का प्रावधान रखा जाता है। वर्गीकरण की योजना मूल रूप से व्यवस्थापन द्वारा निर्धारित की जाती है। सरकारी संगठन में उच्च अधिकारियों के वेतन सम्बन्धी अधिकांश नियम तथा सेवा सम्बन्धी शर्तें व्यवस्थापिका के कानून द्वारा निर्धारित की जाती हैं। प्रत्येक वर्ग द्वारा जो प्रशासकीय कार्य सम्पन्न किए जाते हैं वे बहुत कुछ उसी रूप में किए जाते हैं जो कानून द्वारा निश्चित कर दिया गया है। यद्यपि कानून प्रशासकीय संगठन के विस्तृत ढाँचे को निर्धारित कर देता है तथापि कानून के प्रावधानों के पूरक रूप में प्रशासन द्वारा निर्धारित विस्तृत नियमों की आवश्यकता रहती है। इन नियमों का निर्माण अभिकरण को सबसे पहले कर लेना चाहिए और उनको प्रकाशित करके लोकप्रिय बनाना चाहिए ताकि सभी प्रभावित लोग उनसे परिचित हो सकें।

5. वर्गीकरण सम्बन्धी प्रशासन (The Administration of Classification)

प्रशासकीय संगठन में स्थित प्रत्येक पद को किसी वर्ग में वर्गीकृत करने के बाद यह समस्या उपस्थित होती है कि इन विभिन्न वर्गों को अपनी-अपनी निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत रखा जाए और वे परस्पर अनावश्यक हस्तक्षेप न करें। वर्गीकरण की योजना को सार्थक एवं प्रभावी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके प्रशासन का उचित प्रबन्ध किया जाए। लोक सेवा अपने आप में स्थायी चीज नहीं होती और *न ही वे व्यक्तित्व स्थायी होते* हैं जो उन्हें संचालित एवं निर्देशित करने के लिए नियुक्त किए जाते हैं। समय एवं आवश्यकताओं के अनुसार इनका रूप बदलता रहता है। वर्गीकरण को पदों के इस परिवर्तित स्वरूप के अनुरूप होना चाहिए। यह अनुरूपता तब स्थिर रह सकती है जबकि सेवीवर्ग-अभिकरण कार्यकारी विभागों के साथ घनिष्ठ सहयोग रखे। इसके लिए पदों के स्वरूप में होने वाले परिवर्तनों का अभिलेख रखना होगा, नए पदों की आवश्यकता को देखना होगा, पुराने कर्मचारियों के बढ़े हुए उत्तरदायित्वों को देखना होगा तथा परिवर्तनों के अनुरूप पदाधिकारियों में उत्तरदायित्वों का पुनः विभाजन करना होगा। संगठन में होने वाले इन परिवर्तनों से निकट के कर्मचारियों का अधिक सम्बन्ध रहता है और उनका अपने अधीनस्थों के कार्यों पर पर्यवेक्षण रहता है, वे उन्हें निकट से देखते हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि किस कर्मचारी के उत्तरदायित्व किस प्रकार बदल रहे हैं, इसकी पर्याप्त

1. *William G Torpey* : Op. cit., p 43
2. *O G Stahl* : Op. cit., p 157.

जानकारी रखी जाए। पद-वर्गीकरण के प्रशासन से सम्बन्धित नियमों में यह स्पष्ट रूप से उल्लेख होना चाहिए कि संगठन के उच्चाधिकारी जब वर्तमान पदों के उत्तरदायित्वों एवं कार्यों में किसी प्रकार का परिवर्तन करें या किसी पद की रचना करें तो सेवीवर्ग अभिकरण को इसकी सूचना अवश्य दे दें। नियम बनने के बाद भी यह सम्भव है कि संगठन की पदव्यवस्था में अज्ञात परिवर्तन किए जाएँ। इस सम्भावना का प्रतिरोध करने के लिए समय-समय पर ऑडिट तथा सर्वेक्षण होते रहना चाहिए ताकि वर्गीकरण को परिस्थितियों के तथ्यों के अनुरूप रखा जा सके। इसके लिए प्रत्येक पद की व्याख्या एवं मूल्यांकन द्वारा यह देखना चाहिए कि वह अपने पूर्व वर्ग में आता है अथवा नहीं। प्रशासन के पद-वर्गीकरण पर इस प्रकार नियन्त्रण रखना चाहिए कि संगठन गतिशील (Dynamic) बना रहे। यह कहा जाता है कि एक बार वर्गीकरण-योजना स्वीकार कर लेने के बाद उसकी लगातार देखभाल करते रहना चाहिए अन्यथा अपर्याप्त उतावलेपन, असामयिक वर्गीकरण के कारण उत्पन्न अनेक कठिनाइयों का सामना करना होगा।[1] इस तरह से पद-वर्गीकरण की योजना का सतत पुनरावलोकन और मूल्यांकन अत्यावश्यक है। ऐसा करके ही उसे प्रभावशाली और उद्देश्यपरक बनाया जा सकता है।

पद-वर्गीकरण की सीमाएँ

(The Limitations of Position Classification)

पद-वर्गीकरण का कार्य, जैसा कि डॉ. एल. डी. व्हाइट का कथन है, एक अत्यन्त कठिन और आपत्तिजनक कार्य है।[2] पद-वर्गीकरण की प्रक्रिया के मार्ग में व्यावहारिक दृष्टि से जो अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, वे निम्नानुसार हैं—

1. पदों को वर्गीकृत करने की समस्या—सबसे बड़ी समस्या यह उठती है कि किसी पद को वर्ग में किस प्रकार सम्मिलित किया जाए। यह निर्णय किस प्रकार किया जाए कि अमुक पद अमुक वर्ग में आना चाहिए। कई बार ऐसा होता है कि अलग-अलग दिखने वाले पदों में भी मूलभूत समानता रहती है जबकि एक समान लगने वाले पदों के बीच मौलिक असमानता के तत्त्व दिखाई देते हैं। कार्यों एवं उत्तरदायित्वों की केवल गणना भर कर लेना पर्याप्त नहीं है, उनका महत्त्व की दृष्टि से मूल्यांकन किया जाना बहुत जरूरी है। यह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही जटिल एवं कठिन भी है।

2. निश्चित नियमों एवं मापदण्डों के निर्धारण की समस्या—पदों को वर्गीकृत करने के-लिए ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं होता जिसके आधार पर दो पदों को एक ही वर्ग में रखा जा सके। शिक्षा, कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व, कार्य की कठिनाइयाँ, जटिलताएँ—ये सब इतने अधिक मापदण्ड हैं कि प्राय: उचित निर्णय लेना कठिन हो जाता है। इन मापदण्डों में प्राय: परस्पर संघर्ष उत्पन्न होने की सम्भावनाएँ भी रहती हैं। यदि एक बात समान है और दूसरी बात असमान है तो निर्णायक तत्त्व किसे माना जाएगा, यह स्पष्ट नहीं होता। नियमों की अस्पष्टता अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित कर देती हैं।

3. पदों के अनेक वर्गों की समस्या—जब पदों का वर्गीकरण करने में व्यक्तिगत पद की विशेषताओं पर अधिक ध्यान दिया जाता है तो पदों के अनेक वर्ग बन जाते हैं जिनके बीच बहुत कम अन्तर रह जाता है। इस प्रक्रिया से पदोन्नति के सोपानों की मात्रा बढ़ जाती है और एक पदाधिकारी को वांछनीय पद तक पहुँचने के लिए बहुत सीढ़ियाँ पार करनी होती हैं। इसके फलस्वरूप कर्मचारियों व पदाधिकारियों का मनोबल गिर जाता है और कार्यों के प्रति उनका उत्साह मन्द पड़ जाता है।

4. संघर्ष और तनाव की समस्या—पद-वर्गीकरण कई बार अधिकारियों के बीच संघर्ष उत्पन्न कर देता है। उनमें परस्पर द्वेष तथा मन-मुटाव पैदा हो जाते हैं। सरकारी सेवाओं में वर्गीय भावना कुल मिलाकर प्रशासनिक असुविधाओं का कारण बन जाती है।

5. भ्रम और संशय की आशंका—केन्द्रीय एवं राज्यस्तरीय कर्मचारियों के कार्य की स्थिति एवं समस्याओं में पर्याप्त भिन्नता रहती है। अत: इन दोनों स्तरों पर पद-वर्गीकरण के लिए कोई निश्चित आधार नहीं अपनाया जा सकता जिसके परिणामस्वरूप पद-वर्गीकरण बहुरूपी बन जाता है और इसलिए इसमें पर्याप्त भ्रम रहने की गुंजाइश सदैव बनी रहती है।

पद-वर्गीकरण की विभिन्न समस्याओं पर टोरपे ने जो विचार रखे हैं, वे इस प्रकार हैं—

(1) अपर्याप्त रूप से तैयार किए हुए पद विवरण (Inadequately prepared position descriptions), (2) व्यक्तिगत वर्गीकरण सम्बन्धी कार्यों के लिए आवश्यक कालावधि (Length of time

1. *O.G. Stahl* : op. Cit., p. 162-163.
2. *L.D. White* : Op. cit., p. 363

required for individual classification action), (3) असामयिक पद-विवरण (Out-dated position descriptions), (4) दबाव (Pressures), (5) अपूर्ण वर्ग-विशेषीकरण (Incomplete class specification), (6) कर्मचारी और पर्यवेक्षक में विश्वास का अभाव (Lack of employee and supervisor confidence), (7) यह विश्वास कि उच्चतरीय पदों को पर्यवेक्षण का उत्तरदायित्व सौंपना आवश्यक है (Belief that supervisory responsibility is necessary for allocation to higher level positions), (8) सुरक्षात्मक प्रयास (Security precautions), एवं (9) वर्गीकरण-प्रक्रिया का दुरुपयोग (Misuse of Classification process)। ये सभी समस्याएँ पद वर्गीकरण की प्रक्रिया के साथ जुड़ी हुई हैं।

पद-वर्गीकरण की एक स्वस्थ व्यवस्था

(A Sound System of Position Classification)

प्रशासनिक संगठनों में किया जाने वाला पद-वर्गीकरण सेवीवर्ग-प्रबन्ध की एक महत्वपूर्ण एवं प्रमुख समस्या है जिसका सन्तोषजनक समाधान इस बात को तय करने में प्रभावशील रूप में भाग लेता है कि संगठन में कार्यकुशलता रहेगी अथवा नहीं और रहेगी तो किस मात्रा में रहेगी। पद-वर्गीकरण का रूप कैसा रखा जाए और उसमें किन विशेषताओं को समन्वित किया जाए—इस सम्बन्ध में लोक प्रशासन के विचारकों ने निम्नवत अनेक महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किए हैं—

1. उत्तरदायित्व का आधार—पदों का वर्गीकरण उत्तरदायित्व के आधार पर किया जाए, कार्यों के आधार पर नहीं। कार्य तो दो अधिकारियों के समान हो सकते हैं अथवा तुलनात्मक रूप से एक अधिकारी के कार्य कुछ अधिक हो सकते हैं, किन्तु इस दृष्टि से उनके स्तर का निर्धारण करना उपयुक्त नहीं है। उच्च पद उसी अधिकारी को सौंपा जाना चाहिए जो अधिक उत्तरदायित्वों से युक्त हो।

2. वर्गीकरण में स्पष्टता—वर्गीकरण का रूप स्पष्ट होना चाहिए। अस्पष्ट वर्गीकरण संगठन के कर्मचारियों के मन में अनेक प्रकार के भ्रम पैदा कर अनेक समस्याओं को जन्म देता है। पद-वर्गीकरण की केवल वही योजना सफल हो पाती है जिससे सभी पदाधिकारी अवगत हो जाएँ। स्टाल ने लिखा है कि जो पद-वर्गीकरणकर्ता अपने तकनीकी ज्ञान को गुप्त रखता है वह अपने संगठन में प्राय अच्छे सम्बन्ध नहीं रख पाता।[1]

3. स्थायित्व—पद-वर्गीकरण की योजना में कुछ स्थायित्व रहना चाहिए क्योंकि यदि उसमें परिवर्तन की नीति अपनाई गई तो उससे प्रत्याशित लाभ नहीं हो पाएँगे। एक वर्ग के लिए आज कुछ योग्यताएँ निर्धारित की गई हैं—कल कुछ दूसरी, अथवा आज उस वर्ग का नाम कुछ रखा गया है और कल कुछ और तो इस सबके परिणामस्वरूप संगठन में पर्याप्त भ्रम उत्पन्न हो जाएगा।

4. परिवर्तनों के अनुरूप संशोधन—अधिकांश अमेरिकी लेखक यह मानते हैं कि लोक सेवा स्थायी चीज नहीं है। सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक तथा अन्य तत्वों में मोड़ आने पर प्रशासनिक अधिकारियों के उत्तरदायित्वों की प्रकृति एवं मात्रा में गम्भीर परिवर्तन हो जाते हैं। इन परिवर्तनों के अनुसार यदि पद-वर्गीकरण की योजना में संशोधन न किए गए तो वह असामयिक (Out of Date) बन जाएगी। वर्गीकरण योजना को सामयिक रखना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए उसका समय-समय पर निष्पक्ष मूल्यांकन और पुनरावलोकन होता रहना चाहिए।

5. सहकारी प्रयास—पद-वर्गीकरण की एक अच्छी योजना प्राय सहकारी प्रयास (Co-operative Effort) होती है। योजना की सार्थकता एवं प्रभावशीलता इस बात पर निर्भर करती है कि संगठन में इसे समझा और स्वीकार किया जाए, इसके लिए वर्गीकरण की प्रक्रिया में भाग लेने को उन्हें प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। योजना के विकास एवं क्रियान्विति में भागीदारों को समान रूप से भाग लेना चाहिए। वर्गीकरण के लक्ष्यों को, विभागों एवं सभागों के अध्यक्षों के सम्मुख अच्छी प्रकार स्पष्ट कर देना चाहिए, इकाई के सभी कर्मचारियों से मिलना चाहिए तथा योजना को बनाते समय कर्मचारी संघों के प्रतिनिधियों का सहयोग लेना चाहिए। इन सभी को यह अवसर देना चाहिए कि ये प्रत्येक स्तर पर आलोचना एवं सुझाव प्रस्तुत कर सकें।[2]

6. सम्पर्क सूत्र बनाए रखना—पद-वर्गीकरण के वर्गों के बीच में रिक्त स्थान नहीं होना चाहिए अर्थात् वे एक-दूसरे से जुड़े हुए हों। पदसोपान की भाँति सर्वोच्च पद एवं निम्न पद के बीच अनेक ऐसी कड़ियाँ हों जो उनको जोड़ने का कार्य करें। ऐसा न होने पर वर्गीकरण की व्यवस्था पदोन्नति के कार्य को अत्यन्त जटिल बना देती है।

1-2. *Stahl* : Op. cit., p. 164.

7. दूरगामी योजना तथा लक्ष्य—पद-वर्गीकरण की एक अच्छी योजना को केवल अनुशासन, पदोन्नति अथवा नियन्त्रण के लिए ही नहीं, वरन् मुख्यत मनोबल को ऊँचा उठाने, प्रेरणा उत्पन्न करने एवं कार्यकुशलता बढाने के लिए सचालित किया जाना चाहिए। यह योजना सगठन के कार्यों में एकरूपता, प्रमापकता, क्रियान्विति की गति एवं लोचशीलता कायम रखने वाली होनी चाहिए।

8. अपील का प्रावधान—इनमें उन कर्मचारियों एव अधिकारियों की अपीलें सुनने का प्रावधान भी होना चाहिए जिनको पद-वर्गीकरण की इस योजना से किसी प्रकार का अभाव-अभियोग हो। वर्गीकरण में पदों के बीच नाम के आधार पर अन्तर न रखा जाए कि उनमें वर्ग-सघर्ष पैदा हो जाए।

प्रमुख देशों में पद-वर्गीकरण

(Position Classification in Some Major Countries)

लोक सेवाओं का वैज्ञानिक वर्गीकरण अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, भारत आदि लोकतन्त्रों में यह कुछ दशाब्दियों पुराना ही माना जा सकता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका—अमेरिका में 1920 में पुनर्वर्गीकरण आयोग (Re-classification Commission) की रिपोर्ट के बाद सर्वप्रथम सघीय वर्गीकरण अधिनियम (Classification Act) के बाद समय-समय पर स्थिति पर पुनर्विचार किया गया और 1919 के वर्गीकरण कार्यक्रम को 1923 में कांग्रेस द्वारा स्वीकृत किया गया। सन् 1923 के वर्गीकरण अधिनियम के अधीन जो वर्तमान वर्गीकरण प्रचलित हुआ वह इस प्रकार है—(1) व्यावसायिक तथा वैज्ञानिक सेवाएँ (The Professional and Scientific Services), (2) अर्द्ध-व्यावसायिक सेवाएँ (Subprofessional Services), (3) लिपिक, प्रशासकीय तथा वित्तीय सेवाएँ (Clerical, Administrative and Fiscal Services), (4) संरक्षणात्मक सेवाएँ (Custodial Services) एवं (5) लिपिक-प्राविधिक सेवाएँ (Clerical Mechanical Services)। सेवाओं को श्रेणियों और स्तरों में विभाजित किया गया है। विशिष्ट सेवाओं की पहचान के लिए साकेतिक अक्षर प्रयोग में लाए जाते हैं, यथा—व्यावसायिक सेवाओं के लिए अंग्रेजी के अक्षर 'पी' का प्रयोग होता है तो लिपिक-प्रशासकीय और वित्तीय सेवाओं के द्वितीय स्तर को 'सी. ए. एफ.' के नाम से पुकारा जाता है। वर्गीकरण की एक सूची बनाई गई है जिसमें (1) वर्ग का नाम, (2) कर्त्तव्य तथा दायित्वों का विवरण (3) विशिष्ट कार्यों के उदाहरण, एवं (4) न्यूनतम अनिवार्य योग्यता, वेतन-क्रम पदोन्नति क्रम आदि शीर्षक रखे गए हैं।

ब्रिटेन—वर्तमान में ब्रिटिश सिविल सेवा में दो बड़े वर्ग हैं—औद्योगिक (Industrial) तथा गैर-औद्योगिक कर्मचारी। गैर-औद्योगिक कर्मचारियों का (जिन्हें सिविल सेवा प्रमुख कहा जा सकता है) निम्नलिखित राजकोषीय वर्गीकरण किया जाता है—(1) प्रशासकीय वर्ग, (2) निष्पादक अथवा कार्यपालक वर्ग, (3) लिपिक एवं उप-लिपिक वर्ग, (4) मुद्रण लेखक वर्ग (5) निरीक्षण सेवीवर्ग, (6) व्यावसायिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी वर्ग, (7) गौण-तकनीकी (Auxiliary-Technical) वर्ग, (8) लघु एवं अभिसाधन (Minor and Manipulative) वर्ग, (9) सदेशवाहक, द्वारपाल वर्ग आदि।

लोक सेवाओं में भर्ती

(Recruitment in Public Services)

भर्ती सेवीवर्ग प्रशासन का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है, जिस पर सम्पूर्ण प्रशासन-तन्त्र का भविष्य निर्भर करता है। सेवीवर्ग अथवा कार्मिक प्रशासन की एक प्रमुख समस्या 'भर्ती' की है। प्रशासकीय संरचना में भर्ती की प्रक्रिया का सम्पूर्ण प्रशासनतन्त्र की दृष्टि से केन्द्रीय महत्व है, क्योंकि भर्ती के द्वारा ही लोक सेवाओं का स्तर और योग्यता निश्चित होती है तथा इसी पर शासन की उपयोगिता और समाज एवं शासनतन्त्र के सम्बन्ध का निर्धारण होता है। भर्ती शक्तिशाली लोक सेवा की कुन्जी है। स्टाल (Stahl) के अनुसार—"यह सम्पूर्ण लोक कर्मचारियों के ढाँचे की आधारशिला है।"[1] सामान्य अर्थ में 'भर्ती' शब्द को नियुक्ति का समानार्थक माना जाता है, लेकिन यह सही नहीं है। भर्ती से आशय है—लोक सेवा की नियुक्तियों के लिए प्रतियोगिता करने हेतु उपयुक्त प्रत्याशियों को ढूँढने *और उन्हें प्रेरित करने के लिए प्रयत्न किए जाएँ। प्रशासन की प्राविधिक शब्दावली में भर्ती का अर्थ है—किसी पद* के लिए उम्मीदवारों या प्रत्याशियों को आकर्षित करना। भर्ती का उद्देश्य यह होता है कि किसी विशिष्ट पद के लिए एक उपयुक्त व्यक्ति ढूँढा जाए। मॉरील डिमॉक के अनुसार—"भर्ती का अर्थ सही व्यक्ति को एक विशेष कार्य पर लगाना है। हमें बहुत सारे कर्मचारी प्राप्त करने के लिए विज्ञापन देना होगा अथवा विशेष कार्य के योग्यता प्राप्त व्यक्तियों को ढूँढना होगा।" भर्ती और नियुक्ति के अर्थ में थोड़ा अन्तर है। जहाँ भर्ती से आशय योग्य व्यक्तियों को संगठन की ओर आकर्षित करना है वहाँ नियुक्ति में नियुक्तिकर्ता की इच्छाएँ प्रधान होती हैं। भर्ती-व्यवस्था में योग्य व्यक्ति वह होता है जो प्रतियोगिता में अपने साथियों से ऊँचा सिद्ध हो जबकि नियुक्ति में योग्यता वह है जिसे नियुक्तिकर्ता स्वीकार कर ले।

भर्ती के समय यह ध्यान रखा जाता है कि योग्य व्यक्ति को ही पद सौंपा जाए। वास्तव में यह एक जटिल समस्या है। एल. डी. ह्वाइट के अनुसार, भर्ती की प्रक्रिया में विरोधी तत्वों में खींचातानी पाई जाती है— एक ओर तो समानता तथा मानवता और दूसरी ओर विशेष योग्यता। इसीलिए सार्वजनिक भर्ती की व्याख्या करते हुए किंग्सले डेविस (Kingsley Devis) का कथन है कि "यह ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा लोकसेवाओं के लिए उम्मीदवारों को स्पर्धात्मक रूप में आकर्षित किया जा सकता है।" यह एक व्यापक प्रक्रिया चयन का आन्तरिक भाग है जिसमें परीक्षा एवं प्रमाण सम्बन्धी प्रक्रियाएँ भी सम्मिलित हैं। भर्ती करते समय लक्ष्य यह रहता है कि पद पर उचित व्यक्ति आसीन हो, अतः भर्ती की कुछ ऐसी तकनीकें विकसित की जाती हैं जिनके माध्यम से योग्य व्यक्ति उस पद का उम्मीदवार हो सके, योग्यतम को छाँटा जा सके और अनुपयुक्त व्यक्तियों को पदासीन करने के खतरे से प्रशासकीय संगठन को बचाया जा सके।

सही ढंग से प्रशासनिक अधिकारियों और कर्मचारियों की भर्ती करना किसी भी कुशल प्रशासन की अनिवार्य शर्त है। अतः सार्वजनिक हित की अधिकतम उपलब्धि के लिए योग्य व्यक्तियों की सेवाएँ ही प्राप्त की जानी चाहिए। गलत और अयोग्य व्यक्तियों की भर्ती तो लोक प्रशासन *के लिए क्षय रोग के समान है। वर्तमान में राज्य* के कल्याणकारी स्वरूप और बदले हुए सामाजिक-आर्थिक ढाँचे और विशाल प्रशासनिक यन्त्र की भर्ती के प्रश्न को विशेष महत्वपूर्ण बना दिया है। भर्ती का प्रश्न पदाधिकारियों की समस्याओं का केन्द्र-बिन्दु कहा जाता है। प्रो. जिंक (Prof. Zink) के अनुसार, "भर्ती के अतिरिक्त लोक प्रशासन का अन्य कोई भाग महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि जब तक आधारभूत सामग्री ही उपयुक्त नहीं होगी तब तक प्रशिक्षण, निरीक्षण, सेवायापन, वर्गीकरण, खोज आदि बातें बहुत व्यापक होते हुए भी सार्वजनिक कर्मचारियों की पूर्ति नहीं हो सकेगी।"

1 *O. G. Stahl*, Public Personnel Administration, p. 59

आधुनिक समय में समुचित भर्ती-प्रणाली को आरम्भ करने का श्रेय प्रशिया को है। भारत में भर्ती के क्षेत्र में योग्यता का सिद्धान्त (Merit Principle) 1853 से प्रचलित है। ब्रिटेन में यह आंशिक रूप में 1857 से और पूर्णतः 1870 से प्रचलन में है। वैसे लोक कर्मचारियों की भर्ती के प्रश्न का सर्वप्रथम वैज्ञानिक हल ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में चीन में आरम्भ हो चुका था। वर्तमान में, सभी देशों द्वारा अपनी नागरिक सेवाओं में भर्ती की विविध पद्धतियों को अपनाया जा रहा है। इन पद्धतियों में युगीन परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसा करके ही प्रशासन को सक्षम और चुस्त बनाया जा सकता है।

भर्ती की नकारात्मक और सकारात्मक अवधारणाएँ

(The Negative and Positive Concepts of Recruitment)

भर्ती की समस्या किसी भी देश के ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि सभी तत्त्वों से प्रभावित होती है। प्रायः इन तत्त्वों के आधार पर भर्ती के रूप अथवा प्रकार भी विकसित हो जाते हैं और देश, काल, सामाजिक और शैक्षणिक वातावरण के अनुकूल प्रत्यक्ष या पदोन्नति द्वारा भर्ती की जाती है अथवा भर्ती का कोई अन्य प्रकार अपनाया जाता है। आज विश्व के अधिकांश सभ्य देशों में योग्यता के आधार पर भर्ती की जाती है और योग्यता की जाँच के लिए खुली प्रतियोगिताओं का आश्रय लिया जाता है। लोक प्रशासन में की जाने वाली भर्तियों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

1. सकारात्मक भर्ती (Positive Recruitment)—भर्ती की सकारात्मक अवधारणा का आशय यह है कि विभिन्न सरकारी पदों के लिए उचित और योग्य व्यक्तियों की खोज के प्रयास किए जाएँ। वर्तमान में विभिन्न देशों में भर्ती के मुख्य अभिकरण के रूप में लोक सेवा आयोग (Public Service Commission) कार्य कर रहे हैं उनका यह मौलिक कार्य है कि वे सरकारी पदों पर योग्य व्यक्तियों को नियुक्त करने की दिशा में कार्यशील हों। भर्ती की यह पद्धति न्यायपूर्ण है जिसमें लोक कर्मचारियों की योग्यता का उचित मूल्यांकन हो पाता है और उसी के आधार पर उन्हें उपयुक्त पदों पर नियुक्त किया जाता है। सकारात्मक भर्ती के अनेक तरीके हो सकते हैं जैसे—1. सम्भावित उम्मीदवारों को विज्ञापनों, पोस्टरों आदि द्वारा आकर्षित किया जाता है कि वे अपनी योग्यतानुसार पद प्राप्त करने में रुचि लें। यह तरीका मुख्यतः तभी अपनाया जाता है जब बड़ी संख्या में नियुक्ति करनी हो। 2. प्रदर्शनियों के माध्यम से किसी विशेष पद के लाभों के विज्ञापन द्वारा योग्य व्यक्तियों को उस ओर आकर्षित किया जाता है। 3. योग्य उम्मीदवारों के स्रोत-स्थलों से प्रत्यक्ष बातचीत की जाती है। उदाहरणार्थ, यदि इंजीनियरों, डाक्टरों, राजनीतिक सेवकों आदि की भर्ती करनी हो तो भर्तीकर्ता शैक्षणिक संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित कर सकता है और उन्हें योग्य विद्यार्थियों की एक सूची देने की प्रार्थना कर सकता है जिसके आधार पर वह साक्षात्कार कर सके और योग्य विद्यार्थियों का चयन कर सके। 4. उच्च पदों पर विशेष योग्यता और अनुभव की आवश्यकता होती है, अतः भर्ती कर्ता अधिकारी इसके लिए उपयुक्त व्यक्तियों से प्रत्यक्ष रूप में सम्पर्क कर सकता है और समझौता हो जाने पर उस व्यक्ति को औपचारिक रूप से आवेदन करने के लिए कहा जा सकता है। इस प्रक्रिया में उपयुक्त व्यक्ति अपनी सेवा शर्तों को नियोक्ता के सम्मुख स्पष्ट रूप से रख देते हैं।

सकारात्मक भर्ती के लाभ—भर्ती की सकारात्मक व्यवस्था का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें योग्य और उचित व्यक्तियों को ही प्रतियोगिता में शामिल होने की अनुमति दी जाती है। फिफनर तथा प्रिस्थस के अनुसार, "इस पद्धति में धूर्तों को बाहर रखने पर इतना बल नहीं दिया जाता जितना इस बात पर कि राज्य की सेवा के लिए सर्वोत्तम व्यक्तियों को किस तरह प्रोत्साहित किया जाए और उनकी योग्यताओं का कैसे मूल्यांकन किया जाए अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति उसी पद को प्राप्त करे जिसके लिए वह योग्य है।" भर्ती की यह पद्धति ही आज आम प्रचलन में है।

2. नकारात्मक पद्धति (Negative Recruitment)—भर्ती की नकारात्मक पद्धति का उद्देश्य यह होता है कि सरकारी पदों से धूर्त व्यक्तियों को दूर रखा जाए, लोक सेवाओं में पक्षपात और दलगत राजनीति के प्रभाव को मिटाया जाए तथा प्रशासन को यथा साध्य ईमानदार बनाया जाए। इस प्रक्रिया में भर्तीकर्ता कुछ ऐसे नियम बना देता है और न्यूनतम शर्तें निर्धारित कर देता है जिसके आधार पर केवल योग्य व्यक्तियों को ही उम्मीदवार बनने के अवसर प्राप्त हो सकें और धूर्त लोग सार्वजनिक सेवा के बाहर रखे जा सकें, किन्तु यह प्रणाली सफल नहीं हो सकती है क्योंकि धूर्तों को सेवाओं से दूर रखने के प्रयास में जाने-अनजाने अनेक योग्य और बुद्धिमान व्यक्ति भी बाहर रह जाते हैं। यह विश्वास फलीभूत नहीं हो सकता कि जब धूर्तों को बाहर रख दिया जाएगा तो योग्य व्यक्ति स्वतः ही प्राप्त होने लगेंगे। इस प्रकार नकारात्मक पद्धति से भर्ती के तरीकों का वर्तमान सेवीवर्ग प्रशासन में कोई स्थान नहीं है। अब भर्ती की सकारात्मक प्रणाली को ही अपनाया जाता है।

भर्ती की समस्याएँ
(Problems of Recruitment)

लोक प्रशासन में रिक्त पदों पर योग्य व्यक्तियों को प्राप्त करने के सन्दर्भ में विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उनमें से प्रमुख निम्नांकित हैं—

भर्तीकर्त्ता की नियुक्ति (Appointment of the Recruiter)

भर्तीकर्ता की नियुक्ति भर्ती करने वाली सत्ता की निश्चय ही सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या है। सेवीवर्ग की भर्ती करते समय सबसे बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि भर्ती करने वाला कौन हो जो योग्य अभ्यर्थियों का चयन कर सके। विलोबी के अनुसार भर्ती करने वाली सत्ता का प्रावधान केवल सेवीवर्ग प्रणाली का ही नहीं वरन् देश की राजनीतिक व्यवस्था का एक अनिवार्य लक्षण है। यह समस्या अपने आप में इतनी महत्त्वपूर्ण है कि लगभग सभी सभ्य देशों के संविधानों द्वारा ही भर्ती करने वाली सत्ता का प्रावधान कर दिया जाता है। वर्तमान में अधिकांश देशों में लोक सेवकों की भर्ती के लिए लोक सेवा आयोगों (Civil Service Commissions) का प्रचलन ही अधिक है क्योंकि नकारात्मक भर्ती के स्थान पर सकारात्मक भर्ती की नीतियों पर सर्वाधिक बल दिया जाता है। भारत में संघीय तथा राज्य लोकसेवा आयोगों का प्रावधान है। भर्ती करने वाली सत्ता कौन हो, इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों में विभिन्न व्यवस्थाएँ कार्य कर रही हैं जिनका विवरण निम्नानुसार है—

1. भर्ती करने वाली सत्ता जनता में हो—प्रथम मत यह है कि भर्ती करने वाली सत्ता प्रत्यक्षत. जनता में निहित होनी चाहिए क्योंकि वास्तविक प्रजातन्त्र यही माँग करता है कि देश के सर्वोच्च अधिकारी प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा चुने जाएँ अर्थात् उनका निर्वाचन हो। इस व्यवस्था में पदाधिकारी अल्प अवधि (Short Term Period) के लिए निर्वाचित होंगे और मतदाताओं को उन्हें 'वापस बुलाने' (Recall) का भी अधिकार होगा। यह व्यवस्था बड़ी आकर्षक और प्रजातन्त्रीय है तथापि आज के विशाल राज्यों, जटिल समाजों और सुविस्तृत प्रशासन-यन्त्रों के संदर्भ में व्यावहारिक नहीं लगती। प्रथम, बड़ी संख्या में अधिकारियों को चुनते समय निर्वाचकों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे समुचित विवेक-बुद्धि से काम लेंगे। साधारण जनता में कुशल अधिकारियों को चुनने की क्षमता नहीं होती। द्वितीय, इस बात की अधिक सम्भावना रहती है कि साधारण जनता वैयक्तिक स्वार्थों के प्रवाह में बह जाएगी। इन सम्भावित प्रबल दोषों को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त यही है कि निर्वाचकों का प्रभाव निर्मित राज्य पदाधिकारियों पर ही होना चाहिए, प्रशासनिक अधिकारियों पर नहीं।

2. भर्तीकर्त्ता निकाय की स्वतन्त्रता और स्वायत्तता सम्बन्धी दृष्टिकोण—दूसरा मत, जो पहले मत के दोषों को ध्यान में रखते हुए लिया जाता है यह है, कि भर्तीकर्त्ता निकाय को राजनीतिक हस्तक्षेप से दूर रखते हुए पर्याप्त स्वतन्त्रता और स्वायत्तता दी जाए। लोक सेवा आयोगों का संगठन भी इस प्रकार का हो कि वे निर्भय होकर अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर हो सकें तभी यह सम्भव होगा कि सरकारी सेवा में योग्य और कर्तव्यपरायण पदाधिकारियों की नियुक्ति की जा सकेगी। फिफनर का कथन है कि "मूल रूप से सरकार द्वारा भर्ती का लक्ष्य कर्मचारियों के रूप में व्यक्तियों में सरकार के लिए काम करने की रुचि जाग्रत करना है।" कुछ विचारकों का मत है कि लोक सेवा आयोग का संगठन सर्वोच्च न्यायालय की भाँति होना चाहिए ताकि वह स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सके। इसके सदस्य भी इतने वरिष्ठ होने चाहिए कि वे अनुचित प्रभाव की उपेक्षा कर सकें और योग्यता के सही पारखी हों। कुछ लेखकों का यह सुझाव है कि लोक सेवा आयोग का स्वरूप मिश्रित होना चाहिए अर्थात् उसमें विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ सम्मिलित होने चाहिए क्योंकि किसी भी एक विषय के विशेषज्ञ के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह प्रत्येक पद के लिए उम्मीदवार की योग्यता का मूल्यांकन कर सके। प्रशासनिक अधिकारियों की भर्ती करते समय भी इस जाँच को पर्याप्त महत्त्व दिया जाना चाहिए। भर्तीकर्त्ता के रूप में लोक सेवा आयोग को मुख्य रूप से जो कार्य करने चाहिए वे ये हैं—1. भर्ती सम्बन्धी नीति के बारे में सरकार को परामर्श देना, 2. अभ्यर्थियों की परीक्षाएँ लेना तथा 3. साक्षात्कार करना, 4. पदोन्नति एवं स्थानान्तरण के लिए उपयुक्त परामर्श देना, 5. अनुशासनात्मक कार्यों पर सलाह देना, 6. अस्थायी नियुक्तियों और पुनर्नियुक्तियों के सम्बन्ध में सलाह देना, 7. नई सेवा की रचना में संशोधन आदि मामलों को सुलझाना, 8. मुख्य कार्यपालिका से सम्बन्धित किसी भी मामले पर विचार करना और 9. संसद् को अपने कार्यों के सम्बन्ध में वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करना, आदि।

उपर्युक्त दोनों मतों अथवा पद्धतियों के सम्बन्ध में विलोबी ने लिखा है कि "स्पष्टत ये दोनों मत वर्ग राजनीतिक विचारधारा के उन दो सम्प्रदायों (Schools) का प्रतिनिधित्व करते हैं जो क्रमश लोकतन्त्रात्मक एवं प्रतिनिध्यात्मक सरकार को अपना आदर्श मानते हैं।" दोनों ही प्रणालियों की तुलना करने पर व्यावहारिक दृष्टि से दूसरी प्रणाली पहले की अपेक्षा श्रेष्ठतर प्रतीत होती है।

भर्तीकर्ता का स्वरूप चाहे जो भी हो, उसमें निम्नलिखित सामान्य विशेषताएँ होना अपेक्षित है—

1. वह स्वतन्त्र और किसी भी प्रकार के बाह्य दलों और दबावों से मुक्त हो ताकि वह अनुचित निर्णय लेने के लिए बाध्य न हो सके।

2. वह ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ हो ताकि किसी प्रलोभन में आकर गलत कार्य करने के लिए बाध्य न हो सके।

3. वह इतना योग्य और सक्षम हो कि भर्ती के प्रत्याशियों की कुशलताओं की भली प्रकार जाँच कर सके।

4. वह बहु-सदस्यीय हो, क्योंकि एक सदस्य व्यक्तिगत मानवीय कमजोरियों और दोषों का शिकार बनकर कर्तव्यच्युत् हो सकता है। एक से अधिक सदस्य होने पर 'विरोध और सन्तुलन' तथा 'प्रतिष्ठा और नेतृत्व बनाए रखने की भावना' का सिद्धान्त क्रियाशील होता है।

5. वह अर्द्ध-राजनीतिक हो क्योंकि पूर्ण रूप से राजनीतिक रहने पर इससे ईमानदारी और निष्पक्षता की आशा नहीं की जा सकती है।

पदाधिकारियों की आवश्यक योग्यताएँ (The Essential Qualifications of Officials)

सरकारी अधिकारियों की भर्ती करते समय एक अन्य समस्या यह उत्पन्न होती है कि उन्हें कहाँ से लिया जाए और किस आधार पर लिया जाए। वर्तमान काल में श्रम-बाजार (Labour Market) बनाने पर जोर दिया जाता है। रोजगार कार्यालयों (Employment Exchanges) की स्थापना इस तरह के प्रयासों की ही एक अभिव्यक्ति है। आज लगभग सभी लोकतन्त्रात्मक देशों में लोकसेवाओं के लिए दो प्रकार की आवश्यक योग्यताएँ निर्धारित की जाती हैं—सामान्य (General) और विशिष्ट (Special)। सामान्य योग्यताएँ सभी लोकसेवकों पर लागू होती हैं और एक तरह से सार्वभौमिक रूप से प्रयोग में लाई जाती हैं। ये योग्यताएँ नागरिकता, अधिवास अथवा निवास (Domicile or Residence), लिंगभेद तथा आयु से सम्बन्ध रखती हैं। विशिष्ट योग्यताएँ शिक्षा, अनुभव, प्राविधिक ज्ञान और वैयक्तिक विशेषताओं से सम्बन्धित होती हैं।

सामान्य योग्यताओं अथवा अर्हताओं में निम्नलिखित तथ्यों को सम्मिलित किया जा सकता है—

1. नागरिकता (Citizenship)—प्रत्याशी के लिए राज्य का नागरिक होना आवश्यक है। विदेशी व्यक्ति सरकारी पदों के लिए मुख्यतः इसलिए उपयुक्त नहीं समझे जाते कि एक तो वे अपने पद के प्रति पूरी निष्ठा नहीं रख सकते और दूसरे राज्य में उनका निवास भी एक निश्चित समय के लिए होता है। नागरिकता सम्बन्धी योग्यता का यह पहलू उस समय तक कायम रहेगा जब तक कि पृथक्-पृथक् राष्ट्रीय राज्य रहेंगे। प्रायः सभी देशों में अपने नागरिकों को ही सिविल सेवाओं में प्राथमिकता दी जाती है।

2. अधिवास या निवास (Domicile or Residence)—कभी-कभी निवास-स्थान के आधार पर भी उम्मीदवारों की संख्या निर्धारित की जाती है। केवल वही व्यक्ति आवेदन-पत्र प्रस्तुत कर सकते हैं जो देश के किसी विशिष्ट राज्य अथवा भाग के निवासी हों। निवास सम्बन्धी योग्यता की शर्त पूरी न कर पाने के कारण प्रायः अनेक योग्य और सक्षम व्यक्ति प्रतियोगिता के अवसर से वंचित रह जाते हैं।

3. लिंग (Sex)—लोकतान्त्रिक देशों में सरकारी नियुक्तियों के सम्बन्ध में अधिकांशतः लिंग की समानता के सिद्धान्त का पालन किया जाता है। वर्तमान में पुरुष हो या स्त्री, समान स्तर पर प्रशासकीय पदों पर नियुक्त किया जा सकता है।

4. आयु (Age)—कुछ देशों में लोक सेवाओं में नवयुवकों को भर्ती करने की पद्धति का अनुसरण किया जाता है, तो अनेक देशों में अधिक आयु के परिपक्व और अनुभवी व्यक्तियों की भर्ती को प्राथमिकता दी जाती है। इंग्लैण्ड और भारत में प्रायः 18 से 28 वर्ष तक की आयु के युवकों को लोक सेवाओं में भर्ती किया जाता है और सेवाकाल में उन्हें उच्चतर पदों के लिए प्रशिक्षण दिया जाता है, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रशिक्षित प्रत, अनुभवी और परिपक्व आयु के युवकों को भर्ती करने की प्रथा है। वहाँ वैज्ञानिक एवं व्यावसायिक, तकनीकी पदों के लिए आयु-सीमा 34, 45 तथा 53 वर्ष है। अमेरिका में बल इस बात पर दिया जाता है कि—"प्रत्येक व्यक्ति को जब भी वह चाहे लोकसेवा के लिए प्रतियोगी बनने का अवसर दिया जाता है।"

विशिष्ट योग्यताओं में निम्नलिखित पहलुओं को सम्मिलित किया जाता है—

1. शिक्षा (Education)—प्रशासनिक अधिकारियों की शैक्षणिक योग्यता के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक आधार पर विचारक एकमत नहीं हैं। ब्रिटेन और भारत में सरकारी सेवा में प्रवेश के लिए न्यूनतम शिक्षा निर्धारित कर दी

गई है, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में शिक्षा के आधार पर भेदभाव को अमान्य ठहराया गया है और कोई भी व्यक्ति, जो प्रतियोगी परीक्षा पास कर लेता है, नागरिक सेवा में प्रवेश कर सकता है।

शैक्षणिक योग्यता दो प्रकार की होती है—(1) सामान्य शिक्षा अर्थात् वह शिक्षा जो एक छात्र सामान्य शैक्षणिक संस्थाओं में प्राप्त करता है, एवं (2) विशिष्ट शिक्षा जो व्यावसायिक शिक्षण संस्थाओं में दी जाती है, यथा—डॉक्टरी अथवा इंजीनियरिंग की शिक्षा। तकनीकी (Technical) और व्यावसायिक (Professional) पदों पर उन्हीं व्यक्तियों की भर्ती उपयुक्त है जिन्होंने उस व्यवसाय में तकनीकी शिक्षा प्राप्त की हो। जहाँ तक अन्य सरकारी नौकरियों का सम्बन्ध है कुछ देशों में औपचारिक शिक्षा (Formal Education) अनिवार्य है, जबकि कुछ देशों में ऐसा नहीं है। अमेरिका में अप्राविधिक अथवा तकनीकी प्रकृति की सरकारी नौकरी में प्रवेश के लिए *औपचारिक शिक्षा की आवश्यकता को उचित नहीं समझा जाता है।* भारत और इंग्लैण्ड में औपचारिक शिक्षा सरकारी नौकरियों में प्रवेश की एक पूर्व शर्त है। इसके अभाव में उच्च पदों के लिए प्रत्याशियों का चयन नहीं किया जाता है।

2. अनुभव (Experience)—अनुभव का अर्थ उस व्यावहारिक प्रशिक्षण से है, जो व्यक्ति ने कार्य के वास्तविक सम्पादन के समय प्राप्त किया हो। जहाँ शैक्षणिक योग्यता और व्यावहारिक प्रशिक्षण को कम महत्व दिया जाता है, वहाँ भर्ती के सम्बन्ध में 'अनुभव' अधिक आकर्षण का केन्द्र होता है। तकनीकी प्रशिक्षण की सेवाओं में अनुभव का विशेष महत्व है। प्रशासनिक पदों पर अनुभव वरिष्ठता का ही दूसरा नाम है।

3. वैयक्तिक गुण (Personal Qualifications)—ईमानदारी, व्यवहार-कौशल, सामयिक सूझबूझ (Presence of Mind), विश्वसनीयता (Reliability), उपायकुशलता (Resourcefulness), दृढ़ता (Persistence), निर्देश एवं नियन्त्रण की सामर्थ्य आदि योग्यताएँ किसी भी लोक-कर्मचारी के लिए महत्वपूर्ण समझी जाती हैं। इन योग्यताओं के निर्धारण का उद्देश्य यही है कि लोक सेवाओं में योग्य और सक्षम व्यक्ति प्रवेश करें और उन्हें सक्षमता प्रदान करें। फिफनर और प्रिस्थस ने एक प्रशासकीय संगठन के लोक सेवक के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ आवश्यक मानी हैं— (1) विचारों की लोचशीलता हो, किन्तु अनिवार्यतः एक वैज्ञानिक ढंग हो, जो समन्वय की आवश्यकता को मान्यता दे, (2) संगठन और प्रबन्ध की विषय-वस्तु का ज्ञान, (3) समस्या का समाधान करने में सुगमता, (4) पढ़ने-लिखने की पर्याप्त विकसित योग्यता और (5) जटिल परिस्थितियों को वैयक्तिक सम्पर्क द्वारा सुलझाने की योग्यता।

4. तकनीकी कुशलता (Technical Skill)—इसका आशय किसी विशेष क्षेत्र, विशद् ज्ञान से है जो विशेष प्रशिक्षण और प्रोत्साहन से ही प्राप्त हो पाता है। तकनीकी प्रकृति के पदों के लिए तकनीकी कुशलता प्रायः अनिवार्य होती है। कानूनी विशेषज्ञ, तकनीकी विशेषज्ञ, इंजीनियर, डॉक्टर, आदि ऐसे ही पद हैं।

भर्ती की प्रणालियाँ (Methods of Recruitment)

वर्तमान समय में भर्ती की दो प्रमुख प्रणालियाँ है—

1. भीतर से भर्ती अथवा पदोन्नति (Promotion)

नौकरशाही तथा कुलीनतंत्र में विश्वास करने वाले व्यक्ति लोक सेवाओं में व्यावसायिकता (Professionalization) को महत्व देते हैं। उनका मत है कि भर्ती पदोन्नति द्वारा की जानी चाहिए।

इस व्यवस्था के लाभ इस प्रकार हैं—1. अनुभवी लोग उच्च पदों पर आते हैं, जिसके फलस्वरूप संगठन को परिपक्व अनुभव का पूरा-पूरा लाभ मिल जाता है। 2. अधिकारियों की भावी प्रगति और विकास के अवसर बढ़ जाते हैं। पदोन्नति की आशा में लोक सेवक अधिक लगन और उत्साह से काम करते हैं जिससे प्रशासकीय क्षमता में वृद्धि होती है। 3. पदोन्नति के प्रचुर अवसर प्राप्त होते हैं। अतः कर्मचारी प्रायः कम वेतन में काम करना स्वीकार कर लेते हैं। 4. यह पद्धति परीक्षा-पद्धति से अधिक अच्छी है। कोई भी परीक्षा ऐसी नहीं होती जो अभ्यर्थी की व्यक्तिगत योग्यताओं को भली प्रकार उजागर कर सके। उसकी क्षमता के अनुसार ही उसे कार्य सौंपा जा सकता है। 5. सीधी भर्ती में यह सन्देह बना रहता है कि नया अधिकारी अपने उत्तरदायित्वों को ठीक प्रकार से *निभा सकेगा या नहीं।* 6. पदोन्नति में अनुभव-प्राप्त व्यक्ति प्राप्त होने से यह सम्भावना नहीं रहती है। पदोन्नति द्वारा भर्ती की व्यवस्था से लोक सेवा आयोग का कार्य भार हल्का हो जाता है, उसे उच्च पदों के लिए विज्ञापन निकालने और हजारों अभ्यर्थियों की परीक्षा लेने की उलझन में नहीं फँसना पड़ता है। अतः यह खर्चीली पद्धति नहीं है। 7. इस व्यवस्था में कर्मचारी पहले से ही सेवा में होते हैं और उच्च पदों पर नियमानुसार पदोन्नत कर दिए जाते हैं, अतः उनको प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती और इस प्रकार प्रशिक्षण-व्यय में पर्याप्त बचत होती है। 8. इससे सेवारत कर्मचारियों को पदोन्नति प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती रहती है और वे परिश्रम एवं निष्ठा से कार्य करने के लिए प्रेरित होते हैं।

पदोन्नति व्यवस्था के अनेक गंभीर दोष भी हैं जैसे—1. ये चयन के क्षेत्र को अत्यन्त सीमित कर देते हैं, अतः देश के बहुत योग्य व्यक्ति सरकारी सेवाओं में जाने से वंचित रह जाते हैं। प्रायः मध्यम श्रेणी के बुद्धिजीवी वर्ग को ही इन सेवाओं में प्रवेश के अधिक अवसर मिल पाते हैं। 2. यह व्यवस्था सामान्य नागरिक के सरकारी सेवाओं में प्रवेश पाने के अधिकार को महत्त्वहीन बना देती है, क्योंकि अपेक्षाकृत सरकारी कर्मचारियों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस प्रकार का पक्षपातपूर्ण रवैया समानता के सिद्धान्त के साथ मेल नहीं खाता। 3. उच्च स्तरों पर हमेशा विभाग के पुराने परम्परावादी कर्मचारी जमे रहते हैं जो 'लकीर के फकीर' होते हैं तथा प्रशासनिक क्रियाओं में नए और उपयोगी परिवर्तनों का स्वागत नहीं करते। 4. कर्मचारियों में अधिक परिश्रम की प्रेरणा समाप्त होती है और वे अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करने लगते हैं। कर्मचारी यह मानते हैं कि उच्चतर पदों पर उन्हीं में से नियुक्तियाँ (पदोन्नतियाँ) की जा सकती हैं। यह अनुभूति उन्हें लापरवाह बना देती है। 5. इससे विभागीय अनुशासनहीनता की प्रवृत्ति भी जन्म ले सकती है।

2. बाहरी अथवा प्रत्यक्ष भर्ती (Direct Recruitment)

भीतरी भर्ती अथवा पदोन्नति सही अर्थ में 'भर्ती' है ही नहीं, क्योंकि इसमें नए व्यक्तियों को सेवा में न लेकर पहले से सेवारत लोगों को ही पदोन्नत किया जाता है। भर्ती का सही रूप तो बाह्य अथवा प्रत्यक्ष ही है। इसका आशय है खुले क्षेत्र से कर्मचारियों की भर्ती करना। बाहर से भर्ती को 'सीधी भर्ती' (Direct Recruitment) का नाम भी दिया जाता है।

इस पद्धति के अनेक लाभ हैं—1. इसमें प्रत्येक स्तर पर कर्मचारियों के चयन का व्यापक क्षेत्र रहता है। प्रत्याशी बहुत बड़ी संख्या में होते हैं, अत. योग्यता का सिद्धान्त लागू किया जा सकता है। प्रतिभा-सम्पन्न लोगों के प्रशासनिक सेवा में आने से संगठन की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। 2. लोक सेवा में नया खून प्रवेश करता रहता है और इनमें अर्थात् विश्वविद्यालयों से निकले नवयुवकों में उत्साह, लगन, नए-नए प्रयोग करने की इच्छा और आगे बढ़कर कार्य करने अथवा कुछ कर गुजरने की महत्त्वाकांक्षा होती है। 3. इस पद्धति से रूढ़िवादिता पर कुठाराघात होता है। 4. यह पद्धति 'सबके लिए समान अवसर' के लोकतान्त्रिक सिद्धान्त के अनुरूप है। 5. इस भर्ती में चयन किए जाने वाले प्रत्याशी कड़ी प्रतियोगिता के बाद नियुक्त किए जाते हैं, अतः वे संगठन को क्रियाशील बनाए रखने के लिए तत्परता प्रदर्शित करते हैं।

इस पद्धति के भी अनेक दोष हैं—1. अनुभवहीन व्यक्तियों को उच्च पदों पर नियुक्त कर दिया जाता है। ये नवयुवक विभाग की जटिल क्रियाओं को उतनी क्षमता के साथ पूरी नहीं कर सकते जितना कि विभाग के अनुभवी कर्मचारियों द्वारा पूरा किया जाता है। किताबी ज्ञान कुछ और बात है और व्यावहारिक ज्ञान कुछ और। 2. सरकारी सेवाओं में पहले से नियुक्त कर्मचारियों को पदोन्नति के पर्याप्त अवसर नहीं मिलते हैं। अतः उनमें असन्तोष फैलता है, उनका उत्साह मारा जाता है जिसका विभाग की क्रियाशीलता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। 3. यह एक खर्चीली व्यवस्था है। अनुभवहीन प्रत्याशियों को प्रशिक्षण देने के लिए सरकार को अतिरिक्त व्यय-भार करना पड़ता है। 4. निम्न श्रेणियों के पदों के लिए योग्य व्यक्ति उपलब्ध नहीं होते। कुशल व्यक्ति निचली श्रेणी में नियुक्ति पाने का प्रयास नहीं करते क्योंकि आगे पदोन्नति की आशाएँ धूमिल होती हैं। 5. नया खून अनेक बार बूढ़े और पुराने खून का स्वामी बन जाता है जिससे प्रौढ़ कर्मचारियों की मर्यादा को ठेस पहुँचती है और वे उन्हें खुले दिल से सहयोग नहीं देते। 6. अनेक बार उनके बीच संघर्ष और तनाव की स्थिति खुलकर सामने आ जाती है।

प्रभावी परीक्षा-व्यवस्था की विशेषताएँ
(The Characteristics of Effective Examination System)

परीक्षा-व्यवस्था का प्रमुख लक्ष्य आवेदनकर्त्ताओं में से योग्यतम को छाँटना है। आवेदकों की योग्यताओं को एक पद विशेष के सन्दर्भ में तुलनात्मक रूप से देखा जाता है, परखा जाता है, मूल्यांकन किया जाता है और इसके बाद श्रेष्ठतम को चुन लिया जाता है। एक श्रेष्ठ और प्रभावशाली परीक्षा-व्यवस्था में कुछ ऐसे गुण होते हैं जिनके आधार पर उपयुक्त पदाधिकारी ढूँढा जा सकता है। सफल और प्रभावशाली परीक्षा-व्यवस्था की निम्नलिखित मुख्य विशेषताएँ मानी जाती हैं—

1. वस्तुगतता (Objectivity)—यह आवश्यक है कि परीक्षा वस्तुगत रूप से हो अर्थात् जाति, धर्म, जन्म-स्थान, राजनीति, लिंग, आयु आदि तत्त्वों से अप्रभावित रहते हुए अपना निर्णय ले। पदाधिकारी के चयन में वस्तुगतता की माँग है कि उम्मीदवार की मानसिक तथा बौद्धिक योग्यता एवं कुशलता को पद की आवश्यकताओं के सन्दर्भ में देखा जाए और यदि दोनों के बीच उचित सामन्जस्य है तो अन्य किसी कारण से उम्मीदवार को अयोग्य न ठहराया जाए।

2. युक्तियुक्तता (Validity)—परीक्षाएँ युक्तियुक्त हों अर्थात् अभ्यर्थियों को उतना ही मापा जाए जितना उन्हें मापना उपयुक्त है। इसके लिए आवश्यक है कि कार्यकुशलता को कुछ मापदण्डों और जाँच-परिणामों के बीच परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया जाए। उदाहरणार्थ, यदि एक टंकणकर्ता (Typist) की कार्यकुशलता जाँचनी हो तो उसे विशेष पद के लिए आवश्यक टंकण-गति एवं टंकणकर्ता की गति के बीच सम्बन्ध स्थापित करके देख लिया जाना चाहिए।

3. विश्वसनीयता (Reliability)—परीक्षा और जाँच का तरीका विश्वसनीय होना चाहिए अर्थात् उनके परिणाम हर समय लगभग समान रहने चाहिए। यदि कोई उम्मीदवार पहली बार की जाँच में कार्यकुशल, किन्तु अगली बार की जाँच में निकम्मा सिद्ध हो तो जाँच के इस तरीके को विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। किसी भी जाँच प्रक्रिया की विश्वसनीयता सामान्यतः दो प्रकार से निश्चित की जा सकती है। प्रथम, एक ही समूह की दो विभिन्न समस्याओं की जाँच की जाए फिर परिणामों की तुलना की जाए। द्वितीय, एक ही जाँच के दो या अधिक तरीकों को काम में लाया जाए और इनके परिणामों की तुलना की जाए। इस विश्वसनीयता पर ही भर्ती प्रणाली के प्रति लोगों में विश्वास की भावना उत्पन्न होगी।

4. संक्षिप्तता (Brevity)—जाँच संक्षिप्त होनी चाहिए। यदि जाँच तुलनात्मक रूप से अधिक लम्बी है, आवेदक का बहुत समय लगता है और परीक्षक को भी पर्याप्त समय देना होता है तो दोनों ही की कार्यकुशलता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है और परीक्षा का उपर्युक्त परिणाम प्राप्त नहीं होता। अतः जाँच का तरीका संक्षिप्तता लिए हुए होना चाहिए, जिससे कि अनावश्यक विलम्ब न हो।

परीक्षा के स्वरूप (The Forms of Examination)

सामान्यतः योग्यता की व्यक्तिगत रूप में जाँच करने के लिए जो विभिन्न परीक्षाएँ ली जाती हैं, वे निम्नांकित प्रकार की होती हैं—

(1) लिखित परीक्षाएँ (Written Tests)—परीक्षाओं का यह सर्वविदित रूप है जिसके आधार पर आवेदक की योग्यता को तत्काल मापा जा सकता है। लिखित परीक्षाएँ सीधी भर्ती के लिए भी होती हैं और पदोन्नति के लिए भी। इनके तीन भाग हैं—

(i) ज्ञान प्राप्ति मापन परीक्षा (Achievement Tests)—उम्मीदवारों की शैक्षणिक एवं ज्ञान सम्बन्धी योग्यताओं को मापने के लिए जो परीक्षाएँ सम्पन्न की जाती हैं, उन्हें इस श्रेणी में लिया जाता है। इससे यह मूल्याँकन हो पाता है कि उम्मीदवार द्वारा प्राप्त की गई उपाधियाँ वास्तविक और अर्थपूर्ण हैं एवं व्यक्ति में कार्य करने की योग्यता है।

(ii) अभिरुचि परीक्षा (Aptitude Tests)—जब परीक्षाएँ अभ्यर्थी की अभिरुचि जानने के लिए सम्पन्न की जाती हैं तो उन्हें इस श्रेणी में रखा जाता है। ग्रेट ब्रिटेन में कुल विश्वविद्यालयों और सैनिक सेवाओं के लिए यही परीक्षा प्रणाली अपनाई जाती है। इस पद्धति से यह पता चल जाता है कि उम्मीदवार में काम सीखने की कितनी योग्यता है।

(iii) सामान्य अथवा विशेष योग्यता की परीक्षाएँ (The Tests of General or Particular Abilities)—उम्मीदवार की बौद्धिक, मानसिक, सामाजिक तथा प्रशासकीय योग्यताओं को मापने के लिए जो परीक्षाएँ सम्पन्न होती हैं वे इसमें शामिल होती हैं।

लिखित परीक्षा में उम्मीदवार को अपना उत्तर देने की कितनी स्वतन्त्रता दी जाती है। इस आधार पर लिखित परीक्षाओं को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) स्वतन्त्र-उत्तर परीक्षाएँ (Free-response Tests)—इन परीक्षाओं को प्रायः विषयगत (Subjective) परीक्षा भी कहा जाता है। यह परीक्षा का एक पुराना रूप है जिसमें परीक्षार्थी को उत्तर देने की पूरी स्वतन्त्रता दी जाती है। इस प्रकार की परीक्षाओं के मुख्यतः तीन रूप हो सकते हैं। प्रथम रूप निबन्धात्मक हो सकता है जिसमें आवेदक को एक पूरा-पूरा पैरा या पृष्ठ लिखना होता है। द्वितीय, यह छोटे उत्तरों के रूप में भी हो सकता है जिसमें परीक्षार्थी को केवल एक या दो पंक्ति में ही उत्तर देना पड़े। तृतीय, यह परीक्षा रिक्त स्थानों की पूर्ति के रूप में भी हो सकती है। स्वतन्त्र-उत्तर परीक्षाएँ आवेदक के ज्ञान एवं दृष्टिकोण को जानने के लिए बड़ी उपयोगी होती हैं।

इनका सबसे बड़ा लाभ यह है कि परीक्षा बहुत सरलतापूर्वक ली जा सकती है। इस पद्धति के कतिपय दोष भी हैं। इस प्रणाली का मुख्य दोष यह है कि वस्तुगत प्रश्नों की रचना करना बहुत कठिन होता है। दूसरे, इन परीक्षाओं में जाँच करने के लिए अधिक समय की आवश्यकता होती है। कोई ऐसा एक रूप अथवा विश्वसनीय तरीका नहीं है जिसके द्वारा उत्तरों का मूल्याँकन किया जा सके। निबन्ध लिखने अथवा अन्य उत्तरों को देने में

योग्य व्यक्ति निःसन्देह एक अच्छा साहित्यकार हो सकता है, किन्तु यह कैसे माना जाए कि वह एक अच्छा प्रशासक भी होगा। ऐसी स्थिति में परीक्षा को तर्कसगत नहीं कहा जा सकता।

(ब) सीमित-उत्तर परीक्षाएँ (Limited-response Tests)—इन परीक्षाओं में परीक्षार्थी को उत्तर देने की बहुत कम स्वतन्त्रता मिलती है। परीक्षा की इस पद्धति में गणित की भाँति इन प्रश्नों का निश्चित उत्तर होता है और उत्तर को यदि परीक्षार्थी उसी रूप में प्रस्तुत कर देता है तो वह सफल माना जाता है अन्यथा वह असफल सिद्ध होता है। आजकल स्वतन्त्र उत्तर-परीक्षाओं की अपेक्षा इनका प्रयोग अधिक किया जाता है। इन परीक्षाओं का प्रचलन सर्वप्रथम मनोविज्ञान के क्षेत्र में हुआ था। टोरपे (Torpey) के अनुसार इन परीक्षाओं के चार रूप हो सकते हैं—

प्रथम, मिलाना; अर्थात् उम्मीदवार को दो तथ्य बताए जाते हैं और उनके बीच सम्बन्ध मालूम किया जाता है।

दूसरे, प्रबन्ध; इसमें उम्मीदवार को कुछ चीजें व्यवस्थित करने के लिए दी जाती हैं।

तीसरे, सही-गलत विवेचन; इसमें कोई भी निर्णय देने के बाद उम्मीदवार से यह पूछा जाता है कि यह सही है या गलत।

चौथे, बहुचयनात्मक प्रश्न; जिसमें उम्मीदवार कुछ सम्भावित उत्तरों में से सर्वाधिक उचित उत्तर को छाँटता है।

इस परीक्षा का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें बहुत सावधानी से तैयारी करनी पड़ती है और यह तुलनात्मक रूप से अधिक विश्वसनीय है। इसमें परीक्षार्थी के ज्ञान की अधिक जाँच की जा सकती है और कम समय में उसके ज्ञान के अधिकाश क्षेत्र का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। लिखित परीक्षाएँ मुख्य रूप से इसलिए अधिक लोकप्रिय होती हैं क्योंकि इनसे पक्षपात की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं और योग्य व्यक्ति को दबाने के लिए कोई अनुचित साधन नहीं अपनाया जा सकता है।

इसका प्रमुख दोष यह है कि इसमें उम्मीदवार की केवल स्मरण-शक्ति का ही अकन हो पाता है, उसके सर्वांगीण व्यक्तित्व का मूल्यांकन नहीं हो सकता है।

(2) मौखिक परीक्षाएँ (Oral Examinations)—उम्मीदवार की अनेक योग्यताएँ लिखित परीक्षा के माध्यम से नहीं परखी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, उम्मीदवार किस प्रकार बोलता है, उसके व्यवहार के तरीके किस प्रकार के हैं तथा उसका व्यक्तित्व पद के योग्य है अथवा नहीं, आदि बातें लिखित परीक्षा द्वारा मालूम नहीं की जा सकती हैं क्योंकि मूल्यांकन करने वाले के सामने केवल कुछ लिखित पृष्ठ होते हैं जिनके आधार पर वह प्रत्याशी की योग्यता का अनुमान लगाता है। इस अनुमान को अधिक वास्तविकता प्रदान करने के लिए व्यक्तिगत साक्षात्कार का सहारा लिया जाता है। मौखिक पूछताछ करके उम्मीदवार के कई गुणों को जाना जा सकता है। मौखिक परीक्षाओं में जो समय खर्च होता है तथा प्रक्रिया सम्बन्धी जो अन्य कठिनाई होती हैं, उनके फलस्वरूप केवल लिखित परीक्षा में सफल व्यक्तियों को ही मौखिक परीक्षा के लिए आमन्त्रित किया जाता है।

मौखिक परीक्षा के संक्षेप में दो लक्ष्य होते हैं—प्रथम तो उम्मीदवार को एक बार देख लेना और दूसरे उसके सकारात्मक या नकारात्मक गुणों को जानना। इस प्रकार की परीक्षा करने के लिए एक मण्डल अथवा चयन बोर्ड बना दिया जाता है जिसमें लोक सेवा आयोग के सभापति के अतिरिक्त विभाग का अध्यक्ष, कार्य का विशेषज्ञ एवं ऐसे ही कुल तीन या पाँच व्यक्तियों को लिया जाता है। इस प्रकार की परीक्षा के माध्यम से यह जाना जा सकता है कि उम्मीदवार में नेतृत्व, सजगता, सामाजिक जागरुकता, बोलने की योग्यता आदि गुण कितने तथा कैसे हैं ? इन परीक्षाओं में उम्मीदवार से अनेक अनौपचारिक प्रश्न पूछ कर उपयुक्त वातावरण का निर्माण किया जाता है और तब उम्मीदवार की योग्यता को मापने की चेष्टा की जाती है।

यह परीक्षा-पद्धति भी दोष-रहित नहीं है। इसके दोष पर्याप्त रूप से गम्भीर हैं, जैसे—

(1) इस प्रकार की परीक्षा में समय बहुत अधिक लगता है।

(2) धन भी पर्याप्त व्यय करना पड़ता है।

(3) इस प्रकार की परीक्षाएँ व्यक्ति के चरित्र की समस्त विशेषताओं को प्रकट नहीं कर पातीं। केवल वे ही गुण सामने आते हैं जिनको परीक्षक चाहता है।

(4) यह परीक्षा विषयगत (Subjective) होती है और इसीलिए साक्षात्कार द्वारा व्यक्ति का पूर्ण व्यक्तित्व उजागर नहीं हो पाता।

(5) उम्मीदवार के किसी गुण की व्याख्या का उत्तरदायित्व परीक्षक पर होता है, अतः यहाँ ऐसी भी सम्भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं कि उसके गुणों को अवगुण मान लिया जाए अथवा अवगुणों को आँखों से ओझल कर दिया जाए। स्टाल (Stahl) ने लिखा है कि "ज्ञान अथवा प्राप्तियों को निश्चित करने के लिए व्यक्तियों की मौखिक परीक्षा लोकसेवा में कम होती है। यह लक्ष्य लिखित परीक्षा द्वारा जल्दी एवं कम खर्च में प्राप्त किया जा सकता है।"[1]

1. *Stahl*, Op cit., p. 76

(6) कभी-कभी उम्मीदवार को सब कुछ आने के बाद भी वह अपनी सर्वोत्कृष्ट प्रतिभा का प्रदर्शन नहीं कर पाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह असफल है, अथवा अयोग्य है।

मौखिक परीक्षा को अधिक से अधिक वस्तुगत बनाकर उपयोगी बनाया जा सकता है। इस प्रकार की परीक्षा को सामूहिक रूप में लिया जाना अधिक उपयोगी रहता है। उम्मीदवारों के एक समूह को कोई समस्या विचारार्थ दे दी जाती है और परीक्षक द्वारा उनके व्यवहार की जाँच की जाती है। विचार-विमर्श लगभग घण्टे-डेढ घंटे तक चलता रहता है और इस बीच उम्मीदवारों की व्यक्तिगत विशेषताओं को परीक्षक द्वारा नोट कर लिया जाता है। मौखिक परीक्षा द्वारा व्यक्ति की सजगता, बुद्धि और बौद्धिक दृष्टिकोण की जाँच की जा सकती है और यह अन्य प्रणालियों की अपेक्षा अच्छी तरह से हो सकती है।

(3) **शिक्षा और अनुभव का मूल्यांकन** (Evaluation of Education and Expenence)—लोक प्रशासन में किसी भी पद का उम्मीदवार बनने के लिए कुछ विशेष योग्यता निर्धारित कर दी जाती है और उससे रहित व्यक्ति को उस पद के अयोग्य समझा जाता है। इस प्रकार की परीक्षा के लिए स्वयं उम्मीदवार को नहीं आना होता। उसके द्वारा भेजा गया प्रार्थना-पत्र एवं उससे सलग्न अन्य कागजात ही परीक्षा के लिए पर्याप्त आधार का काम करते हैं। डाक द्वारा भेजे गए पत्रों के आधार पर की जाने वाली यह परीक्षा अनेकत्रित परीक्षा (Unassembled Test) कहलाती है।

इस प्रकार की परीक्षाओं में आवेदक को समूह में नहीं मिलना पड़ता वरन् उसका शिक्षा या अनुभव या दोनों के आधार पर मूल्यांकन किया जाता है। इस परीक्षा के आधार वे प्रमाण-पत्र होते हैं जो प्रार्थना-पत्र के साथ संलग्न होते हैं साथ ही प्रकाशन, प्रतिवेदन तथा विशेष प्रश्न-पत्र के लिए उत्तर आदि से भी सहायता ली जा सकती है। ये परीक्षाएँ प्राय उन पदों के लिए ली जाती हैं जिनमें परिपक्वता एव अनुभव की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त प्रायः अस्थायी पदों की भर्ती के लिए भी इसे अपना लिया जाता है, क्योंकि इन पदों पर *एकत्रित परीक्षा (Assembled Test) को खर्च के कारण उचित नहीं समझा जाता।*

(4) **कार्य-सम्पन्नता जाँच** (Performance)—एकत्र रूप में सम्पन्न की जाने वाली परीक्षाएँ (Assembled Tests) लिखित तथा अलिखित दोनों रूपों में ली जाती हैं, किन्तु एकत्र रूप में ही की जाने वाली कुछ परीक्षाएँ ऐसी होती हैं जो न तो लिखित होती हैं और न अलिखित, अपितु इनमें कोई कार्य सम्पन्न कराया जाता है और उसके आधार पर उम्मीदवार की योग्यता का स्तर मापा जाता है। उद्योग एवं लोक प्रशासन में इस प्रकार की परीक्षाएँ बड़ी लोकप्रिय हो गई हैं। तकनीकी प्रकृति के पदों में यह परीक्षा महत्त्वपूर्ण है। परीक्षा की दूसरी प्रक्रियाओं से भी किसी न किसी रूप में कार्य सम्पन्न करना होता है, किन्तु इस परीक्षा में सम्पन्न किए जाने वाले कार्यों का सीधा सम्बन्ध उस पद विशेष से रहता है। यह परीक्षा एक पेनल अथवा बोर्ड द्वारा ली जाती है जिसमें दो या अधिक कार्यों के विशेषज्ञ रहते हैं। इन परीक्षाओं का महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि इनको प्रार्थी एवं पर्यवेक्षक, दोनों द्वारा न्यायोचित ठहराया जाता है। ये परीक्षाएँ स्वैच्छिक आवश्यकताओं को कम या समाप्त कर देती हैं, पर दूसरी ओर इनको क्रियान्वित करने में प्रशासन को भारी व्यय उठाना पड़ता है।

(5) **मेडिकल जाँच** (Medical Tests)—अनेक पदों पर यह जरूरी समझा जाता है कि दूसरी परीक्षाओं में सफलता प्राप्त करने के बाद उम्मीदवार की नियुक्ति से पूर्व उसकी मेडिकल जाँच कर ली जाए। सैनिक प्रशासन में मेडिकल जाँच को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है क्योंकि वहाँ शारीरिक शक्ति एवं सामर्थ्य ही अधिकांश पदों पर प्राथमिकता की वस्तु होती है। यह परीक्षा या तो सरकारी इकाई द्वारा नियुक्त डॉक्टर द्वारा ली जाती है अथवा किसी प्राइवेट चिकित्सक द्वारा। इस परीक्षा का मुख्य लक्ष्य उम्मीदवार की 'फिटनेस' का मूल्यांकन करना होता है।

(6) **शारीरिक जाँच एवं अन्य जानकारी** (Physical Test and Other Information)—मेडिकल जाँच के आधार पर तो यह ज्ञात किया जाता है कि उम्मीदवार में कोई ऐसा दोष या बीमारी तो नहीं है जो उसके द्वारा पद के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने में बाधक बन सके। शारीरिक जाँच द्वारा यह जानने की चेष्टा की जाती है कि क्या उम्मीदवार में इतनी शारीरिक शक्ति है कि वह अपने पद पर सुचारू रूप से कार्य कर सके। शारीरिक जाँच का रूप उस पद की आवश्यकताओं के आधार पर निर्धारित किया जाता है।

(7) **अन्य साधन**—उत्तरदायित्व पदों पर परीक्षा की प्रक्रिया में कुछ अन्य साधनों का भी उपयोग किया जा सकता है। किसी विषय के सन्दर्भ में पूछताछ की जा सकती है, योग्यताओं को पुन परखा जा सकता है अथवा व्यक्तिगत रूप से कुछ जाँच की जा सकती है। यह कहा जाता है कि उम्मीदवार यदि शिक्षा एवं अनुभव सम्बन्धी सभी योग्यताओं को पूरी करता है तथा लिखित परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त कर लेता है तो भी यह जरूरी नहीं कि

वह एक पद विशेष के उपयुक्त हो ही; क्योंकि उसका चरित्र, स्वभाव, कार्य-सम्पन्नता का गुण तथा अन्य ऐसे तत्त्वों की स्थिति, जिनको परीक्षा की औपचारिक प्रक्रिया में मापा नहीं जा सकता, उसे पद के लिए अनुपयुक्त ठहरा सकती है। अतः इनसे सम्बन्धित विश्वसनीय सूचना प्राप्त करने के लिए योग्यतापूर्वक पूछताछ करनी चाहिए। इस प्रकार से की गई जानकारी को सम्पूर्ण परीक्षा-व्यवस्था का सहयोगी भी बनाया जा सकता है। चरित्र, कुशलता एवं सामर्थ्य से सम्बन्धित जानकारी को उम्मीदवार की योग्यता मापने के लिए आधार बनाया जा सकता है। व्यक्तिगत जाँच-पड़ताल का यह तरीका अत्यन्त महँगा है। अतः इसका प्रयोग एक आवश्यकता के रूप में ही किया जाना चाहिए। तकनीकी एवं प्रबन्धात्मक पदों के लिए इस प्रक्रिया का भारी मूल्य है।

सरकारी पदों पर भर्ती करते समय उम्मीदवारों की योग्यता की जाँच करने के लिए जिन विभिन्न परीक्षा के रूपों का वर्णन किया गया है, वे सभी एक साथ काम में नहीं लाये जाते हैं। उनमें से आवश्यकतानुसार एक या दो रूपों को ही संयुक्त रूप में काम में लाया जाता है। एक पद के क्या कार्य एवं उत्तरदायित्व हैं इसके आधार पर ही यह तय किया जाता है कि उस पद पर भर्ती करते समय परीक्षा की किस प्रक्रिया का उपयोग किया जाए। पद के उत्तरदायित्व एवं कर्तव्यों के आधार पर यह तय किया जाता है कि उम्मीदवार की योग्यता को किस प्रकार मापा जाए। टोरपे (Torpey) का कहना है कि जहाँ कहीं भी जाँच के प्रकारों का संयोग होता है वहाँ अनेक तत्त्वों द्वारा यह तय किया जाता है कि जाँच के किस प्रकार को कितना महत्त्व दिया जाए। ये तत्त्व हैं पद के लिए आवश्यक कुशलताओं का सापेक्ष महत्त्व, विशेष जाँचों की सापेक्ष न्यायिकता एवं विश्वसनीयता और व्यावसायिक क्षेत्र में विशेषज्ञों का मत आदि।[1]

निष्पक्ष भर्ती में बाधाएँ

(The Hinderances of Fare Recruitment)

लोक प्रशासन में भ्रष्टाचार को समाप्त कर ईमानदारी, सचाई, लोकहित, वस्तुगतता तथा ऐसे ही अन्य गुणों का समावेश करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सरकारी पदों पर की जाने वाली नियुक्तियाँ निष्पक्ष और योग्यता के आधार पर लेकिन पर अधिकारियों की निष्पक्ष नियुक्ति के मार्ग में अनेक समस्याएँ हैं जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उम्मीदवारों एवं भर्तीकर्त्ता के व्यवहार को प्रभावित कर उन्हें अनुचित साधन अपनाने के लिए प्रेरित करती हैं।

1. राष्ट्रीय चरित्र (National Character)—राष्ट्रीय चरित्र की कमजोरी देश की प्रशासनिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि किसी भी समस्या का समाधान नहीं होने देती। राष्ट्रीय चरित्र में देश के नागरिकों की प्रकृति, मनोभाव, सामाजिक मूल्य, सामूहिक व्यवहार सभी कुछ निहित हैं। राष्ट्रीय चरित्र की माँग है कि लोक प्रशासन के क्षेत्र में भर्ती के लिए एक निष्पक्ष और तटस्थ दृष्टिकोण अपनाया जाए ताकि प्रशासन भ्रष्टाचार से मुक्त रहे। राष्ट्रीय चरित्र इस बात का निर्धारक है कि अभ्यर्थियों की योग्यता का पता लगाने के लिए कठिन साधनों का प्रयोग किया जाए, परीक्षा किस प्रकार सम्पन्न की जाए, एक पद के लिए कौन-सी आवश्यक योग्यताएँ निश्चित की जाएँ, आदि। भारत में जब तक राष्ट्रीय चरित्र से भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, रिश्वतखोरी और पक्षपात की भावना को समाप्त नहीं किया जायेगा तब तक सार्वजनिक पदों पर निष्पक्ष भर्ती की आशा नहीं की जा सकती है।

2. आर्थिक समस्याएँ (Economic Problems)—आर्थिक दृष्टि से हीन और विपन्न समाज में ऊँचे आदर्श, उच्च जीवन-मूल्यों, उच्च विचारों और परम्पराओं की बात कुछ अटपटी लगती है। जहाँ आर्थिक समस्याएँ मुँह बाए खड़ी हैं वहाँ किसी भी क्षेत्र में निष्पक्षता की बात कम जँचती है। आर्थिक अभावों से ग्रस्त समाज में धन ही सब कुछ है और प्रशासनिक पदों पर नियुक्ति के समय लक्ष्मी का अनुचित हस्तक्षेप रहता है। इन आर्थिक अभावों ने लोगों के राष्ट्रीय चरित्र को गिरा दिया है।

3. परीक्षा का कम समय (Short Period of Examination)—प्रशासनिक पदों पर नियुक्ति करते समय ली जाने वाली परीक्षाएँ इतनी अल्पकालीन और छोटी होती हैं कि उनसे प्रत्याशियों की योग्यता का सही अनुमान नहीं लग पाता। परीक्षा-व्यवस्था में भी परीक्षार्थियों पर अनेक सीमाएँ लगी रहती हैं अतः वे अपनी पूर्ण योग्यता का प्रदर्शन नहीं कर पाते। व्यक्तिगत साक्षात्कार के कुछ क्षणों में ही परीक्षक उम्मीदवार की योग्यता का अनुमान लगाकर निर्णय ले लेता है। स्पष्ट है कि यह अनुमान वस्तुगत होने की अपेक्षा विषयगत अधिक होता है जिसके फलस्वरूप निष्पक्ष भर्ती की धारणा को ठेस पहुँचती है।

---

1 *William G Torpey*: Op. cit., p. 113.

4. भाषा (Language)—*भाषा और भावों-विचारों की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है।* भाषा सम्बन्धी कठिनाई उम्मीदवार को उसकी योग्यता सही रूप से प्रदर्शित करने से रोक देती है। भारतीय प्रशासनिक सेवाओं में भर्ती के समय अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व रहने के कारण *हिन्दी-भाषी क्षेत्रों के योग्य और सक्षम प्रत्याशी* स्पर्धा में पिछड़ जाते हैं।

5. परीक्षा के रूपों की कठिनाइयाँ (Difficulties of the Forms of Examination)—सरकारी पदों पर भर्ती के लिए ली जाने वाली परीक्षाओं की अपनी सीमाएँ और समस्याएँ होती हैं, अत किसी भी परीक्षा-प्रणाली को पूर्ण रूप से सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता। लिखित परीक्षा, मौखिक परीक्षा, शारीरिक जाँच, मनोवैज्ञानिक जाँच, कार्य सम्पन्नता की जाँच, डॉक्टरी जाँच आदि के बाद भी व्यक्ति की अनेक ऐसी योग्यताएँ और विशेषताएँ छिपी रह जाती हैं जिनका सही मूल्यांकन नहीं हो पाता।

भर्ती की आदर्श प्रणाली
(An Ideal Method of Recruitment)

भर्ती की आदर्श प्रणाली के लिए यह आवश्यक माना जाता है कि सार्वजनिक और व्यक्तिगत सेवाओं के आकर्षणों का सुचारु रूप से समन्वय किया जाए। एक आदर्श भर्ती में निम्नलिखित विशेषताएँ वांछनीय हैं—

1. गतिशीलता (Dynamism)—भर्ती के पुराने तरीकों को नए परिवर्तनों में बदला जाना चाहिए क्योंकि स्थिरता प्रगति की विरोधी बन जाती है। समय के साथ-साथ लोक प्रशासन के उत्तरदायित्व में भी परिवर्तन आते रहते हैं और यदि भर्ती के परम्परागत ढंग ही रहे तो लोक प्रशासन के विकास की गति अवरुद्ध हो जाएगी। अत आवश्यक है कि भर्ती की आदर्श प्रणाली सतत् गतिशील हो।

2. लोचशीलता (Flexibility)—भर्ती की आदर्श प्रणाली इतनी लोचशील होनी चाहिए की विभिन्न पदों की आवश्यक योग्यता के अनुसार उसमें परिवर्तन किए जा सकें। प्रत्येक पद से सम्बन्धित आवश्यक योग्यताएँ अलग-अलग होनी चाहिए और पदों में यदि अधिक भिन्नता हो तो भर्तीकर्ता भी अलग होने चाहिए। भर्तीकर्ता-संगठन की रूप-रचना पृथक् होनी चाहिए, तभी भर्ती की आदर्श प्रणाली में वांछित लोचशीलता और वैज्ञानिकता का समावेश हो सकेगा।

3. ईमानदारी (Honesty)—भर्ती का तरीका ईमानदारीपूर्ण और निष्पक्ष होना चाहिए ताकि प्रशासनिक पदों पर योग्य अधिकारी नियुक्त किये जा सकें। इससे प्रशासन में भ्रष्टाचार कम हो जाएगा, कार्यकुशलता बढ़ेगी तथा कोई अधिकारी किसी के अनुचित प्रभाव में नहीं आएगा। भर्ती-प्रणाली में ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि मन्त्री, राजनीतिज्ञ और पदाधिकारी अवांछनीय हस्तक्षेप न कर सकें।

4. नवीन रीतियुक्ति (Innovative)—प्रशासनिक अधिकारियों की भर्ती के भी नए-नए प्रयोग किए जाने चाहिए और नई-नई समस्याओं के समाधान के लिए तरीके अपनाए जाने चाहिए। विकसित देशों में भर्ती के क्षेत्र में जो अभिनव प्रयोग हुए हैं, उनका विकासशील पिछड़े हुए देशों को पूरा लाभ उठाना चाहिए। भर्ती परीक्षा के परीक्षक को ऐसे अनेक अवसर और पर्याप्त समय मिलना चाहिए कि वह उम्मीदवार के विभिन्न व्यवहारों का गहन अध्ययन कर उनकी योग्यताओं के सम्बन्ध में वस्तुगत, यथार्थ और वैज्ञानिक राय कायम कर सके। उम्मीदवार की योग्यता को सही रूप में जानने के लिए आजकल 'अज्ञात साक्षात्कार' (Annonymous Interview) लोकप्रिय होता जा रहा है। इसमें उम्मीदवार को यह पता नहीं रहता कि उसकी परीक्षा ली जा रही है। होता यह है कि पद रिक्त होने पर भर्तीकर्ता सम्भावित उम्मीदवारों पर दृष्टि रखता है और जब उसके ध्यान में कुछ लोग आ जाते हैं तो वह एक विशेष भाषणमाला का आयोजन कर देता है। यहाँ सम्भावित उम्मीदवारों को भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया जाता है तथा उनकी योग्यता और विशेषता का सापेक्ष रूप से मूल्यांकन कर लिया जाता है। इस पद्धति से उम्मीदवार के व्यक्तित्व के सर्वांगीण पक्ष पर मूल्यांकन करना सरल हो जायेगा।

5. विशेषज्ञता (Expertness)—लोक प्रशासन में विशेषज्ञ अधिकारी की नियुक्ति एक ऐसी समस्या है जिसके निराकरण के लिए उन्हीं उपायों का प्रयोग नहीं किया जा सकता जो अविशेषज्ञ अधिकारियों की नियुक्ति में काम में लिए जाते हैं। लोक सेवा आयोग की सामान्य *संरचना विशेषज्ञ अधिकारियों की नियुक्ति के लिए अनुपयुक्त है।* अत सुझाव दिया जाता है कि जब किसी विशेषज्ञ की भर्ती करनी हो तो उसी प्रकार का विशेषज्ञ *आयोग में बैठा दिया जाए, किन्तु यह सुझाव विशेष उपयोगी नहीं है।* उदाहरणार्थ, यदि डॉक्टर की भर्ती के समय एक डॉक्टर को आयोग में बैठाया गया तो भी वह निश्चित समय तथा साक्षात्कार की एक निश्चित प्रक्रिया में उम्मीदवार की योग्यता का पूरा परिचय प्राप्त नहीं कर पाता। इसके अतिरिक्त, आयोग में विशेषज्ञ की नियुक्ति देश को उस विशेषज्ञ की सेवाओं से वंचित कर देगी। उचित यह होगा कि विशेषज्ञ अधिकारियों की नियुक्ति के लिए तदनुकूल विशेषज्ञों का ही एक अलग आयोग गठित कर दिया जाए।

वास्तविक नियुक्ति
(The Actual Recruitment)

सरकारी अधिकारियों की भर्ती के समय सर्वप्रथम परीक्षाओं द्वारा उनकी योग्यता का निर्धारण किया जाता है और तत्पश्चात योग्यतम सिद्ध होने वाले उम्मीदवार की वास्तविक नियुक्ति कर दी जाती है। इस नियुक्ति के कई रूप होते हैं। प्रथम, कर्मचारियों को जब चाहे तब भर्ती कर लिया जाता है और जब चाहे तब हटा दिया जाता है। इसे प्रशासनिक भाषा में 'Hire and Fire' व्यवस्था कहा जाता है। नियुक्ति का यह बहुत पुराना, किन्तु अत्यन्त सरल तरीका है। इस व्यवस्था में कभी-कभी परीक्षा लिए बिना उम्मीदवार को नियुक्त कर लिया जाता है। यदि भर्तीकर्त्ता अधिकारी उम्मीदवार की योग्यताओं के बारे में आश्वस्त होता है तो वह उसे नियुक्त कर देता है। यह व्यवस्था अत्यन्त विषयगत है। आज जबकि सरकार का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है इस प्रकार की व्यवस्था को नहीं अपनाया जा सकता। फिर भी भारत एवं अन्य देशों में कुछ उच्च पदों की भर्ती इस आधार पर की जाती है। दूसरे, उम्मीदवार की नियुक्ति स्थायी रूप से उसके पद पर कर दी जाती है। इस प्रकार की नियुक्ति की प्रक्रिया में सर्वप्रथम योग्यता की जाँच करने वाले अभिकरण द्वारा योग्यतम व्यक्तियों की एक सूची तैयार कर दी जाती है और इस सूची के आधार पर शीर्ष के उम्मीदवारों को सेवा में नियुक्त किया जाता है।

स्टाल (Stahl) ने वास्तविक नियुक्ति के प्रमुख तीन सोपानों का विशद वर्णन किया है—आवश्यकता (Requisition), प्रमाणीकरण (Certification) और नियुक्ति (Appointment)। जब किसी विभाग में कोई रिक्त स्थान होता है तो वह केन्द्रीय रोजगार अभिकरण को इसकी सूचना देता है। इस सूचना में पद का नाम, कार्य, योग्यताएँ, वेतन आदि बातों का उल्लेख कर दिया जाता है। इस सूचना के आधार पर ही नियुक्तिकर्त्ता अधिकारी विभाग को योग्यतम उम्मीदवारों की एक सूची भेजता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रत्येक पद के लिए तीन व्यक्तियों के नाम की सिफारिश की जाती है और विभाग को यह अधिकार रहता है कि वह किसी एक को उनमें से नियुक्त कर दे। तीन के नियम की कुछ लोगों द्वारा आलोचना की जाती है क्योंकि इससे दलीय आधार पर चयन का मार्ग खुल जाता है।[1] स्टाल के अनुसार आजकल एक या तीन के प्रमाणीकरण पर ध्यान केन्द्रित न होकर इस बात पर विचार किया जाता है कि उम्मीदवारों की संख्या तीन हो अथवा उससे ज्यादा हो। इस प्रकार के प्रमाणीकरण में नियुक्तिकर्त्ता अधिकारी को जो स्वतन्त्रता रहती है उसे योग्यता के सिद्धान्त से भिन्न माना जाता है। नियुक्तिकर्त्ता अधिकारी शीर्ष के व्यक्ति को नियुक्त न कर अन्य निम्न स्तर वाले व्यक्ति को नियुक्त कर सकता है। इसके विरुद्ध यह कहा जाता है कि नियुक्त किए जाने वाले अधिकारी को उसके तुरन्त बाद के अधिकारी के प्रति उत्तरदायी रहना पड़ता है। अतः उसकी इच्छा को महत्त्व दिया जाना जरूरी है। इसके अतिरिक्त प्रमाणीकरण की व्यवस्था में योग्यता की जो जाँच की गई है वही अन्तिम है, यह भी नहीं कहा जा सकता। हूवर आयोग ने सिफारिश की थी कि प्रमाणीकरण की प्रक्रिया में पर्याप्त लोचशीलता रहनी चाहिए। प्रार्थियों को चार श्रेणियों में बाँटना चाहिए। ये हैं—असाधारण (Outstanding), योग्यतम (Well-qualified), योग्य (Qualified) और अयोग्य (Unqualified)। भारत में विदेश सेवा में नियुक्ति करते समय तीन का नियम अपनाया जाता है जबकि भारतीय प्रशासन सेवा में योग्य उम्मीदवारों की एक विस्तृत सूची दी जाती है।

अस्थायी और संकटकालीन नियुक्तियाँ (Tempory & Adhoc Recruitment)

विभागों में की जाने वाली नियुक्तियों को हम अन्य दो प्रकारों में बाँट सकते हैं—अस्थायी नियुक्तियाँ और संकटकालीन नियुक्तियाँ। अस्थायी नियुक्तियाँ वे होती हैं जो अस्थायी पदों के लिए की जाती हैं। इन नियुक्तियों में सेवा की अवधि निर्धारित कर दी जाती है यदि ऐसा न किया जाए तो नियुक्ति अधिकारी स्वतः ही स्थायी बन जाता है। सकटकालीन नियुक्तियाँ नियुक्तिकर्त्ता द्वारा बिना उसकी उपयुक्तता देखे ही की जाती हैं। इन नियुक्तियों पर आवश्यक रूप से समय की सीमा लगी रहती है। ये अचानक उत्पन्न संकट का सामना करने के लिए की जाती हैं। प्रायः संकटकाल में की गई नियुक्तियों को संकटकाल की समाप्ति के बाद समाप्त कर दिया जाता है, उनको आगे नहीं बढ़ाया जाता।

परिवीक्षात्मक नियुक्ति (Probationary Recruitment)

परिवीक्षात्मक नियुक्ति (Probationary Appointment) के लिए प्रत्येक विभाग में उपलब्ध रहते हैं जिसके अनुसार प्रत्येक पदाधिकारी को अन्तिम रूप से नियुक्त करने से पहले उसे परिवीक्षणकाल के लिए नियुक्त किया जाता है। यह काल विभिन्न विभागों में अलग-अलग होता है। प्रायः इसकी अवधि तीन मास, छः मास या एक वर्ष की होती है। लोक सेवा सेवीवर्ग पर पूछताछ आयोग के अनुसार, परिवीक्षणकाल एक ऐसी नीति है जिसके अनुसार किसी भी नियुक्ति को अन्तिम नहीं माना जाता जब तक कि नियुक्त व्यक्ति

1 L. D. White: Op. cit., p. 349.

अपने कार्य में अपनी योग्यता प्रदर्शित न करदे ।[1] व्यक्ति की योग्यताओं की वास्तविक जाँच लिखित अथवा अलिखित परीक्षाओं द्वारा नहीं की जा सकती है । कई बार ऐसा होता है कि इस प्रकार की जाँच द्वारा योग्य प्रमाणित व्यक्ति व्यवहार में निकम्मा निकले अत: यह जानने के लिए कि क्या नियुक्त किया गया व्यक्ति वास्तव में अपने पद के योग्य है, उसे कुछ समय के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए । स्थायी रूप से नियुक्त एक व्यक्ति को अयोग्य पाने पर पद-विमुक्त करने की अपेक्षा यह उचित है कि उसे परिवीक्षण काल के लिए नियुक्त किया जाए । केन्द्रीय सेवा नियमों (Central Service Rules) में यह प्रावधान है कि यदि एक व्यक्ति को, जिसे परिवीक्षा काल में उपयुक्त नहीं पाया गया है, अपने पक्ष में अपील करने का अधिकार है । इस उपबन्ध की व्यवस्था इसलिए की गई है क्योंकि दबाव और पक्षपात के कारण अनियमितता एवं अन्याय होने का डर रहता है । परिवीक्षात्मक नियुक्तियों का अपने आप में महत्त्व है और जिस समय नियुक्तिकर्ता अभिकरण के पास योग्य उम्मीदवारों की कोई सूची नहीं रहती, इस प्रक्रिया का उपयोग किया जा सकता है । इस साधन का दुरुपयोग भी किया जा सकता है और सदुपयोग भी । कई बार जब एक व्यक्ति को पक्षपातपूर्ण तरीके से सरकारी सेवा में लेना हो तो इस व्यवस्था का उपयोग कर लिया जाता है ।

भर्ती के अभिकरण

(Agencies of Recruitment)

लोकतान्त्रिक देशों में प्रत्याशियों की भर्ती का कठिन कार्य प्राय स्वतन्त्र सिविल सेवा आयोगों को सौंपा जाता है । इन आयोगों का कार्य यह है कि अवांछित व्यक्तियों को लोक सेवाओं से बाहर रखा जाए और सर्वोत्तम व्यक्तियों को सेवा में लेने का प्रयत्न किया जाए । भारत में लोक सेवाओं की भर्ती करने वाले मुख्य अभिकरण हैं—संघीय लोकसेवा आयोग, रेलवे सेवा आयोग तथा सांविधिक नियमों के लिए निजी भर्ती मण्डल अथवा आयोग । इस प्रकार के भर्ती आयोगों का अपना महत्त्व है । ये राजनीतिक एवं अन्य प्रभावों को भर्ती की प्रक्रिया से दूर रखते हैं तथा योग्य कर्मचारियों के चयन को सम्भव बनाते हैं । ग्रेट ब्रिटेन में स्थायी सरकारी पदों पर नियुक्ति एवं प्रमाणीकरण का कार्य लोक सेवा आयोग द्वारा सम्पन्न किया जाता है । आयोग की स्थापना 31 मई, 1855 को की गई थी और बहुत समय तक यह एक स्वतन्त्र संस्था के रूप में कार्य करता रहा । सन् 1968 में यह लोक सेवा विभाग का एक भाग बना दिया गया है । अब यह स्थायी एवं अस्थायी कर्मचारियों की नियुक्ति, प्रशिक्षण तथा व्यावसायिक विकास सम्बन्धी नीतियों से निकट सम्बन्ध रखता है । संयुक्त राज्य अमेरिका में भी लोक सेवा आयोगों द्वारा प्रतियोगी परीक्षाएँ आयोजित की जाती हैं । संघीय स्तर पर ऐसी परीक्षाएँ 1820 से ही आयोजित की जा रही हैं । प्रारम्भ में जल, थल और नभ-सेना अकादमियों में मेडिकल कोर्स के प्रवेश हेतु परीक्षाएँ सम्पन्न की गई थीं । सन् 1853 में काँग्रेस ने कानून द्वारा यह आवश्यक बना दिया कि विभागीय लिपिक के पद पर नियुक्ति से पूर्व एक परीक्षा ली जाए । सन् 1863 में लोक सेवा आयोग की स्थापना के बाद ये परीक्षाएँ आयोग की देख-रेख में सम्पन्न होने लगी हैं । *एक लम्बे विकास के बाद संयुक्त राज्य के लोकसेवा आयोग को इतनी सत्ता प्राप्त हो गई है* जितनी किसी भी देश में इसके समकक्ष संस्था के पास नहीं होगी ।[2] फ्रांस की लोक सेवा में भर्ती का तरीका अन्य देशों की तरह ही वहाँ की लोकसेवा के सामान्य संगठन से पर्याप्त प्रभावित है । यहाँ सम्पूर्ण लोक सेवा के लिए एक जैसे सामान्य वर्ग हैं । ये वर्ग चार हैं—सर्वोच्च वर्ग, मध्यम वर्ग, लिपिक वर्ग तथा चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी । फ्रांस में सेवा के इन वर्गों का नामकरण ABCD के रूप में हुआ है । इन चार सामान्य श्रेणियों के बाहर किन्तु वेतन संरचना में इनके समकक्ष विशेषज्ञ होते हैं । इनका आज के प्रशासन में व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण स्थान है । फ्रांस में 1945 तक लोक सेवकों की नियुक्ति के लिए उत्तरदायी कोई केन्द्रीय संस्था नहीं थी । यह कार्य स्वयं मन्त्रालयों एवं विभागों द्वारा सम्पन्न किया जाता था तथा प्रत्याशियों के लिए आवश्यक योग्यताएँ स्वयं मन्त्रालय द्वारा ही तय की जाती थीं ।

इस प्रकार सभी प्रमुख लोकतान्त्रिक देशों में सुयोग्य व्यक्तियों को लोक सेवा में भर्ती करने के लिए निष्पक्ष अभिकरणों अथवा आयोगों की स्थापना की गई है जो अपनी पूर्ण निष्पक्षता एवं निष्ठापूर्वक भर्ती सम्बन्धी कार्य सम्पन्न कर लोक प्रशासन को सफल बनाने में सहयोग प्रदान कर रही है ।

---

1 Better Lowerment Personnel, New York, 1935, p 48
2. *White* Op cit., p 321

लोक सेवाओं में प्रशिक्षण

(Training in Public Services)

सेवीवर्ग को कार्यकुशल बनाने में प्रशिक्षण की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। प्रशिक्षण के माध्यम से ही लोकसेवकों को नवीनतम घटनाचक्र से अवगत कराया जा सकता है। इससे लोक सेवक अधिक उत्साह और निष्ठा से प्रेरित होकर अपनी भूमिका का समुचित निर्वाह कर पाते हैं। प्रशिक्षण सेवीवर्ग की समस्या से सम्बन्धित एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण पहलू है जिस पर बहुत हद तक प्रशासकीय कार्यकुशलता निर्भर करती है। प्रारम्भ में सरकारी कार्य, अधिक विशेषीकृत और तकनीकी प्रकृति के नहीं थे, अतः सरकारी गतिविधियों में प्रशिक्षण की आवश्यकता अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थी लेकिन वर्तमान में परिस्थितियाँ बदल गई हैं अतः प्रशासन का संचालन करने वालों के समुचित प्रशिक्षण की आवश्यकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि प्रशिक्षण (Training) और शिक्षा (Education) दो अलग-अलग बातें हैं। दोनों का उद्देश्य एक है तथापि मुख्य अन्तर यह है कि प्रशिक्षण का क्षेत्र अपेक्षाकृत संकुचित होता है और उद्देश्य सीमित, जबकि शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत रहता है और उद्देश्य अत्यन्त व्यापक है। शिक्षा व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य एवं मूल्य निर्धारित करती है जबकि प्रशिक्षण उसे व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करता है।

'प्रशिक्षण' प्रबन्ध का सर्वप्रथम एवं सर्वोपरि उत्तरदायित्व है। प्रबन्ध का प्रमुख लक्ष्य अभिकरण के कार्यों को भली प्रकार सम्पन्न कराना है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वह संगठन के अधीनस्थ कर्मचारियों के आवश्यक प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है। स्टाल के अनुसार, "कर्मचारी वर्ग के विकास में प्रशिक्षण मानवीय प्रयास के निर्देशन का एक मूल तत्त्व है और इस रूप में वह उस समय अधिक प्रभावशाली रहता है जबकि इसे नियोजित, व्यवस्थित एवं मूल्यांकित किया जाता है।[1] 'प्रशिक्षण' का शाब्दिक अर्थ किसी विशेष कला, कार्य या व्यवसाय में निर्देशन एवं अनुशासन है। जब तक अधिकारी की कुशलता, रुचि, बुद्धि एवं दृष्टिकोण को एक निश्चित दिशा में सशक्त करने का प्रयास किया जाता है तो वह 'प्रशिक्षण' कहलाता है। टोरपे के अनुसार, "प्रशिक्षण का अर्थ एक ऐसी प्रक्रिया से है जो कर्मचारियों की कुशलता, आदत, ज्ञान और दृष्टिकोण को विकसित कर सके ताकि वर्तमान सरकारी स्थिति में उनकी प्रभावशीलता को बढ़ाया जा सके और कर्मचारियों को भावी सरकारी स्थितियों के लिए तैयार किया जा सके।[2] अनौपचारिक रूप से जो प्रशिक्षण कर्मचारी प्राप्त करते हैं उसके लिए कोई योजना नहीं बनाई जाती है। प्रशिक्षण को सूत्र अभिकरण (Line Agency) का कार्य माना जाता है। प्रशिक्षण के माध्यम से कर्मचारी अपने कार्यों को अधिक प्रभावी रूप से सम्पन्न करने में समर्थ होता है। व्यक्ति में जो कुशलता, आदत, ज्ञान अथवा दृष्टिकोण पहले से ही विद्यमान है उन्हें वह प्रशिक्षण के माध्यम से विकसित कर लेता है। प्रशिक्षण द्वारा कर्मचारियों में वे कुशलताएँ, आदत, ज्ञान और दृष्टिकोण भी विकसित किए जाते हैं जिनके माध्यम से वे अपने से ऊँचे पद के उत्तरदायित्वों को सम्भालने में समर्थ बन सकें। किसी भी कर्मचारी को प्रशिक्षण व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों ही रूपों में प्रदान किया जा सकता है। प्रशिक्षण किसी अभिकरण के कक्षा-कक्ष में भी हो सकता है और कार्य-स्थल पर भी दिया जा सकता है। प्रशिक्षण देने का कार्य स्वयं केन्द्रीय अभिकरण भी कर सकता है और क्षेत्रीय अभिकरण भी। वास्तव में प्रशिक्षण सम्बन्धित अभिकरण द्वारा ही दिये जाने पर सार्थक हो सकता है।

1. *O. G. Stahl* : Public Personnel Administration, p. 279.
2. *William G. Torpey* : *Public Personnel Management*, p. 154.

पशिक्षण के उद्देश्य

(The Objects of Training)

प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य प्रशासन में कार्यकुशलता स्थापित करके कर्मचारियों में उच्च स्तर के कार्यों का उत्तरदायित्व वहन करने की क्षमता विकसित करना है और उनकी तकनीकी योग्यताओं के विकास द्वारा प्रत्यक्ष रूप से कार्यकुशलता को बढ़ाया जाता है। प्रशिक्षण के माध्यम से कर्मचारी का नैतिक विकास भी किया जा सकता है। प्रशासन में प्रशिक्षण इन दोनों ही तत्वों में विकास करता है अर्थात् एक विशेष कार्य में अधिकारी की तकनीकी कुशलता और संगठन के सदस्यों में सामूहिक उत्साह एवं दृष्टिकोण।

असैनिक क्षेत्र के समान ही सैन्य क्षेत्र में भी प्रशासन का महत्व निर्विवाद है। सैनिक प्रशासन में दिया जाने वाला प्रशिक्षण कार्य में एकरूपता लाता है। प्रशिक्षित सैनिक अधिकारी जिन्हें एक ही सैनिक कालेज में प्रशिक्षण दिया गया है, आसानी से यह अनुमान लगा सकते हैं कि एक विशेष परिस्थिति में उनका साथी अधिकारी किस प्रकार का व्यवहार करेगा। प्रशासनिक अधिकारियों के प्रशिक्षण द्वारा जो विभिन्न लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं उनका वर्णन करते हुए टोरपे ने बताया है कि "औपचारिक प्रशिक्षण द्वारा सम्पन्न कार्य में व्यक्तिगत अक्षमता के कारण उत्पन्न होने वाली दुर्घटनाओं, व्यर्थ के कार्यों, अकुशलता, गलतियों, बढ़ती हुई उदासीनता, शिकायत और असंतोष को रोका जा सकता है।"[1]

(1) प्रशिक्षण द्वारा ऐसे नागरिक सेवक उत्पन्न किए जाते हैं जो कार्य व्यापार में स्पष्टता ला सकें।

(2) परिवर्तित विश्व के नवीन उत्तरदायित्वों को पूरा करने की क्षमता नागरिक सेवकों में प्रशिक्षण द्वारा विकसित की जाती है।

(3) प्रशिक्षण द्वारा नागरिक सेवक को नौकरशाही की मशीन में यन्त्रीकृत होने से बचाया जाता है और उसमें समाज सेवा के भाव जाग्रत किए जाते हैं।

(4) प्रशिक्षण द्वारा व्यक्ति को न केवल वर्तमान कार्य में कुशल बनाया जाता है वरन् बड़े उत्तरदायित्व एवं उच्चतर कार्यों का भार सम्भालने के लिए भी तैयार किया जाता है।

(5) सफल प्रशिक्षण योजनाएँ कर्मचारी वर्ग के नैतिक चरित्र को ऊँचा उठाने का कार्य करती हैं। इस प्रकार प्रशिक्षण द्वारा नागरिक सेवकों को प्रशासनिक संगठन, उसके कार्य, जनहित और स्वयं कर्मचारियों के हित आदि की दृष्टि से उपयोगी बनाया जाता है।

इस प्रकार प्रशिक्षण प्रशासनिक कार्यों में एकरूपता लाता है। इससे लोक सेवक एवं पदाधिकारियों के व्यवहार, विचार एवं दृष्टिकोण बहुत कुछ एक जैसे हो जाते हैं। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप समस्याओं का समाधान करने में संयुक्त प्रयास किये जा सकते हैं। अतः प्रशिक्षण कार्यक्रम निम्नलिखित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संचालित किये जाते हैं—

(1) विभागीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए व्यावसायिक कुशलता की प्राप्ति,
(2) नवीन लक्ष्यों एवं वातावरण के साथ समायोजन स्थापित करना,
(3) प्रशिक्षण प्राप्तकर्त्ता को वांछनीय भर्ती के लिए योग्य बनाना,
(4) प्रशिक्षणार्थी को आधुनिकतम प्रशासनिक तकनीकों से अवगत कराना,
(5) दृष्टिकोण एवं भविष्य को व्यापक बनाना,
(6) पदोन्नति एवं उच्च स्थिति के योग्य बनाना,
(7) आजीवन सेवाओं की क्षमताओं का विकास करना,
(8) संगठन के स्तर को ऊँचा उठाना,
(9) लोक सेवाओं में ईमानदारी तथा मनोबल को ऊँचा उठाना, एवं
(10) दृष्टिकोण में एकरूपता लाना।

प्रशिक्षण की प्रणालियाँ

(The Methods of Training)

प्रशिक्षण किस प्रकार दिया जाए—यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। नागरिक सेवा शर्तों के अनुसार एक अभिकरण अपने कर्मचारियों को किस प्रकार प्रशिक्षण प्रदान करेगा, यह सरकारी एवं प्रशासकीय नीति पर निर्भर करता है। यह बहुत कुछ उन परिस्थितियों पर भी निर्भर करता है जो प्रत्येक अधिकारी क्षेत्र में भिन्न-भिन्न होती हैं। लोक प्रशासकों के प्रशिक्षण में प्राय. जिन विभिन्न विधियों को अपनाया जा सकता है उनका वर्णन विभिन्न विचारकों ने समय-समय पर किया है। स्टाल ने इन्हें इस प्रकार से वर्गीकृत किया है—

1 *William G Torpey* Op cit., p 144

1. सामूहिक प्रशिक्षण (Group Training)—प्रशिक्षण की इस विधि में कुछ लोगों को एक साथ मिलाकर प्रशिक्षण दिया जाता है। यह एक ऐसा प्रशिक्षण है जिसे देखा और मापा जा सकता है। प्रशिक्षण के इस रूप में औपचारिक पाठ्यक्रम, कक्षा के विचार-विमर्श, औपचारिक भाषण, सामयिक वार्ता, प्रदर्शन और प्रयोगशाला कार्य आदि की गणना की जा सकती है। समय-समय पर होने वाली स्टाफ की मीटिंग और कर्मचारियों की सभाएँ भी इस प्रकार के प्रशिक्षण में सम्मिलित होती हैं।

2. कार्य पर निर्देश (On the Job Instruction)—कार्य पर व्यक्तिगत निर्देश प्रशिक्षण का एक साधन है। इस रूप में एक नए कर्मचारी को पर्यवेक्षक द्वारा पूर्ण सहायता दी जाती है। जब समूह बड़ा होता है तब निर्देशन के लिए एक अलग व्यक्ति को नियुक्त कर दिया जाता है, किन्तु अधिकतर पर्यवेक्षक सुयोग्य व्यक्ति होता है और वह अपने अधीनस्थों को कार्यों पर ही निर्देश देता रहता है।

3. लिखित परिपत्र (Manuals and Bulletins)—संगठन के अधिकारियों को विभिन्न निर्देश समय-समय पर लिखित रूप में प्रसारित किए जा सकते हैं। लिखित रूप में भेजे गए इन परिपत्रों का आकर्षक होना अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा वे अधिक प्रभावशाली नहीं होंगे। इस दृष्टि से कर्मचारियों को पुस्तकालय का उपयोग करने के लिए भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

4. पत्राचार पाठ्यक्रम (Correspondence Courses)—संगठन के अधिकांश कर्मचारी व्यापक क्षेत्र में रहते हैं। उनको काम में बाधा पहुँचाए बिना ही प्रशिक्षण देने के लिए पत्राचार विधि अपनाई जाती है। प्रशिक्षण का यह प्रकार अधिक सतोषजनक नहीं होता क्योंकि इसे सचालित करने में बहुत व्यय करना पड़ता है। साथ ही इससे व्यक्तिगत विचार-विमर्श तथा विचारों का आदान-प्रदान नहीं हो पाता है अत: इन्हें केवल वहीं अपनाया जाता है जहाँ दूसरे तरीके काम में नहीं आ सकते हैं।

5. श्रव्य-दृश्य साधनों का उपयोग (Use of Audio-Visual Aids)—जब कर्मचारी कार्य को रेखाचित्रों को देखकर तथा श्रव्य रूप में प्रस्तुत करने में रुचि लेते हैं तो उनको प्रशिक्षण का यह तरीका उपयोगी होता है। इसमें उनको चित्र, नक्शे, फिल्म एवं चलचित्र आदि के द्वारा प्रशिक्षण दिया जाता है। रेडियो, टेलीविज़न, रिकार्ड एवं चलचित्रों के द्वारा कर्मचारियों में भावनात्मक उत्साह जाग्रत किया जाता है। टेलीविजन इस दिशा में प्रभावशाली भूमिका का निर्वाह कर सकता है।

6. अन्य विधियाँ (Other Methods)— प्रशासनिक संगठनों में अधिकारियों को प्रशिक्षित करने की एक मुख्य विधि यह होती है कि उनके लिए प्रशिक्षित होने का अनुकूल वातावरण तैयार किया जाता है—एक ऐसा वातावरण जिसमें भय के स्थान पर आशा का संचार हो। कर्मचारियों के बीच मानवीय सम्बन्धों की वृद्धि पर जोर दिया जाना चाहिए। अधिकारियों को अच्छी प्रकार निर्देश लिखने, व्यापक एवं सरल संचार व्यवस्था रखने, सूचनाओं का आदान-प्रदान करने, प्रतिवेदनों को वितरित करने आदि के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

प्रशिक्षण के प्रकार

(The Types of Training)

सरकारी अधिकारियों को दिए जाने वाले प्रशिक्षण को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

अनौपचारिक प्रशिक्षण (Informal Training)

यह प्रशिक्षण अनुभव पर आधारित होता है। इसमें व्यक्ति जब कार्य करता है तो वह क्रमशः अपने आप सीखता चलता है। प्रशिक्षण की यह प्रक्रिया परम्परागत है और आज भी इसका प्रयोग किया जाता है। ग्लैडन (Gladden) के मतानुसार यह मुख्य रूप से लिपिक-शाखाओं में किया जाता है कि नवागन्तुक को थोड़ा प्रारम्भिक परामर्श देकर कार्य पर भेज दिया जाता है और उसे अपने साथियों की दया पर छोड़ दिया जाता है जिन पर पहले से ही बहुत काम है।[1] अनौपचारिक प्रशिक्षण की कुछ अपनी कमजोरियाँ होती हैं। इस प्रकार सीखना बड़ा कठिन तथा अधिक समय लेने वाला होता है। केवल योग्य शिक्षार्थी ही इसका समुचित लाभ उठा सकते हैं। साधारण कर्मचारी तो कुछ सीखने की अपेक्षा बुरी आदतें विकसित कर लेता है इससे उसे निराशा का ही सामना करना पड़ता है। यदि उसे कुछ प्रशिक्षण प्राप्त भी होता है तो वह बहुत धीमी गति से प्राप्त होता है। अनौपचारिक प्रशिक्षण का एक दूसरा रूप वैयक्तिक सम्पर्क के रूप में होता है। इसमें नवनियुक्त अधिकारी को प्रोत्साहित किया जाता है कि वह अपने वरिष्ठ अधिकारियों से व्यक्तिगत सम्पर्क रखे, उनके निवास स्थान पर जाए, उनको कार्य-व्यवहार करता हुआ देखे और उससे कुछ अनुभव एवं प्रशिक्षण प्राप्त करे।

1. *E.N Gladden* : Civil Service : Its Problems and Future, p. 99

प्रारम्भ में नवीन कर्मचारी पर किसी प्रकार के पूर्वाग्रह का प्रभाव नहीं रहता, इसलिए वह प्रत्येक अच्छी बात को सीखने के लिए उत्सुक रहता है। यह उत्सुकता कभी-कभी विरोध में भी परिवर्तित हो जाती है और अधीनस्थ अधिकारी को कुछ सिखाने की अपेक्षा उसके सीखने की सामर्थ्य को सीमित कर देती है। मैण्डल का यह कहना सही है कि "इस प्रशिक्षण का सम्बन्ध कर्मचारी के नियमित कार्यों से होता है, अत: वह अपने स्वयं के अनुभव के साथ सर्वोत्तम ढंग से लाभ उठा सकता है। इस सम्बन्ध में उस पर कोई दबाव नहीं होता इसलिए उसकी प्रेरणा सकारात्मक होती है। इसका प्रभाव चाहे अच्छा हो या बुरा, गहरा होता है।" अनौपचारिक प्रशिक्षण के इस रूप की सफलता मुख्य रूप से तीन बातों पर निर्भर करती है। प्रथम, वरिष्ठ अधिकारी योग्य होना चाहिए, द्वितीय, वरिष्ठ अधिकारी अनुभवी होना चाहिए, और तृतीय, नवनियुक्त अधिकारी के प्रति उसमें रुचि होनी चाहिए। जब उच्च अधिकारियों पर कार्यभार बहुत रहता है तो वे अधीनस्थों के प्रशिक्षण पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाते और अन्ततोगत्वा अधीनस्थ को 'प्रयत्न और भूल' द्वारा ही सीखना होता है। इस सम्बन्ध में ए. डी. गोरवाला का यह सुझाव सराहनीय है और कुछ वरिष्ठ अधिकारी केवल अधीनस्थ अधिकारियों के प्रशिक्षण हेतु ही नियुक्त किए जाने चाहिए। इस अनौपचारिक प्रशिक्षण से कर्मचारियों में अदम्य आत्म-विश्वास की भावना जाग्रत होकर मनोबल का स्वस्थ विकास होता है।

औपचारिक प्रशिक्षण (Formal Training)

अनौपचारिक प्रशिक्षण की कमियों को औपचारिक प्रशिक्षण द्वारा दूर किया जाता है। यद्यपि प्रशिक्षण के इन दोनों रूपों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती, फिर भी जागरुकता, सोद्देश्य प्रयास आदि कुछ बातों के आधार पर दोनों के बीच भेद प्रदर्शित किया जा सकता है। औपचारिक प्रशिक्षण समय की दृष्टि से, प्रक्रिया की दृष्टि से एवं विषय की दृष्टि से अनेक प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। अवधि के अनुसार प्रशिक्षण की कुछ योजनाएँ अल्पकालीन होती हैं जबकि अन्य प्रशिक्षण योजनाएँ दीर्घकालीन होती हैं। उद्देश्य की दृष्टि से भी यह देखा जा सकता है कि प्रशिक्षण प्रशासकीय है अथवा तकनीकी या व्यावसायिक, लिपिक वर्ग का है या अधिकारी वर्ग का है अथवा पर्यवेक्षकों के लिए है। औपचारिक प्रशिक्षण के विभिन्न रूपों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) प्रवेश-पूर्व प्रशिक्षण (Pre-Entry Training) —लोक सेवाओं के लिए प्रवेश-पूर्व प्रशिक्षण का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। सेवा में प्रवेश करने से पूर्व ही उसके सम्बन्ध में उम्मीदवार द्वारा विश्वविद्यालय, समाज, प्रशिक्षण संस्था, पुस्तकालय आदि स्थानों पर जो प्रशिक्षण प्राप्त किया जाता है वह सब इस श्रेणी में आता है। आजकल विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में तकनीकी एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण को महत्त्व दिया जा रहा है। वहाँ डॉक्टर, वकील, अर्थशास्त्री, रसायनशास्त्री, इंजीनियर आदि तैयार किए जाते हैं। इसी प्रकार स्कूलों एवं विश्वविद्यालयों में समाज कल्याण, पुस्तकालय, विज्ञान, नगर-नियोजन, कृषि आदि सेवाओं का प्रशिक्षण प्रदान करके सेवा-प्रवेश से पूर्व ही व्यक्ति को उसके लिए उपयुक्त बना दिया जाता है। इस दृष्टि से संघीय लोक सेवा आयोग विभिन्न स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में संचालित पाठ्यक्रम, परीक्षा का समय एवं परीक्षा की प्रणाली आदि पर पर्याप्त ध्यान रखता है। संघीय लोक सेवा आयोग द्वारा प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए जो पाठ्यक्रम तैयार किया जाता है उसमें मोटे रूप से विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम को ही अपनाया जाता है।

इस प्रकार प्रवेश-पूर्व प्रशिक्षण, सेवा में आने से पूर्व ही प्रदान किया जाता है और स्कूल, विश्वविद्यालय एवं शिक्षण संस्थाएँ इस प्रकार के प्रशिक्षण में महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं। यह प्रशिक्षण आवश्यक रूप से किसी व्यवसाय विशेष से सम्बन्धित नहीं होता। इस प्रकार के प्रशिक्षण को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. शिल्प-शिक्षणावस्था (Apprenticeship)—प्रशिक्षण की इस योजना का लक्ष्य जैसा कि टोरपे का कहना है, व्यापारिक या औद्योगिक कौशल प्रदान करता है।[1] इस प्रकार का प्रशिक्षण प्रायः वहाँ प्रदान किया जाता है जहाँ उद्योग से सम्बन्धित व्यवहार की नई तकनीकें विकसित होती रहती हैं। यह प्रशिक्षण अनेक विषयों में दिया जा सकता है, जैसे—मिस्त्री (मैकेनिक), यन्त्र निर्माणकर्त्ता, चित्रकार, लौहार, विद्युतकार आदि। जिन प्रशिक्षणार्थियों को शिल्प-शिक्षण के लिए चुना जाता है उनमें एक विशेष कार्य के प्रति कुशलता अथवा सीखने की

1 *W. G. Torpey. Op. cit., p. 162*

क्षमता अपेक्षित है। प्रशिक्षण प्राप्त कर लेने के बाद व्यक्ति सम्बन्धित व्यवसाय में सेवा प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है। इस प्रशिक्षण के प्रायः दो पहलू होते हैं—प्रथम, व्यावहारिक पहलू जिसमें प्रशिक्षणार्थी को कार्य करके बताया जाता है और उत्पादन कार्य पर उसे प्रत्यक्ष रूप से निर्देशन प्रदान किया जाता है। द्वितीय, सैद्धान्तिक पहलू जिसमें उसे शिक्षा सम्बन्धी विषयों का अध्ययन कराया जाता है। इन विषयों का ज्ञान उसके उद्योग की कुशलता के विकास में सहायता प्रदान करता है। सैद्धान्तिक पहलू में प्रशिक्षणार्थी को गणित, विज्ञान, व्यापार-सिद्धान्त, इतिहास, नागरिक शास्त्र आदि की शिक्षा दी जाती है। शिल्प-शिक्षण की अवधि प्रायः दो साल से चार साल तक की हो सकती है।

2. स्कूली सहवास प्रशिक्षण (Internship)—अमेरिकी नागरिक सेवा आयोग के अनुसार स्कूली सहवास कार्यक्रम शिक्षा प्रदान करने की एक विधि है जो विशेष रूप के चयनित तथा पर्यवेक्षित प्रशिक्षणार्थियों को लोक प्रशासन में प्रशासकीय एवं नीति सम्बन्धी कार्यों के लिए तैयार करता है।[1] टोरपे ने स्कूली सहवास प्रशिक्षण का एक भिन्न अर्थ प्रकट किया है। उनका कहना है कि "इस प्रकार के प्रशिक्षण द्वारा एक कर्मचारी को ऐसे कार्य का प्रशिक्षण दिया जाता है जो उसके लिए नया है और उसके वर्तमान पद के कार्यों से भिन्न है।" स्कूली सहवास प्रशिक्षण और शिल्प शिक्षणावस्था में मुख्य अन्तर यह है कि प्रथम का सम्बन्ध प्रशासकीय या व्यावसायिक कार्य से है जबकि दूसरा व्यापारिक या औद्योगिक कुशलता से सम्बन्ध रखता है।[2] इस प्रकार प्रशिक्षण केवल उन्हीं लोगों को दिया जाता है जो प्रशासनिक या व्यावसायिक कार्यों में क्षमता व रुचि रखते हैं। प्रशिक्षण में सामूहिक एवं व्यक्तिगत दोनों ही प्रकार के निर्देश दिए जाते हैं। इसका उद्देश्य प्रशिक्षणार्थियों के ज्ञान, उनकी समझदारी, कुशलता एवं क्षमता का विकास करना होता है। प्रशिक्षणकाल में प्रशिक्षणार्थियों द्वारा मासिक, लिखित और मौखिक प्रतिवेदन तैयार किए जाते हैं जिनके आधार पर उनकी प्रगति, सहायता की आवश्यकता एवं प्राप्त अनुभव का मूल्यांकन किया जाता है। समय-समय पर लिखित एवं अलिखित परीक्षाएँ भी ली जाती हैं।

प्रवेश-पूर्व प्रशिक्षण का प्रचलन संयुक्त राज्य अमेरिका में काफी लोकप्रिय एवं व्यापक हो चुका है और अन्य देशों में भी इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति हो रही है। प्रवेश-पूर्व प्रशिक्षण विषय की दृष्टि से दो प्रकार का होता है—प्रथम, प्रशिक्षणार्थी को सामान्य रूप से सभी विषयों का अध्ययन कराया जाता है ताकि उसका बौद्धिक और मानसिक क्षितिज व्यापक हो जाए। सामान्य ज्ञान से शून्य केवल विषय विशेष में प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति लोक प्रशासन की सामान्य समस्याओं को नहीं सुलझा सकेगा, यहाँ तक विशेषीकृत ज्ञान का पूरा उपयोग करने के लिए भी सामान्य ज्ञान आवश्यक होता है। द्वितीय, व्यक्ति को एक विशेष विषय का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है ताकि वह तकनीकी समस्याओं पर अधिक गहराई से विचार कर सके। इस व्यवस्था के समर्थकों की मान्यता है कि वर्तमान कल्याणकारी राज्य में नागरिक सेवा अत्यन्त तकनीकी एवं विशेषज्ञतापूर्ण बन चुकी है। तकनीकी प्रशिक्षण को प्रवेश-पूर्व प्रशिक्षण के रूप में प्रदान करने के विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि इस प्रकार की प्रशिक्षण-शालाएँ लगातार विद्यार्थी निकालती रहती हैं और इन सभी को सरकारी सेवाओं में स्थान देना सम्भव नहीं होता है, क्योंकि सेवाओं की संख्या सीमित होती है।

(2) सेवाकालीन प्रशिक्षण (In-Service Training)—सेवाकालीन प्रशिक्षण का भी कर्मचारियों की कार्यकुशलता बढ़ाने में अपूर्व महत्त्व है। स्टाल के अनुसार, "प्रशिक्षण का यह एक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व भी है कि पुराने कर्मचारियों को अधिक कार्यकुशल बनाया जाए ताकि वे अपने वर्तमान दायित्वों का भली प्रकार पालन कर सकें। इसके अतिरिक्त उनमें उच्च पदों पर कार्य करने की क्षमता का विकास हो। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाए तो सेवाकालीन प्रशिक्षण कभी पूरा नहीं होता, यह हमेशा क्रियाशील रहता है।" सेवाकालीन प्रशिक्षण प्रदान करना प्रबन्ध का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। कुछ लोग प्रशिक्षण को प्रबन्ध (Management) का एक भाग मानते हैं और अन्य लोग इसे प्रबन्ध ही कह कर पुकारते हैं। यह बहुत-कुछ सही है कि प्रशिक्षण को प्रभावशाली बनाने के लिए एक ऐसा स्टाफ हो जिसका एकमात्र कार्य प्रशिक्षण सम्बन्धी नीति निर्माण करना, कार्यक्रम निर्धारित करना, उसकी विधियाँ तथा तकनीकें निश्चित करना हो, किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना भी गलत होगा कि प्रशिक्षण का सम्बन्ध केवल सेवीवर्ग अधिकारियों (Personnel Officers) से ही है, संगठन के अन्य लोगों का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। संगठन के उच्च अधिकारियों को प्रशिक्षण कार्यक्रमों के स्वरूप तथा उनमें उसके योगदान की समय-समय पर जानकारी देते रहना चाहिए। इससे प्रशासन के सभी अंगों में कार्य के प्रति प्रतिबद्धता की

1. Guide for Internship Training in the Federal Service, Washington, p. 1.
2. *W. G. Torpey*: Op. cit., p. 162.

भावना का विकास होगा। सेवाकालीन प्रशिक्षण दोनों ही रूपों में हो सकता है। इसे सामूहिक रूप से किसी भी प्रकार दिया जा सकता है अथवा व्यक्तिगत रूप से एक पर्यवेक्षक अपने अधीनस्थ को कार्य के सम्बन्ध में स्वयं निर्देश दे सकता है। प्रशिक्षण की प्रक्रिया को संपन्न करने में कार्यालय के अध्यक्ष, पर्यवेक्षक तथा कर्मचारियों के प्रतिनिधि संयुक्त रूप से भाग ले सकते हैं।

सेवाकालीन प्रशिक्षण की आवश्यकताएँ (The Needs of the In-service Training)—एक संगठन के अधिकारियों को किसलिए प्रशिक्षित किया जा रहा है यह जानने के बाद ही प्रशिक्षण की प्रक्रिया एवं स्वरूप तय किया जा सकता है। किसी सरकारी अभिकरण में प्रशिक्षण की आवश्यकताओं को एक ही बार में सदैव के लिए तय नहीं किया जा सकता। यह एक अनवरत् चलने वाली प्रक्रिया है। एक संगठन में अनेक परिस्थितियाँ प्रशिक्षण की आवश्यकता पर जोर देती हैं। यह कहा जाता है कि द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनी के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों की जो लगातार पराजय हो रही थी, उसके लिए लोकसेवकों को ही उत्तरदायी ठहराया गया था। किसी भी संगठन में जब उत्पादन की मात्रा घट जाती है, सेवाओं की गति धीमी हो जाती है, सेवीवर्ग की सक्रियता कम हो जाती है, नैतिकता गिर जाती है, पर्यवेक्षण खराब हो जाता है, समन्वय का अभाव हो जाता है तथा इसी प्रकार के अन्य दोष उत्पन्न हो जाते हैं, तो प्रशिक्षण की आवश्यकता महसूस होती है। ये सभी परिणाम उस समय सामने आते हैं जब प्रशिक्षण के अभाव में स्थिति बहुत बिगड़ चुकी होती है। होना यह चाहिए कि ऐसी स्थिति आने तथा इन परिणामों के उत्पन्न होने से पूर्व ही प्रशिक्षण सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर दिया जाए। सेवाकालीन प्रशिक्षण प्रदान करते समय यह देख लेना चाहिए कि यह किस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दिया जा रहा है। ऐसा न करने पर यह खतरा बना रहता है कि कहीं प्रशिक्षण कार्यक्रम प्रभावहीन बन कर न रह जाए।

सेवाकालीन प्रशिक्षण की मौलिकताएँ (Some Fundamentals of In-service Training)—एक अच्छे सेवाकालीन प्रशिक्षण के सम्बन्ध में निम्नलिखित मौलिक बातें ध्यान में रखने योग्य हैं—

1. प्रशिक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है जो निरन्तर एवं निर्बाध रूप में चलती रहती है। प्रशासनिक अधिकारी अथवा कर्मचारी के जीवन का ऐसा कोई दिन नहीं जाता जबकि वह कुछ न सीखता हो इससे संगठन का प्रत्येक व्यक्ति प्रशिक्षित होता है। सभी ने किसी न किसी प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त किया है लेकिन केवल उनको ही प्रशिक्षित कहते हैं जिनको संगठित, जागरुक, सुविचारित उद्देश्य एवं कुशलता-युक्त प्रशिक्षण प्रदान किया गया है।

2. सरकारी कर्मचारी को प्रशिक्षित करने के लिए उसे अलग-अलग पदों के कार्य सौंपते रहना चाहिए ताकि वह नवीन अनुभव प्राप्त करता रहे। *इस नीति का अर्थ यह कदापि नहीं है कि प्रत्येक अधिकारी को आवश्यक रूप* से एक निश्चित समय के बाद किसी अन्य पद के उत्तरदायित्व सौंपे जाएँ। इस प्रक्रिया को सामयिक रखा जाए तथा नए उत्तरदायित्व सौंप कर एक व्यक्ति में स्वयं की रुचियाँ पैदा की जाएँ ताकि वह संगठन के कार्यों को समन्वित रूप से सम्पन्न करने में योगदान कर सके। पुनर्गठन की प्रक्रिया संगठन में गतिशीलता लाने का कार्य करती है।

3. स्वयं प्रशासनिक व्यवस्था ही ऐसी होती है जिसमें प्रशिक्षण की प्रक्रिया अपने आप संचालित होती रहती है। जब उच्च अधिकारी अपनी सत्ता का प्रत्यायोजन करते हैं और अधीनस्थ अधिकारियों पर विश्वास करके उन्हें कुछ कार्यों का उत्तरदायित्व सौंपते हैं तो उनका प्रशिक्षण स्वतः ही होता रहता है। प्रत्यायोजन की प्रक्रिया द्वारा प्रबन्ध एवं व्यावसायिक पदों के साथ ही लिपिक वर्ग में प्रशिक्षण की प्रक्रिया सम्पन्न होती रहती है। स्टाल के अनुसार एक व्यक्ति जब उत्तरदायित्व सम्भालता है तो वह कुछ सीखता है और जब उसके उच्च अधिकारी कुछ विश्वास की भावना व्यक्त करते हैं तो वह और भी अधिक सीखता है।[1] इसलिए यह कहा जाता है कि एक अच्छा पर्यवेक्षक इस बात से कभी भयभीत नहीं होता कि उसके अधीनस्थ गलती करेंगे। इसके विपरीत वह तो उनको दायित्व सौंप कर उनकी प्रशासनिक क्षमता को विकसित करने का प्रयत्न करता है।

4. संगठन में नवीनतम सूचना, जानकारी और विचारों का प्रसारण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। इसके *लिए यह उपयोगी है कि कभी-कभी विद्वानों व नेताओं आदि को संगठन में भाषण देने के लिए* आमन्त्रित किया जाए। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि स्टाफ में एक ऐसा भी व्यक्ति हो जिसके व्यवहार एवं विचार असाधारण हों तथा जो व्यवस्था में गड़बड़ी रोकने की क्षमता रखता हो। कार्य में सुधार लाने के लिए यह उपयोगी माना जाता है कि कार्य से बाहर निकला जाए और कुछ ऊपर उठ कर देखा जाए।

1 *Stahl*, Op cit., p 289

सेवाकालीन प्रशिक्षण के रूप एवं लक्ष्य (The Forms and Objects of In-service Training)—सेवाकालीन प्रशिक्षण का लक्ष्य अथवा उद्देश्य उसकी आवश्यकता के अनुसार बदलता रहता है, किन्तु कुछ ऐसे लक्ष्य भी होते हैं जो प्रायः सभी प्रशिक्षण योजनाओं में प्रेरक का कार्य करते हैं।

1. प्रशिक्षकों का प्रशिक्षण (Training of the Trainers)—टोरपे के मतानुसार प्रशिक्षण का उच्च स्तर कायम करने के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम में निर्देशकों का प्रशिक्षण भी सम्मिलित कर देना चाहिए।[1] इस प्रकार के प्रशिक्षणार्थियों की संख्या सीमित होनी चाहिए क्योंकि ये प्रशिक्षण अनौपचारिक रूप से सम्पन्न किए जाने पर ही उपयोगी एवं प्रभावशाली होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रशिक्षणार्थी की व्यक्तिगत समस्याओं पर भी विचार किया जा सकता है।

2. पुनरावलोकन प्रशिक्षण (Orientation Training)—जब एक संगठन में नए कर्मचारी को नियुक्त किया जाता है तो उसे उसके पद का परिचय प्रदान किया जाना चाहिए। प्रथम, उसे कार्य के वातावरण का सामान्य परिचय दिया जाना चाहिए और द्वितीय, यह भी बताना चाहिए कि उसके नवीन पद के क्या उत्तरदायित्व हैं, भविष्य में क्या आशाएँ की जा सकती हैं, आदि। प्रारंभ में कर्मचारी अपने संगठन के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञान रखता है, यहाँ तक कि वह उसमें भर्ती के नियमों एवं परिनियमों से भी परिचित नहीं होता। इसके लिए पुनरावलोकन प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है। पुनरावलोकन प्रशिक्षण के दो भाग होते हैं—

(अ) सामान्य पुनरावलोकन (General Orientation)—यह प्रशिक्षण अभिकरण के सेवीवर्ग अधिकारी द्वारा प्रदान किया जाता है। इस प्रकार का प्रशिक्षण प्रदान करते समय प्रायः छः बातों पर अधिक बल दिया जाता है—(i) संगठन का लक्ष्य बताना; (ii) संगठन की रचना का परिचय देना, उसके विभागों, सम्भागों, मण्डलों या दूसरी इकाइयों का संक्षिप्त विश्लेषण करना तथा विशेष रूप से उस इकाई की जानकारी देना जिसमें नवागन्तुक को रखा जा रहा है; (iii) रोजगार की सामान्य शर्तें स्पष्ट करना। यह बता देना कि कार्य का समय, वेतन की मात्रा व दिनांक, छुट्टी, पदोन्नति, कार्यकुशलता एवं सुरक्षा सम्बन्धी नियम आदि क्या हैं? (iv) यह भी बता देना कि जब कार्य से सम्बन्धित समस्याएँ उत्पन्न हों तो उन्हें किस प्रकार दूर किया जाए; (v) उसे यह समझाना कि वह अपने मूल्यवान सुझाव किस प्रकार प्रदान करे ताकि संगठन लाभान्वित हो सके; (vi) संगठन ने कर्मचारियों की सेवा के लिए जो रेस्तरां, बैंक, मनोरंजन कार्यक्रम, बीमारी व स्वास्थ्य कार्यक्रम आदि की व्यवस्था की है, उनका परिचय देना। सामान्य प्रशिक्षण लिखित प्रकाशनों द्वारा दिया जा सकता है।

(ब) कार्य पुनरावलोकन (Job Orientation)—इस प्रकार का प्रशिक्षण कर्मचारी को उसके तुरन्त ऊपर के पर्यवेक्षक द्वारा दिया जाता है। इसके देते समय वह प्रायः तीन बातें स्पष्ट करता है— (1) वह नवागन्तुक को उसके कार्यालय विशेष की समस्त वस्तुओं की जानकारी कराता है। वह उन सभी स्थानों से परिचित कराता है जो उसके उत्तरदायित्वों को पूरा करने में उपयोगी हो सकते हैं, (2) वह कार्य के नियमों का ज्ञान कराता है अर्थात् कब दोपहर का भोजन करना चाहिए, कब मध्य अवकाश होगा, कब छुट्टी होगी तथा अतिरिक्त समय में कार्य करने के क्या नियम होंगे आदि। धूम्रपान एवं सुरक्षा की आवश्यकता के सम्बन्ध में विशेष नियम बताए जा सकते हैं, (3) वह उसके पद के कार्यों के बारे में भी साधारण जानकारी दे सकता है।

इस प्रकार कार्य पुनरावलोकन द्वारा एक नए कर्मचारी को संगठन में उसके निकटस्थ कर्मचारियों और अधिकारियों से परिचित करा दिया जाता है। यह परिचय व्यक्तिगत आधार पर होता है। इस प्रकार के प्रशिक्षण का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि पर्यवेक्षण द्वारा इसकी सम्पन्नता में कितनी गम्भीरता बरती जाती है।

3. पुनश्चर्या प्रशिक्षण (Refresher Training)—संगठन की कार्यकुशलता को बढ़ाने के लिए दिया जाने वाला एक अन्य प्रकार का सेवाकालीन प्रशिक्षण 'पुनश्चर्या (Refresher) प्रशिक्षण' होता है। इस प्रकार के प्रशिक्षण सरकार के प्रत्येक स्तर पर चलते रहते हैं। स्टाल के कथनानुसार, "इस प्रशिक्षण का लक्ष्य प्रायः लोगों को उनके व्यवसाय के तकनीकी विकासों के नजदीक लाना होता है।"[2] इन प्रशिक्षणों में ऐसी किसी कुशलता का विकास नहीं किया जाता जिसमें कि प्रशिक्षणार्थी ने पहले प्रशिक्षण प्राप्त न किया हो।[3] टोरपे के अनुसार, "यह प्रशिक्षण उन कर्मचारियों को दिया जाता है जो अपनी उन सूचनाओं, आदतों तथा कुशलताओं को प्राप्त करना चाहते हैं जो उन्होंने पहले से ही प्राप्त की हुई थीं।"[4] इस प्रकार का प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए सामूहिक विचार-विमर्श, सम्मेलन, भाषण और विशेषज्ञों के प्रसार भाषणों आदि का प्रयोग किया जाता है।

1. W. G. Torpey : Op. cit., p. 167.
2-3. O. G. Stahl : Op. cit., p. 293.
4. W. G. Torpey : Op. cit., p. 165-166.

4. पर्यवेक्षकों के लिए प्रशिक्षण (Training for Supervisors)—संगठन में पर्यवेक्षक का स्थान एक शिक्षक का होता है और इस रूप में उसे यह जानना चाहिए कि किस प्रकार पढ़ाया जाता है तथा दूसरों का नेतृत्व किस प्रकार किया जाता है। उसके पास अपने कार्य विशेष से सम्बन्धित तथ्यगत सूचना रहनी चाहिए। उसे व्यक्तिगत रूप से यह जानना चाहिए कि कार्य को किस प्रकार सम्पन्न किया जाता है। स्टाल के कथन का प्रयोग करते हुए यह कहा जा सकता है कि "प्रगति के लिए प्रशिक्षण का कोई भी पहलू इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि भावी तथा वर्तमान पर्यवेक्षकों को उनके नेतृत्व के कार्य के लिए प्रशिक्षित करना।"[1] पर्यवेक्षकों के प्रशिक्षण से सम्बन्धित विषय प्राय. प्रशिक्षण कार्यकाल में भाषण के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। जब पर्यवेक्षकों के प्रशिक्षण का सम्बन्धित विधि, प्रक्रिया एवं सूचना आदि से हो तो सम्मेलन की विधि अपर्याप्त रहती है। सम्मेलन की तकनीक को वहीं काम में लाया जा सकता है जहाँ भाग लेने वालों को कुछ पूर्व अनुभव हो तथा जिसके आधार पर वे विचार-विमर्श कर सकें।

पर्यवेक्षकों के प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम यद्यपि भिन्न प्रकार का होता है तथापि उनमें जो विषय होने चाहिए वे इन शीर्षकों में प्रबन्धित किए जा सकते हैं—सामान्य प्रबन्ध, व्यक्तिगत प्रबन्ध, शिक्षण की तकनीकें तथा मानवीय सम्बन्ध। सामान्य प्रबन्ध के अन्तर्गत उनको प्रबन्ध संगठन, प्रबन्ध के सिद्धान्त, पर्यवेक्षक के कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व, व्यक्ति एवं वस्तु का उपयोग, कार्य को सरल करना आदि का प्रशिक्षण देना चाहिए। व्यक्तिगत प्रबन्ध के अन्तर्गत सेवीवर्ग संगठन और उसके कार्य का अध्ययन कराना चाहिए। शिक्षण की तकनीक में सीखने के मनोवैज्ञानिक नियम तथा शिक्षण विधि आते हैं। मानव-सम्बन्धों में ऐसे विषयों का समावेश होता है, जैसे—नेतृत्व, सहयोग, संचार, डाँट और अनुशासन, नैतिक चरित्र और कार्य में सन्तोष आदि। स्टाल का मत है, "पर्यवेक्षक के प्रशिक्षण में मानव-सम्बन्धों के विकास पर अधिक बल दिया जाना चाहिए क्योंकि मानव-सम्बन्धों को ऐसा माध्यम माना जाता है कि जिनके द्वारा कार्य सम्पन्न होता है।"[2]

पर्यवेक्षकों का प्रशिक्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, किन्तु फिर भी इसकी जरूरत एवं प्रभाव पर आवश्यकता से अधिक जोर नहीं दिया जाना चाहिए। औद्योगिक तथा सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में किए गए अनेक अध्ययनों के फलस्वरूप यह ज्ञात हुआ है कि इस प्रकार के प्रशिक्षण आवश्यक रूप से किसी को पर्यवेक्षक नहीं बना सकते जब तक कि वह वास्तविक व्यवहार के क्षेत्र में न उतरे। इसके अतिरिक्त प्रशिक्षणार्थी में स्वयं की अन्तर्दृष्टि भी होनी चाहिए।

5. पदोन्नति के लिए प्रशिक्षण (The Training for Promotion)—सेवाकालीन औपचारिक प्रशिक्षण का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य होता है, कर्मचारियों को पदोन्नति के लिए तैयार करना। संगठन के महत्त्वाकांक्षी तथा उन्नति की इच्छा रखने वाले सदस्यों को ऐसा अवसर प्रदान किया जाना चाहिए कि वे अपने में अपने से ऊँचे पद के उत्तरदायित्वों को पूरा करने की क्षमता का विकास कर सकें। लोक सेवा में आकर्षण लाने तथा योग्य व्यक्तियों को इस ओर प्रेरित करने के लिए यह अवसर प्रदान करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

6. शिक्षण के लिए प्रशिक्षण (Training to Educate)—संगठन के कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित करना इसलिए भी आवश्यक है कि उनका दृष्टिकोण व्यापक बन सके। संगठन में आने के बाद एक जैसे कार्य में संलग्न होने के कारण सरकारी अधिकारी का मस्तिष्क केवल कुछ विषयों तक ही सीमित हो जाता है। इस सीमा के दुष्परिणामों से संगठन को बचाए रखने तथा अधिकारी में कार्य तथा जीवन के प्रति रुचि जाग्रत करने के लिए प्रशिक्षण द्वारा उसकी शिक्षा के विकास का महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है। इससे उसके व्यक्तित्व का चहुँमुखी विकास अधिक संभव है।

7. नेतृत्व विकास के लिए प्रशिक्षण (Training for the Development of Leadership)—वर्तमान काल में शीर्ष के अधिकारियों को प्रशिक्षित करने की ओर भी लोगों का ध्यान गया है। प्रारम्भ में प्रशिक्षण केवल निम्न स्तर के अधिकारियों एवं कार्यकर्त्ताओं तक ही सीमित था। आज सामान्य रूप से यह माना जाता है कि यदि अधिशासी अधिकारियों को प्रशिक्षित कर दिया जाए तो संगठन के कार्यों एवं व्यवस्थाओं में पर्याप्त सुधार आएगा।[3] प्रशिक्षण देने वाले कार्यक्रमों में सामान्यत यह विश्वास रहता है कि नेतृत्व एक सीखी जाने वाली कला है और नेतृत्व की क्षमताओं को विकसित किया जा सकता है।[4] प्रशिक्षण के माध्यम से उच्चाधिकारियों में वांछित नेतृत्व के गुणों का विकास किया जाता है। संगठन के शक्ति और स्फूर्ति प्रदान करने में यह नेतृत्व महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है।

1 *Stahl*: Op cit., p 293
2 *Stahl*: Op cit., p 294
3 *W G Torpey* Op cit., p 165-166
4 *Stahl* Op cit., p 293

प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण (Post-entry Training)

प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण अधिकारी या कर्मचारी को पद ग्रहण करने के बाद प्रदान किया जाता है। इस दृष्टि से हम इसे सेवाकालीन प्रशिक्षण का समानार्थक मान सकते हैं, किन्तु ये दोनों पूरी तरह समानार्थक नहीं हैं। दोनों के बीच पर्याप्त अन्तर रहता है। प्रवेश के बाद में दिए जाने वाले इस प्रशिक्षण के भी मुख्य रूप से दो लक्ष्य होते हैं। प्रथम, यह कार्य को अच्छी तरह करना सिखाता है। द्वितीय, यह उच्च पद के लिए तैयार करता है। इन दोनों ही लक्ष्यों में स्वय कर्मचारी एवं संगठन दोनों ही रुचि लेते हैं। सरकारी सेवा में आने के बाद कर्मचारी को जो घिसा-पिटा कार्य करना पड़ता है उसके कारण उसकी बौद्धिक एवं कल्पना-शक्ति कुण्ठित होकर अनुपयोगी बन जाती है। उसे उपयोगी बनाने तथा उसमें रुचि, कल्पना, बुद्धि आदि के नए रंग देने के लिए प्रशिक्षण को माध्यम बनाया जाता है।

सेवाकालीन प्रशिक्षण और प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण में मुख्य अन्तर यह है कि सेवाकालीन प्रशिक्षण का सम्बन्ध मुख्य रूप से कर्मचारी के कार्यों से रहता है। यह सम्बन्ध सीधा होता है। दूसरी ओर प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण का कर्मचारी के वर्तमान दायित्वों से बहुत कम सम्बन्ध अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण मुख्य रूप से कर्मचारी को भविष्य के लिए तैयार करते हैं। मैंडल के मतानुसार प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण यद्यपि बहुत अंशों में कर्मचारी के कार्य से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित नहीं है, किन्तु फिर भी एक संगठन के लिए निश्चित रूप से सहायक है।[1] इस दृष्टि से सरकार का यह कर्तव्य माना जाता है कि वह समय-समय पर विभिन्न वर्गों के सरकारी अधिकारियों की अलग-अलग विचार-गोष्ठियाँ (Seminars) आयोजित करे और यदि आवश्यकता हो तो पदाधिकारियों को अपने कार्यों से सम्बन्धित अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए विदेश-यात्राओं पर भेजे। प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण केवल राज्य का ही कार्य नहीं है बल्कि ज्ञान, अनुभव और योग्यता की वृद्धि के लिए कर्मचारी स्वयं भी प्रयास कर सकता है और उसे ऐसा करना चाहिए। ऐसा करने पर ही उसे पदोन्नति हेतु उपयुक्त समझा जा सकेगा। फिर भी राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह कर्मचारियों को इस प्रकार के पाठ्यक्रमों की सूचना देता रहे तथा यह भी निर्देश दे कि इनसे किस प्रकार लाभान्वित हुआ जा सकता है। इन पाठ्यक्रमों से पूर्ण लाभ उठाने की दृष्टि से अर्द्धवेतन की छुट्टियाँ, वजीफा आदि का उपबन्ध होना चाहिए। इस प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण से अधिकारियों और कर्मचारियों को सगठन के सभी पहलुओं से अवगत कराया जा सकता है।

प्रशिक्षक (The Trainer)

प्रशिक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका सम्बन्ध व्यक्ति की उम्र, आदत, महत्त्वाकाँक्षा, विचार आदि से रहता है। प्रशिक्षण का रूप, प्रक्रिया, समय आदि का निर्धारण करने में ये सभी तत्त्व उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह करते हैं। प्रशिक्षण द्वारा व्यक्तियों की रुचियों को प्रेरणा एवं प्रोत्साहन प्रदान किया जा सकता है, किन्तु उनको प्रायः बनाया नहीं जा सकता। इसी प्रकार व्यक्ति की एक विशेष आयु होती है जबकि वह नवीन ज्ञान का स्वागत करता है। इस समय उसे जैसा चाहे प्रशिक्षित कर सकते हैं क्योंकि उसकी रुचियाँ भी अपरिपक्व अवस्था में होती हैं, किन्तु कालान्तर में उसमें अनेक विचार ग्रंथियाँ बन जाती हैं, कई पूर्वाग्रह उसके मस्तिष्क को सीमित कर देते हैं जिनके कारण वह प्रत्येक ज्ञान को आसानी से ग्रहण नहीं कर सकता। मानव व्यवहार के इन सब तथ्यों की पृष्ठभूमि में *यह निश्चित करना महत्वपूर्ण है कि प्रशिक्षक कौन होना चाहिए और उसे प्रशिक्षण किस प्रकार देना* चाहिए।

प्रशिक्षण देना सर्वप्रथम विद्यालयों का कार्य है। महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालयों में दिया जाने वाला प्रशिक्षण व्यक्ति के जीवन का रूप निर्धारित करता है तथा उसे एक निश्चित दिशा प्रदान करता है जिसकी ओर जीवन भर उसके समस्त प्रयास एवं सारी शक्तियाँ सचालित रहती हैं। विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में जो शिक्षा प्रदान की जाती है वह एक सामान्य प्रकृति की शिक्षा होती है जो उसके मानसिक एवं बौद्धिक दृष्टिकोण को व्यापक बनाती है, उसके व्यवहार में लोचशीलता लाती है और बदली हुई परिस्थितियों के साथ समायोजन करने की शक्ति को विकसित करती है। कार्य विशेष का प्रशिक्षण कर्मचारी उसी समय प्राप्त कर पाता है जबकि वह सेवा में प्रवेश पा लेता है तथा उसको किसी पद के उत्तरदायित्व सौंप दिए जाते हैं। सेवाकाल में व्यक्ति को प्रदान किया जाने वाला प्रशिक्षण मुख्य रूप से उसके पर्यवेक्षकों एवं अन्य उच्च अधिकारियों द्वारा प्रदान किया जाता है। कई सगठनों में उनके स्वयं के प्रशिक्षण केन्द्र होते हैं जहाँ उस सगठन के कर्मचारी अपने कार्य के सम्बन्ध में पूरा प्रशिक्षण प्राप्त कर सकते हैं। सेवाकालीन एवं प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण देने वाले ये व्यक्ति उस समय तक सफल नहीं

1 *Stahl* : Op. cit., p. 294.

माने जा सकते जब तक कि प्रशिक्षणार्थी में पृष्ठभूमि न हो। इस पृष्ठभूमि की रचना का कार्य महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों द्वारा किया जाता है।

प्रशिक्षण की समस्याएँ

(The Problems of Training)

प्रशिक्षण से सम्बन्धित अनेक प्रशासनिक समस्याएँ भी उत्पन्न होती हैं। प्रशिक्षण कार्य से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण समस्याओं का वर्णन टोरपे ने इस प्रकार किया है।[1]—

1. प्रशिक्षण कार्यक्रमों का अनुचित मूल्यांकन (Improper Evaluation of Training Programmes)—प्रशिक्षण की प्रभावशीलता एवं सफलता का निश्चय इससे होता है कि प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद प्रशिक्षार्थी को क्या लाभ हुआ। यदि प्रशिक्षित होने के बाद उसे कोई आर्थिक लाभ नहीं होता या सम्मान प्राप्त नहीं होता तो वह उसमें उदासीन दृष्टिकोण अपनाएगा। इसी प्रकार यदि प्रशिक्षण कार्य के स्तर को ऊँचा नहीं उठाता, उसे मात्रा एवं गुण की दृष्टि से आगे नहीं बढ़ाता, तो संगठन उसमें किसी प्रकार की रुचि नहीं लेगा। प्रशिक्षण प्रदान करने के बाद प्रशिक्षक एवं प्रशिक्षणार्थी दोनों ही इस बात को भुला देते हैं। परिणाम यह होता है कि प्रशिक्षण कार्यक्रमों पर किया गया समय व्यर्थ चला जाता है। जहाँ सेवीवर्ग अधिकारियों का यह विश्वास होता है कि प्रशिक्षण के लिए उन्हें जहाँ होना चाहिए वहाँ प्रशिक्षण द्वारा किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। प्रशिक्षण कार्यक्रमों का उचित मूल्यांकन करते समय प्रशिक्षक को कार्यक्रम के लक्ष्यों की दृष्टि से विश्लेषण करना चाहिए। स्टाल ने भी लिखा है कि प्रशिक्षण कार्यक्रम का मूल्यांकन उसके लक्ष्यों की दृष्टि से किया जाना चाहिए। उनके मतानुसार यह लक्ष्य तुरन्त का तथा दूरगामी दोनों ही प्रकार का हो सकता है। इस प्रकार वस्तुगत दृष्टि से किया गया मूल्यांकन भावी प्रशिक्षण कार्यक्रमों को प्रोत्साहन देता है। मूल्यांकन करते समय प्रशिक्षण कार्यक्रम के परिणामों को देखना चाहिए लेकिन केवल परिणामों पर आधारित मूल्यांकन भी वैधानिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि कई बार अनेक अप्रत्यक्ष अवरोध प्रशिक्षण के एक श्रेष्ठ कार्यक्रम को भी परिणामों की दृष्टि से शून्य बना देते हैं। फिर भी स्टाल की मान्यता के अनुसार प्रशिक्षण का निश्चित एवं न्यायिक मूल्यांकन करने के लिए लक्ष्यों एवं उसके परिणामों पर केन्द्रित रहना कई बार अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है।[2]

2. विभिन्न उच्चस्तर के प्रशासकों में प्रशिक्षण वृत्ति का अभाव (Lack of Training-mindedness among Various Top-Level Administrators)—कुछ प्रशासक इस प्रकृति के होते हैं कि प्रशिक्षण कार्य को व्यर्थ समझते हैं। वे प्रशिक्षण कार्यक्रमों को केवल इसीलिए समर्थन देते हैं क्योंकि ये लोकप्रिय हो चुके हैं, किन्तु अन्य आवश्यक सहयोग से वे हाथ खींच लेते हैं। यदि किसी अभिकरण में कोई नया उच्चाधिकारी ऐसा आ जाए जो प्रशिक्षण कार्यक्रमों की उपयोगिता में विश्वास नहीं रखता तो वह अब तक चली आ रही प्रशिक्षण योजनाओं को छिन्न-भिन्न कर देगा। प्रशिक्षण कार्यक्रम के प्रति अरुचि का कारण कुछ भी हो सकता है। प्राय ऐसा अधिकारी जबकि वह अपने परिश्रम और मेहनत से उच्च पद पर आया है और जिसने प्रशिक्षण योजनाओं का कोई लाभ नहीं उठाया, वह दिल से इनका समर्थन नहीं करेगा। टोरपे का कहना है कि किसी अभिकरण में प्रशिक्षण कार्यक्रम की सफलता के लिए उच्च प्रबन्ध को उसकी मूलभूत आवश्यकता पहचाननी चाहिए और उसे अपना हार्दिक समर्थन देना चाहिए।[3]

3. प्रशिक्षण कार्य को रूप देने में व्यवस्थापिका की धीमी गति (Slowness of Legislature to Formalize the Training Function)—प्रशिक्षण कार्यक्रम के लिए कानूनी प्रारूप प्राय व्यवस्थापिकाओं द्वारा तैयार किया जाता है, किन्तु वे अपने कार्य में कई बार असफल रहती हैं। यही कारण है कि कई बार प्रशिक्षण की वैधता को इस आधार पर चुनौती दी जाती है कि प्रशिक्षण कार्यक्रम को संचालित करने के लिए कार्यपालिका के पास पर्याप्त व्यवस्थापिका शक्ति नहीं थी।

4. कर्मचारी के कार्यों और प्रशिक्षण के बीच ढीला समन्वय (Loose Co-ordination between Employment and Training Functions)—सेवीवर्ग की भर्ती तथा उनके प्रशिक्षण की समस्याएँ परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। यदि अयोग्य व्यक्तियों की भर्ती कर ली गई तो अच्छे से अच्छा प्रशिक्षण कार्यक्रम भी

1. *William G Torpey*, Op cit, p 170-180
2. *O G Stahl* · Op cit, p 106
3. *W G Torpey* Op cit, p 177

उनको योग्य नहीं बना सकता। इसी प्रकार यदि प्रशिक्षण कार्यक्रम निकम्मा है तो भर्ती किए गए व्यक्ति की उत्कृष्ट योग्यताएँ भी कुण्ठित हो जाएँगी। अत यह आवश्यक है कि भर्तीकर्त्ता एवं प्रशिक्षणकर्त्ता दोनों के बीच उचित समन्वय हो। इस समन्वय का अभाव प्रशासन की एक महत्वपूर्ण समस्या है। टोरपे का यह कहना सत्य है कि सेवीवर्ग प्रशासकों को भर्ती एवं प्रशिक्षण के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध को समझना चाहिए और इन क्रियाओं के बीच लगातार प्रभावशाली समन्वय स्थापित रखना चाहिए।

5. सामान्य सेवीवर्ग कार्यों से प्रशिक्षण का प्रशासकीय पार्थक्य (Administrative Separation of Training from General Personnel Functions)—अनेक बार प्रशिक्षण कार्य को सेवीवर्ग कार्यों से प्रशासकीय रूप में पृथक् कर दिया जाता है अर्थात् सेवीवर्ग के कार्यों का प्रशासन एक प्रकार से होता है और प्रशिक्षण कार्यों का प्रशासन दूसरे प्रकार से। इस प्रकार के पार्थक्य में प्रशिक्षण को एक ऐसे अधिकारी के हाथों में सौंप दिया जाता है जो सेवीवर्ग अधिकारी से स्वतन्त्र रहता है। प्रशिक्षण सेवीवर्ग से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित कार्य है। अत. इसे अलग करके अनेक संगठनात्मक संघर्ष एवं अनावश्यक समस्याओं को जन्म दिया जाता है और संगठन के एक रूप व्यवहार में अनेक बाधाएँ उत्पन्न की जाती हैं।

6. सेवाकालीन प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों की प्रामाणिकता (Accreditation of In-service Training Courses)—जब तक प्रशिक्षण का कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं होता, तब तक प्रशिक्षणार्थी उसमें अपना पूरा ध्यान एवं शक्ति नहीं लगा पाता है। यदि सेवाकालीन प्रशिक्षण को पदोन्नति आदि की दृष्टि से महत्त्व नहीं दिया जाता तो प्रशिक्षित व्यक्ति को घोर निराशा होती है। अनेक प्रशासकीय संगठनों में यह एक सामान्य प्रवृत्ति है कि पदोन्नति करते समय केवल प्रशिक्षण को योग्यता का आधार नहीं बनाया जाता। यदि एक प्रशिक्षित व्यक्ति को पदोन्नति का अवसर दिया जाता है तो इसके दूसरे कई कारण होते हैं न कि यह कि उसने प्रशिक्षण प्राप्त किया है।

7. कार्यभार (Work-load)—कुछ अभिकरणों में कार्यभार इतना अधिक होता है कि पर्यवेक्षक एवं कर्मचारी दोनों ही यह अनुभव करते हैं कि प्रशिक्षण कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए उनके पास समय नहीं है। प्रशिक्षण अपने वर्तमान कार्य को रोक कर ही प्राप्त किया जा सकता है और इसके लिए संगठन के उच्चाधिकारी एवं स्वयं प्रशिक्षणकर्त्ता भी कई बार तैयार नहीं होते, किन्तु व्यावहारिक वास्तविकताएँ इससे भिन्न हैं। जब पर्यवेक्षकों एवं कर्मचारियों को प्रशिक्षित कर दिया जाता है तो वर्तमान एवं भविष्य में कार्य का गुण एवं मात्रा बढ़ जाती है।

8. कोषों का अभाव (Lack of Funds)—अनेक बार धन का अभाव प्रशिक्षण कार्यक्रमों की सफलता को मन्द कर देता है। जब इन कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त स्टाफ नहीं दिया जाता या प्रशिक्षणार्थियों के कार्य को सम्पन्न करने के लिए अन्य व्यक्तियों को नियुक्त नहीं किया जाता या प्रशिक्षण के लिए आवश्यक साधन एवं सामान नहीं जुटाए जाते तो इन कार्यक्रमों की सफलता संदिग्ध बन जाती है। प्रशिक्षण की प्रक्रिया में पर्याप्त व्यय की आवश्यकताएँ होती हैं। इसमें व्यय किया गया धन उसी समय कोई लाभ प्रदान नहीं करता। तत्काल की दृष्टि से तो यह अत्यन्त हानिकारक प्रतीत होता है, किन्तु भविष्य की दृष्टि से इसे उपयोगी माना जाता है।

9. अन्य—प्रशिक्षण की अन्य अनेक समस्यायें भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं—

(1) अच्छे प्रशिक्षण के लिए उचित पाठ्यक्रम का चयन करना भी एक प्रबल समस्या है।

(2) अच्छे प्रशिक्षकों का चयन करना तथा उनमें निष्ठा की भावना जाग्रत करना दूसरी समस्या है।

(3) प्रशिक्षण में आधुनिकतम तकनीकों को ग्रहण करना भी एक समस्या है।

(4) प्रशिक्षण व्यक्तिगत आधार पर दिया जाये या सामूहिक आधार पर दिया जाये, इसका निर्धारण करना भी बड़ी टेढ़ी खीर है।

(5) प्रशिक्षण के समुचित लक्ष्यों को निश्चित करना भी एक गहन चुनौती है।

(6) प्रशिक्षण के लिए समुचित वातावरण निर्माण करना भी एक प्रमुख समस्या है।

(7) अच्छे प्रशिक्षण के लिए किन मानदण्डों का सहारा लिया जाये, इसका निश्चय करना भी एक कठिन समस्या है।

प्रमुख देशों में प्रशिक्षण व्यवस्था
(Training System in Major Countries)

ग्रेट ब्रिटेन में प्रशिक्षण

ग्रेट ब्रिटेन में लोक सेवकों के प्रशिक्षण का संरचनात्मक ढाँचा एशेटन समिति (Asshcton Committee) की सिफारिशों पर आधारित रहा है। समिति के अभिमत में राजकोष सेवा में प्रशिक्षण पर नियंत्रण करना चाहिए, प्रत्येक विभाग में प्रशिक्षण के कार्यक्रमों को व्यवस्थित करना चाहिए तथा राष्ट्रीय एवं विभागीय ह्विटले परिषदों की भागीदारी होनी चाहिए। ब्रिटिश सरकार ने एशेटन समिति की सिफारिशें स्वीकार कर लीं और राजकोष में प्रशिक्षण की एक योजना का निर्माण किया जिसको सारांश रूप में डॉ. माम्मरी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"इसके संचालन के लिए एक शिक्षा तथा प्रशिक्षण निर्देशक (Director of Education and Training) नियुक्त किया जाता है। विभाग (Department) में प्रशिक्षण अधिकारी नियुक्त किए जाते हैं, जो कि ह्विटले परिषदों (Whitley Councils) के सहयोग से इस योजना का संचालन करते हैं। नव प्रविष्टों (Entrants) को विभाग के स्थान, उसकी सेवा के सम्बन्धों तथा समाज के लिए उसकी उपादेयता के बारे में परिचय कराया जाता है। उनको नीतिशास्त्र (Ethics) तथा सेवा के आचार-व्यवहार संबंधी नियमों की शिक्षा दी जाती है। इसके पश्चात् कार्य अथवा पद का वास्तविक प्रशिक्षण दिया जाता है। कार्यालय-समय के बाहर व्यावसायिक (Vocational) तथा सामान्य ज्ञान की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाता है। अनेक नव-प्रविष्ट व्यक्ति स्वयं अपने अनुभव से प्रयोगात्मक रूप से अपने कार्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं। वरिष्ठ स्तर (Senior Level) के पदाधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए एक प्रशासकीय स्टाफ कालेज है। यह कालेज सिण्डीकेट प्रणाली का उपयोग करता है, जिसके अनुसार छात्र एक जाँच समिति (Committee of Enquiry) की विधि द्वारा अपने लिए विषयों की खोज करते हैं।" इस कालेज ने उद्योग तथा बैंकिंग के उच्च प्रशिक्षण पर ह्वाइट हाल की अपेक्षा अधिक प्रभाव डाला है। "लन्दन विश्वविद्यालय लोक प्रशासन में डिप्लोमा प्रदान करने तथा ब्रामशिल (Bramshill) का पुलिस कॉलेज अधिकारियों को प्रशिक्षण देकर, कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण की पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान करते हैं। इन सब प्रशिक्षणों का उद्देश्य विभाग के कार्य में अधिक परिशुद्धता उत्पन्न करना, अधिकारियों को परिवर्तनीय आवश्यकताओं के अनुरूप बनाना और नैतिक कार्य का अभ्यासी बनने से रोकना, विशेषकर यान्त्रिक कार्य-पद्धति के प्रभाव को रोकना, उनको अधिक महत्त्वपूर्ण भावी उत्तरदायित्वों के लिए तैयार करना तथा कर्मचारियों के मनोबल (Morale) को पुष्ट करना है।"

मई, 1963 में राजकोष के मुख्य सचिव ने लोकसभा में 'प्रशासकीय अध्ययनों' के लिए राजकोष केन्द्र (Treasury Centre for Administrative Studies—CAS) की स्थापना के निर्णय की घोषणा की। इस केन्द्र का मुख्य कार्य है—सभी सहायक प्रधानों (Assistant Principals) के लिए अपने-अपने विभाग में दो वर्ष कार्य करने के उपरांत केन्द्रीय प्रशिक्षण के विस्तृत पाठ्यक्रमों का संगठन करना। जब 1968 में नागरिक सेवा विभाग गठित हुआ तो राजकोष का प्रशिक्षण एवं शिक्षा संभाग इसको स्थानांतरित कर दिया। जून, 1970 में सभी केन्द्रीय नागरिक सेवा प्रशिक्षण के पाठ्यक्रमों का दायित्व लोक सेवा कालेज (Civil Service College) ने सम्भाल लिया। नागरिक सेवा विभाग में प्रशिक्षण तथा शिक्षा विभाग से सम्बन्धित कर्मचारी अब कॉलेज स्टाफ के सदस्य बन गए। इस विभाग में एक 'Training Requirement Division' स्थापित किया गया तथा इसे प्रशिक्षण एवं शिक्षा सम्भाग के बाकी के दायित्व सौंप दिए गए। इस नए संभाग का कार्य कालेज के साथ मिलकर प्रशिक्षण की आवश्यकताओं का विश्लेषण एवं निर्धारण करना तथा विभागीय प्रशिक्षण के क्षेत्र में परामर्शदाता का समन्वयकारी दायित्व निभाना है। इस तरह से ब्रिटेन में लोकसेवकों के प्रशिक्षण की एक सुव्यवस्थित प्रणाली कायम है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रशिक्षण

संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रशिक्षण की दो मुख्य व्यवस्थाएँ हैं—

(1) प्रवेश-पूर्व प्रशिक्षण (Pre-entry Training)—यह प्रशिक्षण व्यक्ति को सरकारी सेवा में प्रवेश के उपयुक्त बनाता है तथा उसके मस्तिष्क की योग्यताओं एवं ज्ञान का विकास करता है, लेकिन प्रवेश-पूर्व प्रशिक्षण में इस बात की गारंटी नहीं होती कि व्यक्ति को सरकारी सेवा में ले लिया जाएगा। ऐसा प्रशिक्षण देने वाली संस्थाएँ प्राय कालेज, तकनीकी स्कूल एवं विश्वविद्यालय होते हैं। प्रवेश-पूर्व परीक्षा के स्वरूप में काफी भिन्नताएँ पाई जाती

हैं, अतः उनमें प्रवेश के लिए प्रशिक्षण भी अलग-अलग प्रकार का दिया जाता है। कुछ सेवाएँ व्यावसायिक प्रकृति की होती हैं। उनमें प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम निर्धारित करते समय सरकार की अपेक्षाओं का ध्यान रखा जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में जगलात, सार्वजनिक समाज सेवा आदि कुछ ऐसी ही संस्थाएँ हैं। कुछ सरकारी पदों के लिए विशेष शैक्षणिक तैयारी की कोई आवश्यकता नहीं होती। परीक्षाएँ सामान्य बुद्धि की जाँच करती हैं तथा इनके लिए कोई पाठ्यक्रम निर्धारित नहीं होता। यह प्रवृत्ति आजकल बढ़ती जा रही है तथा स्कूलों और कालेजों पर विशेष व्यावसायिक तैयारी का भार नहीं आता। कुछ पदों के लिए वैज्ञानिक तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण की आवश्यकता रहती है। गैर-विशेषज्ञ (General) तथा विशेषज्ञ (Specialist) शिक्षा की माँग को पूरा करने के लिए अमेरिका में व्यावसायिक स्कूल (Professional Schools), स्नातक स्कूल (Graduate Schools) तथा उदार कला महाविद्यालय (Liberal Arts College) हैं। संयुक्त राज्य लोक सेवा आयोग के क्षेत्र में आने वाले विभिन्न कालेजों में कुछ सामान्य विषयों के बारे में पर्याप्त घनिष्ठता रहती है, जैसे—पाठ्यक्रम का निर्धारण, परीक्षा का समय, परिसर दर्शन में समन्वय, विज्ञानों की विशेष समस्याएँ आदि। सन् 1934 में संघीय लोक सेवा में विभिन्न विभागों में नियुक्ति के लिए किसी न किसी प्रकार की परीक्षा लेने की परंपरा थी। कॉलेज, विश्वविद्यालय एवं सरकार अनेक महत्वपूर्ण बातों पर साथ मिलकर विचार करते हैं तथा अध्ययन की विषय-वस्तु और तरीके निर्धारण करते समय लोकसेवाओं की अपेक्षा का पर्याप्त ध्यान रखा जाता है। स्टाल के अनुसार, "स्पष्ट प्रवेश-पूर्व प्रशिक्षण देश की शैक्षणिक संस्थाओं में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रवेश-पूर्व प्रशिक्षण में शिक्षण संस्थाओं की महती भूमिका होती है।

(2) सेवाकालीन प्रशिक्षण (In-Service Training)—प्रवेश-पूर्व प्रशिक्षण प्रायः उन पदों तक ही सीमित रहता है जिनमें निरन्तर तथा बड़ी मात्रा में माँग रहती है तथा जिनके लिए व्यापक ज्ञान की आवश्यकता होती है। यह प्रशिक्षण सेवा में प्रवेश के बाद एक पृष्ठभूमि के रूप में महत्वपूर्ण है, किन्तु किसी पद विशेष के दायित्वों को पूरा करने में यह विशेष सहयोग नहीं दे पाती। इस हेतु सेवाकालीन प्रशिक्षण अलग से दिया जाना आवश्यक है। सेवाकालीन प्रशिक्षण कर्मचारी को वर्तमान कार्य सपन्न करने के लिए ऐसा ज्ञान प्रदान करता है जो उसे पहले प्राप्त नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त सेवाकालीन प्रशिक्षण पुराने कर्मचारियों को वर्तमान कार्य सम्पन्न करने में अधिक कार्यकुशल बनाने तथा पदोन्नति के लिए तैयार करने का भी कार्य करता है। इस प्रकार सेवाकालीन प्रशिक्षण कभी समाप्त नहीं होता यह सदैव चलता रहता है। सेवाकालीन प्रशिक्षण की दृष्टि से चार बातें उल्लेखनीय हैं—(i) प्रशिक्षण अथवा कर्मचारी का विकास एक निरन्तर प्रक्रिया है, (ii) स्वयं कार्य भी प्रशिक्षण का महत्वपूर्ण साधन है, (iii) प्रशिक्षण का एक अन्य साधन प्रशिक्षण की प्रक्रिया में उपलब्ध होता है तथा (iv) एक संगठन ताजा, नए और यहाँ तक कि विवादपूर्ण विचारों का प्रवेश काफी लाभदायक है। संयुक्त राज्य अमेरिका में लोक सेवकों के प्रशिक्षण हेतु विभिन्न तरीकों का प्रयोग किया जाता है। तरीके वहाँ के क्रमिक अनुभव तथा व्यावहारिक अनुसंधान के परिणाम हैं। इनमें से कुछ उल्लेखनीय हैं—सामूहिक प्रशिक्षण (Group Training), कार्य पर प्रशिक्षण (On the Job Training), मैन्युअल तथा बुलेटिन (Manuals and Bulletins), पत्राचार पाठ्यक्रम (Correspondence Course) एवं दृश्य-श्रव्य साधनों का प्रयोग (Use of Audio-visual Aids)।

लोक सेवाओं में पदोन्नति व्यवस्था

(Promotion System in Public Services)

सेवीवर्ग प्रशासन में पदोन्नति व्यवस्था का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। सामयिक तथा आदर्श पदोन्नति व्यवस्था के माध्यम से ही कर्मचारियों के उत्साह तथा मनोबल में वृद्धि करके उन्हें अच्छे परिणाम देने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। इसके अभाव में कर्मचारी पूर्ण अभिरुचि के साथ कार्य नहीं करते हैं। इसीलिए प्रायः सभी देशों में पदोन्नति की उचित व्यवस्था को अपनाया जाता है।

पदोन्नति व्यवस्था की असफलता अनेक बार तो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारणों से होती है किन्तु कभी-कभी यह इसलिए भी हो जाती है कि सेवीवर्ग प्रबन्ध उपयुक्त पदोन्नति व्यवस्था की मूलभूत विशेषताओं से परिचित नहीं होता है। विलोबी ने इन विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार से किया है—

(1) सरकारी सेवा के सभी पदों के लिए पदाधिकारियों की सभी आवश्यक योग्यताओं एवं कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए मापदण्ड निर्धारित किए जाएँ।

(2) इन सभी पदों का विभिन्न सेवाओं में वर्गीकरण किया जाए। प्रत्येक सेवा की सामान्य प्रकृति एक जैसी हो अतः पदों की व्यवस्था उनके सापेक्षिक महत्त्व के अनुसार पदसोपान के रूप में प्रतिबन्धित की जाए।

(3) इस वर्गीकरण में राजनीतिक प्रकृति की सेवाओं को छोड़कर अन्य सभी उच्चतर प्रशासनिक पद शामिल किए जाएँ।

(4) यह सिद्धान्त स्वीकार किया जाना चाहिए कि जहाँ तक हो सके उच्चस्तर के पदों के रिक्त स्थानों की पूर्ति सेवा के निम्न स्तरों से पदोन्नति करके अथवा दूसरी सेवाओं से स्थानान्तरण करके की जाएगी।

(5) यह सिद्धान्त स्वीकार किया जाए कि पदोन्नति द्वारा कर्मचारियों के चयन का आधारभूत सिद्धान्त केवल योग्यता होगा।

(6) पदोन्नति के लिए उपयुक्त कर्मचारियों की सापेक्षिक योग्यताओं को निर्धारित करने के लिए पर्याप्त साधनों की व्यवस्था की जाए।

इस प्रकार कर्मचारियों की पदोन्नति एक वैज्ञानिक आधार पर हो सकेगी और विभिन्न उच्च पदों पर, न केवल योग्य व्यक्तियों को नियुक्त किया जा सकेगा वरन् सम्बन्धित तथा सम्भावित कर्मचारियों के मन में इसकी निष्पक्षता के प्रति सन्तोष की भावना भी जाग्रत की जा सकेगी।

पदोन्नति के लिए पात्रता

(Eligibility for Promotion)

पदोन्नति से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि पदोन्नति के लिए कर्मचारी की पात्रता का क्षेत्र क्या हो तथा इस क्षेत्र का निर्धारण किस प्रकार किया जाए। इस सम्बन्ध में अनेक प्रश्न विचारणीय हैं—जैसे—

1. क्या पदोन्नति केवल उन्हीं व्यक्तियों तक सीमित रहनी चाहिए जो कि उस सेवा में रत हैं, जिसमें कि भरे जाने वाले पद का वर्गीकरण किया गया है, उस पद के नीचे के दूसरे पद-स्थिति (Rank) के पदों पर आसीन हों ?

2. क्या पदोन्नति की पात्रता केवल उन कर्मचारियों तक सीमित रहनी चाहिए जो कि उस सेवा में निम्नतर पदों (Lower Positions) पर स्थित हों ?

3. क्या यह संगठनात्मक इकाई (Organisational Unit) के कर्मचारियों तक ही सीमित रहनी चाहिए जिसमें वह स्थान रिक्त हुआ हो ?

4. क्या इसको उस ब्यूरो (Bureau) के कर्मचारियों तक सीमित रखा जाना चाहिए जितनी कि वह संगठनात्मक इकाई एक अंग है ?

5. क्या उसको केवल उस विभाग (Department) के कर्मचारियों तक सीमित रखा जाना चाहिए, जिसमें वह ब्यूरो स्थित है अथवा उसकी पात्रता का विस्तार सम्पूर्ण सरकारी सेवा के कर्मचारियों तक कर दिया जाना चाहिए ?

प्रो. विलोबी ने पदोन्नति के लिए पात्रता के दो आधारों का वर्णन किया है—(क) कैर्मिकों की योग्यताएँ (Personnel Qualifications), एवं (ख) सेवा का अनुभव एवं स्तर (Service Status)।

(क) कैर्मिकों की योग्यताएँ—पद-वर्गीकरण के समय प्रत्येक पद के कार्यों, दायित्वों एवं योग्यताओं का निर्धारण किया जाता है। इन योग्यताओं में ज्ञान, कुशलता, अनुभव, शैक्षणिक योग्यता, लिंग, निवास, दस्तकारी कुशलता आदि प्रमुख होती हैं। जिस पद के लिए पदोन्नत किया जाता है उसके लिए सभी आवश्यक योग्यताएँ सम्बन्धित प्रत्याशी में होनी चाहिए। इनके बिना पदोन्नति के लिए किसी कर्मचारी के नाम के सम्बन्ध में विचार ही नहीं किया जा सकता। जब ये आवश्यक योग्यताएँ निर्धारित की जाती हैं तभी यह तय हो जाता है कि पदोन्नति के लिए प्रत्याशियों का क्षेत्र व्यापक रहेगा अथवा संकीर्ण।

(ख) सेवा का अनुभव एवं स्तर—व्यक्तिगत योग्यताओं की भाँति पदोन्नति की पात्रता का एक अन्य आधार प्रत्याशियों की सेवा का स्तर है। इसके अन्तर्गत यह निर्धारित किया जाता है कि पदोन्नति के लिए संभावित प्रत्याशी कहाँ से प्राप्त किए जाएँगे। प्रायः सेवा के नियमों में ही निर्धारित कर दिया जाता है कि किसी विशेष पद के रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए पदोन्नति उसी पद के तुरन्त नीचे वाले पद से की जाएगी या उस संगठन के किसी भी कर्मचारी से की जाएगी या उस ब्यूरो के किसी कर्मचारी से की जाएगी जिसका वह संगठन अंग मात्र है या सम्बन्धित विभाग के किसी भी कर्मचारी से या सम्पूर्ण सरकारी सेवा के किसी कर्मचारी से की जाएगी। इन विकल्पों को निश्चित कर देने पर पदोन्नति की योग्यताएँ एवं पात्रता स्पष्ट हो जाती है। पदोन्नति की पात्रता के क्षेत्र पर प्रायः एक संगठनात्मक प्रतिबन्ध लगाया जाता है और पदोन्नतियाँ साधारणतः एक ही विभाग अथवा ब्यूरो के अन्तर्गत की जाती हैं, अन्तर-विभागीय पदोन्नतियों का समर्थन नहीं किया जाता है। पदोन्नति के क्षेत्र को इस प्रकार 'संकीर्ण रूप से' सीमित करना इस दृष्टि से लाभदायक है कि इससे पदोन्नत हो सकेंगे, वहाँ उनको कितना आर्थिक लाभ मिल सकेगा तथा वहाँ पहुँचने के लिए उन्हें कौन-सी योग्यताएँ अर्जित करनी चाहिए। इस व्यवस्था की हानि यह है कि इसके फलस्वरूप कर्मचारियों के पदोन्नति के अवसर कम रह जाते हैं, योग्य प्रत्याशियों का सम्भावित क्षेत्र भी छोटा हो जाता है। उक्त लाभों तथा हानियों का सापेक्षिक प्रभाव इस पर निर्भर करता है कि सेवा अथवा संगठनात्मक इकाई का क्षेत्र कितना व्यापक है।

प्रो. विलोबी की मान्यता है कि विभिन्न कर्मचारियों की सेवा की शर्तों में भारी अन्तर रहता है। इसलिए यदि उन सभी के लिए एकरूप व्यवस्था स्थापित करने की चेष्टा की गई तो वह घातक होगा। इस दृष्टि से कतिपय निम्नांकित सामान्य सिद्धान्त निर्धारित किए जा सकते हैं—

1. प्रत्येक सेवा के लिए पदोन्नति की व्यवस्था स्वयं की होती है तथा वह अन्य सेवा से पर्याप्त भिन्न है अतः प्रत्येक सेवा में पदोन्नति की समस्या पर पृथक् से विचार किया जाना चाहिए।

2. जहाँ तक सम्भव हो सके, सभी कर्मचारियों को पदोन्नति के अधिक से अधिक अवसर प्रदान करने की चेष्टा की जानी चाहिए।

3. पदोन्नति द्वारा रिक्त स्थान की पूर्ति करते समय सम्बन्धित संगठन से बाहर के कर्मचारी की अपेक्षा प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

पदोन्नति की समस्याएँ
(Problems of Promotion)

पदोन्नति के लिए सीमित अवसर होते हैं। अतः पदोन्नति के सिद्धान्तों का निरूपण किया जाता है ताकि पदोन्नति के सम्बन्ध में मनमानी न हो। यदि प्रत्येक कर्मचारी को एक निर्धारित समय में पदोन्नति प्राप्त होने की व्यवस्था हो जाए तो पदोन्नति के लिए किसी सिद्धान्त-निर्धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती, लेकिन समस्या यह है कि कर्मचारी तो बहुत अधिक संख्या में होते हैं जबकि वे पद जिन पदों पर पदोन्नति हो सकती है, बहुत कम रहते हैं। किसी भी संगठन का ढाँचा एक पिरामिड के समान होता है जिसमें नीचे बहुत से कर्मचारी होते हैं जबकि ऊपर की ओर कर्मचारियों की संख्या कम होती जाती है। अन्त में, शीर्ष पर तो एक ही प्रमुख अधिकारी या

एक ही सर्वोत्तम पद रह जाता है। पदोन्नति सबको प्राप्त नहीं हो सकती, अतः पदोन्नति विषयक सिद्धान्त न होने पर उन कर्मचारियों के मन में असन्तोष उत्पन्न होना स्वाभाविक है, जो पदोन्नत नहीं हो पाते हैं। उनके मन में यह भावना घर कर सकती है कि उनके साथ न्याय नहीं हुआ है। यह भावना किसी भी प्रशासन के लिए अहितकर हो सकती है। अतः पदोन्नति का उचित सिद्धान्त तय करना अत्यावश्यक बन जाता है।

पदोन्नति के सम्बन्ध में कोई सर्वथा सन्तोषजनक सिद्धान्त तो प्रचलित नहीं है। लेकिन लगभग सभी लोकतान्त्रिक देशों में निम्नलिखित दो सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाता है—

1. वरिष्ठता का सिद्धान्त (Principle of Seniority)
2. योग्यता का सिद्धान्त (Principle of Merit)

इसमें से किसी एक सिद्धान्त को भी अपनाया जा सकता है और दोनों को संयुक्त रूप से भी उपयोग में लाया जा सकता है।

वरिष्ठता का सिद्धान्त (Principle of Seniority)

वरिष्ठता के सिद्धान्त का सीधा-सा अर्थ यह है कि उच्चतर पदक्रम पर किसी भी कर्मचारी की पदोन्नति का *आधार अन्य कर्मचारियों की तुलना में उसके सेवाकाल का होना चाहिए।* इस प्रकार जो सबसे पुराना कर्मचारी है वह सबसे पहले पदोन्नत होना चाहिए। जैसे ही उच्च पद रिक्त हो, निम्न पद के सबसे पुराने कर्मचारी को ही पदोन्नत कर देना चाहिए। कर्मचारियों ने अन्याय अथवा पक्षपात के विरुद्ध सुरक्षा के रूप में सदैव वरिष्ठता के नियम का ही समर्थन किया है। वरिष्ठता का निर्णय करना सदैव सरल कार्य नहीं है। वरिष्ठता सेवा विशेष, श्रेणी विशेष और वेतनमान विशेष से निर्धारित की जाती है। यदि केवल सेवाकाल का ही विचार हो तो पहले से कार्य करने वाला एक चपरासी अपने अधिकारियों से वरिष्ठ हो जाएगा क्योंकि उन अधिकारियों की नियुक्ति चपरासी के बाद हुई है और वे अधिकारी आयु में भी उस चपरासी से छोटे हैं। वरिष्ठता के नियम की माँग है कि पदोन्नति प्राप्त करने वाले कर्मचारी में वे अर्हताएँ तो होनी ही चाहिए जो सम्बन्धित पद के लिए निर्धारित हों। वरिष्ठता नियम के अनुसार उच्च श्रेणी का पदाधिकारी सदा ही निम्न श्रेणी के पदाधिकारियों से वरिष्ठ समझा जाता है। श्रेणी और वेतनक्रम में भी प्रश्न उठता है कि वरिष्ठता का विचार नियुक्ति के समय को देखकर किया जाए अथवा स्थायीकरण के समय से "जो व्यक्ति बाहर से लाया गया है, वह अपने उच्चतर वेतन के आधार पर वरिष्ठता का दावा कर सकता है, यदि उस विभाग के उसी स्तर के कर्मचारियों के वेतन की अपेक्षा उसका पहले का विभागीय वेतन अधिक रहा हो। सामान्यतः विभाग के अन्तर्गत वरिष्ठता के निर्णय के लिए स्थायी पद के स्थायीकृत सेवाकाल का विचार किया जाता है परन्तु कभी-कभी नियोजक अधिकारी के विवेक के अनुसार वरिष्ठता उस व्यक्ति को भी दे दी जाती है जिसमें विशेष कौशल हो और जिसका वेतन अधिक हो।"

गुण—1. वरिष्ठता का सिद्धान्त वस्तुनिष्ठ है न कि व्यक्तिनिष्ठ। व्यक्ति चाहे जो भी हो यदि वह वरिष्ठ है तो पदोन्नत पहले होगा। 2. वरिष्ठता-सिद्धान्त के अनुसार पदोन्नति उनको प्राप्त होती है जिनको अपेक्षाकृत सबसे अधिक अनुभव होता है। आयु और अनुभव के आधार पर वरिष्ठता का निर्णय सामाजिक परम्परा के अनुकूल है। 3. वरिष्ठता के सिद्धान्त द्वारा पदोन्नतियाँ करने में मनमानी और धाँधली की गुंजाइश प्रायः नहीं रहती है। इसके फलस्वरूप यह सिद्धान्त कर्मचारियों का मनोबल बनाए रखने में सहायक होता है। पदोन्नति के क्षेत्र में राजनीतिक हस्तक्षेप भी प्रायः नहीं हो पाता है। 4. वरिष्ठता का सिद्धान्त कर्मचारियों को पदोन्नति की निश्चितता प्रदान करता है, अतः योग्य व्यक्ति सरकारी सेवा की ओर आकर्षित होते हैं। 5. वरिष्ठता के सिद्धान्त को अपनाकर विभाग के वातावरण को सुधारा जा सकता है। जब वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नतियाँ होने का विश्वास रहता है, तो कर्मचारी अपने-अपने काम में रुचि लेते हैं—जोड़-तोड़ बैठाने की चिन्ता नहीं करते। यह सिद्धान्त पदोन्नति को 'स्वचालित' बनाता है। 6. इस सिद्धान्त के कारण अनुभवी व्यक्तियों में आत्म-ग्लानि की भावना का विकास नहीं हो पाता है। उससे कम आयु के व्यक्ति को उसका अफसर या अधिकारी बनाने पर यह भावना घर कर सकती है।

दोष—वरिष्ठता-सिद्धान्त के दोष इस व्यवस्था की कमजोरियों को देखने पर प्रकट होते हैं—1. वरिष्ठता के सिद्धान्त में इस बात की कोई गारण्टी नहीं होती है कि वरिष्ठ कर्मचारी ही अधिक योग्य और सक्षम होगा। आयु के साथ-साथ बुद्धि का विकास होना कोई वैज्ञानिक सत्य नहीं है। ऐसे भी लोग हैं जो आयु बढ़ने के साथ-साथ मन्दबुद्धि होते जाते हैं। उचित यही है कि पदोन्नतियाँ केवल योग्यता के आधार पर की जाएँ। 2. केवल वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नतियाँ करने से कर्मचारियों में प्रतिस्पर्द्धा की भावना समाप्त हो जाती है, अतः वे अपने कार्य में अधिक उत्साह और बुद्धिमत्ता दिखाने की चिन्ता नहीं करते फलस्वरूप संगठन का विस्तार अवरुद्ध हो जाता है। 3. केवल वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नतियाँ सुनिश्चित कर दी जाने से विभाग में प्रायः अनुशासनहीनता पनपती है। पदोन्नति 'स्वचालित' होने से कर्मचारियों में अपने अधिकारियों की अवज्ञा करने अथवा उनके प्रति लापरवाही दिखाने की प्रवृत्ति घर करती है। 4. वरिष्ठता का निर्धारण इतना सरल नहीं है जितना ऊपर से देखने पर मालूम

होता है। ऐसे विरोधी दावे प्रस्तुत किए जाते हैं कि वरिष्ठता निर्धारित करने वाला क्रम ही उलझ जाता है। इस स्थिति में पदोन्नत किए गए कर्मचारियों और उन कर्मचारियों में जिनके दावे ठुकरा दिए गए हों, मनमुटाव बढ़ जाता है। इससे विभाग में अवांछनीय गुटबाजी की भावना को प्रोत्साहन मिलता है। 5. वरिष्ठता का सिद्धान्त योग्य और सक्षम व्यक्तियों को सरकारी सेवा की ओर आकर्षित नहीं करता। योग्यता को महत्त्व देने वाले विद्वानों ने वरिष्ठता-सिद्धान्त की कटु आलोचना की है।

ग्लैडन (Gladden) के मतानुसार वरिष्ठता का सिद्धान्त निम्नलिखित चार भ्रामक तथ्यों पर आधारित है—

1. यह माना जाता है कि एक श्रेणी (Grade) के सभी सदस्य पदोन्नति के लिए उपयुक्त हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि एक बड़ी संख्या ऐसे लोगों की होती है जो पदोन्नति के योग्य नहीं होते हैं।

2. यह माना जाता है कि वरिष्ठता सूची न्यूनाधिक रूप में कर्मचारी वर्ग की आयु के अनुसार ही इस तरह क्रमबद्ध की जाती है कि क्रमानुसार प्रत्येक व्यक्ति उच्चतर पद पर सेवा करने का अवसर प्राप्त कर सकेगा, लेकिन व्यवहार में यह सम्भव नहीं होता कि वरिष्ठता सूची में अंकित कर्मचारियों को पदोन्नति के अवसर उपलब्ध हो जायें।

3. यह मान लिया जाता है कि निम्न पदों की अपेक्षा उच्च पदों का प्रतिशत ऊँचा होता है, अतः सभी को पदोन्नति के अवसर प्राप्त होंगे, किन्तु व्यवहार में उच्च पद निम्न पदों की तुलना में बहुत कम होते हैं।

4. यह मान लिया जाता है कि रिक्त स्थान काफी अधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं। व्यवहार में यह पाया गया है कि उच्च पद संख्या में तो कम होते ही हैं, उनमें से रिक्त तो और भी कम होते हैं।

वरिष्ठता के सिद्धान्त में जिन आदर्श तत्त्वों की कल्पना की गई है, व्यवहार में उनका पाया जाना एक अनहोनी बात है। पदोन्नति के लिए एकमात्र वरिष्ठता के सिद्धान्त को स्वीकार करना संगठन के लिए 'स्वस्थ कदम' नहीं हो सकता। उच्चतर प्रशासकीय पदों पर पदोन्नति के लिए एकमात्र वरिष्ठता के सिद्धान्त को स्वीकार करना तो एकदम घातक होगा। वरिष्ठता बनाम योग्यता के सम्बन्ध में सिद्धान्त रूप से सभी प्रशासनिक मत इस बात पर सहमत हैं कि—

"(अ) उच्चतर पदों में पदोन्नति के लिए केवल योग्यता का ध्यान रखा जाना चाहिए, वरिष्ठता का नहीं,

(आ) मध्यम स्तर के पदों के लिए योग्यता प्रधान और वरिष्ठता गौण मानी जानी चाहिए, तथा

(इ) निम्न-स्तरीय पदों के लिए वरिष्ठता का विचार होना चाहिए, परन्तु इसका ध्यान भी रखा जाना चाहिए कि विशेष कौशल एवं दक्षता की उपेक्षा न हो। कुशल एवं दक्ष व्यक्तियों को शीघ्र प्रोन्नत कर देना चाहिए।"

"परन्तु व्यवहार में यह पाया जाता है कि पदोन्नति पर वरिष्ठता का प्रभूत प्रभाव पड़ता है। पहले आओ और पहले अवसर पाओ—यह कालक्रमानुसार बहाव है। कतिपय उच्चतम पदों को छोड़कर सभी पदों के लिए इसका ही ध्यान रखा जाता है। टामलिन कमीशन की रिपोर्ट (Tomlin Commission Report) में कहा गया है कि सेवा के लिए सामान्यतः वरिष्ठता का विचार सदैव महत्त्वपूर्ण बना रहेगा, उसकी अवमानना तो प्रश्न ही नहीं उठती।"

योग्यता का सिद्धान्त (Principle of Merit)

योग्यता का सिद्धान्त वरिष्ठता के सिद्धान्त का प्रतिस्पर्धी है और पदोन्नति के लिए इसके पक्ष में जो तर्क दिए जाते हैं, वे लगभग अकाट्य हैं। यह एक निर्विवाद सत्य है कि योग्यतम और दक्षतम व्यक्ति पदोन्नति के लिए सबसे उपयुक्त होते हैं। लेकिन इस सिद्धान्त के अनुपालन में कुछ गम्भीर कठिनाइयाँ या समस्याएँ हैं, जैसे—(क) योग्यता किस अर्थ में समझी जाए ? योग्यता कौन-सी ? तकनीकी योग्यता या कार्य की योग्यता या उच्चाधिकारियों को खुश रखने की योग्यता ? (ख) योग्यता को मापा कैसे जाए ? दक्षता का वास्तविक दृष्टि से अनुमान लगाना सरल नहीं होता। (ग) किस व्यक्ति को अधिकार दिया जाए कि वह योग्यता का निर्धारण करे। इन कठिनाइयों के कारण योग्यता के सिद्धान्त की उपयोगिता को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। ये प्रश्न योग्यता के सिद्धान्त के साथ जुड़े हुए होते हैं।

योग्यता जाँचने की विधियाँ—योग्यता की जाँच के लिए व्यक्ति-निरपेक्ष अथवा वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं (Objective Tests) की व्यवस्था की जाती है। योग्यता के सिद्धान्त के अनुपालन के लिए अनेक विधियों का सुझाव दिया गया है और व्यवहार में उनका प्रयोग उपयुक्त पाया गया है। ये विधियाँ अथवा साधन निम्नलिखित हैं—

1. परीक्षा तथा साक्षात्कार (Examination and Interview)—योग्यता को जाँचने की प्रथम व्यक्ति-निरपेक्ष रीति परीक्षा (Examination) की है। कभी-कभी परीक्षा के साथ साक्षात्कार (Interview) भी लिया जाता है। पदोन्नति-परीक्षाएँ तीन प्रकार की होती हैं—

(क) खुली प्रतियोगिता परीक्षा (Open Competitive Examination)—इस प्रणाली के अन्तर्गत परीक्षा में बैठने का अवसर सभी व्यक्तियों को प्राप्त होता है, चाहे वे पहले से सेवा में हों या नहीं। पहले से ही सेवा में कार्यरत कर्मचारी इस व्यवस्था के प्रति प्रायः असन्तोष प्रकट करते हैं कि सेवा से बाहर के व्यक्ति भी पदोन्नति

के रिक्त स्थानों के लिए प्रतियोगिता करें। उनका मुख्य तर्क यह है कि पदोन्नति का रिक्त स्थान केवल उन्हीं के लिए होता है जो पहले से ही सेवा में हैं। खुली प्रतियोगिता परीक्षा के समर्थकों का तर्क है कि यह प्रणाली उच्च पदों के लिए व्यापक क्षेत्र की व्यवस्था करती है।

(ख) सीमित प्रतियोगिता परीक्षा (Limited Competitive Examination)—*इस प्रणाली के अन्तर्गत* परीक्षा में बैठने का अवसर केवल उन्हीं व्यक्तियों को दिया गया है, जो पहले से सेवा में होते हैं। 'खुली पद्धति' (Open System) के विपरीत, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति प्रतियोगिता में सम्मिलित हो सकता है, इसे 'बन्द या संकुचित पद्धति' (Closed System) कहा जाता है।

(ग) उत्तीर्णता परीक्षा (Pass Examination)—इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्याशियों को परीक्षा में केवल उत्तीर्ण होना पड़ता है और इसके द्वारा अपनी न्यूनतम योग्यताओं का प्रमाण देना होता है। परीक्षाफल के आधार पर योग्य कर्मचारियों की एक सूची तैयार कर ली जाती है और फिर स्थान रिक्त होने पर इस सूची के आधार पर पदोन्नतियाँ कर दी जाती हैं। भारत सरकार में प्रतिवर्ष ऐसी अनेक पदोन्नति परीक्षाएँ आयोजित की जाती हैं।

गुण—पदोन्नति के लिए *परीक्षा-पद्धति के पक्ष समर्थकों के अनुसार इस पद्धति के मुख्य गुण इस प्रकार* हैं— (1) यह व्यक्ति निरपेक्ष (Objective) होती है। (2) इस पद्धति में पक्षपात, भ्रष्टाचार और मनमाने ढंग से पदोन्नति आदि के लिए स्थान नहीं होता है। (3) यह पद्धति सबको अपनी योग्यता का प्रमाण देने का समान अवसर प्रदान करती है। (4) यह वरिष्ठता के सिद्धान्त का खण्डन करती है। इसकी मान्यता है कि वरिष्ठता और योग्यता में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है।

दोष—परीक्षा-पद्धति के मुख्य दोष इस प्रकार हैं—(1) लिखित परीक्षा द्वारा प्रत्याशियों के व्यक्तित्व की सही जाँच नहीं की जा सकती। यह हो सकता है कि व्यक्ति बौद्धिक दृष्टि से तो श्रेष्ठ हो, लेकिन उसमें विभाग का प्रबन्ध या अधीक्षण करने की योग्यता न हो। (2) परीक्षा पद्धति अकुशल व्यक्तियों को आगे लाने में सहायक होती है। (3) *साधारण अथवा मध्यम (Medium) योग्यता वाले कर्मचारी भी कुछ तथ्यों को रट कर अथवा* किताबी-कीड़ा (Book-worm) बन कर परीक्षा पद्धति में अच्छे अंक ला सकते हैं। (4) उनकी यह सफलता इस बात का प्रमाण नहीं मानी जा सकती कि वैयक्तिक गुणों के आधार पर प्रत्याशी उच्च प्रशासकीय पद के लिए उपयुक्त है। (5) ऐसे पदों के लिए जो काफी उत्तरदायित्वपूर्ण हों, यह आवश्यक है कि प्रत्याशी में शीघ्र निर्णय लेने की क्षमता (Quick Mindedness), पहल करने की क्षमता (Initiative), सामयिक समझ-बूझ (Presence of Mind), व्यवहारकुशलता (Tact) आदि गुण हों। (6) नेतृत्व के इन गुणों की जाँच केवल लिखित परीक्षाओं द्वारा संभव नहीं हैं।

परीक्षा-पद्धति के गम्भीर दोषों के कारण इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि देशों में इसे अनुपयुक्त समझा जाता है। यह *प्रणाली प्रायः तभी काम में लाई जाती है जब प्रत्याशियों की संख्या बहुत अधिक होती है। इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि* देशों में अधिकांशतः यह माना जाता है कि उच्च अधिकारियों में नेतृत्व के गुणों की अपेक्षा ठोस सैद्धान्तिक ज्ञान का होना अधिक आवश्यक है, क्योंकि ऐसा ज्ञान अनुभव के साथ-साथ बढ़ता जाता है। अतः विभाग के पुराने वरिष्ठ अधिकारियों को बिना कोई परीक्षा लिए ही पदोन्नत कर देना चाहिए। संयुक्त राज्य अमेरिका में पदोन्नति के लिए परीक्षाएँ आयोजित की जाती हैं लेकिन इनका क्षेत्र कतिपय संघीय विभागों तक ही सीमित है।

2. विभागाध्यक्ष का व्यक्तिगत निर्णय (Personal Judgement of the Head of Department)—पदोन्नति के सम्बन्ध में निर्णय लेने में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व विभागाध्यक्ष का व्यक्तिगत निर्णय होता है और होना भी चाहिए। कर्मचारी विभागाध्यक्ष के अधीन रहकर वर्षों तक काम करते हैं, अतएव वह उनके गुणावगुणों से अच्छी तरह परिचित हो जाता है और योग्यता के आधार पर कर्मचारी की पदोन्नति के बारे में अधिक सही निर्णय ले सकता है। निकट व्यक्तिगत सम्पर्क पर आधारित विभागाध्यक्ष के द्वारा कर्मचारियों की कार्यकुशलता का मूल्यांकन अन्य तरीकों से किए गए मूल्यांकन की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक होता है। परन्तु विभागाध्यक्ष के व्यक्तिगत निर्णय की उपयोगिता मुख्यतः तीन तत्त्वों पर निर्भर है—श्रेष्ठ निर्णय करने की क्षमता, विभाग में उसको कार्य करने के लिए मिलने वाली स्वतंत्रता एवं उसकी निष्पक्ष भावना। कर्मचारी पदोन्नति के सम्बन्ध में विभागाध्यक्ष के व्यक्तिगत निर्णय की प्रणाली का मुख्यतया इसी आधार पर विरोध करते हैं कि उन्हें पक्षपात और भ्रष्टाचार का भय रहता है। ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं कि चापलूस और हाँ में हाँ मिलाने वाले कर्मचारी विभागाध्यक्ष की कृपा से पदोन्नत हो जाते हैं जबकि स्वतन्त्र विचार वाले कार्यकुशल कर्मचारियों को हानि उठानी पड़ती है।

विभागाध्यक्ष के व्यक्तिगत निर्णय की प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए विभागीय पदोन्नति मण्डल (Departmental Promotion Boards) स्थापित किए जाने लगे हैं। इन मण्डलों में विभागाध्यक्ष के अतिरिक्त विभाग के अधिकारी भी होते हैं। उनमें कुछ बाहर के भी सदस्य रखे जाते हैं। विभागीय पदोन्नति मण्डल कर्मचारियों की वरिष्ठता, उनके सेवा-अभिलेखों आदि के आधार पर पदोन्नतियों की सिफारिश करता है। यदि कोई

कर्मचारी यह समझता है कि पदोन्नति के सम्बन्ध में कोई बात गलत हुई है तो वह कर्मचारी संगठन के माध्यम से विभागाध्यक्ष अथवा पदोन्नति-मण्डल से अपील कर सकता है। ऐसी अपीलें विभाग के बाहर, स्वतन्त्र निकायों के पास भी भेजी जा सकती हैं। सामान्यतः यह कार्य लोकसेवा मण्डलों (Public Service Boards) को सौंपा जाता है जो अपीलों पर विस्तार से विचार करते हैं और सूक्ष्म जाँच-पड़ताल करने के बाद अपना निर्णय देते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में अपीलों का निर्णय सिविल कमीशन के पुनर्वीक्षा बोर्ड (Board of Review) द्वारा किया जाता है। इन बोर्डों की स्थापना से कर्मचारियों में सुरक्षा की भावना रहती है।

3. सेवा-अभिलेख अथवा कार्यकुशलता माप (Service Records or Efficiency Ratings)— इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक कर्मचारी की सेवा का एक अभिलेख अथवा विवरण रखा जाता है और वरिष्ठ अधिकारी इस सेवा-अभिलेख के आधार पर कर्मचारियों की कार्यकुशलता का निर्धारण करते हैं। सेवा-अभिलेखों का तुलनात्मक अध्ययन करके कर्मचारियों की सापेक्ष योग्यता आँकी जाती है। इस तरह यह पता चल जाता है कि कौन कितना कार्यक्षम (Efficient) है। इस व्यवस्था को विवरण प्रपत्र प्रणाली (System of Report Forms) भी कहते हैं। इन विवरणों में कर्मचारियों की कार्यकुशलता मापक दरें (Efficiency Rating) दी हुई रहती हैं। सेवा अभिलेख को गोपनीय प्रतिवेदन (Confidential Report) या चरित्र विवरण (Character Roll) भी कहा जाता है। वर्ष में एक बार वरिष्ठ अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के वार्षिक कार्य का लेखा-जोखा विभागीय अध्यक्ष को भेजता है। विवरण के लिए एक निर्धारित प्रारूप होता है।

ब्रिटेन में 1921 से ही 700 पौण्ड वार्षिक से कम वेतन पाने वाले प्रत्येक कर्मचारी की सेवा का वार्षिक विवरण रखा जाता है। विवरण-प्रपत्र में कर्मचारी के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का उल्लेख रहता है—विभागीय ज्ञान, व्यक्तित्व और चरित्र, निर्णय शक्ति, उत्तरदायित्व सम्भालने की क्षमता, पहल (Initiative), परिशुद्धता (Accuracy), बातचीत का ढंग तथा व्यवहार कौशल, कर्मचारियों का पर्यवेक्षण (Supervision) करने की क्षमता, उत्साह (Zeal) तथा पदीय आचरण (Official Conduct)। सम्बद्ध अधिकारी कर्मचारियों के इन सभी गुणों की जाँच करता है और अपने निर्णय को सेवा-विवरण-पत्र में तीन श्रेणियों के अन्तर्गत लिखता है—कर्मचारी पदक्रम (Grade) के औसत से ऊपर (Above Average) है, औसत के नीचे (Below Average) है अथवा औसत (Average) पर है। कर्मचारी के असाधारण गुणावगुणों का उल्लेख भी विवरण-पत्र में किया जाता है। सन् 1938 तक पदोन्नति के सम्बन्ध में विवरण-पत्र में कर्मचारी के बारे में उल्लेख होता था कि—(क) वह विशिष्ट रूप से शीघ्र पदोन्नति करने के लिए अत्यधिक उपयुक्त है, या (ख) वह पदोन्नति के लिए उपयुक्त नहीं है, लेकिन असाधारण या अद्वितीय रूप में नहीं अथवा (ग) वर्तमान में वह पदोन्नति के लिए तो उपयुक्त है। जो कर्मचारी पदोन्नति के लिए उपयुक्त नहीं समझे जाते थे उन्हें इस तथ्य की सूचना दे दी जाती थी। सन् 1938 से यह श्रेणीकरण (Grading) इस प्रकार कर दिया गया—(क) असाधारण रूप से सुयोग्य (Exceptionally Well Qualified), (ख) उच्च रूप से योग्य (Highly Qualified), (ग) योग्य (Qualified), एवं (घ) अभी तक योग्य नहीं (Not Yet Qualified)। कर्मचारियों के विभिन्न गुणों का श्रेणीकरण औसत से ऊपर, औसत से नीचे या औसत को बदल कर इस प्रकार कर दिया गया—उत्कृष्ट (Outstanding), बहुत श्रेष्ठ (Very Good), सन्तोषजनक (Satisfactory), उदासीन (Indifferent) तथा निकृष्ट (Poor)।

संयुक्त राज्य अमेरिका में कार्यकुशलता मापक दरों का बहुत ही व्यापक प्रयोग किया जा रहा है और इस सम्बन्ध में अनेक विस्तृत तथा सूक्ष्म प्रणालियाँ अपनाई जा रही हैं। वहाँ मुख्यतः तीन प्रकार की मापक दरें (Ratings) पाई जाती हैं—(अ) उत्पादन अभिलेख (Production Records), (ब) बिन्दुरेखीय दर-मापमान (Graphic Rating Scale), एवं (स) व्यक्तित्व तालिका (Personality Inventory)।

(अ) उत्पादन अभिलेख पद्धति (Production Records System)—इस पद्धति के अन्तर्गत कर्मचारी की कार्यकुशलता उसके कार्य के उत्पादन द्वारा आँकी जाती है। यह पद्धति ऐसे कर्मचारियों के सम्बन्ध में प्रयुक्त की जाती है जिन्हें यान्त्रिक (Mechanical) प्रकार का काम करना पड़ता है, यथा यन्त्रचालकों (Machine Operators), टंकणकर्त्ताओं (Typists), आशुलिपिकों (Stenographers) आदि के सम्बन्ध में इन कर्मचारियों का कार्य ऐसी प्रक्रिया का होता है जिसमें निर्णय (Judgement) अथवा विवेक (Discretion) का अपेक्षाकृत कम उपयोग होता है। इन कर्मचारियों का काम पुनरावृत्ति प्रकृति का होता है और उनके लिए हुए कार्य अथवा उत्पादन को मापा जा सकता है। उत्पादन अभिलेख में कर्मचारी के सम्बन्ध में इस प्रकार की बातों का भी उल्लेख होता है कि वह समय पर कार्यालय आता है या नहीं, परिश्रमी और आज्ञाकारी है या नहीं, अनावश्यक छुट्टियाँ तो नहीं लेता आदि। उत्पादन अभिलेख-पद्धति निर्देशनीय तथा पर्यवेक्षणात्मक पदों (Directing and Supervisory Positions) पर काम करने वाले पदाधिकारियों पर लागू नहीं की जा सकती है।

(ब) बिन्दुरेखीय दर-मापमान (Graphic Rating Scale)—इस पद्धति में उत्पादन पद्धति अभिलेख की अपेक्षा अधिक परिशुद्धता (Accuracy) रहती है। इसमें एक प्रपत्र (Form) रहता है जिसमें लगभग 31 मानवीय गुणों की सूची रहती है। मापक अधिकारी (Rating Officer) उन गुणों को चिन्हित करता है जो उसकी राय में, कर्मचारी में विद्यमान हैं। इसके आधार पर कर्मचारी को अंक प्रदान किए जाते हैं। प्रपत्र में अंकित इन तत्वों में से कुछ इस प्रकार हैं—(1) परिशुद्धता (Accuracy), (2) संगठित करने की क्षमता, (3) अधीनस्थ कर्मचारियों से काम लेने की क्षमता, (4) साधन पूर्णता (Resourcefulness), (5) पहल (Initiative), (6) सहयोग की भावना, (7) निर्णय लेने की क्षमता, (8) कार्य का ज्ञान, (9) कर्तव्यनिष्ठता, (10) कार्य-निष्पादन की गति, (11) विनयशीलता एवं व्यवहार-कुशलता, (12) कार्य-सम्पादन का स्तर (Quality), शारीरिक योग्यता (Physical Fitness) आदि।

(स) व्यक्तित्व तालिका पद्धति (Personality Inventory System)—इस पद्धति में मानव स्वभाव के तत्वों की एक व्यापक सूची बनाई जाती है, जिसमें गुण और अवगुण दोनों शामिल किए जाते हैं। मापक अधिकारी सूची में से ऐसे तत्वों को छाँट लेता है जिनसे किसी कर्मचारी के स्वभाव और व्यक्तित्व का भली प्रकार पता चल सके।

कार्यकुशलता मापों की विभिन्न पद्धतियों का परीक्षण करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि ये सब व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) होती हैं और इस बारे में विभिन्न लोगों के विभिन्न मत हैं कि कार्यकुशल कर्मचारी में कौन-कौन से गुण होने चाहिए। यह सम्भव है कि दो कर्मचारियों अ और ब के गुणों का मूल्यांकन करके एक मापक अधिकारी अ को बहुत श्रेष्ठ (Very Good) श्रेणी में रखे और ब को सन्तोषजनक (Satisfactory) श्रेणी में, जबकि दूसरा मापक अधिकारी ब को बहुत श्रेष्ठ ठहरा दे और अ को सन्तोषजनक श्रेणी में रखे। वस्तुतः सेवा-अभिलेखों पर उच्चाधिकारियों की व्यक्तिनिष्ठ भावनाओं का प्रभाव अवश्य पड़ता है जिसके फलस्वरूप मापक-पद्धति का सारा उद्देश्य ही विफल हो जाता है या उसे आघात पहुँचता है। कार्यकुशलता अभिलेखों और दर-मापमानों को कर्मचारियों का भाग्य-निर्णायक नहीं बनाना चाहिए, अर्थात् केवल उनके आधार पर ही पदोन्नतियाँ नहीं करनी चाहिए। उनकी उपादेयता तो इस बात में है कि उनके आधार पर कर्मचारियों का ध्यान उनकी कमजोरियों की ओर आकर्षित कर लिया जाए ताकि वे अपनी कार्यक्षमता में वृद्धि का प्रयास करें। पदोन्नति पद्धति की सफलता की कसौटी है— निष्पक्षता, कर्मचारियों में सामान्य सन्तोष उच्च मनोबल, सहयोग, सेवा एवं कर्तव्यनिष्ठ भावना।

कुछ प्रमुख देशों में पदोन्नतियाँ
(Promotion in Major Countries)

अमेरिका के कुछ संघीय विभागों के अतिरिक्त जहाँ परीक्षाओं के आधार पर पदोन्नति की जाती है, अधिकांशतः प्रत्याशियों के सेवा-अभिलेखों के आधार पर पदोन्नति का निर्धारण किया जाता है। वरिष्ठता (Seniority) पर भी विचार किया जाता है। अमेरिका में कार्यकुशलता मापन-दरों (Efficiency Ratings) का विस्तृत उपयोग किया गया है, लेकिन अमेरिकी इस पद्धति से सन्तुष्ट नहीं हैं। हूवर आयोग का भी यही विचार था कि कार्यकुशलता माप-पद्धति बहुत ही उलझनपूर्ण और जटिल है। आयोग ने इस पद्धति के स्थान पर 'योग्यता तथा सेवा-अभिलेख माप' (Ability and Service Record Ratings) का प्रस्ताव किया जो कार्यकुशलता माप-पद्धति का ही संशोधित रूप है। अमेरिका में 1938 के कार्यपालिका आदेश के अन्तर्गत सिविल सेवा आयोग द्वारा पदोन्नति योजना का निर्माण किया गया है जिसके अन्तर्गत कुछ शर्तों के अधीन पदोन्नति की प्रतियोगिता परीक्षाओं और उसकी कार्यविधियों के विकास तथा प्रबन्ध का उत्तरदायित्व विभागों को ही सौंप दिया गया है।

अमेरिका में पदोन्नतियों के आधार के रूप में वरिष्ठता को अधिक महत्त्व दिया जाता है। एक समय ऑफिस ब्वॉय के रूप में काम करने वाला व्यक्ति ऑफिस का प्रमुख बन जाता है। कभी-कभी ऐसे लोग असाधारण रूप से प्रतिभाशाली सिद्ध होते हैं, किन्तु प्रायः ये उच्च पदों के लिए अनुपयुक्त होते हैं। 'वर्षों के अनुभव' पर जोर देना अवैज्ञानिक है। प्रो. स्टाल के मतानुसार, "20 वर्ष का अनुभव केवल एक वर्ष का अनुभव है जिसे बीस बार दोहराया गया है। निष्पादक (Executive) पदों पर कार्य करने वाले अनेक लिपिक ऐसे हैं जो अभी भी लिपिकीय तरीकों से ही काम करते हैं।" पदोन्नति व्यवस्था के वास्तविक व्यावहारिक स्वरूप की इन आलोचनाओं का अर्थ यह कदापि नहीं है कि पदोन्नति की व्यवस्था को छोड़ दिया जाए। इसका अर्थ केवल यही है कि इसके कार्यरूप में जहाँ-तहाँ आवश्यक परिवर्तन किए जाएँ ताकि इसे दोषमुक्त किया जा सके।

अमेरिका में अधिकांश उच्च पदों पर राजनीतिक नियुक्तियाँ की जाती हैं तथा ग्रेट ब्रिटेन की भाँति वहाँ योग्यता सिद्धान्त का इतना प्रभाव नहीं है। ग्रेट ब्रिटेन में राजनीतिक नियुक्तियाँ केवल स्थायी अवर सचिवों के

ऊपर के पदों पर होती हैं, किन्तु अमेरिका में सहायक सचिव, व्यक्तिगत सहायक, अवर सचिव, उप-प्रशासक आदि अपने राजनीतिक सम्पर्कों के आधार पर नियुक्त किए जाते हैं। ऐसी नियुक्तियों द्वारा अनेक बार योग्य एवं प्रतिभाशाली भी आ जाते हैं। राष्ट्रपति पद पर आसीन व्यक्ति में परिवर्तन होने के बाद पूर्व के राष्ट्रपति के कार्यकाल में नियुक्त उच्चाधिकारियों को अपने पद से हटा दिया जाता है। नया राष्ट्रपति अपने 'चहेतों' को उच्च पदों पर नियुक्त करता है। इसे 'लूट-प्रथा' (Spoil System) का नाम दिया जाता है।

यहाँ सेवा-अभिलेखों को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है और इन्हीं के आधार पर पदोन्नतियाँ की जाती हैं। प्रत्येक विभाग में पदोन्नति-मण्डल बने होते हैं जिसमें विभाग के प्रमुख अधिकारी और कर्मचारी होते हैं। ये मण्डल वार्षिक विवरणों और अन्य उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर सावधानीपूर्वक पात्र-अधिकारियों (Eligible Officers) के गुणों का मूल्यांकन करते हैं। मण्डल पदोन्नति के लिए प्रस्तावित प्रत्याशियों का साक्षात्कार भी कर सकते हैं। यहाँ केवल वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नतियाँ की जाती हैं। पदोन्नति-मण्डल नामों की सिफारिशें करते हैं और उनमें से अन्तिम चुनाव विभागाध्यक्ष करता है। विभागाध्यक्ष तथा पदोन्नति मण्डल के निर्णय के विरुद्ध अपील की जा सकती है। विभिन्न विभागों तथा श्रेणियों के कर्मचारियों की पदोन्नति की प्रक्रियाओं में थोड़े बहुत अन्तर रहते हैं, किन्तु सामान्य रूप प्रायः एक जैसा ही होता है। पदोन्नति के लिए सबसे पहले रिक्त स्थानों का होना आवश्यक है। पदोन्नति के अवसर एक विभाग में होने वाले रिक्त स्थानों से प्रभावित होते हैं। पदोन्नति को अधिक वस्तुनिष्ठ बनाने के लिए प्रतियोगी परीक्षाएँ प्रारम्भ की गई हैं।

ब्रिटिश पदोन्नति व्यवस्था की एक उल्लेखनीय बात यह है कि इसका आधार स्थल विभाग है। यह कोई सेवा व्यवस्था नहीं है। यहाँ सेवा एक नहीं है, अनेक हैं। पदोन्नति के अवसर न केवल ग्रेड के बीच ही भिन्न-भिन्न होते हैं वरन् विभिन्न विभागों में एक ही ग्रेड में भिन्न-भिन्न होते हैं।

आदर्श पदोन्नति व्यवस्था

(Ideal Promotion System)

आदर्श पदोन्नति व्यवस्था के मुख्य रूप से दो पहलू हैं— (i) यह प्रबन्ध को विश्वास दिलाती है कि संगठन को विभिन्न उच्च पदों पर श्रेष्ठ प्रतिभाशाली व्यक्तियों की सेवा का लाभ मिलेगा। (ii) यह कर्मचारियों को विश्वास दिलाती है कि पदोन्नतियाँ योग्यता के आधार पर की गई है तथा पदोन्नति के अवसर व्यापक हैं। इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए स्टाल ने निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए हैं जिन्हें अपनाकर एक आदर्श और प्रभावी पदोन्नति व्यवस्था को लागू किया जा सकता है—

(i) यदि ऊँची योग्यता वाले प्रत्याशी संगठन में मौजूद हों तो ऊँचे पदों को उन्हीं की नियुक्ति द्वारा भरा जाना चाहिए, किन्तु बाहर से प्रवेश को पूरी तरह अवरुद्ध नहीं करना चाहिए।

(ii) उच्च पदों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम तथा कार्य पर प्रशिक्षण का विकास किया जाना चाहिए।

(iii) सम्पूर्ण सेवा के हित के लिए ही पदोन्नति का क्षेत्र प्रतिबन्धित किया जाना चाहिए। जहाँ सम्भव हो सके वहाँ अन्तर्विभागीय एवं अन्तर्मण्डलीय पदोन्नतियाँ होनी चाहिए।

(iv) नई भर्ती की भाँति पदोन्नति के समय भी अवसर की समानता का ध्यान रखा जाना चाहिए। सभी योग्यता प्राप्त कर्मचारियों के बारे में पदोन्नति के लिए विचार किया जाना चाहिए।

(v) पदोन्नति के लिए कोई भी एक मापदण्ड नहीं है तथा एक उपयुक्त पदोन्नति व्यवस्था में प्रणाली की दृष्टि से लोचशीलता रहनी चाहिए।

(vi) एक आदर्श पदोन्नति व्यवस्था में पर्यवेक्षक का योगदान महत्त्वपूर्ण है। सेवीवर्ग अधिकारियों द्वारा अभिलेख प्रणाली तथा अन्य प्रक्रियाओं द्वारा पदोन्नति के पात्रों का निर्धारण करके पर्यवेक्षक को बताना चाहिए तथा अन्त में, उनकी तुलनात्मक योग्यताओं के आधार पर पदोन्नति का निर्णय किया जाना चाहिए।

लोक सेवाओं में आचरण के नियम, सेवानिवृत्ति लाभ, सेवा-शर्तें, वेतन एवं अनुशासन

(The Conduct of Rules, Retirement Benefits, Conditions of Service, Salary & Discipline in Public Services)

आचरण के नियम

(The Conduct of Rules)

किसी देश की लोक सेवा के आचरण के नियम वहाँ की परम्पराओं, आदर्शों, आकांक्षाओं और जनजीवन की मान्यताओं आदि के आधार पर निर्धारित किए जाते हैं। यही कारण है कि उनका कलेवर एवं प्रकृति परस्पर भिन्न रूपी बन जाती है, किन्तु लोक सेवकों के आचरण के लिए कुछ नियम ऐसे भी होते हैं जो देश और काल की परिस्थिति से अप्रभावित रहते हैं। इन्हें हम आचरण के सामान्य नियम कह सकते हैं। आचरण के इन सामान्य एवं विशेष नियमों का सम्बन्ध मुख्यत: निम्न विषयों से होता है—(क) सरकार के प्रति दृढ़ अनुरक्ति और अपने उच्च अधिकारियों के प्रति सद्व्यवहार, (ख) कर्मचारियों के निजी व्यापार और व्यवसाय पर प्रतिबन्ध जिससे वे ईमानदार बने रहें, (ग) कर्मचारियों के कर्ज लेने तथा सम्पत्ति के क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध, (घ) राज्य-कार्यों में और घरेलू तथा निजी जीवन में आचार-व्यवहार का उच्च स्तर और (ङ) कर्मचारियों के राजनीतिक कार्यकलाप, सार्वजनिक भाषण, समाचार-पत्रों में लेख आदि के प्रकाशन पर प्रतिबन्ध।

लोक सेवकों के आचरण के ये नियम देश के सामान्य नियमों और कानूनों के ऊपर होते हैं तथा राज्य *कर्मचारियों के आचरण को नियन्त्रित करते हैं। ये नियम एक सीमा तक कर्मचारियों के नागरिक अधिकारों पर* प्रतिबन्ध लगाते हैं, किन्तु इनका औचित्य दो कारणों से है। पहला कारण यह है कि इन कर्मचारियों को कुछ ऐसे लाभ और सुविधाएँ प्राप्त होती हैं जो सामान्य नागरिकों को नहीं होती हैं।

भारत में लोक सेवकों के आचरण के लिए निर्धारित नियम इस प्रकार हैं—

1. *संविधान एवं कानूनों के अनुरूप आचरण तथा उच्चाधिकारियों के आदेश का पालन*—लोक सेवकों से आशा की जाती है कि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करते समय देश के संविधान एवं कानून के अनुरूप आचरण करें और अपने उच्च अधिकारियों के आदेशों का पालन करें, यदि वे संविधान के विरुद्ध न हों। कर्मचारियों को सदैव अपने कार्यालय के सम्मान के अनुरूप ही आचरण करना चाहिए। अधीनस्थ कर्मचारी का कार्य यह नहीं है कि वह अपने उच्च अधिकारियों के आदेश पर नीति सम्बन्धी एवं भौतिक लाभ-हानि सम्बन्धी दृष्टियों से विचार करे। यदि उच्च अधिकारियों के आदेश में चार बातें पाई जाती हों तो, वे पालनीय हैं। प्रथम, यह उच्च अधिकारी के अधिकार एवं क्षमता के अन्तर्गत हो, द्वितीय, इसका पालन अधीनस्थ अधिकारी के दायित्व में शामिल हो, तृतीय, यह संविधान तथा कानूनों के विपरीत न हो और चतुर्थ, इसका स्वरूप नियमानुकूल हो। इन पूर्व-शर्तों के होने पर भी यदि कोई कर्मचारी अपने उच्च अधिकारी के आदेश का उल्लंघन करता है तो उसके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की जा सकती है। *राज्य कर्मचारियों के आचरण का यह नियम काफी महत्त्वपूर्ण है। नीति-निर्माता* निकायों के सदस्य स्वतन्त्र विचार एवं मत की स्थापना के लिए इस नियम-पालन से उन्मुक्त रखे जाते हैं। अन्य संगठनों में भी तात्कालिक आज्ञाकारिता एवं स्वतन्त्रता के बीच एक विभाजक रेखा खींची जानी चाहिए। अति आवश्यक सेवाओं में आज्ञा का पालन तुरन्त किया जाना चाहिए। इनमें काम पहले और बातें बाद में करने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

2. *गम्भीरता, ईमानदारी, निष्पक्षता एवं परिश्रम से कार्य करना*—राज्य कर्मचारियों को अपने कार्यालय का काम निजी स्वार्थों को महत्त्व दिए बिना पूरी गम्भीरता एवं ईमानदारी से करना चाहिए। कर्मचारी के निष्पक्ष व्यवहार के लिए अनेक नियम निर्धारित किये जाते हैं, जैसे—जिन कार्यों से कर्मचारी के निजी स्वार्थों पर प्रभाव पड़ता हो उनसे वह स्वयं को अलग रखे, यदि सरकारी कार्यों से दूसरों को लाभ होता हो तो उसके बदले वह

कोई धन स्वीकार न करे, कर्मचारी को अपना काम पूरी मेहनत से करना चाहिए आदि। आचरण के नियमों के अनुसार अज्ञान, शारीरिक अक्षमता तथा मानसिक असन्तुलन की स्थिति में राज्य कर्मचारी को सेवामुक्त कर दिया जाएगा, किन्तु यदि वह काम के समय शराब पी ले या अपने साथी कर्मचारी से गप्पें लड़ाकर अपना तथा उसका समय खराब करे तो उसके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाएगी। भारत में गरीबी तथा कम वेतन के कारण रिश्वत, गबन आदि वित्तीय अपराधों की सम्भावना बनी रहती है। यहाँ नैतिकता की स्थापना के लिए व्यापक नियमन किया जाता है। राज्य कर्मचारियों के दुराचरण को फौजदारी अपराध माना जाता है। वे किसी से भेंट स्वीकार नहीं कर सकते, अपने क्षेत्राधिकार के भू-स्वामियों से न कर्ज ले सकते हैं और न कर्ज दे सकते हैं, उन्हें अपनी तथा अन्य पारिवारिक सदस्यों की अचल सम्पत्ति की घोषणा करनी होगी, कोई राज्य कर्मचारी अथवा उसके परिवार का कोई सदस्य ऐसा विनियोग नहीं करेगा जिससे उसके नियमित कार्य-संचालन में बाधा उत्पन्न हो। कोई राज्य कर्मचारी पूर्व अनुमति के बिना किसी व्यापार अथवा रोजगार में शामिल नहीं हो सकता। प्रथम श्रेणी की केन्द्रीय सेवाओं के राज्य कर्मचारियों की सन्तानें यदि सरकारी सहायता प्राप्त उद्यम में रोजगार करना चाहती हैं तो इसके लिए पूर्व अनुमति वांछनीय है। राज्य कर्मचारियों के आचरण के नैतिकता सम्बन्धी इन नियमों को लागू करने के लिए भारत सरकार ने एक भ्रष्टाचार निरोधक दल तथा प्रशासनिक सतर्कता सम्भाग की स्थापना की है। ये अभिकरण राज्य कर्मचारियों के आचरण की वित्तीय अनियमितताओं की रोकथाम करते हैं।

3. समय की पाबन्दी—लोक सेवकों को अपने कार्यालय आते समय तथा छोड़ते समय सही समय का पाबन्द होना चाहिए। वह समय के बाद में न आए और समय से पूर्व उठकर न चला जाए। अगर वे इस नियम की अवज्ञा करें तो उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की जा सकती है।

4. वर्तमान कार्य का प्रसार अथवा परिवर्तन—लोक सेवकों के प्रशिक्षण और क्षमता के अनुरूप उसके वर्तमान कार्य में प्रसार तथा परिवर्तन किया जा सकता है। इसके लिए वह अतिरिक्त वेतन का दावा नहीं कर सकता है। यदि हड़ताल के कारण अतिरिक्त कार्य को पूरा करने के लिए उच्च अधिकारियों द्वारा उसे आदेश दिए जाएँ तो उनका अनुशीलन किया जाना चाहिए। हड़ताल के समय उच्च अधिकारियों को भी शारीरिक परिश्रम के लिए तैयार रहना चाहिए।

5. गैर-सरकारी आचरण पर सीमाएँ—लोक सेवकों की आचरण संहिता में उसका केवल कार्यालय सम्बन्धी जीवन ही नहीं आता वरन् कार्यालय के बाहर का जीवन भी आता है। प्रत्येक कर्मचारी को कार्यालय के बाहर इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए ताकि कार्यालय के गौरव, विश्वास तथा सम्मान पर विपरीत प्रभाव न पड़े। इस दृष्टि से उसके अनियमित जीवन, जुआखोरी, कर्जदारी और नीचतापूर्ण आचरण आदि प्रतिबन्धित हैं। वित्त विभाग से सम्बन्धित कर्मचारी सट्टेबाजी और शराबखोरी के लिए पदमुक्त किये जा सकते हैं। यौन-सम्बन्धों तथा विवाह-सम्बन्धों की दृष्टि से भी लोक सेवकों का आचरण सन्तुलित एवं सामाजिक दृष्टि से स्वीकार्य होना चाहिए। कर्मचारियों के निजी आचरण पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने का मुख्य उद्देश्य यह है कि उनके आचरण पर बाहर के लोगों का अनुचित दबाव न पड़े तथा वे धन, शराब और नव-यौवनाओं के आकर्षण में भटक कर गलत एवं पक्षपातपूर्ण कार्य न कर बैठें।

6. गोपनीयता—कार्यालय के कार्य सम्पन्न करते समय प्रत्येक कर्मचारी को ईमानदारीपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। ऐसा न हो कि कार्यालय के महत्त्वपूर्ण तथ्य बाहर प्रकाशित कर दिए जाएँ। गोपनीय बातें कार्यालय के बाहर अथवा अन्दर के अन्तर्सम्बन्धित कर्मचारियों में चर्चा का विषय नहीं होनी चाहिए।

7. उच्च अधिकारियों का आदर—कार्यालय के बाहर तथा भीतर उच्च अधिकारियों का प्रत्येक राज्य कर्मचारी को सम्मान करना चाहिए। यदि उनके कार्य एवं चरित्र आपत्तिजनक हों तो भी वे सम्मानजनक समझे जाने चाहिए। कुछ राज्यों में इस आदर भाव को प्रकट करने के लिए विशेष नियमों की व्यवस्था की गई है, जैसे—उच्च अधिकारियों को प्रतिदिन नमस्कार किया जाए, कमरे में उनके प्रवेश पर खड़े होकर आदर किया जाए, बातचीत करते समय आदरसूचक शब्दों का प्रयोग किया जाए, आदि।

8. किसी के द्वारा अपमान सहन न करना—लोक सेवकों को चाहिए कि अपने पद एवं कार्यालय की प्रतिष्ठा के लिए वे किसी का अपमान सहन न करें। यदि कोई अपमान करता है तो उसके विरुद्ध या तो स्वयं कार्यवाही करें अथवा अपने उच्च अधिकारी से कहें। अपमानित व्यक्ति महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु उसके पद और कार्यालय की प्रतिष्ठा महत्त्वपूर्ण है।

9. अतिरिक्त रोजगार स्वीकार न करना—लोक सेवकों को अपने उच्च अधिकारी की पूर्व-स्वीकृति के बिना अपने पद सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त कार्य अथवा रोजगार स्वीकार नहीं करने चाहिए। एक सामान्य मान्यता के अनुसार उसे अपना सारा समय एवं शक्ति अपने पद के दायित्व पूरे करने में ही लगानी चाहिए। कर्मचारी की पत्नी, बच्चे और नौकरों को केवल वह कार्य करने की अनुमति दी जाती है जो लोकसेवाओं के गौरव के विपरीत न हो।

10. सुरक्षा सम्बन्धी दायित्व—राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से लोक सेवकों के आचरण पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं। ग्रेट ब्रिटेन में साम्यवादी दल तथा फासीवादी संगठनों के सक्रिय सदस्यों तथा उनसे सहानुभूति

रखने वालों को गोपनीयता के पदों पर नियुक्त नहीं किया जाता। यदि विभागाध्यक्ष यह अनुभव करे कि किसी कर्मचारी के विरुद्ध स्पष्टतः सुरक्षा सम्बन्धी मामला बनता है तो वह उसे इस बात की सूचना प्रदान करेगा तथा स्पष्टीकरण माँगेगा। यदि कर्मचारी उन आपत्तियों से मना कर दे तथा उच्च अधिकारी अपने पूर्व निर्णय न बदले तो यह मामला प्रशासनिक न्यायाधिकरण के सामने रखा जाएगा। भारत में लोक सेवकों के सुरक्षा सम्बन्धी दायित्वों को पर्याप्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। गुप्त एवं विश्वसनीय सूचनाओं सम्बन्धी पदों पर नियुक्तियाँ करने से पूर्व सम्बन्धित प्रत्याशी की पुलिस द्वारा पूरी जाँच की जाती है। राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए 1953 में केन्द्रीय लोक सेवा नियम बनाए गए हैं। इनके तहत राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि विनाशकारी गतिविधियों में संलग्न कर्मचारियों को वह अनिवार्य सेवानिवृत्ति प्रदान कर सकता है। आन्तरिक सुरक्षा कानून (MISA) के अन्तर्गत भी ऐसे कर्मचारियों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की जा सकती है।

11. राजनीतिक स्थिति—भारत में लोक सेवकों के लिए राजनीति में भाग लेने और सरकार की नीतियों तथा कार्यों की आलोचना करने पर प्रतिबन्ध है। इस दृष्टि से कोई कर्मचारी खुले आम भाषण देने, समाचार-पत्रों में वक्तव्य देने या पुस्तकें लिखने आदि से रोका गया है। कोई कर्मचारी राजनीतिक दल अथवा संगठन का सदस्य नहीं हो सकता और न उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान कर सकता है। वह व्यवस्थापिका एवं स्थानीय संस्थाओं के चुनावों में किसी के पक्ष अथवा विपक्ष में विचार नहीं कर सकता है। उसे केवल मत देने का अधिकार है। अपनी सेवा की शर्तें सुधारने के लिए किए जाने वाले प्रदर्शनों एवं हड़ताल पर भी विशेष प्रतिबन्ध है। कोई कर्मचारी ऐसे कर्मचारी संघ का सदस्य नहीं हो सकता जिसे सरकारी मान्यता नहीं है अथवा सरकार ने जिसकी मान्यता समाप्त कर दी है। लोक सेवकों की नागरिक स्वतन्त्रताएँ सीमित हो जाती हैं। वे साधारण नागरिकों की भाँति पत्र-पत्रिकाओं में स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार प्रकट नहीं कर सकते, वे अनाम रूप से या किसी अन्य नाम से कोई लेख नहीं लिख सकते। आकाशवाणी पर उनका वक्तव्य प्रसारित नहीं हो सकता। कर्मचारी का ऐसा कोई भी लेख या भाषण का प्रसारण सर्वथा निषिद्ध है जिसका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रभाव पड़े तथा जिससे सरकार किसी धर्म संकट में पड़ जाए। यदि कर्मचारी के लेख विशुद्ध रूप से साहित्यिक और कलात्मक हैं तो उनके प्रसारण एवं प्रकाशन पर कोई रोक नहीं है।

प्रत्येक राज्य में कर्मचारियों के आचरण के लिए व्यापक नियम बनाए जाते हैं और उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे इनका आदर करेंगे। इनका उल्लंघन अथवा अवमानना करने पर पद-मुक्ति तक के विभिन्न दण्डों की व्यवस्था की जाती है। इन नियमों का मुख्य उद्देश्य सरकारी पद का गौरव व प्रतिष्ठा बढ़ाने के साथ-साथ कार्यकुशलता में वृद्धि करना होता है। प्रत्येक राज्य में उनका कलेवर तथा स्वरूप भिन्न हो सकता है, किन्तु ये होते अवश्य हैं। ग्रेट ब्रिटेन में ये राजकोष के सर्कूलर तथा मिनिट्स एवं विभागीय नियमों के रूप में उपलब्ध होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में विभागीय नियमों तथा कतिपय सविधियों के कुछेक प्रावधानों में इनकी व्यवस्था है। भारत में भ्रष्टाचार निरोधी अधिनियम 1947 और 1954-56 के बीच केन्द्रीय लोक सेवाओं, रेलवे सेवाओं, अखिल भारतीय सेवाओं तथा अन्य सेवाओं के लिए भी आचरण के नियम बनाए गए हैं। कर्मचारियों द्वारा आचरण के इन नियमों का सक्रियता से पालन करने पर ही प्रशासन को शुद्धता प्रदान की जा सकती है।

सेवानिवृत्ति लाभ

(The Retirement Benefits)

प्रायः सभी देशों में कर्मचारियों के लिए सेवानिवृत्ति लाभों की व्यवस्था की जाती है। उनकी मात्रा, समय और स्वरूप विभिन्न देशों में विभिन्न पदों के लिए अलग-अलग होता है। सेवानिवृत्ति की व्यवस्था योग्यता प्रणाली के प्रभाव का प्रतीक है, तदनुसार शारीरिक एवं बौद्धिक क्षमता घटने के साथ ही वृद्ध राज्य कर्मचारियों को सेवा से पृथक करना अपरिहार्य बन जाता है। यह कार्य कर्मचारी को नौकरी से निकालना नहीं है वरन् यह नियमित सेवा से नियमित अवकाश-प्राप्ति है। सेवानिवृत्ति के मुख्य उद्देश्य निम्नानुसार हैं—

1. लोक सेवकों की कार्य-कुशलता में वृद्धि
2. पदोन्नति के लिए आवश्यक
3. नवीनता का समावेश
4. लोक सेवाओं में युवाओं का प्रवेश
5. कर्मचारियों की सन्तुष्टि
6. प्रतिभाशाली लोगों को आकर्षित करना
7. न्यायसंगत
8. सरकारी धन के अपव्यय को रोकना
9. मानवीय दृष्टिकोण

सेवानिवृत्ति की आयु (The Age of Retirement)

सेवानिवृत्ति की आयु क्या हो, यह भी प्रशासन के साथ जुड़ा हुआ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। सेवानिवृत्ति अथवा अवकाश ग्रहण करने की आयु अलग-अलग देशों में भिन्न-भिन्न है। इस आयु के निश्चय पर देश की जलवायु तथा जनता की औसत आयु, इन दोनों बातों का प्रभाव पड़ता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह आयु 65 से 70 वर्ष के बीच, ब्रिटेन में 60 से 65 वर्ष के बीच तथा भारत में 55 से 60 वर्ष के बीच है। ग्रेट ब्रिटेन में राज्य कर्मचारी 60 वर्ष का होने पर स्वेच्छा से अवकाश ग्रहण कर सकता है, किन्तु 65 वर्ष की आयु पूरी होने तक अवकाश अनिवार्य है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यह व्यवस्था की गई है कि किसी भी प्रकार की अयोग्यता होने पर 50 वर्ष में भी अवकाश ग्रहण किया जा सकता है।

अवकाश-प्राप्ति की आयु सीमा के सम्बन्ध में दो विरोधी मत प्रचलित हैं। एक ओर जनता एवं कर्मचारियों की दृष्टि से अनुभवी और प्रशिक्षित सेवीवर्ग की सेवाओं का लाभ उठाने के लिए यह आयु सीमा अधिकाधिक ऊँची रखी जानी चाहिए। इसके विपरीत नवागन्तुक कर्मचारियों के अनुसार ऐसा करने से पदोन्नति के अवसर घट जायेंगे तथा नए लोगों को सेवा में प्रवेश प्राप्त नहीं हो सकेगा।

सेवानिवृत्ति लाभ का औचित्य एवं उपयोगिता

(Justification and Significance of Retirement Benefits)

प्रायः सभी देशों में सेवानिवृत्त हुए लोगों को या तो मासिक पेंशन दी जाती है अथवा एक ही बार में भविष्य निधि (Provident Fund) का भुगतान किया जाता है। अवकाश-प्राप्ति के समय यदि पेंशन की व्यवस्था न की जाए तो इसके दो परिणाम हो सकते हैं—(क) कर्मचारियों को आजीवन कार्य पर रखना होगा जिसके कारण वृद्ध तथा अक्षम कार्यकर्त्ताओं की भरमार हो जाएगी, अथवा (ख) अनेक भूतपूर्व कर्मचारी कटी पतंग की भाँति निरावलम्ब होकर कष्ट का जीवन व्यतीत करेंगे। दोनों स्थितियाँ प्रशासनिक कार्यकुशलता एवं मानवीय दृष्टिकोण से गलत हैं। अतः सेवानिवृत्ति काल में सरकार की ओर से आर्थिक सहयोग का प्रावधान औचित्यपूर्ण है।

इस औचित्य के सम्बन्ध में मुख्यतः चार सिद्धान्त वर्तमान में प्रचलित हैं—(i) यह वृद्ध कर्मचारियों के प्रति सरकार की उदारता का प्रतीक है; (ii) यह कर्मचारी के अच्छे कार्य का पुरस्कार है; (iii) यह सामाजिक संरक्षण की योजना है; (iv) यह कर्मचारियों का रुका हुआ वेतन है जिसके वे अधिकारी हैं। ये चारों सिद्धान्त अलग-अलग समय की राजनीतिक विचारधारा के परिणाम हैं। इनमें से किसी को पूर्ण सत्य अथवा पूर्ण असत्य नहीं कहा जा सकता है। विभिन्न देशों में वहाँ के संविधान तथा कानून द्वारा अलग-अलग व्यवस्थाएँ की गई हैं। सभी के पेंशन सम्बन्धी नियम भी अलग-अलग हैं। कुछ देशों में पेंशन सम्बन्धी नियम कानूनबद्ध हैं तथा न्यायपालिका द्वारा उनको लागू किया जाता है।

सेवानिवृत्ति लाभ के दो रूप—पेंशन एवं भविष्य निधि

(Two Forms of Retirement Benefits–Pension and Provident Fund)

एक निर्धारित उम्र पर सेवानिवृत्त होने वाले कर्मचारी को दो प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं—पेंशन तथा भविष्य निधि। पेंशन सेवानिवृत्त कर्मचारी को मासिक या वार्षिक रूप से आजीवन दी जाती है। कभी-कभी यह कर्मचारी के मरणोपरान्त भी उसके आश्रितों को प्रदान की जाती है। भविष्य निधि का भुगतान एक ही बार में किया जाता है। इस राशि में कर्मचारी के वेतन से काटी गई राशि भी शामिल होती है।

सेवानिवृत्ति लाभ के इन दोनों रूपों की तुलनात्मक उपयोगिता का विवेचन किया जा सकता है। पेंशन की व्यवस्था का लाभ यह है कि इसका भुगतान जीवनपर्यन्त मिलता रहता है। सरकार की दृष्टि में भी यह व्यवस्था उपयोगी है क्योंकि उसे थोड़ी-थोड़ी राशि प्रतिमाह देनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त पेंशन व्यवस्था में सरकार कर्मचारी पर समुचित नियंत्रण रख पाती है। पेंशन कर्मचारी के लिए अपेक्षाकृत अधिक आर्थिक सुरक्षा का प्रतीक है क्योंकि उसकी न्यूनतम आवश्यकताएँ नियमित रूप से जीवनपर्यन्त पूरी होती रहेंगी। इसमें किसी प्रकार की हानि या कठिनाई की आशंका नहीं रहती। भविष्य निधि के रूप में प्राप्त होने वाली एक बड़ी रकम को सुरक्षित रखने तथा लाभ पर लगाने की गंभीर चिन्ता बनी रहती है। असावधानी या फिजूलखर्ची के कारण कभी-कभी यह राशि शीघ्र समाप्त हो जाती है तथा कर्मचारी और उसके परिवार का शेष जीवन परेशानी में व्यतीत होता है, अतः पेंशन व्यवस्था अधिक उपयोगी मानी जाती है।

भविष्य निधि का लाभ यह है कि इसके रूप में एक बड़ी राशि एक ही बार में प्राप्त हो जाती है जिसकी सहायता से सेवानिवृत्त कर्मचारी कोई नया उद्यम या व्यवसाय प्रारम्भ कर सकता है जो उसके तथा उसके परिवार की खुशहाली का प्रतीक बन जाए। भविष्य निधि का प्राप्त होना निश्चित प्रायः होता है जबकि पेंशन सशर्त होती है तथा किसी भी शर्त के पूरा न होने पर उसका भुगतान खटाई में पड़ जाता है। पेंशन के अनेक उलझे हुए मामले कर्मचारी की मृत्यु तक भी नहीं सुलझ पाते और अनेक उलझनों और अभिलाषाओं की गठरी को मन में बाँधे ही परलोक सिधारना पड़ जाता है। पेंशन की व्यवस्था उस कर्मचारी के स्वजनों के लिए हानिकारक होती है जिसकी निवृत्ति के कुछ समय पहले अथवा तुरन्त बाद मृत्यु हो जाए। ऐसी स्थिति में भविष्य निधि का परिवारजनों को

भुगतान किया जाता है। भविष्य निधि की व्यवस्था में कर्मचारी आवश्यकता के समय जब चाहे तभी निवृत्ति पा सकता है, किन्तु पेंशन व्यवस्था में लाभ का मूल अधिक समय तक सेवा में बनाए रखता है। पेंशन लम्बी तथा अच्छी सेवा का पुरस्कार है इसलिए विवश होकर कर्मचारी अधिकतम काल तक सेवा में बना रहना चाहता है। भविष्य निधि की व्यवस्था में कर्मचारी स्वतंत्रता और आत्मसम्मान के साथ कार्य करता है तथा यह उच्च अधिकारियों के अनावश्यक आतंक के वातावरण को सहन नहीं करता है।

वर्तमान में सेवानिवृति लाभ के रूप में मिश्रित विधि का विधान किया जाता है, तदनुसार पेंशन का एक भाग भविष्य निधि में जमा कर दिया जाता है तथा उसका भुगतान मृत्यु अथवा सेवानिवृति के समय एक मुश्त कर दिया जाता है। इसी प्रकार भविष्य विधि की राशि वार्षिक दान के रूप में परिवर्तित कर दी जाती है तथा कर्मचारी को थोड़ी-थोड़ी राशि का भुगतान नियमित रूप से होता रहता है।

सेवा-शर्तें

(The Conditions of Service)

किसी भी प्रशासकीय संगठन में पदाधिकारियों के व्यवहार से सम्बन्धित कुछ नियम होते हैं जिनके आधार पर एक ऐसा वातावरण तैयार किया जाता है कि पदाधिकारी अधिक से अधिक योगदान कर सकें। सेवा की इन शर्तों में निम्नलिखित बातों को समाहित किया जा सकता है—

1. वेतन-श्रृंखला (Pay Scales)

सरकारी सेवाओं से वेतन के रूप में प्राप्त होने वाला भौतिक लाभ (Materal Benefit) और उसमें रहने से प्राप्त होने वाला सम्मान योग्य व्यक्तियों को सरकारी सेवाओं की ओर आकर्षित करते हैं। 'वेतन' एक केन्द्रीय तत्त्व है जो सरकारी कर्मचारियों को कार्य के लिए प्रेरित करता है। सरकारी सेवकों के वेतन से सम्बन्धित नीति का निश्चय कई आधारों पर किया जाता है।

सर्वप्रथम यह देखना होता है कि उस क्षेत्र के व्यक्तिगत उद्यमों में कर्मचारियों के वेतन की स्थिति क्या है और उसको किस कार्य के लिए कितना वेतन दिया जाता है ? यदि इस तत्त्व की ओर उचित ध्यान न दिया गया और सरकारी सेवाओं में वेतन की मात्रा व्यक्तिगत उद्यमों की तुलना में कम रखी गई तो यह निश्चित है कि योग्य अधिकारी सरकारी सेवाओं की ओर कम आकर्षित होंगे। एक सामान्य धारणा के अनुसार व्यक्तिगत उद्यम की अपेक्षा सरकारी सेवा के अनेक लाभ हैं। उदाहरण के लिए कार्यकाल निश्चित रहता है, बिना हड़ताल तथा तालाबन्दी के रोजगार में निरन्तरता रहती है, छुट्टी, भत्ते और पेंशन आदि के विभिन्न प्रावधान होते हैं। इन सबके आधार पर यह कहा जाता है कि सरकारी सेवा से व्यापारिक एवं औद्योगिक संस्थाओं की अपेक्षा कम आय भी स्वीकार की जानी चाहिए। अनुपात चाहे कुछ भी हो किन्तु वेतन निश्चित करते समय यह अवश्य ध्यान रखा जाता है कि उस कार्य के लिए व्यक्तिगत उद्यम कितना वेतन देते हैं।

दूसरे, यह कहा जाता है कि राज्य को अपने कर्मचारियों का वेतन निश्चित करते समय एक आदर्श नियुक्तिकर्ता (Model Employer) के रूप में कार्य करना चाहिए। आदर्श नियुक्तिकर्ता के कई अर्थ लगाए जाते हैं। एक अर्थ में आदर्श नियुक्तिकर्ता वह है जो सेवा की शर्तों में दूसरे नियुक्तिकर्ता से आगे रहता है। कुछ का कहना है कि आदर्श नियुक्तिकर्ता वह होता है जो सबसे पहले और सबसे अधिक नियुक्तियाँ करता है। अन्य के अनुसार आदर्श नियुक्तिकर्ता अपने कर्मचारियों के प्रति बहुत अधिक उत्तरदायी रहता है।

तीसरे, नियुक्तिकर्ता को चाहिए कि वह अपने कर्मचारियों को इतना वेतन दे जिससे वे कुशलतापूर्वक कार्य कर सकें। एक कर्मचारी कितने वेतन पर कुशलतापूर्वक कार्य करता रह सकता है यह तय करने के लिए 'प्रयत्न और भूल' की पद्धति को अपनाना होता है।

चौथे, सरकारी अधिकारियों का वेतन निर्धारित करते समय वेतन के स्तर को जीविका के स्तर से सम्बद्ध रखना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि यदि आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है तो अधिकारियों के वेतन में भी वृद्धि होनी चाहिए और यदि मूल्य कम हो जाते हैं तो वेतन में भी कमी हो जानी चाहिए। यह व्यवस्था व्यक्तिगत उद्यमों में अधिक मिलती है। सरकारी उद्यमों में इसे अपनाने के लिए लोचशील वेतन का ढाँचा बनाया जाता है।

पाँचवें, वेतन-निर्धारित करने के लिए देश की प्रति व्यक्ति आय का ध्यान रखा जाता है और उसके आधार पर अधिक से अधिक और कम से कम वेतन निश्चित किए जाते हैं।

छठे, वेतन-निर्धारण का प्रमुख सिद्धांत यह है कि समान कार्य के लिए समान वेतन दिया जाना चाहिए। यदि किसी अधिकारी के कार्य एवं उत्तरदायित्व अधिक हैं तो उस वेतन की मात्रा भी अधिक होनी चाहिए।

सातवें, सरकारी अधिकारियों का वेतन निश्चित करते समय सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह देखी जाती है कि उसी कार्य के लिए गैर-सरकारी संगठनों में कर्मचारियों को कितना वेतन दिया जाता है। लोक सेवकों को वेतन की मात्रा एवं सेवा की शर्तें यदि अपेक्षाकृत खराब हुई तो योग्य व्यक्ति उनकी ओर आकर्षित नहीं होंगे और यदि वे अधिक अच्छी हुई तो इसे समाज विरोधी माना जाएगा।

सरकारी अधिकारियों को जो वेतन सेवा के प्रारम्भ में प्रदान किया जाता है उसकी मात्रा समय के साथ-साथ बढ़ती चली जाती है। ज्यों-ज्यों कर्मचारी अपने कार्य का अनुभव और विशेषज्ञता प्राप्त करता जाता है त्यों-त्यों उसका अधिक वेतन प्राप्त करने का अधिकार भी बढ़ता जाता है। दूसरी ओर उम्र के साथ-साथ उसके जीवन के उत्तरदायित्वों की भी वृद्धि होती है और आवश्यक व्यय की मात्रा भी बढ़ जाती है। इन सबको ध्यान में रखकर यह व्यवस्था की जाती है कि सरकारी कर्मचारियों के वेतन में सामयिक वृद्धि की जाए। सरकारी पदों में ग्रेड व्यवस्था (Grade System) समय श्रृखलाओं (Time Scales) के आधार पर वेतन वृद्धि की व्यवस्था को निश्चित किया जाता है। सरकारी सेवाओं में अनेक ऊँचे-नीचे ग्रेड होते हैं।

किसी उच्च ग्रेड का स्थान रिक्त होने पर निम्न ग्रेड वाले पदाधिकारियों को पदोन्नत किया जा सकता है, पर इस व्यवस्था द्वारा वेतन की वृद्धि में अवसर और भाग्य का बहुत अधिक प्रभाव रहता है। दूसरी ओर समय श्रृंखला के अनुसार वार्षिक रूप से स्वत: ही अधिकारियों के वेतन में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार की वृद्धि के लिए विभागाध्यक्ष की सिफारिश उपयोगी रहती है। समय श्रृंखलाओं के अनुसार वेतन-वृद्धि की व्यवस्था करते समय मुख्य रूप से पाँच बातों पर विचार करना होता है—प्रथम, श्रृखला का विस्तार, दूसरे, श्रृंखला के अधिक से अधिक और कम से कम वेतन के बीच अनुपात; तीसरे, वृद्धियों के बीच का समय एवं उनकी मात्रा, चौथे, एक ही वर्ग अथवा स्तर के लिए समय-श्रृंखलाओं की संख्या और पाँचवें, कार्यकुशलता की दृष्टि से उसमें अवरोध की आवश्यकता।

2. अन्य भत्ते और लाभ (Other Allowances and Benefits)

सरकारी अधिकारियों को प्राप्त होने वाला धन केवल वेतन के रूप में ही नहीं होता, इसके अतिरिक्त कुछ अन्य लाभ और भत्ते भी मिलते रहते हैं। उदाहरणार्थ, भारत में सरकारी अधिकारियों को महँगाई भत्ता एवं स्थानीय भत्ता दिया जाता है तथा सरकार की ओर से उनके लिए निवास-स्थान का प्रबन्ध किया जाता है अथवा ऐसा प्रबन्ध करने के लिए उन्हें यथोचित भत्ता प्रदान किया जाता है। उन्हें अपने बच्चों को शिक्षित बनाने के लिए भी भत्ता (Children's Education Allowance) मिलता है। भारत में रेलवे सेवाओं के अराजपत्रित अधिकारियों को इस प्रकार के भत्ते दिए जाते हैं। सरकारी अधिकारियों को चिकित्सा सहायता प्रदान की जाती है। भारत में सरकारी अधिकारियों एवं उनके सदस्यों को सरकारी अथवा किसी मान्य औषधालय में मुफ्त इलाज की सुविधा प्रदान की जाती है। जिन सरकारी अधिकारियों को अपने पद के दायित्वों को निभाने के लिए यात्राएँ करनी होती हैं उन्हें इस कार्य के लिए भत्ता प्रदान किया जाता है। वे यात्रा भत्ता एवं दैनिक भत्ता (T.A. and D.A.) प्राप्त करते हैं। सरकारी अधिकारियों के वेतन, भत्ते आदि की मात्रा कुल मिलाकर इतनी होनी चाहिए कि वे अपने जीवन की मूल आवश्यकताओं को आसानी से पूरा कर सकें। वेतन को मूल्य सूचकांक से जोड़ने के लिए समय-समय पर वेतन श्रृंखलाओं तथा भत्तों का निरीक्षण करते रहना चाहिए।

3. अवकाश (Leave)

लोक सेवकों के लिए अनेक प्रकार की छुट्टियों की व्यवस्था की जाती है जैसे—उपार्जित सवैतनिक अवकाश (Earned of Privilege Leave), आकस्मिक अवकाश (Casual Leave), मेडिकल अवकाश (Medical or Sick Leave), *अध्ययन अवकाश (Study Leave), व्यक्तिगत कार्यवश अवकाश (Leave for Private Affairs)* तथा अन्य अवैतनिक अवकाश (Other without Pay Leaves)। सवैतनिक अवकाश एक कर्मचारी पूरे कार्य करने पर प्राप्त करता है। इन अवकाशों का लक्ष्य कर्मचारी को कुछ समय के लिए आराम का समय प्रदान करना है ताकि दुबारा आने पर वे अधिक ताजगी का अनुभव करें और सक्रियता एव उत्साह के साथ कार्य कर सकें। इस प्रकार के वार्षिक अवकाशों की सख्या कर्मचारी के सेवाकाल के आधार पर निश्चित की जाती है। यह माना जाता है कि अधिक उम्र में व्यक्तियों को अवकाश की अधिक आवश्यकता होती है और बौद्धिक एवं मानसिक कार्य करने वालों को थकान जल्दी होती है, अत: ये अवकाश अपेक्षाकृत उन अधिकारियों को अधिक दिए जाते हैं जो अधिक वरिष्ठ एवं अनुभवी होते हैं और जो मुख्यत: बौद्धिक कार्य करते हैं।

आकस्मिक अवकाश, मेडिकल और किसी व्यक्तिगत कार्य के लिए अवकाश का लक्ष्य सवैतनिक अवकाश के लक्ष्य से भिन्न है। इन छुट्टियों की मात्रा एवं प्रकृति प्रत्येक देश में भिन्न होती है। इन सभी अवकाशों का उद्देश्य किसी आकस्मिक कार्य का निर्वहन करना होता है अथवा इन्हें अस्वस्थता की विवशता के कारण लिया जाता है। जब किसी भी प्रकार का अवकाश न मिल सके तो अवैतनिक अवकाश दिया जा सकता है। अवैतनिक छुट्टियों का समय वार्षिक वेतन-वृद्धि के समय को उतना ही आगे बढ़ा देता है। सरकारी अधिकारियों को दी जाने वाली छुट्टियाँ केवल सुविधा के लिए दी जाती हैं, इन पर उनका अधिकार नहीं होता है। प्रशासन चाहे तो मेडिकल अवकाश के अतिरिक्त अन्य अवकाशों को अस्वीकार भी कर सकता है।

4. साप्ताहिक एवं अन्य राजपत्रित अवकाश (Weekly and Other Gazetted Holidays)

सरकारी कर्मचारियों एवं अधिकारियों को नियमित रूप से साप्ताहिक अवकाश प्रदान किया जाता है, जिसके पीछे यह धारणा रहती है कि सरकारी कर्मचारी केवल एक कर्मचारी ही नहीं है वह अपने परिवार का एक महत्वपूर्ण सदस्य भी है, सामाजिक संस्थाओं का भागीदार भी है, वह किन्हीं लोगों का पड़ौसी है, अपने नगर का निवासी है तथा अनेक शिक्षण संस्थाओं, धार्मिक संस्थाओं एवं सांस्कृतिक संस्थाओं से उसका सम्बन्ध है। इस प्रकार सरकारी कर्मचारी के व्यक्तित्व के अनेक पहलू हैं। इनमें से किसी भी पहलू की वह अवहेलना नहीं कर सकता। अपने विविध दायित्वों को निभाने के लिए उसे सामयिक अवकाश मिलना चाहिए। नियमित साप्ताहिक अवकाश के अतिरिक्त कुछ ऐसी राजपत्रित छुट्टियाँ भी होती हैं जो उसे इसलिए दी जाती हैं कि वह सामान्यतया धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यों में सामूहिक रूप से भाग ले सके। ये छुट्टियाँ पूर्वोक्त अवकाशों से भिन्न प्रकृति की होती हैं। इन्हें प्रशासन द्वारा बिना माँगे प्रदान किया जाता है। इसके लिए कोई प्रार्थना-पत्र नहीं देना पड़ता।

5. कार्य का समय (The Hours of Work)

किसी सरकारी अधिकारी को कितना काम करना चाहिए, इस सम्बन्ध में कोई सामान्य सिद्धात नहीं अपनाया जा सकता। कार्य का समय प्रत्येक विभाग में अलग-अलग होता है क्योंकि उनके कार्यों की प्रकृति में पर्याप्त भेद रहता है। एक सप्ताह में प्रशासनिक कर्मचारियों को कितने समय कार्य करना चाहिए, यह निर्धारित करने के लिए अनेक तत्त्वों पर विचार करना पड़ता है, जैसे—कार्य की प्रकृति, शारीरिक शक्ति की आवश्यकता, मानसिक घुटन, विरोध की सम्भावना एवं अन्य मनोवैज्ञानिक तत्त्व। अनेक सामाजिक मूल्य भी कर्मचारी के लिए खाली समय का निर्धारण करते हैं। क्रियाशील एवं देश-भक्तिपूर्ण समाज में खाली समय एक अभिशाप समझा जाता है जबकि निम्न मनोबल वाले देशों में अधिकारी अवकाश प्राप्त करने की अटकलें लगाया करते हैं।

अनेक संगठनों में अतिरिक्त समय (Overtime) कार्य करने का भी प्रावधान रहता है। प्राय तकनीकी प्रकृति के कार्यों में अतिरिक्त समय के श्रम की बहुत अधिक आवश्यकता रहती है। इस प्रावधान का स्पष्ट लाभ यह होता है कि उत्पादन अधिक एवं समय पर होता है, किन्तु दूसरी ओर इसके कुछ खतरे भी हैं। उदाहरण के लिए, अतिरिक्त आय के लालच में अनेक कर्मचारी अधिक अतिरिक्त कार्य में अपनी शक्ति से संलग्न हो जाते हैं। फलत कर्मचारी के स्वास्थ्य तथा उसके उत्पादन करने की क्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इससे प्रशासन को सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों की सेवा का पूरा लाभ नहीं मिल पाता है।

6. कल्याणकारी क्रियाएँ (Welfare Activities)

सरकारी कर्मचारी एक यन्त्र नहीं होता, वह एक व्यक्ति होता है जिसमें सभी व्यक्तियों की भाँति भावनाएँ, महत्त्वाकांक्षाएँ, संवेग, मूल प्रवृत्तियाँ एवं सामाजिक मान्यताएँ होती हैं। जब तक कर्मचारी के व्यक्तित्व के इन तत्त्वों को प्रभावित करने के लिए उपयुक्त कदम नहीं उठाए जाएँगे तब तक यह आशा नहीं की जा सकती कि वे कुशलतापूर्वक अपने दायित्वों को पूरा कर सकेंगे। जो संगठन अपने कर्मचारियों के कल्याण में यथोचित रुचि लेता है, वह उसका पूर्ण सहयोग प्राप्त करने में सफल हो जाता है। अनेक व्यक्तिगत उद्यमों में कर्मचारियों के लिए बचत, कर्ज, आवास योजनाएँ आदि का प्रबन्ध किया जाता है। उनके लिए उपयुक्त रेस्तराँ, चायघर, स्वल्पाहार-गृह आदि की व्यवस्था की जाती है। सहकारी स्टोर खोले जाते हैं जहाँ से वे उचित मूल्य पर आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कर सकें। इसके अतिरिक्त कर्मचारियों के मनोरंजन के लिए भी अनेक योजनाएँ तथा व्यवस्थाएँ की जाती हैं।

स्थानान्तरण एवं परिलाभ

(Transfer and Compensation)

किसी भी देश के सेवीवर्ग प्रशासन की कार्यकुशलता को प्रभावित करने में स्थानान्तरण की प्रक्रिया का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। यदि लोक सेवकों के अनियमित और अन्यायपूर्ण स्थानान्तरण किये जाते हैं, तो उनकी कार्य-क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके साथ ही जुड़ा हुआ दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न 'वेतन-प्रशासन' का है। अगर इस दिशा में भी सुव्यवस्थित योजना का निरूपण नहीं किया जाये तो लोक सेवकों में भारी असन्तोष उत्पन्न हो सकता है, जिनका उनकी कार्य-शैली पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

स्थानान्तरण से साधारणतया आशय है—कर्मचारियों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक उसी प्रकार के कार्य या भिन्न प्रकार के कार्यों को करने के लिए भेजना। किसी भी कर्मचारी की किसी स्थान पर नियुक्ति के बाद, समुचित समयोपरान्त, यदि यह देखा जाता है कि कर्मचारी की क्षमता का अधिक लाभ उठाने के लिए और

साथ ही काम के लिए योग्य व्यक्ति की पूर्ति की दृष्टि से स्थानान्तरण आवश्यक है तो उस कर्मचारी का स्थानान्तरण या तबादला दूसरे स्थान पर कर दिया जाता है। यह नियम भी पाया जाता है कि एक निश्चित अवधि पूर्ण हो जाने के बाद कर्मचारी का एक स्थान से दूसरे स्थान पर तबादला कर दिया जाए. तो इस नियम के अधीन कर्मचारियों के स्थानान्तरण होते रहते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि स्थानान्तरण का कर्मचारी के वेतन, उसके कर्तव्यों या उत्तरदायित्वों पर आवश्यक रूप से प्रभाव पड़े ही, क्योंकि एक नियत सरकारी क्षेत्र में एक सरकारी कार्यालय में कर्मचारी का स्थानान्तरण सामान्य प्रक्रिया के रूप में कभी भी सम्भव है।

स्थानान्तरण निम्नलिखित कारणों से प्रशासन के लिए आवश्यक माना जाता है—

1. **उदासीनता को समाप्त करने के लिए**—जब कोई कर्मचारी अपने पद पर काफी लम्बे समय से रह रहा हो तो यह स्वाभाविक है कि उसमें अपने काम के प्रति कुछ उदासीनता या अरुचि का भाव उत्पन्न हो जाए। ऐसी स्थिति में यदि उसका स्थानान्तरण अन्यत्र कर दिया जाता है तो वातावरण का यह परिवर्तन उसके मस्तिष्क को तरोताजा कर देता है और फलस्वरूप उसकी कार्यक्षमता को पुनर्जीवित कर देता है। विभागीय कार्यों में कर्मचारियों के स्थानान्तरण प्रायः होते ही रहते हैं।

2. **दूसरे विभाग की आवश्यकता को पूरा करने के लिए**—कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी विभाग में काम बहुत अधिक बढ़ जाता है और अधिक कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में दूसरे विभाग में जहाँ अपेक्षाकृत काम कम होता है, कर्मचारी उस विभाग में स्थानान्तरित किए जा सकते हैं। इस प्रकार यदि एक विभाग में काम बहुत घट जाता है तो कुछ कर्मचारियों का स्थानान्तरण दूसरे विभागों में कर दिया जाता है। यह भी हो सकता है कि जो अस्थायी कर्मचारी हों उनका स्थानान्तरण न होकर छँटनी में नम्बर आ जाए।

3. **निष्पक्षता और ईमानदारी के प्रति आशंका को दूर करने हेतु**—पदाधिकारी या कर्मचारी की निष्पक्षता बनाए रखने के लिए भी स्थानान्तरण की आवश्यकता होती है। प्रायः एक ही स्थान पर वर्षों तक कार्य करते हुए उस कर्मचारी का वहाँ की जनता के साथ कुछ ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिससे कर्मचारी की निष्पक्षता और ईमानदारी के प्रति आशंका पैदा हो जाती है। ऐसी स्थिति में कर्मचारी का स्थानान्तरण आवश्यक और उचित समझा जाता है।

4. **सार्वजनिक हित**—यदि अन्तर-सेवा और अन्तर-विभागीय स्थानान्तरणों की व्यवस्था न हो तो प्रत्येक विभाग को हर समय भर्ती और छँटनी का मार्ग अपनाना पड़ेगा जो कि न तो सरकारी हित में होगा और न ही सर्वसाधारण के हित में। यही कारण है कि सेवा से सेवा और विभाग से विभाग में (From Service to Service and Department to Department) स्थानान्तरण की व्यवस्था कायम की गई है।

5. **कर्मचारी की अभिरुचि की दृष्टि से**—स्थानान्तरण की पद्धति द्वारा यह सरलता से ज्ञात किया जा सकता है कि कर्मचारी की रुचि किस ओर है तथा किस क्षेत्र में वह अपनी क्षमता और विवेक का समुचित प्रयोग कर सकता है।

6. **संघर्ष और तनाव की स्थिति को टालने हेतु**—स्थानान्तरण इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि यदि अधिकारी और उसके अधीन कर्मचारी से संघर्ष या मनमुटाव उत्पन्न हो गया हो; इस पारस्परिक तनाव से सरकारी काम को और सार्वजनिक हित को हानि पहुँचती है। स्थानान्तरण के माध्यम से इस अवांछनीय स्थिति को टाला जा सकता है।

7. **जन-असन्तोष के निराकरण हेतु**—साम्प्रदायिक विवादों के कारण यदि किसी कर्मचारी के अपने पद पर बने रहने से जन-असन्तोष को बल मिलता है तो स्थानान्तरण का सहारा लिया जाता है।

8. **पदोन्नति के लिए**—स्थानान्तरण का प्रयोग कर्मचारी के इनाम के रूप में पदवृद्धि के लिए भी किया जा सकता है पर पदोन्नति होने पर कर्मचारी का स्थानान्तरण आवश्यक माना जाता है।

9. **कर्मचारी के दृष्टिकोण को व्यापक बनाने की दृष्टि से**—स्थानान्तरण व्यवस्था का एक तथ्य यह है कि इससे कर्मचारी का दृष्टिकोण उदार बनता है और वह विभागीय कार्यकलापों के प्रति उदार विचार रख पाता है। स्थानान्तरण व्यवस्था से कर्मचारी के ज्ञान में वृद्धि होती है, विभिन्न कार्यों का उसे अनुभव हो जाता है और इस प्रकार वह पदोन्नति के योग्य बनता है। इससे उसे नई चुनौतियों तथा परिवेश में कार्य करने का अवसर प्राप्त होता है।

10. **भावात्मक एकता में वृद्धि की दृष्टि से**—स्थानान्तरण के माध्यम से कर्मचारियों को दूसरे क्षेत्रों के बारे में जानने का भी अवसर प्राप्त होता है। इससे भावात्मक एकता के वातावरण में वृद्धि होती है।

11. **राजनीतिक नेतृत्व का योगदान**—राजनीतिक नेतृत्व अपने कार्यकर्ताओं का आदर करने के लिए भी उनके द्वारा चाहे अनुसार कर्मचारियों का स्थानान्तरण करता है। इससे उसके अहम की भी सन्तुष्टि हो जाती है।

12. **कर्मचारी को दण्डित करना**—अगर कर्मचारी अकुशल है, अधिकारी की इच्छा की अवज्ञा करता है, भ्रष्ट अथवा अनियमित गतिविधियों में लिप्त पाया जाये तो उसे दण्डित करने के लिए भी उसका स्थानान्तरण किया जाता है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कर्मचारियों के स्थानान्तरण आए दिन या जल्दी-जल्दी किए जाएँ। इससे एक तो राजकोष का अपव्यय होता है और दूसरे कर्मचारियों में भी असन्तोष फैलता है और साथ ही उन्हें

किसी एक काम का समुचित प्रशिक्षण और अनुभव भी प्राप्त नहीं हो पाता । इसी प्रकार व्यक्तिगत विद्वेष या राजनीतिक बदले की भावना से कर्मचारियों के स्थानान्तरण नहीं किए जाने चाहिए । स्थानान्तरणों के आधार की वैज्ञानिक विचारधारा होनी चाहिए और उसका उद्देश्य स्वस्थ होना चाहिए । *कर्मचारी की कार्यक्षमता और प्रशासन* की माँग ये ही निर्धारित तत्व होने चाहिए । यह उपयुक्त होगा कि पदोन्नति की भाँति स्थानान्तरण के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की विभागीय समिति अथवा बोर्ड की व्यवस्था होनी चाहिए । इससे राजनीतिक दबावों तथा विभागीय अध्यक्षों की मनमानी पर अंकुश लग सकेगा और कर्मचारी अधिक निर्भीकता के साथ अपना कार्य-निष्पादन कर सकेंगे । भारत में राज्यों में किये जाने वाले अन्धाधुंध स्थानान्तरण प्रशासन की एक प्रमुख समस्या बने हुए हैं ।

वेतन
(Salary)

सेवीवर्ग प्रशासन की अनेक समस्याएँ प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से लोक सेवकों को उनकी सेवाओं के बदले दिए जाने वाले वेतन से सम्बन्धित हैं । आधुनिक युग में लोक सेवा एक वृत्ति (Career) बन गई है । लोक सेवा के सदस्य उससे अपनी आजीविका कमाते हैं, अपने पारिवारिक तथा अन्य दायित्वों की पूर्ति के लिए उससे प्राप्त होने वाले पारिश्रमिक या वेतन पर निर्भर रहते हैं । किसी पद का वेतन या पारिश्रमिक सार्वजनिक दृष्टि से उस पद की प्रतिष्ठा का एक महत्वपूर्ण आधार माना जाता है । अतः इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि वेतन को लोक सेवा का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण आकर्षण माना जाए । वित्तीय उपलब्धियों का आकर्षण प्रशासन में योग्य प्रत्याशियों को आकर्षित करने, उन्हें सेवा में बनाए रखने और पूरी क्षमता तथा योग्यता के अनुसार कार्यकुशलता प्रकट करने की प्रेरणा देता है । 'वेतन' लोक सेवकों द्वारा सम्पन्न कार्यों का प्रतिफल माना जाता है । यह वह धनराशि है जो प्रत्येक कर्मचारी को उसके कार्य के बदले मासिक, साप्ताहिक या दैनिक रूप से मिलती है । एक कर्मचारी को प्राप्त होने वाले वेतन की मात्रा उसके सम्मान, लोक सेवाओं में उसके स्तर और कार्य के प्रति सन्तोष का आधार बनती है । *कितने वेतन से कोई लोक सेवक सन्तोष का अनुभव कर सकेगा—इसका कोई निश्चित मापदण्ड नहीं हो* सकता—यह बात अनेक तत्वों पर निर्भर है, यथा—कर्मचारी की स्वयं की और पारिवारिक भौतिक आवश्यकताएँ, समाज में उसकी प्रतिष्ठा और रहन-सहन का स्तर, पद के दायित्वों की प्रकृति, पद के जोखिम की प्रकृति, वैसे ही कार्य के लिए अन्य संस्थाओं में प्राप्त वेतन की मात्रा आदि । विभिन्न सरकारी पदों के लिए वेतन निर्धारित करते समय इन विभिन्न पहलुओं को ध्यान में रखने का प्रयत्न किया जाता है परन्तु इसका निश्चित मापदण्ड नहीं हो सकता, अतः वेतन-निर्धारण की समस्या प्रायः सदैव बनी रहती है और कर्मचारियों तथा सरकार में यह समस्या तनाव का एक कारण सिद्ध होती है ।

वर्तमान लोक-कल्याणकारी राज्यों में प्रशासनिक कार्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है । विकासवादी नियोजन के कारण वैज्ञानिकों, तकनीशियनों और अन्य कर्मचारियों का कार्य अधिकाधिक महत्वपूर्ण बनता जा रहा है, अतः वेतन संरचना ऐसी होनी चाहिए जो सामाजिक मूल्यों में आए परिवर्तनों को अभिव्यक्त कर सके । फिर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आज सरकारी रोजगार की मात्रा में इतनी वृद्धि हो गई है कि कर्मचारियों के वेतन में तनिक-सी वृद्धि का बजट और अर्थ-व्यवस्था पर काफी प्रभाव पड़ता है । वेतन-स्थिरीकरण और निर्धारण से समग्र अर्थ-व्यवस्था प्रभावित होती है लेकिन यदि बढ़ती हुई महँगाई के सदर्भ में कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि नहीं की जाये तो उनमें न केवल असंतोष व्याप्त होगा, अपितु उनका जीवनयापन करना भी दूभर हो जायेगा ।

स्वस्थ वेतन संरचना की विशेषताएँ (Characteristics of a Sound Pay Strcuture)—एक स्वस्थ वेतन व्यवस्था की विशेषताएँ निम्नांकित मानी जाती हैं—

1. संयुक्तिकरण (Inclusiveness)—इस विशेषता का अर्थ यह है कि सरकारी कर्मचारियों की वेतन संरचना जैसी अपनाई जाए वैसी ही स्वायत्तशासी तथा अर्द्ध-सरकारी संगठनों द्वारा भी अपनाई जानी चाहिए । प्रायः सभी देशों में गैर-सरकारी या स्वायत्तशासी निकायों का निरन्तर प्रसार होता जा रहा है । ये अपने दिन-प्रतिदिन के प्रशासन में सरकारी नियन्त्रण से उन्मुक्त रहते हैं तथा इन्हें अपना सेवीवर्ग प्रबन्ध एवं वित्तीय प्रशासन करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है । *इसके फलस्वरूप एकरूपता का अभाव पाया जाता है तथा* विभिन्न संगठनों द्वारा एक जैसे कार्यों के लिए अलग-अलग वेतनमान की व्यवस्था की जाती है । इससे प्रशासन में अनेक समस्याएँ तथा भ्रम पैदा हो जाते हैं ।

संयुक्तिकरण के सिद्धान्त का उल्लंघन बड़ी संख्या में की जाने वाली आकस्मिक, संकटकालीन तथा अस्थायी नियुक्तियों में किया जाता है । इन मामलों में रोजगार पर रखे गए व्यक्ति का वेतन पूर्णतः माँग तथा पूर्ति की दशाओं द्वारा तय किया जाता है न कि सामाजिक न्याय एवं समानता के विचारों के आधार पर । सुरक्षा के अभाव में ये कर्मचारी अपना सर्वश्रेष्ठ योगदान नहीं दे पाते हैं । नियोक्ता अधिकारी इनको कभी भी हटा सकता है इसलिए इनका कार्यकाल अनिश्चित रहता है ।

2. व्यापकता (Comprehensibility)—यह अच्छी वेतन व्यवस्था की दूसरी विशेषता है। इसका अर्थ यह है कि सरकारी कर्मचारियों का वेतनमान ऐसा हो जो उनकी आय की पूरी तस्वीर प्रस्तुत कर सके। एक कर्मचारी की कुल आय में विभिन्न प्रकार के भत्ते तथा अतिरिक्त शामिल रहते हैं। इनमें से कुछ भत्ते तो ऐसे होते हैं जो कर्मचारी की आय में कोई वृद्धि नहीं करते वरन् जो कुछ भी उसके द्वारा व्यय किया गया है उसी का भुगतान मात्र करते हैं, जैसे—स्थानान्तरण होने पर यात्रा व्यय, चिकित्सा व्यय आदि। दूसरे प्रकार के भत्ते विशेष वेतन के रूप में होते हैं जो कर्मचारियों को उनके विशेष कार्यों एवं दायित्वों के बदले दिए जाते हैं। तीसरे प्रकार के भत्ते ऐसे अस्पष्ट रूप से होते हैं कि उनके कारण वित्तीय रूप में कर्मचारी को कितना प्राप्त हो सकेगा यह स्पष्ट नहीं होता। उदाहरण के लिए बिना किराए के घर की सुविधा का प्रावधान। इस प्रकार सरकारी कर्मचारियों को मूल वेतन के साथ-साथ अनेक प्रकार की वित्तीय उपलब्धियाँ प्रदान की जाती हैं। एक स्वस्थ वेतन व्यवस्था वह होती है जिसमें इस बात की स्पष्टता हो कि कर्मचारी को कुल मिलाकर वित्तीय उपलब्धि हो पाएगी।

3. पर्याप्तता (Adequacy)—सरकारी कर्मचारियों को दिया जाने वाला वेतन पर्याप्त होना चाहिए। इस पर्याप्तता के दो पहलू हैं—आन्तरिक तथा बाह्य। वेतन आन्तरिक रूप से पर्याप्त होना चाहिए अर्थात् इसे निर्धारित करते समय सम्बन्धित कर्मचारी के गुण, शिक्षा, प्रशिक्षण, कुशलता, कर्तव्य एवं दायित्व आदि का समुचित ध्यान रखा जाना चाहिए। वेतन बाह्य रूप से भी पर्याप्त होना चाहिए अर्थात् वह इतना हो कि एक कर्मचारी अपना सन्तोषजनक जीवन-स्तर बनाए रख सके। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि बढ़ती हुई महँगाई तथा वेतन वृद्धि के परिणामस्वरूप कर्मचारी का जीवन-स्तर खतरे में न पड़ जाए। आर्थिक अभाव के कारण कर्मचारी को इस प्रकार रहने के लिए मजबूर न होना पड़े कि उसकी सारी सामाजिक प्रतिष्ठा गिर जाए तथा अपने समाज की परम्पराओं को अपनाने में वह असमर्थ रहे। अनेक सरकारी कर्मचारी निर्णायक स्थिति में रह कर अनेक महत्त्वपूर्ण वित्तीय निर्णय लेते हैं। उनकी वस्तुपरकता एवं निष्पक्षता में विश्वास रहना चाहिए। यह सच है कि पदाधिकारियों का उच्च वेतन उनकी ईमानदारी तथा निष्पक्षता की कोई गारन्टी नहीं होती, लेकिन अनुपयुक्त मात्रा से कम वेतन प्रत्यक्ष रूप से बेईमानी और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन देता है। जब तक एक कर्मचारी को पर्याप्त वेतन नहीं दिया जाएगा तब तक संगठन में अनुशासन नहीं बनाए रखा जा सकता।

आजकल सरकारी पदों के प्रति आकर्षण प्रायः समाप्त हो गया है तथा गैर-सरकारी क्षेत्र का आकर्षण निरन्तर बढ़ता जा रहा है। वहाँ प्राप्त चिकित्सा सुविधाएँ, सेवानिवृत्ति, उदार मान्यताएँ, बोनस की व्यवस्था आदि के कारण योग्य प्रत्याशी उधर आकर्षित होने लगे हैं। सरकारी सेवा में रहने वाले अनेक प्रतिबन्ध भी इसके प्रति लोगों की अभिरुचि कम करते हैं। स्पष्ट है कि पर्याप्त वेतन का मानदण्ड जटिलतापूर्ण है। व्यावहारिक रूप से इसे तभी अपनाया जा सकता है जबकि अन्य तत्त्वों को भी ध्यान में रखा जाए।

4. सरल और बुद्धिपूर्ण—अन्त में, एक स्वस्थ वेतन संरचना की मूल आवश्यकता यह है कि इसे सरल तथा बुद्धिपूर्ण होना चाहिए। एक के बाद एक नए वेतनमानों की व्यवस्था पर्याप्त भ्रम तथा अस्पष्टता का कारण बन जाती है। दो पदों के बीच वेतनमानों को थोड़ा-सा अन्तर रहने पर भेदभाव की शिकायतें की जाती हैं तथा इस आधार पर वेतन परिवर्तन की माँग की जाती है। अतः उपयुक्त होगा कि कुछ वेतनमानों को व्यापक बनाया जाए ताकि इस प्रकार की शिकायतें न आ सकें। वेतनमानों की संख्या घटाना प्रशासनिक दृष्टि से भी सुविधाजनक रहेगा। वेतन संरचना सरल होने के कारण वेतन बिल तैयार करना सरल होगा, बजट के प्रस्तावों को निर्धारित किया जा सकेगा तथा विभिन्न प्रकार की शिकायतों को दूर किया जा सकेगा।

अनुशासन

(Discipline)

किसी भी संगठन में कर्मचारियों के कार्यों को संगठन के लक्ष्यों के अनुरूप बनाए रखने के लिए अनुशासन की स्थापना की जाती है। समुचित अनुशासन को हम संगठन की जीवन-नाड़ियों में रक्त-प्रवाह की संज्ञा दे सकते हैं। कार्मिक-वर्ग के ठीक ढंग से कार्य करने के लिए आवश्यक है कि उनमें अनुशासन की भावना हो। सबसे अच्छा अनुशासन वही होता है जहाँ कर्मचारी स्वतः अनुशासनबद्ध हों, उन्हें अपना काम बता दिया जाए और वे स्वेच्छा से अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करें। कार्मिक-वर्ग में अनुशासन बनाए रखने के लिए संगठन पुरस्कार और दण्ड की व्यवस्था करता है। प्रारम्भ में जब सरकारी कर्मचारियों की भर्ती 'रखो और निकालो' (Hire and Fire Rule) के आधार पर की जाती थी, तब अनुशासनात्मक कार्यवाहियों का केवल एक ही रूप था, वह यह कि भर्तीकर्ता यदि यह देखे कि अमुक पदाधिकारी अपने दायित्वों का सही रूप में पालन नहीं कर रहा है तो वह उसे सेवा से निष्कासित कर दे, किन्तु आज जबकि भर्ती का मुख्य आधार योग्यता है और कर्मचारी को समुचित प्रशिक्षण तथा अनुभव प्राप्त कराया जाता है तो संगठन के अधिकारी स्वभावतः यह आशा करते हैं कि उन्हें संगठन के प्रत्येक कर्मचारी का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त होगा। इसी के फलस्वरूप नागरिक सेवा को स्थापित प्रथाएँ

करने की प्रवृति का विकास हुआ है और नागरिक पदों के स्थायित्व ने उनमें अनुशासन की आवश्यकता को बल दिया है। जो कर्मचारी संगठन के नियमों के अनुसार काम करते हैं, संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, उन्हें पुरस्कृत किया जाता है तथा जो लोग संगठन के नियमों की अवहेलना और अधिकारियों के आदेशों का उल्लंघन करते हैं एवं संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति में बाधा डालते हैं, उन्हें दण्डित किया जाता है, किन्तु दण्ड अंतिम उपाय है, अन्यथा पहले तो कर्मचारी को हर प्रकार से समझा-बुझाकर रास्ते पर लाने का प्रयास किया जाता है। प्रशासकीय संगठनों में सेवीवर्ग के व्यवहार को वांछित रूप में संचालित करने के लिए अनुशासन की आवश्यकता पर प्राय. सभी विचारक एकमत हैं। स्टाल ने लिखा है, "कोई भी संगठन इतना पूर्ण नहीं है कोई भी कार्यपालिका इतनी शुद्ध नहीं है, कोई भी सेवीवर्ग-व्यवस्था इतनी संभ्रान्त नहीं है कि इनमें कर्मचारियों के गलत व्यवहार या अकार्यकुशलता के लिए कुछ दण्ड-व्यवस्था को बिल्कुल हटा दिया जाए।"[1]

अनुशासन : अर्थ एवं प्रभाव

(Discipline : Meaning and Influence)

टोरपे ने उन प्रशासनिक कदमों को अनुशासन माना है जो कार्य की सम्पन्नता से सम्बन्धित कर्मचारी के दुर्व्यवहारों को ठीक करने के लिए उठाए जाते हैं।[2] यद्यपि उनका भी यह विचार है कि जब तक आवश्यकतानुसार सुधारात्मक प्रयास नहीं किए जाएँगे तब तक व्यक्तिगत कार्यकुशलता और कर्मचारियों का नैतिक चरित्र बुरी तरह से प्रभावित होगा। व्यावसायिक संगठनों एवं व्यापारिक उद्यमों के ज्ञाता एवं विचारक प्रोफेसर हेमेन ने अनुशासन को कुछ भिन्न रूप में परिभाषित किया है। वे इसको निर्देशन के प्रबन्धात्मक कार्यों से सम्बन्धित मानते हैं, किन्तु इसका सम्बन्ध आवश्यक रूप से कर्मचारियों को दण्डित करने से नहीं है। वे अनुशासन को एक व्यवस्थित व्यवहार (Orderly Behaviour) मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में, यह उद्यम की एक शर्त है जिसमें व्यवस्था है और जिसमें उद्यम के सदस्य उन स्वीकृत मापदण्डों के अनुसार व्यवहार करते हैं जो संगठन की आवश्यकताओं के आधार पर निश्चित किए जाते हैं।[3] इस प्रकार अनुशासन एक ऐसी प्रक्रिया है जो कर्मचारियों को स्वत ही अपने दायित्वों का निर्वाह करने के लिए प्रेरित करती है, साथ ही यह कर्मचारियों में इस भय का भी संचार करती है कि अगर उन्होंने अपने दायित्वों का निष्ठा से पालन नहीं किया तो उन्हें दण्डित भी किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह कर्मचारियों को प्रोत्साहित भी करती है। अनुशासन मजबूरी का नाम नहीं है।

अच्छा और बुरा अनुशासन

(Good and Bad Discipline)

अनुशासन का जो स्वरूप हेमेन ने बताया है उसके सम्बन्ध में मूल्यांकन का प्रश्न उठने की गुंजाइश है। यदि अनुशासन केवल व्यवस्थित व्यवहार का नाम है तो अच्छा अनुशासन इस प्रकार के व्यवहार की माँग करता है। दूसरी ओर अव्यवस्थित व्यवहार को अनुशासन का एक बुरा रूप समझा जा सकता है। अनुशासन का अच्छा रूप वह होता है जबकि संगठन के सदस्य स्वेच्छा से स्वीकृत व्यवहार के मापदण्डों के अनुसार व्यवहार करते हैं। अनुशासन को उस समय बुरा कहा जाता है जबकि अधीनस्थ अधिकारी संगठन के नियमों को अनिच्छा से अथवा मजबूरी में स्वीकार करें। वे चाहें तो स्वीकृत व्यवहार के मापदण्डों एवं परिनियमों को अस्वीकार भी कर सकते हैं। प्रशासकीय संगठन के उच्च एव मध्य स्तरों पर अनुशासन का रूप प्राय स्वत ही लागू किया गया (*Self-imposed*) होता है। *अनुशासन का स्रोत मूलत उच्च अधिकारी होता है। वही संगठन के दूसरे सदस्यों के* अनुशासनात्मक कार्य के लिए पृष्ठभूमि तैयार करता है।

संगठन में कहीं भी उस समय तक अनुशासन नहीं रह सकता जब तक शीर्ष के अधिकारी स्वयं को अनुशासित न रखें। अच्छे अनुशासन की स्थापना के लिए यह आवश्यक होता है कि अधीनस्थ अधिकारियों को उनका कार्य सौंप दिया जाए। जब एक अधिकारी अपने कार्य की सीमाओं एवं दशाओं से परिचित रहता है तो वह उसका निर्वाह भली प्रकार कर सकता है क्योंकि इस सम्बन्ध में वह आश्वस्त रहता है कि उसके कार्यों को उच्च अधिकारियों का समर्थन प्राप्त होगा। जहाँ आत्मानुशासन (Self-discipline) का अभाव होता है वहाँ उसे लागू करने के लिए कुछ आवश्यक कदम उठाने पड़ते हैं। ये आवश्यक कदम दण्ड के रूप में भी हो सकते हैं। इस प्रकार दण्ड अनुशासन का एक आवश्यक तत्त्व न होते हुए भी उसकी स्थापना का एक महत्वपूर्ण सहयोगी बन जाता है। संगठन में अनुशासन की स्थापना के लिए उच्च अधिकारी द्वारा जो केन्द्रीय भूमिका अदा की जाती है उसके पीछे उसकी शक्तियाँ एवं उत्तरदायित्व रहते हैं। यदि अनुशासन में कोई दोष पाया जाए तो उसके लिए प्रत्यक्ष रूप से उच्च अधिकारियों को उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए।

---

1 *O G Stahl* Op cit, p 317

2 *William G Torpey* Op cit., p 291.

3 *Theo Haimann* · Professional Management . Theory and Practice, 1966, p. 458

अनुशासन के रूप (Types of Discipline)

अनुशासन को अपनी प्रक्रिया एवं प्रकृति के आधार पर निम्नांकित रूपों में विभाजित किया जा सकता है—

1. लिखित एवं मौखिक—टोरपे के कथनानुसार, अनुशासनात्मक कार्य लिखित या मौखिक दोनों ही प्रकार का हो सकता है।[1] दिन-प्रतिदिन के मामलों को अनुशासन की सीमाओं में रखने हेतु मौखिक आदेश अथवा निर्देश दिए जा सकते हैं। इन आदेशों का यथोचित प्रभाव भी होता है, किन्तु जब कभी संगठन में कोई गंभीर समस्या उत्पन्न होती है, इस प्रकार के आदेश अपना महत्त्व खो देते हैं। इनके प्रभाव एवं सार्थकता की एक सीमा है जिसके बाहर इन्हें अपनाना खतरे से खाली नहीं होता। गम्भीर परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर औपचारिक कदम उठाना आवश्यक बन जाता है।

2. औपचारिक एवं अनौपचारिक—अनुशासन के रूप का अन्य विभाजन औपचारिक एवं अनौपचारिक के रूप में किया जाता है। प्रत्येक संगठन का व्यवहार अनुशासन के इन दोनों रूपों से प्रभावित होता है। प्रभावशाली रूप में अपनी क्रियाओं को संचालित करने के लिए प्रायः प्रत्येक संगठन अपने विभिन्न सदस्यों के व्यवहार पर कुछ प्रतिबन्ध लगा देता है। व्यवहार के ये प्रतिबन्ध लगाने से पूर्व उद्यम के प्रबन्धकों एवं अधीनस्थ अधिकारियों के बीच एक प्रकार का समझौता होता है। यह समझौता औपचारिक भी हो सकता है और नियमों या रीति-रिवाजों पर आधारित अनौपचारिक भी।[2] उदाहरण के लिए, समय पर आना, धूम्रपान न करना, शराब न पीना आदि व्यवहारों के पीछे अनौपचारिक समझौता ही कार्य करता है। संगठन के कर्मचारियों के व्यवहार पर अनुशासन के अनौपचारिक एवं अप्रत्यक्ष रूप का प्रभाव भी कम उल्लेखनीय नहीं होता। वास्तव में देखा जाए तो इन रूपों का प्रभाव उनके व्यवहार पर निरन्तर पड़ता रहता है, अतः कोई भी बुद्धिमान प्रशासक इनकी अवहेलना करने की भूल नहीं कर सकता है।

अनुशासन के अनौपचारिक रूपों की प्रकृति एवं वातावरण कई प्रकार का होता है। इस प्रकार के रूपों में प्रमुख हैं—अधिकारी को कम महत्त्वपूर्ण कार्य पर लगा देना, उसके कार्यों पर अधिक पर्यवेक्षण रखना, उसके विशेषाधिकारों को छीन लेना, अधीनस्थ अधिकारी के प्रस्तावों को अस्वीकार कर देना, सम्बन्धित विषयों पर उसकी राय न लेना, उसकी शक्ति को कम कर देना, उसके बजट में कटौती कर देना आदि। डॉ. एल. डी. व्हाइट का कथन सही है कि "यथार्थ में कानून एवं नियमों द्वारा स्थापित प्रक्रिया को अपनाए बिना अनुशासन के सैकड़ों रूपों में से किसी भी एक को अपनाया जा सकता है।"[3] अनुशासन की इस अनौपचारिक प्रक्रिया को अपनाने का मुख्य कारण यह है कि अनेक अपराध ऐसे होते हैं जिनको प्रत्यक्ष एवं औपचारिक साधनों से सिद्ध करना कठिन होता है। अनुशासनात्मक कार्यवाही के औपचारिक रूप प्रायः लिखित एवं कानूनी रूप में होते हैं। प्रत्येक संगठन का यदि तुलनात्मक आधार पर अध्ययन किया जाए तो हम पाएँगे कि अनेक कर्मचारी अचेतन रूप से ही अनुशासन की परिधियों में रहते हैं और उनके व्यवहार के सम्बन्ध में औपचारिक नियमों को लागू करने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

3. नकारात्मक एवं सकारात्मक—अनुशासन के रूपों का एक अन्य उदाहरण नकारात्मक एवं सकारात्मक (Negative and Positive) के रूप में भी किया जाता है। अनुशासन का सकारात्मक रूप वह होता है जहाँ उचित कार्य को समर्थन और प्रोत्साहन प्रदान किया जाता है। संगठन में कुछ निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कोई अभियान चलाने के लिए कर्मचारियों के उत्साहपूर्ण सहयोग की आवश्यकता होती है। इसे प्राप्त करने के लिए नेतृत्व द्वारा जो भी कदम उठाए जाते हैं उन्हें अनुशासन के सकारात्मक प्रयास कहा जा सकता है। जिस प्रकार कर्मचारियों के वांछनीय कार्यों को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार उनके अवांछनीय कार्यों को रोकने के लिए दण्ड व्यवस्था कायम करना भी आवश्यक होता है। प्रोफेसर हेमेन के अनुसार, ठीक कार्यों के लिए सही अनुशासन को सकारात्मक समर्थन देना आवश्यक है किन्तु गलत कार्यों की आलोचना करना तथा उन्हें दण्ड देना भी जरूरी है। अधीनस्थ को यह जानना चाहिए कि यदि उसका व्यवहार आशानुकूल न रहा तो उसे दण्ड दिया जाएगा।[4]

अनुशासनात्मक कार्यवाही की परिस्थितियाँ
(The Circumstances of Disciplinary Action)

संगठन के कर्मचारी जब किन्हीं नियमों का उल्लंघन अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए संगठन के हित की अवहेलना करते हैं तो उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। डॉ. एल. डी. व्हाइट ने अनुशासनात्मक कार्यवाही के विभिन्न अवसरों एवं कारणों की सूची प्रस्तुत की है। उनके मतानुसार इसके सामान्य कारण इस प्रकार हैं—

---
1. *William G. Torpey* : Op. cit., p. 29.
2. *Haimann* : Op. cit., p. 459
3. *L.D. White* : Op. cit., 395.
4. *Theo Haimann* : Op. cit., p. 459.

(i) कार्य की ओर ध्यान न देना, जैसे—सुस्ती, असावधानी, चीजों को तोड़ना या खो देना, काम से जी चुराना, इत्यादि।

(ii) अकार्यकुशलता।

(iii) कानूनों का उल्लंघन या उन्हें तोड़ना, अधीनस्थता स्वीकार न करना, राजनीतिक कार्यों के विरुद्ध लगाए गए नियमों का विरोध करना।

(iv) उन्मान (Intoxication)।

(v) अनैतिकता।

(vi) ईमानदारी का अभाव अर्थात् सरकारी कर्मचारियों के लिए स्वीकृत नैतिक नियमों को तोड़ना।

(vii) कर्ज को न चुकाना, घूँस देना या उसे प्रोत्साहन देना।

(viii) जानबूझ कर किसी कानून को लागू करने से मना करना।

(ix) गोपनीयता का उल्लंघन करना।

सभी प्रकार के अपराधों, अवहेलनाओं एवं गलतियों के लिए सम्बन्धित कर्मचारियों के विरुद्ध औपचारिक अथवा अनौपचारिक अनुशासनात्मक कार्यवाही की जा सकती है। अनौपचारिक अनुशासनात्मक कार्यवाही में दोषी अधिकारी को कोई स्पष्ट सजा न देकर अधिकारी की नाराजगी को जाहिर कर दिया जाता है। विभिन्न प्रकार से नाराजगी जाहिर करने का तरीका केवल वहीं काम में लाया जाता है जहाँ कर्मचारी का अपराध इतना गुप्त हो कि इसे कानूनन सिद्ध न किया जा सके। जब कर्मचारी का दोष कानूनन सिद्ध किए जाने योग्य होता है तो उसके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करने के लिए अनेक कदम उठाए जा सकते हैं।

अनुशासनात्मक कार्यवाही के रूप
(The Forms of Disciplinary Action)

अनुशासन विरोधी व्यवहार को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि अनुशासनात्मक कदम उठाए जाएँ। ऐसा करने के लिए उच्च अधिकारी के पास अनेक साधन होते हैं। उदाहरण के लिए, वह सम्बन्धित कर्मचारियों की आलोचना कर सकता है, उनको चेतावनी दे सकता है, डाँट सकता है। उनके कर्त्तव्यों में परिवर्तन कर सकता है, उनकी कुशलता का हीन मूल्यांकन कर सकता है, पदोन्नति के अधिकारों को छीन सकता है और कम महत्त्वपूर्ण कार्य पर स्थानान्तर कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह पदावनति, अस्थायी पदविमुक्ति अथवा पदविमुक्ति भी कर सकता है। प्रोफेसर हैमेन के अनुसार, "इस प्रकार के अनुशासनात्मक कार्य दुर्भाग्यवश नकारात्मक प्रेरकों का प्रतिनिधित्व करते हैं जबकि अधीनस्थों से अच्छा कार्य लेने के लिए इनको सकारात्मक प्रेरकों से जोड़ा जाना चाहिए।"[1] संगठन में शान्ति, व्यवस्था, सहयोग एवं अनुशासन बनाए रखने के लिए उच्च अधिकारी द्वारा जो विभिन्न कदम उठाए जा सकते हैं वे निम्नांकित हैं—

1. धमकी देना या डाँटना—धमकी देना अथवा डाँटना तुलनात्मक रूप में सबसे कम कठोर दण्ड है। कई बार केवल डाँट देने से ही काम चल जाता है और आगे कोई गंभीर कदम उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इस प्रकार की अनुशासनात्मक कार्यवाहियों में विभागाध्यक्ष को अपनी अन्तर्दृष्टि प्रदर्शित करने का अवसर प्राप्त होता है। अनुशासनात्मक कार्यवाही का यह एक अनौपचारिक रूप है जिसमें अध्यक्ष द्वारा अलिखित कार्यवाही की जाती है। उसके माध्यम से वह व्यक्तिगत सम्पर्क के आधार पर रचनात्मक एवं सकारात्मक प्रभाव डाल सकता है।

2. कर्मचारी को उसकी नापसन्दगी का कार्य सौंपना—दण्ड देने का दूसरा तरीका यह है कि सम्बन्धित कर्मचारी को ऐसे कार्य पर लगा दिया जाए जो उसे पसन्द नहीं है। उदाहरण के लिए यदि मुख्य कार्यालय के किसी अधिकारी को क्षेत्रीय अभिकरण में भेजा जाए तो वह इस परिवर्तन को बहुत कम पसन्द करेगा। अनुशासनात्मक कार्यवाही के इस रूप का निश्चित ही उपर्युक्त प्रभाव पड़ता है, किन्तु यदि इसका प्रयोग केवल एक ही कर्मचारी पर बार-बार किया गया तो यह अच्छाई की बजाय बुराई सिद्ध होगा। स्टाल का यह कहना सच है कि जब तक अनुशासनात्मक कार्य का रचनात्मक प्रभाव नहीं होता है तब तक नियुक्तिकर्ता की दृष्टि से वह *प्रभावहीन और कर्मचारी की दृष्टि से दुराचार है।*[2] जब भी कभी एक कर्मचारी के कार्यों में परिवर्तन किया जाए तो यह देख लेना चाहिए कि वह नवीन कार्यों को सम्पन्न कर सकता है अथवा नहीं? अगर ऐसा नहीं किया गया तो वह कर्मचारी अन्यत्र भी जाकर प्रशासन की कुशलता को खराब करेगा।

3. कर्मचारी के कार्य का गलत मूल्यांकन—कर्मचारी को अनुशासन की परिधि में लाने के लिए एक अन्य उपाय यह किया जा सकता है कि उसके कार्यों का गलत मूल्यांकन किया जाए, उन्हें इतना महत्त्वपूर्ण न माना

1. *Theo Haimann*, Op cit., p 460
2. *O.G Stahl*; Op cit., p 372.

जाए जितने कि वे वास्तव में हैं। इस प्रकार का मूल्यांकन उस समय अत्यन्त घातक सिद्ध होता है जब इसके कारण उच्च पद के लिए कर्मचारी की प्रगति रुक जाती है। अनेक बार जब कर्मचारी अपने कर्तव्यों का उल्लंघन करता है तो इसे कर्मचारी के सेवा-अभिलेख (Service Record) पर अंकित कर दिया जाता है और जब उसकी सम्भावित पदोन्नति पर विचार करना होता है तो सेवा अभिलेख की इन बातों को ध्यान में रखा जाता है। इससे भी कर्मचारी भयभीत रहता है।

4. वेतन-वृद्धि से वंचित करना—पहले सरकारी कर्मचारियों पर जुर्माना करने की प्रथा अधिक प्रचलित थी, किन्तु आज आरक्षी दल (Police Force) आदि कुछ सेवाओं को छोड़कर इस प्रथा का प्रचलन बहुत कम हो गया है। इसका प्रथम कारण यह है कि आर्थिक दण्ड केवल सरकारी कर्मचारियों को ही नहीं बल्कि उसके परिवार तथा उस पर निर्भर लोगों को भी बुरी तरह प्रभावित करता है। दूसरे, इस प्रकार के दण्डों को सरकारी सेवाओं के सम्मान के विपरीत समझा जाता है। अतः आर्थिक दण्ड न देकर आजकल यह प्रथा अधिक प्रचलित है कि सरकारी अधिकारी अथवा कर्मचारी को प्राप्त होने वाले लाभों जैसे वार्षिक वेतन वृद्धि से वंचित कर दिया जाए।

5. सेवा से निलम्बित करना—दण्ड का एक अन्य प्रचलित तरीका यह है कि अवैतनिक रूप से कर्मचारी को सेवा से निलम्बित कर दिया जाए। यह कार्यवाही कर्मचारी को तब तक सेवा से पृथक् रखती है जब तक उसके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही पूर्ण न हो जाए। यदि निर्णय कर्मचारी के पक्ष में हो तो उसे पुनः सेवा में भर्ती कर लिया जाएगा और यदि उसके विपक्ष में है तो उसे सेवा से हमेशा के लिए मुक्त कर दिया जाएगा। कई देशों में इस अनुशासनात्मक कार्यवाही के विरुद्ध कर्मचारी को अपील करने का अधिकार दिया जाता है। कर्मचारी इस अनुशासनात्मक कार्यवाही के कारण पर आपत्ति उठा सकता है, वह सेवा से बाहर करने के समय को चुनौती दे सकता है।

6. पदावनति—पदावनति एक अन्य तरीका है जिसके द्वारा सगठन के विभिन्न कर्मचारियों को अनुशासन की परिधियों में रखने का प्रयास किया जाता है। इस कार्यवाही को अस्थायी सेवा-निवृत्ति से अधिक गम्भीर समझा जाता है। एक कर्मचारी को उसके पद से हटाकर जब कम वेतन वाले पद पर भेज दिया जाता है, तो यह उसके लिए आर्थिक दृष्टि से हानिकारक होता है, सामाजिक दृष्टि से सम्मान-विहीन होता है और मानसिक दृष्टि से अशान्तिपूर्ण होता है। एक कर्मचारी पर, जिसे पदावनत किया गया है, एक प्रकार से निरन्तर दण्ड की व्यवस्था कर दी जाती है, क्योंकि उसकी आय प्रतिमास इतनी कम रहेगी कि वह अपने आवश्यक खर्चों का संतोषजनक रूप से निर्वाह नहीं कर सकेगा। यह भी हो सकता है कि उसको सौंपे गए नए कर्तव्य उसकी इच्छा के अनुकूल न हों। इस कार्यवाही का प्रभाव कर्मचारी के व्यवहार एवं विचारों पर भी गम्भीर रूप से पड़ता है। इसलिए इसका प्रयोग करते समय पर्याप्त सावधानी बरतनी चाहिए। यदि अपराध गम्भीर है तो उसे पदावनत करने की अपेक्षा पद से हटा देना ही अच्छा होगा।

7. पद-विमुक्ति—पद-विमुक्ति सबसे अधिक गम्भीर दण्ड है जिसमें कर्मचारी अपनी आय और स्तर से हाथ धोने के साथ ही पेंशन तथा अन्य विशेषाधिकारों से भी वंचित कर दिया जाता है। यदि कर्मचारी का अपराध गम्भीर एवं घातक है तो उसे भविष्य में भी सरकारी सेवाओं में प्रवेश से वंचित रखा जा सकता है। यह प्रावधान रखा जा सकता है कि एक निश्चित समय के लिए अथवा हमेशा के लिए उस कर्मचारी को सरकारी सेवा में प्रवेश न दिया जाए।

अनुशासन की प्रक्रिया
(Procedure of Discipline)

अनुशासनात्मक कार्यवाही का लक्ष्य संगठन में कार्यकुशलता, व्यवस्था, सहयोग आदि बनाए रखना है ताकि वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में सफलता एवं प्रभावशीलता के साथ अग्रसर हो सके। इन कार्यवाहियों का भय शैतान प्रकृति के कर्मचारियों को सगठन के नियमों एवं परम्पराओं की सीमाओं में कार्य करने के लिए प्रेरित करता है, किन्तु दूसरी ओर यह तथ्य भी ध्यान में रखने योग्य है कि इन कार्यवाहियों के रूप में संगठन के उच्च अधिकारी के हाथ में ऐसी शक्तियाँ केन्द्रित हो जाती हैं जिनके आधार पर वह अपने अधीनस्थों को आतंकित कर सकता है। सगठन में अनुशासन रखने की अपनी शक्ति का जब उच्च अधिकारियों द्वारा दुरुपयोग किया जाता है, तो इसका परिणाम सगठन के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध होता है। इस प्रकार के परिणामों को रोकने की दृष्टि से अनुशासनात्मक कार्यवाही के नाम पर अधीनस्थ कर्मचारियों के प्रति अन्याय न होने देने के लिए प्रत्येक देश में यह जरूरी समझा जाता है कि तत्सम्बन्धी कुछ विशेष नियम बनाए जायें तथा एक ऐसी प्रक्रिया निर्धारित की जाए जिससे उच्च अधिकारी अपनी सीमित शक्ति का उपयोग कर सकें। उच्च अधिकारियों के व्यवहार पर इस प्रकार की सीमाएँ लगाना पूर्णतः न्यायोचित है, क्योंकि आखिर वे भी उसी प्रकार सरकारी सेवक हैं जिस प्रकार कि एक अधीनस्थ अधिकारी। इस प्रकार वे दोनों ही एक समान स्वामी के अधीनस्थ हैं। अतः यह अपेक्षित है कि उच्च

अधिकारी अपने अधीनस्थों को जी चाहे तब और मन चाहे जैसा दण्ड न दें, जैसा कि व्यक्तिगत जीवन में एक स्वामी अपने सेवक के साथ करता है।

जब भी संगठन का उच्च अधिकारी कोई अनुशासनात्मक कार्य करता है अथवा अधीनस्थ कर्मचारियों को दण्ड देने का प्रयास करता है तो उसे एक निश्चित प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ता है। इस प्रक्रिया के क्रमिक सोपान इस प्रकार हैं—सर्वप्रथम, उच्च अधिकारी सम्बन्धित कर्मचारी के विरुद्ध अभियोगों के बारे में उससे स्पष्टीकरण माँगेगा। यदि वह स्पष्टीकरण सतोषजनक है और अभियोग केवल भ्रम पर आधारित सिद्ध होता है तो उसे वहीं छोड़ दिया जाएगा तथा कार्यवाही को आगे नहीं बढ़ाया जाएगा। दूसरे, प्रक्रिया को आगे बढ़ाने की आवश्यकता उस समय होती है जब अपराधी का स्पष्टीकरण असन्तोषजनक हो अथवा स्पष्टीकरण दिया ही न जाए। दोनों ही स्थितियों में उच्च अधिकारी आरोपों का प्रारूप तैयार कर सकता है। तीसरे, यदि सगठन का उच्च अधिकारी यह अनुभव करे कि कर्मचारी के उसके पद पर बने रहने से सही तथा वाछनीय परिणाम प्राप्त नहीं हो सकेंगे तो वह उसे पद पर कार्य करने से रोक सकता है। चौथे, कर्मचारी के विरुद्ध लगाए गए दोषों को सुना जाता है, उनसे सबधित तर्कों को ग्रहण किया जाता है, किन्तु साथ ही अभियुक्त को अपनी सुरक्षा में तर्क देने के लिए भी प्रोत्साहित किया जाता है। पाँचवें, उच्च अधिकारी दोनों पक्षों को समझ लेने के बाद अपनी राय कायम करता है और उससे सम्बन्धित प्रतिवेदन अपने उच्च अधिकारियों को प्रेषित करता है। छठे, अभियोग के विरुद्ध उचित दण्ड की व्यवस्था की जाती है और सातवें, दण्ड के विरुद्ध यदि आवश्यक हो तो अपीलों की सुनवाई की जाती है।

भारत में नागरिक सेवा-नियम (वर्गीकरण, नियत्रण और अपील) के द्वारा इस प्रक्रिया का स्पष्ट· उल्लेख किया गया है।[1] इसके अनुसार लोक सेवा के किसी भी सदस्य के विरुद्ध उस समय तक सेवा से रोकने, सेवा से हटाने तथा पदावनत करने की आज्ञाएँ प्रसारित नहीं की जा सकतीं जब तक कि उसे लिखित रूप में की जाने की कार्यवाही के कारणों से सूचित न कर दिया जाए। यह सूचना लिखित रूप में देनी होती है। साथ ही कर्मचारी को उसकी सुरक्षा हेतु अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाता है। अभियोग की सुनवाई के समय पक्ष तथा विपक्ष में प्रस्तुत किए जाने वाले तर्कों का अभिलेख रखा जाता है।

अनुशासनात्मक कार्यवाही के लिए उठाए जाने वाले विभिन्न कदमों का रूप बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि अभियोग किस प्रकार का है और तत्सम्बन्धी अनुशासनात्मक कार्यवाही का रूप क्या होगा। डॉ. एल डी व्हाइट ने आरोपों को उनकी गम्भीरता के आधार पर मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया है। दोनों के लिए प्राय अलग-अलग प्रक्रिया की आवश्यकता पड़ती है। प्रथम प्रकार में उन आरोपों को सम्मिलित किया जाता है जो कम गम्भीर एव कम खतरनाक होते हैं। इनमें चेतावनी, फटकार, वेतन-वृद्धि में देरी अथवा वरिष्ठता अधिकारों से वचित करना आदि को समाविष्ट किया जा सकता है। ये मुख्य रूप में ऐसी अनुशासनात्मक कार्यवाहियाँ हैं जो सगठन के अध्यक्षों द्वारा स्वेच्छा से सचालित की जाती हैं। इनके परिणामों के लिए वह स्वय ही उत्तरदायी होता है। इस प्रकार की अनुशासनात्मक कार्यवाहियों के विरुद्ध प्रभावित कर्मचारी की कोई अपील नहीं सुनी जाती। अभियोगों के दूसरे समूह में अपेक्षाकृत गम्भीर प्रकृति के आरोपों को समाहित किया जाता है। इनके लिए इस प्रकार की कार्यवाही की जा सकती है जैसे सेवा से रोकना, पदावनत करना या हटाना आदि। इन विभिन्न प्रकार के अभियोगों के विरुद्ध भी प्राय सगठन के अध्यक्ष द्वारा ही कदम उठाए जाते हैं, किन्तु ऐसा करने से पूर्व वह अपने से उच्च अधिकारियों से भी अनुमति ले लेता है। इस प्रकार की अनुशासनात्मक कार्यवाहियों के विरुद्ध सम्बन्धित कर्मचारी को अपील करने का अधिकार दिया जाता है। कर्मचारी किसी स्वतन्त्र प्रशासकीय अभिकरण को यह अपील भेज सकता है और कहीं-कहीं तो उसे न्यायालय में अपील करने का अधिकार भी प्रदान किया जाता है।

किसी भी सगठन में अनुशासनात्मक कार्यवाहियों को सचालित करने तथा इनसे सम्बन्धित आवश्यक कार्यवाही करने के लिए अन्तिम शक्ति किसे सौंपी जाए, यह विवादास्पद प्रश्न है। व्यवहार में इस प्रकार की शक्तियाँ उच्च अधिकारी के हाथों में निहित रखना वाछनीय नहीं है, क्योंकि जिन कर्मचारियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाती है वे अध्यक्ष के विरोधी एव असहयोगी बन जाते हैं। सगठन में मानवीय सम्बन्ध (Human Relations) बिगड़ जाते हैं, कार्यों में अनावश्यक विलम्ब होता है, नेता के निर्णयों की अवहेलना की जाती है और इस प्रकार 'सगठन' सही अर्थों में सगठन नहीं रह पाता। इस तथ्य को ध्यान में रखकर यह सुझाव दिया जाता है कि प्रत्येक विभाग में सेवीवर्ग अधिकारियों की नियुक्ति कर दी जाए तो अनुशासनात्मक मामलों में पर्याप्त कार्यवाही कर सकें। इस अधिकारी का यह उत्तरदायित्व होगा कि ज्यों ही किसी कर्मचारी से गड़बड़ उत्पन्न होने की सभावना देखे त्यों ही उसकी गतिविधियों का पर्याप्त अभिलेख तैयार कर ले। ऐसा करने पर

1 The Civil Services Classification Control and Appeal Rules, No 55

यदि कभी उस कर्मचारी के विरुद्ध अनुशासनात्मक कदम उठाने की आवश्यकता पड़े तो उसका कार्य सुविधाजनक बन जाएगा। यह प्रक्रिया किसी भी कर्मचारी को अनुशासन की दृष्टि से अधिक घातक बनाने से भी रोकेगी। पिछला अभिलेख कर्मचारी के चरित्र और व्यवहार से सम्बन्धित तथ्यपूर्ण एवं वैज्ञानिक निर्णय लेने के लिए उपयुक्त अवसर प्रदान करेगा। उसके पक्ष अथवा विपक्ष के पर्याप्त आवश्यक प्रमाण भी मिल जाएँगे। इसके अलावा यह अधिकारी बिना किसी व्यक्तिगत पूर्वाग्रह, और दुराग्रह के अपने कार्यों का सम्पादन करेगा और साथ ही कर्मचारी और तात्कालिक उच्च अधिकारी के सबंधों के खराब होने की संभावना भी नहीं रहेगी।

एक अच्छे अनुशासन की विशेषताएँ
(Characteristics of a Good Discipline)

संगठन में अनुशासन की स्थिति जितनी अच्छी होती है उसमें कार्यकुशलता का स्तर भी उतना ही ऊँचा हो जाता है और संगठन अपने वांछित लक्ष्यों की दिशा में सफलतापूर्वक अग्रसर हो पाता है। एक अच्छी अनुशासन-व्यवस्था में निम्नलिखित गुण अपेक्षित हैं—

1. **अनुशासन-व्यवस्था निषेधात्मक न हो**—एक श्रेष्ठ अनुशासन-व्यवस्था का रूप निषेधात्मक बहुत कम होना चाहिए अर्थात् निम्न अधिकारियों के विरुद्ध ऐसे कदम कम उठाए जाएँ जो उनके मानसिक एवं बौद्धिक सन्तुलन को सामान्य स्थिति से विचलित कर दें। सफल एवं प्रभावी अनुशासन-व्यवस्था में दण्ड का बहुत कम उपयोग किया जाता है और कुछ सकारात्मक उपाय काम में लाए जाते हैं ताकि संगठन के कर्मचारी स्वैच्छिक रूप से सहयोग प्रदान कर सकें। इस प्रकार एक श्रेष्ठ अनुशासन का रूप आत्मानुशासन है जो कर्मचारी द्वारा स्वेच्छा से निर्धारित किया जाता है।

2. **उच्चाधिकारी की नेतृत्व क्षमता**—अनुशासन-व्यवस्था के संचालन का दायित्व बहुत कुछ उच्च अधिकारी पर निर्भर रहता है। जिस संगठन में अनुशासन नहीं रहता वहाँ यह कहा जाएगा कि नेतृत्व सन्तोषजनक नहीं है तथा नेता में वे गुण नहीं हैं जिनके आधार पर वह अपने निर्णयों को क्रियान्वित करा सके, अपने अधीनस्थों में विश्वास पैदा कर सके, उनकी भावनाओं को प्रभावित कर आवश्यक कार्य सम्पन्न करा सके। नेता को संगठन में अनुशासन कायम रखने के लिए निर्णय लेते समय विवेक और सतुलन से काम लेना चाहिए।

3. **अनुशासनात्मक कार्यवाही एक आवश्यक बुराई के रूप में**—अनुशासनात्मक कार्यवाहियों को एक प्रकार से आवश्यक बुराई माना जा सकता है। बुराई इस अर्थ में कि इससे संगठन में भय और आतंक की स्थापना होती है, कर्मचारियों के सद्भावनापूर्ण पारस्परिक सम्बन्ध टूट जाते हैं और वे स्वेच्छा से अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह नहीं करते हैं। प्रोफेसर हेमेन के कथनानुसार, "यह निश्चय ही एक दुखदायी कार्य है किन्तु फिर भी प्रबन्ध के पद पर स्थित व्यक्ति इससे बच नहीं सकता क्योंकि पर्यवेक्षक के रूप में अपने अधीनस्थों को उनकी दशाओं एवं परिस्थितियों को जानने में सबसे अधिक योग्य होता है।"[1] प्रत्येक संगठन में ऐसे अवांछनीय तत्त्व प्रवेश कर जाते हैं जिनके कारण संगठन के कार्यों में अव्यवस्था उत्पन्न होने की सम्भावनाएँ सदैव बनी रहती है। इन अवांछनीय तत्त्वों को दबाने के लिए दण्ड की व्यवस्था करना उपयोगी ही नहीं, आवश्यक और अपरिहार्य भी है।

4. **सुधारात्मक स्वरूप**—संगठन में अनुशासनात्मक कार्यवाही का लक्ष्य यह होता है कि अधीनस्थों एवं अन्य सदस्यों के भावी व्यवहार को सुधारा जाए। संगठन के सदस्यों के भावी व्यवहार को उचित रूप से प्रभावित करने के लिए सर्वोच्च अधिकारी को कुछ आधारभूत नियमों का पालन करना चाहिए। इन नियमों में से कुछ का वर्णन प्रोफेसर हेमेन ने किया है—सर्वप्रथम, यह जरूरी है कि अधीनस्थ अधिकारी को पहले से ही यह ज्ञात हो कि उनसे क्या करने की आशा की जा रही है और क्या नहीं करने के लिए कहा जा रहा है। नैतिक व्यवहार के सामान्य नियमों के सम्बन्ध में सूचना देना अनावश्यक है क्योंकि हर सामान्य बुद्धि का व्यक्ति का यह जानता है कि चोरी करना, घूँस लेना आदि समाज विरोधी हैं। दूसरे, अनुशासनात्मक कार्यवाही तुरन्त की जानी चाहिए। त्वरित कार्यवाही का अर्थ यह भी नहीं है कि अप्रजातान्त्रिक एवं तानाशाही रूप में निर्णय लिए जाएँ तथा स्वेच्छाचारिता बरतते हुए अधीनस्थों का दमन किया जाए। इसके विपरीत इतना समय अवश्य निकालना चाहिए कि वातावरण सामान्य बन सके और पक्ष तथा विपक्ष में जो तर्क सामने आएँ वे भावनापूर्ण न होकर तथ्यसंगत हों। इससे अनुशासनहीनता पर अंकुश लगेगा। तीसरे, संगठन में अनुशासन बनाए रखने के लिए जो नीति अपनाई जाए अथवा जो कदम उठाए जाएँ वे सभी कर्मचारियों पर समान रूप से तथा न्यायपूर्ण तरीके से लागू किए जाने

1. *Theo Haimann*: Op. cit., p. 460.

चाहिए। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि उस अधिकारी अथवा कर्मचारी का पदसोपान में स्तर क्या है तथा उसके पास कितनी शक्तियाँ हैं। विभिन्न परिस्थितियों में जो अनुशासनात्मक कदम उठाए जाएँ वे भी न्याय एवं समरूपता से युक्त हों पर *अधीनस्थों एवं अन्य अधिकारियों को भविष्य में व्यवस्थित रूप देने हेतु यदि समरूपता* (Consistency) को बलिदान कर दिया जाए तो अधिक बुरा नहीं होगा। चौथे, अनुशासनात्मक कार्यवाही को न्यायपूर्ण बनाने के लिए यह उपयोगी है कि प्रभावित अधिकारियों एव कर्मचारियों को उन पर लगाए गए अभियोगों के विरुद्ध तथा सुरक्षात्मक तर्क देने का पर्याप्त अवसर दिया जाए। इसके अतिरिक्त उन्हें अनुशासन सम्बन्धी निर्णयों के विरुद्ध अपील करने का अधिकार एव सुविधा भी प्रदान की जानी चाहिए।

5. भविष्य में व्यवस्था को सुधारने का लक्ष्य—अनुशासनात्मक कार्यवाहियों का प्रमुख लक्ष्य यह होता है कि भविष्य में नियम एवं व्यवस्था के उल्लंघन को रोका जा सके और सभी कर्मचारियों को कानून के अनुरूप व्यवहार करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके। अत: यह उपयुक्त है कि जब भी कोई अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाए अर्थात् किसी कर्मचारी को दण्ड दिया जाए तो यह सब कुछ निरपेक्ष रूप से करना चाहिए। इस प्रकार प्रभावित पदाधिकारी को यह बता देना चाहिए कि उसके विरुद्ध कार्यवाही क्यों की जा रही है और इनसे बचने के लिए भविष्य में उसे किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए।

6. अनुशासनात्मक कार्यवाही को गुप्त रखना—कुछ विचारकों का यह भी मत है कि अनुशासनात्मक कार्यवाही गुप्त रहनी चाहिए। किसने, किसके बारे में, क्या निर्णय लिया ये तथ्य सम्बद्ध लोगों के अतिरिक्त अन्य किसी को ज्ञात नहीं होने चाहिए। इस प्रकार की गोपनीयता से सगठन में प्रभावित अधिकारी का सम्मान नहीं गिरेगा और अधीनस्थ कर्मचारी आज्ञाओं के प्रति उपेक्षा की भावना नहीं रखेंगे। अनुमान चाहे सही हों अथवा गलत, जब तक वे किसी अधिकृत सूचना पर आधारित नहीं होते जब तक प्रभावित अधिकारी का सम्मान और गौरव सुरक्षित रहता है क्योंकि वह जानता है कि अनुशासनात्मक कार्यवाही की किसी को जानकारी नहीं है। इस गोपनीयता का पालन करने से उच्चाधिकारियों के विरुद्ध किये जाने वाले अनावश्यक षड्यन्त्रों को रोकने में मदद मिलेगी।

भारतीय प्रशासन मे अनुशासनात्मक कार्यवाही

(Characteristics of a Good Discipline)

भारतीय प्रशासन में अनुशासनात्मक कार्यवाहियों के सम्बन्ध में एक सावैधानिक स्थिति है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सरकार जो भी अनुशासनात्मक कार्यवाही करती है, वह उसे सविधान की व्यवस्था के अन्तर्गत करनी होती है, अन्यथा न्यायालय सरकारी कार्यवाही को अवैध घोषित कर देगा। सरकार ठीक तथा उपयुक्त कारण उपस्थित होने पर ही किसी कर्मचारी को दण्ड दे सकती है। सावैधानिक व्यवस्था में दण्ड-सूची विस्तृत है जिसके अतिरिक्त कोई दण्ड किसी अधिकारी को नहीं दिया जा सकता और न ही अकारण केवल शका मात्र पर उसे दण्डित किया जा सकता है। सक्षेप में दण्ड-सूची की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(1) निन्दा (Censure)।

(2) वार्षिक वेतन-वृद्धि अथवा पदोन्नति को रोकना।

(3) पदावनत करना, अपने वेतनमान में ही नीचे कर देना अथवा अपने से नीचे के वेतनमान में भेज देना।

(4) कर्मचारी की असावधानी अथवा अवज्ञा से सरकार को जो आर्थिक क्षति हुई हो उसका पूरा या कुछ अंश कर्मचारी के वेतन से काट लेना।

(5) अनिवार्य सेवानिवृत्ति (Compulsory Retirement)।

(6) सरकारी सेवा से विमुक्ति (ऐसी दशा में भविष्य में कर्मचारी पुन सेवा में लिया जा सकता है)।

(7) सेवा से पदच्युत करना *(ऐसी दशा में कर्मचारी पुन सेवा में कभी नहीं लिया जा सकता)।*

उपर्युक्त दण्ड-व्यवस्था में पदच्युत करना, सेवा से हटाना, पदावनत करना आदि गम्भीर दण्ड माने जाते हैं। अनिवार्य सेवा-निवृत्ति को दण्ड नहीं माना जाता। यह अपेक्षित है कि अकारण हल्के दण्ड भी न दिए जाएँ।

कर्मचारी संघ एवं कर्मचारी-नियोक्ता सम्बन्ध

(Employee Associations and Employer-Employee Relations)

विश्व के प्राय सभी लोकतान्त्रिक देशों में कर्मचारियों द्वारा अपने हितों का संरक्षण करने के लिए 'कर्मचारी संघों' का निर्माण किया जाता है। वर्तमान में कर्मचारी संघ महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कार्ल मार्क्स के अनुसार, कर्मचारी एव नियुक्तिकर्त्ता के हित परस्पर भिन्न एवं एक-दूसरे के विरोधी होते हैं। संगठन चाहे व्यक्तिगत हो अथवा सार्वजनिक, दोनों में ही नियुक्तिकर्त्ता मुख्यतः यह चाहता है कि वह कर्मचारियों के वेतन, मनोरंजन, कल्याण, निवास-स्थान, बालकों की शिक्षा आदि बातों पर कम से कम व्यय करके अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करे। नियुक्तिकर्त्ता अपने इन लक्ष्यों को प्राप्त करने में प्रभावशील और अधिक सफल होता है क्योंकि उसके हाथ में आर्थिक शक्तियाँ होती हैं तथा वह लोक प्रशासन में तो राजनीतिक शक्ति का भी प्रयोग कर सकता है। दूसरी ओर कर्मचारी अपेक्षाकृत कमजोर स्थिति में होता है। यद्यपि उसके हित और लक्ष्य नियुक्तिकर्त्ता से भिन्न एवं विपरीत होते हैं, तथापि वह इन्हें प्राप्त करने के लिए उतनी शक्ति एवं बाध्यता का प्रयोग करने में असमर्थ रहता है। कर्मचारी वर्ग का मुख्य आकर्षण वेतन की मात्रा और सेवा से मिलने वाला सामाजिक सम्मान, आत्म-गौरव एव अन्य कल्याणकारी उपादान हैं। वह इन सबको अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त करना चाहता है। नियुक्तिकर्त्ता और कर्मचारी वर्ग के इन विरोधी हितों की पृष्ठभूमि के बीच सन्तुलन स्थापित करने के लिए कर्मचारियों को सघ और सस्थाओं का निर्माण करना होता है।

सगठन में शक्ति है। यदि सभी कर्मचारी मिलकर संघ अथवा संस्था के रूप में संगठित हो जाएँ तो नियुक्तिकर्ता उनकी माँगों को ठुकराने तथा उनके हितों की अवहेलना करने का साहस नहीं कर सकता। वाल्टर शार्प (Walter Sharp) के अनुसार, "हर जगह सरकारी कर्मचारियों का यह अनुभव रहा है कि उनके भौतिक स्तर की उन्नति के लिए प्रारम्भिक शक्ति के रूप में संगठित दबाव होना चाहिए।"[1] संगठन के मूल में प्रायः अधिक वेतन-प्राप्ति की इच्छा निहित रहती है। पिगोर्स तथा मेयर्स (Pigors and Mayers) के अनुसार, "एक कर्मचारी सघ का सदस्य इसलिए बनना चाहता है क्योंकि वह समझता है कि उसकी महत्त्वाकाँक्षाओं को अकेला चलने की अपेक्षा सघ का सदस्य बनने से अधिक सन्तोष मिलेगा।[2] सगठन के प्रबन्धकों को सघ की रचना को अपनी असफलता एवं प्रतिष्ठा का प्रतीक नहीं समझना चाहिए बल्कि उसे रचनात्मक सम्बन्धों के विकास के लिए पहल करनी चाहिए। वर्तमान समय में कर्मचारियों के बढते हुए सघों एव सस्थाओं की पृष्ठभूमि में यह अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि सेवीवर्ग अधिकारी इनको सहन करें, सकारात्मक रूप से प्रोत्साहन प्रदान करें तथा सरकार एव सेवाओं के बीच अच्छे सम्बन्ध कायम रखने के लिए उनका सदुपयोग करें। कर्मचारियों के संघ एवं संस्थाएँ यद्यपि सेवीवर्ग-प्रबन्ध का एक आवश्यक अंग नहीं हैं, किन्तु इनका कर्मचारियों के दृष्टिकोण एवं मनोबल पर गहरा प्रभाव पड़ता है, जिसका उल्लंघन कर कोई भी योग्य सेवीवर्ग अधिकारी सगठन को क्षति पहुँचाने की गलती नहीं करना चाहेगा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कर्मचारी सघों का अस्तित्व और प्रभावशाली भूमिका वर्तमान प्रशासन तंत्र की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति बन गई है।

कर्मचारी संघों का लक्ष्य

(The Purpose of Employee Associations)

प्रशासन को निष्पक्ष रखने के लिए सरकारी सेवकों को यह अधिकार नहीं दिया जाता कि वे कोई राजनीतिक दल बना सकें या किसी राजनीतिक दल की गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग ले सकें। यद्यपि

1. *Walter R Sharp* The French Civil Service Bureaucracy in Transition,p. 493
2. *Pigors and Mayers* : Op cit , pp. 42-43

प्रशासन की ईमानदारी, एकरूपता, न्यायप्रियता आदि की दृष्टि से यह सीमा अत्यन्त आवश्यक है, फिर भी एक नागरिक के रूप में उनकी स्वतन्त्रताओं के विरुद्ध है। प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में सरकारी कर्मचारियों की विचार अभिव्यक्ति एवं संस्था बनाने की स्वतन्त्रता को व्यावहारिक बनाने के लिए उन्हें यह अधिकार दिया जाता है कि व्यावसायिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि लक्ष्यों के लिए वे संघ तथा संस्थाएँ स्थापित कर सकते हैं। ये संस्थाएँ सामान्यतः व्यापारिक संघ व्यवस्थापन (Trade Union Legislation) के अन्तर्गत स्थापित होती हैं। ज्योंही किसी विभाग अथवा सेवा में संघ का निर्माण किया जाता है त्यों ही उसका लक्ष्य एवं विधान विभागाध्यक्ष के सम्मुख प्रस्तुत करना होता है। प्रत्येक ऐसे संघ को सरकारी मान्यता प्राप्त होना आवश्यक है। भारतवर्ष में प्रायः सभी सरकारी विभागों एवं निगमों के कर्मचारियों को संघ बनाने का अधिकार दिया जाता है, किन्तु पुलिस सेवा के कर्मचारियों को नियमानुसार संघ बनाने के लिए अनुमति नहीं है। सरकारी कर्मचारी संघों का निर्माण तथा उनकी सदस्यता ग्रहण करते समय एक उपयोगितावादी एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण अपना कर चलते हैं। सरकारी संगठनों के कर्मचारी जब संघों एवं संस्थाओं के सदस्य बनते हैं तो इनके द्वारा उनके कई लक्ष्य पूरे हो जाते हैं। एक संघ द्वारा उसके सदस्यों को जो सेवाएँ प्रदान की जाती हैं वे मुख्यतः इस प्रकार हैं—

1. **व्यवस्थापिका के सम्मुख अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करना**—संघों एवं संस्थाओं के माध्यम से सरकारी कर्मचारी व्यवस्थापिका शाखा एवं प्रबन्ध के सम्मुख अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकते हैं। अनेक ऐसे विषय होते हैं जो केवल पर्यवेक्षकों एवं विभागाध्यक्षों की शक्ति के बाहर होते हैं। उनको सुलझाने के लिए उन्हें कर्मचारियों और उनके प्रतिनिधियों के साथ सहयोग करके चलना होगा।

2. **कर्मचारियों के व्यक्तिगत हितों की पूर्ति**—संघ अथवा संस्था एक प्रकार से कर्मचारी का ही व्यापक व्यक्तित्व है। संघ जो कुछ करता है अथवा करने का प्रयत्न करता है वह सब कर्मचारी से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। वास्तव में कर्मचारी और संस्था के बीच एकरूपता (Identification) स्थापित हो जाती है और संस्था के माध्यम से कर्मचारी अपने व्यक्तिगत हितों की पूर्ति कर लेता है।

3. **कर्मचारियों के मत की अभिव्यक्ति**—जब कभी सेवीवर्ग प्रबन्ध को एक विषय विशेष पर कर्मचारियों का मत जानने की आवश्यकता होती है तो वह उनके संघ या संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित करके ऐसा करता है। संघ अथवा संस्थाओं के अभाव में पर्यवेक्षकों एवं उच्च अधिकारियों द्वारा स्पष्ट किया गया मत वस्तुतः मजदूरों का मत नहीं होता है।

4. **सामाजिक महत्त्वाकांक्षा के पनपने का अवसर**—स्वेच्छा पर आधारित कर्मचारी-संस्थाओं द्वारा सदस्यों की स्वाभाविक एवं सामाजिक महत्त्वाकांक्षाओं के पनपने के अवसर प्रदान किए जाते हैं। ये अवसर कर्मचारी को अपना एक जैसा कार्य करते रहने पर प्राप्त नहीं हो पाते। कोई भी कर्मचारी अपने पद के दायित्वों को पूरा करने मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, उसके व्यक्तित्व के कुछ अन्य पहलू भी होते हैं जिन्हें सन्तुष्ट करना उसका कर्त्तव्य है।

5. **कर्मचारियों में नेतृत्व के गुणों का विकास**—संघों एवं संस्थाओं का सदस्य बनने के बाद कर्मचारियों में स्वाभिमान विकसित होता है फलतः उनमें अपने कार्य के प्रति सन्तोष की भावना जाग्रत होती है। साथ ही कर्मचारी संघों द्वारा अपने सदस्यों में नेतृत्व के गुणों का विकास किया जाता है।

कर्मचारी-संघों के उद्देश्य एवं क्रियाएँ

(The Objects and Activities of Employee Associations)

कर्मचारी-संगठन मुख्य रूप से कर्मचारियों के वेतन एवं सेवा की शर्तों में सुधार के लिए बनाए जाते हैं, किन्तु इसे इन संगठनों का एकमात्र लक्ष्य नहीं कहा जा सकता है। प्रायः उच्च श्रेणी की कर्मचारी-संस्थाएँ विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संचालित की जाती हैं, जैसे—आपसी सहयोग, अनुभवों एवं विचारों का आदान-प्रदान, पारस्परिक सम्पर्क, अध्ययन द्वारा ज्ञान की वृद्धि एवं मनोरंजन के विभिन्न माध्यमों से कर्मचारियों के जीवन को उल्लासपूर्ण बनाना आदि। इस प्रकार की संस्थाएँ अनेकरूपी और बहुआयामी उद्देश्य लिये हुए होती हैं तथापि वे सभी प्रायः चार उद्देश्यों को प्राप्त करने की दिशा में अवश्य अग्रसर होती हैं। प्रथम, इन संस्थाओं द्वारा सदस्य-कर्मचारियों के मन में एकता और मैत्री के भाव जाग्रत तथा विकसित किए जाते हैं। द्वितीय, ये संस्थाएँ प्रशासनिक नियुक्तियों, प्रशिक्षण, पदोन्नति आदि बातों में योग्यता-सिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण मानती हैं और उसके विस्तार एवं सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील रहती हैं। तृतीय, उनका महत्त्वपूर्ण उद्देश्य कर्मचारियों के कार्य की दशाओं, उनके स्तर तथा भौतिक कल्याण आदि में सुधार लाना होता है। चतुर्थ, ये संस्थाएँ लोक प्रशासन के गुण एवं स्तर को सुधारने का भी प्रयास करती हैं। प्रायः प्रत्येक कर्मचारी-संस्था के विधान में किसी न किसी रूप में इन उद्देश्यों की प्राप्ति का उल्लेख किया जाता है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका में संघीय कर्मचारियों की संस्था

राष्ट्रीय संघ (National Federation) के विधान के अनुसार उसका लक्ष्य संयुक्त राज्य के कर्मचारियों के सामाजिक एवं आर्थिक कल्याण तथा शिक्षा को उन्नत करना है। साथ ही उस व्यवस्था को पूर्ण बनाने में सहायता करना है जो संयुक्त राज्य की विभिन्न सेवाओं में अधिकाधिक कार्यकुशलता ला सके।[1] स्टाल के मतानुसार इन संस्थाओं द्वारा जो कार्य सम्पन्न किए जाते हैं उनको मुख्य रूप से निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है—

1. सामाजिक एवं मनोरंजनात्मक कार्य—इस प्रकार की अधिकांश संस्थाओं का लक्ष्य यह समझा जाता है कि वे अपने सदस्यों का सामाजिक एवं मनोरंजनात्मक दृष्टि से हित-साधन करें। कई बार संगठनों में एक विशेष पद के कारण कर्मचारी का सामाजिक स्तर गिर जाता है और उसे वह सम्मान नहीं दिया जाता जो उसी के पद पर स्थित अन्य उच्च पदाधिकारियों को प्रदान किया जाता है। इसके अतिरिक्त अपने पदों पर एक जैसा कार्य करते हुए इन पदाधिकारियों का जीवन यान्त्रिक और नीरस बन जाता है। उनमें नवीनता, उत्साह एवं रुचि उत्पन्न करने के लिए कर्मचारियों की संस्थाएँ महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं। इनके द्वारा संचालित विभिन्न मनोरंजनात्मक क्रियाओं द्वारा कर्मचारियों में ताजगी आती है, उससे वे अपने कार्य में अधिक कुशलता, योग्यता एवं सक्रियता प्राप्त करते हैं।

2. सेवा एवं कल्याणकारी कार्य—कर्मचारियों की इन संस्थाओं द्वारा अपने सदस्यों की संकट के समय सहायता का कार्य किया जाता है, जैसे—यदि कर्मचारियों के सम्मुख कोई संगठनात्मक समस्या उत्पन्न हो जाए, उसके पद के दायित्व सम्बन्धी बाधा सामने आ जाए, उसकी पदोन्नति, वेतन-वृद्धि तथा ऐसी ही अन्य सुविधाओं में अड़चन पैदा हो जाए तो ये संस्थाएँ उसकी सहायता करती हैं। अधिकांश सरकारी कर्मचारियों की संस्थाओं द्वारा सामयिक पत्र अथवा समाचार-पत्र प्रकाशित किए जाते हैं जिनमें कर्मचारियों के किसी समूह विशेष के हितों के सम्बन्ध में सरकारी विकास से सम्बन्धित खबरें, कार्य के तरीकों, सुधरी हुई प्रक्रिया आदि के सम्बन्ध में सूचनात्मक लेख, संगठन की स्थिति को प्रस्तुत करने एवं सदस्यों में एकीकृत कार्य का विकास करने के लिए सम्पादकीय, सदस्यों तथा सम्बन्धित संगठनों आदि की क्रियाओं से सम्बन्धित समाचार आदि प्रकाशित किये जाते हैं। इन प्रकाशनों के माध्यम से ये संस्थाएँ प्रभावशाली एकीकरण स्थापित करती हैं।

3. शिक्षाप्रद एवं प्रचारात्मक कार्य—इस प्रकार के प्रायः सभी बड़े संगठन प्रेस आदि के माध्यम से प्रचारात्मक कार्य सम्पन्न करते हैं। यह प्रयास किया जाता है कि विभिन्न समस्याओं पर कर्मचारियों के दृष्टिकोण को जनता के सम्मुख स्पष्ट किया जाए। जब कभी इन संस्थाओं को सरकार से कोई विशेष कार्य करवाना होता है अथवा रुकवाना होता है तो इनके प्रचारात्मक कार्य बहुत-कुछ वही कराये करते हैं जो सुसंगठित दबाव-समूहों (Pressure Groups) द्वारा किया जाता है।

4. प्रशासकीय अधिकारियों के सम्मुख कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व—जिस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन में ह्विटले परिषदें (Whitley Councils) कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व करती हैं, उसी प्रकार कर्मचारियों की अन्य विभिन्न संस्थाएँ एवं संघ भी प्रशासकीय अधिकारियों के सम्मुख कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व करने का कार्य करते हैं। पिछली कुछ दशाब्दियों से प्रशासकीय अधिकारियों और संगठित कर्मचारियों के प्रतिनिधियों के बीच सम्बन्ध स्पष्ट होता जा रहा है। कर्मचारी संघ अपने सदस्यों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हुए उनकी समस्याओं को प्रबन्धकों के सम्मुख रखते हैं।

5. व्यवस्थापिका के सम्मुख कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व—वैसे तो प्रशासकीय संगठनों की अधिकांश समस्याएँ कार्यपालिका शाखा द्वारा ही हल कर ली जाती हैं, किन्तु जब कभी विशेष परिस्थितियों में व्यवस्थापिका के कार्य की आवश्यकता होती है तो सरकारी प्रबन्ध द्वारा ही कर्मचारियों के मत का प्रतिनिधित्व किया जाता है तथा व्यवस्थापिकाओं के सम्मुख आवश्यक व्यवस्थापन के लिए सरकारी अधिकारियों द्वारा ही प्रार्थना की जाती है।

6. संघों की सदस्यता के प्रति कर्मचारियों का आकर्षण—कर्मचारी संघों के प्रति इनके सदस्यों के आकर्षण के अनेक कारण होते हैं। अच्छा वेतन, कार्य सम्बन्धी सुरक्षा, पदोन्नति के अवसर आदि कर्मचारियों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। एक संस्था अथवा संघ के माध्यम से वे अपने नियुक्तिकर्त्ता को इस दिशा में प्रभावित कर सकते हैं। कुछ लोग इसलिए इन संस्थाओं के सदस्य बनते हैं कि वे अपने साथी कर्मचारियों की दृष्टि में आदर प्राप्त कर सकें। कुछ लोग अपने ऊपर प्रभाव डालने वाली बातों के सम्बन्ध में कुछ कहने की इच्छा रखते हैं। उनको यह महसूस होता है कि इन संस्थाओं का सदस्य बनकर वे निर्णय लेने की प्रक्रिया को प्रभावित कर सकते हैं। कई बार सामाजिक दबाव भी एक कर्मचारी को संघ का सदस्य बनने के लिए प्रेरित करते हैं। एक ऐसा कर्मचारी जो कर्मचारियों की संस्था का सदस्य नहीं है, अपने आपको अकेला महसूस करता है।

---
1 The Constitution of the National Federation of Federal Employees, Article II Sec. 1, 1960

कर्मचारी संघों के प्रकार

(Types of Employee Associations)

कर्मचारी-संस्थाओं को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम प्रकार की संस्थाएँ वे हैं *जिनके सदस्य किसी कार्य के विशेषज्ञ होते हैं।* इन संस्थाओं को व्यावसायिक संस्थाएँ (Professional Associations) कहा जाता है। दूसरी प्रकार की संस्थाएँ व्यापार-संघ (Trade Unions) कही जाती हैं जो सामान्य व्यापार-संघ आन्दोलन का एक भाग हैं जिनका जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के समाजवाद तथा औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भ में हुआ था। ये दोनों प्रकार की संस्थाएँ उद्देश्य एवं लक्ष्यों की दृष्टि से कुछ भिन्नता रखती हैं और इनके द्वारा सेवीवर्ग प्रशासन में भिन्न प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न की जाती हैं।

इससे पूर्व कि हम व्यावसायिक संस्थाओं एवं व्यापार संघों की प्रकृति एवं लक्ष्यों का अध्ययन करें, संस्था (Association) एवं संघ (Union) शब्दों के बीच स्थित अर्थ के अन्तर को समझ लेना उपयोगी होगा। संस्था शब्द का प्रयोग प्राय उच्च स्तर के सरकारी कर्मचारियों के संगठन के लिए किया जाता है जबकि निम्न स्तर के कर्मचारी एवं शारीरिक श्रम करने वाले मजदूरों के संगठनों को संघ कहा जाता है। इन दोनों के बीच केवल नाम का ही नहीं बल्कि दृष्टिकोण एवं प्रक्रियाओं का भी अन्तर है। संस्थाओं के सदस्यों में प्राय कुलीनता एवं बुर्जुआ वर्ग जैसा दृष्टिकोण रहता है। वे प्राय अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उन तौर-तरीकों को काम में लाना पसन्द नहीं करते जो व्यापार-संघों द्वारा अपनाए जाते हैं। संस्थाओं का यह लक्ष्य बताया जाता है कि उनके सदस्य समय-समय पर मिलते रहें और अपने विचारों एवं अनुभवों का आदान-प्रदान करते रहें। ये अपने मुख्य कार्यालयों को चुनी हुई समस्याओं पर शोध करने का केन्द्र बना लेती हैं। *ये अच्छी प्रशासकीय प्रक्रियाओं की* रचना करती हैं और पूछताछ का जवाब देती हैं।

निर्णायक शक्तियों द्वारा संस्थाओं के मतों को पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया जाता है। कई बार ये संस्थाएँ सुधारात्मक व्यवस्थापन को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं। इस प्रकार की संस्थाओं द्वारा प्राय. राजनीतिक कार्यों में भाग नहीं लिया जाता है। ये राज्य के रोजगार पर एकाधिकार नहीं रखतीं तथा अपने सदस्यों के लिए किसी प्रकार के विशेषाधिकार की माँग नहीं करती हैं। ये व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाने में रुचि नहीं लेतीं तथा वेतन एवं भत्ते की वृद्धि से सम्बन्धित माँगों को विशेष महत्त्व नहीं देती हैं। न तो यह प्राय हड़ताल करने की धमकी देती हैं और न ही अपने सदस्यों द्वारा हड़ताल किए जाने का समर्थन करती हैं। ये कुछ ऐसी बाधाएँ एवं सीमाएँ हैं जिनको ये संस्थाएँ स्वयं ही अपने ऊपर आरोपित कर लेती हैं। इस प्रकार ये संस्थाएँ एक *अर्थ में विशेषज्ञ निकाय होती हैं जो आवश्यकता के समय सरकार एवं जनता को उचित परामर्श तथा सुझाव प्रदान* कर सकती हैं।

कर्मचारियों की ये संस्थाएँ अपने सदस्यों के वेतन एवं सेवा की शर्तों के सुधार के संबंध में कुछ सुझाव प्रस्तुत कर सकती हैं क्योंकि इनका संगठन की कार्यकुशलता एवं सार्थकता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस तरह अप्रत्यक्ष रूप से ये विभिन्न समस्याओं को अपने विचार का विषय बनाती हैं। दूसरी ओर संघ अपने सदस्यों के वेतन तथा सेवा की अन्य शर्तों में सुधार के लिए खुलकर प्रयास करते हैं। यदि उनकी माँगों को स्वीकार न किया जाए तो वे आन्दोलन की धमकी भी दे सकते हैं और आवश्यकता पड़ने पर आन्दोलनों को साकार भी कर सकते हैं। ये संघ हड़ताल, घेराव, धरना और प्रदर्शन जैसे साधनों का भी सहारा लेते हैं।

व्यावसायिक संघ (Professional Associations)

यह संघ सरकारी कर्मचारियों के वे संगठन हैं *जिनके उद्देश्य एक ही व्यवसाय से सम्बन्धित होते हैं और* अपने व्यवसाय की प्रगति के लिए सूचनाओं तथा अनुभवों के आदान-प्रदान की दृष्टि से परस्पर मिलते हैं। ऐसे संघ प्राय वैज्ञानिक एवं तकनीकी कर्मचारियों द्वारा स्थापित किए जाते हैं, जैसे—डॉक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, वकील आदि। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि सरकारी सेवा आज अपने आप में एक व्यवसाय बन गई है। लोक प्रशासन के कार्य-कलापों के विस्तार के साथ-साथ विशेषीकरण का रूप घनिष्ठ होता जा रहा है और प्रशासकीय अधिकारी भी स्वयं को व्यावसायिक संस्थाओं में संगठित करने लगे हैं। जिलाधीशों के सम्मेलन, सचिवों के सम्मेलन आदि इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

व्यावसायिक तकनीकी संघों के सदस्य समय-समय पर मिलते रहते हैं और अपने व्यवसाय से सम्बन्धित बातों पर विचार-विमर्श करते हैं। व्यक्तिगत शोधों और अनुभवों से सामूहिक लाभ उठाया जाता है और विभागीय ज्ञान-भण्डार में वृद्धि होती है। ये संघ प्राय राजनीति में भाग नहीं लेते और संविधानिक उपायों में विश्वास करते हैं। ये अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आक्रामक हथकण्डे नहीं अपनाते जो ट्रेड यूनियनों द्वारा अपनाए जाते हैं। ये संघ तो एक प्रकार से विशेषज्ञ निकाय होते हैं जो आवश्यकता के समय सरकार को उचित मन्त्रणा और सुझाव दे सकते हैं।

इन व्यावसायिक संगठनों के लक्ष्य प्रायः ये हैं—कर्मचारियों में सामूहिक चेतना और सहयोग जाग्रत करना, कर्मचारियों का मनोबल ऊँचा उठाना, कर्मचारियों के लिए आचार-संहिता बनाना, सेवा-दशाओं में सुधार के सुझाव देना, पारस्परिक अनुभवों और विचारों के आदान-प्रदान के लिए मंच प्रस्तुत करना, व्यवसाय से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार करना, व्यावसायिक अनुसन्धान करना, सेवा को निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ बनाकर उसकी प्रतिष्ठा में अभिवृद्धि करना आदि। डॉ. ह्वाइट की मान्यता है कि "व्यावसायिक संगठनों के विकास से सरकारी सेवाओं की कार्यक्षमता पर अनुकूल प्रभाव पड़ा है।"

ट्रेड यूनियन (Trade Unions)

श्रम संघ अथवा ट्रेड यूनियन अपेक्षाकृत आधुनिक विकास की देन हैं जिसको कुछ देशों में मान्यता प्राप्त है और कुछ में नहीं। सरकार द्वारा ट्रेड यूनियनों को शक्ति प्रदान की जाती है। वे प्रायः व्यक्तिगत संस्थाओं से सम्बन्धित ट्रेड यूनियनों की शक्तियों से बहुत कम होती हैं। ट्रेड यूनियन अपनी माँगें मनवाने के लिए हड़ताल को अन्तिम अस्त्र के रूप में प्रयोग में लाती हैं। ट्रेड यूनियनों की माँगें प्रायः विभिन्न प्रकार की होती हैं—भर्ती का आधार केवल योग्यता हो, पदों का वर्गीकरण उनसे सम्बन्धित कार्यों की प्रकृति के अनुसार हो, कर्मचारियों को उचित वेतन और भत्ता प्राप्त हो, न्यूनतम भृत्ति कानून पारित किया जाए, सेवा अभिलेख (Service Records) विधिवत तैयार किया जाए, सेवानिवृत्ति की योजनाएँ बनाई जाएँ, कार्य की दशाओं में सुधार किए जाएँ आदि। स्टाल का मत है कि "अवश्य ही कुछ कर्मचारी यूनियनों के सदस्य इसलिए बनते हैं क्योंकि वे यह महसूस करते हैं कि अप्रबुद्ध प्रबन्ध (Unenlightened Management) के विरुद्ध स्वयं के हितों की रक्षा के लिए किसी प्रकार की ठोस एकता (Solidarity) अत्यावश्यक है।" विश्व के सभी प्रजातान्त्रिक देशों में ट्रेड यूनियनों का महत्व बढ़ता ही जा रहा है। भारत में भी ट्रेड यूनियनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

कर्मचारी-संघों की प्रमुख समस्याएँ

(Major Problems of Employee Associations)

कर्मचारी-संघ आज काफी लोकप्रिय हो चुके हैं तथापि अनेक ऐसी समस्याएँ हैं जो इन संगठनों के सफल संचालन में निम्नलिखित बाधाएँ उपस्थित करती रहती हैं—

1. **समुदाय बनाने का अधिकार (Right to make Association)**—राजतन्त्रात्मक व्यवस्थाओं में सरकारी कर्मचारियों के संगठनों का कोई महत्त्व नहीं था, किन्तु प्रजातान्त्रिक विचारों के साथ अब कर्मचारियों में संगठित होने के अधिकार की आवाज बहुत बुलन्द हो चुकी है, लेकिन यहाँ गम्भीर समस्या यह है कि सरकारी सेवा में प्रवेश के बाद कर्मचारी पर विशेष स्वामिभक्ति के दायित्व आ जाते हैं, अतः क्या उसके लिए वे तरीके अपनाना उचित है जो अन्य मजदूरों द्वारा अपनाये जा सकते हैं। कानूनी विचारधारा के अनुसार तो राज्य पूर्ण सम्प्रभु है और सरकार की प्रक्रिया में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप उसकी सम्प्रभुता पर आघात है और एक अर्थ में क्रान्तिकारी है। स्टाल के अनुसार इसीलिए लोक सेवा के कार्यों को विशेष रूप से सीमित कर दिया गया है और उन पर प्रायः सभी जगह कुछ विशेष प्रतिबन्ध लगाए गए हैं।

ब्रिटेन में लोक कर्मचारियों को संघ बनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता है, किन्तु सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त करने के लिए संघों को कुछ शर्तें पूरी करनी होती हैं। आधुनिक व्यवस्था में लोक सेवा संघ बाहर की ट्रेड यूनियनों और राजनीतिक दलों से सम्बन्धित हो सकते हैं। वैसे प्रायः ब्रिटिश लोक कर्मचारियों के संघ राजनीतिक दलों से स्वयं को पृथक् रखते हैं, तथापि डाक विभाग कर्मचारियों का संघ मजदूर दल से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध है। लोक सेवा संघों पर यह प्रतिबन्ध है कि वे राजनीतिक प्रयोजन के लिए किसी सामान्य निधि में से कभी भी धन खर्च नहीं कर सकते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका में संघीय कर्मचारियों को संघ बनाने का अधिकार है, किन्तु शर्त यह है कि वे संघ कर्मचारियों को सरकार के विरुद्ध हड़ताल करने के लिए बाध्य न करें।

भारत में लोक सेवकों को संघ बनाने और किसी भी संघ का सदस्य बनने का अधिकार है, किन्तु वह संघ अथवा राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त होना चाहिए। यदि किसी संघ ने अस्तित्व में आने के छः महीने के भीतर राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं की है अथवा राज्य ने मान्यता देने से इंकार कर दिया है, अथवा उसकी मान्यता वापस ले ली गई है तो लोक सेवक उसके सदस्य नहीं बन सकते हैं। सरकार किसी संघ को मान्यता तभी देती है जब निम्नलिखित शर्तें पूरी की जाएँ—

(क) कोई गैर-सरकारी कर्मचारी उस संघ से सम्बन्धित न हो,

(ख) संघ की कार्यपालिका उसके सदस्यों में से ही नियुक्त की जाए;

(ग) संघ केवल कुछ सदस्यों के ही लाभार्थ संचालित न हो, एवं

(घ) संघ किसी राजनीतिक दल का प्रचार न करे और उसके पास कोई राजनीतिक निधि न हो।

संघ की मान्यता के सम्बन्ध में सरकार द्वारा बनाए गए नियम निश्चय ही कठोर हैं। किसी अमान्य संघ की सदस्यता को अनुशासनात्मक अपराध माना गया है।

2. सम्बद्धता का प्रश्न (The Question of Affiliation)—यह भी एक विवादग्रस्त प्रश्न है कि सरकारी कर्मचारी संघों और संस्थाओं को गैर सरकारी कर्मचारी व्यक्तियों, संस्थाओं आदि से सम्बन्धित रहना चाहिए अथवा नहीं। विपक्ष का तर्क यह है कि इस प्रकार की सम्बद्धता से प्रशासन में अव्यवस्था फैलने की आशंका रहेगी और गैर-सरकारी व्यक्ति अथवा संस्थाओं द्वारा सरकारी सत्ता का अपने पक्ष में प्रयोग करने की सम्भावना रहेगी। विरोधी नेताओं का प्रभाव बढ़ जाने पर कर्मचारियों की सरकार के प्रति निष्ठा घट जावेगी और राजनीति के दलदल में फँसकर लोक प्रशासन की एकरूपता एवं जनहित भावना छिन्न-भिन्न हो जाएगी। अतः यह वांछनीय है कि सरकारी कर्मचारियों के संघों और संस्थाओं को राजनीतिक दलों के हस्तक्षेप से सुरक्षित रखा जाए और उन्हें गैर-सरकारी संस्थाओं से सम्बद्ध न होने दिया जाए। दूसरी ओर इस दृष्टिकोण के समर्थकों का कहना है कि राजनीतिक दलों तथा गैर-सरकारी संस्थाओं के प्रभाव और हस्तक्षेप के कुछ लाभ भी हैं। कर्मचारी-संघ सरकारी कार्यों और नीतियों पर एक दबाव-समूह के रूप में प्रभाव डालने पर ही अपने लक्ष्य में सफल हो सकते हैं और यह प्रभाव सुचारु रूप में तभी उत्पन्न हो सकता है जब संघों के पीछे राजनीतिक शक्ति हो तथा ये विरोधी अथवा सत्ताधारी दल से सम्बद्ध हों। भारत में लोक सेवक सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त संघ के ही सदस्य बन सकते हैं।

3. प्रतिनिधित्व का प्रश्न (The Question of Representation)—एक गम्भीर प्रश्न यह है कि महत्वपूर्ण विषयों पर विचार-विमर्श के लिए कर्मचारियों के मत का सच्चा प्रदर्शक या प्रतिनिधि किसे समझा जाए। स्पेरो ने सामूहिक सौदेबाजी (Collective Bargaining) का पक्ष लिया है। प्रशासन को कर्मचारियों के बहुमत का प्रतिनिधित्व करने वाले, एक ही सौदेबाजी करने वाले अभिकरण से विचार-विमर्श करना चाहिए। प्रशासक एक समूह से अधिक सुविधापूर्वक सौदेबाजी कर सकता है क्योंकि वह आश्वस्त रहता है कि यह समूह कर्मचारियों का सही रूप में प्रतिनिधित्व कर रहा है। एक ही समूह से सम्बद्ध होना स्वयं कर्मचारियों की दृष्टि से उपयोगी है क्योंकि इससे उनमें एकता की भावना और लक्ष्य के प्रति चेतना का विकास होता है।

4. हड़ताल करने का अधिकार (Right of Strike)—असैनिक कर्मचारियों का सरकार के विरुद्ध हड़ताल करने का अधिकार बहुत अधिक विवादास्पद और बहुचर्चित प्रश्न है। हड़ताल से प्रशासनिक गतिरोध तथा अव्यवस्था, आर्थिक हानि और जनता के कष्ट उत्पन्न होते हैं। इनके कुपरिणामों से उदासीन नहीं रहा जा सकता। बहुधा हमारे देश के केन्द्रीय और राज्य कर्मचारियों की हड़तालें सरकार और जनता के प्रत्येक वर्ग के लिए भारी परेशानी का कारण रही हैं। ब्रिटेन में ऐसा कोई कानून नहीं है जो असैनिक कर्मचारियों की हड़तालों को निषिद्ध ठहराता हो। फिर भी सरकार हड़तालों को प्रोत्साहित नहीं करती और हड़ताल करने वाले लोक-कर्मचारियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करती है जिसमें भर्त्सना, पदच्युति, पेंशन की समाप्ति आदि दण्ड शामिल हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में हड़ताल गैर-कानूनी है। वहाँ 1955 के एक कानून द्वारा हड़ताल सम्बन्धी नियम कठोर बना दिए गए हैं जिनके अन्तर्गत सरकार विरोधी हड़तालों में भाग लेने वाले व्यक्ति को सरकारी पद के अयोग्य माना जाता है। सरकारी कर्मचारी किसी ऐसे संघ का सदस्य नहीं बन सकता जो हड़ताल करने के अधिकार का समर्थक हो। इसका उल्लंघन करने पर जुर्माने अथवा कैद दोनों की सजा दी जा सकती है। भारत में हड़ताल करना निषिद्ध तो नहीं है (आपातकालीन स्थिति एक अपवाद है) किन्तु इसे 'अनुशासन भंग' माना जाता है और *इसलिए सरकार हड़ताली कर्मचारियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकती है।* अनिवार्य सेवाओं (Essential Services) में हड़ताल पर प्रतिबन्ध है। इस प्रकार यह कहना चाहिए कि केन्द्रीय सरकार के लगभग 30 प्रतिशत कर्मचारी हड़ताल नहीं कर सकते और शेष कर सकते हैं, लेकिन अनुशासनात्मक कार्यवाही का खतरा उठाकर।

कर्मचारियों की हड़ताल और सरकारी प्रतिबन्ध आदि के बारे में मुख्य रूप से तीन विचारधाराएँ प्रस्तुत की जाती हैं—(1) असैनिक कर्मचारियों को व्यापार संघों (Trade Unions) के सभी अधिकार दिए जाएँ और हड़ताल करने की अनुमति मिले। यदि सरकारी कर्मचारियों को *असहनीय परिस्थितियों में भी हड़ताल करने का* अधिकार नहीं दिया जाता तो उनकी स्थिति गुलामों जैसी रहती है। साथ ही यह अलोकतान्त्रिक भी है। (2) सरकारी कर्मचारियों को ऐसा कोई अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए जिससे वे हड़ताल कर सकें अथवा हड़ताल में भाग ले सकें। हड़ताल एक राजनीतिक हथियार है जिसके सफल होने का अर्थ है प्रशासन का पतन और कोई भी सरकार इसकी अनुमति नहीं दे सकती। जिन सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों को प्रशासनिक

नीतियों तथा कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने का अधिकार सौंपा गया है, यदि उन्हीं को सरकार के हाथ काटने का अधिकार सौंप दिया गया तो स्थिति विस्फोटक और खतरनाक हो जाएगी। (3) सरकारी कर्मचारियों को केवल कुछ ही स्थितियों में हड़ताल करने का अधिकार दिया जाना चाहिए और शेष स्थितियों में उनकी हड़ताली प्रक्रियाओं पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए. जो सरकारी कर्मचारी सार्वजनिक महत्त्व के कार्यों में लगे हुए हैं, उन्हें हड़ताल का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए, पर जो अनेक सरकारी औद्योगिक संस्थानों में हैं उन्हें हड़ताल का अधिकार देना निरापद भी है और आवश्यक भी।

भारत में द्वितीय से लेकर आज पाँचवें वेतन आयोग, प्रशासनीय सुधार आयोग तथा अन्य अनेक क्षेत्रों द्वारा सरकारी कर्मचारियों के हड़ताल के अधिकार का नैतिक, व्यावहारिक एवं प्रशासनिक कारणों से विरोध किया गया है। सरकारी कर्मचारियों को जनहित साधन के लिए कुछ अधिकार प्रदान कर कार्य सौंपे जाते हैं और यह सर्वथा अनुचित है कि वे इन कार्यों को पूर्ण करने की अपेक्षा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए समाज-विरोधी साधन अपनाकर देश और समाज में प्रशासनिक तथा आर्थिक संकट उपस्थित करें और विकास की गति में बाधा पहुँचाएँ। विश्व का अधिकांश जनमत सरकारी कर्मचारियों की हड़तालों का विरोधी रहा है। अतः उपयुक्त मार्ग यही है कि सरकार और कर्मचारियों के बीच विवादों का समाधान बातचीत द्वारा किया जाए। वार्ता के लिए समुचित साधन (Proper Machinery for Negotiation) अपनाए जाएँ और दोनों पक्ष एक-दूसरे के प्रति सद्भाव तथा सहयोग से काम लें। एक उपाय पंच-निर्णय (Arbitration) का है। प्रारम्भ में यह विचार प्रबल था कि राज्य सम्प्रभु है, अतः वह पंच-निर्णय के माध्यम से कर्मचारियों के साथ अपने विवाद नहीं सुलझा सकता। इसलिए सामूहिक सौदेबाजी की व्यवस्था को अनुपयुक्त समझा गया। वर्तमान समय में पंच-निर्णय (Arbitration) व्यवस्था काफी लोकप्रिय होती जा रही है। भारत में सार्वजनिक क्षेत्र में कर्मचारियों के साथ उठने वाले विवादों में इस उपाय को विशेष सुविधाजनक और लाभकारी पाया जा रहा है। एक तरीका यह भी है कि प्रबन्ध और कर्मचारियों के प्रतिनिधियों की परिषद् बना दी जाए और जो दोनों पक्षों के बीच विवादों को सुलझाने में सहायता प्रदान करे। ब्रिटेन की ह्विटले परिषदें इसका सुन्दर उदाहरण हैं।

हड़ताल विरोधी नीति का औचित्य (Justification of Anti-strike Policy)—सरकारी कर्मचारियों की हड़ताल के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं—

1. राज्य के आदेशों की अवहेलना अवांछनीय—राज्य सम्प्रभु है और उसके आदेशों की अवहेलना अथवा उनके विरुद्ध हड़ताल करना राज्य के प्रति विद्रोह माना जाएगा। इस तर्क के आधार पर 1946 में अमेरिकी कांग्रेस ने यह घोषणा की थी कि जो व्यक्ति संयुक्त राज्य की सरकार के विरुद्ध किसी हड़ताल में शामिल होता है या सरकार-विरोधी हड़ताल के अधिकार पर जोर देने वाली किसी सरकारी कर्मचारी संगठन का सदस्य होता है वह एक गम्भीर अपराध करने का दोषी होगा।

2. देश का सामान्य जीवन प्रभावित होना—सरकारी गतिविधियाँ एकाधिकारी प्रकृति की होती हैं, इनके द्वारा देश की सामान्य व्यवस्था और सुरक्षा तथा जन-कल्याण गम्भीर रूप से प्रभावित होता है। फलस्वरूप ऐसे कार्यों के विरुद्ध हड़ताल करने से जनता को असुरक्षा और दारुण दुःख प्राप्त होंगे तथा यह एक जन-अपराध समझा जाएगा। सरकार द्वारा ऐसे कार्य सम्पन्न किए जाते हैं जो समाज के अस्तित्व एवं कल्याण के लिए अति आवश्यक होते हैं। यातायात के साधन, खाद्य पदार्थों का उत्पादन और वितरण, संचार के साधनों की व्यवस्था आदि कुछ ऐसी गतिविधियाँ हैं जिनमें हड़ताल का अर्थ पूरे सामाजिक जीवन में पक्षाघात की स्थिति है। राज्य द्वारा प्रदत्त मूलभूत सेवाओं में हड़ताल से देश का सम्पूर्ण आर्थिक जीवन चरमरा कर गिर जाएगा। हड़ताल से जनता को असामान्य कष्ट भोगने पड़ते हैं।

3. जन-हित विरोधी कार्य—राज्य कर्मचारियों का कर्त्तव्य जनता की सेवा करना है। वे एक प्रकार से सरकार द्वारा जन-कल्याण के दायित्व को पूरा करने के लिए भाड़े पर रखे गए अभिकर्त्ता होते हैं। ऐसी स्थिति में हड़ताल द्वारा विभिन्न सेवाओं को ठप्प करने वाले राज्य कर्मचारी जनहित विरोधी बन जाएँगे।

4. राज्य कर्मचारियों से सेवा की अपेक्षा—जब राज्य द्वारा अपने कर्मचारियों को साधारण नागरिकों की अपेक्षा विशेषाधिकार की स्थिति में रखा जाता है तथा उनकी सेवा की शर्तें व्यवस्थापन द्वारा सुरक्षित की जाती हैं तो इन कर्मचारियों से भी यह उम्मीद की जाती है कि वे बदले में सुचारु रूप से सेवाएँ संचालित करें।

5. देश की सुरक्षा को संकट में डालना—सरकारी कर्मचारी इतने विश्वसनीय और उत्तरदायी पदों पर होते हैं कि वे चाहें तो पूरे देश को खतरे में डाल सकते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें हड़ताल का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए।

6. हड़ताल करने से सार्वजनिक जन-जीवन विषाक्त हो जाता है—सरकारी कर्मचारियों के हड़ताल पर जाने के कारण देश का सारा जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है और इसका दुष्परिणाम जन-साधारण को भुगतना पड़ता है।

हड़ताल के अधिकार का औचित्य (Justification of Right to Strike)—यद्यपि उपरोक्त कारणों से विभिन्न देशों में हड़ताल-विरोधी नीतियाँ अपनाकर व्यवस्थापन किए गए हैं, किन्तु इनके फलस्वरूप हड़ताल होने को रोका नहीं जा सका है। हड़ताल देश की सामाजिक और आर्थिक दशाओं का परिणाम होती है। कर्मचारियों द्वारा हड़ताल का सहारा अकारण ही नहीं लिया जाता वरन् अपनी असहनीय कार्य की दशाओं तथा आर्थिक स्थिति के कारण कर्मचारी संगठनों द्वारा हड़ताल करने का निर्णय लिया जाता है। हड़ताल-विरोधी कानूनों के होते हुए भी विभिन्न देशों में राज्य कर्मचारियों द्वारा गम्भीर हड़तालें की जाती हैं। भारत में रेलवे सेवा, डाक कर्मचारी, अध्यापक, पुलिस सेवा आदि में समय-समय पर देशव्यापी हड़तालें होती रही हैं। इन हड़तालों में भूख हड़ताल, काम बन्द, तोड़-फोड़, हिंसात्मक वारदातें, सामाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त करना आदि तरीके अपनाए गए हैं। केन्द्रीय नागरिक सेवा नियमों में यह शामिल किया गया कि कोई सरकारी कर्मचारी अपनी सेवा की शर्तों के सम्बन्ध में किसी प्रदर्शन अथवा किसी प्रकार की हड़ताल में भाग नहीं लेगा। इसके बाद भी तथ्य यह बताते हैं कि विभिन्न सेवाओं के कर्मचारियों ने गैर-कानूनी हड़तालें कीं और सरकार के हड़ताल विरोधी दण्डों की परवाह न करके जन-जीवन को अस्त-व्यस्त किया। न केवल भारत में वरन् ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस में भी राज्य कर्मचारियों की हड़तालें होती रही हैं।

स्पष्ट है कि कानूनी प्रतिबन्ध हड़तालों को रोकने का अपर्याप्त साधन हैं। यदि कर्मचारियों के कार्य की दशाएँ खराब हैं तो कानूनी मान्यता न होते हुए भी हड़तालें होकर रहेंगी। इन हड़तालों का होना तर्कसगत और सकारण है। सरकारी कर्मचारियों की हड़तालों के पीछे ये तर्क दिये जाते हैं— (1) इनके माध्यम से कर्मचारी प्रभावशाली तरीके से अपनी माँगें प्रस्तुत करते हैं। (2) हड़तालों के द्वारा राज्य कर्मचारी अपनी सेवा की शर्तों के सम्बन्ध में सौदेबाजी की उपयुक्त स्थिति में रहते हैं। (3) हड़तालें श्रमिक वर्ग की एकता और चेतना का प्रतीक समझी जाती हैं। (4) हड़तालों द्वारा कर्मचारियों के मन के प्रबन्ध-विरोधी विचारों और भावों को अभिव्यक्त होने का अवसर दिया जाता है।

अभी तक हड़ताल का अधिकार एक विवादपूर्ण विषय है। कुछ का विचार है कि इस विषय में पर्याप्त कानून होते हुए भी हड़तालों को जन-कल्याण विरोधी बनने से रोकने के लिए पुलिस और सेना की सहायता लेना आवश्यक होगा। यदि हड़ताल-विरोधी कानून न हो तो स्थिति और भी अधिक खराब हो सकती है। अतः कानून द्वारा हड़तालों को प्रतिबन्धित करके राज कर्मचारियों को जनसेवा के लक्ष्य के प्रति सजग बनाए रखना चाहिए। दूसरी ओर हड़ताल-विरोधी व्यवस्थापन के आलोचकों का कहना है कि ऐसे कानून प्रभावहीन होते हैं। साथ ही ये अनावश्यक भी हैं। प्रो. स्टाल के अनुसार, "हड़ताल के अधिकार को अस्वीकार किए बिना ही हड़तालें रोकी जा सकती हैं। असल में वे इस प्रकार हड़ताल के अधिकार को स्वीकार करने की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली तरीके से रोकी जा सकती हैं।" डॉ. एल डी व्हाइट की मान्यता है कि "हड़तालों को रोकने के लिए हड़ताल-विरोधी कानून बनाने की अपेक्षा ऐसी रचनात्मक नीति अपनानी चाहिए जो हड़ताल के कारणों को समाप्त करके इस पर रोक लगा सके।"

हड़ताल को रोकने की दिशा में सार्थक प्रयास—हड़तालों को रोकने अथवा नियन्त्रित करने की दृष्टि से निम्नांकित कदम उठाये जा सकते हैं—

1. राज कर्मचारियों को कार्य की न्यायपूर्ण दशाएँ उपलब्ध कराना जो गैर-सरकारी उद्योगों के समकक्ष हों।

2. लोक सेवाओं में रोजगार की शर्तों, दशाओं एवं दायित्वों को प्रबन्ध द्वारा स्पष्टत घोषित किया जाए।

3. कर्मचारियों के संगठित होने और अपनी कार्य की दशाओं के सम्बन्ध में सामूहिक प्रतिनिधित्व एवं बातचीत करने के लिए उपयुक्त सरकारी अधिकारियों से मिलने के अधिकार को मान्यता दी जाए।

4. ऐसे समुचित यन्त्र की व्यवस्था की जाए जिसमें कर्मचारी और प्रबन्ध दोनों का विश्वास हो तथा जो कर्मचारियों की व्यथाओं को सामूहिक एवं व्यक्तिगत रूप से सुलझाने का प्रयास कर सकें।

5. राज्य कर्मचारियों को हड़ताल के मार्ग पर अग्रसर होने से रोकने के लिए केवल नकारात्मक नीतियाँ, कानूनी प्रतिबन्ध और सैनिक कार्यवाहियाँ पर्याप्त नहीं हैं वरन् सकारात्मक नीतियाँ अपनाते हुए कर्मचारियों की व्यथाएँ सुनने के लिए, उपयुक्त सांविधानिक अवसर प्रदान किए जाने चाहिए।

6. कर्मचारियों को यह अधिकार दिया जाना चाहिए कि वे अपनी व्यथाएँ उपयुक्त अधिकारियों के सम्मुख प्रस्तुत कर सकें।

7. सरकार के साथ वाद-विवाद की स्थिति में पंच-निर्णय की व्यवस्था होनी चाहिए।

8. सरकारी कर्मचारियों में यह विश्वास जगाना होगा कि उनकी न्यायसंगत माँगों पर सरकार तुरन्त ध्यान देगी। अगर ऐसा हो तो हड़ताल की स्थिति ही नहीं आयेगी।

डॉ. हरमन फाइनर ने हड़ताल सम्बन्धी विश्लेषण निम्नलिखित तीन प्रस्तावों के रूप में किया है—

(क) यदि राज्य द्वारा अपने कानून और परम्पराओं के माध्यम से लोक सेवकों को कुछ अधिकार प्रदान किए जाएँ तो बदले में कर्मचारियों से यह आशा की जा सकती है कि वे सरकार के सम्मुख हड़ताल की स्थिति उत्पन्न नहीं करेंगे।

(ख) राज्य द्वारा संचालित सेवाओं का सम्बन्ध अति आवश्यक और जीवन-मरण की प्रकृति के हितों से रहा करता है। इनके मार्ग में कोई अवरोध नहीं आना चाहिए अन्यथा गम्भीर कठिनाई पैदा हो जाएगी।

(ग) यदि लोक सेवकों की माँग प्रस्तुत करने के लिए ऐसे अनेक संवैधानिक मार्गों की व्यवस्था की जाए जिनके द्वारा इनकी माँगों पर विचार किया जा सके और यदि वे न्यायपूर्ण हैं तो उन्हें सन्तुष्ट भी किया जा सके तो ऐसी स्थिति में हड़ताल अनावश्यक हो जाएगी।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हड़ताल के अधिकार के औचित्य पर विवाद अभी भी बना हुआ है। लोकतान्त्रिक देशों में आये दिन हड़तालें होती रहती हैं, जबकि अधिनायकवादी एवं साम्यवादी देशों में हड़तालों का कोई स्थान नहीं है।

ब्रिटेन की ह्निटले परिषदें
(Whitley Councils in Britain)

ह्निटले-परिषदें ग्रेट ब्रिटेन की एक मौलिक विशेषता है जो प्रशासन के क्षेत्र में नूतन आयाम प्रस्तुत करती हैं। ह्निटलेवाद या ह्निटले परिषदों की व्यवस्था सरकार और लोक कर्मचारियों के बीच प्रतिनिधित्व कर समय-समय पर होने वाली वार्ता की एक उत्तम पद्धति है। प्रथम महायुद्ध के बाद ग्रेट ब्रिटेन के औद्योगिक जीवन में उत्पन्न असन्तोष और अशान्ति के फलस्वरूप वहाँ एक ऐसी व्यवस्था की माँग ने जोर पकड़ा जिसमें सभी औद्योगिक संस्थान सम्मिलित रूप से अपनी समस्याओं को सुलझा सकें। इसके लिए जे. एच. ह्निटले ने कुछ सुझाव प्रस्तुत किए थे जिनके आधार पर ह्निटले-परिषदों का निर्माण किया गया। ह्निटले-परिषदों में सरकारी पक्ष और कर्मचारी पक्ष दोनों का प्रतिनिधित्व होता है। ये परिषदें लोक सेवकों की कार्यकुशलता बढ़ाने तथा कर्मचारियों का कल्याण करने की दृष्टि से संचालित की जाती हैं। इनके द्वारा कर्मचारियों की समस्याओं का समाधान किया जाता है। ऐसा करते समय ये कर्मचारियों के अनुभवों एवं दृष्टिकोणों का पूरा लाभ उठाती हैं। इन परिषदों के माध्यम से ऐसे समझौते होते हैं जो दोनों पक्षों के लिए सन्तोषजनक होते हैं और मैत्रीपूर्ण संयुक्तवार्ता के परिणाम होते हैं। नागरिक-सेवकों के व्यापार-संघों के नेताओं, वरिष्ठ कोष-अधिकारियों एवं विभिन्न विभागों के अध्यक्षों के बीच 1919 में हुए समझौते के परिणामस्वरूप ये परिषदें संगठित हुईं और आज भी क्रियाशील हैं।

परिषदों का अर्थ एवं उद्देश्य (The Meaning and Objects of Councils)—डॉ. एल. डी. ह्वाइट के मतानुसार, ह्निटले-परिषदें बिना एक स्वतन्त्र सभापति के तथा बिना अनिश्चित कार्यक्षेत्र के मूल रूप से संयुक्त वार्ता मण्डल हैं।[1] ह्निटले-परिषदें मुख्यतः तीन स्तरों पर स्थापित होती हैं—राष्ट्रीय ह्निटले-परिषदें, विभागीय ह्निटले-परिषदें तथा जिला और कार्यालय कार्य-समितियाँ। इसी प्रकार की परिषदें ब्रिटेन की स्थानीय सरकारों में भी हैं जो एक राष्ट्रीय संयुक्त-परिषद के साथ सम्बद्ध हैं। स्टाल के अनुसार इन सभी परिषदों की एक सामान्य विशेषता यह है कि इनमें नियुक्तिकर्ता के रूप में सरकार (सरकारी पक्ष) और नागरिक सेवकों (कर्मचारी वर्ग पक्ष) का समान प्रतिनिधित्व होता है।[2] स्नाइडर के मतानुसार, ये परिषदें ब्रिटिश नागरिक-सेवा की सुस्थापित और मूलभूत विशेषताएँ बन गई हैं। ये एक ऐसा माध्यम प्रस्तुत करती हैं जिसके द्वारा सरकारी सेवा नीति के प्रायः सभी पहलुओं पर विचार किया जाता है और विरोधी हितों के बीच का संघर्ष मैत्रीपूर्ण बन जाता है।[3] इस प्रकार ये परिषदें सरकार और कर्मचारियों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने तथा कर्मचारियों की समस्याओं का समाधान करने में महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं।

---

1 *L. D White* : Whitley Councils in the British Civil Service, 1933, p. 10.
2 *O G Stahl* : Op. cit., p. 236.
3 *Carl J. Schneider* : The Renewal of Whitleyism in British Government, Public Administration Review Spring, 1953, pp. 97-105.

परिषदों का गठन (The Organisation of Councils)—राष्ट्रीय ह्निटले परिषदें और विभागीय परिषदों के बीच पदसोपान (Hierarchy) का सम्बन्ध नहीं होता, तथापि यह व्यवस्था की जाती है कि राष्ट्रीय परिषद् विभागीय परिषदों के संविधान को स्वीकार करे। विभागीय परिषदें उन विषयों को राष्ट्रीय परिषद् के पास भेज देती हैं जो या तो राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध प्रतीत होते हैं अथवा जो सम्बन्धित विभाग के अधिकार-क्षेत्र से बाहर हैं। विभागीय परिषदों के नीचे जिला या प्रादेशिक समितियाँ होती हैं जो सभी कर्मचारियों की स्थानीय समस्याओं से सम्बन्धित होती हैं। राष्ट्रीय ह्निटले-परिषद् में 54 सदस्य होते हैं। इनमें से आधों की नियुक्ति चांसलर ऑफ एक्सचेकर द्वारा की जाती है और अन्य आधों की नियुक्ति मान्यता प्राप्त कर्मचारी संघों द्वारा। राष्ट्रीय परिषद् की प्रक्रिया में सभी निर्णय दोनों के बीच सम्पन्न समझौते द्वारा तय किए जाते हैं। राष्ट्रीय परिषद् के सदस्यों का कार्यकाल निश्चित नहीं होता। वे उस समय तक अपने पद पर बने रहते हैं जब तक कि वे स्वयं त्याग-पत्र न दे दें अथवा सेवा-निवृत्त न हो जाएँ। परिषद् में एक सभापति तथा एक उपसभापति होता है। सभापति प्राय सरकारी पक्ष का और उपसभापति कर्मचारी वर्ग का होता है। परिषद् दोनों पक्षों में से चार सचिव नियुक्त करती है। परिषद् को अनेक प्रकार की समितियाँ नियुक्त करने का अधिकार है, जैसे—स्थायी समितियाँ (Standing Committees), विशिष्ट समितियाँ (Special Committees), पदक्रम समितियाँ (Grade Committees) आदि। परिषद् इन समितियों को शक्तियों का प्रत्यायोजन (Delegation of Powers) कर सकती है।

विभागीय परिषद् में भी दोनों पक्षों का प्रतिनिधित्व रहता है। उस विभाग के वरिष्ठ श्रेणी के नागरिक सेवक सरकारी पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनकी नियुक्ति मन्त्री अथवा विभागाध्यक्ष द्वारा होती है। स्थापना सम्भाग का एक सदस्य इस परिषद् का सचिव होता है और विभागाध्यक्ष इसका अध्यक्ष होता है। स्थानीय समस्याओं के निराकरण के लिए स्थापित जिला या क्षेत्रीय समितियों का संगठन भी विभागीय परिषदों की भाँति ही होता है। इस प्रकार इन परिषदों का देशव्यापी जाल फैला होता है। इस प्रकार इन परिषदों का एक सुदृढ़ संगठनात्मक स्वरूप विद्यमान है।

कार्य प्रणाली और कार्य (Procedure and Work)—राष्ट्रीय परिषद इन समितियों की साधारण बैठकें आवश्यकतानुसार कभी भी की जा सकती हैं। बैठक का तीन माह में एक बार होना आवश्यक है। परिषद् के महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन प्रायः समितियों द्वारा किया जाता है। परिषद् अथवा समिति की बैठकों की अध्यक्षता प्रायः सरकारी पक्ष के प्रतिनिधि द्वारा ही की जाती है। उपाध्यक्ष कर्मचारी वर्ग का होने के कारण कभी भी अध्यक्ष का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता। परिषद् में निर्णय मतदान द्वारा नहीं लिए जाते हैं। निर्णय लेते समय प्रत्येक पक्ष एक होकर बोलता है। दोनों ही पक्षों में विभाजन नहीं होता और कोई भी निर्णय जब तक दोनों पक्षों द्वारा एकमत से स्वीकार न किया जाए, मान्य नहीं बन सकता। परिषद् द्वारा लिए गए निर्णयों पर अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष की स्वीकृति ली जाती है। उसके बाद उन्हें मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। उसकी स्वीकृति मिल जाने पर वे निर्णय क्रियान्वित किए जाते हैं। विभागीय परिषदों की कार्य-प्रणाली भी ऐसी ही है। स्थानीय एवं प्रादेशिक समितियाँ भी कर्मचारी वर्ग के सम्मिलित कष्टों का समाधान करने के लिए महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। इस प्रकार इन परिषदों की कार्यविधि सामंजस्यता अथवा सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों के आदर्श पर आधारित होती है।

ह्निटले-परिषदें अनेक महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करती हैं। प्रथम, स्टाफ के विचारों एवं अनुभवों का प्रयोग करने के लिए सर्वोत्तम साधनों का प्रावधान। द्वितीय, कर्मचारी वर्ग जिन परिस्थितियों में कार्य करता है उनका निरीक्षण करने और उन्हें निश्चित करने के लिए उत्तरदायित्व का अधिक से अधिक भाग देना तथा भर्ती, कार्य का समय, पदावधि तथा वेतन आदि से सम्बन्धित सामान्य उपबन्ध निश्चित करना। इन विषयों पर विचार करते समय राष्ट्रीय परिषद् सामान्य दृष्टि से सोचती है, कर्मचारियों की व्यक्तिगत समस्याओं में नहीं उलझती। राष्ट्रीय परिषद् अनुशासन से सम्बन्धित केवल सामान्य विषयों पर ही वार्ता कर सकती है, यह वैयक्तिक विषयों पर बात नहीं करती। तृतीय, नागरिक सेवकों को आगे की शिक्षा के लिए प्रोत्साहन देना और उन्हें उच्चतर प्रशासन एवं संगठन-कार्य में प्रशिक्षित करना। चतुर्थ, कार्यालय की प्रक्रिया एवं संगठन में किए जाने वाले तथा इस विषय पर कर्मचारियों द्वारा दिए गए सुझावों पर विचार करना। पाँचवें, नागरिक सेवकों की स्थिति को प्रभावित करने वाले व्यवस्थापन को प्रस्तावित करना। इस तरह से ये परिषदें राज्य कर्मचारियों से सम्बन्धित सभी मामलों पर विचार करती हैं।

इन परिषदों की ब्रिटिश शासन व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका होने के बावजूद इन्हें *निम्नांकित सीमाओं में* रहकर कार्य करना पड़ता है—

1. **शक्तियों का सीमित होना**—इन परिषदों को केवल परामर्शदायी शक्तियाँ ही प्राप्त हैं। राष्ट्रीय ह्निटले-परिषद् की दसवीं बैठक में नियुक्त समिति ने बताया था कि ह्निटले-परिषदों की स्थापना संसद् *के प्रति* सरकार के उत्तरदायित्व के किसी भाग को कम नहीं करती। संसदात्मक सरकार और *मन्त्रि-मण्डलात्मक*

उत्तरदायित्व के सांविधानिक सिद्धान्तों में यह शर्त निहित रहती है और मन्त्रिमण्डल इसे न तो हटा सकते हैं और न इससे बच सकते हैं। इस प्रकार परिषद् की शक्तियाँ अत्यन्त सीमित हैं। इनके निर्णयों को मन्त्रिमण्डल के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है जो इनको स्वीकृत या अस्वीकृत कर सकता है।

2. उच्च पदाधिकारियों के वेतन आदि पर विचार—ह्विटले-परिषदें उच्च पदाधिकारियों के वेतन आदि से सम्बन्धित विषयों पर विचार नहीं करतीं, इनमें केवल उन्हीं पदाधिकारियों की समस्याओं पर विचार किया जाता है जो अधिक से अधिक दो हजार पौंड प्रति वर्ष वेतन प्राप्त करते हैं।

3. कर्मचारियों की समस्याओं पर प्रत्यक्ष वार्ताओं से समाधान—ह्विटले-परिषदों की स्थापना का अर्थ यह कदापि नहीं है कि प्रबन्ध एवं कर्मचारी वर्ग के बीच प्रत्यक्ष वार्ता की सम्भावना को समाप्त कर दिया जाए। इसके विपरीत व्यवहार में कर्मचारियों की अनेक समस्याएँ ह्विटले-परिषदों की सहायता के बिना ही प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा तय की जाती हैं।

4. गम्भीर एवं वैयक्तिक मामलों पर विचार नहीं—ह्विटले-परिषदों द्वारा प्रायः गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण मामलों पर विचार नहीं किया जाता है। ये केवल छोटी-मोटी समस्याओं का समाधान खोजने में ही व्यस्त रहती हैं। ये वैयक्तिक मामलों से सम्बन्धित नहीं होतीं। ये सामान्य हितों को ही अपने विचार का विषय बनाती हैं। किसी श्रेणी या सेवा विशेष के आर्थिक प्रश्न बहुधा प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा ही निपटाए जाते हैं, ह्विटले-परिषद् द्वारा नहीं।

5. औपचारिकता की स्थिति—औपचारिकता ह्विटले-परिषदों की कार्य-प्रणाली की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। डगलस ह्वाटन (Douglas Houghton) के कथनानुसार, "ह्विटले-परिषद् के प्रतिदिन के कार्यों से अनेक औपचारिकताएँ समाप्त हो गई हैं। परिषद् की औपचारिक बैठकों में क्या होने जा रहा है, इस बात का पहले से ही पता लग जाता है और तर्क-वितर्कों के पखों द्वारा कल्पना-लोक में उड़ने की अपेक्षा पहले से ही एक तथ्यपूर्ण दृष्टिकोण अपना लिया जाता है।"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ह्विटले-परिषदों की कर्मचारियों की समस्याओं के समाधान करने में सार्थक और सकारात्मक उपयोगिता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में व्यवस्था

(The System in U.S.A.)

अमेरिका में सरकार और लोक सेवकों या असैनिक कर्मचारियों के बीच वार्ता के लिए ह्विटले-परिषदों जैसी संस्थाएँ नहीं हैं तथापि दोनों के बीच मधुर सम्बन्ध बनाए रखने के लिए कुछ अन्य तरीके अपनाए गए हैं। उदाहरणार्थ, कर्मचारी संघों के नेताओं को प्रोत्साहित किया जाता है कि वे सेवा-नीतियों के बारे में अपने विचार और सुझाव सरकार के सामने रखें। कर्मचारी-संघ के सामने यह मार्ग भी खुला है कि वे सेवा-नीतियों अथवा सेवा-शर्तों आदि के सम्बन्ध में कांग्रेस से वार्ता करके परिवर्तन कराएँ। राष्ट्रपति अथवा निष्पादक से सीधी अपील करें और संघों की पत्र-पत्रिकाओं द्वारा अपने विचार व्यक्त करके अपने पक्ष में लोकमत जाग्रत करें। सरकारी कर्मचारियों के अनेक संघ हैं जिनका यद्यपि असैनिक सेवा-आयोग से प्रशासकीय स्तर पर कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि आयोग उनके सेवीवर्ग की समस्याओं के बारे में उदारता के साथ परामर्श लेता है।

भारत में कर्मचारी संघ

स्वतन्त्र भारत में केन्द्रीय और राज्यीय स्तरों पर बड़ी संख्या में कर्मचारी-संघ और महासंघ कार्यरत हैं, जो कर्मचारियों के हितों की दिशा में सक्रिय रहते हैं। भारत में ह्विटले-परिषदों जैसी व्यवस्था तो नहीं है, लेकिन इसके विचार-दर्शन को स्थान अवश्य दिया गया है। इसीलिए कर्मचारी वर्ग परिषदें इस दिशा में कार्यरत हैं। सरकार और कर्मचारियों के विवादों को दूर करने के लिए विभिन्न संघ और परिषदों की स्थापना की जाती है। इन परिषदों ने उल्लेखनीय सफलता भी प्राप्त की है। लेकिन जब तक दोनों ही पक्ष उत्तरदायित्व और समझदारी से कार्य नहीं करेंगे, तब तक समस्याओं का स्थायी समाधान सुलभ नहीं है।

31

प्रशासन में सत्यनिष्ठा, सामान्यज्ञ बनाम विशेषज्ञ एवं प्रतिबद्ध नौकरशाही

(Integrity in Administration, Generalist and Specialist and Bureaucracy)

प्रशासन में सत्यनिष्ठा

(Integrity in Administration)

आज समाज में सर्वविदित मत है कि देश में लोक सेवकों में नैतिकता और सत्यनिष्ठा (ईमानदारी) का निरन्तर अभाव होता जा रहा है। देश में पिछले कुछ वर्षों में उजागर हुए विभिन्न भ्रष्टाचार के मामलों और घोटालों में जिनमें राजनीतिज्ञों के साथ-साथ लोक सेवक भी शामिल थे, से जनता की अपने जनप्रतिनिधियों और लोक सेवकों की नैतिकता तथा सत्यनिष्ठा के प्रति आस्था डिग गयी है। आज प्रशासन द्वारा भ्रष्टाचार, पक्षपात अनुचित व्यवहार करना जैसे दोषों से प्रशासनिक वातावरण दूषित है और ऐसे मामलों को निपटाने के लिए स्वतंत्र न्यायाधिकरणों की स्थापना अथवा लोक हितों के संरक्षकों की नियुक्ति की मांग तेजी से बढ़ती जा रही है। प्रशासन के वृहत आकार और सामाजिक जीवन पर उसमें बढ़ते प्रभाव के कारण वर्तमान में लोक सेवकों में नैतिकता और ईमानदारी का होना अति आवश्यक है, लेकिन वर्तमान में भारतीय प्रशासन में निरन्तर इसका अभाव होता जा रहा है जिसके प्रमुख कारण निम्नलिखित है—

(1) भौतिकवादी संस्कृति का बढ़ता प्रभाव और धन की बढ़ती महत्ता

(2) सेवाकाल की स्थायित्व प्रकृति

(3) भ्रष्टाचार का बढ़ता विकराल रूप और इसको दूर करने के निष्प्रभावी उपाय

(4) सामाजिक मूल्यों और मानदण्डों का ह्रास

(5) नैतिक और आदर्शवादी मूल्यों का घटता महत्व

(6) राजनैतिक अस्थिरता और राजनीतिज्ञों का गिरता आचरण।

उपरोक्त कारणों से आज भारतीय प्रशासन और लोक सेवकों में सत्यनिष्ठा का ह्रास निरन्तर गिरता जा रहा है। इसके कारण प्रशासन में प्रतिबद्धता, तटस्थता जैसी विशेषताओं में भी निरन्तर कमी होती जा रही है। लोक सेवक आज न तो संविधान और सरकार के प्रति प्रतिबद्ध होकर काम करते हैं और न ही तटस्थ होकर सरकारी नीतियों, कार्यक्रमों तथा नियमों को लागू करते हैं। इससे जनमानस में सरकार, प्रशासन और सरकारी प्रयासों की सर्वत्र छवि धूमिल होती जा रही है, जिसका परिणाम आज प्रशासन के हर विभाग का गिरता स्तर एवं उसमें व्याप्त भ्रष्टाचार का बोलबाला है।

सामान्यज्ञ बनाम विशेषज्ञ विवाद

(Disputes of Generalist v/s Specialist)

भारत की प्रशासनिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण तत्व ब्रिटिश प्रशासन व्यवस्था की भाँति ही अंग्रेजों ने भारत में प्रशासन को उच्च प्रशासकीय वर्ग एवं अन्य प्राविधिक सेवाओं के अंतर्गत वर्गीकृत किया था और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी हमने प्रशासन के यथावत् ढाँचे को स्वीकार किया क्योंकि इन परिस्थितियों में

किसी भी प्रकार आमूलचूल परिवर्तन देश के लिए हितकारी नहीं होता। भारत में ब्रिटिश शासन के अंतर्गत विकसित हुए प्रशासनिक ढाँचे का मूल स्रोत "नार्थकोर्ट ट्रेविलियन", 1853 का प्रतिवेदन माना जाता है, जिसमें ये प्रस्ताव किया गया था कि प्रशासन के उच्च पदों पर देश के योग्यतम मेधावी नवयुवकों की नियुक्ति की जानी चाहिए जिन्होंने सर्वोच्च स्तर की प्रतियोगी परीक्षाओं में सफलता प्राप्त की हो। इस प्रकार एक शैक्षणिक आधार पर एक विशिष्ट प्रकार के प्रशासक वर्ग का जन्म हुआ, जिन्हें कालांतर में सामान्यज्ञ (Generalist) कहा जाने लगा है।

सन् 1855 में लॉर्ड मैकाले के प्रतिवेदन में इसी दृष्टिकोण की पुष्टि की गई, जिसमें कहा गया था कि, "ऐसी शिक्षा में एक दो या बीस व्यक्ति अध्ययनरत रहते हैं, जिनका व्यवसाय या वृत्ति से कोई तात्कालिक सम्बन्ध नहीं होता। वे ऐसे व्यक्तियों से श्रेष्ठ होते हैं जो 18-19 वर्ष की अवस्था में ही किसी रोजगार विशेष को सीखना प्रारंभ कर देते हैं।" लॉर्ड मैकाले के इसी दर्शन के आधार पर ब्रिटिश शासन में लोक सेवाओं का गठन हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् I.C.S. सेवाओं को I.A.S. सेवा के नाम से जाना जाने लगा, जबकि उनकी संघठनात्मक प्रवृत्ति में कोई इन्तर नहीं आया। धीरे-धीरे राजनैतिक व्यवस्था के समक्ष उत्पन्न चुनौतियों के कारण तथा संविधान के आदर्श को मूर्त रूप देने की दृष्टि से राज्य के कार्यों में वृद्धि हुई। राज्यों के कार्यों में विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से उजागर होने लगी और इस कारण आवश्यक हुआ कि विशेषकर सेवाओं का गठन किया जाये और स्थित सेवाओं के कार्यों में वृद्धि की जाये। पिछले एक दशक में मैकाले दर्शन की उपादेयता में संदेह व्यक्त किया जाने लगा और ये महसूस किया गया कि विशेषज्ञ सेवाओं की प्रशासन में महत्त्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए और उन्हें सामान्यज्ञों के समकक्ष दर्जा दिया जाना चाहिए क्योंकि सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ दोनों ही प्रजातांत्रिक प्रशासन व्यवस्था के आधारस्तम्भ हैं। ये दोनों ही शासन नीति के निर्माण एवं क्रियान्वयन में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं।

सामान्यज्ञ तथा विशेषज्ञ का अर्थ व परिभाषा

(Meaning & Definition of Generalist and Specialist)

सामान्यज्ञ का आशय उस अधिकार से है जो प्रशासन के सभी क्षेत्रों में पर्याप्त ज्ञान रखता है तथा प्रशासन में विभिन्न पदों पर रहकर अपना कार्य करता है। जैसे—I.A.S. "सेवी-वर्ग प्रशासन पर, भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, नई दिल्ली" में आयोजित एक सम्मेलन में सामान्यज्ञ की परिभाषा देते हुए कहा कि, "सामान्यज्ञ के लिए ऐसे मेधावी नवयुवकों का चयन किया जाता है जिन्होंने विश्वविद्यालय में किसी विषय में उदार शिक्षा प्राप्त की हो। चयन के पश्चात् क्षेत्र में प्रारंभिक प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद उन्हें मध्यस्तरीय निरीक्षणात्मक पदों पर नियुक्त किया जाता है। इन पदों के सम्बन्ध में सामान्यतः अनिवार्य तकनीकी या व्यावसायिक अर्हताएँ निर्धारित नहीं है। इन अधिकारियों के अनुभव व प्रशिक्षण का लाभ उठाते हुए उन्हें प्रशासनिक पदों पर नियुक्त कर दिया जाता है, ऐसे अधिकारियों को सामान्यज्ञ की संज्ञा दी जाती है।" सामान्यज्ञ का मुख्य कार्य नीति-निर्माण करना है। सामान्यज्ञ के लिए कहा जाता है कि, "Jack of all but Master of none," and "They know less and more and more."

विशेषज्ञ का आशय, "ऐसे अधिकार से है जो किसी कार्य अथवा क्षेत्र विशेष (कृषि, चिकित्सा, शिक्षा, यान्त्रिक) प्राप्त की हो।" जैसे—डॉक्टर, वैज्ञानिक, इंजीनियर, अर्थशास्त्री आदि। "सेवी-वर्ग प्रशासन पर, भारतीय लोक प्रशासन संस्थान नई दिल्ली में आयोजित सम्मेलन में विशेषज्ञों व सामान्यज्ञों की परिभाषा देते हुए कहा गया कि "प्रशासन व्यवस्था में मध्यस्तरीय निरीक्षणात्मक पदों पर ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती है। ये व्यक्ति अपनी शिक्षा व योग्यता के आधार पर अन्य क्षेत्रों में नियुक्ति के अधिकारी नहीं होते हैं। ऐसे अधिकारियों को विशेषज्ञ अथवा तकनीकी अधिकारी की संज्ञा दी जाती है। विशेषज्ञों के लिए कहा जाता है कि, "They know more and more about less and less." प्रशासन में प्रबन्ध व्यवस्था के कुशल प्रशासकों को भारत व ब्रिटेन में सामान्यवादी कहा जाता है, जबकि अमेरिका में इन्हें विशेषज्ञ माना जाता है। इस प्रकार सामान्यज्ञ के बारे में यह कहा जाता है कि वह ऐसा लोक सेवक है, जो प्रबंधकीय वर्ग का सदस्य है तथा नियमों, उपनियमों एवं पद्धति सम्बन्धी व्यवस्था में पूर्ण पारंगत होता है और सामान्यतः POSDCORB के कार्यों को सपादित करता है। जबकि विशेषज्ञ वह है, जो प्रशासन में थोड़ी-थोड़ी जानकारी रखते हुए किसी विशेष कार्य अथवा क्षेत्र में विशेष दक्षता रखता है।

सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ के बीच विवाद

आज विश्व के अधिकांश देशों में प्रशासन व्यवस्था में सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञों के बीच विवाद की समस्या व्याप्त है। खासतौर से यह भारत, इंग्लैण्ड, अमेरिका में अधिक व्याप्त है। इस विवाद की शुरूआत सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में 1965 में हुई जब ब्रिटेन की "फुल्टन समिति" ने अपनी सिफारिश पेश की। भारत में भी इस विवाद के कारण ही डॉ. शाह ने आत्महत्या की तथा प्रदेश में इंजीनियरों की हड़ताल हुई। सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ के मध्य उत्पन्न विवाद के निम्न महत्त्वपूर्ण कारण हैं जिनकी वजह से इनके बीच विवाद उत्पन्न हुआ है—

(1) नीति-निर्धारण एवं निर्णय-निर्माण भूमिका के मध्य संघर्ष—सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञों के मध्य विवाद का ये कारण इस प्रकार उत्पन्न हुआ कि सामान्यज्ञों द्वारा नीति सम्बन्धी निर्माण किया जाता है। जो कि विशेषज्ञों द्वारा एकत्रित तथ्यों व आंकड़ों के आधार पर होता है जबकि विशेषज्ञों का कहना है कि 90% कार्यों का निष्पादन एवं निर्णय निर्माण विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है। अत. कोई भी योजना की असफलता पर जिम्मेदारी विशेषज्ञों पर आती है, जबकि नीति निर्माण का कार्य सामान्यज्ञों द्वारा किया जाता है। अत. जब हम क्षेत्रों में जाकर तथ्य एवं आकड़े एकत्रित करते हैं, उसके आधार पर ही निर्णय लेकर योजनाओं में प्रारूप तैयार करते हैं, तो फिर नीति निर्माण का कार्य भी हमें ही दिया जाना चाहिए, सामान्यज्ञों को नहीं। अत. विवाद ये है कि ऐसी स्थिति में नीति-निर्माण का कार्य किसे सौंपा जाये ?

(2) वेतन, पदस्थिति एवं प्रतिष्ठा में अंतर—सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ के मध्य प्रशासन व्यवस्था में उत्पन्न विवाद का दूसरा कारण वेतन असंगतियाँ एवं सेवा दशाओं का है। विशेषज्ञों का कहना है कि प्रशासन में हम I.A.S. अधिकारियों से किसी प्रकार से कार्य में कम नहीं तथा हमारे उत्तरदायित्व उनसे अधिक जटिल हैं, लेकिन फिर भी हमको उनसे कम वेतन दिया जाता है। हमें पर्याप्त वेतन व भत्ते नहीं दिये जाते हैं, बल्कि हमें पदोन्नति के सामान अवसर भी प्रदान नहीं किये जाते हैं। एक I.A.S. को जल्दी-जल्दी पदोन्नति देकर 5 वर्ष बाद जिलाधीश व 15 वर्ष के बाद केन्द्र सरकार में सह-सचिव तथा राज्य में आयुक्त नियुक्त कर देते हैं। उच्च पद पर पहुँचते-पहुँचते 20-25 वर्ष लग जाते हैं। इसके अलावा विवाद का कारण यह है कि सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ दोनों प्रशासन के आधार स्तम्भ हैं। दोनों प्रशासन में समान कार्य करते हैं, लेकिन फिर भी समाज में I.A.S. को ऊँची प्रतिष्ठा प्रदान की जाती है, उन्हें विशेषज्ञों से ऊपर लगाया जाता है। सामान्यज्ञों एवं विशेषज्ञों के मध्य उत्पन्न विवाद के कारणों की सही तथा व्यावहारिक जानकारी प्राप्त करने के लिए हम विशेषज्ञों एवं सामान्यज्ञों के विचारों को भी जानना होगा। हमें यह देखना होगा कि सामान्यज्ञ विशेषज्ञों की व विशेषज्ञ सामान्यज्ञों की किस कारण बुराई करते हैं तथा उसके पक्ष में क्या तर्क देते हैं ?

सामान्यज्ञों के तर्कपूर्ण विचार (Logical Views of Generalists)

सामान्यज्ञों की अपनी श्रेष्ठता के बारे में कहना है कि उन्हें ब्रिटिश शासनकाल से श्रेष्ठता प्राप्त है जो कि बरकरार रहनी चाहिए, क्योंकि सामान्यज्ञ नीति-निर्माण जैसे महत्त्वपूर्ण निर्णय लेता है। वह प्रशासन के लोक प्रशासन सम्बन्धी कार्यों के कारण जनता से प्रत्यक्ष सम्बद्ध होता है अत. उसको जनता की आवश्यकताओं के बारे में व विकास के बारे में अधिक जानकारी रहती है। अत. संगठनों के विभागाध्यक्ष पर सामान्यज्ञों को ही नियुक्त करना चाहिए।

इसके अलावा सामान्यज्ञ प्रशासन के सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों, नियमों, उपनियमों के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी रखते हैं तथा जनता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं। अत. वे ही राजनेता को एक अच्छे परामर्शदाता के रूप में परामर्श दे सकते हैं।

सामान्यज्ञों को ये भी तर्क हैं कि हम प्रशासन के कार्यों को भली-भाँति जानते हैं, उसका अनुभव रखते हैं तथा नियम, उपनियमों की जानकारी रखते हैं। अत. हम प्रशासन के कार्यों में उचित सहयोग एवं समन्वय कर सकते हैं तथा नीति क्रियान्वियन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर विकास दर तेज कर सकते हैं। सामान्यज्ञों का यह भी तर्क है कि हम ही विशेषज्ञों की समस्याओं को भली-भाँति समझकर मंत्रियों तक पहुँचा सकते हैं क्योंकि हमारे प्रशिक्षण तथा सामान्य पृष्ठभूमि ही इस कार्य के लिए अनुकूल होती है। इसके विपरीत विशेषज्ञों का दृष्टिकोण संतुलित एवं संकीर्ण होता है तथा वे सदैव अभिनति (Bias) से प्रभावित रहकर ही परामर्श देता है। पाल एपलबी के अनुसार, "विशेषज्ञता का हर मूल्य, संकीर्णवादी है और विशेषज्ञ एक ऐसा व्यक्ति होता है। जिसकी जानकारी किसी भी विषय या समस्या के विशिष्ट पहलू तक ही सीमित होती है। इसलिए सामान्यज्ञ ही वह सेवक है जो प्रबंधकीय कला में निपुण होने के कारण नियोजन, निर्देशन एवं समन्वय के कार्यों को भली-भाँति संपादित कर सकता है।"

सामान्यज्ञों ने अपनी श्रेष्ठता को दर्शाते हुए कहा है कि—(1) एक विशेषज्ञ अपने क्षेत्र का विशेषज्ञ हो सकता है, लेकिन वह मंत्री को उचित परामर्श नहीं दे सकता। अत. सामान्यज्ञ परामर्श देने में विशेषज्ञों से श्रेष्ठ हैं।

(ii) विशेषज्ञ क्षेत्र में कार्य करते हैं अतः उन्हें सचिवालय में बैठा दिया जाये तो वह सही कार्य नहीं कर पायेंगे क्योंकि उनके पास एक क्षेत्र विशेष की ही जानकारी है अतः सचिवालयों में सचिवों के पद पर सामान्यज्ञ ही श्रेष्ठ हैं। (iii) विशेषज्ञों के पास इतनी योग्यता नहीं है कि प्रशासनिक कार्यों का सही ढंग से निर्देशन, नियंत्रण एवं समन्वय कर सकें।

विशेषज्ञों के तर्कपूर्ण विचार (Logical Views of Specialists)

विशेषज्ञों द्वारा सामान्यज्ञों को प्रशासन में अधिक महत्व देने तथा विशेषज्ञों की उपेक्षा करने के सम्बन्ध में विशेषज्ञों ने अपने पक्ष में तर्क दिये गये हैं कि 1947 से पूर्व तक केन्द्रीय शासन में अधिकांश पदों के I.C.S. के लिए सुरक्षित रखा जाता था। यद्यपि स्वतंत्रता के पश्चात् इन पदों के सुरक्षित रखने की कोई व्यवस्था नहीं रखी गई, लेकिन फिर भी आज केन्द्रीय प्रशासन I.A.S. पर निर्भर है तथा आज भी स्थिति यह है कि सचिवालय में 50% से भी अधिक उप-सचिव उच्च पदों पर I.A.S. की नियुक्ति ही की जाती है।

विशेषज्ञों ने पिछले दशक में केन्द्र व राज्य सरकारों में उच्च पदों पर सामान्यवादियों के प्रभुत्व को इस आधार पर चुनौती दी कि अधिकाश उच्च पदों में सचिव, उप सचिव के पदों पर सामान्यज्ञों के होने से उनका मंत्रियों से प्रत्यक्ष संपर्क नहीं हो पाता तथा उन्हें सुझाव व समस्याओं को सामान्यज्ञ के माध्यम से पहुँचाना पड़ता है, जिससे उसकी सही व्याख्या नहीं हो पाती है। परिणामस्वरूप इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव नीति के क्रियान्वयन स्तर पर पड़ता है और सारी कमियों व दोष विशेषज्ञों के सिर पर डाल दी जाती हैं। इससे विशेषज्ञ सेवाओं में असंतोष बढ़ता है एव प्रोत्साहित नहीं हो पाते हैं।

विशेषज्ञ अपना रोष प्रकट करते हुए कहते हैं कि—(i) सचिव, मंत्री महोदय को जो परामर्श देते हैं वह हमारे द्वारा तैयार किये गये आँकड़ों व तथ्य के आधार पर ही होते हैं। अगर हम ये आँकड़े उपलब्ध न करायें तो सामान्यज्ञ मंत्री को परामर्श नहीं दे सकता। (ii) तकनीकी व विशेष कार्यों जैसे—कृषि, सिंचाई, आर्थिक नियोजन, स्वास्थ्य, इंजीनियरी आदि में इनकी भूमिका नहीं के बराबर है। (iii) अगर कोई कार्य या योजना सफल होती है तो उसका श्रेय मंत्री महोदय को जाता है और अगर कोई कार्य या योजना असफल रहती है तो उसका सारा दोष विशेषज्ञों सिर मढ़ा जाता है कि इन्होंने योजना या परियोजना बनाते समय सही आँकड़े व तथ्य उपलब्ध नहीं कराये। (iv) विशेषज्ञों का कहना है कि मंत्री को परामर्श देने में विशेषज्ञ व सामान्यज्ञ में कोई अंतर नहीं है क्योंकि प्रशासनिक नेतृत्व के गुण तो हम विशेषज्ञों में भी होते है। (v) अगर हमें प्रशासन में सामान्यज्ञ की जगह बैठा दिया जाए तो उससे कर्मचारियों का मनोबल बढ़ेगा।

विवाद का समाधान एवं सुझाव

लोक प्रशासन में सामान्यज्ञों एवं विशेषज्ञों की भूमिका तथा उनकी परस्पर उपेक्षता की समस्या पर भारत सरकार की विभिन्न परामर्शदात्री संसदीय समितियों ने विभिन्न प्रतिवेदनों में इस समस्या के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया है तथा इस दृष्टि से आनुकूल प्रशासनिक सुधार की आवश्यकता पर बल दिया है, किन्तु नवीनता व नवोन्मेष के प्रति वर्तमान पद्धति में जो अन्तर्निहित विरोध है, उसके कारण अधिक सफलता नहीं मिल सकी है।

योजना आयोग ने अपने पचवर्षीय प्रलेख में जो लोक सभा द्वारा विधिवत् अनुमोदित था, में कहा है कि, "पुरातन सगठन एव उसमें शासन विधान का ढाँचा सर्वथा सामान्य प्रशासन के अनुरूप गढ़ा गया है। अत: इसे ढंग से सशोधित करना होगा कि विशेषज्ञ, तकनीशियन एव विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्ति प्रशासन के सभी स्तरों पर उत्तरदायित्वपूर्ण ढग से अपना योगदान प्रदान कर सकेंगे।"

द्वितीय वेतन आयोग (1959) ने अपने प्रतिवेदन में कहा कि जिस विभाग का कार्य मुख्यतः तकनीकी हो, हमारे विचार से यह वाछनीय है कि उस विभाग का सचिव ऐसा व्यक्ति हो जो प्रशासनिक योग्यता रखने तथा सम्बन्धी मामलों पर व्यापक सरकारी दृष्टिकोण अपनाने की क्षमता के साथ-साथ उस क्षेत्र विशेष में तकनीकी पृष्ठभूमि भी रखता हो।

संसद की प्राक्कलन समिति ने 1969 में अपनी सिफारिश की तथा कहा कि, "समिति यह आशा करती है कि सरकार वैज्ञानिक, औद्योगिक एवं तकनीकी विषयों से सम्बद्ध संस्थाओं, विभागों और मत्रालयों के प्रशासनाध्यक्षों के रूप में तकनीकी पृष्ठभूमि, प्रशिक्षण और अनुभव सम्पन्न अधिकारियों की काफी सख्या में भर्ती करने के लिए कतिपय क्रियात्मक कदम उठायेगी।"

तृतीय वेतन आयोग, 1973 ने अपनी प्रतिवेदन में कहा था कि भारतीय प्रशासनिक सेवा के साथ बराबरी की माँग पर हमने काफी विचार किया है। इस माग के समर्थन में जो आधारभूत तर्क प्रस्तुत किये गये हैं, उनका औचित्य प्रासगिकता नि सकोच मान्य है। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इंजीनियरी सेवा को सौंपी गई महत्त्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए उन्हें न तो तदनुरूप परिस्थितियों से वंचित रखा जाये और न ही सरकार द्वारा उनकी सेवाओं के मूल्यांकन में कोई कमी रखी जाये।

प्रशासनिक सुधार समिति (राजस्थान) (1962)—इस समिति ने सिफारिश की कि, "तकनीकी विभागाध्यक्षों" (PWD, PHED, Agriculture) को सचिवालय में नीति निर्माण में संयुक्त किया जाना चाहिए। इसके लिए पदेन पदों (Ex-Officio) की व्यवस्था की जाये। प्रशासनिक सुधार समिति ने 1963 में अपनी रिपोर्ट में कहा कि प्रयोग के तौर पर निम्न तीन विभागों के चीफ इंजीनियरों को सचिवालय में पदेन सचिव तथा पदेन उपनिदेशक पद पर लगाना चाहिए, जैसे—चीफ इंजीनियर PWD चीफ इंजीनियर PHED तथा Social Welfare Department का निदेशक।

इस व्यवस्था में पदेन अधिकारियों को राजस्थान में सबसे पहले अपनाया तथा इस व्यवस्था का अध्ययन Rajasthan State Evaluation Organization ने किया तथा निम्न बातें सामने आयीं—सचिवों से (PHED, PWD, Finance, Planning) बात करने पर एक सचिव ने इस व्यवस्था को अच्छा बताया, जबकि तीन ने इसे तुरन्त बंद करने को कहा तथा ये भी कहा कि इन्हें अत्यधिक तकनीकी विभागों में ही लागू किया जाना चाहिए। उनसे इस व्यवस्था के आगे जारी रखने के बारे में पूछने पर एक ने स्वीकृति व तीन ने अस्वीकृति दी। इन तीन में से एक सचिव ने कहा कि इसे तुरन्त बंद कर देना चाहिए क्योंकि न तो इन तीनों विभागों की Building को सचिवालय के समीप स्थापित किया गया और न ही ये सचिव जरूरत पड़ने पर पदों पर मिलते हैं। पदेन अधिकारियों से भी इस व्यवस्था के बारे में बात की गई तो उन्होंने कहा कि ये व्यवस्था सही है इससे प्रशासन में तकनीकी गहन अध्ययन हुआ है तथा कार्य शीघ्रता से व खर्चों में मितव्ययता हुई है क्योंकि I A S अधिकारी तकनीकी कार्य नहीं कर पाते, अत हमें ही यह कार्य करना पड़ता है, अत ये व्यवस्था सिंचाई, इण्डस्ट्रीज में भी लागू की जाये। इसके लिए उन्होंने एक उदाहरण दिया और कहा कि इससे कार्यों में देरी नहीं हुई क्योंकि जैसे कोरी फाइल सचिवालय में तकनीकी स्वीकृति के लिए जाती है और नोट लगकर वापस आ जाती थी, लेकिन तकनीकी अधिकारी के सचिवालय में उपस्थिति होने से ये नोट नहीं लगता। इससे कार्यों में देरी नहीं होती। इस अध्ययन के बाद सारांश में ये कहा जा सकता है कि इस व्यवस्था की एक स्पष्ट तस्वीर अभी तक नहीं बन पाई है।

प्रशासनिक सुधार आयोग, 1966—इसने अपने कार्मिक प्रशासन सम्बन्धी प्रतिवेदन में सामान्यज्ञ-विशेषज्ञ समस्या के समाधान हेतु निम्न सुझाव दिये हैं—

(1) IAS सेवा के लिए कार्यात्मक क्षेत्र निश्चित किया जाना चाहिए तथा इसमें भू-राजस्व दण्डाधिकारी कार्य तथा विनियमात्मक कार्यों को इसमें शामिल किया जाना चाहिए।

(2) केन्द्रीय मुख्यालय में उप सचिव व अन्य सम पदों के स्तर पर निम्न आठ विशिष्ट क्षेत्रों (सेवा) की रचना की जानी चाहिए जिसमें सारे पद आ जायें जैसे—आर्थिक प्रशासन औद्योगिक प्रशासन, कृषि तथा ग्रामीण सामाजिक तथा शैक्षणिक कार्मिक वित्तीय, प्रतिरक्षा तथा आन्तरिक सुरक्षा प्रशासन, नियोजन प्रशासन।

(3) लोक सेवाओं के वेतन क्रमों में समान योग्यता का उत्तरदायित्व वाले कर्मचारियों को एक ही वेतन क्रम में रखा जाये।

(4) प्रथम श्रेणी के सभी पदों का मूल्यांकन करके उन्हें समान वैतन क्रमों मे रखा जाये। इसके लिए कार्मिक विभाग कार्य करे।

(5) प्रथम श्रेणी के इंजीनियरिंग पदों पर भर्ती प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से की जानी चाहिए।

(6) प्राविधिक पदों के वरिष्ठ स्तर पर ऐसे लोगों की नियुक्ति का प्रावधान किया जाना चाहिए जिन्हें विश्वविद्यालय तथा औद्योगिक एवं व्यावसायिक अनुभव हो तथा जिनका क्षमता एवं सुविधा वाले लोग सेवा में नहीं है।

(7) गैर-तकनीकी सेवाओं की परीक्षा में डॉक्टर व इंजीनियर विषयों को भी सम्मिलित किया जाये।

(8) केन्द्र में सचिवालय तथा राज्य में कृषि विभागों के लिए भर्ती राज्य कर्मचारियों में से ही की जाना चाहिए।

(9) अनुभवी प्रशासकों एवं विशेषज्ञों की सहायता से सरकार को लोक सेवाओं के प्रशिक्षण के लिए राष्ट्रीय नीति की रचना करनी चाहिए।

(10) वरिष्ठ पदों पर प्रबंध शिक्षा का अभिमुखीकरण, अधिकांशत नीति, रचना, कार्यक्रम, नियोजन पुनरावलोकन तथा समस्या समाधान की ओर होना चाहिए।

(11) वे व्यक्ति जिनका वरिष्ठ प्रबंधात्मक पदों के लिए चयन किया गया है उन्हें अध्ययन के लिए व्यावसायिक शिक्षा संस्थाओं के साथ सम्बद्ध करना चाहिए।

(12) विभागीय पदोन्नत समितियों की रचना होनी चाहिए।

चतुर्थ वेतन आयोग (1986-87) ने अपनी रिपोर्ट में, "प्रशासनिक अधिकारियों की श्रेष्ठता को मान्यता प्रदान की है। इस रिपोर्ट में यह बात साफ कही गई है कि "तकनीकी (विशेषज्ञ) व पेशेवर कर्मचारियों को प्रशासनिक अधिकारियों के मुकाबले वरीयता नहीं दी जा सकती और उन्हें प्रशासन में दूसरी पंक्ति में रहकर ही कार्य करना होगा।" वेतन आयोग ने अपनी रिपोर्ट में तकनीकी विशेषज्ञों व पेशेवर कर्मचारियों की माँगों व

भावनाओं की अपेक्षा करके उनके अत्यधिक काम रखे गये हैं तथा सामान्यज्ञों के वेतन और भत्तों की बढ़ोत्तरी में उदार रुख अपनाया है। जैसे—सर्वोच्च वेतन श्रेणी में मंत्रिमण्डल व सेवा प्रमुख रखे गये हैं। इस प्रकार चौथे वेतन आयोग ने न केवल समावेश की श्रेष्ठता को ही स्वीकार किया है, बल्कि पुष्टि भी की है।

निष्कर्ष (Conclusion)

लोक प्रशासन में अब सामान्यज्ञ v/s विशेषज्ञ का विवाद पुराना हो चुका है, क्योंकि यह ब्रिटिश शासन के देन है। भारत में ये विवाद 60 के दशक से शुरु हुआ था जो अब तक जारी है। अब प्रशासन में सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ अपरिहार्य आवश्यकता बन गये हैं। इन दोनों का योगदान प्रशासन में बराबर है। प्रजातांत्रिक देशों में जहाँ कि शासन का उत्तरदायित्व मंत्रिपरिषद् पर होता है, मंत्रियों के मुख्य सलाहकार सामान्यज्ञ होते हैं जो कि प्रशासन का गहन अनुभव रखते हैं तथा नीतियों के निर्माण एवं क्रियान्वयन के सभी पहलुओं से भली-भाँति परिचित होते हैं। इसके अतिरिक्त मंत्री के सम्बन्धित विभाग के कुशलतापूर्वक संचालन हेतु उत्तरदायी होते हैं। इस स्थिति में परिस्थिति विशेष व समस्या विशेष के समाधान हेतु विशेषज्ञ होते हैं जिसका कि मुख्य कार्य समस्या का निदान करना होता है। ऐसी स्थिति के विशेषज्ञ का ध्यान केवल समस्या निदान करने में होना चाहिए, प्रशासनिक पहलुओं पर नहीं। अत ऐसी स्थिति में मंत्रियों के मुख्य सलाहकार अथवा विभाग का उत्तरदायित्व विशेषज्ञों को सौंपना उचित नहीं होगा। यद्यपि उनकी सलाह पर पूर्ण ध्यान दिया जाना चाहिए तथा नीति, विषयक प्रश्नों पर निर्णय लेते समय विशेषज्ञों की सलाह पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। इस प्रकार प्रशासन में सामान्यज्ञ की स्थिति निर्णायक की तथा विशेषज्ञ की स्थिति सलाहकार की होगी। इन दोनों के विचारों में तारतम्य स्थापित रहना चाहिए। इस हेतु सामान्यज्ञ को विशेषज्ञ से व्यवहार करके समय अत्यन्त सतर्क, ज्ञानशील होना चाहिए। इसके लिए दोनों के वेतन व भत्ते समान होने चाहिए, लेकिन नीति-विषय निर्णायक सामान्यज्ञ ही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कुछ विशेषज्ञ क्षेत्र जैसे—स्वास्थ्य, चिकित्सा, कृषि, शिक्षा, विद्युत तथा वैज्ञानिक केन्द्रों को सामान्यज्ञों की निर्णय शक्ति से परे रखना चाहिए क्योंकि इन क्षेत्रों की विशेष समस्याएँ, ज्ञान व संगठन विशेष प्रकार के होते हैं जो कि सामान्यज्ञ की समझ से परे हैं। अतः उक्त क्षेत्रों में नीति विषयक निर्णय विशेषज्ञ होना चाहिए। जैसा कि 1963 में भारतीय वन सेवा, भारतीय अभियांत्रिक सेवा, भारतीय चिकित्सा व स्वास्थ्य सेवा का गठन किया गया था।

इसके अतिरिक्त प्रशासकीय दायित्वों के विभिन्न पदों पर अधिकाधिक विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाये। इसके अलावा भारत में राजस्थान राज्य ने अपने यहाँ पदेन अधिकारी की व्यवस्था अपनाई है। इसका अन्य राज्यों में भी विस्तार किया जाये जिससे कि विशेषज्ञों में व्याप्त असंतोष को कम किया जाये। लेकिन चौथे वेतन आयोग की रिपोर्ट में सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ के विवाद को कम करने की बजाय बढ़ाया है जिसके कारण रिपोर्ट के पश्चात् डॉक्टर, इंजीनियरों, पेशेवर विशेषज्ञों की देशव्यापी हड़तालें हुई हैं, क्योंकि चौथे वेतन आयोग ने अपने वेतन क्रम में सामान्यज्ञों को श्रेष्ठता प्रदान की है, जबकि विशेषज्ञों को दूसरी पंक्ति में रखा है। जैसे—मंत्रिमण्डल सचिव व सेना प्रमुख को सर्वोच्च वेतन श्रृंखला में रखा है, लेकिन अणुशक्ति आयोग के अध्यक्ष को भी सर्वोच्च वेतन श्रृंखला में रखना एक विवादास्पद प्रश्न है।

प्रतिबद्ध नौकरशाही

(Committed Bureaucracy)

श्रीमती इन्दिरा गाँधी के शासन काल में यह माँग उठाई गई कि प्रशासन तन्त्र प्रतिबद्ध होना चाहिए। 26 जून, 1975 को आपातकाल की घोषणा हुई। इसके बाद तो यह माँग जोर-शोर से उठाई जाने लगी कि जब यह बात कही गई तो इसके पक्ष और विपक्ष में बहुत वाद-विवाद हुआ। पहली बात तो यह उठी कि यदि प्रशासन-तन्त्र प्रतिबद्ध हो तो किसके प्रति ? संसदीय ढंग के लोकतन्त्र में तो जहाँ दलीय सरकार बनती है, प्रतिबद्धता की यह शर्त और भी कठिन होगी। यदि प्रशासन-तन्त्र उस दल विशेष के प्रति प्रतिबद्ध होता है जो आज सत्तारूढ़ है, तो क्या उस दल का शासन बदलने पर प्रशासन को भी नए शासन से असहयोग अथवा विद्रोह कर लेना चाहिए ? क्या प्रतिबद्धता का अर्थ यह होगा कि प्रशासन अपनी निष्पक्ष प्रवृत्ति को त्याग कर सत्तारूढ़ दल अथवा उसके सदस्यों के आदेश या हित की ओर उन्मुख हो ? इस प्रकार के बहुत से प्रश्न इस सन्दर्भ में उठाए गए। इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि प्रतिबद्धता की माँग का यह अर्थ है कि प्रशासन अपनी ऐतिहासिक निष्पक्षता का त्याग कर दे और वर्तमान शासन एवं इसको स्थापित करने वाले दल का इस दर्जे तक स्वामिभक्त बन जाए कि परिवर्तन की संसदीय प्रणालियों को भी अवरुद्ध कर दे। आँख मूदकर वर्तमान शासन का समर्थन तो निश्चय ही न तो लोकतन्त्र के लिए ही हितकारी हो सकता है और न समाज के स्वस्थ विकास के लिए ही। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या प्रतिबद्धता की माँग इस रूप में की जा रही है। वास्तव में प्रशासन तन्त्र से

प्रतिबद्धता की जो माँग की जा रही है वह व्यक्ति अथवा दल के प्रति नहीं, बल्कि उन सिद्धान्तों के प्रति है जो हमारे संविधान में प्रस्थापित हैं और जिनके क्रियान्वयन के लिए हमारी योजनाएँ बनाई जा रही हैं।

उदाहरणार्थ विधान कहता है कि सारे नागरिक कानून की दृष्टि में बराबर होंगे और किसी के साथ धर्म, जाति, जन्म-स्थान आदि के अन्तर के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाएगा। विधान यह भी कहता है कि देश में छुआछूत को सहन नहीं किया जाएगा और इसे अपराध समझा जाएगा। नागरिकों को बोलने, एकत्र होने, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने, किसी भी प्रकार का पेशा करने आदि की स्वतन्त्रता होगी। विधान यह भी कहता है कि राज्य का यह कर्तव्य होगा कि सब नागरिकों के लिए जीवन-पालन के पर्याप्त साधनों की व्यवस्था करे और देश के उत्पादन-साधनों का इस तरह केन्द्रीकरण न होने दे कि देश का धन सार्वजनिक हितों के विरुद्ध थोड़े से कोनों में इकट्ठा हो जाए। यदि प्रशासन में, जिसके हाथ में आज बहुत बड़े अधिकार हैं, इन सिद्धान्तों के प्रति प्रतिबद्धता न हो तो इनका क्रियान्वयन प्रायः असम्भव हो जाएगा। वस्तुस्थिति यह है कि आज प्रशासन के कई क्षेत्रों में इस प्रकार की प्रतिबद्धता नहीं है जिसके फलस्वरूप संविधान के लागू होने के 49 वर्ष बाद भी छुआछूत, असमानता, शोषण, वित्तीय साधनों के कुछ कोनों में केन्द्रीकरण, कानून की दृष्टि से भेदभाव और पैसे या ताकत के बल पर आपाधापी बहुत-सी जगह अब भी कायम है।

सिद्धान्तों के प्रति प्रतिबद्धता की कमी केवल प्रशासन में ही हो, ऐसी बात नहीं है। शासन और सार्वजनिक संस्थाओं में अगणित लोग ऐसे मौजूद हैं जिनको अपने स्वार्थ के सामने संविधान का ध्यान नहीं रहता और जो संविधान के क्रियान्वयन की आड़ में शिकार खेलते हैं और उनका हनन करते हैं। इन लोगों का जितना विश्वास अपने स्वार्थ में है, उतना सामाजिक न्याय में नहीं। अतः कहना पड़ेगा कि सिद्धान्तों के प्रति यह प्रतिबद्धता न केवल प्रशासन-तन्त्र के कुछ अंगों से बल्कि शासन और समाज के और भी बहुत से अंगों से गैर-हाजिर है। अतः प्रतिबद्धता का तकाजा न केवल प्रशासन-तन्त्र से होना चाहिए, बल्कि सामाजिक सेवा और विकास से सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति और संस्था से होना चाहिए। प्रतिबद्धता की माँग के विरुद्ध यह कहा जाता है कि यदि आज शासन करने वाला दल बदल जाए और उनके स्थान पर सरकार में दूसरा दल आ जाए तो इस प्रकार की प्रतिबद्धता का क्या होगा ? यह भय बहुत हद तक काल्पनिक ही है। वास्तव में प्रतिबद्धता व्यक्ति अथवा दल के प्रति नहीं, आदर्शों और सिद्धान्तों के प्रति होनी चाहिए। शासन कोई भी दल सम्भालें यह सम्भावना नहीं है कि वह नया दल जनहित के सर्वमान्य सिद्धान्तों को बिल्कुल उलट देगा। मात्र उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो साधन या प्रक्रिया आज काम में ली जा रही है उसमें नए दल द्वारा कुछ परिवर्तन किए जाने की चेष्टा की जा सकती है, पर सिद्धान्तों को बिल्कुल नकार दिया जाए, यह कल्पनातीत है। इसलिए जनहित के उद्देश्यों के प्रति प्रतिबद्धता से यह भय नहीं है कि लोकतन्त्रीय प्रक्रिया से ऊपर की हुकूमत बदल जाने पर क्या होगा। थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाए कि आने वाला नया शासन जनहित के मौलिक उद्देश्यों में भी भारी उलट-फेर कर देगा तो यदि ऐसा उलट-फेर जन-प्रतिनिधियों की सांविधानिक सहमति से होता है तो हमको अपनी प्रतिबद्धता में आवश्यक परिवर्तन कर लेने में संकोच नहीं होना चाहिए। यह निश्चय है कि प्रशासन कल्याणकारी राज्य को समर्थ वाहक उसी समय हो सकता है जब देश के लिए कल्याणकारी संविधान और उसकी उपलब्धि के लिए बनने वाली योजना में हमारा हार्दिक और सक्रिय सहयोग हो। सहयोग की इस भावना को ही प्रतिबद्धता समझा जाना चाहिए।[1]

---

1 राज्यशास्त्र समीक्षा, जनवरी, 1973

वित्तीय प्रशासन : बजट की अवधारणा

(Financial Administration : Concept of Budget)

वित्त प्रशासन का जीवन-रक्त है, दोनों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। वित्त के अभाव में सरकार ठीक वैसे ही कोई कार्य नहीं कर सकती जैसे बिना पैट्रोल के मोटरकार नहीं चल सकती। लॉयड जॉर्ज ने एक बार कहा था कि जिसको शासन कहते हैं, वह वास्तव में वित्त है। सभी उद्यम वित्त पर निर्भर हैं, अत कोषागार पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। टास्क फोर्स हूवर कमीशन के अनुसार, वित्त आधुनिक शासन के अन्त स्थल तक पहुँच गया है। डॉ. एल. डी. व्हाइट के अनुसार, प्रशासन और वित्त को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, प्रत्येक प्रशासनिक कार्य का आर्थिक पहलू होता है जो उससे वैसे ही अपृथक्करणीय होता है जैसे मनुष्य और उसकी छाया। विलोबी ने लिखा है कि एक पक्ष शासन की समस्या में अन्तर्निहित विविध तत्त्वों में वित्तीय प्रशासन से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई दूसरा तत्त्व नहीं है।

वित्त और लोक प्रशासन में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सामान्यत· वित्त और लोक प्रशासन तीन कड़ियों से जुड़े हुए हैं—प्रथम, प्रशासन के अधिकांश कार्यों का आधार धन है, द्वितीय, लोक-हित की कोई भी योजना कार्यान्वित की जाए अथवा किसी भी प्रगतिशील नीति को अपनाया जाए, उसमें धन लगाना पड़ता है एवं तृतीय, वित्तीय तथा प्रशासनिक मामले अनेक स्तरों पर साथ-साथ उठते हैं और उन्हें सुचारू रूप से सम्बद्ध करना आवश्यक होता है। वित्तीय प्रशासन राजकीय शासन-प्रबन्ध का ही एक अंग है और यह विज्ञान तथा कला दोनों है। विज्ञान के रूप में यह राजकीय-वित्त व्यवस्था को नियन्त्रित और व्यवस्थित करने के लिए निश्चित नियमों तथा सिद्धान्तों की स्थापना करता है और कला की दृष्टि से यह सरकारी संगठन का वह भाग है जो राजकीय कोषों के संग्रह, सरक्षण एवं वितरण का, राजकीय आय और व्यय के समायोजन का, राज्य की ओर से किए जाने वाले साख सम्बन्धी कार्यों की व्यवस्था का तथा राजकीय कार्य व्यापार के वित्तीय मामलों के सामान्य नियन्त्रण का अध्ययन कराता है। लोक प्रशासन से सम्बन्धित कोई भी अध्ययन तब तक अपूर्ण रहेगा जब तक वित्तीय प्रशासन को इसमें सम्मिलित न किया जाए।

वित्तीय प्रशासन : अर्थ एवं उद्देश्य

(Financial Administration : Its Meaning and Objectives)

प्रत्येक सरकार अपने कार्य और दायित्व सम्पन्न करने के लिए विभिन्न स्रोतों से आय प्राप्त करती है। समस्या यह उत्पन्न होती है कि आय का व्यय किस प्रकार किया जाए, व्यय की व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य क्या हो तथा इस व्यवस्था की विधि क्या हो ? सामान्यतः सभी इस विचार से सहमत हैं कि सरकार को अपने आय-व्यय का प्रबन्ध इस प्रकार करना चाहिए कि समाज के सभी वर्गों पर आय का यथासाध्य समान भार पड़े अर्थात् किसी एक वर्ग पर अधिक या विशेष भार न पड़े और सरकारी व्यय से समाज को अधिकतम लाभ पहुँचे। एक व्यक्ति के लिए भी यह अनिवार्य हो जाता है कि वह अपनी आय और व्यय में सन्तुलन बनाये रखे। व्यक्ति की तरह सरकार के लिए भी इस प्रकार का व्यवहार अथवा यह जागरुकता अनिवार्य है। उसे चाहिए कि आय के सचय में न्यायोचितता और व्यय में आवश्यक मितव्ययता बरते। यह सब कुछ मोटे रूप में वित्तीय शासन की विषय-सामग्री है। यह देखना भी वित्तीय प्रशासन का कर्त्तव्य है कि व्यवस्थापिका कहीं जनता पर अनुचित कर-भार तो नहीं डाल रही है। उसे यह भी ध्यान रखना होता है कि व्यय के लिए स्वीकृत राशि को उचित रूप में खर्च किया जाए और सभी विभागों को अपने-अपने कार्यों के लिए पर्याप्त मात्रा में धन सुलभ हो। वित्तीय प्रशासन दक्षता और मितव्ययता दोनों को संयुक्त करके चलता है। विभिन्न राष्ट्रीय विकास योजनाओं के सापेक्षिक महत्व (Relative Importance) को आँकते हुए उन्हें प्राथमिकता दिलाने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी आजकल वित्तीय प्रशासन को ही करना पड़ता है।

वित्तीय प्रशासन शब्द वस्तुत बहुत ही व्यापक है जिसमें अनेक क्रियाएँ सम्मिलित हैं। फिफनर (Pfiffner) के अनुसार वित्तीय प्रशासन एक गतिशील प्रक्रिया (A Dynamic Process) है, जिसके उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. बजट तैयार करना (Preparation of Budget) अर्थात् सरकार के आय-व्यय का अनुमान लगाना।
2. बजट के लिए व्यवस्थापिका की अनुमति (Legislative Approval of the Budget) प्राप्त करना।
3. बजट अर्थात् आय-व्यय सम्बन्धी क्रियाओं को क्रियान्वित करना (Execution of the Budget)।
4. वित्त या राजकोष द्वारा प्रबन्ध (Treasury Management) अर्थात् बजट सम्बन्धी समस्त प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में संशोधन के प्रति उत्तरदायित्व या समुचित रूप से हिसाब-किताब रखना और उसकी जाँच कराना।
5. विधायी उत्तरदायित्व (Legislative Accountability) अर्थात् बजट सम्बन्धी समस्त प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में संसद् के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह करना।

संक्षेप में, वित्तीय प्रशासन के अन्तर्गत राजकीय आय का संचय, संरक्षण और वितरण, आय तथा व्यय का समायोजन, राजकीय ऋणों की व्यवस्था, राज्य के वित्तीय मामलों का सामान्य नियन्त्रण आदि का समावेश होता है। जहाँ तक आय का सम्बन्ध है, आय प्राप्त करने की सभी रीतियाँ या विधियाँ देश के संविधान द्वारा निश्चित की जाती हैं। देश की कार्यपालिका सरकारी आय और ऋणों की व्यवस्था करती है तथा जाँच या अंकेक्षण विभाग (Audit Department) हिसाब-किताब की पुस्तकों की जाँच-पड़ताल करता है। देश का केन्द्रीय बैंक अर्थात् रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया सरकारी खजांची का काम करता है। कार्यपालिका आय-व्यय को ध्यान में रखते हुए अनुमान तैयार करती है जो मुख्यत वित्त-मन्त्रालय द्वारा किया जाता है और जिसको स्वीकृति के लिए संसद् के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। आय-व्यय के बारे में समय-समय पर रिपोर्ट आदि तैयार की जाती हैं जिन्हें संसद् में पेश किया जाता है ताकि नियन्त्रण में कुशलता बनी रहे। वित्तीय प्रशासन का मूल लक्ष्य वित्तीय स्रोतों का उचित ढंग से उपभोग करना होता है। विभिन्न विभागों के वित्तीय क्रियाकलापों में तालमेल स्थापित करने का कार्य भी वित्तीय प्रशासन का ही कार्य है।

वित्तीय प्रशासन के मुख्य सिद्धान्त
(Major Principles of Financial Administration)

वित्तीय प्रशासन की कुशलता के लिए जिन आधारभूत सिद्धान्तों का अवलोकन आवश्यक है, सामान्यतया वे निम्नलिखित हैं—

1. प्रभावशाली नियन्त्रण—यह आवश्यक है कि वित्त की प्रत्येक अवस्था पर कठोर नियन्त्रण रहे। यह नियन्त्रण कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों की ही ओर से होना चाहिए। यह उचित है कि नियन्त्रण यथासम्भव सरल हो।

2. व्यवस्थापिका का इच्छानुसार कार्य-निर्वहन—वित्तीय मामलों में व्यवस्थापिका की इच्छानुसार काम किया जाना चाहिए, क्योंकि वही जन-इच्छा की प्रतिनिधि होती है। इस प्रकार व्यवस्थापिका देश की जनता की इच्छाओं, भावनाओं, अपेक्षाओं और आकांक्षाओं की प्रतीक होती है। अत कार्यपालिका का यह कर्तव्य है कि वह व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित वित्त की प्राप्ति और व्यय की योजना बनाए। आज की बजट प्रणाली इसी सिद्धान्त का अनुपालन करती है।

3. संगठन की एकता—वित्तीय प्रशासनिक व्यवस्था की प्रत्येक अवस्था पर शासन में एकरूपता होनी चाहिए जो तभी सम्भव है जब सम्पूर्ण व्यवस्था का केवल एक ही अधिकारी नियन्त्रण करने वाला हो। अत आवश्यक है कि वित्तीय प्रशासन पर केन्द्रीय सरकार समुचित नियन्त्रण रखे और प्रत्येक सम्बन्धित अधिकारी की जिम्मेदारी निश्चित कर दे। इसके लिए यह जरूरी है कि वित्तीय संगठन का एकीकरण कर दिया जाए। केन्द्रीयकरण और एकीकरण का आशय निरंकुशता या स्वेच्छाचारिता नहीं है। यह इसलिए आवश्यक है कि विभिन्न अधिकारियों के बीच समन्वय बना रहे और उच्चाधिकारी अपने अधीनस्थ तथा निचले अधिकारियों पर नियन्त्रण रख सकें।

4. सरलता—वित्तीय प्रशासन व्यवस्था सरल होनी चाहिए जिसमें कार्यों का सम्पादन शीघ्रता और नियमितता के साथ हो। ऐसा होने पर ही शासन में वांछित मितव्ययता आ सकेगी और लोग शासन-प्रबन्ध के कार्य-संचालन को समझ सकेंगे। तभी वित्तीय प्रशासन कुशल और शीघ्र बन सकेगा। नियमितता और मितव्ययता तभी आएगी जब प्रत्येक व्यय इस प्रकार किया जाएगा कि उसका पूरा लाभ प्राप्त हो सके।

इस प्रकार वित्तीय प्रशासन राज-कोष पर कड़ा नियंत्रण रखकर जनकल्याणकारी कार्यों को क्रियान्वित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है।

वित्तीय प्रशासन के अभिकरण
(Agencies of Financial Administration)

वित्तीय प्रशासन का गठन देश-विदेश के अनुरूप न्यूनाधिक भिन्न हो सकता है तथापि लोकतान्त्रिक राज्यों में सामान्यतः निम्नलिखित साधनों अथवा अभिकरणों द्वारा वित्त सम्बन्धी क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं—

व्यवस्थापिका (The Legislature)

प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में राजस्व पर व्यवस्थापिका का अधिकार होता है। व्यवस्थापिका ही आय-व्यय की मदों को निर्धारित करती है। संसद् की सत्ता इस सिद्धान्त पर आधारित है कि बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर न लगाया जाए। वार्षिक बजट के माध्यम से सार्वजनिक धन का सरकारी क्रियाओं पर खर्च के लिए विनियोजन कर, करों की अनुमति देना तथा करों की वर्तमान दरों में वृद्धि करना, वास्तविक ऋण की शक्ति प्रदान करना, लेखों के समुचित नियन्त्रण द्वारा व्ययकारी सत्ताओं पर वित्तीय उत्तरदायित्व लागू करना, आदि कार्य व्यवस्थापिका के ही हैं। अधिकांश लोकतन्त्रात्मक देशों में इन कार्यों का सम्पादन प्रायः निम्न सदन करता है जो कि एक निर्वाचित सदन होता है। उच्च सदन की वित्तीय शक्तियाँ विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न हैं। भारत की संसदीय पद्धति ब्रिटिश प्रणाली पर आधारित है। ब्रिटिश लोकसत्ता की भाँति भारतीय लोकसभा भी वित्तीय स्वीकृति तभी देती है जब धन के लिए माँगें उसके समक्ष बजट के रूप में राष्ट्रपति द्वारा प्रस्तुत की जाएँ। लोकसभा की स्वीकृति के बिना बजट पारित नहीं हो सकता है। राज्यसभा यदि बजट को पारित नहीं करे तो भी सरकार को त्यागपत्र नहीं देना पड़ता है। कार्यपालिका अनुदानों की माँगों और करारोपण के प्रस्तावों को संसद् के सम्मुख प्रस्तुत करती है और संसद इस पर अपनी स्वीकृति प्रदान करती है। संसद को इनमें वृद्धि करने का अधिकार नहीं होता, वह केवल कटौती कर सकती है।

कार्यपालिका (The Executive)

वित्तीय प्रशासन का एक दूसरा मुख्य अभिकरण कार्यपालिका है जिसके द्वारा वित्तीय नीति का निर्धारण और वित्तीय माँगों का व्यवस्थापिका के सम्मुख प्रस्तुतीकरण होता है। बजट-निर्माण का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व कार्यपालिका का होता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 112 के अनुसार, "राष्ट्रपति संसद् के दोनों सदनों के सम्मुख वित्तीय वर्ष के लिए सरकार की अनुमानित प्राप्तियों और व्यय का एक विवरण प्रस्तुत करता है।" राष्ट्रपति की पूर्वानुमति के बिना केन्द्रीय वित्तमंत्री संसद में बजट प्रस्तुत नहीं कर सकता है।

वित्त विभाग (The Finance Department)

वित्तीय मामलों की देख-रेख करने वाला केन्द्रीय विभाग एक या एक से अधिक हो सकता है। यह विभाग विभिन्न प्रशासकीय मन्त्रालयों के साथ विचार-विमर्श करके वार्षिक वित्त विवरण तैयार करता है। बजट पर संसदीय अनुमति प्राप्त हो जाने पर वित्त मन्त्रालय ही सरकार के सम्पूर्ण व्यय को नियन्त्रित करता है और यह देखता है कि प्रशासकीय मन्त्रालयों द्वारा सार्वजनिक व्यय में मितव्ययता बरती जाए। वस्तुतः वित्तीय प्रशासन के सम्पूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह वित्त मन्त्रालय द्वारा किया जाता है। ग्रेट ब्रिटेन में यह दायित्व राजकोष पर और भारत तथा अधिकांश राष्ट्रमण्डलीय देशों में वित्त-मन्त्रालय पर है। संयुक्त राज्य अमेरिका में वित्तीय व्यवस्था का संचालन करने के लिए ऐसी कोई एकीकृत व्यवस्था नहीं है। वहाँ अनेक पृथक् विभाग और अभिकरण वित्तीय प्रशासन के विभिन्न पहलुओं का संचालन करते हैं।

लेखा-परीक्षा विभाग (The Audit Department)

यह विभाग देखता है कि व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत धन का व्यय व्यवस्थापिका के आदेशानुसार ही हुआ है या नहीं। लेखा-परीक्षा विभाग कार्यपालिका के अधीन न होकर एक स्वतन्त्र निकाय होता है। धन व्यय हो चुकने के उपरान्त लेखा-परीक्षा द्वारा सम्पूर्ण व्यय पर 'बन्देबी प्रकाश' डाला जाता है, अर्थात् उसकी बारीकी से जाँच की जाती है ताकि व्यय की वैधता और औचित्य का निश्चय हो जाए। भारत में 1913 से ही लेखा-परीक्षा की स्वतन्त्रता सामान्य रूप से मान्यता प्राप्त कर चुकी है और वर्तमान संविधान के अनुच्छेद 148 से 151 लेखा नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक के कार्यों एवं स्थिति पर प्रकाश डालते हैं और उसे केवल संसद् के समक्ष उत्तरदायी ठहराते हैं। इस विभाग का वित्त-प्रशासन में भारी महत्त्व है।

संसदीय समितियाँ (Parliamentary Committees)

संसद् की दो महत्त्वपूर्ण समितियाँ—अनुमान समिति (Estimates Committee) तथा सार्वजनिक लेखा समिति (Public Accounts Committee) देश के वित्तीय संगठन पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखती है। अनुमान समिति सरकार के विभिन्न विभागों के व्यय में मितव्ययता लाने के सुझाव देती है। सार्वजनिक लेखा समिति

नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन को ध्यान में रखते हुए विनियोजन-लेखा की जाँच करती है और उनमें पाई जाने वाली वित्तीय अनियमितताओं की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करते हुए भविष्य में उनकी रोकथाम के लिए सुझाव देती है। ये महत्वपूर्ण समितियाँ ग्रेट ब्रिटेन, भारत तथा अधिकांश राष्ट्रमण्डलीय देशों में पाई जाती हैं, संयुक्त राज्य अमेरिका में नहीं।

उपर्युक्त सभी साधनों अथवा उपकरणों द्वारा सार्वजनिक धन के व्यय पर आवश्यक नियन्त्रण रखा जाता है। वित्तीय नियन्त्रण का अन्तिम उद्देश्य शासन को जागरूकता, ईमानदारी और मितव्ययता के साथ संचालित करना होता है ताकि सरकार को जो धन करदाताओं से प्राप्त हुआ है, उसका दुरुपयोग न हो सके।

बजट की अवधारणा
(Concept of Budget)

बजट सम्बन्धी प्रक्रिया को प्रशासन का केन्द्र बिन्दु माना जाता है क्योंकि राज-कोष का नियन्त्रण समन्वय का सर्वाधिक शक्तिशाली साधन है। समस्त सरकारी कार्यों का क्षेत्र एवं स्वरूप विभिन्न बड़े कार्यों के लिए निश्चित धनराशि के आधार पर निर्धारित किया जाता है। यह सरकार के वित्तीय प्रशासन का मुख्य उपकरण है। 'बजट' शब्द की निष्पत्ति फ्रांसीसी भाषा के शब्द 'बाजते' (Bougette) से हुई है जिसका अर्थ है चमड़े का थैला। वित्त मन्त्री वार्षिक आय-व्यय के अनुमान के कागजात इस थैले में रखकर संसद् में लाता था। सन् 1773 में ब्रिटेन में हाउस ऑफ कॉमन्स में किसी ने व्यंग्य रूप में कह दिया कि "वित्त मन्त्री ने अपना बजट खोला है।" तब से सरकार के आय-व्यय के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। जी. जेजे के कथनानुसार, "यह सम्पूर्ण सरकारी प्राप्तियों (Receipts) एवं खर्चों का पूर्वानुमान (Forecast) तथा अनुमान (Estimate) है। यह कुछ प्राप्तियों का संग्रह करने तथा कुछ का व्यय करने का एक आदेश है।" प्रो. विलोबी के मतानुसार, "बजट सरकारी आय-व्यय का अनुमान तथा एक प्रस्ताव है (अथवा उसे होना चाहिए)। यह एक ऐसा लेख-पत्र है जिसके माध्यम से कार्यपालिका व्यवस्थापिका के सम्मुख आती है और विस्तार के साथ अतीत, वर्तमान तथा भविष्य की वित्तीय स्थिति का प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है।" बजट का वार्षिक होना आवश्यक नहीं है। वह अनेक वर्षों के लिए एक दीर्घकालीन बजट हो सकता है और एक सप्ताह के लिए अल्पकालीन बजट भी हो सकता है। लोक प्रशासन में बजट का अर्थ केवल सरकारी सत्ता के बजट से है और यह प्रायः वार्षिक आधार पर बनाया जाता है।

'बजट' शब्द का अर्थ देश के अनुसार भी बदलता है। जो वित्तीय योजना स्वीकृति के लिए व्यवस्थापिका में प्रस्तुत की जाती है उसे भी बजट कहा जाता है और जो स्वीकृत योजना व्यवस्थापिका द्वारा पास कर ली जाती है उसे भी हम बजट का नाम देते हैं। भारत में इस शब्द का प्रयोग कभी-कभी व्यय के अनुमानों के समानार्थक के रूप में किया जाता है जबकि इंग्लैण्ड में यह शब्द प्रायः वित्तीय योजना के स्वरूप या कर-भाग से सम्बन्ध रखता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह शब्द सम्पूर्ण वित्तीय प्रक्रिया के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिसमें बजट की तैयारी, व्यवस्थापिका द्वारा उसकी रचना, उसकी क्रियान्विति, लेखांकन, लेखा-परीक्षा आदि को सम्मिलित किया जाता है। जोसेफ पोइस (Joseph Pois) ने लिखा है कि "बजट एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक सरकारी अभिकरण की वित्तीय नीति निर्धारित और संचालित की जाती है।"

संक्षेप में, बजट में अतीत और वर्तमान की सूचनाएँ एकत्रित करके उनके आधार पर भविष्य के लिए वित्तीय योजनाओं का निर्माण किया जाता है। इसी के आधार पर यह प्रतिवेदन दिया जाता है कि ये योजनाएँ कहाँ तक क्रियान्वित की गईं। बजट कार्यवाही की एक योजना है जो आने वाले वित्तीय वर्ष के लिए मुख्य कार्यपालिका को प्रतिबिम्बित करती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बजट सरकार की नीतियों और प्राथमिकताओं का प्रतिबिम्ब होता है। इसके माध्यम से ही इस बात का निर्धारण किया जाता है कि सरकार की आर्थिक नीतियाँ क्या हैं, और वह किस दिशा की ओर उन्मुख है। अतएव बजट को किसी भी देश की वित्तीय नीतियों का प्रतिबिम्ब या तस्वीर माना जा सकता है।

इस प्रकार 'बजट' उन प्रलेखों को कहते हैं जो सरकार द्वारा संसद के सम्मुख प्रति वर्ष एक निर्धारित तिथि पर अथवा उसके पश्चात् प्रस्तुत किए जाते हैं तथा जिसमें यह दिया होता है कि आने वाले वित्तीय वर्ष (बजट वर्ष) में सरकार का अनुमानित व्यय क्या होगा तथा उसी काल के मध्य आय क्या होगी। यह आय व्यय वर्तमान लागू नियमों के अधीन होते हैं और यदि सरकार द्वारा कराधान प्रस्तावों पर विचार किया गया है तो इनके परिणाम स्वरूप बजट का प्राथमिक उद्देश्य व्यापक सूचना को प्रकट करना भी हो सकता है ताकि सरकार की सम्पूर्ण वित्तीय स्थिति का परिचय मिल सके तथा जिससे संसद इन वित्तीय कार्यक्रमों के प्रभाव को देश की अर्थव्यवस्था पर पूर्ण तथा समुचित रूप से आंक सके।

बजट एक ऐसी योजना अथवा कार्यक्रम है जोकि विगत के अनुभवों पर बनाया गया होता है तथा इस प्रकार की योजना तथा कार्यक्रम व्यवस्थित तथा संगठित होने चाहिए तथा कार्यान्वयन के लिए तैयार होने चाहिए। इस प्रकार की योजना अथवा कार्यक्रम को सरकार की आर्थिक नीति, राजनीतिक नीति तथा सामाजिक नीति तथा विचाराधीन देश द्वारा स्वीकृत आर्थिक विचारधारा उत्साहित करती है। इस योजना तथा कार्यक्रम को वित्तीय परिप्रेक्ष्य में तैयार किया जाता है।

बजट में सम्मिलित किए गए आकलन केवल अनुमान होते हैं, वास्तविक अनुमान मूल अनुमानों के अनुसार नहीं होते, जब बजट कार्यान्वित किया जाता है तथापि बजट में आय तथा व्यय का स्रोत जितना सटीक हो सके उतना होना चाहिए। यथार्थता उस समय आवश्यक हो जाती है यदि आकलन में स्थापित सन्तुलन को अन्त तक बनाए रखना हो तथा यथार्थ में इस को पाना हो। इसके अतिरिक्त, एक आकलन यदि यह बड़ी सीमा तक सही नहीं है, तो वह मात्र एक कल्पना बन जाता है। कोई भी बजट सरकार के कार्यों की एक व्यापक योजना है। "व्यापकता से तात्पर्य है कि बजट एक एकीकृत कथन में सरकार की समस्त वित्तीय आवश्यकताओं का संकलन करता है चाहे यह आय से सम्बन्धित हो अथवा व्यय से तथा सरकार की वित्तीय अवस्था के वर्तमान समस्याओं के साथ अथवा भविष्य के आकलनों के साथ।" "बजट की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता इसकी व्यापकता है एक ही समेकित कथन में भूत तथा भविष्य के व्यय तथा आय के तथ्य, राजकोष की वास्तविक वित्तीय दशा तथा राजकोष की दशा कैसी होगी यदि बजट में दिए गए वित्तीय प्रस्तावों का कार्यान्वयन किया जाए, सकलित होने चाहिए। इसके अलावा इन कथनों को संतुलित विवरण में प्रस्तुत किया जाना चाहिए ताकि विगत क्रियाओं तथा प्रस्तावित भविष्य के प्रस्तावों में सम्बन्ध स्थापित हो सके, आय तथा व्यय एवम् साधनों तथा दायित्वों के मध्य अन्तर को स्पष्टता से देखा जा सके। इस प्रकार बजट सरकार को वित्त देने की सम्पूर्ण समस्या को किसी एक काल में प्रस्तुत करता है तथा वैधानिक रूप से समस्त व्यय सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा समस्त प्रत्याशित आय के सम्बन्ध पर केन्द्रित करता है।" बजट को सरकार की समस्त आय तथा व्यय को दिखाना चाहिए, वार्षिक योजना होते हुए भी बजट कुल मिलाकर लम्बी अवधि के लिए भी बनाये जाते हैं। वर्ष एक परम्परागत अवधि है जो कि देश की अर्थव्यवस्था के लिए महान् महत्त्व की प्राकृतिक संवृत्ति पर आधारित होता है। निरपवाद रूप में बजट कार्यपालिका की ओर से तैयार किया जाता है तथा प्रस्तुत किया जाता है। कोई भी असरकारी सदस्य विधान मण्डल में बजट प्रस्तुत नहीं कर सकता। संसदात्मक लोकतन्त्र में बजट विधान मण्डल के समक्ष वैधानिक स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है तथापि बजट के कार्यान्वयन का दायित्व पुनः कार्यकारिणी का ही है, किन्तु मण्डल बजट के कार्यान्वय के पश्चात् भी इन पर नियन्त्रण रखता है। दर्शित रूप से यह एक ऐसा प्रलेख है जिसके माध्यम से मुख्य कार्यकारी, कोष एकत्र करने वाले तथा कोष स्वीकृत करने वाले प्राधिकरण के समक्ष इस बात का पूर्ण प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है कि विगत पूर्ण हुए वर्ष में उसने तथा उसके अधीनस्थों ने मामलों का किस प्रकार से संचालन किया है तथा वर्तमान राजकोष की स्थिति क्या है।

बजट की अवधि
(The Term of Budget)

बजट की तैयारी का आधार वित्तीय वर्ष होता है। बजट के प्रारम्भ होने की तिथि प्रत्येक देश में अलग-अलग होती है। भारत, इंग्लैण्ड और अनेक राष्ट्र-मण्डलीय देशों में वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल से प्रारम्भ होता है और 31 मार्च तक चलता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर मार्च, 1999 तक देश के सभी वित्तमंत्रियों ने नियमित रूप से 28 फरवरी को बजट पेश किये। संयुक्त राज्य अमेरिका, इटली, स्वीडन आदि देशों में यह 1 जुलाई से 30 जून तक चलता है जबकि फ्रांस आदि देशों में वित्तीय वर्ष 1 जनवरी से 31 दिसम्बर तक चलता है। वित्तीय वर्ष का निर्धारण अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि भारत में वित्तीय वर्ष 1 जनवरी से 31 दिसम्बर तक अथवा 1 नवम्बर से 31 अक्टूबर तक रहना चाहिए। वर्तमान समय में भारतीय वित्तीय वर्ष जिस समय प्रारम्भ होता है उस समय मानसून व वर्षा की स्थिति ज्ञात नहीं रहती। यदि सूखा पड़े, फसल गिर जाए, राजस्व कम एकत्रित हो तो बजट में किए गए अनुमान अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। बजट का समय एक वर्ष से कम या अधिक हो सकता है। अधिक समय वाले बजट को दीर्घकालीन बजट कहा जाता है।

सरकारी बजट प्रायः एक वर्ष के लिए बनाए जाते हैं। ऐसा करने से व्यवस्थापिका सरकार की क्रियाओं पर निकट का नियंत्रण रख सकती है। यह दीर्घकालीन बजट पर नहीं रखा जा सकता। यह कहा जाता है कि यह

तक दीर्घकालीन आवश्यकताओं पर विचार न किया जाए तब तक एक वर्ष की आवश्यकता का सही-सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता। संचार का प्रसार, सुरक्षा-व्यवस्थाओं का विस्तार, आर्थिक एवं औद्योगिक विकास आदि कार्य ऐसे हैं जो पर्याप्त महँगे होते हैं और केवल एक वर्ष में इनके सम्बन्ध में अनुमान नहीं लगाए जा सकते। दीर्घकालीन बजट या योजनाओं पर सम्पूर्ण योजनाकाल के लिए व्यवस्थापिका द्वारा विनियोजन के वास्तविक मतदान की आवश्यकता नहीं रहती। उससे केवल मोटी रूपरेखा को स्वीकृत करने के लिए कहा जा सकता है। इस योजना में व्यय के विस्तृत अनुमान भी शामिल नहीं होते। दीर्घकालीन बजट की प्रक्रिया में ये सोपान पाये जाते हैं—(i) देश की आगामी कुछ वर्षों की आवश्यकताओं को निर्धारित करना तथा उनका पूर्वानुमान लगाना और इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक साधनों का पूर्वानुमान लगाना। (ii) विभिन्न सुधार-प्रोजेक्टों को उनकी सापेक्ष प्राथमिकता के आधार पर प्रतिबन्धित करना। (iii) सम्भावित स्रोतों—करारोपण, बचत, ऋण इत्यादि का पता लगाना ताकि वांछनीय धन एकत्रित किया जा सके। (iv) पूरे समय के लिए एक सन्तुलित कार्यक्रम तैयार करना जिसमें विकास की विभिन्न स्वीकृत मदें हों तथा जो इतना लोचशील हो कि उसमें परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन किए जा सकें। (v) समय-सूची के अनुसार प्रत्येक वर्ष के वार्षिक बजट में दीर्घकालीन बजट का एक भाग संयुक्त कर दिया जाए और इसे व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत कराया जाए। प्रभावी परिस्थितियों के प्रकाश में भावी वर्ष के कार्यक्रम के लिए आवश्यक संशोधन करना तथा अतिरिक्त वर्ष के लिए पूर्वानुमान निर्धारित करना। इस प्रकार दीर्घकालीन बजट में तीन से लेकर दस वर्ष तक का समय हो सकता है। प्रत्येक वर्ष तत्कालीन वर्ष के कार्यक्रम को उस वर्ष के बजट का एक भाग बनाया जाता है। पंचवर्षीय योजनाओं को दीर्घकालीन बजट का एक उदाहरण माना जा सकता है।

बजट के प्रकार
(The Types of Budget)

बजट के विभिन्न रूप हैं। व्यापक रूप से बजटों को निम्नलिखित आधारों पर वर्गीकृत किया जाता है—

1. संगठन (Organisation)—बजट का सम्बन्ध जिस इकाई या विभाग से है उसके आधार पर उसे वर्गीकृत किया जा सकता है। इसे विभागीय बजट (Departmental Budget) कहा जाता है। इसके अन्तर्गत विभाग के व्यवहारों को प्रदर्शित किया जाता है। एक विभाग पर खर्च होने वाली मदों को दूसरे विभागों के बजट में भी दिखाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, स्कूल-भवन पर होने वाले व्यय को सार्वजनिक निर्माण विभाग के अनुमानों में दिखाया जाएगा, न कि शिक्षा विभाग के अन्तर्गत। विभाग के अनुसार बजट में नागरिक यह नहीं जान पाते कि किसी विशेष उद्देश्य या सेवा के लिए कुल व्यय कितना हुआ क्योंकि यह व्यय दूसरे अनेक विभागों के अनुमानों में बिखरा हुआ मिलेगा। सरकार को विभागीय बजट की रचना में सुविधा रहती है। भारत, इंग्लैण्ड आदि देशों में इसी प्रकार के बजट बनाए जाते हैं।

2. कार्य का उद्देश्य (Functional Purpose)—आय एवं व्यय का कार्य के आधार पर वर्गीकरण हमें जिस प्रकार का बजट प्रदान करता है वह कार्यक्रम या सम्पन्नता बजट कहलाता है। इस प्रकार का बजट यह बतलाता है कि सुरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य, गृह-निर्माण आदि उद्देश्यों पर क्या खर्च किया जा रहा है तथा प्रत्येक के लिए क्या विकास कार्यक्रम अपनाए जा रहे हैं। साधारण व्यक्ति इस प्रकार की सूचना में अधिक रुचि लेता है। यहाँ उसका इससे कोई मतलब नहीं होता कि विभिन्न संगठनों की इकाइयों के बीच व्यय के वितरण की तकनीक क्या है? हूवर आयोग (Hoover Commission) ने अमेरिकी सरकार के लिए इसी प्रकार के बजट की सिफारिश की थी। उसके मतानुसार संघ सरकार का बजट सम्पन्नता बजट (Performance Budget) होना चाहिए।

3. प्रकृति (Nature)—व्यय की प्रकृति या चरित्र के आधार पर भी बजट को वर्गीकृत किया जाता है। इस दृष्टि से हम बजट को राजस्व बजट (Revenue Budget) एवं पूँजी-बजट (Capital Budget) के रूप में विभाजित कर सकते हैं।

4. लक्ष्य (Object)—अन्त में बजट को व्यय के उद्देश्यों के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है। विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ, जैसे—वेतन, मजदूरी, साधन और पूर्ति, भूमि तथा भवन इत्यादि इस प्रकार के उद्देश्यों के उदाहरण हैं।

व्यवहार में केवल कुछ बजट ही ऐसे होते हैं जो इनमें से किसी एक आधार पर आश्रित हों। किसी एक आधार पर बना हुआ बजट व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए पर्याप्त उपयोगी नहीं होता है। अतः प्रायः प्रत्येक बजट मिश्रित प्रकार का होता है। बजट को वर्गीकृत करने का एक अन्य तरीका भी है जिसके अनुसार उसे तीन प्रकार का कहा जाता है—

(क) व्यवस्थापिका प्रकार का (Legislative Type)—इस प्रकार के बजट को कार्यपालिका की प्रार्थना पर व्यवस्थापिका की एक समिति द्वारा तैयार किया जाता है। व्यवस्थापिका बजट को तैयार करती है और उस पर अपनी स्वीकृति देती है इसलिए उसका महत्त्व कार्यपालिका की अपेक्षा बढ़ जाता है। आलोचकों का कहना है कि व्यवस्थापिका यह कार्य करने में सक्षम नहीं होती। विभिन्न विभागों की आवश्यकताओं की जानकारी पूरी तरह कार्यपालिका को ही हो सकती है। सामान्यत इस प्रकार से बजट तैयार नहीं किये जाते हैं।

(ख) कार्यपालिका प्रकार का (Executive Type)—इस प्रणाली के अन्तर्गत कार्यपालिका बजट को तैयार करती है और वह व्यवस्थापिका की स्वीकृति प्राप्त कर क्रियान्वित करती है। इस प्रकार के बजट प्रायः सामान्य रूप से प्राप्त होते हैं।

(ग) मण्डल तथा आयोग प्रकार का (Board or Commission Type)—इस प्रकार के बजट की रचना एक आयोग या मण्डल द्वारा की जाती है। इसके सदस्य या तो विशुद्ध रूप से प्रशासनिक अधिकारी होते हैं अथवा इसमें विधायी अधिकारियों को भी शामिल कर लिया जाता है। यह व्यवस्था संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यों में प्रचलित है। यह प्रक्रिया वित्त पर से कार्यपालिका के एकाधिकार को हटाने के लिए अथवा बजट के निर्माण में स्वतन्त्र प्रशासनिक अधिकारियों को कार्यपालिका का साथ देने के लिए अपनाई जाती है।

वर्तमान समय में विभिन्न देश कार्यपालिका के प्रकार का बजट अपनाते हैं। इस प्रकार के बजट की रचना में विशेषज्ञों का पूर्ण सहयोग लिया जाता है। प्रायः प्रत्येक देश में इस सहयोग के लिए कोई न कोई विशेष अभिकरण बनाया जाता है। भारतीय वित्त मंत्रालय, ब्रिटिश राजकोष, अमेरिका का बजट विभाग आदि इस प्रकार के अभिकरणों के उदाहरण हैं।

बजट के सिद्धान्त

(Principles of Budget)

विभिन्न देशों के लम्बे अनुभव से बजट के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं ताकि बजट को अधिक सार्थक और उपयोगी बनाया जा सके। यद्यपि इनमें से कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसे अनुलंघनीय माना जा सके तथापि एक स्वस्थ बजट के लिए इनका होना उपयोगी माना जाता है। बजट के इन सिद्धान्तों को व्यापक रूप से निम्नांकित दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—

1. कार्यपालिका से सम्बन्धित (Related to Executive)—बजट कार्यपालिका के विभिन्न विभागों के बीच समन्वय का एक मुख्य स्रोत है। इसके द्वारा अपव्यय और पुनरावृत्ति को कम किया जा सकता है। बजट बनाते समय सरकार की नीतियों एवं कार्यक्रमों का मूल्यांकन हो जाता है और अनावश्यक क्रियाओं को समाप्त करने का आधार मिलता है। बजट से प्रशासन में अनुशासन आता है। इसके विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठन के सभी भाग मिलकर कार्य करते हैं। कार्यपालिका की दृष्टि से बजट को प्रभावशाली और उपयोगी बनाने के लिए जो निम्नांकित सिद्धान्त अपनाये जाते हैं—

(i) मुख्य कार्यपालिका का पर्यवेक्षण—बजट एक प्रकार से मुख्य कार्यपालिका के कार्यक्रम की रूपरेखा है। ऐसी स्थिति में यह अत्यन्त आवश्यक है कि बजट पर मुख्य कार्यपालिका का सीधा पर्यवेक्षण हो।

(ii) कार्यपालिका का दायित्व—मुख्य कार्यपालिका द्वारा तैयार किया गया बजट ऐसा होना चाहिए जो व्यवस्थापिका के उद्देश्यों को पूरा करता हो और साथ ही इसमें मितव्ययता का अनुपालन भी किया गया हो।

(iii) आवश्यक सूचना—बजट बनाते समय जो अनुमान बनाए जाएँ तथा यदि उन्हें व्यवस्थापिका में प्रस्तुत कर क्रियान्वित किया जाए, तो यह आवश्यक है कि प्रत्येक स्तर पर सम्बन्धित अधिकारियों के प्रतिवेदनों को आधार बनाया जाए। इन प्रतिवेदनों के माध्यम से ही बजट को उपयोगी और सार्थक बनाया जा सकता है। इनके अभाव में यह अस्पष्ट और निराधार होगा। इससे इसकी उपयोगिता भी नष्ट हो जायेगी।

(iv) आवश्यक प्रसाधन—बजट की तैयारी और क्रियान्विति का उत्तरदायित्व मुख्य रूप से कार्यपालिका पर होता है। इसे पूरा करने के लिए आवश्यक है कि मुख्य कार्यपालिका को पर्याप्त प्रशासनिक उपकरण अथवा साधन प्रदान किए जाएँ।

(v) स्वविवेक के लिए अवसर—बजट के अनुमान मोटे तौर पर निर्धारित किए जाने चाहिए ताकि समय के परिवर्तन के साथ मुख्य उद्देश्य प्राप्त करने के लिए उपयुक्त साधनों का चुनाव किया जा सके।

(vi) लोचशीलता—बजट के रूप में इतनी लोचशीलता होनी चाहिए कि बदलती हुई आवश्यकताओं के साथ उसमें परिवर्तन किया जा सके।

(vii) एक सहकारी प्रयास—बजट में कुशलता के साथ-साथ सभी विभागों तथा उपविभागों का सक्रिय सहयोग भी प्राप्त करना चाहिए। बजट की रचना केवल एक केन्द्रीय कार्यालय का ही कार्य नहीं है, वरन् एक ऐसी प्रक्रिया है जो सम्पूर्ण प्रशासकीय संरचना का एक महत्वपूर्ण कार्य है।

इस प्रकार बजट निर्माण एक सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इस सम्बन्ध में कार्यपालिका से अत्यन्त योग्यता और सजगता की अपेक्षा की जाती है।

2. व्यवस्थापिका से सम्बन्धित (Related to the Legislature)—बजट के माध्यम से व्यवस्थापिका को कार्यपालिका पर नियन्त्रण स्थापित करने का अवसर प्राप्त होता है। प्रारम्भ में यह नियन्त्रण केवल राजस्व के स्रोतों एवं मात्रा को बढ़ाने की दृष्टि से किया जाता था, किन्तु बाद में इसमें व्यय को भी समाविष्ट किया गया। व्यवस्थापिका का नियन्त्रण यह स्पष्ट करता है कि उसकी स्वीकृति के बिना कोई कर एकत्रित नहीं किया जा सकता और न ही कोई व्यय किया जा सकता है। कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का समुचित नियन्त्रण स्थापित करने के लिए निम्नलिखित सिद्धान्त विकसित किए गए हैं—

(i) प्रचार (Publicity)—सरकारी बजट विभिन्न सोपानों में से होकर गुजरता है। इनके प्रचार और प्रकाशन द्वारा बजट को सार्वजनिक जानकारी का विषय बना लेना चाहिए। बजट पर विचार-विमर्श करते समय व्यवस्थापिका के गुप्त अधिवेशनों की आवश्यकता नहीं है। बजट का पर्याप्त प्रचार और प्रकाशन होने पर ही देश की जनता और समाचार-पत्र उसके सम्बन्ध में अपनी राय प्रकट कर सकते हैं।

(ii) स्पष्टता (Clearity)—बजट यदि अस्पष्ट और उलझनपूर्ण हुआ तो निश्चय ही यह सामान्य जनता की समझ से बाहर रहेगा। बजट की सार्थकता और सफलता के लिए उसे इतना स्पष्ट होना चाहिए कि जनता इसे भली प्रकार समझ सके।

(iii) व्यापकता (Comprehensiveness)—बजट के अन्तर्गत समस्त सरकारी कार्यक्रमों पर प्रकाश डालते हुए व्यय और राजस्व को पूर्ण रूप से स्पष्ट किया जाना चाहिए। बजट के देखने पर स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होना चाहिए कि सरकार द्वारा कौन-कौन से नए कर लगाए जा रहे हैं और किन-किन मदों पर सरकार द्वारा व्यय किया जाएगा। सरकार द्वारा जारी किये जाने वाले नए ऋण भी बजट में सम्मिलित होते हैं। बजट देखने से सरकार की सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति का बोध हो सकता है।

(iv) एकता (Unity)—बजट में जो व्यय दिखाए जा रहे हैं, उन सभी की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए सरकार को सभी प्राप्तियाँ एक सामान्य निधि में एकत्रित करनी चाहिए। राजस्व को पृथक् करना एक अच्छे बजट का लक्षण नहीं है।

(v) नियतकालीनता (Periodicity)—बजट द्वारा सरकार को विनियोजन तथा व्यय करने का जो अधिकार दिया जाए वह एक निश्चित समय के लिए होना चाहिए। यदि धन का उपयोग इस समय के अन्तर्गत नहीं किया जाता है तो उसे प्रयोग करने का अधिकार समाप्त हो जायेगा और केवल पुनर्विनियोजन करने पर ही उसे व्यय किया जा सकेगा। सामान्य रूप से बजट-अनुदान वार्षिक आधार पर निर्धारित किए जाते हैं। वित्त-वर्ष होने से पूर्व ही बजट की मदें स्वीकार कर ली जाती हैं।

(vi) निश्चितता (Accuracy)—बजट की विभिन्न मदें तथा अनुमान यथासम्भव निश्चित एवं परिशुद्ध होने चाहिए। बजट के अनुमान पर्याप्त सूचनाओं पर आधारित हों, ठीक हों, व्यवस्थित हों और मूल्यांकन करने की दृष्टि से उपयुक्त हों। तथ्यों को गोपनीय रखकर या राजस्व का कम अनुमान लगाकर बजट की परिशुद्धता को समाप्त करने का प्रयास नहीं किया जाना चाहिए।

(vii) ईमानदारी (Integrity)—विभिन्न कार्यक्रम उसी प्रकार क्रियान्वित किए जाएँ जिस प्रकार उनको बजट में प्रदर्शित किया गया है, अन्यथा बजट निरर्थक हो जाता है। बजट की रचना के समय जो उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं उन्हें प्राप्त करने के लिए ईमानदार एवं कार्यकुशल प्रशासन का होना नितान्त आवश्यक है।

अन्य सिद्धान्त (Other Principles)

एक स्वस्थ और अच्छे बजट की रचना में उपर्युक्त के अतिरिक्त कतिपय निम्नांकित सिद्धान्त भी अपनाए जाने चाहिए—

1. सन्तुलित बजट (Balanced Budget)—बजट सन्तुलित होना चाहिए। यह अनुमानित व्यय, अनुमानित आय तथा राजस्व से अधिक नहीं होना चाहिए। यद्यपि सरकारी वित्त में अधिक लोचशीलता होती है क्योंकि अतिरिक्त व्यय को पूरा करने के लिए आवश्यक धन का प्रबन्ध किया जा सकता है तथापि इसकी भी एक सीमा होती है। जो देश लगातार इस सीमा को पार करता रहेगा वह दीर्घकाल में दिवालिया हो जाएगा और उसकी अर्थव्यवस्था चरमरा जायेगी। जब बजट में व्यय और राजस्व बराबर होते हैं तो उसे हम संतुलित बजट

कहते हैं, किन्तु जब व्यय राजस्व की अपेक्षा कम होता है तो उसे आधिक्य या बचत बजट (Surplus Budget) कहा जाएगा और यदि व्यय अनुमानित राजस्व की अपेक्षा अधिक है तो उसे घाटे का बजट कहा जाएगा। यदि कभी घाटे का बजट बन जाए तो कोई चिन्ता की बात नहीं है, किन्तु निरन्तर ऐसा होना राज्य के स्थायित्व और वित्तीय साख के लिए खतरनाक होता है। भारत के बारे में यही बात लागू हो रही है। अनवरत् रूप से पेश किये जाने वाले घाटे के बजटों के कारण देश की अर्थव्यवस्था को गंभीर खतरों से जूझना पड रहा है।

आधुनिक अर्थशास्त्री घाटे की अर्थव्यवस्था को कुछ परिस्थितियों में सहनीय और आवश्यक मानते हैं। उनके कथनानुसार, घाटे की व्यवस्था का मुकाबला करने के लिए जनता के लिए अधिक काम तथा आय की व्यवस्था करना आवश्यक है। राज्य ऐसा तभी कर सकता है जब वह सार्वजनिक कार्यों पर सरकारी व्यय की वृद्धि करे। इस व्यय की वित्तीय व्यवस्था घाटे के बजट द्वारा की जा सकती है। इन विचारकों का कहना है कि एक सतुलित बजट अपनी जनता को कुछ वापस कर देता है जो उसने ऋण अथवा करों के रूप में जनता से लिया है। ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था पर इसका कोई प्रभाव नहीं पडता। इसके विपरीत घाटे का बजट जब आय से अधिक व्यय का प्रावधान करता है तो उसे पूरा करने के लिए वह कागजी मुद्रा का सहारा लेता है। इस प्रकार राज्य जनता से जितना धन लेता है उससे अधिक प्रदान करके जनता की क्रय-शक्ति को बढाता है। व्यापारिक मन्दी का मुकाबला करने के लिए घाटे की व्यवस्था एक लोकप्रिय साधन बन चुकी है। युद्ध और विकास योजनाओं के बडे व्यय का मुकाबला करने के लिए भी इसे उपयोगी माना जाता है।

2. मिश्रित बजट (Gross Budgeting)—स्वस्थ बजट का एक दूसरा सिद्धान्त यह है कि वह विशुद्ध न होकर मिश्रित होना चाहिए अर्थात प्राप्तियों तथा व्यय दोनों के सभी लेन-देन पूरी तरह से दिखाए जाने चाहिए, न कि केवल उनकी विशुद्ध स्थिति को ही। इस नियम की अवहेलना करने पर वित्तीय प्रक्रिया अस्पष्ट हो जाएगी, वित्तीय नियन्त्रण प्रभावहीन बन जाएगा और लेखे अपूर्ण बन जाएँगे। उदाहरण के लिए, यदि एक विभाग के व्यय का अनुमान 4 लाख रुपये है और आय का अनुमान दो लाख रुपये है। यदि वह विशुद्ध बजट की रचना करे तो व्यवस्थापिका से केवल दो लाख रुपये का अनुदान चाहेगा और इस प्रकार वह व्यवस्थापिका को अपने आधे व्यय पर नियन्त्रण रखने से वंचित कर देगा।

3. बजट के दो भाग (Two Parts of the Budget)—बजट के दो भाग किए जाने चाहिए। एक भाग में चालू व्यय और आय होनी चाहिए तथा दूसरे भाग में पूँजीगत भुगतान और प्राप्तियाँ होनी चाहिए। प्रथम भाग राजस्व बजट कहलाएगा और दूसरा भाग पूँजीगत बजट कहलाएगा। यदि इस प्रकार का अन्तर न किया गया तो समस्त आर्थिक चित्र धुंधला रह जाएगा। इसलिए दोनों भागों को अलग-अलग रखा जाता है और अलग-अलग सन्तुलित किया जाता है।

4. बजट का नकदी आधार (The Cash Basis of the Budget)—बजट में आय और व्यय का अनुमान वर्ष की वास्तविक प्राप्ति या व्यय से सम्बन्धित होने चाहिए। नकद बजट का काम यह है कि इसके आधार पर एक वित्तीय वर्ष के लेखों की अंतिम तैयारी वर्ष के समाप्त होते ही की जाती है। इस प्रणाली का दोष यह है कि वर्ष के लिए वित्तीय तस्वीर सही-सही नहीं उभर पाती है। आगामी वर्षों में किए जाने वाले भुगतानों को हटा कर घाटे के स्थान पर वर्तमान वर्ष के बजट में अतिरेक की स्थिति दिखाई जा सकती है। यद्यपि बजट का राजस्व भाग इस दोष से बचा रहता है, किन्तु यह अन्तिम लेखों की तैयारी और प्रस्तुतीकरण को विलम्बित करता है। वित्तीय नियन्त्रण की दृष्टि से विलम्बित लेखों का अधिकतर मूल्य घट जाता है।

5. बजट तथा लेखों की समानता (Similarity of Budget and Accounts)—बजट का एक अन्य सिद्धान्त यह है कि इसका रूप लेखों के रूप से मिलता हुआ होना चाहिए। ऐसा करने से बजट की रचना में सुविधा होगी, बजट पर नियन्त्रण रखा जा सकेगा और लेखों को भी ठीक प्रकार से रखा जा सकेगा। भारत में प्राकलन समिति द्वारा प्रस्तावित सुझावों पर विचार करने के बाद वित्तमंत्री बजट का रूप निश्चित करता है।

बजट का स्वरूप
(Forms of Budget)

(1) वार्षिक एवं अधिवार्षिक बजट (Annual and Longterm Budget)—बजटों को पूर्ण किये जाने की अवधि के आधार पर वार्षिक एवं अधिवार्षिक बजट में बाँटा जाता है। प्रायः एक वर्ष की अवधि के लिए आय-व्यय का लेखा-जोखा रखने वाले बजट को वार्षिक बजट कहा जाता है। यह विश्व के अधिकांश देशों में बनाया जाता है। भारत इंग्लैण्ड तथा अन्य राष्ट्रमण्डलीय देशों में यह बजट 1 अप्रैल से 31 मार्च तक की अवधि

का होता है। जबकि अमेरिका, स्वीडन, इटली, आस्ट्रेलिया आदि देशों में 1 जुलाई से 30 जून तक की अवधि का होता है। किन्तु कतिपय देशों में एक से अधिक वर्ष के लिए भी बजट बनाये जाते हैं जिन्हें द्विवार्षिक त्रिवार्षिक, पंचवर्षीय, सातवर्षीय बजट आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। इस प्रकार बजट प्राय लम्बी अवधि की योजनाओं, कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं के क्रियान्वयन हेतु बनाये जाते है। जैसे—रूस में सातवर्षीय बजट बनाया जाता है।

(2) नकद एवं आय बजट (Cash and Reserve Budget)—नकद बजट वह बजट कहलाता है जिसमें एक वित्तीय वर्ष में जो आय तथा व्यय के अनुमान में वास्तविक आय और व्यय हुआ हो। जैसे भारत, अमेरिका, ब्रिटेन में नगद बजट बनाया जाता है। जबकि आय बजट वह बजट कहलाता है जिसमें किसी एक वित्तीय वर्ष में जो आय तथा व्यय हुआ उस सम्बन्धित वित्तीय वर्ष में दर्शाया तो जाता है, लेकिन वास्तव में उसे प्राप्त न किया गया हो। जैसे—फ्रांस तथा कतिपय योरोपियन देशों में आय बजट बनाया जाता है।

(3) सन्तुलित, घाटे एवं अतिरेक बजट (Balanced Loss and Profit Budget)—जब किसी बजट में आय तथा व्यय सम्बन्धी मदों की अनुमानित राशि बराबर होती तो उसे संतुलित बजट कहा जाता है, लेकिन जब बजट में अनुमानित आय, अनुमानित व्यय से कम होती है तो वह बजट घाटे का बजट कहलाता है। इसमें विपरीत जब बजट में अनुमानित आय, अनुमानित व्यय से अधिक होती है तो वह बजट अतिरिक्त अथवा लाभकारी कहलाता है।

(4) कार्यकारी बजट (Executive Budget)—इस प्रकार का बजट बीसवीं शताब्दी में अस्तित्व में आया। इससे पूर्व इसका अस्तित्व नहीं था। इस प्रकार का बजट कार्यपालिका द्वारा बनाया जाता है तथा विधान मण्डलों एवं व्यवस्थापिका द्वारा इसे पास किया जाता है लेकिन इस प्रकार का बजट बनाने, उसे पास कराने तथा इसका उत्तरदायित्व वहन करके सम्बन्धी सभी जिम्मेदारी कार्यपालिका पर होती है।

(5) सूत्रमदीय बजट (Line Item Budget)—सूत्र मदीय बजट वह बजट कहलाता है जिसमें प्रत्येक एकल स्थिति एवं उपकरण को व्यय के आकलन में पृथक्-पृथक् सूत्रों में सूचीबद्ध किया जाता है तथा पृथक्-पृथक् मदों को विधानमण्डल या तो काट देता है अथवा स्वीकृति प्रदान करता है। यदि स्वीकृति प्राप्त हो जाती है तो अनुमानित व्यय उसी मद पर उतनी ही राशि में करना पड़ता है। सरकार द्वारा कोई भी मद, उपकरण अथवा सेवा क्रय की जाती है। उन सबकी गणना पृथक्-पृथक् की जाती है। इस प्रकार का बजट एक पारम्परिक बजट है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व प्रयोग में प्राय यह लाया जाता था, लेकिन आज भी इस प्रकार के बजट का प्रचलन है। जैसे भारत एवं अमेरिका में पी पी बी एस (PPBS) के साथ अभी भी इस प्रकार के बजट का प्रचलन है।

(6) एकमुश्त राशि बजट (Lumpsum Budget)—एकमुश्त राशि बजट को पिण्ड-राशि बजट भी कहा जाता है। इस बजट के अधीन कोष का स्थानान्तरण न केवल वस्तुओं के मध्य होता है बल्कि संस्थागत इकाइयों एवं स्वीकृत कार्यों की गतिविधियों के मध्य भी हो सकता है। कार्यकारी बजट के प्रथम वर्षों में व्यय सम्बन्धी त्रुटियों को दूर करने के लिए एक मुश्त राशि बजट को अपनाया जाता है।

(7) कार्यक्रम बजट (Programme Budget)—इस प्रकार का बजट पारम्परिक बजट की त्रुटियों को दूर करने के लिए बनाया जाता है क्योंकि पारम्परिक बजट में परिणामों की उपलब्धियों पर कोई केन्द्रीयकरण नहीं होता है। कार्यक्रम बजट के उद्भव के साथ अब बजट में परिणामों की उपलब्धियों पर केन्द्रीकरण किया जाता है। इस प्रकार के बजट की वह विशेषता है कि—(i) यह बोधगम्य मुद्दों तथा ठोस योजनाओं के रूप में अत्यधिक विवरण का प्रबन्ध करता है। (ii) यह बहुवर्षीय नियोजन तथा उपलब्धियों की एक निश्चित अवधि के पश्चात् मूल्यांकन हेतु प्रोत्साहित करता है। (iii) यह बजट प्रबन्धकीय दृष्टिकोण रखता है अत कार्यक्रम नियोजन परिचालन विभागों में प्रारम्भ हो जाता है तथा यह उच्चतर स्तरों पर अत्यधिक केन्द्रीकरण के प्रति सुरक्षा का कार्य भी करता है। अमेरिका में इस प्रकार के बजट को प्रबन्धकीय बजट कहा जाता है।

(8) निष्पादित (कुशल) बजट (Performance Budget)—संयुक्त राज्य अमेरिका में द्वितीय युद्ध के बाद आर्थिक क्षेत्र में वृहत्तर प्रबन्धकीय कुशलता लाने के लिए निष्पादित अथवा कुशल बजट का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार के बजट का मुख्य उद्देश्य कुशलता प्राप्त करना था। अत इसका विषय क्षेत्र निवेश से बढ़कर उत्पादन (Output) तक बढ़ गया। इस प्रकार के बजट में बजट विनियोग के माध्यम से कार्यक्रमों का क्रियान्वयन करने हेतु एवं नियंत्रण किया जाता है। इस प्रकार के बजट में सरकार के क्रिया-कलापों को विभिन्न गतिविधियों, परियोजनाओं आदि के माध्यम से व्यक्त किया जाता है।

निष्पादित अथवा कुशल बजट को इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है। इसमें अन्तिम सेवाओं को कार्यभार अथवा निष्पत्ति की इकाइयों में बाँट दिया जाता है जिससे परिणाम की इकाइयाँ उपलब्ध हो जाती हैं तथा

इनका कार्यक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए श्रम एवं सामग्री के निवेश की गणना करने के लिए प्रयोग किया जाता है। एक बार उद्देश्य तथा इकाइयाँ स्पष्ट हो जाने पर लेखांकन (Accounting) तथा अंकेक्षण (Auditing) के द्वारा प्रभावी नियन्त्रण रखा जा सकता है।

निष्पादक बजट के लाभों को निम्नांकित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है—

(1) निष्पादक बजट यह बताता है कि गत वर्ष कौन से कार्य पूरे किये गये और कितने खर्च पर। परिव्यय का ज्ञान विभिन्न कार्यों के तुलनात्मक मूल्यांकन में सहायक होता है।

(2) यह प्रशासन में उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करता है। कौन किस कार्य के लिए उत्तरदायी है तथा किसको क्या-क्या अधिकार प्राप्त है।

(3) यह सरकारी व्यय का अत्यन्त स्पष्ट रूप प्रस्तुत करता है। ऐसा करने से विकल्प निकालना भी आसान होता है।

(4) निष्पादक बजट योजना बनाने, नियन्त्रण एवं प्रबन्ध का एक शक्तिशाली उपकरण है।

भारतीय प्रशासकीय सुधार आयोग ने निष्पादक बजट के निम्नलिखित लाभ बताये हैं—

(1) निष्पादक बजट उन उद्देश्यों व लक्ष्यों को पूर्ण स्पष्टता से प्रकट करता है, जिन पर व्यय किया जाना है।

(2) यह बजट कार्यक्रमों तथा उपलब्धियों पर केन्द्रित रहता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि उपलब्धियाँ कितनी हुई तथा उन पर कितना खर्च हुआ।

(3) विधानमण्डल निष्पादक बजट से सरकार के कार्यक्रमों को अच्छी तरह समझ सकता है। इससे यह कार्यपालिका का सही रूप आँक सकता है, और आलोचना कर सकता है।

(4) निष्पादक बजट, बजट-निर्माण एवं निर्णय प्रणाली में सुधार करता है।

(5) इससे कार्यपालिका का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। साथ ही शासक वर्ग अपने वित्तीय कार्य करने में निष्पादक बजट को अति लाभ कर पाता है। साथ ही निष्पादक बजट प्रबन्ध का एक उपकरण है।

(6) निष्पादक बजट लेखा-परीक्षण को अधिक उद्देश्यपूर्ण एवं प्रभावी बनाता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका को निष्पादक बजट का प्रणेता माना जाता है। भारत में 1968 में सर्वप्रथम निष्पादक बजट की परम्परा का सूत्रपात किया गया। अपनी उपयोगिता के कारण बजट के इस स्वरूप को तृतीय विश्व—एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिणी अमेरिका के अनेक देशों द्वारा अपनाया गया है। इस तरह से इसकी लोकप्रियता में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है।

(9) पी. पी. बी. एस. (PPBS)—यह बजट बनाने की एक विस्तृत प्रणाली है क्योंकि बजट के साथ-साथ नियोजन एवं कार्यक्रम भी बनाये जाते हैं। इसलिए इसे नियोजन एवं कार्यक्रम बजट प्रणाली (Planning, Programmes and Budgetıng System) कहा जाता है। इस प्रकार का बजट सर्वप्रथम अमेरिका में बनाया गया। सन् 1960 के प्रारम्भ में सर्वप्रथम अमेरिका में सुरक्षा विभाग में पी. पी. बी. एस. लागू किया गया। इसकी सफलता के पश्चात् 1965 में राष्ट्रपति जॉनसन ने इसे सम्पूर्ण संघीय बजट में अपनाया।

पी. पी. बी. एस. के अन्तर्गत प्रणाली को निवेश उत्पादन आधारित माना जाता है तथा बड़े-बड़े विश्लेषण के पश्चात् दिये गये खाद्यान्नों का तुलनात्मक लाभ खोजने का प्रयत्न किया जाता है। उनकी अपेक्षायें सम्भव समाधान हो सकते हैं। इस बजट में नियोजन तथा निर्णय लेना प्रमुख विधियाँ हैं। इस प्रकार के बजट का प्रमुख उद्देश्य अधिक व्यावहारिक अर्थव्यवस्था तथा सामंजस्य करना है। इस प्रकार के बजट में सरकार ने चार प्रमुख उद्देश्य निहित होते है—1. सरकार के लिए स्पष्ट उद्देश्य एवं कार्यक्रम, 2. समान प्रासंगिक मूल्यों का विश्लेषण, 3. वैकल्पिक कार्यवाही का व्यवस्थित मार्ग, 4. पूर्वानुमानित परिणाम।

पी. पी. बी. एस. की कार्यप्रणाली के अन्तर्गत एक संघीय विभाग में एक ब्यूरो अध्यक्ष (Bureau Chief) होता है। वह अपने बजट का निर्माण करते समय इसे एक वर्ष के लिए निश्चित करेगा तथा इससे कार्यक्रमों को बहुद्देशीय विषयों में बदला जाता है। मूल्यों एवं लाभों में बदल लेता है। वह इनके परिणामों को प्राप्त करने के लिए तरीकों का प्रयोग करेगा। अमेरिका का केन्द्रीय बजट प्राधिकरण अर्थात् बजट ब्यूरो अपने पूर्व निर्धारित प्रश्नों के विश्लेषण के सन्दर्भ में उसका पर्यवेक्षण करता है। इसके बाद निश्चित अवधि के पश्चात् वह इस योग्य हो जाता है कि अपने विश्लेषण तथा निष्कर्षों का मूल्यांकन कर सके ताकि वह जान सके कि उसके द्वारा निर्मित योजनाओं का विश्लेषण सही किया अथवा नहीं।

(10) शून्य आधारित बजट (Zero Base Budget)—अमेरिका में 1970 के बाद शून्य आधारित बजट (जैड बी बी) प्रणाली विकसित की गई। जिसे 1977 में राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने इसे लागू किया। शून्य आधारित

बजट वह बजट है जिसमें वर्ष भर के सम्पूर्ण कार्यक्रमों तथा व्ययों का मूल्यांकन किया जाता है। इसमें प्रत्येक प्रबन्धक को अपने बजट की आवश्यकताओं का विस्तृत विवरण तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करना होता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक विभागाध्यक्ष को न केवल नवीन प्रस्तावों तथा कोषों का औचित्य सिद्ध करना पड़ता है बल्कि जो कार्यक्रम एवं निधि जारी है उनका भी औचित्य सिद्ध करना पड़ता है। अतः प्रबन्धक को अपने विभाग की चलने वाली एवं सभी नवीन गतिविधियों का पुनर्निरीक्षण करना पड़ता है।

शून्य आधारित बजट (ZBB) की निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ हैं—

1. यह बजट प्रणाली प्राथमिकताओं, लक्ष्यों तथा उद्देश्यों के व्यापक विश्लेषण पर आधारित है जो कि इसे अधिक वास्तविकता प्रदान करता है।
2. इसमें नवीन प्रस्तावों का निरीक्षण करके ही उसे उचित ठहराया जाता है। वर्तमान में चल रही गतिविधियों पर किये जा रहे व्यय की भी समीक्षा की जाती है तथा जो आवश्यक व्यय नहीं होते उन्हें हटाया जाता है।
3. इसमें सीमित साधनों का अधिकतम उपयोग किया जाता है क्योंकि इसमें विनियोजित बजट योजनाओं की पूर्ति के आधार पर किया जाता है तथा वित्त प्रबन्ध कीमत लाभ के विश्लेषण की तुलना करके किया जाता है।
4. इसमें कीमत को प्रभावशाली ढंग से लागू किया जा सकता है क्योंकि इसमें प्रचलित गतिविधियों का मूल्यांकन कीमत तथा लाभ के सन्दर्भ में किया जाता है।
5. इसमें बजट अवधि में यदि व्यय सम्बन्धी निर्धारित निधि में कोई बाद में परिवर्तन करना हो तो व्यय सम्बन्धी पूर्व निर्धारण एवं स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती।
6. यह बजट नियोजन तथा नियन्त्रण सम्बन्धी क्रियान्वियन हेतु प्रभावशाली तन्त्र उपलब्ध कराता है।
7. यह बजट कार्यकारी को अपने में पूर्णतः संलग्न करता है। इससे व्यक्तिगत सम्बन्धों के कारण कार्मिक प्रशासन का विकास होता है और एक अच्छा वातावरण स्थापित होता है।

शून्य आधारित बजट (ZBB) को किसी भी संगठन एवं विभाग में लागू करने के लिए निम्नलिखित चरण अपनाये जाते हैं—

1. संगठन में निर्णय लेने वाली इकाइयों को चिह्नित करना।
2. निर्णय पैकेज बनाना (जिसमें इकाई के कार्यों की सूची सम्मिलित हो)।
3. निर्णय पैकेजों का मूल्य लाभों के सन्दर्भ में क्रम निर्धारित करना।
4. बजट का निर्माण करना।
5. बजट का क्रियान्वयन एवं संशोधन करना।

लेकिन शून्य आधारित बजट बनाते समय एवं लागू करते समय निम्नलिखित समस्याएँ उत्पन्न होती हैं—

1. इस प्रकार के बजट निर्माण के लिए प्रशिक्षित, अनुभवी कार्मिकों की आवश्यकता होती है जिनका प्रायः संगठन में अभाव रहता है। साथ ही इसके निर्माण के मूल्यवान उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है।
2. जब इसमें कीमतों तथा लाभों का निर्धारण नहीं किया जाता तो इसके उद्देश्यों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।
3. इसमें आँकड़ों का निर्माण भी एक कठिन कार्य है।
4. इसमें निर्णय पैकेज का चयन करने समय पूर्वाग्रह की सम्भावना बनी रहती है।

बजट प्रक्रिया

(Budgetary Process)

बजट सम्बन्धी प्रक्रिया को निम्नलिखित तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) बजट का निर्माण,

(2) बजट का विधान मण्डल द्वारा अनुमोदन,

(3) बजट का कार्यान्वयन।

इस प्रकार बजट एक व्यापक प्रक्रिया है जिसका उपयोग वित्तीय प्रशासन के केन्द्रीय अस्त्र के रूप में किया जाता है। बजट को एक निश्चित अभिकरण द्वारा तैयार किया जाता है, उसके बाद व्यवस्थापिका अपनी स्वीकृति द्वारा इसे कानूनी रूप प्रदान करती है। व्यवस्थापिका द्वारा पारित किये जाने पर राष्ट्रपति इसको अपनी स्वीकृति प्रदान करता है। तभी यह कानून का रूप धारण कर लेता है। कार्यपालिका द्वारा उसे क्रियान्वित किया जाता है। यह क्रियान्विति प्रस्तावित और स्वीकृत बजट के अनुसार हुई अथवा नहीं—यह देखने के लिए व्यवस्थापिका द्वारा उस पर नियन्त्रण रखा जाता है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 112 के अनुसार प्रत्येक वित्तीय वर्ष के सम्बन्ध में जो 1 अप्रैल से 31 मार्च तक माना जाता है, भारत सरकार की अनुमानित आय और व्यय का विवरण संसद् के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। इस वार्षिक विवरण को केन्द्रीय सरकार का बजट कहते हैं और यह सबसे प्रमुख बजट पत्र होता है। इसे आम तौर से केवल 'बजट' भी कहते हैं। इसमें सरकार की आय और व्यय को तीन भागों—(i) समेकित निधि, (ii) आकस्मिकता निधि, (iii) लोक खाता, जिसके अनुसार सरकारी लेखे रखे जाते हैं, दिखाया जाता है। सरकार को उसके करों, शुल्कों आदि से तथा जो उधार वह लेती है उनसे और जो उधार उसके द्वारा दिए जाते हैं उनके लौटने से होने वाली आय 'समेकित निधि' में दिखाई जाती है। सरकार का सभी खर्च समेकित निधि से किया जाता है और जब तक संसद् की स्वीकृति नहीं मिल जाती तब तक इस निधि में से कोई भी रकम खर्च नहीं की जाती। कभी-कभी ऐसे अवसर भी आ जाते हैं जब सरकार को संसद की स्वीकृति मिलने के पहले ही कुछ ऐसा बहुत जरूरी खर्च करना पड़ता है जिसका अनुमान ही नहीं रहता। इस तरह का खर्च आकस्मिकता निधि से किया जाता है। यह निधि अग्रदाय के रूप में राष्ट्रपति के पास रहती है। आकस्मिकता निधि से इस तरह जो खर्च किया जाता है उसे बाद में, इस खर्च के बारे में और इस खर्च को समेकित निधि से पूरा करने के बारे में संसद की स्वीकृति लेकर पूरा किया जाता है और यह रकम आकस्मिकता निधि में वापस डाल दी जाती है।

सरकारी खाते में सरकार की सामान्य प्राप्तियों और व्यय के अतिरिक्त जिसका समेकित निधि से सम्बन्ध होता है, कुछ अन्य लेन-देनों जैसे भविष्य निधियों के सम्बन्ध में लेन-देन, अल्प बचत संग्रह, अन्य जमा आदि का हिसाब भी रखा जाता है। सरकार इन लेन-देनों के सम्बन्ध में लगभग बैंकर के रूप में कार्य करती है। इस तरह जो आय होती है उसे लोक खाते में दिखाया जाता है और सम्बन्धित खर्च इसी में से रकम निकाल कर किया जाता है। आम तौर से लोक खाते में दिखाई जाने वाली आय सरकार की आय नहीं होती क्योंकि इस धनराशि को किसी न किसी समय उन व्यक्तियों या प्राधिकारियों को जो इसे जमा कराते हैं, वापस देना होता है। इसलिए लोक खाते से अदायगी करने के लिए संसद् की स्वीकृति लेना आवश्यक नहीं होता। सरकार की आय का कुछ भाग, कुछ मामलों में खास-खास कार्यों के लिए जैसे कोयला खान श्रमिक कल्याण के लिए या वाणिज्यिक उपक्रमों में जो मशीनरी आदि पुरानी पड़ गई है उनके स्थान पर नई मशीनरी लाने आदि के लिए अलग-अलग निधियों में अलग निकाल कर रख लिया जाता है। यह रकम संसद की स्वीकृति लेकर समेकित निधि से निकाली जाती है और विशेष कार्य पर खर्च किए जाने के लिए लोक खाते में जमा रखी जाती है। फिर भी, कार्य विशेष पर जो खर्च किया जाता है उसे संसद् के सम्मुख उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है हालांकि यह रकम निधियों को अन्तरित किए जाने के लिए पहले से ही संसद द्वारा निर्धारित की हुई होती है। संविधान के अनुसार, खर्च की कुछ मदें, जैसे—राष्ट्रपति की परिलब्धियाँ, राज्यसभा के सभापति और उप-सभापति तथा लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों और भारत के नियन्त्रक व महालेखा-परीक्षक के वेतन, भत्ते और पेन्शन, सरकार द्वारा लिए गए उधारों के ब्याज और उनकी अदायगियों और अदालती डिकरियों के सम्बन्ध में दी गई अदायगियाँ, समेकित निधि पर भारित होती हैं। बजट विवरण में समेकित निधि पर भारित खर्च को अलग से दिखाया जाता है।

संविधान के अनुसार बजट में राजस्व खाते के व्यय को अन्य व्यय से अलग दिखाना होता है। इसलिए सरकार का बजट (i) राजस्व बजट और (ii) पूँजी बजट, दो भागों में बाँटा जाता है। राजस्व बजट में सरकार को राजस्व (कर राजस्व और अन्य राजस्व) से होने वाली आय तथा इन राजस्वों से किया जाने वाला व्यय दिखाया जाता है। कर राजस्व में केन्द्र द्वारा लगाए गए करों और अन्य शुल्कों से प्राप्त होने वाली आय शामिल की जाती है। राजस्व की आय के जो अनुमान बजट विवरण में दिए जाते हैं उनमें वित-विधेयक द्वारा किए गए कर-प्रस्तावों से होने वाली आय शामिल होती है। सरकार की बाकी आय में मुख्य रूप से, किसी काम में लगी उसकी पूँजी का ब्याज और लाभांश तथा सरकार द्वारा प्रदान की गई सेवाओं की फीस और अन्य आय शामिल होती है। राजस्व खाते से किया जाने वाला खर्च सामान्य रूप से सरकारी कार्यालयों और विभिन्न सेवाओं के काम करते रहने के कारण, सरकार द्वारा लिए गये कर्जों के ब्याज को चुकाने आदि के लिए होता है। सामान्यतया ऐसे सभी व्यय

जिससे किसी परिसम्पत्ति का निर्माण नहीं होता, राजस्व से किया जाने वाला व्यय माना जाता है, फिर भी राज्य सरकारों और अन्य स्वायत्त संस्थाओं आदि को दिए जाने वाले सभी अनुदान राजस्व व्यय में आते हैं। पूँजी बजट में पूँजी स्वरूप होने वाली आय और पूँजी स्वरूप परिसम्पत्तियों को प्राप्त करने के लिए किया गया व्यय शामिल है। पूँजी आय की मुख्य मदें ये हैं—सरकार द्वारा जनता से लिए गए उधार जिन्हें बाजार उधार कहा जाता है, राजकोष हुण्डियों की बिक्री के जरिए (जिनकी अदायगी हालांकि 91 दिनों में करनी होती है लेकिन जिनका नवीनीकरण किया जा सकता है) सरकार द्वारा रिजर्व बैंक और अन्य स्वायत्त संस्थाओं से लिए जाने वाले उधार, विदेशी सरकारों और संस्थाओं से प्राप्त उधार और राज्य सरकारों और अन्य संस्थाओं को केन्द्रीय सरकार द्वारा दिए गए उधार की अदायगी से होने वाली आय। *पूँजीगत व्यय में ये मदें शामिल होती हैं—जमीन, इमारतें,* मशीनों, उपकरणों जैसी परिसम्पत्तियों की प्राप्ति पर किया जाने वाला पूँजी और व्यय, शेयरों आदि में लगाई जाने वाली पूँजी और राज्य सरकारों, सरकारी कंपनियों, निगमों, स्वायत्त संस्थाओं आदि को केन्द्र सरकार द्वारा दिए *जाने वाले उधार और अग्रिम। पूँजी बजट में लोक खाते के लेन-देन भी शामिल होते हैं।* वित्त विधेयक सरकार द्वारा लगाए जाने वाले नए करों के प्रस्ताव, वर्तमान करों में किए जाने वाले संशोधनों के प्रस्ताव या संसद द्वारा स्वीकृत अवधि के बाद किसी वर्तमान कर को जारी रखने के प्रस्ताव वित्त विधेयक के रूप में संसद् के सम्मुख प्रस्तुत किए जाते हैं।

बजट विवरणों में समेकित निधि से किए जाने वाले व्यय के अनुमान दिए जाते हैं। ये अनुमान संविधान के अनुच्छेद 113 के अधीन अनुदानों की माँगों के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं और इनकी स्वीकृति लोकसभा से लेनी होती है। अनुदानों की माँगें बजट विवरण के साथ लोकसभा में प्रस्तुत की जाती हैं। प्रत्येक माँग में ऊपर की ओर पहले 'स्वीकृति' और 'भारित' व्यय तथा साथ ही माँग में सम्मिलित राजस्व और 'पूँजी' के अलग-अलग जोड़ दिखाए जाते हैं। अनुदानों की माँगों के बाद अनुदानों की ब्यौरेवार माँगें लोकसभा पटल पर बजट के प्रस्तुत किए जाने के कुछ समय बाद, लेकिन अनुदानों की माँगों पर बहस शुरू होने से काफी पहले रखी जाती हैं। अनुदानों की इन ब्यौरेवार माँगों में, अनुदानों की माँगों में प्रस्तुत धनराशि का और आगे ब्यौरा तथा पहले के वर्ष का वास्तविक व्यय भी दिखाया जाता है। बजट विवरण में आय और व्यय के अनुमान तथा अनुदानों की माँगों में व्यय के अनुमान लेखाओं के वर्गीकरण की संशोधित प्रणाली के अनुसार दिखाए जाते हैं जो पहली अप्रैल, 1974 को शुरू की गई है। इस संशोधित वर्गीकरण में अधिक सार्थक तरीके से लेखाओं की सूचना दी गई जिससे प्रबन्धक वर्ग को कार्यक्रमों के अनुवीक्षण के लिए ज्यादा प्रयोजन मूलक लेखा विषयक जानकारी मिलती है। इसके अलावा इससे संसद् और जनता को यह समझने में सहायता मिलती है कि प्रत्येक कार्यक्रम पर कितना धन निर्धारित किया गया है और इस तरह खर्च करने में सरकार के उद्देश्य क्या हैं।

लोकसभा द्वारा अनुदानों की माँगों को स्वीकार किए जाने के बाद, इस प्रकार स्वीकृत रकमों को समेकित निधि पर भारित व्यय को पूरा करने के लिए आवश्यक रकम को समेकित निधि से निकालने के लिए विनियोग विधेयक के जरिए संसद् का अनुमोदन माँगा जाता है। संविधान के अनुच्छेद 114 (3) के अनुसार समेकित निधि से कोई भी रकम संसद द्वारा इस सम्बन्ध में ऐसा कानून बनाए बिना नहीं निकाली जा सकती है।

करों में (i) प्रत्यक्ष कर, जैसे—कंपनी कर, आय कर, सम्पदा शुल्क और (ii) अप्रत्यक्ष कर, जैसे सीमा शुल्क और संघ उत्पादन शुल्क शामिल होते हैं।

बजट के सामाजिक एवं आर्थिक प्रभाव

(Social and Economic Effects of the Budget)

बजट सरकार की सामाजिक एवं आर्थिक नीतियों का एक शक्तिशाली उपकरण है। प्रारंभ में बजट को आय और व्यय का एक विवरण मात्र माना जाता था, लेकिन लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा के प्रसार के साथ ही अब यह सम्पूर्ण राज्य की क्रियाओं का प्रतिबिम्ब बन चुका है। आज समाज के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में सरकार की महत्वपूर्ण भूमिका है और बजट सरकार की नीति का महत्वपूर्ण वक्तव्य है जो यह स्पष्ट करता है कि देश के चहुँमुखी विकास के लिए सरकारी आय और व्यय की क्या व्यवस्था है। बजट प्रत्येक देश की आर्थिक नीतियों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करता है। उसमें देश की आर्थिक नीति परिलक्षित होती है। बजट नीति से देश में वस्तुओं और सेवाओं की कुल माँग प्रभावित होती है और इसी पर देश में आय का स्तर, विनियोगों की माँग एवं रोजगार का स्तर निर्भर करता है। बजट नीति में साधारण-सा भी परिवर्तन देश के सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचे को प्रभावित कर देता है। किसी भी देश की अर्थव्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए बजट नीति का दीर्घकाल में सन्तुलित होना आवश्यक है। सन्तुलित बजट होने पर देश की आर्थिक क्रियाओं में परिवर्तन भी न्यूनतम होते हैं, किन्तु जब सरकार आर्थिक क्रियाओं पर नियन्त्रण करना चाहती है तो वह घाटे के बजट बनाती है

या आधिक्य के। घाटे के बजट राष्ट्रीय आय और कुल माँग में वृद्धि द्वारा देश में आर्थिक क्रियाओं के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए कारगर सिद्ध होते हैं और आधिक्य के बजट प्रायः मुद्रा-स्फीति की दशाओं में आर्थिक क्रियाओं के स्तर को गिराने के लिए बनाए जाते हैं।

स्वतन्त्रता के पूर्व विदेशी सरकार को भारत की आर्थिक उन्नति में कोई विशेष रुचि नहीं थी। अतः विदेशी शासन की बजट-नीति का लक्ष्य और क्षेत्र सीमित था। आर्थिक प्रभावों की दृष्टि से तत्कालीन बजट नीति तटस्थ थी। ब्रिटिश सरकार ने अहस्तक्षेप नीति (Laissez Fair) का अनुसरण कर ऐसे प्रयत्नों में रुचि नहीं ली जिससे भारत औद्योगिक दृष्टि से समृद्ध बने, देश में धन तथा आय की असमानताएँ कम हों और कल्याणकारी राज्य की स्थापना की दिशा में कदम उठाए जा सकें। विदेशी सरकार की मूल नीति यही रहा था कि भारत के आर्थिक हितों की यथासम्भव उपेक्षा की जाए और भारत पर भारी मात्रा में ऐसे सरकारी ऋण का भार डाल दिया जाए जो ब्रिटिश साम्राज्य के लिए व्यय किया गया था। करारोपण का मुख्य उद्देश्य भी यही रहा था कि राज्य के अनिवार्य कार्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक धन प्राप्त किया जाए। सामान्य उद्देश्य 'बजट को सन्तुलित करना' ही रहा था और सामाजिक तथा विकास कार्य पर बहुत ही कम व्यय किया जाता था। बजट का एक बड़ा भाग प्रतिरक्षा और नागरिक प्रशासन में व्यय किया जाता था। जनमत के दबाव और महायुद्धजनित परिस्थितियों के परिणामस्वरूप वित्त नीतियों में समय-समय पर मामूली संशोधन किए जाते थे। बजट में जनवादी शैली का नितान्त अभाव था।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत सरकार की बजट सम्बन्धी नीति ने एक नई दिशा ग्रहण की। देश की परिस्थितियों के अनुरूप और आर्थिक विकास को गति देने के लिए राष्ट्रीय सरकार ने प्रभावशाली ढंग से राजकोषीय नीति का संचालन किया। समय-समय पर बजट नीति को नए आयाम प्रदान किये गए। दृष्टिकोण और उद्देश्य बदल जाने से आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप नीति का परित्याग कर दिया गया। राष्ट्रीय सरकार ने देश की बिगड़ी हुई आर्थिक दशा को सँवारने और भावी आर्थिक विकास की आधारभूमि तैयार करने की दिशा में ठोस आर्थिक नीति पर चलना शुरू कर दिया। संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों में यह व्यक्त कर दिया गया कि राज्य आर्थिक व्यवस्था का संचालन इस तरह करेगा कि धन का केन्द्रीयकरण न हो, उत्पादन के साधनों का सर्वसाधारण के लिए दुरुपयोग न हो, समुदाय के भौतिक साधनों का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार विकसित हो जिससे कि सामूहिक हित में सर्वोत्तम ढंग से वृद्धि हो, सभी नागरिकों को जीविकोपार्जन के पर्याप्त साधन उपलब्ध हों आदि। संविधान के निर्देशनों के अधीन राष्ट्रीय सरकार ने सुनियोजित आर्थिक विकास पर आधारित समाजवादी ढंग के समाज और कल्याणकारी राज्य की स्थापना का आदर्श अपनाया। अब बजट नीति इस लक्ष्य को प्राप्त करने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अस्त्र बन गई। सन् 1951 से ही सरकार की बजट नीति आर्थिक नियोजन के क्रान्तिकारी रूप में प्रभावित रही है। समाजवादी समाज और कल्याणकारी राज्य के आदर्श की प्राप्ति के लिए सामाजिक एवं आर्थिक सेवाओं तथा विकास-प्रायोजनाओं पर अधिकाधिक व्यय किया गया है। संघ-सरकार की भाँति ही राज्य-सरकारों के गैर विकास व्यय यथा प्रतिरक्षा तथा नागरिक प्रशासन में भारी वृद्धि हुई है। यद्यपि सरकारी व्यय में वृद्धि का अधिकांश भाग विकास कार्यों पर खर्च किया जाता है। परन्तु 1991 के बाद देश में अर्थव्यवस्था के उदारीकरण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई उसका देश की अर्थव्यवस्था पर सही एवं अनुकूल प्रभाव हुआ है और वर्तमान में यही नीति जारी है।

33

बजट : निर्माण एवं क्रियान्वयन प्रक्रिया

(Budget : Preparation and Execution Process)

वित्तीय प्रशासन का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बजट निर्माण करना एक व्यवस्थित और वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के मुख्यतः दो भाग हैं—प्रथम, अनुमानों की तैयारी और द्वितीय, बजट का अधिनियम जिसमें अनुमानों को व्यवस्थापिका में प्रस्तुत करना, व्यवस्थापिका द्वारा उसे स्वीकृति प्रदान करना आदि सम्मिलित हैं। बजट की रचना के कार्य का श्रीगणेश मुख्य कार्यपालिका द्वारा वित्तीय नीति के निर्धारण के रूप में किया जाता है। बजट के विभिन्न अनुमान इसी नीति के परिप्रेक्ष्य में तैयार होते हैं। अनुमानों की तैयारी का कार्य निम्नतम स्तर से प्रारम्भ होता है। ये स्तर मुख्य कार्यपालिका के अनुदेशों के अनुसार कार्य करते हैं। इसके पश्चात् अनुमानों की जाँच तथा सूक्ष्म परीक्षण सम्भाग के प्रमुखों, विभागों के अध्यक्षों और राजकोष अथवा वित्त विभाग के अधिकारियों द्वारा किया जाता है। ये सभी पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद प्रस्तावित व्यय को एक आलेख का रूप देते हैं। अनुमानों को अन्तिम रूप प्रदान करने की अवधि में विभिन्न विभागों के बीच अपने-अपने दावों को स्वीकार कराने के लिए एक होड़-सी लगी रहती है। अन्त में, ये अनुमान राजकोष अथवा वित्त विभाग जैसे किसी कार्यपालिका विभाग के हाथ में आ जाते हैं। बजट सम्बन्धी अनुमानों में निम्नलिखित पाँच प्रकार की सूचनाएँ आवश्यक रूप से प्राप्त की जाती हैं—

(i) पिछले वर्ष के यथार्थ आँकड़े।

(ii) चालू वर्ष के लिए संशोधित अनुमान।

(iii) अगले वर्ष के लिए बजट अनुमान।

(iv) चालू वर्ष के लिए स्वीकृत अनुमान।

(v) चालू वर्ष के यथार्थ आँकड़े जो अनुमान को तैयार करते समय प्राप्त हों तथा पिछले वर्ष के समानान्तर काल के लिए यथार्थ आँकड़े। आने वाले वर्ष के लिए अनुमान इन्हीं आँकड़ों के आधार पर किए जाते हैं। विशेष परिस्थितिवश कुछ परिवर्तन हो सकता है तथा बजट की तैयारी के सम्बन्ध में भी विभिन्न देशों के बीच अन्तर हो सकता है।

ग्रेट ब्रिटेन में अनुमानों की तैयारी

(Preparation of Estimates in Great Britain)

बजट केवल आंकड़ों का विवरण ही न रहा अपितु इसे विवेक, विचार तथा कल्पना से भरपूर प्रस्तुत किया जाने लगा जिसने इसे वित्त की राजनीतिक अर्थव्यवस्था में एक निर्विवाद स्थान प्रदान कर दिया।" ब्रिटेन में संसद् के पास बजट के कार्यान्वयन का मूलभूत अधिकार भी है। क्राउन धन को प्रभावी एवम् कुशलता से एकत्रित करने तथा व्यय करने के लिए उत्तरदायी है। यह उत्तरदायित्व संसद् की लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee), जिसे 1862 में स्थापित किया गया तथा सरकारी लेखे के स्वतन्त्र अंकेक्षण द्वारा, Exchequer Audit Act of, 1866 द्वारा निर्धारित किया गया, लागू की जाती है। कुछ महत्वपूर्ण नियन्त्रणों के अतिरिक्त *जिनकी प्रकृति प्रशासनिक प्रकार की है इन संविधियों (Statutes) ने ब्रिटिश वित्तीय नियन्त्रण के प्रतिमान को पूर्ण* कर दिया जो कि बिना बड़ी सीमा तक बदले अब तक जारी है। कार्यकारिणी द्वारा वित्तीय नियोजन का उत्तरदायित्व अति केन्द्रीकृत है तथा ब्रिटिश बजट प्रणाली में इतनी महत्वपूर्ण है, कि यह मन्त्रिमण्डल तथा संसद् के मध्य आदर्श सम्बन्धों की प्रत्यक्ष उपज है। मन्त्रिमण्डल केन्द्रीय कार्यकारी प्राधिकरण के कारण कॉमन सदन की एक समिति है। इस भूमिका में, मन्त्रिमण्डल बहुत से रूपों में कार्य करता है। एक कार्यकारी के रूप में इसे अपने प्रबन्ध का ब्यौरा प्रदान करना होता है कि इसने प्रशासन के संचालन में अपने उत्तरदायित्व को किस प्रकार निभाया

है। एक कार्यकारी के रूप में, मन्त्रिमण्डल सरकार की आवश्यकताओं तथा साधनों का आने वाले काल में विचार तैयार करता है। कॉमन सदन के सदस्यों के रूप में, मन्त्रिमण्डल अपने कार्यक्रम की स्वीकृति के लिए कहता है तथा उस कार्यक्रम के औचित्य तथा उसकी व्याख्या को युक्ति-युक्त ठहराता है। स्वीकृति प्राप्त कर लेने के पश्चात्, मन्त्रिमण्डल अपने कार्यकारी रूप में इस कार्यक्रम के कार्यान्वयन के नियन्त्रण का भार लेता है।

ग्रेट ब्रिटेन में अनुमानों की तैयारी का कार्य मुख्य रूप से राजकोष (Treasury) के निर्देशन में किया जाता है। वहाँ 1 अक्टूबर से प्रत्येक विभाग अनुमानों का कार्य प्रारम्भ कर देता है। ऐसा करते समय वह राजकोष से परामर्श लेता है। विलोबी के कथनानुसार, विभागों द्वारा अन्तिम रूप से जो अनुमान प्रस्तुत किए जाते हैं वे उन प्रस्तावों के वक्तव्य मात्र होते हैं जिसके सम्बन्ध में प्रस्तुतकर्ता उन विभागों और राजकोष के बीच पहले से ही समझौता हो जाते हैं। ये अनुमान केवल आपूर्ति सेवाओं (Supply Services) के सम्बन्ध में होते हैं, संचित निधि की सेवाओं (Consolidated Fund Services) अथवा प्रभारों (Charges) के सम्बन्ध में नहीं होते क्योंकि इनके लिए वार्षिक अनुमोदन की आवश्यकता नहीं रहती। सामान्यतः व्यय के सभी अनुमान राजकोष के पास 15 जनवरी तक भेज दिए जाते हैं, जहाँ आवश्यक जाँच के बाद अनुमान-लिपिक (Estimates Clerk) उन्हें मुद्रित करवा लेता है। ग्रेट ब्रिटेन में बजट प्रणाली की जड़ें तब से मिलती हैं जब संसद् ने शासन पर नियन्त्रण प्राप्त किया। बजट का विकास प्रतिनिधित्व अथवा अधिकार पर लोकप्रिय नियन्त्रण हो जाने के फलस्वरूप वृद्धि को प्राप्त हुआ है।

अमेरिका में अनुमानों की तैयारी
(Preparation of Estimates in U.S.A.)

संयुक्त राज्य अमेरिका में बजट के अनुमानों की तैयारी प्रशासनिक संस्था द्वारा की जाती है। वहाँ सरकारी व्यय के लिए साधनों की खोज का उत्तरदायित्व संविधान ने कांग्रेस पर डाला है। संविधान के अनुसार, "कांग्रेस को यह शक्ति प्राप्त है कि वह करों, शुल्कों, महसूलों व उत्पादन करों को आरोपित करे और उनका संग्रह करे, ऋणों को अदा करने तथा संयुक्त राज्य की सामूहिक सुरक्षा एवं सामान्य कल्याण की व्यवस्था करने की शक्ति का प्रयोग करे।" इस प्रकार वित्तीय दृष्टि से संयुक्त राज्य अमेरिका में कांग्रेस को ही सारी शक्तियाँ सौंपी गई हैं। सन् 1921 में बजट तथा लेखांकन अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार राष्ट्रपति का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक नियमित सत्र के आरम्भ में कांग्रेस को निम्नलिखित आवश्यक सूचनाएँ प्रेषित करे—(i) आने वाले वित्तीय वर्ष के लिए सरकारी सहायतार्थ आवश्यक खर्चों एवं विनियोजनों के अनुमान। (ii) प्रचलित राजस्व कानूनों एवं प्रस्तावित राजस्व-प्रस्तावों के अन्तर्गत आने वाले वित्तीय वर्ष के लिए सरकार हेतु प्राप्तियों के अनुमान। (iii) चालू वित्तीय वर्ष के काल में सरकार की प्राप्तियों एवं व्यय के अनुमान। (iv) बीते हुए वर्ष के काल में सरकार की प्राप्तियों एवं खर्चों की एक सूची और ऐसा वक्तव्य जिसमें पिछले वित्तीय वर्ष के अन्त की राजकोष की दशा और चालू वर्ष के लिए उस दशा से सम्बन्धित अनुमान दिखाए गए हों। (v) संयुक्त राज्य अमेरिका की ऋण-व्यवस्था से सम्बन्धित तथ्य। (vi) दूसरे वित्त सम्बन्धी अन्य वक्तव्य जो सरकार की वित्तीय स्थिति का पूर्ण ज्ञान कराने के लिए आवश्यक समझे जाएँ।

संयुक्त राज्य अमेरिका में बजट के अनुमानों की तैयारी बजट-ब्यूरो (Bureau of the Budget) के माध्यम से राष्ट्रपति के नेतृत्व में की जाती है। इस प्रक्रिया में विभिन्न विभागीय बजट सम्बन्धी कार्यालय भी सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। वैसे विभागीय बजट की तैयारी में प्रत्येक विभाग कुछ अन्तर रखता है, किन्तु सम्पूर्ण संघीय बजट-प्रक्रिया सम्पन्न होने में लगभग 18 महीने का समय लगता है। यह प्रत्येक वर्ष के जून माह से शुरू होती है तथा इसे दूसरे वर्ष के जनवरी मास में कांग्रेस के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। बजट की तैयारी के प्रारम्भ में बजट-ब्यूरो विभिन्न विभागों और अभिकरणों से बजट-अनुमानों के लिए प्रार्थना करता है। इसके लिए अग्रिम नियोजन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार इसका नियोजन चालू बजट वर्ष के अन्त से दो वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ हो जाता है। अभिकरण के अनुमान जिन पत्रों पर दिए जाते हैं, उनको हरे पत्र (Green Sheets) कहते हैं। इनमें पिछले वित्तीय वर्ष के व्यय के लिए, चालू वर्ष में खर्च किए जाने वाले अनुमानों की मात्रा के लिए और आने वाले वर्ष के लिए वांछित मात्रा हेतु स्थान होते हैं। अनुमान प्रपत्रों में माँगी जाने वाली सूचनाओं का सम्बन्ध सेवीवर्ग पर होने वाला व्यय, पूर्तियों एवं सामग्रियों पर होने वाला व्यय और पूँजीगत व्यय से रहता है। अनुमानों को एकत्रित करने की प्रणाली विभिन्न विभागों में अलग-अलग है। कुछ अभिकरणों में बजट का निर्देशन केन्द्रीय कार्यालयों में विकेन्द्रित कर दिया जाता है और वहाँ से यह क्षेत्रीय स्थानों के लिए विकेन्द्रित हो जाता है। ब्यूरो तथा विभागों में अलग-अलग वित्तीय तथा बजट सम्बन्धी अधिकारी होते हैं जो अपने प्रमुखों के लिए स्टाफ सम्बन्धी कार्य करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में बजट का अनुमान किस प्रकार तैयार किया जाता है इसे हम वायु-सेना के उदाहरण द्वारा समझने का प्रयास करेंगे।

वायु-सैना विभाग में वार्षिक बजट का प्रारम्भ अनुमानों की माँग के साथ होता है जो 18 महीने के बाद प्रारम्भ होने वाले वित्तीय वर्ष के लिए प्रत्येक वर्ष की जनवरी में मेजर कमाण्डर के पास भेज दिया जाता है। प्रारम्भिक आमन्त्रण में बजट सम्बन्धी नीतियों और धारणाओं की रूपरेखा होती है। कार्यक्रम सम्बन्धी यह सूचना होती है जो बजट अधिकारियों के लिए सहायक हो सके। क्षेत्रों से अनुमान 6 महीने बाद आ जाते हैं और उनके मुख्य कार्यालय एवं बजट संचालक द्वारा उनकी पुनरीक्षा की जाती है। इनकी पुनरीक्षा निम्नांकित मापदण्डों को ध्यान में रखकर की जाती है—

(1) यह वायु सेना की नीतियों और कार्यक्रम के अनुकूल होनी चाहिए।

(2) वायु सेना की आवश्यकताओं को निर्धारित करने में प्रयुक्त सूत्रों का औचित्य।

(3) अधिकाधिक मितव्ययिता के लक्ष्य के प्रति अनुरूपता।

(4) दोहराव की समाप्ति।

फिर भी 1965 के पश्चात् नियोजन कार्यक्रम एवं बजटीय प्रणाली (PPBS) ने शासन को राष्ट्रपति के आदेशों पर चलने के लिए प्रेरित किया तथा बजट बनाने की प्रक्रिया पर केन्द्रीभूत बल आर्थिक नीति, नियोजन, निर्णय लेना तथा कार्यकारिणी के सामञ्जस्य पर दिया गया। जो सिफारिशें की जाती है, वे पुनरावलोकन के लिए बजट की परामर्शदात्री समिति (Budget Advisory Committee) के सम्मुख प्रस्तुत की जाती हैं। इस समिति का अध्यक्ष बजट निदेशक होता है। इसमें प्रमुख स्टाफ इकाइयों के प्रतिनिधि होते हैं और वित्तीय प्रबन्ध का सहायक सचिव एक परामर्शदाता के रूप में सम्मिलित होता है। इसी व्यवस्था के कारण विभिन्न वित्तीय कार्यक्रमों के बीच सन्तुलन स्थापित हो पाता है। यह समिति क्षेत्रीय टुकड़ियों के अनुमानों में कुछ संशोधन करता है। इस प्रकार उच्च स्तरों पर अनुमानों का संशोधन और परिवर्तन किया जाना बजट की तैयारी की एक विशेषता बन जाता है। नीति सम्बन्धी परिवर्तन तो केवल राष्ट्रपति तथा बजट-ब्यूरो ही कर सकते हैं।

बजट-परामर्शदाता की सिफारिशें वायु-सेना परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत की जाती हैं। यह नीति सम्बन्धी विषयों पर स्टाफ के प्रमुख का परामर्शदाता निकाय होता है। इसमें स्टाफ का उप-प्रमुख (Vice-Chief of the Staff), पाँच उप-प्रमुख (Deputy Chiefs) और वायु-महानिरीक्षक (Air-Inspector General) सम्मिलित होता है। समय-समय पर स्टाफ के सहायक प्रमुखों को भी बुला लिया जाता है। यहीं से अनुमान अन्तिम स्वीकृति के लिए स्टाफ के प्रमुख और वायु-सेना के सचिव के पास जाते हैं। स्टाफ का प्रमुख अन्तिम सैनिक निर्णय का प्रयोग करता है। सचिवालय स्तर पर अधिक गहन विचार-विमर्श होता है।

बजट-ब्यूरो का कार्य (The Role of Budget Bureau)—बजट-ब्यूरो अथवा बजट-विभाग अनुमानों को तैयार करने में राष्ट्रपति की सहायता करता है। ब्यूरो में 6 निदेशक, 6 सहायक निर्देशक और सामान्य परिषद् होती है। ब्यूरो के कार्यों का वर्णन इस प्रकार है—(i) सरकार के राजकोषीय एवं वित्तीय कार्यक्रमों में राष्ट्रपति को सहायता देना। (ii) बजट के प्रशासन का नियन्त्रण और पर्यवेक्षण करना। (iii) प्रशासकीय प्रबन्ध की योजनाओं के विकास से सम्बन्धित शोध करना और विकसित प्रशासकीय संगठन एवं कार्य-प्रणाली के विषय में सरकार के कार्यपालिका विभागों व अभिकरणों को परामर्श देना। (iv) राष्ट्रपति को कुशलता एवं मितव्ययता के साथ सरकारी सेवा संचालित करने में सहायता देना। (v) प्रस्तावित व्यवस्थापन पर विभागीय परामर्श को स्पष्ट करना और उसमें समन्वय करके राष्ट्रपति की सहायता करना। (vi) कार्यपालिका के प्रस्तावित आदेशों एवं घोषणाओं पर विचार करना, स्पष्टीकरण करना और उनकी तैयारी में सहायता देना। (vii) सांख्यिकीय सेवाओं में सुधार, विकास और समन्वय की योजना बनाना, उसकी उन्नति करना, आदि।

इस प्रकार बजट-ब्यूरो बजट के निर्माण में राष्ट्रपति को सहायता देने वाला अभिकरण मात्र ही नहीं है, वरन् यह सरकार के व्यय को न्यूनतम रखने का प्रयास भी करता है। जून के महीने में बजट-ब्यूरो के अधिकारी विभागों एवं अन्य अभिकरणों के अध्यक्षों से आने वाले वर्ष के लिए उनकी धन सम्बन्धी आवश्यकताओं के बारे में बात करते हैं। जिसमें राष्ट्रपति और उसके कार्यालय के स्टाफ आदि अभिकरण भाग लेते हैं।

बजट की तैयारी के दौरान विभिन्न वित्त समूहों और व्यवस्थापिका के मित्रों द्वारा प्रस्तावित बजट के प्रति पर्याप्त सतर्कता और सजगता बरती जाती है। विभागीय अनुमान बजट-ब्यूरो में सितम्बर के प्रारम्भ से ही आना शुरू हो जाते हैं। इन अनुमानों की परीक्षकों द्वारा सावधानी से पुनरीक्षा या पुनरावलोकन किया जाता है। यदि ब्यूरो के परीक्षकों और कार्यकर्ता अधिकारियों के बीच किसी विषय पर मतभेद हो तो वह उच्च स्तर पर विचारार्थ प्रस्तुत किया जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि बजट-ब्यूरो किसी अभिकरण की कुल मात्राओं के बारे में अथवा उनके प्रमुख कार्यक्रमों के बारे में सहमत हो जाए।

ब्यूरो के परीक्षक द्वारा प्रस्तुत सिफारिशों की अन्त में एक समिति द्वारा पुनरीक्षा की जाती है। इस समिति में कुछ ब्यूरो सम्भागों के तथा निदेशक के स्टाफ के सदस्य लिए जाते हैं। इस स्तर पर अभिकरण के अधिकारी अस्वीकृत की गई अथवा संशोधित की गई प्रार्थना पर पुनः विचार करने की माँग कर सकते हैं एवं राष्ट्रपति से अपील भी कर सकते हैं। अन्त में राष्ट्रपति बजट की पुनरीक्षा या पुनरावलोकन करता है और उसके आधार पर अपना वार्षिक बजट-सन्देश तैयार करता है। यह सन्देश विभागों या अभिकरणों को नवम्बर में दे दिया जाता है। इस प्रकार से संयुक्त राज्य अमेरिका में बजट-ब्यूरो की महत्वपूर्ण भूमिका है।

राष्ट्रपति का बजट (The President's Budget)—बजट की तैयारी के अन्तिम स्तर पर सभी अनुमानों और उनसे सम्बन्धित प्रलेखों को अन्तिम रूप से मुद्रित होने के लिए दे देता है ताकि उन्हें जनवरी के अन्त में कांग्रेस तथा व्यवस्थापिका समितियों के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सके। राष्ट्रपति का सन्देश इस आलेख की प्रथम स्वीकृति मानी जा सकती है। इस सन्देश में वह बजट के प्रमुख पहलुओं जैसे—राष्ट्रीय सुरक्षा, वाणिज्य, गृह-निर्माण तथा प्राकृतिक स्रोत-विकास आदि की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। राष्ट्रपति का बजट प्रमुख होना नीति सम्बन्धी नेतृत्व की दृष्टि से बहुत महत्व रखता है। दलीय अनुशासन का अभाव, परम्परागत पार्थक्य और कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के बीच संघर्ष, राजनीतिक दलों में दृढ़ केन्द्रीय निर्देशन का अभाव तथा राष्ट्रपति का निर्वाचित राजनीतिक नेता होना आदि बातें राष्ट्रपति के नेतृत्व को स्वाभाविक बना देती हैं। कार्यपालिका-बजट राष्ट्रपति को उसके नेतृत्व सम्बन्धी उत्तरदायित्व को निभाने के लिए मनोवैज्ञानिक एवं रण-कौशल सम्बन्धी लाभ प्रदान करता है। राष्ट्रपति एक ऐसा राजनीतिक और वित्तीय कार्यक्रम प्रस्तुत करता है जिसकी अवहेलना काँग्रेस द्वारा प्रायः नहीं की जाती है। राष्ट्रपति जनवरी में अपना बजट काँग्रेस के समक्ष भेजता है।

फ्रांस में अनुमानों की तैयारी (Preparation of Estimates in France)

फ्रांस में क्रान्ति से पूर्व यदा-कदा ही यह प्रयत्न किया गया कि लोक नियन्त्रक बजट प्रस्तुत किया जाए, किन्तु जून 17, 1789 की एक आज्ञप्ति (Decree) से आरम्भ होकर, फ्रांसीसी संवैधानिक प्रथा का यह एक आधारभूत एवम् स्थायी सिद्धान्त बन गया कि, "राष्ट्र की स्वीकृति के बिना किसी भी प्रकार के कर नहीं लगाये जा सकते।" उस समय से लेकर कर लगाने के सदर्भ में लोक नियन्त्रण का उल्लंघन केवल बहुत ही कम हुआ है, उनमें से एक नेपोलियन द्वारा तथा दूसरी बार लुई नेपोलियन द्वारा। फ्रांसीसी राष्ट्रीय सभा द्वारा व्यय पर नियन्त्रण, कराधान पर नियन्त्रण के बहुत पश्चात् हुआ। ऐसा दिखाई देता है कि क्रांति के अनेक वर्षों के पश्चात् भी काफी सीमा तक यह अनिश्चितता रही कि आया सभा को राज्य के व्यय पर नियन्त्रण करना चाहिए तथा यह भावना, कि यह विशेषाधिकार कार्यकारिणी का है, बलवती रही। संवैधानिक सभा ने कोष के व्यय का ब्यौरा माँगा, किन्तु व्यय के उद्देश्यों का पूर्व अनुमान लगाने से संकोच किया। 1817 में यह प्रावधान कर दिया गया कि प्रत्येक मन्त्री का व्यय उस द्वारा कुल विनियोजन से अधिक नहीं होगा। 1827 में इस नियन्त्रण को सशक्त बना दिया गया तथा 1831 में संसद् ने विनियोजन के विवरण को आँकने का बीड़ा उठाया और इसी वर्ष संसद् का बजट पर नियन्त्रण पाने का काम पूर्ण हो गया।

फ्रांस में वित्तीय वर्ष से पूर्व ही बजट पर मतदान हो जाता है तथा इस बात को सुनिश्चित बनाया जाता है कि इसमें सारे वर्ष की आवश्यकताओं का प्रावधान रहे। समेकित कोष की प्रणाली भी प्रचलित जिससे सम्पूर्ण राजस्व एकत्रित होता है तथा दिया जाता है। जहाँ तक फ्रांसीसी प्रणाली का सम्बन्ध है, ग्रेट ब्रिटेन की तुलना में दो महत्वपूर्ण भेद हैं। ग्रेट ब्रिटेन में सरकारी वित्तीय योजना तैयार करने का मुख्य दायित्व वित्त मन्त्री का होता है। राजकोष नियन्त्रण का अर्थ है कि राजकोषीय प्राधिकारी को अन्य मन्त्रियों की प्रार्थना को बदलने का अधिकार है। वित्त मन्त्री के निर्णय के विरुद्ध मन्त्रिमण्डल को शिकायत की जा सकती है, किन्तु ऐसा नहीं होता। फ्रांस के वित्त मन्त्री ने अपने साथी मन्त्रियों की विनियोग की प्रार्थनाओं पर इतनी सीमा तक अधिकार का प्रदर्शन कभी नहीं किया। मुख्य बजटीय निर्णय मन्त्रिमण्डल द्वारा लिए जाते हैं जिनमें वित्त मन्त्री अन्य मन्त्रियों के साथ कमोबेश एक ही स्तर पर भाग लेता है। वित्त मन्त्री द्वारा केन्द्रीकृत वित्तीय नियन्त्रण उस सीमा तक फ्रांस में लुप्त है, परन्तु इससे कहीं अधिक महत्व संसद् द्वारा फ्रांस में प्राप्त बजट सम्बन्धी अधिकार का प्राप्त करना है। उप-सदन (अब राष्ट्रीय सभा) की वित्तीय समिति को कतिपय अधिकार है कि वह व्यय तथा कराधान की प्रस्तावित मदों में कमी कर दे, वृद्धि कर दे अथवा निकाल दे। यहाँ तक कि व्यक्तिगत रूप में नायबों (Deputies) को भी पर्याप्त अधिकार प्राप्त हैं कि वे व्यय तथा आय के उपायों को प्रस्तुत कर सकें, चाहे इस अधिकार को घटाने के प्रयत्न किए गए हैं। इसके अतिरिक्त सभा (Assembly) द्वारा जिन ऋणों पर मतदान कर दिया जाता है उन्हें विशेष रूप से उल्लेखित किया जाता है तथा आकलनों का आपस में स्थानान्तरण वर्जित है। इस प्रकार संसदीय कार्यवाई बजट का विस्तृत वर्णन ब्रिटेन से अधिक अच्छी प्रकार निर्धारित करती है। ब्रिटिश बजटीय प्रणाली का विशेष गुण राष्ट्रीय वित्त के लिए केन्द्रीकृत उत्तरदायित्व फ्रांसीसी प्रणाली में नहीं पाया जाता। इसके तदनुरूप सभा की वित्त

समिति के पास काफी बड़ा स्टाफ है तथा विभागीय प्रस्तावों की पड़ताल कॉमन सदन की आकलन समिति से कहीं अधिक ध्यानपूर्वक करती है। दुर्भाग्यवश, वित्त समिति सदैव अपनी पड़ताल उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से नहीं करती। समिति तथा सभा दोनों सरकार को परेशान कर सकती हैं तथा बजटीय मामलों में सरकार को गिरा भी सकती हैं। जैसा कि ब्रिटेन में होता है। इससे राष्ट्रीय चुनाव नहीं होंगे बल्कि मन्त्रिमण्डल में फेरबदल होगा। फ्रांस में जिस बड़े पैमाने पर बजट पर संसदीय नियन्त्रण किया जाता है उनके अनुसार बड़े पैमाने पर संसदीय उत्तरदायित्व नहीं पनपा है।

भारत में बजट निर्माण

1857 के पश्चात् जब भारत का शासन ब्रिटिश क्राउन के अधीन आया तो भारत राज्य सचिव को भारत के राजनीतिक तथा वित्तीय प्रशासन के लिए उत्तरदायी बनाया गया। देश में तथा अन्य स्थानों पर भारत के राजस्व में जो व्यय था उसे परिषद् के राज्य सचिव के नियन्त्रण में कर दिया गया। इस प्रकार के राजस्व में से कोई अनुदान अथवा किसी प्रकार का भी विनियोग का कोई भी भाग, जो परिषद् के राज्य सचिव को इस अधिनियम के अधीन प्राप्त होता था, उसे परिषद् में उसकी बैठक द्वारा मतदान के बिना नहीं किया जा सकता था। प्रत्येक वर्ष, मई की प्रथम तिथि के पश्चात् जब संसद का अधिवेशन होता था, परिषद् के राज्य सचिव को चौदह दिन के भीतर संसद् के दोनों सदनों के सम्मुख उस वित्तीय वर्ष का लेखा, जो समाप्त हो चुका है, उससे पूर्व के वर्ष का वार्षिक भारतीय कुल राजस्व जो प्राप्त हुआ है, प्रस्तुत करना पड़ता था। जेम्स विल्सन जोकि प्रथम वित्त सदस्य था, उसे आमतौर पर भारत में बजटीय प्रणाली का सूत्रधार समझा जाता है। उसने ब्रिटिश बजटीय प्रणाली को भारत में लागू किया जो समय पाकर भारत में सफलता को प्राप्त हुई। इतने वर्षों तक जब भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, बजटीय प्रणाली में बहुत थोड़ा परिवर्तन करना पड़ा।

भारत में वित्त-मन्त्रालय विभिन्न प्रशासकीय मन्त्रालयों तथा विभागाध्यक्षों को उनके व्यय की आवश्यकताओं का अनुमान तैयार करने के लिए एक प्रपत्र (फार्म) भेजता है। विभागों द्वारा ये निर्धारित प्रपत्र स्थानीय कार्यालयों को भेज दिये जाते हैं जो इस पर अनुमान तैयार करते हैं। प्रपत्र में निम्नांकित कॉलम होते हैं जो समुचित सूचना एकत्रित करते हैं—1. गत वर्ष की वास्तविक आय तथा व्यय, 2. वर्तमान वर्ष के स्वीकृत अनुमान, 3. वर्तमान वर्ष के संशोधित अनुमान, 4. आगामी वर्ष के लिए बजट अनुमान, 5. अनुमानों में प्रस्तावित वृद्धि अथवा कमी का स्पष्टीकरण।

स्थानीय कार्यालय अपने प्रपत्रों को प्रशासकीय मन्त्रालयों से सम्बन्धित विभागों को भेजते हैं। विभागाध्यक्ष इन अनुमानों का सूक्ष्म निरीक्षण और पुनरावलोकन करते हैं। तत्पश्चात् प्रशासकीय मन्त्रालय (Administrative Ministry) अपने-अपने विभागों के सभी अनुमानों को एकत्र कर नवम्बर के मध्य में वित्त-मन्त्रालय को भेज देते हैं। प्रत्येक विभाग के अनुमानों की एक प्रतिलिपि भारत के महालेखापाल (Accountant General) को प्रेषित कर दी जाती है। महालेखापाल विभिन्न मदों की जाँच करता है और देखता है कि अनुमानों के सभी स्वीकृत प्रभार (Charges) ही सम्मिलित किए गए हैं, अस्वीकृत प्रभार सम्मिलित नहीं हैं। महालेखापाल इन प्रशासकीय मन्त्रालयों के अनुमानों के बारे में अपनी टिप्पणियाँ वित्त-मन्त्रालय को प्रस्तुत करता है।

वित्त-मन्त्रालय द्वारा सूक्ष्म निरीक्षण (Scrutiny by the Finance Ministry)—बजट-रचना का अगला कदम वित्त-मन्त्रालय की जाँच और सूक्ष्म निरीक्षण का है। वित्त-मन्त्रालय केन्द्र सरकार के वित्त का प्रबन्ध करता है और सारे देश को प्रभावित करने वाले सभी वित्तीय प्रश्नों का समाधान करता है। यह विकास सम्बन्धी तथा अन्य आवश्यकताओं के लिए देश-विदेश से साधन जुटाने की व्यवस्था करता है। इसके अतिरिक्त इसके द्वारा ही कर लगाने तथा ऋण लेने की सरकारी नीतियों का नियमन करता है। यह मन्त्रालय मुद्रा, बीमा, बैंक कारोबार, सिक्का ढलाई तथा विदेशी मुद्रा सम्बन्धी सभी मामलों को निपटाया जाता है। यह देश अथवा विदेशों में किए जाने वाले भारत सरकार के समस्त व्यय का नियन्त्रण करता है। इसका कार्य मुख्यतः तीन सचिवों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। ये हैं—वित्त-सचिव, सचिव (व्यय) एवं विशेष सचिव (अर्थ-विभाग)। वित्त मन्त्रालय के अर्थ-विभाग में एक बजट-प्रभाग होता है। यह केन्द्र सरकार का सामान्य बजट (रेलवे के अतिरिक्त) तैयार करने तथा उसे प्रस्तुत करने के लिए उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त यह अनुदानों की अनुपूरक माँगों तथा अतिरिक्त अनुदानों की माँगों के लिए भी उत्तरदायी है। राष्ट्रपति-शासन के समय राज्यों का बजट तथा अनुपूरक माँग सम्बन्धी कार्य यही प्रभाग सम्पन्न करता है।

प्रशासनिक मन्त्रालयों द्वारा तैयार किए गए बजट-अनुमानों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है—स्थायी प्रभार, प्रचलित योजनाएँ एवं नवीन योजनाएँ। अनुमान तैयार करते समय वित्त मन्त्रालय दो बातों को ध्यान में रखता है—मितव्ययता और धन की उपलब्धता। अनुमानों का सूक्ष्म निरीक्षण करते समय यह नीति-

सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार नहीं करता और न ही व्यय सम्बन्धी प्रस्तावों को एक विशेषज्ञ के रूप में देखता है। नई योजनाओं के व्यय सम्बन्धी प्रस्तावों की छानबीन करते समय वित्त मन्त्रालय द्वारा निम्नांकित महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये जाते हैं—(i) क्या प्रस्तावित व्यय वास्तव में आवश्यक है ? (ii) यदि है तो अब तक इसके बिना कैसे काम चलाया गया ? (iii) इसकी आवश्यकता अभी क्यों पड़ी ? (iv) अन्यत्र क्या किया जाता है ? (v) इसमें क्या व्यय होगा और यह धन कहाँ से आएगा ? (vi) इस व्यय के परिणामस्वरूप किसे धन की कमी अनुभव होगी ? (vii) क्या नए विकास इस व्यय को अनावश्यक बना सकते हैं ? आदि-आदि।

इस प्रकार वित्त मन्त्रालय की छानबीन गहन रूप में होती है। इस सम्बन्ध में मुख्य नियम यह है कि कोई भी प्रस्ताव वित्त मन्त्रालय की स्वीकृति के बिना बजट में शामिल नहीं किया जा सकता। उपलब्ध साधनों के सीमित होने के कारण वित्त मन्त्रालय इस बात का ध्यान रखता है कि किसी मन्त्रालय को उसकी वास्तविक आवश्यकताओं से अधिक धन प्राप्त न हो जाए। यह उन प्रस्तावों को अधिक ध्यान से देखता है जिनमें व्यय बढ़ाने अथवा नया व्यय जोड़ने की बात निहित की जाती है। नए व्यय मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—क्रय एवं निर्माण कार्यों के लिए अनुदान और कर्मचारियों के लिए अनुदान। प्रथम व्यय को बजट में शामिल करने के सम्बन्ध में वित्त-मन्त्रालय का नियन्त्रण अत्यन्त सीमित होता है। यहाँ वित्त मन्त्रालय का निर्णय सभी को मान्य होता है। यदि अब भी सम्बन्धित मन्त्री असहमत हो तो वह त्याग-पत्र दे सकता है। इससे स्पष्ट है कि मन्त्रिमण्डल में वित्त मन्त्री का एक विशेष स्थान है। दूसरे मन्त्रियों द्वारा उसके विचारों को महत्त्व देना होता है। ग्रेट ब्रिटेन की हाल्डेन कमेटी का यह कहना सर्वथा उपयुक्त था कि "यदि वित्त मन्त्री को सरोवर में पानी भरने तथा निश्चित मात्रा में पानी बनाए रखने के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है तो उसे पानी की निकासी पर भी पर्याप्त नियन्त्रण प्राप्त होना चाहिए।" वित्त मंत्री के नेतृत्व, निर्देशन और मार्गदर्शन में ही केन्द्रीय बजट का निर्माण होता है। यद्यपि वह इस मामले में पूर्णरूप से स्वतंत्र नहीं होता है। वह तो मंत्रिमंडल द्वारा स्वीकृत नीतियों के अनुरूप अपने बजट का निर्माण करता है।

बजट के अनुमान की तैयारी में वित्त-मन्त्रालय के नियन्त्रण का समर्थन दो बातों के आधार पर किया जाता है—(क) वित्त मन्त्रालय स्वयं व्ययकारी विभाग नहीं होता, इसलिए वह करदाताओं के हितों की निष्पक्षता से रक्षा कर सकता है। (ख) वित्त-मन्त्रालय द्वारा दूसरे मन्त्रालयों के व्यय के लिए धन का प्रबन्ध किया जाता है, अतः यह आवश्यक है कि वह इस व्यय के औचित्य के सम्बन्ध में निर्णय ले सके। इतने पर भी आलोचकों द्वारा वित्त मन्त्रालय के नियन्त्रण का विरोध किया जाता है।

भारी व्यय की आवश्यकताओं वाली योजनाओं में सूक्ष्म परीक्षण सदैव पूर्ण नहीं हो पाता। फलतः योजनाओं की वास्तविक आवश्यकताओं को सही रूप में नहीं समझा जाता। आज की बदली हुई परिस्थितियों में यह नियन्त्रण असामयिक है। व्यक्तिवादी युग में सरकारी व्यय को घटाने की सम्भावनाओं की खोजबीन करना उचित था, किन्तु आज नहीं। आज की आवश्यकता यह है कि व्यय को फलदायक प्रवाहों की ओर मोड़ा जाए। वित्त मन्त्रालय की आदत पड़ गई है कि वह प्रत्येक नए प्रस्ताव पर 'नहीं' कहता है और इस प्रकार गतिशील नीतियों में अवरोध उत्पन्न करता है। अनेक योजनाएँ बजट की तैयारी के समय उसमें शामिल होने के लिए आती हैं। यदि इनका सूक्ष्म परीक्षण किया गया तो व्यय में देरी हो जाएगी। यह स्थिति असन्तोषजनक ही कही जायेगी। आलोचकों द्वारा वित्त मन्त्रालय की नियन्त्रणकारी क्षमता पर भी सन्देह किया जाता है। कहा जाता है कि मन्त्रालय के अधिकारी मानवीय कमजोरियों एवं सीमाओं से अछूते नहीं होते हैं। वे अल्पकाल में सूक्ष्म परीक्षण द्वारा करोड़ों रुपयों के व्यय के प्रस्तावों को अस्वीकार कर देते हैं जो गलत है। अनेक अवसरों पर ऐसा होता है कि एक पैसा बचाने के उद्देश्य से वित्त मन्त्रालय रुपया खर्च करने की गलती कर बैठता है। यह छोटी-छोटी मदों एवं व्यय के प्रस्तावों को कड़ी आलोचना की कीलों से छेदता है, किन्तु बड़ी-बड़ी परियोजनाओं को बिना अधिक आपत्ति के स्वीकार कर लेता है। वित्त मन्त्रालय से एक हजार रुपये के व्यय की मंजूरी लेने में पसीना आ जाता है, किन्तु एक लाख रुपये की स्वीकृति सुगमता से मिल जाती है। एक मन्त्रालय द्वारा दूसरे मन्त्रालयों पर इस प्रकार का नियन्त्रण अनुपयुक्त है। इससे परस्पर द्वेष और विरोधी भाव बढ़ता है। सुझाव है कि नियन्त्रण का कार्य किसी उच्चतम अभिकरण को सौंपा जाए तथा प्रधान मन्त्री इसकी अध्यक्षता करें।

अनुमानों का वर्गीकरण (Classification of Estimates)—वित्त मन्त्रालय के अर्थ प्रभाग द्वारा बजट के अनुमानों का वर्गीकरण किया जाता है ताकि केन्द्र सरकार के बजट सम्बन्धी लेन-देनों का आर्थिक प्रभाव सरलता से समझ में आ पाए। केन्द्रीय बजट के वर्गीकरण की कुछ महत्वपूर्ण बातें निम्नलिखित हैं—

(i) केन्द्र सरकार का कुल व्यय,

(ii) केन्द्र सरकार का अन्तिम परिव्यय,

(iii) केन्द्र सरकार के बजट सम्बन्धी साधनों से पूँजी-रचना,

(iv) केन्द्र सरकार की बचत,
(v) बजट सम्बन्धी लेन-देनों में होने वाले घाटे के विभिन्न स्तर,
(vi) केन्द्र सरकार द्वारा आय की रचना।

व्यय सम्बन्धी अनुमान पूर्ण हो जाने पर आय तथा राजस्व के अनुमान तैयार किए जाते हैं। इस कार्य में वित्त मन्त्रालय के आयकर विभाग, केन्द्रीय आबकारी कर विभाग, सीमा-शुल्क विभाग आदि उल्लेखनीय योगदान करते हैं। ये गत वर्ष की सरकारी आय के आधार पर आगामी वित्तीय वर्ष की सम्भावित आय का अनुमान प्रस्तुत करते हैं। वित्त मन्त्रालय व्यय की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए करों की दरों में परिवर्तन कर सकता है। बजट के आय-व्यय का अनुमान तैयार होने के बाद उन्हें संसद् में प्रस्तुत करने के लिए उसके दो भाग किए जाते हैं—वार्षिक वित्तीय वक्तव्य तथा अनुदानों की माँग। प्रथम भाग में जन-आलेखन तथा संचित निधि को रखा जाता है जबकि दूसरे में संचित निधि से पूरे किए जाने वाले व्यय को दिखाया जाता है।

बजट का अधिनियमन या बजट की स्वीकृति

(Enactment of the Budget or Approval of the Budget)

सरकारी धन के आय-व्यय से सम्बन्धित अनुदान तैयार होने के बाद व्यवस्थापिका में प्रस्तुत किए जाते हैं। यह व्यवहार जनतन्त्र के इस सिद्धान्त के अनुकूल है कि संसद् की स्वीकृति के बिना कोई भी कर नहीं लगाया जा सकता है और न ही कोई व्यय किया जा सकता है। इस तरह से राष्ट्र के बजट पर संसद् का पूर्ण नियन्त्रण होता है।

ग्रेट ब्रिटेन में बजट का अधिनियमन

ग्रेट ब्रिटेन में व्यय के अनुमान तैयार हो जाने के बाद फरवरी के मध्य में सरकार द्वारा उनको हाउस ऑफ कॉमन्स या लोक सदन में प्रस्तुत किया जाता है। लोक सदन में सम्पूर्ण सदन की समिति, जिसे पूर्ति-समिति कहा जाता है, इस पर विचार करती है। पूर्ति-समिति द्वारा पारित प्रस्ताव सदन को वापस भेज दिए जाते हैं जो विनियोजन अधिनियमन के आधार पर तैयार होते हैं। इस अधिनियमन में विस्तार के साथ व्याख्या की जाती है कि विभिन्न कार्यों के लिए वित्तीय वर्ष में कोई विभाग कितना व्यय करेगा।

पूर्ति-समिति के सम्मुख प्रत्येक अनुमान एक प्रस्ताव के रूप में रखा जाता है। इसमें कोई ऐसा संशोधन नहीं लाया जा सकता जो विचाराधीन अनुदान से सम्बन्धित न हो। समिति को अधिकार है कि वह अनुमान के पक्ष में मत दे या उसको अस्वीकृत करे अथवा उसकी धनराशि में कमी कर दे। सांविधानिक दृष्टि से सरकारी व्यय का दायित्व सम्राट को सौंपा गया है और इस सिद्धान्त के आधार पर लोकसदन सम्राट द्वारा माँगी गई धनराशि में वृद्धि नहीं कर सकती है। पूर्ति-समिति में भी ऐसा कोई संशोधन नहीं किया जा सकता जिसमें अनुमानों की धनराशि से अधिक वृद्धि की माँग की गई हो। पूरे वित्तीय वर्ष की सेवाओं के लिए सभी माँगों पर स्वीकृति देने के बाद पूर्ति-समिति की बैठकें बन्द कर दी जाती हैं।

पूर्ति-समिति को संचित निधि से धन प्राप्त करने का अधिकार नहीं होता। यह अधिकार सम्पूर्ण सदन की एक अन्य समिति—उपाय और साधन समिति (The Committee of Ways and Means) को सौंपा जाता है। यह समिति प्रमुखतया दो प्रकार के कार्य करती है—(i) यह संचित निधि में से धन प्राप्त करने का अधिकार सौंपती है। (ii) करों अथवा ऋणों के माध्यम से धन एकत्रित करने के प्रस्तावों पर विचार करती है।

इनके अतिरिक्त यह समिति उन करों पर भी विचार करती है जिनके आधार पर वर्ष भर की सेवाओं का प्रबन्ध किया जा सके। यह समिति जिन प्रस्तावों को स्वीकार करके सदन के सामने प्रस्तुत करती है उनके आधार पर ही वित्त विधेयक तैयार किया जाता है। आगामी वित्तीय वर्ष के लिए प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों तथा उनकी दरों का निर्धारण भी यह समिति करती है। राजस्व के नए स्रोत भी खोजे जाते हैं। समिति के प्रस्तावों को विनियोजन विधेयक या वित्त विधेयक का रूप देकर हाउस ऑफ कॉमन्स अर्थात् लोकसदन द्वारा लॉर्ड सभा के पास भेज दिया जाता है। उसके बाद सम्राट के हस्ताक्षर के पश्चात् यह विधेयक कानून बन जाता है। लॉर्ड सभा को बजट के संबंध में निर्णायक शक्ति प्राप्त नहीं है। लोकसदन द्वारा ही देश का बजट पास किया जाता है। लॉर्ड सभा केवल विलम्बकारी शक्ति का प्रयोग कर सकती है।

ब्रिटिश राजकोष का योगदान (The Role of British Treasury)—राजकोष ब्रिटिश वित्तीय प्रशासन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण संस्था है। यह एक विभाग है जो कार्यपालिका के नियन्त्रण और संसदीय सत्ता के अधीन रहकर देश के सार्वजनिक वित्त का प्रशासन करता है। वित्तीय विषय के महत्व के कारण राजकोष ने दूसरे सभी विभागों पर अपनी प्रधानता स्थापित कर ली है।

राजकोष का संगठन—राजकोष का प्रबन्ध चांसलर ऑफ एक्सचेकर (Chancellor of the Exchequer) के नेतृत्व में होता है। प्रधान मंत्री यद्यपि इसका प्रथम लॉर्ड होता है, किन्तु वास्तविक प्रशासन से इसका सम्बन्ध बहुत कम होता है। अर्थमहामात्य ब्रिटेन का वित्त मंत्री होता है। अपने पद के अनुसार वह संसद् के प्रति अनेक कार्यों के लिए उत्तरदायी है, जैसे—सरकारी आय का उचित संग्रह, आय प्राप्त करने के साधन, आय की कमी को पूरा करने के लिए ऋणों की व्यवस्था, लगाए जाने वाले कर, उन पर दी जाने वाली माफियाँ, आय तथा व्यय के बीच सन्तुलन, आदि। मन्त्रि-परिषद् में प्रधान मन्त्री के बाद उसी का स्थान होता है। यद्यपि वित्तीय नीति का निर्धारण पूरा मन्त्रिमण्डल करता है, किन्तु उसकी आवाज निश्चय ही महत्त्व रखती है। जब दूसरे विभागों द्वारा प्रतियोगितापूर्ण माँगें प्रस्तुत की जाती हैं तो उनके सापेक्ष महत्त्व का मूल्यांकन इसी के द्वारा किया जाता है। राजकोष में अर्थमहामात्य के अतिरिक्त तीन अनुभाग (Sections) होते हैं—स्थापना अनुभाग (Establishment Section), पूर्ति अनुभाग (Supply Section) और वित्त अनुभाग (Finance Section)। इन तीनों का कार्य क्रमशः लोकसेवकों की नियुक्ति एवं वेतन का पर्यवेक्षण, व्यय करने वाले दूसरे विभागों के कार्यों की देखभाल और वित्तीय नीति का विस्तृत विवरण तैयार करना है।

राजकोष का पूर्ति-अनुभाग व्यय की जाँच करता है। यह भी अनेक उप अनुभागों में विभक्त रहता है। प्रत्येक उप अनुभाग को मन्त्रालय के एक वर्ग के अधीन रखा जाता है। इसके द्वारा विभागों को अनुमान तैयार करने और राजस्व का ढाँचा बनाने में सहायता दी जाती है। स्थापना अनुभाग भी इसी प्रकार नागरिक सेवकों की नियुक्ति, पदोन्नति एवं पारिश्रमिक आदि प्रश्नों से सम्बन्धित अनेक उप अनुभागों में विभाजित होता है। वित्तीय अनुभाग तीन शाखाओं में विभाजित रहता है—

राजकोष के कार्य—राजकोष द्वारा जो विभिन्न कार्य सम्पन्न किये जाते हैं, उनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(i) संसद् के अधीन रहते हुए कर लगाना, उनका नियमन करना तथा राजस्व संग्रह करने का कार्य करना।

(ii) संसद् के लिए अनुदानों की तैयारी तथा उनके पर्यवेक्षण द्वारा सरकारी व्यय का नियन्त्रण करना।

(iii) लोक सेवाओं की दैनिक आवश्यकताओं का निर्वाह करने के लिए आवश्यक धन का प्रबन्ध करना और आवश्यकता पड़ने पर ऋण देना।

(iv) सार्वजनिक ऋण मुद्रा तथा बैंकिंग सम्बन्धी कार्यों का संचालन करना।

(v) सरकारी आलेखन रखने का तरीका निश्चित करना।

वित्तीय प्रशासन में राजकोष नियन्त्रण व्यापक है। राज्य के बढ़ते हुए कार्यों के सन्दर्भ में राजकोष का महत्त्व और बढ़ता जा रहा है। यह लोक सेवाओं पर व्यापक नियन्त्रण रखता है। सभी स्तरों के लोक सेवकों व कार्यों की दशाओं का निरीक्षण करता है। कोई मन्त्रालय पर्याप्त धन होते हुए भी अपने अधिकारियों की संख्या एवं वेतन नहीं बढ़ा सकता जब तक कि इसके लिए राजकोष की अनुमति प्राप्त न कर ले।

संयुक्त राज्य अमेरिका में बजट का अधिनियम
(Enactment of the Budget in U.S.A.)

संयुक्त राज्य अमेरिका में अनुमानों की तैयारी के बाद उन्हें स्वीकृति के लिए काँग्रेस के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। अमेरिकी संविधान का अनुच्छेद-1 काँग्रेस के सदस्यों को वित्तीय विषयों में महत्त्वपूर्ण शक्ति प्रदान करता है। जहाँ बजट की रचना के चरण हैं—राष्ट्रपति द्वारा वित्तीय नीति का निर्धारण, बजट-ब्यूरो द्वारा आय और व्यय के अनुमानों की तैयारी, व्यय करने वाले विभागों द्वारा अपने-अपने अनुमान प्रस्तुत करना, इन प्रारम्भिक अनुमानों पर बजट ब्यूरो द्वारा विचार-विमर्श, व्यय करने वाली सेवाओं द्वारा संशोधित अनुमान प्रस्तुत करना, इन संशोधित अनुमानों पर बजट-ब्यूरो द्वारा पुनः विचार करना और इस सब के अन्त में बजट आलेख को काँग्रेस के सामने प्रस्तुत करना।

बजट के अनुमान राष्ट्रपति द्वारा प्रतिनिधि सभा को भेजे जाते हैं जो इन्हें विनियोजन समिति को सौंप देती है। यह समिति सरकार की विभिन्न क्रियाओं के विनियोजनों पर विचार करने के लिए अपने आपको उनकी उप-समितियों में बाँट लेती है। इन समितियों के सम्मुख विभिन्न विभागों के अधिकारियों की गवाहियाँ होती हैं। ये समितियाँ अनुमानों में मनचाहा परिवर्तन कर सकती हैं। विचार-विमर्श के बाद समितियों द्वारा विनियोजन-विधेयकों के रूप में सभा के समक्ष प्रतिवेदन प्रस्तुत किए जाते हैं। सभा में इन पर पर्याप्त वाद-विवाद किया जाता है और आवश्यक परिवर्तन किए जाते हैं। प्रतिनिधि-सभा में स्वीकृत होने के बाद अनुमान सीनेट को भेज दिए जाते हैं। सीनेट को भी इन अनुमानों में परिवर्तन करने का अधिकार होता है। यदि कभी दोनों सदनों के बीच गतिरोध उत्पन्न हो जाए तो उसके लिए एक सम्मेलन-समिति नियुक्त की जाती है। जब एक विनियोजन विधेयक दोनों

सदनों से पास हो जाता है तो वह राष्ट्रपति के हस्ताक्षरों के लिए भेज दिया जाता है। कुछ अवसरों के अतिरिक्त राष्ट्रपति इस पर स्वीकृति प्रदान कर ही देते हैं।

काँग्रेस द्वारा जब बजट पर विचार किया जाता है तो उस पर अनेक बाहरी दबाव पड़ते हैं। इनको 'Pork Barral' तथा 'Logrolling' के नाम से जाना जाता है। कांग्रेस का प्रत्येक सदस्य अपने चुनाव क्षेत्र के लिए बजट का अधिकांश भाग प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसके लिए विभिन्न स्थानीय दबाव काम करते हैं। काँग्रेस के सदस्य अपने लक्ष्य की प्राप्ति में इस प्रकार एक-दूसरे से सहयोग करते हैं।

काँग्रेस की पुनरीक्षा या पुनरावलोकन व्यवस्था में सुधार—काँग्रेस तथा उनकी उप-समितियाँ बजट की सूक्ष्म परीक्षा करते समय केवल सीमित नियन्त्रण रख पाती हैं। स्मिथी (Smithies) के अनुसार, विभिन्न उप-समितियों द्वारा तैयार किए गए बजट पर सदन की विनियोजन समिति केवल एक घण्टे ही विचार करती है और तब उसे अपरिवर्तित रूप में ही सीनेट को भेज देती है। काँग्रेस राष्ट्रपति के बजट में कदाचित् ही कटौती करती है। पाँच प्रतिशत की कटौती भी एक नियम न होकर अपवाद मात्र ही है। यदि निम्न सदन अर्थात् प्रतिनिधि सभा या हाउस आफ रिप्रजेन्टेटिव कभी कटौती करता भी है तो सीनेट उसे ज्यों का त्यों स्वीकार करने पर जोर देती है। समझौता समिति के प्रयासों का परिणाम भी बहुत कुछ राष्ट्रपति द्वारा प्रस्तावित मौलिक प्रारूप के सन्निकट होता है। काँग्रेस के विचार-विमर्श के विरुद्ध एक अन्य बात यह कही जाती है कि इसे व्यापक नीति सम्बन्धी विषयों पर विचार-विमर्श करना चाहिए, किन्तु यह प्राय प्रशासनिक विस्तार में उलझी रहती है, अथवा कार्यक्रम के ही विभिन्न विषयों में फँस जाती है जिनमें सदस्यों की विशेष रुचि या जानकारी है।

काँग्रेस द्वारा की जाने वाली बजट की पुनरीक्षा या पुनरावलोकन की प्रक्रिया को दोषपूर्ण मानकर इसके सुधारार्थ समय-समय पर आयोग, समितियाँ एवं अध्ययन-दल नियुक्त किए जाते रहे हैं। इन सभी के संयुक्त प्रयास के परिणामस्वरूप स्थिति में सुधार लाने के लिए निम्नांकित सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं—(1) नियोजन (Planning), (2) अनुसंधान (Research), (3) सन्तुलित बजट (Balanced Budget), (4) विनियोजन प्रक्रिया (Appropriation Procedure), (5) उत्तर-लेखा परीक्षा (Post Audit) (6) लोचशील नियन्त्रण (Flexible Control), (7) विनियोजन (Appropriations), (8) प्रबन्ध-विश्लेषण (Management Analysis), (9) कार्यक्रम पर लिए गए निर्णय (Decisions made on Programme), (10) वार्षिकता (Annuality), (11) दीर्घकालीन नियोजन (Long-term Planning)। अमेरिकी काँग्रेस केवल व्यय की अनुमति ही नहीं देती, वरन् वह राजस्व के उपायों के सम्बन्ध में भी व्यवस्थापन करती है। इस व्यवस्थापन में वह आवश्यकतानुसार संशोधन भी करती है।

भारत में बजट का अधिनियमन

वित्त-मन्त्रालय द्वारा तैयार होने के बाद बजट को स्वीकृति के लिए भारतीय संसद् में प्रस्तुत किया जाता है। संसद् में यह निम्नांकित पाँच क्रमिक स्थितियों में होकर गुजरता है—

(i) बजट सदन में प्रस्तुत किया जाता है।

(ii) संसद् में बजट पर सामान्य चर्चा की जाती है।

(iii) अनुदानों के लिए माँगों पर मतदान होता है।

(iv) विनियोजन-विधेयक पर विचार किया जाता है तथा उसे पारित किया जाता है।

(v) कर सम्बन्धी प्रस्तावों पर विचार किया जाता है तथा उन्हें पारित किया जाता है।

भारतीय संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि संसद् के दोनों सदनों में बजट राष्ट्रपति द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। राष्ट्रीय व्यय सम्बन्धी सभी अनुमान लोकसभा के समक्ष अनुदानों की माँग के रूप में रखे जाते हैं। लोकसभा को अधिकार है कि वह किसी माँग को स्वीकार करे या न करे अथवा प्रस्तावित राशि में कटौती करके स्वीकार करे। अगर किसी माँग या मद पर लोकसभा में कटौती प्रस्ताव स्वीकार हो जाता है तो ऐसी स्थिति में सरकार को त्यागपत्र देना पड़ता है। भारत की संचित निधि पर भारित व्यय अलग होता है। इस व्यय में निम्नांकित विषय शामिल हैं—

(i) राष्ट्रपति के वेतन, भत्ते तथा उसके पद पर होने वाला अन्य व्यय।

(ii) राज्य-सभा के सभापति, उप-सभापति, लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते।

(iii) भारत सरकार पर जिन ऋणों का दायित्व है वे ऋण-प्रभार (Debt Charges)।

(iv) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को दिये जाने वाले वेतन, भत्ते और पेंशनें।

(v) भारत के नियन्त्रक तथा महालेखा-परीक्षक का वेतन, भत्ते तथा पेंशन आदि।

(vi) किसी न्यायालय या मध्यस्थ न्यायाधिकरण के निर्णय, आकृति अथवा संकट के भुगतान के लिए अपेक्षित धनराशि।

(vii) कोई भी ऐसा व्यय जो संविधान द्वारा या संसद की विधि द्वारा भारित या स्वीकार किया गया हो।

व्यय के उपर्युक्त सभी अनुमानों को संसद के सामने मतदान के लिए नहीं रखा जाता, फिर भी यदि कोई सदन इन पर विचार करना चाहे तो कर सकता है। शेष व्यय के अनुमानों पर लोकसभा को यह शक्ति प्राप्त होती है कि उनको स्वीकार करे या न करे अथवा प्रस्तावित राशि में कटौती करके स्वीकार करे। वित्तीय दृष्टि से भारतीय संसद् का निम्न सदन अर्थात् लोकसभा महत्वपूर्ण सदन है। राज्य-सभा में वित्त विधेयक प्रस्तावित नहीं किए जाते। ये लोकसभा में प्रस्तुत होते हैं और उसमें पारित होने के बाद राज्य-सभा में जाते हैं। राज्य-सभा विधेयक पर विचार करके 14 दिन के भीतर अपनी सिफारिश सहित लोकसभा को लौटा देती है। लोकसभा को इन्हें स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार है। जब लोकसभा द्वारा राज्य-सभा की सिफारिशें स्वीकार कर ली जाती हैं तो धन-विधेयक को संसद् द्वारा पारित माना जाता है। यदि राज्य-सभा 14 दिन के भीतर अपना मत प्रकट न करे तो विधेयक को यथावत् पारित मान लिया जाता है और राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बाद कानून का रूप ले लेता है। इस प्रकार वित्तीय क्षेत्र में राज्यसभा की शक्तियाँ नहीं के बराबर हैं।

बजट का प्रस्तुतीकरण—संसद् में प्रस्तुत किए जाने वाले बजट के आलेख में केन्द्र सरकार का बजट, डाक-तार सेवाओं के अनुदानों की माँगें, प्रतिरक्षा सेवाओं के अनुमान, बजट पर स्पष्टीकरण के लिए स्मृति-पत्र, वित्त मन्त्री का अभिभाषण, पिछले वर्ष का आर्थिक सर्वेक्षण, बजट का आर्थिक वर्गीकरण तथा बजट का संक्षिप्त रूप आदि शामिल रहते हैं। मूल बजट के अतिरिक्त रेलमन्त्री द्वारा रेलवे बजट भी प्रस्तुत किया जाता है। इसमें भारतीय रेलों का आय-व्यय, रेलों के लिए अनुदानों की माँगें, रेलमन्त्री का भाषण तथा स्पष्टीकरण के लिए स्मृति-पत्र आदि शामिल होते हैं। रेलवे बजट तथा सामान्य बजट दोनों की प्रक्रिया समान होती है। अन्तर केवल यह है कि रेलवे बजट रेल मन्त्री द्वारा और सामान्य बजट वित्त मन्त्री द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। वित्त मन्त्री सामान्य बजट को प्रायः फरवरी के अन्तिम दिन शाम के लगभग पाँच बजे (वर्ष 1999-2000 का बजट प्रातः 11 बजे) लोकसभा में प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही वित्त मन्त्री का बजट अभिभाषण होता है। इसमें कर सम्बन्धी प्रस्तावों, प्रशुल्क सम्बन्धी प्रवृत्तियों, उद्योगों के संरक्षण एवं आगामी वर्ष के लिए सरकारी नीतियों की प्रत्यक्ष झलक प्राप्त हो जाती है। यही कारण है कि व्यापारिक तथा वित्तीय क्षेत्रों में इसे ध्यान से देखा जाता है। बजट राज्य-सभा में भी प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु यह सदन केवल विचार-विमर्श करने मात्र का अधिकारी है, बजट के अनुदानों पर इसे कोई शक्ति प्राप्त नहीं है।

सामान्य वाद-विवाद—बजट प्रस्तुत होने के कुछ दिन बाद उस पर वाद-विवाद प्रारम्भ होता है जो प्रायः दो-तीन दिन तक चलता है। इस समय संसद् बजट में अन्तर्निहित नीति अथवा सिद्धान्तों पर सामान्य रूप से विचार-विमर्श करती है। इस स्तर पर कई प्रस्ताव आते हैं। वाद-विवाद के अन्त में वित्त मन्त्री द्वारा एक सामान्य उत्तर दे दिया जाता है। सामान्य बहस द्वारा बजट में शामिल आय-व्यय के प्रस्तावों पर सदन की राय प्रकट हो जाती है।

माँगों पर मतदान—सामान्य विचार-विमर्श के बाद अनुदानों की माँगों पर विचार-विमर्श किया जाता है। ये मन्त्रालयों के क्रम से उपस्थित की जाती हैं। इनको एक प्रस्ताव के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। माँगों पर मतदान के लिए ग्रेट ब्रिटेन की तरह ही 26 दिन निर्धारित किए गए हैं। सदन का नेता हाउस ऑफ कॉमन्स के स्पीकर से मिलकर माँगों पर बहस के लिए समय निर्धारित कर लेता है। समय पूरा होते ही माँगें मतदान के लिए रख दी जाती हैं तथा यह नहीं देखा जाता कि विचार-विमर्श पूरा हुआ है अथवा नहीं। इस प्रकार अनेक माँगों पर बिना विचार-विमर्श के ही मतदान करा लिया जाता है। कुल बजट का आधा या एक-तिहाई भाग बिना आलोचना या वाद-विवाद के मतदान का विषय बना लिया जाता है। यह एक असन्तोषजनक स्थिति है और इसके कारण सार्वजनिक वित्त पर सदन का नियन्त्रण एक दिखावा मात्र रह गया है।

अनुदान की माँग केवल राष्ट्रपति की सिफारिश पर की जाती है। सांसदों को बजट की प्रस्तावित मदों में वृद्धि करने का अधिकार नहीं है, वे इनमें केवल कटौती कर सकते हैं। व्यवहार में, यह कटौती-प्रस्ताव भी मन्त्रिमण्डल की इच्छा से ही स्वीकार किया जाता है अन्यथा यह उसके विरुद्ध अविश्वास-प्रस्ताव का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। इस पर मन्त्रिमण्डल की पराजय की स्थिति में नैतिक रूप से उसे त्यागपत्र देना पड़ता है। इस प्रकार कटौती-प्रस्ताव केवल प्रतीक मात्र है। इसका महत्त्व यह है कि इसके नाम पर प्रशासन की आलोचना की जा सकती है। कटौती-प्रस्ताव सांसदों के हाथों में एक छड़ी है जिसके द्वारा वे प्रशासन को सजग रखते हैं। सम्बन्धित मन्त्री सांसदों की आलोचनाओं का उत्तर देता है अथवा उल्लेखित कष्टों के निवारण का आश्वासन देता

है। ऐसा होने पर या तो कटौती प्रस्ताव वापस ले लिया जाता है अथवा बहुमत की सहायता से मंत्रिमण्डल उसे प्रभावहीन बना देता है। स्पष्ट है कि कटौती-प्रस्ताव का लक्ष्य मितव्ययता लाना नहीं वरन् वाद-विवाद प्रारम्भ करना होता है।

कटौती-प्रस्ताव—कटौती-प्रस्ताव तीन प्रकार के होते हैं— (i) नीति सम्बन्धी कटौती-प्रस्ताव, ये होते हैं जिनका उद्देश्य प्रस्तावित व्यय में अन्तर्निहित नीति का विरोध करना होता है। (ii) मितव्ययिता सम्बन्धी कटौती-प्रस्ताव में किसी माँग के धन की राशि कम करने का उद्देश्य रहता है। इस प्रस्ताव से सम्बन्धित वक्तव्य में मितव्ययिता लाने के उपायों पर विचार किया जाता है। (iii) प्रतीक कटौती-प्रस्ताव माँग से सम्बन्धित विशेष शिकायतों को सामने लाने का कार्य करते हैं। भारतीय संसद् में मुख्य रूप से अन्तिम प्रकार के कटौती प्रस्ताव ही लाए जाते हैं।

विनियोजन विधेयक—माँगों पर मतदान के बाद विनियोजन विधेयक (Appropriation Bill) की स्वीकृति के रूप में पूर्ति कर मतदान का अन्तिम चरण पूरा किया जाता है। सदन द्वारा स्वीकृत माँगों को विनियोजन विधेयक के माध्यम से कानूनी रूप दिया जाता है। इसे पारित करते समय सदन पूर्वपारित अनुदानों में अथवा संचित निधि के प्रस्तावों में कोई संशोधन नहीं कर सकता। संसद् द्वारा पारित होने के बाद यह विधेयक राष्ट्रपति के हस्ताक्षरार्थ भेज दिया जाता है। वित्त विधेयक होने के कारण राष्ट्रपति इसे अस्वीकार नहीं कर सकता।

करों पर मतदान—व्यय के सम्बन्ध में संसद् की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर उसकी पूर्ति के लिए कर लगाने की व्यवस्था की जाती है। प्रत्येक कर पर वार्षिक स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती। कुछ कर स्थायी प्रकृति के होते हैं। कार्यपालिका द्वारा उनकी दरों को बदला जा सकता है। अन्य करों की दर संसद द्वारा प्रतिवर्ष निर्धारित की जाती है। आगामी वित्त वर्ष के कर सम्बन्धी प्रस्तावों को वित्त-विधेयक का रूप दिया जाता है। इस विधेयक में विनियोजन विधेयक से यह मौलिक अन्तर है कि इसमें करों को घटाने-बढ़ाने का प्रस्ताव लाया जा सकता है और सरकार इन प्रस्तावों को कभी-कभी मान भी लेती है। कर बढ़ाने या नया कर लगाने सम्बन्धी कोई प्रस्ताव राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना पेश नहीं किया जा सकता है।

वित्त-विधेयक को विचार-विमर्श के बाद सदन की प्रवर समिति को भेज दिया जाता है। समिति के सुझाव प्राप्त होने पर सदन में इसकी प्रत्येक धारा पर विचार होता है। लोकसभा में पारित होने के बाद राज्यसभा और राष्ट्रपति का विधिवत् अनुमोदन प्राप्त कर यह विधेयक कानून का रूप ले लेता है।

लोकसभा को लेखों पर मतदान करने का अधिकार है। तदनुसार यह अनुमानित व्यय के एक भाग के लिए पहले से ही मतदान कर देती है तथा बजट के अन्य भाग को बाद में पास होने के लिए रख लेती है। अनिश्चित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपवाद, अनुदान और प्रत्यय-अनुदान की प्रणाली अपनाई जाती है। लेखांकन (Votes on Accounts) द्वारा सरकार को दो माह की अवधि के लिए धन मिलने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। साख अनुदान (Votes on Credit) के अन्तर्गत सभा की अनिश्चित प्रकृति के कारण बजट में जब व्यय की मात्रा को विस्तारपूर्वक नहीं रखा जा सकता तो साख पर मतदान होता है। इस प्रकार के अनुदान युद्ध-व्यय आदि की पूर्ति करते हैं। आवश्यकतानुसार लोकसभा द्वारा विशेष अनुदान भी प्रस्तुत किए जाते हैं। यदि कोई अकल्पनीय व्यय इन सभी साधनों से पूरा नहीं किया जा सके तो इसके लिए राष्ट्रपति भारत की संचित निधि में से व्यवस्था करता है। अनुपूरक अनुदान (Supplementary Grants) द्वारा उस विशेष परिस्थिति का मुकाबला करने की चेष्टा की जाती है जो किसी सेवा के लिए अपर्याप्त धन की व्यवस्था करने के कारण या निर्धारित व्यय के अपर्याप्त होने के कारण पैदा होती है। यह अनुपूरक अनुदान भी विनियोजन विधेयकों की भाँति पारित होता है। इस प्रकार विशेष परिस्थितियों का सामना करने के लिए संसद् को अनेक शक्तियों से युक्त किया गया है।

बजट का क्रियान्वयन

(The Execution of Budget)

बजट को क्रियान्वित करना कार्यपालिका का प्रमुख उत्तरदायित्व माना जाता है। व्यवस्थापिका द्वारा माँगों की केवल स्वीकृति दी जाती है, कर एकत्रित करने के लिए कार्यपालिका को ही उत्तरदायी ठहराया जाता है। बजट को क्रियान्वित करने में व्यय पर नियन्त्रण मुख्यतः दो उद्देश्यों के लिए होता है—प्रथम, यह बजट अनुदानों से अधिक न हो जाए और द्वितीय, व्यय किसी भी प्रकार अनुचित और अपव्ययपूर्ण न हो। बजट स्वीकृत होने के बाद भी धन को व्यय करते समय आवश्यकता और मितव्ययिता को ध्यान में रखना जरूरी होता है।

ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका में बजट की क्रियान्विति
(Budget Execution in Great Britain and U.S.A.)

ग्रेट ब्रिटेन में बजट की क्रियान्विति बहुत कुछ भारतीय व्यवस्था के समान ही है। यहाँ कुशल और मितव्ययतापूर्ण प्रशासन का उत्तरदायित्व विभागाध्यक्ष पर होता है जो राजकोष द्वारा उस विभाग का लेखाधिकारी नियुक्त किया जाता है। जिस प्रकार विभाग के केन्द्रीय कार्यालय होते हैं, उसी प्रकार अध्यक्ष द्वारा उपलेखा अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं। विभाग के अध्यक्ष की सहायता के लिए एक वित्त-अधिकारी होता है जो वास्तव में राजकोष का प्रतिनिधि होता है और वह प्रशासनिक यन्त्र के आवश्यक भाग के रूप में कार्य करता है और विभागाध्यक्ष के नियन्त्रण में रहता है। विभागाध्यक्ष और सम्बन्धित मन्त्री को यह शक्ति प्राप्त होती है कि वे वित्त-अधिकारी की इच्छा के परे कार्य कर सकें, किन्तु ऐसा करने पर नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक द्वारा सम्बन्धित कागजों का परीक्षण किया जाता है। इस प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन में प्रशासन और वित्तीय मामलों को एक-दूसरे के साथ संयुक्त कर दिया गया है।

भारत और ग्रेट ब्रिटेन में वित्तीय नियन्त्रण के व्यवहार का मुख्य अन्तर यह है कि ब्रिटेन में यह नियन्त्रण मुख्य रूप से विभाग के अन्तर्गत ही क्रियाशील होता है, यद्यपि वित्त अधिकारी लगातार राजकोष से सम्पर्क बनाए रखते हैं। भारत में सुरक्षा और वित्त मन्त्रालयों को छोड़कर वित्तीय नियन्त्रण और परामर्श वित्त मन्त्रालय के बाहर से प्रदान किया जाता है। यदि प्रशासनिक और वित्तीय अधिकारियों के बीच किसी विषय पर असहमति हो जाती है तो ग्रेट ब्रिटेन की भाँति वित्तीय अधिकारी की राय को ठुकराया नहीं जा सकता। इसके विपरीत वित्त मन्त्रालय में सम्बन्धित वित्त अधिकारी को लिखकर मामला सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में बजट की क्रियान्विति हेतु राजकोष-विभाग है, किन्तु इसके कार्य ब्रिटिश राजकोष से भिन्न लिए हुए हैं। यह मुख्य रूप से सार्वजनिक कोष की सुरक्षा, उसका व्यय तथा विभिन्न ठेकेदारियों से सम्बन्ध रखता है। बजट पर नियन्त्रण से इसका बहुत कम सम्बन्ध है। संयुक्त राज्य अमेरिका में बजट के नियन्त्रण का कार्य वहाँ की काँग्रेस, बजट-ब्यूरो और महानियन्त्रक में विभक्त रहता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में बजट-नियन्त्रण को व्यवस्थापिका की अपेक्षा कार्यपालिका का दायित्व समझा जाता है, किन्तु इसे पूर्ण रूप से न समझने के कारण पर्याप्त दोहराव और भ्रम बना रहता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में वित्तीय नियन्त्रण की प्रमुख समस्या यह है कि वहाँ शक्ति-पृथक्करण की व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं है। कांग्रेस को यह अधिकार नहीं है कि वह इस सम्बन्ध में कार्यपालिका पर अपनी इच्छाएँ लाद सके। वह विशेष विनियोजनों तथा कार्यपालिका शाखा में व्यय पर कानूनी प्रतिरोध स्थापित कर वित्तीय नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयास करती है। प्रशासनिक व्यय को नियन्त्रित करने के लिए कांग्रेस द्वारा विभिन्न शर्तें और निर्देश जारी किए जाते हैं, किन्तु व्ययकारी सत्ताएँ उनका उल्लंघन आसानी से कर सकती हैं। कांग्रेस के सदस्य भी इसे भली प्रकार जानते हैं।

राष्ट्रपति की भूमिका (The Role of President)—राष्ट्रपति द्वारा व्यय की क्रियान्विति पर पर्याप्त नियन्त्रण रखा जाता है। यदि राष्ट्रपति आवश्यक समझे तो अनावश्यक कोषों को सुरक्षित रख सकता है। राष्ट्रपति द्वारा की जाने वाली नियुक्तियाँ इस दृष्टि से भारी महत्त्व रखती हैं क्योंकि "नियुक्तियों को बजट की क्रियान्विति का प्रथम सोपान माना जा सकता है।" सुरक्षा-विभाग में की जाने वाली नियुक्तियों की रूपरेखा से विदित होता है कि बजट की क्रियान्विति पर राष्ट्रपति का प्रभाव सचिवालय स्तर पर उसके राजनीतिक सहायकों द्वारा प्रयुक्त किया जाता है। राष्ट्रपति बजट-ब्यूरो के माध्यम से यह कार्य करता है। बजट-ब्यूरो में सैनिक विभागों की नियुक्ति सम्बन्धी प्रार्थनाओं की सुनवाई होती है। इस प्रकार की सुनवाइयों में सुरक्षा कार्यालय के सचिव का प्रतिनिधि उपस्थित रहता है। इसके बाद नियुक्ति के सम्बन्ध में परामर्श बजट-ब्यूरो द्वारा प्रसारित किए जाते हैं।

सामान्यतया अमेरिकी बजट में लाखों डॉलर का विनियोजन इसलिए भी होता है ताकि कार्यपालिका-अभिकरणों के प्रबन्ध को सुधारने के कार्य में राष्ट्रपति की सहायता के लिए आवश्यक व्यय की पूर्ति की जा सके। इस कोष को प्रयुक्त करके राष्ट्रपति सरकार के कार्यों में कुशल व्यावसायिक प्रणालियों को अपनाकर मितव्ययिता और कार्यकुशलता लाने का प्रयास करता है। राष्ट्रपति बजट-ब्यूरो के माध्यम से सरकार के प्रबन्धात्मक व्यवहार को सुधारने का प्रयास करता है।

इस प्रकार राष्ट्रपति बजट-ब्यूरो तथा विभागाध्यक्षों पर अपने राजनीतिक नियन्त्रण द्वारा कार्यपालिका की प्रक्रिया पर महत्त्वपूर्ण नियन्त्रण रखता है। इतने पर भी प्रबन्ध की दीर्घकालीन कार्यकुशलता का उत्तरदायित्व एवं सत्ता वहीं और निहित रहती है। कुछ विचारकों का मत है कि राष्ट्रपति और कांग्रेस अपने कार्यक्रमों पर लगातार-व्यापक नियन्त्रण नहीं रख सकते; इसलिए क्रियान्विति में सुधरी हुई सम्पन्नता का दायित्व विभागों और अभिकरणों पर ही रखा जाना चाहिए।

भारत में बजट की क्रियान्विति
(Execution of Budget in India)

भारत में बजट क्रियान्विति के समय कार्यपालिका और व्यवस्थापिका प्रशासनिक विभागों में ईमानदारी बनाए रखने का प्रयास करती है। कार्यक्रमों के संचालन के लिए आवश्यक धन यथासम्भव लोचशील और सकारात्मक तरीके से प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। बजट स्वीकार करते समय संसद् ने जो लक्ष्य निर्धारित किए थे उनकी उपलब्धि में प्रशासनिक सुविधाओं का ध्यान रखा जाता है। बजट की क्रियान्विति की एक महत्वपूर्ण बात यह है कि संसद् द्वारा निर्धारित वित्तीय सीमाओं का उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वित्तीय नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। बजट की क्रियान्विति के समय प्रशासनिक लोचशीलता प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है ताकि प्रशासन परिवर्तित स्थिति और संकटकाल की माँगों का सामना कर सके। लोचशीलता-प्राप्ति हेतु व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के मतभेदों को दूर किया जाता है। घाटे की अर्थव्यवस्था को रोकने के लिए व्यवस्थापिका पर्याप्त नियन्त्रण रखती है, किन्तु कार्यपालिका की स्वायत्तता कायम रखने की चेष्टा की जाती है। बजट को क्रियान्वित करने के लिए निम्नांकित विशेष व्यवस्था की जाती है—

वित्त मन्त्रालय (The Finance Ministry)—भारत में बजट क्रियान्विति के दायित्व का निर्वाह वित्त मन्त्रालय एवं विभिन्न प्रशासनिक विभागों के अध्यक्षों द्वारा किया जाता है। वित्त मन्त्रालय का कार्य बजट तैयार करने और संसद् द्वारा उसे स्वीकार करने तक ही सीमित नहीं रहता वरन् उसकी क्रियान्विति एवं पर्यवेक्षण के रूप में निरन्तर चलता रहता है। यह मन्त्रालय विभिन्न व्ययकारी विभागों पर नियन्त्रण रखता है और उनके बीच समन्वय स्थापित करता है। यह सरकार की सामान्य आर्थिक एवं वित्तीय नीतियों तथा कार्यक्रमों को निर्धारित करता है।

विभागीय अधिकारी (Departmental Officers)—वित्त मन्त्रालय के पर्यवेक्षण में रहता हुआ प्रत्येक प्रशासनिक विभाग का अध्यक्ष अपने विभाग द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओं पर नियन्त्रण रखता है। ये सेवाएँ सारे देश से सम्बन्ध रखती हैं। इसलिए इन्हें सम्पन्न करने वाले अधिकारी देश भर में कार्यरत होते हैं। इन क्षेत्रीय अधिकारियों पर विभागीय अध्यक्ष का नियन्त्रण रहता है। वित्तीय दृष्टि से यह प्रयास किया जाता है कि धन का प्रयोग करते समय सभी कार्यपालिका अधिकारी पर्याप्त ईमानदारी, मितव्ययता एवं कुशलता से कार्य करें। यह सिद्धान्त बजट की क्रियान्विति के प्रत्येक स्तर पर महत्त्व रखता है। इसका प्रथम स्तर धन का संग्रह है। करों द्वारा जनता से धन प्राप्त किया जाता है ताकि प्रशासनिक व्यय का निर्वाह किया जा सके। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों का प्रशासन तथा पर्यवेक्षण केन्द्रीय राजस्व मण्डल (Central Revenue Board) करता है।

केन्द्रीय राजस्व मण्डल सविधि द्वारा निर्मित निकाय है। यह विभिन्न राजस्व कानूनों को क्रियान्वित करता है। इसके सदस्य सचिवालय में पदेन संयुक्त सचिव होते हैं और इस प्रकार वे दोहरी क्षमता में रह कर कार्य करते हैं। राजस्व मण्डल प्रशासनिक एवं अधीनस्थ अधिकारियों का पर्यवेक्षण तथा नियन्त्रण करता है। इसमें अधीनस्थ अधिकारियों के विरुद्ध की गई अपीलें भी सुनी जाती हैं। इस प्रकार धन-वितरण का कार्य किया जाता है। धन के संग्रह का कार्य राजस्व-मण्डल द्वारा राजकोष (Treasury) सम्पन्न करते हैं। भारत के प्रत्येक जिले में एक राजकोष या ट्रेजरी होती है। प्रत्येक राजकोष के एक या अधिक उपराजकोष होते हैं। ये राजकोष तथा उपराजकोष मिलकर संघ-सरकार के प्रत्येक लेन-देन का विवरण रखते हैं। उपराजकोषों द्वारा दैनिक लेखे तैयार करके राजकोषों द्वारा सूचीबद्ध एवं वर्गीकृत करने के बाद में माह में दो बार राज्य के महालेखापाल को भेजे जाते हैं। राजकोष प्रणाली का लाभ यह है कि इसके द्वारा अपर्याप्त बैंकिंग सुविधाओं की कमी को पूरा किया जाता है।

भारत में अपनाई गई राजकोषीय व्यवस्था के आलोचकों का कहना है कि इसके कारण भारत का नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक भारत की संचित निधि से प्रसारित होने वाले धन पर नियन्त्रण नहीं रख पाता क्योंकि धन का भुगतान करने वाले देश भर में फैले रहते हैं। फलत. अनुदानों के अधिकार पर रोक नहीं लग पाती, यह अपरिहार्य बन जाता है। अत. आलोचक यह सुझाव देते हैं कि भुगतानों की राजकोषीय व्यवस्था को समाप्त करके ग्रेट ब्रिटेन की तरह भुगतान का एक ही केन्द्र रखा जाए, लेकिन देश की विशालता एवं वर्तमान जटिल परिस्थितियों में ऐसा करना व्यावहारिक, युक्तियुक्त एवं तर्कसंगत नहीं जान पड़ता है।

बजट में सुधार के सुझाव
(Suggestions of Reforms in Budget)

बजट समस्त प्रशासनिक संगठनों का हृदय है। लोक प्रशासन में बजट की आर्थिक, सामाजिक और प्रशासनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। बजट को सरकारी नीतियों का दर्पण भी कहा जाता है अतः सरकार को बजट में सुधार करते हुए ऐसा बजट बनाना चाहिए जो सर्वमान्य हो। जिसमें सभी को समस्त प्रतिनिधित्व मिले, किसी के साथ भेदभाव एवं अन्याय न हो। लेकिन सरकार को इस तरह के बजट बनाने में प्रायः अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। फिर भी बजट बनाते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए—

1. बजट द्वारा कर लगाते समय गरीबों को इससे मुक्त रखा जावे तथा धनी वर्ग पर इस प्रकार का भार पड़े कि अधिक धनी लोगों को अधिक कर देना पड़े और मध्यम वर्ग पर कर का भार कम पड़े।
2. सम्पत्ति कर इस प्रकार लगाया जावे कि धनी वर्ग से राज्य को अधिकाधिक आय प्राप्त हो जिसे गरीबों के कल्याण पर व्यय किया जा सके।
3. सरकार को बजट का अधिकांश भाग कृषि विकास, रोजगार संसाधन, शिक्षा, ग्रामीण एवं सामुदायिक सेवाओं पर खर्च करना चाहिए जिससे देश में गरीबी दूर हो, लोगों को रोजगार मिले और लोगों का जीवन स्तर सुधरे।
4. बजट में मुद्रा-प्रसार एवं आर्थिक मंदी को रोकने के उपाय करने चाहिए।
5. बजट के माध्यम से प्रशासनिक कार्यों पर होने वाले अपव्यय को रोकने के लिए कड़े कदम उठाने चाहिए।
6. बजट निर्माण में आर्थिक विशेषज्ञों तथा कुशल एवं अनुभवी लोक सेवकों की सहायता ली जानी चाहिए जिससे प्रभावी एवं तर्क-संगत बजट का निर्माण हो सके।
7. बजट निर्माण वास्तविक सांख्यिकी आँकड़ों पर आधारित होना चाहिए, झूठे और असंगत आँकड़ों पर नहीं।
8. बजट पूर्व प्राप्त अनुमानों पर संसद की अनुमान समिति द्वारा गहन परीक्षण किया जाना चाहिए।
9. बजट में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों एवं नीतियों के सन्दर्भ में उसमें आवश्यक परिवर्तन किये जा सकें।
10. हेराल्ड डी. स्मिथ ने सुझाव दिया है कि बजट के अनुमान जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक शुद्ध होने चाहिए। व्ययों के अनुमानों में व्यर्थ के आँकड़े नहीं होने चाहिए तथा राजस्व का अवमूल्यन करके, धन की व्यवस्था करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।
11. विलासी वस्तुओं पर भारी कर लगाना चाहिए जिससे नियोजन प्रोत्साहित हो और देश की आर्थिक प्रगति द्रुत गति से आगे बढ़े।
12. बजट में राजकोषीय घाटा कम करने के प्रयास किए जाने चाहिए। इसके लिए राज्य सरकारों को दी जाने वाली सब्सिडी कम की जानी चाहिए।

भारतीय विद्वान और नोबल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री प्रो. अमर्त्य सेन ने विकासशील देशों विशेषकर भारतीय सन्दर्भ में कहा है कि यदि बजट को जनता के लिए उपयोगी बनाना है तथा भारतीय समाज का बजट के माध्यम से विकास और प्रगति करनी है तो बजट का अधिकांश उपयोग अशिक्षा, आवास समस्या, स्वास्थ्य समस्या और बेरोजगारी को दूर करने में किया जाना चाहिए।

अर्थ विशेषज्ञ झुनझुनवाला ने 11 जनवरी, 2000 के राज पत्रिका में प्रकाशित अपने लेख में बजट सम्बन्धी निम्नलिखित सुझाव दिये हैं जिससे वित्त मंत्री द्वारा सख्त कदम उठाकर देश को नई दिशा दी जा सकती है—

1. आय-कर में और घटौती की जाये तथा मध्यम एवं उच्च वर्ग की उपभोक्ता वस्तुओं पर एक्साइज ड्यूटी तथा आयात कर बढ़ाया जाए, इससे करभार संभ्रान्त वर्ग पर ही पड़ेगा। अन्तर सिर्फ इतना रहेगा कि टैक्स करभार उस व्यक्ति पर कम पड़ेगा जो अपनी आय निवेश करता है। जो निवेश नहीं करेगा वह वर्तमान से अधिक टैक्स देगा। देश में निवेश बढ़ने से आम आदमी को रोजगार के अवसर प्राप्त होंगे। उच्च वर्ग की उपभोक्ता वस्तुओं पर अधिक कर लगाने से उनका उपयोग नियंत्रित होगा और उपभोग की कुछ समानता स्थापित होगी।
2. विदेशी निवेश पर एक 'सार्भांश प्रेषण टैक्स' लगाया जाये। जो विदेशी निवेशक जहाँ कमाए गए लाभ को 20 वर्ष से पहले ले जाना चाहते हैं, उन पर 50 प्रतिशत टैक्स लगा दिया जाय। इससे केवल वे ही निवेशक आयेंगे जो लम्बे समय तक यहाँ रहने का संकल्प करेंगे। इससे जल्दी भाग जाने वाले धन से जुड़ी अस्थिरता से हम प्राय बचे रहेंगे।
3. उन उद्योगों पर श्रमिक कर लगाया जाये जो मजदूरों को काम नहीं देना चाहते हैं। आज उद्योगपति ऐसी मशीनें लगाते हैं जिनके उपयोग से उन्हें कम संख्या में रोजगार देना पड़े। उनकी माँग है कि श्रमिकों को रखने और हटाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस समस्या का हल यह हो सकता है कि उन्हें हर उद्योग के लिए 'उत्पाद में श्रम' के मानक तय किए गए जाएँ, जो उपक्रम मानक से अधिक श्रमिकों को रोजगार देती है उन्हें आय कर तथा उत्पादन कर में छूट दी जाए और श्रमिकों की भर्ती तथा बर्खास्तगी की छूट दी जाए। इससे उद्योगों के लिए अधिक रोजगार उत्पादन करना लाभकारी हो जायेगा।

   साथ ही श्रम संघ अधिनियम के अन्तर्गत श्रमिक को अधिक संरक्षण दिया जाए। ऐसा करने से श्रम संघों की श्रमिकों के हितों की रक्षा करने की क्षमता बरकरार रहेगी।
4. सार्वजनिक उपक्रमों की सामयिक बिक्री की जाए। विनिवेश का अर्थ यह हो गया कि नौकरशाही इन इकाइयों में पूर्ववत् सत्तारूढ़ रहे और अकुशलता, भ्रष्टाचार आदि पनपता रहे। केवल सरकार को कुछ सार्भांश मिल जाता है जिससे सरकार का वित्तीय घाटा नियंत्रित हो। नतीजा यह हो रहा है कि पैट्रोल और दूरसंचार जैसे क्षेत्रों में एकाधिकार वाली सार्वजनिक कम्पनियाँ जनता से मनचाहा मूल्य वसूल कर लाभ दिखा रही हैं, प्रतिस्पर्द्धा के क्षेत्र में अधिकतर कम्पनियाँ घाटे में चल रही हैं और वे बोझ बनी हुई हैं। घाटे वाली कम्पनियों के शेयरों को बाजार में बेचा नहीं जा सकता है। आवश्यकता यह है कि दूरसंचार, पैट्रोल तथा इस्पात जैसे क्षेत्र में लाभ वाली कम्पनियों के संयंत्रों की अलग-अलग सामयिक बिक्री की जाए ताकि निजी क्षेत्र में खरीददारों में प्रतिस्पर्धा बढ़े। साथ-साथ घाटे वाली कम्पनियों की भी सामयिक बिक्री करने से सरकार पर बोझ घटेगा। इनकी बिक्री से मिले धन से सरकार देश पर चढ़े ऋण की अदायगी कर दे तो इस पर ब्याज का बोझ घटेगा और अन्य क्षेत्रों में खर्च बढ़ाने की गुंजाइश बनेगी। एक सरकारी कम्पनी से दूसरे के शेयर खरीदवाकर विनिवेशन के लक्ष्यों को पूरा न करें। जनता समझदार है और इस प्रकार के कार्य से सरकार की साख ही गिरेगी।
5. रोजगार के अधिकार की 25,000 करोड़ की एक वृहत् योजना शुरू की जाए। पिछले 50 वर्ष के आर्थिक विकास के बाद आम आदमी को रोजगार का अधिकार तो मिलना ही चाहिए अन्यथा यह सब कुछ व्यर्थ है। वर्तमान में अनेक कार्यक्रम इसके लिए चलाए जा रहे हैं कि आम आदमी को रोजगार मिले जैसे—प्रधानमंत्री रोजगार योजना, अनुसूचित जातियों के लिए कार्यक्रम, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं खाद्यान्न, बिजली एवं उर्वरक, राज सहायता (सब्सिडी) आदि। इन सभी योजनाओं को पूर्णतया बन्द कर दिया जाए और बचे हुए लगभग 50,000 करोड़ रुपये में से आधा पैसा रोजगार के अधिकार के लिए लगा दिया जाए। शेष आधे पैसे न्याय, कानून एवं रक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ करने पर लगाया जाए। आम आदमी को हम पहले न्याय न देकर गरीब बना रहे हैं और फिर उसकी गरीबी को दूर करने लिए तमाम कार्यक्रम चला रहे हैं, जिन्हें बंद किया जाना चाहिए। रोजगार के अधिकार कार्यक्रम को बुनियादी संरचना से जोड़ा जाए। जितने बेरोजगार हैं उन्हें लगा दिया जाए कि देश के प्रस्तावित और जरूरी राजमार्ग बना डालें। इससे बेरोजगारी भी समाप्त हो जायेगी और राजमार्ग भी बन जायेगा। इससे सरकार को विश्व बैंक के आगे हाथ नहीं फैलाना पड़ेगा।

6. वित्तीय घाटे के विषय में सरकार अधिक चिन्तित न हो। सुरक्षा, न्याय, रोजगार और राजमार्ग के लिए आवश्यक हो तो नोट छापे और महंगाई बढ़ने दे। प्रमुख समस्या सरकारी खर्चे की गुणवत्ता की है। गुणवान सरकारी खर्च बढ़ाइए तथा गुणहीन घटाइए। वर्तमान भ्रष्टाचार नियंत्रण व्यवस्था की कमजोरी यह है कि शिकायत पर ही कार्यवाही होती है। कौटिल्य ने कहा था कि सरकारी अफसर राजस्व में से धन इस प्रकार हड़पते हैं जैसे मछली तालाब में से पानी पीती है। इसे रोकने के लिए ऐसी जासूसी व्यवस्था की जाए जो स्वयं भ्रष्ट व्यक्तियों को ढूंढे और सजा दे। इसके लिए धन उपलब्ध कराया जाए।
7. राज्य स्तरीय बुनियादी संरचना को केन्द्रीय विभागों से बनवाया जाये। प्रायः सभी राज्य सरकारें कंगाल हो चुकी हैं। अपने राज्य कर्मचारियों का वेतन दे पाना भी उनके लिए दुष्कर होने लगा है। ऐसी स्थिति में राज्य स्तरीय बुनियादी व्यवस्था लड़खड़ा रही है । राज्य सरकारों के लिए इस क्षेत्र में पैसा लगाना सम्भव है ही नहीं। ऐसी योजना की आवश्यकता है जिसमें राज्य स्तरीय संरचना को केन्द्रीय विभागों के माध्यम से बनाया एवं उनका रखरखाव किया जाए। यदि यही अतिरिक्त धन राज्यों को दे दिया गया तो उसका भी उपयोग कर्मचारियों को वेतन देने में ही हो जाएगा। इसलिए राज्यों के योजना खर्चों में कटौती की जाए। केन्द्रीय सरकार के माध्यम से यह कार्य सीधे होने चाहिए।
8. सोने पर आयात कर घटाया जाए और रिजर्व बैंक को प्रेरित किया जाये कि वह भी सोने की खरीद करे। वर्तमान में संस्थागत विदेशी निवेश के भारी मात्रा में आने से रुपये का वास्तविक मूल्य चढ़ रहा है। इससे हमारे निर्यात प्रभावित हो रहे हैं और आयात बढ़ रहे हैं। हमारे घरेलू उद्योग दबाव में हैं। इसका उपाय यह है कि विदेशी मुद्रा की आवक को सोने के आयातों में लगा दिया जाए। इससे रुपये का अवमूल्यन होगा और हमारे घरेलू उद्योग-धन्धे खड़े रह सकेंगे। साथ ही साथ विश्व अर्थ-व्यवस्था में किसी भी हड़कम्प से बचने के लिए हमारे पास सोने का पर्याप्त भण्डार होगा। हम तब भी सुदृढ़ बने रहेंगे।
9. देश में पूंजीपतियों को दान के लिए आकर्षित करने के लिए दान-रत्न, दान-विभूषण तथा दान-श्री आदि नामों से देश एवं राज्य स्तरीय पुरस्कारों को स्थापित किया जाए। इससे पूंजीपतियों को प्रेरणा मिलेगी कि वे गरीब आदमी को सीधे राहत प्रदान करें। देश में लंगरखानों एवं रैन-बसेरों का फैलाव होगा, जो किसी कारणवश कार्य नहीं कर पाते जैसे—विकलांग, विधवा, वृद्ध उनकी देखभाल भी हो जायेगी।
10. देश में लघु उद्योगों को ब्याज पर राज सहायता (सब्सिडी) दी जाए और बड़े उद्योगों पर ब्याज कर लगाया जाये। देश के आम नागरिक को रोजगार चाहिए जो लघु उद्योग ही उपलब्ध करा सकते हैं। इनकी प्रमुख समस्या ऋणों के अभाव की है। बैंक की शाखाओं के लिए यह लाभप्रद नहीं है कि सभी लघु उद्योगों को ऋण दें। इससे उनकी आय कम और प्रशासनिक व्यय अधिक होते हैं। अतः बैंक मैनेजरों का यह प्रयास रहता है कि सैकड़ों लघु उद्योगों के स्थान पर एक बड़े उद्योग को 10-20 करोड़ का ऋण दे दिया जाए। यह समस्या प्राथमिकता क्षेत्र में ऋण बढ़ाने के आदेशों से हल नहीं हो सकती, क्योंकि सरकार दो परस्पर विरोधी आदेश दे रही है—यदि बैंक मैनेजर छोटे-छोटे उद्योगों को ऋण देता है तो उसका घाटा बढ़ता है, जबकि आज यह भी कह रहे हैं कि बैंकों को लाभ कमाना चाहिए।

इस समस्या का समाधान यह है कि बड़े उद्योगों द्वारा लिए गए ऋणों पर एक प्रतिशत का टैक्स बैंकों पर लगा दिया जाए और यह रकम लघु उद्योगों को दे दी जाए। इससे बैंकों की शाखाओं को लघु उद्योगों को ऋण देने पर लाभ होगा। तब वे स्वयं लघु उद्योगों को ऋण देंगे। लेकिन इस तर्क से न घबराएं कि बड़े उद्योगों पर ब्याज दरें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर से पहले ही ऊँची हैं क्योंकि हमारे देश में श्रम अधिक उपलब्ध है और धन कम है, इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि बड़े उद्योगों को विदेशों से ऋण लेने की छूट दी जाए, अगर कम दर पर ऋण मिलता है। लेकिन देश में तो बड़े उद्योगों के लिए ऋण का मूल्य अधिक होना ही चाहिए।

प्रशासन पर नियन्त्रण

(कार्यपालिका, विधायी एवं न्यायिक नियन्त्रण के सन्दर्भ में)

(Control over Administration with Reference to Executive, Legislative and Judicial Control)

प्रत्येक देश में सरकार के तीन अंग होते हैं—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। व्यवस्थापिका का कार्य देश में शान्ति-व्यवस्था काम करने तथा प्रशासन के सुचारू रूप से संचालन के लिए कानून बनाना है। आज के प्रजातन्त्रात्मक युग में व्यवस्थापिका जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की संस्था होती है। संसदात्मक प्रणाली में कार्यपालिका संसद् के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहती है। संगठन एवं कार्यों की दृष्टि से कार्यपालिका को संसद् के निरन्तर निर्देशन एवं निरीक्षण के अधीन रहना होता है। अध्यक्षात्मक प्रणाली में यद्यपि कार्यपालिका संगठन एवं कार्यों की दृष्टि से व्यवस्थापिका के साथ उतने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित नहीं होती, और दोनों अंगों के बीच शक्ति-पृथक्करण (Separation of Powers) रहता है तथा निरोध एवं सन्तुलन (Check and Balance) की स्थापना द्वारा वहाँ भी इन दोनों अंगों को परस्पर सहयोगपूर्ण बनाने की चेष्टा की जाती है। तीसरा अंग न्यायपालिका है जिसका कार्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित तथा कार्यपालिका द्वारा क्रियान्वित कानूनों की उपयुक्तता देखना होता है, सरकार के अन्य दोनों अगों की क्रियाओं को संविधान के अनुरूप बनाती है। देश के संविधान की रक्षा करना, नागरिकों के अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं को संरक्षण प्रदान करना, व्यवस्थापिका के कानूनों तथा कार्यपालिका के निर्णयों पर न्यायिक पुनरीक्षा (Judicial Review) आदि इसके महत्त्वपूर्ण कार्य हैं।

प्रत्येक देश में प्रशासन पर कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका का तो नियन्त्रण होता ही है, लेकिन इनके अतिरिक्त भी आन्तरिक नियन्त्रण की व्यवस्था बड़ी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। आन्तरिक नियन्त्रण के मुख्य साधनों में कार्मिक प्रबन्ध की व्यवस्था, व्यावसायिक मानदण्डों की व्यवस्था, लेखा-परीक्षण, बजट की व्यवस्था, कार्मिक प्रबन्ध पद्धति तथा दक्षता सर्वेक्षण को सम्मिलित किया जा सकता है। प्रशासन को उत्तरदायी बनाने के लिए उस पर प्रभावी नियन्त्रण आवश्यक माना जाता है। इसके लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी हैं—

1. लोक कल्याणकारी राज्य—कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के कारण सरकार एवं प्रशासन का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है। यहाँ प्रशासन देश के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में काफी हस्तक्षेप करता है। यदि इसे नियन्त्रित नहीं रखा गया तो शक्तियों के दुरुपयोग की आशंका बढ़ जाएगी।

2. प्रजातन्त्र की समस्यायें—प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्थाओं की विभिन्न समस्याओं के सन्दर्भ में प्रशासन को नियन्त्रित रखना परम आवश्यक है अन्यथा यह गरीबी, अशिक्षा, असन्तोष, मूल्यहीनता आदि परिस्थितियों का सहारा लेकर प्रजातन्त्र को उखाड़ फेंक सकती है।

3. हस्तान्तरित व्यवस्थापन—व्यवस्थापिका द्वारा व्यवस्थापन की कतिपय शक्ति कार्यपालिका को हस्तान्तरित की जाती है। इसका प्रयोग अन्त में प्रशासनिक अधिकारी ही करते हैं। यदि उन पर नियन्त्रण नहीं रखा गया तो शक्ति का केन्द्रीयकरण, नागरिक स्वतन्त्रताओं एवं अधिकारों को ले डूबेगा।

4. सरकारी नियम प्रशासन के पक्ष में—सरकार द्वारा प्रशासन के संचालन के लिए जो नियम निर्धारित किए जाते हैं, वे जनता की अपेक्षा प्रशासन की सुविधा का अधिक ध्यान रखते हैं। इनकी सहायता से प्रशासन शक्ति का केन्द्रीयकरण करके जनहित पर कुठाराघात कर सकता है, अतः उसे नियन्त्रित होना चाहिए।

5. राजनीतिक एवं व्यक्तिगत हस्तक्षेप—दया, परोपकार, भाईचारा और प्रेमभाव का गलत अर्थ लगाने वाला भारतीय समाज गलत कार्यों के लिए प्रशासकों पर दबाव डालने में सफल हो जाता है। फलतः प्रशासन में पक्षपात, भ्रष्टाचार, बेईमानी आदि दोष पनपने लगते हैं। इसलिए उचित नियन्त्रण की व्यवस्था द्वारा इस पर रोक लगाना आवश्यक हो जाता है।

6. दबंग प्रकृति के प्रशासक—गलत दबाव को न सुनना या न मानना प्रशासक का गुण है, किन्तु कुछ प्रशासक विभागीय नियमों एवं व्यवस्थाओं की अवहेलना तथा स्वेच्छाचारी व्यवहार करने में बड़प्पन मानते हैं। यदि इस प्रवृत्ति को बढ़ने दिया गया तो प्रशासनतन्त्र जाम हो जायेगा। अतः नियन्त्रण की व्यवस्था करना जरूरी है।

7. बहुमत की सरकार—संसदीय पद्धति में बहुमत दल की सरकार बनती है जिसे संसद के विरोधी दल की आलोचनाओं की विशेष चिन्ता नहीं रहती। सरकार के साये में लोक प्रशासन भी निडर होकर कार्य करते हैं। यह निडरता कब स्वेच्छारिता में परिणत हो जाएगी इसका कोई भरोसा नहीं रहता। अतः प्रशासन पर नियन्त्रण की समुचित व्यवस्था करना जरूरी है।

8. प्रशासन को उत्तरदायी बनाना—लोक प्रशासन को जन-कल्याण के प्रति उत्तरदायी बनाये रखने के लिए भी उस पर नियन्त्रण स्थापित करना अनिवार्य बन जाता है।

आज के अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में प्रशासन पर जनता का प्रत्यक्ष नियन्त्रण असंभव, अव्यावहारिक और अनुपयुक्त है। देश के करोड़ों व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से प्रशासकों पर नियन्त्रण रखने की योग्यता, क्षमता एवं समय नहीं रखते। अतः सरकार के तीनों अंगों को प्रशासन पर नियन्त्रण की शक्ति सौंपी जाती है। भारत में प्रशासकों पर कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका द्वारा निम्नवत नियन्त्रण रखा जाता है—

प्रशासन पर कार्यपालिका का नियन्त्रण
(Executive Control over Administration)

प्रत्येक देश में सरकार के तीन अंग होते हैं—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। व्यवस्थापिका का कार्य कानून बनाना होता है। वर्तमान प्रजातन्त्रात्मक युग में व्यवस्थापिकाएँ जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की संस्थाएँ होती हैं। संसदात्मक प्रणाली में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहती है। संगठन एवं कार्यों की दृष्टि से कार्यपालिका को व्यवस्थापिका अथवा संसद् के निरन्तर निर्देशन एवं निरीक्षण के अधीन रहना होता है। अध्यक्षात्मक प्रणाली में यद्यपि कार्यपालिका संगठन एवं कार्यों की दृष्टि से व्यवस्थापिका के साथ उतने घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित नहीं होती और दोनों अंगों के बीच शक्ति-पृथक्करण (Separation of Powers) की व्यवस्था रहती है, तथापि नियंत्रण एवं संतुलन (Check and Balances) की स्थापना द्वारा वहाँ भी इन दोनों अंगों को परस्पर सहयोगपूर्ण बनाने का प्रयास किया जाता है। कार्यपालिका का नियंत्रण निम्नवत रहता है—

मन्त्री एवं लोक सेवक (Minister and Civil Servant)

कार्यपालिका में मन्त्री अपने विभाग का अध्यक्ष होता है। इतने पर भी उसे विभाग के वास्तविक अनुभवों और बारीकियों का प्रायः ज्ञान नहीं रहता। मन्त्रियों का प्रशासनिक ज्ञान विशिष्ट नहीं वरन् स्थूल होता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। प्रथम तो मन्त्री-पद पर उनकी नियुक्ति राजनीतिक आधार पर होती है। राजनीतिक दल में उनकी स्थिति, उनके व्यक्तित्व, उनकी व्यावहारिक एवं सामान्य योग्यता, प्रधानमंत्री की दृष्टि में उनका महत्त्व आदि बातों के आधार पर उनको मंत्री-पद दिया जाता है। उनको कोई प्रतियोगी परीक्षा पास नहीं करनी पड़ती। द्वितीय, उनका कार्यकाल अनिश्चित होता है, वे किसी विभाग के स्थाई अध्यक्ष नहीं होते। अतः उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे अपना सारा समय और श्रम लगाकर विभाग की बारीकियों को जानेंगे। तृतीय, राजनीतिक गतिविधियों एवं प्रपंचों में वे इतने फँसे रहते हैं कि प्रशासन के वास्तविक कार्य को संचालित करने का उन्हें बहुत कम अनुभव हो पाता है। यही कारण है कि मन्त्रियों की गैर-विशेषज्ञता और भी शोचनीय बन जाती है। ये पेशेवर प्रशासक नहीं होते, इनको प्रशासन सम्बन्धी कोई प्रशिक्षण नहीं दिया जाता तथा इन्हें प्रशासन का पर्याप्त अनुभव नहीं होता। ये केवल राजनीतिक प्रशासक होते हैं। राजनीति का यह मनोरंजक तथ्य है कि यहाँ दार्शनिक या पत्रकारों को युद्ध मंत्री, प्रोफेसर को वाणिज्य मन्त्री, राजा को पर्यटन मन्त्री, वकील को पशुजरानी मन्त्री, अशिक्षित अँगूठाटेक को शिक्षा मंत्री तथा पेशेवर राजनीतिज्ञ को वित्त मंत्री बना दिया जाता है।

मन्त्रियों को प्रशासन का अध्यक्ष बना दिया जाता है किन्तु उसके लिए किसी प्रशिक्षण की अनिवार्यता नहीं है। ब्रिटिश सन्दर्भ में सिडनी लॉ (Sidney Low) ने कहा है, "वित्त मन्त्रालय में द्वितीय श्रेणी के क्लर्क का पद प्राप्त करने के लिए एक नवयुवक को अंकगणित की परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ेगा, किन्तु वित्त मंत्री एक ऐसा सांसारिक व्यक्ति भी हो सकता है जो अंकों के विषय की उस थोड़ी-बहुत जानकारी को भी भूल चुका है जो उसने ईटन अथवा आक्सफोर्ड में प्राप्त की थी और उन दशमलवों में खजाने का लेखा उनके सामने पहली बार रखा जाता है तब वह उन छोटे-छोटे बिन्दुओं का अर्थ जानने के लिए उत्सुक हो जाता है।"

लोक सेवकों की व्यवस्था (Expertness of Civil Servants)

मन्त्रियों से भिन्न लोक सेवक प्रशासनिक मामलों के विशेषज्ञ होते हैं। प्रशासन का वास्तविक संचालन इन्हीं के द्वारा किया जाता है। अपनी दक्षता और निपुणता के सहारे ये मंत्रियों को नीति-निर्धारण में सहायता देते हैं तथा विधियों को क्रियान्वित करते हैं। विशेषज्ञ होते हुए भी इनको गैर-विशेषज्ञ मंत्रियों की अधीनस्थता में कार्य करना पड़ता है। लोक सेवकों की नियुक्ति योग्यता के आधार पर की जाती है। नियुक्ति स्थाई होने के कारण प्रशासनिक कार्य में उनकी रुचि जाग्रत हो जाती है। पदोन्नति की इच्छा से वे अपने कार्य को पूरी दक्षता और कुशलता से सम्पन्न करते हैं। एक ही कार्य अधिक दिनों तक करते रहने के कारण वे प्रशासनिक अनुभव प्राप्त कर लेते हैं तथा विभाग के दाँव-पेचों से परिचित हो जाते हैं। विभाग की आन्तरिक गतिविधियों तथा उनके परिणामों से विदित रहते हैं। वे मंत्रियों को उचित परामर्श देते हैं तथा उनके द्वारा निर्धारित नीतियों को क्रियान्वित करते हैं। प्रशासन के संचालनार्थ मंत्रियों को इन पर निर्भर रहना पड़ता है।

पारस्परिक सम्बन्ध का लाभ (The Advantage of Co-relationship)

लोक प्रशासन विशेषज्ञ लोक सेवकों तथा गैर-विशेषज्ञ मन्त्रियों के समन्वय से पर्याप्त लाभान्वित होता है। प्रथम से उसे कुशलता और द्वितीय से जनतन्त्रात्मक स्वरूप प्राप्त होता है। विचारकों ने जनतन्त्र एवं कुशलता के सफल संयोग को सुशासन की सबसे बड़ी कसौटी माना है। मंत्रिगण देश के राजनीतिक नेता होते हैं तथा देश की नाड़ी की गति को पहचानते हैं। जनता की इच्छा को जानना और प्रभावित करना उनका मुख्य कार्य है। वे तदनुसार ही नीति निर्धारित करते हैं और व्यवस्थापन कराते हैं इन नीतियों तथा विधेयकों को कुशलतापूर्वक लागू करना लोक सेवकों का कार्य है। वे मन्त्रियों की इच्छाओं तथा आकांक्षाओं को व्यावहारिकता प्रदान करते हैं।

पारस्परिक सम्बन्ध का स्वरूप (The Nature of Co-relationship)

मंत्रियों तथा लोक प्रशासकों के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में विचारक एकमत नहीं हैं। कुछ विचारकों की मान्यता है कि प्रशासन में लोक सेवक इतने प्रभावशाली बन गए हैं कि मंत्रिगण उनके संकेतों पर चलते हैं, वे उनके हाथ का खिलौना बन जाते हैं। इस प्रकार नौकरशाही का आधिपत्य स्थापित हो जाता है और प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था नई तानाशाही (New Despotism) के रूप में परिणत हो जाती है। अन्य विचारकों का कहना है कि नौकरशाही के आधिपत्य की बात करना भ्रमपूर्ण है। यह सच है कि शासन-सूत्र में लोक सेवकों का काफी प्रभाव रहता है तथा मंत्रियों के क्रिया-कलाप उनसे प्रभावित होते रहते हैं फिर भी वास्तविक निर्णय शक्ति मंत्रियों में ही निहित रहती है। मन्त्रिगण विभाग के लिए नये होते हुए भी नीति निर्धारण एवं निर्णय की क्षमता रखते हैं। लास्की का कहना है कि दोनों का सम्बन्ध वस्तुतः उनके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। यदि मंत्री का व्यक्तित्व प्रभावशाली है तो वह लोक सेवकों पर हावी हो जाएगा और यदि मंत्री एक कमजोर और ढीला-ढाला व्यक्ति है तो वह लोक सेवकों के इशारों पर नाचने लगेगा। वैधानिक स्थिति मंत्रियों के पक्ष में है। प्रशासन का अंतिम उत्तरदायित्व मंत्रियों पर है अतः लोक सेवकों को उनकी इच्छा के अनुसार चलना होता है। लोक सेवक मंत्री पर केवल तभी हावी हो सकता है जबकि मंत्री स्वयं स्वेच्छा से अथवा अनजाने में उसे ऐसा अवसर प्रदान करे। मन्त्री और लोक सेवक के पारस्परिक सम्बन्धों की वास्तविकता जिन तथ्यों और स्थितियों से प्रभावित होती है वे निम्नांकित अनौपचारिक तत्वों पर निर्भर करते हैं—

(क) लोक सेवकों की उच्चता—अनुभव शून्य मन्त्रियों को प्रशासन के संचालनार्थ लोक सेवकों के सहयोग की आवश्यकता रहती है। नीति-निर्धारण तथा योजनाओं के प्रारूप बनाने से लेकर उनकी अंतिम सफलता तक लोक सेवकों के सहयोग का निश्चित मूल्य है। भारत में संसदात्मक व्यवस्था तथा कल्याणकारी राज्य के सन्दर्भ में यह और अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। शासन सूत्र में लोक सेवकों का प्रभाव निम्नलिखित कारणों से रहता है—

(1) मन्त्रिगण शासन के विशेषज्ञ नहीं होते जबकि लोक सेवक विशेषज्ञ होते हैं, अतः मन्त्रियों को उनसे विभिन्न मामलों में परामर्श लेना पड़ता है। लोक सेवक अपने व्यापक प्रशासकीय ज्ञान और दीर्घकालीन शासकीय अनुभव के कारण प्रशासन का तकनीकी पक्ष और बारीकियाँ मंत्री के सामने प्रस्तुत करते हैं ताकि निर्णय लेने में भूलों को यथासम्भव दूर रखा जा सके। अपनी अनुभवहीनता के कारण मंत्रिगण स्वभावतः ही विशेषज्ञ लोक सेवकों के प्रभाव में आ जाते हैं।

(2) मन्त्रियों का पद अस्थाई होता है। एक मंत्री आज मंत्री है, कल नहीं, आज इस विभाग का है और कल अन्य विभाग का बन सकता है। उनको अपने पद पर कार्य करने का अवसर केवल कुछ समय के लिए प्राप्त होता है। पर अल्प-काल में वे प्रशासन की बारीकियों से परिचित होने की अपेक्षा लोक सेवकों पर निर्भर रहना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

(3) लोक सेवक अपने पद पर स्थाई रूप से कार्य करते हैं। प्रो. के.वी. राव (Prof. K.V. Rao) के कथनानुसार, "प्रजातन्त्र नौसिखियों की सरकार है जबकि सरकार के कार्य तकनीकी प्रकृति के होते हैं। इस असंगति को योग्य तथा स्थाई लोक सेवा की स्थापना करके ही दूर किया जा सकता है।" मन्त्रियों का कार्य प्रशासन के क्षेत्र में नियन्त्रण करना नहीं वरन् केवल मार्ग-दर्शन करना होता है।

(4) मन्त्रियों को संसद में, अपने दल में तथा जनता में अनेक उत्तरदायित्वों का पालन करना पड़ता है। उनके पास इन व्यापक कार्यों के बाद इतना समय नहीं रहता कि प्रशासनिक कार्यों में अधिक रुचि लेकर गहरी छानबीन कर सकें।

(5) दल में अपनी स्थिति तथा जनता में अपने सम्मान को बनाए रखने के लिए मन्त्रिगण प्रशासन की दृष्टि से कोई नया प्रयोग नहीं करते। वे अपनी अनभिज्ञता को बदनामी का कारण न बनाने के लिए लोक सेवकों के परामर्श को मान लेते हैं। इस दृष्टि से रैम्जे म्योर ने मन्त्रियों को कठपुतली माना है। उनके अनुसार, "जब तक मन्त्री कोई स्वाभिमानी गधा न हो या असाधारण विवेक, शक्ति और साहस से परिपूर्ण व्यक्ति न हो तब तक सौ में से निन्यानवें मामलों में वह कर्मचारियों के विचार को स्वीकार कर लेता है और अंकित पंक्ति पर हस्ताक्षर कर देता है।" इस अतिशयोक्तिपूर्ण दृष्टिकोण का सन्तुलन लॉस्की के इस मत से स्थापित किया जा सकता है कि मन्त्रियों और लोक सेवकों का सम्बन्ध वस्तुतः उनके व्यक्तित्व पर आधारित है।

(6) मन्त्रियों के समक्ष प्रस्तुत होने वाली अनेक प्रशासनिक समस्याएँ सर्वथा नवीन न होकर पहले से चली हुई होती हैं। अतः उनके सम्बन्ध में आगे की योजना बनाने से पूर्व यह जान लेना जरूरी होता है कि उन समस्याओं पर पहले क्या-क्या किया जा चुका है और उनका क्या परिणाम हुआ। यह आवश्यक जानकारी सही रूप से लोक सेवक ही मन्त्रियों के सामने प्रस्तुत करते हैं। अतः मन्त्रियों को लोक सेवकों के मत का आदर करना होता है।

उक्त कारणों से लोक सेवकों के हाथ में प्रभावपूर्ण शक्ति आ जाती है और मन्त्रिगण केवल रबर की स्टाम्प मात्र रह जाते हैं। प्रशासन के वास्तविक अधिकार अनुत्तरदायी लोक सेवकों के हाथ में आ जाना ही नौकरशाही का विकृत रूप है। रेमजे म्योर के कथनानुसार, "नौकरशाही मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व की आड़ से पनपती है। जब वह स्वामी बन जाती है तो घातक हो जाती है।"[1] जॉर्ज बर्नार्ड शॉ (G. B. Shaw) ने अपने नाटक 'Apple Cart' की भूमिका में लिखा है कि "यदि हमारी राजनीतिक व्यवस्था में कठपुतली नाम की कोई वस्तु है तो वह है एक सार्वजनिक विभाग का अध्यक्ष—कैबिनेट मन्त्री।"

(ख) मन्त्रियों का प्रभाव—व्यावहारिक रूप में लोक सेवक मन्त्रियों के क्रिया-कलापों पर अपनी पर्याप्त छाप छोड़ते रहते हैं। फिर भी मन्त्रियों को लोक सेवकों के हाथों की कठपुतली मात्र मानना गलत है। वे आँख बन्द करके लोक सेवकों की राय को स्वीकार नहीं करते। वे प्रशासन को पर्याप्त रूप से निम्नवत प्रभावित करते हैं—

(1) मन्त्री अनुभवी और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति होता है। मन्त्री बनने से पूर्व वह जिन-स्थितियों से होकर निकलता है उनके कारण उसे प्रशासनिक विषयों का पर्याप्त ज्ञान हो जाता है। अनेक व्यक्ति मन्त्री बनने से पूर्व विभिन्न स्थायी और अस्थायी समितियों के सदस्य तथा संसदीय सचिव के रूप में कार्य कर चुके होते हैं। वे पूर्णतः अनोलखश नहीं होते। उन्हें प्रशासनिक समस्याओं का इतना ज्ञान हो जाता है कि वे प्रशासनिक विशेषज्ञों द्वारा आसानी से उल्लू नहीं बनाये जा सकते। लोक सेवक भी यह जानते हैं कि मन्त्रिगण उनकी राय का अन्धानुकरण नहीं करेंगे। वे मन्त्रियों की कुशाग्र बुद्धि के प्रति सदैव चौकन्ने रहते हैं। मन्त्रियों में इतना अनुभव और सहज बुद्धि होती है कि वे लोक सेवकों द्वारा दिये गये परामर्श का औचित्य-अनौचित्य देख सकते हैं। प्रो. लॉस्की के कथनानुसार, "मन्त्री पद के अधिकारी का पहला गुण सामान्य विवेक है, दूसरा, मनुष्य को परखने की कला है और फिर उसके लिए यह जानना भी आवश्यक है कि आज्ञायें कैसे दी जाती हैं तथा यह कैसे देखा जाता है कि उनका पालन हो रहा है।"

(2) प्रशासन एक ऐसी कला नहीं है जिसके लिए सतत् अभ्यास की आवश्यकता हो। कुशाग्र बुद्धि वाला तथा दैनिक सामान्य प्रशासन की समस्याओं को समझने की योग्यता रखने वाला कोई भी व्यक्ति मन्त्री पद सम्भाल सकता है और सावधानी तथा विवेक से कार्य करता हुआ प्रशासन चला सकता है। स्मरणीय है कि लोक सेवकों

1. "Bureaucracy thrives under the clock of ministerial responsibility— it is ruinous when it becomes the master." —*Ramsay Muir*

को भी सम्पूर्ण प्रशासनिक सेवाओं का पूर्व-ज्ञान नहीं होता। वे नवीन समस्याओं का समाधान अपने सामान्य विवेक से करते हैं। इसका प्रयोग मन्त्री द्वारा भी किया जा सकता है। लोक सेवकों की विशेषज्ञता डॉक्टर या कलाकार जैसी नहीं होती जहाँ साधारण व्यक्ति घुस ही नहीं सके।

(3) सभी मन्त्रियों को नौसिखिये तथा सभी लोक सेवकों को प्रशासनिक विशेषज्ञ कहना गलत है। यदि कुछ नौसिखिये और दुर्बल मन शक्ति एवं व्यक्तित्व वाले मन्त्री लोक सेवकों के प्रभाव में रहते हैं तो कुछ मन्त्री इतने प्रतिभावान, दृढ़ मन शक्ति और व्यक्तित्व वाले होते हैं कि वे लोक सेवकों पर छाये रहते हैं। लॉस्की ने व्यक्तित्व की दृष्टि से मन्त्रियों को तीन भागों में विभाजित किया है—शक्तिशाली व्यक्तित्व वाले, लोकप्रिय व्यक्तित्व वाले तथा भाग्य के सहारे चलने वाले। प्रथम दो प्रकार के मन्त्री क्रमशः अपने प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व और लोकप्रियता के सहारे लोक सेवकों पर हावी रहते हैं। तीसरे प्रकार के मन्त्री प्रायः स्वनिर्णय की अपेक्षा विशेषज्ञ लोक सेवकों के परामर्श पर अधिक आश्रित रहते हैं।

अस्तु, प्रशासन तन्त्र के सुगम संचालन के लिए लोक सेवकों का सहयोग वांछनीय है, किन्तु मंत्रियों की स्थिति कठपुतली जैसी नहीं है। मन्त्रिगण नीति-निर्माता होते हैं। व्यवहार में लोक सेवकों को उनकी इच्छा का पालन करना पड़ता है। रैम्जे मैक्डानल्ड का यह कथन भारतीय प्रसंग में भी पूर्णतः सही है कि "मन्त्रिमण्डल जनता और विशेषज्ञों के बीच का पुल है जो सिद्धान्त और व्यवहार को मिलाता है। इसका कार्य अनुभव करने वाली स्नायुओं द्वारा प्राप्त खबरों को, कार्य करने वाली स्नायुओं द्वारा आदेशों में बदलना होता है। यह विभाग को चलाने में नहीं लगा रहता प्रत्युत् उसे एक विशेष दिशा में चलाने में लगा रहता है।" भारत में भी नियन्त्रण की यह व्यवस्था प्रचलित है। इस प्रकार लोक प्रशासन पर कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रियों का प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित करके ही इसे उत्तरदायी तथा जन कल्याण की दिशा में प्रेरित किया जा सकता है।

प्रशासन पर विधायी नियन्त्रण
(Legislative Control over Administration)

व्यवस्थापिका जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की संस्था होने के कारण जनता की सम्प्रभुता का उपयोग करती है। व्यवस्थापिका को संविधान द्वारा यह शक्ति सौंपी जाती है कि वे कार्यपालिका के कार्यों पर निरन्तर नियंत्रण रखें। भारत जैसे संसदात्मक प्रणाली वाले देश में व्यवस्थापिका नाममात्र की कार्यपालिका अर्थात् राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग लगाने का अधिकार रखती है। इस अधिकार द्वारा ऐसी परिस्थिति को आने से रोका जा सकता है जब नाममात्र की कार्यपालिका वास्तविक शक्तियों का उपयोग करके तानाशाह बन जाये अथवा शक्तियों का अनियंत्रित और अमर्यादित उपयोग करना प्रारंभ करने लग जाए।

व्यवस्थापिका का दायित्व

वास्तविक कार्यपालिका अर्थात मंत्रिमंडल भी संसद् के निरन्तर नियन्त्रण का विषय होती है। संविधान की व्यवस्था के अनुसार वह अपने पद पर केवल तभी रह सकती है जब तक उसे व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त है। अविश्वास का अधिकार संसद् को ऐसी शक्ति सौंप देता है जिसके आधार पर मन्त्रिमण्डल को स्वेच्छाचारी बनने से रोक सके। नाममात्र की तथा वास्तविक कार्यपालिका की भाँति स्थायी कार्यपालिका पर भी संसद् अपना नियंत्रण रखती है। संसद् द्वारा किए जाने वाले विभिन्न कार्यों में समय-समय पर लोक सेवकों का नाम आता है और इस प्रकार वह उनकी क्रियाओं को अपने विचार-विमर्श तथा आलोचना का विषय बनाती है। इस प्रकार प्रशासकों पर भी नियंत्रण रहता है।

व्यवस्थापिका तथा लोक प्रशासन का सम्बन्ध

व्यवस्थापिका का कार्य केवल कानून बनाने तक ही सीमित नहीं है वरन् वह प्रशासन के प्रत्येक पहलू में हस्तक्षेप कर सकती है। लोक प्रशासन जिन नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए प्रयत्नशील रहता है उनकी रचना यद्यपि कार्यपालिका द्वारा की जाती है तथापि संसद् की स्वीकृति प्रदान न की जाए तब तक वे लोक सेवकों के कार्यों की प्रेरणा नहीं बन सकती। *डॉ. एल. डी. व्हाइट का यह कहना सही है कि सार्वजनिक नीति के प्रमुख* उद्देश्य कानून द्वारा निर्धारित किए जाते हैं और इनको कांग्रेस (संसद) द्वारा इच्छानुसार परिवर्तित एवं अस्वीकृत किया जा सकता है। प्रशासकीय अभिकरण अपने लक्ष्यों को स्वयं निर्धारित नहीं करते, वे आत्मनिर्भर या आत्मनिर्देशित नहीं हैं। वे कार्यकारी शक्ति, कानूनों एवं सहायक व्यवस्थापन द्वारा प्राप्त करते हैं।[1]

संसद् द्वारा प्रशासनिक नीति-निर्धारण के अतिरिक्त अन्य आधारों पर भी लोक प्रशासन से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। दोनों में सम्बन्धों की गहनता लोकतन्त्र की मर्यादाओं द्वारा निम्नवत निर्धारित होती है—

1. *L. D. White* : Public Administration, p. 498

1. संसद् लोक प्रशासन के व्यवहार पर बहस कर सकती है—संसद् द्वारा जो कानून एवं नीतियाँ निर्मित की जाती हैं वे किस रूप में क्रियान्वित हुईं, यह देखना उसका एक प्रमुख उत्तरदायित्व है। इस दायित्व का निर्वाह करने के लिए वह समय-समय पर लोक प्रशासकों के व्यवहार को अपने विचार का विषय बना सकती है, क्योंकि तभी वह यह जानने में समर्थ होगी कि उसने कानून बनाते समय या नीतियाँ निर्धारित करते समय जो लक्ष्य अपने सामने रखे थे उनका निर्वाह किया गया है अथवा नहीं। यदि संसद् देखती है कि उसकी नीति एवं कानूनों का उचित क्रियान्वयन नहीं किया गया है तो सम्बन्धित लोक अधिकारी को ऐसा करने के लिए निर्देशित कर सकती है। लोक प्रशासकों के व्यवहार पर किया जाने वाला विचार-विमर्श संसद् को इस योग्य बनाता है कि वह प्रशासन की गतिविधियों से परिचित रहे और जहाँ कहीं भी आवश्यक समझे लोक अधिकारियों को उचित कार्य करने की चेतावनी दे। अनेक बार प्रशासनिक अधिकारी ऐसे कदम उठा लेते हैं कि उनके व्यक्तिगत स्वार्थ के सम्मुख सार्वजनिक हित गौण बन जाता है अथवा भुला दिया जाता है। ऐसी स्थिति में संसद् उस अधिकारी के व्यवहार को उचित दिशा में संचालित करने के लिए आवश्यक कदम उठा सकती है।

2. संसद् लोक प्रशासकों से सम्बन्धित कानून बनाती है—संसद् द्वारा समय-समय पर ऐसे कानून बनाए जाते हैं जो लोक प्रशासकों के व्यवहार का स्वरूप एवं सीमाएँ निश्चित करते हैं। लोक सेवकों के क्या कर्तव्य हों तथा वे किन अधिकारों का उपयोग करें, इसका निश्चय संसदीय कानूनों द्वारा किया जाता है। उदाहरणार्थ, पुलिस-विभाग के कार्यकर्ताओं द्वारा संघ बनाने की माँग को ठुकरा कर भारतीय संसद् ने यह कानून बना दिया कि पुलिस कर्मचारी अपना संघ या संस्था (Union or Association) नहीं बना सकते। इसी प्रकार नागरिक सेवकों से सम्बन्धित अन्य विषयों पर संसद् द्वारा बने हुए कानून लोक सेवकों के सही स्वरूप का निश्चय करते हैं।

3. संसद् वित्तीय शक्ति का स्रोत—संसद् लोक धन (Public Money) की संरक्षक है। इस दृष्टि से वह बजट पर नियन्त्रण रखती है। प्रशासनिक विभागों द्वारा जो व्यय किया जाता है उस पर संसद् की पूरी स्वीकृति आवश्यक होती है। यदि संसद् धन की स्वीकृति न दे अथवा पर्याप्त मात्रा में न दे तो प्रशासनिक अधिकारी अपने कार्य सन्तोषजनक रूप से कभी नहीं कर पाएँगे। इस प्रकार वित्त एक ऐसी कड़ी है जो लोक प्रशासन तथा संसद् के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों की रचना करती है। अपनी वित्तीय शक्तियों के आधार पर संसद् लोक अधिकारियों को अपनी नीतियों एवं जनकल्याण के कार्यों की ओर उन्मुख कर सकती है।

4. व्यवस्थापिका शक्तियों का प्रत्यायोजन करती है—संसद् के पास जो कानून बनाने की शक्ति है उसका सम्पूर्ण प्रयोग वह स्वयं नहीं कर पाती। उसके पास इतना अधिक कार्य होता है कि वह उन सबका उत्तरदायित्व स्वयं वहन करने में स्वयं को असमर्थ पाती है। परिणामस्वरूप उसे या तो इन कार्यों की अवहेलना करनी पड़ती है अथवा इनके निष्पादन के लिए शक्तियों का प्रत्यायोजन करना होता है। प्रत्यायोजित विधान की व्यवस्था द्वारा व्यवस्थापिका का कार्यभार हल्का हो जाता है। प्रत्यायोजित विधान का एक दूसरा कारण यह है कि अनेक विषय तकनीकी प्रकृति के होते हैं, जिन पर विचार करने के लिए विशेषज्ञता की आवश्यकता रहती है। संसद् के सदस्य जन-साधारण के प्रतिनिधि होते हैं जो लोकप्रिय तो होते हैं किन्तु ज्ञान के किसी क्षेत्र में प्रायः विशेषज्ञ नहीं होते तथा अधिकांश में तकनीकी एवं वैज्ञानिक विषयों पर विचार-विमर्श करने की योग्यता नहीं होती। दूसरी ओर संसद् के सम्मुख इस प्रकार के विषय आते ही रहते हैं। अतः वह उनकी उलझनों में पड़ने की अपेक्षा उनको कार्यपालिका को सौंप देती है ताकि वह तत्सम्बन्धी विशेषज्ञों से विचार करने के बाद कोई निर्णय ले। संसद् के लिए *प्रत्यायोजन प्रक्रिया अपनाना अपरिहार्य बन जाता है। डोनोमोर समिति (Donoughmore Committee)* का यह कहना बिल्कुल उचित प्रतीत होता है कि "सचाई यह है कि यदि संसद् कानून बनाने की शक्ति को प्रत्यायोजित करने के लिए तैयार नहीं है तो संसद् आधुनिक लोकमत की माँग के अनुसार संख्या एवं गुण में व्यवस्थापन करने में अयोग्य रहेगी।"[1]

अस्तु वस्तुस्थिति यह है कि संसद् कुछ शक्तियाँ कार्यपालिका को प्रत्यायोजित करती है। कार्यपालिका उन शक्तियों को स्थायी लोक अधिकारियों (Permanent Public Officials) को सौंप देती है। परिणामस्वरूप प्रत्यायोजित शक्तियों का पूरा उत्तरदायित्व नागरिक-सेवकों पर आ जाता है। रैम्जे म्योर (Ramsay Muire) का यह कहना सही है कि नौकरशाही मन्त्रिमण्डलात्मक उत्तरदायित्व के नीचे पनपती है। इस प्रकार चाहे अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, किन्तु प्रत्यायोजित विधान की व्यवस्था एवं लोक प्रशासन के बीच एक सम्बन्ध की स्थापना करती है।

संसदीय नियन्त्रण की दिशा

(The Dimensions of Parliamentary Control)

जनता की सम्प्रभुता प्राप्त प्रतिनिधि संस्था के रूप में संसद् का यह उत्तरदायित्व है कि वह लोक प्रशासन को जनहित की दिशा में संचालित रखे। इस दायित्व की पूर्ति के लिए संसद् को निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों

1. Report of the Committee of Minister's Powers, p. 23.

ही प्रकार के कदम उठाने होते हैं। विधेयात्मक रूप में संसद् नीति निर्धारित करके, कानून बना कर तथा अन्य प्रकार की प्रेरणाएँ प्रदान करके, लोक सेवकों (Civil Servants) को उनके उत्तरदायित्वों में रुचि लेने के लिए उत्साहित करती है। इसके अतिरिक्त संसद् द्वारा लोक प्रशासकों के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने का उपाय भी किया जाता है। निषेधात्मक रूप में संसद् लोक सेवकों को उनकी शक्तियों का दुरुपयोग करने से रोकती है। वह उन पर उनके जनहित विरोधी व्यवहार को रोकने के लिए नियन्त्रण लगाती है। लोक प्रशासन पर व्यवस्थापिका के नियन्त्रण की आवश्यकता वर्तमान समय में निम्नांकित कारणों से अधिक बढ़ गई है—

1. सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन (Social-Political Change)—वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के फलस्वरूप लोगों के रहन-सहन, जीवन-स्तर और विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आता जा रहा है। सामाजिक मूल्य बदल चुके हैं, विचार और व्यवहार में आधुनिकीकरण का समावेश हो गया है। इन परिवर्तनों ने प्रशासन की प्रकृति और लक्ष्य के प्रति जनता के दृष्टिकोण को पूरी तरह परिवर्तित कर दिया है। आजकल लोक सेवक स्वेच्छाचारी, जनहित-विरोधी और सामाजिक मूल्यों तथा आदर्शों के विपरीत व्यवहार नहीं कर सकते, अन्यथा व्यापक जनविरोध की सम्भावना रहती है। देश में शांति व्यवस्था और नागरिकों का प्रशासन के प्रति संतोष संसद् के नियन्त्रण की माँग करता है। प्रारम्भिक राज्यों और राजतन्त्रों में नागरिक-सेवा के अधिकारियों का प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से जनता के साथ व्यक्तिगत और भावात्मक सम्बन्ध रहता था, किन्तु आज के जटिल और विशाल राज्यों में *इस प्रकार के व्यक्तिगत अथवा भावात्मक सम्बन्धों के लिए कोई विशेष स्थान नहीं है।*

2. सरकारी क्रियाओं का विस्तार (Extension of the Government Activities)—लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा के प्रसार के साथ-साथ लोक-प्रशासन के कार्यों का क्षेत्र आशातीत रूप में विस्तृत हो गया है। आज की सरकार पुलिस-राज्य के दायित्वों के साथ ही नागरिक-कल्याण के लिए प्रत्येक क्षेत्र में कार्य करती है। आज के लोक प्रशासक नागरिकों के रक्षक, मित्र और सहयोगी हैं। लोक प्रशासन अनवरत रूप से नागरिकों की सेवा में लगा रहता है। अपने गुरुतर दायित्वों को निभाने की दृष्टि से ही प्रशासन को नए अधिकारों और शक्तियों से सुसज्जित किया गया है। सत्ता और उत्तरदायित्व (Authority and *Responsibilities) का अनुपात बराबर रखने के सिद्धांत का अनुपालन किया जाता है, लेकिन लोक प्रशासन* कहीं अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करने लगे, इसके लिए संसदीय नियन्त्रण की प्रभावशाली व्यवस्था की जाती है। संसदीय अंकुश के भय से ही मन्त्रिगण अपने अधीनस्थ लोक प्रशासकों के कार्यों के प्रति सजग रहते हैं।

3. प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद (Democratic Socialism)—किसी भी प्रजातन्त्रात्मक समाजवादी व्यवस्था में लोक-सेवकों का यह दायित्व हो जाता है कि वे ऐसा कोई कार्य नहीं करें जिससे नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को आघात पहुँचे तथा उनके कार्य समाजवाद का मार्ग अवरुद्ध करें। इसके लिए संसद् द्वारा प्रशासन पर निरन्तर पर्यवेक्षण और नियन्त्रण रखा जाता है। प्रो. व्हाइट के अनुसार, एक प्रजातन्त्रात्मक समाज में लोक सेवकों की *शक्ति पर नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है। शक्ति की मात्रा जितनी अधिक होती है उस नियन्त्रण की मात्रा भी* उतनी ही बढ़ जाती है। प्रजातन्त्र को वास्तविकता प्रदान करने के लिए लोक प्रशासन एक प्रभावशाली साधन है और यह साधन कहीं विकृत न हो जाए इसके लिए संसदीय नियन्त्रण अनिवार्य आवश्यकता है।

4. नवीन निरंकुशता के खतरे (The Dangers of New Despotism)—प्रशासन पर संसद् का प्रभावशाली नियन्त्रण न होने से लोक सेवकों के स्वेच्छाचारी बन जाने, प्रशासन में अनियमितता बढ़ जाने, भाई-भतीजावाद तथा भ्रष्टाचार की प्रवृत्तियाँ पनपने और मुख्य कार्यपालिका द्वारा प्रशासनिक नीतियों का मनमाने ढंग से उल्लंघन करने की पूरी संभावना रहती है। प्रशासन के विकृत होने पर विकास-योजनाएँ लड़खड़ा जाती हैं और जनता का उत्साह मंद पड़ जाता है। *समुचित संसदीय नियंत्रण के फलस्वरूप प्रशासन में 'जागरूकता बनी* रहती है। जनता को संतोष रहता है कि वह अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से स्वेच्छाचारी प्रशासकों के होश ठिकाने लगा सकती है। संसदीय नियंत्रण के कारण ही प्रशासकीय क्रियाओं के उचित समन्वय का मार्ग प्रशस्त होता है, कानूनों का महत्त्व और प्रभाव कायम रहता है तथा *उत्तरदायित्व और लालफीताशाही पर रोक लगती है।* इस प्रकार से प्रशासनिक तानाशाही और अकर्मण्यता को रोकने के लिए भी संसदीय नियंत्रण अपरिहार्य बन जाता है।

नियन्त्रण की समस्या
(The Problem of Control)

लोक प्रशासन को उत्तरदायी बनाए रखने के लिए यह परम आवश्यक है कि उस पर व्यवस्थापिका के उचित नियन्त्रण की पर्याप्त व्यवस्था की जाए। व्यवस्थापिका का नियन्त्रण लोक प्रशासन को प्रजातन्त्रात्मक बनाए रखेगा और न्यायपालिका का नियन्त्रण उसे औचित्य की सीमाओं में कार्य करने के लिए प्रेरित करेगा। व्यवस्थापिका द्वारा यह नियन्त्रण प्राय मुख्य कार्यपालिका के माध्यम से रखा जाता है। इसकी प्रकृति राजनीतिक होती है। इस कार्य में व्यवस्थापिका की विभिन्न समितियाँ भी योगदान करती हैं। न्यायिक नियन्त्रण का आधार प्राय सांविधानिक उपबन्ध और व्यवस्थापिका के कानून होते हैं।

संसदीय नियन्त्रण के साधन (Tools of Parliamentary Control)

प्रशासन पर प्रभावशाली नियंत्रण स्थापित करने के लिए संसद् द्वारा अनेक साधन प्रयुक्त किए जाते हैं। ये साधन केवल प्रशासन पर नियंत्रण रखने के लिए ही अस्तित्व में नहीं हैं वरन् उसकी कार्यप्रणाली के आवश्यक अंग हैं। संसद् को अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए जो कार्य सम्पन्न करने होते हैं उन्हीं में प्रसंगवश वह लोक प्रशासन पर भी नियन्त्रण स्थापित करती है। संसद् प्रशासन पर नियन्त्रण के लिए निम्नांकित साधनों का मुख्यतः उपयोग करती है—

1. नीति का निर्धारण (Policy Determination)— संसद् प्रशासन से सम्बन्धित नीतियों की मोटी रूपरेखा निर्धारित कर देती है। इस तरह प्रशासन को ये नीतियाँ स्वयं निर्धारित नहीं करनी होतीं, उसे तो ये प्राप्त होती हैं और इन्हीं के अनुसार वह अपना कार्यक्रम निश्चित करती है। व्यवस्थापिका जब प्रशासनिक नीतियों का निर्धारण करती है तो कार्यपालिका द्वारा उसे प्रभावित किया जा सकता है, किन्तु वह स्वयं नीति-निर्धारित नहीं कर सकती। व्यवस्थापिका का कार्यक्षेत्र बढ़ने के कारण तथा प्रशासन की तकनीकों के विकास के फलस्वरूप वह अपनी शक्ति का प्रयोग वास्तविक अर्थों में नहीं करती और सामान्य रूप से कार्यपालिका द्वारा प्रस्तुत किये गए कानूनों को परिवर्तित, संशोधित एवं स्वीकृत करती रहती है। संसद् में कार्यपालिका के दल का बहुमत होने के कारण उसकी स्थिति प्रभावपूर्ण एवं सुरक्षित रहती है। प्रत्यायोजित विधान आदि की व्यवस्था द्वारा कार्यपालिका नीति-निर्धारण के क्षेत्र में पर्याप्त हस्तक्षेप करने लगी है। संसदात्मक प्रणाली वाले देशों में अधिकांश व्यवस्थापन सरकारी व्यवस्थापन (Governmental Legislation) होता है। मोरिस जोन्स के अनुसार, संसद् का आलोचनापूर्ण कार्य अपना प्रभाव खो रहा है।[1]

2. बजट पर चर्चा (The Debate on Budget)—बजट पास करने की शक्ति व्यवस्थापिका के हाथ में रहती है। वर्तमान प्रजातन्त्रात्मक सरकारों का यह एक मान्य सिद्धान्त है कि जब तक व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृति प्रदान न कर ली जाए तब तक प्रशासन एक नया पैसा भी खर्च नहीं कर सकता। जब संसद् में कार्यपालिका द्वारा बजट प्रस्तुत किया जाता है और उस पर बहस शुरू होती है तो व्यवस्थापिका के सदस्यों द्वारा बजट की प्रत्येक मद पर विस्तार के साथ विचार-विमर्श किया जाता है। बजट पर विवाद करते समय संसद्-सदस्य इस बात का भी निरीक्षण करते हैं कि पहले जो बजट पास किया गया था उसकी विभिन्न मदों का प्रशासन द्वारा किस प्रकार उपयोग किया गया। ऐसा करते समय नागरिक सेवकों एवं उच्च पदाधिकारियों के कार्यों का पुनरावलोकन किया जाता है। उनके कार्यों की आलोचना-प्रत्यालोचना प्रस्तुत की जाती है। बजट उपस्थिति के समय संसद-सदस्यों को बहस का जो अवसर प्राप्त होता है, उसका उपयोग करते हुए वे उन अधिकारियों के कार्यों को प्रकाश में ला सकते हैं जो अपने इस आचरण के फलस्वरूप जनहित की अवहेलना कर व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि करते रहे हैं।

लोक सेवकों के कार्यों पर बहस करने का संसद् को एक दूसरा अवसर तब प्राप्त होता है जब अनुदानों (Appropriations) पर मतदान किया जाता है। संसद् को यह अधिकार होता है कि वह किसी खर्चे की अनुमति दे, न दे अथवा देते समय कुछ शर्तें जोड़ दे। जब संसद् द्वारा किसी माँग को स्वीकार किया जाता है तो उससे पूर्व प्रशासनिक अधिकारियों के व्यवहार पर चर्चा होती है। इसी प्रकार कटौती करते समय भी आलोचना की जाती है। यद्यपि इन बहसों एवं आलोचनाओं का मुख्य विषय मन्त्रि-मण्डल होता है, किन्तु लोक प्रशासन भी प्रायः सदन की चर्चा का विषय बनता रहता है। संसद् सदस्यों को प्रशासकों की आलोचना का एक अन्य अवसर तब मिलता है जब किसी वित्त विधेयक को चर्चा का विषय बनाकर संसद् के सदस्य लोक प्रशासन की अनियमितता, भ्रष्टाचार एवं अन्य दोषों को प्रकाश में लाते हैं। लोकसभा के पूर्व अध्यक्ष मावलंकर के अनुसार, "यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि वित्त-विधेयक के समय किसी भी विषय पर विचार किया जा सकता है और जनता के किसी भी कष्ट को प्रकाश में लाया जा सकता है।"[2]

3. राष्ट्रपति का अभिभाषण (Presidential Address)—अधिवेशन के प्रारम्भ में राष्ट्रपति द्वारा संसद् में जो अभिभाषण दिया जाता है उसमें कई बार लोक सेवाओं के कार्यों एवं उपलब्धियों का भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त भविष्य में लोक सेवाओं के कार्यों का क्या रूप होगा, वे किन नीतियों का पालन करेंगी तथा क्या लक्ष्य कितने समय में प्राप्त किए जाएँगे, आदि बातें भी अभिभाषण में प्रसंगवश स्पष्ट कर दी जाती हैं। इस प्रकार सदस्यों को लोकसेवा के कार्यों पर विचार करने का एक अन्य अवसर सौंपा जाता है। राष्ट्रपति के अभिभाषण पर विवाद करते समय प्रशासनिक अधिकारियों के क्रियाकलापों पर अनेक वक्तव्य दिए जाते हैं। इसके फलस्वरूप समाचार-पत्रों एवं संचार के अन्य साधनों की प्रतिक्रिया होती है और इस प्रकार वाद-विवाद का यह अवसर लोक सेवकों की क्रियाओं पर नियन्त्रण रखने का एक सशक्त साधन सिद्ध होता है।

1. *W. H. Morris Jones*: "Parliamentary Reforms in U.K." Journal of the N.A.A. Mussoori Vol. VI, No. 1, Jan. 1961, p. 34
2. *G. V. Mavlankar*: Speech in the House of People, March, 1950

4. प्रश्न-काल (The Question Hour)—अधिवेशन के समय संसद् की कार्यवाही के प्रारम्भ का एक घण्टा प्रश्न पूछने के लिए नियत कर दिया जाता है, जिसमें संसद-सदस्य मन्त्रियों से उनकी प्रशासनिक नीतियों एवं कार्यों के सम्बन्ध में विभिन्न प्रश्न पूछ सकते हैं। इस प्रकार के प्रश्न पूछकर सदस्य सम्बन्धित विषय की जानकारी प्राप्त करते हैं, उस विषय पर मन्त्रियों के मत से परिचित होते हैं तथा प्रश्नों के सहारे वे सरकार को बदनाम करने तथा उसके विरुद्ध लोकमत तैयार करने का प्रयास करते हैं। मन्त्रियों को यह अधिकार होता है कि वे प्रश्नों का उत्तर दें अथवा न दें, उत्तर किसी भी रूप में दें, भविष्य के लिए टाल दें या प्रश्न को उत्तर के अनुपयुक्त ठहरा दें। पूछे जाने वाले प्रश्न की लिखित सूचना पहले से ही सम्बन्धित मन्त्री को भेज दी जाती है जो लोकसेवा के अधिकारियों से समस्त आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त कर, सदन में उनका उत्तर लिखित अथवा मौखिक रूप में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार पूछे जाने वाले अनेक प्रश्नों का लक्ष्य प्रायः दर्शक-दीर्घा में बैठे लोगों को प्रभावित करना, समाचार-पत्रों में स्वयं का नाम प्रकाशित कराना, सरकार को बदनाम करना, किसी नागरिक सेवक की आलोचना करना और उसके काले कारनामों को जनता के सामने रखना, आदि हो सकते हैं। प्रश्न पूछने वाले का लक्ष्य चाहे कुछ भी हो, किन्तु इसका सरकार एवं लोक प्रशासन पर काफी प्रभाव पड़ता है। प्रश्न पूछने के अधिकार के प्रयोग द्वारा संसद्-सदस्य प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दोनों ही रूपों में लोक प्रशासन पर नियंत्रण रखता है। उसका अप्रत्यक्ष नियंत्रण मंत्री के माध्यम से होता है। प्रत्येक मंत्री पूछे जाने वाले प्रश्नों के प्रति सदैव सजग रहता है। अधिकार रहते हुए भी वह इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा करने से जनमत के विरुद्ध होने की संभावना रहती है।

संसद सदस्यों के प्रश्न तथा पूरक प्रश्नों का यदि संतोषजनक रूप में उत्तर न दिया जाए तो बहुमत दल के सदस्यों के दिल में अनेक प्रकार के सन्देह पैदा हो जाएँगे, विरोधी दल के सदस्य स्थिति का लाभ उठाकर सरकार को बदनाम करेंगे, जनता में अफवाहें फैलेंगी और सरकार की प्रतिष्ठा में कमी आएगी। यही कारण है कि प्रश्न-काल में मंत्रियों का व्यवहार अत्यन्त सजगतापूर्ण होता है। वे अपने विभाग के कार्यों में व्यक्तिगत रूप से रुचि लेने लगते हैं। प्रशासनिक अधिकारियों के कार्यों पर समुचित निरीक्षण, पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण रखते हैं। किसी भी अधिकारी द्वारा की गई त्रुटियों के लिए संसद् सदस्यों के प्रति उत्तरदायी होने के कारण मन्त्री सचेत रहता है। प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण का अर्थ यह है कि जब लोक सेवकों को यह ज्ञात है कि संसद् में कभी भी उनके निर्णयों एवं कार्यों के सम्बन्ध में प्रश्न उठ सकता है तो वे अत्यन्त सजग होकर व्यवहार करते हैं।

प्रश्न-काल के महत्त्व के सम्बन्ध में प्रो. मुरो ने लिखा है कि यह नौकरशाही प्रवृत्तियों पर एक प्रभावशाली प्रतिबन्ध है। यह विशेषज्ञों को सामान्य ज्ञान रखने वाले लोगों की संस्था के अधीन रखता है।[1] वास्तव में प्रश्न-काल के फलस्वरूप लोक प्रशासन की अनेक अनियमितताएँ उजागर होती हैं तथा यह जनहित के अधिक अनुरूप होकर उत्तरदायी बन जाता है।

5. बहस एवं विचार-विमर्श (Debates and Discussions)—संसद् के सदस्य न केवल प्रश्न-काल में वरन् उसके बाद होने वाले वाद-विवाद एवं विचार-विमर्श में भी लोक प्रशासकों के व्यवहार को आकर्षण का केन्द्र बना सकते हैं। इसके लिए उन्हें मुख्यतया निम्नांकित तीन अवसर प्राप्त होते हैं—

प्रथम, जब कोई नया विधेयक प्रस्तुत किया जाए तो उस पर होने वाली बहस के समय विभिन्न सदस्यों द्वारा लोक प्रशासन की पुनरीक्षा या पुनरावलोकन का विषय बनाया जा सकता है। सरकारी नीति एवं मन्त्रियों के विभाग की उपलब्धियों को वाद-विवाद का विषय बनाया जाता है। नागरिक-सेवा के अधिकारियों के प्रत्येक कार्य की आलोचना, प्रत्यालोचना एवं प्रशंसा की जा सकती है। इस प्रकार का वाद-विवाद प्रशासनिक संगठन की योग्यता, उपयुक्तता एवं कार्य-सम्पन्नता को उजागर करता है।

द्वितीय, भारतीय संसद् को लोक प्रशासन की पूरी जाँच करने का अवसर आधा घण्टे के विचार-विमर्श में भी प्राप्त होता है। ऐसा प्रावधान है कि यदि प्रश्न-काल में कोई सरकार के उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हो पाता है अथवा उसके सम्बन्ध में कोई संदेह होता है, जिन पर उसकी दृष्टि से विस्तृत वाद-विवाद किया जाना महत्त्वपूर्ण है तो प्रश्न-काल के तुरन्त बाद ही अध्यक्ष से आधा घण्टे के विचार-विमर्श की अनुमति माँग सकता है।

तृतीय, अल्पकालीन विचार-विमर्श (Short-term Discussion) में किसी अत्यावश्यक लोक-हित के विषय पर विचार करते हुए संसद सदस्यों द्वारा प्रशासनिक अधिकारियों के कार्यों को भी वाद-विवाद का विषय बनाया जा सकता है। ध्यानाकर्षण प्रस्ताव द्वारा भी संसद सदस्य लोक प्रशासन की किसी गंभीर समस्या की ओर सरकार के ध्यान को आकर्षित कर अपना नियंत्रण रखने के अधिकार का प्रयोग कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में एन.वी. गाडगिल का यह कहना सही है—"प्रश्न तथा वाद-विवाद द्वारा प्रशासन को निरन्तर परीक्षा का विषय बनाया जाता है।"[2]

1. *W.B Muro* : Modern Govts. of Europe, p. 145.
2. *N.V Gadgil* : Accountability of Administration, IIPA Vol I, No 3 p 199

6. स्थगन प्रस्ताव (Adjournment Motion)—स्थगन अथवा काम रोको प्रस्ताव द्वारा संसद् सदस्य संसद के निश्चित कार्यक्रम को रोक कर किसी अन्य महत्वपूर्ण विषय पर बहस प्रारम्भ कर सकते हैं। किसी विभाग के अधिकारियों के अत्याचार एवं अधिकारों के अतिक्रमण के विरुद्ध भी इस प्रकार के प्रस्ताव रखे जा सकते हैं। यह प्रस्ताव स्वीकृत न होने पर भी सम्बन्धित विभाग और अधिकारी की बदनामी तो हो ही जाती है। एस.ई. फाइनर के अनुसार, सरकार के प्रत्येक कार्य पर प्रश्न पूछा जा सकता है, प्रत्येक प्रश्न पर काम रोको प्रस्ताव प्रस्तुत किया जा सकता है और प्रत्येक काम रोको प्रस्ताव एक पूर्ण एवं विस्तृत बहस को प्रोत्साहन दे सकता है।[1]

7. अविश्वास प्रस्ताव (Non-Confidence Motion)—अविश्वास-प्रस्ताव संसद् के हाथों में एक ब्रह्मास्त्र है। असन्तोष की पराकाष्ठा संसद् को अविश्वास प्रस्ताव पारित करने के लिए प्रेरित कर सकती है जिसका अर्थ है कि मन्त्रि-मण्डल संसद् में अपने पक्ष में बहुमत को नहीं रखता तथा लोक सेवकों के कार्यों की पर्याप्त देखरेख करके उनको असंतुष्ट होने का अवसर नहीं देता है। इन प्रस्तावों पर बहस के समय संसद् में विरोधी दल के सदस्य तथा सत्ताधारी दल के असंतुष्ट सदस्य प्रशासन की कमजोरियों, असफलताओं को प्रकाश में लाते हैं। अविश्वास प्रस्ताव के समय होने वाली बहस में सदस्य जी-भर कर प्रशासन की निन्दा कर सकते हैं।

8. संसदीय समितियाँ (Parliamentary Committees)—संसदीय नियन्त्रण का एक अन्य प्रभावशाली साधन उनकी समितियाँ होती हैं। इन समितियों में से अधिकांश की रचना का तो लक्ष्य ही यह होता है कि वे लोक प्रशासन की गतिविधियों का विस्तृत अध्ययन करने के बाद यह बताएँ कि कहाँ अनियमितता बरती जा रही है, कौन अधिकारी अथवा अभिकरण अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर रहा है, किसके द्वारा जनहित विरोधी कार्य किए जा रहे हैं, कौन जनता के धन का अपव्यय कर रहा है, आदि। उदाहरणार्थ भारत में प्रशासन समिति (Committee on Government) आवश्यक अध्ययन के बाद संसद् को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है जिसके द्वारा सरकार से यह सिफारिश की जाती है कि वह दिये गये आश्वासनों को पूरा करे। जन-लेखा और प्राक्कलन-समितियाँ संसद् की महत्त्वपूर्ण आर्थिक समितियाँ होती हैं, जिनका कार्य संसद् की ओर से प्रशासकीय विभागों पर आर्थिक नियन्त्रण रखना है। जन-लेखा समिति सरकारी लेखों का परीक्षण करती है कि विभाग द्वारा किया गया व्यय संसद् द्वारा अनुमोदित था अथवा नहीं। यह व्यय में अनियमितता, अपव्यय, अनधिकारपूर्ण व्यय और गबन के मामलों को प्रकाश में लाती है तथा उनकी आलोचना करती है। प्राक्कलन समिति सरकारी विभागों द्वारा प्रस्तुत अनुमानों का अध्ययन करती है तथा उसमें अन्तर्निहित नीति को ध्यान में रखते हुए मितव्ययता, कार्यकुशलता, संगठनीय सार्थकता, प्रशासनिक दृढ़ता आदि के सम्बन्ध में सिफारिशें प्रस्तुत करती है। इन दोनों समितियों को जनता के धन का पहरेदार कहा जाता है। ये प्रशासनिक विभागों पर वास्तविक एवं प्रभावशाली नियंत्रण रखती हैं।

9. लेखा परीक्षा (Audit)—नियंत्रक और महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General) विभिन्न सरकारी विभागों के लेखों की जाँच करता है तथा अनियमितताओं का पता लगाता है। लोक सेवक हमेशा परीक्षा के भय से आशंकित रहते हैं तथा जनता के धन का दुरुपयोग सहसा नहीं कर पाते हैं।

संसदीय नियन्त्रण की समस्याएँ और सीमाएँ

(Problems and Limitations of Parliamentary Control)

प्रशासन को उत्तरदायित्वपूर्ण बनाए रखने के लिए कार्यपालिका पर संसदीय नियन्त्रण आवश्यक है, तथापि इस प्रकार के नियन्त्रण में आने वाली कुछ समस्याएँ इसकी प्रक्रिया को दुष्कर बना देती हैं। इसके अतिरिक्त नियन्त्रण की अपनी कुछ सीमाएँ हैं जिनसे नियन्त्रण उपयोगी और प्रभावशाली नहीं हो पाता है। इस सम्बन्ध में मुख्य विचारक फिफनर का विचार है कि प्रशासन पर यह नियन्त्रण बड़ा प्रभावशाली होता है, जिसके फलस्वरूप लोक सेवकों को जनहित की दिशा में मोड़ा जा सकता है। फिफनर का यह मत एपलबी को स्वीकार नहीं है। उनके कथनानुसार संसद का हस्तक्षेप प्रशासनिक कार्यों में इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह नियन्त्रण की परिधियों में सीमित न रहकर, वास्तव में हस्तक्षेप का रूप ले लेता है। इस प्रकार लोक सेवकों के कार्य प्रतिबन्धित हो जाते हैं। भारत में सामन्तवादी परम्पराओं, जनता और अधिकारियों के मध्य दूरी, संकट की संभावना आदि के कारण संसदीय नियन्त्रण वांछित लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पाता। वैधानिक नियंत्रण की सीमाओं का अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

1. विशेषज्ञता का अभाव—संसद् के सदस्य विशेषज्ञ न होने के कारण प्रशासनिक जटिलताओं और बारीकियों को प्रायः नहीं समझते और इसलिए लोक सेवकों की रचनात्मक आलोचना नहीं कर पाते। लोक सेवक

1. *S. F. Finer*: A Primer of Public Administration, p. 143.

भी स्वेच्छाचारी शक्तियों का प्रयोग इस कुशलता से करते हैं, जो संसद् सदस्यों की पकड़ में नहीं आ पाता। इस प्रकार संसदीय नियंत्रण का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। इसके अलावा अनुभवहीन और नौसिखिए सांसद प्रशासन पर अपनी पकड़ स्थापित नहीं कर पाते हैं। इतना ही नहीं सांसद संसद् में इस प्रकार का व्यवहार करते हैं कि संसदीय नियंत्रण की उपयोगिता कम हो जाती है। संसदीय बहस के समय बहुत से सदस्य सजग नहीं रहते और बौद्धिक तर्क-वितर्क में उलझे बिना ही दलीय साथियों के समर्थन में हाथ खड़ा कर देते हैं। इन सभी कारणों से संसदीय नियंत्रण वांछित रूप से प्रभावशाली एवं सार्थक नहीं हो पाता। संसद् में होने वाला हंगामापूर्ण व्यवहार भी संसदीय नियंत्रण के प्रभाव को घटाता है। इससे संसद का बहुत-सा समय व्यर्थ चला जाता है।

2. आलोचना के लिए आलोचना—संसद् सदस्यों द्वारा प्रशासन की स्वस्थ आलोचना नहीं की जाती। आलोचना का लक्ष्य प्रशासनिक व्यवस्था को सुधारना अथवा उसकी कार्यकुशलता बढ़ाना उतना नहीं होता जितना दर्शक-दीर्घा में बैठे लोगों को प्रभावित करना, समाचार-पत्रों में फोटो सहित अपना नाम प्रकाशित कराना तथा जनता में थोथी लोकप्रियता अर्जित करना होता है। कई बार संसद् सदस्य अपने पूर्वाग्रहों और व्यक्तिगत मनमुटावों के कारण ही किसी प्रशासनिक अधिकारी की आलोचना करते हैं। इससे प्रशासनिक अधिकारियों में दहशत फैलती है और उनके मनोबल में गिरावट आती है।

3. उत्तरदायित्व का प्रश्न—संसदीय नियंत्रण के कार्य मन्त्रिगण अपने कन्धे से लोक सेवकों के कार्यों का दायित्व उतार देते हैं। भारत में देखा गया है कि जब कभी किसी मंत्री में अनियमितता का दोष पाया जाता है जो मन्त्री उसे लोक सेवकों की गलती बताकर स्वयं बच निकलता है। संसदीय आलोचना के प्रत्युत्तर में मंत्री प्रायः इसी बात का ढिंढोरा पीटते हैं कि उनकी नीति तो ठीक थी, किंतु सम्बन्धित अधिकारियों द्वारा उसे सही रूप में क्रियान्वित नहीं किया गया। उदाहरणार्थ, जब गो-हत्या विरोधी आंदोलन में घटित अप्रिय घटनाओं के लिए संसद् में तात्कालिक गृहमंत्री को दोषी ठहराया गया, तो उन्होंने सारा दोष गृह मंत्रालय के सचिव एल. पी सिंह पर मढ़ दिया। स्पष्ट है कि मंत्रियों की यह प्रवृत्ति लोक प्रशासन में अनुत्साह, उपेक्षावृत्ति और हीनेत्तर-कर्तव्यपरायणता के भाव को ही जाग्रत करती है।

4. एकपक्षीय आलोचना—संसद् में लोक सेवकों की आलोचनाएँ एकपक्षीय होती हैं क्योंकि उन्हें अपनी सफाई के रूप में कुछ कहने का अवसर नहीं दिया जाता। संसदीय आलोचना के भय से लोक सेवक प्रभावशाली सांसदों को खुश करने की नीति अपनाते हैं तथा जनहित और ईमानदारी को ताक में रख देते हैं। उनकी राजनीतिक निष्पक्षता समाप्त हो जाती है। सांसदों का आश्रय एवं सद्‌भावना प्राप्त करने के लिए वे कोई भी अवैध या अनुचित कार्य करने को तैयार हो जाते हैं। इससे सम्पूर्ण प्रशासन दूषित होता है और उसमें राजनीति के दोष उजागर होते हैं।

5. प्रभावहीनता—संसदीय नियंत्रण लोक प्रशासन के क्षेत्र में यह गंभीर समस्या उत्पन्न कर देता है कि प्रशासनिक अधिकारी निष्पक्ष और ईमानदार रहते हुए भी किस प्रकार व्यवहार करें कि उन्हें संसद् की आलोचनाओं का शिकार न बनना पड़े। संसदीय आलोचनाएँ प्रशासकों की प्रतिष्ठा पर कुठाराघात करती हैं। अतः वे इससे बचने के लिए अपनी अन्तरात्मा की आवाज के विरुद्ध भी कदम उठाने को तैयार हो जाते हैं। कई बार संसदीय आलोचनाएँ केवल तिल का ताड़ बनाने के लिए होती हैं जिनका प्रशासन की कार्यकुशलता पर प्रभाव पड़ सकता है। नियंत्रण के शिकंजे से सुरक्षा पाने के लिए लोक प्रशासकों में राजनीतिज्ञों का अनुचित आश्रय ग्रहण करने की प्रवृत्ति बढ़ती है। लोक प्रशासक अपने सम्पूर्ण कार्य इस तरह संचालित करने को बाध्य होते हैं कि वे संसदीय रोष की सामग्री न बनें और उनका प्रशासनिक जीवन खतरे में न पड़े। इससे प्रशासन पर अनुचित प्रभाव पड़ता है और उसकी पहल करने की शक्ति समाप्त हो जाती है।

6. लोक सेवकों की अनुचित आलोचना—मन्त्रियों के अधीनस्थ होने के कारण लोक सेवकों को बहुमत दल का अंग मान लिया जाता है और जिस प्रकार सत्ताधारी दल की आलोचना करना विरोधी दलों का धर्म होता है उसी प्रकार लोक सेवकों के प्रत्येक कार्य की आलोचना करना भी उनका कर्तव्य मान लिया जाता है। इस दलीय पक्षपात और आलोचना के लिए आलोचना की प्रवृत्ति का लोक सेवकों के चरित्र और व्यवहार पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। संसदीय नियंत्रण प्रभावशाली तभी बन सकता है जब प्रशासन की आलोचना निष्पक्ष और रचनात्मक हो। लोक सेवकों को दलीय दृष्टिकोण से अलग करके देखा जाना चाहिए क्योंकि मंत्री चाहे किसी भी दल के हों, लोक प्रशासक का कार्य तो मंत्रियों के निर्देशों का अनुपालन करना होता है।

7. संवैधानिक स्थिति—ग्रेट ब्रिटेन तथा भारत जैसे संसदीय लोकतान्त्रिक देशों में संविधान के अनुसार विभागीय कार्यों का उत्तरदायित्व मंत्री पर होता है। विभाग में होने वाली प्रत्येक गड़बड़ी, अनियमितता, ज्यादती आदि के लिए मंत्रियों को ही उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए, लोक सेवकों को नहीं। संसदीय बहस के दौरान मन्त्रियों के विरुद्ध ही तर्क-वितर्क प्रस्तुत किए जाने चाहिए। लोक सेवकों पर प्रत्यक्ष रूप से लांछन नहीं लगाया

जाना चाहिए। मुख्य प्रशासनिक नीतियाँ कार्यपालिका द्वारा निश्चित की जाती हैं, व्यवस्थापिका तो उन्हें केवल स्वीकृति-मात्र देती है। अतः मन्त्रियों के माध्यम से प्रशासन पर नियन्त्रण रखने की प्रणाली पर स्वस्थ रूप से बल दिया जाना चाहिए। संसद् सीधे लोक प्रशासकों को आड़े हाथों ले, यह लोक प्रशासन के क्षेत्र की प्रेरणा-शक्ति को मंद करने वाली बात है। यदि मंत्रियों को प्रशासनिक व्यवस्था के लिए पूर्णतः आड़े हाथों लिया जाए तो वे सजग होकर प्रशासन पर ध्यान देंगे और लोक प्रशासक भी चौकन्ने रहेंगे।

प्रशासनिक नीति का निर्धारण करने के अतिरिक्त मन्त्रिगण नागरिक अधिकारियों पर और भी कई प्रकार से नियन्त्रण रख सकते हैं जैसे—(1) इन अधिकारियों की नियुक्ति प्रायः मन्त्रियों की इच्छानुसार ही की जाती है। प्रशासनिक संगठन में वे ही अधिकारी आ पाते हैं जिन्हें मन्त्री चाहता है। (2) मन्त्रियों को लोक सेवकों की नियुक्ति, पदोन्नति, प्रशिक्षण, सेवाकाल आदि के बारे में समय-समय पर नियम बनाने, अध्यादेश जारी करवाने आदि का अधिकार होता है जिनके माध्यम से वे अपने विभाग के किसी भी अधिकारी अथवा अभिकरण की गतिविधियों को नियन्त्रित रख सकते हैं। (3) मन्त्री अपने विभाग के अधिकारियों से सम्बन्धित नियम बना सकते हैं और अवहेलना करने वाले लोक सेवकों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकते हैं। (4) मंत्री अपने विभागीय अधिकारियों पर नियंत्रण रखने के लिए *कर्मचारी वर्ग के अभिकरणों (Staff Agencies)* की सहायता ले सकते हैं। इन अभिकरणों के माध्यम से रखा गया नियन्त्रण बड़ा प्रभावशाली होता है और सम्बन्धित अधिकारी उसे मानने के लिए नैतिक एवं सांविधानिक रूप से बाध्य होते हैं। (5) मन्त्रियों के हाथ में धन की थैली होती है। यदि प्रशासकीय संगठन के अधिकारी धन राशि की माँग करते हैं तो मन्त्री यह कह कर कि वे योजना आयोग से इसकी सिफारिश करेंगे, उन्हें आश्वासन दे सकता है। इन आश्वासनों की पूर्ति तक वे अधिकारियों के कार्यों पर प्रभावशाली नियंत्रण रख सकते हैं। (6) संघीय लोक सेवा आयोग के माध्यम से भी मंत्री विभागीय अधिकारियों पर नियंत्रण बनाए रख सकते हैं। (7) बजट मन्त्रियों के हाथों में एक ऐसा हथियार है जिसके आधार पर वे अधिकारियों को नियंत्रण में रख सकते हैं। यदि मंत्री अपने विभाग के बजट की प्राथमिकताओं का क्रम बदल दे तो सम्पूर्ण विभाग के व्यवहार पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। विभागों में अतिरिक्त कर्मचारी वर्ग (Surplus Staff) तभी सम्भव होता है जब बजट की प्राथमिकताओं में किसी प्रकार का परिवर्तन किया जाता है। (8) मन्त्री जनता से सीधे सम्पर्क में रहते हैं, अतः वे स्वेच्छाचारी प्रशासनिक अधिकारियों के विरुद्ध लोकमत तैयार करते हैं। लोक सेवक भाषण, विज्ञापन आदि के माध्यम से अपनी निष्पक्षता और कार्यपरायणता का प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकते जबकि मन्त्रियों को ये अवसर सदा उपलब्ध रहते हैं।

जब उपरोक्त सभी साधनों द्वारा मन्त्रिगण विभागीय अभिकरणों और अधिकारियों पर प्रभावशाली तथा उपयुक्त नियन्त्रण रख सकते हैं तो संसदीय नियन्त्रण का महत्त्व गौण हो जाता है। लोक प्रशासक नहीं बल्कि मन्त्री संसद् के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अतः संसद् को मंत्रियों के माध्यम से अप्रत्यक्ष नियन्त्रण की प्रक्रिया अपनानी चाहिए, खुले रूप में लोक प्रशासकों की आलोचना नहीं करनी चाहिए क्योंकि हो सकता है कि लोक प्रशासक ने तो मंत्री के आदेशों का पालन ही किया हो। इसके अतिरिक्त संसद् के हस्तक्षेप से नियन्त्रण का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और आदेश की एकता की समस्या पैदा हो जाती है। यदि संसद् मन्त्रियों पर समुचित अंकुश रखे तो वे स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकेंगे तथा दूसरी ओर मंत्रिगण भी अपने विभागों पर नियंत्रण रखने में वास्तविक रुचि लेंगे। इस प्रकार से संसदीय नियन्त्रण स्थापित करने में जो आधारभूत समस्याएँ उपस्थित होती हैं, उनका *निराकरण करके ही उचित और स्वस्थ नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। भारत में भी संसदीय नियंत्रण की* व्यवस्था प्रचलित है।

संसदीय नियन्त्रण का प्रशासकीय जीवन पर प्रभाव
(Over all Effect on Administrative Vitality of Parliamentary Control)

संसदीय नियन्त्रण से लोक प्रशासन पर अनेक वांछनीय-अवांछनीय प्रभाव पड़ते हैं। सैद्धान्तिक रूप से इस नियन्त्रण के अनेक अच्छे उद्देश्य होते हैं, किन्तु व्यवहार में वे प्राप्त नहीं हो पाते। फिफनर तथा मिस्टर के कथनानुसार, "प्रशासन पर व्यवस्थापिकाओं का नियन्त्रण व्यावहारिक की अपेक्षा सैद्धान्तिक दृष्टि से अधिक प्रभावशाली होता है।" व्यवहार में संसद् की भी अनेक सीमाएँ हैं क्योंकि उसके पास कर्मचारी या दक्ष लोग नहीं होते। वह केवल उन्हीं विषयों के सम्बन्ध में वाद-विवाद कर पाती है जो पर्याप्त बदनाम हो चुके होते हैं। अपनी सीमाओं एवं समस्या के कारण संसद् प्रभावशाली नियंत्रण रखने में समर्थ नहीं हो पाती। जो नियंत्रण रखती है उसका प्रभाव-प्रशासन पर घातक होता है। यह प्रशासकों के व्यवहार, विचार एवं स्थिति तथा संगठन की रचना एवं कार्यकुशलता को निम्नवत् से प्रभावित करता है—

1. प्रशासन में हस्तक्षेप—नियंत्रण की शक्ति का दुरुपयोग कर संसद् प्रशासनिक कार्यों में अत्यधिक हस्तक्षेप करती है। अनाड़ी या नौसिखिए और प्रशासनिक तकनीकों से अनभिज्ञ सांसदों का यह हस्तक्षेप

पक्षपातपूर्ण होता है। पूर्वाग्रहों और व्यक्तिगत स्वार्थों से प्रेरित होकर वे लोक सेवकों पर आरोप लगाते हैं। इससे कर्तव्य-भावना, ईमानदारी तथा जनहित की भावना से कार्यकुशल कर्मचारी भी निन्दा का पात्र बन सकता है। दुराचारी, स्वार्थी और भ्रष्टाचारी किन्तु चमचागिरी में सिद्धहस्त व्यक्ति प्रशंसा और पुरस्कार प्राप्त करते हैं। राजनीतिक हस्तक्षेप से गंभीर समस्याएँ पैदा होती हैं। संसदात्मक प्रश्न लोक सेवक को सदैव अत्यधिक सचेत रखते हैं, उन्हें कायर एवं जागरुक बना देते हैं ताकि वे अपने कार्यों का लिखित रिकार्ड रखें। लोक सेवा के इन कार्यों को अनावश्यक परिश्रम ही कहा जा सकता है। लोक सेवक राजनेताओं को प्रसन्न रखने में अनावश्यक रूप से अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं।

2. अनामता असम्भव बन जाती है (Anonymity becomes Impossible)—लोक सेवक का यह एक विशेष गुण माना जाता है कि वह अनाम रूप में अपने कार्यों को सम्पन्न करे। वह मंत्री के नाम पर उसकी हस्तान्तरित शक्तियों का प्रयोग करता है और उसके प्रत्येक निर्णय एवं व्यवहार पर सम्बन्धित मन्त्री के हस्ताक्षर होते हैं। लोक सेवक यह मानकर चलता है कि यदि उसके कार्यों को किसी प्रकार की आलोचना या विरोध का सामना करना पड़ा तो स्वयं मंत्री ही बात को सम्भाल लेगा, उसे किसी प्रकार के विवाद में न पड़ना होगा, वह तो अनाम रूप से कार्य करता रहेगा। अपनी अनाम स्थिति में वह स्वयं को सुरक्षित अनुभव करता है, किन्तु संसदीय नियंत्रण की व्यवस्था में यह स्थिति सम्भव नहीं बन पाती। किसी भी कार्य के लिए व्यक्तिगत रूप से उस अधिकारी की आलोचना की जाती है और संसद् में उसके ऊपर लांछन लगाए जाते हैं। इस प्रकार अनाम कार्य करने से प्राप्त होने वाले सभी लाभ समाप्त हो जाते हैं और अनेक नवीन समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

3. जनता के सम्मुख प्रकाशन (Exposal before Public)—संसदीय-नियन्त्रण की व्यवस्था में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि लोक सेवकों के व्यवहार जन-चर्चा के विषय बन जाते हैं। यहाँ जब किसी मन्त्री को अपनी बदनामी का भय होता है तो वह शीघ्र ही अपने सारे दोषों को गलत या सही रूप से लोक प्रशासक के माथे मढ़ देता है। अपने पद की मर्यादाओं एवं सेवा के नियमों के अनुरूप कार्य करता हुआ प्रशासकीय अधिकारी अपने-आपको तब एक विचित्र स्थिति में पाता है जब उस पर झूठे-सच्चे दोष मढ़ दिए जाते हैं। इससे प्रशासकों का मनोबल गिरता है।

4. निष्पक्षता असम्भव बन जाती है (Neutrality becomes Impossible)—भारतीय स्थिति एवं वातावरण को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि संसदात्मक नियंत्रण रहने पर प्रशासन के कार्यों में निष्पक्षता असंभव है। जब लोक सेवकों को यह आभास हो जाता है कि ईमानदारी से कार्य करने पर दण्ड मिलेगा, निष्पक्षता बरतने पर बदनाम होना पड़ेगा, सज्जनतापूर्ण व्यवहार करने पर कमजोर समझे जाएँगे और राजनीतिक प्रभाव की अवहेलना करने पर पद से हाथ धोना पड़ेगा, तो यह कल्पना नहीं की जा सकती कि वे निष्पक्षता और प्रतिबद्धता से कार्य करेंगे। फलत. वे राजनीतिक हस्तक्षेप को स्वीकार करते हुए अपनी स्वार्थ-सिद्धि में संलग्न रहते हैं। कर्तव्यपरायणता के स्थान पर अपने राजनीतिक प्रभुओं को प्रसन्न रखना उनका मुख्य ध्येय बन जाता है।

5. कार्यकुशलता की क्षति (Efficiency Damaged)—संसदीय आलोचना के भय से लोक सेवक व्यक्तिगत निर्णय नहीं लेना चाहते। वे प्रत्येक नीति एवं महत्वपूर्ण निर्णयों के लिए संसद् की बाट जोहते रहते हैं। फलत निर्णय देरी से लिए जाते हैं, जब तक इनका महत्व एवं उपयोगिता समाप्त हो जाती है। इससे प्रशासनिक कार्यकुशलता घटती है और प्रशासन कल्याणकारी नहीं रह पाता है।

6. लोक सेवकों में चरित्र-भ्रष्टता (Demoralization in Public Servants)—निर्णयात्मक शक्ति के अभाव में लोक सेवक की अपने कार्यों में व्यक्तिगत रुचि घट जाती है। उनमें असंतोष और निराशा बढ़ती है तथा वांछनीय उत्साह और प्रेरणा लुप्त हो जाती है। अच्छे कार्यों को मान्यता न मिलने के कारण वह हतोत्साहित हो जाता है। गैर-विशेषज्ञों द्वारा व्यर्थ की आलोचना सुनकर वह दुखी हो जाता है और काम न करने का निर्णय लेता है तथा पथभ्रष्ट होकर अपने बचाव के तरीके तक अपनाने लगता है। फलत वह अपने आचरण में 'खाओ और खाने दो' के सिद्धान्त का अनुसरण करता है।

इस प्रकार संसदीय नियन्त्रण की अनेक सीमाएँ हैं जिनका प्रशासन पर विभिन्न रूपों में कुप्रभाव पड़ता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि संसदीय नियंत्रण अनावश्यक, अवांछनीय और व्यर्थ है, अत उसे हटा देना चाहिए। प्रशासन पर संसदीय नियंत्रण संसदात्मक प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग है। संसदीय व्यवस्था में इसे अपनाना ही होगा क्योंकि इन पर अध्यक्षात्मक प्रणाली की भाँति शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त लागू नहीं किया जा सकता। प्रयत्न यह होना चाहिए कि संसदीय नियंत्रण से उत्पन्न दोषों को दूर किया जाए, लोक सेवकों का मनोबल ऊँचा उठाया जाए तथा ऐसी प्रवृति पैदा की जाए कि वे संसदीय आलोचनाओं की विशेष परवाह न करें। अपने देश में ब्रिटेन की भाँति कुछ ऐसी परम्पराएँ डाली जाएँ कि जिनके अधीन मंत्रिगण एक ढाल का कार्य करें तथा अपने विभाग के अधिकारियों को संसद् की आलोचना का निशाना न बनने दें। मन्त्रियों को हमेशा यह प्रयास

करना चाहिए कि लोक प्रशासकों के समान व्यवहार, निष्पक्ष आचरण, स्वतन्त्र तथा ईमानदारीपूर्ण निर्णय की रक्षा की जा सके। ओम्बुड्समेन तथा लोकपाल आदि संस्थाओं की स्थापना इसी दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इन प्रयत्नों से संसदीय नियंत्रण की सार्थकता सामने आयेगी।

ब्रिटेन और भारत जैसे मन्त्रिमण्डलीय शासन-व्यवस्था वाले देशों में संसद् अपने प्रति उत्तरदायी मंत्रियों के माध्यम से प्रशासन को नियंत्रित करती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संसद् अविश्वास प्रस्ताव पर विचार कर सकती है, शासन के विरुद्ध निंदा प्रस्ताव पारित कर सकती है तथा काम-रोको प्रस्ताव पर विचार कर सकती है। दोनों ही देशों में संसद् प्रशासन को नियन्त्रित करने के लिए जिन तरीकों को काम में लाती है उनमें मुख्य हैं—सार्वजनिक नीति को परिभाषित करना, कार्यपालिका द्वारा नीति-निर्माण में भाग लेना, प्रशासकीय क्रियाओं को निर्धारित करना, विनियोग, जाँच-पड़ताल के सम्बन्ध में निश्चय करना और प्रशासकीय तथा वित्तीय प्रतिवेदनों को प्रस्तुत करवाना एवं उन पर विचार करना। भारत में लोक लेखा तथा अनुमान-समिति के अतिरिक्त अन्य संसदीय समितियाँ भी लोक प्रशासन पर प्रभावशाली नियंत्रण रखती हैं। इस सम्बन्ध में एस. एल. शकधर लिखते हैं—

"संसद् की वित्तीय समितियों के अतिरिक्त कुछ अन्य समितियाँ भी हैं जिनके प्रति प्रशासन को उत्तरदायी माना जाता है। ये समितियाँ हैं—(i) सरकारी आश्वासनों पर समिति, (ii) अधीनस्थ विधायन पर समिति और (iii) याचिकाओं पर समिति। सरकारी आश्वासनों पर समिति इस बात की जाँच करती है कि सदन में मंत्रियों द्वारा दिये गये आश्वासन समय पर पूरे किए गए अथवा नहीं। यह समिति, इन आश्वासनों को पूरा करने में जो विलंब हुआ अथवा उन्हें पूरा करने के लिए जो अपर्याप्त क्रियाएँ हुई, उन पर भी टिप्पणी करती है। अधीनस्थ विधायन की समिति की रचना इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जाती है कि वह यह देखे कि शासन संसद्-प्रदत्त नियम-निर्माण की शक्ति का अतिक्रमण तो नहीं करता। याचिकाओं की समिति इस दृष्टि से विलक्षण है कि अपकृत (Aggrieved) नागरिक प्रशासन और संसद् को जोड़ने वाली कड़ी है। ऐसा कोई भी नागरिक जिसे प्रशासन से कोई शिकायत है तथा जिसका निराकरण किसी अन्य साधन के द्वारा नहीं हो सका है, वह सीधा संसद् के समक्ष अपनी शिकायत प्रस्तुत कर सकता है। यदि उनकी शिकायत अथवा सुझाव का सार्वजनिक महत्व के किसी मामले पर प्रभाव पड़ता है तो संसद् उसकी याचिका को स्वीकार करेगी तथा वह उसे प्रतिवेदन हेतु समिति को सौंप देगी।"

संयुक्त राज्य अमेरिका में कांग्रेस (संसद्) के पास प्रशासन को नियन्त्रित करने के वे साधन नहीं हैं, जो ब्रिटेन या भारत में संसद् के पास हैं तथापि दो ऐसे प्रभावशाली तरीके हैं जिनके माध्यम से कांग्रेस प्रशासन को नियंत्रित करने का प्रयास करती है—(क) कांग्रेस के दोनों सदनों की एक स्थायी समिति प्रशासकीय क्रियाओं से सम्बद्ध है और इस समिति के दो मुख्य कार्य हैं—प्रथम, कम्प्ट्रोलर जनरल द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों पर विचार करना और प्रशासकीय कमियों को दूर करने के लिए सुझाव देना। द्वितीय, पुनर्संगठन सम्बन्धी कार्यपालिका योजनाओं पर विचार करना। स्थायी समिति के सुझावों के कारण अमेरिका में अनेक वित्तीय और प्रशासकीय सुधार सम्भव हो सके हैं। (ख) आगामी विधायन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए छानबीन करना। कांग्रेस की छानबीन, यहाँ तक कि छानबीन की धमकी भी प्रशासन को गंभीर रूप से प्रभावित करती है और कोई भी प्रशासनिक अधिकारी इस छानबीन की उपेक्षा या अवहेलना करने का साहस नहीं करता। कांग्रेस की यह छानबीन या अन्वेषण करने की शक्ति बहुत प्रभावशाली होती है। राष्ट्रपति भी इससे भयभीत रहता है। रिचर्ड निक्सन को वाटरगेट-काण्ड में अपना पद छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा था।

प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण

(Judicial Control over Administration)

न्यायपालिका सरकार का तीसरा अंग है जिसका कार्य देश के कानूनों की व्याख्या और उनका उल्लंघन करने वालों को दण्ड की व्यवस्था करना है। लोक प्रशासन के सन्दर्भ में न्यायपालिका का प्रमुख उत्तरदायित्व नागरिक अधिकारों की रक्षा करना तथा प्रशासनिक अधिकारियों को मर्यादित रखना है। भारत में संघीय न्यायपालिका को सर्वोच्च एवं स्वतन्त्र स्थान प्रदान किया गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका की भाँति भारतीय न्याय-व्यवस्था में न्यायिक पुनरीक्षा अथवा पुनरावलोकन (Judicial Review) की व्यवस्था को अपनाया गया है। न्यायपालिका स्वतन्त्र और अन्तिम रूप से संविधान की संरक्षक है। इसी के द्वारा नागरिक अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं की रक्षा की जाती है। ग्रेट-ब्रिटेन की तरह भारत में कानून के शासन (Rule of Law) की व्यवस्था अपनाई गई है जिसके अनुसार सरकारी अधिकारी तथा सामान्य नागरिक एक ही प्रकार के कानून एवं एक ही प्रकार के न्यायालयों का विषय है। भारत में फ्रांस की भाँति प्रशासकीय कानून (Administrative Law) नहीं है। फिर भी यहाँ जन-अभियोग निराकरण विभाग (Deptt. for Removal of Public Grievances) की

स्थापना द्वारा कुछ-कुछ प्रशासकीय कानून जैसी व्यवस्था का प्रयास किया गया है। भारत में लोकपाल तथा लोकायुक्त की स्थापना को ब्रिटिश तथा अमेरिकी न्याय-व्यवस्था के बीच का मार्ग माना जा सकता है।

लोक प्रशासन और न्यायपालिका

यह कहा जाता है कि लोक प्रशासन की व्यवस्था केवल कार्यकुशल ही नहीं, न्यायपूर्ण भी होनी चाहिए। सभी सरकारी विभाग नागरिकों के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करें, इसके लिए नागरिक एवं राज्य के बीच उठने वाले विवादों को सही रूप में सुलझाने के लिए न्यायाधिकरण की व्यवस्था होनी चाहिए। लोक-कल्याणकारी राज्य के विकास ने यह आवश्यक बना दिया है कि नौकरशाही द्वारा की जाने वाली गलतियों तथा शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए नए संरक्षण की व्यवस्था की जाए। स्वीडन में इसके लिए ओम्बुड्समैन (Ombudsman) नामक संस्था की व्यवस्था की गई है। ग्रेट ब्रिटेन में इसके लिए एक संसदीय आयुक्त (Parliamentary Commissioner) होता है। भारत में ऐसी ही 'लोकपाल' संस्था कायम की गई है। इन संस्थाओं का उद्देश्य लोक प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार और लालफीताशाही को दूर करके प्रशासन को जनता के प्रति जवाबदेह बनाना होता है।

लोक प्रशासन और न्यायपालिका की घनिष्ठता

न्यायपालिका और लोक प्रशासन के बीच कई प्रकार के घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया गया है। व्यवस्थापिका की भाँति न्यायपालिका भी प्रशासन पर नियन्त्रण रखने का एक साधन है। नागरिकों की स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा की दृष्टि से न्यायपालिका द्वारा स्थापित नियन्त्रण को न्यायिक उपचार कहा जाता है। न्यायपालिका सार्वजनिक अधिकारियों की वैधानिकता को निश्चित करने का प्रयास करती है ताकि सभी नागरिक अपने अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर सकें। जब भी कभी एक सार्वजनिक अधिकारी सामान्य जनता के अधिकारों पर अतिक्रमण करने लगता है तो न्यायपालिका उसकी संरक्षक बन जाती है। इसी कारण लॉर्ड ब्राइस ने स्वतन्त्र न्यायपालिका को प्रजातन्त्रात्मक सरकार का सर्वश्रेष्ठ मापदण्ड माना है। वर्तमान युग में सार्वजनिक अधिकारियों के उत्तरदायित्व में वृद्धि हो जाने से सामान्य नागरिकों की स्वतन्त्रताओं को भय पैदा हो गया है। न्यायपालिका सामान्य नागरिक के भय को दूर करने में महती भूमिका का निर्वाह करती है।

भारत में लोक प्रशासन और न्यायपालिका के सम्बन्धों की प्रकृति कानून के शासन से प्रभावित है। ग्रेट-ब्रिटेन इस सिद्धान्त की जन्म-भूमि माना जाता है। इसकी व्याख्या में प्रो. डायसी ने लिखा है कि कोई भी व्यक्ति उस समय तक दण्डनीय अथवा कानूनी रूप से शारीरिक या सम्पत्ति की दृष्टि से पीड़ित नहीं किया जा सकता, जब तक कि उसने देश की साधारण अदालतों में वैधानिक रूप से मान्य किसी कानून को स्पष्ट रूप से भंग न किया हो। कोई भी व्यक्ति कानून के ऊपर नहीं है और प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी श्रेणी या स्थिति का हो, देश के साधारण कानून के अधीन है। उस पर साधारण न्यायाधिकरणों के अधिकार-क्षेत्र में कानून के अनुसार कार्यवाही की जा सकती है। प्रधान मन्त्री से लेकर एक सिपाही तथा कर वसूल करने वाला प्रत्येक अधिकारी भी अपने गैर-कानूनी कार्य के लिए उतना ही उत्तरदायी रहेगा जितना कि कोई अन्य नागरिक।

लोक प्रशासन और न्यायपालिका के सम्बन्धों की प्रकृति

1. न्यायपालिका देखभाल करती है (Judiciary is a watch-dog)—प्रजातन्त्र में कार्यपालिका देश के कानून के अनुसार प्रशासन का संचालन करती है। न्यायपालिका का दायित्व है कि वह इस बात की लगातार देखभाल और निगरानी करती रहे कि कानूनों का पालन किस सीमा तक किया जा रहा है।

2. कानून के सम्मुख समानता (Equality before Law)—प्राय: सभी प्रजातन्त्रात्मक देशों में कानून के सम्मुख समानता के सिद्धान्त को अपनाया जाता है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद-14 सभी नागरिकों को कानून का समस्त संरक्षण प्रदान करता है।

3. न्यायिक स्वतन्त्रता (Judicial Independence)—न्यायपालिका को कार्यपालिका से स्वतन्त्र रखा जाता है ताकि वह प्रशासन पर उपयुक्त नियन्त्रण रख सके। न्यायाधीशों की नियुक्ति को राजनीतिक प्रभावों से मुक्त रखा जाता है। भारत में न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा होती है, लेकिन वे इसके द्वारा हटाये नहीं जा सकते। सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को संसद् द्वारा महाभियोग लगाकर हटाया जा सकता है। अधीनस्थ न्यायालय पर उच्च न्यायालय का नियन्त्रण रहता है। उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश बिना भय और पक्षपात के कार्य करने की शपथ लेते हैं। इन सभी संवैधानिक उपबन्धों के द्वारा

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा होती है। ग्रेट-ब्रिटेन में ऐसे उदाहरण हैं जबकि कार्यपालिका के सदस्यों ने न्यायिक कार्य सम्पन्न किए, किन्तु फिर भी पक्षपातपूर्ण होने के उदाहरण नहीं मिलते। एक बार न्यायाधीश पद पर नियुक्त हो जाने के बाद वे राजनीतिक पक्षपात से ऊपर उठ जाते हैं और निर्भीक होकर निर्णय देते हैं।

4. कार्यपालिका पर साधारण न्यायालय का नियन्त्रण (Control of Ordinary Courts)—कोई भी प्रभावित व्यक्ति दो प्रकार के न्यायालयों में मुकदमे दायर कर सकता है। प्रथम साधारण न्यायालय होते हैं और दूसरे प्रशासकीय न्यायाधिकरण। यद्यपि दोनों ही स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष प्रशासकीय न्यायाधिकरणों में एक विशेष प्रकार की व्यवस्था अपनाई जाती है। इसका उदाहरण फ्रांस, जर्मनी और लैटिन अमेरिका के देशों में प्राप्त होता है। भारत में प्रथम व्यवस्था को ही अपनाया गया है।

5. कार्यपालिका को परामर्श देना (To Advice the Executive)—सर्वोच्च न्यायालय का एक परामर्शदात्री क्षेत्र भी होता है। यह न्यायपालिका का अर्द्ध-कार्यपालिका कार्य है। भारतीय संविधान में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राष्ट्रपति किसी भी महत्त्वपूर्ण विषय पर सर्वोच्च न्यायालय से कानूनी परामर्श माँग सकता है। साथ ही सर्वोच्च न्यायालय प्रत्येक विषय पर परामर्श देने के लिए बाध्य नहीं है।

ग्रेट-ब्रिटेन में भी प्रिवी परिषद् की न्यायिक समिति को कार्यपालिका के लिए परामर्श देने का प्रावधान है। ऐसी व्यवस्था की गई है कि इस समिति के सम्मुख परामर्श देने के लिए कोई भी ऐसा विषय न लाया जाए जो इसके न्यायिक कार्य सम्पन्न करने में बाधक बने। प्रशासनिक विषयों में न्यायपालिका का परामर्श प्राप्त करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

न्याय नियन्त्रण के उद्देश्य (Objects of Judicial Control)

1. वैधानिकता की दृष्टि से नियन्त्रण जो कि यह निश्चित करने के लिए होता है कि लोक प्रशासन हमेशा कानून के अनुसार व्यवहार करेगा।
2. स्वेच्छा का नियन्त्रण जिसके द्वारा निश्चित किया जा सके कि सार्वजनिक सत्ता की स्वेच्छा अनियन्त्रित अथवा तानाशाही नहीं है वरन् स्वस्थ, विवेकपूर्ण, विश्वसनीय और प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों के अनुरूप है।
3. लोक प्रशासन के कार्यों द्वारा क्षतिग्रस्त व्यक्तियों को पर्याप्त मुआवजे का भुगतान करना। इस प्रक्रिया में किसी विशेष अधिकारी को उत्तरदायी ठहराया जाता है। इसलिए यह लोक प्रशासन पर नियन्त्रण की मौलिक प्रणाली है।
4. अधिकारियों द्वारा कानूनी शक्तियों के दुरुपयोग पर रोक लगाना।

न्यायिक नियन्त्रण के अवसर (The Occasions of Judicial Control)

न्यायपालिका नागरिकों के अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं की रक्षा करने के लिए होती है। कोई भी नागरिक अथवा नागरिक समुदाय कुछ विशेष परिस्थितियाँ पैदा होने पर ही न्यायपालिका की सहायता प्राप्त करता है। डॉ. एल. डी. व्हाइट ने इन परिस्थितियों को पाँच प्रकार का माना है—

1. अधिकारी द्वारा स्वनिर्णय की शक्ति का दुरुपयोग (Abuse of Official Discretion)—जब कोई अधिकारी अपने पद का प्रयोग किसी व्यक्तिगत कारण से किसी व्यक्ति को नुकसान पहुँचाने के लिए करता है तो यह उसके पद का दुरुपयोग है। इन मामलों को प्रमाणित करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु ये न्यायिक जाँच के लिए प्रस्तुत किए जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में प्रभावित व्यक्ति न्यायपालिका की शरण ले सकता है। इस अवसर पर न्यायालय प्रशासन की जाँच एवं नियन्त्रण का कार्य सम्पादित करता है। न्यायपालिका द्वारा उस अधिकारी पर अंकुश या नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है।

2. अधिकार-क्षेत्र का अभाव (Lack of Jurisdiction)—जब एक अधिकारी अपने अधिकार-क्षेत्र का अतिक्रमण करता है तो प्रभावित व्यक्ति उसके विरुद्ध न्यायालय में अपील कर सकता है। न्यायालय उस अधिकारी के व्यवहार को गैर-कानूनी ठहरा सकता है। प्रत्येक अधिकारी को एक विशेष क्षेत्र में कुछ निश्चित शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। यदि वह इसके बाहर अथवा सरकार की भौगोलिक सीमाओं के बाहर कार्य करेगा तो वह उसके अधिकार का अतिक्रमण होगा, अतः उसके कार्य प्रभावहीन रहेंगे। अधिकार-क्षेत्र से बाहर के कार्यों में प्रायः तथ्यों की गलत व्याख्या की जाती है और स्थिति को गलत रूप में समझा जाता है। न्यायालय का कार्य है कि वह सही व्याख्या प्रस्तुत करे।

3. वैधानिक त्रुटि (Error of Law)—जब एक अधिकारी को किसी कानून का पालन कराने की शक्ति दी जाती है और वह उसकी आड़ में नागरिकों पर कुछ ऐसे उत्तरदायित्व लाद देता है जो वास्तव में उस कानून

की सीमा के बाहर हैं तो इसे वैधानिक त्रुटि कहा जाएगा और इसे रोकने के लिए न्यायालय हस्तक्षेप कर सकता है। इस प्रकार की त्रुटियाँ प्राय महत्वाकांक्षी अथवा कार्यों में अधिक उतावलापन या जल्दबाजी प्रदर्शित करने वाले अधिकारियों से होती हैं।

4. तथ्य-प्राप्ति में त्रुटि (Error in Finding Fact)—जिन प्रशासनिक आदेशों में तथ्य के विवादपूर्ण प्रश्न होते हैं वे प्राय हमेशा न्यायालय के सम्मुख लाए जाते हैं।

5. प्रक्रिया की त्रुटि (Error of Procedure)—अन्त में, न्यायपालिका इस बात पर जोर दे सकती है कि प्रशासनिक अधिकारी उस प्रक्रिया के अनुसार-कार्य करे जो कानूनी रूप से कार्य की पूर्व आवश्यकता है। प्रक्रिया सम्बन्धी पूर्व आवश्यकताएँ प्राय पर्याप्त विस्तृत और विशिष्ट होती हैं। यहाँ कोई भी निर्णय पर्याप्त सूचना एवं सुनवाई के बाद लिया जाता है। यदि कार्यालय के अभिलेख यह प्रदर्शित करें कि प्रक्रिया में कहीं गलती की गई है या कुछ छोड़ा गया है तो न्यायपालिका उस प्रशासनिक कार्य को गैर-कानूनी घोषित कर सकती है।

उचित प्रक्रिया को उत्तरदायी सरकार की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता माना जाता है। इसके बिना अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। उदाहरण के लिए, यदि प्रक्रिया सम्बन्धी नियम के अनुसार किसी कर्मचारी के विरुद्ध कार्यवाही करने से पूर्व अभियोग का स्पष्टीकरण आवश्यक और यदि एक अधिकारी बिना ऐसा किए ही कार्यवाही कर देता है तो उसके विरुद्ध प्रभावित व्यक्ति न्यायालय में कार्यवाही करेगा।

इस प्रकार कई ऐसे अवसर आते हैं जब गैर-सरकारी लोगों के शिकायत करने पर अधिकारियों को न्यायपालिका के सामने उपस्थित किया जा सकता है। स्वयं अधिकारी भी कानून-पालन को बाध्यकारी बनाने के *लिए न्यायिक लेख जारी करने की माँग कर सकता है। न्यायालय जब यह अनुभव करता है कि अधिकारी का* कार्य उचित एवं वैध था तो वह तत्सम्बन्धी लेख जारी कर देता है। इस प्रकार न्यायाधीश और अधिकारीगण समय-समय पर एक दूसरे से टकराते हैं। डॉ. व्हाइट का यह कहना सही है कि—"अधिकारी सदैव यह जानते हैं कि उनके कार्यों को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है और यदि उन्होंने गलती की है तो कुछ परिस्थितियों में उनको हर्जाना भी देना होगा।"[1] इस कारण से अधिकारियों के मन में प्राय भय की भावना बनी रहती है।

न्यायिक नियन्त्रण के रूप एवं प्रणालियाँ (Forms and Methods of Judicial)

प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण के कई तरीके होते हैं। इन्हें प्रयोग करने की शक्ति न्यायपलिका को *संविधान, कॉमन लॉ तथा कुछ हद तक व्यवस्थापिका के कानूनों द्वारा प्राप्त होती है। कानून के माध्यम से* न्यायालय की इस शक्ति को अस्वीकृत, सीमित अथवा प्रतिबन्धित किया जा सकता है। न्यायपालिका द्वारा सांविधानिक प्रश्नों के अतिरिक्त अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध भी नागरिकों की रक्षा की जाती है। प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण निम्नांकित तरीकों से स्थापित किया जाता है—

1. कार्यपालिका के व्यवस्थापन को असांविधानिक घोषित करना (To Declare Unconstitutional the Legislation by Executive)—प्राय प्रत्येक देश की कार्यपालिका को अध्यादेश जारी करने का अधिकार होता है। हस्तान्तरित व्यवस्थापन की प्रक्रिया के अधीन भी कार्यपालिका कुछ कानून बनाती है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 123 तथा 213 क्रमश राष्ट्रपति तथा राज्यपालों को संसद् अथवा राज्यों की व्यवस्थापिकाओं के अवसानकाल में अध्यादेश जारी करने की शक्तियाँ प्रदान करती हैं। संकटकाल में राष्ट्रपति को राज्यों की व्यवस्थापिकाओं की शक्तियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं। यदि कार्यपालिका द्वारा किया गया यह व्यवस्थापन अथवा हस्तान्तरित व्यवस्थापन के अधीन बनाए गए कानून संविधान के अनुकूल नहीं हैं तो न्यायपालिका उनको अस्वीकार करा सकती है। न्यायपालिका इस प्रश्न पर विचार नहीं कर सकती कि अध्यादेश जारी करना आवश्यक था या नहीं।

2. कानूनी शक्तियों का प्रयोग प्रत्यायोजित व्यवस्थापन (Exercise of Statutory Powers of Delegated Legislation)—न्यायालयों को यह शक्ति प्राप्त होती है कि वह प्रत्यायोजित विधायी शक्ति के किसी भी प्रश्न के सम्बन्ध में यह निर्धारित करे कि प्रत्यायोजन के लिए कानूनी सत्ता थी अथवा नहीं। यह निर्धारित करना भी न्यायालयों का कार्य है कि प्रत्यायोजित व्यवस्थापन सांविधानिक है अथवा नहीं है, अर्थात् जो व्यवस्थापन किया गया है वह प्रत्यायोजन की सीमा में आता है या नहीं। न्यायालय का यह कार्य है कि वह व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका को सौंपी गई स्वेच्छाचारी शक्ति का विरोध करे।[2] इस प्रकार न्यायपालिका प्रत्यायोजित व्यवस्थापन को भी प्रभावित करती है।

1. *L D White · Op. cit.*, p. 512.
2. A.I R 1967 S C. 1895.

भारत में सर्वोच्च न्यायालय ने प्रत्यायोजित सत्ता के अधीन बनाये गए नियमों की जाँच के लिए कुछ मापदण्ड निर्धारित किए हैं। यदि एक नियम इन मापदण्डों की कसौटी पर खरा उतरता है तो वह उचित है अन्यथा नहीं। कोई भी नियम प्रत्यायोजित सत्ता के अधीन बनाया जाना चाहिए। किसी भी नियम को इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि वह प्रत्यायोजित सत्ता के अन्तर्गत नहीं आता।

3. प्रशासनिक सत्ताओं के विरुद्ध अपीलें (Appeals against Administrative Authorities)—समय-समय पर न्यायालय प्रशासनिक सत्ताओं के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनते रहते हैं। न्यायिक नियन्त्रण का यह तरीका केवल वहीं अपनाया जाता है जहाँ कानून द्वारा इस प्रकार की अपील करने का अधिकार दिया गया हो। कानूनी व्याख्या से सम्बन्धित प्रश्नों में प्रायः अपील की सुविधा प्रदान की जाती है।

4. करारोपण (Taxation)—कार्यपालिका का एक उत्तरदायित्व यह है कि यह सार्वजनिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए कर द्वारा आवश्यक धन की व्यवस्था करे। केवल वे ही कर एकत्रित किए जा सकते हैं जो कानून-सम्मत हों। अनुच्छेद 265 में कहा गया है कि कानूनी सत्ता के अतिरिक्त न तो कोई भी कर लगाया जाएगा, न ही एकत्रित किया जाएगा। कानून का अर्थ व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानून से है। कार्यपालिका स्वयं किसी प्रकार का कर नहीं लगा सकती। जिस कानून द्वारा कर लगाने की शक्ति दी जाए वह साविधानिक होना चाहिए। कार्यपालिका की नियम बनाने की शक्ति द्वारा किसी प्रकार का कर नहीं लगाया जा सकता है।

संसदीय स्वीकृति के बिना कार्यपालिका द्वारा कोई कर न लगाया जाए यह सांविधानिक सिद्धान्त ग्रेट ब्रिटेन में सन् 1688 के अधिकार-पत्र (Bill of Rights) द्वारा स्वीकार किया गया था। भारत में भी इस ब्रिटिश परम्परा को अपना लिया गया है। गैर-संविधान-सम्मत अथवा गैर-कानूनी तरीकों से लगाये गए कर को न्यायपालिका असंवैधानिक घोषित कर सकती है।

5. सरकार विरोधी अभियोग (Suits against the Government)—नागरिकों को स्वतन्त्रता एवं अधिकार सविधान द्वारा प्रदान किए गए हैं और संविधान ही उनकी रक्षा करने के लिए उत्तरदायी है। इनकी रक्षा के लिए राज्य के विरुद्ध भी न्यायालय में अभियोग लगाया जा सकता है। भारतीय सविधान के अनुच्छेद 300 में यह कहा गया है कि भारत सरकार या किसी भी राज्य सरकार द्वारा अथवा उसके विरुद्ध अभियोग प्रस्तुत किया जा सकता है। यह अभियोग ससद् अथवा राज्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित अधिनियम के किसी प्रावधान के अन्तर्गत होना चाहिए। स्पष्ट है कि सघीय सरकार अथवा राज्य-सरकारों को अभियुक्त बनाया जा सकता है, किन्तु जिन परिस्थितियों में ऐसा किया जाएगा, यह संसद् एवं राज्यों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा तय किया जाएगा। जब तक ऐसा नहीं किया जाता तब तक पूर्वस्थिति कायम रहने का प्रावधान है।

6. सरकारी अधिकारी विरोधी अभियोग (Suits against Public Officials)—समस्त सरकारी पदाधिकारी अपने कार्यों के लिए न्यायालयों के प्रति उत्तरदायी है। प्रशासन के किसी प्रकार की शिकायत होने पर कोई भी नागरिक न्यायालय की शरण ले सकता है। भारतीय संविधान राष्ट्रपति तथा राज्यपालों को न्यायिक कार्यवाही से मुक्त रखता है। राष्ट्रपति को उसके कार्यकाल में न बन्दी बनाया जा सकता है, न कारावास का दण्ड दिया जा सकता है। यदि व्यक्तिगत हैसियत में किये गए उसके कार्यों के विरुद्ध कोई कार्यवाही करनी है तो इसके लिए दो माह पूर्व सूचना देना आवश्यक है। उस पर महाभियोग लगाने की शक्ति केवल संसद् को प्राप्त है। राष्ट्रपति एव राज्यपालों को दी गई यह न्यायिक छूट उनके पद के गौरव एवं सम्मान के लिए है। वास्तविक कार्यपालिका अर्थात मन्त्रियों में से किसी को भी यह छूट नहीं दी गई है। राज्य-सरकार एवं संघ-सरकार के मन्त्रियों के विरुद्ध साधारण नागरिक की भाँति न्यायिक कार्यवाही की जा सकती है।

सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध की जाने वाली न्यायिक कार्यवाही प्रत्येक देश में भिन्न होती है। भारत में इस कार्यवाही का स्वरूप अधिकारी स्तर के अनुरूप तय होता है। इस सम्बन्ध में न्यायिक अधिकारियों एवं अधिकारियों के बीच अन्तर किया जाता है। ग्रेट ब्रिटेन में न्यायाधीशों को पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाती है। अपने पद की हैसियत से किये गए कार्यों के लिए वे कानूनी कार्यवाही से मुक्त रखे जाते हैं। उनके द्वारा दिये गए निर्णय पक्षपातपूर्ण, शत्रुतापूर्ण होने पर भी उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती। संयुक्त-राज्य अमेरिका में भी न्यायाधीशों को कुछ-कुछ इसी प्रकार की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है।

भारत में न्याय-पदाधिकारी रक्षा-अधिनियम 1950 के अनुसार न्यायाधीशों को स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। गैर-न्यायिक अधिकारियों के सम्बन्ध में भारतीय संविधान के अनुच्छेद 299 (2) में उल्लेख है कि "कोई भी अधिकारी ऐसे समझौते अथवा आश्वासन के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं है जो इस संविधान के अधीन या भारत-सरकार के किसी अधिनियम के अधीन निर्मित या सम्पन्न किया गया हो।" सार्वजनिक अधिकारी अपने अवैध तथा असामाजिक कार्यों के लिए उत्तरदायी है तथा एक साधारण नागरिक की भाँति देश के कानून के अधीन रखा गया है। जब एक सार्वजनिक अधिकारी द्वारा उसके पद की हैसियत से कोई अपराध किया जाता है तो

उसके विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही के लिए एक निश्चित प्रक्रिया अपनाई जाती है। यदि वह अपने कर्त्तव्य क्षेत्र के बाहर कार्य को करता है तो विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं होती। भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) के अनुसार जब एक व्यक्ति कानूनी भूल के कारण नहीं वरन् तथ्यों की भूल के कारण किसी कार्य को करने के लिए अपने आप को निष्ठापूर्वक बाध्य समझता है तो उस व्यक्ति का व्यवहार अपराध की सीमा में नहीं आता तथा उसके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती।

7. प्रशासनिक कार्यों तथा निर्णयों की न्यायिक पुनरीक्षा अथवा न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review of Administrative Action and Decisions)—न्यायपालिका को यह अधिकार दिया जाता है कि वह समय-समय पर प्रशासनिक कार्यों की देख-रेख करती रहे। यदि कोई प्रभावित व्यक्ति न्यायालय में प्रशासन के विरुद्ध शिकायत करता है तो न्यायालय प्रशासन के व्यवहार की पुनरीक्षा या पुनरावलोकन कर सकता है।

ग्रेट ब्रिटेन में न्यायिक पुनरावलोकन को कोई स्थान नहीं है। वहाँ अनेक प्रशासनिक कार्य ऐसे हैं जिन्हें संसदीय कानून ने न्यायिक पुनरीक्षा के क्षेत्र से बाहर रखा है। कुछ ऐसे भी विषय हैं जिन्हें प्रक्रिया के कारण न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र से हटा लिया गया है। यदि किसी ब्रिटिश अधिकारी के विरुद्ध न्यायपालिका में कार्यवाही करनी है तो इसके लिए यह सिद्ध करना होगा कि उसने अपने अधिकार-क्षेत्र का अतिक्रमण किया है अथवा शक्ति का दुरुपयोग किया है या कानून का उल्लंघन किया है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में कांग्रेस का कानून किसी भी प्रशासनिक कार्य अथवा निर्णय को न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र से बाहर नहीं रखता। वहाँ की संसद ग्रेट ब्रिटेन की तरह सार्वभौम नहीं है वरन् उसके स्वयं के कार्यों पर भी न्यायिक-पुनरीक्षा की जा सकती है। यदि अमेरिकी काँग्रेस न्यायपालिका की इस शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाना चाहे तो वह संविधान के विरुद्ध माना जाएगा। आत्म-निषेध द्वारा अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी शक्ति को स्वयं सीमित किया है तथा अनेक प्रशासनिक व्यवहारों पर विचार न करने का संकल्प लिया है। इतने पर भी उल्लेखनीय है कि ये आत्म-निषेध की प्रक्रियाएँ कोई कठोर नियम नहीं होते और इनको समय तथा परिस्थिति के अनुसार बदला जा सकता है।

न्यायिक पुनरीक्षा प्रशासन के क्षेत्र में कहाँ तक प्रभावशील होती है, यह बहुत समय से एक विचारणीय विषय रहा है। अमेरिका में न्यायालय केवल निर्णय के स्वरूप सम्बन्धी औचित्य को ही नहीं देखता वरन् उससे सम्बन्धित परिस्थितियों एवं विषय-वस्तु को भी देखता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रशासकीय प्रक्रिया कानून, 1946 के अनुसार न्यायालय को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह— (1) गैर-कानूनी रूप से रोके गए अथवा विवेकहीन रूप से निलम्बित किये गए प्रशासनिक कार्यों को सम्पन्न करने पर जोर दे; (2) प्रशासनिक कार्यों एवं निर्णयों को गैर-कानूनी ठहराकर उन पर रोक लगाए। न्यायालय उन सभी प्रशासनिक कार्यों एवं निर्णयों की पुनरीक्षा कर सकता है जो उसकी दृष्टि से—(i) स्वेच्छाचारी शक्ति का दुरुपयोग करने वाले अथवा कानून के विरुद्ध हैं, (ii) सांविधानिक अधिकार या विशेषाधिकार के विरुद्ध हैं, (iii) कानूनी अधिकार क्षेत्र के बाहर हैं, (iv) कानून द्वारा मान्य प्रक्रिया से भिन्न हैं, अथवा (v) तथ्यों के विपरीत हैं।

भारत में न्यायिक पुनरीक्षा तथा पुनरावलोकन के विषय पर अभी तक गम्भीरता से विचार नहीं किया गया है। सामान्य रूप से न्यायपालिका प्रशासनिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करती है। भारतीय संविधान ने न्यायिक पुनरीक्षा के क्षेत्र पर अनेक सीमाएँ लगाई हैं। बहुत से विषय ऐसे हैं जिन पर प्रशासकीय निर्णयों को अन्तिम समझा जाता है। *न्यायिक सक्रियता के सिद्धान्त और पब्लिक इन्ट्रेस्ट लिटिगेशन (PIL) की नई स्थितियों ने भारतीय प्रशासन में अनियमितता में एवं भ्रष्टाचार के तथ्य उजागर कर लोक सेवकों के उत्तरदायित्व को सुनिश्चित किया है।*

महत्त्वपूर्ण न्यायिक विचार

(The Important Judicial Remedies)

सरकारी निकायों द्वारा किये गए शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध समय-समय पर किये जाने वाले प्रमुख न्यायिक उपचारों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—

1. कानूनी उल्लंघन की शक्तियाँ (Statutory Default Powers)—उल्लंघन की शक्तियाँ उस समय प्रयुक्त की जाती हैं जबकि एक उच्चस्तर की प्रशासनिक सत्ता की दृष्टि से एक निकाय उन सार्वजनिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने में असफल रहा हो जोकि उसे सौंपे गए थे। इन शक्तियों का प्रयोग बहुत कम किया जाता है। इन्हें हम एक बड़ी छड़ी की संज्ञा दे सकते हैं जिसके द्वारा सत्ता-हनन की चुनौती दी जा सकती है। उच्चतर सत्ता किसी के शिकायत करने पर पहल करती है। यह उल्लंघन की शक्ति केवल कर्त्तव्यों को सम्पन्न

करने पर ही प्रयुक्त नहीं की जा सकती, वरन् शक्तियों का प्रयोग न करने पर भी की जा सकती है। परमादेश (Mendamus) की अवहेलना का अर्थ न्यायपालिका की आज्ञा का उल्लंघन होता है। कानूनी उल्लंघन की शक्तियों के सम्बन्ध में लिखते हुए प्रो. स्मिथ ने बताया है "वे लोक प्रशासन के अन्तिम हथियार हैं। वे एक अवरोध के रूप में कार्य करते हैं तथा उनका अस्तित्व ही स्थानीय प्रशासन को याद दिलाने के लिए पर्याप्त है कि अन्तिम निर्णायक शक्तियाँ ह्वाइट हॉल में स्थित हैं।"

2. सार्वजनिक कर्त्तव्य सम्पन्न करने सम्बन्धी उपचार (Remedies to Perform Public Duties)—अंग्रेजी कानून की भाँति भारतीय कानून भी सार्वजनिक कर्त्तव्यों को सम्पन्न न करने पर दण्ड की व्यवस्था करता है। ऐसी स्थिति में प्रमुख न्यायिक उपचार कई हैं, जैसे—(i) अभियोग लगाना तथा उन प्रशासनिक सत्ताओं के विरुद्ध फौजदारी प्रतिबन्ध लगाना जिन्होंने अपने सार्वजनिक कार्यों की अवहेलना की है। (ii) घोषणा की कार्यवाही अर्थात् अधिकारी के कर्त्तव्य-पालन न करने पर जो नुकसान हुआ है उसे वसूल करने के लिए कोई कार्यवाही की जाए। (iii) विशेष सम्पन्नता की कार्यवाही—विशेष राहत अधिनियम, 1963 के अनुसार एक व्यक्ति सम्पत्ति जब्त करने के विरुद्ध राहत पाने के लिए अभियोग लगा सकता है। (iv) नुकसान के लिए कार्यवाही—जब कोई व्यक्ति यह दावा करता है कि एक प्रशासनिक सत्ता ने अपने कानूनी कर्त्तव्यों की अवहेलना की है तो उसके लिए यह उपचार प्रयुक्त किया जाता है। (v) परमादेश की कार्यवाही प्रभावित व्यक्ति एक सार्वजनिक सत्ता द्वारा अपने कर्त्तव्यों को सम्पन्न करवाने के लिए परमादेश की प्रार्थना कर सकता है। यह सार्वजनिक सत्ता को उसके कानूनी कर्त्तव्यों को सम्पन्न कराने का अन्तिम साधन है। यह न्यायपालिका की एक आज्ञा होती है जिसमें सत्ता को वह कार्य करने के लिए कहा जाता है जिसकी उसने अवहेलना की है। यह उपचार न्यायपालिका की इच्छा पर निर्भर है। इसे एक अधिकार के रूप में नहीं माँगा जा सकता। परमादेश का उल्लंघन करना न्यायपालिका की आज्ञा के उल्लंघन करने की भाँति दण्डनीय है।

3. स्वेच्छापूर्ण शक्तियों का प्रयोग (Exercise of Discretionary Powers)—सार्वजनिक अधिकारियों को कुछ स्वेच्छापूर्ण शक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। ये अधिकारी इन स्वेच्छापूर्ण शक्तियों को प्रयोग में न लाएँ अथवा उनका दुरुपयोग करें या निर्धारित से अधिक काम में लाएँ तो इनके विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती है। इस सम्बन्ध में न्यायपालिका द्वारा जो कदम उठाए जा सकते हैं वे कुछ सिद्धान्तों पर आधारित होते हैं—(अ) जिस सत्ता को स्वेच्छापूर्ण शक्ति दी गई है उसे उस स्वेच्छा का प्रयोग करने के लिए विवश किया जा सकता है, किन्तु किसी विशेष रूप में प्रयोग करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। (ब) स्वेच्छापूर्ण शक्ति का प्रयोग सामान्यतः उसी सत्ता द्वारा किया जाना चाहिए जिसे वह सौंपी गई है अथवा जो इसका प्रयोग करने के लिए अधिकृत अथवा सक्षम है। (स) प्रशासनिक सत्ता को सामान्यतः स्वयं ही एक कार्य का निर्णय लेना चाहिए। उसे किसी अन्य निकाय की आज्ञा के अधीन नहीं रहना चाहिए। (द) स्वेच्छा की शक्तियों के प्रयोग में एक सत्ता को वह कार्य नहीं करना चाहिए जिसे करने के लिए प्रतिबन्ध है और न ही ऐसा करना चाहिए जिसे करने की शक्ति उसे नहीं सौंपी गई है। इस प्रकार, अधिकृत सत्ता को अपने अधिकार-क्षेत्र में रहकर ही कार्य करना चाहिए। (य) उसे निष्ठापूर्वक सभी सम्बन्धित बातों पर विचार करके और असम्बन्धित बातों को छोड़कर कार्य करना चाहिए।

4. असाधारण उपचार (Extraordinary Remedies)—न्यायपालिका द्वारा प्रशासन पर नियन्त्रण रखने के लिए विभिन्न लेख जारी किए जाते हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32 (2) के अनुसार उच्चतम न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि वह नागरिकों के अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं की रक्षा के लिए आवश्यक आदेश, निर्देश तथा लेख प्रसारित करे। अनुच्छेद 226 उच्च न्यायालय को यह सभी शक्तियाँ प्रदान करता है। उच्च न्यायालय इन लेखों को किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जारी कर सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए जारी करेगा और दूसरे न्यायालयों को मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए यह शक्ति प्रदान की जाएगी। दूसरे न्यायालयों की लेख जारी करने की शक्ति सर्वोच्च न्यायालय की शक्ति की अनुपूरक है।

इन असाधारण उपचारों का इतिहास काफी पुराना है तथा इसे ब्रिटिश सांविधानिक इतिहास में देखा जा सकता है। वहाँ इनको न्याय के मूल-स्रोत राजा के नाम पर प्रसारित 'विशेषाधिकार लेख' (Prerogative Writs) कहा जाता है। इन उपचारों को 'असाधारण' इसलिए कहा जाता है क्योंकि बन्दी प्रत्यक्षीकरण को छोड़कर अन्य सभी लेख न्यायालयों द्वारा किसी के अधिकार के रूप में नहीं वरन् उनकी स्वेच्छा से प्रसारित किए जाते हैं और केवल वहीं प्रसारित किए जाते हैं जहाँ अन्य साधन अपर्याप्त हों। प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण के इन विभिन्न लेखों का सहित उल्लेख निम्नानुसार किया जा सकता है—

1. बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus)—लैटिन भाषा के इस शब्द का अर्थ है—'शरीर का प्रस्तुत करना।' इस लेख का अर्थ ऐसे व्यक्ति को आज्ञा देना है जिसने किसी अन्य व्यक्ति को बन्दी बना रखा है। इस लेख के द्वारा उस व्यक्ति को यह आज्ञा दी जाती है कि बन्दी बनाए गए व्यक्ति को वह न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करे। इस

प्राचीन कॉमन लॉ (Common Law) लेख का प्रमुख लक्ष्य गैर-कानूनी रूप से बन्दी बनाए गए व्यक्ति की स्वतन्त्रता का संरक्षण होता है। इसके द्वारा बन्दी बनाये गए व्यक्ति को तुरन्त ही न्यायालय में प्रस्तुत किया जाता है ताकि उसके बन्दी बनाने की वैधानिकता प्रकट हो सके। भारतीय संविधान ने इस प्रकार के कई लेख प्रसारित करने की सिफारिश की है। व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए यह लेख एक कवच का काम करता है।

बन्दी प्रत्यक्षीकरण के लेख द्वारा कोई भी सरकारी विभाग या उसका कोई अधिकारी सामान्य नागरिक के अधिकारों को छीन नहीं सकता। जब कभी किसी सरकारी अधिकारी द्वारा ऐसा प्रयास किया जाता है तो इस लेख सम्बन्धी न्यायिक नियन्त्रण के अधीन उसके विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती है। आपातकाल में नागरिकों के इस अधिकार को स्थगित किया जा सकता है। भारत में निवारक नजरबन्दी कानून तथा आन्तरिक सुरक्षा कानून भी इसकी शक्ति को सीमित करते हैं।

2. परमादेश (Mendamus)—इस लेख का शाब्दिक अर्थ है 'आज्ञा देना'। यह एक ऐसा लेख होता है जो सरकारी अधिकारियों के लिए प्रसारित किया जाता है। इसके द्वारा यह आज्ञा दी जाती है कि वे अपने कर्त्तव्यों का पालन करें जिनकी उन्होंने अब तक अवहेलना की है। यह लेख उच्च न्यायालय द्वारा किसी व्यक्ति, निगम या अधीनस्थ न्यायालय को निर्देशित करने के लिए जारी किया जाता है। यह लेख एक अधिकार के रूप में प्रसारित नहीं कराया जा सकता, न्यायालय द्वारा स्वेच्छा से प्रसारित किया जाता है। इस लेख के द्वारा न्यायालय सरकारी अधिकारी को निश्चित ढंग से कार्य करने के लिए बाध्य कर सकता है। डॉ. एल. डी. व्हाइट के अनुसार, यह लेख न्यायालय द्वारा सामान्य रूप से किसी व्यक्ति की याचिका पर प्रसारित किया जाता है ताकि अधिकारी अपने कर्त्तव्य का निर्वाह कर सके।[1]

3. निषेधाज्ञा (Prohibition)—यह लेख उच्चस्तरीय न्यायालय द्वारा नीचे के न्यायालय को जारी किया जाता है और इसका उद्देश्य नीचे के न्यायालय को गैर-कानूनी कार्य करने से रोकना होता है। निषेधाज्ञा केवल सरकारी अधिकारी के विरुद्ध ही प्रसारित की जा सकती है, न कि किसी व्यक्तिगत संस्था के विरुद्ध। इस प्रकार की आज्ञाएँ प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने वाले को ही नहीं, बल्कि किसी को भी प्रसारित की जा सकती है। यह लेख अधीनस्थ न्यायालयों को विवादपूर्ण विषयों पर विचार करने से रोकने के लिए भी प्रसारित किया जाता है। इसका प्रभाव-क्षेत्र न्यायिक तथा अर्द्ध-न्यायिक संस्थाएँ होती हैं। प्रशासन पर इस साधन द्वारा बहुत कम नियन्त्रण रखा जाता है। परमादेश (Mendamus) से भिन्न इस लेख द्वारा किसी कार्यवाही को प्रतिबन्धित किया जाता है।

4. उत्प्रेषण-लेख (Certiorari)—इस लेख का शाब्दिक अर्थ है, 'प्रमाणित होना' या 'निश्चित होना'। इसकी परिभाषा करते हुए इसे एक ऐसा लेख माना जाता है जो किसी उच्च न्यायालय द्वारा निम्न अभिलेख न्यायालय या अन्य न्यायिक अभिकरण या अधिकारी को प्रसारित किया जाता है। इस लेख द्वारा अधीनस्थ कार्यालय में विचाराधीन विषय पर सूचना प्राप्त करने की माँग की जाती है। यह माँग प्राय ऐसे विषयों के सम्बन्ध में की जाती है जिनमें सामान्य विधि (Common Law) के अनुसार कार्य नहीं किया जा रहा है। इस लेख को प्राय न्यायिक कार्य के विरुद्ध ही प्रसारित किया जाता है। इसके आधार पर छोटी अदालत का निर्णय रुक जाता है अथवा खण्डित हो जाता है। यह लेख परमादेश और निषेधाज्ञा के गुणों का मिश्रण होता है क्योंकि इसके अनुसार कुछ करने के लिए और कुछ न करने के लिए आज्ञाएँ दी जाती हैं।

5. अधिकार-पृच्छा (Quo-warranto)—सरकारी अधिकारियों पर न्यायिक नियन्त्रण रखने की यह एक प्रत्यक्ष विधि है। स्पेलिंग (Spelling) के अनुसार, अधिकार-पृच्छा वह उपचार या प्रक्रिया है जिसके द्वारा राज्य उस दावे की वैधता के सम्बन्ध में पूछताछ करता है जिसे कोई पक्ष किसी पद या विशेषाधिकार के प्रति करता है। यदि यह दावा सही नहीं है तो राज्य दावेदार को पद के लाभ से वंचित कर सकता है या एक बार उचित प्रकार से लाभ प्राप्त करने तथा उसका उपयोग करने पर उसका दुरुपयोग किए जाने या प्रयोग किए जाने के कारण वह उस पद के लिए व्यवहृत बन चुका है तो राज्य उसे व्यवहृत घोषित कर पुन प्राप्त कर सकता है।[2] किसी भी कार्य की वैधानिकता जाँचने के लिए इस प्रकार का लेख निम्नांकित परिस्थितियों में प्रसारित किया जा सकता है—

(1) जिसके सम्बन्ध में यह लेख प्रसारित किया जा रहा है वह सरकारी होना चाहिए। किसी व्यक्तिगत या गैर-सरकारी कार्यालय के विरुद्ध यह लेख प्रसारित नहीं किया जा सकता।

(2) उस कार्यालय के कार्य सार्वजनिक प्रकृति के होने चाहिए।

(3) उस कार्यालय का कार्यकाल स्थायी होना चाहिए और नियुक्ति-कर्ता की इच्छा पर निर्भर नहीं होना चाहिए।

(4) जिस व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही की जाती है वह शक्तियों का वास्तविक प्रयोगकर्ता होना चाहिए।

---

1 *L D White*, Op cit., p 514

2 *Spelling* : Injunction and Other Remedies, Vol II, pp 15-16

न्यायिक नियन्त्रण लागू करने वाले ये समस्त साधारण व असाधारण उपचार प्रशासन को उसकी सीमाओं में कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। आलोचकों का कहना है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायिक नियन्त्रण एक महत्त्वपूर्ण उपाय है किन्तु फिर भी कभी-कभी इसकी अत्यधिक मात्रा प्रशासन को पंगु बना देती है।

6. आज्ञाएँ एवं घोषणाएँ (Injunctions and Declarations)—आज्ञा और घोषणा की कार्यवाही वैकल्पिक उपचार है। आदेश (Injunction) का उद्देश्य सत्ता को ऐसा कार्य करने से रोकना है जिसे करने की वह धमकी देती है अथवा जिसे दोहराने की धमकी देती है। कार्यपालिका को अधिकारों के अनुचित प्रयोग तथा धमकीपूर्ण त्रुटियों से रोकने के लिए और सम्पत्ति के अधिकारों का स्थायी रूप से उपभोग करने के लिए न्यायपालिका द्वारा आदेश जारी किए जाते हैं। न्यायपालिका आदेश द्वारा स्वेच्छा से अवरोधक राहत प्रदान कर सकती है। यह अस्थायी और निरन्तर दोनों प्रकार की हो सकती है। अस्थायी आदेश एक विशेष समय तक चलता है अथवा यह न्यायपालिका के भावी आदेश तक प्रभावशील रहता है। यह अभियोग के किसी भी स्तर पर दिया जा सकता है तथा यह दीवानी प्रक्रिया की संहिता द्वारा विनियमित होता है।

आदेश एक ऐसी न्यायिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक पक्ष को कुछ कार्य करने से रोका जाता है अथवा कुछ विशेष कार्य करने के लिए कहा जाता है। यह निषेधात्मक रूप से अवरोधात्मक होता है और सकारात्मक रूप से परमादेशात्मक (*Mandatory*) होता है। *आदेश के द्वारा व्यक्ति के अधिकारों में होने वाले हस्तक्षेप को रोका* जा सकता है। यह अशिष्टपूर्ण व्यवहार के सम्बन्ध में अधिक उपयुक्त होता है।

घोषणा (Declaration) में भी आदेश जैसे ही सिद्धान्त का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार के कार्य में प्रभावित व्यक्ति न्यायालय से केवल कानून की व्याख्या करने को कहता है। यदि आवश्यक हो तो आगे की प्रक्रियाओं में अन्य उपचार के लिए भी माँग की जा सकती है। जब एक बार कानून निर्धारित हो जाता है तो प्रशासनिक सत्ता उसके अनुसार ही आवश्यक कार्यवाही करती है। प्रो. सालमण्ड (Prof. Salmond) के कथनानुसार, प्रभावित व्यक्ति न्यायालय की सहायता केवल इसलिए नहीं माँगता कि उसके अधिकारों का उल्लंघन हुआ है वरन् इसलिए कि वे अनिश्चित हैं। यह जरूरी नहीं है कि वह न्यायालय से अपने छीने गए अधिकारों को दिलाने की माँग करे, वरन् वह इस बात की एक सत्तापूर्ण घोषणा करना चाह सकता है कि वह उसका भी अधिकार है। इस प्रकार की घोषणा के आधार पर ही वह भविष्य में कार्यवाही कर सकता है। सामान्य रूप से न्यायपालिका स्वेच्छा का प्रयोग नहीं करती, किन्तु न्याय के हित में ऐसा करना आवश्यक हो तो वह करती है।

लोक प्रशासन पर पूर्ण नियन्त्रण में ये सभी पहलू सम्मिलित होते हैं। यह नियन्त्रण राष्ट्रीय, प्रान्तीय, स्थानीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में सामान्य होता है। यह कहा जाता है कि प्रशासनिक क्रियाओं के विरुद्ध कानूनी राहत के उपचार चाहे कितने भी पूर्ण क्यों न हों, ये उस समय तक प्रभावशील नहीं हो सकते जब तक कि इन्हें स्वयं ऐसे लोक प्रशासन पर ऐच्छिक सहयोग प्राप्त न हो जो उत्तरदायी, ईमानदारी और अभ्रष्टाचारी है।

न्यायिक नियन्त्रण की सीमाएँ (Limitations of Judicial Control)

1. न्यायिक प्रक्रिया स्वयमेव सचालित नहीं होती। यह शक्ति के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का संरक्षण तभी करती है जबकि व्यक्ति स्वयमेव ही बहुत न्यायिक कार्यवाही का व्यय और श्रम उठाने के लिए तैयार हो।

2. न्यायालयों की प्रक्रिया स्वयमेव महँगी होती है। कोई गरीब या समझदार व्यक्ति मुकदमेबाजी में अपना घर फूँकने की अपेक्षा थोड़े बहुत अन्याय को सहना अधिक उपयुक्त समझता है।

3. न्यायिक कार्यवाही लम्बे समय तक चलती है। कानूनी प्रक्रिया की औपचारिकताएँ इतनी जटिल होती हैं कि साधारण व्यक्ति इसके चंगुल से निकल नहीं पाता।

4. सर्वोच्च न्यायालय और राज्यों में उच्च न्यायालयों के पास लाखों मुकदमे वर्षों से अनिर्णित पड़े हैं। इससे लोगों को सही समय पर उचित न्याय नहीं मिल पाता है। लोगों का न्यायिक प्रक्रिया से ही विश्वास उठने लगता है।

न्यायिक निर्णय को प्रभावशील तथा सार्थक बनाने के लिए कानूनी शक्ति को सरल और कम खर्चीली बनाना परमावश्यक है। इसके अतिरिक्त योग्य न्यायाधीशों की नियुक्ति की जानी चाहिए। यूनानी दार्शनिक सुकरात का यह कथन आज भी पूर्णतया सत्य है कि "न्याय ऐसे न्यायाधीश पर निर्भर है जो सज्जनतापूर्वक बात सुने, बुद्धिमता के साथ उत्तर दे, गहनता के साथ विचार करे और निष्पक्षतापूर्वक निर्णय करे।"

नागरिक एवं प्रशासन

(Citizens and Administration)

आधुनिक राज्य व्यवस्था (State System) में प्रशासन का महत्वपूर्ण है । सभी शासन-व्यवस्थाओं के संचालन में प्रशासन की अहम् भूमिका है । किसी देश की प्रशासकीय व्यवस्था की सफलता और असफलता उसमें कार्यरत लोकसेवाओं या नौकरशाही पर निर्भर करती है । अतः प्रशासन में राज्य के शासन की वास्तविक शक्तियाँ केन्द्रित हो गई हैं । आधुनिक लोक-कल्याणकारी राज्यों के कार्यों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है । फलतः राज्य की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में दखलन्दाजी बहुत अधिक बढ़ गई है । नागरिक जीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं है जिस पर राज्य का हस्तक्षेप नहीं हो । ऐसी स्थिति में प्रशासन-तन्त्र और नागरिकों के बीच अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित हो गया है । नागरिकों के जीवन को प्रभावित करने में प्रशासन की भूमिका निम्नलिखित कारणों से महत्वपूर्ण है—

1. औद्योगिक क्रान्ति की चुनौतियाँ और प्रशासन (Challenges of Industrial Revolution and Administration)—औद्योगिक क्रान्ति से जिस आधुनिक औद्योगिक और नगरीय सभ्यता का विकास हुआ, उनकी जटिलताओं ने राज्य के कार्यों में भारी वृद्धि कर दी । राज्य के कार्यों का सफलतापूर्वक निर्वाह करने के लिए आधुनिक प्रशासन-तन्त्र या नौकरशाही की स्थापना की गई । आज राज्य के कार्यों में विशेषीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, जिसको सम्पादित करने के लिए विशाल प्रशासनिक अभिकरण स्थापित किये जा रहे हैं । आधुनिक औद्योगिक और नगरीय सभ्यता ने प्रशासन की भूमिका को महत्वपूर्ण बना दिया है तथा उसके हाथों में अधिकाधिक शक्ति केन्द्रित हो गई है ।

2. प्रशासन राज्य का महत्वपूर्ण अंग (Administration as an Important Organ of the State)—सरकार राज्य का महत्वपूर्ण अंग है, लेकिन सरकार की बढ़ती माँग प्रशासन तन्त्र की महत्वपूर्ण भूमिका बन गई है । अब प्रशासन-तन्त्र या नौकरशाही को राज्य का अलग से एक अंग के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है । इससे नागरिक-जीवन को प्रभावित करने में प्रशासन की भूमिका में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है ।

3. प्रशासन के आकार में वृद्धि (Increase in the Size of the Administration)—आधुनिक युग में राज्य के कार्यों में वृद्धि के साथ-साथ प्रशासन के आकार में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है । नये आयोग, निगम और प्रशासनिक अभिकरण अस्तित्व में आते जा रहे हैं । विश्व के सभी देशों में सरकार के विभिन्न संगठनों में प्रशासकीय कर्मचारियों की संख्या में भारी वृद्धि होती जा रही है । इससे नागरिकों की गतिविधियों को नियन्त्रित करने में प्रशासन की भूमिका अहम् बनती जा रही है ।

4. प्रशासकीय राज्य की अवधारणा (Concept of Administrative State)—वर्तमान राज्य को 'प्रशासकीय राज्य' (Administrative State) की संज्ञा दी जाती है । लोक प्रशासन में प्रशासकीय राज्य की अवधारणा एक नूतन विचार है । आधुनिक राज्य केवल परम्परागत एवं सीमित कार्य नहीं करते । लोक-कल्याणकारी राज्य के विकास के साथ सरकार के कार्यों में, सर्वसाधारण की सुरक्षा और हित क्षेत्र में भारी वृद्धि हुई है जिसने राज्य के स्वरूप को अत्यधिक जटिल बना दिया है । आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में सरकार की कार्यपालिका शाखा और उसमें स्थाई प्रशासन का महत्व दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता जा रहा है । लोक प्रशासन को आधुनिक शासन-व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु मान लिया गया है जिसके द्वारा मानव जीवन की

अनन्त आवश्यकताएँ पूरी की जाती हैं। लोक प्रशासन आधुनिक सभ्य समाज का मूलाधार बन गया है और इसने राज्य के उस स्वरूप ने जन्म लिया है जिसे हम 'प्रशासकीय राज्य' (Administrative State) कहते हैं। इस प्रकार राज्य का यह स्वरूप, जिसमें स्थाई प्रशासन, नौकरशाही, लोक प्रशासन केन्द्रीय महत्व प्राप्त कर चुका है, व्यापक आकार धारण कर अत्यन्त शक्तिशाली बन चुका है, 'प्रशासकीय राज्य' की अवधारणा ने नागरिक जीवन को प्रभावित किया है।

5. प्रशासन सामाजिक परिवर्तन के अभिकरण के रूप में (Administration as an Instrument of Social Change)—प्रशासन या लोक प्रशासन को सभ्यता का मूलाधार, सभ्य जीवन का संरक्षक माना जाता है। यह सामाजिक परिवर्तन का एक सशक्त अभिकरण है। प्रशासन सामाजिक परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह कर सामाजिक जीवन को गतिशील और जीवन्त बनाये रखता है। प्रशासन की इस भूमिका के कारण ही उसकी वैधता और औचित्यता बनी रहती है। विकासशील देशों में प्रशासन, सामाजिक परिवर्तन के सशक्त अभिकरण की भूमिका के रूप में आधुनिकीकरण की ओर उन्मुख हो रहा है।

6. प्रशासन द्वारा लोक-कल्याणकारी भूमिका का निर्वाह करना (Performance of Welfare Activities by the Administration)—वर्तमान राज्य को लोक-कल्याणकारी राज्य की संज्ञा दी जाती है। इसने प्रशासन को राज्य का वास्तविक 'सत्ता-केन्द्र' (Power Centre) बना दिया है। प्रशासन द्वारा देश की सुरक्षा, आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था को बनाये रखना, न्याय का प्रबन्ध, आर्थिक गतिविधियों का सम्पादन, डाक एवं तार की व्यवस्था, रेलों का संचालन, विधि-निर्माण, शिक्षा की व्यवस्था, सफाई एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन, यातायात के साधनों की व्यवस्था, व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ावा देना, कृषि तथा उद्योग-धन्धों का विकास करना, सामाजिक बुराइयों तथा कुरीतियों का उन्मूलन करते हुए सामाजिक सुधार सम्पन्न करना, मनोरंजन की सुविधाओं की व्यवस्था करने, आवास की व्यवस्था करने, रोजगार का प्रबन्ध करने तथा बुढ़ापे की सुरक्षा करने जैसे कार्यों को सम्पन्न किया जाता है।

लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने प्रशासन को राष्ट्रीय क्षितिज तक सीमित नहीं रखा है, अपितु उसकी गतिविधियों को अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज तक विस्तृत कर दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की गतिविधियों में सहयोग करने, मानवाधिकारों का संरक्षण करने तथा विश्व-शान्ति को बनाये रखने जैसे दायित्वों का निर्वाह प्रशासन द्वारा किया जाता है। लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के अभ्युदय ने नागरिकों तथा प्रशासन को नया स्वरूप प्रदान किया है।

7. प्रशासन की न्यायिक भूमिका (Judicial Role of the Administration)—वर्तमान समय में प्रशासन की सुरक्षात्मक तथा विकासात्मक भूमिका ही नहीं है, अपितु यह न्यायिक कार्यों का भी निर्वाह करता है। अनेक ऐसे मामले, जिनकी सुनवाई न्यायालयों अथवा न्यायपालिका में नहीं होती, उनकी सुनवाई प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा की जाती है। फ्रान्स में प्रशासकीय विधि तथा प्रशासकीय न्यायालय की व्यवस्था है।

8. प्रशासन की आर्थिक नियोजन में भूमिका (Role of Administration in Economic Planning)—सभी देशों में विकास के लिए आर्थिक नियोजन की पद्धति अपनायी जाती है। इस कार्य के लिए एक विशाल तथा अनुभवी प्रशासन-तन्त्र की आवश्यकता होती है। प्रशासकों को परिस्थितियों से निपटने और योजनाओं को विभिन्न स्तरों पर लागू करने के लिए व्यापक शक्तियाँ सौंपी जाती हैं। प्रशासन-तन्त्र देश के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन पर किसी न किसी रूप में छाया रहता है।

9. सार्वजनिक क्षेत्र और प्रशासन (Public Sector and Administration)—वर्तमान समय में बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार होता जा रहा है। फलतः लोक प्रशासन को शक्तिशाली बना दिया है। विभागीय उपक्रमों, सार्वजनिक निगमों तथा सरकारी कम्पनियों आदि की स्थापना के साथ-साथ प्रशासन-तन्त्र के आकार तथा शक्तियों में भारी वृद्धि हुई है।

10. संविधान और प्रशासन (Constitution and Administration)—आधुनिक राज्यों में प्रशासन ने केन्द्रीय स्थान प्राप्त कर लिया है। संविधान में प्रशासन के संस्थागत तथा प्रक्रियागत स्वरूप का स्पष्ट उल्लेख है। भारत के संविधान द्वारा प्रशासन को संरक्षण प्रदान किये जाने से उसका वास्तविक महत्व स्वतः बढ़ जाता है, क्योंकि संविधान के माध्यम से उसे सरकार का 'चतुर्थ अंग' (Fourth Organ) स्वीकार किया जाने लगा है।

11. व्यवस्थापन तथा प्रशासन (Legislation and Administration)—सभी देशों में व्यवस्थापन का कार्य व्यवस्थापिकाओं द्वारा किया जाता है। उनके द्वारा सभी अधिनियम पारित किये जाते हैं, लेकिन व्यवस्थापिकाओं के अधिवेशन बहुत कम सम्पन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में व्यवस्थापन-क्षेत्र में प्रत्यायोजित या प्रदत्त विधान (Delegated Legislation) का सहारा लिया जाता है। इससे प्रशासन के अधिकार तथा शक्तियों में भारी वृद्धि हुई है। विधि निर्माण का काम बढ़ जाने, समयाभाव होने, दिन-प्रतिदिन की प्रशासकीय बारीकियों का पूर्ण ज्ञान न रख पाने के कारण संसद् केवल कानून पास कर देती है और उसके स्पष्टीकरण का कार्य कार्यपालिका के कन्धों पर आ जाता है, जिसे मन्त्रीगण अधिकारियों पर छोड़ देते हैं। इस तरह विभागों को यह छूट मिल जाती है कि वे विधि के आवश्यक विनियम बना दें जिसका प्रभाव विधियों के समान होता है। इस प्रकार आज व्यवस्थापिका विभाग द्वारा व्यवस्थापन सम्बन्धी अपने अधिकार एक बड़ी सीमा तक प्रशासनिक विभागों को सौंप दिए गए हैं। इस स्थिति ने नौकरशाही अथवा स्थायीय प्रशासन को शक्तिशाली बना दिया है। निस्संदेह, प्रदत्त विधान के कारण प्रशासन और जनता के बीच प्रत्यक्ष संवाद स्थापित हो गया है।

12. आतंकवाद की चुनौती तथा प्रशासन की भूमिका (Challenges of Terrorism and the Role of Administration)—वर्तमान समय में विश्व के सभी देशों में आतंकवादी गतिविधियों के बढ़ते विस्तार के कारण जन-जीवन बुरी तरह से प्रभावित हुआ है। आतंकवादियों द्वारा हिंसक वारदातें जैसे जघन्य तरीकों का सहारा लिया जाता है। इससे नागरिकों में असुरक्षा की भावना का विकास होता है तथा उनका मनोबल गिरता है। लोकतान्त्रिक मूल्यों तथा आदर्शों पर प्रश्न-वाचक चिह्न लग जाता है। ऐसी स्थिति में प्रशासन की भूमिका और उत्तरदायित्व चुनौतीपूर्ण बन जाता है। फलतः प्रशासन से यह अपेक्षा की जाती है कि वह आतंकवाद की चुनौती को सफलतापूर्वक नियन्त्रित करे। ऐसा कर वह न केवल जन-विश्वास अर्जित कर सकता है, अपितु अपनी वैधता तथा विश्वसनीयता भी बनाये रख सकता है।

13. साम्प्रदायिकता की चुनौती तथा प्रशासन (Challenges of Communalism and Administration)—धर्मान्धता के बढ़ते विस्तार, साम्प्रदायिकता का सहारा लेने वाले राजनीतिक दलों, साम्प्रदायिक संगठनों की दूषित भूमिका राजनीतिक नेतृत्व द्वारा 'वोट की राजनीति' को दृष्टिगत रखकर साम्प्रदायिकता की भावना को बढ़ावा देने तथा अन्तर्राष्ट्रीय साम्प्रदायिक संगठनों की भूमिका ने इस समस्या को भयावह बना दिया है। यह स्थिति किसी देश के नागरिक जीवन को अस्त-व्यस्त कर देती है। इसका निराकरण प्रशासनिक दक्षता एवं उसकी सक्षमता द्वारा किया जा सकता है। लोक प्रशासन का दायित्वपूर्ण और संवेदनशील आचरण साम्प्रदायिक चुनौती का प्रभावपूर्ण ढंग से सामना करके साम्प्रदायिक सद्भाव तथा सौहार्द का वातावरण स्थापित करने में सफल हो सकता है।

14. प्रादेशिकता की चुनौती तथा प्रशासन (The Challenges of Regionalism and Administration)—प्रादेशिकता की विकृतियाँ राष्ट्रीय एकता तथा अखण्डता के सम्मुख गहन चुनौती हैं। प्रादेशिकता की भावनाओं के कारण क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का आविर्भाव होता है। ये क्षेत्रीय राजनीतिक दल अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु प्रादेशिक भावनाओं को भड़काते हैं। अन्तर्राज्यीय सीमा-विवाद और अन्तर्राज्यीय नदी विवाद इसी प्रादेशिकता के परिणाम होते हैं। इसके कुप्रभावों से राष्ट्रीय एकता तथा अखण्डता की रक्षा करने में प्रशासन की गुरुतर भूमिका होती है। लोक सेवक प्रादेशिकता के कुप्रभावों के प्रति जनता को अवगत कराकर उन राष्ट्रीयता की भावनाओं का संचार करने में सहायक बन सकते हैं।

15. निर्णय-प्रक्रिया और प्रशासन (Decision Making Process and Administration)—लोकतान्त्रिक देशों में राजनीतिक नेतृत्व द्वारा निर्णय लिये जाते हैं। लोक सेवकों द्वारा राजनीतिक नेतृत्व या मन्त्रियों को निर्णय-प्रक्रिया में सहायता और सलाह दी जाती है। इसीलिए यह माना जाता है कि लोक सेवकों की उचित सलाह पर मन्त्रियों द्वारा लिये हुए निर्णयों की सार्थकता सिद्ध होती है। अतः लोक सेवकों का योग्य होना आवश्यक है। निर्णय-प्रक्रिया में प्रशासन की महत्वपूर्ण भूमिका ने इसके महत्व में वृद्धि की है।

16. राजनीतिक सहभागिता और प्रशासन (Political Participation and Administration)—किसी राजनीतिक व्यवस्था की सफलता इस बात पर निर्भर है कि उसमें जनसाधारण सक्रिय सहभागी हो। इस भावना को विकसित करने के लिए राजनीतिक जागृति होना आवश्यक है। जन-साधारण में राजनीतिक चेतना का विकास करने में प्रशासन की सार्थक तथा प्रभावशाली भूमिका रहती है। प्रशासक जनता के कार्यों के द्वारा उन्हें वस्तुस्थिति से परिचित करा सकते हैं। ऐसा करके वे जन-साधारण को शिक्षित करते हैं।

17. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा प्रशासन (International Relations and Administration)—वर्तमान युग विज्ञान तथा तकनीकी का युग है। विश्व की दूरियाँ कम होती जा रही हैं और राष्ट्रों के मध्य सहयोग का नया वातावरण विकसित होता जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भाव के विकास में प्रशासन की भूमिका निर्विवाद सिद्ध है। राष्ट्रों के बीच राजनयिक प्रतिनिधियों का आदान-प्रदान और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संचालन करने में प्रशासक सार्थक भूमिका का निर्वाह करते हैं।

18. जनता के प्रति उत्तरदायी (Responsiveness)—प्रशासन नागरिकों के प्रति उत्तरदायी है। कोई प्रशासक या लोक सेवक जनता की अवहेलना का दुस्साहस नहीं कर सकता है। जनतान्त्रिक शासन व्यवस्था में जनता ही शक्ति तथा सत्ता की वास्तविक अधिकारी होती है और प्रशासन जनता के प्रति सेवा-भाव प्रदर्शित करने में अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री समझते हैं। फलतः प्रशासक जन-कल्याण की भावना को साकार करने में सदैव तत्पर रहते हैं।

19. प्रशासन विकास अभिकरण के रूप में (Administration as an Instrument of Development)—वर्तमान समय में प्रशासन का मुख्य दायित्व 'विकास' कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना है। लोक सेवाएँ आर्थिक विकास की गतिविधियों के क्रियान्वयन में अत्यन्त सक्रिय और प्रभावशाली भूमिका का निर्वाह करती हैं। प्रशासन द्वारा विकास के कार्यक्रमों को सशक्त ढंग से लागू करके जनता का विश्वास अर्जित किया जाता है। लोक सेवाओं की 'विकास प्रशासन' (Development Administration) की भूमिका अधिक मुखरित हो रही है। अत प्रशासन विकास के एक सशक्त अभिकरण के रूप में उभर कर सामने आया है।

20. लोक सेवक के रूप में भूमिका (Role as a Public Servant)—सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं और विशेषकर लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में प्रशासन लोक सेवक की भूमिका का निर्वाह करता है। प्रशासन लोक सेवक के रूप में जनसाधारण के साथ प्रत्यक्ष और परोक्ष घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर उसके कष्टों का निवारण करने तथा उसे राहत पहुँचाने की दिशा में कृत-संकल्प रहता है। प्रशासन द्वारा जनसाधारण को सरकार की गतिविधियों तथा रीति-नीतियों से अवगत कराया जाता है तथा उसका सहयोग प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील रहता है।

अत यह कहा जा सकता है कि नागरिकों तथा प्रशासन में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। ये एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रशासन की सक्षमता, सार्थकता तथा प्रभावशीलता तभी सार्थक है, जबकि वह लोक कल्याण की गतिविधियों को लागू कर जनता का विश्वास अर्जित करे।

जन-अभियोगों के निराकरण की व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन

(A Comparative Study of Machinery of the Removal of Public Grievances)

वर्तमान समय विज्ञान और तकनीकी का युग कहा जाता है, जिसने लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को जन्म दिया फलत राज्य की प्रकृति तथा स्वरूप में मौलिक परिवर्तन आ गया है। आज राज्य का मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप है। प्रशासन के दायित्व अधिक बढ़ गये हैं। उसके स्वरूप और कार्य-पद्धति में व्यापक परिवर्तन हुए हैं। आज उसका चरित्र नकारात्मक न रहकर सकारात्मक बन गया है। लोक सेवाओं की 'विकास प्रशासन' की भूमिका मुखरित हो रही है। प्रशासन की सार्थकता इस बात पर निर्भर करती है कि लोक सेवक अपने को जनता का 'सेवक' समझकर आचरण करे। लोक सेवकों में उत्तरदायित्व तथा समर्पण की भावना हो। परन्तु विश्व के सभी देशों में प्रशासन से जो अपेक्षाएँ थी, उन्हें वह साकार करने में असफल रहा है। उसके प्रति जनता की शिकायतों या अभियोगों की लम्बी सूची है। प्रशासन अथवा नौकरशाही पर यह आरोप लगाया जाता है कि उसे शक्ति की भूख होती है तथा लोकप्रिय माँगों के प्रति अनुत्तरदायी है। नौकरशाही की आलोचनाओं में जो तर्क दिये जाते हैं उन्हें प्रशासन के प्रति जन-अभियोगों का नाम दिया जा रहा है। नौकरशाही की आलोचना के सन्दर्भ में लॉर्ड हीवर्ट ने उसे नौकरशाही की नवीन निरंकुशता का नाम दिया है। उनके अनुसार नागरिक सेवा उस शक्ति को प्राप्त करने का प्रयास कर रही है जिसका उत्तरदायित्व व्यवस्थापिका और न्यायपालिका पर है। रैमजेम्योर ने नौकरशाही की तुलना अग्नि से की है जो सेवक के रूप में बहुमूल्य होती है, किन्तु मालिक या स्वामी बन जाने पर वह घातक बन जाती है।

अमेरिकी राष्ट्रपति हूवर (Hoover) के अनुसार नौकरशाही की—स्वस्थिरता, स्वविस्तार और अधिक शक्ति की माँग—तीन ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकती। नौकरशाही लोकप्रिय माँगों के प्रति अनुत्तरदायी होती है। नौकरशाहों में शक्ति की भूख होती है और धीरे-धीरे नीति निर्माण के कार्य पर वह हावी होती जा रही है। नौकरशाही की आलोचना करते समय निम्नलिखित दोषों का उल्लेख किया जाता है—

1. जन-साधारण की माँगों की उपेक्षा (Unresponsiveness to Popular Demands)—नौकरशाही लोकहित की संरक्षक है और उसी के द्वारा जनहित की सही व्याख्या की जा सकती है। यदि लोकमत जनहित के विरुद्ध है तो नौकरशाही उसकी उपेक्षा करने में आगा-पीछा नहीं देखती। इस तर्क के आधार पर नौकरशाही जनमत की किसी माँग का विरोध कर सकती है। वह राजनीतिक वातावरण के परिवर्तन के अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं करती।

2. लालफीताशाही (Redtapism)—लालफीताशाही नौकरशाही की सबसे गम्भीर समस्या तथा कई परिस्थितियों का परिणाम है। प्रगति का क्रम, निश्चित व्यवस्था, कार्य की निर्धारित गति तथा नियम, कार्य सम्पादन आदि कतिपय ऐसे बिन्दु हैं जिनसे लालफीताशाही जन्म लेती है। अधिकाधिक उत्पादन करने पर सरकारी संगठन कार्यों के नियमितता पर जोर देते हैं। लालफीताशाही का विकास इस कारण प्रोत्साहित होता है कि लोक प्रशासन में कानूनों का अधिक महत्व है। प्रजातन्त्रात्मक सरकार किसी सरकारी अधिकारी की अन्तरात्मा से संचालित न होकर वस्तुगत नियमों से संचालित होती है। लालफीताशाही के कारण जनता को अनुचित कष्टों का सामना करना पड़ता है और उसके कार्य सही समय पर सम्पादित नहीं होते हैं।

3. शक्ति-प्रेम (The Love of Power)—नौकरशाही शक्ति के भूखे होते हैं। विभिन्न विभागों के नौकरशाह शक्ति संघर्ष में रत रहने के कारण लोकहित को भुला देते हैं। स्थाई नागरिक सेवा के सदस्य प्रजातन्त्र के नाम पर विभागों की शक्ति में निरन्तर वृद्धि करते जा रहे हैं और मंत्रियों के उत्तरदायित्वों के सिद्धान्त के नाम पर उन्होंने सारी शक्तियाँ स्वयं के हाथों में केन्द्रित कर ली हैं।

4. विभागीकरण या साम्राज्य-रचना (Departmentalism or Empire Building)—नौकरशाही में समाज से पृथक् रहकर कार्य करने की प्रवृत्ति होती है। उसका एक पृथक् वर्ग बन जाता है। इस वर्ग के लोग अपने आपको दूसरे लोगों से श्रेष्ठ समझने लगते हैं। ये जनता के साथ घुल-मिल नहीं पाते। नौकरशाही के कारण सरकार के कार्य पृथक् खण्डों में विभाजित हो जाते हैं क्योंकि प्रत्येक नागरिक-सेवा अपनी सत्ता एवं महत्त्व का प्रदर्शन करना चाहती है। प्रत्येक विभाग अपने आपको स्वतन्त्र और पृथक् इकाई मानकर वह अपने अधिकार क्षेत्र को अपनी अन्तिम सीमा मानने लगता है।

5. प्राचीनता या अनुदारता के समर्थक (Supporters of Conservatism)—नौकरशाही के सदस्य *प्राचीन परम्परा एवं रीति-रिवाजों के समर्थक होते हैं। वे नवीनता और विकास के प्रति विरोध भावना रखते हैं।* जो व्यवहार प्रचलित परम्पराओं के अनुकूल है तथा जिसका पालन करने की उन्हें आदत पड़ गई है, उसे नौकरशाही के सदस्य उचित मानते हैं।

6. तानाशाही प्रवृत्तियाँ (Despotic Tendencies)—लॉर्ड हीवर्ट ने नौकरशाही को तानाशाही का नया रूप बतलाया है। उनका कहना है कि प्रशासनिक तानाशाही बढ़ने के कारण नागरिकों की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाएगी। ब्रिटिश नौकरशाही का मूल्यांकन करते हुए हीवर्ट ने यह तर्क दिया है कि इस समय व्यक्तिगत अधिकार व स्वतन्त्रताएँ खतरे में हैं क्योंकि उग्र नौकरशाही प्रवृत्ति के अधिकारी ऐसे विश्वासों के साथ कार्य करते हैं। ये विश्वास निम्नलिखित हैं—

(i) कार्यपालिका का कार्य प्रशासन करना है।

(ii) शासन करने के लिए उपयुक्त केवल विशेषज्ञ हैं।

(iii) प्रशासन कला में विशेषज्ञ स्थाई अधिकारी होते हैं जो प्राचीन और निषेधात्मक सद्गुणों का प्रदर्शन करते हैं। वे अपने आपको महान् कार्यों के योग्य मानते हैं।

(iv) ये विशेषज्ञ वस्तु-स्थिति के अनुसार व्यवहार करते हैं और जिन परिस्थितियों में रहते हैं उन्हीं के अनुसार स्वयं को ढाल लेते हैं।

(v) विशेषज्ञों के लाभदायक कार्यों के दो प्रमुख अवरोध हैं—एक संसद की सम्प्रभुता और दूसरा कानून का शासन।

(vi) अबोध जनता की अन्ध-भक्ति इन अवरोधों को दूर करने में बाधक बन जाती है। विशेषज्ञों को संसद के प्रभुत्व को प्रभावहीन बनाने के लिए कानून के शासन को अपनाना चाहिए।

(vii) अपने उद्देश्य पूर्ति के लिए नौकरशाही को संसदीय-रूप ग्रहण कर पहले अपने हाथ में मनमानी शक्तियाँ ले लेनी चाहिए और उसके बाद कानूनी अदालतों का विरोध करना चाहिए।

(viii) नौकरशाही का यह कार्य उस समय सरल सिद्ध होगा जब वह—(a) एक पारित विधान प्राप्त कर सके, (b) अपने नियमों, आदेशों और विनियमों से उस विधान की रिक्तता की पूर्ति कर सके, (c) संसद के लिए

अपने नियमों, आदेशों एवं विनियमों पर रोक लगाना कठिन, (d) उनके लिए कानूनी शक्ति प्राप्त कर सके, (e) अपने स्वयं के निर्णय को अन्तिम बना सके, (f) ऐसा प्रबन्ध कर सके कि उसके निर्णय के तथ्य ही वैधता के प्रमाण बन सकें (g) कानूनी प्रावधानों में परिवर्तन करने की शक्ति प्राप्त कर सके और कानूनी न्यायालय में किसी अपील को रोक सकें।

(ix) यदि विशेषज्ञ लॉर्ड चांसलर से मुक्ति पा सकें, न्यायाधीशों के पद को नागरिक-सेवा की एक शाखा के रूप में सीमित कर सकें, मुकदमों में राय प्रकट करने के लिए न्यायाधीशों को बाध्य कर सकें तथा न्यायमंत्री कहे जाने वाले एक व्यापारी के माध्यम से स्वयं उसकी नियुक्ति करें तब बाधाएँ दूर की जा सकती हैं।

7. आत्म-हित साधन (Self-seeking)—नौकरशाही के सदस्य अपने वेतन-भत्तों और अन्य सुविधाओं की प्राप्ति में इतने अधिक प्रयासरत रहते हैं कि जन-सेवा का लक्ष्य पिछड़ जाता है। राज-कोष का बहुत बड़ा भाग नौकरशाही पर खर्च हो जाता है फलतः विकास कार्यों को गहरा आघात लगता है। आत्म-हित अथवा स्वार्थ-सिद्धि की बढ़ती प्रवृत्ति ने नौकरशाही की शक्तियों को बढ़ा दिया है।

8. शक्ति का दुरुपयोग (Abuse of Power)—नौकरशाही का प्रमुख दोष अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना है। लोक सेवक नियमों और प्रक्रियाओं की आड़ में शक्ति का दुरुपयोग करते हैं।

9. विलम्ब (Delay)—नौकरशाही का एक प्रमुख दुर्गुण 'विलम्ब' है। नौकरशाही जनता की कल्याणकारी योजनाओं के क्रियान्वयन एवं निर्णय की क्रियान्विति में अनुचित देरी करती है जिससे उनका मूल उद्देश्य समाप्त हो जाता है। नौकरशाही की इस प्रकृति से जनता की कठिनाइयों में वृद्धि हो जाती है।

10. भ्रष्टाचार (Corruption)—भ्रष्टाचार द्वारा नौकरशाही अपने पद और प्रभाव का दुरुपयोग करके अनुचित तरीके से धनार्जन करते हैं। उसके पास अपनी आय से कहीं अधिक सम्पत्ति पाई जाती है। रिश्वतखोरी की बढ़ती प्रवृत्ति नौकरशाही की प्रतिष्ठा और 'छवि' को गिरा रही है।

11. कागजों की हेरी-फेरी (Circumlocation)—नौकरशाह नियमों, विनियमों और प्रक्रियाओं में उलझ कर 'कागजों' अथवा 'फाइल' को अर्थात् 'कागज के घोड़े', इधर से उधर दौड़ाते रहते हैं। इससे निर्णय-प्रक्रिया में देरी होती है। औपचारिकता (Formalism) पर अत्यधिक बल दिये जाने के कारण ही ऐसा होता है।

12. अनुत्तरदायित्व (Unresponsiveness)—सिद्धान्त में नौकरशाही राजनीतिक नेतृत्व के प्रति उत्तरदायी होती है, लेकिन व्यवहार में उसका आचरण या व्यवहार अनुत्तरदायी होता है। ये जनता के कल्याण के लिए उत्तरदायी ढंग से आचरण नहीं करते हैं।

13. श्रेष्ठता की भावना (Superiority Complex)—नौकरशाही का एक दोष अपने को जन-साधारण से 'श्रेष्ठ' समझने की भावना है और अहंकारपूर्ण व्यवहार करते हैं। अनेक बार ये अपनी सत्ता और विशेषाधिकारों का दम्भ भरते हैं। ये जन-साधारण के साथ घुलना-मिलना पसन्द नहीं करते हैं। नौकरशाही और जन-साधारण के बीच दूरियाँ बढ़ती जाती हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था में यह स्थिति सुखद नहीं मानी जाती है।

14. आकार में वृद्धि और कार्यकुशलता में ह्रास (Increasing Strength and Decreasing Efficiency)—नौकरशाही का यह दोष है कि ज्यों-ज्यों इसके आकार में वृद्धि होती है, त्यों-त्यों इसकी कार्यकुशलता घटती जाती है। इससे नौकरशाही का स्तर गिर रहा है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नौकरशाही की अनेक बुराइयाँ हैं। प्रो. रॉब्सन ने कहा है, "नौकरशाही जिन दोषों से दूषित रहती है, वे हैं—अधिकारियों के आत्म-गौरव की अतिशयपूर्ण भावना अथवा अपने कार्यालय को अनावश्यक महत्त्व देना, व्यक्तिगत नागरिकों की सुविधाओं या भावनाओं के प्रति उदासीनता दिखाना, विभागीय निर्णयों की सत्ता की लोचहीनता एवं बाध्यकारिता (चाहे वे व्यक्तिगत मामलों में कितने ही अन्यायपूर्ण क्यों न हों), विनियमों और औपचारिक प्रक्रियाओं के प्रति झुकाव, प्रशासन की क्रियाओं को अधिक महत्त्व देना और सरकार को एक सम्पूर्ण रूप में न देखना, यह न पहचानना कि प्रशासक और प्रशासितों के बीच स्थित सम्बन्ध प्रजातन्त्रात्मक प्रक्रिया का एक मूलभूत भाग है।" नौकरशाही के अन्तर्गत साधनों को साध्य और साध्यों को साधन बना दिया जाता है तथा उसमें कल्पना और दूरदर्शिता की कमी रहती है। नौकरशाही के सदस्य सत्ता का दुरुपयोग करना चाहते हैं। उनमें वर्गीय या जातीय भावना का विकास होने लगता है।

नौकरशाही के दोषों को दूर करने तथा उसे अधिक उपयोगी बनाने के लिए विचारकों ने निम्नलिखित सुझाव दिए हैं—

1. सत्ता का विकेन्द्रीकरण (Decentralisation of Authority)—नौकरशाही की शक्तियों को विकेन्द्रित कर दिया जाये ताकि उनको सीमा के भीतर रखा जा सके। विकेन्द्रीकरण न होने पर नौकरशाही-सत्ता तानाशाही बनने की सम्भावना बढ़ जाती है। अत्यधिक केन्द्रीयकरण नौकरशाही को अनेक दोषों से युक्त बना देता

है, जैसे—पृथकता, भावहीनता, लोचहीनता, स्थानीय स्थिति के विषय में अज्ञानता, कार्य में विलम्ब, कार्य का बेढंगापन, आत्मतोष आदि।

2. नियन्त्रण (Control)—नौकरशाही पर संसद् और मन्त्रिमण्डल का प्रभावपूर्ण राजनीतिक नियन्त्रण रहना चाहिए ताकि उसके द्वारा सम्पादित शक्ति के दुरुपयोग पर रोक लगाई जा सके।

3. सामान्य जनता के प्रति उत्तरदायित्व (Accountable Towards General Public)— लोक प्रशासन में नौकरशाही के दोषों को दूर करने के लिए उसे न केवल संसद् और कार्यपालिका के प्रति उत्तरदायी बनाया जाए वरन् उसे सामान्य नागरिकों के प्रति उत्तरदायी बनाया जाए। ऐसा होने पर नौकरशाही अपने आपको एक पृथक् वर्ग या जाति के रूप में संगठित नहीं करेगी।

4. प्रशासनिक न्यायाधिकरण (Administrative Tribunals)—ऐसे प्रशासनिक न्यायाधिकरण स्थापित होने चाहिए जहाँ नागरिक लोक सेवकों के विरुद्ध अपनी शिकायतें रख सकें और दूर करा सकें।

5. विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व (Representation of Various Classes)—लोक सेवकों को विभिन्न आर्थिक तथा सामाजिक वर्गों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए जिससे सभी को समान न्याय प्राप्त हो सके और किसी के साथ अनुचित पक्षपात न किया जाए।

6. प्रभावशाली संचार-व्यवस्था (Effective Communication)—प्रशासनिक संगठन की संचार-व्यवस्था का प्रभावशाली होना पर्याप्त नहीं है, प्रशासकों और प्रशासितों के बीच संचार-व्यवस्था का प्रभावशाली होना जरूरी है। पत्र-व्यवहार, संदेशों का आदान-प्रदान एवं दोनों को एक-दूसरे की बातें कहने-सुनने की पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए।

7. बाहर के लोगों का योगदान (Contribution of Outsiders)—प्रशासन को उपयोगी और सार्थक बनाने के लिए सहयोग प्रदान किया जाना चाहिए। गैर-सरकारी प्रशासन में योगदान से उसे सच्चे अर्थों में प्रजातन्त्रात्मक बनाया जा सकता है। लोक प्रशासन को जनता की आकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं के अनुरूप बनाया जा सकता है।

8. नैतिक आदर्शों का अनुपालन करना (By Following the Moral Ideals)—नौकरशाही को भ्रष्टाचार और अनैतिकता से बचाने के लिए उसमें नैतिक मूल्यों का संचार आवश्यक है। सत्य-निष्ठा और ईमानदारी की भावना का सूत्रपात करने से नौकरशाही का स्तर ऊँचा उठ सकता है। इससे नौकरशाही अधिक कर्तव्य-निष्ठा के साथ कार्य करने को उन्मुख होगी।

9. योग्य मन्त्रियों की नियुक्ति (Appointment of Competent Ministers)—नौकरशाही पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखना राजनीतिक नेतृत्व अर्थात् मन्त्रियों का दायित्व माना जाता है। यदि मन्त्रियों में प्रशासनिक योग्यता और कुशलता है तो वे नौकरशाही पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखने में ही सफल होंगे तथा उसे वांछित दिशा प्रदान करेंगे। आज अगर नौकरशाही अनियन्त्रित और अमर्यादित व्यवहार कर रही है तो उसके पीछे मुख्य कारण मंत्रियों का भौतिकियापन है।

10. प्रदत्त-व्यवस्थापन प्रक्रिया को हतोत्साहित करना (Decrease in Delegated Legislation)—नौकरशाही की शक्ति के विकास में प्रदत्त व्यवस्थापन प्रक्रिया का मुख्य हाथ रहा है। इस शक्ति से नौकरशाही विधि-निर्माण प्रक्रिया में शक्तिशाली स्थान प्राप्त करती जा रही है। अतः प्रदत्त-व्यवस्थापन प्रक्रिया को हतोत्साहित किया जाना चाहिए। इससे व्यवस्थापिका की वास्तविक अर्थ में नौकरशाही पर सर्वोच्चता स्थापित हो जायेगी।

11. रिफ्रेशर पाठ्यक्रमों का आयोजन (Refresher Courses)—लोक-कल्याणकारी राज्य अवधारणा ने राज्य कार्य-क्षेत्र को व्यापक बना दिया है। विज्ञान और तकनीकी के विकास के कारण इसमें निरन्तर वृद्धि होती रही है। नौकरशाही की भूमिका विस्तृत होती जा रही है। इन नवीन परिवर्तनों में यह अपरिहार्य बन जाता है कि नौकरशाही के संरचनात्मक तथा प्रक्रियात्मक स्वरूप में परिवर्तन किया जाये तथा नवीन चुनौतियों का सामना करने की क्षमता विकसित की जाए। इसके लिए नौकरशाही को रिफ्रेशर पाठ्यक्रम आयोजित किये जायें। इन पाठ्यक्रमों से नौकरशाही की जड़ता टूटेगी तथा उसमें नया दृष्टिकोण विकसित होगा।

रौबसन ने नौकरशाही के दोषों को दूर करने की दिशा में उपयोगी सुझाव दिये हैं—(i) सरकारी कर्मचारियों में जनता के प्रति उत्तरदायी होने की भावना उत्पन्न करना तथा उनमें अपने को विशेषाधिकार सम्पन्न विशिष्ट वर्ग प्रवृत्ति को रोकना, (ii) लोक सेवा में विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक वर्गों का प्रतिनिधित्व करना, (iii) प्रशासन में सामान्य नागरिकों को सक्रिय रूप से भागीदार बनाना।

उपर्युक्त सुझाव व्यवहार में लागू कर प्रशासन को एक नया चिन्तन और स्वरूप दिया जा सकता है ताकि जन-अभियोगों के निराकरण की दिशा में समुचित कदम उठाये जा सकें। *विभिन्न देशों में जन-अभियोगों का*

निराकरण करने की दिशा में किये गये प्रयत्नों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाना आवश्यक है। इन दिशा में निम्नलिखित प्रयास आवश्यक है—

1. आचरण के नियम (Conduct Rules)—ग्रेट-ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रान्स तथा भारत में राज्य कर्मचारियों के आचरण को संयत, शालीन तथा अनुशासित बनाये रखने तथा उन्हें उत्तरदायी बनाने की दिशा में आचरण के नियमों का निर्धारण किया गया है। आचरण के नियमों में संविधान और कानूनों के अनुरूप आचरण करने में अनेक तत्वों को सम्मिलित किया जाता है। ये आचरण के नियम लोक सेवकों पर स्वतः अनुशासन भावना स्थापित करने में सहायक होते हैं। यदि राज्य कर्मचारी इन नियमों के प्रतिकूल आचरण करता है तो उसके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की जा सकती है।

2. अनुशासनात्मक कार्यवाही (Disciplinary Actions)—राज्य कर्मचारी अपने कर्तव्य का पालन नहीं करे तथा अपने सेवा के नियमों के प्रतिकूल आचरण करें तो उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की जा सकती है। इस अनुशासनात्मक कार्यवाही का मुख्य लक्ष्य प्रशासन में कार्यकुशलता, व्यवस्था तथा जन-उत्तरदायित्व की भावना को बरकरार रखना है। ग्रेट-ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रान्स तथा भारत में राज्य कर्मचारियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की समुचित व्यवस्था है। इस प्रक्रिया के क्रमिक सोपान हैं। अन्तिम निर्णय में सरकारी कर्मचारी को दण्ड दिये जाने की व्यवस्था होती है। उसे यह दण्ड पदच्युति (Dismissal), पद-मुक्ति (Removal), अनिवार्य सेवा-निवृत्ति (Compulsory Retirement) या पंक्तिच्युति (Reduction in Rank) के रूप में दिया जा सकता है। कर्मचारी को अपील करने का अधिकार दिया जाता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में राज्य कर्मचारियों को उनके कर्तव्यों की अवहेलना करने पर निम्नलिखित दण्ड देने का व्यवस्था हैं—

(i) चेतावनी देना (Give Notice)—यह सबसे कम गम्भीर दण्ड है। जो मामले गम्भीर हो सकते हैं उनको चेतावनी देकर पहले ही सम्भाल लिया जाता है। अनौपचारिक मौखिक झिड़की के समय अधिकारी का व्यक्तिगत सम्पर्क एक रचनात्मक एवं सकारात्मक प्रभाव छोड़ता है।

(ii) कम वांछित कर्तव्य सौंपना (Give Less Desirable Duties)—यह अपेक्षाकृत हल्का दण्ड है। पुलिस वाले, क्षेत्रीय कार्यकर्ता एवं विभिन्न स्थानों पर काम करने वालों को इस दण्ड से दण्डित किया जाता है। इसे एक व्यक्ति पर बार-बार लागू करने से लाभ की अपेक्षा हानियाँ अधिक होती हैं।

(iii) कार्य का कम मूल्यांकन करना (Less Evaluation of Work)—यह गम्भीर दण्ड है क्योंकि यह भावी पदोन्नति में बाधा डालता है। कर्तव्य की अवहेलना का तथ्य कर्मचारी की सेवा पुस्तिका में लिख दिया जाता है तथा सम्भावित पदोन्नति के समय उसका ध्यान रखा जाता है।

(iv) आर्थिक दण्ड (Economic Punishment)—यह व्यवस्था पुलिस के अतिरिक्त अन्य विभागों से समाप्त हो गई है। कारण यह है कि आर्थिक दण्ड कर्मचारी के आश्रितों एवं परिवारजनों को दुःखी करता है तथा लोकसेवाओं के सम्मान के विरुद्ध है।

(v) वेतनहीन निलम्बन (Non-Salary Suspend)—इस दण्ड में कर्मचारी को बिना वेतन निलम्बित कर दिया जाता है। निलम्बन काल निर्धारित किया जाता है। अमेरिका में राज्य एवं स्थानीय स्तर के पदों में यह समय तीन दिन निर्धारित होता है।

(vi) पदावनति एवं वेतन में कटौती (Degradation and Deduction in Salary)—इसमें कर्मचारी की मासिक आय घट जाती है और यह दण्ड उसके पूरे कार्यकाल तक जारी रहता है। पदावनति के बाद सौंपे गए कार्य हो सकते हैं जो उसे अधिक पसन्द न हों। पदावनति कर्मचारी के मनोबल तथा उत्साह को तोड़ देती है। इसका प्रयोग सावधानी के साथ किया जाना चाहिए।

(vii) पदमुक्ति या सेवा से हटाना (Removal or Termination)—यह सर्वाधिक कठोर दण्ड है। इसमें आय तथा स्तर की हानि व पेन्शन के अधिकार समाप्त हो जाते हैं। इस दण्ड को अधिक प्रभावक बनाते हुए कर्मचारी को पुनर्नियुक्ति के अयोग्य ठहरा दिया जाता है।

पदमुक्ति के विरुद्ध सुरक्षाओं से युक्त अनेक अमेरिकी लोक सेवाएँ हैं। असन्तोष एवं दुराचरण, शराबखोरी, चोरी आदि के लिए राजकर्मचारी को सेवा से मुक्त किया जा सकता है।

पदमुक्ति का निर्णय कार्यपालिका द्वारा लिया जाता है। इस शक्ति का प्रयोग नियोक्ता अधिकारी, विभागीय सेवीवर्ग मण्डल, विशेष अनुशासन न्यायाधिकरण तथा केन्द्रीय सेवीवर्ग अभिकरण द्वारा किया जाता है। व्यवहार में दृढ़ता एवं तुरन्त कार्यवाही के लिए सत्ता एक व्यक्ति के हाथों में सौंपी जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में अनुशासन के मामलों में सत्ता विभागाध्यक्षों को होती है।

अपील करने की व्यवस्था (The System of Appeals)—संयुक्त राज्य अमेरिका में कर्मचारियों को सेवामुक्ति के विरुद्ध अपील करने का अधिकार है। अपील बहु-सदस्यीय संस्था सुनती है। इसमें तीन सदस्य होते हैं। एक सदस्य कर्मचारियों द्वारा निर्वाचित किया जाता है। इनकी प्रक्रिया न्यायालय जैसी औपचारिक नहीं होती है। अमेरिका में लोक सेवा आयोग को भी अपील अधिकार दिए गए हैं।

ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रान्स में कर्मचारियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही—ब्रिटिश राज्य कर्मचारी के कार्यों का मूल्यांकन वार्षिक प्रतिवेदन विभागाध्यक्ष द्वारा तैयार किया जाता है। कार्य अवहेलना के दोषी कर्मचारियों को चेतावनी तथा दूसरे दण्ड प्रदान किये जाते हैं। ब्रिटिश लोक सेवकों के प्रमुख दण्ड ये हैं—वार्षिक वेतन वृद्धि रोक देना, निलम्बित कर देना, डाँट-फटकार, चेतावनी, स्थानान्तरण, पदच्युति तथा सेवानिवृति लाभों से वंचित करना आदि।

फ्रांस में राज्य कर्मचारी द्वारा कार्य अवहेलना तथा अनुचित कार्य के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की जा सकती है। फ्रान्स में लोक सेवकों के सम्भावित अपराधों के अनुकूल दण्ड व्यवस्था है। इनमें से कुछ उल्लेखनीय दण्ड हैं—चेतावनी, निन्दा, पदोन्नति रोक देना, अरुचिपूर्ण-स्थान पर नियुक्ति, पदावनति, सेवानिवृत्ति अधिकारों को रोकना। दोषी कर्मचारी के विरुद्ध आरोप निकटवर्ती उच्च अधिकारी करता है। अनुशासनिक मामलों की सुनवाई संयुक्त कर्मचारी मण्डलों में की जाती है। अनुशासनात्मक कार्यवाही के समय किसी अधिकारी द्वारा शक्ति का दुरुपयोग करने पर न्यायालयों में अपील कर सकते हैं।

3. व्यवस्थापिका की भूमिका (The Role of the Legislature)—व्यवस्थापिका जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है। व्यवस्थापिका में प्रशासकों के आचरण और क्रिया-कलापों पर बहस होती है। व्यवस्थापिका में बहस के माध्यम से प्रशासन पर नियन्त्रण रखा जाता है। प्रशासक व्यवस्थापिका में उठने वाले प्रश्नों और चर्चाओं के प्रति सजग रहते हैं। इस भय से जनता के अभियोगों का निराकरण करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में कांग्रेस, ब्रिटेन तथा फ्रान्स में संसद प्रशासन पर नियन्त्रण रखती है।

4. संसदीय समितियों की भूमिका (The Role of the Parliamentary Committees)—व्यवस्थापिका द्वारा प्रशासन पर नियन्त्रण हेतु विभिन्न समितियों का गठन किया जाता है। इन समितियों में जनता अपने अभाव-अभियोग रख सकती है। संसदीय समितियाँ प्रशासकों को वांछित निर्देश दे सकती हैं। लोक सेवक इन संसदीय समितियों के निर्देशों को ध्यानपूर्वक लागू करते हैं। ये संसदीय समितियाँ जनता के अभियोगों को दूर करने में प्रभावशाली हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

5. न्यायपालिका की भूमिका (The Role of the Judiciary)—न्यायपालिका को नागरिक स्वतन्त्रता और अधिकारों का रक्षक माना जाता है। जनता न्यायपालिका में प्रशासनिक अधिकारियों के अत्याचारों, लापरवाही तथा कर्त्तव्य-हीनता के विरुद्ध शिकायतें दर्ज कर सकती है। अगर जनता के धन का दुरुपयोग हो, तो उसके विरुद्ध जन-हित में मुकदमा दायर किया जा सकता है। न्यायालय में प्रशासनिक अधिकारियों के विरुद्ध अपीलों को सुना जाता है। सभी अधिकारी अपने कार्यों के लिए न्यायालय के प्रति उत्तरदायी होते हैं। प्रशासन की शिकायत के विरुद्ध कार्यवाही प्रत्येक देश से अलग-अलग प्रकार से होती है। ग्रेट ब्रिटेन ने न्यायाधीश पूर्ण स्वतन्त्रता तथा अपने निर्णय व कार्यों के लिए वे कानूनी कार्यवाही से मुक्त रहते-हैं। उनका निर्णय सर्वमान्य होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी न्यायाधीशों को पूरी स्वतन्त्रता है।

न्यायालय को यह अधिकार है कि वह प्रशासनिक कार्यों की देख-रेख करता रहे। ग्रेट ब्रिटेन में न्यायिक पुनरीक्षा का अधिकार प्रशासन के समस्त क्षेत्र पर लागू नहीं होता। अनेक प्रशासनिक कार्यों को संसदीय कानून द्वारा न्यायिक पुनरीक्षा क्षेत्र से बाहर रखा गया है। ब्रिटिश अधिकारी के विरुद्ध न्यायालय में कार्यवाही के लिए कानून का उल्लंघन सिद्ध करना होगा। संयुक्त राज्य अमेरिका में कांग्रेस का कानून किसी प्रशासनिक निर्णय को न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से बाहर नहीं रखता। कांग्रेस ब्रिटिश संसद की भाँति सार्वभौम नहीं है। उसके कार्यों की न्यायिक पुनरीक्षा हो सकती है। कांग्रेस द्वारा न्यायालय की शक्ति पर सीमा लगाना असंवैधानिक माना जाएगा। संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायपालिका प्रशासन पर नियन्त्रण के लिए विभिन्न लेख-बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, निषेध आज्ञा, उत्प्रेषण लेख, अधिकार पृच्छा, आज्ञाएँ एवं घोषणाएँ जारी कर सकती है। ग्रेट ब्रिटेन में साधारण उपचार राजा के नाम प्रसारित किये जाते हैं, जिन्हें 'विशेषाधिकार लेख' कहा जाता है। भारत में न्यायपालिका प्रशासन पर नियन्त्रण स्थापित करती है।

6. विधायकों तथा सांसदों की भूमिका (The Role of the MLA and MP)—संसदीय व्यवस्थाओं में जनता के अभाव-अभियोगों के निराकरण में विधायकों तथा सांसदों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जनता द्वारा विधायकों और सांसदों को अभाव-अभियोगों की जानकारी दी जाती है।

7. उच्चाधिकारियों की भूमिका (The Role of the Higher Officers)—जनता के अभाव-अभियोगों को प्रशासनिक स्तर पर हल करने की व्यवस्था है। विभागीय उच्चाधिकारी अपने विभाग के अभाव-अभियोगों के निराकरण के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वे उन अभियोगों के वास्तविक तथ्यों की जानकारी प्राप्त कर नीचे के अधिकारियों को आवश्यक निर्देश देते हैं। योग्य तथा सक्षम प्रशासनिक अधिकारी इस दिशा में सार्थक प्रयास करने में सफल हो सकते है। ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा फ्रान्स में उच्चाधिकारियों द्वारा विभागीय अभाव-अभियोगों का निपटारा किया जाता है। समय पर कार्यवाही द्वारा जन-असन्तोष दूर किया जा सकता है।

8. मन्त्रियों की भूमिका (The Role of the Ministers)—मन्त्रिमण्डल के सदस्य विभागों के अध्यक्ष होते हैं। वे विभाग के नेतृत्व, निर्देशन तथा नियन्त्रण की भूमिका निभाते हैं। मन्त्रियों का जनता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। जनता प्रार्थना-पत्रों, ज्ञापनों, जुलूसों, प्रदर्शनों तथा शिष्टमण्डलों द्वारा अपने अभियोग मन्त्रियों को प्रस्तुत करती है। मन्त्री इन अभियोगों का समाधान करते हैं। वे प्रशासनिक अधिकारियों को आवश्यक निर्देश दे सकते हैं। ग्रेट-ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा फ्रान्स में मन्त्रिमण्डल के सदस्य इसका निर्वाह करते हैं।

9. स्वतंत्र नियामकीय आयोगों की भूमिका (The Role of the Independent Regulatory Commission)—संयुक्त राज्य अमेरिका में नियामकीय आयोग नागरिकों तथा नागरिक समुदायों के आर्थिक क्रिया-कलापों का नियमन करते हैं। ये आयोग जनता तथा विनियमित हितों के झगड़ों का निर्णय करते हैं। ये आयोग अपराधियों पर अभियोग चलाते हैं। इन नियामकीय आयोगों की अपनी भूमिका है।

10. आम्बुड्समैन (Ombudsman)—यह स्वीडन की एक चर्चित संस्था है। यह संस्था लोक प्रशासकों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोपों की सुनवाई, उनकी जाँच-पड़ताल तथा प्रशासन में वांछित सुधार की सिफारिश करता है।

11. लोकपाल तथा लोकायुक्त की भूमिका (The Role of Lokpal and Lokayukta)—स्वीडन के ओम्बुड्समैन की तरह भारत में 'लोकपाल' की व्यवस्था है। इस संस्था का उद्देश्य भ्रष्टाचार रोकना है। राज्यों में 'लोकपाल' एवं 'लोकायुक्त' संस्था कार्यरत है जो जनता द्वारा मुख्यमंत्री, मन्त्रियों तथा प्रशासनिक अधिकारियों के विरुद्ध लगाये आरोपों की जाँच करती है।

लोकपाल एवं लोकायुक्त
(Lokpal and Lokayukt)

भारत में प्रशासनिक भ्रष्टाचार के निवारण हेतु स्वीडन की ओम्बुड्समैन संस्था की भांति ही केन्द्र में लोकपाल एवं राज्यों में लोकायुक्त के पदों की स्थापना की गई है। इस सम्बन्ध में लोक सभा में एक "लोकपाल एवं लोकायुक्त विधेयक" 9 मई, 1968 को प्रस्तुत किया गया। इस विधेयक ने 1969 में अधिनियम का रूप धारण किया। 'लोकपाल' को मंत्रियों तथा सचिवों द्वारा किये गये कार्यों अथवा उसकी स्वीकृति से किए गए कार्यों से उत्पन्न शिकायतों या अभियोगों की जाँच करने का अधिकार दिया गया है। इसी प्रकार "लोकायुक्त" को राजकीय पदाधिकारियों के कार्यों की जाँच पड़ताल किये जाने का अधिकार दिया गया है। विधेयक के अनुसार लोकायुक्त, लोकपाल के प्रशासनिक नियंत्रण में कार्य करेगा। लोकपाल को यह भी अधिकार होगा कि वह किसी भी लोकायुक्त के अधिकार क्षेत्र में आने वाले कार्यों की स्वयं भी जाँच कर सकता है।

लोकपाल तथा लोकायुक्त की नियुक्ति, योग्यताएँ एवं कार्यकाल
(Appointment, Qualification and Time Period of Lokpal and Lokayukt)

लोकपाल एवं लोकायुक्त अधिनियम, 1969 में लोकपाल तथा लोकायुक्त पदों की नियुक्ति, क्षेत्राधिकार, कर्तव्य तथा दायित्वों का भी वर्णन किया गया है, जो इन पदों की विशेषताओं को स्पष्ट करते हैं। ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. लोकपाल देश में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री तथा राज्यपाल के अतिरिक्त समस्त कार्यपालिका के विरुद्ध लगाए गए आरोपों तथा शिकायतों को सुनकर जाँच कर सकता है।
2. लोकायुक्त लोकपाल की देखरेख में कार्य करेगा तथा यह केवल केन्द्रीय सरकारी अधिकारियों एवं कर्मचारियों के विरुद्ध शिकायतों की जाँच करेगा।
3. लोकपाल एवं लोकायुक्त की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होगी, किन्तु लोकपाल को नियुक्त करते समय राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा विपक्षी दल के नेता की सलाह लेगा। लोकायुक्त की नियुक्त लोकपाल की सलाह से की जायेगी। लोकपाल लोकायुक्त के लिए कोई योग्यता निर्धारित नहीं करेगा। वह केवल नकारात्मक रूप में यह व्यक्त कर सकेगा कि लोकायुक्त संसद अथवा राज्य व्यवस्थापिका का सदस्य न हो।
4. लोकायुक्त तथा लोकपाल की नियुक्ति 5 वर्ष के लिए की जायेगी तथा 5 वर्ष बाद उन्हें पुनः इस पद पर नियुक्त नहीं किया जायेगा।

5. लोकपाल एव लोकायुक्त पद से निवृत होने पर किसी भी सरकारी लाभ के पद पर नियुक्त नही किये जायेंगे।
6. लोकपाल एवं लोकायुक्तों को संसद के दोनों सदनों में लिखित बहुमत से समर्थित प्रस्ताव के आधार पर भी राष्ट्रपति पदमुक्त कर सकता है।
7 लोकपाल एवं लोकायुक्त का वेतन भारत में मुख्य न्यायाधीश तथा न्यायाधीश के समान होगा। इसके अतिरिक्त भते, आवास तथा पेंशन की सुविधा प्राप्त होगी।
8. लोकपाल एव लोकायुक्त को दुर्व्यवहार तथा अक्षमता के आधार पर राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश से जाँच करवाने के बाद पदमुक्त कर सकता है।
9 लोकपाल तथा लोकायुक्त की वार्षिक रिपोर्ट ससद के दोनों सदनों में प्रस्तुत की जावेगी।
10. लोकपाल एव लोकायुक्त को सरकारी हस्तक्षेप में सरक्षण प्राप्त होगा।
11 लोकपाल एवं लोकायुक्त को अपनी कार्यवाही में कर्मचारियों को सहायता प्राप्त होगी।
12 सरकार 3 माह के अन्दर लोकपाल तथा लोकायुक्त को यह सूचित करेगी कि उनकी सिफारिशों पर क्या कार्यवाही की गई है।

लोकपाल एव लोकायुक्त के क्षेत्राधिकार पर सीमाएँ
(Limitations on Jurisdication of Lokpal and Lokayukt)

विधेयक की तीसरी अनुसूची द्वारा लोकपाल एव लोकायुक्त के क्षेत्राधिकार पर कुछ सीमाएँ लगाई गई हैं। इन सीमाओं के तहत लोकायुक्त और लोकपाल द्वारा निम्नलिखित कार्यों के विषय में शिकायतों की जाँच-पड़ताल नहीं की जा सकती है—

1. विदेश अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से सम्बन्धित विषय, जिसे सचिव ने इस हेतु प्रमाणित किया है।
2. प्रत्यर्पण अधिनियम, 1962 तथा विदेशी अधिनियम, 1964 के अतर्गत की गई कार्यवाही।
3. अपराधों की खोज अथवा राज्य की सुरक्षा हेतु किए गए कार्य।
4. ऐसा निर्णय जो कि इस बात के निर्धारण के लिए लिया गया है कि मामला न्यायालय में जायेगा अथवा नहीं।
5 ऐसे कार्य जो किसी सविदा से सम्बन्धित हों और जिसमें प्रशासन तथा क्रेता एव विक्रेता के व्यावसायिक सम्बन्धों का उल्लेख हो, किन्तु जिसमें वे वैज्ञानिक अपेक्षाओं को पूर्ण करने में उत्पीड़न अथवा विलम्ब करने सम्बन्धी आरोप न हों।
6. सम्मान अथवा पुरस्कार को प्रदान करने के मामले।
7 ऐसे मामले जो सरकारी कर्मचारियों की सेवा शर्तों से सम्बन्धित हों।
8. विवेक शक्ति के अधीन किए कार्य अथवा निर्णय जब तक निर्णय का आधार गलत सिद्ध न हो जाए।
9 ऐसे मामले जिनके सम्बन्ध में शिकायतकर्ता को न्यायालय में जाने का अधिकार प्राप्त हो। जब तक कि लोकपाल यह अनुभव न करे कि न्यायालय न्याय नही कर सकेगा।
10 एक वर्ष पूर्व घटित मामले।
11. लोकपाल के क्षेत्र में समस्त न्यायाधीश, न्यायालयों के समस्त कर्मचारियों तथा अधिकारी, भारत का नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक, संघ लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष एवं सदस्य, चुनाव आयोग के आयुक्त, संसद के दोनों सदनों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों की विधानसभाओं एव दिल्ली की महानगर परिषद् का सचिवालय स्टाफ।

लोकपाल एवं लोकायुक्त का दायित्व एवं कार्य
(Responsibility and Functions of Lokpal and Lokayukt)

1. प्रशासनिक कार्यवाही तथा न्यायिक कार्यवाही के क्षेत्र का अतिक्रमण करती है तो लोकपाल एवं लोकायुक्त प्रशासनिक कार्यवाही तक ही सीमित रहेंगे।
2. लोकपाल एव लोकायुक्त पर विधेयक में निर्दिष्ट प्रतिबध के अतिरिक्त कोई प्रतिबध नही है।
3. लोकपाल एव लोकायुक्त जाँच-पड़ताल सम्बन्धी कार्यवाही अत्यन्त गोपनीय रखेंगे। कोई भी न्यायालय उनसे कोई भी सूचना नही माँग सकता है।

अभिकरण है अत. इसकी सिफारिशें सरकार के लिए बाध्यकारी नहीं हैं। आयोग एक परामर्शदात्री संस्था है, लेकिन इसकी प्रकृति स्वतन्त्र और स्वायत्त है। इसका क्षेत्राधिकार एवं शक्तियाँ व्यापक और प्रभावशाली हैं।

केन्द्रीय सतर्कता आयोग का प्रधान एवं अध्यक्ष सतर्कता आयुक्त कहलाता है। सतर्कता आयुक्त प्रायः IPS अथवा IAS स्तर के अधिकारी को बनाया जाता है, जिसको प्रशासनिक कार्यों में गहन विशेषज्ञता हो। सतर्कता आयुक्त की नियुक्ति राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर युक्त मोहर के द्वारा करता है। सतर्कता आयुक्त कार्यभार सम्भालने से 6 वर्ष तक अथवा 65 वर्ष की आयु तक, जो भी पहले पूर्ण हो जाये, अपने पद पर बना रहता है। लेकिन इस कार्यकाल से पहले भी इसे पदमुक्त किया जा सकता है। सतर्कता आयुक्त को पदच्युत करने के लिए वही रीति अपनाई जाती है जो संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों के सम्बन्ध में अपनायी जाती है। पदच्युत होने के बाद यह केन्द्र और राज्य सरकार में किसी भी लाभकारी पद को ग्रहण नहीं कर सकता।

आयोग में सतर्कता आयुक्त के कार्यों में सहायता हेतु एक सचिव, एक विशिष्ट अधिकारी, एक मुख्य प्राविधिक आयुक्त, विभागीय जाँच आयुक्त, अवर सचिव और प्राविधिक आयुक्त नियुक्त किये जाते हैं।

केन्द्रीय सतर्कता आयोग के कार्य एवं भूमिका
(Functions and Role of Central Vigilance Commission)

केन्द्रीय सतर्कता आयोग प्रशासन में भ्रष्टाचार निवारण हेतु निम्नलिखित कार्य करता है—

1. ऐसी समस्त लेनदारियों के सम्बन्ध में जाँच करना, जिसके विषय में किसी लोक सेवक पर अनुचित उद्देश्य अथवा अनुचित तरीके से कार्य करने के कारण सन्देह किया गया हो अथवा आरोप लगाया गया हो।
2. किसी लोक सेवक के विरुद्ध इस शिकायत की जाँच कि उसने सत्ता का प्रयोग अनुचित अथवा भ्रष्ट उद्देश्यों के लिए किया है अथवा नहीं किया है अथवा किसी लोक सेवक के विरुद्ध भ्रष्टाचार, दुराचरण, सच्चरित्रता के अभाव में अथवा अन्य प्रकार के दुराचरण एवं दुर्व्यवहार सम्बन्धी शिकायत की जाँच करना।
3. आयोग अभिकरणों से प्रतिवेदन प्राप्त करता है, जिससे निरीक्षण एवं भ्रष्टाचार सम्बन्धी कार्यों पर नियन्त्रण रखा जा सके।
4. प्रशासन में सच्चरित्रता के संरक्षण हेतु प्रशासनिक कार्य पद्धति एवं कार्यप्रणाली का पुनरीक्षण करना।
5. आयोग अपने नियन्त्रण में सीधे उन शिकायतों पर विचार कर सकता है, जिनके सम्बन्ध में अग्रिम कार्यवाही की आवश्यकता होती है। यह या तो—
   (i) केन्द्रीय जाँच ब्यूरो को मामला दर्ज करके नियमित मामले के रूप में जाँच सम्बन्धी आदेश दे सकता है अथवा
   (ii) केन्द्रीय जाँच ब्यूरो द्वारा जाँच के लिए उसे सूची में लिखने सम्बन्धी हो सकता है अथवा
   (iii) सम्बन्धित अभिकरण को जाँच के आदेश देने सम्बन्धी हो सकता है।

केन्द्रीय सतर्कता आयोग की कार्यप्रणाली
(Working Procedure of Central Vigilance Commission)

केन्द्रीय सतर्कता आयोग वैयक्तिक रूप से शिकायतें प्राप्त करता है। वह विभिन्न सूचना स्रोतों से जैसे—समाचार-पत्रों से प्राप्त सूचनाएँ, संसद सदस्यों द्वारा अपने भाषणों में व्यक्त सूचनाएँ, अंकेक्षण प्रतिवेदनों में दर्शायी गई आपत्तियाँ और केन्द्रीय जाँच ब्यूरो से भी सूचनाएँ एकत्रित करता है। आयोग सदाचार समिति जैसे सामाजिक संगठनों, जिम्मेदार नागरिकों से प्राप्त सूचनाओं का भी स्वागत करता है।

लोक सेवकों के विरुद्ध भ्रष्टाचार सम्बन्धी शिकायतें प्राप्त होने पर आयोग के समक्ष कार्यवाही के निम्नलिखित विकल्प रहते हैं—

1. मंत्रालय अथवा विभाग को भेजना—केन्द्रीय सतर्कता आयोग लोक सेवक के विरुद्ध प्राप्त शिकायत की जाँच के लिए उसे सम्बन्धित मंत्रालय अथवा विभाग के पास भेज सकता है। ऐसे मामलों में मंत्रालय अथवा विभाग का सतर्कता अधिकारी आरोपों की प्रारम्भिक जाँच करने के पश्चात् अपना प्रतिवेदन केन्द्रीय सतर्कता आयोग को प्रस्तुत करता है। इसके पश्चात् आयोग मंत्रालय अथवा विभाग को सम्बन्धित मामलों में कार्यवाही करने का परामर्श देता है।

2. केन्द्रीय जाँच ब्यूरो को जाँच के आदेश देना—केन्द्रीय सतर्कता आयोग लोक सेवक के विरुद्ध शिकायत प्राप्त होने पर उसे जाँच करने के लिए केन्द्रीय जाँच ब्यूरो को जाँच का आदेश दे सकता। केन्द्रीय जाँच ब्यूरो द्वारा

अपनी जाँच का प्रतिवेदन अन्य आवश्यक तथ्यों एवं अभिलेखों सहित केन्द्रीय सतर्कता आयोग को प्रस्तुत किया जाता है। इसके पश्चात् आयोग सम्बन्धित मंत्रालय अथवा विभाग को कार्यवाही के लिए परामर्श देता है।

3. केन्द्रीय जाँच आयोग के निदेशक को जाँच के आदेश देना—लोक सेवक के विरुद्ध भ्रष्टाचार सम्बन्धी शिकायतें प्राप्त होने पर केन्द्रीय सतर्कता आयोग केन्द्रीय जाँच आयोग के निदेशक को सम्पूर्ण जाँच करने के आदेश दे सकता है। निदेशक द्वारा जाँच के परिणामों से आयोग को सूचित कर दिया जाता है, तत्पश्चात् आयोग द्वारा आवश्यक कार्यवाही के आदेश दिये जाते हैं।

यदि किसी लोक सेवक के विरुद्ध नियमानुसार जाँच के लिए राष्ट्रपति से पूर्वानुमति आवश्यक होती है तो केन्द्रीय जाँच ब्यूरो का निदेशक अपना अग्रिम प्रतिवेदन केन्द्रीय सतर्कता आयोग के माध्यम से गृह मंत्रालय को प्रेषित करता है। प्रतिवेदन की एक प्रति सम्बन्धित मंत्रालय अथवा विभाग को टिप्पणियों हेतु प्रेषित की जाती है। मंत्रालय अथवा विभाग अपनी टिप्पणियाँ केन्द्रीय सतर्कता आयोग को प्रेषित करता है। केन्द्रीय जाँच ब्यूरो का प्रतिवेदन, उस विषय के सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्री और विभागीय टिप्पणियों पर विचार करके केन्द्रीय सतर्कता आयोग को कार्यवाही करने अथवा कार्यवाही न करने के लिए गृह मंत्रालय को परामर्श देता है। इस प्रकार लोक सेवक के विरुद्ध कार्यवाही का अन्तिम आदेश गृह मंत्रालय द्वारा ही प्रसारित किया जाता है।

4. अन्य सक्षम अधिकारी की नियुक्ति का आदेश देना—जब राष्ट्रपति के अतिरिक्त यदि किसी विषय पर अन्य कोई अधिकारी कार्यवाही सम्बन्धी आदेश देने के लिए सक्षम होता है तो केन्द्रीय जाँच ब्यूरो का निदेशक अपना जाँच प्रतिवेदन उस अधिकारी को आवश्यक कार्यवाही की स्वीकृति के लिए भेजता है। यदि वह अधिकारी निदेशक द्वारा प्रस्तावित अनुमति प्रदान करने को तैयार नहीं होता है तो वह अपने अभिमत एवं कारणों तथा केन्द्रीय जाँच ब्यूरो के निदेशक के कागजात सहित सम्बन्धित मंत्रालय अथवा विभाग के माध्यम से केन्द्रीय सतर्कता आयोग को प्रेषित करता है। अधिकारी द्वारा सम्बन्धित मामले में केन्द्रीय सतर्कता आयोग के परामर्श पर भी अन्तिम कार्यवाही की जाती है।

केन्द्रीय सतर्कता आयोग ने विभिन्न मंत्रालयों और विभागों द्वारा प्राप्त शिकायतों के सम्बन्ध में कार्यप्रणाली निर्धारित कर रखी है। इन शिकायतों को सम्बन्धित मंत्रालयों एवं विभागों द्वारा निपटाया जाता है। आयोग को मंत्रालयों और विभागों से प्रतिवेदन, वक्तव्य और सूचनाएँ प्राप्त करने का अधिकार है। साथ ही आयोग द्वारा मंत्रालयों एवं विभागों को प्रशासनिक सच्चरित्रता की स्थापना के लिए समय-समय पर परामर्श प्रदान किया जाता है। आयोग किसी भी शिकायत को सीधे अपने नियंत्रण में ले सकता है।

प्रत्येक केन्द्रीय मंत्रालय और विभाग केन्द्रीय सतर्कता आयोग को त्रैमासिक प्रतिवेदन भेजते हैं जिसमें निम्नलिखित सूचनाओं का समावेश होता है—

(i) शिकायतों का निपटारा एवं शेष शिकायतें

(ii) अनाम एवं छद्म नाम से प्राप्त शिकायतों का निवारण

(iii) तीन माह से अधिक समय के लिए निलम्बित शासकीय अधिकारी।

जब भी कोई शिकायत होती है और मामलों की प्रारम्भिक जाँच होती है तो जाँच सम्बन्धी प्रतिवेदन केन्द्रीय सतर्कता आयोग को प्रेषित किया जाता है। आयोग उसका अध्ययन करके कार्यवाही के लिए परामर्श देता है।

मंत्रालय स्तर पर सतर्कता व्यवस्था
(Vigilance System at Ministry Level)

के. सन्थानम समिति ने केन्द्रीय सतर्कता आयोग के गठन के अतिरिक्त प्रत्येक मंत्रालय और विभागीय स्तर पर सतर्कता अधिकारियों को नियुक्त करने की सिफारिश की जिससे इनमें प्रभावशाली ढंग से भ्रष्टाचार को रोका जा सके। प्रत्येक मंत्रालय एवं विभाग में मुख्य सतर्कता अधिकारी की नियुक्ति केन्द्रीय सतर्कता आयोग कार्यालय के परामर्श से की जाती है। प्रत्येक मंत्रालय और विभाग में भ्रष्टाचार का उन्मूलन तथा सच्चरित्रता स्थापित करने का दायित्व सचिव अथवा विभागाध्यक्ष और मुख्य सतर्कता अधिकारी का होता। अतिरिक्त सतर्कता सम्बन्धी मामलों में वह सचिव तथा विभागाध्यक्ष के विशेष सचिव के रूप में भी कार्य करता है।

बड़े स्तर के मंत्रालयों एवं विभागों के कुछ मुख्य सतर्कता अधिकारी पूर्णकालिक अधिकारी होते हैं, जबकि छोटे मंत्रालयों एवं विभागों में सतर्कता अधिकारी अल्पकालिक अधिकारी के रूप में कार्य करते हैं। मंत्रालयों के सम्बद्ध एवं अधीनस्थ कार्यालयों में सतर्कता अधिकारी की नियुक्ति सम्बन्धित मंत्रालय एवं विभाग के मुख्य सतर्कता अधिकारी के परामर्श से की जाती है। मुख्य सतर्कता अधिकारी उपसचिव स्तर के और सतर्कता अधिकारी अवर-सचिव स्तर के होते हैं।

राज्य सतर्कता आयोग
(State Vigilance Commission)

केन्द्र की तरह राज्यों में भी प्रशासनिक तन्त्र से भ्रष्टाचार हटाने के लिए राज्य सतर्कता आयोग की 1961 से नियुक्ति की गई है। राज्य सतर्कता आयोग का अध्यक्ष राज्य सतर्कता आयुक्त होता है। यह उच्च न्यायालय के न्यायाधीश स्तर का होता है। कुछ राज्यों में सतर्कता आयुक्त का कार्यकाल 5 वर्ष है जबकि कुछ राज्यों में 5 वर्ष अथवा 65 वर्ष की आयु जो भी पहले पूर्ण हो। सतर्कता आयुक्त के अतिरिक्त राज्यों में विभागीय आयुक्त भी नियुक्त किये जाते हैं जिनका कार्य विभागीय भ्रष्टाचार एवं समान प्रकार के भ्रष्टाचार सम्बन्धी अपराधों की जाँच करना है।

राज्य सतर्कता आयोग के अधिकार एवं कार्य
(Powers and Functions of State Vigilance Commission)

राज्य स्तरीय सतर्कता आयोग को निम्नांकित अधिकार प्राप्त हैं—

1. ऐसे समस्त मामलों की जाँच करना जिनमें किसी लोक सेवक के द्वारा अनुचित उद्देश्यों एवं भ्रष्ट तरीकों से कार्य करने सम्बन्धी सन्देह अथवा आरोप है।
2. राज्य प्रशासन में सच्चरित्रता बनाए रखने के लिए प्रशासनिक पद्धतियों एव कार्य-प्रणाली का पुनरीक्षण करना।
3. आयोग द्वारा सांख्यिकी एवं अन्य सूचनाएँ एकत्रित करना जिससे सम्पूर्ण प्रशासन पर सामान्य नियंत्रण एवं निरीक्षण रखा जा सके।
4. आयोग द्वारा निम्नलिखित मामलों में भी जाँच की जा सकती है—
   (i) ऐसी शिकायत पर कि किसी लोक सेवक द्वारा अनुचित अथवा भ्रष्ट उद्देश्यों के लिए अपनी सत्ता का प्रयोग किया गया हो अथवा आवश्यकतानुसार प्रयोग न किया गया हो।
   (ii) किसी लोक सेवक जिसमें अखिल भारतीय सेवाओं के भी अधिकारी शामिल हैं जो राज्य सरकारों के अधीन सेवारत हैं, के विरुद्ध भ्रष्टाचार, दुराचरण, सच्चरित्रता का अभाव सम्बन्धी अथवा अन्य प्रकार के दोषारोपण अथवा अन्य कोई गम्भीर अपराध सम्बन्धी शिकायत।
   (iii) ऐसी समस्त शिकायतों, सूचनाओं, मामलों को जिन्हें यह उचित समझे आगामी कार्यवाही के लिए सीधे अपने नियंत्रण में ले सकता है जिनका सम्बन्ध या तो राज्य विशेष के पुलिस संगठन के मामलों को पंजीकृत करके उसकी जाँच करने से हो अथवा किसी शिकायती मामलों की सूचना छानबीन हेतु राज्य विशेष पुलिस संगठन अथवा सम्बन्धित विभाग को देने से सम्बन्धित है।

राज्य सतर्कता आयोग की कार्य-प्रणाली
(Working Procedure of State Vigilance Commission)

जिन मामलों को विशेष पुलिस संगठन की जाँच के लिए भेजा जाता है उनसे सम्बन्धित जाँच का प्रतिवेदन आयोग को प्रस्तुत किया जाता है। इसके द्वारा नियुक्तिकर्ता अधिकारी को अग्रिम कार्यवाही के सम्बन्ध में परामर्श दिया जाता है। जो मामले सीधे विशेष पुलिस संगठन द्वारा ही पंजीकृत किये जाते हैं उनके सम्बन्ध में विशेष पुलिस संगठन द्वारा सम्बन्धित सामान्य प्रशासन विभाग को सतर्कता आयोग के माध्यम से प्रतिवेदन दिया जाता है और इसकी एक प्रति सूचनार्थ कर्मचारी संगठन को भी प्रेषित की जाती है। आयोग द्वारा प्रतिवेदन की समीक्षा की जाती है और कर्मचारी अधिकरण के उत्तर पर विचार किया जाता है। तत्पश्चात् इस पर विचार किया जाता है कि उस मामले में विभागीय कार्यवाही समुचित रहेगी अथवा उस पर अभियोग चलाया जाना चाहिए।

आयोग द्वारा प्रतिवर्ष एक वार्षिक प्रतिवेदन तैयार करके राज्य सरकार को प्रेषित किया जाता है। राज्य सरकार इसे विचारार्थ व्यवस्थापिका के सम्मुख रखती है। प्रतिवेदन के माध्यम से यह आयोग उस और ध्यान आकर्षित करने का प्रयास करता है जिनमें इसकी सिफारिशों को नहीं माना है अथवा क्रियान्वित नहीं किया है।

4 जनवरी, 2000 को दिल्ली में आयोजित सेमिनार "भ्रष्टाचार इक्कीसवीं शताब्दी की एक चुनौती" विषय पर केन्द्रीय सतर्कता आयोग के अध्यक्ष एन. विट्ठल ने भारत में भ्रष्टाचार के निवारण हेतु 13 सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की। उनका कहना है कि वर्तमान भ्रष्टाचार विरोधी कार्यवाही प्रभावी नहीं है जिसके कारण बैंक धोखाधड़ी के जैसे मामलों में अपराधी बरी हो जाते हैं, क्योंकि शिकायतों की सूची के बारे में जानकारी देने की कोई परिपाटी नहीं रही। उन्होंने बताया कि 13 सूत्री कार्यक्रम में भ्रष्ट सरकारी अधिकारियों को गिरफ्त में लेने के प्रावधान के साथ-साथ, उनके खिलाफ तुरन्त अनुशासनात्मक कार्यवाही शुरू करना भी शामिल है।

36

प्रशासकीय सुधार : ओ एण्ड एम, कार्यमापन
(Administrative Reforms : O & M, Work Measurement)

प्रशासन की कोई भी व्यवस्था तभी निरन्तर प्रभावशाली और गतिशील रह सकती है जब उसमें आवश्यकतानुसार सुधार लाने के लिए निश्चयात्मक, व्यवस्थित एवं संगठित प्रयास होते रहें। सुधार के द्वार बन्द कर देने का दूसरा अर्थ है अपनी उपयोगिता का ह्रास और सजीवता का नाश। प्रशासन में सुधार के आधुनिक प्रयास व्यवस्थित रूप से 18वीं शताब्दी से ही आरम्भ हो गए थे। इनका प्रारम्भ मुख्यतः उद्योगों के क्षेत्र में हुआ और 19वीं सदी के अन्तिम चरण में जाकर सरकारी प्रशासन के क्षेत्र में भी सुधार-प्रयत्न शुरू हो गए। प्रबन्धकीय सुधार आन्दोलन से सम्बद्ध कुछ प्रसिद्ध नाम डॉ. अवस्थी एवं माहेश्वरी ने इस प्रकार गिनाए हैं—

"फ्रांस के मोशिए पेरासे (Mousieur Perrosset of France, 1780) जिन्होंने आलपिन बनाने की निर्माण-प्रणाली का अध्ययन किया था। इंग्लैण्ड के चार्ल्स बैबेज (Charles Bebbages of England, 1792-1871) ने 'डिफरेंस ऐंजिन' (Difference Engine) का आविष्कार किया जो आज के इलैक्ट्रॉनिक कम्प्यूटर (Electronic Computor) का पूर्वज है। संयुक्त राज्य अमेरिका के हेनरी रॉब्सन टाउन (Henry Robson Town of the U.S.A., 1844-1924) ने प्रबन्धों द्वारा अपने अनुभव का संगठित रूप में विनिमय का प्रस्ताव किया था। संयुक्त राज्य अमेरिका के फ्रेडरिक विन्स्लो टेलर (Frederick Winslow Taylor of the U.S.A., 1856-1915) ने वैज्ञानिक प्रबन्ध (Scientific Management) का प्रतिपादन किया। संयुक्त राज्य अमेरिका के ही हेनरी लारेंस ग्रान्ट (Henry Laurance Grant of U.S.A., 1861-1919) अपने गैण्ट चार्ट के लिए प्रसिद्ध हैं। यह चार्ट आज कार्य-अध्ययन (Work-Study) में बहुत प्रयोग किया जाता है। फ्रांस के हेनरी फेयोल (Henry Fayol of France, 1841-1925) ने शीर्षस्थ प्रबन्ध तथा प्रशासन के अध्ययन के लिए विश्लेषणात्मक उपागम का प्रयोग किया था। संयुक्त राज्य अमेरिका के फ्रैंक बंकर गिलब्रेथ (Frank Bunker Gilbraih of the U.S.A., 1858-1924) ने प्रबन्ध की बुनियादी तकनीक के रूप में गति-अध्ययन (Motion Study) का विकास किया था और संयुक्त राज्य अमेरिका के जॉर्ज एल्टन मेयो (George Elton Mayo of the U.S.A., 1880-1949) ने प्रसिद्ध हॉथोर्न प्रयोग (Hawthorne Experiment) किए थे।"

सन् 1937 में अमेरिकी राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त 'प्रशासनिक प्रबन्ध सम्बन्धी समिति' (Committee on Administrative Management) ने 'प्रतिदिन, प्रतिवर्ष और प्रत्येक परिस्थिति में लागत कम करने, दशा सुधारने एवं कार्य का स्तर उठाने के लिए केन्द्रीय कार्यपालिका-निर्देशन पर बल दिया था। जब कभी हम प्रशासन में सुधार की बात करते हैं तो इसका स्पष्ट मन्तव्य इन तीन बातों से होता है—(1) प्रशासकीय संगठन में सुधार, (2) प्रशासकीय प्रणाली में सुधार, एवं (3) प्रशासनिक अभिकरणों में काम कर रहे कर्मचारियों की कुशलता एवं उत्साह और ईमानदारी में वृद्धि। प्रशासकीय सुधार के ये तीनों चरण परस्पर सम्बद्ध हैं। इन तीनों ही बातों में जब कभी परिवर्तन और सुधार की बात सोची जाती है तो उसका उद्देश्य प्रशासकीय सुधार ही होता है।

प्रशासकीय सुधार के क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययन
(Some Important Studies in the Field of Administrative Reforms)

प्रशासकीय सुधारों की दिशा में जो अध्ययन अथवा प्रयत्न किए गए हैं उनकी एक लम्बी सूची है। इस क्षेत्र में प्रमुख अध्ययन और प्रयत्न इस प्रकार हैं—

1. कैमरलिस्ट्स (Cameralists)

17वीं शताब्दी में कुछ जर्मन तथा ऑस्ट्रियायी विद्वानों और लोक प्रशासकों ने व्यवस्थित रूप से प्रशासन में रुचि प्रदर्शित की और वित्तीय प्रशासन के सम्बन्ध में अपने मूल्यवान सुझाव दिए। ये विद्वान् कैमरलिस्ट्स समूह *(Cameralists Group)* के नाम से जाने जाते हैं। इस समूह का सबसे प्रसिद्ध विद्वान् जॉर्ज जिंक (George Zinke) था। कैमरलवाद (Cameralism) पर उसकी ग्रन्थ-सूची में 2,000 से भी अधिक नाम (Titles) थे जिनमें से 500 वित्तीय प्रशासन से सम्बन्धित और 500 अन्य विशेष प्रशासकीय विषयों से सम्बन्धित थे। इनमें से 164 तो केवल कृषि-प्रशासन पर ही थे। 'कैमरलिस्ट लाइब्रेरी' (Cameralist Library) नामक उनकी प्रसिद्ध पुस्तक राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों और प्रक्रियाओं, वित्त, विज्ञान तथा लोक प्रशासन पर चार खण्डों में लिखित एक विशाल ग्रन्थ है।

2. वैज्ञानिक प्रबन्ध (Scientific Management)

प्रशासकीय सुधार के किसी भी अध्ययन में अमेरिका के फ्रेडरिक टेलर (Frederick W. Taylor, 1856-1915) का नाम विशेष महत्त्व रखता है। उसने 1911 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' के सिद्धान्त के रूप में अपने विचारों का प्रतिपादन किया और लोक प्रशासन की दुनिया में 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' (Scientific Management) के नवीन युग का सूत्रपात किया। मानवीय व्यवहार एवं संगठन सम्बन्धी पिछले अध्याय में वैज्ञानिक प्रबन्ध और मानव-सम्बन्धों की जो तुलनात्मक विशेषताएँ बताई गई हैं उनसे वैज्ञानिक प्रबन्ध की मान्यताएँ बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती हैं। फ्रेडरिक टेलर ने अपने अध्ययन का प्रारम्भ एक छोटे कारखाने की समस्याओं के निरीक्षण से किया और अपव्यय, मालिक एवं कर्मचारियों के आपसी संघर्ष, उत्पादन-साधनों के अकार्यकुशल प्रयोग तथा नियोजन के अभाव के कारणों की जाँच की। उन्होंने कारखानों और दूकानों में उत्पादन-रीतियों को उन्नत करने के लिए वैज्ञानिक प्रबन्ध की वकालत की और इस वैज्ञानिक प्रबन्ध के निम्नलिखित चार सिद्धान्त प्रतिपादित किए—

(क) पुराने घिसे-पिटे तरीकों के स्थान पर 'विज्ञान' अर्थात् वैज्ञानिक पद्धतियों का विकास।

(ख) कर्मचारियों का वैज्ञानिक चयन और उनका प्रगतिशील प्रशिक्षण तथा विकास।

(ग) वैज्ञानिक पद्धति से चुने हुए कर्मचारियों और 'विज्ञान' में निकटता स्थापित करना।

(घ) प्रबन्धकर्त्ताओं और कर्मचारियों में कार्य का लगभग समान विभाजन।

फ्रेडरिक टेलर का मत था कि वैज्ञानिक प्रबन्ध की रचना उपर्युक्त चारों तत्त्वों के सम्मिलित रूप से होती है। *यहाँ किसी भी तत्त्व की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।*

वैज्ञानिक प्रबन्ध की पद्धतियाँ—वैज्ञानिक प्रबन्ध की यान्त्रिक रचना अथवा पद्धतियाँ सामान्यतः वही हैं जो वैज्ञानिक पद्धति की हैं। इसमें मुख्यतया (1) समय और गति का अध्ययन (Time and Motion Study), (2) कार्यानुसार प्रधानता (Functional Foremanship), (3) प्रमापीकरण (Standardisation), (4) नियोजन विभाग की स्थापना, (5) समय बचाने वाले उपायों का प्रयोग, (6) कर्मचारियों के लिए अनुदेश कार्य एवं (7) नियत कार्यानुसार बोनस और मजदूरी की भेद-मूलक दरों की व्यवस्था सम्मिलित है—टेलर ने प्रबन्धकों का यह उत्तरदायित्व माना है कि वे (क) कर्मचारियों द्वारा किए जाने वाले कार्यों की व्याख्या करें, (ख) काम को ध्यान में रखते हुए समुचित कर्मचारी चुनें एवं (ग) कर्मचारियों को इस बात के लिए प्रेरित करें कि वे उच्च स्तर का कार्य सम्पादित करें।

3. समय तथा गति का अध्ययन (Time and Motion Studies)

वैज्ञानिक प्रबन्ध आन्दोलन ने 'समय व गति का अध्ययन' नामक एक अन्य आन्दोलन को जन्म दिया। प्रशासकीय प्रबन्ध में 'समय और गति' का अध्ययन किया जाने लगा। प्रश्न यह था कि किसी कार्य को सम्पादित करने का प्रामाणिक समय क्या होना चाहिए? इस अध्ययन का उद्देश्य यह था कि उत्पादन में लगने वाला समय कम हो जाए और उत्पादन की गति में वृद्धि हो जाए। एक 'कार्य' (Job) के लिए आवश्यक क्रियाओं की श्रृंखला का अध्ययन करके 'अनुत्पादक' अथवा 'अलाभकारी' क्रियाओं का उन्मूलन किया जाए। यद्यपि 'समय और गति' सम्बन्धी अध्ययन सरकारी विभागों में लोकप्रिय नहीं हो पाए हैं, किन्तु इन्हीं अध्ययनों से उत्पन्न 'कार्य-सरलीकरण' (Work Simplification) की प्रक्रियाएँ अब सरकारी क्षेत्र में लोकप्रिय होती जा रही हैं। वर्तमान में भी इस पद्धति का महत्त्व बराबर बना हुआ है।

4. पद्धतियाँ-समय-माप (Methods-Time-Measurement)

फ्रेडरिक टेलर का वैज्ञानिक प्रबन्ध, जिसे समय तथा गति का अध्ययन कहा जाता है, धीरे-धीरे अनेक क्षेत्रों में लोकप्रिय होने लगा है और न केवल विश्वव्यापी सरल गतियों का ही विकास करने का प्रयास किया गया है बल्कि कार्यों के लिए विश्वव्यापी समय-स्तर (Time Standards) भी विकसित करने के सतत प्रयत्न किए गए हैं। इस दिशा में एक प्रसिद्ध कार्य 'पद्धतियाँ-समय-माप' (Methods-Time-Measurement) है। परम्परागत समय और गति के अध्ययन में मुख्य रूप से दो कठिनाइयाँ प्रस्तुत होती हैं—एक अत्यधिक व्यय की और दूसरी कार्यकर्त्ताओं तथा पर्यवेक्षकों दोनों के विरोध और प्रतिरोध की। पद्धतियाँ-समय-माप द्वारा इन कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। फिफनर एवं शेरवुड के कथनानुसार—"पद्धतियाँ-समय-माप (Methods-Time-Measurement) पूर्व-निश्चित समय-मापदण्डों (Time Standards) की स्थापना करके इन बाधाओं को दूर करने का प्रयास करता है। ये मापदण्ड विभिन्न दशाओं के अन्तर्गत बड़े आकार की गतियों के लिए आवश्यक समय के अध्ययन द्वारा निश्चित किए जाते हैं। अगला कदम सूत्र-संगठनों की पद्धतियों में प्रशिक्षण देना है ताकि कोई भी कार्यदेशक (Foreman) आवश्यक गतियों और उनकी शृंखला के प्रयोग द्वारा कार्य की रूपरेखा बना सके। इसका लाभ यह है कि सूत्र-संगठन मापदण्ड निर्धारित कर सकते हैं और फलस्वरूप बहुत से विचार-विमर्श से बचा जाता है और जब कभी वे प्रस्तुत भी होते हैं तो यह देखने के बजाय कि कितना समय आवश्यक है, देखा यह जाता है कि कौनसी गतियाँ आवश्यक हैं। यदि गति को शृंखला दे दी जाए तो कार्यानुदेश (Job Instructions) को लिखने वाले कर्मचारी प्रामाणिक समय-सारणियाँ (Standard Time-Tables) की सहायता लेकर आशानुकूल मापदण्ड (Expected Standards) प्राप्त कर सकते हैं।"

5. कार्य-संचालन सम्बन्धी अनुसन्धान (Operations Research)

प्रशासनिक कार्यकुशलता में वृद्धि के लिए अपनाई जाने वाली एक अन्य विधि कार्य-संचालन सम्बन्धी 'अनुसंधान' की है। "यह कार्य करने वाले संगठन का सख्यात्मक अध्ययन है जो ऐसे उपायों को खोजता है जिनके द्वारा संगठन की कार्य-प्रणाली में सुधार किया जा सके।" इसमें कार्य-संचालन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण अपनाया जाता है और उस सम्बन्ध में विशेष प्रकार का अनुसन्धान किया जाता है। इसमें सम्पूर्ण समस्या पर विचार किया जाता है, समस्या के किसी एक भाग पर नहीं। यह अनुसन्धान सख्यात्मक आँकड़ों पर आधारित होता है और गणितीय आदर्शों का निर्माण करता है। कार्य संचालन के अनेक स्तरों पर अनुसंधान किया जाता है और साधनों के अधिकतम उपयोग के उपाय खोजे जाते हैं। कार्य-संचालन संबंधी अनुसन्धान 'टीम वर्क' (Team Work) में विश्वास करता है।

6. हॉथोर्न प्रयोग (Hawthorne Experiments)

हॉथोर्न प्रयोग प्रशासकीय प्रबन्ध में शिकागो स्थित वेस्टर्न इलैक्ट्रिक कम्पनी के निर्माण-इकाई हॉथोर्न कारखाने में संपन्न किए गए थे। ये प्रयोग एल्टन मेयो के नेतृत्व में 'Harvard Business School' के एक दल ने किए थे, जो लगभग 16 वर्ष (1924-1940) तक चलते रहे। हॉथोर्न प्रयोगों ने प्रशासन को नए आयाम प्रदान किए हैं।

7. संगठन तथा प्रणालियाँ (Organization and Methods O. & M.)

प्रशासकीय सुधार के क्षेत्र में यह अत्यावश्यक है कि संगठन और प्रणालियों में निरन्तर सुधार होते रहने चाहिए और इस प्रकार उन्हें समयानुकूल बनाए रखना चाहिए। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, भारत आदि देशों में प्रशासनिक सुधार के लिए एक स्थायी इकाई की स्थापना जिसे ओ. एण्ड एम. (O. & M.) नाम दिया गया है, लोकप्रिय हो गई है।

'ओ. तथा एम.' शाब्दिक रूप से 'संगठन' (Organization) तथा 'प्रणाली' (Method) शब्दों के प्रथम अक्षर हैं और इन शब्दों का व्यवहार प्रशासन के महत्त्वपूर्ण मोड़ की ओर संकेत करता है। 'ओ. तथा एम. शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है—व्यापक अर्थ में और संकुचित अर्थ में। व्यापक अर्थ में इसका तात्पर्य संगठन (Organization) और प्रबन्ध (Management) से है जिसमें प्रबन्ध की सभी समस्याएँ या प्रक्रियाएँ सम्मिलित होती हैं, यथा—नियोजन, समन्वय, पर्यवेक्षण, पत्र-प्रेषण, निर्देशन, नेतृत्व आदि। संकुचित अर्थ में इसका तात्पर्य संगठन (Organization) तथा पद्धतियों या प्रणालियों (Methods) से है। इस रूप में ओ. तथा एम. का सम्बन्ध केवल लोक-निकायों की संगठन और उनकी कार्यालय सम्बन्धी कार्य-विधियों से ही होता है। 'ओ. तथा

एम. प्रशासकीय ढाँचे का विश्लेषण करता है, कार्य-विधि सम्बन्धी दोषों और त्रुटियों का पता लगाता है तथा उन्हें दूर करने के लिए उपाय सुझाता है। ओ तथा एम. कार्यकर्ता (O. & M. Worker) प्रशासकीय विश्लेषक (Administrative Analyser) होते हैं, जिनका कार्य संगठन का अध्ययन करना और उत्पादकता तथा कार्यकुशलता की कमी, विलम्ब आदि के कारणों की ओर संकेत करना होता है। ओ तथा एम. का सरकार की सामान्य नीतियों से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। इसका सम्बन्ध उन उपायों और साधनों से होता है जिनके द्वारा प्रशासकीय कुशलता में वृद्धि हो सके और सरकारी काम-काज कम लागत तथा श्रम द्वारा सम्पन्न हो सके। ओ. एण्ड एम के अर्थ को हम इन विभिन्न परिभाषाओं से भली प्रकार समझ सकते हैं जो इसके उद्देश्य और कार्यों की दृष्टि से की जाती हैं। प्रो एल डी ह्वाइट के अनुसार, "संगठन और प्रणाली के कार्य की परिभाषा मोटे रूप में इस प्रकार की जा सकती है—कार्यसंचालन के सभी पहलुओं में सुधार, विशेषकर प्रक्रियाओं और सम्बन्धों (Procedures and Relationships) में।"[1] मिलवर्ड का कहना है, "ओ तथा एम के साधारण कार्य हैं—समीक्षाधीन संगठन के ढाँचे का परीक्षण करना और प्रशासकीय एवं लिपिक कार्यवाहियों तथा रीतियों का, कार्यालय के यन्त्रीकरण और सज्जा का, कार्यालय की रूपरेखा और कार्य-दशाओं का अध्ययन करना।" अनुमानों पर ब्रिटिश प्रवर समिति, (British Select Committee on Estimates) 1947 के अनुसार, "सिविल सेवा में ओ तथा एम का उद्देश्य सरकारी शासन-तन्त्र में अधिकतम कुशलता लाना और संगठन की वैज्ञानिक प्रणालियों के कुशल उपयोग द्वारा लागत तथा श्रम (Cost and Labour) में कमी करना है।"

ओ तथा एम केवल एक प्रविधि या तकनीक रूप में देखना संकुचित दृष्टिकोण है। विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त करने पर इसका सम्बन्ध प्रबन्ध (Management) की समस्त प्रक्रियाओं से होता है। इस अर्थ में यह केवल एक तकनीक ही नहीं रह जाती, अपितु कार्य (Function) बन जाती है—अर्थात् प्रशासन के सुधार का कार्य एपलबी ने ओ तथा एम इकाई (O. & M. Unit) के व्यापक कार्यक्षेत्र की कल्पना की थी और इसकी स्थापना के लिए भारत सरकार से निम्नलिखित सिफारिश की थी—

"मैं यह सिफारिश करता हूँ कि भारत सरकार एक केन्द्रीय कार्यालय की स्थापना पर विचार करे जिसे संरचना, प्रबन्ध तथा कार्यविधि के सम्बन्ध में विस्तृत और गम्भीर नेतृत्व प्रदान करने का उत्तरदायित्व सौंपा जाए। अत्यधिक तकनीकी तथा वैज्ञानिक ढंग के स्तर पर वह कार्य-मापन (Work Measurement), कार्य-प्रक्रिया (Work Flow) कार्यालय प्रबन्ध (Office Management), नस्तीकरण प्रणाली स्थान प्रबन्ध (Space Arrangement) तथा अन्य ऐसी बातों पर ध्यान दे, दूसरे स्तर पर इसे सामान्य सरकारी संरचना सम्बन्धी *अध्ययनों तथा प्रस्तावों का भार सौंपा जाना चाहिए। मुझे आशा है कि इस स्तर पर भी यह नौकरशाही के भीतर* तथा नौकरशाही व जनता के बीच प्रजातन्त्रीय तरीकों तथा रीतियों के लिए उत्तरदायी होगी।"

किपलिंग के मतानुसार संगठन तथा प्रणालियों में सुधार के लिए निम्नलिखित बातों का निरन्तर सर्वेक्षण किया जाना चाहिए और उनके तार्किक उत्तरों की खोज की जानी चाहिए—(क) कौन-कौन सी गतिविधियाँ संचालित हो रही हैं ? (ख) ये गतिविधियाँ क्यों वांछनीय हैं ? (ग) किसी कार्य को कहाँ किया जाना चाहिए ? (घ) उसको कब प्रारम्भ किया जाना चाहिए ? और (ङ) उसको किसी प्रकार किया जाना चाहिए ? इस प्रकार 'ओ. तथा एम' में संगठन से सम्बन्धित सभी प्रश्नों पर तर्कपूर्ण दृष्टि से विचार किया जाता है।

ओ. तथा एम. के उद्देश्य और कार्य

ओ. तथा एम. के उद्देश्य निम्नानुसार हैं—

1. सरकारी विभागों की विभिन्न प्रक्रियाओं का अध्ययन करना और उनके सरलीकरण का सुझाव देना।
2. सरकारी विभागों के कर्मचारियों की संख्या एवं कार्य-भार की दृष्टि से उनके कार्य की मात्रा के सम्बन्ध में परामर्श देना।
3. सरकारी कार्यों में विलम्ब के कारणों की खोज करना और उनको दूर करने के उपाय सुझाना।
4. शासन में मितव्ययता लाने के तरीके खोजना।
5. लालफीताशाही पर अंकुश लगाना।
6. विभागों द्वारा अभिलेख आदि किस प्रकार रखे जाएँ, इस पर विचार करना।
7. सरकार के संगठनों और विभागों तथा उनकी प्रक्रियाओं को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के सुझाव देना।

1. *White Op. cit., p 218*

8. फाइलों के जाने-आने (Movements) का अध्ययन करना।
9. कर्मचारियों में कार्यक्षमता की वृद्धि के लिए सामान्य चेतना का विकास करना।
10. शक्ति का प्रत्यायोजन (Delegation of Power) किस रूप में और किस सीमा तक किया जाए, इस पर सुझाव देना।
11. विभागीय संगठन के सम्बन्ध में सरकार को परामर्श देना।
12. विभागों को उनकी त्रुटियों से अवगत कराना।
13. सरकार के विभिन्न विभागों में संचार अथवा विचारों के आदान-प्रदान की व्यवस्था करना।
14. प्रशासन में कुशलता का निरन्तर विकास करना तथा उन तरीकों की योजना जिनसे लोक-कल्याणकारी राज्यों के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके।

उपर्युक्त कार्यों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ओ. तथा एम. के उद्देश्य बहुत व्यापक हैं। डॉ. ह्वाइट के अनुसार संगठन तथा प्रणालियों (O & M.) के अन्तर्गत के वास्तव में कितने प्रकार के कार्य सम्मिलित हैं, इसकी कोई सूची तैयार करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

ओ. एण्ड एम. का महत्व

ओ. तथा एम. कुशल प्रशासन का एक शक्तिशाली अस्त्र है जिसका 99 प्रतिशत कार्य संगठन की जिन्दगी को निकाल फेंकना और एक प्रतिशत कार्य की प्रेरणा है। यह पूर्णतया परामर्शदात्री प्रकृति का होता है और विभागीय प्रमुख इसकी सलाह को स्वीकार कर भी सकता है और नहीं भी। किसी भी विभाग के कुशल प्रबन्ध का अन्तिम दायित्व कार्यकारी प्रमुख (Executive Chief) का ही होता है, वही इस बात का निर्णय करता है कि किन सिफारिशों को लागू किया जाए और किनको नहीं। ओ. तथा एम. से अपेक्षित है कि वह अपना ध्यान विभाग के कार्यों के सुधार पर केन्द्रित करे, केवल विभाग के दोषों को ढूँढने पर ही नहीं। इसके प्रयत्न रचनात्मक होने चाहिए, विध्वंसात्मक नहीं। ओ. तथा एम. इकाई एक सकारात्मक (Positive) अभिकरण है, न कि नकारात्मक (Negative)। इस इकाई के कुशलता-विशेषज्ञ मन्त्रालयों के मित्र और शुभचिन्तक होते हैं न कि उनके आलोचक। ओ. तथा एम. को अत्यधिक तकनीकी बनने से बचना चाहिए और 'सामान्य बुद्धि' पर आधारित सिफारिशें ही देनी चाहिए। इसका कार्य इतना अधिक विशिष्ट न बन जाए कि केवल विशेषज्ञ ही उसे समझ सकें इसीलिए ओ. तथा एम. को 'संगठित सामान्य बुद्धि' (Organised Common Sense) भी कह दिया जाता है।

सारांशत, प्रशासनिक सुधार एक अनवरत् चलने वाली प्रक्रिया है, जिसकी वर्तमान में सभी देशों में आवश्यकता अनुभव की जा रही है।

भारत में प्रशासकीय सुधार
(Administrative Reforms in India)

समय-समय पर भारत में प्रशासकीय सुधारों का सूत्रपात करने के लिए विभिन्न आयोगों की नियुक्ति की जाती रही है। इसके साथ ही इस सम्बन्ध में लोक प्रशासन के मूर्धन्य विचारकों के सुझाव भी आमन्त्रित किये जाते रहे हैं। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में ओ. तथा एम. इकाई की स्थापना की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में प्रशासनतंत्र का तेजी से विस्तार होने लगा और शासन को मितव्ययी तथा कार्यकुशल बनाने और प्रशासन के गिरते हुए स्तर को रोकने के लिए सुझाव देने हेतु जी.ए. आयगर का एक व्यक्तिय आयोग नियुक्त किया गया। सन् 1949 में आयगर आयोग ने 'भारत में शासन-तन्त्र का पुनर्गठन' (Reorganization of Government Machinery in India) पर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए ओ. तथा एम. की स्थापना पर विशेष बल दिया। सन् 1949 में ही मितव्ययिता समिति (Economy Committee) तथा मानव-शक्ति अभाव समिति (Man-power Shortage Committee) ने, सन् 1952 में योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना में और 1953 में पाल एच. एपलबी ने (जिन्होंने भारत में प्रशासन का सर्वेक्षण किया था) अपने प्रतिवेदनों में ओ. तथा एम. की आवश्यकता पर बल दिया। इसके फलस्वरूप मार्च, 1954 में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल सचिवालय में ओ. तथा एम. इकाई की स्थापना की गई। मार्च, 1964 में जब गृह-मन्त्रालय में प्रशासनिक सुधार विभाग की स्थापना की गई तो संगठन तथा प्रणाली सम्भाग (O. & M. Division) को भी उसमें स्थानान्तरित कर दिया गया।

भारत में ओ. एण्ड एम. इकाई का संगठन—ओ. तथा एम. का एक निदेशक (Director) होता है जो भारत सरकार के संयुक्त सचिव (Joint Secretary) के स्तर का एक अंशकालिक अधिकारी होता है। उसकी सहायता के लिए एक उपनिदेशक (Deputy Director) तथा एक अन्य अधिकारी होता है जिसे 'निदेशक

सहायक' (Assistant to the Director) कहा जाता है। निदेशक मन्त्रालयों के अनौपचारिक दौरे करता है और उनकी कार्यविधियों की जाँच-पड़ताल करता है। निदेशक को अधिकार होता है छोटे-छोटे मामलों में वह मौके पर ही परामर्श दे दे। ओ तथा एम कार्य विभिन्न मन्त्रालयों और विभागों में स्थित ओ तथा एम कोष्ठों (O & M Cells) द्वारा संचालित किया जाता है। प्रत्येक कोष्ठ एक उपसचिव की देख-रेख में काम करता है। इस अधिकारी को अपने सामान्य कार्यों के साथ ओ तथा एम अधिकारी के रूप में कार्य करना होता है। संगठन तथा प्रणाली कोष्ठ (O & M Cell) निरीक्षण करते हैं, कार्य-निपटारे की गति के सम्बन्ध में आँकड़े इकट्ठे करते हैं, विलम्बित मामलों की जाँच करते हैं और कार्य-विधियों में सुधार के उपाय सुझाते हैं।

ओ. एण्ड एम. के उद्देश्य—संगठन तथा प्रणाली (O & M) के पूरे संगठन के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं—

1. व्यय घटाना,
2. मानव-शक्ति (Man-power) को बचाना
3. कार्य-विधि को सरल और सुविधाजनक बनाना
4. कार्य-विधि में काम आने वाली सामग्री की बचत करना
5. कार्य की गति को बढ़ाना एवं
6. संगठन में सुधार करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए ओ तथा एम संगठन जिन साधनों का उपयोग करता है वे मुख्यत ये हैं—अन्वेषण एवं अनुसंधान (Research and Investigation) प्रशिक्षण (Training) समन्वय (Co-ordination), सूचना (Information) प्रकाशन (Publication)। ओ तथा एम इस बात का अन्वेषण करता है कि विभिन्न प्रशासकीय अभिकरण किस प्रकार के संगठन और किन प्रक्रियाओं तथा रीतियों को अपनाए हुए हैं। इन अन्वेषणों के आधार पर वह सुधार और विकास के लिए अनुसंधान करता है और संगठन और प्रणालियों के सम्बन्ध में नए विचारों का प्रतिपादन करता है। ओ तथा एम यह अनुसंधान करता है कि योजना, पर्यवेक्षण, लेखा रखने, प्रत्यायोजन, बजट-निर्माण आदि विभिन्न क्षेत्रों में सुधार और विकास की क्या सम्भावनाएँ हैं। विभिन्न विभागों के अधिकारियों को ओ तथा एम के कार्य में प्रशिक्षण दिया जाता है। ओ तथा एम विभिन्न क्षेत्रों और विभागों में संगठन तथा प्रणाली सम्बन्धी अनुसंधानों और विकास कार्यों में समन्वय स्थापित करता है। ओ तथा एम का यह भी एक महत्वपूर्ण काम है कि वह सरकार के सभी स्तरों पर संगठन तथा प्रणाली से सम्बन्धित सूचना भेजे। यह संगठन तथा प्रणाली से सम्बन्धित साहित्य के प्रकाशन द्वारा भी अपने कार्य को प्रोत्साहन देता है। इस तरह से ओ तथा एम अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए वैज्ञानिक तरीके अपनाता है।

भारत में प्रशासनिक सुधार आन्दोलन
(Movement for Administrative Reforms in India)

नए राज्यों के निर्माण, लोक सेवाओं के विस्तार, विभागों तथा अन्य एजेन्सियों में वृद्धि, सरकारी उद्यमों की समस्याओं और विकास के प्रमुख साधन के रूप में प्रशासनिक व्यवस्था के बारे में सामान्य रुचि आदि कारणों से केन्द्र तथा राज्यों में बार-बार प्रशासनिक सुधारों सम्बन्धी जाँच की गई है। केन्द्र में इस प्रकार के अनुसंधान अधिक हुए हैं क्योंकि राज्यों की अपेक्षा केन्द्र की जिम्मेदारियाँ अधिक हैं।

स्वतन्त्रता पूर्व प्रयास

यद्यपि 1939 से पहले प्रशासन के सम्बन्ध में अनेक आयोगों ने प्रतिवेदन दिए तथापि प्रशासनिक सुधारों के बारे में अनुसंधान तथा प्रतिवेदन की प्रक्रिया में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद गम्भीरता आई थी। किसी भी महायुद्ध के समय बिना अधिक सोच-विचार के प्रशासन में विस्तार होता है और विविधता आती है तथा युद्ध की समाप्ति पर प्रशासन को सुव्यवस्थित करने के प्रयत्न किए जाते हैं। ये दो ऐसी समस्याएँ हैं जो अब तक उपस्थित होती रही हैं। रिचर्ड टोटेनहम वे-पहले व्यक्ति थे जिन्होंने प्रशासन के विकास सम्बन्धी कार्यों पर 1945-46 में अपने प्रतिवेदन में प्रकाश डाला। उन्होंने अपने प्रतिवेदन में एक कार्यकुशल सचिवालय की भी सिफारिश की। फिर सन् 1946 में नियोजी सलाहकार योजना बोर्ड ने योजना आयोग की स्थापना की सिफारिश की और राष्ट्रीय विकास परिषद् जैसे संगठन निर्माण के लिए भी कहा साथ ही आर्थिक विकास हेतु जिला प्रशासन के महत्त्व पर जोर दिया। यह एक उल्लेखनीय बात है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व किए गए इन दोनों प्रयासों द्वारा आगामी चार महत्वपूर्ण प्रशासनिक गतिविधियों की पूर्व-सूचना दी गई, किन्तु उस समय यह कल्पना नहीं की जा सकी कि इनका स्वरूप इतना विशाल हो जाएगा।

स्वतन्त्रता पश्चात् प्रयास

स्वतन्त्रता और विभाजन ने कर्मचारियों तथा कार्यविधि को युक्तियुक्त बनाने की दिशा में बड़ी समस्याएँ उपस्थित कीं और 1947 की सचिवालय पुनर्गठन समिति ने अत्यावश्यक समस्याओं के बारे में तदर्थ आधार पर विचार किया। अगले वर्ष दो और समितियों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रशासन के सम्बन्ध में प्रतिवेदन दिए। कांग्रेस द्वारा 1939 में स्थापित की गई राष्ट्रीय योजना समिति ने प्रशासन में विकेन्द्रीकरण के पक्ष में प्रतिवेदन दिया जिसमें एक केन्द्रीय योजना संगठन बनाने का सुझाव भी था। उसी वर्ष मितव्ययिता सम्बन्धी समिति की स्थापना भी की गई जिसने कुछ व्ययों की पुनरावृत्ति को रोक कर प्रशासनिक व्यय को कम करने पर विशेष बल दिया।

अगले वर्ष केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के एक प्रभावशाली मन्त्री गोपालास्वामी आयंगर ने सरकार के केन्द्रीय तन्त्र का पुनर्गठन करने के बारे में विस्तृत प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। कार्य के आधार पर मन्त्रालयों के पुनर्गठन की उनकी मुख्य सिफारिश (जो हेल्डेन और ब्राउनलो प्रतिवेदनों से मिलती-जुलती थी) एक तरफ रख दी गई, किन्तु उनकी सिफारिशों के अनुसार एक मन्त्रिमण्डल-सचिव की नियुक्ति की गई। दो वर्ष बाद ए. डी. गोरवाला ने दो प्रतिवेदन दिए। पहले प्रतिवेदन में प्रशासन में राजनीतिज्ञों के हस्तक्षेप का उल्लेख था और मन्त्री तथा असैनिक कर्मचारियों के बीच सम्बन्धों के विषय में ब्रिटिश सिद्धान्त अपनाने की सिफारिश की गई थी। यह प्रतिवेदन सरकारी उद्यमों सम्बन्धी उनके दूसरे प्रतिवेदन की अपेक्षा अधिक कारगर हुआ। दूसरे प्रतिवेदन में सभी सरकारी उद्यमों में कुशल प्रबन्ध तथा उनका केवल एक बोर्ड द्वारा समन्वय करने पर जोर दिया गया।

तत्पश्चात् लोक प्रशासन और सरकारी उद्यमों के सम्बन्ध में एपलबी के दो प्रतिवेदन प्रस्तुत हुए। दोनों प्रतिवेदनों में सक्रियता, लोकसेवाओं के विस्तार, कर्मचारियों के विस्तृत क्षेत्र से भर्ती किए जाने और लेखा-परीक्षा की बाधाएँ दूर करने का जोरदार समर्थन किया गया। बाद की गतिविधियों ने इस सामान्य दृष्टिकोण को उचित ठहराया है, यद्यपि उनकी विस्तृत सिफारिशों में से केवल दो ही क्रियान्वित की जा सकीं। क्रियान्वित की जाने वाली सिफारिशें हैं—लोक प्रशासन संस्थान की स्थापना और केन्द्रीय सरकार में संगठन तथा पद्धति (ओ एण्ड एम.) प्रभाग की स्थापना।

विशिष्ट क्षेत्र—1955 से 1966 तक कोई व्यापक जाँच नहीं की गई, किन्तु केवल विशिष्ट क्षेत्रों के बारे में प्रतिवेदन दिए गए। सेवाओं में भ्रष्टाचार के बारे में बहुत कुछ कहा गया और इस सम्बन्ध में कम से कम दो बार जाँच की गई। पहली जाँच 1956 में रेलवे भ्रष्टाचार जाँच समिति द्वारा तथा दूसरी 1964 में भ्रष्टाचार निवारण समिति द्वारा की गई। इसके फलस्वरूप एक सतर्कता आयोग की नियुक्ति की गई। इसी दशक में भर्ती किए गए कर्मचारियों की योग्यता के बारे में चिन्ता व्यक्त की गई। सन् 1956 की लोक सेवा में भर्ती के लिए योग्यता समिति ने क्लर्कों के पदों पर विश्वविद्यालय के स्नातकों को अथवा अधिक योग्यता वाले व्यक्तियों के भर्ती करने के विरोध में प्रतिवेदन दिया। सन् 1966 में पिल्लै समिति ने भारतीय विदेश सेवा के बारे में उसके विरुद्ध की गई अनेक आलोचनाओं के कारण एक प्रतिवेदन दिया। समिति के प्रतिवेदन में यह विचार दिया था कि आलोचना बढ़ा-चढ़ाकर की गई थी, किन्तु अधिक अच्छा प्रशिक्षण दिए जाने तथा अधिकारियों की गतिविधियों पर निगरानी रखने सम्बन्धी सिफारिशें प्रयोग में लाई गईं।

इस प्रकार की विशिष्ट तथा समिति द्वारा जाँच के अतिरिक्त योजना आयोग और लोकसभा की प्राक्कलन समिति दोनों ने प्रशासन पर अधिक ध्यान दिया है। समिति के प्रतिवेदनों में से तीन में अर्थात् 1850-51 के सचिवालय पुनर्गठन सम्बन्धी प्रतिवेदन, प्रशासनिक तथा वित्तीय सुधार सम्बन्धी नवें प्रतिवेदन (1953-54) और लोक सेवाओं सम्बन्धी 93वें प्रतिवेदन (1965-66) में विशेष रूप से लोक प्रशासन पर विचार किया गया।

1965 के बाद के प्रयास प्रशासनिक सुधार आयोग

प्रशासनिक कार्यकुशलता और स्तर में गिरावट, प्रशासनिक मशीनरी और जन-साधारण के बीच बढ़ती हुई दूरी, आदि समस्याओं से सरकार विशेष चिन्तित थी। सम्पूर्ण प्रशासन का व्यापक अध्ययन करने के लिए एक आयोग की स्थापना पर विचार किया गया। 26 अगस्त, 1965 को लालबहादुर शास्त्री ने संसद में कहा था, "यद्यपि विभिन्न अध्ययन-दल कार्य कर रहे हैं, किन्तु मैं प्रायः यह अनुभव करता हूँ कि ये तुच्छ प्रयास स्थिति का मुकाबला नहीं कर सकेंगे। मेरा मत है कि इस विषय पर विचार के लिए उच्च शक्ति प्राप्त आयोग होना चाहिए। यह प्रशासन के समग्र क्षेत्र में व्याप्त होगा।"

5 जनवरी, 1966 को लोकसभा द्वारा प्रशासनिक सुधार आयोग की स्थापना की गई। मोरारजी देसाई इसके अध्यक्ष बने। अन्य चार सदस्य थे—के. हनुमन्तैया, हरिश्चन्द्र माथुर, जी.एस. पाठक तथा एच.वी. कामथ। वी. शंकर को इसका सदस्य-सचिव बनाया गया। अन्तिम को छोड़कर शेष सभी संसद-सदस्य थे। आयोग के गठन में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा। मार्च, 1967 में मोरारजी देसाई के उप-प्रधान मंत्री बन जाने पर के. हनुमन्तैया आयोग के अध्यक्ष बना दिए गए। आयोग की नियुक्ति से पूर्व के दशकों में विभिन्न राज्यों ने अपनी प्रशासनिक सुधार समितियाँ नियुक्त की थीं जो अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत कर चुकी थीं। जिनमें जिला प्रशासन तथा

विकेन्द्रीकरण की समस्याओं और राज्यों की राजधानियों में मन्त्री और सचिव के सम्बन्धों के बारे में ही सिफारिशें थीं। सन् 1966 तक केन्द्रीय सरकार के प्रशासनिक सुधार आयोग ने इन सभी प्रतिवेदनों से जानकारी प्राप्त कर तथा उनमें उल्लिखित बहुत-सी समस्याओं को समझकर अपना कार्यक्षेत्र निर्धारित किया। आयोग के कार्यों में निम्नलिखित दस क्षेत्र समाहित किए गए—

1. भारत का सरकारी यन्त्र एवं इसकी कार्य-प्रक्रियाएँ
2. सभी स्तरों पर नियोजन तन्त्र।
3. केन्द्र और राज्य सम्बन्ध।
4. वित्तीय प्रशासन।
5. सेवीवर्ग प्रशासन।
6. आर्थिक प्रशासन।
7. राज्य-स्तरीय प्रशासन।
8. जिला प्रशासन।
9. कृषि प्रशासन।
10. नागरिकों की समस्याओं का निपटारा।

प्रस्ताव के साथ संलग्न अनुसूची में कुछ महत्वपूर्ण विषयों की सूची प्रस्तुत की गई थी जो उपर्युक्त शीर्षकों के अन्तर्गत समाहित किए जा सकें। इस प्रकार इन विषयों की कुल संख्या 41 थी। आयोग का कार्य जून, 1966 में ही प्रारम्भ किया जा सका। आयोग को इसके खर्च पर विभिन्न संस्थानों द्वारा किए गए अनुसन्धान के अतिरिक्त 38 से अधिक शैक्षणिक दलों द्वारा किए गए अनुसन्धान से भी सहायता मिली। आयोग ने वरिष्ठ राजनीतिज्ञों तथा असैनिक कर्मचारियों के विचार भी प्राप्त किए और कुल 20 प्रतिवेदन तैयार किए। विस्तृत अनुसन्धान सामग्री तथा प्रतिवेदनों के सम्बन्ध में आयोग ने जो काम किया उसमें वह भारत के तथा विदेशों के सभी पूर्व आयोगों से आगे बढ़ गया। आयोग की सिफारिशों की एक असैनिक कर्मचारी-समिति ने जाँच की, पर उसकी कुछ सिफारिशों पर ही अमल किया गया और अधिकांश अलग रख दी गईं। प्रशासनिक सुधार आयोग ने समय-समय पर अपनी रिपोर्टें प्रस्तुत कीं। अन्तिम रिपोर्ट 1970 में प्रस्तुत की गई। आयोग द्वारा प्रस्तुत विभिन्न रिपोर्टें इस प्रकार हैं—

रिपोर्ट का नाम	प्रस्तुत करने की तिथि
1. नागरिकों के कष्टों व शिकायतों को दूर करने की समस्याएँ (अन्तरिम)	20-10-1966
2. नियोजन की कार्यालयीय व्यवस्था (अन्तरिम)	29-6-1967
3. सरकारी क्षेत्र के उद्यम	17-10-1967
4. वित्त, लेखे तथा लेखा-परीक्षण	13-1-1968
5. नियोजन की कार्यालयीय व्यवस्था (अन्तरिम)	14-3-1966
6. आर्थिक प्रशासन	20-7-1968
7. भारत सरकार की कार्यालयीय व्यवस्था और उसकी कार्यविधियाँ	16-9-1968
8. जीवन-बीमा प्रशासन	10-12-1969
9. केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर-प्रशासन	6-1-1969
10. संघीय क्षेत्रों तथा नेफा का प्रशासन	28-11-1969
11. कार्मिक वर्ग प्रशासन	18-4-1969
12. वित्तीय तथा प्रशासकीय शक्तियों का हस्तान्तरण	12-6-1969
13. केन्द्र-राज्य सम्बन्ध	19-6-1969
14. राज्य-प्रशासन	4-11-1969
15. लघु क्षेत्र	23-12-1969
16. रेलें	30-1-1970
17. राजकोष	27-2-1970
18. भारतीय रिजर्व बैंक	11-3-1970
19. डाक-तार	15-4-1970
20. वैज्ञानिक विभाग	30-6-1970

प्रशासनिक सुधार आयोग ने उपरोक्त प्रतिवेदनों की निम्नि सिफारिशें प्रस्तुत करते हुए मूलभूत सिद्धान्तों को ध्यान में रखा। ये सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

(1) प्रशासनिक न्यूनता या अपर्याप्तता की मात्रा अथवा प्रसार को ध्यान में रखा जाए अर्थात् आयोग सिफारिश करते समय यह विचार कर ले कि क्या प्रशासन मन्त्री अपनी पूरी क्षमता का उपयोग करके भी उनको प्राप्त कर सकेगा अथवा नहीं।

(2) प्रशासनिक व्यवस्था अथवा प्रक्रिया को विकास कार्यों की आवश्यक माँगों के अनुरूप ढालना।

(3) प्रस्तावित सुधारों का प्रशासनिक, सामाजिक और राजनीतिक चुनौतियों के अनुरूप होना।

(4) कार्य-कुशलता सुधारने मितव्ययता लाने तथा प्रशासनिक स्तर को ऊँचा उठाने की आवश्यकता को ध्यान में रखना।

(5) प्रशासनिक परिवर्तन एव नवीनीकरण तथा प्रशासनिक स्थायित्व के बीच सन्तुलन बनाए रखना।

(6) प्रशासन के प्रति जनता की प्रक्रिया को सुधारने की आवश्यकता है।

(7) प्रशासन में सुधारों की तुरन्त आवश्यकता है।

(8) आयोग को वर्तमान की माँगों तथा भविष्य की आवश्यकताओं का ध्यान रखना है।

आयोग की सिफारिशों पर अमल—प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपनी 20 रिपोर्टों में 578 सिफारिशें दी थीं। इनमें से 51 सिफारिशें पूर्णत और 18 सिफारिशें अशत राज्य सरकारों से सम्बन्धित थीं। शेष 509 सिफारिशें (जिनमें 8 अधूरी सिफारिशें शामिल थीं) केन्द्रीय सरकार से सम्बन्धित थीं। प्रशासनिक सुधार आयोग की सारी सिफारिशें सरकार ने स्वीकार नहीं की तथापि अधिकाश पर निर्णय हुए हैं और बहुत-सी सिफारिशों को क्रियान्वित कर प्रशासनिक सगठन तथा प्रक्रिया में अनेक परिवर्तन किए गए हैं। आयोग की सिफारिशों पर प्रभावी अमल में उदासीनता के लिए नौकरशाही उत्तरदायी है और दुर्भाग्यवश भारत में नौकरशाही सगठन इतना प्रभावी है कि कोई भी सुधार आयोग बिना नौकरशाही की कृपा के अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हो सकता। प्रशासनिक सुधार आयोग की महत्त्वपूर्ण सिफारिशों को स्वीकार कर लेना अपने आप में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है। समय-समय पर तत्कालीन प्रधानमन्त्रियों ने भी प्रशासन में सुधार करने के लिए त्वरित गति से कदम उठाये हैं।

प्रशासनिक सुधार आयोग के प्रतिवेदनों की सिफारिशो का सारांश

(Summary of Recommendations of the Report of Administrative Reforms Commission)

प्रशासनिक सुधार आयोग की रिपोर्टों की सिफारिशों का साराश इस प्रकार है—

(क) प्रशासनिक सुधारों की स्थापना और क्रियान्विति के सम्बन्ध में सिफारिशें

प्रशासनिक सुधार विभाग का कार्य मुख्यत इन बातों पर ही सीमित रहना चाहिए—(क) आधारभूत प्रकृति के प्रशासनिक सुधारों का अध्ययन, (ख) मन्त्रालयों अथवा विभागों में ओ एण्ड एम. की स्थापना, (ग) सगठन एवं प्रणाली इकाइयों के कर्मचारियों को प्रबन्ध की आधुनिक विधियों का प्रशिक्षण।

- संगठन और प्रणाली इकाइयों (ओ. एण्ड एम. यूनिट्स) को सक्रिय बनाया जाए।
- केन्द्रीय सुधार अभिकरण में ठोस सुधारों के लिए एक विशेष सैल की स्थापना की जाए।
- कार्य करने, भर्ती करने और अपनी सगठनात्मक संरचना के तरीकों में केन्द्रीय सुधार अभिकरण को 'अनुसन्धान प्रमुख' होना चाहिए।
- प्रशासनिक सुधारों और पद्धतियों पर मौलिक चिन्तन को प्रोत्साहित करने के लिए ठोस एवं स्वायत्तता प्राप्त व्यावसायिक संस्थाओं का विकास किया जाना चाहिए।
- एक प्रशासनिक सुधार परिषद् स्थापित की जाए जिसका कार्य प्रशासनिक सुधार अभिकरण को कार्यक्रमों की योजना बनाने, प्रगति की समीक्षा करने, कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में नए विचारों को लागू करने और लोक प्रबन्ध की समस्याओं पर अनुसन्धान में लगी व्यावसायिक संस्थाओं की गतिविधियों में समन्वय लाने के सम्बन्ध में सलाह देना हो।
- प्रशासनिक सुधार आयोग का प्रतिवेदन मन्त्रि-परिषद् में रखा जाए इससे पूर्व उस प्रशासन की मन्त्रि-परिषदीय समिति विचार कर ले।
- आयोग के प्रतिवेदनों के अध्ययन के लिए केन्द्रीय सचिवालय में एक विशेष सैल स्थापित किया जाए।

- आयोग का प्रतिवेदन प्राप्त होने के तीन माह के भीतर सरकार संसद् के समक्ष एक श्वेत-पत्र रखे जिसमें प्रतिवेदन की आधारभूत सिफारिशों के बारे में सरकार के निर्णयों का उल्लेख हो।
- दोनों सदनों की एक सर्वदलीय संसदीय समिति स्थापित की जाए जो यह देखे कि सरकार द्वारा स्वीकृत सिफारिशों को तेजी से लागू किया जा रहा है।

विषयो के वर्गीकरण सम्बन्धित सिफारिशे

- भारत सरकार के विभागों और मन्त्रालयों की रिपोर्ट के अनुच्छेद 152 के अनुसार पुनर्गठन किया जाना चाहिए—विशेष रूप से प्रधान मंत्री के अधीन एक नया कार्मिक विभाग स्थापित किया जाना चाहिए जिसके कार्य भी वही होने चाहिए जो कि रिपोर्ट के अनुच्छेद 182 में वर्णित हैं।
- प्रशासनिक सुधार विभाग उप-प्रधान मन्त्री के कार्यभार में होना चाहिए।
- राजस्व और बीमा विभाग को राजस्व एवं व्यय विभाग के रूप में पुनर्गठित किया जाना चाहिए।
- बीमा और आर्थिक मामलों के विभाग को स्थानान्तरित कर दिया जाना चाहिए और केन्द्रीय सचिवालय मे सांख्यिकी विभाग के जो वर्तमान कार्य हैं उन्हें वित्त मन्त्रालय में आर्थिक मामलों के विभाग को सौंप दिया जाना चाहिए।
- आर्थिक क्षेत्र में सरकार की सभी क्रियाओं में समन्वय के लिए आर्थिक मामलों के विभाग को उत्तरदायी बनाया जाना चाहिए।
- सामुदायिक विकास विभाग एवं सहकारिता विभाग को मिलाकर सामुदायिक विकास तथा सहकारिता विभाग बना दिया जाना चाहिए।

प्रशासनिक सुधार आयोग ने और अनेक विभागों और मन्त्रालयों के पुनर्गठन के सम्बन्ध में इसी प्रकार की विभिन्न सिफारिशें कीं। आयोग ने अपनी एक सिफारिश यह की कि जिस मन्त्रालय में एक से अधिक विभाग या सचिव हों उनमें पूरा तालमेल बनाए रखने का उत्तरदायित्व सर्वाधिक उपयुक्त किसी एक विभाग या सचिव को सौंपा जाना चाहिए। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि मन्त्रि-परिषद् के मन्त्रियों के निम्नलिखित 16 पद होने चाहिए—

1. प्रधान मन्त्री, 2 गृह मन्त्री, 3. वित्त मन्त्री, 4 प्रतिरक्षा मन्त्री 5. विदेश मन्त्री, 6 विधि एवं न्याय मन्त्री, 7 वाणिज्य और उद्योग मन्त्री, 8. सिंचाई और बिजली मन्त्री 9 रेल मन्त्री, 10 परिवहन तथा पर्यटन मन्त्री, 11. संचार, सूचना तथा प्रसारण मन्त्री 12 खाद्य तथा ग्रामीण विकास मन्त्री, 13 धातु रसायन तथा तेल मन्त्री, 14. शिक्षा, स्वास्थ्य तथा समाज कल्याण मन्त्री, 15 श्रम तथा रोजगार मन्त्री तथा 16 निर्माण, आवास तथा पूर्ति मन्त्री।

मन्त्रालयो और विभागों की समग्र योजना

आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि पुनर्गठन की योजना के अन्तर्गत भारत सरकार के विभिन्न मन्त्रालय और विभाग इस प्रकार होने चाहिए—

(क) बिना विभाग के मन्त्रालय (Ministries without Departments)

1. गृह मन्त्रालय
2. विदेश मन्त्रालय
3. सिंचाई तथा बिजली मन्त्रालय
4. रेल मन्त्रालय
5. श्रम तथा रोजगार मन्त्रालय

(ख) विभागों वाले मन्त्रालय (Ministries with Departments)

6. प्रतिरक्षा मन्त्रालय
   - (i) प्रतिरक्षा
   - (ii) प्रतिरक्षा उत्पादन
   - (iii) प्रतिरक्षा पूर्ति
7. वित्त मन्त्रालय
   - (i) आर्थिक मामलों का विभाग (सांख्यिकी तथा बीमा सहित)
   - (ii) राजस्व तथा व्यय
   - (iii) कम्पनी विषयक मामले

8. निर्माण, आवास एवं पूर्ति मन्त्रालय	(i) निर्माण एवं आवास (ii) पूर्ति विभाग
9. वाणिज्य तथा उद्योग मन्त्रालय	(i) वाणिज्य विभाग (ii) उद्योग विभाग
10. धातु, रसायन व तेल मन्त्रालय	(i) लोह इस्पात (ii) खान तथा धातु (iii) पेट्रोलियम (iv) रसायन
11. परिवहन तथा पर्यटन मन्त्रालय	(i) परिवहन तथा जहाजरानी (ii) पर्यटन तथा असैनिक उड्डयन
12. सचार, सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय	(i) सचार विभाग (ii) प्रसारण एवं सूचना
13. खाद्य एव ग्रामीण विकास मन्त्रालय	(i) खाद्य (ii) कृषि (iii) सामुदायिक विकास तथा सहकारिता
14. शिक्षा, स्वास्थ्य तथा समाज कल्याण	(i) शिक्षा (ii) स्वास्थ्य तथा शहरी विकास (iii) परिवार नियोजन (iv) समाज कल्याण (पुनर्वास सहित)
15. विधि मन्त्रालय	(i) कानूनी मामले तथा न्याय (ii) विधायी विभाग
(ग) अन्य (Others)	
16. प्रधानमन्त्री	(i) कार्मिक वर्ग विभाग (ii) अणु शक्ति विभाग नियोजन-बिना विभाग व पोर्टफोलियो
कैबिनेट मन्त्री जो कि उप-प्रधान मन्त्री भी हैं।	प्रशासनिक सुधारों का विभाग
सदन (लोकसभा) का नेता	(i) संसदीय मामलों का विभाग (ii) कैबिनेट मामलों का विभाग

आयोग ने अपने प्रतिवेदन में कहा कि निम्नलिखित मदों में से प्रत्येक के लिए एक-एक के हिसाब से 11 स्थायी समितियाँ होनी चाहिए—1. प्रतिरक्षा, 2. वैदेशिक मामले, 3. आर्थिक मामले, 4. संसदीय मामले तथा लोक सम्पर्क, 5 खाद्य तथा ग्रामीण विकास, 6. परिवहन, पर्यटन तथा संचार, 7. समाज व सेवाएँ (समाज कल्याण तथा परिवार नियोजन सहित), 8. वाणिज्य, उद्योग तथा विज्ञान, 9. आन्तरिक मामले (केन्द्र-राज्य सम्बन्ध सहित), 10. प्रशासन, एव 11. नियुक्तियाँ।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रशासनिक सुधार आयोग ने मंत्रिपरिषद् के गठन करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की हैं। अगर इन सिफारिशों को व्यवहार में भी अपनाया जाये तो भारी भरकम मंत्रिमंडलों के गठन से छुटकारा पाया जा सकता है। इससे प्रशासनिक व्यय में भी काफी बचत होगी।

कार्मिक और प्रशासनिक सुधार विभाग[1]

(भारत सरकार, गृह मन्त्रालय)

कार्मिक एव प्रशासनिक सुधार विभाग प्रशासनिक सुधार के क्षेत्र में भारत सरकार की केन्द्रीय एजेंसी है। यह विभाग गृह मन्त्रालय के एक स्वतन्त्र विभाग के रूप में कार्य कर रहा है और प्रगतिशील तथा कुशल कार्मिक प्रशासन को बढ़ावा देने के लिए उत्तरदायी है। अपनी इस भूमिका के निर्वाह के लिए यह विभाग भर्ती, प्रशिक्षण, पदोन्नति, कैरियर प्रबन्ध, सेवा की शर्तें, अनुशासन तथा मनोबल जैसे कार्मिक प्रशासन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित नीतियाँ निर्धारित करता है और इन नीतियों के कार्यान्वयन पर निगरानी रखता है। साथ ही यह विभाग इसके द्वारा निर्धारित नीतियों का उचित कार्यान्वयन सुनिश्चित करने के लिए सभी मन्त्रालयों, विभागों को सेवा

1 भारत सरकार, गृह मन्त्रालय : कार्मिक और प्रशासनिक सुधार विभाग वार्षिक रिपोर्ट।

सम्बन्धी मामलों में अपेक्षित मार्गदर्शन भी प्रदान करता है। यह विभाग प्रशासनिक सुधारों के क्षेत्र में एक केन्द्रीय एजेंसी के रूप में भी कार्य करता है। इसके अलावा, यह विभाग अखिल भारतीय तथा कुछ केन्द्रीय सेवाओं का संवर्ग प्रबन्ध करने, विभाग के नियन्त्रणाधीन अधिकारियों के विरुद्ध सतर्कता के मामलों पर कार्यवाही करने, प्रबन्ध सम्बन्धी परामर्शात्मक सेवाओं की व्यवस्था करने, प्रशिक्षण कार्यक्रम तैयार करने तथा उन्हें जारी रखने आदि जैसे कतिपय मूलभूत कार्य भी सम्पादित करता है।

विभाग के कार्य

1. नोडल कार्य—
   (i) भर्ती, पदोन्नति, सेवा की शर्तों से सम्बन्धित मामलों पर कार्मिक नीतियाँ तैयार करना,
   (ii) सेवाओं में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण,
   (iii) प्रशासनिक सतर्कता सहित, सेवाओं में अनुशासन तथा मनोबल,
   (iv) कर्मचारी कल्याण,
   (v) प्रशिक्षण,
   (vi) कार्मिक प्रशासन में अनुसन्धान।
2. मूल कार्य
   (i) अखिल भारतीय सेवाओं तथा भारतीय अर्थ सेवा, भारतीय सांख्यिकी सेवा जैसी केन्द्रीय सेवाओं तथा तीन केन्द्रीय सचिवालय सेवाओं का नियन्त्रण तथा विनियमन,
   (ii) कार्मिक प्रबन्ध,
   (iii) कार्मिक और प्रशासनिक सुधार विभाग द्वारा नियन्त्रित अधिकारियों के विरुद्ध सतर्कता के मामलों पर कार्यवाही करना,
   (iv) प्रशिक्षण आवश्यकताओं का पता लगाना, विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रमों का संचालन और प्रशिक्षण कार्यकलापों, संस्थाओं तथा संगठनों को सहायता प्रदान करना,
   (v) निम्नलिखित से सम्बन्धित प्रशासनिक मामले—
   (क) संघ लोक सेवा आयोग,
   (ख) कर्मचारी चयन आयोग,
   (ग) केन्द्रीय सतर्कता आयोग,
   (घ) केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो,
   (ङ) लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी,
   (च) सचिवालय प्रशिक्षण तथा प्रबन्ध संस्थान,
   (छ) भारतीय लोक प्रशासन संस्थान।
3. प्रशासनिक सुधार
   (i) प्रशासनिक सुधारों से सम्बन्धित नीति के मामलों में सरकार को सलाह देना,
   (ii) केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, सार्वजनिक क्षेत्र और स्थानीय निकायों के संगठन को प्रबन्ध सम्बन्धी परामर्शात्मक सेवा प्रदान करना,
   (iii) सरकार में प्रशासनिक सुधार लाने के लिए आधुनिक प्रबन्ध पद्धतियों को प्रोत्साहित तथा विकसित करना,
   (iv) प्रशासनिक कार्य-विधियों तथा आधुनिक प्रबन्ध तकनीकों सम्बन्धी सूचना का प्रचार करना तथा प्रबन्ध शिक्षा की व्यवस्था करना।

संगठनात्मक संरचना

कार्मिक और प्रशासनिक सुधार विभाग गृह मन्त्रालय में स्वतन्त्र विभाग के रूप में कार्य करता है। इस विभाग का प्रशासनिक नियन्त्रण सचिव के हाथ में है, जिसकी सहायता के लिए अन्य अधिकारियों तथा कर्मचारियों के अलावा, एक अपर सचिव तथा सात संयुक्त सचिव हैं। इस विभाग का कार्य निम्नलिखित स्कन्धों (प्रभागों) में बाँटा गया है—

- प्रशासनिक सुधार,
- प्रशासन और प्रशासनिक सतर्कता,

- स्थापना,
- केन्द्रीय सचिवालय सेवा सहित नीति-योजना,
- सेवाएँ,
- स्थापना अधिकारी का कार्यालय,
- कर्मचारी कल्याण तथा
- प्रशिक्षण।

मुख्य कार्यकलाप

यह विभाग देश में कार्मिक प्रशासन में सुधार लाने की प्रक्रिया में अनवरत रूप से लगा हुआ है। जिन क्षेत्रों में और आगे सुधार लाने की गुंजाइश होती है, उन क्षेत्रों का पता लगाने के उद्देश्य से कार्मिक नीतियों तथा प्रशासनिक प्रणालियों और कार्य-विधियों की निरन्तर पुनरीक्षा, समीक्षा और पुनरावलोकन किया जाता है।

प्रशासनिक सुधार के क्षेत्र में भारत सरकार की निस्सन्देह यह केन्द्रीय एजेंसी है जिसके मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—

- प्रशासनिक सुधारों से सम्बन्धित नीतियाँ तैयार करना,
- केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों तथा स्थानीय निकायों के संगठनों के लिए प्रबन्ध परामर्शात्मक सेवाएँ जुटाना,
- सरकार में प्रबन्ध सम्बन्धी प्रयासों को बढ़ावा देना तथा उनका विकास करना,
- प्रबन्ध शिक्षा की व्यवस्था करना और प्रशासन परिपाटियों तथा आधुनिक प्रबन्ध तकनीकों से सम्बन्धित जानकारी का प्रसार करना।

इन कार्यों को पूरा करने के लिए केन्द्र के विभिन्न मन्त्रालयों तथा राज्य प्रशासनों से लगातार सम्पर्क बनाए रखा जाता है ताकि सुधार के लिए नए क्षेत्रों का पता लगाया जा सके और इस दिशा में पहले से ही आरम्भ किए गए उपायों के सम्बन्ध में अनुवर्ती कार्यवाही की जा सके। यह विभाग केन्द्र तथा राज्यों—दोनों स्तरों पर सुधार सम्बन्धी उपायों के बारे में सूचना विनिमय-कार्यालयों का काम भी करता है।

प्रशासनिक सुधारों के क्षेत्र के विशिष्ट क्रियाकलाप निम्नलिखित है—

प्रबन्ध अध्ययन—प्रशासन में सुधार लाने की दृष्टि से इस विभाग के प्रयासों में प्रबन्ध अध्ययनों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इन अध्ययनों में संगठनों के विस्तृत क्रियाकलापों का अध्ययन किया जाता है। अध्ययन रिपोर्ट में इन संगठनों की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए सिफारिशें की जाती हैं। इन अध्ययनों के माध्यम से यह प्रयास भी किया जाता है कि जहाँ आवश्यक और व्यावहारिक हो वहाँ आधुनिक प्रबन्ध तकनीक लागू करने के सुझाव दिए जाएँ।

प्रशासनिक सुधार लाने के उपाय—प्रशासनिक तन्त्र में सुधार लाने के उद्देश्य से सभी मन्त्रालयों, विभागों के लिए समान प्रशासनिक कार्यविधियों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। विभिन्न मन्त्रालयों, विभागों के संगठन तथा पद्धति-अधिकारियों की बैठकें आयोजित की जाती हैं जिनमें आंतरिक कार्य अध्ययन एककों के कार्यचालन, प्रशिक्षण सम्बन्धी आवश्यकताओं आदि पर विचार-विमर्श किया जाता है। इस विचार-विमर्श का उद्देश्य इन एककों में कार्यकुशलता तथा प्रभावोत्पादकता लाने का एक उपयुक्त साधन बनाना होता है। ऐसे क्षेत्रों का पता लगाया जाता है जिनमें कार्मिक और प्रशासनिक सुधार विभाग तथा आन्तरिक कार्य-अध्ययन-एककों द्वारा अध्ययन किए जाने आवश्यक होते हैं। व्यवस्था कार्यों की पुस्तिका तैयार की जाती है और छापी जाती है। सारांशत, भारत में प्रशासकीय सुधारों ने प्रशासन को देश की विकासमान आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित किया है।

भारत में स्वतन्त्रता पश्चात् प्रशासनिक सुधार का इतिहास
(History of Administrative Reforms in India after Independence)

भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रशासन को देश के अनुरूप बनाने तथा प्रभावी और अधिक सक्षम बनाने के उद्देश्य से समय-समय पर विभिन्न आयोगों, समितियों के गठन के माध्यम से प्रयास किये गये जो इस प्रकार हैं—

1. सचिवालय पुनर्गठन समिति (Secretariat Re-organisation Committee)—जब 1947 में भारत का विभाजन स्पष्ट हुआ तो इस समस्या पर उच्च स्तर पर विचार-विमर्श हुआ कि किस प्रकार भारतीय लोक सेवा (IAS) के बहुत सारे अधिकारियों के पाकिस्तान अथवा इंग्लैण्ड जाने से रिक्त हुए स्थानों की पूर्ति की जा सके। अधिकारियों की कमी की समस्या पर गहन विचार हेतु जुलाई 1947 में एक 'सचिवालय पुनर्गठन समिति' की स्थापना की गई। इस समिति ने उच्च अधिकारियों की कमी पूरी करने के लिए सुझाव दिए तथा ऐसी ही सिफ़ारिशें भी की जिससे उपलब्ध अधिकारियों की सेवाओं का अधिकतम उपयोग सम्भव हो सके।

2. मितव्ययिता समिति (Economy Committee)—स्वतन्त्रता के पश्चात् राजनीतिक क्षेत्रों में इस बात पर चिंता व्यक्त की गई कि प्रशासनिक तंत्र के बढ़ते आकार के साथ-साथ कार्यकुशलता में गिरावट आयी है और लोक सेवाओं में भ्रष्टाचार बढ़ा है। इस समस्या के गहन अध्ययन हेतु माँग संविधान सभा में भी की गई। फलस्वरूप सन् 1948 में सरकार ने एक 'मितव्ययिता समिति' की स्थापना की। इस समिति के अध्यक्ष प्रमुख उद्योगपति कस्तूर भाई लाल भाई थे एवं अन्य सदस्यों में सांसद, व्यापारी एवं सरकारी अधिकारी भी थे। इस समिति ने केन्द्रीय सरकार के 1938-39 से लेकर 1948 के काल में बढ़ते हुए असैनिक व्यय का विश्लेषण किया तथा अनावश्यक व्ययों को समाप्त करने से सम्बन्धित अनेक सिफ़ारिशें कीं।

3. सरकारी तंत्र के पुनर्गठन पर प्रतिवेदन (Report of Reorganisation of Machinery of Government)—सन् 1949 में एन. गोपालस्वामी आयंगर को केन्द्रीय सरकार के पुनर्गठन का अध्ययन करने के लिए नियुक्त किया गया। आयंगर ने 'सरकारी तंत्र के पुनर्गठन पर प्रतिवेदन' में केन्द्रीय सचिवालय में संगठनात्मक एवं प्रक्रियात्मक परिवर्तन के सम्बन्ध में विस्तृत सिफ़ारिशें प्रस्तुत की। उनमें से एक प्रमुख सिफ़ारिश यह थी कि केन्द्रीय मंत्रालयों को चार ब्यूरो (Bureaus) में पुनर्गठित किया जावे। जिन चार ब्यूरो की सरचना की सिफ़ारिश की गई वे इस प्रकार थे—(i) प्राकृतिक साधन एवं कृषि ब्यूरो, (ii) उद्योग एवं व्यापार ब्यूरो, (iii) यातायात एवं संचार ब्यूरो, (iv) श्रम एवं सामाजिक ब्यूरो। लेकिन सरकार ने इन सिफ़ारिशों को स्वीकार नहीं किया।

4. ए. डी. गोरवाला समिति (A. D. Gorwala Committee)—सन् 1950 में योजना आयोग की स्थापना के समय यह अनुभव किया गया कि नियोजन प्रक्रिया की सफलता अथवा असफलता काफी कुछ राष्ट्रों की प्रशासनिक क्षमता पर निर्भर करती है। इस बात को ध्यान में रखकर योजना आयोग ने अनुभवी लोक सेवक ए. डी. गोरवाला को इस सम्बन्ध में सिफ़ारिशें देने के लिए नियुक्त किया। गोरवाला ने इस सम्बन्ध में दो प्रतिवेदन प्रस्तुत किये—1. लोक प्रशासन पर प्रतिवेदन (Report on Public Administration) 2. लोक उपक्रमों के कुशल संचालन पर प्रतिवेदन (Report on Efficient Conduct of Public Enterprises)। इन दोनों प्रतिवेदनों के माध्यम से देश के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक क्षेत्रों का ध्यान भारतीय लोक प्रशासन की ज्वलन्त समस्याओं की ओर खींचा गया। गोरवाला ने केन्द्र एवं राज्य सरकारों के प्रशासनिक सुधारों हेतु कई सिफ़ारिशें प्रस्तुत की, लेकिन सरकार ने इन सिफ़ारिशों के क्रियान्वयन में ज्यादा रुचि नहीं दिखाई।

5. आर. ए. गोस्वामी समिति (R. A. Goswami Committee)—सन् 1952 में अनुभवी लोक सेवक आर. ए. गोस्वामी की अध्यक्षता में 'सरकारी तंत्र में कार्यकुशलता की अभिवृद्धि' (Efficiency Increasing in Governmental System) पर एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस प्रतिवेदन में केन्द्रीय सरकार के सम्पूर्ण प्रशासनिक संगठन एवं कार्यप्रणाली तथा गोपालस्वामी आयंगर के प्रतिवेदन के क्रियान्वयन का मूल्यांकन करके आलोचनात्मक समीक्षा की गई।

6. एपलबी समिति (Appleby Committee)—लोक प्रशासन के प्रबुद्ध अमेरिकी विद्वान पाल ए. एपलबी को सन् 1953 में भारतीय प्रशासन का अध्ययन करने के लिए भारत सरकार ने आमंत्रित किया। इन्होंने 1953 में भारतीय प्रशासन का अध्ययन करके एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस प्रतिवेदन में उन्होंने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि भारत विश्व के उन लगभग एक दर्जन देशों में से एक है जहाँ पर लोक प्रशासन संगठित एवं विकसित है। भारतीय लोक प्रशासन के अध्ययन के पश्चात् उसमें सुधार हेतु कुल बारह सिफ़ारिशें की गईं जिनमें से दो प्रमुख सिफ़ारिशें इस प्रकार थी—

(i) भारत में लोक प्रशासन के विधिवत अध्ययन एवं अनुसन्धान तथा सरकारी कर्मचारियों को सेवाकाल के दौरान प्रशिक्षित करने हेतु एक भारतीय लोक प्रशासन संगठन की स्थापना की जानी चाहिए।

(ii) सरकारी प्रशासनिक तंत्र में संगठनात्मक एवं प्रक्रिया सम्बन्धी समस्याओं के सतत अध्ययन एवं इस क्षेत्र में आवश्यक सुधारों हेतु एक संगठन एवं पद्धति (Organisation and Method) की स्थापना केन्द्रीय सरकार में की जानी चाहिए।

भारत सरकार ने इन दो महत्वपूर्ण सिफारिशों को तुरन्त स्वीकार करते हुए सन् 1954 में नई दिल्ली में 'भारतीय लोक प्रशासन संस्थान' (Indian Institute of Public Administration) तथा केन्द्रीय मंत्रिमण्डल सचिवालय में 'संगठन एवं पद्धति संभाग' (O. & M. Division) की स्थापना की।

सन् 1956 में एपलबी भारत सरकार के अनुरोध पर फिर आये एवं उन्होंने भारतीय प्रशासनिक तंत्रों का पुनर्मूल्यांकन किया तथा साथ ही भारतीय लोक उपक्रमों की समस्याओं पर गहन अध्ययन किया। सन् 1956 में एपलबी द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन में भारतीय केन्द्रीय प्रशासन की कई संगठनात्मक एवं समन्वय सम्बन्धी समस्याओं की ओर देश के प्रबुद्ध वर्ग का ध्यान खींचा, लेकिन इस प्रतिवेदन में प्रस्तुत सिफारिशों का क्रियान्वयन नहीं के बराबर रहा।

7. भ्रष्टाचार निरोधक समिति (Committee on the Prevention of Corruption)—सन् 1962 में के. सन्थानम (K. Santhanam) की अध्यक्षता में एक 'भ्रष्टाचार निरोधक समिति' की नियुक्ति की गई। इस समिति ने 1964 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, जिसमें भ्रष्टाचार की समस्या के विश्लेषण के अतिरिक्त इसके प्रशासन में रोकथाम के लिए महत्वपूर्ण सुझाव भी दिये गये।

8. प्रशासनिक सुधार आयोग (Administrative Reforms Commission)—सन् 1966 में भारत के सम्पूर्ण प्रशासन तंत्र में सुधार हेतु केन्द्र सरकार द्वारा 'प्रशासनिक सुधार आयोग' का गठन किया गया। यह आयोग चार सदस्यीय था जिसके अध्यक्ष मोरारजी देसाई थे, लेकिन मोरारजी देसाई के मंत्रिपरिषद् में शामिल होने के कारण हनुमन्तैया को आयोग का अध्यक्ष बनाया गया।

प्रशासनिक सुधार आयोग ने सन् 1966-70 तक कार्य करके विभिन्न क्षेत्रों का अध्ययन किया जैसे—जन-अभियोग निराकरण की समस्याएँ, नियोजन तंत्र, लोक उद्यम, वित्त, लेखा एवं अंकेक्षण, आर्थिक प्रशासन, भारत सरकार का प्रशासन तंत्र एवं कार्य-प्रणाली, केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर प्रशासन, केन्द्र शासित प्रदेशों का प्रशासन एवं नेफा प्रशासन, कार्मिक प्रशासन, वित्तीय तथा प्रशासनिक शक्तियाँ, केन्द्र-राज्य सम्बन्ध, राज्य प्रशासन, रेलवे, राजकोष आदि।

आयोग द्वारा 20 विषयों पर प्रमुख प्रतिवेदन और 33 अन्य प्रतिवेदन प्रस्तुत किये गए।

9. सरकारिया आयोग (Sarkaria Commission)—भारत में प्रशासनिक सुधार के सन्दर्भ में सन् 1983 में एक सदस्यीय आयोग की स्थापना की गई, जिसके अध्यक्ष सर्वोच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश आर. एस. सरकारिया (R. S Sarkaria) थे। आयोग की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की समीक्षा करके इन्हें मधुर बनाने के सम्बन्ध में सुझाव देना था आयोग द्वारा 1987 में 1600 पृष्ठों का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया। जिसमें आयोग ने केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के अतिरिक्त अखिल भारतीय सेवाएँ, वित्तीय प्रशासन, योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय परिषद्, राज्यों के राज्यपाल, राज्यों में सशस्त्र बल भेजने सम्बन्धी विषयों पर अपनी महत्वपूर्ण सिफारिशें प्रस्तुत की।

सरकारिया आयोग ने प्रशासन में सुधार हेतु अखिल भारतीय सेवाओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिफारिशें प्रस्तुत की—

1. भारत में अखिल भारतीय सेवाएँ (IAS, IPS, IFS) आज भी उतनी ही आवश्यक हैं जितनी संविधान निर्माण के समय थी। इन्होंने अपनी सौंपी गई भूमिकाओं को पूर्णतः सिद्ध किया है।
2. अखिल भारतीय सेवाओं को विघटित करने अथवा किसी राज्य सरकार की योजना में शामिल न करना, देश के वृहत्तर हितों के लिए हानिकारक होगा।
3. अखिल भारतीय सेवाओं को अधिक मजबूत किया जाना चाहिए जो इनमें भर्ती, प्रशिक्षण, पदोन्नति, पद-वर्गीकरण आदि की नीतियों तथा पद्धतियों में सुधार करके किया जा सकता है। लोक प्रशासन के क्षेत्र में सेवाओं का विशिष्टीकरण किया जाना चाहिए। केन्द्र और राज्य सरकार के अधिकारियों के बीच बेहतर समन्वय और समय-समय पर वार्ताएँ आयोजित की जानी चाहिए जो इन सेवाओं के लिए उत्तरदायी है।

4 अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों की केन्द्र में प्रतिनियुक्ति की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में राज्य सरकारों द्वारा ली जाने वाली स्वीकृति व्यवस्था समाप्त की जानी चाहिए।

5. प्रत्येक अखिल भारतीय सेवा के अधिकारी (चाहे सीधी भर्ती से हो अथवा पदोन्नति से चयनित हो) को एक न्यूनतम अवधि पर प्रतिनियुक्ति पर भेजा जाना चाहिए। यह प्रतिनियुक्ति दोनों प्रकार के अधिकारियों के लिए अलग-अलग होनी चाहिए।

6 राज्य सरकारों द्वारा अधिकारियों की छानबीन के बाद ही उन्हें केन्द्र में प्रतिनियुक्ति पर भेजा जाना चाहिए।

7. राज्य से केन्द्र में प्रतिनियुक्ति पर भेजे गए अधिकारियों तथा राज्य में कार्यरत अधिकारियों की संख्या में लगभग समानता होनी चाहिए।

8. अवधि प्रणाली (Tenure System) के पूर्ण अनुपालना द्वारा यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि अखिल भारतीय सेवा के अधिकारियों की उत्तम सेवाओं पर केन्द्र का एकाधिकार नहीं है बल्कि उनकी सेवाएँ उन राज्य सरकारों को सहज ही उपलब्ध है, जिस सवर्ग (Cadre) के वे है।

9 केन्द्र सरकार द्वारा राज्य सरकारों को अखिल भारतीय सेवा के अधिकारियों के अनुशासन के लिए उनके स्थानान्तरण, पदोन्नति, नियुक्ति, निलम्बन आदि के अधिकारों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

10 अखिल भारतीय सेवा के अधिकारियों की निलम्बन सम्बन्धी अपीलों की जाँच करते समय केन्द्र को संघ लोक सेवा आयोग से विचार-विमर्श करके उसके उपयुक्त सुझाव मानने चाहिए। इस प्रकार का उपबन्ध अखिल भारतीय सेवा (अनुशासन एवं अपील) नियमावली, 1969 में सम्मिलित किया जाना चाहिए।

11 केन्द्र सरकार की सहायता से राज्य सरकारें, अखिल भारतीय सेवा सवर्गों के अधिकारियों के लिए प्रोत्साहन की आधुनिक और विकसित प्रणाली तैयार कर सकती है।

12 प्रत्येक राज्य में राजनीतिक सत्ता प्राप्त व्यक्तियों को लोक सेवकों के प्रति उचित न्यायसंगत व्यवहार करके उन्हें प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

13 केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच अखिल भारतीय सेवाओं के प्रबन्ध पर नियमित रूप से विचार-विमर्श के लिए 'कार्मिक प्रशासन सलाहकार परिषद्' गठित की जानी चाहिए। इस परिषद के अध्यक्ष के रूप में केबिनेट सचिव तथा अखिल भारतीय सेवा के प्रभारी के रूप में केन्द्र के सचिव तथा राज्य सरकारों के मुख्य सचिव सदस्य होने चाहिए।

14 केन्द्र के कार्मिक एवं प्रशिक्षण विभाग द्वारा परिषद् की सहायता की जानी चाहिए।

15. कार्मिक प्रशासन सलाहकार परिषद् समय-समय पर केन्द्र एवं राज्य सरकारों को सलाह एवं सुझाव देगी।

16 केन्द्र के कार्मिक एवं प्रशिक्षण विभाग को परिषद के सुझावों पर सकारात्मक कार्यवाही करनी चाहिए और केन्द्र सरकार के निर्णयों को सुनिश्चित करना चाहिए।

17 परिषद् द्वारा बताई गई कमियों की समस्याओं की जाँच के लिए विशेषज्ञों का एक अध्ययन दल बनाया जाना चाहिए।

18 जिन मामलों का समाधान कार्मिक प्रशासन सलाहकार परिषद् कर सके उन मामलों को सरकारी परिषद् के समक्ष रखा जाना चाहिए।

उपर्युक्त विभिन्न प्रशासनिक सुधार समितियों एवं आयोगों के अतिरिक्त भारत सरकार के विभिन्न वेतन आयोग, पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से योजना आयोग ने भी भारत में प्रशासनिक सुधार हेतु सुझाव दिए है। संसद की प्राक्कलन समिति (Estimate Committee) ने भी प्रशासनिक सुधार हेतु कई सुझाव दिये है। इसके अतिरिक्त कई अन्य समितियों एवं विद्वानों ने भी अपने सुझाव दिये है।

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति से अब तक प्रशासनिक सुधार के लिए गठित समितियों, आयोगों को अग्रांकित तालिका द्वारा समझा जा सकता है—

प्रशासनिक सुधार से सम्बन्धित समितियाँ एवं आयोग

क्र.स.	समिति/आयोग/प्रतिवेदन का नाम	प्रतिवेदन वर्ष
1.	केन्द्रीय सरकार पर पुनर्गठन प्रतिवेदन (रिचर्ड टोटेनहम)	1945-46
2.	सचिवालय पुनर्गठन समिति (गिरजाशंकर वाजपेयी)	1947
3.	केन्द्रीय वेतन आयोग (वरदाचारियर)	1946-47
4.	मितव्ययिता समिति प्रतिवेदन (कस्तूर भाई लाल भाई)	1948
5.	परामर्श नियोजन मण्डल का प्रतिवेदन (के. सी. नियोगी)	1949
6.	केन्द्रीय सरकार के पुनर्गठन पर प्रतिवेदन (गोपालस्वामी आयंगर)	1949
7.	भारत सरकार के सचिवालय एवं विभाग के पुनर्गठन पर अनुमान समिति का द्वितीय प्रतिवेदन (प्रथम लोक सभा द्वारा)	1950-51
8	लोक प्रशासन पर प्रतिवेदन (ए. डी. गोरवाला)	1951
9.	लोक उद्यमों के कुशल संचालन पर प्रतिवेदन (ए. डी. गोरवाला)	1951
10.	सरकारी तंत्र की कार्यकुशलता की अभिवृद्धि पर प्रतिवेदन (आर. ए. गोपालस्वामी)	1952
11.	भारत में लोक प्रशासन-एक सर्वेक्षण प्रतिवेदन (पाल. एच. एपलबी)	1953
12.	प्रशासनिक, वित्तीय और अन्य सुधारों पर अनुमान समिति का नौवां प्रतिवेदन (प्रथम लोक सभा)	1953-54
13.	सरकारी उद्योग एवं वाणिज्यिक उद्यमों के विशेष सन्दर्भ में भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था का पुनर्निरीक्षण (पाल. एच. एपलबी)	1956
14.	रेलवे में भ्रष्टाचार की जाँच का प्रतिवेदन (जे. बी. कृपलानी)	1955
15.	लोक सेवा (भर्ती हेतु योग्यता) समिति का प्रतिवेदन (ए. रामास्वामी मुदालियर)	1956
16.	केन्द्रीय कर्मचारियों के वेतन एवं सेवा दशाओं की जाँच आयोग का प्रतिवेदन (जगन्नाथ दास)	1959
17.	कर्मचारी कल्याण पुनर्निरीक्षण समिति का प्रतिवेदन (फतेहसिंह)	1961
18.	भारतीय एवं राज्य प्रशासनिक सेवा तथा जिला प्रशासन की समस्याओं पर प्रतिवेदन (वी. टी. कृष्णमाचारी)	1962
19.	भ्रष्टाचार निरोधक समिति प्रतिवेदन (के. सन्थानम्)	1964
20	लोक सेवाओं पर अनुमान समिति का तिरानवें प्रतिवेदन (तृतीय लोक सभा)	1966
21.	प्रशासनिक सुधार आयोग के प्रतिवेदन	1966-70
22.	तृतीय वेतन आयोग प्रतिवेदन	1973
23.	भर्ती व्यवस्था में सुधार हेतु कोठारी समिति (डी. एस. कोठारी)	1979
24.	चतुर्थ वेतन आयोग प्रतिवेदन (पी. एन. सिंघल)	
25.	केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर प्रतिवेदन (आर. एस. सरकारिया)	1987

कार्यमापन

(Work Measurement)

कार्यमापन ओ एण्ड एम की कार्य निष्पादन की एक प्रमुख तकनीक है, जिसका प्रयोग करके ओ एण्ड एम को प्रभावी बनाया जाता है। मानवीय कार्य की पद्धतियों एवं तकनीकों में निरन्तर समयानुकूल परिवर्तन किया जाता है जिसका प्रमुख कारण थोड़े से प्रयत्न अथवा व्यय से अधिकाधिक कार्य सिद्धि प्राप्त करना है। कार्य को अधिकाधिक प्रभावी और उपयोगी बनाने के प्रबन्धक, प्रशासक अथवा अधिकारी द्वारा कार्य के आकार का मापन किया जाता है जो कि कार्य-मापन विधि द्वारा ही सम्भव है।

कार्यमापन का अर्थ (Meaning of Work Measurement)

कार्य-मापन का अभिप्राय कार्य को प्रभावी बनाने एवं उसकी गुणवत्ता में वृद्धि करने की उस तकनीकी से है जिसके द्वारा एक निश्चित समय अवधि में किसी व्यक्ति के कार्य-सम्पादन का मापन किया जाता है। इसीलिए कार्य-मापन को कभी-कभी कार्य-सम्पादन का मूल्यांकन अथवा कार्य-सम्पादन का विश्लेषण अथवा कार्य-सम्पादन का लेखा-परीक्षण भी कहा जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I.L.O.) ने कार्य-मापन को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "कार्य-मापन किसी विशिष्ट कार्य की विषय-वस्तु को पूरा करने के लिए आकल्पित की गई तकनीकों का ऐसा प्रयोग है, जो किसी योग्य कर्मचारी द्वारा निश्चित स्तर पर उसे कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक समय निर्धारित करके किया जाता है।"

कार्य-मापन का उद्देश्य प्रशासन में वे साधन प्रदान करना है, जिनके द्वारा वह कार्य-उत्पादन (Work Production) तथा मानव-शक्ति (Human Power) के मध्य समुचित सम्बन्ध स्थापित कर सके। इसे किसी भी प्रकृति के कार्य पर किसी भी रूप में किया जा सकता है, लेकिन सामान्यतः यह तकनीक ऐसे कार्यों के सम्बन्ध में अधिक उपयुक्त रहती है जो मापन योग्य है, जिसे पहचाना जा सके तथा जिन्हें पुनरावर्तनीय इकाइयों का रूप दिया जा सके, लेकिन दूसरी ओर प्रशासन में कुछ क्रियाकलाप और पद ऐसी प्रकृति के होते है जो कार्य-मापन की तकनीकों को आवश्यक नहीं समझते जैसे—उच्च प्रशासकीय पद, अन्वेषण कार्य, योजना कार्य आदि।

कार्य-मापन के उद्देश्य (Objectives of Work Measurement)

प्रशासन अथवा संगठन में जब भी कार्य-मापन तकनीक का प्रयोग किया जाता है तो वह निम्नलिखित उद्देश्यों से प्रेरित होता है—

1. कार्य-अनुसूचीयन (Work Scheduling) तथा वैयक्तिक दायित्वों (Individual Assignment) पर अधिक अच्छी तरह और प्रभावी रूप से नियंत्रण करना।
2. पद्धति सरलीकरण तथा संगठनात्मक प्रभार के लिए आधार का निर्माण तथा भावी कार्यवाही के लिए लाभदायक आधार-सामग्री प्रदान करना।
3. वास्तविक और उचित उत्साहवर्धक योजनाएँ बनाने में सहायता प्रदान करना।
4. बजट निर्माण, व्ययों का पूर्वानुमान एवं आवटन कार्य को अधिक प्रभावी तरीके से करने के लिए।

कार्य-मापन की तकनीकें/पद्धति (Techniques of Work Measurement)

कार्य-मापन के लिए प्रायः तीन प्रकार की तकनीकों का प्रयोग किया जाता है जो निम्नलिखित हैं—

1. आनुभाविक प्राक्कलन पद्धति (Empirical Estimation Method)—कार्य-मापन की इस पद्धति के अन्तर्गत मापन प्रायः सामान्य अवलोकन, जाँच तथा त्रुटि, अनुभव और पर्यवेक्षकों, प्रवर्तकों तथा विश्लेषकों के सम्मिलित निर्णयों पर आधारित होता है।

लाभ—1. इस पद्धति का लाभ यह है कि इसमें जटिल विश्लेषिक तकनीकों का प्रयोग नहीं करना पड़ता है। 2. मापन कार्य में व्यय कम होता है। 3. इसमें निर्णय अपेक्षाकृत शीघ्र होते हैं।

हानियाँ—1. इस पद्धति पर पूर्णतः निर्भर रहना उचित नहीं है क्योंकि कार्य-मापन में यह पद्धति कितनी सही और प्रभावी होगी यह कहा नहीं जा सकता। 2. प्रस्तावित प्रभावों के कारण कार्य-मापन में कठिनाई होती है।

2. कार्य निदर्शन पद्धति (Work Sampling Method)—यह कार्य-मापन की सांख्यिकी पद्धति है। इसे क्रिया निदर्शन भी कहते हैं जिसमें लम्बे समय तक कार्य का अवलोकन करके उसका माप प्राप्त करने के स्थान पर कार्य के सैम्पल से काम लिया जाता है। यह पद्धति इस सिद्धान्त पर आधारित है कि यदि सैम्पल कार्य के, समय के वास्तविक योग का प्रतिनिधि है और शुद्ध तकनीकों के अनुसार प्राप्त किया गया है तो एक सैम्पल माप प्रयोजनों के लिए काफी शुद्ध होता है। सैम्पल के अवलोकन का प्रयोग करने के फलस्वरूप कार्य का परीक्षण करने में कम समय लगता है और जब समुचित रीति से सैम्पल का परीक्षण किया जाता है तो कर्मचारियों को कम से कम परेशानी होती है। कार्य-निदर्शन पद्धति में कार्य के प्रयासों की विशेषताओं का अध्ययन यह देखने के लिए करना पड़ता है कि कर्मचारियों अथवा एक कर्मचारी का समय किस प्रकार बाँटा गया है। कार्य के निदर्शन का लक्ष्य यह देखना है कि सम्पूर्ण कार्य को विभिन्न प्रयत्नों में किस प्रकार वितरित किया गया है, कितना समय उत्पादक

तथा कितना अनुत्पादक है, क्या अनुत्पादक समय का अनुपात बहुत अधिक है, क्या जितना समय व्यतीत किया गया है वह प्राप्त परिणामों के अनुसार उचित है ?

लाभ—1. कार्य निदर्शन पद्धति से पूर्णतः शुद्ध परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। 2. कार्य त्रुटियों की सम्भावित सीमा निश्चित की जा सकती है। 3. अधिक सरल सांख्यिकी तकनीकों में विश्लेषकों को प्रशिक्षित किया जा सकता है और समझौते सरलता से सम्पन्न किये जा सकते हैं।

हानियाँ—1. सांख्यिकी तकनीकों एवं पद्धति विज्ञान को स्पष्ट करने तथा सांख्यिकी मानों एवं व्याख्याओं में शुद्धता निश्चित करने में समस्याएँ सामने आती हैं। 2. विशुद्ध विवरणात्मक पद्धतियों की तुलना में इसमें अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है और अधिक धन व्यय होता है।

3. समय अध्ययन पद्धति (Time Study Method)—कार्य-मापन में समय अध्ययन पद्धति का प्रयोग दैनिक पुनरावृत्तीय तथा बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले प्रवर्तनों के लिए वहाँ किया जाता है जहाँ श्रम-मूल्य (Work Value) उत्पादन-मूल्य (Production Value) की इकाई का एक महत्त्वपूर्ण भाग होता है। इस पद्धति के प्रयोग में प्रशिक्षित तकनीशियनों की आवश्यकता होती है साथ ही कार्य-मापन समय तथा धन भी काफी मात्रा में लगता है।

इस पद्धति का चरम रूप 'निर्मित विराम घड़ी प्रमाप' (Engineered Stop Watch Standard) है। इन मापदण्डों अथवा प्रमापों का विकास परिष्कृत समय पद्धतियों का प्रयोग करके किया जाता है। समय-मापन पद्धतियों में कार्य का अध्ययन विस्तृत रूप से किया जाता है जो निम्नांकित प्रकार से परिभाषित है—

(i) कार्य वर्गीकरण बुनियादी स्तरों तथा गतिविधियों में किया जाता है।

(ii) कार्य-सम्पादन के कुशलतम मार्ग का विकास किया जाता है जिसमें उपकरणों, कार्य-स्थान तथा कार्य-प्रवाह की गुंजाइश रहती है।

(iii) विराम-घड़ी (Stop Watch) तथा माइक्रोमोशन अध्ययनों द्वारा विस्तार से समय दर्ज करके शुद्ध समय-मूल्य प्राप्त किये जाते हैं।

(iv) कार्य-मापन सम्बन्धी सभी तत्त्वों की समय गणना एकत्रित करके समय का औसत निकालकर तथा समन्वय करके और थकान, विश्राम के घण्टे और कार्य-प्रवाह के विलम्बों से उत्पन्न अनुत्पादक समयों के लिए तत्त्वों को सामान्य एवं समतल करके प्रामाणिक समय-उत्पादन के अनुपात निकाले जाते हैं।

कार्य-मापन की इकाइयाँ (Work-Measurement Units)

कार्य-मापन की दो प्रमुख इकाइयाँ हैं—

1. कार्य-इकाई (Work Unit), 2. समय-इकाई (Time Unit).

कार्य-इकाई के चयन में मापन किये जाने वाले कार्य के स्तर-विशेष का प्रभाव पड़ता है। क्रिया, प्रक्रिया और प्रवर्तन क्रम स्तरों का ही अधिक प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार जिस कार्य-इकाई का मापन करना है, उसमें कार्य के स्तर इस प्रकार कम हो सकते हैं—प्रार्थना-पत्र जिसकी समीक्षा की गई हो, लिखा गया कोई पत्र अथवा कोई परीक्षित प्रमाणक (Voucher) अथवा कोई विशेष प्रक्रिया जिसका कार्य से निकट का सम्बन्ध हो।

समय-इकाई प्रायः घण्टा, मिनटों एवं सैकण्ड से सम्बन्ध रखती है। कभी-कभी यह आवश्यक होता है कि कार्य का सम्बन्ध समय की बड़ी-बड़ी इकाइयों में स्थापित किया जावे जैसे—एक दिन, एक सप्ताह, एक माह किन्तु घण्टे की इकाई का ही प्रायः उपयोग किया जाता है। कार्य-इकाइयों का माप समय के अनुपात में प्रकट किया जाता है जैसे—कितने समय के अन्दर कितना उत्पादन हुआ है। अनुपात देखकर प्रकट किया जा सकता है कि कार्य की एक इकाई को अथवा कुछ इकाइयों को पूरा होने में कितना समय लगा अथवा अनुपात। इसे इस तरह भी प्रकट किया जा सकता है कि एक समय-इकाई में कितना कार्य हुआ अर्थात् प्रति घण्टा अथवा प्रतिदिन कितना कार्य हुआ।

इस प्रकार कार्य-मापन की विभिन्न इकाइयों तथा पद्धतियों के प्रयोग द्वारा एक व्यक्ति (व्यक्तियों) का कार्य मापन करके ओ. एण्ड एम. में प्रभावी एवं उपयोगी प्रयोग किया जा सकता है।

प्रशासकीय कानून

(Administrative Law)

प्रशासकीय कानून सर्वव्यापी विधि अनुशासन है जो दण्ड सम्पत्ति या अपकृत्य की तरह कानून का विषय नहीं है बल्कि ये यथार्थवादी विधि है। जहाँ कहीं भी लोक शक्ति के प्रयोग में मनमानी करने का आरोप लगाया जाता है तथा जिससे कोई व्यक्ति पीड़ित होता है वहीं पर प्रशासनिक कानून के सिद्धान्तों का आविर्भाव होता है।

प्रशासकीय कानून को प्राय विश्व के सभी विकसित एवं विकासशील देशों ने एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता दी है। फ्रांस, अमेरिका, इंग्लैण्ड, भारत आदि देशों में प्रशासनिक कानून को राज्य के कार्य संचालन का एक मुख्य अंग मानते हुए इसके महत्व को स्वीकारा गया है।

प्रशासनिक कानून प्रशासन में विभिन्न अंगों के अधिकारों तथा उनके संगठन स्वरूप का विवेचन करती है। इसके अन्तर्गत प्रशासनिक अधिकारियों की प्राधिकार सम्बन्धी सीमाओं तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जिसके अनुसार वे अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रशासनिक कानून के अन्तर्गत प्रशासन के अधिकारों पर न्यायिक तथा गैर-न्यायिक नियंत्रण का भी महत्व होता है। अत प्रशासनिक कानून के अन्तर्गत प्राय प्रशासनिक कार्यों के न्यायिक नियंत्रण पर ही बल दिया जाता है। देश की सामान्य जनता न्यायालयों में यह अपेक्षा करती है कि उसे प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा अधिकारों के दुरुपयोग किये जाने पर उचित उपचार प्राप्त होगा।

आज विश्व में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के कारण प्रशासन के अधिकार-क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है जिसके कारण यह अनुभव किया जाने लगा है कि प्रशासनिक कानून के अन्तर्गत न्यायिक नियंत्रण के अतिरिक्त गैर-न्यायिक नियंत्रण के तरीकों को भी अपनाया जाना चाहिए क्योंकि न्यायिक प्रशासनिक अधिकारियों के हर तरह के सत्ता दुरुपयोग में सुलभ नहीं हो सकते। अत प्रशासनिक कानून को सभी प्रशासनिक कार्यों के प्रत्येक प्रकार के नियंत्रण के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाना चाहिए।

प्रशासनिक कानून का सम्बन्ध सरकार के प्रशासनिक प्रवर्तन और नियंत्रण से है। यह प्रशासनिक अभिकरणों के गठन और शक्तियों का विवेचन करती है। उन शक्तियों का प्रयोग विनियमित करने वाले सिद्धान्तों को अभिकथित करती है और प्रशासनिक कार्य से व्यथित होने वाले विधि-उपचार का प्रचार करती है। इस प्रकार प्रशासनिक कानून के तीन भाग है—

1. प्रशासनिक अभिकरणों की संरचना और कार्य शक्तियाँ
2. उनकी शक्तियों के प्रयोग पर कानून द्वारा अधिरोपित अपेक्षाएँ
3. कानून विरुद्ध प्रशासनिक कार्य के प्रति उपचार हेतु उपबंध।

प्रशासनिक कानून का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning and Definition of Administrative Law)

प्रशासनिक कानून कानून की वह शाखा है जिसका सम्बन्ध शासन के विभिन्न अंगों के संगठन, कार्यों, अधिकारों तथा विवेकाधीन शक्तियों से है जिसका उद्देश्य प्रशासनिक अधिकारों तथा अधिकारियों के अनुचित तथा विवेकहीन कार्यों पर नियंत्रण रखना है। जेनिंग्स ने लिखा है कि, "प्रशासनिक कानून प्रशासन से सम्बन्ध रखने वाला कानून है जो प्रशासनिक अधिकारियों के संगठन कर्तव्यों एवं शक्तियों को निश्चित करती है।" डायसी के अनुसार, "प्रशासनिक कानून राष्ट्र कि विधि प्रणाली के उस प्रभाग से सम्बन्धित है जो सभी राज्य पदाधिकारियों की विधि प्रस्थिति और दायित्व अवधारित करती है। जो निजी व्यक्तियों के अधिकारों और दायित्वों को लोक प्राधिकारियों के साथ व्यवहार करने में परिनिश्चित करते है और जो प्रक्रिया विनिर्दिष्ट करते हैं, जिसके द्वारा उन अधिकारों और दायित्वों को प्रवर्तित किया जाता है।"

प्रो. फ्रीउम्ड ने परिभाषित किया है कि, "प्रशासनिक कानून उन समस्त विधियों से सम्बन्धित हैं, जो अधिकारी की मूल शक्ति, इनके कार्य (अनुमति तथा आशाएँ, सरकार के विवेकाधिकार तथा उन अधिकारों के प्रयोग में किये गये कार्यों की वैधता) उनकी शक्तियों के उचित प्रयोग के लिए प्रक्रियात्मक अपेक्षाएँ प्रशासनिक कार्यों पर न्यायिक नियंत्रण के लिए उचित अनुरोध जो विधि, सामायिक, परिनियमित हो सकते हैं तथा प्रशासकीय शक्ति के अधिकारिता तथा उसके निष्पादन के प्रश्नों से जुड़े हुए होते हैं।"

प्रो. डेविस ने परिभाषित किया है कि, "प्रशासकीय कानून प्रशासकीय शक्तियों, प्रक्रियाओं तथा न्यायिक पुनरावलोकन की विधि से सम्बन्धित है। यह उन सभी तात्विक विधियों का उल्लेख नहीं करता है जो प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा बनायी जाती है क्योंकि वे अधिकतर अधिवक्ताओं की समझ से परे होंगी। प्रशासनिक कानून को प्राधिकरणों के उन्हीं कार्यों तक सीमित रखा गया है जो उनके विधि निर्मात्री अथवा न्याय नियंत्रण की शक्तियों से सम्बन्धित है। यह कार्यपालिका अथवा प्रशासकीय कार्यों के न्यायिक पुनरावलोकन को भी सम्मिलित करती है।"

प्रो. वेड ने लिखा है कि, "सार्वजनिक प्राधिकारियों का संगठन उनके कार्य करने की विधि, उनके प्रशासकीय एवं न्यायिक अधिकार तथा उन अधिकारों पर न्यायिक नियंत्रण ही प्रशासनिक विधि है।"

उपर्युक्त विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रशासनिक विधि वह है जिसमें निम्नांकित पक्ष सम्मिलित हैं—

1. प्रशासन किन-किन शक्तियों का उपयोग करता है ?
2. प्रशासनिक व्यक्तियों के उपयोग के प्रशासनिक अधिकारी कौनसी पद्धतियों एवं तरीकों का प्रयोग करते हैं ?
3. इन शक्तियों की सीमाएँ क्या हैं ?
4. प्रशासकीय शक्तियों को नियंत्रित करने के कौनसे तरीके हैं ?
5. प्रशासन के अवैध एवं अनुचित कार्यों से प्रभावित व्यक्तियों के लिए क्या उपचार हैं ?

प्रशासनिक कानून की प्रकृति
(Nature of Administrative Law)

प्रशासनिक कानून सार्वजनिक कानून की एक शाखा है जो कार्यपालिका शक्तियों के प्रवर्तन और नियंत्रण के सम्बन्ध रखती है। इसका सम्बन्ध विभिन्न प्रशासनिक अभिकरणों के गठन, शक्तियों, कार्यों, कर्तव्यों, अधिकारों से है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में परिवर्तित सामाजिक-आर्थिक अवस्थाओं की उपयोगिता के कारण सरकार के कार्यपालक अंग तथा स्थापित प्रशासनिक अभिकरणों ने जनता और राज्य के बीच विवादों में अधिकारों तथा दायित्वों को उद्घाटित करना और उनका न्याय निर्णयन करना प्रारम्भ कर दिया है। आज प्रायः सभी देशों की सरकारें अपनी नीतियों और कार्यक्रमों के निष्पादन में इस प्रक्रिया का सहारा ले रही हैं।

प्रशासनिक कानून, प्रशासनिक अभिकरणों के प्रवर्तन और शक्तियों के नियंत्रण से ही नहीं बल्कि उनमें उपचारों से भी सम्बन्ध रखती है। इस परिप्रेक्ष्य में प्रशासनिक कानून यह देखता है कि—

1. किन शक्तियों को प्रशासनिक अभिकरणों में निहित किया जा सकता है ?
2. इन शक्तियों की सीमा रेखा क्या है ?
3. ऐसी कौनसी पद्धतियाँ एवं रीतियाँ है जिनके द्वारा प्रशासनिक अभिकरणों को परिसीमाओं में रखा जा सकता है ?

अतः प्रशासनिक कानून प्रशासनिक अभिकरणों को दी जाने वाली शक्तियों के प्रत्यायोजन शक्तियों के प्रयोग से सम्बन्धित प्रक्रिया तथा प्रशासनिक कार्यों के न्यायिक पुनरावलोकन की भी व्याख्या करती है।

प्रशासनिक कानून का क्षेत्र
(Scope of Administrative Law)

विश्व में आज शायद ही कोई ऐसा देश हो जहाँ पर प्रशासनिक कानून का विकास न हुआ हो। संवैधानिक कानून के बाद प्रशासनिक कानून ही इतना महत्त्वपूर्ण है कि आज इसका अध्ययन एक स्वतन्त्र विषय के रूप में किया जा रहा है। प्रशासनिक कानून के तहत मंत्री अथवा उसमें अधीनस्थ मंत्रालय तथा विभाग के प्रशासनिक अधिकारियों के विवेकाधीन शक्तियों के बारे में अध्ययन किया जाता है तथा उन प्रयोग में औचित्यता की समीक्षा की जाती है। आज प्रशासनिक कानून का सम्बन्ध प्रशासनिक अभिकरणों जैसे—रेलवे बोर्ड, केन्द्रीय राजस्व बोर्ड, वेतन बोर्ड, यातायात अधिकारी आदि के अर्द्ध-व्यवस्थापिका (Quasi-Ligislative) तथा अर्द्ध-न्यायिक (Quasi-Judicial) कार्यों एवं अधिकारों से है। इसमें प्रशासकीय ट्रिब्यूनल्स जैसे—चुनाव न्यायाधिकरण,

औद्योगिक न्यायाधिकरण, आयकर अधीन न्यायाधीकरण आदि के कार्यों, उत्तरदायित्वों एवं अधिकारों का भी अध्ययन सम्मिलित है।

प्रशासनिक शक्तियों एवं दायित्वों की समीक्षा करना तथा यह देखना कि विशेष रूप से जब उनमें से कोई न्यायालय के रूप में न्यायिक दायित्वों का प्रयोग हो उसकी न्यायिक-प्रक्रिया का अध्ययन भी प्रशासनिक कानून का क्षेत्र एवं विषय-वस्तु है। न्याय तथा न्यायालय से भी प्रशासनिक कानून का गहन सम्बन्ध है, क्योंकि जब प्रशासनिक अभिकरण या ट्रिब्यूनल न्यायालय के रूप में कार्य करता है तो उस समय उसको विशिष्ट प्रक्रिया को छोड़कर न्यायालयों की प्रक्रिया तथा आचार-संहिता के अनुकूल ही आचरण करना होता है। लेकिन आज प्रशासनिक कानून के तहत प्रशासनिक अधिकारियों की शक्तियों में अभूतपूर्व वृद्धि होने के कारण पर विचारणीय प्रश्न उत्पन्न हो गया कि उनकी शक्तियों को कैसे नियंत्रित रखा जाये ? इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान हीवर्ट का कहना है कि यदि इन पर समय रहते नियंत्रण न लगाया गया तो प्रशासनिक अधिकारी समाज में मनमाना व्यवहार करने लगेंगे, इससे नवीन निरंकुशता की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।

सारांशतः प्रशासनिक कानून के क्षेत्र के अन्तर्गत वर्तमान में निम्नलिखित पक्ष सम्मिलित हैं—

1. विभिन्न प्रशासनिक अभिकरणों का अध्ययन जैसे-वेज बोर्ड, केन्द्रीय राजस्व बोर्ड, कर बोर्ड, जाँच आयोग, सलाहकारी बोर्ड, टैरिफ आयोग आदि।
2. प्रशासनिक अभिकरणों की विधि निर्माण की शक्ति जिसके अन्तर्गत प्रत्यायोजित विधान सम्मिलित है। शक्तियों के दुरुपयोग की स्थिति में न्यायिक नियंत्रण के माध्यम से उपचार प्रदान करना।
3. प्रशासनिक अभिकरणों के न्यायिक कार्यों का अध्ययन।
4. प्रशासकीय अभिकरणों एवं अधिकारियों द्वारा शक्तियों के दुरुपयोग करने पर उपचार रिटों-परमादेश, उत्प्रेषण, बन्दी प्रत्यक्षीकरण आदि जारी करने का अध्ययन।
5. केन्द्र एवं राज्य सरकारों द्वारा अपने प्राधिकारियों द्वारा की गई संविध सम्बन्धी तथा अपकृत्य सम्बन्धी दायित्वों का अध्ययन।
6. प्रशासनिक अभिकरणों एवं अधिकारियों की कार्य प्रक्रिया सम्बन्धी गारन्टी एवं नैसर्गिक न्याय सिद्धान्त का अध्ययन।
7. सार्वजनिक निगमों का अध्ययन।

प्रशासनिक कानून का महत्व
(Significance of Administrative Law)

प्रशासनिक कानून का प्रचलन आज सरकारी और सभी प्रशासनिक क्षेत्रों में हो रहा है। अतः इसका महत्व आज काफी बढ़ गया है। प्रशासनिक कानून के अध्ययन द्वारा, प्रशासनिक अभिकरणों एवं अधिकारियों के कार्यों, दायित्वों, अधिकारों, शक्तियों आदि का अध्ययन करके प्रकृति को जाना जा सकता है।

प्रशासनिक कानून के महत्व को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

1. इसके द्वारा प्रशासनिक अभिकरणों की संविधान स्थिति, लक्षण नियम एवं उद्देश्यों को परिभाषित किया जा सकता है।
2. इसके द्वारा प्रशासनिक अभिकरणों एवं अधिकारियों द्वारा बनाये गये नियम, उपनियम एवं कार्य प्रक्रिया का अध्ययन किया जा सकता है।
3. इसके द्वारा प्रशासनिक अभिकरणों एवं अधिकारियों के न्यायिक निर्णयों एवं न्यायिक पुनरावलोकन का अध्ययन किया जा सकता है।
4. प्रशासनिक कानून का प्रयोग करने प्रशासनिक अभिकरण एवं अधिकारी सरकार की नीतियों एवं कार्यक्रमों को प्रभावी ढंग से लागू कर सकते हैं।
5. प्रशासनिक कानून द्वारा प्रत्यायोजित विधान की प्रकृति की स्पष्ट व्याख्या की जा सकती है।
6. प्रशासनिक कानून के व्यावहारिक प्रयोग द्वारा प्रशासनिक कार्यों में समरूपता, समन्वय रहता है।
7. प्रशासनिक कानून के द्वारा प्रशासनिक अधिकारियों के कार्यों की समीक्षा की जा सकती है तथा उनके कार्यों पर नियंत्रण लगाया जा सकता है।

होता है जिस प्रकार संसद द्वारा पारित विधान का उल्लंघन । प्रदत्त विधान अधीनस्थ (Subordinate) अधिकारियों द्वारा बनाए जाते हैं, अत उन्हें कार्यपालिका विधान (Executive Legislation) तथा सवैधानिक प्रपत्र या दस्तावेज (Statutory Instrument) भी कहा जाता है । सवैधानिक प्रपत्र इसलिए कहा जाता है कि ये विधान व्यवस्थापिका अर्थात् संसद् द्वारा कार्यपालिका अर्थात् विभागीय अधिकारियों को प्रदत्त प्रत्यायोजित या शक्ति (Delegated Power) द्वारा बनाए जाते हैं जो ससदीय विधान के समान मान्य दस्तावेज होते हैं ।

प्रदत्त विधान के उद्देश्य एवं महत्व

प्रदत्त विधान के प्रमुख उद्देश्य एवं महत्व इस प्रकार हैं—

1. संसदीय कानूनों के संपूरक (Supplement of Parliamentary Legislation)—संसद समयाभाव अथवा विषय-विशेषज्ञता के अभाव में कानूनों की रूपरेखा मात्र ही पारित करती है जिनके संपूरक का कार्य सम्बन्धित विभागाधिकारी प्रदत्त विधान के द्वारा करते हैं । प्रदत्त विधान संसदीय विधान की सूखी हड्डियों पर माँस चढ़ाने का कार्य करते हैं अर्थात् संसदीय विधान को प्रदत्त विधान द्वारा ही स्पष्ट, सुबोध और व्याख्यायुक्त बनाकर उसे विभागीय आवश्यकताओं के अनुकूल ढाला जाता है ।

2. संसदीय कानून की कठोरता कम करना (To make Legislation less Strict)—प्राय संसदीय कानून बड़े कठोर और क्रूर प्रकृति के होते हैं जिनके विवेकहीन प्रयोग से अनुचित परिणाम निकल सकते हैं । विभागीय प्रदत्त विधान संसदीय विधानों को स्पष्टता प्रदान कर विभाग की आवश्यकता एवं मानवीय दृष्टिकोण के आधार पर उनकी कठोरता कम कर उन्हें नम्य या लचीला (Flexible) बनाते हैं ।

3. *विभागीय आवश्यकताओं की पूर्ति* (*To fulfil Departmental Requirements*)—प्रत्येक विभाग की अपनी विशिष्टता होती है जिसके कार्यों तथा कर्मचारियों की कार्यकारी स्थितियों को समझने के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है । विभागीय कार्य एव कर्मचारियों से सम्बन्धित नियम एवं निर्देश विभागीय विशेषज्ञ अधिकारी ही उचित प्रकार से प्रसारित कर सकते हैं । प्रदत्त विधान विभागों की इन आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं ।

4. संसद् का कार्यभार कम करना (To less in the work-load of Parliament)—ससद् के पास समयाभाव होता है । यदि वह प्रत्येक विधान की विस्तृत रूपरेखा तैयार करती रहे तो उसे आवंटित सभी विधानों का निर्माण करना असम्भव हो जाएगा और वह नीति-निर्माण सम्बन्धी कार्य नहीं कर सकेगी । संसद् के कार्यभार को कम करने में प्रदत्त विधान महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । प्रदत्त विधान ससद् के कार्यभार को ही कम नहीं करते अपितु वे संसद् द्वारा निर्मित कानूनी ढाँचे को विभागीय आवश्यकताओं के अनुकूल बनाते हैं और उसमें रक्त-माँस भरकर कानूनी ढाँचे रूपी कंकाल को सजीवता प्रदान करते हैं । वे उन्हें व्यावहारिक बनाते हैं ।

5. आपात्कालीन स्थिति में अपरिहार्य (Inevitable in the Stage of Emergency)—युद्ध, बाढ़, सूखा, भूकम्प, महामारी, आन्तरिक विद्रोह आदि के राष्ट्रीय संकटों एवं आपात्काल में अतिशीघ्र कार्यवाही अपेक्षित होती है जिसके लिए संसदीय कानून बनाने में समय नष्ट करना मूर्खता होती है । अत ऐसी आपात्कालीन स्थिति में प्रदत्त कानून या विधान की अपरिहार्य आवश्यकता होती है ।

6. सार्वजनिक हित का सिद्धान्त (Principle of Public Welfare)—जनतन्त्रीय-सरकार को सार्वजनिक हित का विशेष ध्यान रखना होता है । यह कार्य प्रत्येक विभाग का मंत्री, जो संसद के प्रति उत्तरदायी होता है, करता है । वह अपने विभाग के प्रदत्त विधानों द्वारा ही सार्वजनिक हितों की पूर्ति करता है । वह संसदीय नियमों को सरल बनाकर उन्हें जनता के हित में व्यावहारिक बनाता है । जनतन्त्रीय सरकार को अपने ढंग से कार्य करने का अधिकार होता है । इसलिए प्रदत्त विधान का प्रावधान किया गया है ।

7. अधिक विवेकपूर्ण होना (More Considerate)—संसद् द्वारा निर्मित विधान प्राय शीघ्रता में पारित किए जाते हैं जिन पर पर्याप्त विचार-विमर्श नहीं हो पाता और न उनके निर्माण में विशेषज्ञों का योगदान ही होता है । फलत उनमें अनेक कमियाँ व विसंगतियाँ हो सकती हैं जिन्हें बार-बार सशोधित करना पड़ता है । प्रदत्त विधान पर्याप्त विचार-विमर्श व विशेषज्ञों के योगदान से निर्मित होते हैं, अत वे संसदीय विधानों की अपेक्षा अधिक विवेकपूर्ण होते हैं और इसीलिए उत्तम भी ।

8. संविधि के अनुकूल होना (According to Law)—प्रदत्त विधान सदैव संसदीय विधान के अनुकूल तथा उसकी सदर्भ-परिधि में ही निर्मित किए जाते हैं । इसीलिए उन्हें संविधि के समान मान्यता प्राप्त होती है और उन्हें न्यायालय में चुनौती देकर अवैध घोषित नहीं किया जा सकता ।

प्रदत्त व्यवस्थापन पर आवश्यक रोक

प्रशासकीय विभाग कानूनी सीमा के अन्तर्गत ही आदेश जारी कर सकते हैं । कानून को इस प्रकार तोड़-मरोड़ नहीं सकते कि उनका प्रयोजन ही समाप्त हो जाए । नागरिकों को किसी भी कानून विरोधी *आदेश के विरुद्ध अपील* करने का अधिकार होता है । न्यायालय ऐसे आदेश को अपने निर्णय के अनुसार अवैध घोषित कर सकते हैं । संसद-सदस्य भी सदन में ऐसे आदेश का विरोध कर सकते हैं । संसद् ऐसे आदेशों को समाप्त कर सकती है ।

प्रदत्त व्यवस्थापन के कारण

प्रदत्त व्यवस्थापन के कारण निम्नांकित हैं—

1. विधि-निर्माण का कार्य इतना बढ़ गया है कि समयाभाव के कारण संसद् उसे ठीक ढंग से निभा नहीं पाती। 2. संसद् के लिए यह संभव नहीं है कि वह दिन-प्रतिदिन की प्रशासकीय बारीकियों का पूर्ण ज्ञान रख सके। 3. विभागीय अधिकारी संसद्-सदस्यों की तुलना में कानून की बारीकियों को समझने में अधिक दक्ष होते हैं। स्वयं संसद्-सदस्य भी इस तथ्य से परिचित होते हैं, अतः कानून के केवल सामान्य सिद्धान्तों का निश्चय करके उनके अन्तर्गत विस्तृत नियम-निर्माण का अधिकार विशेषज्ञों को सौंप देना उचित समझते हैं। 4. जनता की इच्छानुसार संसद् नीति की रूपरेखा तो भली प्रकार बना सकती है, लेकिन सम्बन्धित जटिल बातों को समझकर आवश्यक आदेश प्रशासकीय विभाग ही जारी कर सकते हैं। बदलती हुई परिस्थितियों के कारण कानूनों को लागू करने में उत्पन्न होने वाली विभिन्न कठिनाइयों का प्रशासन भली प्रकार मुकाबला तभी कर सकता है जब उसे विभिन्न नियमों-उपनियमों के निर्माण का अधिकार प्राप्त हो। 5. संसद् का अधिवेशन हर समय नहीं होता, अतः आवश्यकता होने पर कार्यपालिका अपने ही उत्तरदायित्व पर नियम बना सकती है और आदेश जारी कर सकती है। संकटकाल में संसद् स्वयं भी कार्यपालिका को ऐसी शक्ति सौंप देती है। उदाहरणार्थ, 1939 में संसद् ने संकटकालीन शक्ति सुरक्षा कानून (The Emergency Power Defence Act, 1939) पास करके कार्यपालिका को युद्ध सम्बन्धी आवश्यक कार्यवाही के लिए नियम बनाने का अधिकार सौंप दिया था। 6. किसी भी अच्छे शासन में लचीलेपन का होना आवश्यक है। शासन को स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल बनाने और आवश्यकतानुसार ढालने के उद्देश्य से संसद् प्रशासन को नियम-निर्माण सम्बन्धी शक्ति सौंपती है। प्रशासन अपने नियम इस प्रकार बनाता है कि वे संसद् द्वारा पारित अधिनियम या नीति के ढाँचे में फिट बैठते हैं।

प्रदत्त विधान की आलोचना और मूल्यांकन

(Criticism and Evaluation of Delegated Legislation)

विद्वानों ने प्रदत्त व्यवस्थापन की निम्नांकित आधारों पर आलोचना की है—

1. प्रदत्त व्यवस्थापन संसद् की सर्वोच्च शक्ति पर आघात करने वाला है।

2. इस व्यवस्था द्वारा नौकरशाही की शक्ति का तेजी से विस्तार हो रहा है। यह 'नई निरंकुशता' (The New Despotism) है जिसके द्वारा विभाग अपनी शक्ति का दुरुपयोग बड़ी सरलता से कर सकते हैं।

3. इस व्यवस्था में यह खतरा है कि संसद् आवश्यकता से अधिक नियम-निर्माण की शक्ति प्रशासन को सौंप सकती है।

4. नियमों या कानूनों के सम्बन्ध में अधिक लचीलापन घातक हो सकता है और अराजक तत्त्वों को बल मिलने का भय रहता है।

5. नियमों के उचित प्रकाशन और प्रसार के अभाव में हो सकता है कि साधारणजन उनका उचित लाभ न उठा सकें।

6. नियम-निर्माण-विशेषज्ञ के राजनीतिक दृष्टि से उचित बातों के प्रति लापरवाह होने की सम्भावना रहती है।

वस्तुतः प्रदत्त व्यवस्थापन की आलोचना अतिरंजित है। ऑग (Ogg) की मान्यता है कि "प्रदत्त व्यवस्थापन के विरोध का कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि जिस समय इस पर विचार करना आरम्भ किया जाता है वह उसी समय समाप्त हो जाता है।"

इसके समर्थन में निम्नांकित तर्क दिए जाते है—

1. इस व्यवस्था के कारण संसद् को इतना समय मिल जाता है कि वह विधेयक के उद्देश्यों और सिद्धान्तों पर समुचित विचार-विमर्श कर सके। 2. प्रदत्त व्यवस्थापन द्वारा अज्ञात भविष्य की परिस्थितियों के अनुसार ठीक समय पर आवश्यकता के अनुसार कानून के बिना किसी संशोधन के काम चलाने की शक्ति मिल जाती है। 3. प्रशासन को विधि-निर्माण कार्य सौंपे जाने की व्यवस्था से विधायकों को विशेषज्ञों के अनुभव और ज्ञान का लाभ प्राप्त हो जाता है। प्रत्यायोजित विधान-प्रणाली में विशेषज्ञ प्रशासनिक-अधिकारी कानूनों की विस्तृत रूपरेखा तैयार करते हैं और तकनीकी परामर्श देते हैं। 4. प्रदत्त व्यवस्थापन द्वारा नए परीक्षण करने और उनसे प्राप्त अनुभवों से लाभ उठाने का अवसर मिलता है। 5. तत्काल और आकस्मिक आवश्यकताओं के लिए आदेश जारी करने हेतु प्रदत्त व्यवस्थापन की व्यवस्था ही एकमात्र सुगम उपाय है। संसद् संकटकालीन परिस्थितियों का उचित अनुमान लगाने में भूल कर सकती है जबकि कार्यपालिका अपनी नियम-निर्माणकारी शक्ति द्वारा संकटों का तेजी से और कुशलतापूर्वक सामना कर सकती है। उसे संसदीय आदेश की प्रतीक्षा में समय नहीं गँवाना पड़ता। 6. संसद् में कानून प्रायः जल्दबाजी में पास किए जाते हैं, अतः असन्तोषजनक भी रह जाते हैं। प्रदत्त व्यवस्थापन द्वारा नियम-विनियम खूब सोच-विचार कर तैयार किए जाते हैं जो अधिक बोधगम्य और तर्कसम्मत होते हैं। 7. प्रशासन के हाथों विधि-निर्माण कार्यों की व्यवस्था का एक बड़ा लाभ यह है कि उन लोगों से परामर्श किया जा सकता है जिनके हित निर्माणाधीन विधियों से प्रभावित होते हैं।

प्रदत्त विधान के दुरुपयोग के विरुद्ध सुरक्षाएँ

(Safeguards against Misuse of Delegated Legislation)

प्रदत्त व्यवस्थापन की कटु आलोचना के प्रतिक्रियास्वरूप इसके दुरुपयोग को रोकने की दिशा में राजनीतिक क्षेत्रों में समय-समय पर निम्नांकित सुझाव दिये जाते रहे हैं—

1. प्रदत्त व्यवस्थापन का प्रारूप विशेष सावधानी से, ठीक तरह तैयार किया जाए । 2. प्रशासनिक अधिकारियों की स्वविवेक की शक्तियों पर कुछ सीमाएँ लगाई जाएँ ताकि वे अपनी शक्ति का दुरुपयोग न कर सकें । ऐसी व्यवस्था की जाए कि प्रशासनिक अधिकारियों के निर्णय के विरुद्ध न्यायालय में अपील की जा सके । 3. प्रशासनिक विनियमों को संसद की जानकारी के लिए भेजा जाए । 4. प्रदत्त व्यवस्थापन की सीमाएँ स्पष्ट और निश्चित हों । भाषा इतनी स्पष्ट हो कि साधारण नागरिक उसे समझ सकें । 5. असाधारण कार्यों के लिए प्रशासन को विधि-निर्माण की शक्तियाँ यथासम्भव न सौंपी जाएँ ।

कुल मिलाकर प्रदत्त व्यवस्थापन समय की माँग है और वर्तमान परिस्थितियों में इससे सर्वथा मुक्त होने की बात नहीं सोची जा सकती । अत उचित यही है कि प्रदत्त व्यवस्थापन को समाप्त करने की अपेक्षा इसके दुरुपयोग के विरुद्ध प्रभावशाली सुरक्षाओं की व्यवस्था की जाए ।

प्रशासनिक अधिकरण

(Administrative Tribunals)

प्रशासनिक अधिकरण आज 20वीं शताब्दी के लोकतन्त्र की एक महत्वपूर्ण संस्था बनते जा रहे हैं जो प्रशासनिक एवं कानूनी संघों का मिला-जुला रूप है । प्रशासनिक अधिकरण अपनी कार्य प्रक्रिया के माध्यम से उन प्रशासनिक समस्याओं का निराकरण करते है जिनमें कानूनी अधिकार सम्बन्धी प्रश्न हो । प्रशासनिक अधिकरण अथवा न्यायाधिकरण अथवा ट्रिब्यूनल का विकास प्रमुख रूप से न्यायिक तथा अर्द्ध-न्यायिक कार्यों के लिए हुआ है । ये सरकारी संस्थाएं है जो कार्यपालिका से सम्बन्धित हैं । इनका सम्बन्ध राज्य की न्यायिक शाखा से नहीं, चाहे उसके पास न्यायालयों के समान न्यायिक शक्तियाँ ही क्यों न हो ।

अधिकरण अथवा न्यायाधिकरण का शाब्दिक अर्थ है 'न्यायाधीश का पद' । यदि इसी अर्थ में इसको समझा जाये तो उसमें न्यायालय भी सम्मिलित है, लेकिन प्रशासनिक कानून के सन्दर्भ में अधिकरण अथवा ट्रिब्यूनल शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ को प्रकट करता है जिसमें देश के सामान्य, न्यायालय के अतिरिक्त अन्य न्यायकारी संस्थाएँ भी सम्मिलित हैं । भारतीय संविधान की धारा 136, 226 तथा 227 में 'कोर्ट' तथा 'ट्रिब्यूनल' शब्द का प्रयोग अलग-अलग संस्थाओं के लिए किया गया है । ट्रिब्यूनल शब्द,का अर्थ उस संस्था है जिसके पास न्यायिक शक्तियाँ भी हो जिससे वह कानूनी मुद्दों का उसी के अनुसार निर्णय कर सके अथवा न्यायिक प्रक्रिया के माध्यम से नागरिकों के अधिकारों की रक्षा कर सके ।

सर्वोच्च न्यायालय के अनुसार अधिकरण वह संस्था है—

1. जिसकी कार्यवाही अर्जी-दावे के स्वरूप वाले प्रार्थना-पत्र के साथ प्रारम्भ हो
2. जो वैधानिक प्रतिनिधित्व की आज्ञा प्रदान करे
3. जो अपने समक्ष प्रस्तुत प्रमाणों तथा विधान की धाराओं के अनुसार ही निर्णय देवे
4. इससे सदस्य एक जज के समान योग्यता रखते हों
5. इसकी सम्पूर्ण कार्यकारी जनता के समक्ष हो ।

प्रशासनिक अधिकरणों का विकास

(Development of Administrative Tribunals)

भारत में प्रशासनिक अधिकरण का विकास समाज की आवश्यकता तथा माँग के अनुरूप किया गया । विश्व में प्रशासनिक अधिकरण के विकास के सन्दर्भ में प्रोफेसर रॉब्सन का कथन है कि, "लोक सभा ने अधिकरणों की उपेक्षा नहीं बल्कि ऐसी संस्थाओं की स्थापना की सम्भावना को स्वीकार किया जो साधारण न्यायालयों की अपेक्षा न्याय को अतिशीघ्रता से सस्ता तथा अधिक सफलता और कुशलता से सम्पन्न करे, जो सरकार के विरुद्ध बहुत कम आस्था रखती हो तथा अधिक तकनीकी ज्ञान रखती हो, जो निजी सम्पत्ति के अधिकारों की अपेक्षा सामाजिक भलाई को अधिक महत्व देती हो तथा जो कानून में व्याप्त सामाजिक कल्याण भावना की वृद्धि के लिए विशिष्ट प्रयास करे ।" विश्व में तथा भारत में प्रशासनिक अधिकरण के विकास के लिए निम्न परिस्थितियाँ (कारण) उत्तरदायी माने जा सकती हैं—

1. कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के उपफल के रूप में
2. औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की प्रक्रिया

3. तकनीकी समस्याओं को समझने के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता के कारण
4. सरकार द्वारा मानदण्डों का निर्धारण करने के कारण
5. न्यायालयों पर कार्यभार की अधिकता तथा न्यायिक प्रक्रिया महँगी होने के कारण
6. शीघ्र निर्णय लेने के कारण।

इस प्रकार प्रशासनिक अधिकरण किसी राजनीतिक दर्शन के कारण नहीं बल्कि कुछ व्यावहारिक समस्याओं से जूझने के लिए व्यावहारिक आवश्यकता के कारण अस्तित्व में आयी है। इसके अतिरिक्त साधारण न्यायालयों की आधारभूत कमियों एवं दोषों के कारण तथा कल्याणकारी राज्य की उत्पत्ति के कारण भी इनका उद्भव हुआ है।

भारत में औद्योगीकरण न्यायाधिकरण अथवा अधिकरण की स्थापना सर्वप्रथम 1943 में औद्योगिक विवाद अधिनियम 1943 के तहत की गई। इसके बाद रेलवे नियम न्यायाधिकरण की स्थापना इण्डियन रेलवे अधिनियम 1819 के अन्तर्गत की गई। इसके बाद इन्कम टैक्स अधीनियम न्यायाधिकरण, कर्मचारी बीमा कोर्ट, चुनाव अधिकरण कामीराइट बोर्ड, विदेशियों का अधिकरण, क्लेम अधिकरण, अवैध एवं गैर-कानूनी गतिविधि अधिकरण आदि स्थापित किये गये।

प्रशासनिक अभिकरणों की प्रक्रिया

(Process of Administrative Tribunals)

प्राय प्रत्येक स्थापित प्रशासनिक अधिकरण की अपनी कार्य प्रक्रिया होती है, लेकिन फिर भी सभी अधिकरणों में कुछ समान प्रक्रिया भी पायी जाती है। अधिकतर प्रशासनिक अधिकरण को सिविल न्यायालयों के समान शक्तियाँ दी जाती हैं जो नागरिक प्रक्रिया के कोड के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों से सम्बन्धित कार्य करते हैं—

1. किसी व्यक्ति की उपस्थिति अथवा कानूनी प्रतिनिधित्व
2. समाचार से सम्बन्धित दस्तावेज अथवा प्रमाण पर प्रस्तुत किया जाना
3. मुकदमों का परीक्षण

उपरोक्त सामान्यता के बावजूद अधिकरण की अपनी विशेष प्रकृति होती है जैसे—कुछ अधिकरण जनता से सम्बन्धित ही कार्य करते हैं जबकि कुछ अधिकरण अपने निजी कार्य से ही सम्बन्धित होते हैं। कुछ अधिकरण केवल एक मुद्दई के कहने पर ही जनता में लगाये जाते हैं। कानून प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में भी प्रशासनिक अधिकरणों में अन्तर पाया जाता है। कुछ अधिकरणों में कोई भी सम्बन्धित व्यक्ति, वकील, सोलिसीटर, एजेन्ट आदि से अथवा प्रतिनिधित्व करवाता है, लेकिन कुछ अधिकरणों में किसी वकील के अतिरिक्त किसी अन्य को प्रतिनिधित्व का अधिकार नहीं होता।

गवाही अथवा प्रमाण के सन्दर्भ में भी अधिकरणों में अन्तर पाया जाता है। कुछ अधिकरण कानूनी नियमों कड़ी कड़ाई से पालन करते हैं तो कुछ अधिकरण इन नियमों की परवाह ही नहीं करते ? कुछ अधिकरण गवाहों से पूरी तरह जिरह करते है तो कुछ अधिकरणों में गवाह से केवल अधीकरण अध्यक्ष द्वारा ही प्रश्न पूछे जाते हैं। कुछ प्रशासनिक अधिकरण सफल होने वाले व्यक्ति को खर्च देने की शक्ति नहीं रखते जबकि कुछ के पास इस प्रकार की सीमित शक्ति होती है। जबकि कुछ के पास परिणामों की चिन्ता किए बिना गवाहों तथा मुकदमा लड़ने वाले व्यक्तियों को खर्च देने का अधिकार होता है। अधिकतर अधिकरण तर्क सगत निर्णय देते हैं लेकिन इस सम्बन्ध में कोई समरूप नियम नहीं है।

प्रशासनिक अधिकरणों के प्रकार

(Types of Administrative Tribunals)

विश्व के कानूनी व्यवस्था में अन्तर के कारण अधिकरण भी प्राय दो प्रकार के होते है—एग्लो सैक्सन अधिकरण एवं कॉंटीनेन्टल योरोपीय अधिकरण। भारत में एग्लो सैक्सन अधिकरण स्थापित हैं।

ऐंग्लो सैक्सन अधिकरण के लक्षण

1. प्रशासनिक अधिकरण किसी विशिष्ट व्यवस्था के अन्तर्गत सगठित नहीं होते।
2. प्रशासनिक न्यायिक कार्य प्राय सरकारी विभागों द्वारा ही किये जाते हैं।
3. प्रशासनिक तथा न्यायिक कार्य सम्बन्धी नियत्रण प्राय एक ही सस्था में केन्द्रित होते है।
4. अधिकरण प्राय योग्य न्यायाधीशों तथा प्रशासकों के अधीन कार्य नहीं करते बल्कि लोक सेवकों के अधीन कार्य करते हैं। जबकि वे इस क्षेत्र में न तो प्रशिक्षित होते हैं और न ही अनुभवी।
5. इनमें कोई कार्य की विशिष्ट प्रक्रिया नहीं होती है।
6. इनमें अपील के लिए निश्चित क्रमबद्धता का अभाव पाया जाता है तथा अपील प्राय सामान्य न्यायालयों में ही की जाती है।

कौंटीनेन्टल योरोपीय अधिकरण के लक्षण

1. प्रशासनिक अधिकरण निश्चित व्यवस्था के अन्तर्गत संगठित होते हैं।
2. अधिकरण एक विशिष्ट प्रक्रिया के अधीन कार्य करते हैं।
3. अधिकरण विशेष परिस्थितियों में प्राय नियमित प्रशासन से आंशिक अथवा पूर्णरूप से विलग होते हैं।
4. इन अधिकरणों का प्रबन्ध प्रशिक्षित न्यायाधीशों तथा अनुभवी प्रशासकों के हाथों में होता है जिन्हें कार्य-अवधि की सीमा-सुरक्षा प्राप्त होती है।
5. ये अधिकरण साधारण न्यायालयों के नियंत्रण से बाहर होते हैं तथा उच्च स्तरीय अधिकरणों के निर्णय अन्तिम निर्णय होते हैं।
6. इन अधिकरणों में अपील करने के लिए निश्चित क्रमबद्ध प्रणाली अपनायी जाती है।

प्रशासनिक अधिकरणों की कमियाँ
(Demerits of Administrative Tribunals)

प्रशासनिक अधिकरणों अथवा न्यायाधिकरणों की निम्नलिखित कारणों से आपत्तियाँ की जाती हैं जो इनकी कमियों को भी दर्शाती हैं—

1. विधि के शासन का उल्लंघन (Violation of Rule of Law)—प्रशासनिक अधिकरणों द्वारा अपने कार्य प्रक्रिया के लिए नियम कानून बनाये जाते हैं जिससे विधि के शासन का उल्लघन होने की सम्भावना रहती है क्योंकि विधि के शासन का अर्थ है कानून के समक्ष समानता तथा कानून की सर्वोच्चता। लेकिन अधिकरणों को स्थापित करके विधि के शासन का उल्लघन किया जाता है।

2. प्रक्रिया की एकरूपता में कमी (Lack of Uniformities in Procedure)—प्रशासनिक अधिकरणों पर एक यह भी आपत्ति की जाती है कि सभी प्रशासनिक अधिकरणों की कार्य प्रक्रिया एक समान न होकर भिन्न-भिन्न होती है। इसके अतिरिक्त वे अपनी कार्य प्रक्रिया के अन्तर्गत मुकदमों को संक्षिप्त रूप में सुनते हैं तथा पूर्व उदाहरणों पर गौर भी नहीं करते हैं।

3. प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त का उल्लघन (Violation of Natural Justice Principle)—प्रशासनिक अधिकरणों की एक कमी यह भी है कि ये प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त का उल्लघन करते हैं जैसे—कोई भी व्यक्ति अपने ही मामले का न्यायाधीश नही होना चाहिए, किसी भी पक्ष को बिना सुने दोषी नहीं ठहराया जा सकता, प्रत्येक पक्ष को निर्णय के आधार का पता होना चाहिए।

4. न्याय-संगत कार्य का अभाव (Lack of Judicial Act)—प्रशासनिक अधिकरण की एक कमी यह भी है कि ये न्याय-सगत कार्य नही करते क्योंकि इन अधिकरणों को ऐसे व्यक्ति सचालित करते है जो न तो इन कार्यों के लिए प्रशिक्षित होते है और न ही अनुभवी। इसके अभाव में ये न तो न्याय-सगत निर्णय देते हैं और न ही निष्पक्ष।

5. लोकप्रियता का अभाव (Lack of Popularity)—प्रशासनिक अधिकरण अपनी कार्यवाही जनता *के समक्ष न करके गोपनीय रूप में करते हैं, इससे ये जनता में लोकप्रिय नहीं बन पाते हैं। इससे जनता के समक्ष* प्रामाणिकता स्पष्ट नही हो पाती है।

6. अपील का सीमित अधिकार (Limited Right to Appeal)—प्रशासनिक अधिकरणों द्वारा दिये गये अधिकांश निर्णयों के विरुद्ध न्यायालयों में अपील नही की जा सकती, ऐसी स्थिति में जनता में इनके प्रति विश्वास पैदा नहीं होता।

7. निम्नस्तरीय न्याय (Low Level Justice)—प्रशासनिक अधिकरणों पर एक यह भी आपत्ति की जाती है कि ये अपने निर्णय सही ढग से नही देते क्योंकि ये न्यायिक कार्यों के विशेषज्ञ नहीं होते। इसके अतिरिक्त इनमें निर्णय पक्षपातपूर्ण अधिक होते है। प्राय यह भी देखा जाता है इनके द्वारा मुकदमों की छानबीन करने का तरीका भी अविश्वसनीय और घटिया किस्म का होता है जिससे निर्णयों के प्रति विश्वसनीयता कम प्रतीत होती है।

उपरोक्त आपत्तियों एवं कमियों के बावजूद भी आज प्रशासनिक अधिकरण हर क्षेत्र में स्थापित किये जा रहे है, अत: इनकी जनमानस में विश्वसनीयता एवं लोकप्रियता बढ़ाने के लिए कुछ ऐसे कारगर उपाय किये जाने चाहिए जिनसे से प्रभावी और विश्वसनीय बन सकें। इनमें प्रशिक्षित एवं अनुभवी व्यक्तियों को ही नियुक्त किया जाना चाहिए। इनकी न्यायिक प्रक्रिया सभी और नियंत्रित करने के लिए एक कार्य प्रक्रिया कोड स्थापित किया जाना चाहिए। इसमें किए जाने वाले निर्णय तर्क-संगत होने चाहिए तथा इन पर अपील का अधिकार होना चाहिए।

प्रशासनिक अधिकरण भारतीय सन्दर्भ में

(Administrative Tribunal in Indian Reference)

भारत में प्रशासन को चुस्त बनाने तथा प्रशासनिक गतिविधियों में व्यथित सरकारी कर्मचारियों तथा अधिकारियों को न्याय दिलवाने के लिए सन् 1985 से प्रशासनिक अधिकरणों की स्थापना प्रारम्भ की गई। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 323-क में प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम की व्यवस्था है, जो केन्द्र तथा राज्यों के कार्यों के सम्बन्ध में लोक सेवाओं तथा अन्य पदों पर नियुक्त किये गये व्यक्तियों की भर्ती तथा सेवा-शर्तों से उत्पन्न विवादों तथा शिकायतों का अधिनिर्णय करने के लिए केन्द्र सरकार को संसद में अधिनियम द्वारा प्रशासनिक अधिकरण की स्थापना करने की शक्तियाँ प्रदान करता है। प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम-1985 में निहित उपबन्धों के अनुक्रम में, इसके अन्तर्गत गठित प्रशासनिक अधिकरणों (Tribunals) को अधिनियम के तहत आने वाले कर्मचारियों तथा अधिकारियों के सेवा सम्बन्धी मामलों के निपटारे के लिए उच्च न्यायालय का दर्जा तथा शक्तियाँ प्राप्त हैं। अत: प्रशासनिक अधिकरणों के आदेशों एवं निर्णयों के विरुद्ध अपील विशेष अनुमति याचिका के रूप में केवल भारत के उच्चतम न्यायालय में ही की जा सकती है। इसके अतिरिक्त प्रशासनिक अधिकरण सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 के नियमों की जटिलता का अनुसरण करने को बाध्य नहीं है, किन्तु मामलों का निपटारा "नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त" के अनुसार ही करना होता है।

ये प्रशासनिक अधिकरण अपने क्षेत्राधिकार एवं प्रक्रिया में सामान्य न्यायालयों से अलग प्रकृति के होते हैं। इस अधिकरणों के क्षेत्राधिकार में केवल अधिनियम के तहत आने वाले सेवा-सम्बन्धी मुकदमे ही सम्मिलित हैं। ये अधिकरण साधारण न्यायालय की कई तकनीकी जटिलताओं से भी मुक्त होते हैं। इन अधिकरणों की प्रक्रियात्मक सरलता इस बात से देखी जा सकती है कि व्यथित व्यक्ति अधिकरण के समक्ष अपनी शिकायत अपने विभागीय अधिकारियों अथवा सरकारी वकीलों के माध्यम से प्रस्तुत करता है। इन अधिकरणों के समक्ष व्यथित व्यक्ति द्वारा आवेदन-पत्र दायर करने के लिए केवल 50 रुपये शुल्क दिया जाता है। इस प्रकार इन अधिकरणों का प्रमुख उद्देश्य सरकारी कर्मचारियों तथा अधिकरणों को शीघ्र एवं सस्ता न्याय दिलाना है।

प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम 1985 में केन्द्र स्तर पर 'केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण' (Central Administrative Tribunal) की स्थापना की व्यवस्था है। केन्द्रीय स्तर पर केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण की स्थापना 1 नवम्बर, 1985 को नई दिल्ली में की गई थी। इसके कार्यों को हल्का करने के उद्देश्य से इसके नियन्त्रण में न्यायपीठों तथा सर्किट न्यायपीठों की देश के अनेक भागों में स्थापना की गई है। वर्तमान में केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण की 17 नियमित न्यायपीठें हैं जिनमें से 15 उन स्थानों पर कार्यरत हैं जहाँ उच्च न्यायालयों की प्रधान न्यायपीठें (बैंच) हैं तथा शेष दो न्यायपीठें जयपुर (राज) और लखनऊ (यू.पी.) में हैं। ये नियमित न्यायपीठें उच्च न्यायालयों के अन्य स्थानों पर सर्किट बैठकें भी आयोजित करती हैं। केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण न्यायपीठों तथा सर्किट न्यायपीठों का स्थान, स्थापना की तारीख तथा इन न्यायपीठों के न्यायालयों की संख्या आदि का विवरण निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट होता है—

केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण की न्यायपीठे

क.सं.	न्यायपीठ का नाम	स्थापना की तारीख	स्थान	न्यायालय की संख्या
1.	प्रधान (केन्द्रीय) न्यायपीठ	1 नवम्बर, 1985	नई दिल्ली	5
2.	अहमदाबाद न्यायपीठ	3 जून, 1986	अहमदाबाद	2
3.	इलाहाबाद न्यायपीठ	1 नवम्बर, 1985	इलाहाबाद	3
4	बैंगलोर न्यायपीठ	3 मार्च, 1986	बैंगलोर	2

क्रसं	न्यायपीठ का नाम	स्थापना की तारीख	स्थान	न्यायालय की संख्या
5.	मुम्बई न्यायपीठ	1 नवम्बर, 1985	मुम्बई	2
6.	कलकत्ता न्यायपीठ	1 नवम्बर, 1985	कलकत्ता	2
7.	चंडीगढ़ न्यायपीठ	3 मार्च, 1986	चंडीगढ़	2
8.	कटक न्यायपीठ	3 जून, 1986	कटक	1
9.	एर्नाकुलम न्यायपीठ	1 सितम्बर, 1988	एर्नाकुलम	2
10	गुवाहटी न्यायपीठ	3 मार्च, 1986	गुवाहटी	1
11.	हैदराबाद न्यायपीठ	3 जून, 1986	हैदराबाद	2
12	जबलपुर न्यायपीठ	3 जून, 1986	जबलपुर	1
13.	जयपुर न्यायपीठ	15 जनवरी 1991	जयपुर	1
14.	जोधपुर न्यायपीठ	3 जून, 1986	जोधपुर	2
15.	लखनऊ न्यायपीठ	15 अक्टूबर, 1991	लखनऊ	1
16.	चेन्नई न्यायपीठ	1 नवम्बर, 1985	चेन्नई	2
17	पटना न्यायपीठ	3 जून, 1986	पटना	2

केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण के अंतर्गत देश में 16 स्थानों पर सर्किट न्यायपीठों की स्थापना की गई जो निम्नांकित प्रकार से है—

(1) सर्किट न्यायपीठ, गोवा (2) सर्किट न्यायपीठ, अण्डमान एवं निकोबार (3) सर्किट न्यायपीठ, शिमला (4) सर्किट न्यायपीठ, जम्मू (5) सर्किट न्यायपीठ, इटा नगर (6) सर्किट न्यायपीठ, सिक्किम (7) सर्किट न्यायपीठ, शिलाग (8) सर्किट न्यायपीठ, अगरतल्ला (9) सर्किट न्यायपीठ, इम्फाल (10) सर्किट न्यायपीठ, इन्दौर (11) सर्किट न्यायपीठ, ग्वालियर (12) सर्किट न्यायपीठ, नागपुर (13) सर्किट न्यायपीठ, कोहिमा (14) सर्किट न्यायपीठ, औरंगाबाद (15) सर्किट न्यायपीठ, पाढिचेरी (16) सर्किट न्यायपीठ, राची ।

कुछ राज्य सरकारों ने अपने यहाँ प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 के अन्तर्गत राज्य प्रशासनिक अधिकरण (State Administrative Tribunal) की स्थापना की है। ये प्रमुख राज्य है—(1) आन्ध्र प्रदेश (2) हिमाचल प्रदेश (3) उड़ीसा (4) कर्नाटक (5) मध्य प्रदेश (6) महाराष्ट्र (7) तमिलनाडु (8) पश्चिमी बंगाल।

केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण का सगठन
(Organization of Central Administrative Tribunal)

प्रत्येक प्रशासनिक अधिकरण की संगठनात्मक संरचना समान होती है अर्थात् इसमें अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा सदस्य होते हैं। अधिकरण के सदस्यों को न्यायिक तथा प्रशासनिक दोनों क्षेत्रों से लिया जाता है ताकि इसे कानूनी और प्रशासनिक दोनों प्रकार की विशेषज्ञ सेवाओं का लाभ प्राप्त हो सके।

वर्तमान में केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण का स्वीकृत संगठनात्मक ढाँचा इस प्रकार है—

अध्यक्ष
↓
उपाध्यक्ष (16)
↓
सदस्य (49)

इस समय केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण में एक अध्यक्ष, सोलह उपाध्यक्ष तथा उनचास सदस्य (प्रशासनिक और न्यायिक) कार्यरत हैं।

न्यायपीठों की संरचनात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष तथा दो सदस्य (एक न्यायिक एक प्रशासनिक) होते हैं।

केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण के कार्य एवं उपलब्धियाँ
(Functions and Achievements of Central Administrative Tribunal)

प्रशासनिक अधिकरणों का प्रमुख कार्य केन्द्र तथा राज्य स्तर की लोक सेवाओं तथा पदों पर नियुक्त किये गये कर्मचारियों तथा अधिकारियों की भर्ती तथा सेवा-शर्तों में उत्पन्न विवादों तथा शिकायतों का निपटारा करना है।

अपनी स्थापना 1985 से लेकर 1996 तक प्रशासनिक अधिकरणों ने अल्प अवधि में कर्मचारियों तथा अधिकारियों के विभिन्न विवादों तथा शिकायतों को निपटा कर अपनी प्रभावी कार्यक्षमता का परिचय दिया है। केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण, 1985 के स्थापित होने से अब तक (31 दिसम्बर, 1996 तक) प्राप्त होने वाले 2,52,338 विवादों (जिनमें उच्च न्यायालय से स्थानान्तरित मामले भी सम्मिलित हैं) में से 2,07,450 विवादों का निपटारा कर दिया है जिनका वर्णन एवं अवलोकन निम्न तालिका से होता है—

केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण में मामलों की स्थिति (1985-1996)

क्र.सं.	समय अवधि	दायर मामलों की संख्या	निपटाये गये मामलों की संख्या	विचाराधीन मामलों की संख्या
1.	1.1.1985 से 31.12.1985	2963	30	2933
2.	1.1.1986 से 31.12.1986	23177	8934	17176
3.	1.1.1987 से 31.12.1987	19410	15084	21502
4.	1.1.1988 से 31.12.1988	19425	13769	27158
5.	1.1.1989 से 31.12.1989	18602	13986	31774
6.	1.1.1990 से 31.12.1990	19283	15495	35562
7.	1.1.1991 से 31.12.1991	21623	17552	39632
8	1.1.1992 से 31.12.1992	25184	23782	41035
9	1.1.1993 से 31.12.1993	27067	28074	40028
10.	1.1.1994 से 31.12.1994	26230	26409	39849
11.	1.1.1995 से 31.12.1995	25790	23668	41970
12.	1.1.1996 से 31.12.1996	23585	20667	44888
कुल योग		2,52,338	2,07,450	3,83,507

केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण की उक्त क्षमता तथा उपलब्धियों के कारण इसमें क्षेत्राधिकार को अन्य संगठनों में बढ़ाने के लिए अधिक से अधिक अनुरोध विचारण के लिए निरंतर प्राप्त हो रहे हैं। वर्तमान में राष्ट्रीय श्रम संस्थान (Indian Labour Institution), विज्ञान एवं प्रौद्योगिक अनुसंधान परिषद् (Science and Technology Research Council), केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड (Central Social Welfare Board), भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् (Indian Agriculture Research Council), कर्मचारी राज्य बीमा निगम (Employee State Insurance Corporation) तथा भारतीय खेल प्राधिकरण (Indian Games Authority) आदि संगठनों को भी इसके अधिकार क्षेत्र में लाया गया है।

यह भी उल्लेखनीय है कि अधिकरण के निर्णयों एवं आदेशों के खिलाफ उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) में दायर विशेष अनुमति याचिकाओं की संख्या बहुत कम है। अतः यथोचित् रूप से यह कहा जा सकता

है कि वादी (व्यथित व्यक्ति) अधिकरण के क्रिया-कलापों तथा निर्णयों से प्रायः संतुष्ट हैं जिससे प्रशासनिक अधिकरण की विश्वसनीयता में वृद्धि हुई है।

भारत सरकार का कार्मिक, लोक शिकायत एवं पेंशन मंत्रालय इस अधिकरण को अपना कार्य कुशलतापूर्वक करने के लिए और सर्वोत्तम परिणाम देने के लिए आवश्यक प्रशासनिक सहयोग प्रदान कर रहा है।

हाल ही में हुए संशोधन की वजह से अधिकरण उन अपने महत्वपूर्ण निर्णयों को "भारतीय विधि रिपोर्ट-केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण" नामक रिपोर्ट में प्रकाशित करता है तथा सम्बन्धित न्यायपीठ की इच्छानुसार हिन्दी अथवा अंग्रेजी में अंतिम आदेश जारी करता है। इससे पूर्व ऐसे अंतिम आदेश हिन्दी अथवा अंग्रेजी में केवल 'क' क्षेत्रों में स्थित न्यायपीठों में ही जारी किए जाते रहे हैं।

केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो द्वारा कार्यवाही के लिए हाथ में लिए गये मामलों का विवरण

क्र.सं.	मामले	वर्ष 1994 (31.8 1994)	वर्ष 1995 (31.8 1995)	वर्ष 1996 (31.12.1996)
1.	दर्ज किये गये मामलों की कुल संख्या	975	1011	1459
2.	सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध दर्ज मामलों की संख्या	796	764	1252
3.	गैर-सरकारी व्यक्तियों/फर्मों के विरुद्ध दर्ज मामलों की संख्या	179	247	207
4.	उपरोक्त मामलों में संलग्न राजपत्रित अधिकारियों की संख्या	717	752	734

तुलनात्मक लोक प्रशासन

(Comparative Public Administration)

वर्तमान में तुलनात्मक लोक प्रशासन की अवधारणा अध्ययन की मुख्य प्रवृति है । लोक प्रशासन में तुलनात्मक दृष्टिकोण का आरम्भ अधिक पुराना नहीं है फिर भी इसे पूर्णतः नया भी नहीं कहा जा सकता । लोक प्रशासन के प्रारम्भिक विचारक वुडरो विल्सन तथा ई. फ्रेण्ड आदि ने अमेरिकी प्रशासन को पढ़ने, समझने तथा सुधारने के लिए यूरोपीय अनुभव पर जोर दिया था । इन अध्ययनों में विवेचन का मुख्य विषय स्थानीय समस्याएँ ही रहीं तथा अन्य राज्यों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं का केवल प्रसंगवश नामोल्लेख मात्र किया गया । राष्ट्रीय सीमाओं में आबद्ध इस दृष्टिकोण ने बौद्धिक अव्यवस्था और अराजकता को जन्म दिया और विषय का अध्ययन संकुचित बना रहा । इसके प्रतिवाद स्वरूप प्रशासनिक अध्ययनों में तुलनात्मक विश्लेषण पर जोर देने वाले नए युग का सूत्रपात हुआ ।

तुलनात्मक लोक प्रशासन की अवधारणा

(Concept of Comparative Public Administration)

तुलनात्मक लोक प्रशासन के अन्तर्गत विभिन्न संस्कृतियों में कार्यरत विभिन्न राज्यों की सार्वजनिक प्रशासनिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है । लोक प्रशासन का अध्ययन क्षैतिज, व्यापक, व्यावहारिक और वैज्ञानिक हो—इसके लिए यह सर्वथा उपयुक्त है कि विभिन्न समाजों के लोक प्रशासन का तुलनात्मक अध्ययन करके कुछ सामान्य निष्कर्ष प्रस्थापित किये जाएँ । सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखते हुए निमरोद राफली ने लिखा है—"तुलनात्मक लोक प्रशासन तुलनात्मक आधार पर लोक प्रशासन का अध्ययन है ।"

रॉबर्ट जैक्सन ने तुलनात्मक लोक प्रशासन की चार मान्यताओं को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया है—

1. लोक प्रशासन का विज्ञान प्राप्ति योग्य अवश्य है, यद्यपि यह पूर्णतया निष्पाद्य नहीं है । स्पष्टतया सभी विद्वान इस मत पर सहमत नहीं हैं । तथापि इस बात पर व्यापक सहमति है कि प्रशासनिक व्यवहार की ऐसी भी प्रवृतियाँ हैं जो व्यवस्थित विश्लेषण के लिए सुग्राह्य हैं तथा जो सिद्धान्तों की संरचना में सहायक सिद्ध हो सकती हैं ।

2. लोक प्रशासन के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए प्रशासनिक पद्धतियों का संकर सांस्कृतिक और संकर राष्ट्रीय सन्दर्भ में अनुसन्धान किया जाना चाहिए ।

3. इस प्रकार के संकर-सांस्कृतिक अध्ययनों से प्राप्त अनुभव-मूलक निष्कर्षों को परिशुद्ध व्यवस्थित तुलनात्मक विश्लेषण के माध्यम से परीक्षित किया जाना चाहिए ।

4. ऐसी आशा की जाती है कि इस प्रकार का तुलनात्मक विश्लेषण प्रायोगिकता और सार्वभौमिकता की भिन्न-भिन्न मात्रा के लिए सामान्यीकरण के विविध स्तरों पर प्रशासनिक प्रतिरूपों से सम्बन्धित परिकल्पनाओं के निर्माण में सहायक सिद्ध होगा । अन्ततः इस प्रकार की प्रज्ञप्तियों को लोक प्रशासन के सामान्य सिद्धान्तों में स्वीकृत किया जा सकेगा ।

यह उल्लेखनीय है कि तुलनात्मक लोक प्रशासन के लक्ष्य के सम्बन्ध में व्यापक रूप से सहमति पाई जाती है । तुलनात्मक प्रशासन दल (Comparative Administrative Groups) ने तुलनात्मक लोक प्रशासन को इस प्रकार परिभाषित किया है—"विभिन्न संस्कृतियों तथा राष्ट्रीय विन्यासों (Diverse Cultures and National Settings) में प्रयुक्त हुए लोक प्रशासन के सिद्धान्त और तथ्यात्मक सामग्री जिसके द्वारा इनका विस्तार और परीक्षण किया जा सकता है ।"

तुलनात्मक लोक प्रशासन की प्रकृति एवं क्षेत्र

(Nature & Scope of Comparative Public Administration)

सामान्यतया तुलनात्मक लोक प्रशासन से आशय दो अथवा दो से अधिक प्रशासनिक इकाइयों की संरचना एवं कार्यात्मकता की तुलना से लिया जाता है। स्वरूप में, यह तुलना अन्तर्राष्ट्रीय भी हो सकती है, जैसे—भारत और श्रीलंका में म्युनिसिपल प्रशासन की तुलना अथवा ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका में स्थानीय प्रशासन की तुलना अथवा फ्रांस के लोक प्रशासन और भारत के लोक प्रशासन की तुलना अथवा ब्रिटेन और फ्रांस की प्रशिक्षण व्यवस्था की तुलना। यह तुलना अन्तर्राष्ट्रीय या अन्तर्देशीय भी हो सकती है, जैसे राजस्थान एवं पंजाब की म्युनिसिपल प्रशासन की तुलना अथवा राजस्थान एवं उत्तरप्रदेश के सचिवालयों की तुलना अथवा राजस्थान एवं मध्यप्रदेश के स्थानीय शासन की तुलना। इसी प्रकार यह तुलना अन्तः सांस्कृतिक हो सकती है, जैसे—भारत और फ्रांस की प्रशिक्षण व्यवस्था की तुलना अथवा ब्रिटेन और फ्रांस की प्रशिक्षण व्यवस्था की तुलना। यह तुलना संकर-सांस्कृतिक भी हो सकती है, जैसे—नेपाल के बजट प्रशासन की रूस के बजट-प्रशासन से तुलना। यह तुलना संकर-सामयिक भी हो सकती है, जैसे—चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रशासन की अकबर के प्रशासन से तुलना अथवा दिल्ली सल्तनत के प्रशासन की मुगल प्रशासन से तुलना। तुलना के विभिन्न स्वरूपों से स्पष्ट है कि आधुनिक तुलनात्मक लोक प्रशासन का अध्ययन-क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। तथापि सामान्य रूप से 'तुलनात्मक लोक प्रशासन विषय के अन्तर्गत लोक प्रशासनिक संरचनाओं को संकर-राष्ट्रीय एवं संकर-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्यों में तुलनात्मक विश्लेषण को सम्मिलित किया जाता है।

फैरेल हैडी (Ferrel Heady) ने तुलनात्मक लोक प्रशासन की प्रकृति को निम्नलिखित चार रूपों में विभाजित किया है—(1) सुधरी हुई पारम्परिक, (2) विकासमान, (3) सामान्य प्रणाली का प्रारूप एवं (4) मध्यवर्ती सिद्धान्तों का प्रारूप। प्रथम रूप के अनुसार तुलनात्मक लोक प्रशासन के अन्तर्गत महत्वपूर्ण प्रशासनिक संस्थाओं के प्रशासन का तुलनात्मक अध्ययन सम्मिलित है। साथ ही इसमें विकसित देशों के प्रशासनिक संगठनों एवं संरचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन को भी लिया जाता है। द्वितीय रूप में, तुलनात्मक प्रशासन के अन्तर्गत उन समस्याओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है जो सामाजिक एवं आर्थिक विकास में तीव्रता के कारण उत्पन्न हुई हैं। तृतीय रूप में, तुलनात्मक लोक प्रशासन में सामाजिक वातावरण के अनुरूप प्रशासनिक व्यवस्था का अध्ययन शामिल है। चतुर्थ प्रारूप में किसी प्रशासनिक व्यवस्था की किसी निश्चित प्रक्रिया अथवा प्रारूप को लिया जा सकता है।

रिग्स (Riggs) ने 1962 में प्रकाशित अपने एक लेख "Trends in Comparative Study of Public Administration" में तुलनात्मक लोक प्रशासन की प्रकृति को स्पष्ट किया है जिसको सारांश में डॉ. अरोड़ा ने निम्नानुसार प्रस्तुत किया है—

1. आदर्शात्मक से अनुभव सम्बन्धी उन्मुखता,
2. 'इडियोग्राफिक' से 'नोमोथेटिक' अभिगम की ओर उन्मुखता, एवं
3. गैर-पारिस्थितिकीय से पारिस्थितिकीय उन्मुखता।

आदर्शात्मक अध्ययनों से तात्पर्य उन अध्ययनों से है जिनमें प्रशासन-तन्त्र द्वारा कतिपय अभीष्ट लक्ष्यों को प्राप्त करने की वांछनीयता पर बल दिया जाता है तथा जिनका अधिकांश विश्लेषण 'क्या होना चाहिए' के आधार-वाक्य पर केन्द्रित होता है। पारम्परिक तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययनों में आदर्शात्मकता एवं निर्देशात्मकता की यह विशेषता मुख्य रूप से पाई जाती थी।

व्यवहारवादी आन्दोलन ने लोक प्रशासन के अध्ययनों को निर्देशात्मकता से दूर ले जाने का प्रयत्न किया है तथा प्रशासनिक अनुसंधान में अनुभव सम्बन्धी बातों पर बल दिया गया है। अनुभव सम्बन्धी उन्मुखता-युक्त अध्ययनों में प्रशासनिक वास्तविकता को समझने का प्रयत्न किया जाता है तथा इस सन्दर्भ में तथ्यों के संग्रहण अथवा 'क्या है' के आधार-वाक्य को ही केन्द्रित स्थान दिया जाता है। रिग्स का मत है कि शनैः शनैः तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन अपने पारम्परिक आदर्शात्मक स्वरूप को त्याग कर अनुभव सम्बन्धी विशेषताएँ ग्रहण कर रहे हैं।

'इडियोग्राफिक' तथा 'नोमोथेटिक' शब्द विशेष रूप से रिग्स द्वारा चयित हैं। 'इडियोग्राफिक' अध्ययन किसी एक विशेष ऐतिहासिक घटना, एक विशेष प्रशासनिक समस्या, एक विशेष संस्था, एक विशेष राष्ट्र, एक विशेष सांस्कृतिक क्षेत्र, अथवा एक विशेष जीवनी से सम्बन्धित होते हैं। फलतः इन अध्ययनों में प्रशासनिक विश्लेषण की विषय-वस्तु कोई एक विशिष्ट इकाई होती है। दूसरी ओर, 'नोमोथेटिक' अभिगम ऐसे सामान्यीकरणों

तथा परिकल्पनाओं के निर्माण का प्रयत्न करता है जो व्यवहार की नियमितताओं एवं घटकों से सह-सम्बन्धों को प्रतिपादित करते हैं। 'नोमोथेटिक' अध्ययनों में गहन तुलनात्मक विश्लेषण पर आधारित सिद्धान्त-निर्माण की प्रक्रिया पर बल दिया जाता है। रिग्ज का मत है कि तुलनात्मक लोक प्रशासन अपने पारम्परिक 'इण्डियोग्राफिक' रूप को छोड़कर 'नोमोथेटिक' रूप ग्रहण कर रहा है।

रिग्स द्वारा सुझाई गई तीसरी प्रवृत्ति पारिस्थितिकीय परिप्रेक्ष्य से सम्बन्धित है। उसके अनुसार पारम्परिक अध्ययनों से प्रशासनिक संस्थाओं का विश्लेषण उनके आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि पर्यावरणों के सन्दर्भ में कम किया जाता है। अतः उनमें पर्यावरण के प्रशासन पर प्रभाव तथा प्रशासन के पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण बहुत कम था, किन्तु अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि गतिशील पर्यावरणों में कार्यरत प्रशासनिक संस्थाओं का वास्तविक व्यवहार बिना उनकी पारिस्थितिकी के सन्दर्भ में नहीं समझा जा सकता। फलस्वरूप, आधुनिक तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन में प्रशासन तथा उसके पर्यावरण के बीच होने वाले गत्यात्मक अन्त क्रियाओं का गहन विश्लेषण करने का प्रयत्न किया जाता है।

लेकिन रिग्स द्वारा वर्णित श्रेणियों को द्विभागीकृत रूप में न देखकर केवल विविध तुलनात्मक अध्ययनों में कतिपय तत्वों पर भिन्न-भिन्न मात्रा में बल देने की आवश्यकता के रूप में देखा जाना चाहिए।

तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन का विकास
(Evolution of the Study of Comparative Public Administration)

तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। द्वितीय विश्व युद्ध तक एक स्वतन्त्र अनुशासन के रूप में यह प्रायः अज्ञात था, किन्तु विश्व युद्ध के बाद की परिस्थितियों ने लोक प्रशासन के तुलनात्मक अध्ययन को उपयोगी, सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण बनाया। द्वितीय विश्व युद्ध और उसके बाद की परिस्थितियों ने विश्व के प्रायः सभी भागों में लोक प्रशासन के सम्मुख अनेक गम्भीर समस्याएँ उपस्थित कीं। इन समस्याओं के समाधान के प्रयास में लोक प्रशासन का रूप बदल गया, उसकी प्रकृति में गम्भीर परिवर्तन आ गए और अपने पूर्व स्वरूप की अपेक्षा यह अनेक दृष्टियों से भिन्न हो गया। अतः द्वितीय विश्व युद्ध के काल को लोक प्रशासन के पुरातन और अर्वाचीन अध्ययन के बीच की विभाजक रेखा माना जाता है। इस काल में अनेक तुलनात्मक अध्ययन किए गए। इन अध्ययनों ने लोक प्रशासन को एक सर्वदेशीय विज्ञान (Universal Science) बनाने में उल्लेखनीय कार्य किया। ड्वाइट वाल्डो, फैरेल हैडी और स्टॉक्स आदि ने तुलनात्मक लोक प्रशासन के प्रारम्भिक चिन्तन में अपना योगदान किया।

1. परम्परागत दृष्टिकोण की अपर्याप्तता—परम्परागत दृष्टिकोण को अध्ययन की नई चुनौतियों के सन्दर्भ में अपर्याप्त पाया गया। इसकी अन्तर्निहित विशेषताएँ परिवर्तित परिवेश में प्रभावपूर्ण सिद्ध नहीं हो सकीं। डी. वाल्डो (D. Waldo) ने लिखा है, "यह दृष्टिकोण संस्कृति बंधित, मुख्यतः पश्चिमी यूरोप के देशों तक सीमित, कानूनी एवं औपचारिक और केवल आलेखों की परीक्षा तक सीमित था। इसमें सरकारी संस्थाओं के औपचारिक एवं स्थाई पहलू पर जोर दिया जाता था तथा औपचारिक सम्बन्धों की अनुचित अवहेलना की जाती थी। इसमें कानूनों तथा औपचारिक संस्थाओं के समस्त राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक सन्दर्भों को पूर्णतः भुला दिया जाता था। यह दृष्टिकोण मुख्यतः वर्णनात्मक था, विश्लेषणात्मक या समस्या-समाधानकारी नहीं था। इसमें विद्यार्थी केवल एक देश के प्रशासन की जानकारी प्राप्त कर सकता था, किन्तु दूसरे देशों से उसकी समानता या अन्तर देखने में असमर्थ था।" इस दृष्टिकोण से गैर-पाश्चात्य अथवा विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण सम्भव नहीं था। जब परम्परागत दृष्टिकोण की ये कमियाँ लोक प्रशासन के आधुनिक विद्वानों को खलने लगीं तो तुलनात्मक अध्ययन प्रणाली का प्रचलन और प्रसार हुआ।

2. द्वितीय महायुद्ध काल में विदेशों के लोक प्रशासन का परिचय—द्वितीय महायुद्ध के समय अमेरिका, ब्रिटेन आदि विकसित देशों के लोक प्रशासकों और विद्वानों ने विदेशों के लोक प्रशासन का परिचय प्राप्त किया। उन्हें वहाँ की प्रशासन व्यवस्था में अनेक नवीनताएँ और अपूर्व मौलिकताएँ दिखाई दीं। फलतः उनमें एक तुलनात्मक विवेचन की अभिलाषा जाग्रत हुई। उनकी इस जिज्ञासा ने तुलनात्मक लोक प्रशासन के विकास में महती भूमिका का निर्वाह किया।

3. अनुसंधान के नए उपकरणों और धारणाओं का उदय—द्वितीय महायुद्ध के बाद परिवर्तित परिवेश में नए व्यवसाय और उद्यम प्रारम्भ हुए। विचारधारा, विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में हुए नए विकासों ने प्रशासन की रूप-रचना को पर्याप्त प्रभावित किया और तुलनात्मक अध्ययन का सूत्रपात किया। आधुनिक विचारकों ने लोक प्रशासन को परम्परावादी स्वरूप से निकाल करके वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने की चेष्टा की। इस दृष्टि से सर्वप्रथम यह आवश्यकता अनुभव की गयी कि अन्य बातों के साथ-साथ राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण करने वाले

प्रशासनिक व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ निर्देश वचन निर्धारित किए जाएँ। राबर्ट डहाल ने अपने निबन्ध "The Science of Public Administration 1947" में इस आवश्यकता का उल्लेख किया। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि जब तक लोक प्रशासन का अध्ययन तुलनात्मक नहीं होगा तब तक यह विज्ञान नहीं माना जा सकता।[1] उनकी बौद्धिक जिज्ञासा रही कि अमेरिकी लोक प्रशासन विज्ञान या फ्रांसीसी लोक प्रशासन विज्ञान या ब्रिटिश लोक प्रशासन विज्ञान तो हो सकते हैं, किन्तु क्या ऐसा लोक प्रशासन भी हो सकता है जिसमें अपने देश विशेष की व्यवस्था से स्वतन्त्र सामान्य सिद्धान्त हों ? नई अवधारणा में यह अनुभव किया गया कि विश्व के राज्यों की प्रशासन व्यवस्था में समानता व पूर्णता की अपेक्षा भिन्नता के तत्व अधिक हैं, अत साम्यवादी देशों, एशिया तथा अफ्रीका के नव-स्वतन्त्र राज्यों के प्रशासन का व्यापक अध्ययन करना होगा। अब लोक प्रशासन को विज्ञान बनाने की दृष्टि से विभिन्न संस्कृतियों, राष्ट्रीयताओं तथा स्वभावों के सदर्भ में इसके अध्ययन पर जोर दिया जाने लगा। फलत लोक प्रशासन में नये साधन अपनाये जाने लगे।

4. सहायता कार्यक्रम को व्यावहारिक बनाने के लिए विकासशील देशों की प्रशासनिक स्थिति का अध्ययन—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व राजनीति दो विरोधी गुटों में बँट गई। एक गुट का नेतृत्व संयुक्त राज्य अमेरिका तथा दूसरे गुट का नेतृत्व सोवियत संघ के हाथ में था। इनके बीच प्रत्येक स्तर पर शीत युद्ध छिड़ गया। शीतयुद्ध का मुख्य क्षेत्र नवोदित विकासशील देश थे। इनके आर्थिक और तकनीकी विकास में सहायता देकर प्रत्येक गुट ने इन्हें अपने साथ लेने का प्रयास किया। अमेरिका, सोवियत संघ आदि विकसित देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से तथा स्वतन्त्र रूप से इन देशों को तकनीकी सहायता प्रदान की। इस सहायता को सार्थक और प्रभावशाली बनाने के लिए वहाँ *प्रशासनिक सुधार किया जाना अनिवार्य समझा गया।* उपयुक्त प्रशासनिक यन्त्र के बिना दी गयी सहायता प्रभावहीन अथवा निरर्थक बन जाती थी। अत सहायता पाने वाले देश की स्थिति का अध्ययन किया गया। तब ज्ञात हुआ कि प्रत्येक देश का लोक प्रशासन वहाँ की परिस्थितियों और वातावरण से प्रभावित होता है। प्रशासनिक संस्थाओं के सुचारु संचालन के लिए उपयुक्त वातावरण की खोज की गयी और इस प्रकार तुलनात्मक लोक प्रशासन का जन्म हुआ। विकसित देशों में लोक प्रशासन के विद्वानों ने अनेक अनुसंधान किए तथा विदेशों में क्षेत्रीय अनुभव प्राप्त किया। सहायता प्राप्त करने वाले देशों में वहाँ के वातावरण और सन्दर्भ के अनुसार प्रशासनिक संस्थाएँ विकसित करने के लिए धार्मिक मिशनों की भाँति प्रशासनिक मिशन भेजे गए। 1956 में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्रशासन (International Co-operation Administration) ने 40 से भी अधिक देशों में लगभग 200 लोक प्रशासन-विशेषज्ञ भेजे। इन लोक प्रशासन के विशेषज्ञों ने विकासशील देशों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण करके उनमें सुधार हेतु उपयोगी सुझाव दिये। इन सुझावों के अनुरूप प्रशासनिक सुधार भी सम्पादित किये गये।

5. स्वतन्त्र अनुशासन के रूप में विकसित करने की आकांक्षा—तुलनात्मक लोक प्रशासन के क्षेत्र में अधिक अध्ययन की प्रेरणा विचारकों की इस आकांक्षा ने भी दी कि इस विषय को एक स्वतन्त्र अनुशासन के रूप में विकसित किया जाए। फलत लोक प्रशासन के विद्वानों इस दिशा में मुख्य भूमिका का निर्वाह किया।

6. लोक प्रशासन की विषय-वस्तु का व्यवस्थित स्पष्टीकरण—तुलनात्मक दृष्टिकोण का विकास लोक प्रशासन की विषय-वस्तु के व्यवस्थित स्पष्टीकरण के लिए भी उपयोगी माना गया। सम्भवत तुलनात्मक दृष्टिकोण के बिना प्रशासनिक संस्थाओं का सही अर्थ समझना भी सम्भव नहीं है। एडवर्ड शिल्स ने लिखा है कि विभिन्न समाजों की व्यवस्थित तुलना करके उनकी समरूपता एवं विलक्षणताओं को इंगित और स्पष्ट किया जा सकता है।[2] जब व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग देशों की शासन व्यवस्थाओं का अध्ययन किया जाता है तो अनेक बातें व्याख्या की परिधि से बाहर रह जाती हैं तथा अनेक सही रूप में स्पष्ट भी नहीं हो पातीं।

7. अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक निर्भरता—तुलनात्मक अध्ययन के विकास में विभिन्न राष्ट्रों के बीच बढ़ रही पारस्परिक निर्भरता ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। आज इण्डोनेशिया अथवा कांगो में किसी प्रशासनिक संगठन की सफलता केवल बौद्धिक जिज्ञासा का विषय नहीं है वरन् मास्को, वाशिंगटन और लन्दन के लिए यह व्यावहारिक महत्त्व का विषय है। यदि किसी देश में हम प्रशासनिक सुधार करना चाहते हैं तो इसके लिए तुलनात्मक अध्ययन उपयोगी रहता है। विचारों का आदान-प्रदान क्षेत्रीय सीमाओं से अवरुद्ध नहीं होता है। दूसरे देशों में किए गए विभिन्न प्रशासनिक प्रयोगों का लाभ उठाते हुए एक देश अपने वातावरण एवं परिस्थिति के अनुसार उचित कदम उठा सकता है। विकासशील देशों में पाश्चात्य लोक प्रशासन की संस्थाओं का प्रभाव इसका स्पष्ट प्रमाण है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के नवोदित राष्ट्रों के अभ्युदय ने

1. *Robert A Dahl* : "The Science of Public Administration." The Problems, Public Administration Review VII, No 1 (1947), p 8
2. *Edward Shils* : On the Comparative Study of New States, in Clifford Geertz (ed) Old Societies and New States, 1963, p 17-18

प्रशासनिक प्रयोगों के लिए आधार-भूमि निर्धारित की है। भविष्य में इन देशों के प्रशासनिक शोध अधिक सम्पन्न राज्यों के लिए भी लाभदायक साबित हो सकते हैं। आजकल विकासशील देशों में सरकारी निगमों का अधिक व्यापक प्रयोग किया जा रहा है। यह एक प्रकार का प्रशासनिक प्रयोग ही है।

8. सामाजिक सन्दर्भ पर बल—तुलनात्मक लोक प्रशासन के विकास में एक अन्य सहायक तत्त्व यह रहा है कि लोक प्रशासन तथा सामाजिक रूप रचना का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। एक जैसी प्रशासनिक संस्थाएँ भी दो देशों में भिन्न व्यवहार करती हैं तथा उनके परिणाम भी अलग-अलग निकलते हैं। कारण यह है कि प्रत्येक देश की सामाजिक रूप रचना वहाँ के प्रशासनिक सगठन के रूप तथा प्रक्रिया को प्रभावित करती है। यह तथ्य हमें लोक प्रशासन के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है। यदि एक संस्था या प्रक्रिया किसी देश विशेष में सफल रही है तो दूसरे देश में उसे अपनाने से पूर्व सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सन्दर्भों का समुचित ध्यान रखा जाना चाहिए।

9. सामाजिक विश्लेषण की व्यापकता—लोक प्रशासन में तुलनात्मक विवेचना के कारण सिद्धान्त रचना को एक सुस्पष्ट वैज्ञानिक आधार मिला है। इसके फलस्वरूप सामाजिक विश्लेषण का क्षेत्र व्यापक बना है।

10. नये मॉडल तथा अवधारणाएँ—नवोदित तृतीय विश्व के राष्ट्र ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, भौगोलिक परिस्थिति, जनसंख्या आकार, सामाजिक रूप रचना, आर्थिक विकास आदि की दृष्टि से अनेक भिन्नताएँ रखते हैं। इन विभिन्नताओं के कारण सामाजिक विश्लेषण में तुलनात्मक अध्ययन की अनेक समस्याएँ उठती हैं जिनके फलस्वरूप तुलनात्मक लोक प्रशासन में सदर्भ तथा इकोलॉजी के अध्ययन का महत्त्व बढ़ गया। इस क्षेत्र में विद्वानों ने *नए मॉडल, दृष्टिकोण, अध्ययन के तरीके विकसित किए तथा अनेक ग्रन्थों की रचना की गई।*

11. व्यक्ति के वास्तविक व्यवहार का अध्ययन—जब समाज विज्ञानों में व्यवहारवादी क्रान्ति हो रही थी और ज्ञान के व्यावहारिक पहलू पर जोर दिया जा रहा था तो लोक प्रशासन में भी व्यक्ति के वास्तविक व्यवहार को अध्ययन का केन्द्र बनाया जाने लगा। अब कानूनी रूप से औपचारिक दृष्टिकोण में परिवर्तन आ गया। फलत तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन को नई दिशा मिली।

उक्त सभी कारणों से विचारकों का ध्यान लोक प्रशासन के तुलनात्मक अध्ययन की ओर आकर्षित हुआ। इस क्षेत्र में अनेक नवीन विकास हुए। विचारकों और विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण साहित्य की रचना की। अमेरिका आदि देशों में इस विषय को कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में अध्ययन के लिए शामिल किया गया। कुछ स्थानों पर यह स्नातक अध्ययन के लिए विशेषीकरण का क्षेत्र बना दिया गया। सन् 1948 में ड्वाइट वाल्डू ने कैलिफोर्निया बर्कले विश्वविद्यालय में तुलनात्मक लोक प्रशासन विषय प्रारम्भ किया। उसके बाद इस विषय के अध्ययन का प्रसार किया गया। कहीं इसके सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन किया गया तो कहीं विकासशील देशों की प्रशासनिक समस्याओं का अध्ययन किया गया। किसी ने एक क्षेत्र विशेष को अध्ययन का विषय बनाया तो अन्य ने शहरी या ग्रामीण प्रशासन की तुलना की। इस प्रकार तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन के नए आयाम खुले, नया दृष्टिकोण एव नई प्रविधियाँ अपनाई गई। हैराल्ड लासवेल आदि विचारकों ने तुलनात्मक लोक प्रशासन को व्यवहारवादी बनाने की चेष्टा की।

प्रारम्भिक लोक प्रशासन में तुलनात्मक प्रवृत्तियाँ
(Comparative Elements in Early Public Administration)

लोक प्रशासन का इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है। एक स्वतन्त्र अध्ययन विषय के रूप में इसका प्रारम्भ वुडरो विल्सन के साथ जोड़ा जाता है। उनके निबन्ध 'प्रशासन का अध्ययन' (The Study of Administration, 1887) ने इसका सूत्रपात किया। विल्सन के विचारों में हमें तुलनात्मक तत्त्व की झलक मिलती है। उनका मत था कि यूरोप के कुछ प्रशासनिक व्यवहार संयुक्त राज्य अमेरिका में अपनाए जा सकते हैं। जब अमेरिकी प्रशासन की लूट प्रणाली ने देश में राजनीतिक और प्रशासनिक उलझनें उपस्थित कीं तो विल्सन का मत सार्थक दिखाई देने लगा तथा नागरिक सेवा एवं प्रशासन के दूसरे क्षेत्रों में सुधार की योजनाएँ प्रस्तावित होने लगीं। अमेरिका में प्रशासनिक सुधार के लिए विदेशी प्रशासनिक व्यवहारों से प्रेरणा ली जाने लगी और इस प्रकार प्रशासनिक अध्ययन में तुलनात्मक झलक आने लगी।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में एफ. डब्ल्यू. टेलर ने वैज्ञानिक प्रबन्ध (Scientific Management) के आन्दोलन का सूत्रपात किया। यह आन्दोलन क्रमश: एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन बन गया। इसने न केवल अमेरिका की प्रशासनिक विचारधारा को ही प्रभावित किया वरन् सोवियत संघ आदि देशों के प्रशासनिक व्यवहार पर भी उल्लेखनीय प्रभाव डाला। टेलर के सिद्धान्त बड़े स्तर के उत्पादन के अनुकूल थे और इसलिए विभिन्न देशों का ध्यान इनकी ओर आकर्षित हुआ। प्रशासन में कार्यकुशलता और मितव्ययिता पर जोर दिया जाने लगा। इस काल में लोक प्रशासन पर लिखे गए ग्रन्थ इन दोनों मूल्यों से रंगे हुए दिखते हैं। 1920 से 1930 तक की लोक प्रशासन सम्बन्धी रचनाएँ प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण से प्रभावित रहीं हैं। इनमें लोक प्रशासन के कुछ सार्वलौकिक सिद्धान्त खोजने की चेष्टा की गई ताकि इसे विज्ञान बनाया जा सके। ऐसी सभी चेष्टाएँ तुलनात्मक लोक प्रशासन के विकास की भूमिकाएँ थीं।

डॉ एल डी ह्वाइट तथा प्रो विलोबी की बहुचर्चित रचनाएँ[1] लोक प्रशासन के प्रारम्भिक साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इन दोनों में ही लोक प्रशासन के अन्त सांस्कृतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय पहलू पर जोर दिया गया था। दोनों का विचार था कि लोक प्रशासन के अध्ययन में वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग किया जाना चाहिए। इस वैज्ञानिक प्रणाली में तुलनात्मक तत्त्व का समावेश स्वाभाविक था। इसके बाद मानव सम्बन्धों के अध्ययन का प्रचलन हुआ। मानव सम्बन्धों के स्वरूप, प्रभावक तत्त्व, परिवर्तन आदि की जानकारी के आधार पर प्रशासनिक व्यवहार को समझने की चेष्टाएँ की गईं। मानव सम्बन्धों के अध्ययन की प्रवृत्ति तत्कालीन औद्योगिक समाज की विशेष आवश्यकताओं की प्रतिक्रिया थी। इसमें अन्त सांस्कृतिक तत्त्व विशेष नहीं था। अत यह तुलनात्मक लोक प्रशासन के विकास में विशेष योगदान नहीं कर सका।

साराशत- लोक प्रशासन के प्रारम्भिक अध्ययन में तुलनात्मक विवेचन की पृष्ठभूमि अथवा भूमिका मात्र ही प्राप्त होती है। इस समय विभिन्न देशों की प्रशासनिक संस्थाओं के संगठन तथा व्यवहार का तुलनात्मक अध्ययन करने का स्पष्ट, सजग और सार्थक प्रयास नहीं किया गया। यह तो द्वितीय विश्व युद्ध के समय तथा उसके बाद तब हुआ जबकि लोक प्रशासन में अधिक वैज्ञानिक स्पष्टीकरण पर जोर दिया जाने लगा तथा विभिन्न संस्कृतियों में प्रशासनिक व्यवहार के विश्लेषण को महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा। इस कारण से तुलनात्मक लोक प्रशासन का अध्ययन अधिक उद्देश्यपरक, सार्थक और वैज्ञानिक बना।

परम्परागत अध्ययनों से तुलनात्मक अध्ययनों की ओर

(From Traditional Studies to Comparative Studies)

लोक प्रशासन के प्रारम्भिक अध्ययनों की विषय-वस्तु एवं अध्ययन प्रणाली की दृष्टि से अपनी कुछ विशेषताएँ थीं। इस काल के लेखकों और विचारकों ने मुख्यत जिन समस्याओं का विवेचन किया वे मुख्यत ये थीं—केन्द्रीय प्रशासन, विकेन्द्रीकरण के रूप, नागरिक सेवा का ढाँचा, लोक वित्त, वित्तीय प्रशासन, प्रशासनिक नियन्त्रण आदि। परम्परागत अध्ययन प्राय पश्चिमी औद्योगीकृत देशों तक सीमित था। इनमें साम्यवादी तथा उपनिवेशों के प्रशासन का केवल प्रसंगवश ही यहाँ-वहाँ उल्लेख होता था। लोक प्रशासन के ये परम्परागत अध्ययन कई दृष्टियों से अधूरे तथा असंतोषजनक थे। अत द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की परिस्थितियों में इस दृष्टिकोण की निम्नांकित आलोचना होने लगी—

(1) प्रशासनिक तथ्यों की उपेक्षा—लोक प्रशासन का परम्परावादी दृष्टिकोण अप्रशासनिक तथ्यों की उपेक्षा करता है। इन लेखकों ने प्रशासनिक संस्थाओं का केवल वर्णन मात्र ही किया, उन पर पड़ने वाले प्रभावों और अराजनीतिक तत्त्वों पर विशेष ध्यान नहीं दिया। सच तो यह है कि कोई भी प्रशासनिक संस्था अपने सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक वातावरण में ही भली प्रकार कार्य सम्पन्न करती है।

(2) गैर-पाश्चात्य संस्थाओं की उपेक्षा—इस दृष्टिकोण में गैर-पाश्चात्य प्रशासनिक संस्थाओं की उपेक्षा की गई। इन लेखकों ने अपना अध्ययन-पश्चिमी राष्ट्रों के विवेचन तक ही सीमित रखा। इस अध्ययन में गैर-पाश्चात्य राष्ट्रों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं के अध्ययन की उपेक्षा की गई। ऐसी स्थिति में पर्याप्त तुलनात्मक अध्ययन सम्भव नहीं हो सका, क्योंकि इसके लिए विविधतापूर्ण प्रशासनिक संस्थाओं का विश्लेषण और व्याख्या अनिवार्य होती है। उसी के परिणामस्वरूप अध्ययन व्यवस्थित, तथ्यपूर्ण, तार्किक और वैज्ञानिक बनता है।

(3) विशेष मूल्यों तक ही सीमित रहना—यह दृष्टिकोण कुछ विशेष मूल्यों तक संकुचित रहा। यह संविधानवाद और पाश्चात्य उदार प्रजातन्त्र के प्रति झुका हुआ था। इन लेखकों ने अलोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं को अच्छा नहीं माना और इसीलिए वहाँ की प्रशासनिक संस्थाओं के अध्ययन की उपयोगिता स्वीकार नहीं की। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व जब इटली और जर्मनी में निरंकुशतन्त्र स्थापित हुआ तो परम्परावादी लेखक चिंतित हुए। उन्हें अपनी कमियों का आभास होने लगा अत. प्रशासनिक चिंतन की कई विधियाँ खोजी जाने लगीं।

(4) कानूनी अध्ययन—यह दृष्टिकोण मूल रूप से कानूनी औपचारिकता मात्र था। संगठन और उसके कार्यों का केवल लिखित रूप ही इसके अध्ययन का मुख्य बिन्दु था। उसकी वास्तविक कार्यप्रणाली में इसकी विशेष रुचि नहीं थी। प्रशासनिक संस्थाओं द्वारा जो अनेक कार्य सम्पन्न किए जाते हैं उनकी ओर इस दृष्टिकोण का विशेष ध्यान नहीं गया।

(5) वर्णनात्मक अध्ययन—इस दृष्टिकोण ने लोक प्रशासन का अध्ययन व्याख्यात्मक, विश्लेषणात्मक और समाधानात्मक रूप में नहीं वरन् केवल वर्णनात्मक रूप में किया। ये लेखक परिकल्पनाओं का परीक्षण और महत्त्वपूर्ण आँकड़ों का संग्रह नहीं करते थे और न ही सिद्धान्तों के विकास में रुचि लेते थे।

1. *L D White* : Introduction to the Study of Public Administration, 1926;
2. *W F Willoughby* · Principles of Public Administration, 1927

(6) अन्तर-अनुशासनात्मक अध्ययन की उपेक्षा—इस दृष्टिकोण में अध्ययन के अन्तर-अनुशासनात्मक स्वरूप अथवा दृष्टिकोण की उपेक्षा की गई थी। व्यवहार में प्रशासनिक व्यवहार का सही विवेचन तभी किया जा सकता है जबकि सम्बन्धित देश का सांस्कृतिक और सामाजिक वातावरण तथा सामाजिक विकास की विशेषताओं का सन्दर्भ जान लिया जाए। इसके लिए समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विषयों का अध्ययन भी सार्थक और उपयोगी बन जाता है। इस उपयोगिता का परम्परावादी दृष्टिकोण में कोई स्थान नहीं था जिसके फलस्वरूप अध्ययनों का व्यापक स्वरूप विकसित नहीं हुआ।

(7) अतुलनात्मक अध्ययन—कुल मिलाकर परम्परावादी दृष्टिकोण की प्रकृति गैर-तुलनात्मक थी। यद्यपि इस काल में कुछ ऐसे ग्रन्थों की रचना भी हुई जो विभिन्न देशों, विभिन्न संस्कृतियों और विभिन्न मानव स्वभावों से सम्बन्ध रखते थे।

परम्परावादी दृष्टिकोण यद्यपि एकांगी, अधूरा, अपर्याप्त और संकुचित होने के कारण गम्भीर आलोचनाओं का पात्र बना, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह दृष्टिकोण कोई महत्त्व नहीं रखता। परम्परावादी अध्ययन ने तुलनात्मक लोक प्रशासन के विकास को सम्भव बनाया, प्रोत्साहित किया और एक उचित पृष्ठभूमि प्रदान की। सत्ता, नियन्त्रण, सचार, नियोजन, सगठन, समन्वय, कार्यकुशलता और मितव्ययिता आदि परम्परागत प्रशासनिक अवधारणाएँ तुलनात्मक लोक प्रशासन के वर्तमान विद्यार्थियों के लिए पर्याप्त महत्व रखती है। अत. यह कहा जा सकता है कि परम्परावादी दृष्टिकोण ने इस विषय को विकसित करने की दिशा में एक सन्तुलित सार्थक भूमिका का निर्वाह किया।

तुलनात्मक अध्ययन का प्रारम्भ और विकास

(Beginning & Development of the Comparative Study)

परम्परावादी दृष्टिकोण के प्रति व्याप्त असतोष और अनेक अनुकूल परिस्थितियों ने तुलनात्मक लोक प्रशासन को जन्म दिया। प्रो. मैक्रिडिस (Prof. Macridis) ने तुलनात्मक दृष्टिकोण को महत्त्व देते हुए 1955 में अपनी रचना प्रकाशित की।[1] सितम्बर, 1955 में अमेरिकी राजनीति विज्ञान परिषद के सम्मुख प्रो. रिग्स ने अपना महत्त्वपूर्ण लेख पढ़ा।[2] तुलनात्मक लोक प्रशासन की प्रगति पर तुलनात्मक राजनीति शास्त्र मे हुए विकासों का भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तुलनात्मक राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन की ओर रुचि बढ़ी। अनेक गैर-पाश्चात्य देशों अथवा तृतीय विश्व की विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं के विकास के कारण तथा बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, तकनीकी आदि सहयोग के कारण विभिन्न देशों की राजनीतिक और प्रशासनिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन उपयोगी बन गया। तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन गैब्रियल आमण्ड, लूसियन पाई, सिडनी वर्बा, माइरन वीनर, जेम्स कोलमैन, जोसेफ ला पालोम्बरा आदि विद्वानों द्वारा किया गया। इन्होंने लोक प्रशासन को राजनीतिक क्रिया के अधीनस्थ माना तथा इसी रूप में इसका अध्ययन किया। सन् 1956 में गैब्रियल आमण्ड ने तुलनात्मक राजनीतिक व्यवस्थाओं पर एक लेख तैयार किया।[3] अध्ययन विधि सम्बन्धी ये नवीन रचनाएँ उस श्रृंखला का भाग हैं जो 1952 में प्रारम्भ हुई थीं। इस वर्ष समाज विज्ञान शोध परिषद के तत्त्वावधान में तुलनात्मक राजनीति पर एक विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया। समाज विज्ञान शोध परिषद में तुलनात्मक राजनीति पर समिति बनाई गई। इस समिति में पूर्वोल्लिखित विचारक एवं लेखक शामिल थे। इन सभी ने तुलनात्मक राजनीति और अन्य सम्बन्धित शास्त्रों के विकास में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

राजनीति विज्ञान और लोक प्रशासन दोनों ही विषयों में तुलनात्मक अध्ययन का सूत्रपात एक साथ इसलिए हो सका क्योंकि दोनों की विषय-वस्तु में समरूपता है। दोनों के मध्य सीमा रेखा अत्यन्त सूक्ष्म है। किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था का समुचित अध्ययन करने के लिए वहाँ की प्रशासनिक व्यवस्था का विवेचन करना अनिवार्य बन जाता है। उदाहरण के लिए प्रशासन व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण विषय है 'नौकरशाही'। जब तक किसी देश की नौकरशाही का समुचित अध्ययन नहीं कर लिया जाता तब तक वहाँ की राजनीतिक व्यवस्था के मूल सूत्र हाथ में नहीं आ पाते। दूसरी ओर यह भी सच है कि जब तक एक देश की राजनीतिक व्यवस्था के रूप, संगठन, कार्य आदि का अध्ययन नहीं किया जाता तब तक वहाँ के प्रशासन की पूरी जानकारी प्राप्त नहीं हो पाती। अल्फ्रेड डाइमन्ट ने लोक प्रशासन और राजनीतिशास्त्र के निकटस्थ सम्बन्ध को स्वीकार किया है।[4] निस्संदेह, राजनीति विज्ञान और लोक प्रशासन में अन्योन्याश्रित संबंध है और दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

1. *Roy C. Macridis* : The Study of Comparative Government, 1955.
2. *Fred Riggs* : "The Impact of Technical Assistance on the Teaching of Comparative Public Administration," Sept. 1955.
3. *Gabrieal Almond* : "Comparative Political Systems." Journal of Politics, Aug., 1956, pp. 391-409
4. *Alfred Diamant* : "The Relevance of Comparative Politics to the Study of Comparative Administration." administrative Science Quarterly, V. (1960), p. 87.

वास्तव में, द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् तुलनात्मक लोक प्रशासन के साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हुए। आज तुलनात्मक लोक प्रशासन ने एक सम्मानित, अकादमिक एवं व्यावसायिक स्थिति प्राप्त कर ली है। इसका प्रमाण सन्दर्भिकाओं, पुस्तकों, पत्रिकाओं, सम्मेलनों, शैक्षणिक पाठ्यक्रमों और व्यावसायिक कार्यक्रमों आदि की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या है। तुलनात्मक लोक प्रशासन आन्दोलन की प्रेरक शक्तियों में सर्वाधिक योगदान अमेरिका का ही है। द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम दिनों में संयुक्त राज्य अमेरिका का कुछ क्षेत्रों पर सैनिक आधिपत्य हुआ। इन क्षेत्रों में कार्यरत अमेरिकी विद्वान-जो तब प्रशासकों के रूप में कार्य कर रहे थे-ऐसी प्रशासनिक समस्याओं से परिचित हुए जिनका समाधान अमेरिकी परम्परागत राजनीति विज्ञान तथा लोक प्रशासन के सिद्धान्तों द्वारा सम्भव नहीं था। इसी दौरान, विभिन्न सांस्कृतिक विन्यासों में कार्यरत विद्वान भिन्न-भिन्न पर्यावरणों में विद्यमान संरचनाओं के बहुकार्यकर्त्ताओं से भी परिचित हुए और इस नवीन ज्ञान का उपयोग उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन को अधिक व्यवस्थित बनाने के लिए किया। तदुपरान्त इस तथ्य पर विशेष बल दिया जाने लगा कि प्रशासनिक संस्थाएँ केवल प्रशासनिक कार्य ही सम्पादित नहीं करतीं, किन्तु राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य प्रकृति की क्रियाओं में भी अप्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है। उसी प्रकार यह भी माना जाने लगा कि राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक तन्त्र, प्रशासनिक तन्त्र की कार्यप्रणाली को बहुत बड़ी मात्रा में प्रभावित करते हैं।[1] द्वितीय महायुद्ध के बाद तुलनात्मक अध्ययन में रुचि निरन्तर बढ़ती रही। यूरोप के आर्थिक पुनरुद्धार के लिए अमेरिका द्वारा बनाई गई मार्शल योजना और तत्पश्चात् विकासशील देशों के लिए निर्मित चार-सूत्री कार्यक्रम के लागू होने के फलस्वरूप बाहरी देशों में अमेरिका की राजनीतिक और आर्थिक रुचि एवं प्रतिबद्धता बढ़ी। शीघ्र ही यह अनुभव होने लगा था कि नव-विकसित राष्ट्रों को दी जाने वाली वित्तीय सहायता का सही उपयोग तब तक नहीं हो सकता था जब तब कि इन देशों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं का आधुनिकीकरण न हो जाए। फलस्वरूप अमेरिकी विद्वानों ने इन देशों के प्रशासनिक तन्त्रों की कार्य-प्रणाली के अध्ययन के प्रति रुचि रखनी आरम्भ की। अत. तकनीकी सहायता कार्यक्रम के साथ तुलनात्मक प्रशासनिक प्रक्रियाओं के बारे में लेखन कार्य ने भी जोर पकड़ा। अमेरिकी विद्वान संयुक्त राष्ट्र के तकनीकी सहायता दलों में भी शामिल हो गए। शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासनिक सुधारों का एक आन्दोलन उभरने लगा जिसमें अमेरिकी सरकार अमेरिकी विश्वविद्यालयों, निजी प्रतिष्ठानों और बहुपक्षीय संगठनों से भी सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ। लोक प्रशासन के विद्यार्थियों के दल प्रशासनिक सुधार के इस बड़े उपक्रम में जुट गए। इस काल में विभिन्न विकासशील देशों में कार्यरत लोक प्रशासन के विद्यार्थियों में सचेतन पारिस्थितिकीय परिप्रेक्ष्य शीघ्र विकसित हुआ। यह अवश्य है कि तकनीकी सहायता कार्यक्रम की आरम्भिक स्थिति ने तुलनात्मक लोक प्रशासन के विकास की गति कुछ मंद रही। कालान्तर में विकासशील देशों में बढ़ती हुई आर्थिक एवं तकनीकी सहायता के साथ अधिकाधिक विद्वान, वहाँ आधुनिकीकरण की समस्याओं में रुचि लेने लगे। तृतीय विश्व के नवोदित राष्ट्रों के अभ्युदय के फलस्वरूप तुलनात्मक लोक प्रशासन के क्षेत्र में वैज्ञानिक व्यवस्थाओं का उनके पर्यावरणों के सन्दर्भ में अध्ययन कर लोक प्रशासन के विद्वान अपने चिन्तन को अधिक अनुभवमूलक आधार प्रदान करने लगे। इन देशों में आर्थिक तथा सामाजिक विकास के साथ-साथ 'प्रशासनिक विकास' के पहलू पर ध्यान दिया जाने लगा और लगभग सभी राष्ट्रों में प्रशासनिक साहित्य-निर्माण में भारी वृद्धि हुई। यह प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती जा रही है और इस साहित्य भण्डार में तुलनात्मक लोक प्रशासन के ज्ञान को एक ठोस आधार प्रदान किया।

द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में लोक प्रशासन के कई युवा विद्वान अकादमी क्षेत्र को अस्थाई रूप से छोड़कर व्यावहारिक सरकारी प्रशासन में संलग्न हो गए थे। इस नए अनुभव के परिणामस्वरूप ये विद्वान पारम्परिक अमेरिकी लोक प्रशासन के संस्कृति-बद्ध रूप से असन्तुष्ट हो गए थे। राबर्ट डहाल का यह तर्क कि "लोक प्रशासन के विज्ञान होने का दावा निस्सार है क्योंकि लोक प्रशासन का अध्ययन तुलनात्मक नहीं है।" चौथे दशक और उसके पश्चात् इस प्रकार के चिन्तन का यह एक उदाहरण है। फलत. तुलनात्मक लोक प्रशासन के विद्यार्थी तुलनात्मक समाजशास्त्र, मानव विज्ञान तथा अन्य क्षेत्रों के विकास से परिचित होकर, अपने क्षेत्र में भी संकर-सांस्कृतिक (Cross-cultural), संकर-राष्ट्रीय (Cross-national) और संकर-कालिक प्रासंगिकता की सैद्धान्तिक रचनाओं के विचार में अधिक रुचि लेने लगे। उन्होंने स्वीकार किया कि अमेरिकी सांस्कृतिक सन्दर्भ में विकसित हो रही परिकल्पनाओं को लोक प्रशासन विज्ञान का भाग होने के लिए संकर-सांस्कृतिक विन्यासों में परीक्षित किया जाना चाहिए। इस परीक्षण के बाद ही लोक प्रशासन के सिद्धान्तों की रचना की जा सकती है। अत. लोक प्रशासन की विधा को सुदृढ़ वैज्ञानिक आधार प्रदान करने के लिए तुलनात्मक पद्धति के महत्त्व पर बल

1. *Alfred Diamant* : "The Relevance of Comparative Politics to the Study of Comparative Administration" administrative Science Quarterly, V (1960), p 87

दिया जाने लगा। तुलनात्मक पद्धति के विकास ने तुलनात्मक लोक प्रशासन के विकास की गति को नूतन आयाम प्रदान किये। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् लोक प्रशासन के विद्यार्थियों का प्रमुख ध्यान इस बात पर भी गया कि लोक प्रशासन के अध्ययन को पारम्परिक एवं औपचारिक प्रवृत्तियों से हटाकर प्रशासनिक संगठन में मानव के वास्तविक व्यवहार पर अध्ययन किस प्रकार केन्द्रित किया जाए। यही रुचि सामाजिक विज्ञानों में तथाकथित 'व्यवहारवादी आन्दोलन' की उत्प्रेरक सिद्ध हुई।

तुलनात्मक लोक प्रशासन में व्यवहारवाद

(Behaviouralism in Comparative Public Administration)

व्यवहारवाद के विकास ने तुलनात्मक लोक प्रशासन के विकास में महती भूमिका का निर्वाह किया है। लोक प्रशासन में व्यवहारवाद का प्रारम्भ मानव सम्बन्धों पर किए गए अध्ययनों के साथ विकसित हुआ। इसमें चेस्टर बर्नार्ड (Chester Bernard) तथा हरबर्ट साइमन (Herbert Simon) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन दिनों (1930-1940) व्यवहारवाद का प्रभाव प्रायः सभी अनुशासनों पर पड़ रहा था। लोक प्रशासन भी इसका अपवाद नहीं था परिणामस्वरूप प्रशासनिक अध्ययनों के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा। इस दृष्टिकोण की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) यह प्रशासनिक संस्थाओं को अध्ययन की मौलिक इकाई नहीं मानता वरन् प्रशासनिक परिस्थितियों में स्थित व्यक्ति के व्यवहार को विश्लेषण की मौलिक इकाई के रूप में स्वीकार करता है।

(2) यह अन्य सामाजिक विज्ञानों को व्यवहारवादी विज्ञानों के रूप में देखता है तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ प्रशासन की एकता पर बल देता है।

(3) यह तथ्यों के पर्यवेक्षण, वर्गीकरण एवं माप के लिए अधिक परिशुद्ध प्रविधियों के विकास एवं उपयोग पर बल देता है। यह जहाँ तक सम्भव हो सके, सांख्यिकीय अथवा परिमाणात्मक सूत्रीकरणों के उपयोग का भी आग्रह करता है।

व्यवहारवादी दृष्टिकोण लोक प्रशासन को अन्तर-अनुशासनात्मक विषय बना देता है। दूसरे सामाजिक विज्ञानों के निष्कर्षों को यह ग्रहण करता है तथा संगठनात्मक सन्दर्भ में उनकी जाँच करता है। व्यवहारवादी दृष्टिकोण के कारण लोक प्रशासन में अनेक वैज्ञानिक शोध किए जा सके हैं तथा व्यवस्थित सिद्धान्त की रचना हो सकी है। विभिन्न प्रशासनिक परिकल्पनाओं को जब विभिन्न संस्कृतियों में जाँचा गया तो तुलनात्मक लोक प्रशासन का विकास हुआ। तुलनात्मक लोक प्रशासन ने विभिन्न प्रशासनिक व्यवस्थाओं की विभिन्न पर्यावरणीय संदर्भों का अध्ययन करने के लिए दूसरे सामाजिक विज्ञानों से अवधारणाएँ, प्रसाधन तथा निष्कर्ष ग्रहण किए और इस प्रकार अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण का विकास हुआ। इस अन्तर-अनुशासनात्मक अध्ययन के कारण तुलनात्मक लोक प्रशासन का क्षेत्राधिकार बहुत व्यापक बन गया।

प्रशासनिक व्यवहार की दृष्टि से विचारकों द्वारा अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार किया गया। उदाहरण के लिए नौकरशाही, मानव सम्बन्ध, प्रेरणा के स्रोत, निर्णय लेने की प्रक्रिया आदि-आदि। इन सभी क्षेत्रों में किए गए अनुसन्धानों ने प्रशासन विज्ञान के प्राय सभी क्षेत्रों को छू लिया। नौकरशाही तथा अन्य क्षेत्रों में अन्त सांस्कृतिक अध्ययन किए गए। यद्यपि इनकी संख्या अत्यन्त अल्प रही है, किन्तु भावी प्रवृत्ति को देखते हुए यह आशा की जा सकती है कि विभिन्न देशों के संगठनात्मक व्यवहार एवं निर्णय प्रक्रिया पर कुछ अधिक अध्ययन किए जाएँगे तथा तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययनों पर व्यवहारवाद का प्रभाव बढ़ जाएगा।

अभी तक हुए तुलनात्मक लोक प्रशासन में मारो बर्जर, राबर्ट प्रिस्थस, माइकल क्रोजियर तथा अन्य विद्वानों ने अन्त सांस्कृतिक पर्यावरणों में अधिकारीतन्त्रीय व्यवहार के अनुभवमूलक अध्ययन किए हैं। इस सम्बन्ध में फ्रान्स के सन्दर्भ में क्रोजियर के अध्ययन 'दि ब्यूरोक्रेटिक फिनामिनन' तथा मिस्र के सम्बन्ध में 'ब्यूरोक्रेसी एण्ड सोसाइटी इन मॉडर्न इजिप्ट' जैसी रचनाओं का प्रकाशन हुआ।

भारत में भी व्यवहारवादी अनुसन्धान का उपयोग कई विद्वानों ने किया है। इनमें चन्द्रप्रकाश भाम्भरी, कुलदीप माथुर, वी. ए. पनन्दीकर, रामाश्रय राय एवं शान्ति कोठारी के अध्ययन प्रमुख हैं। भाम्भरी ने अखिल भारतीय सेवाओं में नियुक्त हुए प्रशिक्षणार्थियों के दृष्टिकोणों का अध्ययन किया है। कुलदीप माथुर ने अपनी पुस्तक 'ब्यूरोक्रेटिक रिसपान्स टू डवलपमेन्ट' में उत्तरप्रदेश एवं राजस्थान के खण्ड विकास अधिकारियों की पृष्ठभूमि, दृष्टिकोणों एवं मूल्यों का अध्ययन किया, पनन्दीकर ने भारतीय प्रशासकों के विकास सम्बन्धी व्यवहार एवं मूल्यों का अनुभवमूलक विश्लेषण किया है, एवं रामाश्रय राय तथा शान्ति कोठारी ने अपनी पुस्तक 'रिलेशन्स बिटविन पॉलिटिशियन्स एण्ड दि एडमिनिस्ट्रेटर्स' में उत्तरप्रदेश के एक जिले में राजनीतिक नेताओं एवं प्रशासनिक

अधिकारियों के मध्य सम्बन्धों का गहन अनुभवमूलक अध्ययन किया है। इन सब में तुलनात्मक पद्धति की दृष्टि से कुलदीप माथुर का अध्ययन अधिक प्रासंगिक है। भारत में व्यवहारवादी अभिगम को अपनाकर तुलनात्मक लोक प्रशासन पर अध्ययन अधिक मात्रा में किए जाने की आवश्यकता है। इन व्यवहारवादी अध्ययनों ने तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन क्षेत्र में भारी हलचल उपस्थित करके इसे आधुनिक परिवेश प्रदान करने का सार्थक प्रयास किया है।

तुलनात्मक अध्ययन के लिए संगठनात्मक प्रयास

(Organisational Attempts for Comparative Study)

तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन के लिए अनेक समितियाँ, सम्मेलन, विचार-गोष्ठियाँ आयोजित किए गए हैं। इस दृष्टि से संयुक्त राज्य अमेरिका अग्रणीय रहा है। सन् 1952 में अमेरिकी शहर प्रिन्सटन (Princeton) में तुलनात्मक लोक प्रशासन पर एक सम्मेलन बुलाया गया। इसमें विदेशों में क्षेत्रीय अध्ययन के लिए तुलनात्मक लोक प्रशासन की एक उपसमिति गठित की गई। इस समिति ने अपने प्रतिवेदन में क्षेत्रीय अनुसन्धान की रूपरेखा प्रस्तुत की। 1953 में अमेरिकी राजनीतिशास्त्र परिषद् ने तुलनात्मक प्रशासन पर एक तदर्थ समिति बनाई जो सन् 1963 में तुलनात्मक प्रशासन ग्रुप की स्थापना तक कायम रही।

तुलनात्मक प्रशासन ग्रुप (Comparative Administration Group) की स्थापना 1963 में American Society for Public Administration द्वारा की गई। प्रारम्भ में यह तीन वर्ष के लिए स्थापित की गई थी तथा इसकी वित्त व्यवस्था Ford Foundation द्वारा की गई थी। फाउण्डेशन ने 1966 में इसे आगामी पाँच वर्ष के लिए और अनुदान सौंप दिए। सन् 1971 में ग्रुप ने दूसरे वित्तीय स्रोत खोज लिए। प्रारम्भ से 1970 तक ग्रुप का सभापतित्व फ्रेड्रिक रिग्स ने किया। इनके बाद रिचार्ड गेबल नए सभापति बने। ग्रुप के सदस्य ऐसे शोधकर्ता और सरकारी अधिकारी रहे हैं जिनको ग्रुप के उद्देश्यों और कार्यक्रमों में सक्रिय रुचि थी। ग्रुप को 11 विभिन्न समितियों में वर्गीकृत किया गया जो एशिया, यूरोप आदि क्षेत्रों, राष्ट्रीय नियोजन, अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन, संगठन के सिद्धान्त आदि विषयों से सम्बन्ध रखती हैं। इस प्रकार ग्रुप का संगठन करते समय विभिन्न समस्याओं तथा विषय क्षेत्र के बीच उपयुक्त संतुलन रखने का प्रयास किया गया है। ग्रुप का कार्यक्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय रहा। इसने एशिया, लैटिन अमेरिका और यूरोप में तुलनात्मक प्रशासन पर अनुसंधान को प्रोत्साहन दिया। इसके सदस्यों द्वारा विभिन्न नवोदित देशों के विकास प्रशासन के सम्बन्ध में समय-समय पर भाषण और परामर्श दिए जाते रहे हैं। ग्रुप ने अमेरिका, कोरिया, ब्राजील आदि देशों में विचार-गोष्ठियाँ एवं शोध कार्यक्रमों का आयोजन किया। स्वाभाविक है कि इस प्रक्रिया में अनेक शोध-पत्र तैयार हुए तथा तुलनात्मक लोक प्रशासन का साहित्य प्रचुर बनता गया। ग्रुप ने तुलनात्मक लोक प्रशासन पर पुस्तकें, समाचार-पत्र एवं त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। तुलनात्मक लोक प्रशासन के मूर्धन्य विद्वानों का ग्रुप को सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा। लोक प्रशासन के क्षेत्र को व्यापक बनाने में ग्रुप ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इसके तत्त्वावधान में विभिन्न देशों की प्रशासन व्यवस्था का वहाँ के पर्यावरण अथवा इकॉलॉजी के सन्दर्भ में अध्ययन किया गया है। इससे अनेक विचारकों को प्रेरणा मिली और वे विकास प्रशासन की समस्याओं में रुचि लेने लगे।

तुलनात्मक लोक प्रशासन का साहित्य

(Literature of Comparative Public Administration)

तुलनात्मक प्रशासन ग्रुप ने फोर्ड फाउण्डेशन की उदार वित्तीय सहायता से अनेक शोध कार्यक्रम, विचार गोष्ठियाँ, विशेष सम्मेलन, प्रायोगिक अध्यापन कार्यक्रम, व्यावसायिक सम्मेलनों में विचार-विमर्श आदि के व्यापक कार्यक्रम अपनाए। ग्रुप ने क्षेत्रीय अनुसंधान के लिए व्यापक सुविधाएँ दीं और उपलब्ध साधनों का यथासंभव सदुपयोग किया। इन सब प्रयासों के परिणामस्वरूप तुलनात्मक लोक प्रशासन पर पर्याप्त साहित्य तैयार हो सका। अनेक विचारकों ने इसकी पुस्तक सूची बनाने का प्रयास किया।[1] तुलनात्मक लोक प्रशासन का साहित्य विषय-वस्तु के अनुसार निम्नलिखित चार भागों में वर्गीकृत किया गया है—

(1) रूपान्तरित परम्परागत (Modified Traditional)

(2) विकास-उन्मुख (Development Oriented)

1 (A) *Ferrel Heady and Sybil L. Stokes* · Comparative Public Administration : An Selected Annotated Bibliography, 1960

(B) *Allan A. Spitz and Edward W. Weidner* Development Administration . An Annotated Bibliography, 1963

(C) *Nimrod Raphaeli* : Bibliographical entries on Comparative Public Administration, in each issue of the American Political Science Review

(3) सामान्य व्यवस्था मॉडल रचना (General System Model Building)

(4) मध्यवर्ती सिद्धान्त रचना (Middle range Theory Formulation)

रूपान्तरित परम्परागत साहित्य परम्परा से पूर्णरूपेण विच्छिन्न नहीं है। इसकी विषय-वस्तु प्रायः पूर्ववत् है, किन्तु केवल दृष्टिकोण ही व्यक्तिगत प्रशासन व्यवस्थाओं के अध्ययन से उनके तुलनात्मक अध्ययन की ओर मुड़ गया। इस काल में अनुसंधान के उपकरणों का अधिकाधिक प्रयोग किया गया है तथा विभिन्न समाज विज्ञानों के निष्कर्षों को अपनाने की चेष्टा की गई। इस काल का साहित्य भी दो मार्गों में विभाजित किया जा सकता है— (क) वह साहित्य जो विशेष प्रशासनिक समस्याओं से सम्बन्धित था। उदाहरण के लिए प्रशासनिक संगठन, सेवीवर्ग प्रबन्ध, वित्तीय प्रशासन, मुख्य कार्यालय, क्षेत्रीय कार्यालय, सम्बद्ध लोक उद्यमों का प्रशासन, नियामकीय प्रशासन, प्रशासकीय दायित्व एवं नियन्त्रण आदि-आदि। (ख) वह साहित्य जो समग्र व्यवस्थाओं तथा प्रशासनों का तुलनात्मक अध्ययन करता था। इसमें मूल रूप से पश्चिम के विकसित देशों के प्रशासन की संस्थागत तुलनाएँ की जाती थीं। इनमें प्रशासनिक संगठन, नागरिक सेवा व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया गया था। 1952 में सायरे तथा कॉफमेन (Wallace S. Sayre and Herbert Kaufman) ने तुलनात्मक क्षेत्रीय शोध के लिए रूपरेखा प्रस्तुत की है। इस रूपरेखा में तुलना के लिए तीन सूत्रीय मॉडल सुझाया गया है जो क्रमशः प्रशासन व्यवस्था के संगठन, प्रशासन व्यवस्था के नियन्त्रण एवं प्रशासनिक पदसोपान द्वारा कार्यान्विति पर जोर देता है।

विकास-उन्मुख (Development Oriented) प्रशासन के समर्थकों का विचार है कि सरकारी नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रशासनिक संगठन एक प्रभावशाली यंत्र है। जिन देशों में तीव्र राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा रहती है वहाँ प्रशासन का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। तकनीकी भाषा में ये देश विकासशील कहे जाते हैं। प्रो. वीडनर के मतानुसार विकास एक मन स्थिति, एक प्रवृत्ति, एक दिशा है। यह एक निश्चित लक्ष्य की अपेक्षा एक विशेष दिशा में परिवर्तन की दर है।[1] वीडनर का कहना है कि विकास प्रशासन पर अलग से अनुसंधान किया जाना चाहिए। इस अनुसंधान द्वारा ऐसे प्रशासनिक कार्य, व्यवहार, संगठनात्मक प्रबन्ध तथा प्रक्रियाओं आदि का अध्ययन किया जाना चाहिए जो विकास के लक्ष्यों को अधिकतम बना सके। ड्वाइट वाल्डू ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया है। उनके मतानुसार विकास के विचार पर केन्द्रित रहने से विभिन्न विचारों तथा कार्यों के बीच एकरूपता स्थापित हो जाती है और प्रक्रिया सम्बन्धी विभिन्न समस्याएँ स्पष्ट हो जाती हैं। वाल्डू स्वीकार करते हैं कि इस सम्बन्ध में विकास को सहीन में परिभाषित नहीं किया जा सकता। इसके अर्थ और क्षेत्र आदि के सम्बन्ध में अनेक गम्भीर प्रश्न उठते हैं। प्रो. स्वेर्डलो (Prof. Swerdlow) ने लिखा है कि गरीब देशों की पृथक् विशेषताएँ होती हैं जिनके कारण सरकार का कार्य भी भिन्न बन जाता है। ये विशेषताएँ तथा सरकार का बढ़ा हुआ कार्यक्षेत्र आर्थिक विकास को प्रभावित करता है। अतः लोक प्रशासन के कार्यों को भी भिन्न बना देता है। जहाँ भी लोक प्रशासन में ये अन्तर परिलक्षित हों वहीं उसे विकास प्रशासन की संज्ञा दी जा सकती है।

तुलनात्मक लोक प्रशासन के साहित्य के शेष दो वर्गों में इस बात पर जोर दिया जाता है कि तुलना के लिए मॉडल या टाइपॉलॉजी (Typology) बनाई जाएं तथा इनको मूल्य स्वतन्त्र या मूल्य तटस्थ बनाने का पूरा प्रयास किया जाए। वाल्डू की भाँति मॉडल (Model) शब्द का प्रयोग यहाँ ऐसे सजग प्रयास के लिए किया गया है जो अवधारणाओं को विकसित और परिभाषित करें, सम्बन्धित अवधारणाओं को एकत्रित करें, आँकड़े वर्गीकृत करें, यथार्थ की व्याख्या करें तथा इस सम्बन्ध में परिकल्पना करें। लोक प्रशासन से अन्तःअनुशासनात्मक ग्रहण पर्याप्त मात्रा में हुआ है। यह विशेषतः समाजशास्त्र से हुआ है किन्तु अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान और अन्य शास्त्रों से भी पर्याप्त मात्रा में ग्रहण किया गया है।

यह कहा जाता है कि लोक प्रशासन के सिद्धान्त एवं प्रक्रिया (Methodology) पर अधिक जोर देना विषय की भावी प्रगति के लिए उपयोगी है। इसी दृष्टि से अनेक मॉडल तैयार किए गए हैं। प्रो. डायमण्ट (Prof. Diamant) ने तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में दो मॉडल्स Political Culture Model and General System Model का उल्लेख किया है। तुलनात्मक लोक प्रशासन में General System Approach को प्राथमिकता देने वाले विचारकों में प्रो. रिग्स का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने संगठनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण के आधार पर अपने विचार प्रकट किए हैं। वर्षों के अथक परिश्रम के बाद इन्होंने अनेक मॉडल अथवा आदर्श रूपों की रचना एवं पुनर्रचना की है।

संतुलन सिद्धान्त (Equilibrium Theory) के आधार पर भी व्यापक मॉडल रचे गए हैं। इसमें Inputs तथा Outputs की व्यवस्था को विश्लेषण का आधार बनाया जाता है। जान टी डोर्से ने वियतनाम में राजनीतिक

1. E W Weidner : "Development is a state of mind, a tendency, a direction, rather than a fixed goal. It is a rate of change in a particular direction."

विकास का विश्लेषण करते समय इसी दृष्टिकोण को अपनाया।[1] वाल्डू का कहना है कि तुलनात्मक लोक प्रशासन में इतने बड़े मॉडल का चयन किया जाना चाहिए जिससे वह सभी प्रकार के वातावरण में शामिल किया जा सके जो प्रशासन को समझने तथा बदलने में सहायक हो। इतने बड़े मॉडल और अनुभववादी आँकड़ों के बीच प्राय अन्तर रहता है और इसी कारण से रॉबर्ट प्रिग्स तथा अन्य ने मध्यवर्ती सिद्धान्त (Middle Range Theory) को आवश्यक माना। इनका विचार है कि तुलनात्मक लोक प्रशासन का अध्ययन करते समय समस्या का एक पहलू लिया जाए तथा उस पर ही व्यापक अनुसंधान किए जाएँ।

तुलनात्मक लोक प्रशासन में अध्ययन के लिए उपलब्ध मध्यवर्ती मॉडल नौकरशाही है। वाल्डू के मतानुसार नौकरशाही मॉडल पर्याप्त उपयोगी, उत्साहवर्धक तथा प्रोत्साहन देने वाला है। यह मॉडल बड़े ढाँचे में बनाया जाता है तथा इसमें इतिहास और संस्कृति आदि सभी शामिल हो जाते हैं। अभी तक नौकरशाही मॉडल के सम्बन्ध में अधिक अनुभववादी शोध नहीं किए गए है। दूसरे मॉडल के सम्बन्ध में भी यही बात सच है। स्पष्ट है कि तुलनात्मक लोक प्रशासन का एक नया विषय है। इसमें अध्ययन के लिए व्यापक क्षेत्र पड़ा है। अब तक के अध्ययन तुलनात्मक लोक प्रशासन एक नया विषय है। इसमें अध्ययन के लिए व्यापक क्षेत्र पड़ा है। अब तक के अध्ययन इस विषय की केवल कुछ विधाओं को ही स्पर्श करते है। अभी भी यह विषय विकास की प्रारम्भिक अवस्था में है। इसका तुलनात्मक अध्ययन करने की पर्याप्त संभावना है।

तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन का महत्त्व

(Importance of the Study of Comparative Public Administration)

लोक प्रशासन के तुलनात्मक अध्ययन को केवल कुछ बुद्धिजीवियों का बौद्धिक व्यायाम या साहसिक प्रयास मात्र ही नहीं कहा जा सकता। इसका मूल महत्त्व तुलना करने तक ही सीमित नहीं है वरन् इसके परिणामों एवं प्रविधियों का समग्र लोक प्रशासन के स्वरूप पर गहन प्रभाव पड़ता है। तुलना का लक्ष्य विषय के प्रति हमारे दृष्टिकोण को बदल देता है। यही कारण है कि तुलनात्मक अध्ययनों का कुछ मूल्य उनके तत्कालीन लक्ष्यों पर निर्भर रहता है। तुलनात्मक अध्ययन की मूल देन यह है कि इसने प्रान्तीयता एवं क्षेत्रीयता की संकीर्णताओं को समाप्त करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

तुलनात्मक अध्ययन जिस आन्दोलन का भाग है उसे व्यवहारवाद या सार्वलौकिक विज्ञान की खोज कहा जाता है। यह एक नए युग का सूत्रपात है। विलियम जे. सिफिन का कहना है कि "यदि विज्ञान मूलत प्रविधि की बात है तो तुलनात्मक लोक प्रशासन का प्रमुख मूल्य यह है कि इसने वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान किया है।"[1] जिस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन प्रणाली ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास को प्रभावित किया है उसी प्रकार स्वयं तुलनात्मक अध्ययन प्रणाली भी अन्य समाजशास्त्रों के प्रणाली सम्बन्धी अर्वाचीन विकासों से प्रभावित रही है। लोक प्रशासन में बढ़ती हुई तुलनात्मक प्रवृत्ति ने इस विषय को व्यापक, गहरा तथा उपयोगी बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

तुलनात्मक अध्ययन के कारण प्रशासन और राजनीतिशास्त्र के सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ बने हैं तथा ये दोनों विषय समाज विज्ञानों के व्यापक क्षेत्र से अधिक गहरे जुड़ गए हैं। संक्षेप में, लोक प्रशासन की तुलनात्मक अध्ययन प्रणाली के मुख्य लाभ ये हैं—(i) तुलनात्मक अध्ययन प्रणाली के कारण सामाजिक अनुसंधान का क्षेत्र व्यापक हुआ है। पहले यह संकीर्ण सांस्कृतिक बन्धनों से मर्यादित था। (ii) तुलनात्मक अध्ययन की क्रान्ति ने सिद्धान्त रचना में अधिक वैज्ञानिकता ला दी है। (iii) तुलनात्मक अध्ययन प्रणाली दृष्टि को व्यापक बना देती है। इसके कारण दुनिया को आत्म-केन्द्रित या आत्म-संस्कृति केन्द्रित देखने की संकीर्णता नहीं रह पाती। (iv) इससे सामाजिक विश्लेषण का क्षेत्र बढ़ाने की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिलता है। (v) इस अध्ययन से विश्व के विभिन्न देशों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं के बीच सार्थक तुलना करके उचित निष्कर्ष निकाले जा सकते है। (vi) इससे विभिन्न देशों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं के बारे में उपयोगी जानकारी प्राप्त होती है।

1 John T Dorsey The Bureaucracy and Political Development in Vitnam, in Joseph La Palombara, ed Bureaucracy and Political Development, 1963, pp 318-59

ग्रेट-ब्रिटेन में लोक सेवाओं की विशेषताएँ
(Characteristics of Public Services in Great-Britain)

ग्रेट-ब्रिटेन में लोक सेवाओं का शासन-व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान है तथा ये ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। ग्रेट-ब्रिटेन की लोक सेवाओं की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं—

1. लोक सेवाएँ इतिहास की उपज (Civil Services Product of History)—ग्रेट-ब्रिटेन में लोक सेवाओं का काफी पुराना इतिहास है। ये एकाएक ही उत्पन्न नहीं हुई हैं बल्कि ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुरूप इनकी उत्पत्ति हुई है। 19वीं शताब्दी तक लोक सेवकों की नियुक्ति अनुग्रह व्यवस्था पर आधारित थी अर्थात् लोक सेवकों की नियुक्ति राजनीतिक एवं व्यक्तिगत प्रभाव के आधार पर की जाती थी, योग्यता द्वारा नहीं। एक बार नियुक्ति के बाद लोक सेवक आजीवन पद पर बना रहता था। इस व्यवस्था का निरन्तर विरोध होता रहा। 1854 में ट्रेविलियन नार्थकोट समिति की रिपोर्ट संसद में प्रस्तुत की गई जिसके बाद इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर प्रशासनिक तथा लिपिक पदों पर नियुक्ति खुली प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से होने लगी। इसके पश्चात् अनेक सुधारों के तहत ग्लेडस्टन के अनुरोध पर एक तीन सदस्यीय लोक सेवा आयोग स्थापित किया गया। 1870 से सिविल सेवाओं में प्रतियोगी परीक्षा द्वारा भर्ती प्रारम्भ की गई। इसके पश्चात् भी लोक सेवाओं में सुधार हेतु अनेक आयोग और समितियाँ गठित की गईं। राज्य के कार्यों में वृद्धि के साथ-साथ प्रतिवर्ष लोक सेवकों की संख्या में वृद्धि की गई।

2. वर्ग संरचना (Class Framework)—ब्रिटेन की लोक सेवा पदसोपानीय रूप में कार्य एवं उत्तरदायित्वों के आधार पर कई वर्गों में विभाजित है। स्ट्राउट ने ब्रिटिश सिविल सेवा को प्रमुखतः पाँच वर्गों में विभाजित किया है—1. प्रशासकीय वर्ग, 2. अधिशासी वर्ग, 3. लिपिक सहायक, 4. टंकणकर्ता वर्ग, 5 लिपिक वर्ग। इसके अतिरिक्त अनेक विभागीय और व्यावसायिक वर्ग भी हैं जो किसी एक विभाग अथवा कुछ विभागों से सम्बन्ध रखते हैं। विभागीय वर्ग में इनकी भर्ती खुली प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा की जाती है। व्यावसायिक वर्ग में किसी मान्य व्यवसाय से सम्बन्धित पदाधिकारी होते हैं जैसे—बैरिस्टर, डॉक्टर, शिल्पी, इंजीनियर, वैज्ञानिक आदि। इन पदों की भर्ती प्रतियोगी परीक्षाओं के द्वारा न होकर मान्य योग्यता, विशेष प्रशिक्षण, अनुभव के आधार पर साक्षात्कार के माध्यम से होती है। प्रशासनिक निर्णय उच्च अधिकारियों द्वारा लिए जाते हैं जबकि सहायक सेवाएँ निम्न पदाधिकारियों द्वारा सम्पन्न की जाती है।

3. लोक सेवक ब्रिटिश ताज के सेवक (Public Servants is Servants of the Crown)—कानूनी रूप से ब्रिटिश लोक सेवा के सभी सदस्य ब्रिटिश ताज (Crown) के सेवक माने जाते हैं अतः वे मंत्रियों के समान होते हैं। अनेक बार न्यायालय में आने वाले विवादों में यह स्पष्ट किया गया है कि उच्च पदाधिकारी और निम्न पदाधिकारी समान रूप से क्राउन के सेवक हैं। ये सभी राजा के नाम से अपना कार्य सम्पन्न करते हैं, किन्तु अपने सही और गलत कार्यों के लिए स्वयं उत्तरदायी रहते हैं।

4. न्यायिक नियंत्रण से बाहर (Outside of Judicial Control)—ब्रिटेन में लोक सेवक न्यायिक नियंत्रण से बाहर रखे गये हैं क्योंकि कानूनी रूप से लोक सेवक ब्रिटिश क्राउन के सेवक माने जाते हैं अतः उसके नियंत्रण में ही कार्य करते हैं। ब्रिटिश क्राउन द्वारा इनको बिना मुआवजा, पेंशन अथवा भत्ता दिए, बिना किसी पूर्व सूचना के मुक्त किया जा सकता है।

5. प्रशासनिक आदेशों द्वारा नियमन (Regulation by Administrative Orders)—ब्रिटिश लोक सेवा का नियमन प्रशासनिक आदेशों द्वारा किया जाता है। सन् 1855 तक ब्रिटिश लोक सेवाओं का पुनर्गठन परिषद आदेश के आधार पर ही किया जाता था, लेकिन उसके बाद समय-समय पर प्रशासनिक आदेश प्रसारित होते रहे। प्रशासनिक आदेशों द्वारा लोक सेवा आयोग की स्थापना की गई। वर्तमान में लोक सेवा आयोग ही लोक सेवाओं में भर्ती, स्थायीकरण, वेतन, पदोन्नति, अवकाश, काम के घंटे, सेवा-निवृत्ति की आयु, पेंशन आदि का नियमन करता है। प्रत्येक सरकारी विभाग के कार्य एवं संगठन का नियमन मंत्री द्वारा किया जाता है। मंत्री के नियंत्रण में विभाग का मुख्य लोक सेवक अनुशासन की स्थापना करता है। यद्यपि मंत्रिगण स्थिर नहीं होते, लेकिन विभाग के आन्तरिक कार्य-नियमों की व्याख्या विभागीय मंत्री द्वारा ही सम्पन्न की जाती है।

6. सेवा काल की सुरक्षा (Security of Service Tenure)—ब्रिटेन में विभागों के आन्तरिक कानून लोक सेवाओं को कुछ अधिकार सौंपते हैं। यह एक सुस्थापित नियम है कि विभाग द्वारा की गई अनुशासनात्मक कार्यवाही के विरुद्ध कार्यवाही करने का अधिकार प्रत्येक लोक सेवक को है। लोक सेवाओं की सुरक्षा के लिए राजकोष द्वारा कुछ सिद्धान्त निर्धारित किए गए हैं। कोई लोक सेवक तब तक अपने पद से नहीं हटाया जा सकता, जब तक कि वह लोक सेवा अहित में कोई कार्यवाही न करे अथवा सेवा-निवृत्ति की आयु तक न पहुँच जाए। यदि किसी लोक सेवक को विभागीय अध्यक्ष द्वारा पद-मुक्ति अथवा अन्य अनुशासनात्मक कार्यवाही का शिकार बनाया गया तो अन्तिम निर्णय लेने से पूर्व सारे आरोप सम्बन्धित कर्मचारी को बता दिए जाते हैं। विभागाध्यक्ष द्वारा ही यह निर्धारित किया जाता है कि लोक सेवक पर लगे आरोपों की आगे जाँच की जाए अथवा नहीं और की जाए तो किस प्रकार से। बड़े विभागों के लोक सेवकों को आरोपों के विरुद्ध किसी निष्पक्ष अधिकारी के सम्मुख अपील करने का अधिकार दिया जाता है जबकि छोटे विभागों में यह व्यवस्था नहीं है क्योंकि वहाँ विभागाध्यक्ष ही निर्णायक होता है, लेकिन सभी स्थितियों में संसद के सम्मुख अपील करने की व्यवस्था है।

7. राजनीतिक तटस्थता (Political Neutrality)—ब्रिटिश लोक सेवा राजनीतिक दृष्टि से पूर्णत: तटस्थ रहती है। सरकार चाहे किसी भी दल की बने, लोक सेवक पूरी निष्ठा, ईमानदारी एवं तटस्थता से कार्य करते हैं। लोक सेवाओं के लिए सन् 1954 में निर्मित संहिता के अनुसार लोक सेवा के सदस्य देश की राजनीति में सक्रियता से भाग नहीं ले सकते हैं। मन्त्रियों के अधीन प्रशासकीय तथा व्यावसायिक वर्ग के लोक सेवक तथा उनके साथ कार्यरत लिपिक एवं अन्य कर्मचारी राजनीतिक कार्यों से पूर्णत: पृथक् रखे गए हैं। अन्य कर्मचारी अपने विभाग से अनुमति तथा अवकाश लेने के बाद स्थानीय अथवा राष्ट्रीय राजनीति में भाग ले सकते हैं। यदि कोई लोक सेवक चुनाव लड़ना चाहता है तो उसे अपने पद से त्याग-पत्र देना पड़ता है। ब्रिटिश लोक सेवा की राजनीतिक तटस्थता ने वहाँ की राजनीति और प्रशासन दोनों पर स्वस्थ प्रभाव डाला है।

8. सेवा की अनुकूल शर्तें (Favourable Conditions of Service)—ब्रिटेन की लोक सेवाएँ प्रत्येक प्रवेशार्थी को उज्ज्वल भविष्य का अवसर प्रदान करती हैं। भविष्य की आशाएँ और पदोन्नति के अवसर योग्य प्रत्याशियों को सरकारी सेवाओं की ओर आकर्षित करते हैं। कुछ विशेषज्ञ एवं शीर्ष स्तर के पदों को छोड़कर शेष लोक सेवकों का वेतन एक ऐसी वेतन शृंखला के रूप में दिया जाता है जिसमें तब तक वार्षिक वृद्धि होती है, जब तक कि अधिकतम शृंखला तक वेतन की मात्रा न पहुँच जाए। प्रारम्भ में महिला लोक सेवकों को पुरुष लोक सेवकों की अपेक्षा कम वेतन दिया जाता है, किन्तु 1955 के समझौते के अनुसार समान वेतन के क्रमिक सिद्धान्त को अपना लिया गया है। प्रारम्भ में लन्दन के लोक सेवकों को दूसरे स्थानों के लोक सेवकों की अपेक्षा कम वेतन मिलता था, लेकिन अब सभी को समान वेतन दिया जाने लगा है तथा लन्दन के लोक सेवकों को उनकी अतिरिक्त लागत के लिए अतिरिक्त मुआवजा दिया जाता है।

ब्रिटिश लोक सेवकों को सन् 1934 से पेंशन सुविधा भी प्राप्त है। पेंशन देने का कार्य ब्रिटिश राजकोष द्वारा किया जाता है। लोक सेवक को पेंशन तभी दी जाती है जब वह 60 वर्ष का हो, उसका स्वास्थ्य कमजोर हो और सेवा असन्तोषजनक हो। यदि कोई पद समाप्त किया जाता है तो उस पद पर कार्यरत लोक सेवक को सेवानिवृत्ति भत्ता प्रदान किया जाता है। एक लोक सेवक 50 वर्ष का होने के बाद स्वेच्छिक सेवानिवृत्ति लेता है तो उसे पेंशन प्रदान की जाती है। यह रकम उसे 60 वर्ष तक का होने तक मिलती है।

सन् 1949 के पेंशन अधिनियम द्वारा विधवा एवं आश्रितों के लिए भी पेंशन की व्यवस्था की गई है।

5 जुलाई, 1948 से ब्रिटिश लोक सेवकों के लिए अनिवार्य बीमा योजना भी लागू की गई है।

ब्रिटेन में लोक सेवकों के लिए 5 दिन का कार्य सप्ताह निर्धारित किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक लोक सेवक वर्ष में 30 अवकाश ले सकता है।

ब्रिटेन में लोक सेवकों की कार्य कुशलता में वृद्धि के लिए उन्हें कार्य के लिए उपयुक्त स्थान, आवश्यक सामग्री, सुविधाएँ आदि प्रदान की जाती हैं। साथ ही स्वास्थ्य और अन्य व्यक्तिगत समस्याओं पर भी उपयुक्त ध्यान दिया जाता है।

9. अन्य विशेषताएँ (Other Features)

1. वर्तमान में ब्रिटिश लोक सेवाओं और लोक सेवकों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है जिसका प्रमुख कारण सरकार के कार्यों में वृद्धि है, जिसके कारण सरकार को अनेक नये विभाग एवं मंत्रालयों की स्थापना करनी पड़ी।
2. यहाँ लोक सेवाओं का अभिजनवादी स्वरूप पाया जाता है क्योंकि अधिकांश उच्च लोक सेवक समाज के उच्च अथवा अभिजात्य या कुलीन वर्गों से ही आते हैं। इन वर्गों की शिक्षा-दीक्षा प्रायः ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में ही होती है।
3. ब्रिटिश लोक सेवाएँ स्थायी हैं क्योंकि सरकारी सेवाओं को समाज में सम्मान और प्रतिष्ठा का सूचक माना जाता है। सामान्यतः एक लोक सेवक एक बार सरकारी सेवा में आने के बाद अपनी सेवानिवृत्ति तक सरकारी पद पर बना रहता है।
4. ब्रिटिश लोक सेवाओं के सचालन में लोक सेवा आयोग की महत्वपूर्ण भूमिका है। यह सरकारी कर्मचारियों की भर्ती एव चयन का कार्य करता है।
5. ब्रिटिश लोक सेवाओं में स्थिति वर्गीकरण (Rank Classification) पाया जाता है।

अमेरिकी लोक सेवाओं की विशेषताएँ

(Characteristics of American Public Services)

1. सरकार का व्यापक कार्य-क्षेत्र और नौकरशाही का बड़ा आकार (Wide Governmental Functions and Big Size of Bureaucracy)—अमेरिका में औद्योगीकरण तथा लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के परिणामस्वरूप सरकार के कार्यों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है जिससे लोक सेवकों की एक विशाल सेना का सगठन किया गया है। आजकल प्रायः प्रत्येक मानवीय व्यवसाय लोक सेवा का अग बन गया है। अकेले संघीय स्तर पर ही विभिन्न प्रकार के लगभग 1500 व्यवसाय हैं। संघीय स्तर के उच्च पदाधिकारी प्रायः महाविद्यालयी शिक्षा प्राप्त होते हैं। राज्य स्तर के व्यवसायों की प्रकृति प्रायः तकनीकी है। प्रत्यक्ष रूप से राज्य कर्मचारी के अतिरिक्त ठेके के आधार पर सरकारी कार्य करने वाले लोग भी अप्रत्यक्ष रूप से राज्य कर्मचारी होते हैं। राज्य के कार्य क्षेत्र तथा आधुनिक जीवन में राज्य से की जाने वाली अपेक्षाओं के बढ़ने से बड़े आकार की नौकरशाही अपरिहार्य बन गई है। नार्मन पावेल (Norman J. Powell) के अनुसार अमेरिका की लोक सेवाओं का बड़ा आकार अनेक परिणामों का कारण बनता है। इससे नौकरशाही की शक्तियाँ बढ़ जाती हैं, फलतः उनमें भ्रष्टाचार जन्म लेता है।

2. मानवीय साधनों की उपलब्धि (Availability of Human Resources)—लोक प्रशासन के सफल सचालन के लिए आर्थिक और सामाजिक साधन-स्रोतों की भाँति मानव-शक्ति भी एक महत्वपूर्ण साधन है। इस हेतु योग्य व्यक्तियों को उन पदों की ओर अभिप्रेरित किया जाना चाहिए जिनकी समाज को आवश्यकता है और जहाँ उनकी योग्यताओं एवं क्षमताओं का सर्वश्रेष्ठ उपयोग किया जा सकता है। समाज वैज्ञानिकों का कहना है कि मानवीय साधनों के अनुरक्षण तथा विकास के लिए अधिक शिक्षा, उच्चतर बौद्धिक प्रतिभा की मान्यता और युवक, वृद्ध, स्त्री-पुरुषों तथा अल्पसख्यकों का पूरा सदुपयोग होना चाहिये। केवल शिक्षा ही पर्याप्त नहीं है। व्यावसायिक, तकनीकी और प्रतिभावान मानव शक्ति के विकास के लिए समुचित समर्थन व निर्देशन वांछनीय है। विभिन्न प्रशासनिक पदों के लिए आवश्यक तकनीकी कुशलता बाजार में स्वतः ही उपलब्ध नहीं होती, इसके लिए उपयुक्त नियोजन अनिवार्य है। अमेरिकी लोक सेवाओं के कार्य का स्तर एवं उपयोगिता इस बात पर निर्भर है कि यहाँ की शिक्षण सस्थाएँ तथा तकनीकी एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र किस स्तर के व्यक्ति उपलब्ध करा पाते हैं।

3. राज्य के कल्याणकारी दायित्व (Welfare Responsibilities of the State)—लोक सेवाओं के चयन में राज्य द्वारा योग्य व्यक्तियों के चयन तथा जरूरतमंद लोगों के लिए रोजगार की आवश्यकता के बीच सामंजस्य स्थापित करना होता है। यदि केवल राजनीतिक दल के प्रति स्वामिभक्ति, क्षेत्रीयता, व्यक्ति के लिए रोजगार की आवश्यकता या विशेष हित समूहों की प्राथमिकता को ध्यान में रखा जाए तो सरकारी पदों पर योग्य व्यक्ति नहीं आ सकेंगे। लोक-कल्याणकारी राज्य में आदर्श सरकारी सेवाओं के लिए अनेक कानूनी व्यवस्थाएँ की गई हैं,

जैसे—कोई व्यक्ति एक साथ दो पदों पर कार्य नहीं कर सकता, सरकारी सेवा में आने वाले एक परिवार के सदस्यों की सख्या सीमित की गई है। सेवा में प्रवेश के लिए निवास को आवश्यक शर्त बनाया गया है। युद्ध पीड़ितों एवं उनके परिवारों को प्राथमिकता दी जाती है तथा पदमुक्ति प्रक्रिया पर अनेक सीमाएँ लगाई गई हैं। ये सभी व्यवस्थाएँ राज्य के कल्याणकारी दायित्वों की प्रतीक हैं।

सामाजिक और आर्थिक सकट के समय सरकारी सेवा को एक शरण या राहत के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। यह माना जाता है कि सभी को रोजगार मिलने पर सामाजिक बुराइयाँ स्वत: ही दूर हो जाएंगी। यदि लोगों को निजी उद्यमों में पर्याप्त रोजगार नहीं मिल पाते हों तो राज्य को इनकी व्यवस्था करनी चाहिए। इसी भावना के परिणामस्वरूप अमेरिका में युद्ध से लौटे हुए, आर्थिक दृष्टि से विपन्न, शारीरिक रूप से अपंग तथा मानसिक रूप से असंतुलित लोगों, अधेड़ महिलाओं, विभिन्न अल्पसंख्यक समूहों तथा अंशकाल के लिए उपलब्ध विद्यार्थियों को रोजगार देने के प्रयास किए गए हैं। यह उचित है कि इस प्रकार के लोगों की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए, किन्तु इन्हें सरकारी कार्यालयों में रोजगार देने की नीति लोक सेवाओं पर अवाछनीय प्रभाव डालती है। प्रो. स्टॉल ने लिखा है कि "इस प्रवृत्ति की प्रत्यक्ष हानि केवल प्रशासनिक कार्यक्षमता में गिरावट नहीं है वरन् इससे लोक सेवाओं की इमेज गिरती है। यह समझा जाता है कि सरकारी पद केवल पुरस्कार होते हैं। ये केवल जरूरतमद लोगों की आय का प्रबध करने के लिए कायम हैं। जन-मानस में लोक सेवाओं की प्रतिष्ठा गिर जाती है।"

4. तकनीकी का प्रभाव (The Impact of Technology)—अनेक तकनीकी आविष्कारों के कारण तकनीकी व्यवसायों की सख्या बढ़ गई है। अमेरिका के लोक सेवा प्रशासन पर तकनीकी का प्रभाव मुख्यत: चार रूपों में हुआ है—(i) इसमें ऐसी सेवीवर्ग व्यवस्था को आवश्यक बताया है, जो प्रत्येक स्तर पर नए प्रत्याशियों के प्रवेश को स्वीकार एवं प्रोत्साहित कर सके। ऐसा होने पर नौकरशाही का समाज से निकट सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा। नए वातावरण में लोक सेवाओं में भर्ती, वेतन, कार्यकाल एवं सेवा-निवृत्ति के प्रावधानों में लोचशीलता रखने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिये। (ii) तकनीकी विकास के फलस्वरूप सेवाकालीन प्रशिक्षण का महत्व बढ़ा है। आज यह उचित नही है कि पूर्णकालीन प्रशिक्षण के लिए कर्मचारी को बहुत समय तक सेवा से पृथक् रखा जाए तथा प्रशिक्षण के व्यय का भार उसके कन्धों पर डाला जाए। इसके अतिरिक्त यह व्यवस्था कर्मचारी को द्रुतगति से होने वाले तकनीकी परिवर्तनों के साथ परिचित रखने में भी सक्षम नही है। सरकारी प्रयोगशालाओं तथा कार्यालयों में कार्य करने वाले इंजीनियरों, वैज्ञानिकों, तकनीकी विशेषज्ञों, चिकित्सकों आदि के लिए सेवाकालीन प्रशिक्षण की व्यवस्था करना नितात आवश्यक है। (iii) तकनीकी विकास का एक परिणाम यह है कि व्यावसायिक कार्यभता तथा विशेषत. वैज्ञानिक स्वय को एक विशेष जाति का मानने लगे हैं। वे जन-साधारण की अपेक्षा पृथकता एवं विशेषाधिकार की माँग करते हैं तथा अपने कर्तव्यों एवं दायित्वों की ओर ध्यान देने की अपेक्षा अपने पदस्तर को ऊँचा उठाने पर अधिक समय तथा शक्ति व्यय करते हैं। (iv) यह सच है कि तकनीकी युग ने वैज्ञानिकों को कुछ सम्मान दिया है, किन्तु साथ ही उन पर कुछ दायित्व भी डाले हैं। उनसे यह अपेक्षा की जाती है लोक सेवक होने के नाते उन्हें वैज्ञानिक से कुछ अधिक होना चाहिये। उनमें वैज्ञानिक कार्यक्रम, लक्ष्यों तथा अपने सगठन के प्रति निष्ठा होनी चाहिये। उनके कार्यों की सार्थकता एवं उपयोगिता सगठन के लक्ष्यों के सन्दर्भ में ही निश्चयत. आँकी जा सकती है।

5. अंत:सरकारी सम्बन्ध (Inter-Governmental Relations)—अमेरिकी संविधान लागू होने के बाद से यहाँ की संघ सरकार निरतर शक्तिशाली होती गई। इसके हाथों में सहायता अनुदान की शक्ति तथा कर लगाने की भारी शक्ति है, जिसके परिणामस्वरूप राज्य एवं स्थानीय स्तर की सरकारें निरतर कमजोर होती चली गई हैं। सन् 1940 से अमेरिका के सभी राज्यों को कल्याण, रोजगार, सुरक्षा, जन-स्वास्थ्य, व्यावसायिक पुनर्वास एवं नागरिक सुरक्षा आदि के लिए सघीय अनुदान प्राप्त हो रहे हैं। इसके फलस्वरूप सरकारी क्षेत्राधिकारी की अन्तर निर्भरता बढ़ी है। सघीय अभिकरणों द्वारा चलाए जा रहे प्रशिक्षण कार्यक्रमों में राज्य तथा स्थानीय स्तर के कर्मचारी भी प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं।

6. राजनीति एवं अनुग्रह (Politics and Patronage)—आज अमेरिका में लोक सेवकों की भर्ती के लिए योग्यता का सिद्धान्त लोकप्रिय बन चुका है, फिर भी लूट प्रथा का प्रचलन है। अमेरिकी काग्रेस ने सन् 1820 में अधिकाश संघीय अधिकारियों का कार्यकाल चार वर्ष निश्चित कर दिया था ताकि सामाजिक नवीनीकरण द्वारा प्रशासन में सुधार होता रहे। राष्ट्रपति जैक्सन के काल से ही इस प्रावधान का प्रयोग राजनीतिक स्वार्थपूर्ति के लिए

किया जाने लगा। सीनेटर मर्सी (Senator Marcy) ने इसे लूट-व्यवस्था (Spoils System) का नाम दिया। इसमें प्रत्येक नए राष्ट्रपति के साथ पुराने सभी प्रशासनिक कर्मचारियों को निकाल दिया जाता था और उनके स्थान पर नए 'चमचों' को भर लिया जाता था। इस व्यवस्था की बुराइयाँ शीघ्र ही प्रकट होने लगीं। एक बौखलाए पदाकांक्षी द्वारा सन् 1882 में राष्ट्रपति गारफील्ड की हत्या कर दी गई। सन् 1883 में अमेरिकी कांग्रेस ने एक लोक सेवा कानून पास किया। तदनुसार संघीय स्तर के निम्न पदों पर नियुक्ति से राजनीति को अलग कर दिया गया। यह व्यवस्था की गई कि राष्ट्रपति तथा सीनेट द्वारा नियुक्त तीन व्यक्तियों का लोक सेवा आयोग प्रवेश परीक्षाएँ आयोजित करेगा और अधिकारियों के माध्यम से राजनीतिक कोष एकत्रित नहीं कराया जाएगा। अमेरिकी लोक सेवाएँ वर्तमान में बहुत कुछ इसी अधिनियम पर आधारित हैं।

व्यवहार में लूट-प्रणाली अथवा समूह-सिद्धान्त का प्रभाव आज भी पर्याप्त है। जनता की उदासीनता और निहित स्वार्थों के प्रभाव के कारण अमेरिका में संघीय, राज्य एवं स्थानीय स्तरों पर अनुग्रह व्यवस्था का पर्याप्त प्रभाव है। इससे लोक सेवा गम्भीर रूप से प्रभावित होती है। इसका प्रभाव केवल प्रवेश या भर्ती तक ही सीमित नहीं है, वरन् यह प्रशासन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित करती है। जो उच्च अधिकारी योग्यता के आधार पर नियुक्त हुआ है, वह राजनीतिक आधार पर नियुक्त अपने अधीनस्थों पर कोई अनुशासन नहीं रख पाता। अनेक विधायक अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हुए लोक सेवाओं की कार्य-प्रक्रिया पर अनुचित प्रभाव डालते हैं। वे अपने मतदाताओं की प्रसन्नता या अपने अहंकार की पूर्ति के लिए पदोन्नति, स्थानान्तरण तथा सेवा की शर्तों को प्रभावित करते हैं। वे इसे अपने राजनीतिक प्रभाव की वृद्धि एवं सस्ती लोकप्रियता की प्राप्ति के अपने साम्राज्य का अंग मानते हैं अर्थात् 'लूट-प्रथा' ने अमेरिकी लोक सेवाओं का राजनीतिकरण कर दिया है।

7. राजनीतिक नेतृत्व (Political Leadership)—राज्य की निर्वाचित या नियुक्त कार्यपालिका देश की नौकरशाही को नेतृत्व प्रदान कर, प्रशासन को उत्तरदायी बनाने की व्यवस्था करती है। अमेरिका में नौकरशाही का परीक्षाकाल वह होता है जबकि आम चुनावों के बाद नया राजनीतिक नेतृत्व कुर्सी पर आता है। यह संक्रमण अनेक बार नये तथा पुराने दोनों ही अधिकारियों के लिए सहायक बन जाता है। प्रो. स्टॉल के मतानुसार, एक अच्छी सेवीवर्ग व्यवस्था की पहचान यह है कि वह नए राजनीतिक नेतृत्व को सरल रूप में संक्रमण प्रदान कर दे। राजनीतिक शक्ति और सेवीवर्ग के दृष्टिकोण में उपयुक्त सतुलन स्थापित करके ही लोक सेवाओं को स्थायित्व प्रदान किया जा सकता है।

8. विशेष हित समूहों का प्रभाव (Influence of Special Interest Groups)—हित समूह अमेरिकी राजनीतिक क्षितिज की महत्वपूर्ण यथार्थताएँ हैं। अन्य सरकारी कार्यकलापों की भाँति लोक सेवाओं के क्षेत्र में भी विशेष हित-समूह सक्रिय रहते हैं, लेकिन इनकी सक्रियता एवं संगठन इतना सक्षम नहीं होता कि ये श्रेष्ठ प्रशासन के हितों के समर्थन के लिए कोई संयुक्त मोर्चा बना सकें। यहाँ कुछ मुख्य हित-समूह हैं—राष्ट्रीय सिविल लीग, लोक प्रशासन की अमेरिकी सोसाइटी, सेवी वर्ग संघ, सेवीवर्गीय प्रशासन सोसाइटी आदि। ये हित समूह तकनीकी दृष्टि से उचित कार्य-संचालन तथा योग्यता व्यवस्था के प्रसार में उपयुक्त भूमिका निभाते हैं। इनकी विशेष रुचि प्रशासनिक कार्य कुशलता एवं सक्षमता में नहीं रहकर अपने हितों की पूर्ति करने में रहती है। सेवी वर्ग व्यवस्था में किए गए सुधारों पर भी इनका प्रभाव रहता है, लेकिन अमेरिका में कोई ऐसा हित-समूह नहीं है, जो निरंतर व्यवस्थापिका में जाकर अधिक श्रेष्ठ, कल्पनाशील और रचनात्मक सेवीवर्ग प्रबन्ध के लिए संघर्ष करे।

9. सूत्र तथा स्टॉफ (Line and Staff))—अमेरिकी लोक सेवा के परिवेशात्मक तत्वों में सूत्र तथा स्टाफ भी उल्लेखनीय है। जिस उद्देश्य के लिए संगठन की रचना की गई है उससे सम्बन्धित कार्य सूत्र कहलाते हैं तथा संगठन बनने के कारण जो कार्य जरूरी बन जाए, वे स्टाफ सेवाएँ कही जाती हैं। सूत्र कार्य प्रमुख तथा मूलभूत होते हैं तथा स्टाफ को सूत्र की सेवा करनी चाहिये। स्टाफ केवल परामर्शदाता है, नियंत्रण नहीं करता। सूत्र मुख्य संचालक है तथा स्टाफ द्वारा उसकी सहायता की जानी चाहिये। व्यवहार में सूत्र तथा स्टाफ का अंतर काफी आलोचनापूर्ण बन जाता है। साधारणतः यह सच है कि सरकारी लोक सेवाओं का प्रबंध सरकार के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए है। सरकार का अस्तित्व लोक सेवाओं की भर्ती, पद व्यवस्था, अनुशासन या अभिप्रेरणा के लिए नहीं है, किन्तु कुछ अवसरों पर स्टाफ की भर्ती, वेतन प्रणाली, अनुशासन की प्रणाली तथा पेंशन व्यवस्था सूत्र कार्य से भी अधिक महत्वपूर्ण बन जाती है। आजकल सूत्र तथा स्टाफ का यह अंतर कृत्रिम तथा महत्वहीन समझा जाने लगा है। स्टॉल के कथनानुसार, "एक बुद्धिमान मुख्य कार्यपालिका इन दोनों के कृत्रिम अंतरों के सम्बन्ध में विशेष चिंतित

नहीं होती, यहाँ तक की दो शब्दों का प्रयोग भी नहीं करती वरन् एक ही शब्द 'सेवी वर्ग प्रशासन' का ही उल्लेख किया जाता है।"

10. लोक सेवाओं की सीमित प्रतिष्ठा (Limited Prestige of Public Service)—अमेरिका की लोक सेवा यहाँ के सामाजिक जीवन में विशेष प्रतिष्ठित नहीं है। परम्परागत रूप से अमेरिकी लोग अपने जीवन के कार्य-व्यवहार में सरकारी सहायता की कम अपेक्षा करते हैं। उच्च योग्यता प्राप्त अधिकांश युवक लोक सेवा में आना पसन्द नहीं करते। कुछ लोग केवल परिस्थितिवश या अनहोनी स्थिति के कारण सरकारी सेवा में प्रवेश कर लेते हैं अन्यथा जान-बूझकर एवं पूर्व नियोजित तरीके से कदाचित ही वे लोक सेवा को अपना व्यवसाय बनाना चाहते हैं।

यहाँ की शैक्षणिक संस्थाएँ एवं व्यावसायिक परामर्शदाता लोगों को सरकारी सेवा की ओर प्रेरित करने में कम रुचि लेते हैं। इन सबके बाद भी यहाँ की लोक सेवाएँ योग्य व्यक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट करने में सदैव सचेष्ट रहती है। कुछ लोग सरकारी कार्य की दृष्टि से इसे अपनी जीविका का साधन बनाते हैं। एक अनुभववादी अध्ययन के अनुसार लोक सेवाओं में अधिकाश लोग इसलिए बने रहते हैं क्योंकि वे इसे मनोरंजक मानते है। वैसे आय तथा अन्य सुविधाओं की दृष्टि से गैर-सरकारी सेवाएँ सरकारी सेवाओं की अपेक्षा अधिक आकर्षक है। सरकारी पदों की लोचहीनता एव पदोन्नति के सीमित अवसर योग्य प्रतिभाओं के इनमें प्रवेश के मार्ग को अवरुद्ध कर देते हैं तथा सरकारी सेवाओं को, शक्ति के अभिलाषी महत्वाकांक्षी लोग पसन्द करते हैं। लोक सेवाओं की ओर प्रतिभाशाली लोगों को आकर्षित करने के लिए व्यावसायिक, शैक्षणिक एवं राजनीतिक नेता समय-समय पर विचार प्रकट करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त नेशनल सिविल सर्विस लीग, रॉक फेलर फाउन्डेशन तथा अन्य जनसेवी संगठन प्रतिवर्ष असाधारण प्रतिभाशाली लोक सेवकों को महत्त्वपूर्ण पुरस्कार देते रहते हैं। लोक सेवाओं का सम्मान बढ़ाने पर समय-समय पर जोर दिया जाता है ताकि उच्च योग्यता वाले लोगों को आकर्षित किया जा सके।

11. योग्यता प्रणाली का सूत्रपात (Introduction of Merit System)—लम्बे समय तक अमेरिका में लोक सेवाएँ लूट-प्रथा का शिकार रही है, लेकिन इस प्रथा के कुप्रभावों ने अमेरिकी जनमानस का ध्यान आकर्षित किया और इस प्रथा को समाप्त किये जाने की प्रबल माँग की जाने लगी। सन् 1833 के 'पेण्डलटन अधिनियम' ने इस दिशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया। इससे अमेरिकी लोक सेवाओं का नियमन किया गया और लूट-प्रथा को नियंत्रित किया गया। इस अधिनियम के पारित होने के बाद 'योग्यता प्रणाली' को अपनाया गया। वर्तमान में अब कुछ उच्च पदों को छोड़कर लोक सेवाओं का चयन योग्यता के आधार पर ही किया जाता है;

12. लोक सेवा आयोग की भूमिका (The Role of Civil Service Commission)—सन् 1833 के अधिनियम द्वारा लोक सेवा आयोग की स्थापना की गई। अमेरिका के सेवीवर्ग प्रशासन के सचालन में लोक सेवा आयोग की महत्वपूर्ण भूमिका है। इस आयोग द्वारा सिविल सेवा परीक्षाओं का आयोजन किया जाता है। आयोग परीक्षाओं में बैठने वाले योग्य प्रत्याशियों की लिस्ट या सूची भी प्रकाशित करता है। यही प्रतियोगी परीक्षाओं के बारे में नियम निर्धारित करता है। आयोग द्वारा ही लोक सेवकों का वर्गीकरण किया जाता है। आयोग ही लोक सेवाओं के लिए नियम और विनियम बनाता है तथा लोक सेवकों के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है।

सन् 1978 के सिविल सर्विस सुधार अधिनियम के माध्यम से 1 जनवरी 1979 से संघीय लोक सेवा आयोग को समाप्त करके इसके कार्यों को चार प्रमुख अभिकरणों—सेवीवर्गीय प्रबन्ध कार्यालय (Office of Personnel Management), योग्यता व्यवस्था संरक्षण बोर्ड (Merit System Protection Board), संघीय श्रमिक सम्बन्ध प्राधिकरण (Federal Labour Relation Authority) और समान रोजगार उपलब्धि आयोग (Equal Employment Opportunity Commission) में विभाजित कर दिया गया है।

फ्रांस में लोक सेवाओं की विशेषता

(Characteristics of Public Service in France)

रिडले तथा ब्लोण्डेल (F. Ridley and J. Blondel) ने इसकी परम्परागत विशेषताओं का अग्रांकित प्रकार से उल्लेख किया है—

1. मिशनरी भावना (Missionary Zeal)—प्रारम्भ से ही फ्रांसीसी नौकरशाही मिशनरी भावना से कार्य करती रही है। प्रजातंत्र के उदय से पूर्व गणतन्त्रात्मक व्यवस्था में फ्रांस के राजाओं ने अपने अधीनस्थ अधिकारियों में देश के आर्थिक जीवन के विकास की प्रेरणा जाग्रत की। नेपोलियन के समय में भी प्रशासन राज्य के हस्तक्षेप के प्रति पर्याप्त सजग रहा। 19वीं सदी और उसके बाद के पूँजीवादी युग में राज्य के हस्तक्षेप की नीतियाँ प्रबल रहीं। चतुर्थ गणतन्त्र के समय नागरिक सेवा ने कृषि और उद्योगों के आधुनिकीकरण के लिए अनेक प्रमुख योजनाएँ प्रारम्भ कीं। आज भी फ्रांस की लोक सेवाएँ मिशनरी भावना से चल रही हैं।

2. देश के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व (Representation of all Classes in the Country)—फ्रांस की लोक सेवाओं में देश के प्रायः सभी वर्गों के लोगों का प्रवेश है। बड़ा आकार होने के कारण यह विभिन्न वर्गों को आने का निमन्त्रण देती है। ब्रिटेन में वहाँ की जनसंख्या के अनुपात में जितने लोक सेवक हैं उनसे दुगुने फ्रांस में हैं। ब्रिटेन में जिन पदों पर स्थानीय सरकार के अधिकारी कार्य करते हैं उन पदों पर फ्रांस में लोक सेवक रखे जाते हैं।

3. देश भर में बिखरे हुए (Spread all over the Country)—फ्रांस के लोक सेवक केवल राजधानी प्रदेश और बड़े नगरों में ही केन्द्रित नहीं हैं वरन् पूरे देश में व्याप्त हैं। केन्द्र सरकार की क्षेत्रीय सेवाएँ काफी व्यापक हैं। सम्भवतः प्रत्येक कस्बे में एक सरकारी कार्यालय है। तीन हजार कस्बों तथा गाँवों में सरकारी सड़क और इन्जीनियर रखे गए हैं। प्रत्येक पैरिश (Parish) में स्कूल मास्टर होता है, जो स्वयं एक लोक सेवक है।

4. अच्छे प्रत्याशियों का चयन (Selection of Better Candidates)—फ्रांस की लोक सेवाओं में अच्छे और योग्य व्यक्ति आकर्षित होते हैं। यहाँ स्पर्द्धा पर्याप्त कड़ी होती है। सेवाओं में प्रवेश की पात्रताएँ सामान्य योग्यता की मापक समझी जाती हैं। यद्यपि लोक सेवाओं में वेतन एवं अन्य भौतिक उपलब्धियाँ निजी उद्यमों की अपेक्षा कम होती हैं, किन्तु इनकी प्रतिष्ठा और सम्मान इतना अधिक होता है कि लोग अल्पकाल के लिए भी इनमें आना पसन्द करते हैं। यदि एक बार किसी ने सरकारी सेवा में प्रवेश पा लिया तो फिर वह कहीं भी अपने भाग्य की सफल परीक्षा कर सकता है। उसे एक प्रकार से सफलता के लिए प्रमाण-पत्र मिल जाता है।

5. शिक्षा से सम्बन्धित (Linked with the Education)—फ्रांस की लोक सेवा तथा शिक्षण संस्थाओं के बीच सम्बन्धों की एक कड़ी सदैव बनी रहती है। अनेक स्कूलों में प्रवेश के लिए बड़े कठोर नियम हैं। यहाँ प्रवेशार्थियों से एक समझौते पर हस्ताक्षर करा लिये जाते हैं कि वे स्नातक होने के बाद कुछ वर्षों तक सरकारी सेवा में रहेंगे। अध्ययनकाल में विद्यार्थियों को ऐसे विषयों का ज्ञान कराया जाता है जो सरकारी सेवा के दायित्वों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप होते हैं। इन स्कूलों की परम्पराएँ लोक सेवाओं की परम्पराओं के समकक्ष होती हैं।

6. विभिन्नताएँ (Diversity)—फ्रांस की लोक सेवा की एक अन्य विशेषता इसकी भिन्नरूपता (Diversity) है। लोक सेवा के अलग-अलग कोर्प्स (Corps) बने हुए हैं। अलग-अलग स्कूलों में विभिन्न प्रकार की नागरिक सेवाओं का प्रशिक्षण दिया जाता है। स्कूलों तथा कोर्प्स के परिणामस्वरूप विभिन्नताएँ जन्म लेती हैं। यह व्यवस्था नेपोलियन द्वारा स्थापित की गई थी। नेपोलियन एक ऐसी लोक सेवा स्थापित करना चाहता था जिसका अपना जीवन हो। लोक सेवा कोर्प्स को स्वतन्त्रता प्रदान की गई। इसके फलस्वरूप सरकारी विभागों में संघात्मक संरचना का मार्ग प्रशस्त हुआ।

फ्रांस की लोक सेवा की उक्त परम्परागत विशेषताएँ आज भी परिवर्तित रूप में यहाँ की नौकरशाही से जुड़ी हुई हैं। लोक सेवा निदेशक पी. चेटनेट (P. Chatenet) ने फ्रांस की वर्तमान लोक सेवा की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है—

1. राज्य की सर्वोच्चता (Supermacy of the State)—फ्रांस में रोमन साम्राज्य की प्रेरणा से विभिन्न संस्थाओं का नियामकीय सिद्धान्त कानून की सर्वोच्चता है। यहाँ का प्रशासन राज्य की सत्ता पर निर्भर है। राज्य सत्ता द्वारा ही प्रशासन और व्यक्ति के सम्बन्धों तथा प्रशासन की आंतरिक संरचना को निर्धारित किया जाता है। इस व्यवस्था में राज्य और प्रशासन एक स्तर पर ही नहीं रहते। प्रशासन राज्य सत्ता के अधीन रहता है। राज्य तथा

राज्य कर्मचारियों के बीच कोई समझौता नहीं होता। सेवीवर्ग प्रशासन से सम्बन्धित विभिन्न निर्णय राज्य द्वारा एक पक्षीय रूप से लिए जाते हैं। इस असमानतापूर्ण स्थिति पर ही फ्रांस के लोक सेवा प्रशासन की अन्य विशेषताएँ आधारित हैं।

2. केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति (Centralized Spirit)—फ्रांस में स्वेच्छाचारी राजतंत्र ने दैवीय अधिकारों के सिद्धान्त के आधार पर जिस पूर्ण शक्ति का प्रयोग किया था, उसका स्वाभाविक परिणाम लोक सेवा प्रशासन में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति है। यहाँ की सरकारें प्रायः संघात्मक व्यवस्था से भयभीत रहीं, इसलिए यहाँ स्थानीय सरकार का विकास नहीं हो पाया है। 19वीं शताब्दी में ऐसे सामान्य नियमों की रचना की गई जो सम्पूर्ण लोक सेवा पर लागू होते थे। लोक सेवा में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति का उदाहरण यह है कि फ्रांस के उपनिवेशीय लोक सेवक भिन्न परिस्थितियाँ होते हुए भी उन्हीं सामान्य नियमों के अधीन कार्य करते हैं, जो राजधानी प्रदेश में रहने वाले उनके साथियों पर लागू होते हैं अर्थात् फ्रांस के प्रशासन में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति प्रशासन की मुख्य विशेषता है।

3. स्थायित्व (Permanance)—फ्रांसीसी प्रशासन अपने लोक सेवकों के स्थायित्व के लिए हमेशा से प्रसिद्ध रहा है। यहाँ लूट-प्रणाली का प्रचलन कभी नहीं रहा। राजतंत्र में अधिकारीगण स्थायी होते थे। फ्रांस का कोई भी लोक सेवक दल अथवा सरकार से बँधा नहीं होता, वह राज्य का सेवक होता है और अपेक्षाकृत अधिक स्थायी रहता है। यहाँ की दोहरी न्याय-व्यवस्था लोक सेवा के स्थायित्व में सहयोगी बनती है। लोक सेवाओं में स्थायित्व को यहाँ जनमत का समर्थन प्राप्त है। फ्रांस की लोक सेवा का यह स्थायित्व कार्मिक-विकास का परिणाम है। इसका समर्थन करने वाले अनेक कानून बने हैं, जिनके द्वारा लोक सेवकों को कार्यकाल की गारण्टी दी जाती है। यहाँ राज्य को स्थायी बनाने के लिए जो भी प्रयास किए गए हैं, वे सब लोक सेवा में स्थायित्व लाने में सहयोगी बने हैं। इसके फलस्वरूप लोक सेवाओं में एकीकरण की स्थापना हुई है और राज्य की सत्ता का प्रभाव कम हुआ है। गारण्टी की व्यवस्था ने लोक सेवक को राज्य की स्वेच्छाचारी शक्तियों के विरुद्ध सर्वाधिक सुरक्षित नागरिक बना दिया है।

4. प्रत्याभूति का विकास (Development of Guarantees)—फ्रांस की लोक सेवा में हुए परिवर्तन ने लोक सेवकों के अधिकार बढ़ा दिए, लेकिन इसके परिणामस्वरूप आधारभूत सिद्धान्तों में परिवर्तन नहीं हुआ है। लोक सेवकों की सुरक्षा के लिए अनेक नियम बनाए गए हैं जिसने राज्य शक्ति पर सीमाएँ लगाई हैं, लेकिन फिर भी राज्य लोक सेवकों पर अनेक शक्तियाँ और प्रतिबन्ध लगा सकता है। राज्य द्वारा लोक सेवकों के विरुद्ध कार्यवाही करते समय उसे कार्यवाही के विरुद्ध अपील करने एवं अपनी सफाई में कहने का पूरा मौका दिया जाता है। लोक सेवकों के विरुद्ध कार्यवाही करने से पूर्व राज्य व्यावसायिक संघों से विचार-विमर्श करता है। इस प्रकार लोक सेवाओं की प्रत्याभूति के लिए फ्रांस में अनेक व्यवस्थाओं का विकास हुआ है।

5. कर्मचारी संघों का विकास (Development of Employees Union)—प्रारम्भ में फ्रांस में लोक सेवकों को संघ बनाने की स्वतन्त्रता नहीं थी क्योंकि हड़ताल होने का डर था, लेकिन जब सरकार को विश्वास हो गया कि कर्मचारी संघ राजनीतिक क्रान्ति का साधन नहीं बनेंगे और केवल कर्मचारी हितों पर ही ध्यान देंगे तो सन् 1946 में प्रथम बार एक अधिनियम द्वारा कर्मचारियों को संघ बनाने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई। इसके बाद अनेक कर्मचारी संघ बने, लेकिन किसी भी कर्मचारी संघ ने राजनीतिक क्रान्ति में भाग न लेकर केवल कर्मचारियों के हितों के संरक्षण में अहम् भूमिका निभाई है। वर्तमान में फ्रांस में कर्मचारी संघ बहुत प्रभावशाली और शक्तिशाली हैं जो कर्मचारियों के हितों की रक्षा के लिए पूर्णरूप से सम्बद्ध हैं।

6. प्रशासनिक सत्ता एवं स्व-विवेक (Administrative Authorities and Discretion)—फ्रांस में राज्य के कार्य-क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ अब लोक कल्याणकारी अवधारणा को अपनाया जा रहा है, जिससे लोक सेवा के दायित्वों में काफी वृद्धि हुई है। प्रशासनिक दायित्वों के विस्तार से प्रशासनिक सत्ता और स्व-विवेक में वृद्धि हुई है। कार्यपालिका द्वारा जारी डिक्री (Decree) की शक्ति से लोक सेवकों की शक्ति और स्व-विवेक में अत्यधिक वृद्धि हुई है।

7. लोक सेवाओं की महत्त्वपूर्ण स्थिति (The Important Position of Civil Services)—पंचम गणतन्त्र की स्थापना से पूर्व अर्थात् जनरल डिगाल के सतारूढ़ होने से पूर्व फ्रांस में राजनीतिक स्थिरता थी, लेकिन इस काल में लोक सेवाओं की शक्ति और महत्व में उल्लेखनीय वृद्धि हुई जिसका कारण प्रशासनिक स्थिरता थी।

फलत. लोक सेवकों ने स्वय को राज्य के साथ एकाकार किया तथा वे अपने को सम्प्रभु मानने लगे और जनता ने भी उनकी इस स्थिति को समर्थन दिया। वे लोक सेवक न रहकर लोक अधिकारी बन गये। वर्तमान में फ्रांस में राजनीतिक स्थिरता है, लेकिन लोक सेवा प्रशासन को सचालित करने वाली वास्तविक शक्ति है।

8. **लोक सेवाओं की राजनीतिक गतिविधियाँ (The Political Activities of Public Services)**—फ्रास में लोक सेवक सक्रिय रूप से राजनीतिक कार्यों में भाग लेते हैं। इन पर अन्य देशों की भाँति राजनीतिक कार्यों में भाग लेने पर प्रतिबन्ध नहीं है। एक लोक सेवक मत्री भी बन सकता है तथा सक्रिय राजनीति में भाग भी ले सकता है। अगर राजनीति में उसकी रुचि नहीं हुई तो वह पुन: अपनी पुरानी लोक सेवा में आ सकता है। राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने के बावजूद भी लोक सेवक अपने कर्तव्य पालन में राजनीतिक कुभाव से दूर रहते हैं।

9. **नियत्रण की व्यवस्था (The Control System)**—फ्रास की लोक सेवा स्वतन्त्र होते हुए भी नियंत्रण से युक्त है। इन पर आन्तरिक एव बाहरी दोनों प्रकार के नियत्रण लगाए गए हैं। आन्तरिक नियत्रण प्रशासन की आन्तरिक व्यवस्था एव नियमों द्वारा लगाए गये है, जबकि बाहरी नियत्रण व्यवस्था एव कार्यपालिका के माध्यम से किया जाता है। लोक सेवाओं पर आन्तरिक नियत्रण बाहरी नियत्रण की अपेक्षा अधिक सशक्त और प्रभावशाली से रूप से विद्यमान है।

10. **अन्य विशेषताएँ (Other Characteristics)**—फ्रांस की लोक सेवाओं की उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ भी हैं जो निम्नलिखित प्रकार से हैं—

(i) फ्रास में लोक सेवकों को फक्शनरी कहा जाता है।

(ii) लोक सेवक दो समूहों में विभाजित किये गये हैं—प्रथम, प्रशासनिक कार्यालयों में कार्यरत लोक सेवक, द्वितीय, राष्ट्रीयकृत उद्योगों में कार्यरत लोक सेवक।

(iii) फ्रास में सरकार के कार्यों में वृद्धि के साथ ही लोक सेवकों की सख्या में भारी वृद्धि हुई है, लेकिन यह वृद्धि प्रशासनिक कार्यालयों की अपेक्षा राष्ट्रीयकृत उद्योगों में अधिक है।

(iv) फ्रास में लोक सेवाओं में भर्ती का प्रमुख आधार योग्यता है।

(v) फ्रांस में लोक सेवाओं को अन्य देशों की तुलना में अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है।

(vi) फ्रांस में लोक सेवा एक सार्थक व्यवसाय है। एक बार सरकारी सेवा में प्रवेश के बाद लोक सेवक सेवानिवृत्ति तक अपने पद पर प्राय: बना रहता है।

(vii) फ्रास में लोक सेवकों को अपना स्तर बनाये रखने के लिए अच्छा वेतन, परिवार-भत्ता, सामाजिक सुरक्षा और सेवानिवृत्ति लाभ प्रदान किये जाते हैं।

भारतीय लोक सेवाओं की विशेषताएँ
(Features of Indian Civil Services)

सामान्यत. भारतीय लोक प्रशासन की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

1. **अतीत का प्रभाव (Effect of Past)**—भारतीय लोक सेवा पर अतीत के ब्रिटिश प्रशासन का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। ब्रिटिश भारतीय नागरिक सेवा में भारतीयों का प्रवेश केवल प्रथम युद्ध के पश्चात् ही हो सका। आज भारत के प्रशासनिक व्यवहार में अनेक बातें इस प्रकार की हैं कि जिनको केवल अतीत को जिन्दा रखने के लिए अपनाया गया है। यह अतीत में पराधीन उपनिवेशी व्यक्तित्व की याद दिलाती है। स्वतन्त्र भारत में आर्थिक विकास, जनतांत्रिक परम्परा, जन सहयोग की अनिवार्यता, सामुदायिक विकास कार्यक्रम एवं पचवर्षीय योजनाओं की कार्यान्विति आदि की पृष्ठभूमि में ब्रिटिश राज्य की सेवावर्गीय परम्पराएँ असामयिक बन गई हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् देश के सामाजिक वातावरण में गम्भीर गुणात्मक परिवर्तन आये हैं। परिवर्तित वातावरण में यह अपेक्षा की जाती है कि सरकारी अधिकारियों में लोकप्रिय नेता जैसे गुण भी विद्यमान होने चाहिए। आज के प्रशासनिक अधिकारी के लिए आवश्यक है कि अपने आपको जनता से पृथक् न समझे वरन् जनता के दुखों का अनुभव व्यक्तिगत रूप से करे।

2. नवीन उत्तरदायित्व (New Responsibilities)—26 जनवरी, 1950 को भारत में नया सविधान लागू हुआ तथा देश ने एक स्वतत्र गणराज्य का रूप धारण कर लिया। प्रशासन को एक नया दर्शन प्राप्त हुआ। नवीन वातावरण में भारतीय लोक सेवा के समक्ष निम्नलिखित नये उत्तरदायित्व उत्पन्न हुए—

(i) स्वतन्त्रता के पश्चात् अनेक देशी रियासतें भारत सघ में सम्मिलित हुईं, जिनको देश की सामान्य धारा में सम्मिलित करना था।

(ii) ससदीय प्रजातत्र की स्थापना से प्रशासन के कार्यों तथा दायित्वों का क्षेत्र विस्तृत हो गया।

(iii) द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् लोक सेवा के समक्ष मुद्रा स्फीति, खाद्यान्न अभाव तथा मूल्य वृद्धि आदि विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न हो गयी।

(iv) स्वतन्त्रता के पश्चात् देश में सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन हुआ जिसमें प्रशासनिक अधिकारियों का विशेषत आधुनिक तकनीकी जानकारी होना आवश्यक हो गया।

(v) विभिन्न विभागों एव मत्रालयों में तकनीकी प्रकृति की नीति रचना में प्रशासनिक अधिकारियों से सहयोग की अपेक्षा की जाने लगी।

(vi) प्रशासनिक कार्यकुशलता का आधार जन-सतोष तथा समर्थन माना जाने लगा।

3. मात्रात्मक पहलू (Quantitative Aspect)—स्वतन्त्रता के पश्चात् लोक सेवा के स्वरूप में जो परिवर्तन हुआ था, उस पर जनसख्या की वृद्धि का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। जनसख्या वृद्धि के कारण प्रशासन के दायित्व तथा कर्मचारियों की सख्या में विस्तार हुआ है। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय लोक सेवाओं के विस्तार के लिए निम्नलिखित तथ्य उत्तरदायी हैं—

(i) स्वतन्त्रता के पश्चात् अनेक नये मत्रालयों की स्थापना हुई तथा इन मत्रालयों ने अधिक कर्मचारियों की नियुक्ति की।

(ii) लोक सेवकों के कार्यों के उचित मापदण्ड निर्धारित नही होने के कारण उनकी सख्या में अनियन्त्रित रूप में वृद्धि हो रही है।

(iii) बेरोजगारी की व्यापक समस्या के कारण अधिकाश नागरिकों का प्रयास लोक सेवाओं में प्रवेश पाने का रहता है।

(iv) राष्ट्रीय आवश्यक्ताओं को देखते हुए निजी औद्योगिक क्षेत्रों का समुचित विकास हो सका है।

(v) लोक सेवा में कार्यकाल की सुरक्षा प्राप्त होने के कारण आजीवन व्यवसाय के रूप में इसे अपनाने का प्रयास किया जाता है।

(vi) कर्मचारियों की वृद्धि का यह भी एक महत्वपूर्ण कारण रहा है कि लोक सेवकों को जनता में एक विशेष सम्मान प्राप्त होता है।

4. सवैधानिक उपबन्ध (Constitutional Provisions)—सविधान के अनुच्छेद 312(i) के अनुसार राज्य सभा को यह अधिकार दिया गया है कि वह उपस्थिति और मतदान करने वाले दो तिहाई सदस्यों की सहमति से नई अखिल भारतीय सेवा की स्थापना के लिए ससद में कानून पारित करने का आग्रह करे। इस व्यवस्था के अनुसार ससद ने दो अखिल भारतीय सेवाओं की व्यवस्था की—भारतीय वन सेवा, भारतीय आर्थिक साख्यिकी सेवा।

5. कार्यकाल की सुरक्षा (Safety of Service Tenure)—सविधान के अनुच्छेद 309 द्वारा राज्यों की व्यवस्थापिकाओं को अनेक क्षेत्र में लोक सेवाओं की नियुक्ति तथा सेवा शर्तों के नियमन का अधिकार प्राप्त है। अनुच्छेद 310 राष्ट्रपति तथा राज्यपालों को लोक सेवा के कर्मचारियों को पद-विमुक्त करने का अधिकार प्रदान करता है, किन्तु सविधान में लोक सेवकों की सेवा सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद 311 में यह उपबन्ध है कि लोक सेवा के किसी भी सदस्य को उसे नियुक्त करने वाले अधिकारी के अधीनस्थ द्वारा हटाया नही जा सकता। इसके अतिरिक्त कर्मचारी को पद विमुक्त अथवा पदावनत करने से पहले अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान किया जायेगा। आलोचकों ने लोक सेवकों की इतनी सुरक्षा को अनुशासन के हितों के विरुद्ध बताया अत सविधान को प्रभावशाली बनाया गया है।

6. रोजगार के समान अवसर (Equal Opportunities of Employment)—संविधान द्वारा भारतीय नागरिकों को रोजगार के समान अवसर प्रदान किये गये हैं। संविधान के अनुच्छेद 15 (ii) के अनुसार, "राज्य किसी नागरिक के साथ धर्म, जाति, लिंग, नस्ल, जन्म, स्थान या इनमें से किसी एक के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 16 (i) में यह उपबन्धित किया गया है कि राज्य के अधीन नौकरी और पदों के बारे में सभी नागरिकों को समान अवसर प्राप्त होंगे।" अवसर की समानता के सन्दर्भ में प्रशासनिक सुधार आयोग ने यह सुझाव दिया कि रोजगार के अवसर की समानता परिवारों के मध्य तो स्थापित हो सकती है, किन्तु पति और पत्नी के मध्य समानता को स्थापित न किया जाये क्योंकि यदि पति-पत्नी दोनों को नौकरी के अवसर प्रदान किये जायें तो एक ही परिवार में पदों में दो पद चले जाने की संभावना है। लोक सेवाओं में प्रवेश के लिए अवसर की समानता में विभिन्न उपाय किये गए हैं, किन्तु प्रशासनिक पदों पर योग्यता, कुशलता तथा प्रतिभा को ही प्राथमिकता देने के प्रयास किए गए हैं।

7. सेवी-वर्ग व्यवस्था (Personnel System)—भारतीय लोक सेवा स्वतन्त्रता के पश्चात् अनेक दोषों से ग्रस्त हो गई। यहाँ का सेवी वर्ग सरकार से असन्तुष्ट रहता है तथा जनता कर्मचारी वर्ग से असन्तुष्ट रहती है। अनेक अनुभवात्मक अध्ययनों से ज्ञात हुआ कि प्रशासन और जनता के बीच का सम्बन्ध अविश्वास, विरोध, पृथकता, संघर्ष और अवहेलना पर आधारित है। जनता प्रशासन के कार्यों से सन्तुष्ट नहीं होती तथा प्रशासक समझते हैं कि जनता द्वारा उनके कार्य में अवरोध उत्पन्न किया जाता है।

8. राजनीतिक हस्तक्षेप (Political Interference)—भारतीय लोक सेवा पर राजनीतिक प्रभाव विद्यमान है, जिसके कारण नियुक्तियों एवं पदोन्नति के मामलों में पर्याप्त राजनीतिक हस्तक्षेप और पक्षपात करने से योग्य कर्मचारियों का मनोबल गिरता है तथा संगठन में अनुशासनहीनता एवं लापरवाही उत्पन्न होती है। राजनीतिक हस्तक्षेप के कारण योग्यता के स्थान पर राजनीतिक प्रभाव वाले व्यक्ति लाभान्वित किये जाते हैं। एन. बी. बनर्जी (N. B. Banerjee) के अनुसार, "प्रशासन का राजनीतिक दलों से क्रीड़ा स्थल के रूप में प्रत्यावर्तन तथा निजी स्वार्थों की ओर झुकाव देश के सच्चे हक में नहीं है।"

9. सेवीवर्ग की प्रकृति (Nature of Personnel)—भारतीय लोक सेवा के सदस्य धनी बनने की अभिलाषा में धन के माध्यम से अनुचित कार्य करने को भी तैयार रहते हैं। सेवीवर्ग की प्रकृति इस प्रकार की है कि वह अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए भ्रष्ट तरीके अपनाने में भी संकोच का अनुभव नहीं करती। सेवीवर्ग धन के लालच में केवल धनिक वर्ग के हितों की रक्षा करने का प्रयास करता है तथा सार्वजनिक हितों की उपेक्षा करता है।

10. प्रतिष्ठा (Reputation)—सरकारी सेवाओं की प्रतिष्ठा आम नागरिकों से कहीं अधिक है। सरकारी सेवाओं की प्रतिष्ठा का एक कारण तो उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ही है। सम्राट की सेवा में नौकरी की शान-शौकत तथा अधिकार आदि के कारण भी उन्हें अधिक सम्मान मिलता है। यद्यपि अब समय बदल गया है, आज का जिलाधीश अंग्रेजी शासनकाल का जिलाधीश नहीं रह गया है। अधिकारियों की शक्तियाँ सीमित हो गई हैं। निजी क्षेत्र की अच्छी कम्पनियों में भी सेवाओं की सुरक्षा है। वहाँ भी अवकाश प्राप्त करने पर सेवानिवृत्ति लाभ (Retirement Benefits) मिलते हैं, पर परम्परा अभी भी बनी हुई है।

11. कम आय (Low Income)—सरकारी सेवाओं में स्थायित्व है तथा सेवा की शर्तें भी अच्छी हैं। अतः सरकारी सेवा में कर्मचारीगण स्वेच्छा से भी त्यागपत्र नहीं देते। फलतः भारत में कार्मिकों के आवर्त की दर (Rate of Turn Over) काफी कम रहती है। कुछ ऐसे उदाहरण अवश्य मिल सकते हैं जहाँ कुछ डाक्टरों आदि ने त्यागपत्र देकर निजी सेवा में जाना स्वीकार कर लिया हो, पर साधारणतया लोग एक बार सरकारी सेवा में प्रवेश करने के बाद सरकारी सेवा में ही बने रहते हैं।

12. योग्यता प्रणाली (Merit System)—भारत में सरकारी सेवाओं में प्रवेश शैक्षणिक योग्यता के आधार पर संचालित प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर होता है। इसका प्रारम्भ सन् 1854 ई. में लॉर्ड मैकाले की रिपोर्ट के आधार पर किया गया था। इस पद्धति के आधार पर यह मान्यता है कि जो कोई स्कूल, कॉलेज में पढ़ाये जाने वाले विषयों में दक्षता प्राप्त कर सकता है वह प्रशासन के काम में भी दक्षता प्राप्त कर सकता है। एक ऐसा व्यक्ति जिसका मानसिक विकास सही प्रकार से हुआ हो, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अच्छी तरह काम करेगा।

13. कैरियर सेवा (Career Service) — भारत में सरकारी सेवाओं को लोग कैरियर के रूप में ग्रहण करते हैं। जो कोई भी सरकारी सेवा में प्रवेश करता है वह साधारणतया सेवाकालीन आयु (Serviceable Age) तक सरकारी सेवा में ही रहता है। अंग्रेजी शासनकाल से ही सरकारी सेवा निजी सेवाओं से अच्छी मानी जाती रही है। अब भी वही परम्परा चल रही है। आज भी साधारणतया सरकारी नौकरी में सेवा की शर्तें, निजी सेवाओं में सेवा की शर्तों से अधिक अच्छी हैं। वहाँ छुट्टी तथा अवकाश ग्रहण करने के बाद मिलने वाले लाभ ज्यादा आकर्षक हैं।

14. स्थिति वर्गीकरण (Rank Classification) — भारत में स्थिति वर्गीकरण का प्रथा है। इसके अंतर्गत कर्मचारियों को कुछ थोड़े से वर्गों में विभाजित कर दिया जाता है तथा कार्यों का बँटवारा कर दिया जाता है तथा स्थिति (Rank) के अनुसार जिम्मेदारी सौंप दी जाती है। स्थिति वर्गीकरण में कर्मचारी की अपनी निजी स्थिति होती है। उसका वेतन, वेतनमान तथा पदसोपान में उसकी स्थिति पर निर्भर करता है। स्थिति वर्गीकरण पद्धति की विशेषता यह है कि चाहे कर्मचारी को किसी भी पद पर काम करने के लिए लगाया जाये, उसका निर्धारित वेतन उसको दे दिया जायेगा। कई बार यदि उसे ऊँचे पद पर लगाया जाता है, तो वेतन के अलावा कुछ और भत्ता आदि भी दिया जाता है पर यदि उसे अपने पद से नीचे के पद पर (प्राय ऐसा होता नहीं है) भी लगाया जाता है, तो उसे निर्धारित वेतन तो मिलता ही रहता है।

15. सीमित राजनीतिक अधिकार (Limited Political Rights) — भारत में कर्मचारियों के राजनीतिक अधिकार अत्यन्त ही सीमित हैं। प्रत्येक श्रेणी के कर्मचारी मतदान में इच्छानुसार भाग ले सकते हैं। इसके अलावा सरकार किसी भी राजनैतिक दल या संगठन की सदस्यता या उससे सम्पर्क की आज्ञा नहीं देती। कर्मचारियों से अपेक्षा की जाती है कि वे किसी भी राजनैतिक आन्दोलन अथवा कार्य में किसी भी प्रकार से भाग न लें। कोई भी कर्मचारी चुनाव के प्रत्याशी के लिए प्रचार में भाग नहीं ले सकता और न अन्य किसी भी प्रकार से अपने पद का उपयोग चुनाव सम्बन्धी कार्यों के लिए ही कर सकता है।

विकास प्रशासन एवं प्रशासनिक विकास

(Development Administration and Administrative Development)

द्वितीय महायुद्ध के बाद की परिस्थितियों के परिणामस्वरूप लोक प्रशासन के परम्परागत सिद्धान्तों की अपर्याप्तता को देखते हुए और प्रशासनिक सिद्धान्तों में विद्यमान रिक्तता की पूर्ति करने के ध्येय से लोक प्रशासन के मूर्धन्य विद्वानों ने 'विकास प्रशासन के प्रत्यय' को प्रस्तुत किया जिससे सामाजिक लक्ष्यों की अधिकाधिक प्राप्ति हो सके। 'विकास प्रशासन' को प्रशासन की एक नई दिशा या नई अवधारणा कहा जा सकता है, जिसका जन्म एवं विकास कई तत्वों के संयुक्त प्रभाव का परिणाम था, यथा—प्रजातान्त्रिक राजनीति, आर्थिक विकास का दबाव, वयस्क मताधिकार, सार्वभौम शिक्षा, कल्याणकारी कार्यक्रम और देहाती विकास से सम्बन्धित अनेक योजनाएँ। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद हुए विभिन्न क्रान्तिकारी परिवर्तनों और विकासों ने नियामकीय प्रशासन को अनुपयोगी बना दिया। इन नए विकासों में उल्लेखनीय हैं—समाज का आधुनिकीकरण, वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति का प्रभाव, प्रशासन की जटिल प्रकृति एवं राजनीतिक संगठन, शहरी एवं नगरीय क्षेत्रों में जन-संस्थाओं की स्थापना, समस्याओं के तुरन्त समाधान के प्रति जागरुकता इत्यादि।

विकास प्रशासन के अर्थ की स्पष्टता के मार्ग में मुख्य कठिनाई यह है कि विकास का अर्थ स्पष्ट एवं सर्व-सम्मत नहीं है। शाब्दिक एवं प्रचलित अर्थ की दृष्टि से विकास समाज के गतिशील परिवर्तन और एक व्यवस्था से दूसरी श्रेष्ठतर अवस्था की ओर प्रगति का नाम है। वाइडनर के मतानुसार, "विकास एक मनःस्थिति, प्रकृति एवं दिशा है जो किसी निश्चित उद्देश्य की अपेक्षा विशेष दिशा में सुपरिवर्तन की गति से सम्बन्ध रखती है।" इस विषय के प्रसिद्ध विद्वान प्रो. रिग्स के मतानुसार, "विकास एक व्यवस्था की उस क्षमता में वृद्धि है जिसके अनुसार वह अपने भौतिक, मानवीय तथा सांस्कृतिक पर्यावरण को अपनी इच्छानुसार स्वरूप दे सके।" विकास प्रशासन की विशुद्ध व्याख्या करते हुए रिग्स ने यह स्पष्ट किया है कि अधिक उत्पादन मात्र ही विकास का मापदण्ड नहीं है क्योंकि भौतिक विकास तो अनुकूल जलवायु, नवीन औद्योगिक ज्ञान एवं विदेशी सहायता आदि के फलस्वरूप हो सकता है किन्तु यह आवश्यक रूप से किसी व्यवस्था की स्वयं की क्षमता में वृद्धि का आधार नहीं है। विकास प्रशासन शब्द का प्रयोग प्रायः दो अर्थों में किया जाता है। प्रथम, विकास प्रशासन का अर्थ विकास कार्यक्रमों के प्रशासन और विकास सम्बन्धी उद्देश्यों के लिए सरकार जैसे बड़े संगठनों द्वारा बनाई गई नीतियों को कार्यान्वित करने के तरीकों से है। द्वितीय अर्थ प्रशासनिक क्षमताओं में वृद्धि का द्योतक है। विकास प्रशासन की ये दोनों अभिव्यक्तियाँ परस्पर सम्बन्धित हैं।

विकास प्रशासन का अध्ययन करते समय अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु सरकारी तन्त्र की क्षमता होता है। किसी भी प्रशासनिक व्यवस्था की क्षमता बढ़ने और विकास के लक्ष्यों को कुशलतापूर्वक प्राप्त करने के लिए नियोजित प्रक्रिया अपनाई जाती है। इसलिए विकास प्रशासन नियोजित परिवर्तन का प्रशासन भी माना जाता है। तथ्यों की दृष्टि से विकास प्रशासन योजना (Planning), नीति (Policy), कार्यक्रम (Programme) तथा परियोजना (Project) से सम्बन्ध रखता है। अवधारणात्मक रूप से विकास प्रशासन का अर्थ न केवल जनता के लिए शासन है वरन् यह जनता के साथ कार्य करने वाला प्रशासन है। इसमें प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण और सहभागिता द्वारा प्रशासन पर जोर दिया जाता है। विकास प्रशासन में संगठन के मानवीय पहलू पर विशेष बल दिया जाता है। इसमें व्यापक जनसम्पर्कों की स्थापना होती है तथा जनता और प्रशासन के बीच घनिष्ठ एकरूपता की स्थापना पर प्रश्रय दिया जाता है। इस प्रकार योजना, नीति, कार्यक्रम, परियोजना, प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण, जन सहभागिता विकास प्रशासन के मुख्य तत्त्व हैं।

तुलनात्मक प्रशासनिक दल (Comparative Administration Group) की स्थापना अमेरिकी लोक प्रशासन संस्थान की एक समिति के रूप में 1963 में की गई थी। फोर्ड फाउन्डेशन (जो विकासमान राष्ट्रों की बहु-आयामी समस्याओं में काफी रुचि रखता है) ने आरम्भ में इस संस्थान के संचालन के लिए तीन वर्ष के लिए आर्थिक सहायता दी थी। फोर्ड फाउन्डेशन ने तुलनात्मक प्रशासनिक दल को दूसरा अनुदान पाँच वर्ष के लिए

1966 में दिया। 1977 में इस अनुदान को आगे नहीं बढ़ाया गया, तथापि वर्तमान में यह दल अन्य स्रोतों से प्राप्त सहायता के आधार पर कार्यरत है। रिग्स प्रारम्भ से लेकर 1970 तक तुलनात्मक प्रशासनिक दल के अध्यक्ष रहे और तत्पश्चात् रिचर्ड गैबिमल इसके अध्यक्ष बने। इस दल ने विकास प्रशासन के क्षेत्रों में अनुसंधान, शिक्षण तथा अधिक प्रभावी लोकनीति के निर्माण के प्रोत्साहन के लिए विभिन्न कार्यक्रम तैयार किए। इस दल ने विकासशील देशों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक पर्यावरण के सन्दर्भ में प्रशासनिक समस्याओं के अध्ययन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। यह दल अपने कार्यक्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय है और इसके सदस्य विभिन्न विकासमान तथा नव-स्वतन्त्र देशों में विकास प्रशासन की समस्याओं पर विचार-विमर्श करते हैं एवं उन्हें परामर्श देते हैं।

निमरोद राफली ने तुलनात्मक लोक प्रशासन के साहित्य में दो मुख्य प्रेरक चिन्तन लक्षित किए हैं— 1. सिद्धान्त-निर्माण, और 2. विकास प्रशासन। ये दोनों विचार परस्पर संयुक्त हैं। तुलनात्मक लोक प्रशासन में सिद्धान्त निर्माण का अधिकांश कार्य 'विकास' से सम्बद्ध रहता है जबकि विकास प्रशासन का अध्ययन सिद्धान्त निर्माण से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार सिद्धान्त का विकास और विकास का सिद्धान्त साथ-साथ आगे बढ़े हैं। यह परस्पराश्रितता समझ में आने योग्य है, क्योंकि तुलनात्मक लोक प्रशासन का क्षेत्र प्रधान रूप से विकास की विभिन्न स्थितियों में कार्यरत राष्ट्रों की प्रशासनिक प्रणालियों की तुलना से सम्बन्धित है। यह स्वीकार किया जा चुका है कि इसके केन्द्रीय चिन्तन का विषय होने से विकास प्रशासन का अध्ययन तुलनात्मक लोक प्रशासन में विद्यमान प्रायः सभी अभिगमों का मिलन बिन्दु हो सकता है। ऐसा इसलिए भी संभव है क्योंकि विकास प्रशासन के विचार को विस्तृत दृष्टिकोण से देखा जाता है तथा इसे केवल 'विकासमान' देशों पर केन्द्रित कर सीमित नहीं रखा जा सकता। यह उल्लेखनीय है कि विकास प्रशासन तुलनात्मक लोक प्रशासन की कतिपय शाखाओं तथा कथित 'नवीन' (अमेरिकी) लोक प्रशासन का मिलन-बिन्दु भी हो सकता है।

परम्परागत प्रशासन और विकास प्रशासन
(Traditional Administration and Development Administration)

परम्परागत और विकास प्रशासन की विशेषताओं का विश्लेषण करने पर इनमें निम्नांकित अन्तर हैं—

1. परम्परागत प्रशासन मुख्य रूप से कानून और व्यवस्था से सम्बन्धित था। उस काल में लोक कल्याण का दायित्व गैर-सरकारी रूप से व्यक्ति, परिवार एवं समाज ही पूरा करता था। उल्लेखनीय है कि कानून एवं व्यवस्था किसी भी अर्थ में लोक-कल्याण के विरुद्ध नहीं है। इसके विपरीत राज्य में कानून और व्यवस्था की स्थापना जनता के विकास एवं कल्याण के लिए परम आवश्यक है। समाज में व्यवस्था और सुरक्षा न होने पर विकास नहीं हो सकता।

2. परम्परागत प्रशासन में विकास की चिन्ता तो की जाती थी, किन्तु उसका दृष्टिकोण नकारात्मक था तथा वह मुख्य रूप से प्रतिरोधों को हटाने में रुचि लेता था। उस समाज में उपद्रवों को दबा देना और व्यवस्था को लागू करना मात्र ही एक अधिकारी के लिए पर्याप्त माना जाता था। उससे यह आशा नहीं की जाती थी कि वह लोक-कल्याण में विशेष रुचि लेगा। अनेक व्यक्तिगत अध्ययनों में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि भारत में अंग्रेजी राज के समय जिलाधीश द्वारा लोक-कल्याण में विशेष रुचि नहीं ली जाती थी, किन्तु अपवादस्वरूप कुछ लोगों की इसमें रुचि रहती थी। इससे भिन्न विकास प्रशासन समाज के कल्याण को प्रोत्साहन देने के लिए अत्यधिक रुचि लेता है और तकनीकी ज्ञान, वित्तीय सहयोग एवं प्रशासनिक संगठन के रूप में प्रायः इसे अभिव्यक्त करता है।

3. परम्परागत प्रशासन के समय आम जनता प्रार्थना-पत्रों के माध्यम से प्रशासन के साथ सम्पर्क स्थापित करती थी। प्रशासनिक दृष्टि से जन-साधारण को अपील अथवा याचिका के अतिरिक्त कोई अधिकार नहीं था। यह निर्वैयक्तिक सरकार न तो जनता को प्यार करती थी और न स्वयं जनता के प्यार की आकांक्षा करती थी। विकास प्रशासन इस तथ्य के प्रति सजग है कि इसका अस्तित्व एवं औचित्य समाज के कल्याण तथा सेवा के लिए है। इसमें जन-प्रतिनिधियों को प्रशासनिक निर्णय, प्रक्रिया एवं कार्यान्वित में विशेष स्थान दिया गया है। यह प्रशासन इस बात पर भी जोर देता है कि अन्तिम सत्ता जनता के हाथों में रहेगी। जनता ही यह निर्णय लेती है कि नए विचारों को कब तक के लिए स्वीकार किया जाएगा।

4. परम्परागत प्रशासन कार्य-कुशलता के लिए संचालित किया जाता था। निर्णयों में शीघ्रता, आदेशों में स्पष्टता एवं कार्यान्विति में मितव्ययता इस प्रशासन का सबसे बड़ा ध्येय था जो सभी प्रकार के प्रभावों से इसकी रक्षा करता था।

5. विकास प्रशासन परम्परागत प्रशासन जैसी कार्य-कुशलता की आकांक्षा करता है और सभी साधन स्रोतों के विकास का लक्ष्य रखता है, किन्तु इसका मुख्य केन्द्र व्यक्ति है। व्यक्ति का विकास स्वतन्त्र परिवेश में होता है। जहाँ उद्देश्य और साधन चुनने तथा गलतियाँ करने की उसे स्वतन्त्रता होती है। इन सबका अर्थ यह है कि विकास प्रशासन परम्परागत कार्य-कुशलता के लिए अपने विकास हेतु अधिक राजनीति चाहता है। एपलबी ने 'कल्याणकारी राज्य में प्रशासन' नामक अपनी रचना में लिखा है कि राजनीति द्वारा ही प्रजातान्त्रिक स्वरूप को अन्य स्वरूप से भिन्न किया जाता है। सरकार का कल्याण राजनीतिज्ञों को प्रशासनिक परिधियों से बाहर रखने से नहीं होता वरन् उच्च राजनीति द्वारा निम्न राजनीति का स्थान ग्रहण करने से होता है।

6. परम्परागत प्रशासन में पदसोपान की इकहरी शृंखला होती है। इससे पहले प्रत्येक कार्यकर्ता अपने एक उच्चतर से आदेश ग्रहण करता है तथा अपने अधीनस्थों को स्वयं आदेश देता है। इस प्रकार विकास एक बहुआयामी गतिविधि है जिसमें विभिन्न विभागों में रहने वाले अनेक विशेषज्ञों के ज्ञान, परामर्श एवं सेवा की आवश्यकता है। पी. आर. दुबाशी ने लिखा है कि मूल रूप से इसके परिणामस्वरूप एक श्रेणी संगठन श्रेणी स्तरक अनिकरण में परिवर्तित हो जाता है। विकास प्रशासन में कोई भी कार्यकर्ता स्वयं में स्वामी नहीं होता है। वह साम्राज्य निर्माता बनने का दुस्साहस नहीं कर सकता। एपलबी के मतानुसार, उसे एक टीम-वर्कर होना चाहिए। उसे समस्त सरकारी संगठन से हटकर स्वाभिव्यक्ति देनी चाहिए। यही कारण है कि एक विकास अधिकारी से टीम का नेता होने की आकांक्षा की जाती है किन्तु नियामकीय प्रशासन के कार्यकर्ता एक तहसीलदार से यह आशा नहीं की जाती।

7. परम्परागत प्रशासन में समस्त सत्ता उच्चाधिकारियों में निहित रहती है। जितने उच्च स्तर का अधिकारी होगा वह उतना ही अधिक अपने अधीनस्थों का नियन्त्रण रखेगा। विकास प्रशासन में स्थानीय परिस्थितियों का महत्त्व तथा विशेषज्ञतापूर्ण ज्ञान की आवश्यकता होती है। प्रत्येक कार्यकर्ता चाहे उसका पद-सोपान में कितना ही सम्मान क्यों न हो वह अपने क्षेत्राधिकार के सभी क्षेत्रों की सभी परिस्थितियों को जानने का दावा नहीं कर सकता। इसलिए विकास प्रशासन में निरन्तर स्तरों के लिए सत्ता के अधिक हस्तान्तरण की आवश्यकता होती है। इसे मेरी पार्कर फोलेट ने परिस्थिति की सत्ता (Authority of the Situation) कहा है। इसके फलस्वरूप विकास प्रशासन में पदसोपानात्मक अन्तर की बाधाएँ तोड़ दी जाती हैं और इस प्रकार का आन्तरिक प्रजातन्त्रीकरण आवश्यक बन जाता है। विकास कार्यक्रमों में आदेशों की अपेक्षा सुझाव अधिक महत्त्व रखते हैं।

8. परम्परागत प्रशासन में नियमों, विनियमों एवं आदेशों का पर्याप्त अनुशीलन किया जाता था। इसमें पहल को वांछनीय माना जाता था किन्तु मूलभूत नहीं। इससे भिन्न विकास प्रशासन में कार्य के प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण आवश्यक है। कोई भी विकास योजना एक जैसे आदेशों के अधीन, सभी क्षेत्रों में, एक ही प्रकार से लागू नहीं की जा सकती है। प्रत्येक विकास कार्यकर्ता स्वयं की पहल द्वारा विशेष परिस्थितियों में विभिन्न कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने का स्वयं निर्णय लेता है, यहाँ तक की एक ग्राम सेवक को भी अपने कार्यों के लिए तहसीलदार की अपेक्षा स्वयं की पहल की अधिक आवश्यकता है।

9. परम्परागत प्रशासन कानून और व्यवस्था से सम्बन्धित होने के कारण बहुत कुछ स्थैतिक प्रकृति का था। प्रशासकों की पीढ़ियों के लिए एक जैसी आचार संहिताएँ, नियम और व्यवस्थाएँ पर्याप्त थे। विकासवादी प्रशासन इससे भिन्न विज्ञान और तकनीकी से सम्बन्धित होने के कारण गतिशील है। वह अपने कार्यकर्ताओं में भी गतिशीलता की आकांक्षा करता है। इन्हें प्रगतिशील विज्ञान और तकनीकी में रुचि रखनी होती है। ये भौतिक और सामाजिक विज्ञानों के बढ़ते हुए क्षितिजों से सम्बन्ध रखते हैं। इन्हें अपनी उपलब्धियों मानव-सेवा के लिए लगानी होती हैं। विकास प्रशासन के कार्यकर्ता परिवर्तन के एजेण्ट या अभिकर्त्ता हैं तथा उन्हें परिवर्तनजन्य होना चाहिए। उन्हें कानून और व्यवस्था का सम्मान करते हुए अपनी रुचि इस बात में लगानी चाहिए कि एक सुरक्षित छोटे कुएँ के पानी से लेकर बहुउद्देश्यीय नदी परियोजना के जल का उपयोग कैसे किया जाय।

परम्परागत और विकास प्रशासन की उपर्युक्त विशेषताओं में अन्तरों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों के कार्यकर्ताओं के दर्शन, संरचना और दृष्टिकोण में पर्याप्त भिन्नताएँ विद्यमान हैं। जहाँ परम्परागत प्रशासन की प्रतिमूर्ति शुष्क, एकाकी, नैत्यिक प्रकृति की और रुचिविहीन थी वहाँ विकास प्रशासन की प्रतिमूर्ति एक सक्रिय संगठन की है जो जन-सेवा में संलग्न है तथा जो क्षेत्रीय विकास एवं जन-शक्ति के लिए कार्य करता है। इसी प्रकार विकास कार्यकर्ताओं की प्रतिमूर्ति भी परम्परागत प्रशासकों से भिन्न है। उसे अव्यक्तिगत एवं आत्मसन्तुष्ट दास नहीं समझा जाता वरन् एक ऐसा गतिशील कार्यकर्त्ता माना जाता है जो उत्साह और पहल से ओत-प्रोत है और जो हमेशा जन-सेवा के लिए अच्छे साधनों की खोज में लगा रहता है।

प्रशासनिक विकास की अवधारणा और विकास प्रशासन एवं प्रशासनिक विकास में सम्बन्ध

(Concept of Administrative Development and Relationship between Development Administration and Administrative Development)

प्रशासनिक विकास का अभिप्राय है—प्रशासन को उत्तरोत्तर सुचारू और क्रियाशील बनाना, प्रशासनिक दक्षता और क्षमताओं को उत्तरोत्तर विकसित करना। प्रशासनिक विकास के विचार में यह भाव अन्तर्निहित है कि प्रशासन के परम्परागत रूप में जो कमियाँ हों अथवा शिथिलता हो उसे दूर करके प्रशासन को नवीन परिवर्तित तथा विकासशील परिस्थितियों के अनुरूप बनाना। प्रशासनिक विकास की आवश्यकता विकसित राष्ट्रों और विकासमान

राष्ट्रों दोनों के लिए महत्वपूर्ण है, तथापि विकासमान देश के लिए यह मूलभूत आवश्यकता है। विकासशील समाजों की नवीन समस्याएँ यह माँग करती हैं कि प्रशासन का आधुनिकीकरण और नवीनीकरण किया जाए।

विकास प्रशासन और प्रशासनिक विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि हम इसके पारस्परिक सम्बन्ध पर दृष्टिपात करें तो प्रशासनिक विकास की अवधारणा स्वत स्पष्ट हो जाती है। 'विकास प्रशासन' शब्द दो परस्पर सम्बद्ध अर्थों में प्रयुक्त होता है—प्रथम, यह विकास कार्यक्रमों के प्रशासन तथा बड़े पैमाने के संगठनों विशेषतया सरकारी संगठनों द्वारा प्रयोग की गई रीतियों एवं उनके वैकासिक लक्ष्यों को पूरा करने के लिए रचित नीतियों और योजनाओं के कार्यान्वयन का उल्लेख करता है, द्वितीय, इसमें प्रशासनिक क्षमताओं को सुदृढ़ करने का भाव सम्मिलित रहता है। ये दोनों पक्ष, अर्थात् विकास का प्रशासन और प्रशासन का विकास, विकास प्रशासन की अधिकांश परिभाषाओं में संयुक्त हैं।

एडवर्ड वाइडनर के विचारानुसार विकास प्रशासन प्रगतिशील राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यों की उपलब्धि की ओर संगठन के मार्ग-दर्शन की प्रक्रिया का रूप लेता है। ये विभिन्न लक्ष्य अधिकृत रूप से निश्चित किए गए होते हैं। इसी प्रकार के विचार से होसे अबयुवा, इनायतुल्ला, बी एस खन्ना और हान बीन ली ने भी व्यक्त किए हैं। विकास प्रशासन की इन अधिकांश परिभाषाओं का मुख्य बल एक 'कार्योन्मुख' (Action-oriented) एवं 'लक्ष्योन्मुख' (Goal-oriented) प्रशासनिक प्रणाली पर रहा है। विकास प्रशासन के विद्यार्थियों ने स्वीकार किया है कि विकास का प्रशासन और प्रशासन का विकास कार्यात्मक रूप से एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। रिग्स के अनुसार विकास प्रशासन के इन दोनों पक्षों की परस्पर सम्बद्धता में कारण-कार्य के समान भाव विद्यमान हैं। सामान्य रूप से प्रशासन में महत्वपूर्ण परिवर्तन पर्यावरण में परिवर्तन के बिना नहीं लाए जा सकते हैं और पर्यावरण स्वयं तब तक परिवर्तित नहीं हो सकता जब तक कि विकास कार्यक्रमों के प्रशासन को सुदृढ़ नहीं किया जाता। इस प्रकार विकास के अध्ययन में सरकार की क्षमता एक महत्वपूर्ण परिवर्तित चर (Variable) है। सामान्य रूप से, विकास प्रशासन पर किए जाने वाले अनुसन्धान में प्रशासनिक प्रणाली और उसमें होने वाले परिवर्तनों को स्वतन्त्र परिवृत्यों के रूप में विचारित किया जाता है जबकि विकास के लक्ष्यों को आश्रित परिवृत्यों के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार के विचार प्रो रिग्स एडवर्ड वाइडनर, जोजेफ लापालोम्बारा और मार्टिन लैण्डाउ के हैं तथा ये तुलनात्मक राजनीति के उन कतिपय विचारकों की स्थापनाओं से समानता रखते हैं जिन्होंने राजनीतिक विकास के अध्ययन में राजनीतिक प्रणालियों की स्वतन्त्र अथवा हस्तक्षेपकारी परिवृत्यों के रूप में व्याख्या की है। राजनीतिक विकास के इस प्रकार के सिद्धान्तकारों में सैम्यूअल हंटिंगटन, कार्ल डायश, सैम्यूअल आइसनस्टाइड, राबर्ट होल्ट एवं जान टर्नर प्रमुख हैं।

विकास सम्बन्धी लक्ष्यों की प्रभावी ढंग से प्राप्ति के लिए प्रशासनिक क्षमता में वृद्धि आवश्यक है और प्रशासनिक क्षमता में यह वृद्धि योजनाबद्ध विकास के विचार से जुड़ी हुई है। विकास को हम नियोजन, नीति-कार्यक्रमों, विभिन्न प्रायोजनाओं के सूत्रपात और उनके कार्यान्वयन से अलग करके नहीं देख सकते। दिशात्मक परिवर्तन विकास प्रशासन का केन्द्रीय विषय है। बी ए पाई पनन्दीकर ने विकास प्रशासन को 'योजनाबद्ध परिवर्तन के प्रशासन' के रूप में देखा है। तथापि, यह आवश्यक नहीं है कि समस्त विकास प्रशासन नियोजित हो अथवा सभी आयोजन वैकासिक हों। यह पर्याप्त सम्भव है कि योजनाबद्ध दिशात्मक वृद्धि और 'तंत्र परिवर्तन' साथ-साथ चलें और न भी चलें।

विकास प्रशासन के वैचारिकीकरण में किसी लक्ष्योन्मुख प्रतिमान के निर्माण से सम्बद्ध समस्याएँ भी सम्मिलित हैं। सैम्युअल काट्ज का कहना है कि विकास कार्य के लक्ष्यों को परिभाषित करना कठिन है। उदाहरणार्थ यह हो सकता है कि निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त नहीं किया जा रहा हो अथवा भविष्य में उनके प्राप्त होने की सम्भावना भी न हो, अथवा प्राय यह हो सकता है कि ये लक्ष्य केवल प्रत्याशित लक्ष्य ही हों जो किन्हीं अन्य स्थितियों के अध्ययन पर आधारित हों। उदाहरणार्थ जब एक विकासशील राष्ट्र विकसित राष्ट्रों की नकल का प्रयास करता है। लक्ष्यों की पहचान करना कभी भी सरल नहीं होता और जटिल वैकासिक परिवर्तन की स्थितियों में तो यह और भी अधिक कठिन हो सकता है। औपचारिक अथवा अनौपचारिक, व्यक्त अथवा अव्यक्त, अभिप्रेत अथवा अनभिप्रेत, नियोजित अथवा अनियोजित—ये कुछ आयाम हैं जिनको लक्ष्य-प्रतिमानों के विश्लेषण करते समय ध्यान में रखना आवश्यक है। तुलनात्मक लोक प्रशासन में इन समस्याओं पर अधिक अनुसंधान नहीं हुआ है। परिणामस्वरूप, लक्ष्योन्मुखता के महत्वपूर्ण पक्षों पर स्पष्टता का अभाव 'विकास' प्रशासन की यथार्थ प्रकृति के सम्बन्ध में कभी-कभी भ्रम का कारण बन जाता है। अत विकास प्रशासन की अवधारणा प्रशासन को अधिक उत्तरदायी बनाकर लोक-कल्याणकारी गतिविधियों के अधिकतम निर्वाह करने की अपेक्षा करती है।

लोक नीति

(Public Policy)

सामान्य अर्थ में नीति का अभिप्राय विशिष्ट उद्देश्यों अथवा लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए किसी व्यक्ति, संस्था, समूह, संगठन अथवा सरकार की प्रस्तावित क्रियाविधि है। प्रत्येक प्रकार के संगठन में चाहे वह सरकारी हो या गैर-सरकारी, प्रत्येक क्रिया से पूर्व नीति निर्धारण आवश्यक होता है। सभी प्रकार के प्रबंधन के लिए यह पूर्वपेक्षा है। नीति ही एक ऐसे ढाँचे का निर्धारण करती है जिसके भीतर संगठनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। किसी संगठन के उद्देश्य प्रायः अस्पष्ट और सामान्य होते है जिन्हें नीति लक्ष्यों के रूप में सुनिश्चित किया जाता है *क्योंकि ये प्रशासन में गतिशीलता उत्पन्न करते हैं। नीति निर्धारण सरकार का एक महत्वपूर्ण कार्य है।* डीन पाल एलपबी ने लिखा है कि "लोक प्रशासन का सार नीति निर्माण है।" मार्शल डिमॉक ने नीति की परिभाषा देते हुए कहा है कि "यह सचेतन रूप से स्वीकृत आचरण की संहिता है जो प्रशासनिक निर्णयों को दिशा निर्देश प्रदान करती है।"

लोक नीतियाँ सरकारी निकायों एवं सरकारी अधिकारियों द्वारा विकसित की जाती है। यद्यपि गैर-सरकारी लोग और अभिकरण की नीति निर्माण प्रक्रिया पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डाल सकती है या उसे प्रभावित कर सकती है। विभिन्न प्रकार से अलग लोक नीति की विशेषताओं का पता इस तथ्य से चलता है कि प्राधिकारी इन्हें राजनीतिक प्रणाली में सूत्रबद्ध करने का काम करते है। डेविड ईस्टन ने बताया है कि प्राधिकारीगण, वृद्धजन, सर्वोच्च प्रधान, कार्यपालक, विधायक, न्यायाधीश, प्रशासक, पार्षद, अधिपति और इसी प्रकार के अन्य लोग होते हैं।

लोकनीति की अवधारणा के संबंध में निम्नलिखित तथ्य महत्वपूर्ण हैं—

1. सैद्धान्तिक व्यवहार की अपेक्षा उद्देश्यपरक या परिणामोन्मुखी कार्यवाही लोकनीति का प्रमाण चिह्न है। आधुनिक राजनैतिक प्रणालियों में लोक नीतियों का निर्माण अकस्मात घटना के रूप में नहीं होता।

2. लोक नीतियों का संबंध लोक प्रशासकों द्वारा किसी प्रश्न पर तदर्थ किए गये पृथक् एवं असतत् निर्णयों से न होकर किसी विशेष प्रश्न पर निश्चित समयावधि के लिए की गई कार्यवाही या निर्णयात्मक प्रतिमान से होता है।

3. वह नीति है जो सरकारें वास्तव में निर्धारित करती हैं और जो कुछ बाद में घटित होता है, बजाय इसके कि सरकारें क्या करना चाहती है या वे क्या करने को कहती हैं?

4. लोक नीति स्वरूप में या तो सकारात्मक हो सकती है या नकारात्मक। सकारात्मक रूप में इससे किसी प्रश्न या समस्या के संबंध में किसी प्रकार की सरकारी कार्यवाही शामिल हो सकी है और नकारात्मक रूप में जहाँ सरकारी मत, अभिवृत्ति या कार्यवाही की अपेक्षा की जाती है वहाँ कोई कार्यवाही न करने वाले सरकारी अधिकारियों का निर्णय शामिल हो सकता है। अतः लोकनीति कम से कम अपने सकारात्मक रूप में नियम पर आधारित होती है तथा यह प्राधिकारिक होती है। इसके पीछे कानूनी स्वीकृति होती है जो समवतः प्रकृति में उत्पीड़क एवं सभी नागरिकों पर बाध्यकारी होती है। लोकनीति और गैर-सरकारी संगठनों की नीतियों में अन्तर का यह एक प्रमुख मुद्दा है।

लोकनीति के अध्ययन की आवश्यकता
(Necessity of Study of Public Policy)

लोक नीति अध्ययन का एक ऐसा उपागम है जिसके अन्तर्गत लोक नीति अध्ययन किया जाता है। विकासशील देशों में लोक नीति के विभिन्न आयाम किस तरह उनकी नीति में उपस्थित हुए तथा उन्हें किस प्रकार कायम रखा आदि प्रश्नों का अध्ययन इसके अन्तर्गत आता है।

लोक नीति के अध्ययन की आवश्यकता इस लिए महसूस की गई इसके द्वारा यह पता लगाना की प्राचीन काल से शासन प्रबन्धकों की पनता एवं अपने राज्य के विकास के प्रति क्या दृष्टिकोण रहा और वर्तमान में क्या है ? इसके अतिरिक्त लोक नीति को एक मॉडल मानकर किस तरह विकास की प्रक्रिया को व्यवस्थित रूप से चलाया जा सकता है, कौन से ऐसे कारक है जो लोक नीति निर्माण में सहयोग देते हैं तथा कौन से ऐसे कारण हैं जो लोक नीति को निष्फल बनाते है।

वर्तमान में लोक नीति के अध्ययन की आवश्यकता के दो प्रमुख उद्देश्य है—वैज्ञानिक एवं राजनीतिक।

लोक नीति निर्माण की प्रक्रियाओं के अध्ययन द्वारा लोक नीति को परस्पर प्रभावित करने वाले सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं की जटिलताओं तथा समाज के लिए उनकी आवश्यकताओं के उपयोगी प्रश्न समझा जा सकता है। यदि लोक नीति का अध्ययन विश्लेषणात्मक सन्दर्भ में किया जा रहा है तो इसके द्वारा लोक नीति के आश्रित और स्वतन्त्र चरों का अध्ययन किया जा सकता है। आश्रित चर के रूप अध्ययन करते समय उन राजनीतिक एवं पर्यावरण सम्बन्धी कारकों पर ध्यान केन्द्रित रहता है जो नीति को विषय-वस्तु का निर्धारण करते हैं उदाहरणार्थ किस प्रकार बाहर एवं सरकारी अभिकरण के बीच नीतियों का वितरण लोक नीति को प्रभावित करते है तथा किस प्रकार राष्ट्रीय आय अथवा शहरीकरण लोक नीति को विषय-वस्तु को निर्माण करते है। लेकिन जब लोकनीति को स्वतन्त्र मद के रूप में अध्ययनित किया जाता है तो हमारा ध्यान राजनीतिक प्रणाली एवं पर्यावरण की ओर केन्द्रित रहता है तब यह प्रश्न उभरता है कि लोक नीति का सामाजिक कल्याण पर क्या प्रभाव पड़ता है ? यह-किस प्रकार भावी नीतियों को प्रभावित करती है।

इसके अतिरिक्त लोक नीति का तथ्य परक ज्ञान आदर्श रूप में सामाजिक समस्याओं का निर्धारण करने एवं उन पर विचार करने के लिए अपेक्षित है। बहुत से राजनीतिक विद्वानों का कहना है कि लोक नीति के अध्ययन को व्यवस्थित एवं सुनिश्चित किया जाना चाहिए जिससे सरकार अपेक्षित सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उपयुक्त नीतियाँ अपनाये। ये लोक नीति की गुणवत्ता में सुधार के भी पक्षधर है बावजूद इसके कि समाज में लोक नीति के अपेक्षित अथवा उपयुक्त लक्ष्य के सम्बन्ध में पर्याप्त असहमति हो सकती है।

नीति निर्धारण के कारक
(Factor of Determination of Policy)

विश्व के प्रत्येक देश में नीति निर्माण चार स्तरों पर किया जाता है—

1. विधानमण्डल द्वारा बनायी गयी सामान्य अथवा राजनीतिक नीति
2. कार्यपालिका द्वारा बनायी गयी प्रशासकीय नीति
3. प्रशासक द्वारा कार्यपालिका की इच्छा को उजागर करने सम्बन्धी नीति
4. तकनीकी नीति, जिसमें प्रशासकीय नीति के बाहर कर्मचारी द्वारा प्रतिदिन नीतियां अपनायी जाती हैं।

किसी भी देश की नीति का निर्धारण करते उस देश के वातावरण में मौजूदा प्राकृतिक संसाधान, जलवायु, जनसंख्या, आकार, आयु, लिंग अनुपात, राजनीतिक संस्कृति, सामाजिक संरचना और आर्थिक पद्धति आदि नीति को प्रभावित करते हैं तथा नीति निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, लेकिन किसी भी देश की लोक नीति को वहां की राजनीतिक संस्कृति और सामाजिक-आर्थिक कारक सबसे अधिक प्रभाव डालते हैं। अत इनका विस्तार से वर्णन किया जा रहा है।

राजनीतिक संस्कृति (Political Culture)

राजनैतिक संस्कृति का ही एक भाग है जिसके अन्तर्गत राजनीतिक तथा प्रशासकीय क्षेत्र में स्थापित मूल्य, विश्वास एवं अभिवृत्तियाँ है जो सरकारी नीतियों और कार्यवाहियों से सम्बन्धित है तथा जो लोक नीति के निर्माण और क्रियान्वयन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। विभिन्न देशों में लोक नीति तथा इसके निर्माण के विभेदों को राजनीतिक संस्कृति के सन्दर्भ में स्पष्ट किया जा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका की अपेक्षा पश्चिमी देशों में सामाजिक कल्याण पर अधिक ध्यान दिया जाता है क्योंकि इन देशों की जनता में जनता की मांग को ध्यान में रखकर सामाजिक कल्याण कार्यक्रम व्यापक रूप से बनाये जाते हैं। कार्ल डायश का मत है कि लोगों के कारण क्रमि विन्यास (भूत, वर्तमान एवं भविष्य) के सापेक्ष महत्व के प्रति उनके दृष्टिकोण में नीति निर्माण के लिए निहितार्थ उपस्थित है। भारत की राजनीतिक संस्कृति अमेरिका की अपेक्षा भविष्य की अपेक्षा भूतकाल से अधिक प्रभावित रही है। अतः भारत की राजनैतिक संस्कृति प्राचीन परम्पराओं, रीति-रिवाजों और सामाजिक प्रयासों का अधिक समर्थन करती है।

एडमण्ड एवं बर्बा ने संकीर्ण अधीनस्थ तथा सहभागी राजनीतिक संस्कृतियों के मध्य भेद किया है। संकीर्ण राजनीतिक संस्कृति में नगारिकों के अपने देश की राजनीतिक प्रणाली तथा राजनीतिक भागेदारी के रूप में अपनी स्थिति की न तो जानकारी रहती है और न ही इस ओर वे प्रयासरत रहते है। इसका उदाहरण वर्तमान जनजातिय समाज तथा इटली की संकीर्ण राजनीतिक संस्कृति है। अधीनस्थ राजनीतिक संस्कृति नागरिक राजनीतिक प्रणाली की ओर अभिमुख होती है, लेकिन फिर भी उसे राजनैतिक संस्कृति में अपनी भागेदारी सम्बन्धी भूमिका की बहुत कम जानकारी रहती है। वह सरकारी प्राधिकार के प्रति जागरुक रहता है। उसके राजनीतिक विचार हो सकते है लेकिन वह भी निष्क्रीय रूप में जैसे—भारत एवं अन्य विकासशील देश। सहभागी राजनैतिक संस्कृति में देश के नागरिकों को राजनीतिक प्रणाली तथा भागेदारी के रूप में अपनी सक्रिय भूमिका का अहसास होता है। वह बढ़-चढ़कर देश की राजनीति में भी भाग लेता है। जैसे—अमेरिका में।

सामाजिक आर्थिक घर (Social-Economic Factor)

किसी भी देश की लोक नीति के निर्धारण एवं स्थापना में उस देश के सामाजिक-आर्थिक मद भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सामाजिक घर के अन्तर्गत समाज की प्रचलित परम्परायें, मूल्य, रुढ़ियाँ, संस्थायें आदि लोक नीति के निर्माण करते समय ध्यान में रखे जाते हैं तथा इनको ध्यान में रखना ही नीतियां बनायी जाती है। इसके अतिरिक्त किसी भी देश की लोक नीति के निर्माण में आर्थिक चरों के अन्तर्गत प्रति व्यक्ति आय, राष्ट्रीय आय, उत्पादन व्यवस्था, प्राकृतिक ससाधन, जीवन स्तर, रोजगार के साधन आदि को ध्यान में रखा जाता है तथा यह प्रयास किया जाता है कि देश का आर्थिक ढाँचा मजबूत हो तथा प्रति व्यक्ति आय बढ़े जिससे प्रत्येक नागरिक का जीवन स्तर सुधरे।

भारत में नीति निर्धारण की प्रक्रिया
(Process of Polity Determination in India)

भारत में लोक नीति निर्धारण में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न सगठन एवं संस्थायें योगदान देती हैं जैसे—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका, विभिन्न राजनैतिक दल एवं दबाव समूह, प्रशासन एवं जनमत नीति निर्धारण का कार्य एवं सरकारी प्रयास के रूप में किया जाता है जिसमें अनेक व्यक्ति एवं संस्थाएं अपनी सक्रियता निभाते हैं। भारतीय सविधान के अनुसार देश की लोक-नीति का निर्धारण सविधान के मौलिक अधिकारों, राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों के अनुरूप होनी चाहिए। फिर भी इनके अनुरूप प्रस्तुत की गई नीति में अनेक विकल्प होते हैं। जिन्हें सरकार अपनी प्राथमिकताओं के अनुसार चुन सकती है तथा छोड़ सकती है।

भारत में लोक नीति के निर्धारण की प्रमुख प्रक्रिया एवं संस्थाएँ निम्नलिखित है—

1. व्यवस्थापिका (Legislature)—भारत में व्यवस्थापिका (संसद) नीति निर्धारण की सर्वोच्च संस्था है। यह सर्वोच्च इसलिए है कि प्रधानमंत्री के नेतृत्व में बनने वाली सरकार सत्ता में बने रहने के लिए लोक सभा के समर्थन पर निर्भर करती है। यह ऐसे नियमों का समर्थन करती है जो लोक नीति को प्रभावी बनाते है। फिर भी वास्तविक रूप में यह सर्वोच्च नहीं है क्योंकि यह संवैधानिक तथ्यों को छोड़कर अल्प नीतियों को निर्धारित नहीं करती। यह तो केवल वाद-विवाद तथा सामान्य प्रथाओं के माध्यम से लोक नीतियों को प्रभावित करती है। अत. वास्तविक रूप में व्यवस्थापिका नीति निर्धारक संस्था न होकर नीति अनुमोदक संस्था है।

2. कार्यपालिका (Executive)—देश की कार्यपालिका (सरकार) का यह संवैधानिक दायित्व होता है कि वह संसद में प्रस्तुत की जाने वाली लोक नीति तय करे। भारतीय कार्यपालिका के अन्तर्गत राष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद् तथा सरकारी तंत्र सम्मिलित होते है। सविधान का धारा 74 के तहत राष्ट्रपति प्रमुख होने के नाते अपने अधिकारों एवं शक्तियों का प्रयोग मंत्रिपरिषद के परामर्श से करता है।

देश में वास्तविक नीति निर्धारक मंत्रिपरिषद् होती है जिसमें प्रधानमंत्री कैबिनेट मंत्री आदि होते है। मंत्री परिषद् की पूर्व बैठक प्राय बहुत कम होती है। अत: नीति निर्धारित का कार्य वरिष्ठ मंत्रियों (कैबिनेट मंत्रियों) द्वारा स्थापित मंत्रिमण्डल द्वारा किया जाता है। मंत्रिमण्डल केवल लोक नीति सम्बन्धी बड़े मामलों पर ही निर्णय लेता है अन्यथा छोटे एवं कम महत्त्व के निर्णय सम्बन्धित विभागों के मंत्रियों द्वारा ही लिए जाते है। मंत्रिमण्डल के कार्यों

को सरल बनाने के लिए मंत्रिमण्डल की स्थाई समितियों का गठन भी किया जाता है। इन समितियों का गठन राष्ट्रीय महत्व के विषयों अथवा विशेष मामलों में शीघ्र निर्णय लेने के लिए किया जाता है।

लोक नीति निर्धारण में मंत्रिमण्डल की सहायता मंत्रिमण्डल सचिव द्वारा की जाती है। सचिव मंत्रिमण्डल की तथा इसकी समितियों की सभी बैठकों में उपस्थित होता है। मंत्रिमण्डल सचिव प्राय मंत्रिमण्डल की बैठकों का प्रारूप तैयार करता है, विवरण प्राप्त करता है, लिये गये निर्णयों को वितरीत करता है तथा यह भी देखता है कि विभागों में कार्यवाही की गई अथवा नहीं। देश में नीति निर्धारण की प्रक्रिया में कैबिनेट सचिव की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

इसके अतिरिक्त कार्यपालिका के नीति निर्धारण सम्बन्धी सहायता लोक सेवकों एवं नौकरशाही द्वारा उपलब्ध करायी जाती है। लोक सेवक ही वास्तव में कार्यपालिका को नीति निर्माण के लिए आवश्यक आँकड़े जानकारी एवं सामग्री उपलब्ध कराते हैं।

3. न्यायपालिका (Judiciary)—भारत में न्यायपालिका देश की लोक नीतियों को संवैधानिक एवं व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। देश में न्यायपालिका के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय राज्य स्तर पर विधायन न्यायिक समीक्षा करने का अधिकार रखते हैं। समीक्षा के तहत ये विधानमण्डलों तथा कार्यपालिका क्रियाओं की संवैधानिकता सुनिश्चित करती है। यदि ये क्रियाओं विवादास्पद हो तो न्यायपालिका इन्हें व्यर्थ एवं शून्य घोषित कर सकती है। ये सरकार को बताती है कि लोक हित में क्या करना चाहिए।

इस प्रकार प्रशासनिक क्रियाकलापों के क्षेत्र में न्यायपालिका की भूमिका राज्य की शक्तियों से नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करती है। वर्तमान में कार्यपालिका की सामाजिक, आर्थिक समस्याओं के निपटाने के कारण इस क्षेत्र में बढ़ रही सरकारी हस्तक्षेप की समस्या की न्यायपालिका अधिक सचेत होकर नीति निर्माण में न्यायिक सक्रियता को बढ़ा रही है।

4. स्थापित संस्थाएँ (Established Institutions)—देश में नीति निर्धारण के क्षेत्र में सरकारी संस्थाओं के अतिरिक्त सरकार ने कुछ विशिष्ट संस्थाएँ भी स्थापित की है। नीति निर्धारण में परामर्शीय भूमिका निभाती हैं। इन स्थापित संस्थाओं में भारतीय रिजर्व बैंक, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, संघ लोक सेवा आयोग, केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, राष्ट्रीय एप्लाइड आर्थिक शोध परिषद्, मेडिकल शोध परिषद्, इण्डियन चैम्बर्स ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज आदि।

लेकिन भारत में नीति निर्माण प्रक्रिया में दो संस्थाएँ अधिक प्रभाव डालती हैं—योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद्। योजना आयोग द्वारा लोक नीति पर विचार-विमर्श किया जाता है तथा राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा राष्ट्रीय लोक नीति के कार्यकरण की समीक्षा करके एवं सामाजिक-आर्थिक नीति के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया जाता है तथा लक्ष्य प्राप्ति हेतु उपायों की सिफारिश की जाती है। लेकिन के. संथानम के अनुसार राष्ट्रीय विकास परिषद देश में सर्वोच्च नीति निर्मात्री संस्था है।

5. गैर-सरकारी संस्थाएँ (Non-Governmental Institutions)—भारत में नीति निर्धारण में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका, अधिकारी तथा इनके अतिरिक्त कुछ गैर-सरकारी संस्थाएँ भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इन गैर-सरकारी संस्थाओं में राजनीतिक दल, दबाव समूह, स्वयंसेवी संस्थाएँ तथा संचार माध्यम है।

लोक प्रशासन में नीति निर्धारण : मूल्याँकन की प्रासंगिकता

(Importance of Policy Determination : Evaluation in Policy Administration)

देश में लोक नीति का विश्लेषण अनिवार्य है क्योंकि इसके द्वारा सरकारी निर्णयों के प्रभाव का मूल्याँकन किया जा सकता है। सरकार द्वारा निर्मित लोक नीति लगभग सभी नागरिकों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है अत देश के नागरिकों को यह अधिकार है कि सरकार द्वारा कुछ विशेष निर्णय लिए गये हैं ? कैसे लिए गए हैं ? और इनके भावी परिणाम क्या होंगे ? इसी प्रकार के प्रश्न अब नीति विश्लेषकों द्वारा उठाये जाने लगे हैं। सरकारी दीर्घकालीन नीतियाँ एवं योजनाएँ समाज के भावी रूप का निर्धारण करती हैं अत इस सम्बन्ध में अब वैज्ञानिक आधार बनाने की आवश्यकता है। समाज की गम्भीर समस्याओं को हल करने के सम्बन्ध

में यहेज्कल ड्रोर ने नीति विज्ञान के विकास की सिफारिश की और कहा है कि "नीति विज्ञान को आंशिक रूप में एक ऐसे विषय के रूप में वर्णित किया जा सकता है जो नीति सम्बन्धी ज्ञान की खोज करता है तथा जो सामान्य नीति विषयों और नीति निर्माण सम्बन्धी ज्ञान का पता लगाता है तथा उन्हें एकीकृत करके एक विशिष्ट विषय का रूप प्रदान करता है।"

नीति नियामक ज्ञान विशिष्ट नीति सम्बन्धी ज्ञान है जबकि नीति निर्माण का ज्ञान समस्त नीति निर्माण गतिविधियों से सम्बद्ध है जो यह बताता है कि नीति किस तरह संचालित होती है तथा इनमें किस तरह सुधार किया जा सकता है। येहेज्कल ड्रोर ने नीति निर्माण विश्लेषण के लिए एक उपागम का समर्थन किया है। इन्होंने लक्ष्यों, मूल्यों, विकल्पों, लागतों तथा सर्वोत्तम नीति निर्धारण की बात कही है। जो उपलब्ध वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी के सर्वाधिक उपभोग पर आधारित हो। इनका कहना है कि नीति निर्धारण एवं विश्लेषण नेतृत्व तथा तीक्ष्ण वास्तविक प्रत्यक्षण भी प्रयोग में लाये जा सकते हैं।

वर्तमान में विश्व में नीति विश्लेषण एक उप विषय के रूप में तेजी से उभर कर आया है जिसका सम्बन्ध निम्नलिखित क्षेत्रों से है—

1. इसमें नीतियों से सम्बन्धित सिफारिशों के बजाए नीतियों के बोध पर ध्यान दिया जा रहा है तथा नीतियों की समझ पर बल दिया गया है न कि प्रत्यक्ष रूप से नई नीतियों के प्रस्ताव पर।
2. इसमें अब लोक नीति सम्बन्धी कारणों और परिणामों को वैज्ञानिक कसौटी पर परखा जायेगा तथा नीति विषयक मामलों पर आकस्मिक सम्पर्क खोजने के प्रयत्न किए जायेंगे।
3. नीति विज्ञान के ज्ञान के सम्बन्धित निष्कर्षों के निर्माण करने की आवश्यकता है अतः व्यापक स्तर पर सामान्यीकरण बनाने के लिए विशिष्ट नीति विषयक अध्ययनों का उपयोग किया जा रहा है।

साराशतः आज लोक प्रशासन के क्षेत्र में नीति निर्धारण एवं मूल्यांकन पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है क्योंकि भावी विश्व परिप्रेक्ष्य एवं बदलती हुई परिस्थितियों के सन्दर्भ में लोक नीति निर्धारण का मूल्यांकन करना अतिआवश्यक हो गया है। लोक प्रशासन के लिए तो यह और भी प्रासंगिक है क्योंकि लोक प्रशासन द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से नीतियाँ बनायी जाती हैं तथा प्रत्यक्ष रूप से क्रियान्वित की जाती है।

———

संन्दर्भ ग्रन्थ
(Suggested Readings)

1. *Albrow, Martin* , Bureaucracy
2. *Almond, Gabriel and Powell, G Bingham* , Comparative Politics : A Developmental Approach
3. *Almond, Gabriel A. & Coleman, James S* (ed) 'The Politics of the Developing Areas
4. *Anderson, James E.* Public Policy Making
5. *Appleby, Paul H* Policy and Administration
6. *Appleby, Paul H* Public Administration for a Welfare State
7. *Argyris Chris* Understanding Organizational Behaviour
8. *Barnard Chester I* The Functions of the Executive
9. *Basu Rumki* Public Administration
10. *Basu Durga Das* Administrative Law
11. *Basu Noorjahan* People s Participation in Development Administration in India
12. *Bendix Reinhard* National Building and Citizenship
13. *Bennis Warren* Beyond Bureaucracy Essays on the Development and Evolution of Human Organization
14. *Bhalerao C N* (ed) Administration, Politics and Development in India
15. *Bhattacharya, Mohit* Bureaucracy and Development Administration
16. *Bhattacharya, Mohit* Public Administration
17. *Brekley, George & John, Rouse* . The Craft of Public Administration
18. *Caiden, Gerald E* Dynamics of Public Administration Guidelines to Current Transformation in Theory and Practice
19. *Caiden, G C* Administrative Reform
20. *Chanda, A K* Indian Administration
21. *Crozier, Michael* The Bureaucratic Phenomenon
22. *Dahl, Robert* Modern Political Analysis
23. *Dimock, Marshall Edward and Dimock, Gladys Ogden* : Public Administration
24. *Dimock, Marshall E.* A Philosophy of Administration Towards Creative Growth
25. *Dimock, Marshall E.* Administrative Vitality ' The Conflict with Bureaucracy
26. *Dimock & Dimock* Public Administration
27. *Dunn, William N and Fitzouni Bahman* : Toward a Critical Administrative Theory
28. *Eldersweld, S J Barnabas A P and Jagannadham* (eds) The Citizen and the Administration in a Developing Democracy An Empirical Study
29. *Elliot M Fox and L Urwick* Dynamic Administration The Collected Papers of Mary Parker Follett
30. *Etzioni Amitai* A Comparative Analysis of Complex Organizations
31. *Frinkled Marini* New Public Administration
32. *Gaus J M* A Theory of Organization in Public Administration
33. *George, D Barkelay* The Craft of Public Administration
34. *Gerald E Caiden and Heinrich Siedentoph* (ed) Strategies for Administrative Reform
35. *Gladden, E N* Approach to Public Administration
36. *Gladden, E N* The Essentials of Public Administration
37. *Gladden, E N* ' History of Public Administration
38. *Golebiewski R T* (ed) Public Administration, Readings in Institutions, Processes, Behaviour
39. *Golebiewski R T* (ed) , Public Administration as a Developing Discipline
40. *Gorwala* Report of the Public Administration of India
41. *Grewald Calden* ' The Dynamics of Public Administration
42. *Gulick, L,* Administrative Reflections from World War II
43. *Gulick, L. and Urwick L.* ' Papers on the Science of Administration
44. *Heady, Ferrel* , Public Administration A Comparative Perspective and Public Affairs
45. *Henry Nicholas* Public Administration and Public Affairs
46. *Hersey Paul & Blanchand, Kenneth* : Managing Organisational Behaviour
47. *Hill Michael J* The Sociology of Public Administration
48. *Holt Robert T & Turner, John E* ' The Political Basis of Economic Development
49. *Horn Murray J* The Political Economy of Public Administration ' Institutional Choice in the Public

50 *Irwick* Elements of Public Administration
51 *Jay D White and Guy B Adams* Research in Public Administration Reflection on Theory and Practice
52 *Jerry & Franklin* Principles of Management
53 *Katz, Elihu and Brenda, Danet* (ed) Bureaucracy and the Public A Reader in official-Client Relations
54 *Kim, C I Eugence and Ziring, Lawrence* An Introduction to Asian Politics
55 ... Democracy and Political Development
56
57
58 *M*...
59 *Maslow*...
60 *Morstein, Marx Fritz* ... Administration ... Introduction to Bureau...
61 *Nicholas Henry* : Public Administr...
62 *Nigro, F A and L S Nigro* Mod... ...ion
63 *Novogrod, R J, Dimock, G O a*... ...book in Public Administration
64 *Panandikar V A Pai and Kshirs*... ...ucracy and Development Administration
65 *Peter Self* Administrative The...
66 *Pfiffner & Presthus* Public A...
67 *Pigors and Mayers* The Pub... Person... ...ion
68 *Presthus Robert* Public Ad... ...istration
69 *Presthus Robert* The Organisational Socie... ...lysis and a Theory
70 *Raul P De Guzman Manila* (ed) Public A... ...on in a Changing National and International Environment
71 *Riggs Fred W* (ed) Frontiers of Developm... ...istration
72 *Riggs Fred W* Administration in Develop... ...es The Theory of Prismatic Society
73 *Riggs Fred W* The Ecology of Public Adr...
74 *Ruthnaswamy* Principles and Practice of P... ...inistration
75 *Sapru R K* Public Policy Formulation, Implementation and Evaluation
76 *Schapiro, Leonard* The Government and Polities of the Soviet Union
77 *Schein, E. H* Organizational Psychology
78 *Self, Peter* - Administrative Theories and Polities An Enquiry into the Structure and Processes of Modern Government
79 *Self, Peter* - Government by the Market The Politics of Public Choice
80 *Self, Peter* Political Theories of Modern Government, its Role and Reform
81 *Sharkansky Ira* : Public Administration Policy Mixing in Government Agencies
82. *Simon, Robert A., Smithburg Thompson, Vicorn* : Public Administration
83 *Singh, R N* : Management Thoughts & Thinkers
84. *Smith, Gordon* . Public Policy and Administration in the Soviet Union
85. *Stahl, O Glenn* Public Personnel Administration
86 *Swerdlow, Irving* Development Administration Concepts and Problems
87 *Tead Orway* Administration Its Purpose and Performance
88 *Thavaraj, M J K* · Financial Administration
89 *Thornhill W* : Public Administration
90 *Urwick, L* Elements of Administration
91 *Uveges Joseph & Jr* (eds) Public Administration History and Theory in Contemporary Perspectiv
92 *Varlamov K* Socialist Management The Lenin's Concept
93 *Waldo Dwight* (ed.) : Ideas and Issues in Public Administration A Book of Readings
94 *Waldo, Dwight* (ed) . Public Administration in a Time of Turbulence
95 *Waldo, Dwight* . Temporal Dimensions of Development Administration
96 *Waldo, Dwight* . The Administrative State . A Study of the Political Theory of American Publi Administration
97 *Waldo, D* . Ideas and Issues in Public Administration
98 *Waldo Dwight* : The Enterprises of Public Administration
99 *Wang James C S* . Contemporary Chinese Polities
100 *Weber, Marx* : The Theory of Organisation : Readings in Public Administration
101. *White, L D* : An Introduction of the Study of Public Administration
102 *Willoughby M W.* · Principles of Public Administration